

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

विद्याभवनसंस्कृतग्रन्थमाला

१२४

ॐ नमः

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

‘ब्रह्मतत्त्वप्रिमर्शिनी’ हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

स्वामी श्रीहनुमानदासजी पट्टशाली

भूमिका लेखकः

डॉ० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय

एम० ए०, बी० एल्०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग,

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-221009

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

ब्लॉक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पोस्ट बाक्स नं० ६६

वाराणसी २२१००१

सर्वाधिकार सुरक्षित

तृतीय संस्करण १९८२

मूल्य ४०-००

प्र. ११११११११

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर रोड

पोस्ट बाक्स न० १२६

वाराणसी २२१००१

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
124



BRAHMASŪTRA ŚĀṆKARABHĀSYAM
OF
ŚRĪ ŚĀṆKARĀCĀRYA

Edited with
THE BRAHMATATTVAVIMARŚINĪ
HINDĪ COMMENTARY

By
Swami Hanumandas Shatshastri

With an Introduction

By
Dr. Viramani Prasad Upadhyaya

M. A., B. L., D. Litt., Sahityacharya
Prof. & Head of the Sanskrit Deptt.
University of Gorakhpur.



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHWCKHAMB, VIDYABHAWAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
CHOWK (Behind The Bénâres State Bank Building)
Post Box No 69
VARANASI 221001

Third Edition

1982

Also can be had of

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)

* K 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No 129

VARANASI 221001

भूमिका

वेदान्त का सर्वप्रथम क्रमबद्ध रूप वेदान्तसूत्रों में उपलब्ध होता है, यद्यपि इस क्रमबद्धता तथा एकरूपता के विषय में सन्देह किया जाता है। इन ब्रह्मसूत्रों में कतिपय वेदान्त के आचार्यों के नाम मिलते हैं, जिनमें जैमिनि, आश्वमथ्य, काशकृत्स्न और औदुलोमि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्राचीन समय में कई ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रों की रचना हुई थी (उदाहरणार्थ—B. N. Krishnamurti Sharma : ABORI, XXIII, P. 398; Swami Vireshwaranand : The Brahmasutra's Introd., P. 6; Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, P. 432 ; Vidhushekhar Bhattacharya : आगमशास्त्रम्, अवतरणिका, पृ० २१९; रामकृष्ण आचार्य : ब्रह्मसूत्र के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ३), जिनमें अधिकांश लुप्त हो गये। लुप्त होने का कारण यही बतलाया जा सकता है कि प्रचलित ब्रह्मसूत्र अधिक क्रमबद्ध और प्रामाणिक सिद्ध हुआ। इस कारण इसकी तुलना में अन्य सूत्रग्रन्थों की प्रामाणिकता कम हो गई और वे कालान्तर में लुप्त हो गये।

प्रो० श्रीपादकृष्ण बेलवलकर का कथन है कि उपनिषद् ग्रन्थों के आलोचन से यह ज्ञात होता है कि पहले वेदशाखाओं के अनुसार तत्तद् वाक्यों की क्रमबद्धता के प्रदर्शन तथा तात्पर्य-निर्णय के लिये सूत्रग्रन्थों की रचना हुई थी (द्रष्टव्य—Belvalkar's Lectures on Vedanta Philosophy, P. 140-41)। उनके मत में जैमिनि ने सामवेद के अनुसार एक अन्य शारीरिक-सूत्र की रचना की थी, जिसके आदिम दो सूत्रप्रचलित ब्रह्मसूत्रों से मिलते थे। इसके प्रमाण में वे सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' (हिरियन्त्रा संस्करण) का निर्देश करते हैं (द्रष्टव्य—आगमशास्त्र, अवतरणिका पृ० ७०)। परन्तु ब्रह्मसूत्रों में उद्धृत जैमिनि के मतों की समीक्षा से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जैमिनि ने किसी अन्य शारीरिक-सूत्र की रचना नहीं की थी, अपितु ये सिद्धान्त पूर्वमीमांसा सूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों से भिन्न नहीं। (इस सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य—मेरे निर्देशन में लिखा गया शोध-प्रबन्ध—“शङ्कर और नागार्जुन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २७२-७३)। डा० बेलवलकर के मत में जैमिनि सूत्र को 'छान्दोग्य' ब्रह्मसूत्र का नाम दिया जा सकता है (द्रष्टव्य—वही, पृ० १४१; Belvalkar's Article in the “Garbe Festgabe”, 1972, P. 168; Belvalkar, “The Multiple Authorship of

the Vedanta-Sutras" in the Indian Philosophical Review, Vol II, 19 8-19, P 141-154) उनके मतानुसार एक बृहदारण्य ब्रह्मसूत्र भी विद्यमान था। बाद में इन प्रातिशाखीय ब्रह्मसूत्रों के प्रमुख मूल अंशों को सर्व शास्त्रीय ब्रह्मसूत्रों के रूप में परिणत कर दिया गया। प्रचलित ब्रह्मसूत्र उस सर्व शास्त्रीय ब्रह्मसूत्र का परिमार्जित रूप कहा जा सकता है (द्रष्टव्य—वही, पृ० १४२-४६)।

ब्रह्मसूत्र का कर्तृत्व और इसकी प्राचीनता

प्राचीन पद्धति के पण्डितममान में यह प्रचलित तथा प्रसिद्ध भारणा है कि बादरायण व्यास का नामान्तर है। परन्तु आजकल पाश्चात्य तथा अनेक भारतीय अन्वेषक विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं। कुछ तो वदते हैं कि बादरायण को व्यास मान लेने पर भी उनके कृष्णद्वैपायन व्यास होने में कोई प्रमाण नहीं। प्रारम्भ में इसी प्रश्न पर विचार करना आवश्यक होगा। सर्वप्रथम प्रमाण जो उपर्युक्त विचार के समर्थन में उपन्यस्त किया जाता है वह है महर्षि पाणिनि के सूत्र "पाराशर्यशिलालिम्ब्या भिक्षुनटसूत्रयो" (४-३११०), तथा "कर्मन्दकृशाश्वादिनि" (४-३-१११)। प्रथम सूत्र में भिक्षुसूत्रकार पाराशर्य का स्पष्ट उल्लेख है और पाराशर्य का अर्थ पराशर पुत्र है, जो वेदव्यास बादरायण थे। 'भिक्षु' पद संन्यासी का वाचक है। इसलिये इस सूत्र में उपाध भिक्षुसूत्र संन्यासियों के लिये उपनिषदों के आधार पर लिखा हुआ कोई ग्रन्थ होगा, जो पाणिनि को ज्ञान रहा होगा। आजकल प्रचलित जो ब्रह्मसूत्र है वह भी बादरायण व्यास के नाम से ही प्रसिद्ध है। अतः उपर्युक्त पाणिनिसूत्राभिमेत भिक्षुसूत्र वेदव्यास अर्थात् बादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र ही है। इस विचार के प्रसङ्ग में एक उल्लेखनीय मत Rhys Davis का है। उन्होंने अपने ग्रन्थ, "Buddhist India" में लिखा है—'अतिप्राचीन बुद्धकाल के भारत में विभिन्न सम्प्रदायों के कुछ अनुयायिगण आरण्यक जीवन व्यतीत करते थे और अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुसार ध्यान, यज्ञानुष्ठान या तपस्या आदि में निरत रहते थे। इनके अतिरिक्त कुछ जैसे भी थे जो धूमते रहते थे। वे 'परित्राजक' कहे जाते थे और उनका भी देश में बड़ा सम्मान था। इनके सामुदायिक नाम भी होते थे और समुदाय 'संघ' कहा जाता था। इन संघों के नाम 'अनुत्तर' में संकलित हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणों के संघ थे और उनके भी सूत्र होते थे। सासरी शताब्दी में "वेदान्तसूत्र" प्रचलित था, जिसमें वेदान्तसंघ के नियम संगृहीत थे। पाणिनि के उपर्युक्त सूत्रों से इसी प्रकार के दो ब्राह्मण-संघों की सूचना मिलती है। तदनुसार 'पाराशर्य' और 'कर्मन्द' के कहे हुये भिक्षुसूत्रों को पढ़नेवाले 'पाराशरी' और 'कर्मन्दी' शब्दों से व्यपदिष्ट होते थे (द्रष्टव्य पृ० ८७-८८)। नागेश ने अपनी 'शेखर' टीका में 'भिक्षुसूत्र' की व्याख्या करते हुये लिखा है "भिक्षुसूत्रम् = भिक्षुत्वसम्पादक सूत्रम्। यथा नटसूत्रम्। नटसूत्रज्ञाने हि नटरत्नसम्पत्तिः, एवं सज्जाने ब्रह्मरूपत्वेन सर्वज्ञानात्मकमस्वनादरेण भिक्षुत्वसम्पत्तेः"। उपर्युक्त उद्धरणों के परिशीलन से यही सिद्ध होता है कि 'भिक्षुसूत्र' से वास्तव्य पाणिनिपूर्ववर्ती ब्राह्मणसंघों में प्रचलित, पाराशर्य से प्रोक्त, भिक्षुत्वसम्पादक तथा सम्प्रदायविशेष के सिद्धान्तों एवं नियमों के संघाहक सूत्र से है।

यह भिक्षु सूत्र वर्तमान वेदान्त-सूत्र ही है तथा वेदव्यास, वेदान्तसूत्र के रचयिता एवं बादरायण से अभिन्न है—इन प्रश्नों के सम्बन्ध में परस्परविरोधी रहे प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनका सकलन नीचे किया जाता है।

साधक प्रमाण तथा युक्तियाँ :—

(१) 'ब्रह्मसूत्र' पद की चर्चा गीता के “ऋषिभिर्वहुधा गीतं, छन्दोभिर्विचित्रैः पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितम्” (अ० १३, श्लो० ४) । इसके भाष्य में शङ्कराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' की व्याख्या इन शब्दों में की है—“ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि, तैः पद्यते ज्ञायते ब्रह्म इति पदानि इत्येवमादिभिः ब्रह्मसूत्रपदैः आत्मा ज्ञायते ।” इससे ब्रह्मसूत्र की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है ।

(२) डयूसन के अनुसार ब्रह्मसूत्र को पहले किसी संग्रहकार ने एकत्र संग्रहित किया था । ब्रह्मसूत्र पर उपवर्ष ने 'कृतकोटि' नाम की वृत्ति लिखी । बोधायन की वृत्ति का भी यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है । इन दोनों का समय ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व माना जाता है । कुछ लोगों का मत है कि 'उपवर्ष' तथा 'बोधायन' एक ही व्यक्ति के दो नाम थे । अन्य लोग उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं । यह भी कहा जाता है कि उपवर्ष ने अद्वैतमत के अनुसार वृत्ति लिखी थी और बोधायन ने विशिष्टाद्वैतमत के अनुसार । जो भी हो, इसमें मतभेद नहीं कि उपवर्ष पाणिनि के समकालिक और गुरु^२ थे । उनकी लिखी हुई 'वृत्ति' से 'ब्रह्मसूत्र' अवश्यमेव प्राचीनतर रहा होगा ।

(३) “उत्तरं भगवान् वादरायण आचार्यः पठति—“अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्” (४-४-२२) सूत्र की इस अवतरणिका से सिद्ध होता है कि वादरायण 'ब्रह्मसूत्र' के रचयिता थे । [द्रष्टव्य—बेलवेलकर : The Brahmasutra of Badarayan (Poona ed. 1928) Notes, P. 27, II. 1. 12.]

(३) वाचस्पतिमिश्रकृत भामती का मङ्गलाचरण श्लोक ५ :—

“ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय धीमते । ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवते हरेः ॥”
(व्यास = वादरायण)

(४) सर्वशास्त्रमुनिकृत संक्षेपशारीरक का श्लोक ६ :—

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गा, वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः ।

१. महर्षि शबरस्वामी ने वाचकत्व प्रत्येक वर्ण में है वा वर्णों के समुदाय में या स्फोट में है ? इत्यादि संशयों को उपस्थित करते हुए “गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति हि भगवानुपवर्षः” इत्यादि शब्दों से उपवर्ष के सिद्धान्त का उपन्यास किया है । ब्रह्मसूत्र “एक आत्मनः शरीरे भावात्” (३-३-५३) के शङ्कर भाष्य में “इत एव चाकृष्याऽऽचार्येण शबर-स्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम् । अत एव च भगवता उपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्ति-त्वाभिधानप्रसक्तौ शरीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः ।

२. शङ्करस्वामिनामाऽभूद् ब्राह्मणो वेदपारागः ।

वर्षोपवर्षौ तस्येवौ तनयावतनुत्विपः ॥

सम्प्राप्य विद्यामतुलं विश्रुतो लोकपूजितः ।

कनीयानुपवर्षोऽस्य मम भर्तुर्महाधनः ॥

पाणिनिनाम वर्षस्य शिष्यः पूर्वं जडाशयः ।

तपसा शङ्करं प्राप्य नवं व्याकरणं वशी ॥

(द्रष्टव्य—सोमदत्त : कथासरित्सागर ; क्षेमेन्द्र : बृहत्कथामंजरी)

इसकी टीका 'सारसंग्रह' में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं —

“रत्नाकररूपेण भगवन्तं व्यासं विष्णुवतारं सूत्रकारं प्रथमगुरुं स्तौति”

(५) आन्दगिरि टीका श्लोक ५ —

श्रीमद्व्यासमुनिं पयोनिधिरसौ सत्सुकृपद्मिस्तु-
सुक्तानामनवद्यद्वयविपुलप्रद्योतिविद्यामणि ।
शान्तिः शान्तिः शान्तिः द्योतिसरितामेकान्तविश्रान्तिभू-
भूयान्न सतत मुनीन्द्रमकरध्रेणीश्रयः श्रेयसे ॥

(६) रत्नप्रभाटीका श्लोक ५ —

श्रीशङ्करं भाष्यकृत प्रणम्य, व्यासं हरि सूत्रकृतं च वच्मि ।

श्रीभाष्यतीर्थे परहस्तपुत्रे वाग्जालपन्धच्छिदमभ्युपायम् ॥

(७) श्रीभाष्य श्लोक २ —

पाराशर्यवच सुधामुपनिषद्दुग्धाधिमध्येदधताम् ।

संवाराग्निविद्रीपनव्यपगतप्राणारामसञ्जीविनीम् ॥

(८) तैत्तिरीका (कल्कत्ता सस्करण) पृ० ७३ . उद्धृत श्लोक —

“क्षीपे चद्रिकाश्रमे, चादरायणमच्युतम् ।

अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्या पराशरात् ।

। चकार ब्रह्मसूत्राणि, येनासूत्रत्वमक्षता ।

भाषक प्रमाण सुक्तिर्या —

(१) प्रथम प्रमाण के अनुसार महासूत्र गीता से पूर्ववर्ती हो जाता है । किन्तु ‘स्मृतेश्च’ (१-२-३) इस सूत्र में पराशर ‘स्मृति’ के सम्बन्ध में शङ्करभाष्य में लिखा गया है “स्मृतिश्च ” “ह्येव सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ (गी० १८-६१) इत्याद्या” । इस कथन तथा अन्य कतिपय उद्धरणों से प्रतीत होता है कि वरुण मान ‘ब्रह्मसूत्र’ गीता-परवर्ती है ।

(२) “वेदव्यासश्चैवमेव स्मरन्ति” (१-३-३९ वे० सू० शा० भा०), “भावं तु चादरायणोऽस्ति हि” (१-३-३३), इसी पर शा० भा० “चादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते, “मनु व्यासप्रभृतिभिः” (२-१-१२ वे० सू० शा० भा०); “स्मरन्ति च व्यासादयो यया” (२-३-४७ वे० सू० शा० भा०)—इन पङ्क्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यास अथवा वेदव्यास तथा चादरायण वेदान्तसूत्र रचयिता से भिन्न हैं, क्योंकि इनके नाम पृथक् निर्दिष्ट हैं । यदि सूत्रकार से अभिन्न होने तो शङ्कराचार्य अपने भाष्य में उनका मत पृथक् उपन्यस्त नहीं करते । साथ ही माय यह भी कहा जा सकता है कि व्यास और चादरायण के पृथक्त्वा उद्धृत होने के कारण शङ्कर के अनुसार वेदव्यास (महाभारत के रचयिता) और चादरायण सूत्रकार से भिन्न व्यक्ति हैं । उपर्युक्त सूत्र (१-३-३३) में ही चादरायण का उपन्यास स्पष्ट रूप से चादरायण की सूत्रकार से पृथक्ता सिद्ध करता है ।

“तथाहि-अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यं पुराणपिर्विष्णुनियोगात्कलिह्वारयो सन्वी कृष्णद्वैपायनं सबभूवेति स्मरन्ति” (३-३-३२ वे० सू० शा० भा०) । इससे ज्ञात होता है

कि वेदव्यास अर्थात् कृष्णद्वैपायन अपान्तरतमस् के अवतार थे। “यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकणाम्”—इस सूत्र में उपन्यस्त आधिकारिकों के उदाहरण रूप कृष्णद्वैपायन अर्थात् वेदव्यास की चर्चा आयी है। इससे भी सूत्रकार की ‘आधिकारिक’ पद-वाच्य वेदव्यास से भिन्नता प्रतीत होती है।

अन्त में उन प्रमाणों की उपस्थित किया जाता है, जिनमें स्पष्ट रूप से वेदव्यास बादरायण के ब्रह्मसूत्र रचयिता होने का निर्देश है। ब्रह्मसूत्र के अन्तिम सूत्र (४-४-२२) की अवतरणिका का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सर्वशास्त्रमुनि ने ‘संक्षेपशारीरक’ के कई स्थानों पर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वेदव्यास बादरायण ‘ब्रह्मसूत्र’ के रचयिता है। इसके लिये निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

“भेदादिवर्जितमखण्डमुपान्ति यस्माच्छ्रीवादरायणमतानुगता महान्तः” ॥ १।१४६

इसकी टीका ‘सारसङ्ग्रह’ में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं “भगवद्वादरायणः खलु ‘तत्तु समन्वयात्’ इति सूत्रेणाऽखण्डेकरसे ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यं न्यरूपयत्। अतस्तन्मतानुसारिणः शङ्करभगवत्पादास्तच्छिष्याश्च तथैवोचन्ति।

“यद्वादरायणमतं परिगृह्य पूर्व, श्रेयस्करेऽनधिगते खलु चोदनायाः।
प्रामाण्यमुक्तमिदमस्य समन्वयस्य, वस्तुस्वरूपकथनेऽप्यविशिष्टमस्ति॥”

इसकी टीका में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—“जैमिनिना ‘अनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणं वादरायणस्याऽनपेक्षत्वात्’ इति सूत्रांशेनाऽनपेक्षत्वेनैव वेदप्रामाण्यं वादरायणसम्मतम्”।

“सूत्रं तत्तु समन्वयादिति विधिग्यापारनिष्ठं वचो,
मोक्षायेति निवेदनाय कृतवान् वेदान्तवेदी मुनिः। १।२६१

इसकी टीका में मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—“वेदान्तवेदी वेदान्तानां सम्यगर्थवेदन-शीलः मुनिर्वादरायणः ‘तत्तु समन्वयात्’ इति सूत्रं कृतवानिति सम्बन्धः।”

“वाक्यार्थान्वयितत्पदार्थकथने नेतीति वाक्यं पुनः।

साक्षात्सूत्रयति स्म सूत्रकृदतस्तत्तत्परं निश्चितम्।” १।२६२

मधुसूदन सरस्वती टीका—“सूत्रकारो ह्युदाहृतसूत्रेण “अथात आदेशो नेति नेति” इति वचनं मूर्त्तादिकं कारणब्रह्मस्वरूपमेव प्रतिषेधति न तु रूपि ब्रह्मेति प्रतिपादयंस्तत्पदार्थमेव शोधयामासेति न तत्प्रधानम्।”

“भूताय भव्यमिति भूतपरं हि सर्वं वेदावसानमिति सूत्रकृदाचक्षे ॥” १।३१२

“यद्यज्जडं भवति संसृत्तिकारणं तन्नेति स्फुटं वदति सूत्रकृदत्र यस्मात् ॥” १।३२४

“स्वप्नःशुभाशुभफलागमसूचकःस्याद् मिथ्यापिसन्निति च सूत्रकृदाह यस्मात्।” १।३३८

“तद् वादरायणमतानयनात् प्रतीमः”—२।४६

मधुसूदन सरस्वती टीका—“तत्र सूत्रे (‘अर्थेऽनुपलब्धे’ इत्यादि जैमिनिसूत्रे) वादरायणमतस्यानयनादाकर्षणादिति सम्बन्धः”।

न त्वैमि तं व्यासमशेषमर्थं सम्यङ् न सूत्रैरपि यो बबन्ध । विनाऽपि तैः संग्रथिता-
खिलार्थं तं शङ्करं नौमि सुरेश्वरं च ॥ मधुसूदन, सिद्धान्तविन्दु, ग्रन्थान्तदलोक २।

शङ्कर अद्वैतवाद के सर्वशास्त्रमुनि तथा मधुसूदन सरस्वती दो प्रमुख आचार्य थे। इनके भाष्यों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वेदव्यास बादरायण ब्रह्मसूत्रकार थे।

इसके अतिरिक्त शङ्करभगवत्पाद के साक्षात् शिष्य पद्मापाद ने भी अपने ग्रन्थ 'पञ्चपादिका' में यही लिखा है—

“नमः श्रुतिशिर पद्मपञ्चमात्तं षड्मूर्तये।

बादरायणसंशय मुनये शमवेदमने ॥ पञ्चपादिका, श्लो० २

‘पञ्चपादिका’बिबरणकार प्रकाशाश्रमा ने मङ्गलश्लोक में इसी बात का समर्थन किया है—

द्रयामोऽपि श्रुतिकमलावयोधराग,

शान्त सस्यति तमोविनाशमन्तः।

नीरूप प्रथयति योऽपि गोसहस्रैः

तं व्यास नमस्र जगत्पूज्यमानुम् ॥ श्लो० ४।

शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्य सुरेश्वर ने भी इस बात की पुष्टि की है—“कृष्णद्वैपायनो वेदात्मा प्वान्तहानिकृत्। प्राह बहुश प्राणिनां हितकाम्यया। १० व० भा० भाष्यिकर ७-३९।

बालकृष्णानन्द सरस्वती स्वर्चिन ‘अद्वैतपञ्चरत्नम्’ की किरणावली टीका के मङ्गलश्लोक में लिखते हैं—

यदीय सूत्रविलसच्छास्त्रनावा भवाम्बुधिम्।

सन्तस्तरन्ति तं वन्दे पाराशर्यमहर्निशम् ॥

स्मरण रहे कि यही ‘पाराशर्य’ पद पाणिनि के उद्धृत सूत्र ‘पाराशर्यशिक्षालिम्ब्या भिन्नतसूत्रयो’ में भी प्रयुक्त हुआ है।

इन सब वचनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि पाराशर्य अर्थात् वेदव्यास बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। उपन्यस्त विविध प्रमाणों के बलाबल के परिशीलन से भी यही निर्णय तर्कसङ्गत ज्ञेयता है।

जेकोबी के अनुसार ब्रह्मसूत्र की रचना बहुत बाद अर्थात् २५० से ४५० शताब्दी के भीतर हुई। इस मत के समर्थन में यही युक्ति बतलाई जाती है कि इसमें अन्य दर्शन सिद्धान्तों का खण्डन है (द्रष्टव्य—J O A S, 1911, PP 1-29)।

फीस के अनुसार इसका समय अधिक से अधिक २०० शताब्दी हो सकता है। फ्रेजर (Fraser) इसका समय ४०० ईसा पूर्व मानते हैं (द्रष्टव्य—“Literary History of India”, P. 196)।

मैक्समूलर ने इसका समय ३०० ईसा पूर्व स्वीकार किया है (द्रष्टव्य—“Six systems of Indian Philosophy”, P 113)।

अभयकुमार शुक्ल इसका समय ६०० ईसा पूर्व मानते हैं (द्रष्टव्य—Jivatman in the Brahmasutras”, Radhakrishnan. Indian Phil, Vol, II, P. 435, J D. L., 1921, PP 281-82)।

दासगुप्ता के अनुसार ब्रह्मसूत्र का समय २०० ईसा पूर्व है (द्रष्टव्य—History of Indian Philosophy, Vol. I, P. 419) बेलवलकर का मत है कि ख्रीष्टाब्द के प्रारम्भ में ब्रह्मसूत्र का निर्माण हुआ (द्रष्टव्य—Lectures on Vedanta, P. 146)।

उपर्युक्त मतों के संग्रह के पर्यालोचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्रचलित ब्रह्मसूत्र की रचना कई शताब्दी ईसा पूर्व में हुई होगी। जैकोबी की यह कल्पना कि वेदान्तसूत्र अन्य दर्शन-सूत्रों तथा ईश्वरकृष्णकृत साहायकारिका आदि दर्शनग्रन्थों के बाद में निर्मित हुआ, क्योंकि वेदान्त-दर्शन में, खण्डनार्थ उपस्थापित अन्य दार्शनिक सिद्धान्त अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं, मान्य नहीं। इसकी प्रबल युक्ति यह है कि ब्रह्मसूत्र में प्राचीन ऋषियों तथा आचार्यों के अतिरिक्त किसी अर्वाचीन सम्प्रदाय-प्रवर्तक या दार्शनिक सिद्धान्त स्थापक का निर्देश नहीं है। साङ्ख्यमत का खण्डन प्रधानमल्लनिर्वहण-न्याय में विस्तृत रूप में किया गया है, किन्तु “स्मृत्यनवकाशदोष-प्रसङ्ग इति चेन्नाऽन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्” यह सूत्र स्पष्ट बतलाता है कि स्मृतिकार कपिल महर्षि ही साङ्ख्यमत-प्रवर्तक के रूप में परामृष्ट हैं। न्यायवैशेषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक, पाञ्चरात्र तथा पाशुपत मतों के लिये भी यही बात लागू है (द्रष्टव्य—Shri V. shweshwaranand, Introduction to Vedanta, P. 9; पं० गोपीनाथ कविराज अच्युत, पृ० २-३; विष्णुपुराण, ३।१७।४१-४४ तथा ३।१८।७)।

शङ्कराचार्य का समय

शङ्कराचार्य के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। उनका संकलन नीचे किया जाता है :—

(१) टी० आर० चिन्तामणि शङ्कराचार्य का जीवन-काल ६५५ से ६८८ शताब्दी तक ३३ वर्षों का मानते हैं (द्रष्टव्य—J. O. R. M. 1929, PP. 37-55)।

(२) ए० बी० कीथ० के अनुसार इनका समय ९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में है (द्रष्टव्य—“Indian Logic and Atomism” P. 39)।

(३) म० म० स्व० पं० रामावतार शर्मा शक ७०१ से ७६५ तक इनका समय स्वीकार करते हैं।

(४) स्व० बा० ग० तिलक ने शङ्कराचार्य का जन्म ६८८ शताब्दी में माना है।

(५) कोलब्रूक तथा विलसन के मत में शङ्कराचार्य ८ वीं से ९ वीं शताब्दी के मध्य में हुये।

(६) कृष्णस्वामी ने शङ्कराचार्य का काल ७८८ शताब्दी में निर्धारित किया है।

(७) टेलर के अनुसार शङ्कराचार्य ९ वीं शताब्दी में हुये।

(८) हौजसन (Hodgson) ने शङ्कराचार्य का समय ८ वीं शताब्दी में निश्चित किया है।

(९) मैकेन्जी शङ्कराचार्य को ५ वीं शताब्दी में स्वीकार करते हैं।

(१०) चैक्यटेश्वर ने शङ्कराचार्य का काल ८०५ मे ८९७ शताब्दी के मध्य में निर्दिष्ट किया है ।

(११) के० बी० पाठक, मैक्समूलर, मैन्डोनल और टीले ने शङ्कराचार्य का समय ७८८ से ८२० शताब्दी के अन्त्यन्तर स्थापित किया है (द्रष्टव्य—Teile : "Outlines of the History of Ancient Religions," P 141, Pathak, "The Date of Sankaracharya," Indian Antiquary 1822, PP 173-175, cf "निधिनगो-भद्रहृदये विभवे शङ्करोदयः । कल्परात्रे चन्द्रनेत्राऽङ्कवद्वन्द्वे (३६२३) गुह्याप्रवेशः ॥ वैशाखे पूर्णिमायान्तु शङ्कर शिवतामियात् ॥"

(१२) बर्नेल (Burnell) के अनुसार शङ्कराचार्य का काल ७ वीं शताब्दी है (द्रष्टव्य—"South Indian Paleography") ।

(१३) वेनर (Hist of Indian literature, P 51) तथा ल्युईस राइस (PA IOC, III, P 225) ने शङ्कर-समय ७४० से ७१७ शताब्दी तक स्वीकृत किया है ।

(१४) राजेन्द्रनाथ घोष (प्रो० बलदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत) के अनुसार शङ्कराचार्य का समय ६८८ मे ७२० शताब्दी तक होना चाहिये (द्रष्टव्य "Sankar and Ramanuja". PP 787-807) ।

शङ्कराचार्य ने २१२१८ के भाष्य में भूमिका के एक श्लोक को अंशतः "सहोपलम्भनियमा-द्वेदो नीलतद्वयो" तथा उपदेशमाहरी १८१२४ में उनके श्लोक अभिप्रोऽपि हि सुद्वयारमा" आदि को उद्धृत किया है । २१२१८ के भाष्य में दिङ्नाग की कारिका के अंश को "यदन्तरीयरूपं तद् बहिर्विन्दयमासते" उद्धृत किया है ।

२१२२२ तथा २१२२४ सूत्रों के भाष्य में शङ्कराचार्य ने जिन दो बौद्ध आचार्यों के वचनों को उद्धृत किया है, उनमें से प्रथम गुणमहिम्निकृत (६३०-६४०) अभिप्रमैत्रीशब्दाख्या में मिलता है ।

आचार्य ने जैनमतखण्डन में जिज्ञासु मन को उद्धृत किया है वह अकलंक के गुरु समन्तमद का प्रतीक होता है । २१२२३ शा० मा० टीका मामता में उनकी "आप्तमीमांसा" का एक वचन "स्याद्वाद सर्वधैरान्त्यव्यागात्" भी उद्धृत है ।

अकलंक ७१३ शताब्दी के आस पास के माने जाते हैं । अतः इनके गुरु समन्तमद का समय ८वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाना चाहिये । (द्रष्टव्य—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज जो : "वैदान्तभूमिका, पृ० २७-२८) वाचस्पति ने ८४१ शताब्दी में "न्यायसूची नियन्त्र" की रचना की (द्रष्टव्य—Randle Indian Logic in Early Schools," P 39), प्रो० बलदेव उपाध्याय शङ्कराचार्य, पृ० २९, उदयन . लघुभाष्य) । उदयन ने वाचस्पतिकृत "न्यायतात्पर्य टीका" पर "परिशुद्धि" लिखी । वाचस्पति ने ११२३६ के शा० मा० की टीका में पद्मपादाचार्य कृत "पञ्चवदिका" के मत का खण्डन किया है । पद्मपादाचार्य श्रीशङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्य थे । भास्कर ने शाङ्कर-व्याख्यान में दोष उद्घातित किये हैं । वाचस्पति ने इनका भी खण्डन किया है (द्रष्टव्य—मामनी और कल्पतरु, पृ० १७८-२८४) । अतः यह निर्विवाद है कि वाचस्पति पद्मपादाचार्य तथा भास्कर ने परान्त हुये । भास्कर ने शङ्कराचार्य का खण्डन किया था इससे यह भी सिद्ध है कि इनके समय तक शाङ्करभाष्य की प्रसिद्धि हो चुकी थी । इस प्रसिद्धि के लिये

शङ्कराचार्य और वाचस्पति, जिनके बीच में भास्कर दुप, केवल २०-२१ वर्ष होते हैं, जो पर्याप्त समय नहीं है। उपर्युक्त उद्धरणों से यह निश्चित है कि शङ्कराचार्य का काल प्रचलित मत के अनुसार ७८८-८२० शताब्दी के बीच में इतना पाँछे नहीं स्वीकृत किया जा सकता है।

दूसरी ओर जैनपरम्परा पर दृष्टिपात करने पर भी यह संगत नहीं प्रतीत होता। जिनसेन (७८३ शताब्दी के) ने “अष्टसाहस्री के रचयिता नित्यानन्द का उल्लेख किया है। नित्यानन्द ने सुरेश्वराचार्य के वार्त्तिकों को उद्धृत किया है। अतः सुरेश्वराचार्य ८ वीं शताब्दी के मध्य के माने जा सकते हैं। यदि ऐसा है तो सुरेश्वर के गुरु शङ्कराचार्य कैसे ८ वीं शताब्दी के अन्त में और ९वीं के प्रारम्भ में माने जा सकते हैं। अतः इन्हें ७वीं शताब्दी के अन्त में और ८वीं शताब्दी के आरम्भ में माना जा सकता है।

शङ्कराचार्य भाष्य की रचना के उपरान्त कुमारिल से मिले जब वे भागीरथी के तट पर तुषानल में अपना शरीर जला रहे थे। आचार्य शङ्कर को कुमारिल ने अपने शिष्य मण्डन के पास भेजा। [कुमारिल का समय—मर्तृहरि के स्तोत्रवाद का खण्डन कुमारिल करते हैं (द्र० इन्डो० वा० १३७; तन्त्रवार्त्तिक १-३३० में वा० प०, २१२११ उद्धृत है); मर्तृहरि की ऐदिकलीला ६५१-५२ में समाप्त हो गई (द्र० JORM, 1929, PP. 46-47 : H. Suing (Records) Translated by J. Takakuru.); अतः कुमारिल मर्तृहरि के बाद हुये, अर्थात् ६२८-६८० शताब्दी (द्र० T. R. Ghintamani, JORM, 1929, P. 46)।] शङ्कराचार्य शङ्करभाष्य की रचना के बाद कुमारिल से उनके अन्तिम दिनों में मिले और “पोडरो कृतवान् भाष्यम्” इस वचन के अनुसार उस समय शङ्कराचार्य की आयु सोलह वर्ष की थी। अतः शङ्कराचार्य की जन्मतिथि ६८०-१६=६६४ शताब्दी होनी चाहिये। प्रोफेसर चिन्तामणि का यह मत कि शङ्कराचार्य का जीवनकाल ६५५-६८८ शताब्दी मानना चाहिये तर्कसंगत प्रतीत होता है।

ब्रह्मसूत्र शङ्करभाष्य का सैद्धान्तिक भाग

वेदान्तदर्शन का प्रयोजन उपनिषद्वाक्यार्थनिर्णयपूर्वक ब्रह्मजीवैक्यरूप अखण्डार्थ बोध कराना है। अतएव इसका दूसरा नाम उत्तर-मीमांसा है। ‘मीमांसा’ पद का भारतीय दर्शन में पारिभाषिक अर्थ है और वह है जिज्ञासा विषय विषयक संशयाऽसम्भावनाविपरीतभावनादिनिवर्त्तक विचार। वेदार्थ प्रधानतया दो हैं : (१) धर्म, जो कर्मकाण्ड से सम्बन्धित और पूर्वमीमांसा का विषय है; (२) ब्रह्म, जो ज्ञानकाण्डान्तर्गत उपनिषद् से सम्बन्धित और उत्तरमीमांसा का विषय है। फलतः पूर्वमीमांसा (अर्थात् मीमांसा) का जिज्ञास्य धर्म और उत्तरमीमांसा (अर्थात् वेदान्त) का जिज्ञास्य ब्रह्म है। तदनुसार ही दोनों के प्रथम सूत्र क्रमशः ‘अथास्तो धर्मजिज्ञासा’ और ‘अथास्तो ब्रह्मजिज्ञासा’ हैं।

“तमेव विदित्याऽतिश्रुत्युमेति”; “ज्ञानादेव तु कैवल्यम्”; तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्”—इत्यादि अनेकों श्रुतिस्मृतिवचनों के अनुसार तत्त्वज्ञान अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार मोक्ष का साधन है और मोक्ष ही मानव जीवन का परमपुरुषार्थ है। मोक्ष और धर्म में उपायोपेयभाव सम्बन्ध है। “विविदिपन्ति यज्ञेन” इत्यादि; “ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः”; “अविद्यया श्रुत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽश्रुतमश्नुते”—इत्यादि वचनों का निष्कर्ष यह निकलता है कि मोक्ष का साधन ब्रह्म-साक्षात्कार है, ब्रह्मज्ञान का साधन विविदिषा है, विविदिषा का साधन

मनोमल्लय है और मनोमल्लय का साधन धर्म है। इस प्रकार धर्म परम्परया मोक्ष का साधन सिद्ध होता है और धमज्ञान मल्लज्ञान का अङ्ग माना जाता है।

उपनिषत्साहस्रविधारण सबके लिये समान होते हुए भी वेदान्तयुगों की व्याख्या भाष्यकारों ने स्वाभिमतवाद के अनुसार विभिन्न रूप से की है। शङ्कराचार्य का अभिमत सिद्धान्त ब्रह्माद्वैतवाद है। अतः इस भूमिका में हमी का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

अद्वैतवाद की स्थापना में शङ्कराचार्य ने माया अथवा अविद्या का अभ्युपगम किया है। यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उठता है कि माया के अभ्युपगम की क्या आवश्यकता है। इनका समाधान अनिमलम और स्पष्ट है कि जगत् का नानात्व और अद्वैत इन दोनों का सामञ्जस्य माया की जगत्कारणत्व में दारता के बिना नहीं सम्भव है। उपनिषदों में दो तरह के परस्पर विरोधी वाक्य-कदम्ब उपलब्ध होते हैं। एक ओर, “पुरुष एवेद् विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परास्मृतम्”, “ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् दक्षिणतश्चोत्तरेण”, “एकमेवाद्वितीयम्”, “नेह नानास्ति किञ्चन” इत्यादि, जिनसे अद्वैत साधित होता है। दूसरी ओर ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रेत्याऽमिसविशन्ति” “सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशदेव समुत्पद्यन्ते”, “ज्यायान्तृषिष्या ज्यायान्तरिक्षाज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः”—इत्यादि, जिनसे नानात्व स्थापित होता है। अद्वैत और नानात्व में स्पष्ट विरोध है। इसी विरोध के परिहारार्थ माया का अभ्युपगम आवश्यक हो जाता है। माया के अभ्युपगम से इन परस्पर विरोधी वचनों में सामञ्जस्य सुलभ है। माया या अविद्या को शङ्कराचार्य अनिर्वचनीय^१ तथा मिथ्या मानते हैं। माया-कल्पित या अविद्या प्रत्युपस्थापित^२ सारा जगत् भी अनिर्वचनीय^३ एवं मिथ्या है। मिथ्या माया में प्रोद्भासित या विक्षिप्त जगत् के नानात्व से पारमार्थिक अद्वैत की दृष्टि नहीं होती है। पारमार्थिक तत्त्व एक ही है और वह है ब्रह्म। इसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ सार्थ रज्जुसर्पादिवत् प्रातिमासिक या व्यावहारिक हैं। आगणित प्रतिभासकी या व्यावहारिकी सत्ताओं से युक्त विविध वस्तुओं की प्रतीति से एक पारमार्थिकी सत्ता या अद्वैत (Absolute Reality) का कोई विरोध नहीं। दूसरे शब्दों में पारमार्थिक तत्त्व ब्रह्म एक ही है और परिदृश्यमान नानात्व उत्पादविनाशशाली एवं प्रतीतिमात्रजीवित है। इस प्रकार माया के अभ्युपगम से नानात्व का अद्वैत से विरोध परिहृत हो जाता है।

उपयुक्त परिहार से शङ्कर अद्वैतवाद का मूल मिद्धान्त यही निष्पन्न होता है—“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽपर”। किन्तु माया को जगद्विषयकारण मानने पर “भक्षिते-

१. “अभ्यक्ता हि माया तत्त्वाज्यस्वरूपरूपस्याऽशक्यत्वात् (अ० सू० शा० भा० १-४-३)।

२. अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावैश्वरोनाऽतत्कृतप्रत्युक्तात्वात् (२-२-२);

अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुगता न सम्भवति (१-२-१६),

अविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्युत्पादिसम्बन्धोपदिश्यते (४-३-१४),

उपाधीनां चाऽविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् (३।२।१५), नन्वेवमद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येन न

अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात् (४-३-१४)।

३. सर्वशस्येश्वरस्यात्मभूत इवाऽविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वाज्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार प्रपञ्चबीजभूते।

ऽपि लशुने न व्याधिशान्तिः” —इस नय के अनुसार एकमात्र पारमार्थिक तत्त्व ब्रह्म के साथ तथा तत्प्रत्युपस्थापित जगत् को किस प्रकार सम्बन्धित किया जाय यह जटिल समस्या बनी ही रह जाती है। इसी के समाधानस्वरूप शङ्करानुयायियों ने तीन प्रस्थान प्रतिष्ठापित किये : (१) अविच्छेदवाद, (२) प्रतिविम्बवाद और (३) आभासवाद, जिनके अनुसार जगत् क्रमशः अपरिच्छिन्न ब्रह्म का परिच्छिन्न नामरूपात्मक प्रतिभास, चित्रप्रतिविम्ब या चिदाभासमात्र है। वेदान्तसूत्रशाङ्करभाष्य में इन तीनों के सङ्केत और तत्परक व्याख्यान समधिगत होते हैं, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि शङ्कराचार्य ने इनमें से किसी एक को एकान्तरूप से नहीं अपनाया। जहाँ जो उपयुक्त जैसा या आवश्यक हुआ वहाँ उसे उपन्यस्त किया। अतः उनके भाष्य में तीनों की पृष्ठभूमि समान रूप से उपलब्ध होती है। उनके शिष्य तथा परवर्ती अनुयायी आचार्यों ने प्रत्येक को विशिष्ट तथा उपवृंहित कर एक प्रस्थान या वाद का रूप दिया।

शाङ्करभाष्य के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि माया के पर्यायवाचक शब्दों के रूप में मिथ्याज्ञान,^१ मिथ्याप्रत्यय, मिथ्याबुद्धि, अव्यक्त,^२ महासुप्ति,^३ आकाश,^४ अक्षर,^५ अध्यास^६ और अविद्या^७ का प्रयोग किया है। ‘माया’^८ पद का भी स्पष्ट उल्लेख है।

१. मिथ्याज्ञाननिमित्तः.....नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः (ब्र० सू० शा० मा० १-१-१ उपोद्घात); “तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोर्निवृत्तिः.....” (१-१-४); सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्” (Ibid) “नह्यात्मनः शरीरत्वाभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्” (Ibid) “मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम् । न हि मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्टं वस्तु संस्पृश्यते” (१-२-८); “मिथ्याज्ञानविजृम्भितं नानात्वम्” (२-१-१४); मिथ्याज्ञानपुरस्सरौऽयमात्मनो बुद्धधुपाधिसम्बन्धः । न च मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्ति” (२-३-३१); “मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धक्षये विदुषः कैवल्यम्” (४-२-१९)।

२. “अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिव्यक्तशब्दनिर्देश्या.....” (१-४-३)।

३. “परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः” (१-४-३)।

४-५. “तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—एतस्मिन् खल्वक्षे गागर्गाकाश ओतश्च प्रोतश्च (बृ० सू०, ३-८-११),” (१-४-३)।

६. तमेतमेवलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते (१-१-१ उपोद्घातः)।

७. “न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्” (२-१-३३), “तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमवैश्वरस्येश्वरत्वं सर्वशक्तं सर्वशक्तिवं च न परमार्थतो विषयाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्वसर्वशत्वादिव्यवहार उपपद्यते” (२-१-१४); “तस्मादविद्या-प्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपमिति.....” (१-३-२०); “एवमविद्यादिदोषवर्ता धर्माधर्मतार-तम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्” (१-१-४)।

८. “मायामात्रं ह्येतत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनाऽवभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति” (२-१-९); “एक एव परमेश्वरः कूटस्थानित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते” (१-३-१९)।

अविद्या के अभ्युपगम के फलस्वरूप ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—“द्विरूपं हि-ब्रह्माऽवगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्” (म० सू० शा० भा० १-१-१२) । पहला व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिक, पहला अपर या सोपाधिक और दूसरा पर या निरुपाधिक ब्रह्म कहा जाता है । ब्रह्म के सोपाधिक तथा निरुपाधिक दो रूपों में वर्णन करने का अभिप्राय यह नहीं कि ब्रह्म के दो भेद हैं, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्त में भेद का स्थान ही कहाँ । एक पारमार्थिक और दूसरा कल्पित—ये दो रूप का तरङ्ग के परस्पर विरोधी वाक्यों में मामात्रस्य स्थापित करने के लिये माने जाते हैं । उपनिषदों में—“यत्र हि द्वैतामिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र स्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन क पश्येत् (बृ० उ०, ४-५-१५), “यत्र नान्यत्पश्यति स भूमाऽथ यत्राऽन्यत्पश्यति तदल्पं, यो वै भूमा तदसुतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्” (छा० उ० ७-२४-१), “निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवयव निरञ्जनम् । असुतस्य परं सेतु द्रव्येऽनमिवानलम्” ॥ (खे० ६-१९), “नेति नेति” (बृ० २-३-६), “अस्यून्मनणु” (बृ० ३-८-८), “यता वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविदन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्वद्ध्येति । तौ ३।१) आदि निरुपाधिक ब्रह्म की द्रिरूपता को निरूपित करते हैं । तात्पर्य यह है कि पूर्ण निरन्तर और निरुपाधिक परब्रह्म ही अविद्याप्रत्युत्पादितनामरूपविशेषों में प्रविष्ट हो परिच्छिन्न, प्रतिबिम्ब या आभास के रूप में व्यवहारापन्नता हो सोपाधिक-सा प्रतीत होता है । अविद्या का परिधि में तथा उसकी अपेक्षा से सोपाधिक रूप में प्रतीत होता हुआ भा ब्रह्म अपने पारमार्थिक स्वरूप में निरन्तर बना ही रहता—“पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽऽशिष्यते” । अविद्याज्ञात् ईश्वर तथा जीव सा अंशश्चिन्मव मे प्रतीत होता है । जगत्कारणत्व तथा शरीरत्व अंशश्चिन्मव के दो पक्ष हैं ।

शङ्कराचार्य माया तथा अविद्या में भेद नहीं मानते । माया या अविद्या ईश्वर की उपाधि तथा मद्भावादि है । नामरूपादिविविधविशेषात्मक अगणित वैचिन्त्यमय समस्त जगत् इसीका विशेष तथा विजृम्भण है । फलतः सोपाधिक ब्रह्म या अविद्यासंवलित परमात्मा ही ईश्वर कहा जाता है, जो जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण है । “मोपेक्षो होक्षरो विषमा सृष्टि निर्मिमीते । किमपेक्षते इति चेत्-धर्माधर्मावपेक्षेत इति वदाम्” (२-१-३४) ईश्वर अनन्यामी और नियन्ता आदि भी कहा जाता है—“तस्माच्छरीरादन्य ईश्वरोऽनन्यामीति सिद्धम्” (१-२-२०) ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वकर्ता और सर्वशक्तिमान् । शङ्कराचार्य एक स्थल पर अविद्या का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—“देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूनादादौ रागास्तत्परिभवादादौ द्वेषस्तदुच्छेददर्शनाद् भयं मोहश्चेत्येवमयमनन्त भेदोऽन्यथात संतत सर्वेषा न प्रत्यक्ष” (१-३-२) अन्य दर्शनो में भी अविद्या का स्वरूप यही वर्णित है । परमात्म-अशरीर भी परमात्मा, अविद्या-तत्कार्यबुद्ध्यायुपाधिवशात् शरीर तथा संसारी जीव के रूप में प्रतिमामित होता है । जीव संसारी, नामरूपविशेषापन्न, शरीरत्रयावच्छिन्न, रागद्वेषादिदोष कलुषित धर्माधर्मादिकलस्वरूप—ससारसमस्तानर्थावगातममाकुल-सा प्रतीत होता है; किन्तु यह अपारमार्थिक जीव रूप है, पारमार्थिक स्वरूप तो इसका ब्रह्मा ही है, जो ब्रह्मसाक्षात्कार-पर्यन्त अविद्यावृत्त रहता है—“तस्मादविद्याप्रत्युत्पादितमपारमार्थिकं जैव रूप कर्तुं भोक्तुं राद्वेषादिदोषकलुषितमनेकानर्थयोगि” (१-३-२०) । परमात्मत ब्रह्म से भिन्न न होता हुआ भी ईश्वर तथा दोनों से भिन्न न होता हुआ भी जीव उपाधियों के कारण भिन्न सा प्रतीत होता है—“परमार्थावस्थापामोशितोऽशितव्यवहाराभाव - प्रदृश्यते” । ३, व्यवहारावस्थापाम-लोक, अतावपीश्वरादिव्यवहार (२।१४), “सत्यमोक्षरादन्य ससारी” (२-१-५) ; “नेष-

सद्व्ययः संसारी, तथापि देहादिसंवातोपाधिसम्बन्धः इष्यते एव, घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्योम्नः (१-१-५) ; “पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो वालैः शारीर इत्युपचर्यते” (१-२-६) ; “पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम्” (ब० सू० शा० भा०, ३-४८) ।

जीव पारमार्थिक रूप से एक किन्तु औपाधिक रूप से नाना है । विचार करने पर व्यवहारदशा में भी जैसे हिरण्यगर्भं समष्टिबुद्ध्याद्युपाध्युपहितत्वेन एक है किन्तु व्यष्टिबुद्ध्याद्युपाध्युपहितत्वेन अनेक है वैसे जीव समष्टिबुद्ध्याद्युपाध्युपहितत्वेन एक है किन्तु व्यष्टिबुद्ध्याद्युपाध्युपहितत्वेन नाना प्रतीत होता है । जीव में भी एकत्व और नानात्व परस्परविरोधी होते हुए भी असङ्गत नहीं कहे जा सकते क्योंकि भिन्न दृष्टि से दोनों उत्पन्न हैं—‘कथं भेदाऽभेदौ विरुद्धौ सम्भवेयाताम् नैप दोषः । आकाशन्यायेनोभयसम्भवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापित्वात् (ब० सू० शा० भा०, २-१-१२), “वास्तवमेकत्वमौपाधिकं नानात्वमित्युभयनिर्देशोपपत्तिरिति परिहरति—नैप दोष इति (आ० गि० न्या० नि०) ; “एवमेकत्वं नानात्वं च हिरण्यगर्भस्य । तथा सर्वजीवानाम्” (बृ० उ० भा०, १-४-६, पृ० ९७—वाणीविलास ग्रन्थमाला) । ‘सिद्धान्तबिन्दु’ में मधुसूदन सरस्वती ने ‘एकजीववाद’ तथा ‘दृष्टिस्थिवाद’ का वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त माना है—“अज्ञानोपहितं विम्वचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानप्रतिविम्बितं चैतन्यं जीव इति वा, अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः । इममेव च दृष्टिस्थिवादमाचक्षते” (पृ० २९, गै० ओ० सी०) इसी को अर्थात् एकजीववाद को चन्द्रशेखर दीवान ने शङ्कराचार्य का स्वाभिमतपक्ष कहा है—“मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः—The three theories set forth are propounded by the followers of Sankaracharya who differed from him in some minor particulars. His own theory is known as the एकजीववाद (One-Soul-theory) or दृष्टिस्थिवाद (Theory Idealism) (Siddhanta-Bindu notes p. 94)

Dinesh Chandra Bhattacharya in his article entitled “Mandana, Suresvara and Bhavabhuti”—Sankara and his host of followers generally favour एकजीववाद (Ind. Historical Quarterly) for 1931. vol. vii, P. 302 ।

यही दृष्टिकोण शङ्कराचार्य ने जीव के परिमाण के सम्बन्ध में भी अपनाया है । प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या जीव विभु है या मध्यम परिमाण है या अणुपरिमाण है । “तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः”—इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शङ्कराचार्य ने निर्णय किया कि उपाधि-बुद्धि-के गुणों की प्रधानता से बुद्धि-परिमाण अणुत्व का जीव में भी व्यपदेश होता है । सारांश यह कि जीव परमार्थतः विभु है किन्तु स्वोपाधिबुद्धिवशात् अणु-सा प्रतीत है अर्थात् आनन्त्य पारमार्थिक और अणुत्व औपचारिक है । इसी प्रकार जीव शङ्कराद्वैतवेदान्त के अनुसार अणु माना जाता है—“यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तशरीरं व्याप्नुयान्नाऽणुर्जीवः स्यात् । चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवोष्ण्यप्रकाशौ नात्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति । शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम् । परिशेषाद् विभुर्जीवः । कथं तर्ह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह ‘तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः’ । तस्मात्तद्गुणसारत्वाद् बुद्धिपरिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः । तत्रैवमेव

समञ्जसं स्याद् यद्यौपचारिकमणुष्यं जीवस्य भवेत्पारमार्थिक चानन्त्यम्" (ब्र० सू० शा० मा० २-३-२९) ।

अविद्या-दशा में जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म माया या अविद्या से आवृत-सा रहता है और उपाधिकरिप्त जैव रूप ही प्रगट रहता है । दृष्टि, श्रुति, मनि और विज्ञाति जीव का स्वरूप है । यह स्वरूप इस दशा में भी अनावृत रहता है, अन्यथा व्यवहार नहीं बनता, किन्तु अन्तर यह है कि सांसारिक अवस्था में विवेकविज्ञान अर्थात् ब्रह्मजीवैक्यज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व उपयुक्त दृष्ट्यादिज्योति स्वरूप शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, त्रिपय, वेदना उपाधियों से अविविक्त सा रहता है उसी प्रकार जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक का स्वच्छता और शुक्लता-रूप स्फटिकम्बरूप विवेकग्रहण के पहले रक्त, नील आदि उपाधियों से अविविक्त-सा रहता है । जीव का यह ज्योति स्वरूप अविवेकावस्था में कूटस्थनित्यवृक्म्वरूप नहीं आविर्भूत होता किन्तु शरीर इन्द्रिय मन-बुद्धि-संघातरूप उपाधियों के प्रभावों से उपपन्न, अनन्तर परिवर्तनशील, अनित्य अर्थात् उत्पादविनाशशाली, परिच्छिन्न तथा मलिन सा प्रतीत होता है । इतना ही नहीं, जीव शरीर इन्द्रिय मन-बुद्धि-चित्त अहङ्कार-व्यापाररूप कर्म के फलस्वरूप भोग के कारण त्रिविधनाश पीडित सा बना रहता है । यही है जीव का सांसारिक भयवा दन्ध । इस दन्ध की निवृत्ति ब्रह्मजीवैक्यरूपविवेकज्ञान से अविद्या निवृत्ति के द्वारा होती है । जिस प्रकार नेत्ररूप प्रमाण से स्फटिकम्बरूपसाक्षात्कार के दो जाने पर अपने स्वरूप अर्थात् स्वच्छता और शुक्लता में, जो पहले भी निरन्तर उसमें थे ही, अभिनिष्पन्न या आविर्भूतावस्थिता हो जाता है, उसी प्रकार जीव श्रुतिवाक्य से ब्रह्मवृक्म्वरूपसाक्षात्कार हो जाने पर अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् शुद्ध कूटस्थ नित्य चैतन्य-स्वरूप में अभिनिष्पन्न अर्थात् आविर्भूतावस्थित हो जाता है । विवेकविज्ञान के अभाव में अपने पारमार्थिक स्वरूप के आवृत अर्थात् अनाविर्भूत रहने पर जीव रूप में संसारी तथा बन्धु-भा बना रहता है । किन्तु विवेकविज्ञान के फलस्वरूप के आविर्भूत हो जाने पर मुक्तरूप से साक्षात्कृत हो जाता है । जो पहले भी परमार्थत वह था ही । 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से मगुरुष्य विवेकविज्ञान ही जीव का शरीर से समुत्थान अथवा अशरीरत्व है और अविवेक से उसका संशरीरत्व अथवा बन्ध है—“अग्नौच्यते-प्राग्बिवेकविज्ञा नोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपधिभिरविच्छिन्नमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योति-स्वरूप भवति । यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्फाच्छयं शीकृत्य च स्वरूपं प्राग्बिवेकग्रहणा द्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविच्छिन्नमिव भवति । प्रमाणजनितविवेकग्रहणात् पराचीन स्फटिक स्वाच्छयेन शीकृत्येन च स्नेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव सन् । तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव मतो जीवस्य श्रुतिकृत विवेकविज्ञान शरीरसमुत्थानम्, विवेक विज्ञानफल स्वरूपेणाऽभिनिष्पत्ति केवलरूपमन्वस्वरूपावगतिः । तथा विवेकाऽविवेकमायेनैवात्मनोऽशरीरत्व संशरीरत्व च । तस्माद् विवेकविज्ञानाभावादनाविर्भूतस्वरूप सन्विवेक विज्ञानादाविर्भूतस्वरूप इत्युच्यते” (ब्र० सू० शा० मा० १३ १९), “यदि ससायैवामा शरीर कर्ता मोक्षा च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्ट स्यात्तर्हि फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात् । अधिकस्तावच्छरीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसर्गरहितोऽपहृतपाप्मत्वादि विरोधेन परमात्मा चेदात्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु (ब्र० सू० शा० मा०, ३-४-८) । जीव में कर्तृत्व, मोक्षत्व, जन्ममरणपरम्परा-त्व, अविद्याऽऽत्मना रागद्वेषाऽभिनिवेशरूपपञ्चकलेशभाजनत्व रागद्वेषादिदोषकलुषितत्व तथा तज्जन्यरामस्तानयजालग्रथितत्व आदि जो भी सांसारिकपरिणाम कलाप से प्रतीत होते हैं वे सब विवेकविज्ञानाभावनिबन्धन और परिकल्पित हैं—“नित्यशब्दबुद्ध

मुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तल-
मलादि परिकल्पितम्” (वे० सू० शा० भा० १-३-२०) ।

उपर्युक्त विवेचन से यही निर्गलित होता है कि जीव परमार्थतः शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा होता हुआ भी अविद्यावेशवशात् देहात्मभावपन्न-त्वा छोकर तत्कृतदुःख से अपने को दुःखी मान लेता है और इस प्रकार अविद्याकृतदुःखोपभोगाभिमानो होकर संसार के नानाविध क्लेशों तथा त्रिविध तापों का भाजन बन जाता है । यही संसारित्व, शरीरित्व तथा अविद्याकृतविविधदुःखोपभोगाभिमानित्व जीव का बन्ध है । किन्तु यह दुःखाभिमान जीव का अविद्याकृतनामरूपोपनत देहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेक निमित्तक अर्थात् मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्तक ही है पारमार्थिक नहीं—“जीवो ह्यविद्यावेशव-
शाद्देहात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभि-
मन्यते । जीवस्यापि अविद्याकृतनामरूपनिर्वृतदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकनिमित्त एव
दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकः । तद्वृश्चनिश्चितमेतदवगम्यते मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव
दुःखानुभव इति (ब्र० सू० शा० भा०, २-३-४६) । जिस प्रकार आकाश स्वोपाधि घटादि के
चलते रहने पर घटावच्छिन्न आकाश के रूप में चलता हुआ-त्वा दिखाई देता है फिर भी मूलभूत
आकाश नहीं चलता उसी प्रकार अविद्याप्रत्युपस्थापित-बुद्धयाद्युपहित जीव रूपी अंश के दुःखी-त्वा होने
पर भी अंशी ईश्वर दुःखी नहीं होता—“यथा-आकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव दिभाव्य-
मानोऽपि न परमार्थतो गच्छति एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्धयाद्युपहिते जीवाख्येऽशे
दुःखायमानेऽपि न तद्वान्नीश्वरो दुःखायते” (ब्र० सू० शा० भा० २-२-४६) ।

आपाततः उपर्युक्त बन्ध से छुटकारा मोक्ष कहा जा सकता है, किन्तु पूर्ण विवेचन करने पर
अपने पारिभाषिक अर्थ में उससे अधिक हो जाता है । तदनुसार यह कहना होगा कि अविद्यानिमि-
त्तकजीवभावव्युदास से ब्रह्मभाव ही मोक्ष है—“तथा चाऽविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्म-
भावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति चेदान्ताः—‘तत्त्वमसि’ इत्येवमादयः (ब्र० सू० शा० भा०
२-२-१६) । उपाधियोग से वस्तुस्वरूप परिवर्तन नहीं होता । स्वच्छ स्फटिक अलक्तक आदि
उपाधि के योग से अस्वच्छ नहीं होता या जपाकुसुमप्रतिबिम्ब योग से रक्त नहीं हो जाता । चपल,
तरङ्गों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा प्रतिबिम्ब द्वारा तरङ्गों के योग से वस्तुतः तरङ्गानुसार दोलायमान
नहीं हो जाता । उसी तरह नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म उपाधियोग से न तो वस्तुतः
ईश्वर तथा जीव और न संसारकारण एवं संसारी, शरीर, कर्त्ता, भोक्ता और बद्ध हो जाता है ।
इसलिये उपर्युक्त अविद्याप्रत्युपस्थापित बन्ध का निरास अविद्यानिवृत्ति से स्वतः हो जाता है और
जीव की पारमार्थिक मुक्तस्वरूपता जो सतत है ही किन्तु अविद्यावशात् आवृत या अनाविर्भूत-सी
बनी रहती है, स्वतः आविर्भूत हो जाती है । सारांश यह कि मोक्ष न केवल अविद्या-तत्कार्यनिवृत्ति
है अपितु ब्रह्मभाव है—‘नह्युपाधियोगादप्यनादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति ।
नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वादस्वच्छता-
भिनिवेशस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्” (ब्र० सू० शा० भा०, ३-२-११) ;
“बुद्धयाद्युपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मव सञ्ज्ञावः कर्त्ता भोक्ता चेत्युच्यते । तस्यो-
पाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूपं ब्रह्म” (ब्र० सू० शा० भा०, १-१-३१) ; “अतोऽविद्या-
कल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्याऽनित्यत्वदोषः । नित्य-
शुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य, ब्रह्मभावश्च मोक्षः” (ब्र० सू० शा० भा०, १-१-४) । निष्कर्ष
यह कि अविद्याकृतस्वस्वरूप का विद्याकृतानावरण मोक्ष की निष्पत्ति है । दूसरे शब्दों में, नित्याऽ-

भिगत मोक्ष, जो अविद्या के कारण अनाविभूत या अनभिगत सा प्रतिभासित हो रहा था, अविद्या निवृत्ति के कारण आविभूत या अभिगत हो जाता है—“तद्व्यसार्थं नित्यसिद्धस्वभावमेव विद्ययाधिगम्यत इत्यसकृदेवादिप्स (म० घ० शा० मा०, ४-१-५२) ।

नामरूपप्रपञ्चप्रविलापन से मक्षतत्वादबोध होता है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रपञ्चप्रविलापन क्या है ? क्या यह अग्नि के प्रकृष्टताप के संपर्क में घृतकाठिन्य के प्रविलय के समान है या एक चन्द्र तिमिरकृत अनेक चन्द्र प्रपञ्च के समान अविद्याकृत नामरूपप्रपञ्च का विघा से प्रविलयन है ? दूसरी बात यह है कि आदि मुक्त ने जब एकबार पृथिव्यादिप्रविलय कर दिया तब पृथिव्यादिशून्य अन्य बद्ध जीवों का जगत् हो जायगा। सभी प्रश्नों का समाधान है कि अविद्याध्यस्तप्रपञ्च के प्रत्याख्यान से मक्ष ही आवेदनीय है और ‘एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म’ ‘तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि’ इन वाक्यों से ब्रह्म का आवेदन हो जाने पर विद्या स्वयं उत्पन्न हो जाती है और अविद्या बाधित हो जाती है और तब सकल नामरूपप्रपञ्च स्वप्नप्रपञ्च के समान प्रविलीन हो जाता है—“ततो ब्रह्मेवाऽविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेद्यितव्यम्, तस्मिन्नाद्येदिते विद्या स्वप्नमेवोत्पद्यते” तथा चाऽविद्या व्याध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोल्लस्य नामरूपप्रपञ्च स्वप्नप्रपञ्चवत्प्रविलीयते” (म० घ० शा० मा०, ३-२-२१) । मक्ष में नामरूपप्रपञ्च का अवभास अध्यास है—“अध्यासो नाम अतस्मिस्तद्वृद्धिरित्यवोचाम” ।

शङ्कराचार्य जीव-मुक्ति का सिद्धान्त मानते हैं। विद्या अर्थात् ब्रह्माण्डास्कार से अविद्यानिवृत्ति हो जाने पर समस्त नामरूप प्रपञ्च का सद्य उपशम हो जाता है। ज्ञान से अश्लेषाऽवशिष्ट प्रारब्धकर्म को छोड़कर समस्त कर्मपुञ्ज दग्ध हो जाता है। इसका शय भोग से दी होता है और तदर्थ भोगावसानपर्यन्त शरीर बना रहता है। इस प्रकार शरीर होता हुआ भी मुक्त ‘जीवमुक्त’ कहा जाता है—“प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेपोरिव वेगक्षयाद्विवृत्ति, तस्य तावदेव चिरम् इति शरीरपातायधिक्षेपकरणात्” (म० घ० शा० मा०, ३-३-३२) ।

अन्त में यह लिख देना आवश्यक होगा कि शङ्करानुयायियों के द्वारा बाद में उपर्युक्त समस्त सिद्धान्त बांजरूप में शङ्करकृतियों में उपलब्ध होते हैं। विस्तारभय से उनका पूर्ण विवेचन इस भूमिका में नहीं किया जाता है। संक्षेपतः शङ्करसिद्धान्त के सामान्यज्ञान के लिये यह भूमिका पर्याप्त होगी।

उदाहरणार्थ—शङ्कराचार्य के अनुयायियों में तीन बाद प्रचलित थे—(१) अवच्छेदवाद, (२) प्रतिबिम्बवाद तथा (३) आभासवाद—

“वाचस्पतेरवच्छेद-आभासो वार्तिकस्य च ।

सक्षेपशरीरकृता प्रतिबिम्बसिद्ध्यते ॥”

शङ्कराचार्य ने इन तीन वादों में से किसी का न प्रतिपेक्ष किया और न किसी के प्रति पक्षपाद दिखलाया, प्रत्युत यथास्थान इन तीनों का अपने भाष्यों में उपयोग किया। अत एव इन तीनों के बीजभूत समर्थक वाक्यकदम्ब यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं।

अवच्छेदवाद के समर्थक सङ्केतस्थल —

जीव के प्रसरण में यह ऊपर कहा आ चुका है कि अनवच्छिन्न परमात्मा ही अविद्याकृतनाम

रूपादि उपाधियों से अवच्छिन्न-सा ही जीवभावापन्न प्रतीत होता है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ उसी अनवच्छिन्न के अवच्छेदात्मक अवभास हैं। इस वाद के प्रतिपादक निम्न-लिखित स्थल है :—

“घटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसम्बन्ध इव व्याप्तोः” (१-१-५); “पर एवात्मना देहेन्द्रिय-मनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालः शरीर इत्युपचर्यते, यथा घटकरकाद्युपाधिव-शादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत्” (१-२-६); “एकस्यैव तु भेद-व्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति” (१-२-२०); “यस्तु सर्वशरीर-रेषूपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते परमात्मैव स भवति। यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिरूपाधि-भिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाशा एव भवन्ति” (१-३-७); “उपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्तः” (२-१-१३); “घटाकाशान्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्” (२-१-२२); “घटाद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमा-काशस्येव घटादिसम्बन्धनिमित्तम्” (२-३-१७); यथा, चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छान्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति” (२-३-४६); “अवच्छिन्न इवाज्ञा-नात्”—इत्यादि (आत्मबोध)।

प्रतिबिम्बवाद के समर्थक सङ्केतस्थल :—

सत्, चित्, आनन्दरूप परमात्मा यद्यपि एक, अनन्त, अप्रमेय अद्वितीय है तथापि नाम-रूपात्मक अनेकों उपाधियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण बिम्बभूत परब्रह्म उसी प्रकार अनेकधा अवभासित होता है जैसे एक ही सूर्य वस्तुतः एक होते हुए भी घटशरावादिगत उदक में अनेक-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार जगत् के सभी पदार्थ एक बिम्बभूत ब्रह्म के नानाविध प्रतिबिम्ब हैं।

इस वाद के प्रतिपादक निम्नलिखित स्थल हैं :—

“ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः। सर्वदेशकालपुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधि-भेदात्सवित्रादि जलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासते इति” (क० उ० शा० भा०, ६-२);

“प्रतिफलति भानुरेकोऽनेकशरावोदकेषु यथा।

तद्वदसौ परमात्मा ह्येकोऽनेकेषु देहेषु ॥ (प्रबोधसुधाकर, अद्वैत प्रकरण)

रूपं रूपं प्रतीदं प्रतिफलनवशात्प्राप्तिरूप्यं प्रपेदे। (शतश्लोकी);

इन्द्रो मायाभिरास्ते श्रुतिरिति वदति व्यापकं ब्रह्म तस्मात्।

जीवत्वं यात्यकस्मादतिविमलतरे विम्बित बुद्ध्युपाधौ ॥ (शतश्लोकी)

“स एष प्रज्ञानरूप आत्मा ब्रह्मापरं सर्वशरीरस्य प्राणः प्रज्ञात्माऽन्तःकरणोपाधिष्वनु-प्रविष्टो जलभेदगतप्रतिबिम्बवद्विषयगर्भः प्राणप्रज्ञात्मा। एष एवेन्द्रो गुणाद्देवराजो वा। (ऐ० उ० भा० ३।१); “तस्य प्रतिबिम्बाख्यपुरुषस्य निष्पत्तिरस्तेः प्राणात्” (बृ० उ० शा० भा०, पृ० ४५८ वा० वि० ग्र० मा०);

“सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।

बुद्ध्यैवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥” (आत्मबोध);

“बुद्ध्याद्युपाधिस्वभावावुपिधायी हि स चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव” (वृ० उ० भा० २।१९),

“तदुच्यते वृद्धिहासमाकृतमिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्ब जलवृद्धौ वर्धते जलहासे
इसति जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येव जलधर्मानुयायी भवति, न तु सूर्यस्य
तथात्वमस्ति” (म० सू० शा० भा०, ३-२-३०) । अर्थात्—जैसे जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब जलवृद्धि
के साथ बढ़ता सा, जलहास के साथ रहति मा, जलचलन के साथ कम्पित-सा तथा जलभेद से
भिन्न सा होता हुआ जलधर्म का अनुयायी-मा हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थतः अधिकृत एक रूप
मद्वल्य देहाद्युपाधि से बुद्धिहासादिक धर्मों का अनुगमन सा करता है, “यथा चोदारायादिकम्प-
नात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे रूपमानेऽपि न तद्गन्मूर्यं कम्पते (म० सू० शा० भा० ० ३४६),
तत्तत्र यस्माद्वृद्धतमिन्न तस्मादेवेतरोऽधौ परमात्मन विरल्यभूत आत्माऽपरमार्थश्चन्द्रादेरि
बोद्धकचन्द्रादिप्रतिबिम्ब इतरो घ्राणेतरो घ्राणेनेतरं घ्रातस्य जिघ्रति” (वृ० उ० शा० भा०),

“चलत्पुपाधी प्रतिबिम्बलील्यमीपाधिकं मूढधियो नयन्ति ।

स्वविम्बभूतं रश्मिद्विनिष्क्रियं कर्त्तास्मि भोक्तास्मि हतास्मि हेति (विवेकचूडामणि—)

आभासवाद के समर्थक सद्देतस्थल —

प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद में यहूय अन्तर है । प्रतिबिम्बवादा पक्षपादाचार्य और प्रकाशा-
त्मयति प्रभृति बिम्ब चिन्त से प्रतिबिम्ब को अभिन्न मानते हैं, उसी प्रकार जैसे द्रव्यस्य मुख
ग्रोवास्य मुख मे वस्तुतः अभिन्न है किन्तु आभासवादी ईश्वराचार्य और आनन्दगिरि आदि आभास
को चिन्त से न भिन्न, न अभिन्न और न उभय अत एव अनिवर्तनीय मानते हैं, और अत एव इसकी
उत्पत्ति स्वाकार करते हैं । इस मत के अनुसार ईश्वरादि रथावरान्न समस्त जगत् चिदाभासरूप है ।
अविद्यान्तर्गत चिदाभास साक्षात् चिदुद्भूत होने के कारण विश्वकारणक और असादि^३ कहा जाता
है और उस स्वान्तर्गत चिदाभास से सतत अनुप्राणित, उद्भासित तथा सत्तान्वित होने के कारण
अविद्या चिदाभास मानी जाती है । यह चिदाभास कारण चिदाभास^४ कहा जाता है । अविद्याकार्य-
बुद्ध्यान्तर्गत चिदाभास अविद्याद्वारक (अर्थात् स्वकारणाऽविद्यान्तर्गतचिदाभासप्रसूत) होने के
कारण अविद्यामूलक कहे जाते हैं । बुद्ध्यादि समस्त पदार्थसार्य या अविद्यावार्यजात प्रातिस्विक रूप
से स्वान्तर्गत चिदाभास मे अनवरत अनुप्राणित, उद्भासित तथा सत्तायुक्त रहने के कारण
चिदाभास माने जाते हैं । ये कार्य-चिदाभास^५ कहे जाते हैं । दोनों प्रस्थानों में कुछ अवान्तर

१ “उपाधिरिधनवैशिष्ट्येन प्रतिबिम्बस्य (आभासस्य) असत्त्वम् । आभासश्च न बिम्बधर्मो नाप्यु-
पाधिधर्मो नाऽपि स्वतन्त्र इत्यत्र प्रणिपादितम्” —वाक्यसुषुप्तीका, श्लो० ३६ ।

२ “ईशादिविषयान्त यत्तदविद्याविजृम्भितम्” (वृ० भा० वा०), “तदन्यद् यत् तदामामम्”
(वृ० भा० वा०); “कृतस्थवृष्टि-तन्मोदी कृष्टाभासश्च तत्त्वयम् । कारण जगत (वृ० भा०
वा० ३-४-८६) ।

३ चिदाभास तमो ज्ञेयम्” (वृ० भा० वा० १-४-३४१), प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासम्” ।

४ “कृतस्थान्तैकदेवतस्यविद्विम्बो मोहगस्तु य, स्वोपादानानुरोधित्वात् (वृ० भा० वा०
४-३-४१५) ।

५ “आत्मामासोऽपि योज्याने तत्कार्ये चाऽवभासते । कार्यकारणत्वरूप (वृ० भा०
वा० ४-३-२३२०) ।

मतभेद भी हैं, जिनका विवेचन ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य वदिर्भूत होने के कारण इस भूमिका में नहीं किया जाता है ।

आभास-समर्थक वाक्य ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में २-३ ही हैं, किन्तु अन्य कृतियों में पर्याप्त हैं, जिनके कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :—

“आभास एव चैव जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः । न स एव साक्षात् । नापि वस्त्वन्तरम् । ... आभासस्य चाऽविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याऽविद्या-कृतत्वोपपत्तिरिति, तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः । (ब्र० सू० शा० भा० २-३-५०) ।

“कल्पयत्यात्मनात्मानम्” इत्यादि (गौडपाद कारिका १२) ;

“जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रः” (छा० उ० भा०, ६-३-२) ;

“गम्यते शास्त्रयुक्तिभ्यामाभासत्वमेव च” (उपदेशसाहस्री, २-३८-४३) ;

“आभासस्याप्यवस्तुतः” (उपदेशसाहस्री, २-१८-४३) ;

“आभासे परिणामश्चेन्न रज्ज्वादिनिभत्ववत् ।

सर्पादेस्तथाऽञ्चोचमादर्शं च सुखत्ववत् ॥ (उ० सा०, २-१८-११४) ;

“सुखाभासो यथादर्शं आभासश्चोदितो नृपा” (उ० सा०, २-१८-८७) ;

इनके अतिरिक्त कुछ पङ्क्तियाँ ऐसी उपलब्ध होती हैं, जिनमें ‘आभास’ शब्द प्रयुक्त नहीं है किन्तु वे अर्थतः आभास-परक हैं । उनके उद्धरण नीचे दिये जाते हैं :—

“नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नप्रसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम्” (१-२-१९) ।

“प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिरविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिव्योतिःस्वरूपं भवति । यथा शुद्धस्य स्फटिकाय स्वच्छयं शौक्ल्यं च स्वरूपं प्राग्विवेकग्रहणाद्रक्तनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति” (१-२-१९) ; “जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गः । अंश इवांशः, नहि निरवयवस्य मुख्योऽंशः सम्भवति” (२-३-४३) ; “सूर्यप्रतिविम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येऽंशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानौश्वरो दुःखायते” (२-३-४६) । उभयलिङ्गाधिकरणे जीवोजलचन्द्र-जल-सूर्याभ्यामुपमितः । इन पङ्क्तियों का तात्पर्य आभास में ही पर्यवसित होता है ।

दूसरा उदाहरण मुक्ति-भेद का दिया जा सकता है । शङ्करानुनायायियों ने मुक्ति का त्रिविध भेद किया है—(१) क्रममुक्ति, (२) जीवन्मुक्ति और (३) विदेहमुक्ति । इन तीनों का संक्षिप्त उल्लेख ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में किया गया है—“तत्र कानिचित्त्रहण उपासनान्यभ्युपदयार्थानि, कानिचित्क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसङ्ख्यदयार्थानि” (१-१-१२) ; इति च सम्यग्दर्शन-

१. उपास्तीनां मुक्त्यर्थत्वाद् विद्यावद् वस्तुगामितेत्याशङ्क्य साक्षात्त मोक्षार्थेत्याह-तत्र कानिचित्-इत्यादि । अभ्युपदयार्थानि प्रतीकोपासनानि, क्रममुक्त्यर्थानि दहराद्युपासनानि कर्मसङ्ख्यदयार्थानि उद्गाथादिध्यानानि” (न्यायनिर्णयाख्य-आनन्दगिरिटीका) । ‘नाम ब्रह्म’-इत्याद्युपास्तीनां काम-

कालमेव तत्फल संप्राप्तम्' दर्शयति" (म० गृ० शा० भा०, ३३३०), "नहि विदुषः सपरे
 तस्य विद्याया मत्त सप्रेप्ततोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्या क्रिप्रिप्राप्तव्यमस्ति, यदर्थं कतिचित्
 क्षणानक्षीणे^२ ते कर्षयेयाताम्" (३-४-२७), "प्रवृत्तफलस्य तु कर्मानायस्य मुक्तेयोरिव
 वेगक्षयान्निवृत्तिः, 'तस्य तावदेव चिरम्' इति शरीरपाताप्रधिक्षेपकरणात् ।"

इस प्रकार अथ सभा उदाहरण संगृहीत किये जा सकते हैं, किन्तु भूमिका में समस्त सिद्धान्तों
 का उपन्यास सम्भव नहीं ।

—वीरमणि प्रसाद उपाध्याय

चारादिरभ्युदय फलम्, दहराधुपास्तीर्णा क्रममुक्ति फलम्, उदगीधादिध्यानस्य कर्मसमृद्धि
 फलम्" (रत्नप्रभाटीका) ।

१-२ ये दोनों पङ्क्तियों जीवन्मुक्ति का समर्थन करती हैं ।

३ इस पङ्क्ति से शरीरपात के अनन्तर विद्रोहमुक्ति सूचित होती है ।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

‘ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी’-हिन्दीव्याख्योपेतम्



प्रथमोऽध्यायः

यो वेदेः प्रविचिन्त्यते हि विरजा जातन्ति यं साधवः,
येनेदं रचितं घृतं च निखिलं यस्मै जगद्रोचते ।
यस्मादेव विभाति विश्वविभवो यस्यैव लीलाऽखिलम्,
यस्मिन्नित्यसुखं सदा समरसं तस्मै नमः स्वात्मने ॥

उपोद्घात

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परोत्य विविनक्ति धीरः ।

‘श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ (कठ० १।२।२)

सद्गुरु सत्यशास्त्र के उपदेशों के अनुसार धार्मिक मर्यादा नियम में रहने वाले मनुष्य को मोक्ष और उसके साधनरूप पुण्य, ज्ञान, सन्तोषादि रूप सब श्रेय तथा प्रेय (प्रियतर) स्वर्ग मुखादि और उनके साधन स्त्रीपुत्रविषयादि प्राप्त होते हैं । मनुष्यता से रहित को तो श्रेय या प्रेय कुछ भी प्राप्त नहीं होते । उन दोनों के प्राप्त होने पर भी जो मनुष्य प्रेय की उपेक्षा (अनादर-त्याग) करके श्रेय का ग्रहण करता है, उसको साधु (शुभ) प्राप्त होता है, और जो विवेकादि के विना श्रेय की उपेक्षा करके प्रेय का ग्रहण करता है, वह श्रेय से वियुक्त (रहित) होता है (तयोः श्रेयः आदानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाच्च उ प्रेयो वृणीते) । इससे धीर (बुद्धिमान्) विवेकी मनुष्य उन प्राप्त श्रेय और प्रेय को सम्यक् विचार कर विविक्त (पृथक्) करता है, और प्रेय से विविक्त (मित्र) तथा श्रेष्ठ श्रेय का ग्रहण करता है, और मन्द (अल्पज्ञ-अविवेकी) पुत्र गरीरादि के योग-क्षेम (प्राप्ति वृद्धि रक्षादि) के लिये प्रेय का ही ग्रहण करता है; जिससे कि वह सत्य पुरुषार्थ रूप प्रयोजन से रहित (च्युत) होता है और फिर प्रेय से भी रहित होकर कष्टमय पशु आदि योनि में प्राप्त होता है । वहाँ श्रेय, प्रेय आदि के विवेकादि से रहित सांसारिक सुखेच्छुक मनुष्यों के लिए प्रायः कर्मकाण्ड रूप वेद और उपवेदादि प्रवृत्त हुए हैं, जिनमें शत्रु-मारणादि स्वर्गादि के लिये अधिकतर कर्मों का विधान है । अविद्यादि क्लेशयुक्त मनुष्य भी बहुत प्रकार के इच्छायुक्त होते हैं, इससे कर्मकाण्ड रूप वेद और उपवेदादि का भी बहुत विस्तार है, उपासना काण्ड, ज्ञान-काण्ड

रूप उपनिषदात्मक वेद कर्मकाण्डादि की अपेक्षा बहुत अल्प है, क्योंकि इनके अधिकारी भी अल्प है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड की भीमात्ता (विचार) रूप एक दर्शनशास्त्र भी अन्य पाँच दर्शन के बराबर, (तुल्य) है। 'सर्व वेद और वैदिक दर्शनों का लक्ष्य आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष ही है, जो (सर्व वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तस्मै पदं सग्रहेण श्रवीम्योमित्येतत् ॥ ४४, ११२ । १५ ॥ इत्यादि) शास्त्रों में सिद्ध होता है।

जिस ब्रह्मात्मा पद (प्राप्तव्य वस्तु) को सब वेद कहते हैं तथा तपस्विजन जिसे तपो द्वारा प्राप्त करते हैं, जिस के ज्ञान और प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य करते हैं (सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । मुण्डक, ३।१।५), जो ब्रह्मात्मा नित्य (निरन्तर) सन्ध्यामापण, नित्य तप (मन-इन्द्रिय का निग्रह) और नित्य ब्रह्मचर्य तथा मम्म्यक् विवेक विज्ञानादि रूप ज्ञान से प्राप्त होता है, उस ब्रह्मात्मा रूप वस्तु को सग्रह (सक्षेप) से मैं तेरे प्रति कहता हूँ कि वह 'ओम्' इस शब्द का वाच्य और लक्ष्य स्वरूप है, 'वेद्यते बोध्यन्ते धर्मादिपुरुषार्था यस्ते वेदा' इस निर्वचन के अनुसार धर्मादि के बोधक वचनों को वेद कहते हैं। यद्यपि 'वेद वृ वा वेदि करोति' इत्यादि वचनों में वेद शब्द दमंगुष्टि का वाचक है, तथापि वह बुदा-गुष्टि अर्थ में रूढ जन्तोदात्त शब्द है, और धर्मादि के बोधक ऋग्वेदादि का वाचक वेद शब्द अन्य है। योगिक, रूढ, योगरूढ और योगिरूढ भेद से शक्ति (अर्थबोध में सामर्थ्य) युक्त पद चार प्रकार के होते हैं, यहाँ प्रकृति प्रत्य-यादि रूप अवयवों के ही अर्थों को कहनेवाले योगिक होते हैं, अवयवों की शक्ति ने निजा समुदाय शक्ति में अर्थों के बोधक शब्द रूढ और अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति दोनों में एक अर्थ के बोधक शब्द योगरूढ कहाने हैं। अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति से मिश्र-मिश्र अर्थों को कहने वाले शब्द योगिरूढ कहते हैं। पक्ता, गन्ता इत्यादि योगिक के उदाहरण हैं, गी घटादि रूढ के उदाहरण हैं, पङ्कजादिपद योगरूढ के उदाहरण हैं—उद्भिद् शब्द योगिरूढ का उदाहरण है। क्योंकि पक्ता आदि में पक्ष धातु से पाक का और प्रत्यय से कर्ता का बोध होता है। गी, घट शब्द में गच्छतीति गी, चले सो गी है और घटते-वेष्टते, इति घट, चेष्टा करे सो घट है, ऐसा अवयवार्थ प्रतीत होता है, परन्तु वह वस्तुतः गी-घट शब्द का अर्थ नहीं है, एव पक्ष से उत्पन्न होने वाले बुमुदादि का पङ्कज शब्द से वाध नहीं होना, किन्तु कमल का ही बोध होता है। उद्भिद् शब्द योगिक रूप (अवयव शक्ति) से वृक्षादि का बोधक होता है और समुदाय शक्ति में 'उद्भिदा यजेत' इस वाक्य में यागविशेष का बोधक होता है। प्रकृत म वेद शब्द ऋग्वेदादि अर्थ में पक्व पद के समान योगरूढ है, जो ऋग्वेदादि ईश्वरानुशील सर्गादि कालिक परम पवित्र देव, ऋषि जन से ज्ञात स्मृत और प्रचारित है, इससे पवित्र है, इसी में (वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च सयम । अहिंसा गुह्यवा च नि श्रेयसकर परम् ॥ सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञान पर स्मृतम् । तद्व्यग्रथ सर्वविद्यानां

प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ मनुः १२।८३-८५) अर्थयुक्त वेद का अभ्यास, तप, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, गुरु की सेवा और इनसे साध्य आत्मज्ञान परम निःश्रेयस (कल्याण) कारक है । इन सब वेदाभ्यासादिकों में भी वेदान्तजन्य आत्मज्ञान ही उत्तम कहा गया है, क्योंकि वह सब विद्याओं में प्रधान है और इसीसे अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं । श्रुति कहती है कि - तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य. पन्था विद्यतेऽजनाय । श्वेता० ३।८। अज्ञानादि तम से पर महान् सर्वात्मा उस पुरुष को जान कर ही मृत्युमेति, अज्ञानादि से रहित होता है, मोक्षप्राप्ति के लिये अन्य मार्ग नहीं है । ईश्वरानुगृहीत ऋषियों से स्मृत भी वेद अनुमातराणादि का तथा रागद्वेषादिमय कर्मों का विधान क्यों करते हैं, इस स्रका का समाधान है कि वेद प्रायः मनुष्यमात्र के हित के लिये है, वहाँ अत्यन्त कामी क्रोधी तथा अत्यन्त अज्ञ (मूढ़) के लिये कुछ मार्ग नहीं बतायेंगे, तो वे लोग अत्यन्त उच्छृङ्खल होकर सर्वथा नष्ट हो जायेंगे । इसलिये अपरिमित राग, द्वेष, हिंसादि को छुड़ा कर परिमित में लाते हैं, कि जिससे श्रद्धालु सदाचारी अग्नि, वरुणादि नाम वाले, आपाधिकस्वरूप वाले ब्रह्मात्मा के पूजक भी धीरे धीरे निजात्मतत्त्व के जानी और मुक्त हो तथा नहीं मुक्त होने पर भी पूर्वोक्त प्रेय को प्राप्त करके सुखी रहें ।

इस प्रकार सोपानारोह न्याय से सब वेद की प्रवृत्ति हुई है और सभी वैदिक दर्शन और वैदिक सन्तों की वाणो भी प्रेय से उपरत के प्रति सोपानारोह न्याय से ही प्रवृत्त हुई है । यहाँ सकाम शुभ कर्मों के बोधक वेद वा दर्शनादि प्रथम सोपान रूप हैं, निष्कामतायुक्त कर्मों के बोधक द्वितीय सोपान रूप हैं । इससे कामादि को नहीं त्याग सकने पर परोपकारमय इष्ट पूर्तादि कर्मों को करना अम्युदय के लिये शुभ सीधादि आरोह का प्रथम सोपान और निष्काम कर्मों का अनुष्ठान द्वितीय सोपान (सीढ़ी) है, इसके बाद न्यायवैशेषिक के अनुसार न्याय की रीति को और पदार्थों को समझना तृतीय सोपान है तथा दर्शनों की दृष्टि से प्रथम सोपान ही है । भाव यह है कि—प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ (मनुः १२।१.५) इत्यादि शास्त्र के अनुसार धर्म की शुद्धि (विवेकादि पूर्वक तत्त्वज्ञानादि) की इच्छा वालों को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और अनेक प्रकार के वेदादि आगम रूप शास्त्रों को विदित (ज्ञात) करना चाहिये अर्थात् लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (ज्ञान) होती है, वहाँ सजातीय विजातीय से वस्तु के स्वरूप को व्यावर्तक (भेदक) धर्म को लक्षण और ज्ञातव्य वस्तु के यथार्थ ज्ञान के हेतु को प्रमाण कहते हैं । उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्यादि, प्रत्यक्षादि तीन के अन्तर्गत हैं या पृथक् होते भी धर्म-शुद्धि में उनकी जरूरत नहीं है । प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रादि रूप शब्दप्रमाण से ही धर्मतत्त्व का ज्ञान और उनकी प्राप्ति मुक्ति हो सकती है । जिन धर्मों की शुद्धि होती है, वे धर्म धर्मशास्त्र में यों गिने गये हैं—वृत्तिः क्षमा दमोऽस्तेयं

शौचमिन्द्रियनिग्रह । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥ (मनु० ६। १२) । योग-
युक्त मन-प्राण-इन्द्रिय को त्रिव्या को बुभुक्षे से रोकने वाले सन्तोषादि रूप धर्म, क्षमा,
मन का दमन रूप दम, निषिद्ध द्रव्य का त्याग रूप अस्मेय, इन्द्रिय तन, मन घनादि की
शुचिता, विरुद्ध विषयो में इन्द्रियों का निरोध, शास्त्रादि का ज्ञान रूप धी (विवेक) ।
आत्मविद्या, सत्यमापण, काम-त्राण-लोभ का त्याग, ये दश धर्म के स्वरूप हैं । वहाँ श्री-
इज्याऽऽचारदमाऽहिंसा दान स्वाध्यायकर्म च । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥
(याज्ञ० स्मृ० १।८) । यज्ञ, सदाचार, दम, अहिंसा, दान, वेदाध्ययनादि साधन रूप
अपर धर्म हैं । निष्काम कर्म, भक्ति, ध्यानादि रूप योग में आत्मज्ञान की प्राप्ति परम धर्म
है । इस परम धर्म का प्रथम सोपान रूप न्यायवैशेषिक है, क्योंकि योग से द्रष्टव्य जिस
आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये—आत्मा का अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मनव्यो निदिध्या-
सितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् । वृ०
२।४।५) । इस भूति से श्रवण-मनन-निदिध्यासन (ध्यान) का विधान किया गया है ।
वह आत्मा ब्रह्म (विभु त्रिविध भेद रहित) है, सत्र जीव-जगत् ईश्वर का एक पार-
मायिक स्वरूप है, इसी से उस एक के दर्शनादि में इस सत्र ससार के दर्शनादि हो जाते
हैं, और जिस के दर्शनादि में सत्र के दर्शनादि होते हैं वह—सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म ।
(तैत्ति० २।१) क ब्रह्म य ब्रह्म । (छा० ४।१०।५) । सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-
द्वितीयम् । (छा० ६।२।१) । स आत्मा तत्त्वमसि । (६।८।७) । भूमव भुवम् । (६।२३।१) ।
आत्मानन्द स स्वराद्भवति । (छा० ६।२।५।२) । सत्य, ज्ञान और अनन्त (देश काल
वस्तुज्ञत भेदरहित) ब्रह्म है । मुख्यस्वरूप विभु ब्रह्म है । हे सोम्य । यह ससार भृष्टि से
प्रथम सद्व्रह्ममाय था, इससे एक और सत्र द्वैत (भेद ; रहित था, वही सर्वात्मा है,
इसमें तुम वास्तव में वही स्वरूप हो, वह ब्रह्म ही मुख्यस्वरूप है, उस ब्रह्मात्मा को
जानने वाला स्वात्मानन्द स्वरूप और स्वयं प्रकाश स्वरूप मुक्त हो जाता है । इन वक्तों
से सत्, चिद, आनन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा के मित्र होते भी जो दर्शन आत्मा को केवल
सत्यस्वरूप विभु वा एकदेशी कहता है, उसे प्रथम सोपान रूप समझना चाहिये । उसके
भी अधिकारी बहुत मनुष्य हैं, सत्यात्मा और ईश्वरादि को मित्र समझकर सम्पूर्ण भक्ति
उपासनादि करते-करते वे लग कर भी द्वितीय सोपान के अधिकारी होंगे ही । एक बच्चा
भी समझ सकता है, और समझता है कि मिट्टी के डेले को तोड़ने लगेंगे तो अत्यन्त दुःख
हो जाने पर उसके अल्प अवयव को नहीं तोड़ सकेंगे इसमें वह नित्य है, परम
अणु सूक्ष्म है । इसी प्रकार जल, तेज आदि में भी वह समझ सकता है, और सर्वत्र
मासते हुए दिशा, कालादि को मित्र-मित्र नित्यादि भी समझ सकता है, तथा पूर्वं वर्णित
प्रत्यक्ष, अनुमान और वेदादि शास्त्र रूप प्रमाणों में प्रत्यक्ष तथा अनुमान की प्रधानता
को एक बच्चा भी समझ सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के बिना शारीरिक,
और लौकिक व्यवहार कभी नहीं चल सकता, और प्रथम धेनी के लोग प्रायः शरीर
व्यवहार परायण होते हैं, यद्यपि पूर्वोक्त प्रेय से कुछ उपरत ही लोग सभी वैदिक

दर्शनों के अधिकारी होते हैं, तथापि ऐहलौकिक प्रेय से उपरक्त होते भी पारलौकिक प्रेय से उपरत सब नहीं होते हैं, और सर्वत्र उपयोगी विचारों में सहायक अनुमान में विशेष उपयोगी, प्रमाण, प्रमेय संशयादि षोडश पदार्थों का वर्णन जो न्यायदर्शन में और द्रव्य गुण, कर्म सामान्यादि का वर्णन जो वैशेषिक में है; उन्हीं का संक्षेप रूप में वर्णन है, सो भी प्रथमावस्था में उपयोगी है। समास-व्यास (संक्षिप्त-विस्तृत) के विचार से बुद्धि विशद और बृहत् होती है, फिर 'एक ही पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा' इत्यादि उपदेश और 'प्रकृति पुरुष चैव विद्वचनादी उभावपि' (म. गी. १३।१९) 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' (छा. ६।३।११) इत्यादि शास्त्रों के अनुसार जगत् की प्रकृति (उपादान कारण) अनिवर्चनीय एक माया और जीवात्मा तथा सत्य ब्रह्मात्मा रूप एक पुरुष ही विचारादि से समझने के योग्य है कि जिस ब्रह्मात्मा के अपरोक्ष अनुभव से (ब्रह्मासंस्थोऽमृतत्वमेति छा. २।२३।१।) ब्रह्मनिष्ठ अतमृत्व (मोक्ष) पाता है। भाव है कि (अन्नेन शुद्धेनापो मूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुद्धेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्य सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः । छा. ६।८।४) देह कारण रूप भी अन्न सत्य अन्तिम मूल कारण नहीं है, इससे अन्न रूप शुग् (कार्य) से उस का मूल (कारण) रूप जल को समझो, जल रूप कार्य से उसके कारण रूप तेज को समझो, तेज से सर्वाधिष्ठान सत्य ब्रह्मात्मा रूप माया-शक्ति सहित मूल कारण को समझो, क्योंकि सन्मूलक, सदाश्रित, सत में समासि विलय वाली सब प्रजा हैं, अर्थात् जैसे मिट्टी के आश्रित मिट्टी के अभिन्न सत्ता वाला घट है, तन्तु रूप ही पट है, मिट्टी और तन्तु के बिना घट और पट मिथ्या वाचारम्मण (वाचयाऽऽ-रम्यतेऽम्यद्यत इति वाचारम्मणम्) मात्र ही हैं। श्रुति कहती है कि (वाचारम्मणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' छा. ६।१।४)। मिट्टी के विकार मिट्टी रूप से सत्य है और अपने स्वरूप से असत्य मिथ्या है, इससे मिट्टी के ज्ञान से ही उनका ज्ञान होता है, उनका सत्य स्वरूप मिट्टी के समझ लेने से ही समझा जाता है, अन्यथा नहीं। वैसे ही भूत-भौतिक सब संसार और मनोमायामय जीवेश्वर का व्यावहारिक स्वरूप मिथ्या है। ब्रह्मात्मा रूप एक पारमार्थिक स्वरूप ही सत्य है, उसके ज्ञान से सब का स्वरूप ज्ञात अनुभूत होता है, जिससे कि अनादि अविद्या की निवृत्ति से जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेह मुक्ति होती है। परन्तु यह तत्त्व प्रथम श्रेणी वालों को समझ में नहीं आ सकता है। इससे कार्यकारित्व मात्र को सत्य का लक्षण मानकर मृत्पिण्ड से घट में जलाहरणादि रूप पृथक् कार्यकारित्व होने से घट को मृत्पिण्ड से पृथक् सत्ता वाला नैयायिकादि मानते हैं। क्योंकि प्रथमावस्था में यह बात समझ में नहीं आसकती कि यदि मिट्टी से घट भी भिन्न और सत्य वस्तु है, तो एक सेर मिट्टी का जहाँ एक घट बना हो, वहाँ मिट्टी कहीं गई नहीं है, और घट भी एक नया पार्थिव द्रव्य रूप पदार्थ उसमें उत्पन्न हुआ है, तो, उस का परिणाम गुस्त्व कुछ भी तो बढ़ना चाहिये और

रस्सी में सर्प का भ्रम होने पर मिथ्या ही उस सर्प में भय रूप कार्य होता है तथा स्वप्न के मिथ्या पदार्थादि से उस समय सुप्त-दुःसादि कार्य होते हैं और पुमानुमादि की सूचना होती है, इससे कार्यकारित्व मात्र सत्यता नहीं है इत्यादि । एक गुणक आग्न के स्पर्श, रूप, रस और गन्ध त्वक्, नेत्र, जिह्वा तथा घ्राण को पृथक् २ वृत्त करते हैं, परन्तु सब एक आग्न मात्र हैं । स्पर्शादि गुण आग्न से पृथक् सत्ता स्थिति वाले नहीं हैं । इसी प्रकार पाचभौतिक पदार्थ देह, बुद्धादि पाँच भूत मात्र हैं और पाँच भूतों में भी पृथिवी जल मात्र है, जल तेज मात्र है, तेज वायु मात्र है, वायु आकाश मात्र है, आकाश, मायाविशिष्ट ब्रह्मान्मा ईश्वर मात्र है, वही एक पारमार्थिक सत्य एक अद्वितीय है । मो चन्द्र प्रमाण सद्गुरु से ज्ञेय है, वह स्वयं प्रकाश चेतन अमण्डानन्द स्वरूप है, यदि अनेक परमाणु आदि अमण्ड और सत्य होंगे, तो वह आत्मा अमण्ड और सत्य नहीं हो सकता, एक देश में दो सत्य नहीं रह सकते और एक सत्य में अनेक असत्य कल्पित भेद वाले मिथ्या पदार्थ रह सकते हैं, जैसे कि कपास में तन्तु और तन्तु में वस्त्रादि रहते हैं वैसे ही माया और सब समार कोई साक्षात् कोई परमरा में ब्रह्मात्मा में है, तो भी माया आदि के मिथ्या होने में वह ब्रह्म असंग है, अचट्टेय है, अदाह्यादि है । असत् और मिथ्या चन्द्र का सर्वथा अभाव अर्थ नहीं है, किन्तु कारण अधिष्ठान से भिन्न सत्ता रहित कारण अधिष्ठान रूप में सत्य को ही मिथ्या या असत्य कहा गया है । इस तत्त्व को नहीं समझने वालों के लिये, आत्मभिन्न सत्य ईश्वर को मान कर (ईश्वर कारण पुरुषकर्मफलित्यदर्शनात् । न्यायदर्शन, अ ४।१।१९) । मनुष्य कर्मफल की इच्छा से कर्म करता है परन्तु कर्मफल नियम से नहीं देखा जाता । इसमें जगत् जन्मादि का ईश्वर कारण है, इत्यादि उपदेश दिया गया है, योग के साधनों का तथा समाधि आदि का उपदेश दिया गया है, तथा (न प्रवृत्ति प्रतिसन्धानाय हीन-वज्रेणस्य । न्या सू ४।१।६४) रागादि दोषरहित की प्रवृत्ति पुन बन्धन के लिये नहीं होनी, इत्यादि उपदेश भी अतिसमीचीन ही हैं । योगदर्शन का भी वचन है कि—सति मूले तद्विषयो जात्यायुर्मोहा (योगदर् २।१३) । अविद्यादि रूप क्लेशों के रहने पर ही जन्म, आयु तथा भोग रूप कर्मों के फल होने हैं, अन्यथा नहीं । इसमें क्लेशों को शिथिलादि करने के लिये असंग सत्य चेतनात्मा के विवेकादि का विधायक भाग्य और योग दोनों दर्शन, दर्शन की दृष्टि से द्वितीय सोपान हैं । इस सोपान में असंग निविशेष आत्मा में भेद का स्वीकार प्रकृति आदि में स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार आदि ही तृतीय सोपान वेदान्त की अपेक्षा न्यूनता है । असंग एक सत्य तत्त्व के ज्ञानपूर्वक अन्य सब को मिथ्या समझने ही पर क्लेशों की अत्यन्त निवृत्ति श्रुति अनुभव के अनुसार हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि सत्य प्रेय के लिये रागादि को सत्य प्रवृत्ति अवश्य करेगी, उसका यह स्वभाव है, वृत्ति रूप ज्ञान बाल में लज्जित सा होने पर भी वृत्ति की निवृत्ति काल में अवश्य पुरुष को भोग देने के लिये फिर प्रवृत्त होगी,

बन्धन का हेतु रूप अविद्यादि जब मिथ्या अनिर्वाच्य है; तब तो अविद्या के विरोधी विद्या से उसकी सर्वथा निवृत्ति होती है, इससे अविद्यादि जन्य अहंकारादि रूप बीजाङ्कुर न्याय से अनादि अन्तःकरणादि में, सूर्यकान्तादि में व्यक्त सौर तेज के समान अमिव्यक्त चिदात्मा रूप व्यष्टि व्यावहारिक जीव उस अविद्या की निवृत्ति से मुक्त होता है, निर्वाण पद को पाता है, अर्थात् जैसे सूर्यकान्त के अभाव से उस से व्यक्त हुआ तेज फिर समान सौर तेज मात्र रह जाता है, वैसे ही ज्ञानादि द्वारा मिथ्या अविद्यादि के विलय से व्यावहारिक जीवभाव सदा के लिये निवृत्त हो जाता है, यही निर्वाण पद कैवल्य है, अन्य नहीं। स्वप्न कालादि में प्रतीत होने वाला और जागने आदि से निवृत्त होने वाला जीव का प्रतिभासिक स्वरूप है, जिसका बृहदारण्यक (४।३।१३) में बृहत् रूप और क्रीडादि रूप युक्त का वर्णन किया गया है, और भी जो स्वप्न कालिक रथादि श्रुति वर्णित हैं और लोकप्रसिद्ध हैं, वे सब सत्यात्मा से और असत् गगन पुष्पादि से भिन्न होने से अनिर्वचनीय और प्रातिभासिक (प्रतीति काल तक रहने वाले) हैं। सत्यासत्यादि से भिन्न को ही अनिर्वचनीय कहते हैं। उक्त सत्यासत्य से भिन्न होने से माया सहित सब जगत् और व्यावहारिक जीव भी अनिर्वचनीय हैं। सत्य चिदानन्दादि रूप से निर्वचनार्ह परिणामक्रियादिरहित एक ब्रह्मात्मा ही है। स्वप्न की प्रतीति स्मृति रूप नहीं है, क्योंकि वहाँ की वस्तु सामने दीख पड़ती है, साक्षात् शब्दादि के श्रवणादि उस समय होते हैं। व्यावहारिक जीवों के स्वरूपों का 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' (कठ० २।५।९)। एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति (कठ० २।५।१२)। कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः (प्रश्न० ४।१।)। इत्यादि श्रुतियों से वर्णन किया गया है, कि काष्ठादि गत अग्नि आदि के समान एक सत्यात्मा ही सब देहों में अनेक रूप से हुआ है, सो एक स्वतन्त्र सब प्राणी के सत्यात्मा ही उपाधियों में अभिव्यक्ति रूप प्रतिबिम्ब आभास द्वारा अपने मिथ्या बहुत स्वरूपों को करता है, वही व्यावहारिक जीव है (एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (ब्रह्मविन्दु० १२)। साक्षिणः पुरतो भाति लिङ्गं देहेन संयुतम्। चित्तिच्छायाः समावेशाज्जीवः स्याद् व्यावहारिकः॥ (वाक्य मुधा० १६)। एक ही सत्यात्मा सर्वभूतों का आत्मा (सत्य स्वरूप) है, सब भूतों में पृथक् २ विशेष भिन्न स्वरूप से भी स्थिर है और बाह्य चन्द्र तथा अनेक जल से पूर्ण घटों के अन्दर गत प्रतिबिम्ब रूप चन्द्र के समान वह आत्मा स्वरूप से एक रस और उपाधि से बहुत प्रकार का भासता है। उस एक रस रहने वाले साक्षी स्वरूप आत्मा के आगे स्थूल देह से युक्त होकर लिङ्ग सूक्ष्म देह भासता है और वही लिङ्ग देह चेतनात्मा की छाया के प्रवेश से व्यावहारिक जीव होता है। यह जीव स्थूल देह काल में हृदय के अन्दर दीप-शिखा के समान रहता है, और सम्पूर्ण देह में दीप-प्रभा के तुल्य रहता है। देह में रहते भी बाहर नेत्र द्वारा प्रभा तुल्य निकलता है, इससे संकोच विकाश वाला है।

सत्यात्मा एक ही है, इसी जीव की जीवता के आरोप भ्रम में सत्यात्मा भी अनेक भासता है । (राम कबीरा एक है, चीन्है विगला कोय । अन्तर टाटी भरम की, ताते देखै दोय ॥ राम कबीरा एक है, कहत मुनन को दोय । दोय करि सोई जानई, मुदगुरु मिला न होय ॥ समदिष्टी सदगुरु किया, भरम किया सब दूर । दूजा कोई सोनै नहीं, राम रहा मगपूर ॥) वास्तव स्वरूप में राम (ईश्वर) और कबीरा (जीव) एक है, भ्रम रूप परदे में दो भासता है, भ्रम को ही अध्यास कहते हैं । उस अध्यास से कहीं एक ही वस्तु दो रूप में प्रतीत होती है । जैसे एक चन्द्र दो भासता है, दूर से अनेक वृक्ष एक भासते हैं । इसी प्रकार उपनेत्र से छोटी वस्तु बड़ी और बड़ी वस्तु छोटी भासती है, इत्यादि सभी जैसे अध्यास हैं उसी प्रकार रेन (बालू) में जल भासता है, वह भी अध्यास है । जहाँ भ्रम से जल भासने पर भी उसे सत्य ममज्ञकर उसके लिए दोड़ने पर मृग टुल्लो होता है, विचारगति से उसे मिथ्या समझने वाला दुखी नहीं होता, इसी प्रकार मायिक मिथ्या भेद मुक्त ईश्वरगति के भासने पर भी विवेकी को भयादि नहीं होने, अन्य को होते हैं । इसमें विवेकादिपूर्वक सत्य एकात्मा के ज्ञान के लिये दयानन्द हरि के अवतार रूप भगवान् व्यास ने विचारात्मक शास्त्र को रचा है और अनन्त रुद्रों में योगेश्वर शानी शंकर के अवतार शंकराचार्य ने उसका भाष्य करके समझाया है कि सर्वात्मा स्वरूप ईश्वर प्रलय के बाद फिर सृष्टि काल में पूर्वमृष्टिके विसरे हुए सच्चे परमाणुओं को नहीं समेटने लगता है, किन्तु आघोदघात स्वघष्या तदेक तस्मा द्धान्यस्य पर किञ्चनास । ऋग्वेद० म० १०।१।१२९। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे । १०।१।१२९। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समधाम्यधिकश्च दृश्यते । पराज्य्य यत्तिविविधं श्रूयते स्वामाविकी ज्ञानबलक्रिया च । श्वेता० । ६।८।) वह ब्रह्म सृष्टि में प्रथम माया रूप स्वधा (शक्ति) सहित एक ही वर्तमान था, उससे भेदयुक्त अन्य कुछ नहीं था, अविद्या माया रूप तम था, तम से छिपा हुआ सब कार्य और ब्रह्म था । उसके सत्य शरीर इन्द्रियादि न थे, न हैं, न उसके तुल्य या अधिक दीप्तता है, किन्तु स्वामाविक उमकी विविध प्रकार वाली परा उत्तमा शक्ति सुनी जाती है, तथा ज्ञानक्रिया और बलक्रिया सुनी जाती है । ईश्वर शक्ति रूप बलक्रिया से ही फिर अनायास में सृष्टि को स्वप्न के समान रचता है, इससे सदगुरु से ज्ञान को पाने वाली दूसरी वस्तु को देखता है, परन्तु सत्य नहीं देखता और शरीरादिरहित त्रिविध सत्य-भेद से शून्य राम को व्यापक देखता है, इसमें भय, राग, द्वेषादि से रहित जीवन्मुक्ति पूर्वक विदेह मुक्त हो जाता है । यदि ईश्वर पूर्व मृष्टिके परमाणुओं से ही फिर ससार को रचेगा तो मनुष्या ने कितने पथगदिकों को जलाकर चूना राख कर दिया है, हीरो को मरम बनाकर मनुष्य खा गये हैं, उनके परमाणुओं को वह कहाँ ढूँढ़ेगा, और वे कहाँ उसे मिलेंगे, तथा उन्हें ढूँढ़ कर जोड़ना असम्भव है, इससे माया रूप शक्ति से ही ईश्वर से सब कार्य अनायास से साध्य हैं । सत्य सर्वात्मा राम अवलण्ड एक चिदानन्द स्वरूप है, उस आत्मा का विचार यद्यपि अनादि काल से महात्मा लोग

करते आये हैं, इससे यह विचार मार्ग, दर्शन मार्ग अनादि है, तथापि प्रथम अध्ययन सत्संगादि द्वारा कुछ विवेकादि की प्राप्ति होने पर गुरु-शिष्य का संवाद रूप कथा से लोग जिज्ञासा (विचारादि) करते थे । समय के परिवर्तन से बाद कथा के लुप्त होने पर और जल्प वितण्डा के बढ़ने पर तथा अनेक नास्तिक आस्तिक दर्शनों के सिद्ध होने पर फिर प्राचीन पद्धति की पूर्ण रूप से स्थापना के लिये श्रीव्यास देव और भगवान् शंकर ने सूत्र और भाष्य की रचना की है, उत्तम सन्तों में तो किसी न किसी रूप से सदा संवाद कथा वर्तमान ही रहती है । पूर्वोक्त व्यावहारिक भेद की दृष्टि से ही—नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् । कठ० ५।१३। श्वेता० ६।१३। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया । मुण्डक० ३।१ श्वेता० ४।६। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् । श्वेता० १।१२। नेतरोऽनुपपत्तेः । भेदव्यपदेशाच्च । ब्रह्मसूत्र० १।१ १६-१७। इत्यादि श्रुति और सूत्रादि में भेद का व्यवहार-वर्णन किया गया है और सत्य भेद का 'नेह नानास्ति किञ्चन' वृ० ४।४।१९। इत्यादि वचनों से निषेध किया गया है । कोई प्रलयादि में जीवों का ब्रह्म से अविभाग मात्र समझकर लोक देशादि के भेद से ब्रह्म में भेद मात्र का निषेध इस वचन से समझते हैं, परन्तु किञ्चन पद से सत्य सब प्रकार के भेदों का निषेध में श्रुति का मुख्य तात्पर्य है । इसी से ।मृत्योः स मृत्यु-माप्नोति य इह नानेव पश्यति । वृ० ४।४।१९। कठ० ५।१०। सत्य भेद दर्शी की मृत्यु वशवर्तिता का श्रुति वर्णन करती है कि इस ब्रह्म में सत्य नाना की नाई भी जो देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है । इससे समझना चाहिये कि (यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । कठ० ४।१०) जो ब्रह्म सत्य स्वरूप इस मानव संसार शरीरादि में है, यही अन्य नहीं, अमुत्र (ईश्वर-परलोक) में भी सत्य है । भोक्ता 'भोग्य' अन्तर्यामी सब स्वरूप से एक सत्य ब्रह्म ही कहा गया है । नेह नानास्ति किञ्चन । कठ० ४।११ अर्थात् इस ब्रह्म में नाना कुछ भी सत्य नहीं है । ऐसा नहीं समझने वालों की निन्दा करती है कि (अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम् । ह० १।४।१०) परलोकवासी ईश्वर अन्य है, मैं उससे अन्य हूँ इस प्रकार जो जानता है, वह सत्यात्मा को नहीं जानता । इससे मिथ्या भेद युक्त देव को जानकर पशु के समान उनके वशवर्ती भयभीत दुखी रहता है । इससे भयादि की निवृत्ति के हेतु जो अद्वैतात्म दर्शन उसका प्रतिपादक उपनिषदों का विचार रूप सूत्र^१ भाष्यादि का आरम्भ किया गया है ।

१. स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोममनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥
 संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च । अतिदेशोऽधिकारश्च पङ्क्तिर्ध्वं सूत्रलक्षणम् ॥
 सूत्रार्थो वर्णयति यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥
 पदच्छेदः पदार्थोक्तिविग्रहो वाक्ययोजना । आक्षेपस्य समाधानं व्याख्या पञ्चविधा स्मृता ॥
 विषयो विषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् । सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥

इस वेदान्त दर्शन में उपोद्घात रूप सङ्गति से अध्यास भाष्य का आरम्भ हुआ है। भाव यह है कि आरब्धव्य भीमासा के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादि श्रुति बोधित आत्मदर्शन के सफल होने से उस दर्शन के लिये ब्रह्मजिज्ञासा को कर्तव्य बताया गया है। सशय भ्रमादि की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मात्मा रूप मोक्ष की प्राप्ति रूप भीमासा के प्रयोजन को सूचित किया गया है, तथा ब्रह्म को ही शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय दर्शाया गया है और अथ शब्द से विवेकादि युक्त अधिकारी की सूचना की गयी है। अधिकारी आदि का विषयादि से प्राप्य-प्रापकादि भाव रूप सम्बन्ध स्वयं लभ्य है, इस बात को भी सूत्र से दर्शाया गया है। इस से शास्त्र में प्रवृत्ति के हेतु रूप अनुग्रहों को दर्शाया गया है। शास्त्र को सफल और आरम्भ योग्य दर्शाकर 'जन्माद्यस्य यत' इत्यादि रूप शास्त्र का आरम्भ किया गया है, परन्तु यह सब बात तब बन सकती है कि यदि ज्ञान से मुक्ति हो सकती हो और ज्ञान से मुक्ति तब हो सकती है कि यदि जन्मादि रूप बन्ध सत्यात्मा में भ्रम से हो और आत्मा का सशय या भ्रम हो, तभी (भीमासा) विचारादि जय ज्ञान से ज्ञान की निवृत्ति पूर्वक सशय भ्रम की निवृत्ति पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मैं सदा रहने वाला हूँ, ईश्वर है, ब्रह्म है इस प्रकार का निश्चय ज्ञान साधारण पढ़े लिखे मनुष्यों को भी रहता है और उसमें मुक्ति नहीं मिलती, तथा प्रत्यक्ष निश्चिन रूप से ज्ञात आत्म ब्रह्म विषयक भ्रम सशय भी नहीं रह सकते, इससे शास्त्र का आरम्भ निष्फल है, ऐसी शका होने पर मैं हूँ इत्यादि ज्ञान को भ्रम सशयादि रूप समझाने के लिये और निजात्मभिन्न रूप से ईश्वर ब्रह्म ज्ञान को भ्रम रूप समझाने के लिये तथा इन भ्रमों की निवृत्ति पूर्वक ब्रह्मात्मा को साक्षात् सच्चिदानन्द, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति युक्तादि रूप समझाने के लिए शास्त्राऽऽरम्भ को सफल बनाने के लिये पूज्य माप्यकार ने अध्यास भाष्य लिखा है, तहाँ अध्यास विषयक पूर्वपक्ष से ही आरम्भ किया है—

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तम प्रकोशवद् विन्दस्वभावयो-
गितरेतरभावानुपपत्तौ निष्ठाया तद्धर्माणामपि मुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरि-
त्यनोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य
तद्धर्माणा चाध्यास, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणा च विषयेऽध्यासो मिथ्येति
भवितुं युक्तम् ॥ १.॥

यद्यपि लोक में व्यावहारिक वस्तु सर्प, रजतादि के ज्ञानजन्य संस्कार, अध्यासाश्रय रज्जु, शुक्ति आदि का सामान्य (इद) रूप से ज्ञान और रज्जु शुक्ति आदि का विशेष रूप

सप्रसंग उपोद्घातो हनुताऽवमरस्तथा । निर्वाहककार्यत्वे पोटा सङ्गतिरिष्यत ॥
(लघूनि सूचितार्यानि स्वल्पाक्षरपदानि च । सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥)

से अज्ञान और प्रमाता (जीवात्मा) में मय लोभादि रूप दोष, नेत्रादि रूप प्रमाणों में मन्दता आदि रूप दोष, प्रमेय (प्रमाण के विषय), रज्जु (रस्सी), सर्प और शुक्ति (सीपी), रजत (रूप्य-चाँदी) में सदृशता रूप दोष रहने से अव्यास (मिथ्या सर्पादि और उनके मिथ्या ज्ञान) सिद्ध होते हैं और आत्मा में अहंकार, अन्तःकरण, धर्माधर्मादि शरीरादि के अव्यास में वा आत्मा के चेतनता आदि के अन्तःकरणादि शरीरादि विषयक अव्यास में उक्त संस्कारादि कोई कारण नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणादि आत्मभिन्न कोई वस्तु कहीं सिद्धान्त में सत्य नहीं है। आत्मा असङ्ग है - तथा युष्मत् प्रत्यय (तुम ज्ञान) का विषय अनात्मा अन्तःकरणादि और मैं, अहम् (अस्मत् प्रत्यय) इत्यादि ज्ञान का विषय आत्मा, जो विषय (जड़) और विषयी (प्रकाशक) स्वरूप होने से तम (अन्वकार) और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, सर्वथा अव्यास के हेतु सादृश्य दोष शून्य हैं। उनकी परस्पर तादात्म्य (अभेदाध्यास) की अनुपपत्ति (अयुक्तता) सिद्ध होने पर उनके धर्मों का भी परस्पर तादात्म्य रूप अभेदाध्यास की अयुक्तता (अयोग्यता) सुतराम् (स्वतः अत्यन्त-अवश्य) सिद्ध होती है, क्योंकि धर्मियों के अविवेक से धर्मों के अविवेक द्वारा धर्मों का परस्पर अध्यास होता है। जड़ चेतन के विवेकयुक्त पृथक् ज्ञान रहते परस्परध्यास उनके धर्मों का भी नहीं हो सकता। इस पूर्वोक्त हेतु से अहम् (मैं) इत्यादि ज्ञान का विषय, और विषयी (विषयों का प्रकाशक) चेतनात्मक वस्तु में तुम आदि ज्ञान के विषय अनात्मा और उसके धर्मों का अध्यास (भ्रम) होना मिथ्या है, अर्थात् आत्मा में अनात्मा का अध्यास नहीं है, ऐसा मानना उचित है, इसी प्रकार इससे उलटा अन्तःकरणादि विषय (जड़पदार्थ) में विषयी (चिदात्मा) और उसके धर्मों का अध्यास मानना अयुक्त है, और अध्यास के असम्भव से ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है, इससे ब्रह्मजिज्ञासा आदि की जरूरत नहीं है। मोक्ष के लिये कर्मोपासनादि कर्तव्य हैं, इत्यादि पूर्वपक्ष है।

यहाँ (युष्मदस्मद्) इस पद में 'त्यदादीनां सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इस वार्तिक के अनुसार अस्मद् मात्र शेष रहना चाहिये था, परन्तु असंदिग्ध बोधादि के लिये एक शेष नहीं किया गया है और स्पष्ट पराक् और प्रत्यग् का भेद बोध के लिये युष्मदस्मद् के स्थान में, इदमस्मद्, कहना था, परन्तु 'इमे वयम्' इत्यादि वाक्य में इदमर्थ को अस्मदर्थ से विरोध नहीं भासता है, इससे स्पष्ट विरुद्धार्थता के लिये वैसा कहा गया है ॥ १ ॥

उत्तर है कि सादि अनादि भेद से दो प्रकार के अध्यास होते हैं, वहाँ व्यावहारिक सत्य के ज्ञानजन्य संस्कारादि प्रातिभासिक अध्यास के हेतु उक्त रीति से होते हैं सो ठीक ही कथन है, परन्तु बीजाङ्कुर न्याय से अनादि व्यावहारिक अध्यास में यह नियम नहीं है; पूर्व सृष्टि आदि के मिथ्या ज्ञानजन्य मिथ्या संस्कारादि से ही उत्तर २ अध्यास होते हैं और उन से फिर मिथ्या संस्कारादि होते हैं और अविद्या, अविवेक, अज्ञानादि नाम तथा स्वरूप वाली माया ही सब दोषों के स्थानापन्न अनादि अध्यास में रहती है।

माया मे अद्भुत शक्ति है, सृष्टि के आदि काल में ईश्वरीय सकल्प मात्र से जैसे ब्रह्मा आदि की सृष्टि करके फिर योनिज सृष्टि रचती है, एव मत्कुण (खटमल) आदि को प्रथम ऊष्मा मलादि मात्र से पैदा कर के फिर अण्डजादि रूप से उत्पन्न करती है, वैसे ही सत्यज्ञानज संस्कारादि के बिना अनादि प्रवाह रूप मिथ्या कर्म वासनादि जन्य मिथ्या अध्यासों को रच कर फिर तदधोन अनन्त अध्यासों को विशेष तत्तन् सामग्रियों से रचती है, इत्यादि आशय से भाष्य है कि—

तथाप्यन्योऽन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकनामन्योऽन्यधर्माश्चाध्यस्येत्तरेतराविवेकेन,
अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तं सत्यानृते मिथुनीवृत्त्य, अहमिद
ममेदमिति नैमर्गिकोऽयं लोकव्यवहार ॥ २ ॥

उक्त रीति से अध्यास की अयुक्तता होने भी अनादि अज्ञान मूलक अनादि अविवेक से, आत्माऽनात्मा का परस्पर अध्यास (तादात्म्य) का निरचय करके, और उनके चैतय जाड्यादि रूप धर्मों का अध्यास करके, फिर अत्यन्त पृथक् धर्म चैतय जाड्यादि और धर्मों आत्मा अनात्मा के मिथ्याज्ञान (अध्यास) निमित्तक यह लोक व्यवहार प्रसिद्ध है कि मैं इस शरीरादि रूप हूँ, कर्ता भोक्ता आदि हूँ और मेरे ये शरीर मित्रादि हैं इत्यादि । वे मिथ्या व्यवहार सत्यात्मा और अनृत (मिथ्या) अनात्मा को मिथुन (युगल) बनाकर नैसर्गिक (स्वामाविक-अनादि) प्रवृत्त है । इससे इनके वासना यज्जानादि रूप कारण भी अनादि हैं । पूर्व पूर्व के असत्य साधन से ही पर पर के असत्य अध्यास होने हैं उनके विरोधी विचारादि जन्य ज्ञान से इनकी निवृत्ति मुक्ति होती है । इसमें ज्ञान के लिये शास्त्र का आरम्भादि कर्तव्य है ॥ २ ॥

सक्षेप में शका समाधान द्वारा अध्यास प्रयोजनादि का निरूपण करके शका का उत्थान और लक्षणादि द्वारा अध्यास का स्फुट वर्णन किया जाता है अथवा प्रकाश-मानता रूप सत्यता मानकर आक्षेप करने वालों के प्रति वादकथा से सर्व अध्यास की प्रसिद्धि द्वारा उत्तर दिया जाता है कि—

आह कोऽयमध्यासो नामेति । उच्यते स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास ॥३॥

अध्यास का क्या लक्षण है, यह अध्यास किस लक्षण वाला किस रूप से प्रसिद्ध है, इसका लक्षण नहीं हो सकता इत्यादि पूर्ववादी का भाव है । वाद रूप यथार्थ कथानमक शास्त्र के होने से सत्योत्तर है कि लक्षण कहा जाता है, सुनो । जो ज्ञान स्मृति के समान संस्कारजय होने से स्मृतिरूप (स्मृति के समान आकार वाला) असमीपवर्ती वस्तु विषयक हो, उस ज्ञान का विषय वहाँ सत्य नहीं हो, इसीसे जो अन्य वस्तु शुक्ति आदि में अन्य रजतादि का अवभास (मिथ्याज्ञान) हो उसको अध्यास कहते हैं, सो परत्र (अन्य) शुक्ति में पूर्वदृष्ट रजत का अवभास (अध्यास) रूप है, इसी प्रकार के सादि, अनादि सब अध्यास हैं, और होते हैं ॥ ३ ॥

उक्त मिथ्या अध्यास को सर्वसम्मत समझने के लिये कहा जाता है कि—

त केचिदन्यत्रान्यधर्माध्याम इति वदन्ति । केचित्तु यत्र यदध्यासस्तद्धि-

वेकाग्रहनिवन्धनो भ्रम इति । अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्व-
कल्पनामाचक्षते इति ॥ ४ ॥

उस अध्यास को कोई सौत्रान्तिक बुद्धमतानुयायी, अन्यत्र बाह्य वस्तु) में विज्ञान रूप आत्मा के धर्म रूप रजतादि का अध्यास (मिथ्या ज्ञान) कहते हैं और अन्यथा-
ख्याति (अन्य की अन्यथा प्रतीति) वादी नैयायिक रजत का धर्म रजतत्व की शुक्ति में प्रतीति को या रजतावयव के धर्म रजत की शुक्ति में प्रतीति को अध्यास कहते हैं । असन्निहित की प्रतीति रूप अध्यास को असम्भव समझ कर प्रमाकारादि कहते हैं कि जिस शुक्ति में जिस रजत का अध्यास होता है, वह शुक्ति और रजत के विवेक ज्ञाना-
भाव निमित्तक भ्रम कहा जाता है । अर्थात् जहाँ पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण होता है और शुक्ति के इदमंश का नेत्र से अपरोक्ष ज्ञान होता है, वहाँ प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दोनों ज्ञान और दोनों के विषय सत्य ही रहते हैं, परन्तु उस समय विषय और ज्ञानो का विवेक पृथक्ता के ज्ञान के नहीं रहने से वह समूह ज्ञान भ्रम कहा जाता है । रजत की स्मृति से सन्मुख शुक्ति में रजतार्थी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इससे कोई जिस शुक्ति में जिस रजत का अध्यास होता है, उस शुक्ति का ही विपरीत रजत रूप धर्मत्व की कल्पना कहते हैं । अर्थात् शुक्ति में मिथ्या रजतत्व सहित रजत की कल्पना आरोप से रजत में प्रवृत्ति मानते हैं ॥ ४ ॥

सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्माविभासतां न व्यभिचरति । तथा च लोकेऽनुभवः
शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति । कथं पुनः प्रत्यगात्मन्य-
विषयेऽध्यासो विषयतद्वर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तर-
मध्यस्थति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि ॥ ५ ॥

इस पूर्व कथित रीति से सर्वमत साधारण रूप से और सब प्रकार से ही यह अध्यास अन्य शुक्ति आदि को अन्य धर्म रजतत्वादि रूप से मिथ्या प्रतीति रूपता को नहीं त्यागता है । शून्यवादी को भी शून्य में शून्यमिन्नता रूप मिथ्या प्रतीति माननी पड़ती है । प्रामाकर की भी प्रवृत्ति रजतत्व विशिष्ट के ज्ञान विना शुक्ति में नहीं हो सकती । लोक में सर्वसाधारण का अनुभव भ्रमस्थान में होता है कि शुक्तिका ही भ्रम काल में रजत के समान भासती है और एक ही चन्द्रमा सद्वितीय (दूसरा चन्द्र सहित) के समान भासता (मिथ्या प्रतीति होता) है । यहाँ शंका होती है कि बाहर की शुक्ति आदि वस्तु में उक्त रीति से सर्वमत सिद्ध अध्यास के होने पर भी प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) इन्द्रियादि का अविषय है, उस अविषय रूप अन्तरात्मा में अन्तःकरणादि रूप बाह्य विषय और उनके धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है, सभी लोग आगे उपस्थित विषय में ही अन्य विषय का अध्यास करते हैं, यदि आत्मा को भी अध्यास की सिद्धि के लिये किसी ज्ञान का विषय शुक्ति आदि के समान मानें तो स्वसिद्धान्त का त्याग होगा, क्योंकि प्रत्यगात्मा को अविषय कहते हैं, और यदि आत्मा को विषय भी कहें, तो उसको जानने वाला अन्य ही चिदात्मा सिद्ध होगा और स्वयंप्रकाश रूप

से अत्यन्त प्रकाशित मे भी अध्यास नहीं हो सकता, इससे आत्मा मे अनात्मा का अध्यास कहना अनुचित है ॥ ५ ॥

उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषय, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धे । न चायमस्ति नियम पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तर-मध्यसितव्यमिति । अप्रत्यक्षेऽपि ह्यावागो बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति ॥ ६ ॥

उक्त शका का उत्तर दिया जाता है कि प्रथम तो यह समझना चाहिये कि अहम् (मैं) है इत्यादि ज्ञान का विषय होने से आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है, अर्थात् स्वयं प्रकाश होने से यद्यपि अविषय है तथापि अविद्या कल्पित अहंकारादि के अध्यास मे ही उसके साक्षी रूप से आत्मा का प्रकाश होता है, और इस माम और अध्यास का अनादि प्रवाह है, इससे अन्योन्याश्रयादि नहीं है और चेतनात्मा स्वयं प्रकाश होने से यद्यपि अविषय है, तथापि औपाधिककर्ता भोक्तादि रूप जीव भाव मे विषय है, और अपरोक्षत्व (स्वयं प्रकाशत्व) होने से आत्मा की अप्रसिद्धि नहीं है, किन्तु प्रसिद्धि है, और अन्तरात्मा रूप से अत्यन्त प्रसिद्धि से ही स्वयं प्रकाशरूपता है, और वह स्वयं प्रकाशस्वरूपान्मा स्वसक्ति रूप अविद्या माया का विरोधी नहीं है, इसमे अविद्याजन्य अध्यासादि होने हैं शान्मगुरु के उपदेश से जन्य ज्ञान ही अविद्यादि विरोधी है, इत्यादि । यह भी नियम नहीं है कि आगे स्थिर अपरोक्ष विषय मे ही अयं अनुपस्थित विषय का अध्यास होना चाहिये, अन्यत्र नहीं, क्योंकि रूप, स्पर्शादि के अभाव से अप्रत्यक्ष (इन्द्रियो का अविषय) आकाश मे भी अविवेकी लोग तल (अधोलम्बमानता अनुर्ध्वता), मलिनता आदि का जहाँ अध्यास करते है, वहाँ आलोकाकार नेत्रवृत्ति से व्यक्तसाक्षिमास्य यहिगिन्द्रिय मे अप्रत्यक्ष आकाश मे भी अध्यास होता है ॥ ६ ॥

एवमविरुद्ध प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माऽध्यास । तमेतमेव लक्षणमव्याम पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते । तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारण विद्यामाहु । नत्रैव मति यत्र यदध्यामस्तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणापि न न सम्वध्यते ॥ ७ ॥

इस पूर्वोक्त रीति मे, अन्तरात्मा चेतन मे भी अनात्मा अन्त कर्णादि का अध्यास अविरुद्ध है । अन्य अनेक अध्यास है, परन्तु वे अनर्थ के कारण नहीं हैं । आत्मा मे अनात्मा को जो उक्त लक्षणवाले ये प्रसिद्ध अध्यास है, उन्हें पण्डित लोग अनर्थ का हेतु अविद्या मानते हैं, क्योंकि ये अविद्याजन्य प्रवाहरूप हैं और विद्या से निवृत्त होते हैं, इसमे भी अविद्या रूप है और उस मिथ्या अध्यस्त वस्तु से विवेक करके सत्यात्म वस्तु के स्वरूप का अध्यास के अधिष्ठान के अवधारण (निश्चयात्मक ज्ञान) को पण्डित लोग विद्या कहते हैं । स्वरूपनिष्ठ वह विद्या अनादि अध्यास को भी नष्ट कर देती है । इस प्रकार अनर्थ रूप अविद्या के अध्यामात्मक होने से स्वरूपावधारण

होने पर उसकी निवृत्ति से जहाँ जिसका अध्यास रहता है, वह अध्यासाश्रय अध्यस्त के गुण वा दोष से फिर अणुमात्र भी नहीं सम्बद्ध होता है। अर्थात् अध्यासकाल में भी अध्यस्त के मिथ्या होने से अध्यस्त गुण दोष का अधिष्ठान में वस्तुतः संबन्ध नहीं रहता है, परन्तु भासता है। विवेकपूर्वक अवधारण होने पर भासना भी निवृत्त हो जाता है इससे अन्तःकरणादि के दोष शोकादि से चिदात्मा नहीं सम्बद्ध होता और न चिदात्मा के आनन्दादि से अन्तःकरणादि सम्बद्ध होते हैं। इत्यादि ॥ ७ ॥

तमेतमविद्याऽऽख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय-व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः । सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्ष-पराणि । कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति ॥ ८ ॥

पूर्व वर्णित इस प्रत्यक्ष अविद्या नामक आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास को कारण रूप से आगे करके लौकिक और वैदिक प्रमाण प्रमेय के व्यवहार सब प्रवृत्त (सिद्ध) हुए हैं, अर्थात् तव-ममादि शब्द प्रयोग रूप पूर्वोक्त व्यवहार के समान दर्शन, श्रवण, ग्रहण त्यागादि रूप प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता के व्यवहार सब भी अध्यास से ही आत्मा में भासते हैं। तथा विधि-निषेध और मोक्ष परक (बोधक) सब शास्त्र भी अध्यासपूर्वक ही प्रवृत्त हुए हैं। यहाँ शंका होती है कि अन्य व्यवहार अविद्यावद्विषयक हो सकते हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यायुक्त आत्मविषयक कैसे हो सकते हैं, यथार्थ ज्ञान के जनक को प्रमाण कहा जाता है, और यथार्थ ज्ञान रूप प्रमा से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, किसी प्रकार कल्पित व्यावहारिक प्रमाणता होने से सत्य-प्रमाणता रहित प्रत्यक्षादि प्रमाण में अविद्यावद्विषयकत्व होने पर भी पुरुष के हित के लिये धर्मादि के बोधक शास्त्र कैसे अविद्याश्रय आत्मविषयक है और अविद्यावाला आत्मा जिनका आश्रय विषय है ऐसे प्रत्यक्षादि प्रमाण कैसे कहा सकते हैं, और शास्त्र कैसे कहा सकते हैं। क्योंकि अविद्या के नाशक प्रमाण और शास्त्र कहाते हैं ॥ ८ ॥

उच्यते—देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाण-प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति । न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति । न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते । न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति, असङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते । न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति । तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ॥ ९ ॥

उत्तर दिया जाता है कि देह और इन्द्रियादि में अध्यासजन्य अहं (मैं), मम (मेरा) इस प्रकार आत्मत्व और आत्मसम्बन्धित्व का व्यवहार जाग्रत और स्वप्नकाल में होता है। अभिमान के अभाव से सुषुप्ति आदि में व्यवहार नहीं होता, क्योंकि देहादि में अहं, ममादि अभिमान रहित को प्रमाता रूपता को असिद्धि होने पर प्रमाण, की भी असिद्धि से प्रमाण मूलक व्यवहार नहीं सिद्ध हो सकता है और प्रमातृत्व की सिद्धि होने ही पर वह प्रमाता रूप कर्ता इन्द्रियादि रूप कारण को आत्मसम्बन्धिरूप

से ग्रहण करके व्यवहार में प्रवृत्त होता है, क्योंकि इन्द्रियादि रूप प्रमाकरणों की ग्रहण किये बिना प्रत्यक्षानुमिति आदि रूप व्यवहार हो नहीं सकते हैं, और अधिष्ठान (आत्मरूप से कल्पित देहरूप आश्रय) तथा आत्मा के बिना इन्द्रियों के व्यापार दर्शनादि नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कर्ता के बिना करणों के व्यापार नहीं बन सकते, और इन्द्रियों के आश्रय देह से भी उसमें अध्यस्त आत्मता के बिना कोई भी व्यापार में नहीं प्रवृत्त होता है, आत्मता के अध्यास रहित अन्य के देह से स्वदेह के समान व्यवहार नहीं करता है। इससे इन सब अध्यासों के नहीं रहने पर असङ्ग सत्यारम्भा को प्रमानृत्व नहीं बन सकता, और प्रमानृत्व के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रमाता की प्रेरणा से विषय में प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार आत्मानात्मा के परस्पर अध्यास जन्य होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र भी अविद्या वाला प्रमाता के आश्रित हैं और सर्वाधिष्ठानात्मा में भी अज्ञान से ही कल्पित है। आत्मा को प्रमाणों की जरूरत नहीं है, वह स्वयं प्रकाश साक्षिमात्र है ॥ ९ ॥

पश्चादिभिश्चाविशेषात् । यथा हि पश्चादय शब्दादिभि श्रोत्रादीना सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते अनुकूले प्रवर्तन्ते । यथा दण्डोद्यतकर पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मा हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य त प्रयभिमुखीभवन्ति । एव पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ता क्रूरदृष्टीनाक्रोशत खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते, अत समान पश्चादिभि पुरुषाणा प्रमाणप्रमेयव्यवहार ॥ १० ॥

जिज्ञासा इदं किं किसी अज्ञ का व्यवहार अध्यासजन्य हो सकता है, परन्तु प्रमाणादि का व्यवहार तो विद्वानों को भी होता है, वह कैसे अविद्यावद्विषयक हो सकता है, तब कहा जाता है कि विद्वान् यद्विद्वान् सब मनुष्यों के व्यवहार पशु आदि के समान ही अध्यासजन्य होते हैं, इससे व्यवहार में पशु आदि से अविशेषता (तुल्यता) से विद्वान् का व्यवहार भी अध्यासजन्य है, क्योंकि जैसे शब्दादि के साथ श्रोत्रादि इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर और शब्दादिविज्ञान के प्रतिकूल होने पर पशु आदि भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, और अनुकूलज्ञान होने पर प्रवृत्त होते हैं। जैसे कि हाथ में दण्ड उठाये हुए पुरुष का सामने देखकर यह मुझे मारना चाहता है, ऐसा समझ कर वहाँ से पशु भागने लगते हैं। और हरी घास से पूर्ण हाथ वाले को देखकर उसके सन्मुख पास में जाने हैं। इसी प्रकार शब्दादि के अर्थज्ञ विवेकी पुरुष भी क्रूर दृष्टि वाले विरुद्ध वक्ता खड्गधारी बली को देखकर उसमें निवृत्त होते हैं और उससे विपरीतों के प्रति प्रवृत्त होते हैं। इसमें पुरुषों का प्रमाणप्रमेय सम्बन्धी व्यवहार पशु आदि के तुल्य ही है ॥ १० ॥

पश्चादीना च प्रसिद्धोऽविवेकपुरस्य प्रत्यक्षादिव्यवहारः । तत्सामान्य-दर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणा प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति

निश्चीयते । शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी नाविदित्वात्मनः परलोक-सम्बन्धमधिक्रियते तथापि न वेदान्तवेद्यमगनायाद्यतीतमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम-संसार्यात्मतत्त्वमधिकारेऽपेक्ष्यते, अनुपयोगाधिकारविरोधाच्च ।

पशु आदि का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्वक (अविवेकहेतुक) प्रसिद्ध ही है । उसकी तुल्यता को देखने से निश्चय किया जाता है कि विवेकी पुरुषों का भी अध्यास-कालिक व्यवहार पशु आदि के तुल्य ही होता है, लौकिक व्यवहार-काल में पशु आदि के समान ही 'मैं' 'मेरी'-बुद्धिपूर्वपूर्वक विद्वान् का भी व्यवहार होता है । शास्त्रीय यज्ञदानादि व्यवहारकाल में तो बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले विवेकी यद्यपि अपनी आत्मा के परलोक सम्बन्ध को समझे बिना कर्म में अधिकृत (प्रवृत्त) नहीं होते हैं । क्षण-मङ्गुर देह से भिन्न आत्मा का शास्त्रादि से उन्हें परोक्ष ज्ञान रहता है । इससे वह व्यवहार अव्यासमूलक नहीं होना चाहिये, तथापि वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं रहता है । इससे आत्मा को कर्ता, भोक्ता तथा देह के धर्म वर्णाश्रमादियुक्त मानकर कर्मों में प्रवृत्त होते हैं । इसमें कारण यह है कि वेदान्त से ज्ञेय भूख-पिपासादि-रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद से शून्य असंसारी (नित्यमुक्त, असंग) सत्यात्मा कर्माधिकार में अपेक्षित नहीं है, प्रत्युत असंसारी आत्मा और उसके ज्ञान के अधिकार में अनुपयोग (फलामाव) और विरोध है । इसलिये सत्यात्मा के ज्ञान से रहित के प्रति ही कर्मकाण्डात्मक शास्त्र प्रवृत्त होता है । वेदान्त भी प्रमाता आदि भेददर्शी के प्रति ही प्रवृत्त होता है, परन्तु फिर भेदादिरहित निजस्वरूप में उसको स्थिर करता है, यह रहस्य है ।

प्राक् च तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते । तथा हि 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्था-दिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते । अध्यासो नाम अतस्मिस्तद्वुद्धिरित्यवो-चाम । तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मात्मन्यध्यस्यति, तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति । तथेन्द्रियधर्मान् मूकः, काणः, क्लीबः, वधिरः, अन्धोऽहमिति । एवमन्तःकरणधर्मात् कामसंकल्पविचिकित्साऽध्यवसा-यादीन् ।

शंका होती है कि यदि वेदान्तवेद्य आत्मा अधिकार-विरोधी है, तो वह ज्ञान होने पर शास्त्र से विरोध करेगा, जिससे परस्पर विरोध द्वारा शास्त्र अप्रमाण होगा । उत्तर में कहा जाता है कि क्षुधादिरहित पूर्ववर्णित आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से प्रथम-प्रवर्तमान-शास्त्र अविद्यावद्विषयता को नहीं त्यागता, बल्कि प्रमाण ही रहता है, और शास्त्र भी अध्यास में प्रमाण हो जाता है । वह इस प्रकार होता है कि 'ब्राह्मण यज्ञ करे' (ब्राह्मणो यजेत), गृहस्थ अपने सदृश स्त्री को प्राप्त करे' (गृहस्थः सदृशी भार्या विन्देत), 'काले केशवाला अग्नियों को धारण करे' (कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत), 'आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे' (अष्टवर्षं

ब्राह्मणमुपनयोत) इत्यादि शास्त्रवचन सब वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था आदि रूप देहधर्मविशेष का जो आत्मा मे अध्यास है उनका आश्रयण करके ही प्रवृत्त होने हैं । (वर्णादियुक्त से भिन्न आत्मा मे) वर्णादि की बुद्धि (ज्ञान) अध्यास है । मह प्रथम कहा गया है । इस अध्यास के ये उदाहरण हैं कि पुत्र, स्त्री आदि के विकल-सकल (दुखी-सुखी) आदि रहने पर उन बाह्य वस्तु पुत्रादि के धर्मों को मनुष्य आत्मा मे अध्यास करता है कि मैं ही विकल (अपूर्ण, दुखी) और मैं ही सकल (सर्वाङ्गपूर्ण) हूँ । यहाँ पुत्रादि की देहों को अपनी देह के साथ अभेदाध्यास-पूर्वक परंपरा से उनके देह-धर्मों का आत्मा मे अध्यास करता है । इसी प्रकार अपनी देह के स्थूलत्व, कृशत्व, गौरत्व स्थिति, गति, लघनादि धर्मों का आत्मा मे अध्यास करता है कि मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, गौर हूँ, खड़ा हूँ, चलता हूँ, लम्घता हूँ इत्यादि, वैसे ही इन्द्रियो के भूक्तत्व, काणत्व, क्लीबत्व, बधिरत्व और अन्धत्वादि धर्मों का आत्मा मे अध्यास करता है कि मैं भूक, काण, नपुंसक, बधिर, अन्ध आदि हूँ । इसी प्रकार अन्तःकरण के धर्म-नाम, सकल्प, सशय, निश्चयादि का अध्यास करता है कि मैं कामी, सकल्पवाला, सशय-युक्त और निश्चय वाला हूँ इत्यादि, क्योंकि स्थूलत्वादि और काणत्वादि तो देह और इन्द्रियो के धर्म प्रत्यक्ष हो हैं । कामादि भी 'काम सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा-श्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्मीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इत्यादि श्रुति-अनुभव के अनुसार मन के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं ॥ १३ ॥

एवमहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तच्च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिष्वध्यस्यति । एवमयमनादिरन्तः नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोक-प्रत्यक्षः । अम्यानयहेतोः प्रहाणाय, आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते । यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः ।

इस पूर्ववर्णित रीति से 'अहम्' (मैं) इस वृत्तिरूप ज्ञान के आश्रय अन्तःकरण का अन्तःकरण के सब प्रचार (प्रवृत्ति-वृत्ति) के साक्षी प्रत्यगात्मा मे अध्यास (आरोप) करके फिर उससे विपरीत रूप से उस प्रत्यगात्मा सर्वसाक्षी का अन्तःकरणादि मे लोग अध्यास करते हैं । इस प्रकार यह मिथ्या (भ्रम) ज्ञानरूप और प्रवाह तथा कारणरूप अनादि और आत्मानुभव के विना अन्तः (नाश) रहित-अनन्त अतएव नैसर्गिक (स्वाभाविक) अविद्यारूप स्वभावजन्य यह अध्यास (भ्रम) है । वही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप ससार का प्रवर्तक (हेतु) है, जो सब लोगो को प्रत्यक्ष है । भ्रमयुक्त ससार सबको साक्षीस्वरूप आत्मा से अनुभूत है । इसके ज्ञान के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । इन अनर्थ के हेतु अध्यास की निवृत्ति के लिये और उस निवृत्ति के हेतु आत्मा की एकता के ज्ञान की प्राप्ति (सिद्धि) के लिये ही सब वेदान्त

(उपनिषद्) आरब्ध हुए हैं । यद्यपि वेदान्त में उपासनाओं का भी वर्णन है, तथापि उन सब वेदान्तों का भी जिस प्रकार एकात्मज्ञानरूप ही प्रयोजन है, उसे हम इस शारीरकमीमांसा में प्रदर्शित करेंगे । शरीरक (निन्दित देहनिवासी) जीव शारीरक है, उसकी ब्रह्मरूप से मीमांसा (पूजित विचार) शारीरक मीमांसा है ॥ १३ ॥

जिज्ञासाधिकरण (१)

अविचार्य विचार्य वा ब्रह्माध्यासानिरूपणात् ।

असन्देहाऽफलत्वाभ्यां न विचारं तदर्हति ॥ १ ॥

अध्यासोऽहं बुद्धिमिद्वोऽसङ्गं ब्रह्म श्रुतीरितम् ।

सन्देहान्मुक्तिभावाच्च विचार्य ब्रह्म वेदतः ॥ २ ॥

ब्रह्म विचार के योग्य है या नहीं । अर्थात् ब्रह्मविचारात्मक शास्त्र कर्तव्य है या नहीं, ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्ष होता है कि यदि अज्ञानजन्य अध्यास का सम्भव हो तो अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक अध्यास की निवृत्ति के लिए शास्त्र का आरम्भ हो सकता था; परन्तु मैं कहता हूँ, मैं देह नहीं, मेरी देह है इत्यादि विवेकपूर्वक ज्ञान होने से अध्यास का निरूपण नहीं हो सकता । इस कारण से ही आत्मा में संशय का अभाव है, मैं हूँ कि नहीं हूँ ऐसा संशय किसी को नहीं है कि जिसकी निवृत्ति के लिये विचार करे और इसीलिए शास्त्रारम्भ का कोई फल नहीं है, क्योंकि मैं हूँ ऐसा ज्ञान सबको है, और वह 'मैं' ज्ञान का विषय आत्मा ही तो ब्रह्म है और उस ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है, इससे ब्रह्मज्ञान के लिये विचार करना योग्य नहीं है ॥ १ ॥

उत्तर है कि यद्यपि मैं देह नहीं हूँ इत्यादि परोक्ष ज्ञान किसी को होता है, परन्तु 'स्यूलोऽहं' 'कृशोऽहं' इत्यादि वर्णित रीति से अविवेक अज्ञानपूर्वक अध्यास प्रत्यक्ष-सिद्ध है । यदि कहा जाय कि देह में ब्रह्मात्मा का सम्बन्ध है, इससे 'स्यूलोऽहं' इत्यादि गौण व्यवहार होता है, अध्यास नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मात्मा असङ्ग है ऐसा श्रुतियों में कहा गया है । इससे अध्यास के बिना देहेन्द्रियान्तःकरणादि के साथ आत्मसम्बन्ध की प्रतीति भी नहीं हो सकती और इस सम्बन्धाध्यास से ही आत्मा में ब्रह्मभिन्नत्वामिन्नत्व, नित्यत्वाऽनित्यत्व, एकत्वानेकत्वादि का संशय होता है और अज्ञान, अभ्यास, संशयादि की ज्ञानद्वारा निवृत्ति से मुक्तिरूप फल होता है । इससे वेदादि द्वारा ब्रह्मविचार कर्तव्य है और विचारात्मक शास्त्र का आरम्भ उचित है ॥ २ ॥

वेदान्तमीमांसा-शास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

जिसका व्याख्यान करना चाहते हैं, उस वेदान्तमीमांसा नामक शास्त्र का यह प्रथम सूत्र है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' । प्रतिज्ञायुक्त इस सूत्रप्रदर्शन से भाष्यकार ने पूर्वमीमांसा से इस शास्त्र की सर्वथा मिन्नता का और सफलता का तथा विषयादि का प्रदर्शन कराया है । सूत्र का संक्षिप्तार्थ है—

‘यत तमेत ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन (वृ० ४।४।२२) त विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन तस्मादेवविच्छान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठति समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति । (वृ० ४।४।२३) इत्यादियुनिप्रोक्तप्रणालिकया यज्ञादिभि शुद्धे चेतसि ब्राह्मणादीनामधिकारिपुरुषाणां ब्रह्मजिज्ञासा भवति । किञ्च तस्मात्मानं ज्ञात्वेव पापात्मवेन बन्धनप्रदेन कर्मणा न लिप्यते । तस्मादेव विवेकादिवान् पुरुष शमादिमुक्त उपरतस्तिष्ठति समाहितो भूत्वा निजबुद्धावेवात्मानं सर्वमात्मस्वरूपमेव पश्यति, अतश्चेतसः शुद्धिं विधाय शमादिकं सम्पाद्य कर्मफलानित्यत्वं ज्ञानफलस्य नित्यत्वं च निश्चित्य अथ सदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या, तथा विचारं सम्पाद्य ज्ञानं लब्ध्वा ब्रह्मात्मना स्यात्तत्त्वमित्यादि ॥

—जिसमें ‘तमेतम्’ और ‘तं विदित्वा’ इत्यादि श्रुतिकथित प्रणाली (प्रवाह-परंपरा) से यज्ञादि द्वारा शुद्ध चित्त में ब्राह्मणादि अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मज्ञान की इच्छा होती है और उस ब्रह्मात्मा को जानकर ही पापात्मक बन्धनप्रद कर्म से मनुष्य लिप्त नहीं होता है, जिससे ऐसा विवेकादि वाला पुरुष शम-दमादियुक्त, उपरत, तिरिष्ठि, समाहित होकर अपनी बुद्धि में आत्मा को सर्वात्मस्वरूप देखता है और चित्तशुद्धि द्वारा शमादि का सम्पादन करके कर्मफल की अनित्यता और ज्ञानफल की नित्यता का निश्चय करके विरागपूर्वक ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है, उसमें विचार का संपादन करके मोक्ष के लिये ब्रह्मनिष्ठ होना उचित है । इसलिये ‘जन्माद्यस्य यत’ इत्यादि शास्त्र का आरम्भ किया जाता है । यह अन्य शास्त्र से साध्य नहीं है, इससे शास्त्रारम्भ सफल कर्तव्य है ।

अत्रायञ्चद्वयानन्तर्यायं परिगृह्यते नाधिकारार्थं, ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात् । मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात् । अर्थान्तरप्रयुक्तो ह्येवायञ्चद्वयः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति । पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याय्यतिरेकात् ।

सूत्र के अर्थ, अतः, ब्रह्मजिज्ञासा, इन तीनों पदों में से प्रथम पठित अर्थ शब्द आनन्तर्य (अनन्तरता) अर्थ वाला परिगृहीत हुआ है और माना गया है । शब्द हुई कि ‘मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नवात्स्न्येवमर्थो अर्थ’ इस अमरकोश में मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रसन्न और पूर्णता, अर्थ में ‘अर्थ’ शब्द कहा गया है, और ‘अर्थ शब्दानुशासनम्,’ ‘अर्थ योगानुशासनम्’ इत्यादि स्थान में आरम्भ अर्थ में ‘अर्थ’ शब्द देखा जाता है, तथा यहाँ भी जिज्ञासा शब्द को विचार अर्थ में रूढ़ादि मानकर कोई ‘अर्थ’ शब्द को अधिकारार्थक कहते हैं, तो इसको अधिकारार्थक क्यों नहीं माना जाता इत्यादि । इसका उत्तर यह है कि यह ‘अर्थ’ शब्द अधिकार अर्थ वाला नहीं, क्योंकि जिज्ञासा शब्द की विचारार्थता में कोई हेतु नहीं है । ‘तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व’ इत्यादि वाक्य में भी विजिज्ञासा शब्द का विशेष ज्ञान की इच्छा ही अर्थ है और वाक्यार्थ का अन्वय हो सकने पर लक्षणा की जरूरत नहीं है, इत्यादि । सूचनार्थक सूत्र होता

है। इससे विचार की भी सूचना होती है, परन्तु वाक्यार्थजिज्ञासा अधिकार के योग्य नहीं है। इसी से 'अथ' शब्द मङ्गलायक भी नहीं है, और मंगल भी यहाँ 'अथ' शब्द का वाक्य वा लक्ष्य अर्थ नहीं है; क्योंकि शब्द का वह अर्थ वस्तुतः होता है कि जिसका कर्ता-कर्म-करणादि रूप से वाक्यार्थ में अन्वय (सम्बन्ध) हो सके, और मंगल के वाक्यार्थ में सम्बन्ध का अभाव है। इससे अन्य अर्थ में (अन्तरार्थ में) ही उच्चारित (पठित) 'अथ' शब्द श्रवण मात्र से मंगल फलवाला होता है। यदि कहा जाय कि पूर्वप्रकृत (प्रारब्ध) की अपेक्षारूप विकल्प अर्थ में भी अथ शब्द होता है, जैसे कहा जाता है कि 'प्रपञ्चो मिथ्याऽस्ति, अथ (अथवा) सत्योऽस्ति' यहाँ पूर्व की अपेक्षा दूसरा अर्थ अथ शब्द का है, तो उत्तर है कि फलस्वरूप में प्रकृतापेक्षा आनन्तर्य से भिन्न नहीं है, क्योंकि प्रकृतापेक्षा में भी मिथ्यात्व के बाद सत्यत्व की प्रतीति होती है और आनन्तर्य में विवेकादि के बाद जिज्ञासा प्रतीत होती है, परन्तु एक वस्तु में पक्षान्तर के कथन से वहाँ विकल्प भासता है, आनन्तर्यार्थ में विकल्प नहीं रहता है यह भेद है।

सति चानन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाऽध्ययनं नियमेनापेक्षते, एव ब्रह्मजिज्ञासापि यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षते, तद्वक्तव्यम् 'स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्। नन्विह कर्माविबोधानन्तर्यं विशेषः। न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तः। यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षितत्वान्न तथेह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वेऽधिकृताऽधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च।

पूर्ववर्णित रीति से अथ शब्द की आनन्तर्यार्थकता की सिद्धि होने पर, जैसे धर्ममीमांसा अपने पूर्वसिद्ध वेदाऽध्ययन की नियम से अपेक्षा करती है, क्योंकि वेदाऽध्ययन ही उसका विशेष पुष्कल कारण है, वैसे ही ब्रह्ममीमांसा भी जिस पूर्वसिद्ध की नियम से अपेक्षा करती है वह वक्तव्य है, इसलिये उसे कहना चाहिये। ब्रह्मजिज्ञासा से नियमपूर्वक पूर्वपिक्षित वेदाऽध्ययन नहीं हो सकता, वह ब्रह्ममीमांसा का समान कारण है—विशेष नहीं। धर्म के समान ब्रह्म भी वेद का अर्थ है, उसकी पूर्वमीमांसा वन ही चुकी थी। यदि इससे कुछ अधिक अर्थ नहीं कहना हो तो शास्त्र व्यर्थ होगा। शंका होती है कि ब्रह्ममीमांसा में पूर्वमीमांसाजनित कर्मज्ञान की अनन्तरता विशेष है। क्योंकि कर्माविबोध के बाद यज्ञदानादि से शुद्धान्तःकरण वाला ही सफल ब्रह्ममीमांसा कर सकता है। उत्तर है कि जन्मान्तरकृत यज्ञादि और भक्ति आदि से शुद्ध अन्तःकरण वाले हजारों न्यायादियुक्त धर्ममीमांसा से प्रथम भी वेदान्त के अध्ययन वालों को ब्रह्मजिज्ञासा की सिद्धि हो सकती है। पशुयाग में 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्तथ जिह्वाया अथ वक्षसः'—(तैत्ति० सं०, शतपथ) इत्यादि वचना से जैसे अवदानो (हृदयादि खण्डनो)

की अनन्तरता का नियम है, क्योंकि एक कर्मकर्ता क्रमनियम के बिना अनेक कर्म कर नहीं सकता है, इससे अवदानों में क्रम विवक्षित है, उसी प्रकार यहाँ धर्म ब्रह्ममीमांसा में क्रम विवक्षित नहीं है, क्योंकि दोनों के कर्ता एक काल में एक नहीं प्राप्त हैं, न इन दोनों भीमांसाओं को घेपघेपित्व (अङ्गाङ्गित्व) में या अधिकृताधिकार में ही कोई प्रमाण है कि जिससे क्रम हो सके ।

मात्र यह है कि—दर्श और पूर्णमास नामक याग में, समियो यजति, इहो यजति, वह्नियंजति, तनूनपात यजति, स्वाहाकार यजति, इन वचनों से पाँच प्रयाज नामक अङ्गरूप यज्ञ विहित है, दर्श तथा पूर्णमास प्रधान (अङ्गी) हैं और इनके प्रयोग (क्रिया) विधायक वचन अङ्ग और प्रधान सब कर्म में एक पुरुष से कर्तव्यता का विधान करते हैं । इससे नियत क्रम बिना एक मनुष्य इन्हें कर नहीं सकता, अतः श्रुतिपाठादि के अनुसार क्रम सिद्ध होता है । 'दर्शपूर्णमासाम्यामिष्टा सोमेन यजेत' इस वचन से दर्श पूर्णमास में अधिकृत (अधिकारयुक्त) को सोमयाग में अधिकार कहा गया है । क्योंकि प्रथम दर्श पूर्णमास करके सोमयाग किया जाता है, अतः दर्शपूर्णमास में अधिकृत का ही सोमयाग में अधिकार होने से नियत क्रम होता है, यह कोई बात धर्मब्रह्ममीमांसा में नहीं है, धर्ममीमांसा ब्रह्ममीमांसा का अङ्ग नहीं है, न धर्ममीमांसा का अधिकारी ही ब्रह्ममीमांसा का अधिकारी हो ऐसा नियम है, क्योंकि इसमें श्रुति आदि कोई प्रमाण नहीं है । अङ्गाङ्गिभाव, अधिकृताधिकार नहीं होने पर भी फल और जिज्ञास्य (विचार का विषय) एक होता तो नियत क्रम हो सकता था जैसे कि स्वर्गायंक्त आग्न्यादि छ यागों का और पूर्वमीमांसा के द्वादशाध्यायों का फल स्वर्ग और जिज्ञास्य धर्म एक-एक है, इसमें उनका नियत क्रम भी है । धर्मब्रह्ममीमांसा के फल और जिज्ञास्य वस्तु में भेद है, इससे क्रम नहीं है ।

अभ्युदयफल धर्मज्ञान तच्चानुष्ठानापेक्षम् । नि श्रेयसफल तु ब्रह्मविज्ञान न चानुष्ठानान्तरापेक्षम् । भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात् । इह तु भूत ब्रह्मजिज्ञास्य नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम् । 'चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च या हि चोदना धर्मस्य लक्षण सा स्वविषये नियुज्जानेव पुरुषमवबोधयति । ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते । यथाऽक्षार्यसन्निकर्षेणार्थावबोधे तद्वत् ।

अभ्युदय (स्वर्गादि) रूप फल वाले धर्म का ज्ञान होता है, और वह फल धर्मरूप कर्म के अनुष्ठान (आचरण) की अपेक्षा करता है, धर्म के ज्ञानमात्र से नहीं सिद्ध होता है । उससे विलक्षण मोक्षफलवाला ब्रह्मविज्ञान है । वह अपने स्वरूप से

१ यहाँ भामती, रत्नप्रभा में चोदना शब्द का उपदेशमात्र अर्थ किया गया है । इससे 'चोदनाजन्यत्वात्' पाठ समझ कर विधिजन्यत्वादि अर्थ उचित नहीं है, अन्यथा ब्रह्म चोदना शब्द का अर्थ अयुक्त होता ।

अतिरिक्त अनुष्ठान की अपेक्षा मोक्षरूप फल के लिये नहीं करता, स्वयं मोक्ष देता है। यह फल का भेद है। जिज्ञास्य का भेद है कि धर्ममीमांसा का जिज्ञास्य मव्यक्रिया द्वारा साध्य भावी धर्मजिज्ञासाजन्य ज्ञानकाल में नहीं रहता, क्योंकि वह पुरुष के अधीन है, प्रमाण के अधीन नहीं है, न नित्य है। ब्रह्ममीमांसा में तो भूत (नित्यसिद्ध) स्वयंप्रकाश सत्य ब्रह्म जिज्ञास्य है, अतः नित्य होने से ब्रह्म पुरुष के व्यापार के अधीन नहीं है। इन उक्त हेतुओं से जिज्ञास्य-भेद है ही। अज्ञात तत्त्वों के बोधक वैदिक शब्द प्रमाणरूप जो चोदना उसकी प्रवृत्ति में भेद से भी जिज्ञास्य में भेद सिद्ध होता है, क्योंकि धर्म के लक्षण रूप जो वैदिक शब्द हैं सो अपने विषय (बोध्य) धर्म में पुरुष को प्रवृत्त करते हुए—प्रेरणा करते हुए ही धर्म का बोध कराते हैं। ब्रह्म के बोधक शब्द तो केवल पुरुष को ब्रह्मबोध (ज्ञान) ही कराते हैं, और ब्रह्म-बोध के शब्दप्रमाणजन्य होने से प्रेरणाजन्य नहीं होने से उस अवबोध (ज्ञान) में भी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं कराई जाती है, अर्थात् प्रमाणजन्य ज्ञान होता है प्रेरणा-जन्य नहीं, इससे पुरुष बोध में नियुक्त, प्रवृत्त नहीं किया जाता है, जैसे कि इन्द्रिय और उसके विषयरूप पदार्थ के सम्बन्ध से जन्यज्ञान में प्रवृत्ति नहीं कराई जाती है, सम्बन्ध के बाद नेत्ररूप प्रमाण से प्रेरणा बिना ही ज्ञान होता है, वैसे ही शब्द की शक्ति ज्ञानादियुक्त पुरुष को शब्दज्ञान के बाद प्रेरणा के बिना ही ज्ञान होता है इत्यादि।

तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासोपदिश्यत इति। उच्यते—
नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्पत्, मुमु-
क्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्मजिज्ञासितुं ज्ञातुं
च न विपर्यये। तस्मादथशब्देन यथोक्तसाधनसम्पत्त्यानन्तर्यमुपदिश्यते।

उक्त रीति से अथ शब्द के आनन्तर्यार्थक सिद्ध होने पर और धर्मविबोधादि से अनन्तरता नहीं बन सकने पर कुछ ऐसा विशेष साधन कहना चाहिये कि जिसके अनन्तर रूप से ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश मूत्रकार ने दिया है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि नित्य आत्मवस्तु और अनित्य अनात्मवस्तु का पृथक् निश्चयरूप विवेक एक साधन है। उसके बाद अनित्य लौकिक पारलौकिक अर्थ (विषयादि) और भोगों में विराग दूसरा साधन है। शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति, तितिक्षा, की सम्पत्ति (प्राप्ति) तीसरा साधन है। उसके बाद उत्कट मोक्षेच्छा चतुर्थ साधन है। इन सब साधनों के रहने पर धर्मजिज्ञासा से प्रथम और उसके पीछे भी ब्रह्मजिज्ञासा (विचार) की जा सकती है, और ब्रह्मको समझा जा सकता है, अन्यथा नहीं। इन साधनों के बिना जिज्ञासा सफल नहीं हो सकती है, न ज्ञान हो सकता है, जिससे अथ शब्द द्वारा पूर्वोक्त साधनप्राप्ति से अनन्तरता का उपदेश दिया जाता है। विषयों से मन के निरोध को शम, इन्द्रियनिरोध को दम, गुरु आदि में विश्वास को श्रद्धा, मन की स्थिति को समाधान, कर्मादि से उपरामता को उपरति, सहनशीलता को तितिक्षा कहते हैं।

अतः शब्दो हेत्वर्थः । यस्माद्वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयसाधनानामनित्यफलता दर्शयति—‘तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते’ (छा० ८।१।६) इत्यादि । तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परपुरुषार्थं दर्शयति—‘ब्रह्मविदोऽप्योति परम्’ इत्यादि (तैत्ति० २।१) । तस्माद्यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या । ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं ‘जन्माद्यस्य यतः’ इति ।

सूत्रगत अतः शब्द हेतुवाचक है, हेतु यह है कि जिसने वेद ही लौकिक पारलौकिक श्रेय (शुभ) के साधन अग्निहोत्रादि की अनित्यफलता (विनश्वरफल वाला) दर्शयति (समझाते) हैं कि इस मनुष्यलोक में जैसे कर्मों से साधित लोक (मोक्ष के साधन) नष्ट हो जाते हैं वैसे ही परलोक में होने वाले पुण्य-साधित लोक भी नष्ट होते हैं (अपाम सोमममृता अमृतागन्म ज्योतिरविदाम देवान् । ऋग्० अष्टक ६।३०।४।व० ५ मंडल ८ अनु० ६ सू० ४८) सोम पिया, अमृत हो गये, ज्योति (स्वर्ग) पाये, देवों को समझा, इत्यादि वचन स्तुतिरूप हैं । इसी प्रकार ब्रह्मविज्ञान से परपुरुषार्थ (मोक्ष) वेद दर्शयति है कि ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त करता है, इत्यादि । इस कारण से पूर्वोक्त साधन की प्राप्ति के बाद जिज्ञासा कर्तव्य है, ब्रह्म वह है, जिसका ‘जन्माद्यस्य यतः’ इस सूत्र से लक्षण करना है ।

अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरमाशङ्कितव्यम् । ब्रह्मण इति कर्मणि पष्ठौ न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासाया, जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च । ननु शेषपष्ठौपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुद्धयते सम्बन्धसामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षकर्मत्वकल्पयतो व्यर्थं प्रयासः स्यात् ।

यद्यपि ब्रह्मशब्द ब्रह्मा, ब्राह्मणत्व, तप, वेद, ऋत्विग्विशेषादि अर्थों में अन्यत्र पड़ा जाता है, परन्तु यहाँ जगत्कारणत्व के अन्य में असम्भव से ही ब्रह्मशब्द के जाति आदि अन्य अर्थों की शका नहीं करनी चाहिये । और (ब्रह्मणो जिज्ञासा) इस विग्रहवाक्य में ब्रह्मण, इस पद की पष्ठौ विभक्ति ‘कर्तृकर्मणो कृति’ इस सूत्र से कर्मार्थ में है । ‘शेषे’ इस सूत्र से शेष (सम्बन्धसामान्य) अर्थ में नहीं है, क्योंकि जिज्ञासारूप क्रिया को कर्मरूपजिज्ञास्य की अपेक्षा है, वह ब्रह्म ही है, क्योंकि दूसरे जिज्ञास्य का यहाँ निर्देश (कथन) नहीं किया गया है । शका होती है कि शेष अर्थ में यहाँ पष्ठौ मानने पर भी ब्रह्म का जिज्ञासाकर्मत्व से विरोध नहीं होता है, क्योंकि सम्बन्धसामान्य विशेष सम्बन्ध में रहता है, तत्तत् विशेष मिलकर ही सामान्य कहलाता है । उत्तर है कि ऐसा होने पर भी प्रत्यक्ष ब्रह्म की कर्मता को त्याग कर सामान्य सम्बन्ध द्वारा परोक्षब्रह्म की कर्मता की कल्पना करने वाले का व्यर्थ प्रयास (श्रम), होगा । इसमें कर्मपष्ठौ मानना उचित है ।

न व्यर्थं, ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वादिति चेन्न, प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थार्थक्षिप्तत्वात् । ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्नुमिष्ठतमत्वात्प्रधानम् । तस्मिन्

प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तान्यर्थाक्षिप्तान्येवेति न पृथक् सूत्रयितव्यानि । यथा राजाऽसी गच्छतीत्युक्तं सपरिवारस्य राजो गमनमुक्तं भवति तद्वत् । श्रुत्यनुगमाच्च । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्याद्याः श्रुतयः, 'तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति । तच्च कर्मणि षष्ठी-परिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति । तस्माद् 'ब्रह्मण' इति कर्मणि षष्ठी ।

यदि कोई कहे कि शेषषष्ठी के लिये प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध सामान्य से ब्रह्म और ब्रह्म सम्बन्धी लक्षण, प्रमाण, युक्ति, ज्ञान, साधन, फल इन सबका ज्ञान होता है, इसी से इन सबके विचारों की भी प्रतिज्ञा हो जाती है; अन्यथा नहीं होती । किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधान ब्रह्म की जिज्ञासा को कर्मरूप से ग्रहण करने पर, उस ब्रह्म और उसकी जिज्ञासा से अपेक्षितों (आकांक्षितों) का अर्थ (प्रयोजन) से आक्षेप होता है, इससे आक्षिप्त (गृहीत) हो जाते हैं । यहाँ ब्रह्म ही ज्ञान द्वारा प्राप्त करने के लिये इष्टतम (अत्यन्त अमिवांछित) है, इससे प्रधान है । उस प्रधान ब्रह्म के जिज्ञासा के कर्मरूप से परिगृहीत (स्वीकृत) होने पर जिन लक्षण प्रमाणादि को जिज्ञासा के विना (जिन्हें समझे विना) ब्रह्म जिज्ञासित (विचारित, ज्ञात) नहीं हो सकता, न उसकी जिज्ञासा ही हो सकती, वे सब अर्थात् आक्षिप्त ही हो जाते हैं, प्रयोजनवश उन सबका ग्रहण हो जाता है । इससे वे सब सूत्राक्षर द्वारा पृथक् बोधाहं नहीं हैं । जिसके लिये शेषषष्ठी मानी जाय । लोक में जैसे यह राजा जाता है, ऐसा कहने पर परिवार (परिजन, रक्षकादि) सहित राजा का गमन कहा जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये और कर्म षष्ठी का श्रुति के साथ अनुगम (संगति, सम्बन्ध) भी है, क्योंकि जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म है, इत्यादि अर्थ को कहने वाली श्रुतियाँ कहती हैं कि (तद्विजिज्ञासस्व) उसे जानने की इच्छा करो, वही सत्य ब्रह्म है, इस प्रकार ये श्रुतियाँ प्रत्यक्ष ही ब्रह्म को जिज्ञासा का कर्मरूप समझाती हैं, और उस श्रुतिकथित अर्थ को सूत्र में कर्मषष्ठी मानने पर सूत्र के साथ अनुगम (सम्बन्ध) होता है, श्रुति और सूत्र की एकवाक्यता हो जाती है, जिससे ब्रह्मणः इस पद में कर्मवाचक षष्ठी विभक्ति है ।

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा । अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन् वाच्यायाः इच्छायाः कर्म, फलविषयत्वादिच्छायाः । जानेन हि प्रमाणेनावगन्तुमिष्टं ब्रह्म । ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः, निःशेषसंसारबीजाविद्याद्यनर्थनिवर्हणात् । तस्माद्ब्रह्म जिज्ञासितव्यम् ।

जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं, और सर्वथा अज्ञात की इच्छा नहीं होती है । इससे वेदान्त के अध्ययनादि द्वारा सामान्य रूप से ब्रह्म का ज्ञान प्रथम रहता है । वह विशेष रूप से जिज्ञासा का हेतु होता है, इससे सामान्य ज्ञान जिज्ञासा का हेतु है, और अवगतिपर्यन्त (अपरोक्षब्रह्मानुभूति-प्राप्तिपर्यन्त) ज्ञान सन्प्रत्ययार्थ इच्छा का विषय है, क्योंकि इच्छा फलविषयक होती है, फलपर्यन्त उपाय को इच्छा विषय

करती है, केवल उपाय को नहीं, वृत्तिरूप ज्ञानात्मक प्रमाण से अवगत (आवरण-रहित अपरोक्ष प्राप्त) करने के लिये ब्रह्म अमिलपित है, क्योंकि ब्रह्म की अवगति (अनुभव, प्राप्ति) ही परमपुरुषार्थ (मोक्ष) है, जिससे ब्रह्मावगति से संपूर्ण सत्कार के कारण अविद्या आदि रूप अनर्थ का नाश होता है। अतः ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है, अर्थात् अपरोक्षानुभव के लिये ब्रह्म का विचार अवश्य करना चाहिये।

तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्ध वा स्यात्। यदि प्रसिद्ध न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्ध नैव शक्य जिज्ञासितुमिति। उच्यते—अस्ति तावद् ब्रह्म नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्, सर्वज्ञम्, सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थ्या प्रतीयन्ते, बृहत्तेर्धानोरर्थानुगमात्।

शका उपस्थित होती है कि वह जिज्ञासायोग्य ब्रह्म प्रसिद्ध (ज्ञात) है, या अज्ञात है। यदि कहा जाय कि उपनिषदादि से ज्ञात है, तो अज्ञानादि अनर्थ के अभाव में जिज्ञासा की जरूरत नहीं है, यदि सर्वथा अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नहीं का जा सकती है, सर्वथा अप्रसिद्ध का विचार नहीं बन सकता है। उत्तर दिया जाता है कि विचार से प्रथम भी वेदान्तादि से ब्रह्म सामान्यरूप से प्रसिद्ध है कि निगुण ब्रह्म, नित्य-शुद्ध-बुद्ध- (ज्ञान) और मुक्त-स्वभाव (स्वतः) वाला है, और सगुण ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तियुक्त है, व्याकरण में व्युत्पाद्यमान (साधित) ब्रह्मशब्द में बुद्धि अर्थ वाला 'बृद्' धातु के अर्थ के सम्बन्ध से उस ब्रह्म शब्द के नित्य शुद्धत्वादि अर्थ प्रतीत होते हैं, इससे भी ब्रह्म शब्द का अर्थ सामान्य रूप से प्रसिद्ध होता है जो कि तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद का अर्थ है।

मयं स्यात्मात्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्व प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रनीयात्। आत्मा च ब्रह्म। यदि तर्हि लोके ब्रह्मात्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततो ज्ञातमेवेत्यजिज्ञास्यत्व पुनरापन्नम्। न, तद्विशेष प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमान चेतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्ना। इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे, मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्र क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिरिति केचिन्। आत्मा न भोक्तुरित्यपरे। एव बहवो विप्रतिपन्ना युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रया मन्तः। तत्राविचार्य यत्किञ्चित्प्रतिपद्यमानो नि श्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमासा तदविरोधितर्कोपकरणं नि श्रेयस-प्रयोजना प्रस्तूयते ॥ १ ॥

ब्रह्म ही सब प्राणियों का सत्यात्मा सत्यस्वरूप है, इससे भी ब्रह्म की अस्तित्व (सत्ता) प्रसिद्ध है। क्योंकि सभी प्राणी आत्मसत्ता को जानने हैं और सब को

अपनी सत्ता में विश्वास है । यदि आत्मसत्ता की प्रसिद्धि (ज्ञान) सबको नहीं होती, तो सब लोग 'मैं नहीं हूँ' ऐसा समझते ('मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान सबको होता) । और जिस आत्मा को सब लोग 'मैं' इस प्रकार देहादि से अविवेकपूर्वक जानते हैं, वही विविक्त साक्षी स्वरूप आत्मा ब्रह्म है, यही (अयमात्मा ब्रह्म) इत्यादि श्रुतियाँ दर्शाती हैं । तात्पर्य को समझे बिना शंका होती है कि यदि आत्मा ही ब्रह्म है और वह लोक में आत्मस्वरूप से प्रसिद्ध है, श्रुति भी (तत्त्वमसि) वह ब्रह्म तुम हो इस प्रकार कहती है तो वेदान्तज्ञादि को आत्मारूप से ब्रह्म ज्ञात ही है, इससे फिर भी ब्रह्म में अजिज्ञास्यता प्राप्त होती है, इससे उसकी जिज्ञासा नहीं हो सकती इत्यादि । तब समाधान है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि विवेकादि के बिना सामान्य रूप से 'मैं हूँ' इत्यादि ज्ञान होने पर भी उस आत्मा के विशेष (नित्यत्व एकत्वादि) स्वरूप के ज्ञान बिना विप्रतिपत्ति (विरुद्ध अनेक प्रकार का ज्ञान) होती है, जिससे संशय होते हैं । अतः संशयों की निवृत्ति के लिए ब्रह्मात्मा की प्रसिद्धि रहते भी जिज्ञासा होती है और विचार कर्तव्य है इत्यादि । विप्रतिपत्तियाँ ये हैं कि प्राकृत (शास्त्रज्ञानरहित) देहान्निमानी जन, और लोकायतिक (चार्वाक) चार भूतों से रचित स्थूल देह ही आगन्तुक चैतन्ययुक्त आत्मा है, इस प्रकार के निश्चय वाले हैं । अन्य कोई देह को विनश्वर समझकर उससे भिन्न सूक्ष्म इन्द्रियों को ही चेतन और आत्मा कहते और समझते हैं, एक-एक देह में अनेकानेक इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हो सकती हैं, ऐसा समझ कर इन्द्रियों के स्वामी मन को कोई आत्मा कहते हैं, मन भी अन्तःकरण है, इससे उसका स्वामी क्षणिक-विज्ञानमात्र (बुद्धि) ही आत्मा है, इस प्रकार बुद्धमत्तानुयायी विशेष मानते हैं । सुषुप्तिमें बुद्धि का भी अभाव होता है, इससे सदा स्थायी शून्य ही आत्मा है, इस प्रकार शून्यवादी कहते हैं । देहादिशून्यपर्यन्त से अन्य संसारी कर्ता भोक्ता आत्मा है यह न्याय वैशेषिक का सिद्धान्त है । केवल भोक्ता (भोग का अनुभवकर्ता) आत्मा है, कर्ता नहीं है, क्योंकि प्रकृति बुद्धि उसके भोगों को सिद्ध करने वाली है और वह प्रकृति स्वतन्त्र है, ईश्वर भी नहीं है, यह सांख्य का सिद्धान्त है । योग मत वाले कहते हैं कि प्रकृति के स्वतन्त्र होते भी प्रकृति और जीवात्मा से भिन्न सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त, असंग, ईश्वर भी है । वह असंग ईश्वर भोक्ता जीव का सत्यात्मा है, ईश्वर और जीव में माया अविद्यादि उपाधिकृत भेद है, आत्मा में नहीं, यह अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त है । इस प्रकार युक्ति और युक्त्याभास (असद्युक्ति) तथा वाक्य और वाक्याभासों के सम्यग् आश्रित हो कर बहुत लोग विरुद्ध सिद्धान्त समझने वाले हैं । विचार किये बिना उन विरुद्ध सिद्धान्तों में से किसी असत् सिद्धान्त को ही सत्य मानने वाला भोक्षमाण से पतित (नष्ट) हो जायेगा, और अनर्थ को प्राप्त होगा । यद्यपि सूत्र में 'विचार' पद नहीं है तथापि ब्रह्मजिज्ञासा के कथन द्वारा ही वेदान्तवाक्यों की मीमांसा (पूजित विचार) का आरम्भ किया जाता है, जो मीमांसा उससे अविरोधी तर्क रूप उपकरण (सहकारी कारण) वाली और मोक्षरूप प्रयोजन (फल) वाली है ॥ १ ॥

जन्माद्यधिकरण (२)

लक्षण ब्रह्मणो नास्ति किं वास्ति नहि विद्यते ।

जन्मादेरन्यनिष्ठत्वात् सत्यादेश्चाप्रसिद्धिः ॥ १ ॥

ब्रह्मनिष्ठ कारणत्व स्यालक्ष्यं सगुभुजङ्गवत् ।

लौकिकानीव सत्यादीन्यखण्ड लक्षयन्ति हि ॥ २ ॥

अप्रसिद्धि आदि से सञ्चय होता है कि ब्रह्म का लक्षण है कि नहीं है । पूर्वपक्ष है कि जन्मादि अन्य (जगत्) में है, और ब्रह्मनिष्ठ सञ्चयतादि प्रसिद्ध नहीं हैं, इससे जन्मादि वा सत्यत्वादि ब्रह्म के लक्षण नहीं हो सकते हैं । सिद्धान्त है कि जगत् कार्य से सिद्ध कारणत्व रूप धर्म लक्ष्य (ब्रह्म) स्वरूप होता हुआ ब्रह्म का लक्षण हो सकता है, क्योंकि वह ब्रह्म में कल्पित होने से ब्रह्म से भिन्न नहीं है जैसे कि माला में मिथ्या मासित सर्प माला रूप ही रहता है उसकी भिन्न सत्ता नहीं रहती है वैसे ही कारणत्व की भिन्न सत्ता नहीं है, इससे लक्ष्य रूप होता हुआ लक्षण है, इससे स्वरूप लक्षण है । और लौकिक (प्रवृष्ट-प्रकाशश्चन्द्र) इत्यादि लक्षणों में जैसे चन्द्रनिष्ठत्व रूप से प्रथम अप्रसिद्ध भी प्रवृष्टत्व प्रकाशत्वादि अनेक धर्म एक चन्द्रादि का बोध कराते हैं, वैसे ही कल्पित भेदयुक्त सत्यत्वादि अखण्ड एक ब्रह्म के लक्षण रूप से बोधक होते हैं । 'लक्ष्य' के स्थानमें 'लक्ष्म' पाठ हो तो उसका लक्षण अर्थ है, भाव है कि जैसे माला का सर्प मिथ्या निश्चित होने पर स्वायय माला का बोधक होता है, वैसे ही कारणत्व भी ब्रह्म का लक्षण होता है ॥ १-२ ॥

ब्रह्मजिज्ञामितव्यमित्युक्तम् । किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत आह भगवान् सूत्रकार —

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

उक्तं रीति से ब्रह्म के सामान्य रूप से प्रसिद्ध तथा जिज्ञास्य होने हुए भी विशेष ज्ञान के लिए लक्षण वक्तव्य होता है । वहाँ ब्रह्म किस लक्षण वाला है, अर्थात् नित्यशुद्धत्वसत्यत्वादि अप्रसिद्ध होने से ब्रह्म के लक्षण नहीं हो सकते हैं, और जगत् के जन्मादि भी जगत् के धर्म होने से ब्रह्म के लक्षण नहीं हो सकते । ऐसी अपेक्षा होने पर भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि—अस्य सर्वानुभवसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य सावयवत्वदृश्यत्वादित्वान् सिद्धकार्यत्वस्यादभुताय जगत कारणं विना ह्यसिद्धेयं श्रुतिप्रसिद्धात्कारणात् जन्मादिकं भवति तद्ब्रह्म, तन्निष्ठ जगत्कर्तृत्व तस्य लक्षणं सत्यानन्दादिकं च लक्षणं विद्यते तथा जगज्जन्मादि च कर्तारमनुमापयत्लक्षणत्व प्रपद्यते । इस सर्वानुभवसिद्धप्रत्यक्ष सावयवत्वादि से सिद्ध कार्यत्व वाले अदभुत जगत् की कारण के बिना अत्यन्त असिद्धि से श्रुतिप्रसिद्ध, जिस कारण से इसके जन्मादि होते हैं, वह ब्रह्म है, उसमें जन्मादि कर्तृत्व ही उसका लक्षण है । तथा श्रुतिप्रसिद्ध सत्यत्वादिरूप लक्षण हैं, और जगत् के जन्मादि भी कर्ता का अनुमान कराते हुए तटस्थ लक्षण हैं । स्वरूप होने जो धर्मादि सजातीय विजातीय से व्यावर्तक हो वे स्वरूप लक्षण कहाते हैं, लक्ष्य से अन्य होकर जो भेदक हो वे तटस्थ लक्षण होते हैं ।

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः । जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च । श्रुतिनिर्देश-स्तावद् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्यास्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात् । वस्तुवृत्तमपि, जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसम्भवात् ।

जन्मादि इस सूत्र के प्रथम पद में बहुव्रीहि समास है । बहुव्रीहि समास में, समस्यमान पदों के अर्थ से अन्य पदार्थ प्रधान रहता है, और उसमें उच्चारित पदों के अर्थ गौण रूप से भासते हैं । उस बहुव्रीहि के तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुण-संविज्ञान दो भेद होते हैं । जहाँ समासार्थरूप अन्य पदार्थ में गुणरूप से अवयवार्थ का भी सम्बन्ध हो वहाँ तद्गुणसंविज्ञान होता है, अन्यत्र अतद्गुणसंविज्ञान होता है । 'लम्बकणमानय' यहाँ कण का भी गुणरूप से सम्बन्ध होता है, इससे लम्बे कान-वाले का क्रिया में अन्वय होता है । 'दृष्टसागरमानय' यहाँ अतद्गुणसंविज्ञान है, इससे सागर का आनयन क्रिया में अन्वय नहीं होता है । 'लम्बी कणो यस्य, दृष्टः सागरो येन' ये समास के विग्रहवाक्य हैं । इसी प्रकार 'जन्म उत्पत्तिः, आदिर्यस्य' इस विग्रहार्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है । यहाँ जन्म और स्थिति तथा मंग (नाश) इन तीनों का समाहाररूप समूह अन्यपदार्थ समासार्थ है, उस समूह में गुणरूप से एकदेश रूप से, जन्म भी भासता है, इससे तद्गुणसंविज्ञान है । अर्थात् स्थिति और मंग के समान संसार का जन्म भी ब्रह्म का लक्षण है । स्थिति मंग की अपेक्षा जन्म के आदित्व (प्रथमत्व) का वर्णन श्रुतिनिर्देश (श्रुति की आज्ञा उच्चारण) और लोकवृत्त (लोकचरित्र) के अनुसार किया गया है । श्रुति का निर्देश है कि जिससे भूत उत्पन्न होते हैं, उसे ब्रह्म जानो । यहाँ से (यतो वा इमानि) इस वाक्य में जन्म-स्थिति और प्रलय के क्रम दर्शन से तथा जन्म से प्राप्त सत्ता वाले धर्मी (पदार्थ) की स्थिति और प्रलय सम्भव है अन्यथा नहीं, इससे जन्म में आदिता (प्रथमता) का वर्णन उचित है ।

अस्येति प्रत्यक्षादिसन्निधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः । पृष्ठी जन्मादि-धर्मसम्बन्धार्था । यत इति कारणनिर्देशः । अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्या-कृतस्थानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मन-साऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्-भवति तद्ब्रह्मोति वाक्यशेषः । अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिवेवान्तर्भाव इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम् । यास्कपरिपठितानां तु ('जायतेऽस्ति' इत्यादी-नाम्) ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले सम्भाव्यमानत्वान्मूलकारणादुत्पत्तिस्थि-तिनाशा जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्ये त, तन्मा शङ्कीति योत्पत्तिर्ब्रह्मणस्त-त्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते ।

सूत्रस्य 'अस्य' इस पद में 'इदम्' इस प्रातिपदिक से प्रत्यक्ष-अनुमानादि द्वारा

सन्निधापित (सन्निधिप्राप्त-उपस्थित-बोधित) सर्व मूल-भौतिकपदार्थरूप जन्मादि धर्मों के धर्मों का निर्देश (कथन) किया गया है, और उस पद में पष्ठो विभक्ति जन्मादि धर्मों का धर्मों के साथ जो सम्बन्ध है उसे कहती है। 'यत्' इस पद से कारण का निर्देश (कथन) है, वाक्यार्थ है कि नाम रूप द्वारा विविध स्वरूप से व्यक्त अनेक कर्ता और भोक्ता से समुक्त, तथा प्रतिनियत (व्यवस्थित) देश काल निमित्त हैं जिनके ऐसे क्रिया और फलो के आश्रय, या प्रतिनियत देशादि का आश्रय, देव-मनुष्यादि के मन से भी अचिन्त्य रचनास्वरूप इस जगत् के जन्म, स्थिति और भग (नाश) जिस सर्वज्ञ और सर्वशक्तियुक्त कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है। जडप्रकृति अल्पज्ञ जीव वा अन्य किसी से जगज्जन्मादि नहीं हो सकते हैं। 'तद्ब्रह्म' यह वाक्य का शेष (सूत्रार्थ के बोध के लिये अध्याहृत अवयव) है। जन्म स्थिति मङ्ग से अन्य वृद्धि परिणाम और अपक्षयरूप भाव (वस्तु) विकारों का जन्मादि तीनों में ही अन्तर्भाव है, इससे जन्म स्थिति और नाश का ही यहाँ ग्रहण किया गया है। वृद्धि और परिणाम का जन्म में अन्तर्भाव है, अपक्षय का नाश में अन्तर्भाव है। यास्क मुनि से पढ़े (कहे) गये 'जायतेऽस्ति वदते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति' इन जन्मादिकों का सूत्र में ग्रहण करने पर तो उनकी जगत् के स्थितिकाल में सम्भावना (विचारादि) होने से मूल कारण ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश का ग्रहण सूत्र में नहीं हो सकता है, ऐसी शका कोई कर सकेगा, वह शका नहीं करे इसलिये, जो ब्रह्म से उत्पत्ति होती है, और ब्रह्म ही में जो स्थिति और लय होते हैं, उन्हीं का सूत्र में ग्रहण किया गया है।

न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमौश्वर मुक्त्वाऽन्यत प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात्ससारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः, विशिष्टदेशकालनिमित्तानामिहोपादानात्। एतदेवानुमानं ससारिव्यतिरिक्तेष्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिमूत्रे। न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुद्गाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिर्नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता।

पूर्वोक्त विशेषण वाले जगत् की उक्त विशेषणयुक्त ईश्वर के बिना, उससे अन्य अचेतन प्रधान (प्रकृति) से या अचेतन अणुओं से या अभाव (शून्य) से या ससार हिरण्यगर्भादि से उत्पत्ति आदि की सम्भावना (सम्यक्त्व का निश्चयरूप अनुमान) नहीं की जा सकती है, न स्वभाव में कारण के बिना ही उत्पत्ति आदि की सम्भावना हो सकती है, क्योंकि इस ससार में कार्यार्थों से तत्तत्कार्यों के लिये विशिष्ट (मित्र-मित्र असाधारण) कारणों का ग्रहण देखा जाता है, यदि स्वभाव से कार्य होते तो कारणों की जरूरत नहीं होती, जगत् भी कार्य है, इससे यह भी स्वभाव सिद्ध नहीं है,

किन्तु विशिष्ट कारण जन्य है, यह अनुमान होता है, और उसी अनुमान को संसार से व्यतिरिक्त (भिन्न) तटस्थ ईश्वर की सत्ता आदि का साधनरूप ईश्वरकारणवादी नैयायिक मानते हैं । शंका होती है कि यहाँ भी जन्मादि सूत्र में वह अनुमान ही कहा गया है, उत्तर है कि यहाँ अनुमान का नहीं कथन किया गया है, क्योंकि वेदान्त वाक्यरूप पुण्यों को गूँथने के लिये सूत्र सब हैं, वेदान्त वाक्यों का विचार सूत्रों का प्रयोजन है, अनुमान नहीं, क्योंकि उदाहरणरूप से ग्रहण करके वेदान्तवाक्यों का ही सूत्रों से विचार किया जाता है, इससे वेदान्त के विचाररूप सूत्र हैं, अनुमान-रूप नहीं है । और वेदवाक्य और उसके अर्थों के विचार का जो अध्यवसान (समाप्ति-रूप तात्पर्यनिश्चय) उसी से ब्रह्मावगति (अनुभव) सिद्ध होती है, अनुमानादि रूप प्रमाणान्तर से नहीं होती । 'नैपा तर्केण मतिरापनेया'—यह ज्ञात तर्क से पाने योग्य नहीं है (कठ०) ।

सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदाढ्यार्थानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याऽभ्युपेतत्वात् । तथा हि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (वृ० २।४।५) इति श्रुतिः, 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्यतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा० ६।१।४।२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति । न धर्मजिज्ञासा-यामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम् । किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भवमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य ।

ऐसा होने पर भी जगत् के जन्मादि के कारण को कहने वाले वेदान्तवाक्यों के रहने पर, उनके अर्थज्ञान की दृढ़ता के लिये वेदान्त वाक्यों का अविरोधी अनुमान भी प्रमाण होता हो तो उसका निवारण नहीं किया जाता है । श्रुति ने ही अपने सहायकरूप से तर्क को स्वीकार किया है, जैसे कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' यह श्रुति श्रवण मनन की कर्तव्यता बताती है, यहाँ श्रवण के बाद तर्क द्वारा युक्ति से श्रुतार्थ की संभावना करना मनन है । किसी को चोर आँख बाँध कर गन्धार से दूर देश में ले जाकर वैसे ही छोड़ दे, फिर कोई दयालु उसकी आँखों को खोलकर कहे कि अमुक दिशा में गन्धार देश है, तो वह मार्गग्रहण के सामर्थ्यवाला पण्डित और तर्क में कुशल मेधावी रहने पर ही गन्धार को प्राप्त करता है, इसी प्रकार पण्डित और मेधावी (बुद्धिमान्) आचार्य वाला पुरुष इस संसार (शरीर) में ब्रह्मात्मा को जानता है, इस अर्थ को कहने वाली श्रुति भी पुरुषबुद्धि का सहायक अपने को बताती है, इससे बुद्धिमान् ही पुरुष श्रुति से भी ब्रह्मात्मा का अपरोक्षज्ञान करता है । क्योंकि धर्मजिज्ञासा के समान ब्रह्मजिज्ञासा में श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु श्रुति आदि और तर्क-अनुभवादि सभी यहाँ यथासंभव प्रमाण हैं क्योंकि अपरोक्षानुभवरूप अवसान (चरमसीमा) वाला, और भूत (सिद्ध) वस्तु-विषयक ब्रह्मज्ञान होता है, इससे श्रुति-स्मृति आदि अनुभवादि सब उसके लिये प्रमाण हैं ।

कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षाऽस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्य स्यात् पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य । कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्य लौकिक वैदिक च कर्म, यथाऽश्वेन गच्छति, पद्भ्यामन्यथा वा, न वा गच्छति । तथा 'अतिरात्रे षोडशिन गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति', 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति', इति विधिप्रतिषेधाश्चात्रार्थवन्त स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च । न तु वस्तुवैय नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते । विकल्पनास्तु पुरुषबुद्धचपेक्षा । न वस्तुयाथात्म्यविज्ञानं पुरुषबुद्धचपेक्षम् । किं तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत् । न हि स्थाणावेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽप्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति । तत्र पुरुषोऽप्यो वेति मिथ्याज्ञानम् । स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानम्, वस्तुतन्त्रत्वात् ।

कर्तव्य (साध्य) कर्मादि विषय मे अनुष्ठान के लिये अनुभव की अपेक्षा नहीं है, इससे उसमे श्रुति आदि शास्त्र की ही प्रमाणता हो सकती है, और कर्तव्य कर्मादि की आत्मा (स्वरूप) की सिद्धि पुरुषाधीन है, इससे प्रथम मे वह असिद्ध है, अनुभव योग्य नहीं है, और लौकिक वैदिक सब कर्म पुरुष की इच्छा के अनुसार करने न करने, अन्यथा करने के शक्य योग्य) हैं, जैसे कोई अश्व द्वारा गमन करता है, पंरो से चलता है, वा अन्य किसी प्रकार गमन करता है या नहीं चलता है, इससे लौकिक गमनक्रिया पुरुषाधीन है, वैसे ही अतिरात्र नामक घाम मे षोडशी नामक पात्र का ग्रहण करता है, वा अतिरात्र मे ही षोडशी का नहीं भी ग्रहण करता है, और सूर्य के उदित होने पर अग्निहोत्र करता है, अथवा अनुदित रहते ही प्रातः काल मे हवन करता है, इससे वैदिक कर्म भी पुरुषाधीन है, इच्छा के अनुसार साध्य है, और साध्य होने ही से विधि-निषेध भी इस कर्तव्य मे सार्यक होते हैं, तथा विकल्प उत्कर्ष (सामान्य) और अपवाद (विशेषता) भी पुरुषाधीन साध्यता से होते हैं । इस प्रकार वा है, इस प्रकार का नहीं है, या है नहीं है इस प्रकार के विकल्प का विषय सिद्ध वस्तु नहीं होती है । सहायविपर्ययरूप विकल्प पुरुष के अन्त करणाधीन होते हैं, वस्तु के परार्थस्वरूप का ज्ञान अन्त करण के अधीन नहीं होता है । तो कैसे होता है कि वस्तु के अधीन ही परार्थ ज्ञान होता है, क्योंकि एक स्थाणु मे, स्थाणु है, वा पुरुष या अन्य कुछ है, ऐसा ज्ञान सत्यज्ञान नहीं होता है, क्योंकि स्थाणु मे पुरुष वा अन्य का ज्ञान भ्रम है । स्थाणु ही है यही तत्त्वज्ञान है, क्योंकि यही ज्ञान वस्तु के अधीन है ।

एव भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम् । तत्रैव सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात् । ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मण प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणाऽनर्थिकैव प्राप्ता । न, इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाऽग्रहणात् । स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि न ब्रह्मविषयाणि । सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मण, इदं ब्रह्मणा सम्बद्ध कार्यमिति गृह्येत । कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्य निश्चेत्तुम् । तस्मान्नानुमानादिषु नानुमानोपन्यासार्थं किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनायम् ।

इस पूर्व वर्णित रीति से भूतवस्तुविषयक ज्ञानों की प्रमाणता वस्तु के अधीन है, और सिद्धवस्तु के ज्ञान में वस्तुतत्त्व प्रामाण्य होने पर भूतवस्तुविषयक होने से ब्रह्मज्ञान भी वस्तुतत्त्व (अधीन) है, इसलिये प्रमाण है । यहाँ शंका होती है कि लोक में सिद्धवस्तु यथासंभव प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणान्तर के विषय होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के सिद्धवस्तु होने पर वह नैयायिक से वर्णित प्रमाणान्तररूप अनुमान का विषय ही होगा, इससे अनुमान का विचार करना उचित है, वेदान्तवाक्य का विचार तो अनर्थक ही सिद्ध होता है ? इसका उत्तर है कि अनुमान में साध्य और हेतु के सम्बन्ध (व्याप्ति) का ज्ञान रहने पर अनुमिति प्रमा होती है यहाँ ब्रह्म के इन्द्रियों का अविषय होने से कार्य के साथ सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वभाव से ही बाह्यविषयविषयक होती हैं, ब्रह्मविषयक नहीं होती हैं, (पराञ्चि खानि) इस प्रकार कथ्युक्ति भी कहती है । यदि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय होता, तो यह जगत्-रूप कार्य के साथ सम्बन्धवाला है, ऐसा ज्ञान हो सकता, परन्तु कार्यमात्र ही जब गृहीत (ज्ञात) है, तब यह कार्य ब्रह्म के साथ सम्बन्धवाला है, या अन्य किसी के साथ सम्बन्धवाला है यह निश्चय नहीं किया जा सकता है, अतः (जन्माद्यस्य यतः) यह नृत्त अनुमान के उपन्यास (कथन-रचना) के लिये नहीं है, तो फिर किसके लिए है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा गया है कि वेदान्तवाक्य के प्रदर्शन के लिये है अर्थात्—जिससे ब्रह्म को समझा जा सके ॥ ७ ॥

किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत्सूत्रेणेह लिलक्षयिषितम् । 'भृगुर्वै वारुणिः' वरुणं पितरमुपससार, अवीहि भगवो ब्रह्मेति,' इत्युपक्रम्याह—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति' (तैत्ति० ३।१) । तस्य च निर्णयवाक्यम्—'आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' (तैत्ति० ३।६) । अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव-सर्वज्ञस्वरूपकारणविषयाण्युदाहर्तव्यानि ॥ २ ॥

जिज्ञासा हुई कि कौन वह वेदान्त वाक्य है कि जो सूत्र के द्वारा समझाने की इच्छा का विषय है, तब कहा जाता है कि. वरुण के पुत्र भृगु वरुण नामक पिता के पास गया, और पिता से कहा कि हे भगवन् ब्रह्म का स्मरण कराओ—उपदेश दो, इस प्रकार कथा का आरम्भ करके कहा है कि 'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, प्रलय के समय लीन होते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं उसकी जिज्ञासा—विचार करो वही ब्रह्म है', फिर निर्णयरूप वाक्य है कि 'आनन्द स्वरूप ब्रह्म से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं, प्रलीन होते हुए आनन्द में ही प्रवेश करते हैं', इसी प्रकार के अर्थवाले अन्य भी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाले सर्वज्ञस्वरूप कारणविषयक वाक्य यहाँ उदाहरण के योग्य हैं—जिनसे आनन्दादि

रूपता से स्वरूप लक्षण, और सर्वज्ञता आदि से तत्स्य लक्षण से युक्त लक्षण ब्रह्म ज्ञात होता है, इत्यादि ॥ २ ॥

शास्त्रयोनित्वाधिकरण (३)

न कर्तुं ब्रह्म वेदस्य किं वा कर्तुं न कर्तुं तत् ।
 विरूपनित्यया वाचेत्येव नित्यत्वकीर्तनात् ॥ १ ॥
 कर्तृनि श्वसिताद्युक्तैर्नित्यत्व पूर्वमाम्यत ।
 सर्वावभासिवेदस्य कर्तृत्वात् सर्वविद्भवेत् ॥ २ ॥
 अस्त्यन्यमेयताप्यस्य किं वा वेदैकमेयता ।
 घटवत् सिद्धवस्तुत्वाद् ब्रह्मान्येनापि मीयते ॥ ३ ॥
 रूपलिङ्गादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता ।
 त त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता ॥ ४ ॥

वेद की नित्यता और सृष्टि इन दोनों को सुनने से सदेह होता है कि ब्रह्म वेद का कर्ता है कि नहीं ? पूर्वपक्ष है कि (विरूप नित्यया वाचा) इत्यादि श्रुति (अनादिनिष्पन्ना नित्या) इत्यादि स्मृति से नित्यता कही जाती है, इससे ब्रह्म वेद का कर्ता नहीं है ॥ १ ॥
 उत्तर है कि (अस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमृगवेद) इत्यादि कथन से ब्रह्म वेद का कर्ता है । किन्तु (यथापूर्वमकल्पयत्) इत्यादि श्रुति के अनुसार पूर्वकल्प की तुल्यता से नित्यता कही गई है, और सर्व-यम-व्यवहार तथा सत्त्व का बोधक वेदों का कर्ता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ ही हो सकता है ॥ २ ॥

घटादि के समान सिद्ध वस्तु और परमसूक्ष्म दुर्गोच्य होने से संशय होता है कि वेद से अन्य प्रमाणों द्वारा भी ब्रह्म समझा जा सकता है या केवल वेद ही से समझा जा सकता है ? पूर्वपक्ष है कि घटादि के समान सिद्ध वस्तु होने से अन्य प्रमाणों से भी ब्रह्म समझा जाता है ॥ ३ ॥

उत्तर है कि व्यक्त रूप-स्पर्शादि और लिङ्ग (हेतु) व्याप्तिज्ञानादि के अभाव से इस ब्रह्म को साक्षान् प्रमाणान्तर को योग्यता नहीं है और (त त्वौपनिषद पुण्य पृच्छामि) इत्यादि श्रुतियों से केवल वेद-ज्ञेयता कही गई है ॥ ४ ॥

जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञ ब्रह्मोत्पत्तिस्तद्वेद द्रव्यन्नाह—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

अनन्त अद्भुत अचिन्त्य जगत् की कारणता के प्रदर्शन से पूर्वसूत्र में ब्रह्म सर्वज्ञ है, यह अर्थ अनुमान से प्रतिज्ञात (निश्चित) हुआ, क्योंकि कार्य-कारण के ज्ञानरहित कर्ता नहीं होता है, इससे प्रकृति पर्यन्त का साक्षी सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्-कारण है, इस सूचित अनुमापित सर्वज्ञत्व को ही दृढ निश्चय कराते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

‘ऋग्वेदादीनामनेकशाखा ज्योपाङ्गादियुक्तानां योनित्वाच्च सत्यमूलकारणत्वाच्च सर्वज्ञ

ब्रह्मैव जगत्तोऽपि हेतुः । किञ्च तादृशं शास्त्रं योनिः (प्रमाणं) यस्मिन् तच्छास्त्रयोनि ब्रह्म तन्निष्ठयोनित्वाच्च, किंवा शास्त्रं च तद्योनिश्च तद्विज्ञानस्य तस्य भावात्सर्वज्ञ ब्रह्म सिद्धयति' अनेक शान्ता अङ्ग-उपाङ्ग आदि का सत्य मूल कारण होने से सर्वज्ञ ब्रह्म है और वही सब जगत् का हेतु है एवं उक्त शास्त्र उस ब्रह्म में प्रमाण है, इससे उस ब्रह्म के विज्ञान का शास्त्र ही हेतु है, इससे जगत् का हेतु सर्वज्ञ ब्रह्म सिद्ध होता है । पूर्वाधिकरण के साथ इस अधिकरण को एकार्थवत्त्व संगति है ।

महत् ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपवृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थाव-
द्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न होदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिल-
क्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं
यस्मात्पुरुषविशेषात्सम्भवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयकदेशार्थमपि,
स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके, किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेद-
भिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाक-
रस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यानेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः सम्भवः,
'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २।४।१०) इत्यादिश्रुतेः,
तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति ।

पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च
चतुर्दश ॥ (याज्ञवल्क्य स्मृ० १।३) इस शास्त्र से पुराणादि चार और छः व्याकरणादि
वेदाङ्ग सहित चार वेद ये चतुर्दश विद्या और धर्मों के स्थान हैं, महान् ऋग्वेदादिरूप
शास्त्र अन्य दश विद्याओं के स्थानों से उपवृंहित (उपकृत-परिवर्द्धित) हैं, अत एव प्रदीप
के समान सब उपयुक्त अर्थों के प्रकाशक हैं, इससे सर्वज्ञकल्प (सर्वज्ञ समान) हैं, उनका
सर्वज्ञ ही ब्रह्म कारण है, क्योंकि ऐसा महत्त्वादियुक्त सर्वज्ञ के गुण सर्वज्ञतासहित
ऋग्वेदादिरूप शास्त्रों का सर्वज्ञेश्वर के विना अन्य से उत्पन्न होना नहीं बन सकता है,
क्योंकि जो-जो शास्त्र शब्दों के विस्तार (अधिकता) के लिये जिस पुरुष विशेष से
होते हैं, जैसे कि ज्ञेय वस्तु का एकदेशार्थक व्याकरणादि पाणिनि आदि से हुए हैं,
वहाँ वह पुरुषविशेष उस शास्त्र से अति-अधिक विज्ञानवाला रहता है यह बात लोक
में प्रसिद्ध है, तो फिर अनेक शाखाओं के भेद से अनेक भेदयुक्त, देव, तिर्यक्
(पशु आदि), मनुष्य और उनके वर्ण (जाति), आश्रम (ब्रह्मचर्यादि) का प्रविभाग
के हेतु, सब ज्ञान का आकर (खान) ऋग्वेदादि नामक शास्त्र की जिस महान्
भूतयोनि से लीला के समान अन्यत्र (अल्पयत्न-संकल्प) मात्र से ही उत्पत्ति होती है,
उस भूतयोनि की अधिकतर विज्ञानवत्ता में कहना ही क्या है, वह तो अवश्य सर्वज्ञ
है और यह अर्थ (अस्य महतो भूतस्य) इत्यादि श्रुति से भी सिद्ध होता है । इससे
उस महान् स्वरूप को सर्वोपरि सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता है, उससे अधिक वा तुल्य
जानादिवाला कोई नहीं है । (न तत्समश्चाम्यधिकश्च दृश्यते, स्वता० ६।८) इत्यादि
श्रुति से उसके सर्वज्ञत्वादि में कुछ भी वक्तव्य नहीं है ॥

अथवा यथोक्तमृगवेदादिशाम्प्र योनि कारण प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्व-
रूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारण ब्रह्माधिगम्यत इत्यभि-
प्राय । शास्त्रमुदाहृत पूर्वसूत्रे—‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्यादि ।
किमर्थं तर्हीदं सूत्र ? यावता पूर्वसूत्रे एवंवजातीयक शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्व
ब्रह्मणो दर्शितम् । उच्यते—तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्ट शास्त्रस्यानुपादानाज्जन्मादि
केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत, तामाशङ्का निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रवृत्ते—
‘शास्त्रयोनित्वादि’ति ॥ ३ ॥

अथवा सूत्र वा दूसरा भी अर्थ है कि पूर्वोक्त विशेषण वाले ऋग्वेदादि शास्त्र इस
ब्रह्म के समर्थ स्वस्वरूप-ज्ञान में योनि (कारण) माने प्रमाण हैं, क्योंकि शास्त्ररूप
प्रमाण से ही जगत् के जन्मादि का कारणरूप ब्रह्म समझा जाता है, यह अभिप्राय
(तात्पर्य) है, और जो शास्त्र प्रमाण है, वह पूर्वसूत्र के भाष्य में (यतो वा इमानि ।
इत्यादि उदाहरणरूप से कहा जा चुका है । यहाँ शंका होती है कि जब पूर्वसूत्र में
ही इस प्रकार के शास्त्र का उदाहरण देनेवाले सूत्रकार ने ब्रह्म के शास्त्रयोनित्व
(शास्त्रप्रमाण-बोध्यत्व) को दिखला दिया है, समझाया है, तो यह सूत्र किस प्रयोजन के
लिये है, या रचा गया है ? समाधान है कि पूर्वसूत्र में शास्त्र उदाहृत है, परन्तु पूर्वसूत्र
के अक्षर (पद) से स्पष्ट शास्त्र का ग्रहण नहीं होने से, केवल अनुमान कहा गया है,
ऐसी शंका हो सकती थी । उस शंका के निवारण के लिए (शास्त्रयोनित्वात्), यह
शास्त्र प्रवृत्त हुआ है ॥ ३ ॥

समन्वयाधिकरण (४)

वेदान्ता कर्तृदेवादिपरा ब्रह्मपरा उत ।

अनुष्ठानोपयोगित्वात् कर्त्रादिप्रतिपादका ॥ १ ॥

भिन्नप्रकरणाल्लिङ्गपट्काच्च ब्रह्मबोधका ।

सति प्रयोजनेऽनर्थहानेऽनुष्ठानतोऽत्र किम् ॥ २ ॥

प्रतिपत्ति विधित्सन्ति ब्रह्मण्यवसिता उत ।

शास्त्रत्वात्ते विधातारो मननादेश्च कीर्तनात् ॥ ३ ॥

नाकर्तृतन्त्रेऽस्ति विधि शास्त्रत्व शसनादपि ।

मननादे पुरा बोधाद् ब्रह्मण्यवमितास्तत ॥ ४ ॥

कर्मबोधक वेद की तुल्यता और प्रकरण के भेदादि से संशय होता है कि वेदान्त
कर्मापेक्षित देवादि का बोधक है या स्वतन्त्र मोक्ष फल के लिये ब्रह्म स्वरूप मात्र का
बोधक है ? पूर्वपक्ष है कि कर्मानुष्ठान में उपयोगी होने से कर्ता देवादि का ही
बोधक है ॥ १ ॥

सिद्धान्त है कि भिन्न प्रकरण होने से और ब्रह्मबोधार्थक तात्पर्य निश्चय के हेतु
उपक्रममादि पङ्क्ति से भी वेदान्त ब्रह्म का ही बोधक है । और ब्रह्मबोध से ही

अज्ञानजन्य जन्मादि रूप अनर्थ की निवृत्तिरूप फल के होते, यहाँ कर्मानुष्ठान ये क्या फल हैं ॥ २ ॥

वेदान्त प्रतिपत्ति (उपासना) का विधान करना चाहता है या ब्रह्म में ही पर्यवसित (तात्पर्य वाला) है, यह दूसरा संशय है । पूर्वपक्ष है । या शास्त्र होने से कर्मकाण्ड के समान उपासना का विधायक है, और श्रवण के बाद मननादि क्रिया का भी वेदान्त में कथन है, इससे मननादि का विधायक है ॥ ३ ॥

उत्तर है कि कर्ता के अधीन क्रिया में विधि होती है, कर्ता के अधीन वस्तु तन्त्र ज्ञान में विधि नहीं होती है । और उपदेशमात्र से शास्त्र कहा जाता है, विधिमात्र ही से नहीं, और ज्ञान से प्रथम मननादि का विधान है, इससे वेदान्त ब्रह्म में ही तात्पर्य वाले हैं ॥ ४ ॥

कथं पुनः ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते ? यावता 'आम्नायस्य क्रियार्थ-त्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्' (जे. सू. १।२।१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम् । अतो वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यम्, अक्रियार्थत्वात् । कर्तृदेवतादिप्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधिरोपत्वम्, उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा नहि परिनिष्ठित-वस्तुप्रतिपादनं सम्भवति प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः ।

पूर्वसूत्र में प्रतिज्ञा-मात्र से कहा गया है कि शास्त्र रूप प्रमाण से जगत् का कारण ब्रह्म सिद्ध होता है, उसी अर्थ को शास्त्र का समन्वय रूप हेतु से दृढ करना है, वहाँ पूर्वोक्त अर्थ का पूर्वपक्षी प्रथम खंडन-आक्षेप करता है कि सिद्ध ब्रह्म को शास्त्ररूप प्रमाणजन्यज्ञान-विषयत्व कैसे हो सकता है, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रमाणान्तर का विषय होती है, और प्रमाणान्तर से ज्ञेय (अनुमेय) ब्रह्म का यदि शास्त्र बोधक भी होगा, तो लौकिक वाक्य के समान अनुवादक होगा, तब अप्रमाण होगा । इसी हेतु से जमिनीय सूत्र, शास्त्र (वेद) को क्रियापरत्व (क्रियाबोधकत्व) दर्शाया है कि आम्नाय (वेद) के क्रियार्थक होने से क्रियार्थकता से रहित वेदवाक्य अनर्थक हैं । इससे क्रियारहित वेदान्त वाक्य भी अनर्थक हैं, अथवा (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) इस अध्ययन विधि से विहित सार्थक अध्ययन के विषय होने के कारण जैसे अर्थवाद वाक्य को क्रिया की स्तुति द्वारा क्रियार्थक मानकर सार्थक माना गया है, वैसे ही कर्म के कर्ता देव फलादि के प्रकाशनार्थक होने से क्रिया विधि को शेष (अंग) रूपता वेदान्त को है, इससे सार्थक है, जीव प्रतिपादक कर्म कर्ता का, ईश्वर का प्रतिपादक कर्मांग देव का बोधक है, या अन्य फल का बोधक है, अथवा उपासनादि रूप क्रियान्तर का विधानार्थक ही है, क्योंकि यज्ञादि कर्म के प्रकरणों से वेदान्त का भिन्न प्रकरण है । सिद्ध वस्तु का सर्वथा कर्म सम्बन्ध के बिना प्रतिपादन नहीं बन सकता है, क्योंकि परिनिष्ठित (सिद्ध) वस्तु को अवश्य प्रत्यक्षादि विषयत्व होता है, और प्रत्यक्षादि के विषय ब्रह्म का प्रतिपादक वेद अनुवादक अप्रमाण होगा । यद्यपि रूपादि रहित-व्याप्ति-

ज्ञानशून्य ब्रह्म सिद्ध होते भी प्रमाणान्तर का विषय नहीं है, यह बात प्रथम कही गई है, तथापि उसको स्पृणाखनन न्याय से दृढ करने के लिए पूर्वपक्ष है ।

तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् । अत एव 'सोऽरोदीत्' इत्येवमादीनामानर्थक्य मा भूदिति 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीना स्युः' (जै० सू० १।२।७) इति स्तावकत्वेनार्थवत्त्वमुक्तम् । मन्त्राणां च 'इमे त्वा' इत्यादीनां क्रियातत्माधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वमुक्तम् । न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसम्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा । न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति, क्रियाविषयत्वाद्विधेः । तस्मात्कमपिक्षितकर्तृ-स्वरूपदेवतादिप्रकाशनेन क्रियाविधिदोषत्व वेदान्तानाम् । अथ प्रकरणान्तर-भयान्तेतदभ्युपगम्यते, तथापि स्ववाक्यगतोपासनादिकर्मपरत्वम् । तस्मान्न ब्रह्मण शास्त्रधोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

सिद्ध वस्तु भी यदि हेय (त्यागार्ह) कुमश्च, कुपुष्य, कुदेशादि के समान रहती है, तो उसके त्याग में पुण्य सुखादि पुरुषार्थ होते हैं, और उपादेय (ग्राह्य) सुमश्च सत्पुष्य सुदेशादि के ग्रहण से पुरुषार्थ (फल) होता है । हेय और उपादेय में निम्न असंग्रह ब्रह्म का वेदान्त से प्रतिपादन करने पर कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता है । क्रिया सम्बन्ध रहित सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता, और (दध्ना जुहोति) इत्यादि में हवन क्रिया सम्बन्ध से सिद्ध दधि का भी कथन हो सकता है, इसीसे (देवनिष्ठ सोमिररोदीत्) इत्यादि वाक्यों की अर्थवत्ता न हो, इसलिए पूर्वमीमांसा में कहा गया है कि विधि वाक्य के साथ मिलकर विधि की स्तुति द्वारा उक्त वाक्य सब सार्थक होते हैं । अर्थात् (बहिषि रजत न देयम्) इस निषेधविधि के साथ, 'देव' इत्यादि वाक्य का सम्बन्ध है कि देव से निगृहीत अग्निदेव के रोदन से रजत हुआ है इससे बहिष नामक याग में उसका दान नहीं करना, नहीं तो रोना पड़ेगा इत्यादि भाव है । इसी प्रकार (इमे त्वा) इत्यादि मन्त्रों को भी (छिनचि) इत्यादि क्रिया के अध्याहार द्वारा क्रियाबोधकत्व मानकर तथा क्रिया के साधन देवादि का वाचक मानकर कर्मसम्बन्धित्व कहा है, इससे कहीं भी वेदवाक्यों की विधि (क्रिया) के बिना सार्थकता नहीं देखी गई है, न उपपन्न (सिद्ध) हो सकती है । वेदान्त से यदि ब्रह्म कहा जाय, तो परिनिष्ठित (सर्वथा सिद्ध) वस्तु के स्वरूप में विधि ही नहीं सकती है, क्योंकि विधि की क्रियाविषयत्व का नियम है, अमिद्ध ही क्रिया विधि से साध्य होता है, मिद्ध नहीं, इससे कर्मों से अपेक्षित (कर्मों के हेतु) कर्ता के स्वरूप को या देवतादि को प्रकाशन के (समझाने के) द्वारा वेदान्तों की कर्म-विधि की अङ्गता है, या वेदान्त का कर्म-विधि से निम्न प्रकरण है ? इस भय से यदि कर्म विधि की अङ्गता वेदान्त की नहीं मानी जा सके, तो भी वेदान्त-वाक्यगत (मनो ब्रह्मेत्यु-

पासीत) इत्यादि वाक्यविहित उपासना श्रवणादि-कर्मपरत्व (बोधकत्व) ही वेदान्त वाक्यों को है, इससे शास्त्रयोनित्व (शास्त्रप्रमाणकत्व) ब्रह्म को नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहा जाता है कि (न शास्त्रयोनित्वं निषेद्धुं शक्यते सर्वेषां शास्त्राणां वेदान्तानां तत्रैव कारणे ब्रह्मणि तात्पर्येण सम्बन्धात्, शास्त्रयोनित्वस्य निषेधे सर्वेषामानर्थक्यापत्तेः, अत एव ब्रह्मणि शास्त्रयोनित्व (हेतुत्व) मात्राद् न तत् सिद्धिः, अपि तु शास्त्रसमन्वयादपि सर्वज्ञं सर्वशक्तियुक्तं ब्रह्म सिद्धयतीति) ब्रह्म में शास्त्र प्रमाणकत्व का निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सब वेदान्त शास्त्र का उस जगत् का कारण ब्रह्म में तात्पर्य द्वारा सम्बन्ध है, शास्त्रयोनित्व के निषेध से सबको अनर्थकता की प्राप्ति होगी, इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म में शास्त्रयोनित्व (हेतुत्व) मात्र ही से ब्रह्म की सिद्धि नहीं होती है, कि सब शास्त्र के समन्वय से भी सर्वज्ञ सर्वशक्तियुक्त ब्रह्म सिद्ध होता है ।

तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तद्ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते । कथम्, समन्वयात् । सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ ‘एकमेवाद्वितीयम्’ (छा० ६।२।१) । ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्’ (ऐतरेय २।१।११) । ‘तदेतद् ब्रह्मा पूर्वमनपरमन्तरमवाह्यम्’ ‘अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः’ (बृहदा० २।५।१९) ‘ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्’ (मुण्ड० २।२।११) इत्यादीनि । न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते ‘तत्केन कं पश्येत्’ (बृह० २।४।१३) इत्यादिक्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः ।

सूत्रगत तु शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है कि पूर्वपक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिवाला और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण वह ब्रह्म वेदान्त से ही अवगत (अपरोक्षानुभूत-प्राप्त) होता है । यदि कहो कि कैसे अवगत होता है, तो सुनो,—सम्यक् अन्वय से अवगत होता है, क्योंकि सभी वेदान्तों में तद्गत वाक्य सब तात्पर्यपूर्वक इस ब्रह्मात्मक अर्थ के ही प्रतिपादक (बोधक) रूप से अनुगत (सम्बद्ध-मिलित) हैं । हे सोम्य ! प्रियदर्शन ! यह सब दृश्य जगत् सृष्टि से प्रथम सद्ब्रह्म मात्र ही था, एक ही द्वैतरहित था । यह जगत् एक आत्म-स्वरूप ही प्रथम था । जो आत्मा है, वही यह ब्रह्म है, और वह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित) अनपर (कार्यरहित) जात्यन्तर के व्यवधानरहित, और बाह्यपदार्थरहित है, यह सर्वात्मा ब्रह्म है, सर्वात्मारूप^१ से सबका अनुभव करने वाला है । अमृत ब्रह्म ही यह.

१. स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।

तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥

(श्रीमद्भा० स्क० २)

आगे प्रत्यक्षदृश्यादिरूप भासता है, इत्यादि अर्थदाले वे अनुगत वाक्य हैं। और उन वाक्यगत पदों के ब्रह्मस्वरूपविषयक निश्चिन समन्वय (सम्बन्ध) के अवगम्यमान (ज्ञात) रहते, अर्थान्तर (क्रियायुक्तता) की कल्पना युक्त (उचित) नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा करने से श्रुत ब्रह्मार्थ की हानि (अभाव) और अश्रुत (श्रुति से अवोधित) अर्थ की कल्पना हो जायगी। और उन वाक्यों के कर्मकर्ता के स्वरूप के प्रतिपादन में तात्पर्य का निश्चय भी नहीं होता है, उन्हें कर्ता के स्वरूप का प्रतिपादन परायण नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि (तत्त्वेन क पश्येत्) इस श्रुति से (उस ज्ञान काल में कौन किससे किसको देखे) इस प्रकार क्रिया कारक फल का निषेध सुना गया है।

न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्व ब्रह्मण । 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्यमानत्वात् । यत्तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति । नैव दोष, हेयोपादेयगून्यब्रह्मात्मतावगमादेव मर्यादलेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धे । देवतादिप्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगतां उपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः । न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिगपत्व सम्भवति, एकत्वे हेयोपादेयगून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः । न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुन सम्भवोऽस्ति । येनोपासनाविधिशीलत्व ब्रह्मण प्रतिपाद्येत् । यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्व न दृष्ट, तथाप्यात्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वात् तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्य शक्य प्रत्याख्यातुम् । न चानुमानगम्य शास्त्रप्रामाण्य, येनान्यत्र दृष्ट निदर्शनमपेक्षेन । तस्मात्सिद्ध ब्रह्मण शास्त्रप्रमाणकत्वम् ॥

ब्रह्म के सिद्ध वस्तु स्वरूप होते उसके भी प्रत्यक्षादि की विषयता नहीं है, क्योंकि जीव रूप से कल्पित ब्रह्म अहम् (मैं) इस प्रत्यक्ष का कश्चिन् विषय है, जगत के कारण रूप से कश्चिन् अनुमेय भी हो सकता है, परन्तु (तत्त्वमसि) वह सत्य ब्रह्म वृ है, इस प्रकार ब्रह्मात्मता (ब्रह्मरूपता) शास्त्र के बिना नहीं ज्ञात हो सकती है, शास्त्र के बिना वह सदा अज्ञात है। और जो यह कहा गया था कि हेय और उपादेय से रहित होने से ब्रह्म उपदेश के योग्य नहीं है, वहाँ कहा जाता है कि यह दोष भी नहीं है, क्योंकि हेयोपादेय से शून्य (रहित) ब्रह्म के ज्ञान से ही अविद्यादि सब कलेशों की निवृत्ति में परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि होती है। और जो उपासनापरक वेदान्त उसको स्ववाक्यगत (प्राप्त) उपासनार्थकत्व में कोई विरोध नहीं है, परन्तु ब्रह्म को प्राणादि के समान उपासना विधि के शेषत्व (अगत्व) का सम्भव नहीं है (अर्थात् वेदान्त से अनुभूत ब्रह्म उस ज्ञानी के लिये उपास्य रूप से विधेय नहीं हो सकता है क्योंकि एकत्व के निश्चय से सत्य एकत्व के होने पर हेय और उपादेय की शून्यता से

क्रियाकारकादि द्वैत के विज्ञानों के उपमर्द (नाश) की सिद्धि होती है, सत्य द्वैत नहीं भासता है, और एकत्व विज्ञान से विनाशित द्वैत विज्ञान का फिर सम्भव (सिद्धि) नहीं हो सकता, कि जिस द्वैत विज्ञान रूप कारण की सत्ता से ब्रह्मसम्बन्धी उपासना विधि की शेषता का वेदान्त से प्रतिपादन किया जाय । यद्यपि ब्रह्मबोधक वेदान्त से अन्यत्र वेदवाक्यों की विधि-सम्बन्ध के विना प्रमाणता नहीं देखी गई है । तथापि आत्मविज्ञान की फलपर्यन्तता (मोक्षप्रापकता) से आत्मज्ञानविषयक शास्त्र की प्रमाणता विधि-सम्बन्ध के अभावादि से प्रत्याख्यान (निषेध) के योग्य नहीं है । शास्त्र की प्रमाणता अनुमान से ज्ञेय नहीं है, जिससे वह अन्य कहीं दृष्ट दृष्टान्त नामक निदर्शन की अपेक्षा करे, क्योंकि नेत्रादि के समान शास्त्र अपने विषय में स्वतः (निरपेक्ष) प्रमाण है, उससे समन्वित शास्त्र प्रमाण का विषयत्व ब्रह्म को सिद्ध हुआ । इस पूर्व कथन से सिद्धार्थ में भी पद की शक्ति ज्ञान को मानने वाले ब्रह्म को नहीं मानने वाले के मत का खण्डन वेदान्त की ब्रह्म परता दिखला कर किया गया है । आगे कार्यसम्बन्ध पदार्थ में ही पदों की शक्ति माननेवालों की चर्चा होगी ।

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधि-विषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते । यथा यूपाहवनीयादीन्यलीकिकान्यपि विधि-शेषतया शास्त्रेण समर्प्यन्ते तद्वत् । कुत एतत् ? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य ।

इस वेदान्तवेद्यत्व कथन में अन्य कोई प्रतिवादिरूप से उपस्थित होते हैं, और पूर्व-पक्ष करते हैं कि यद्यपि शास्त्ररूप प्रमाणवाला ब्रह्म है, प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है, तो भी उस ब्रह्मविषयक ज्ञान उपासनारूप प्रतिपत्ति की विधि के विषय रूप से ही शास्त्र द्वारा भी ब्रह्म समर्पित (बोधित) होता है, जैसे कि यूप आहवनीय आदि पदार्थ लोक में अप्रसिद्ध हैं, तो भी विधि के अंगरूप से शास्त्र से बोधित होते हैं, अर्थात् (यूपे पशुं बध्नाति आहवनीये जुहोति, इन्द्रं यजेत) इन विधियों में वे यूपदि कौन पदार्थ हैं ऐसी आकांक्षा होने पर (यूपं तक्षति, अग्नीनादधीत, वज्रहस्तः पुरन्दरः) इत्यादि विधिपरक वाक्यों से जैसे पशुबन्धन के हेतु स्तम्भ विशेष का आहवन के स्थान अग्नि का पूज्य विशेष देव वज्रधारी का बोध होता है, वैसे ही (तद्विजिज्ञासस्व) इत्यादि विधि के अंग रूप से ही (सत्यम्) इत्यादि सिद्धार्थक वाक्य ब्रह्म का बोध कराते हैं, अन्यथा अप्रसिद्धार्थक होने से उनसे ब्रह्म का बोध भी नहीं हो सकेगा, यदि कोई कहे कि विधिशेषता से ही क्यों बोधक शास्त्र होता है, तो प्रवृत्ति या निवृत्ति शास्त्र का प्रयोजन होता है, अर्थात् श्रेयः की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति का, अनिष्ट से निवारण के लिए निवृत्ति का शास्त्र विधान करता है, इसके बिना उसमें अनर्थकता की प्राप्ति होती है ।

तथाहि शास्त्रतात्पर्यविद आहुः—‘दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्’ इति । ‘चोदने’तिक्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् । ‘तस्य ज्ञानमुपदेशः’ (जै० सू०

१।१।५) 'तद्भूताना क्रियार्थेन समाम्नाय' (जे० सू० १।१।२५) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शनाम्' (जे० सू० १।२।१) इति च । अतः पुरुषं क्वचिद्विषयविशेषे प्रवर्तयत्कुनश्चिद्विषयविशेषान्निवर्तयन्नार्थवन्च्छाश्वम् तच्छेषतया चान्यदुपयुक्तम् । तत्सामान्याद्वेदान्तानामपि तथैवार्थवत्त्वं स्यात् । सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादिसाधन विधीयत एवममृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञान विधीयत इति युक्तम् ।

इसीसे तो—उक्त प्रवृत्ति-निवृत्तिप्रयोजनता को शास्त्र के तात्पर्यज्ञ भी कहते हैं कि कर्म (क्रिया-कार्य-नियोग-विधि-धर्म) का अवबोधन (उपदेशन) ही शास्त्र वेद का प्रयोजन देना गया है । तथा क्रिया के प्रवर्तक (साधक) वचन को बोधना शब्द से कहा जाता है । उस धर्म का ज्ञान (ज्ञापक) विधि वाक्य उपदेश कहता है । 'तद्भूताना' उस-वेदगनभूतार्थक (सिद्धार्थक) पदों का क्रियार्थक पद के साथ 'समाम्नाय' उच्चारण कर्तव्य है और आम्नाय (वेद) क्रियार्थक है, इससे क्रियारहित को अनर्थकता है इत्यादि । इसमें पुरुष को किसी विषय विशेष (इष्टोपाययोगादि) में प्रवृत्त करता हुआ, या किसी विषयविशेष (अनिष्टसाधन हिंसादि) से निवृत्त कराता हुआ ही शास्त्र सायंक होता है, और उस विधि-निषेध रूप सायंक शास्त्र के शेष (अग) रूप से अन्य अर्थवादादि रूप सिद्धार्थक वचन उपयुक्त (उपयोगी-सफल) होते हैं । इस प्रकार के उस कर्म शास्त्र के साथ तुल्यशास्त्रता से वेदान्त को भी उसी के समान प्रवर्तकत्व-निवर्तकत्व-उदङ्गत्व रूप से ही सायंकत्व होगा । इस प्रकार वेदान्त का विधि (क्रिया) परकत्व (क्रियाबोधकत्व) सिद्ध होने पर जैसे स्वर्गादि की इच्छावालों के लिये अग्निहोत्रादि साधनों का शास्त्र से विधान किया जाता है, उसी प्रकार अमृतत्व (मोक्ष) की कामना वालों के लिये ब्रह्मज्ञान का विधान किया जाता है । ऐसा होना ही युक्त (उचित) है । क्रिया में प्राप्त भी अमृतत्व अमृत (अविनाशी) ही रहेगा यह भाव है ।

नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यमुक्तम्—कर्मकाण्डे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः, इह तु भूत नित्यनिवृत्तं ब्रह्म जिज्ञास्यमिति । तत्र धर्मज्ञानफलादनुष्ठानापेक्षाद्विलक्षणं ब्रह्मज्ञानफलं भवितुमर्हति । नार्हत्येव भवितुम् । कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मज्ञानः प्रतिपाद्यमानत्वात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' (बृ० २।४।५) इति । 'य आत्मा-अहतपाप्मा-सौख्येष्टव्यं स विजिज्ञासितव्य' (छा० ८।७।१) 'आत्मेत्येवोपा-सीत' (बृ० १।४।७) 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० १।४।१५) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इत्यादिविधानेषु सत्सु 'कोऽप्यावात्मा किं तद् ब्रह्म' इत्याकाङ्क्षाया तत्त्वरूपममर्पणेन सर्वे वेदान्ता उपयुक्ता—'नित्य सर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्येवमादयः ।

उक्त विधिविषयक शङ्का होनी है कि इस धर्म और ब्रह्म जिज्ञासा के सूत्रकारों ने वेद में जिज्ञास्य (विचारार्ह) वस्तु का वैलक्षण्य (भिन्नता) कहा है, कि कर्मकाण्ड वेद में धर्म जिज्ञास्य है, और इस वेदान्त में तो भूत (सिद्ध) नित्यनिवृत्त (नित्यसिद्ध)

ब्रह्म जिज्ञास्य है, यह भेद है। वहाँ कर्मानुष्ठानपूर्वक होने वाले धर्म के फलों से विलक्षण ब्रह्मज्ञान का फल होना चाहिये, अर्थात् कर्मफल अनुष्ठान साध्य है इससे अनुष्ठान के लिये विधि की आवश्यकता है। यहाँ ज्ञानमात्र से नित्यमिद्व मोक्ष की प्राप्ति होती है। इससे विधि की आवश्यकता नहीं है, इस शङ्का का उत्तर है कि ऐसा हो नहीं सकता है, क्योंकि कार्य के विधिप्रयुक्त (निमित्तिक) ही ब्रह्म प्रतिपादित है कि अरे (मैत्रेयि), आत्मा ही द्रष्टव्य है (अर्थात् आत्मज्ञान के लिये आत्मोपासना-आत्मचिन्तना करो) इसी प्रकार जो पापरहित आत्मा है वह अन्वेषणीय है, उसका अन्वेषण (ध्यानादि) करो। वह विचारणीय है, विचार करो। प्राणादि आत्मस्वरूप ही है इस प्रकार उपासना-चिन्तना करे। आत्मा की ही ज्ञानात्मक लोक (प्रकाश) रूप से उपासना करे। ब्रह्म को जानने वाला (उपासना करने वाला) ब्रह्म होता है। इत्यादि विधि वाक्यों के रहने पर आकांक्षा (जानने की इच्छा) होती है कि वह आत्मा कौन वस्तु है ? ब्रह्म क्या है ? तो उनके स्वरूपों के बोधन द्वारा सब वेदान्त उपयुक्त (सफल) होते हैं कि नित्य सर्वज्ञ सर्वगत (व्यापक) नित्यतृप्त नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध नित्यमुक्त स्वभाव वाला आत्मा है, विज्ञानानन्द स्वरूप ब्रह्म है, इत्यादि।

तदुपासानाच्च शास्त्रदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति । कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे तु वस्तुमात्रकथने हानोपादानासम्भवात्, 'सप्तद्वीपा वसुमती, राजाऽसौ गच्छती'त्यादिवाक्यवद्वेदान्तवाक्यानामानर्थक्यमेव स्यात् । ननु वस्तुमात्रकथनेऽपि 'रज्जुरियं नायं सर्प' इत्यादी भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं दृष्टम्, तथेहाप्यसंसार्यात्मकवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेनार्थवत्त्वं स्यात् । स्यादेतदेवं, यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः, संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तते । ननु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारित्वधर्मदर्शनात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (वृ० २।४।५) इति च श्रवणोत्तरकालयोर्मनननिदिध्यासनयोर्विधिदर्शनात् तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति ।

उक्त रीति से नित्यादि स्वरूप उस ब्रह्मात्मा की उपासना से शास्त्र से ज्ञात और प्रत्यक्षादि से अज्ञात मोक्षरूप फल होगा, एवं कर्तव्य (उपासना) विधि में शेष (अंग) रूप से सिद्धार्थक वेदान्त-वाक्यों का अनुप्रवेश (सम्बन्ध-गति) नहीं होने पर और वस्तुमात्र को कहने पर तो, त्याग वा ग्रहण रूप क्रिया के असंभव से, 'सात द्वीप वाली भूमि है, यह राजा जाता है' इत्यादि निरर्थक वाक्यों के समान वेदान्त-वाक्यों को भी निरर्थकता प्राप्त होगी। यहाँ शंका होती है कि, भ्रान्त पुरुष के प्रति कहा जाता है कि यह रस्ती है, सर्प नहीं है, इत्यादि, तो वहाँ वस्तु मात्र के कहने से भी भ्रमजन्य भय की निवृत्ति द्वारा उस सिद्धार्थ कथन की सार्थकता देखी गयी है। इसी प्रकार इस वेदान्त में भी असंसारी आत्मवस्तु के कथन से संसारित्व-भ्रान्ति की निवृत्ति द्वारा

अथर्वत्व हो सकता है। उत्तर है कि-यह वेदान्त की सायंकता उक्त रीति से ही सक्ती-यदि रस्सी के स्वरूप का श्रवण होने पर जैसे सर्प की भ्रान्ति निवृत्त होती है, वैसे ही ब्रह्म का स्वरूप मात्र के श्रवणमात्र से ससारित्व-भ्रान्ति निवृत्त हो जाती, परन्तु श्रवणमात्र से नहीं निवृत्त होती है, क्योंकि वेदान्त वाक्यों के द्वारा ब्रह्म के श्रवण-वालों को भी श्रवण से पूर्व के समान ही मुख-दुःखादि रूप ससारीधर्म देखे जाते हैं, (ध्यान) की विधि के देखने में भी सिद्ध होता है कि श्रवणमात्र से ससारित्व-भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है, अथवा उनकी विधि व्यर्थ होगी। उससे उपामना विधि के विषय रूप में ही शास्त्रप्रमाणक (शास्त्रप्रमाणबोध्य) ब्रह्म मानने योग्य है। यह पूर्वपक्ष है।

अथाभिधीयते । न । कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात् । शारीर वाचिक मानस च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्ध धर्माख्य, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जे० सू० १।१।१) इति सूत्रिता । अधर्मोऽपि हिमादि प्रतिषेधचोदनालक्षण-त्वाज्जिज्ञास्य परिहाराय । तयोश्चोदनालक्षणयोरन्यार्थयोर्धर्माधर्मयो फल प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसयोगजन्ये ब्रह्मादिपु स्थावरान्तपु प्रसिद्धे ।

उक्त पूर्वपक्षी भी मोक्ष को अमृत (नित्य) मानते हैं, अन्यथा कार्यता से अनित्यता की प्राप्ति होगी। वहाँ नित्य सिद्ध ज्ञान से अभिव्यक्तिमात्र ही सक्ती है, कर्मोपासना से उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती, इस आशय से सिद्धान्ती कर्मफल का अनित्यत्वादि जड़त्वाने के लिये कहते हैं कि इस उक्त विषय में इस प्रकार कहा जाता है कि विधि का विषय ब्रह्म नहीं है, क्योंकि कर्म और ब्रह्म विद्या के फल में विलक्षणता है, कायिक-वाचिक और मानस कर्म श्रुतिस्मृति से सिद्ध धर्म नामक है, जिन कर्मों के विषय में जिज्ञासा (अथातो धर्मजिज्ञासा) इस सूत्र से सूचित (सूचित-बोधित) हुई है। सूत्र का अर्थ है कि वेदाध्ययन के बाद वेद के सायंक होने से पाठमात्र से पुण्यप्रद मात्र ही नहीं होने से वेदाद्य धर्म का विचार करना चाहिये और अधर्म भी हिंसादिक निषेध विधि से लक्षित हैं, अर्थात् वेदादि में जिन कर्मों का निषेध है, वे अधर्म कहते हैं, वे भी त्यागने के लिये विचारार्ह हैं, और विधि-प्रतिषेध रूप चोदनात्मक लक्षण वाले अर्थ (पुण्य) अनर्थ (पाप) रूप उन धर्म और अधर्मों के प्रत्यक्ष सुख दुःख रूप जो फल शरीर, वाक्, मन स ही भोगे जाते हैं, विषय और इन्द्रियों के संयोग से अन्य वे सुख दुःख रूप फल ब्रह्म से स्थावर तक शरीरियों में प्रसिद्ध है।

मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुभूयते । ततश्च तद्वतो-धर्मस्य तारतम्य गम्यते । धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम् । प्रसिद्ध चाशित्व-सामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम् । तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधि-

विशेषादुत्तरेण पथा गमनं, केवलैरिष्टा^१पूर्तदत्तसाधनैर्धूमादिक्रमेण दक्षिणेन पथा गमनं तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् । 'यावत्सम्पातमुपित्वा', (छा० ५।१०।५) इत्यस्माद् गम्यते ।

उक्त प्रसिद्ध अनुभव के अनुसार ही मनुष्यत्व से आरम्भ करके ब्रह्मापर्यन्त देहधारियों में सुख का तारतम्य (न्यूनाधिक भाव) (स एको मानुष आनन्दः । तै० आ० २।८।१) इत्यादि श्रुतियों से सुना जाता है, उससे उन सुख के हेतु धर्मों में भी न्यूनाधिक भाव अनुमानादि से समझा जाता है, और धर्म के न्यूनाधिक भाव से उसके अधिकारियों में न्यूनाधिकता समझी जाती है । एवं अर्थत्व (फलेच्छा) सामर्थ्य (शक्ति) आदि के भेद से सिद्ध अधिकारियों के न्यूनाधिक भाव लोक में प्रसिद्ध भी हैं । इसी प्रकार यागादि कर्मों के अनुष्ठान (आचरण) करने वालों में ही किसी की विद्या (उपासना) में समाधि (चित्त की स्थिरता) विशेष से श्रुतिवर्णित अग्नि आदिरूप उत्तर मार्ग से गति है, और उस मार्ग से ब्रह्मलोक में जाता है । तथा उपासना रहित केवल अग्निहोत्रादि रूप इष्ट (वैदिक कर्म) और वापी कृपादि का संपादन रूप पूर्त (स्मार्तकर्म) एवं शरणागत की रक्षादि रूप दत्तकर्म रूप साधनों से धूमादि क्रम-वाले दक्षिण मार्ग से चन्द्रलोकादि में गति होती है और उस चन्द्रादि लोको में भी सुख और सुख के साधनों का न्यूनाधिक भाव (यावत्संपातमुपित्वा) इस श्रुति से ज्ञात होता है । (संपत्ति, गच्छति परलोकमनेनासी संपातः) जिससे परलोक में जाय उस कर्म को संपात कहते हैं । वह कर्म जब तक रहता है तब तक वहाँ रह कर फिर लौटता है, यह श्रुति का अर्थ है ।

तथा मनुष्यादिपु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवश्चोदनालक्षणधर्मसाध्य एवेति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः । तथोर्ध्वगतेष्वधोगतेषु च देहवत्सु दुःखतारतम्यदर्शनात्तद्वेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायितां च तारतम्यं गम्यते । एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुखदुःखतारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम् । तथा च श्रुतिः- 'न ह वै सगरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति यथार्णितं संसाररूपमनुवदति । 'अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छा० ८।१२।१) इति

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।

आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥

वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।

अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् ।

वहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते ॥

प्रियाप्रियस्पर्शप्रतिषेधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्व मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रलिपिष्यत इति गम्यते । धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शानप्रतिषेधो नोपपद्यते ।

इसी प्रकार मनुष्यो से लेकर नारकी और स्थावर पर्यन्त में जो सुख का लेश (अश) है सो न्यूनाधिकरूप से वर्तमान सुख में विधिरूप लक्षणवाले धर्म से ही साध्य है, इस प्रकार समझा जाता है । इसी प्रकार ऊर्ध्व स्वर्गादिगत और अधोगत देहधारियों में दुःख की न्यूनता अधिकता के देखने (समझने) से उस दुःख के हेतु और प्रतिषेध-विधिरूप लक्षण वाले अधर्मों की तथा उनके अनुष्ठाता (कर्ताओं) की न्यूनता-अधिकता ज्ञात होती है । इस प्रकार अविद्यादि दोष (क्लेश) वालों के धर्माधर्म के न्यूनाधिक्य निमित्तक शरीरो का ग्रहणपूर्वक जो सुखदुःख का न्यूनाधिक भाव है वही अनित्य ससार स्वरूप है और श्रुति-स्मृति तथा न्याय (अनुमान) से प्रसिद्ध है वैसी ही श्रुति है कि शरीर सहित सत्यात्मा जीव के सुख और दुःख की निवृत्ति (नाश) नहीं होनी है, इस प्रकार पूर्ववर्णित ससार के स्वरूप का श्रुति अनुवाद करती है और शरीररहित सत्यात्मा को सुखदुःख स्पर्श में नहीं करते हैं । इस प्रकार मोक्षावस्था में विषयजन्य सुखदुःख के स्पर्श का भी निषेध होने से मोक्ष नामक शरीराहित्य की विधिरूप धर्म-कार्यत्व का निषेध किया जाता है यह बात समझी जाती है—अनुमित होती है, क्योंकि मोक्ष को धर्म-कार्यत्व के रहते सुखदुःख का निषेध नहीं बन सकता है, पूर्ववर्णित श्रुति से सर्वधर्मकार्य सुखादि युक्त होते हैं ।

अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेन्न । तस्य स्वाभाविकत्वात् । 'अशरीर शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा शरीरो न शौचितम् ।' (कठ० १।२।२१) 'अप्राणो ह्यमना शुभ्र' (मुण्ड० २।१।२) 'असङ्गो ह्यप्यपुष्प' (वृ० ४।३।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अत एवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षण मोक्षाख्यमशरीरत्व नित्यमिति सिद्धम् । तत्र किञ्चित्परिणामि नित्यं यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते । यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादिनाम् । यथा च साख्यानां गुणा । इदं तु पारमार्थिक कूटस्थ नित्य व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहित नित्यतम निरवयव स्वयज्योति स्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते ।

सका होती है कि शरीररहित होने पर सुखदुःख स्पर्श नहीं होता है, यह ठीक है, परन्तु वह शरीरशून्यता ही उपासनादिरूप विलक्षण धर्म का कार्य है, और उस उपासनादि विधि के दोष रूप से ब्रह्म का ज्ञान होता है । उत्तर है कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उस मुक्त स्वरूप आत्मनिष्ठ शरीरशून्यता को स्वाभाविकता है, स्वभाव से ही सर्वात्मा शरीर-अभ्वन्ध से रहित है, भ्रम में उसमें शरीर भासता है, भ्रम की निवृत्ति के लिए ज्ञान चाहिये, धर्म नहीं । श्रुति कहती है कि शरीर में शरीररहित अनवस्थित (विनश्वर) शरीरादि में स्थिर (नित्य) महान् विभु आत्मा को साक्षात् करके जानी शोक नहीं करता है, इस ज्ञान के लिए उपासनादि का निवारण

नहीं किया जाता है। यह आत्मा प्राण और मन के संगति से भी रहित है। यह असंग पुरुष आत्मा है, इत्यादि श्रुतियों से स्वामाविक अशरीरी आत्मा सिद्ध होता है। इसीसे कर्तव्य कर्मफल से विलक्षण मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यह सिद्ध होता है। उस नित्य के भी दो भेद होते हैं, कोई वस्तु परिणामी नित्य होती है, अर्थात् धर्म, लक्षण (काल) अवस्था के भेद से स्वरूप को अन्यथा करने वाली होती है, जिसके विक्रियमाण (विकारयुक्त अन्यथा स्वरूप) होने पर भी वही वस्तु यह है, इस बुद्धि की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे की जगत् को नित्य कहने वालों के मत में पृथिवी आदि परिणामी नित्य हैं और सांख्यशास्त्र को मानने वालों के मत में सत्त्वादि रूप तीनों गुण परिणामी नित्य है, परन्तु यह शरीररहित रूप मोक्ष नामक नित्यत्व ही पारमार्थिक (सत्य) है, परिणामी नित्यत्व कल्पनामात्र है। एवं यह मोक्ष कूटस्थ (निर्विकार) नित्य, आकाशतुल्य सर्वव्यापी है। अत एव धर्मादिकृत सब विकारों से रहित, नित्यतृप्त निरवयव और स्वयंप्रकाश स्वभाववाला है, इससे ही धर्म से साध्य भी नहीं होने से जिसमें कार्यों के सहित धर्म और अधर्म कभी नहीं रहते हैं, न तीन काल का सम्बन्ध होता है, इससे भूत-भावतादि नहीं होते हैं इत्यादि।

तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृता-कृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च' (कठ० २।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतस्तद् ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता। तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेनोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्रैवं सति यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु। कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्यत। नित्यश्च मोक्षः सर्वमोक्षवादिभिरभ्युपगम्यते, अतो न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः।

यह पूर्वोक्त मोक्ष नामक अशरीरत्व (सर्वशरीररहित) धर्म से अन्य, अधर्म से अन्य, इस कार्य और कारण से अन्य, भूत, भावी वर्तमान से अन्य है इत्यादि श्रुत्यर्थ से सिद्ध होता है। और इन श्रुतियों से तथा कूटस्थतादि से वह अशरीरत्व ही ब्रह्म है जिसकी यह जिज्ञासा प्रस्तुत (आरब्ध) है। वह ब्रह्म यदि कर्तव्य उपासनादि के शेष (अंग) रूप से उपदिष्ट हो, अर्थात् कार्य के शेष रूप से यदि उसका उपदेश दिया जाय और उस कर्तव्य उपासनादि धर्म से यदि मोक्ष साध्य (जन्य) माना जाय, तो वह मोक्ष अनित्य ही होगा। और सभी मोक्षवादियों से मोक्ष नित्य माना जाता है। इसलिये कर्तव्य के शेष रूप से ब्रह्म का उपदेश होना युक्त (उचित) नहीं है।

अपि च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।१।९) 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।१।८) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'न विभेति

१ परं च अवरं च परावरम्। अथवा परमपि यस्मादवरम् इस प्रकार विग्रह भेद से यह भी अर्थ होता है कि अन्य से पर भी हिरण्यगर्भादि, जिससे अवर है इत्यादि।

कुतश्चन' (तेजि० २।९) 'अभय वै जनक । प्राप्नोऽसि' (वृ० ४।२।४) 'तदात्मान-
मेवावेदह ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्' (वाजसनेयिब्राह्मणोप० १।४।१०),
'तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत' (ईशा० ७) इत्येवमाद्या श्रुतयो
ब्रह्मविद्यानन्तर मोक्ष दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तर वारयन्ति ।

और जो ब्रह्म को साक्षात्कार करता है, वह ब्रह्म (मुक्त) हो जाता है ।
परावर (कारण-कार्य स्वरूप सर्वाधिष्ठान) उस परब्रह्म के साक्षात्कार होने पर
इस विद्वान् के प्रारब्ध से मिश्र सब कर्म नष्ट हो जाने हैं । ब्रह्मानन्द को जानने वाला
किसी से मयभीत नहीं होता है । हे जनक ! तुम अभय को प्राप्त हो चुके हो । यह
जीव प्रथम ब्रह्म ही था, और है, अज्ञान से जीवत्व को प्राप्त सा हुआ है । गुरु उपदेश
से जब वह ब्रह्मस्वरूप अपने को समझा कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उससे वह ब्रह्म ही हो गया ।
एक आत्मतत्व को समझने वाली में उस ज्ञान काष्ठ में कौन मोह और शोक रह सकते
हैं, मूल सहित इनका अभाव हो जाता है । इस प्रकार कहने वाली श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के
अव्यवहित उत्तरकाल में मोक्ष दिखलाती हुई ज्ञान और मोक्ष के मध्य में कार्यान्तर का
वाग्न करती हैं ।

यथा 'तद्वैतत्पश्यन्पिर्वाग्देव प्रतिपेदेऽहं मनुरभव सूर्यश्च' (वृ० १।४।१०)
इति ब्रह्मदर्शनमर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरस्वारणायोदाहार्यम् । 'यथा
तिष्ठन् गायतीति तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तर नास्तीति गम्यते ।
'त्व हि न पिता योऽस्माकमविद्याया पर-पार तारयति' (प्रश्न० ६।८) 'श्रुतं
ह्येव मे भगवद्दूशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदि'ति 'सोऽहं भगव शोचामि तन्मा
भगवाञ्छोकम्य पर पार तारयतु' (छा० ७।१।३) 'तस्मै मृदितरूपायाय तममः
पर पार दर्शयति भगवान् मनत्कुमार' (छा० ७।१।६।२) इति चैवमाद्याः
श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फल दर्शयन्ति ।

इसी प्रकार उस ब्रह्म को इस अन्तरात्मस्वरूप से अपरोक्षानुभव करते हुए वाग्देव
ऋषि ने अपने को सर्वात्मिस्वरूप से इस प्रकार अनुभव किया कि मैं ही मनु और सूर्यादि
रूप से हुआ और हूँ । इससे ब्रह्मानुभव और सर्वात्मभाव मोक्ष के मध्य में
कार्यान्तर के अभाव के लिए यह श्रुति उदाहरणयोग्य है । जैसे कि 'खड़ा होता हुआ
गाता है' इस कथन से खड़े होने और गाने के बीच में उस पुरुषकृत कार्यान्तर नहीं
है, ऐसी प्रतीति होनी है । मारद्वाजादि ऋषियों ने पिप्पलाद गुरु के प्रति कहा कि आप
ही हम सब के पिता हैं, जो आप-हम सबको अविद्यात्मक ससार-सागर से पर पार
में पहुँचाते हैं । नारद जी ने मनत्कुमार जी से कहा कि भगवत्तुल्य ज्ञानियों से यह
वचन मुझे श्रुत है कि आत्मज्ञ, शोकरहित हो जाता है । यह तत्त्व मुझे अनुभूत
नहीं है । हे भगवन् इससे वह अज्ञ मैं शोकमुक्त हूँ, उस अज्ञ मुझको ज्ञान नाव द्वारा
शोकात्मक ससार से पार कर दो । तप आदि द्वारा विनाशित दोष वाले उस नारद

को भगवान् सन्तुष्टः ने अविद्या रूप तम से परत्तत्त्व को दर्शाया । इत्याद्यर्थक श्रुतियाँ भी मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्तिमात्र को ही आत्मज्ञान का फल दर्शाती हैं ।

तथा चाचार्यप्रणीतं न्यायोपवृंहितं सूत्रम्—‘दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः’ (न्या० सू० १।१।२) इति । मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति । न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्पद्रूपम् । यथा ‘अनन्तं वै मनोजनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति’ (वृ० ३।१।९) इति । न चाध्यासरूपम् यथा ‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’ (छा० ३।१।८।१) ‘आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः’ (छा० ३।१।९।१) इति च मन आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः ।

मोक्ष के लिये अज्ञान की निवृत्ति में केवल श्रुति ही नहीं प्रमाण है किन्तु गीतमाचार्यप्रणीत (रचित) न्याययुक्त सूत्र भी इस अर्थ में प्रमाण है, सूत्र का अर्थ है त्रिविध या एकविजति प्रकार के दुःख, जन्म, प्रवृत्ति (धर्माधर्म), दोष (रागद्वेष-लोभेर्ष्यादि) और मिथ्या ज्ञान (अविद्या भ्रम) इनमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के कारण हैं, इससे उत्तर-उत्तर की निवृत्ति से पूर्व-पूर्व के अन्नाव से अपवर्ग (मोक्ष) होता है, अर्थात् मिथ्याज्ञानादि की क्रम से निवृत्ति द्वारा दुःख की सर्वथा निवृत्ति ही मोक्ष है । यद्यपि उक्त आचार्य के मत में भिन्नात्म ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति मानी गई है, तथापि श्रुति के अनुसार ब्रह्मात्मा के एकत्व के विज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है । यदि कोई कहे कि यह एकत्वज्ञान सत्यवस्तुविषयक नहीं है, जिससे अज्ञान की निवृत्ति द्वारा मोक्ष हो सके, किन्तु सम्पदादि रूप है, अर्थात् जैसे मन की वृत्तियाँ अनन्त हैं, और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, वहाँ इस अनन्तता रूप तुल्यता से हीन मन में उत्तम विश्वेदेवरूपता का संपादन (संकल्प) करके और उस मन को नहीं समझ कर उस रूप से विश्वेदेव के चिन्तन को सम्पत् कहा जाता है, ऐसा ही ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान है, चिद्रूपता को तुल्यता से जीव को उत्तम ब्रह्मरूप मान कर ब्रह्म का चिन्तन है, उस रूप में विश्वेदेव के चिन्तन को सम्पत् कहा जाता है, ऐसा ही ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान है, चिद्रूपता की तुल्यता से जीव को उत्तम ब्रह्मरूप मान कर ब्रह्म का चिन्तन है, अथवा जैसे मन की ब्रह्मरूप से वांमूर्य की ब्रह्म रूप से उपासना विधि है, आदेश (उपदेश) है वहाँ हीन का ही उत्तम रूप से चिन्तन होता है, ब्रह्म को न समझ कर मन को ब्रह्म समझा जाता है, वह अव्यात्मक प्रतीकोपासना है, ऐसे ही ब्रह्मभिन्न जीव को उत्तम ब्रह्मरूप से अव्यासात्मक ज्ञान है, और उक्त सम्पदुपासना का जैसे अनन्त लोक की प्राप्ति फल है वैसे ही इसका भी अमृतत्व की प्राप्ति फल है इत्यादि । वहाँ कहा जाता है कि यह ब्रह्म आत्मा की एकता का विज्ञानसम्पत् रूप वा मन आदि में जैसा ब्रह्म दृष्टि का अध्यास किया जाता है, वैसा अध्यास रूप नहीं है । सम्पद्वा अध्यासरूपता के अन्नाव में आगे हेतु कहे जायेंगे ।

नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम्, ‘वायुर्वाव संवर्गः’ ‘प्राणो वाव संवर्गः’ (छान्दो० ४।३।१) इतिवत् । नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत्कर्माङ्गसंस्काररूपम्, संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने ‘तत्त्वमसि’ (छान्दो०

६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० १।८।१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० २।५।१९) इत्येवमादीनां वागवाता ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्राप्तिपादनपरं पदसमन्वयं पोष्येत । 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' (मुण्ड० २।२।८) इति चैवमादीन्य-विद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपगृह्येरन् । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० ३।२।९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि सम्पदादिपक्षे न सामञ्जस्येनोपपद्येरन् ।

इसी प्रकार यदि कोई कहे कि जैसे प्रलयकाल में वायु देव, अग्नि जलादि देव का सवरण नहरण करके उन्हें अपने में स्थिर करता है, तथा मुमुक्षु और प्रलयकाल में प्राण भी वागादि इन्द्रियों को अपने में सहरण करता है इससे श्रुति में वायु और प्राण की सवरण क्रिया (व्यापार) विशेष के योग से सर्वग कहा गया है, वैसे ही जीव में वृहण (वृद्धि) क्रिया के योग सम्बन्ध से जीव को ब्रह्म कहा गया है, या 'पत्न्यावेक्षित-माज्यं भवति' इस वचन के अनुसार जैसे यज्ञ में यजमान की पत्नी से देखा गया घृत सस्वृत होता है वैसे ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादि से विहित दर्शन द्वारा आत्मा यत्नादि के लिये सस्वृत (शुद्ध) होता है, इससे कर्माङ्ग ही आत्म-ज्ञान है इत्यादि । तब कहा जाता है कि सर्वग के समान विशिष्ट क्रिया सम्बन्ध निमित्तक वा आज्यावेक्षण (घृतदर्शन) आदि के समान भी यह ब्रह्मात्मा को एकता का दर्शन नहीं है । क्योंकि सम्पदादिरूप ब्रह्मात्मा के एकत्व ज्ञान को मानने पर, 'वह तू ही है, मैं ब्रह्म हूँ यह आत्मा ब्रह्म है' इस प्रकार कहने वाले सब वाक्यों के ब्रह्मात्मा की एकात्मक वस्तु का प्रतिपादन विषयक जो पक्षों का सम्यक् अन्वय (सम्बन्ध) है, वह नष्ट हो जायगा । और आत्म ज्ञान से हृदय की कामादि ग्रन्थि (बन्धन) सब टूट जाती हैं—सब संशय नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार ज्ञान मात्र में जविद्या की निवृत्ति रूप फल श्रवण सब उपरुद्ध (बाधित-भिन्ना) हो जायेंगे और ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है, इस प्रकार के ज्ञान से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बोधक वचन सब सम्पदादि पक्ष में सामञ्जस्य (न्याय) उचित रूप से नहीं सिद्ध होंगे ।

तस्मान्न सम्पदादिरूप ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम् । अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या । किं तर्हि ? प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा । एव-भूतस्य ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च न कदाचिद्युक्त्या शक्यं कार्यानुप्रवेशं कल्प-यितुम् । न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मण, 'अन्यदेव तद्विदिता-दयोऽविदितादधि' (केन० १।३) इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिपेक्षात्, 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृह० २।४।१३) इति च । तथोपा-स्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिपेक्षोऽपि भवति—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्य-विषयत्व ब्रह्मण उपन्यस्य, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' (केन० १।६) इति ।

“उक्त हेतुआ से ब्रह्मात्मा की एकता का ज्ञान सम्पदादि चारों में से किसी रूप में नहीं

है, इसीसे पुरुष के व्यापाराधीन भी ब्रह्म विद्या नहीं है। तो क्या नित्य है ? ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय जो वस्तु उनके ज्ञानों के समान ब्रह्मविद्या भी वस्तुतन्त्र (अधीन) है। इस प्रकार के ब्रह्म और उसके ज्ञान को किसी भी युक्ति से कार्य के साथ समन्वय की कल्पना नहीं हो सकती है। ज्ञानक्रिया के कर्म रूप से भी ब्रह्म का किसी कार्य के साथ समन्वय नहीं हो सकता है, ज्ञान का भी कर्म नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति कहती है कि 'वह ब्रह्म विदित (ज्ञात-कार्यादि) और अविदित (कारणादि) से अधि (उपरि-अन्य) है'। अर्थात् व्याकृत नाम रूप और अव्याकृत प्रकृति से अन्य स्वयं प्रकाश है। इससे ज्ञानक्रिया की कर्मता का निषेध होता है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि जिस आत्मप्रकाश से लोग इस सब दृश्य वस्तु को जानते हैं, उसे किस साधन से जानेंगे। इससे भी ज्ञानक्रिया की कर्मता का निषेध ही किया गया है। इसी प्रकार उपास्ति (उपासना) क्रिया की कर्मता का ब्रह्म में निषेध है, जो ब्रह्म वाक् इन्द्रिय से अम्युदित (प्रकाशित-कथित) नहीं होता और जिस ब्रह्म से वाक् प्रकाशित प्रेरित होती है। इस प्रकार ब्रह्म को इन्द्रियों को अविषयता का कथन करके कहा है कि उसी अविषय स्वरूप ब्रह्म को तुम समझो, ये जो इन्द्रियों के विषय पदार्थ प्रसिद्ध हैं, जिनकी उपासना की जाती है, उन्हें ब्रह्म नहीं समझो क्योंकि जिनकी उपासना की जाती है वे ब्रह्म नहीं हैं, इत्यादि।

अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत् । न । अविद्याकल्पित-भेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य । न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति । किं तर्हि ? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयनया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदनिवृत्तिवेदनादिभेदमपनयति । तथाच शास्त्रम्—'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञानं विज्ञानतां विज्ञानमविज्ञानताम्' (केन० २।३), 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' 'न विज्ञातेविज्ञातारं विजानीयाः' (बृह० ३।४।२) इति चैवमादि । अनोऽविद्याकल्पितसंभारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः ।

यहाँ शंका होती है कि यदि ब्रह्म वाक् का अविषय है, उसका शब्द से ज्ञान नहीं होता है, तो पूर्ववर्णित शास्त्रप्रमाणगम्यत्व रूप शास्त्रयोनित्व की अप्रसिद्धि होती है ? उत्तर है कि शास्त्रप्रमाणकत्व की असिद्धि नहीं होती है, क्योंकि अविद्या से कल्पित (मिथ्याभासित) जो भेद उसकी निवृत्ति परक शास्त्र है, वह निवृत्ति विषयता बिना भी होती है। अर्थात् जो अधिकारी प्रथम विवेकादि से समझा है कि शरीर-मन-बुद्धि-प्राण इन्द्रियादि की अनेक अवस्था संकोच-विकाशादि होते हुए भी मैं एकरस साक्षी रूप ही रहता हूँ और शास्त्रादि द्वारा परोक्ष रूप से ब्रह्म को नित्यादि स्वरूप समझता हूँ—मित्र समझता हूँ। वहाँ भेद मात्र का निवारण तत्त्वमसि, इत्यादि वाक्य करता हूँ, क्योंकि उक्त शास्त्र भी एवं (दाह्य-अनात्म) रूप से ज्ञान के विषय स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं

चाहता है। भाव है कि रस गन्धादि को भी शब्द इद रूप से स्पष्ट नहीं समझा सकता तो ब्रह्म की बात तो और अति दूर है, यदि कहा जाय कि इद रूप से नहीं समझना चाहता तो क्या करना चाहता है? तो उत्तर है कि अन्तरात्मा रूप से अविषय रूप से प्रतिपादन करता हुआ स्वयं प्रकाश सर्वसाक्षी आदि स्वरूप समझता हुआ अविद्या से कल्पित वेद्य (ज्ञेय) वेदितृ (ज्ञाता-प्रमाता) वेदन (ज्ञान) आदि के सत्य भेद को ब्रह्म में शास्त्र निवृत्त करता है। अर्थात् जीवात्मा रूप प्रमाता प्रमाणाधीन प्रमिति (ज्ञान) से घटादि को समझता है। वहाँ जीव में उस घटादि से विलक्षण इन्द्रियादि के अविषय ब्रह्मरूपता को समझता हुआ शास्त्र प्रमाता में प्रमानृत्व आदि का निषेध करता है। इसे मिथ्या समझता है। इसी प्रकार शास्त्र भी कहना है कि जिसको ब्रह्म विषय रूप से अमत (अज्ञात) है उसी को ज्ञात है, और जिसको विषय रूप से ज्ञान है, वह ब्रह्म को नहीं जानता है। इसीसे ज्ञानी के लिये ब्रह्म अदृश्य है। अज्ञानी के लिये विज्ञात (दृश्य) है। उपनिषद् से याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि लौकिक दृष्टि के द्रष्टा (माक्षी) को तुम नहीं देख सकते हो, न बुद्धिवृत्ति के विज्ञाता को जान सकते हो इत्यादि। इससे अविद्या से कल्पित सासारित्व की ज्ञान से निवृत्ति द्वारा नित्यमुक्त आत्मस्वरूप के समझने प्राप्त कराने से मोक्ष में अनित्यता रूप दोष नहीं है।

यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानस वाचिक कायिक वा कार्यमपेक्षन इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च। तयो पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। न हि दध्यादि विकार्यं उत्पाद्य वा घटादि नित्यं दृष्टे लोके। न चाप्यत्वेनापि कार्यपेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यन्यात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्मर्वेण ब्रह्मण आकाशस्येव। नापि सस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत। सस्कारा हि नाम सस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापापनयनेन वा। न तावद्गुणाधानेन सम्भवति, अनायेयातिशय-ब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य।

दार्शनिक विज्ञानवादी आदि के मत में मोक्ष उत्पत्ति के योग्य है, उसके मत में मानसिक, वाचिक वा कायिक क्रिया की अपेक्षा मोक्ष करता है, अर्थात् क्रिया से मोक्ष-सिद्ध होता है यह मानना युक्त (उचित) है। इसी प्रकार विकार के योग्य जिसके मत में मोक्ष है, उसे भी विकाराहं मोक्ष में कर्म की अपेक्षा है। परन्तु उन दोनों पक्षों (सिद्धान्तों) में मोक्ष को अवश्य निश्चित अनित्यत्व होगा क्योंकि विकार योग्य दधि आदि और उत्पत्ति योग्य घटादि लोक में नित्य नहीं देखे गये हैं। मोक्ष को आप्य (प्राप्ति योग्य) मान कर भी उसके लिये क्रिया की अपेक्षा मानना उचित नहीं है, क्योंकि यदि मोक्ष निजात्म-स्वरूप है तो प्राप्ति के योग्य नहीं है। स्वरूप में कर्तृकर्म नाव विरुद्ध है। यदि मोक्षान्मक ब्रह्म निजस्वरूप से भिन्न हो तो भी वह प्राप्ति योग्य नहीं है, क्योंकि सर्वगत (व्यापक) होने से सबको सदा आकाश के समान ब्रह्म प्राप्त ही है। ब्रह्मात्मक मोक्ष सस्कार के

योग्य भी नहीं है जिससे संस्कार के लिये क्रिया की अपेक्षा हो। क्योंकि क्रियाजन्य संस्कार रूप फल दो प्रकार से होता है। एक तो संस्कार योग्य वस्तु में गुणाधान (गुण का प्रापण-स्थापन) से संस्कार होता है, जैसे श्वेत वस्त्र को रंगने से होता है। दूसरा दोष की निवृत्ति से होता है जैसे मलिन वस्त्र को धोने से होता है। यहाँ गुणाधान से ब्रह्म का संस्कार नहीं हो सकता है, क्योंकि असंगादि होने से अतिशय (भेदविशेषता) जिसमें नहीं प्राप्त हो सके, वह ब्रह्म स्वरूप मोक्ष है। इसी से तथा मोक्षात्मक ब्रह्म के नित्य, शुद्ध, ब्रह्मस्वरूप होने से दोष के निवारण द्वारा भी संस्कार नहीं हो सकता है।

स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रियायात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शो निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत् । न । क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः । यदाश्रया हि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते । यद्यात्मा क्रियया विक्रियेतानित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत । 'अविकार्योऽयमुच्यते' इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येन् । तच्चानिष्टम् । तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः सम्भवति । अन्याश्रयायास्तु क्रियाया अविषयत्वान्न तथात्मा संस्क्रियते ।

उक्तार्थ में शंका होती है कि स्वात्मा के ही धर्म नित्य, मुक्तत्वादि रूप मोक्ष है, जो पापादि रूप मल से तिरोहित (आच्छादित) है। जहाँ क्रिया रूप धर्मोपासनादि से आत्मा के संस्कृत (शुद्ध) होने पर वह मोक्ष अभिव्यक्त प्रगट होता है, जैसे मलिन दर्पण को धूलि आदि द्वारा घिसने से उसके शुद्ध होने पर उसका भास्वरत्व (दीप्त स्वभाव) रूप धर्म प्रगट होता है। तो उत्तर है कि ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि आत्माश्रयादि दोष से और कूटस्थ नित्य, निरवयव आत्मा के होने से आत्मा को क्रिया का आश्रयत्व नहीं हो सकता, इससे स्वाश्रित क्रिया से स्वयं संस्कृत नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें दोष ही नहीं है, और यदि उसमें क्रिया हो तो वह निर्विकार भी नहीं रह सकता, क्योंकि जिसमें क्रिया होती है, उसको विकृत किए बिना स्वरूप का लाभ नहीं करती। आश्रय को विकृत करती हुई ही क्रिया उत्पन्न होती है, यह उसका स्वभाव है। यदि मान लो कि आत्मा में क्रिया होती है, और आत्मा क्रिया से विकृत भी होता है तो आत्मा में अनित्यता की प्राप्ति होगी, और 'यह आत्मा विकारी नहीं कहा जाता है', इत्यादि भगवद्वाक्यादि भी बाधित (तिरस्कृत-अनाहत) होंगे, वह अनिष्ट है। जिससे आत्मा के संस्कार का हेतु स्वाश्रय क्रिया नहीं हो सकती है। यदि आत्मा से अन्य किसी में रहने वाली क्रिया से आत्मा का संस्कार मानो कि जैसे हस्तगत घर्षण रूप क्रिया से दर्पण का संस्कार होता है, तो भी नहीं हो सकता है, दृष्टान्त में दर्पण सावयव पदार्थ है धूलि, हस्तादि के साथ उसका संयोग बनता है, निरवयव आत्मा अन्याश्रित क्रिया के अविषय होने से (संयोगादिरहित होने से) उससे संस्कृत नहीं हो सकता है।

ननु देहाश्रयया स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही सस्क्रियमाणा दृष्टा । न, देहादिमहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मन सस्क्रियमाणत्वात् । प्रत्यक्ष हि स्नानाचमनादेर्देहमवायित्वम् । तथा-देहाश्रयया तत्महन एव कश्चिदविद्या-यात्मत्वेन परिगृहीत सस्क्रियत इति युक्तम् । यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन घातुसाध्यं तत्महतस्य तदभिमानिन आरोग्यफल 'अहमरोग' इति यत् बुद्धिरुत्पद्यते । एव स्नानाचमनयज्ञोपवीतादिना 'अह शुद्ध मस्कृत' इति यत् बुद्धिरुत्पद्यते न सस्क्रियते । न च देहेन महत् एव । तेनैव ह्यहवर्त्ताहप्रत्यय-विषयेण प्रत्ययिना सर्वा क्रिया निर्वर्त्यन्ते, तत्फलं च न एवाश्नानि ।

उत्तार्थं मे शका होतो हे किं देह मे हाने वाली स्नान आचमन (जलोपस्पर्श), यज्ञोपवीत (यज्ञमृत्र) आदि क्रिया से देही (जीवात्मा) सम्भृत हुआ देगा गया है, इसी प्रकार अयगत क्रिया से आत्मा भी सम्भृत हो सकती है । उत्तर है कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि देह के सम्भार से भी देहेन्द्रियादि से महत् (मिलित) उसके मध्यगत, और अविद्या से गृहीत (देहादि के अभिमानयुक्त) देहानिजात्ममानी जीवात्मा (व्यावहारिक जीव) का ही संस्कार होता है, असंग का नहीं । और स्नानाचमनादि को प्रत्यक्ष ही देह सम्बन्धिता है । इससे उस देहाश्रित क्रिया से उस देह से मिलित ही कोई अज्ञ व्यावहारिक जीवात्मा अविद्या से सत्यात्मत्व से ज्ञात हुआ सम्भृत होता है ऐसा होना युक्त ही है, जमे कि देहाश्रित चिकित्सा (रोगनिवारण) निमित्तक रस, रक्त, वातपित्तादि घातुओं की समता से उस देह से मिलित देहामिमानी को आरोग्य फल होना है, जिसमें मैं अरोग हुआ ऐसी बुद्धि होनी है । इसी प्रकार स्नानादि से जिसमें ऐसी बुद्धि होती है कि मैं शुद्ध और सम्भृत हो गया, वही सम्भृत होता है, वह देह में मिलित ही है । उसी अहंकार करने वाले और अहं रस ज्ञान के विषय, तथा वृत्ति रूप ज्ञान, कामादि के आश्रय जीव से सब क्रियाएँ की जाती हैं, और वही उन क्रियाओं के फलों को भागता है ।

'तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनदनन्यो अभिचावशीति' (मुण्ड० ३।१।१) इति मन्त्रवर्णात्, 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' (कठ० १।३।४) इति च । तथा 'एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्मा-ध्यक्ष सर्वभूताविवाप्त नाक्षी चेता केवलो निगुणश्च' (ऋक्० ६।११) इति, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमग्रणमन्नाविरग्गृद्धमपापविद्धम्' (ईशा० ८) इति च, एतो मन्त्रायनाधेयातिशयना नित्यशुद्धता च ब्रह्मणो दर्शयन् । ब्रह्मभावश्च मोक्षः । तस्मान्न संकार्योऽपि मोक्षः । अतोऽन्यन्मोक्ष प्रति क्रियानुप्रवेनद्वारा न शक्य केनचिद्दर्शयितुम् । तस्माज्ज्ञानमेक मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्या-प्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते ।

, नन् अहं इति दृष्टानाणार्थक वचनो से मिष्ट होता है । एक देह रूप दृष्ट पर

रहने वाले उन जीवात्मा और ब्रह्म मे से अन्य (एक) क्षेत्रज्ञनामक जीव स्वादु पिप्पल (कर्मफल) को भोगता है और उससे अन्य सर्वज्ञेश्वर कर्मफल को नहीं भोगता हुआ देखता (प्रकाशता) है । आत्मभाव से गृहीत देह, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं; केवल को नहीं । वह एक देव (दीप्त स्वरूप) सब प्राणी में है परन्तु माया से गूढ़ (छिपा) है । सब में व्यापक और सब प्राणी की अन्त-रात्मारूप वह एक ही है, कर्मों का अव्यक्त (नियन्ता) सब भूतों में बसने वाला साक्षी (निर्विकार साक्षात् द्रष्टा) अत एव केवल चैता (बोद्धा) और निगुण है । वह आत्मा सर्वत्र व्यापक शुक्ल (दीप्तिमान्) लिङ्ग-देह रहित, अव्रण (अक्षत-दुःखरहित) अस्नाविर (गिरा-न्नायुरहित अनश्वर) है—स्थूल देहरहित है, और सूक्ष्म पाप रहित है, अर्थात् अविद्या, राग, द्वेष, धर्माधर्मादि से असंग है । इन वचनों में से कठश्रुति संसारो जीवात्मा का वर्णन करती है और उससे अन्य दो मन्त्र ब्रह्मसम्बन्धी अतिशय (न्यूनताधिकभाव) के आधान से रहित नित्यमुक्तता को दर्शाते हैं और अतिशयादि रहित नित्यमुक्त ब्रह्मभाव ही मोक्ष है । जिससे संस्कार के योग्य भी मोक्ष नहीं है । पूर्ववर्णित मोक्ष में क्रियाप्रवेश के चार द्वारों से अन्य मोक्ष के प्रति क्रिया सम्बन्ध के द्वार (हेतु) को कोई देखा नहीं है, और उक्त चारों का असम्भव दर्शाया गया है । इससे एक ज्ञान को छोड़कर क्रिया के गन्ध (लेश) मात्र का भी इस मोक्ष में सम्बन्ध नहीं होता है ।

ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया । न । वैलक्षण्यात् । क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षं चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च, यथा 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वपट्करिष्यन्' इति, 'संव्यां मनसा ध्यायत्' (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति चैवमादिषु ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, यथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुषतन्त्रत्वात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्, अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्, न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रम्, तस्मान्मान-सत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम् ।

शंका होती है कि ज्ञान भी तो मानसी क्रिया ही है, तो विधि का विषय क्यों न होगा, वा उसके उत्पाद्यादि रूप फल क्यों नहीं होंगे ? उत्तर है कि ज्ञान क्रियारूप नहीं है, ज्ञान को क्रिया से विलक्षणता है । क्रिया वह है कि जहाँ वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा बिना विधि (प्रेरणा) होती है, और जो पुरुष के चित् का व्यापार (इच्छा अनिच्छा आदि) के अधीन होती है । जैसे कि—जिस देवता के लिए अव्यय से हवि गृहीत हो, उस देव का 'वपट्' इस शब्द का उच्चारण करता हुआ, होता मन से ध्यान करे । मंथ्या देव को संव्या काल में मन में ध्यान करे इत्यादि स्थानों में ध्यान चिन्तन रूप है । वह यद्यपि मानस है, तथापि पुरुष से करने न करने वा अन्यथा करने

मे शनय है क्योंकि पुरुष के अधीन है देवता के रहते भी ध्यान देवता के अधीन नहीं है । और ज्ञान तो प्रमाण जन्य होता है, और प्रमाण वही होता है कि जो वस्तु जैसी हो वैसी ही उसको विषय करे (प्रकाश) इसमें यथार्थ वस्तुविषयक होता है । इससे वह ज्ञान करने न करने अन्यथा करने के योग्य नहीं होता है । केवल वस्तु के अधीन ही वह ज्ञान होता है, न विधि के अधीन होता है, न पुरुष के अधीन होता है । इस कारण से ज्ञान के मानसत्व रहते भी क्रिया से इसमें बड़ी विलक्षणता है ।

यथाच 'पुरुषो वाव गौतमाग्नि', 'योपा वाव गौतमाग्नि' (छान्दो० ५।७, ८।१) इत्यत्र योपित्पुरुषयोरग्निबुद्धिर्मानसी भवति, केवलचोदनाजन्यत्वात्क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च । या तु प्रसिद्धेज्ज्नावग्निबुद्धिर्न सा चोदनातन्त्रा, नापि पुरुषतन्त्रा, किं तर्हि ? प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवेतन्न क्रिया । एव सर्व-प्रमाणविषयवस्तुषु वेदितव्यम् । तत्रैवमिति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञान न चोदनातन्त्रम् । तद्विषये लिटादय श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठी-भवन्त्युपल्लादिषु प्रयुक्तक्षुरस्तैश्चण्डादिवत् अहेयानुपादेयवस्तुविषयत्वात् ।

जिस प्रकार पञ्चाग्निविद्या प्रकरण में स्वर्ग, मेघ, भूमि का अग्नि रूप से चिन्तन का वर्णन करके कहा गया है कि हे गौतम ! पुरुष भी अग्नि है, योपा (स्त्री) भी अग्नि है । जहाँ स्त्री, पुरुष में विधि के अनुसार उपासक को अग्निबुद्धि होती है, वहाँ केवल विधिजन्य होने से क्रिया ही होती है, और पुरुषाधीन ही होती है और जो लोक में प्रसिद्ध अग्नि में अग्निबुद्धि होती है, न तो वह विधि के अधीन होती है और न पुरुष के अधीन होती है । तो वह बुद्धि प्रत्यक्ष इन्द्रिय का विषय जो वस्तु उसके अधीन हो कैसे होती है ? इससे वह ज्ञान होता है, क्रिया नहीं । इसी प्रकार अनुमान, शब्दादि सब प्रमाणा के विषयरूप वस्तु में समक्षता चाहिये कि लिंग व्याप्ति ज्ञानादि रूप प्रमाण जन्य ज्ञान क्रिया रूप नहीं होता है और पूर्वरीति से अन्य वस्तु विषयक ज्ञान के वस्तु तन्त्र सिद्ध होने पर यथामूर्त (सत्य स्वरूप) ब्रह्मात्म विषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं होता है, किन्तु वस्तुतन्त्र (अधीन) होता है । यद्यपि 'आत्मान पर्येत, आत्मेत्ययोपामीत, ब्रह्म त्व विद्धि, आत्मा द्रष्टव्य' इत्यादि वचनों में ब्रह्मात्म-विषयक ज्ञान की विधि सा प्रतीत होती है, क्योंकि लिट् और तव्य प्रत्यय विद्धिर्धर्क दोष पड़ते हैं, तथापि उस विषयतन्त्र ज्ञान विषयक श्रुति भी लिटादि अनियोज्य (कृति में असाध्य-अव्यापार्य) विषय में प्रयुक्त (उच्चारित) होने से वे अर्थ बोध कराने में कुण्ठित (असमर्थ) हो जाते हैं । जैसे कि पाषाणादि में प्रेरित क्षुरा की धारतीक्ष्णता कुण्ठित होती है, ब्रह्मज्ञान का विषय ब्रह्म भी सर्वात्मा विभु होने से हेय उपादेय नहीं है । इससे विषय का विधान द्वारा भी ब्रह्मज्ञान की विधि नहीं हो सकती है ।

किमर्थानि तर्हि 'आत्मा चाग्ने द्रष्टव्य श्रोतव्य' इत्यादीनि विविचितायानि वचनानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूम । यो हि बहि-

मुखः प्रवर्तते पुरुषः 'इष्टं मे भूयादनिष्टं मा भूदिति' न च तत्रान्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते । तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छितं स्वाभाविककार्यकरणसङ्घातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि । तस्यात्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्याहेयमनुपादेयं चात्मतत्त्वमुपदिश्यते—'इदं सर्वं यदयमात्मा' (वृह० २।३।६) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्, विज्ञातास्मरे केन विजानीयात्' (वृह० ४।५।१५) 'अयमात्मा ब्रह्म' (वृह० २।५।१९) इत्यादिभिः । यदप्यकर्तव्यप्रधानमात्मज्ञानं हानायोपादानाय वा न भवतीति तत्तथैवेत्यभ्युपगम्यते । अलङ्कारो ह्ययमस्माकं यदब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता चेति ।

शंका होती है कि यान अविधेय है, तो अरे मैंने क्या ! आत्मा दर्शन के योग्य है, सुनने योग्य है, इत्यादि विधि तुल्य वचन सब किस प्रयोजन के लिये हैं ? उत्तर है कि स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयक वस्तु से विमुख करने के लिये हैं, इस प्रकार प्रयोजन कहा जाता है । क्योंकि जो वहिर्मुख (विषयपरायण) पुरुष मुझे इष्ट (मुख) हो, अनिष्ट (दुःख) नहीं हो, इस बुद्धि से बाह्य विषय में प्रवृत्त होता है और वहाँ आत्यन्तिक पुरुषार्थ (नित्य सुख शान्ति) नहीं पाता है । उस नित्य सुख चाहने वाले को स्वाभाविक शरीर और इन्द्रियों के समूह की प्रवृत्ति के विषयों से विमुख करके अन्तरात्मा विषयक उसकी चित्तवृत्ति के प्रवाह रूप से उसको 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वचन प्रवृत्त कराते हैं, आत्मान्वेषण (खोज) में लगाते हैं । फिर जब वह आत्मान्वेषण ज्ञान में प्रवृत्त होता है तब उसको अहेय अनुपादेय (त्याग ग्रहण के अयोग्य) आत्मतत्त्व का उपदेश दिया है कि 'जो यह जगत् है वह सब आत्मस्वरूप है, सर्वत्र एक आत्मा ही की सत्ता है, भेद मायामात्र मिथ्या है ।' इस निश्चय से जब इस ज्ञानी को सब आत्मस्वरूप सिद्ध सत्य हो गया तब किस साधन से किसको देखे किसको जाने, अरे मैंने क्या ! विज्ञाता आत्मा को किसने जाने । यदि कहा जाय कि यह आत्मा ब्रह्म को जाने तो वह कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि यह आत्मा ही ब्रह्म है । इससे द्रष्टा द्रष्टव्यादि भाव भी मायामात्र है इत्यादि उपदेश श्रुतियों से दिया जाता है । और जो कहा गया था कि अकर्तव्य प्रधान (विधिसम्बन्धरहित) आत्मज्ञान त्याग वा ग्रहण के लिये नहीं होता है, वह वैसा ही माना जाता है । यह आत्मज्ञों की शोभा है कि जो आत्मज्ञान के होने पर कर्तव्यता की निवृत्ति और कृतकृत्यता हो जाती है ।

तथा च श्रुतिः—

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।' (वृह० ४।४।१२) इति ।

एतद्वुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत । (भ० गी० १५।२०)

इति च स्मृति । तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्माण. समर्पणम् ।

यदपि केचिदाहु — 'प्रवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेद-
भागो नास्ति' इति, तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात् । योज्यावुप-
निषन्वेवाधिगतं पुरुषोऽन्ममारी ब्रह्म उत्पाद्यादिवृत्तिविधद्रव्यविलक्षणं स्व-
प्रकरणम्योजन्यशेष, नामो नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम्,
'म एष नेति नेत्यात्मा' (बृह० २।१।२६) इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्या-
तुमशक्यत्वात् । य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वप्रमज्जात् ।

इस वृत्तान्तना को श्रुति और स्मृति कहती है कि, यदि आत्मा को पुरुष इस प्रकार जान जाय कि सर्वसाक्षी जानन्द स्वरूप में है, तो किस वस्तु की इच्छा करता हुआ वा किस फल की इच्छा से किमके प्रयोजन के लिये शरीर के ताप से तृप्त हो सकता है, अर्थात् वह समझ रहित वृत्तान्त है जाता है । भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! इस गुरु (गुरु) तत्त्व को जानकर बृद्धिमान् पुरुष वृत्तान्त हो जाता है । जिसमें प्रतिपत्तिविधि के विषय रूप से ब्रह्म का बोध वेदान्त में नहीं होता है । और जो कहे यह कहता है कि प्रवृत्तिविधि, निवृत्तिविधि, और उन दोनों के शेष (अंग) रूप वेद भाग में अतिरिक्त (भिन्न) वेद का भाग नहीं है, वह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि उपनिषद् में ज्ञेय पुरुष (आत्मा) विधिनिषेध का शेष नहीं है, और उसके बोधक उपनिषद् वेद हैं । जो यह उपनिषदों में ही पुरुष ज्ञात होता है, वहीं ब्रह्मसाक्षी पुरुष ब्रह्म है और उत्पाद्य, विकार्य, प्राप्य, स्वकार्य, साध्य चारों प्रकार के द्रव्यों से विवक्षित है, और किसी विधिनिषेध प्रकरण में नहीं वर्णित होने से छाम स्वप्रकरण में निरूपित है इसमें स्वप्रत्यक्ष है किसी का शेष नहीं है, वह नहीं है, वा नहीं समझा जाता है, इस प्रकार भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि नेति नेति पद से प्रपञ्च का निषेधपूर्वक जो यह अपराधात्मा को कहा गया है, उसको आत्मशब्दार्थ होने से उसका निषेध नहीं हो सकता । आत्मा निषेध के अयोग्य है, क्योंकि जो निषेध करने वाला है, उसका भी वह आत्मा है, इसमें स्वान्निषेध की प्राप्ति होगी ।

नन्वात्माहप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम् । न ।
तत्माक्षित्वेन प्रयुक्तत्वात् । न ह्यहं प्रत्ययविषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्माक्षी सर्व-
भूतस्य मम एव कृतम्यनित्यं पुरुषो विधिनाण्डे तर्कसमये वा केनचिदधि-
गतं सर्वस्यात्मा, अतः स न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यो विधिशेषत्व वा नेनुम् ।
आत्मन्वादेव च सर्वेषां न हेयो नाप्युपादेयः । सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरु-
षान्न विनश्यति । पुरुषो हि विनाशहेत्वभावादविनाशी, विक्रियाहेत्वभावाच्च
कृतम्यनित्यः, अतः एव नित्यगुणद्वन्द्वमुक्तस्वभावः, तस्मात् 'पुरुषात् परं
निश्चिन्या नात्र ना परा गति' (बृ० २।१।२७) 'त त्वाँपनिषदं पुरुषं
पृच्छामि' (बृ० २।१।२६) इति औपनिषदत्वविशेषणं पुरुषम्योपनिषत्सु

प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्वं उपपद्यते । अतो भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम् ।

उक्तार्थं में शंका होती है कि लोक-शास्त्र के व्यवहारों में आत्मा अहं (मैं) इस ज्ञान का विषय होता है यह प्रसिद्ध है, फिर उसको औपनिषद् शब्द द्वारा उपनिषदों में ही विज्ञात होता है, ऐसा कहना अयुक्त है ? उत्तर है कि 'अहंप्रत्यय' के विषय कर्ता भोक्ता का आत्मा साक्षी है, इससे आत्मा में अहंप्रत्यय (ज्ञान) की विषयता प्रयुक्त (निषिद्ध) है । क्योंकि अहं ज्ञान का विषय कर्ता से भिन्न और उसका भी साक्षी सर्व-भूत निवासी सम (एकरस) एक कूटस्थ नित्य सर्वात्मा पुरुष, कर्मकाण्ड में वा तर्ककाल में न्यायसिद्धान्त में किसी से ज्ञात नहीं हुआ है, न होता है, और इस अज्ञानता से हीन वह प्रत्याख्यान (निषेध) के योग्य है, न विधि के अङ्गत्व प्राप्त कराने के योग्य है, तथा सर्वात्मा होने ही से न हेय है न उपादेय (ग्राह्य) है । क्योंकि विनश्वर अनात्म वस्तु हेय होता है, और विनष्ट होता हुआ विकार सब भी पुरुषान्त (पुरुषभिन्न) ही नष्ट होते हैं, असंग सर्वात्मा का विनाश के हेतु नहीं होने से वह अविनाशी है, विकार के हेतु नहीं होने से कूटस्थ नित्य है, और इससे ही नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त स्वभाव वाला है । इसीसे श्रुति कहती है कि (आत्मा) से पर (भिन्न-उत्तम) और सत्य कोई वस्तु नहीं है, वही सबकी सीमा है, परगति (परम पुरुषार्थ) स्वरूप है । और उपनिषद्गम्य पुरुष को मैं तुम से पूछता हूँ । यहाँ पुरुष का औपनिषदत्व (उपनिषद्गम्यत्व) विशेषण भी पुरुष के उपनिषदों में प्रधान रूप से प्रकाशित (प्राप्त) होने पर युक्त होता है । इससे उपनिषद्वेद्य सत्यात्मा है । इसलिये भूत (सिद्ध) वस्तु मात्र के बोधक वेदभाग नहीं है यह वचन साहसमात्र (अविवेक मूलक धार्ष्ट्य-मात्र) है ।

यदपि शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणम्—'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' इत्येवमादि, तद्वर्मजिज्ञासाविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम् । अपि च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शनाम्' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतो-पदेशानर्थक्यप्रसङ्गः, प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद्वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः । न हि भूतमुपदिश्यमानं क्रिया भवति । अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात्क्रियार्थ एव भूतोपदेश इति चेत् । नैव दोषः । क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव । क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य । न चैतावता वस्वनुपदिष्टं भवति ।

जो शास्त्र के तात्पर्यज्ञो का अनुक्रमण (शास्त्र परिपाटीविषयक वचन) है कि कर्मावबोधन (फलवदर्थबोधन) वेद का प्रयोजन देखा गया है इत्यादि । उसको धर्म-जिज्ञासा विषयक होने से विधिनिषेध शास्त्र के तात्पर्यवाला समझना चाहिये कि विधि-निषेधरूप वेद का धर्मज्ञान प्रयोजन है इत्यादि । और ऐसा नहीं मानकर वेद क्रियादाचक

है, क्रियावाचक में भिन्न को निरर्थक समझना चाहिये। इस प्रकार जो नियम से मानते वाले हैं, उनके मत में भूत (सिद्ध) वस्तु के उपदेश रूप (दध्ना जुहोति) इत्यादि में दधि आदि पद अनर्थक प्राप्त होंगे, क्योंकि वे भी भूतार्थ वाले हैं। यदि कहा जाय कि भूतार्थक होने भी मध्य (साध्य) क्रिया के लिये कारण आदि का उपदेश करते हैं इसमें सार्थक है, तो कहा जाना है कि शास्त्र यदि भूत वस्तु का उपदेश क्रिया के लिये करना है, तो कूटस्थनित्य का नहीं उपदेश करता है इसमें क्या कारण है? क्योंकि क्रिया के लिये उपदिष्ट भूतवस्तु स्वयं क्रिया स्वरूप तो नहीं हो जाती है। यदि कहा जाय कि क्रियार्थक भूतवस्तु के क्रियात्मक नहीं होने हुए भी उसे क्रिया के साधन होने में उसका उपदेश क्रिया ही के लिए है और ब्रह्म का उपदेश ऐसा नहीं माना जाता है, तो कहा जाना है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि दध्यादि के क्रियार्थक होने पर भी क्रियामिद्धि की शक्ति वाली सिद्ध वस्तु का तो उपदेश हुआ ही, और वह वस्तु उपदिष्ट हुई, इसी प्रकार ब्रह्म भी उपदिष्ट हो सकता है। दधि आदि की क्रियार्थता तो प्रयोजन (फल) है। एतावता (दधि आदि की क्रियार्थता से) भूत दधि आदि वस्तु अनुपदिष्ट नहीं होती है, दधि आदि शब्द का श्रवाच्य नहीं समझी जाती है इत्यादि।

यदि नामोपदिष्ट किं तव तेन स्यादिति। उच्यते—अनवगततात्मवस्तूपदेशश्च तथैव भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य ससारहेतोर्निवृत्तिं प्रयोजनं क्रियत इत्यविशिष्टमर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन। अपि च 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इति चैवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते। न च सा क्रिया, नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत्। 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादिनिवृत्त्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम्। तच्चानिष्टम्। न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञ् अकथमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हननक्रियानिवृत्त्योदासीनव्यतिरेकेण।

शका होनी है कि (दध्ना जुहोति) यहाँ सिद्ध वस्तु का उपदेश सिद्ध हुआ इससे सिद्ध ब्रह्मोपदेशवादी को क्या फल हुआ, अर्थात् सिद्ध भी उपदिष्ट दधिक्रिया में उपकारक है, इसमें उसका उपदेश सार्थक है, ब्रह्म तो क्रियोपयोगी नहीं है, तब उत्तर है कि अनवगत हवन कर्ता युक्त दधि का जैसे उपदेश होता है, वैसे अनवगत (अज्ञात) ब्रह्म का भी उपदेश हो सकता है, और उपदेश द्वारा उस ब्रह्म के ज्ञान से ससार (जन्मादि) के हेतु मिथ्याज्ञान अज्ञान की निवृत्ति रूप प्रयोजन भी सिद्ध होता है, इसमें क्रिया के साधन दधि आदि वस्तु के उपदेश के (अवशिष्ट) तुरन्त ही अथवत्त्व (सफलता) ब्रह्मोपदेश को है। और यह नियम नहीं है कि क्रिया और क्रिया के साधन ही का वेद और शास्त्र उपदेश करता है, क्योंकि (ब्राह्मणो न हन्तव्य मुरा न पित्रेत्) 'ब्राह्मण को नहीं मारे, मदिरा नहीं पीये' इत्यादि शास्त्रों से ब्राह्मण का हनन, मद्यपान में निवृत्ति का उपदेश दिया जाता है। और निवृत्ति न क्रियारूप है न क्रिया का साधन ही है, इसमें क्रियार्थक से भिन्न का उपदेश यदि निरर्थक (निष्फल) माना

जाय तो 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निवृत्ति के उपदेश रूप शास्त्रों में अनर्थकता की प्राप्ति होगी, वह इष्ट नहीं है, इन्हें कोई भी अनर्थक नहीं मानता है । शंका हुई कि जैसे (नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्) उदित होते हुए सूर्य को नहीं देखे, यह ब्रह्मचारी के लिये प्रजापति के व्रत प्रकरण में उपदेश दिया जाता है, वहाँ सूर्य को नहीं देखना मात्र तो कोई व्रतात्मक कर्म नहीं हो सकता इसलिये अनीक्षण के संकल्प का विधान किया जाता है, वह संकल्प व्रतरूप कर्म होता है, वैसे ही 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि स्थानों में भी राग से प्राप्त हनन क्रियादि के विरोधी संकल्प का विधान किया जाता है कि हनन से उदासीनता के लिये हनन से मन का निरोधात्मक विधारक प्रयत्न करे इससे संकल्परूप यत्न क्रिया का विधायक यह वाक्य है कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' अक्रियार्थक नहीं है, उत्तर है कि 'न हन्तव्यः', इस वाक्य में, हनन क्रिया की निवृत्ति रूप उदासीनता से भिन्न संकल्पादि रूप अप्राप्त क्रियावाचकत्व रूप 'न-शब्दार्थ' की कल्पना नहीं कर सकते हैं 'नेक्षेत' वाक्य में तो व्रत के प्रकरण संकल्प की कल्पना होती है, यहाँ कोई कल्पना का कारण नहीं है । यदि फिर भी प्रश्न हो कि कारणान्तर के नहीं रहते हुए भी 'न' शब्द के अनेक विरोधादि अर्थ होते हैं, जैसे—'अनुदरा कन्या' यहाँ न शब्द का अल्प अर्थ होता है, अधर्म शब्दगत न का विरोधी अर्थ होता है, वैसे ही यहाँ भी अन्यार्थ हो सकता है, तो उत्तर है कि दो प्रकार का 'न' शब्द होता है, एक पर्युदास और एक प्रसज्यप्रतिषेध कहाता है । लिखा है कि 'द्वौ नवौ हि समाख्याता पर्युदासप्रसज्यको । पर्युदासः सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्' यहाँ पर्युदास का उत्तर पद से सम्बन्ध होता है, समास होता है, और लक्षणावृत्ति से अल्पविरोधादि अर्थ का बोधक होता है, वस्तुतः यह 'न' शब्द अनेकार्थक नहीं है, और पर्युदास से भिन्न जो 'न' शब्द होता है, उसका क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, और क्रियासम्बन्धी जो 'न' शब्द होता है वह उस प्राप्त क्रियामात्र का निषेध करता है, अन्यार्थ को नहीं कहता है । इससे 'न हन्तव्यः' इस वाक्य में स्वभावरागादिवश प्राप्त हनन के साथ ही 'न' शब्द का अनुराग (सम्बन्ध) है । इससे हनन का निषेधमात्र करता है, अन्यार्थ को नहीं कहता है, और वह हनन का निषेध न क्रिया है न क्रिया का साधन है, क्योंकि अभाव भाव का साधन नहीं हो सकता, और उस निषेध का उपदेश है, वैसे ही ब्रह्म का उपदेश हो सकता है इत्यादि ।

नत्रश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयतीति । अभावबुद्धिश्चै-
दासीन्यकारणम्, सा च दग्धेन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । तस्मात्प्रसक्त-
क्रियानिवृत्त्यादासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे,
अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः । तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपाख्यानादिभूतार्थवादविषय-
मानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम् ।

क्रियासम्बन्धी प्रसज्यप्रतिषेधरूप न शब्द का यह स्वभाव है कि अपने साक्षात्

सम्बन्धी के अभाव का बोध करता है, 'न हन्तव्य' इत्यादि में हन्तव्यत्व के साथ 'न' शब्दार्थ का साक्षात्सम्बन्ध है, इससे उसके अभाव का बोध कराता है, अथवा प्रत्ययार्थ के प्रधान होने से उसके साथ 'न' शब्दार्थ का सम्बन्ध है, इससे बलवदनिष्टसाधनत्वोद्देशसाधनत्वरूप विधि प्रत्ययार्थ के अभाव के बोधन द्वारा बलवदनिष्टसाधनत्व का बोध कराता है, और वह हननाभाव बुद्धि तथा अनिष्टसाधनत्व (ज्ञान) हनन से उदासीनता एवं परिपालन स्थिति का कारण होता है। शका हुई कि यदि अभाव बुद्धि उदासीनता के कारण है, तो हननोदासीनता काल में उस बुद्धि को सदा रहना चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं है, तो कहा जाता है कि वह बुद्धि दग्धेन्धनाग्नि के समान स्वयं शान्त हो जाती है। भाव है कि हनन के हेतु भ्रान्तिमूलक राग को नष्ट करके नष्ट होती है और हनन को अनिष्ट साधन समझ लेने पर तद्विषयक राग के अभाव से उदासीनता बनी रहती है इत्यादि। उक्त हेतुओं से यह सिद्ध हुआ कि रागादिमूलक प्राप्त क्रिया की निवृत्तिरूप उदासीनता ही 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादि वाक्यों में 'न' शब्दार्थ माना जाता है, किन्तु 'तस्य व्रतम्, नेषेतोद्यन्तमादित्वम्' इत्यादि व्रतविधायक वाक्यों से अन्यत्र के लिए यह नियम है। वहाँ अभाव मात्र 'न' शब्दार्थ नहीं है। शका हुई कि पूर्ववर्णित 'आनर्थक्यमतदर्शानाम्' यह सूत्र का भाग फिर कैसे युक्त हो सकता है यदि अक्रियायक नशब्दार्थ का शास्त्र उपदेश करता है, और उसी के समान मोक्ष के लिये ब्रह्म का उपदेश भी होता है, और उपदेशजन्य ज्ञान से यदि जनय की निवृत्ति भी होती है, इत्यादि। तत्र कहा जाता है कि इन उक्त हेतुओं से ही ऐसा समझना चाहिये कि किसी भी पुरुषार्थ में साक्षात् अनुपयोगी उपाख्यानादिरूप भूतार्थत्रिषय जनयकता का बन्धन क्रियासम्बन्ध के बिना किया गया है।

यदप्युक्त—'वर्तव्यविध्यनुपवेशमन्त्रेण वस्तुमात्रमुच्यमानमनर्थकं स्यात् 'मसद्वीपा वसुमती' इत्यादिवत् इति, तत्परिहृतम्, रज्जुरिय नाय सर्प इति वस्तुमात्रक्यनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्। ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं नमस्ति-त्वदर्शानाम् रज्जुस्वरूपजननप्रदर्शवत्त्वमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं समारित्वं शक्य दर्शयितुं वदप्रमाणजनित्रह्यात्मभावविरोधात्। न हि शरीराद्यात्माभिमानिनो दुःसभयादिमत्त्व दृष्टमिति तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावगमै तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःसभयादिमत्त्वं भवतीति नक्त्य कल्पयितुम्।

जो यह कहा गया है कि वर्तव्य विधि के साथ सम्बन्ध के बिना कथित वस्तुमात्र अनर्थक होगा जैसे कि 'सात द्वीपवाली भूमि है' इत्यादि कथन अनर्थक होता है। इसका परिहार तो पहले किया गया कि रस्सी में सर्प के भ्रमयुक्त मनुष्य को कहा जाता है कि 'यह रस्सी है, सर्प नहीं है' तो वहाँ वस्तुमात्र के कथन से भय की निवृत्ति रूप प्रयोजन देना गया है, वैसे ही ब्रह्म के कथन से भ्रमणकर्ता में संसार भय का

अभाव देखा गया है, पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्म का जिसने श्रवण किया है उसको भी पहले के समान संसारी दुःखमयादियुक्त देखने से रज्जु (रस्सी) स्वरूप के कथन के समान ब्रह्म का कथन सार्थक नहीं है। यहाँ सिद्धान्त की बात कही जाती है कि श्रवणमात्र से किसी परोक्ष ब्रह्मज्ञ में पूर्व के समान संसारित्व रह सकता है, परन्तु वेदरूप प्रमाणजन्य साक्षात् ब्रह्मात्मभाव से संसारित्व को विरोध होने के कारण साक्षात् अनुभूत ब्रह्मात्म भाव पुरुष को पूर्व के समान संसारित्व दर्शाने योग्य नहीं है। क्योंकि जिस शरीरादि के अभिमानी को पहले दुःखमयादिवाला देखा गया है, उसीको वेदप्रमाणजन्य ब्रह्मस्वरूपता के अपरोक्षानुभव होने पर और देहादि-के अभिमानों की निवृत्ति होने पर, फिर पहले के ही मिथ्याज्ञाननिमित्तक दुःखमयादि-मत्त्व होता है (संसारित्व रहता है) ऐसी कल्पना करना शक्य (योग्य) नहीं है।

न हि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनो धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं दुःखं भवति । न च कुण्डलिनः कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुण्डल-विद्युक्तस्य कुण्डलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुण्डलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति । तदुक्तं श्रुत्या—‘अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः’ (छान्दो० ८।१२।१) इति । शरीरे पतितेऽशरीरत्वं स्यात् न जीवत इति चेन्न । सशरीर-त्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात् । न ह्यात्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वाऽन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम् । नित्यमशरीरत्वम-कर्मनिमित्तत्वादित्यवोचाम ।

क्योंकि धनाभिमानि धनी गृहस्थ को चोरादि द्वारा धन के अपहरण निमित्तक दुःख देखा गया है, इससे वही यदि धनाभिमान रहित त्यागी संन्यासी हो गया तो वही धनापहरण निमित्तक दुःख उसको होता है, ऐसी कल्पना नहीं होती है, न उसे दुःख होता है, इसी प्रकार कुण्डल वाले को भी कुण्डलवाला हूँ इस अभिमान निमित्तक सुख देखा गया है, इससे वही यदि कुण्डलाभिमान रहित कुण्डल का त्यागी हो गया तो फिर उसको वही कुण्डलाभिमाननिमित्तक सुख होता है ऐसी कल्पना नहीं होती है, न उसको कुण्डल निमित्तक सुख होता है। इन दृष्टान्तों के अनुसार देहाभिमानादि रहित ज्ञानी में सांसारिक सुख-दुःख का अभाव श्रुति से भी कहा गया है कि शरीर रहित सत्यात्मा को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते हैं, वह असंग है। यदि कोई कहे कि शरीर के पात (नाश) होने पर, अशरीरत्व होगा ज्ञानी का आत्मा सुख-दुःख रहित होगा। जीवित को अशरीरत्व नहीं हो सकता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा में शरीर महितत्व (शरीरित्व) मिथ्याज्ञान (अव्याम) निमित्तक है, ज्ञान से मिथ्या-ज्ञान की निवृत्ति होते ही आत्मा का नित्य अशरीरित्व अभिव्यक्त होता है। क्योंकि शरीराऽभिमानरूप मिथ्याज्ञान के बिना आत्मा की सशरीरता अन्य किसी कारण से कल्पना के योग्य नहीं है। अर्थात् ज्ञान से नाश के अयोग्य सत्य-शरीरित्व नहीं है कि

जिसकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो, इसीमे अशरीरत्व नित्यात्मस्वभाव हो है, क्योंकि वह कमजोर नहीं है यह पहले कहा जा चुका है कि आत्मा-नित्यबुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला है इत्यादि ।

तत्कृतधर्माधर्मनिमित्त सशरीरत्वमिति चेन्न । शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरानुगतत्वमिति चेन्न । शरीरसम्बन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चैतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परेषानादित्वकल्पना क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः । अनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्ट कर्तृत्वमिति चेन्न । धनदानाद्युपाजितवृत्त्यसम्बन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः । न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसम्बन्धनिमित्तं किञ्चिच्छक्यं कल्पयितुम् । मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षं सम्बन्धहेतुः । एतेन यजमानत्वमात्मनो व्याख्यातम् ।

उक्तार्थं मे शका होनी है कि अभिमानमात्र निमित्तम् आत्मा में सशरीरत्व नहीं है, किन्तु उस आत्मा में वृत्त जो पूर्व जन्म के धर्माधर्म तन्निमित्तक सशरीरत्व और अभिमान भी है । इससे धर्माधर्म की निवृत्ति होने पर ही मुक्ति हो सकती है, जति जी नहीं । उत्तर है कि आत्मा को श्रुति असगनिर्गुणादि बहती है, इससे उसका शरीर के साथ सम्बन्ध असिद्ध है, इसीमे शरीर द्वारा वृत्त धर्माधर्म को आत्मजन्यत्व की असिद्धि है । इसलिए आत्मा के धर्माधर्म ही नहीं हैं कि जिससे आत्मा शरीरी हो, अथ के धर्माधर्म से सशरीरत्व मानने पर अतिप्रसक्ति होगी । और यदि कहे कि बीजापुर न्याय से सशरीरत्व और धर्माधर्म में आत्मवृत्तत्व अनादि है, तो भी परस्परश्रयत्व है और यह अनादि की कल्पना अन्ध परम्परा रूप (अप्रत्यक्ष) है । अर्थात् एक जन्म के धर्माधर्म से शरीर सम्बन्ध और सम्बन्ध से धर्माधर्म मानने पर इतरेतराश्रय (अन्योयाश्रय) होगा कि जिससे एक भी नहीं सिद्ध हो सकेगा, और अनादि मानने पर अदृष्ट की कल्पना होगी और वेबल आत्मा में क्रिया सम्बन्ध के अभाव से आत्मा को कर्तृत्व बन सकता है । शका होनी है कि क्रिया सम्बन्ध के बिना भी राजा आदि की समीपता मात्र में कर्मकर्तृता देखी गई है । इसी प्रकार आत्मा भी कर्ता हो सकता है । उत्तर है कि वहाँ धन के दानादि द्वारा उपाजित भृत्य के साथ राजा आदि को सम्बन्धी होने ने उन्हें वृत्त्य द्वारा कर्तृत्व बनता है । धन दानादि के समान आत्मा को शरीरादि के साथ स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध के हेतु कुछ भी कल्पना के योग्य नहीं है एव मिथ्या अभिमान तो प्रत्यक्ष हेतु है ही और भ्रमजन्य मिथ्या अभिमान से ही आत्मा में मिथ्या यजमानत्व भी व्याख्यात (कथित) हो गया ।

अत्राहु — देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेन्न । प्रमिद्ववस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः । यस्य हि प्रसिद्धो वस्तुभेद यथा केमरादिमानाकृतिविशेषोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां^१ सिंहशब्दप्रत्यय-

१. दूसरे में शब्दाप्रत्यय होना अन्वय है, अन्यत्र नहीं होना व्यतिरेक है ।

भाङ्मुख्योऽन्यः प्रसिद्धः, ततश्चान्यः पुरुषः प्रायिकैः क्रौर्यशौर्यादिभिः सिंहगुणैः सम्पन्नः सिद्धः, तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवतो नाप्रसिद्धवस्तुभेदस्य । तस्य त्वन्यत्रान्यशब्दप्रत्ययो भ्रान्तिनिमित्तावेव भवतो न गौणौ । यथा मन्दान्धकारं स्थाणुरयमित्यगृह्यमाणविशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ, यथा वा गुक्तिकायामकस्माद्रजतमिति^१ निश्चिती शब्दप्रत्ययौ, तद्वद्देहादिसङ्घातेऽहमिति निरूपचारेण शब्दप्रत्ययावात्मानात्मविवेकेनोत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम् ।

यहाँ कोई मीमांसक कहते हैं कि देहादि से भिन्न आत्मा को जो देहादि अपने सम्बन्धी वस्तु में आत्मता का अभिमान होता है, वह गौण (सदृश गुणनिमित्तक) होता है । जैसे राजा के मन्त्री में गुणनिमित्तक राजा बुद्धि आदि होते हैं, इससे देहादि मिथ्या भी नहीं हैं । यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ व्यवहार (शब्द प्रयोग) करने वाले को गौणत्व और मुख्यत्व की प्रसिद्धि (ज्ञान) से गौण और मुख्य वस्तु के भेद का ज्ञान प्रथम रहता है, वहाँ यदि अन्य में अन्य बुद्धि व्यवहार करता है, तो वह गौण होता है । इससे प्रसिद्ध (ज्ञान) वस्तु भेद वाले ही को गौणत्व-मुख्यत्व का ज्ञान होता है । जैसे कि जिसको वस्तु का भेद ज्ञात है कि केसर (सटा) आदि वाला आकृतिविशेष अन्वय और व्यतिरेक से सिंह शब्द और ज्ञान के भागी मुख्य वस्तु पुरुष से अन्य, लोक में प्रसिद्ध है, और उससे अन्य क्रूरता-शूरता आदि सिंह के प्रायिक (बहुत) गुणों से युक्त पुरुष भी ज्ञात है । उस भेद ज्ञान वाले को जो वली पुरुष में सिंह शब्द का प्रयोग और ज्ञान होता है वह गौण होता है । वस्तु के भेद ज्ञानरहित के शब्द और ज्ञान गौण नहीं होते हैं । जैसे कि मन्द (अल्प) अन्धकार में, 'यह स्थाणु (ठूठ) है' इस प्रकार विशेष ज्ञान नहीं होने पर स्थाणु में पुरुष शब्द का प्रयोग और ज्ञान होते हैं । जैसे सीपी में अकस्मात् रजत इस प्रकार के शब्द का निश्चित प्रयोग और ज्ञान होते हैं, उसी प्रकार देहादि संघात में निरूपचार से (गुण ज्ञान के बिना) जो अहं शब्द का प्रयोग और ज्ञान आत्मानात्मा के अविवेक से उत्पन्न होते हैं वह गौण कैसे कहे जा सकते हैं ।

आत्मानात्मविवेकिनामपि पण्डितानामजाविपालानामिवाविविक्तौ शब्द-प्रत्ययौ भवतः । तस्माद्देहादिव्यतिरेकात्मास्तित्ववादिनां देहादावहंप्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः । तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् । तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—'तद्यथाहिनित्वं यनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते, अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव' (बृह० ४।४।७) इति । 'सचक्षुरचक्षुरिव'^२ सकर्णोऽकर्ण इव

१. दृष्टकारण के बिना अदृष्टविशेष से ।

२. वस्तुतोऽचक्षुरपि बाधितवृत्त्या सचक्षुरिव, इत्यादि टीकाकार योजना करते

सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव' इति च । स्मृतिरपि च—
'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (भ० गो० २।५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणान्या-
न्वक्षाणां त्रिदुषः सर्वप्रवृत्त्यसम्बन्धं दर्शयति ।

आत्मा साक्षात्कार से रहित आत्मानात्म के विवेकी श्रवणादि में कुशल पण्डितो
को भी व्यवहार काल में बकरा मेघ के पालक गडेगिया के समान विवेक रहित शब्द
और ज्ञान शरीरादि में होते हैं, यही पहले कहा गया है 'पञ्चादिभ्यश्च विशेषात्' ।
इत्यादि सूत्र से । इससे देहादि से मित्र आत्मवादो को देहादि में अह (मैं) ऐसा ज्ञान
मिथ्या (भ्रम) रूप ही होता है गौण नहीं होता और देहात्मवादो को तो उसकी
दृष्टि में गौण भ्रम दोनों से भिन्न पदार्थ ही होता है । उक्त रीति से मिथ्या ज्ञान
निमित्तक सशरीरत्व के होने से मिथ्या ज्ञान रहित विद्वान् को जीतेजी भी अशरीरत्व सिद्ध
है । इस प्रकार के विद्वान् को वर्णन करने वाली श्रुति है कि जीतेजी ज्ञानी ब्रह्म होता है ।
उसमें दृष्टांत है कि—साँप का जीर्णत्वम् साँप के बिल आदि में सर्प से त्यक्त और भूत
देह के समान सर्प के अमिमान से रहित जैसे पड़ा रहता है, उसी प्रकार इस विद्वान्
का शरीर अमिमानादि में रहित रहता है और वह ज्ञानी अशरीर अमृत प्राणों का
प्राण ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, तेज (विज्ञान ज्योति) स्वर्ण हो जाता है और
सचन् रहने भी अमिमान रहित होने से अचक्षु तुल्य होता है । इसी प्रकार स्वर्ण
होते अकर्ण, भवाक् होते अवान्, मनसहित होते मनरहित और अप्राण होते अप्राण
तुल्य होता है । स्मृति भी स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धि वाला) का 'क्या भाषा (लक्षण)
है' इत्यादि पञ्चसूत्र स्थितप्रज्ञ (जोष-मुक्त) ज्ञानी के लक्षणों को कहती हुई विद्वान्
को शरीरादि रहते भी अमिमानादि के अभाव में सत्य प्रवृत्ति का असम्बन्ध दर्शाती है ।

तन्मात्रावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं ममाग्नित्वम् । यस्य तु यथापूर्वं ममा-
ग्नित्वं नाभावगतब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम् । यत्पुनरुक्तं श्रवणात्परावर्तितोर्मन-
नानिदिध्यामनयोर्देशनाद्विधिगोपत्वं ब्रह्मणो न स्वल्पपर्यवसायित्वमिति, न,
अवगच्छन् अवगत्यैव त्वान्मनननिदिध्यासनयोः । यदि ह्यवगतं ब्रह्मान्यत्र विनि-
युज्येत भवेन्नदा विधिगोपत्वम्, न तु नदस्ति, मनननिदिध्यामनयोरपि श्रव-
णवदवगत्यैवत्वात्, तन्मात्रं प्रतिपत्तिविधिपयस्यया शास्त्रप्रमाणवत्त्वं ब्रह्मणः
सम्भवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म, शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तभावयममन्यवादिनि
सिद्धम् । एव च मति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयं पृथक्शास्त्राग्भे
उपपद्यते । प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि 'अथातो धर्मजिज्ञासे'त्येवार्थवत्त्वात् पृथ-
क्शास्त्रमारभ्येत ।

पूर्वोक्तं श्रुतिस्मृति आदि से सिद्ध हुआ कि ब्रह्मात्मरूपता के अपरोक्ष अनुमति का

है कि ज्ञानी वस्तुतः आँख कान बाणादिरहित हो जाता है, परन्तु सचन् आदि के
सदृश भासता है ।

अज्ञदशा के समान संसारित्व नहीं रहता है, प्रारब्धवश वाधितानुवृत्ति मले ही रहती है, और श्रवणादि करने पर भी जिसको पूर्व के समान देहादिके अभिमानित्वादिरूप संसारित्व रहता है, वह ब्रह्मात्मभाव की अपरोक्षता से रहित रहता है, श्रवणादि करने पर भी किसी प्रतिबन्धक दोष से आत्मसाक्षात्कार नहीं करने पाता है, इससे मोक्ष-लाम के लिये ही दोषरहित वेदान्त शास्त्र है। जो पहले कहा था कि श्रवण के बाद मनन ध्यान के विधि देखने से ब्रह्म को विधि का अङ्गत्व है, स्वरूपपर्यवसायित्व (स्वतन्त्र वेदान्तवेद्यत्व) नहीं है। वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि श्रवण के समान मनन निदिध्यासन को भी ज्ञान हेतुत्व है, इससे ज्ञान के लिये उनका विधान और व्यवहार किया जाता है। यदि अवगत (ज्ञात) ब्रह्म किसी कर्मोपासनादि में विनियुक्त होता (अंगरूप से विधि द्वारा सम्बन्ध वाला होता) तो विधि शेषत्व ब्रह्म को होता, परन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि मनन ध्यान को भी श्रवण के तुल्य ही ज्ञानार्थकता है। उनमें उपासना विधि के विषय रूप से ब्रह्म को शास्त्ररूप प्रमाण से ज्ञेयता नहीं सम्भव है, इस प्रकार स्वतन्त्र ही ब्रह्म वेदान्त वाक्यों के समन्वय से शास्त्ररूप प्रमाण का विषय है यह बात सिद्ध हुई, ब्रह्म के इस प्रकार स्वतन्त्र सिद्ध होने ही से 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र द्वारा ब्रह्मविषयक पृथक् शास्त्र का आरम्भ सिद्ध होता है। प्रतिपत्तिविधिपरक यदि ब्रह्म बोधक वाक्य सत्र होते तो (अथातो धर्मजिज्ञासा) यह पहले से ही आरब्ध था, उपासना भी मानस धर्म ही विशेष है, पृथक् शास्त्र का आरम्भ नहीं किया जाता।

आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत—'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासेति', 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोजिज्ञासा' (जै० ४।१।१) इतिवन्, ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्त्वप्रति-जातेति नदर्थो युक्तः शास्त्रारम्भः—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति। तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवमाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि चेतस्यणि प्रमाणानि। न ह्येत्यानुपादेयाद्विज्ञातात्मावगती निर्विषयाण्यप्रमानृकाणि च प्रमाणानि भवितु-मर्हन्तीति।

यदि कथंचिन् मानस धर्मविशेष के विचार के लिये पृथक् शास्त्र का आरम्भ भी किया जाता तो (अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा) ऐसा किया जाता। अर्थात् बाह्य साधन नाह्य धर्म विचार के बाद बाह्य साधन जन्य धर्म द्युद्धान्तःकरण होने से अवशिष्ट मानसधर्म के अधिकारियों के लिये मानस धर्म का विचार किया जाता है, इस प्रकार आरम्भ किया जाता। जैसे कि (अथातः क्रत्वर्थ) इत्यादि सूत्र का आरम्भ हुआ है। अर्थात् मीमांसा के तृतीय अध्याय में शेष शेषी के निर्णय के बाद कौन यज्ञ का अङ्ग है, एवं कौन यज्ञाङ्गता के बिना पुरुषार्थक है उस विचार का जैसे विशेष रूप से आरम्भ किया गया है, उसी प्रकार आरम्भ हो सकता था, किन्तु वैसा नहीं है और सिद्धान्त में तो ब्रह्मात्मा की एकता का ज्ञान पूर्व मीमांसा में अप्रतिज्ञात है, अर्थात् उसके विचार की

प्रतिज्ञा तथा विचारादि नहीं हुए हैं, इसमें उसके लिए (अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा) इस प्रकार पृथक् आरम्भ होना युक्त (उचित) है । उक्त हेतुओं में और आत्मज्ञान बाह्य धर्म के विरोधी भी है उससे 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अपरोक्षानुभव से पूर्व काल तक ही सब विधि और सब मन्त्र प्रमाण सत्य मानते हैं । क्योंकि (अहेय अनुपादेय) अत एव अद्वैत सत्य एक आत्मा के अपरोक्षानुभव होने पर, सत्यविपर्ययहित सत्यप्रमातारहित प्रमाण भी फिर सत्य होने के योग्य नहीं रह सकते हैं ।

अपि चाहु —

गौणमिथ्यात्मनोऽमर्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।

मद्ग्रह्यात्माहमित्येन बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥

अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः ।

अन्विष्ट स्यात्प्रमातृत्वं पाप्मदोषादिवर्जित ॥

देहात्मप्रत्ययी यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पित ।

लौकिक तद्वदेव प्रमाणत्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥ इति ॥ ४ ॥

उक्त विषय की ब्रह्मवेत्ता लोग भी इस प्रकार कहते हैं कि, सत्—सर्वथा बाध नाश विकारादि शुन्य साक्षिस्वरूप सर्वान्धा ब्रह्म (मन्त्रिज्ञानन्दावण्डितसत्त्व) 'मैं हूँ' इस प्रकार चास्त्र गुण आदि द्वाग बोध अपरोक्षानुभव होने पर अमङ्ग स्थिति होने में पुत्र और देहादि का बाध होता है । इनमें मिथ्यात्व का निश्चय और इनमें सम्बन्धाभाव का निश्चय होता है, इसमें गौणात्मा (पुत्रादि) और मिथ्यात्मा (देह) की उक्त बाध से वसता होने पर देह से पुत्रादि के जिन कार्य कर्म हो सकना है अर्थात् ज्ञानी के देहाभिमानादि जन्य ममतादिमूलक कर्म निवृत्त हो जाते हैं । क्योंकि उक्त कर्म कर्ता प्रमाता (व्यावहारिक जीव) है, और अन्वेष्टव्य (ज्ञातव्य) आत्मा के ज्ञान में पूर्वकाल में सत्यात्म को ही वह जाव प्रमाता समझता है, अर्थात् अपने प्रमातृत्व की आत्मा में कल्पना करता है, इसमें अन्विष्ट (प्रत्यक्ष) हुआ वह प्रमाता ही पापदोषादि से रहित शुद्धात्मा रूप मानने लगता है, जीवता भी बाधित हो जाती है । फिर किस कर्म में प्रवृत्त हो और किसके जिन्ये हा । ऐसा होने पर भी जैम देह में आत्मबुद्धि कल्पित मिथ्या होती हुई व्यवहार के लिये प्रमाण मानी जाती है, वैसे ही आत्ममायात् पर्यन्त यह, लौकिक प्रमाण प्रत्यक्षादि भी माने जाते हैं, और सब कर्तव्य भी तभी तक रहते हैं ।

(इति चतु मूर्ध्नी समाप्ता)

ईक्षत्यधिकरण (५)

तदैक्षतेतिवाक्येन प्रधानं ब्रह्म वोच्यते ।

ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात् प्रधानं सर्वकारणम् ॥ १ ॥

ईक्षणाच्चेतनं ब्रह्म क्रियाज्ञाने तु मायया ।

आत्मशब्दात्मतादात्म्ये प्रधानस्य विरोधिनी ॥ २ ॥

श्रुतिगत तदैक्षत इस वाक्य से प्रधान कहा जाता है या ब्रह्म, ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्ष है कि त्रिगुण प्रधान में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दोनों हैं इससे ईक्षता पूर्वक सर्व का कारण प्रधान है, अतः प्रधान ही तदैक्षत इस वाक्य से कहा जाता है । उत्तर है कि मुख्य ईक्षितृत्व को सिद्ध होते गीण मानना उचित नहीं प्रतीत होता, और जड़ प्रधान में मुख्य ईक्षण हो नहीं सकता, अतः ईक्षण के श्रवण से मुख्य चेतन ब्रह्म ही जगत् का कारण कहा गया है । उसमें भी माया से ज्ञान और क्रिया सिद्ध होती है । उस ईक्षिता में 'आत्म' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा जीवात्मा के साथ अभेद का प्रतिपादन किया गया है इसलिये दोनों बातें प्रधान की विरोधी हैं । जड़ प्रकृति चेतन जीव का आत्मा नहीं हो सकती है और न जीव से अमिन्न हो सकती है, इससे सर्वात्मा ब्रह्म उक्त वाक्य से कहा गया है ।

एवं तावद्वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मात्मावगतिप्रयोजनानां ब्रह्मात्मनि तात्पर्येण समन्वितानामन्तरेणापि कार्यानुप्रवेगं ब्रह्मणि पर्यवसानमुक्तम् । ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिं जगदुत्पत्तिस्थितिनाशकारणमित्युक्तम् । साङ्ख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतयैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्ति, सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषन्ति ।

प्रधानपुरुषसंश्लेणा नित्यानुमेया इति साङ्ख्या मन्यन्ते । काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमीते । अणूश्च समवायिकारणम् । एवमन्येऽपि तार्किका वाक्याभासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ते ।

सुखपूर्वक बोध के लिये और आक्षेपरूप अवान्तर सङ्गति दर्शाने के लिये भाष्यकार पूर्वकथित सारार्थ का अनुवादपूर्वक उत्तरभाष्य का आरम्भ करते हैं कि पहले उक्त रीति से कार्य के साथ संबन्ध के बिना भी ब्रह्मसाक्षात्कार प्रयोजन वाले ब्रह्मात्मा में ही तात्पर्य द्वारा समन्वित वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में ही पर्यवसान (बोधकरूप से स्थिति) कहा गया है । वह ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिवाला, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है, यह भी कहा गया है । यहाँ सांख्यादि शास्त्रवादी सिद्धवस्तु को

वेदान्त से अन्य प्रमाणों द्वारा ही ज्ञेय मानते हुए, ब्रह्म से मिल्न प्रधानादिरूप जगत् के कारणों का अनुमान करते हुए, प्रधानादि परत्वेन (प्रधानादि बोधकत्वेन) वेदान्त वाक्यों की योजना (सम्बन्ध) करते हैं। तथा वे लोग मानते हैं कि सृष्टिविषयक सर्ववेदान्त वाक्यों में कार्यरूप अनुमान (हेतुलिङ्ग) से ही कारणरूप प्रवृत्ति आदि दिखलाने की इच्छा का विषय है, जंसे धूम से अग्नि दिखलाई जाती है। अग्निप्राय यह है कि मानान्तर के अयोग्य कूटस्थ ब्रह्म में ब्रह्मपद का शक्तिग्रह नहीं हो सकता है, न शास्त्र से उसका शक्ति के ज्ञान बिना बोध हो सकता है, न लोक में कहीं जड़ का चेतन उपादान कारण देखा गया है जिसमें जड़ जगत् का निमित्तोपादान कारण ब्रह्म का अनुमान हो सके इसमें जड़ प्रवृत्ति ही जगत् का उपादान कारण है परन्तु केवल जड़ में प्रवृत्ति का असम्भव है इसमें अविवेक मूलक प्रधान और पुरुष के संयोगों को भी नित्यानुमेय—सदा अनुमान से जानने योग्य—मानते हैं। (द्रष्टृदृश्यो संयोगो हेयहेतुः । तस्य हेतुरविद्या । योगद० सा० १७, २४) द्रष्टा और दृश्य का संयोग ससार दुःख का कारण है। और संयोग का हेतु अविद्या—अविवेक—है। (न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य संयोगस्तदयोगादते । कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात् । शास्त्रद० अ० १।१९, १३५) नित्यशुद्धादि स्वभाववाले आत्मा को प्रवृत्ति के साथ सम्बन्ध किये बिना ससार से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इससे प्रवृत्ति के साथ संयोग मूलक अविवेक जय ससार है, यह विवेक ज्ञान से निवृत्त होता है। एवं कार्यरूप विशेषादि पदार्थों से अविशेषादि कारणों का अनुमान करना चाहिये, क्योंकि कार्य के साथ कारण को रहना देखा गया है। कारणाद—बैरोपिक—शास्त्रवादी तो इन वेदान्त गत मृष्टिवोधक वाक्यों से ही निमित्त तत्त्वकारणरूप ईश्वर का अनुमान करते हैं, परमाणुओं को समवायी (कार्याधार) कारण अनुमान से मानते हैं। इसी प्रकार अथ भी तर्क में प्रवृत्त होनेवाले श्रुतिगत वाक्याभास (अर्थवादादि वाक्य) एवं अस्तु तर्क का अवलम्बन कर इस अद्वैत सिद्धान्त में पूर्वपक्षवादी होकर उपस्थित होने है।

तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञानाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभामयुक्त्याभामप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते ।

उक्त श्रुति में वादियों के विवाद के उपस्थित होने पर, वेदान्त वाक्यों का यह साक्षात्कार में तात्पर्य दिखलाने के लिये, पद (व्याकरण) वाक्य (मीमांसा) और प्रमाण (न्याय) के पूर्ण ज्ञाता आचार्य में वे वाक्याभास और युक्त्याभास में प्रतिपत्ति (निरुक्त्य) वाले को पूर्वपक्षी बनाकर निराकृत किये जाते हैं, तथा उनके वाक्याभास असंशुक्ति विषयक जा प्रतिपत्ति (विरुद्ध समझ) है, उसको पूर्वपक्ष बनाकर उसका टाढन किया जाता है। महत्प्रमाण वाले स्वापेक्षा अल्पपरिमाण से ही उत्पन्न होते हैं, जैसे तन्तुओं से महान् पट होता है, परमाणु में जगत् होता है, विष्णुब्रह्म से नहीं। सूक्ष्म जड़ प्रवृत्ति से जगत् हो सकता है, चेतन ब्रह्म से नहीं। महाप्रलय में दीप

निर्वाण तुल्य जगत् शून्य हो जाता है, इससे शून्य ही सत्य है, फिर उसीसे जगत् होता है सदब्रह्म से नहीं इत्यादि मतभेद युक्त्याभास हैं। एवं (असद्वा इदमग्र आसीत्) इत्यादि वाक्य आभासमात्र है।

तत्र साङ्ख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः— यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दर्शयन्तीत्यवोचस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते। कथम्? यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' (गी० १४।१७) इति स्मृतेः। तेन च सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन कार्यकारणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयोक्त्यै सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्। न केवलस्याकार्यकारणस्य पुरुषस्योपलब्धिमात्रस्य सर्वज्ञत्वं किञ्चिज्ज्ञत्वं वा कल्पयितुं शक्यम्।

उन पूर्वोक्त वादियों में सत्त्व रज तम तीन गुणयुक्त अचेतन प्रधान (प्रकृति) को कारण माननेवाले सांख्यवादी इस प्रकार कहते हैं कि जो तुमने कहा है कि वेदान्त के वाक्य सब सर्वज्ञ सर्वशक्ति वाले ब्रह्म को जगत् का कारणत्व प्रदर्शित करते हैं वह सब वाक्य प्रधान कारणपक्ष में ही जोड़े जा सकते हैं। क्योंकि प्रथम प्रधान ही अपने कार्यविषयक सर्वशक्तित्व युक्त हो सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व भी वह बन सकता है। कहो कि कैसे तो सुनो, जिसको ज्ञान समझते हो, वह सत्त्वगुण का धर्म है। गीता में लिखा है कि सत्त्वगुण से ज्ञान होता है। उसी सत्त्वगुण के धर्म ज्ञान से कार्यकारण (देहेन्द्रिय) वाले सर्वज्ञयोगी पुरुष संसार में प्रसिद्ध हुए और होते हैं। सत्त्वगुण के निरतिशय (अत्यन्त) उत्कर्ष (वृद्धि) होने पर रजस्तमो गुण के अभिभूत होने से सर्वज्ञत्व प्रसिद्ध होता है। उसकी उत्कर्षता नहीं रहने से ही सब प्राणियों में सत्त्व गुण रहते हुए भी सब लोग सर्वज्ञ नहीं होते हैं। इस प्रकार सत्त्व निमित्तक कार्यकरणवान् को सर्वज्ञत्व सिद्ध होने पर सत्त्व की न्यूनता द्वारा अल्पज्ञत्व सिद्ध होने से केवल (एक) कार्यकारण रहित उपलब्धि मात्र (नित्यचिन्मात्र) पुरुष (ब्रह्म) सर्वज्ञत्व वा अल्पज्ञत्व की कल्पना करने योग्य नहीं है। संसार में कोई कार्य एक होकर ज्ञानादि को नहीं उत्पन्न करता है, किन्तु अनेक प्रमाण प्रमेयादि युक्त होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं। वहाँ ब्रह्म केवल है, और प्रकृति विगुण है। इसमें प्रकृति जगत् का कारण है ब्रह्म नहीं यह भाव है।

त्रिगुणत्वात् प्रधानस्य सर्वज्ञानकारणभूतं सत्त्वं प्रधानावस्थायामपि विद्यत इति प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते। वेदान्तवाक्येष्ववश्यं च त्वयापि सर्वज्ञं ब्रह्माभ्युपगच्छता सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमुपगन्तव्यम्। नहि सर्वविषय ज्ञानं कुर्वदेव ब्रह्म वर्तते। तथाहि—ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वात्तन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयते। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमाप्नोति। अपि च प्रागुत्पत्तेः सर्व-

कारकशून्य ब्रह्मेप्यते त्वया । न च ज्ञानसाधनानां शरीरेन्द्रियादीनामभावे
ज्ञानोत्पत्तिरिति कस्यचिदुपपत्त्या । अपि च प्रधानस्यानेकात्मकस्य परिणाम-
सम्भवात्कारणत्वोपपत्तिर्मृदादिवत्, नासहस्रस्यैकात्मकस्य ब्रह्मण इत्येव प्राप्त
इदं सूत्रमारभ्यते—

यदि कहा जाय कि गुणों की साम्यावस्था को साम्य मत में प्रधान कहा जाता है,
उस अवस्था में सत्त्व की उत्कर्षता के अभाव से सर्वज्ञता नहीं रह सकती, तो यह
कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान के त्रिगुणयुक्त होने से सत्र ज्ञान के कारणरूप सत्त्वगुण
उस प्रधानावस्था में भी रहता है । इससे अचेतन होते हुए भी प्रधान को ही उपचार
(गौणी वृत्ति) से सर्वज्ञ कहा जाता है । वेदान्त वाक्यों में सर्वज्ञ ब्रह्म को प्रतिपाद्य
मानने वाले तुमको भी सर्व ज्ञान की शक्ति वाला होने से ही सर्वज्ञत्व अवश्य मानना
होगा । क्योंकि ब्रह्म सदा सर्व विषयन ज्ञान करता हुआ ही नहीं रहता है ।
यही इस प्रकार समझना चाहिये कि यदि सर्व विषयक ब्रह्म का ज्ञान नित्य हो तो
ज्ञानरूप क्रिया के प्रति ब्रह्म का स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी अर्थात् वह ज्ञान का वर्तन
ज्ञाता नहीं रहेगा । यदि वह ज्ञान अनित्य है तो ब्रह्म कभी ज्ञान क्रिया से उपरान्त
(गृहित) भी हो सकता है, अर्थात् ज्ञान क्रिया से गृहित भी रह सकता है, तो उस
काल में सर्वज्ञान शक्तिवाला होने ही से सर्वज्ञत्व ब्रह्म में भी सिद्ध होना है ।
संसार की उत्पत्ति से पहले सर्व ज्ञानादि के कारणों से रहित ब्रह्म तुममें माना जाता
है और ज्ञान के साधन शरीर इन्द्रियादि के अभाव रहते किसी को ज्ञान होना वन
नहीं सकता है, इससे शरीरादि रहित ब्रह्म को सर्वज्ञादि होना असंभव है, और
अनेकात्मक (त्रिगुण) प्रधान का तो मृदादि के समान परिणाम हो सकने से कारणत्व
की निश्चिती होती है अतः (केवल एकात्मा) ब्रह्म का परिणाम के अभाव से उसे
कारणत्व नहीं बन सकता है । इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर यह सूत्र का आरम्भ
होना है कि—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

सूत्र का सक्षिप्त अर्थ यह है कि (न विद्यते साख्यरीत्या स्वातन्त्र्येण प्रतिपादकं शब्द
श्रुतिर्यस्य तद् अशब्द प्रधान न वेदान्तप्रतिपाद्य युक्त्यापि भवितुमर्हति, कुत, ईक्षते ।
साक्षादमीनेक्षितृन्वश्रवणादित्यादि) यद्यपि (आनीदृशात् स्वधया तदेवम् । ऋ ८।७।१७।२
प्रधानक्षेत्रज्ञपरिगुणश्च । श्वेता० ६।१६) इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है कि वायु रहित
स्वधा (माया) सहित एक वह ब्रह्म सृष्टि से प्रथम था, वही प्रधान और क्षेत्रज्ञ (जीव)
का स्वामी है, गुणों का प्रेरक है इत्यादि । तथापि साख्य की रीति से स्वतन्त्र रूप से
प्रधान का प्रतिपादक श्रुति नहीं है, इसलिये प्रधान को 'अशब्द' कहा गया है । अत एव
ईक्षण कर्तृत्व श्रुति वेदान्त से भी प्रतिपादन योग्य नहीं है (अत एव च ईक्षते श्रवणा-
न्विदात्मक ब्रह्म, अशब्दम्, श्रुत्यप्रतिपाद्यमित्यपि न वक्तुं युक्तम् किन्तु ब्रह्मैव वेदान्त-

प्रतिपाद्यमिति सर्वेवेदवादिभिर्मन्तव्यम्) । इति ईक्षणं कर्तृत्वं श्रुति से चिदात्मा ब्रह्म, अशब्द, श्रुति से प्रतिपादन के अयोग्य है यह बात कहने योग्य नहीं है, किन्तु सब वेदवादी को मानना चाहिये कि सच्चिदानन्द सर्वज्ञ सर्वशक्ति युक्त स्वतन्त्र ब्रह्म ही वेदान्त से प्रतिपादन के योग्य है ।

न साङ्ख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम् । अगद्वं हि तत् । कथमशब्दत्वम् ? ईक्षतेः—ईक्षितृत्वश्रवणात् कारणस्य । कथम् ? एवं हि श्रूयते—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ (छान्दो० ६।२।१) इत्युपक्रम्य ‘तदेक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत, (छान्दो० ६।२।३) इति । तत्रेदशब्दवाच्यं नामरूपव्याकृतं जगत्प्रागुत्पत्तेः सदात्मनावधार्यं तस्यैव प्रकृतस्य सच्छब्दवाच्यस्येक्षणपूर्वकं तेजः प्रभूतेः स्रष्टृत्वं दर्शयति । तथान्यत्र—‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यकिञ्चन मिपत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाल्लोकान्सृजत’ (ऐत० १।१।१) इतीक्षापूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे । क्वचिच्च पोडगकल पुरुषं प्रस्तुत्याह—स ईक्षांचक्रे । स प्राणमसृजत’ (प्रश्न० ६।३) इति ।

सांख्य द्वारा स्वतन्त्र रूप से परिकल्पित (अनुमित) प्रधान, वेदान्त में जगत् के कारण रूप से मानने योग्य नहीं है, अर्थात् वह वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय नहीं है, क्योंकि वह प्रधान ‘अशब्द’ है । यदि कहा जाय कि प्रधान को अशब्दत्व कैसे है ? तो उत्तर है कि ‘ईक्षति’ क्रिया से अशब्दत्व है, क्योंकि जगत् कारण को ईक्षण (दर्शन) कर्तृत्वं सुना गया है । कैसे सुना गया है ? ऐसी आकांक्षा हो तो सुनो—वेदान्त में इस प्रकार पिता पुत्र का संवाद सुना जाता है कि (अरुण नामक पिता श्वेतकेतु पुत्र से कहता है कि) हे सौम्य यह सब जगत् सृष्टि से प्रथम सन्मात्र ही था एक ही था द्वैत रहित था, इस प्रकार उपदेश का उपक्रम (आरम्भ) करके, कहा कि वह सत् ईक्षण (आलोचन विचार) किया कि बहुत होऊँ, बहुरूप से उत्पन्न होऊँ, फिर वह तेज को उत्पन्न किया इत्यादि । वहाँ ‘इदं’ शब्द का अर्थ नामरूप से व्यक्त जगत् को उत्पत्ति से प्रथम सत् रूप ही से निश्चय करके फिर उसी प्रकृति (प्रकरण प्राप्त) सत् शब्दार्थ को ईक्षण पूर्वक तेज आदि की सृष्टिकर्ता श्रुति दर्शाती है । इसी प्रकार अन्यत्र भी ईक्षण पूर्वक ही सृष्टि कहती है कि एक आत्मा ही प्रथम था, अन्य कुछ भी मिपत् (क्रियायुक्त प्राणी आदि) नहीं था, वह आत्मा ईक्षण किया कि लोकों की सृष्टि करूँ, और वह इन लोकों को रचा इत्यादि । और कहीं पोडग प्राणादि कला (अंश) वाला पुरुष के प्रसंग निरूपण का आरम्भ करके श्रुति कहती है कि वह पुरुष विचार किया और वह प्राण को रचा ।

ईक्षतेरिति च धात्वर्थनिर्देशोऽभिप्रेतः, यजतेरिति वत् । न धातुनिर्देशः । तेन ‘यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च

“जायते” (मुण्ड० १।१९) इत्येवमादीन्यपि सर्वज्ञेश्वरकारणपराणि वाक्यान्पु-
दाहर्तव्यानि । ननूक्त सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञ प्रधान भविष्यतीति, तन्नोप-
पद्यते । नहि प्रधानावस्थाया गुणसाम्यात्मत्वधर्मो ज्ञान संभवति । ननूक्त
सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञ भविष्यतीति । तदपि नोपपद्यते । यदि गुणानाम्ये-
मिति सत्त्वव्यपाश्रया ज्ञानशक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञ प्रधानमुच्येन काम रजस्तमो-
व्यपाश्रयामपि ज्ञानप्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किञ्चिज्ज्ञमुच्येत । अपि च नामा-
क्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते । न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति ।
तस्मादनुपपन्न प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम् । योगिना तु चेतनत्वात्सात्त्वोत्कर्षनिमित्तं
सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम् ।

यद्यपि (इहस्तिषी घातुनिर्देशे) इस व्याकरण के अनुसार ईक्षति शब्द घातु
के उच्चारणार्थ में होना चाहिये तथापि यहाँ घातु के निर्देश अर्थ में ‘ईक्षते’ यह सूत्रार्थ
नहीं है, किन्तु घात्वर्थ (ईक्षण) में अग्निप्रेत (तान्पर्यं वाला) है । जैसे कि (इतिवर्तव्य-
साविधेयंजते पूर्ववत्त्वम् ७।४।१) इस जैमिनिमूत्र में ‘यजति’ शब्द याग वाचक है ।
उस ईक्षति के समान ही जो सर्वज्ञ सर्ववेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है उसी में
यह कार्य ब्रह्म (हिरण्य गमं) नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं, इत्यादि अर्थ के
बोधक सर्वज्ञेश्वरपरम वाक्य उदाहरण के योग्य हैं । पहले जो कहा गया था कि सत्त्वगुण
के धर्मज्ञान में प्रधान ही सर्वज्ञ हो सकता है, सो वह नहीं बन सकता है । क्योंकि गुणा
की समता रूप प्रधानावस्था में गुण की समता से सत्त्व गुण का धर्मरूप ज्ञान नहीं
हो सकता है । एव जो यह कहा गया था कि सब ज्ञान की शक्तिमत्ता में प्रधान सर्वज्ञ
हो मक्केगा, वह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि यदि गुणों की समता होने पर भी सर्व-
गुणाश्रित ज्ञानशक्ति का आश्रयण (स्वीकार) करके प्रधान को सर्वज्ञ कहा जाय,
तो रजस्तमोगुण के आश्रित ज्ञान के प्रतिबन्धक शक्ति का आश्रयण करके प्रधान को
अल्पज्ञ भी कहा जा सकता है, जिस अल्पज्ञता से उसके द्वारा सृष्टि का असम्भव हो सकता
है । साक्षात् द्रष्टा साक्षी में रहित सत्त्वगुण की वृत्ति (परिणाम) भी ज्ञान शब्द
से नहीं कही जाती है और अचेतन प्रधान को साक्षिता नहीं है । उसमें प्रधान को
सर्वज्ञता अस्मिद है । योगियों को तो चेतनता में सत्त्वगुण के आधिक्यनिमित्तक सर्वज्ञत्व
बन सकता है, इसमें प्रधान की सर्वज्ञता में योगी दृष्टान्त नहीं हो सकते हैं ।

अथ पुन साक्षिनिमित्तमीक्षितृत्व प्रधानस्य कल्प्येत, यथाग्निनिमित्तमय
पिण्डादेशंमृत्त्वम् । तथापि यन्निमित्तमीक्षितृत्व प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञ मुख्यं
ब्रह्म जगत कारगमिति युक्तम् । यत्पुनरुक्त—ब्रह्मणोऽपि न मुख्य सर्वज्ञत्व-
मुपपद्यते, नित्यज्ञानक्रियत्वे ज्ञानक्रिया प्रति स्वातन्त्र्यासम्भवादिति । अत्रो-
च्यते—इव तावद्भवान् प्रष्टव्यः, कथं नित्यज्ञानक्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति । यस्य
हि सर्वत्रिपयावमानक्षम ज्ञान नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिपिद्धम् ।

अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्ज्ञानाति कदाचिन्न जानातीत्यसर्वज्ञत्वमपि स्यात् नामी ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति । ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेगो नोपपद्यत इति चेत्, न; प्रतर्तीष्यप्रकाशोऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेगदर्शनात् । ननु सवितुर्दाह्यप्रकाशसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेगः स्यात्, न तु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्जनिकर्मसंयोगोऽस्तीति विषयो दृष्टान्तः, न; असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात् ।

यदि सेश्वर सांख्यवाद को मानकर जैसे अग्निनिमित्तक लोहपिण्ड में दाहकत्व होता है, वैसे ईश्वर रूप साक्षिनिमित्तक प्रधान के द्रष्टृत्व ईक्षितृत्व को कल्पना की जाय, तो ऐसा मानने की अपेक्षा जिस ईश्वर निमित्तक प्रधान को ईक्षितृत्व है, वही मुख्य सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है ऐसा मानना उचित है । और जो पहले यह कहा गया था कि ब्रह्म को मुख्य सर्वज्ञत्व नहीं बन सकता है, क्योंकि नित्यज्ञान क्रिया वाला ब्रह्म हो तो उसको ज्ञान क्रिया के प्रति स्वतन्त्रता का असम्भव है । इस सम्बन्ध में कहना है कि यह बात पहले आपसे पूछी जाती है कि नित्यज्ञान क्रियावत्त्व ब्रह्म में रहते हुए भी उसकी सर्वज्ञता की हानि कैसे होती है ? जिसको सब विषयों के प्रकाशन में समर्थ ज्ञान नित्य है, वह सर्वज्ञ नहीं है, यह तो विग्रह बात है । यदि ज्ञान अनित्य हो तब तो कभी जानता है कभी नहीं जानता है, इससे असर्वज्ञता हो सकती है; परन्तु वह दोष ज्ञान के नित्यत्व पक्ष में नहीं है । यदि कहो कि ज्ञान के नित्य होने पर ज्ञानविषयक स्वतन्त्रता का व्यपदेश (व्यवहार) नहीं बन सकता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतत (संतत-नित्य) उष्णता और प्रकाश वाले सूर्य में भी जलाता है प्रकाशित होता है इस प्रकार दाह प्रकाश क्रिया के प्रति स्वतन्त्रता का व्यवहार होता है । यदि कहो कि दाह योग्य और प्रकाश योग्य वस्तु के साथ सूर्य के अनित्य संयोग होने से दहति प्रकाशयति (जलाता है, प्रकाशता है) यह स्वतन्त्रता का व्यवहार हो सकता है और उत्पत्ति से प्रथम ब्रह्म को तो ज्ञान के कर्मों से संयोग नहीं है, इससे यह ब्रह्म विषयक सूर्य का दृष्टान्त विषम (अयोग्य) है, तो इसका उत्तर है कि यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कर्म की विवक्षा नहीं रहते भी सूर्य प्रकाशता है । इस प्रकार प्रकाश क्रिया के कर्तृत्व का सूर्य में व्यवहार होता है ।

एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तद्वैत' इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तर्न वैषम्यम् । कमपिधायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः । किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति ? तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिंकीर्षिते इति ब्रूमः । यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्थेश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति । यदप्युक्तम्— प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मणः शरीरादिसंबन्धमन्तरेणेक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यम-

वतरति, सविनृप्रकाशवद्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्ते । अपि चाऽविद्यादिमत समारिण शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्ति स्यान्न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य । मन्त्रो चेमावीश्वरस्य शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानता च दर्शयन् —

नूनं के समान ही कर्म की अपेक्षा बिना भी (वह ईक्षण क्रिया) इस प्रकार कर्तृता का व्यवहारादि हो सकने से दृष्टान्त में विषमता नहीं है । यदि कर्म की अपेक्षा हो तब तो ब्रह्म विषयक ईक्षितृत्व विषयक श्रुतियाँ अत्यन्त उपपन्न (युक्तियुक्त) सिद्ध होती हैं । यदि कहा कि जगत की उत्पत्ति से पूर्व वह कौन ज्ञान वा कर्म रहता है जो ईश्वरीय ज्ञान का विषय होता है, तो उत्तर है कि (न मदासीन्नासदासीन्) इत्यादि मन्त्रों के अनुसार तत्त्वान्यत्व (न यत्त्व अमत्यत्व) रूप में निबन्धन (निर्णय) के अधीन, अव्यक्त व्यक्त करने की इच्छा के विषयीभूत, नाम रूप ही ईश्वरीय आलोचन का कर्म होता है यह हम कहते हैं और निम्न ईश्वर की प्रमत्तता से योगियों के अतीत अनागत (भूतमावी) वस्तु विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान को योगशास्त्रज्ञ चाहते मानते कहते हैं, उस नित्यसिद्ध ईश्वर की सृष्टि स्थिति सहाय विषयक नित्यज्ञान होता है, इस विषय में फिर कहना ही क्या है । जो यह कहा गया था कि सृष्टि से प्रथम शरीरादि के साथ सम्बन्ध के बिना ब्रह्म की ईक्षणकर्तृत्व नहीं हो सकता, वह चोद्य (शका) तो बुद्धिमान को हा ही नहीं सकती है, क्योंकि मूल के प्रकाश के समान ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप के नित्य होने में ज्ञान के साधनों की अपेक्षा की अस्ति है और अविद्यादि वाले समारो को शरीरादि साधन से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और ज्ञान के प्रतिबन्धक कारण (बिन्धो) में रहित ईश्वर को शरीरादि की अपेक्षा पूर्वक ज्ञान नहीं होता है । यह वक्ष्यमाण दो मन्त्र ईश्वर को शरीरादि की अपेक्षा बिना ही निरावरण ज्ञानिता दर्शाने हैं—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तन्ममश्चाभ्याधिकश्च दृश्यते ।

परास्य नक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च ॥

(श्वेता० ६।८) इति ।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

म वेत्ति चेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्यं पुरुषं महान्तम् ॥

(श्वेता० ३।११) इति च ।

ननु नास्ति तावज्ज्ञानप्रतिबन्धकारणयानीश्वरादन्यं समारो, 'नान्योज्जोऽस्ति द्रष्टा नान्योज्जोऽस्ति विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति श्रुते । तत्र किमिदमुच्यते समारिण शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति । अनोच्यते— सत्यं, नेश्वरादन्यं समारो । तथापि देहादिमघातोपाधिसबन्ध इष्यत एव, अटकरकगिरिगुहाद्युपाधिसबन्ध इव व्योम्नः । तत्कृत्वा शब्दप्रत्ययव्यवहारो

लोकस्य दृष्टो घटच्छिद्रं करकादिच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि, तत्कृता चाकाशे घटाकाशादिभेदमिथ्याबुद्धिर्दृष्टा । तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसंवन्धाविवेककृतेश्वरसंसारिभेदमिथ्याबुद्धिः ।

उस ईश्वर को कार्य (शरीर) कर्ण (इन्द्रिय) नहीं है, न उसके तुल्य वा उससे अधिक है । परन्तु उसकी विविध कार्य में समग्र विविधा पराशक्ति मुनी जानो है और स्वभाविकी ज्ञानबल से क्रिया मुनी जाता है, तथा ज्ञानक्रिया बलक्रिया स्वभाविकी मुनी जाती है । और हाथ-पैर रहित होते हुए भी ग्रहण करता है, और वेगवाला है, आँख रहित भी देखता है, कानरहित भी सुनता है, वह सब ज्ञेय वस्तु को जानता है, उसको विषय के समान जानने वाला कोई नहीं है । उसीको अन्य (अनादि) महान्-पुरुष कहते हैं । शंका होती है कि 'ज्ञान के प्रतिबन्धक कारणवाले ईश्वर से अन्य संसारी का इस एक सत्यात्मा से अन्य द्रष्टा विज्ञाता नहीं है' इत्यादि श्रुति के अनुसार अभाव है, इस अवस्था में यह कैसे कहा जाता है कि संसारी को शरीर सापेक्ष ज्ञान होता है, ईश्वर को नहीं ? यहाँ उत्तर है कि 'ईश्वर से सत्यभेदयुक्त संसारी नहीं है' यह श्रुति का कथन सत्य ही है, तो भी देहादि संघातरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध, शास्त्र को भी इष्ट है । शास्त्र ईश्वर की उपाधि का सम्बन्ध मानता है । वह सम्बन्ध भी असं-गात्मा को इस प्रकार का है कि जैसे घट, कमण्डल, पर्वत की गुफादिरूप उपाधि के साथ आकाश का सम्बन्ध होता है, और उस सम्बन्ध जन्म शब्द तज्जन्म ज्ञानरूप व्यवहार भी लोक में देखा गया है । जैसे कि आकाश से भिन्न नहीं होते हुए भी कहा और समझा जाता है कि यह घटच्छिद्र (घटाकाश) है करकाकाश है इत्यादि, और इस व्यवहार से श्रोता को भी आकाश में घटाकाशादि भेद की मिथ्या बुद्धि देखी गई है, वैसे ही यहाँ भी देहादि संघातरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध से अविवेकजन्य ईश्वर संसारी में मिथ्या भेद बुद्धि होती है ।

दृश्यते चात्मन एव सतो देहादिसंघातेऽनात्मन्यात्मत्वाभिनिवेशो मिथ्या-बुद्धिमात्रेण पूर्वपूर्वेण । सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः । यदप्युक्तम्—प्रधानस्यानेकात्मकत्वान्मृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नसिंहतस्य ब्रह्मण इति, तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम् । यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वाहुं शक्यते न प्रधानादीनाम्, तथा प्रपञ्चयिष्यति—'न विलक्षणत्वादस्य—' (ब्र० २।१।४) इत्येवमादिना ॥ ५ ॥

और सत्यात्मा रूप जीव को ही अनात्म स्वरूप देहादि संघात (समूह) में आत्मता का अभिनिवेश (मिथ्याभिमान) पूर्व-पूर्व मिथ्या बुद्धिमात्र (अनादिभ्रमप्रवाह) से देखा जाता है । इस प्रकार औपाधिक भेद से संसारित्व सिद्ध होने पर, संसारी को देहादि की अपेक्षा (सहायता) पूर्वक ईक्षितृत्व (ज्ञानित्व) भी सिद्ध हुआ । और जो यह कहा था कि मृदादि के समान प्रधान के अनेकात्मक (त्रिगुणात्मक) होने से उसको

कारणत्व बन सकता है, असह (केवल) ब्रह्म को कारणता युक्त नहीं है, इस उक्ति का निराकरण प्रधान के अशब्दत्व (शास्त्राबोधितत्व) से ही हो चुका है । और तर्क से भी जिस प्रकार ब्रह्म को ही कारणत्व का निर्वाह (सिद्धि) किया जा सकता है, और प्रधानादि को कारणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, उस प्रकार (रीति) का विस्तार पूर्वक वर्णन (न विलक्षणत्वादस्य) इत्यादि सूत्रों द्वारा किया जायगा ॥ ५ ॥

अत्राह—यदुक्तम्, नाचेतन प्रधान जगत्कारणमीक्षितृत्वश्रवणादिति । तदन्यथाप्युपपद्यते, अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात् । यथा प्रत्यामल्ल-पतनता नद्या कूलस्थालक्ष्य कूल पिपतिपतीत्यचेतनेऽपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वच्चेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यमल्लसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति 'तदैक्षत' इति । यथा लोके कश्चिच्चेतन स्नात्वा भुक्त्वाचापगच्छे ग्राम रथेन गमिष्या-मीतीक्षित्वानन्तर तथैव नियमेन प्रवर्तते, तथा प्रधानमपि बहुदाद्याकारेण नियमेन प्रवर्तते । तस्मान्चेतनवदुपचर्यते । कस्मात्पुन कारणाद्विहाय मुख्य-मीक्षितृत्वमौपचारिक कल्प्यते, 'ननेज ऐक्षन्' 'ना आप ऐक्षन्त' (छान्दो० १३।४) इति चाचेतनयोरप्यसौचित्यचेतनवदुपचारान्नदात् । तस्मात्प्रत्यक्ष-कर्मधीक्षणमीपचारिकमिति गम्यते, 'उपचारप्राये वचनात्' इति । एव प्राप्ते इदं सूत्रमागम्यते—

पूर्वपक्ष—

इस पूर्वोक्त सिद्धान्त में पूर्वपक्षी कहता है कि ईक्षणकर्तृत्व के सुनने में अचेतन प्रधान (प्रवृत्ति) जगत् का कारण नहीं है, यह जो सिद्धान्ती ने कहा है, जिसका तात्पर्य है कि ईक्षण पूर्वक कर्तृत्व जट में नहीं हो सकता, वहाँ कहा जाता है कि अन्यथा (प्रवृत्ति के अधेनन रहते हुए भी) ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व का युनि में वर्णन बन सकता है, क्योंकि वचेतन में भी चेतन के समान उपचार (गौण व्यवहार) देया जाता है । जैसे कि प्रत्यासन्न (अतिशोघ्र) पतन की उन्मुक्तता युक्त नदी के तट को देखकर, अन्ति शीघ्र गिरने वाले किनार को समझकर मनुष्य कहता है कि यह नदी का तट किनारा गिरना चाहता है । वही इस प्रकार अचेतन तट में भी चेतन के समान चाह (इच्छा) का व्यवहार (कर्तन) होता है, इसलिये उपचार (गौण) व्यवहार इष्ट (प्रत्यक्ष) है । उसीके समान सृष्टि काल के समीप प्राप्त होने पर अचेतन प्रधान में भी चेतन के समान गौण व्यवहार हो सकता है कि (तदैक्षत) उस सत् शब्दवाच्य प्रधान के विचार आलोचन किया इत्यादि । उसने ठीक में कोई चेतन पुद्गल विचार करता है कि स्नान और भोजन करने अपराह्न (मध्याह्न) काल में (वाहन खजे) गश् द्व ग अमुक ग्राम में जाऊँगा, और इस प्रकार विचार कर नियम ने विचार के अनुसार प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रधान भी सृष्टि के आदि काल में मत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) अहंकारादि रूप से नियम पूर्वक प्रवृत्त (परिणत) होता है, उसमें श्रुति

में उसका चेतन के समान ईक्षण विषयक गौण व्यवहार किया गया है। शंका होती है कि मुख्य चेतन कर्तृक ईक्षण कर्तृत्व को त्यागकर गौण की कल्पना क्यों की जाती है, तो उत्तर है कि (तत्तेज) वह तेज ईक्षण किया, वे जल ईक्षण किये। इस प्रकार अचेतन तेज और जल का ईक्षण उसी प्रकरण में देखा गया है, जिससे अनुमान द्वारा जाना जाता है कि सत्कर्तृक (सत्कर्ताजन्य) ईक्षण भी गौण ही है, क्योंकि उपचारप्राय (बहुत गौण) के प्रकरण में उसका कथन है। इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर इस सूत्र का आरम्भ होता है कि—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

सूत्र का सक्षिप्त अर्थ है कि (श्रुती सच्छब्दवाच्ये गौण ईक्षणकर्तृत्वप्रयोग इति न वाच्यम्, यस्मात्सदीक्षितुर्जोविषय आत्मशब्दो वर्तते जीवस्य चेक्षितविषयोऽप्यात्मशब्दो वर्तते, अचेतनस्य प्रधानस्य प्रसिद्धश्चेतनो जीव आत्मा स्वरूपं न भवितुमर्हति न वा चेतनस्य अचेतनमात्मा भवितुमर्हतीति) श्रुति में सत्शब्दार्थविषयक गौण ईक्षणकर्तृता का प्रयोग है—ऐसा कहने योग्य नहीं है। सत्य ईक्षिता का जीव विषयक आत्म-शब्द है, और जीव का ईक्षिता विषयक आत्मशब्द है, वहाँ अचेतन प्रधान का चेतन जीव आत्मा नहीं हो सकता, चेतन का अचेतन ही आत्मा हो सकता है। इससे मुख्य ईक्षितृत्व समझना चाहिये।

यदुक्तम्—प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं तस्मिन्नापचारिक ईक्षतिः, अप्तेजसोरिवति। तदसत्। कस्मात्? आत्मशब्दात्—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ इत्युपक्रम्य ‘तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत’ (छान्दो० ६।२।१, ३) इति च तेजोऽवन्नानां नृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितुं तानि च तेजोऽवन्नानि देवताशब्देन परामृश्याह—‘सयं देवतेक्षत’ हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’ (छान्दो० ६।३।२) इति। तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्त्येक्षितुं कल्प्येत तदेव प्रकृतत्वात्सेयं देवतेति परामृश्येत। न तदा देवता जीवमात्मशब्देनाभिदध्यात्। जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता, तत्प्रसिद्धेर्निर्वचनाच्च। स कथमचेतनस्य प्रधानस्यात्मा भवेत्? आत्मा हि नाम स्वरूपम्। नाचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वरूपं भवितुमर्हति। अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितुं परिगृह्यते तस्य जीवविषय आत्मशब्दप्रयोग उपपद्यते। तथा ‘स य एपोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ (छान्दो० ६।१।४।३) इत्यत्र स आत्मा इति प्रकृतं सदणिमानमात्मानमात्मशब्देनोपदिश्य ‘तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ इति चेतनस्य श्वेतकेतोरात्मत्वेनोपदिशति। अप्तेजसोस्तु विषयत्वादचेतनत्वम् नामरूपव्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेनैव निर्देशात्, न चात्मशब्दवत्किञ्चिन्मुख्यत्वे कारणमस्तीति युक्तं कूलवद्गौणत्वमीक्षितृत्वस्य। तयोरपि च सदधिष्ठितत्वापेक्षमेवेक्षितृत्वम्। सतस्त्वात्मशब्दान्न गौणमीक्षितृत्वमित्युक्तम् ॥ ६ ॥

पहले जो यह कहा गया है कि अचेतन प्रधान सत् शब्द का वाच्यार्थ है । उसमें जल और तेज में ईक्षण प्रयोग के समान गौण ईक्षण का प्रयोग (कथन) है । ऐसा कहना असत् है, क्योंकि यहाँ आत्मशब्द का ऐसा प्रयोग है कि 'हे सौम्य ! (प्रियदर्शन !)' यह जगत् प्रथम सन्मात्र ही था, इस प्रकार उपदेश का आरम्भ करके कहा है कि वह सत् आलोचन-चिन्तन किया, उसने तेज को उत्पन्न किया, इस प्रकार तेज जल, और अन्न की मृष्टि को बटकर, वही प्रवृत्त (प्रकरण प्राप्त) सत् ईक्षण कर्ता का और उन तेज जल और अन्न का देवता शब्द से परामर्श (स्मरण) करा के कहा है कि 'सैय' सो शब्द वाच्य और यह ईक्षण कर्ता देवता ने विचार किया कि हन्त (इदानी) इस समय मैं इन तीनों तेज आदि रूप देवताओं में इस जीवात्मा रूप से पैठकर नाम और रूप की अभिव्यक्ति रूप व्याकरण करूँ । वहाँ यदि अचेतन प्रधान को गौणीभूति से ईक्षण कर्ता माना जाय, तो उस प्रधान को ही प्रकरण प्राप्त होने से 'सैय देवता' इस वाक्य में वह प्रधान ही परामर्श का विषय होगा । इस अवस्था में वह जड़ देवता जीव को आत्म-शब्द ने नहीं वह सकता है । क्योंकि जीव प्रसिद्ध चेतन है शरीर का अध्यक्ष स्वामी है (जीव-प्राणधारणे) इस शास्त्रार्थ के अनुसार प्राणों का धारण करने वाला है । यह बात उसकी लोक-प्रसिद्धि और निर्वचन (प्राणान् धारयति) इस प्रकार के विग्रह वाक्य में सिद्ध होती है । इसलिये प्रसिद्ध चेतन जीव अचेतन प्रधान का आत्मा कैसे हो सकता है ? यह प्रसिद्ध है कि आत्मा स्वरूप को कहते हैं, और अचेतन प्रधान का चेतन जीव स्वरूप होने योग्य नहीं है । जब सिद्धान्त के अनुसार चेतन ब्रह्म को मुख्य ईक्षणकर्ता माना जाता है, तब उस ब्रह्म को जीव विषयक आत्मशब्द का प्रयोग उपपन्न (युक्त) होता है । इसी प्रकार (स य एषोर्जिणाम् । वह जो सत् नामक अत्यन्त अणुत्व जगत् का मूल कारण है, तत्स्वरूप ही यह सब जगत् है, अर्थात् उत्ती की सत्ता सब में है, वही सत् शब्दार्थ सत्य है, वही सबका आत्मा है । हे श्वेतकेतो ! तुम उसी के स्वरूप हो, इत्यर्थक श्रुति में, 'स आत्मा', इन शब्दों से प्रवृत्त सत् अणुत्व युक्त आत्मा का आत्मशब्द से उपदेश करके कहा गया है कि हे श्वेतकेतो ! तुम वही हो, इसमें चेतन श्वेतकेतु के आत्मा रूप से सत् ईक्षिता का श्रुति उपदेश करती है । जल तेज बाह्य विषय के जड़ होने से उनमें अचेतनत्व है । और नाम रूप के व्याकरण (उत्पत्ति-अभिव्यक्ति) नियमन में उनका प्रयोज्य (मुख्यत्व नियम्यत्व) श्रेयं कार्यत्व रूप से निर्देश (कथन) हुआ है इससे भी उन्हें अचेतनत्व है । सत् ईक्षिता में आत्म शब्द के समान अप् तेज के ईक्षितृत्व में मुख्यता का कोई कारण नहीं है । इससे अप् तेज के ईक्षितृत्व को तद पतन की इच्छा के समान गौण होना युक्त (उचित) है । वस्तुतः उस अप् तेज की सत् चेतन से अधिष्ठित होने में उस अधिष्ठान की दृष्टि से ईक्षितृत्व है । स्वयं नहीं । सत् को तो आत्म शब्द के बल से गौण ईक्षितृत्व नहीं सिद्ध हो सकता है ॥ ६ ॥

अथोच्येत—अचेतनेऽपि प्रधाने भवत्यात्मशब्दः, आत्मन सर्वार्थकारि-

त्वात्, यथा राजः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्यात्मशब्दो ममात्मा भद्रसेन इति । प्रधानं हि पुरुषस्यात्मनो भोगापवर्गं कुर्वदुपकरोति, राज इव भृत्यः संधिविग्रहादिषु वर्तमानः । अथर्वक एवात्मशब्दश्चेतनाचेतनविषयो भविष्यति, भूतात्मेन्द्रियात्मेति च प्रयोगदर्शनात् । यथैक एव ज्योतिःशब्दः क्रतुज्वलन-विषयः । तत्र कुत एतदात्मशब्दादीक्षतेरगौणत्वमिति—अत उत्तरं पठति—

अथ (उक्तोत्तर के बाद भी) यदि प्रधानवादी कहें कि, अचेतन प्रधान अर्थ में भी आत्मशब्द का प्रयोग होता है । क्योंकि यह प्रधान चेतनात्मा, पुरुष के सब कार्य प्रयोजन को करने वाला है । जैसे राजा के सब अर्थ कर्ता प्रधान भृत्य में आत्मशब्द का प्रयोग होता है कि मेरी आत्मा भद्रसेन है इत्यादि । प्रधान भी पुरुष रूप आत्मा के भोग और मोक्ष का सम्पादन करता हुआ उसका उपकार करता है । जैसे राजा का प्रधान भृत्य, सन्धिविग्रहादि में वर्तमान रह कर राजा का उपकार करता है । अथवा एक ही आत्मशब्द चेतन और अचेतन दोनों विषयक हो सकता है । प्रकरण भेदादि से दोनों अर्थ का बोध करा सकता है और भूतात्मा इन्द्रियात्मा इत्यादि वाक्यों में अचेतन भूत (पृथिवी आदि) और इन्द्रियों में आत्मशब्द का प्रयोग देखा जाता है । जैसे एक ही ज्योतिःशब्द का याग और अग्नि अर्थ में प्रयोग होता है, वैसे ही आत्मशब्द को समझना चाहिये । यदि ऐसा है तो फिर आत्मशब्द से ईक्षण को अगौणत्व है, यह बात किस हेतु से सिद्ध हो सकती है, ऐसी शका होने पर उत्तर रूप सूत्र पढ़ते हैं—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

सूत्र का संक्षिप्तार्थ है कि (तन्निष्ठस्य आत्मनिष्ठस्य, श्रुती मोक्षोपदेशादात्मशब्दार्थः प्रधानं नैव भवितुमर्हति) आत्मनिष्ठ के मोक्ष का उपदेश श्रुति में है । इससे आत्मशब्द का अर्थ प्रधान नहीं हो सकता है ।

न प्रधानमचेतनमात्मशब्दालम्बनं भवितुमर्हति, 'स आत्मा' इति प्रकृतं सदणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति चेतनस्य श्वेतकेतोर्माक्षयित-व्यस्य तन्निष्ठामुपदिश्य 'आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षयेऽथ संपत्स्ये' (छान्दो० ६।१।४।२) इति मोक्षोपदेशात् । यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राह्येन्मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनोऽसीति तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थयित्यप्रमाणं स्यात्, न तु निर्दोष-शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम् । यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमा-त्मेत्युपदिशेत् प्रमाणभूतं शास्त्रं स श्रद्धान्तयान्धगोलाङ्गूलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्, तद्व्यतिरिक्तं चात्मानं न प्रतिपद्येत, तथा सति पुरुषार्थाद्विह्वले-तानर्थं च ऋच्छेत् । तस्माद्यथा स्वर्गाद्यर्थिनाऽग्निहोत्रादिसाधनं यथाभूतमुप-दिशति तथा मुमुक्षोरपि 'स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति यथाभूतमेवा-त्मानमुपदिशतीति युक्तम् । एवञ्च सति तत्पराशुग्रहणमोक्षदृष्टान्तेन सत्याभि-

सन्धस्य मोक्षोपदेश उपपद्यते । अन्यथा ह्यमुख्ये सदात्मतत्त्वोपदेशे 'अहमुक्थ-
मस्मीति विद्यात्' (ऐ० आर० २।१।२।६) इतिवत्पन्मात्रमिदमनित्यफल
स्यात् । तत्र मोक्षोपदेशो नोपपद्येत । तस्मान्न मदणिमन्यात्मशब्दस्य
गौणत्वम्, भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वादुपपन्नो गौण आत्मशब्दो
ममात्मा भद्रसेन इति । अपि च क्वचिद्गौण शब्दो दृष्ट इति नैतावता
शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात् । यत्तूक्त—
चेतनाचेतनयो माधारण आत्मशब्दः क्रतुज्वलनयोरिव ज्योतिःशब्द इति,
तन्न । अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । तस्माच्चेतनविषय एव मुख्य आत्मशब्द-
श्चेतनत्वोपचाराद् भूतादिषु प्रयुज्यते भूतात्मेन्द्रियात्मेति च । माधारणत्वेऽप्या-
त्मशब्दस्य न प्रकरणमुपपद वा किञ्चिन्निश्चायकमन्तरेणान्यतरवृत्तिता
निर्धारयितुं शक्यते । न चात्राचेतनस्य निश्चायकं किञ्चित्कारणमस्ति, प्रकृत
तु सदीक्षितुं मनिहितश्च चेतन इवेनकेतु, नहि चेतनस्य श्वेतवेतोरचेतन
आत्मा सम्भवनीत्यवोचाम । तस्माच्चेतनविषय इहात्मशब्द इति निश्चीयते ।
ज्योतिःशब्दोऽपि लौकिकेन प्रयोगेण ज्वलन एव सृष्ट अर्थवादकल्पितेन तु
ज्वलनमादृश्येन क्रान्तिं प्रवृत्त इत्यदृष्टान्तः ।

सिद्धान्तभाष्य—

अचेतन प्रधान आत्मा का विषय (अर्थ) नहीं हो सकता है, क्योंकि, 'स आत्मा',
इस प्रकार प्रकरण प्राप्त सत्य अणुत्तर का ग्रहण उपदेश करके, और हे श्वेतकेतु तुम
वही हो, इस प्रकार मुक्त करने योग्य चेतन श्वेतकेतु को उस सत्यात्मा में निष्ठा
(अमिन्नात्म दृष्टि से स्थिति) का उपदेश करके श्रुति ने मोक्ष का उपदेश दिया है कि
आचार्यवाला पुण्य सत्यात्मा को जानता है, और उस जाननेवाले को तभी तक
विदेह वैबल्य में चिर (विलम्ब) है कि जब तक प्रारब्धजन्य शरीर से छुटकारा नहीं
पाता है, प्रारब्धान्त में वह सत् स्वरूप में लीन होता है । यदि अचेतन प्रधान सत् शब्द
का वाच्यार्थ हो, तो वह अचेतन प्रधान तुम हो, इस प्रकार मुमुक्षु चेतन सत् को
तुम अचेतन हो इस प्रकार ग्रहण कराता (समझाता) हो तो, विपरीत अर्थ को
करनेवाला वह शास्त्र पुण्य के अनर्थ के लिए होगा । इसमें अप्रमाण भी होगा । और
निर्दोष (अनादि) शास्त्र अप्रमाण है ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है । यदि
प्रमाणरूप शास्त्र अज्ञ सत्पुरुष मुमुक्षु के प्रति अचेतन अनात्मा का आत्मरूप में
उपदेश करेगा, तो वह मुमुक्षु श्रद्धालु होने के कारण जन्ममोक्षगूलत्याग में (जमे
कोई वस्तुक अर्थ को बेल की पूछ पकड़ा दे और वह नहीं छोटे) इस रीति से उस
प्रधान में आत्मदृष्टि को मुमुक्षु नहीं त्यागेगा । एवं उसमें मिल आत्मा को नहीं
समझेगा न प्राप्त कर सकेगा । ऐसा होने पर वह पुरुषार्थ से च्युत होकर नष्ट
होगा, और अनर्थ को प्राप्त करेगा । अज्ञ स्वर्गादि को चाहनेवालों के लिये
यथाभूत (सत्य) अग्निहोत्रादि साधनों का शास्त्र उपदेश करना है, वैसे ही मुमुक्षु के

लिये (वह सत्य तत्त्व आत्मा है, और हे श्वेतकेतु वही तुम हो इस प्रकार यथार्थ आत्मा का ही शान्ध उपदेश करता है ऐसा मानना उचित है । इस प्रकार सत्यात्मोपदेश मानने पर ही तस परशु के - ग्रहण करने पर और उससे दाह नहीं होने पर जैसे कल्पित चोर चोरी की शंका ने मुक्त होता है उसी दृष्टान्त से सत्य में अभिसंधा (निष्ठा आत्ममात्र से संबन्ध) वाले पुरुष का मोक्षोपदेश भी युक्त होता है । ऐसा नहीं मानकर अन्य प्रकार ने अमुक्य सत् आत्मनस्त्व रूप प्रधान का उपदेश करने पर तो (मैं उक्तनाम वाला प्राण हूँ ऐसा चिन्तन करे) इस उपदेश के समान यह आत्मोपदेश भी सम्पन्मात्र (उत्कृष्ट रूप से स्वचिन्तनात्मक उपासनारूप) होने से अनित्य फलवाला होगा । फिर वहाँ मोक्ष का उपदेश उचित नहीं हो सकता है । अतः सत्य अणुतत्त्व में आत्म शब्द गौण नहीं है । और स्वामी भृत्य के भेद के प्रत्यक्ष होने से भृत्य में गौण आत्म शब्द युक्त है कि मेरा आत्मा भद्रसेन है इत्यादि । सत्यात्मा में उचित नहीं है । आत्मशब्द कहीं गौण रूप में देखा गया है, उससे ही शब्द प्रमाण द्वारा जेय अर्थ में गौणी वृत्ति की कल्पना उचित नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा करने से सर्वत्र शास्त्रार्थ में अविश्वाम की प्राप्ति हागी, कहाँ आत्म शब्द का क्या अर्थ है यह निश्चय नहीं होगा । पहले जो कहा गया था कि यज्ञ और अग्नि अर्थ में ज्योति शब्द के समान आत्म शब्द चेतनाचैतनार्थ में साधारण है, दोनों का वाचक है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मशब्द का अनेकार्थक होना अन्याय (युक्तिविरुद्ध) है । इससे चेतन वाचक ही मुख्य आत्म शब्द है और चेतनत्व के उपचार (गौण व्यवहार) से भूतादि में भी आत्म शब्द का प्रयोग किया जाता है, भूतात्मा इन्द्रियात्मा इत्यादि । आत्मशब्द के साधारण होने पर भी तात्पर्य का निश्चय कराने वाले कोई प्रकरण वा उपपद (साथ पठितपद) के बिना आत्मा अनात्मा दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं किया जा सकता है । उपर्युक्त श्रुतियों में अचेतन आत्मशब्दार्थ को निश्चय कराने वाला कोई कारण नहीं है, क्योंकि प्रकरण प्राप्त सत्य द्रष्टा है, और आत्मशब्द के पास में पठित चेतन श्वेतकेतु है । चेतन श्वेतकेतु का अचेतन आत्मा नहीं हो सकता, यह बात कही जा चुकी है, इससे चेतन का वाचक यहाँ आत्म शब्द है, यह निश्चय किया जाता है । ज्योतिशब्द भी लौकिक प्रयोग से अग्नि अर्थ में ही रूढ़ है । परन्तु अर्थवाद (स्तुतिवाद) से कल्पित जो अग्नि की तुल्यता उससे कल्पित सादृश्य-युक्त याग में ज्योतिशब्द बोधकरूप से प्रवृत्त हुआ है, इस लिए वह आत्म शब्द का दृष्टान्त नहीं हो सकता है ।

अथवा पूर्वसूत्र एवाशब्दं निरस्तसमस्तगौणत्वसाधारणत्वाशङ्कतया व्याख्याय ततः स्वतन्त्र एव प्रधानकारणनिराकरणहेतुर्व्याख्येयः 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इति । तस्मान्नाचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् ॥ ७ ॥

अथवा पूर्वसूत्र में ही समस्त गौणत्व साधारणत्व की शंकाओं का निरास

(भडन) पूर्वक आत्मशब्द का व्याख्यान करके, फिर स्वतन्त्र ही प्रधानरूप कारण के निराकरण हेतु व्याख्यान के योग्य सूत्र है कि आत्मनिष्ठ को मोक्ष का उपदेश है इससे अचेतन प्रधान सत् शब्द वाक्य नहीं है ॥ ७ ॥

कुतश्च न प्रधान सच्छब्दवाच्यम्—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

और भी किस कारण से प्रधान सत् शब्द का अर्थ नहीं है ?

सक्षिप्त सूत्रार्थ है कि (मोक्षार्थमेकज्ञानेन सर्वज्ञानार्थं च सदात्मानमुपदिश्य पुनर्हेयत्वस्यावचनाच्च ज्ञायते नात्र प्रधान सच्छब्दवाच्य) मोक्ष के लिये और एक सत् के ज्ञान से सब वस्तु के ज्ञान के लिए सत्यात्मा का उपदेश करके फिर हेयता नहीं कही गई है । इससे सिद्ध होता है कि मुख्यात्मा का ही उपदेश है, अन्यथा अन्नमयादि के बाद प्राणमयादि के उपदेशपूर्वक परमतत्त्व ब्रह्म के उपदेश के समान यहाँ भी प्रधानात्मक सत् से भिन्न मुख्य सत्यात्मा का फिर उपदेश देना था, या (नेद मदिदमुपासते, केन) इत्यादि के समान फिर निषेध करना था इत्यादि ।

यद्यनात्मैव प्रधान सच्छब्दवाच्य 'स आत्मा, तत्त्वमसि' इतीहोपदिष्ट स्यात् स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिद्विस्तस्य हेयत्व व्रूयात् । यथारुन्धती दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्था स्थूला ताराम-मुख्या प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा ता प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वन्नयमात्मेति व्रूयात् । न चैवमवोचत् । सन्मात्रात्मावगतिनिष्ठैव हि पृष्ठ-प्रपाठकपरिममाप्तिर्दृश्यते । 'च'शब्द प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयप्रदर्शनार्थं । मत्यपि हेयत्ववचने प्रतिज्ञाविरोध प्रमज्येत, कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम् । 'उत तमादेशमप्राक्ष, येनाश्रुत श्रुत भवत्यमत मतमविज्ञात विज्ञात-मि'ति । 'कथं नु भगव स आदेशो भवती'ति । 'यथा सोम्यैकेन मूत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात स्याद्वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्, एव सोम्य स आदेशो भवति' (छा० ६।१।१३) इति वाक्योपक्रमे श्रवणात् । न च सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा विज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवति, अप्रधानविकारत्वाद्भोक्तृवर्गस्य । तस्मान्न प्रधानं सच्छब्द-वाच्यम् ॥ ८ ॥

यदि अनात्मा प्रधान ही सत् शब्द का अर्थ हो, और उसी को (स आत्मा, तत्त्व-मसि) वह आत्मा है और वही तू हो, इस प्रकार यहाँ उपदेश किया गया हो, तो वह जिज्ञासु श्वेतकेतु उस उपदेश के श्रवण से अनात्मज्ञता के कारण अनात्मनिष्ठ न हो जाय, इसलिए मुख्यात्मा के उपदेश के इच्छुक गुरु को उस उक्त सत् में हेयता त्याज्यता कहनी चाहिये । जैसे कि अरुन्धती तारा को किसी के प्रति दिखाने की इच्छा वाला

उसके समीपवर्ती स्थूल तारारूप अमुख्य अरुन्धती को अरुन्धती नाम से दिखाकर समझा कर फिर उसका निषेध करके अरुन्धती नामक सूक्ष्म तारा को दिखाता समझाता है, वैसे ही गुरु को कहना था कि यह सत्य आत्मा नहीं है, परन्तु ऐसा कहा नहीं है, इससे सन्मात्ररूप आत्मा की अवगति (ज्ञान) में निष्ठा (स्थिति) वाले ही छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक (अध्याय) की समाप्ति देखी जाती है । सूत्र में 'च' शब्द प्रतिज्ञाविरोध का समुच्चय (हेतु रूप से सम्बन्ध) दिखाने के लिए हेयता (त्याज्यता) के कथन करने पर भी यदि प्रधान सत् शब्द का अर्थ हो तो प्रतिज्ञा से विरोध की प्राप्ति अवश्य होगी । क्योंकि गुरु ने शिष्य के प्रति प्रतिज्ञा की है कि कारण के ज्ञान से ही सब वस्तु ज्ञात हो जाती है । कथा है कि गुरुकुल से लौटकर आये हुए अभिमाना पुत्र को देखकर पिता ने पुत्र से पूछा कि, क्या तुमने अपने गुरु से उस उपदेश (उपदेश) को भी पूछा कि जिस उपदेश के सुनने से अश्रुत भी पदार्थ श्रुत हो जाता है, और अमृत (अविचारित) भी जिसके विचार से मृत (विचारित) हो जाता है, तथा अविज्ञात (अनिश्चित) जिसके विज्ञान से विज्ञात होता है इत्यादि । पुत्र बोला कि हे भगवन् वह उपदेश कैसा है पिता जी बोले कि हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड के समझने से सब मृद्विकार समझे जाते हैं, वैसे एक सत्यात्मा के समझने से सब वस्तु समझी जाती हैं । क्योंकि विकार रूप कार्य वस्तु वाचारम्मण (वाग् इन्द्रिय से आरम्भ किये) जाते हैं । इससे नामैव नामधेयं (नाममात्र ही) कारण से पृथक् है । वस्तुतः जैसे मृद्विकारों में मृत्तिका ही सत्य है ? कार्य सब मिथ्या नाम मात्र है, वैसे ही सद्विकार में सद्वस्तु ही सत्य है, कार्य वस्तु मिथ्या नाम मात्र हैं, हे सोम्य वह उपदेश इस प्रकार होता है, इस प्रकार वाक्य के आरम्भ में सुना गया है सत् शब्द का अर्थ यदि प्रधान हो तो इससे विरोध होगा, क्योंकि भोग्य वस्तु समूह के कारणरूप सत् शब्द के अर्थ प्रधान के हेयत्व वा अहेयत्व रूप से ज्ञात (अनुभूत) होने पर भी, भोक्ताओं का समूह विज्ञात (अनुभूत) नहीं हो सकता है, क्योंकि भोक्ता जीव समूह प्रधान का विकार रूप नहीं है जिससे प्रधान सत् शब्द का अर्थ नहीं है, और सिद्धान्त में तो जीव चेतनात्मक है, और जड़ जगत् चित् शक्ति माया का विकार रूप है इससे जगत् की सत्ता चिदात्मा से भिन्न नहीं है इसलिए सत् चेतनात्मा ब्रह्म के ज्ञान से सब वस्तु का ज्ञान होने से प्रतिज्ञा से विरोध नहीं होता है इत्यादि ॥ ८ ॥

मुक्तश्च न प्रधानं सच्छब्दवाच्यम्—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

और भी किस हेतु से प्रधान सत् शब्द का अर्थ नहीं है ?

सर्वसाध्यं है कि (सुषुप्तिकाले स्वाप्ययात्-स्वस्मिन्-अप्ययो विलयः स्वाप्ययः, तस्य श्रुतो श्रवणादपि न प्रधानं सच्छब्दार्थः) सुषुप्ति काल में सत् शब्द के अर्थ आत्मा में

जीवन का विलय मुना गया है । इसमें मो प्रधान सत् शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि चेतन जीव का अचेतन में विलय नहीं हो सकता है ।

तदेव सच्छब्दवाच्य कारण प्रकृत्य श्रूयते—‘यत्रैतत्पुरुष स्वपिति नाम मता मोम्य तदा मपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेन स्वपितीत्याचक्षते न्व ह्यपीतो भवति’ (छा० ६।८।१) इति, एषा श्रुति स्वपिनीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्ध नाम निर्वक्ति । स्वशब्देनेहात्मोच्यते, य प्रकृत सच्छब्दवाच्यस्वमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः । अपिपूर्वस्यैतेर्न्यायत्वं प्रसिद्ध, प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात्, मन प्रचारोपाधिविशेषसबन्धादिन्द्रियार्थान्गुल्लुप्तद्विगोपापन्नो जीवो जागति । तद्वासनाविशिष्ट स्वप्नान् पश्यन् मनःशब्दवाच्यो भवति । स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायामुपाधिकृतविशेषाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति ‘स्व ह्यपीतो भवति’ इत्युच्यते । यथा हृदयशब्दनिर्वचन श्रुत्या दर्शितम्—‘स वा एष आत्मा हृदि तस्म्यनदेव निरुक्तं हृदयमिति, तस्माद्बृहदयम् (छा० ८।३।३) इति, यथावाज्जनायोदन्याशब्दप्रवृत्तिमूल दर्शयति श्रुति—‘आप एव तदर्शितं नयन्ते तेज एव तत्पीतं नयते’ (छा० ६।८।३, ५) इति च एव ‘स्वमात्मानं सच्छब्दवाच्यमपीतो भवतोऽतीममर्थं स्वपितिनामनिर्वचनेन दर्शयति । न च चेतन आत्माज्जेतन प्रधान स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत । यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात् स्वशब्देनैवोच्येत, एवमपि चेतनोज्जेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत । श्रुत्यन्तरं च—‘प्राज्ञेनात्मना सपरिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरम्’ (बृह० ४।३।२१) इति सुषुप्तावस्थायाम् चेतनेऽप्ययं दर्शयति । अतो यस्मिन्नप्ययं मवपा चेतनाना तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगतः कारणं न प्रधानम् ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त उमी सत् शब्द के अर्थ कारण को कहकर उसो के प्रकरण में श्रुति मुनी जाती है कि यत्रैतत्पुरुष इत्यादि । जिस सुषुप्ति काल में यह पुरुष सोता है, और जहाँ इसका ‘स्वपिति’ यह नाम होता है, हे मोम्य । उन काल में यह जीवात्मात्म्य पुरुष सदात्मा के साथ सम्पन्न (सगत एक) अभिन्न हो जाता है । स्व मत्परमार्थ स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, उसमें लीन होता है, मन आदि कृत औपाधिक स्वरूप को त्याग देता है, जिसमें उस अवस्था में उसको ‘स्वपिति’ इस नाम से कहते हैं, जिसमें आत्मा में लीन होता है । इस प्रकार कहने वाली श्रुति ‘स्वपिति’ यह लोकप्रसिद्ध पुरुष के नाम का निर्वचन (व्याख्यान) करती है, स्वशब्द में यहाँ आत्मा कहा जाता है । और जो प्रकरण प्राप्त सत्शब्द का अर्थ है । उसी में लपित होता है, अपिगत (लीन) होता है, यह श्रुति का अर्थ है, क्योंकि अपि अव्ययपूर्वकं गत्यर्थक एतिष्ठानु को लयवाचकत्व प्रसिद्ध है । (मवाप्ययो हि मृतानाम् । म० गी० ११।२) इत्यादि वाक्या में उत्पत्ति और प्रलय अर्थ में प्रभव और अप्यय शब्द का प्रयोग देखा जाता है । और मन के प्रचार (वृत्ति) रूप उपाधि विशेष के सम्बन्ध से विशेषावस्था को प्राप्त यह जीव इन्द्रियार्थ (शब्दादि विषयों) का ग्रहण करता हुआ जागता है, अर्थात् सूक्ष्म देहानिमानी स्थूलायं

का ज्ञाता जागने वाला विश्व नाम जीव कहाता है । और उस जाग्रत की वासनाओं से युक्त होकर अर्थात् जाग्रद्व्यसनायुक्त मन रूप उपाधि वाला होकर स्वप्नों को देखता हुआ मन (तैजस) शब्द का वाच्य जीव होता है । वही जीव, जाग्रत स्वप्न की दोनों उपाधियों के उपरम (निवृत्ति) होने पर सुषुप्ति अवस्था में उपाधिकृत प्रगट विशेष (भेद) के अभाव से स्वात्मा (स्वरूप) मे प्रलीन के समान होता है इससे (स्वह्य-पीतो भवति) अपने ही में लीन होता है, इस प्रकार कहा जाता है, अर्थात् उपाधि के विलय से विलय का गौण व्यवहार होता है, वास्तविक जीव भाव का विलय तो मक्षा-वस्था में होता है । यह स्वपिति नाम का निर्वचन अर्थवाद रूप नहीं है, क्योंकि इसी के समान हृदय शब्द का निर्वचन श्रुति से दर्शाया गया है कि (वह अपहृत पाप्मादि विशेषण वाला यह आत्मा हृदय मे रहता है) उस हृदय शब्द का यही निर्वचन है कि हृदय में जिससे यह आत्मा रहता है जिससे (हृदयम्-हृदयम्) कहा जाता है । और भी जिस प्रकार, अशनाया, और उदन्या शब्दों को प्रवृत्ति (व्यवहार) के मूल को श्रुति दर्शाती है कि (जल ही उस खाये हुए अन्न का द्रवोभूत करके पाक स्थान में पहुँचाता है, पचाता है । इससे अशनाया कहाता है । और तेज ही उस पीए हुए उदक को शोषण करता रक्त-प्राणादि रूप परिणाम को प्राप्त करता है, इससे वह उदन्या कहाता है, इत्यादि । इसी प्रकार, सत् शब्द का वाच्यार्थ अपने आत्मा में लीन होता है इस अर्थ को स्वपिति नाम के निर्वचन से श्रुति यथार्थ दर्शाती है । स्वप्रधान पक्ष में नहीं बन सकता है, क्योंकि चेतनात्मा पुरुष अचेतन प्रधान को निजात्म रूप से नहीं प्राप्त कर सकता है । और यदि प्रधान को ही आत्म सम्बन्धी होने से स्वशब्द से कहा जाय, तो ऐसा मानने पर भी चेतन अचेतन भाव को प्राप्त होता है, तद्रूप से उसमें लीन होता है, यह विरुद्धार्थ प्राप्त होगा । और दूसरी श्रुति साफ कहती है कि सुषुप्ति काल में यह जीवात्मा रूप पुरुष प्राज्ञ (प्रकृष्ट ज्ञाता) पारमार्थिक अपने आत्मा से सपरिष्वक्त (एक स्वरूप) होकर बाहर भीतर की किसी वस्तु को नहीं जानता है । इससे सुषुप्ति अवस्था मे चेतन मे ही विलय दर्शाती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि सुषुप्ति प्रलय में सब चेतनात्माओं जीवों का चेतन मे विलय होता है, वही चेतन सत् शब्द का अर्थ चेतन में है और जगत् का कारण है, प्रधान नहीं ॥ ९ ॥

कुतश्च न प्रधानं जगत् : कारणम्—

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

और किस कारण से प्रधान जगत् का कारण नहीं है—

संक्षिप्तार्थ है कि (सर्वेषां वेदान्तानां गतेः प्रवृत्तिमार्गस्य तुल्यत्वात्—चेतनात्मनि-विवादाद्वर्णनान्न प्रधानं क्वचिदपि वेदान्ते कारणं स्वतन्त्रमभ्युपगम्यते) सब वेदान्त की गति (प्रवृत्ति का मार्ग) रीति की तुल्यता से चेतनात्मा में विवाद के अभाव दर्शन से किसी भी वेदान्त में स्वतन्त्र कारण प्रधान नहीं माना जाता है, यह निश्चय हो जाता है ।

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत् क्वचि-
च्चेतन ब्रह्म जगत कारणम्, क्वचिदचेतन प्रधानम्, क्वचिदन्यदेवेति, तत कदा-
चित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत्, न त्वेतदस्ति, समा-
नैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगति । 'यथाग्नेर्ज्वलत सर्वा दिशो
विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवंतस्मादात्मन सर्वे प्राणा यथायतन विप्रतिष्ठन्ते
'प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका' (का० ३।३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाशः सभूत' (तै० २।१) इति, 'आत्मन एवेद सर्वम्' (छा० ७।२६।१)
इति, 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्र० ३।३) इति चात्मन कारणत्व दर्श-
यन्ति सर्वे वेदान्ता । आत्मशब्दश्च चेतनवचन इत्यवोचाम । महच्च प्रामाण्य-
कारणमेतद्यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वं चक्षुरादीनामिव रूपा-
दिषु । अतो गतिसामान्यात्मवत्तु ब्रह्म जगत कारणम् ॥ १० ॥

यदि तार्किको (अनुमान से जगत कारण की कल्पना करने वालो) के सिद्धांतों के
समान वेदान्तों में भी भिन्न भिन्न अनेक प्रकार के कारणों की अवगति (अनुभूति-ज्ञान)
होती और मानी जाती, जैसे कि कहीं कहा जाता कि चेतन ब्रह्म जगत का कारण
है, कहीं कहा जाता कि अचेतन प्रधान कारण है, कहीं अन्य ही कुछ कहा जाता कि
शून्यादि वा कालम्बवादि कारण हैं, तो श्रोता को भी श्रवण के अनुसार भिन्न-भिन्न
अवगति होती, फिर कहीं प्रधान कारणवाद के अनुसार से भी ईक्षति इत्यादि श्रुति
को गौणार्थत्व की कल्पना हो सकती और प्रधान कारण माना जाता । परन्तु ऐसी
गति वेदान्त में ही नहीं । क्योंकि समान (एक प्रकार की) ही चेतन कारण की अवगति
सब वेदान्तों में होती है । जैसे कि (यथाग्ने) इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं कि जैसे
प्रज्वलित अग्नि में सब दिशाओं में विस्फुलिंग (चिनगारियाँ) फैलती हैं, त्रिविध रूप
में गमन करती हैं, इसी प्रकार सृष्टि काल में आत्मा में विद्यमान सब प्राण जागने के
समय इस आत्मा से अपने-अपने गोलक रूप आश्रय के अनुसार गमन करते हैं । प्रगट
होते हैं, और प्राणों से उनके सहायक देव व्यक्त होते हैं, उन देवों से लोक (विषय)
व्यक्त गृहीत होते हैं । और उस मन्त्र प्रतिपादित तथा इस ब्राह्मण ग्रन्थ से प्रतिपादित
आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ । आत्मा ही से यह सब जगत होता है । आत्मा से
यह प्राण (उत्पन्न होता है) । इस रीति से सब वेदान्त आत्मा की कारणता को ही
दर्शते हैं । आत्मशब्द चेतनवाचक है, यह प्रथम कहा गया है । और वेदान्त वाक्यों
का जो चेतन कारणत्व विषयक समानगतित्व (तुल्यप्रवृत्तिरूपता) है, यही वेदान्त
वाक्यों के प्रामाण्य का महान् कारण है, विवादाभावपूर्वक समान गति में शीघ्र
प्रामाण्य का निश्चय होता है, जैसे कि सत्र पुरुषों के नेत्रादि की रूपादि विषयों में
समान गति से नेत्रादि में प्रमाणता होती है और इस गति सामान्य में ही जगत
का कारण ब्रह्म है ॥ १० ॥

कुतश्च सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

और भी किस कारण से सर्वज्ञ ब्रह्म जगत का कारण है—

संक्षिप्तार्थ है कि (श्रुतिपु साक्षादेव ब्रह्मणो जगतः कारणत्वस्य श्रुतत्वात् सर्वज्ञं ब्रह्मैव जगत् : कारणम्) श्रुतियों में प्रत्यक्ष ही ब्रह्म को जगत की कारणता सुनी गई है । जिससे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत का कारण है ।

स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य 'न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके, न चेजिता नैव च तस्य लिङ्गम्, स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० ६।९) इति । तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं, नाचेतनं प्रधानमन्यद्वेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

सर्वज्ञ ईश्वर जगत का कारण है, यह अर्थ श्रुतिगत स्वशब्दों (चेतन सर्वज्ञादि के वाचक शब्दों) द्वारा सुना जाता है । जैसे कि श्वेताश्वतर शाखा वालों के मन्त्रात्मक उपनिषद में सर्वज्ञ ईश्वर को प्रकरणस्थ करके लिखा है कि (जिस ईश्वर का लोक में कोई पति (स्वामी) नहीं है, इसी से उसका ईजिता (नियन्ता) नहीं है । न उसका कोई लिङ्ग चिह्न है, वही सबका कारण है, और करणों (इन्द्रियों) के स्वामी जीव तथा मन का भी वही अधिष्ठाता स्वामी है । और उसका कोई जनयिता (पिता) वा स्वामी नहीं है । इत्यादि । जिससे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत का कारण है, अचेतन प्रधान वा अन्य कोई वस्तु जगत का कारण नहीं है, यह सिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'श्रुतत्वाच्च' इत्येवमन्तैः सूत्रैर्यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि तेषां सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वं न्यायपूर्वकं प्रतिपादितम् । गतिसामान्योपन्यासेन च सर्वे वेदान्ताश्चेतनकारणवादिन इति व्याख्यातम् । अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमिति ?

यहाँ शङ्का होती है कि अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, इस सूत्र से ब्रह्म विचार की प्रतिज्ञा करके (जन्माद्यस्य यतः) यहाँ से वेदान्त वाक्यों के विचार का आरम्भ करके (श्रुतत्वाच्च) इस सूत्र पर्यन्त सूत्रों के द्वारा जिन वेदान्त वाक्यों का उदाहरण रूप से ग्रहण किया गया है, उन वाक्यों को सर्वज्ञ सर्वशक्ति वाला ईश्वर जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण है । इस अर्थ का प्रतिपादकत्व है । यह अर्थ न्याय (युक्ति) पूर्वक प्रतिपादित (निरूपित) हो चुका । और गति (ज्ञान) सामान्य के कथन से सब वेदान्त चेतन कारणवादी है । यह तत्त्व भी व्याख्यात (प्रसिद्ध) हो चुका । अतः इससे आगे के ग्रन्थ का उत्थान (उत्पत्ति-आरम्भ) किस लिये है ।

उच्यते—द्विरूप हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट, तद्वि-
परीत च सर्वोपाधिविवर्जितम् । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति,
यत्र त्वम्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन क पश्येत्' (बृह० ४।५।१५) 'यत्र नान्य-
त्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्य-
च्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदत्य, यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदत्य तन्मर्त्यम्'
(छान्दो० ७।२।४।१) 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीर, नामानि कृत्वाऽभिव-
दन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१।२।७)

निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवय निरञ्जनम् ।

अमृतस्य पर सेतु दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ (श्वे० ६।१९)

'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) 'न्यून-
मन्यत्स्थान सपूर्णमन्यत्' इति च, एव सत्सशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो
द्विरूपता दर्शयन्ति वाक्यानि । तत्राविद्यावस्थाया ब्रह्मण उपास्योपासकादि-
लक्षण सर्वो व्यवहार । तत्र कानिचिद्ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानि-
चित्कर्ममुक्त्यर्थानि, कानिचित्कर्मसमृद्धयर्थानि, तेषा गुणविशेषोपाधिभेदेन
भेद । एक एव तु परमात्मेश्वरस्तेस्तेर्गुणविशेषविशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति,
तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते । 'त यथा यथोपासते तदेव
भवति' इति श्रुते, 'यथाक्रतुरस्मिँहोके पुस्पो भवति तथेत प्रेत्य भवति'
(छा० ३।१।४।१) इति च । स्मृतेश्च—

यं य वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

त तमेवैति कौन्तेय मदा तद्भावभावित ॥ (गी० ८।६) इति ।

यद्यप्येक^१ आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढस्तथापि चित्तोपाधिविशे-
पतारतम्यादान्मन कूटस्थनित्यस्यैकरूपम्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य ताग्नम्य-
मैश्वर्यशक्तिविशेषे श्रूयते—'तस्य य आत्मानमाविस्तरा वेद' (ऐ० आ० २।३।
२।१) इत्यन । स्मृतावपि—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमद्वर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्व मम तज्जोऽसभवम् ॥ (गी० १०।४१)

इति यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशय स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोच्यते । एव-
मिहाप्यादित्यमण्डले हिरण्मय पुरष सर्वपाप्मोदयलिङ्गात्पर एवेति वक्ष्यति ।
एवम् 'आकाशस्तलिङ्गात्' (ब्र० १।१।२२) इत्यादिषु द्रष्टव्यम् । एव सद्योमुक्ति-
कारणमप्यात्मज्ञानमुपाधिविशेषद्वारेणोपदिश्यमानमप्यविवक्षितोपाधिमवन्धविशेष

१ 'नेति नेत्यात्मा' इति प्रा० मु० पु० पाठ ।

२. 'एक एवे'ति प्रा० मु० पु० पाठ ।

परापरविषयत्वेन सन्दिह्यमानं वाक्यगतिपर्यालोचनया निर्णेतव्यं भवति । यथे-
हैव तावत् 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति ।

एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबन्धं निरस्तोपाधिसंबन्धं चोपास्यत्वेन
ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यत इति प्रदर्शयितुं परो ग्रन्थ आरभ्यते । यच्च
'गतिसामान्यात्' इत्यचेतनकारणनिराकरणमुक्तं तदपि वाक्यान्तराणि ब्रह्म-
विषयाणि व्याचक्षाणेन ब्रह्मविपरीतकारणनिषेधेन प्रपञ्च्यते—

उत्तर दिया जाता है कि शास्त्र से दो स्वरूप वाला दो प्रकार का एक ही ब्रह्म
अवगत (ज्ञात) होता है । एक स्वरूप तो नामरूपात्मक जो विकार है, उनके ही
भेद (विशेष) रूप उपाधि सहित है, जो उपासना आदि के लिए वर्णित है । और
दूसरा निर्गुण स्वरूप सब उपाधियों से रहित है । जैसे श्रुति कहती है कि यत्र
(जिस अज्ञानावस्था में) द्वैत के समान रहता है, सत्य द्वैत (भेद) प्रतीत होता है,
उस अवस्था में इतर द्रष्टा जीव इतर दृश्य देवादि को सत्य स्वरूप देखता है, इस
अवस्था में दृश्योपाधि वाला ब्रह्म भासता है । और (जिस ज्ञानावस्था में) इस
विद्वान् की दृष्टि में सब आत्मा ही हो गया, उस अवस्था में वह किससे किसको सत्य
देखे । इससे यहाँ निरुपाधिक वस्तु ज्ञानी की दृष्टि में कर्म करणादि रहित भासना
प्रतीत होता है । इसी प्रकार जिस ब्रह्म में निश्चय पूर्वक स्थिर विद्वान् ब्रह्मात्मा से
अन्य वस्तु को सत्स्वरूप नहीं देखता है, न अन्य को सुनता है, न मन से जानता है,
वह निर्गुण भूमा ब्रह्म है । उसके बाद सगुण का कथन है कि जिस सगुण में स्थिर
पुण्य ब्रह्मात्मा से अन्य को देखता सुनता और जानता है, वह अल्प (एकदेशी)
वस्तु है, और जो भूमा (ब्रह्म) है सो अमृत (अविनाशी-नित्य) है, उससे अन्य जो
अल्प है वह मर्त्य (अनित्य) है । धीर (सर्वज्ञ) परमात्मा ही सब देवमनुष्यादि रूपों
को विचित्र (रचकर) उनके तत्त्व नाम करके हृदयों में जीव रूप से पैठ
कर अभिवदन (तत्त्व) व्यवहारों को करता हुआ जो है वह सगुण है । इसी प्रकार
निष्कल (निरंश) क्रियारहित, ज्ञान (परिणाम रहित) दोषशून्य, निरञ्जन (निर्गुण)
मोक्ष की प्राप्ति में सेतुतुल्य दग्धेन्धन अग्नि के समान एक रस प्रकाश युक्त निर्गुण आत्मा
को समझना चाहिये नेति-नेति (यह नहीं, यह नहीं) और न स्थूल है न अणु है
इत्यादि वाक्य भी निर्गुण के बोधक हैं । इसी प्रकार न्यून (अल्प) स्थान अन्य (सगुण)
है । और पूर्ण (निर्गुण) स्थान उससे अन्य है, इस प्रकार सगुण निर्गुण दोनों का
वर्णन है । और इसी प्रकार विद्या और अविद्या के विषय सत्य मिथ्या के भेद से ब्रह्म
की दो रूपता को वाक्य दर्शाते हैं । वहाँ अविद्यावस्था में ब्रह्म सम्बन्धी उपास्य
उपासकादिरूप सब व्यवहार होते हैं । उनमें भी कोई ब्रह्म की उपासनाओं अभ्युदय
(स्वर्गादि) के लिये हैं । कोई क्रममुक्ति (ब्रह्मलोक की प्राप्ति पूर्वक मुक्ति) के लिए है,
कोई कर्म फल की समृद्धि (वृद्धि) के लिए हैं । उन उपासनाओं को ब्रह्म के गुणरूप
उपाधि विशेष के भेद से भेद होता है, उपास्य के एक होते भी गुण के भेद से वह

मिन्न-मिन्न समझा जाता है, इसमें उपासना भी मिन्न-मिन्न हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि एक ही परमात्मस्वरूप ईश्वर तत्त्वं गुणों से युक्त हो कर उपास्य (सेव्य) होता है। तो भी जैसी गुणयुक्त की उपासना की जाती है, उसके अनुसार ही फल भी मिन्न हो जाते हैं। शतपथश्रुति कहती है कि (उस परमात्मा को जिस-जिस गुणयुक्त समझ कर लोग उसकी उपासना करते हैं, उस गुणरूपता को ही उपासक प्राप्त होते हैं। और जैसा क्रतु (सकल्य ध्यान) वाला पुरुष इस लोक में होता है, मरने के बाद इस लोक में परलोक में जाकर सकल्य के अनुसार स्वरूप पाता है। गीता में श्रीभगवद्ब्रह्मन् है कि—हे कौन्तेय (अर्जुन) अन्तकाल में जिस-जिस भाव (पदार्थ देवादि) का स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, सदा उस पदार्थ का भाव (भावना चिन्तन प्रेम) से भावित (प्रभावित वासित चित्त वाला) वह पुरुष तत्त्वं भाव को ही प्राप्त होता है। यद्यपि एक ही आत्मा स्थावर जगम सब प्राणी में गूढ (छिपा) है। अर्थात् प्राणी का एक ही सत्य पारमार्थिक स्वरूप है वह अविद्या वृत्त आचरणादि में नहीं भासता है। इससे स्वरूप के अभेद से यद्यपि सब प्राणी को तुल्य होना चाहिये, तथापि चित्तात्मक उपाधि (विशेषण-माया) विशेष (भेद) के तारतम्य (न्यूनाधिक भाव-शुद्धत्वासुद्धत्वादि) से कूटस्थ नित्य एकरूप ऐश्वर्य और शक्ति विशेषों के द्वारा उत्तर आदिष्ट (व्यक्त) आत्मा का भी औपाधिक तारतम्य वक्ष्यमाण श्रुति में सुना जाता है कि (जो पुरुष जिस आत्मा के आबिम्बित-प्रकटतर (अति प्रकट) आत्मा (स्वरूप) को जानता है। उस स्पष्ट की उपासना करता है वह उस रूप को प्राप्त करता है। गीता का वचन है कि जो-जो विमूर्ति-ऐश्वर्यादि युक्त सत्त्व-वस्तु वा प्राणी है, सोमा लक्ष्मी से युक्त है, ऊर्जित बलान्माह युक्त है, उन सबको तुम मेरे (ईश्वर के) तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जानो। इत्यादि वचनों से जहाँ-जहाँ विमूर्ति की अधिकता है, वह सब ईश्वर है इस प्रकार उपास्य का विधान है। इसी प्रकार इस सूत्रग्रन्थ में भी कहेंगे कि सूक्ष्मण्डल में ह्रिण्यमय (तेजोमय) पुरुष है, वह सब पापों में उदय (असम्बद्ध) परमात्मा ही है। इसी प्रकार (आकाशस्तल्लिङ्गात्) इस सूत्र में आकाश शब्दार्थ परमात्मा को कहेंगे इत्यादि समझना चाहिये। उन रीति से औपाधिक स्वरूप का वर्णन उपासनार्थक है, उसके निर्णय के लिये उत्तर ग्रन्थ की आवश्यकता है ही। इसी प्रकार शीघ्रमुक्ति का कारण आत्मज्ञान भी जहाँ उपाधि विशेष द्वारा उपदिश्यमान (उपदेश का विषय) है, और उपाधि द्वारा उपदेश होते भी जहाँ उपाधि की विवक्षा नहीं है, तो भी पर अपर ब्रह्म विषयकत्व का सदेह होने पर वाक्यों की गति (तात्पर्य) के विचार द्वारा वह निर्णय ही होता है। इस लिये भी ग्रन्थारम्भ है। जैसे यहाँ ही प्रथम (आनन्दमयोऽग्न्यासात्) यह सूत्र है। इस प्रकार एक भी परब्रह्म उपाधि सम्बन्ध की अपेक्षा (विवक्षा) युक्त होने पर उपास्य रूप में और उपाधि सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना ज्ञेय रूप से वेदान्तों में उपदेश का विषय होता है, इस अर्थ को प्रदर्शित कराने के लिये आगे के ग्रन्थ का आरम्भ किया

जाता है । और (गतिसामान्यात्) इस सूत्र से जो अचेतन कारण का निराकरण कहा (किया) गया है, वह भी ब्रह्मविषयक वाक्यान्तरों के व्याख्यान करते हुए सूत्रकार से ब्रह्म से विपरीत कारणों के निषेध द्वारा विस्तृत किया जायगा ।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (ब्रह्मण उपक्रमादिसत्त्वेऽपि सविद्येऽन्नमयादीनां कीर्तनादानन्दमय-
स्यार्थान्तरपरत्वस्य संशये पूर्वपक्षे च जाते सूत्रकृतोक्तवान्, यदानन्दमयशब्दार्थो मुख्यं
ब्रह्मैव मन्तव्योऽभ्यासात्, न तु जीव इति) ब्रह्म विषयक उपक्रमादि के रहते भी
पास में अन्नमयादि के कथन से आनन्दमय सम्बन्धी अर्थान्तरता की शंका और पूर्वपक्ष
के होने पर सूत्रकार ने कहा है कि आनन्दमय शब्द का अर्थ मुख्य ब्रह्म ही अभ्यास से
मानने योग्य है ।

आनन्दमयाधिकरण (६)

संसारी ब्रह्म वानन्दमयः संसार्यं भवेत् ।
विकारार्थमयदृशब्दात्प्रियाद्यवयवोक्तिः ॥ १ ॥
अभ्यासापक्रमादिभ्यो ब्रह्मानन्दमयो भवेत् ।
प्राचुर्यार्थो मयदृशब्दः प्रियाद्याः स्थिरुपाधिगाः ॥ २ ॥
अन्याङ्गं स्वप्रधानं वा ब्रह्मपुच्छमिति श्रुतम् ।
स्यादानन्दमयस्याङ्गं पुच्छेङ्गत्वप्रसिद्धितः ॥ ३ ॥
लाङ्गूलासंभवादत्र पुच्छेनाधारलक्षणा ।
आनन्दमयजीवोऽस्मिन्नाश्रितोऽस्तः प्रधानता ॥ ४ ॥

श्रुतिगत आनन्दमय शब्द का अर्थ संसारी जीव है कि ब्रह्म है, ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्ष है कि यह आनन्दमय का अर्थ संसारी हो सकता है, क्योंकि विकार अर्थ में मयद् प्रत्यय है, और आनन्दमय के प्रिय मोदादि अवयव कहे गये हैं, एवं ब्रह्म निर्विकार निरवयव है ॥ १ ॥

सिद्धान्त है कि अभ्यास और उपक्रमादि से आनन्दमय शब्द का अर्थ ब्रह्म ही हो सकता है । मयद् प्रत्यय प्राचुर्य (बाहुल्य) अर्थ में है, विकार में नहीं । तथा आनन्दमय के उपाधि विज्ञानमय में प्रियादि अवयव हैं, आनन्दमय में नहीं ॥ २ ॥

प्रकारान्तर से शंका है कि 'ब्रह्मपुच्छम्', इस श्रुत पद में ब्रह्म अन्य का अङ्ग (अवयव) कहा गया है, या ब्रह्म शब्द का स्वकीय अर्थ ही प्रधान है । पूर्व पक्ष है कि ब्रह्म आनन्दमय का अङ्गरूप से बोधित है । इससे स्वार्थ प्रधान नहीं है । लोक में भी पुच्छ में पशु का अङ्गत्व प्रसिद्ध है इससे भी प्रधानता नहीं है ॥ ३ ॥

सिद्धान्त है कि यहाँ आनन्दमय का लाङ्गूल (पुच्छ) ब्रह्म हो नहीं सकता, इससे

पुच्छ शब्द से लक्षणा द्वारा आधार का बोध होता है, और आनन्दमय नामक जीव इस ब्रह्म के आश्रित रहता है इससे ब्रह्म शब्द की स्वार्थ में प्रधानता है ॥ ४ ॥

तैत्तिरीयकेऽन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, चानुक्रम्याम्नायते—
'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' (तै० २।५) इति ।
तत्र मध्यम — किमिहानन्दमयशब्देन परमेव ब्रह्मोच्यते यत्प्रकृतम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इति, किंवाऽन्नमयादिवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरमिति । किं तावत्प्राप्तं ब्रह्मणोऽर्थान्तरममुस्य आत्मानन्दमय स्यात् । कस्मात् ? अन्नमयाद्य-
मुस्यात्मप्रवाहपतितत्वात् । अथापि स्यात्तन्वान्तरत्वादानन्दमयो मुख्य एवात्मेति ।
न स्यात्, प्रियाद्यवयवयोगाच्छारीरत्वश्रवणाच्च । मुख्यश्चेदात्माऽन्नन्दमय
स्यान्न प्रियादिमस्पर्शः स्यात् । इह तु 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादि श्रूयते ।
शारीरत्वं च श्रूयते—'तस्यैव एव शारीर आत्मा य पूर्वस्य' इति । तस्य पूर्वस्य
विज्ञानमयस्यैव एव शारीर आत्मा य एव आनन्दमय इत्यर्थः । न च शरीरस्य
गत प्रियाप्रियमस्पर्शो वारयितुं शक्यः । तस्मात्समायैवानन्दमय आत्मा,
इत्येव प्राप्त इदमुच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यामात्' ।

तैत्तिरीय श्रुति से, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय का क्रम से निरूपण
करके उन्हें विचित्रात्मा रूप से वर्णन करके फिर लिखा है (कहा गया है) कि
(तस्माद्वा) इत्यादि । उस उक्त विज्ञानमय से अन्य उसका अन्तर्गतमा है, वह
आनन्दमय है, इत्यादि । वहाँ मध्यम होता है कि यहाँ आनन्दमय शब्द से (सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) जो इस वाक्य से परब्रह्म प्रकरण प्राप्त है, वही कहा जाता है अथवा
अन्नमयादि के समान ब्रह्म से भिन्न हो अर्थ कहा जाता है । विचारणा हुई कि प्रथम
प्राप्त क्या होता है । पूर्वपक्ष होता है कि ब्रह्म से भिन्न अमुक आत्मा आनन्दमय का
अर्थ हो सकता है, क्योंकि अन्नमयादि रूप अमुक आत्मा के प्रवाह (प्रकरण-निरूपण
को परम्परा) में ही आनन्दमय भी पतित (प्राप्त निरूपित) हुआ है । ऐसा होने पर
भी यदि कहा जाय कि आनन्दमय को सर्वान्तरत्व होने से यह मुख्य ही आत्मा है,
तो यह बात भी नहीं बन सकती है, क्योंकि उसमें प्रियमोदादि अवयवों का योग
(सम्बन्ध) कहा गया है, और शारीरत्व (शरीरवृत्ति) सुना गया है, मुखात्मा
यदि आनन्दमय होता, तो उसमें प्रियादि अवयवों का सम्बन्ध नहीं होता, और यहाँ
तो (उसका प्रिय शिरः है) इत्यादि सुना जाता है । और शारीरत्व भी सुना जाता है
कि (जो उस पूर्व वर्णित विज्ञानमय का आत्मा है, सो वही शरीरवृत्ति आनन्दमय
रूप आत्मा है) और शरीर रहित रहने वाले को प्रियाप्रिय (सुप्त-नु स) के सम्बन्ध
का वारण नहीं किया जा सकता है, किस कारण से ससारी आत्मा ही आनन्दमय है,
इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहा जाता है कि—'आनन्दमयोऽभ्यामात् ।'

पर एवात्मानन्दमयो भवितुमर्हति । कुत ? अभ्यामात् । परस्मिन्नेव ह्यात्म-

न्यानन्दगन्धो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते । आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वैः सः' इति तस्यैव रसत्वमुक्तवोच्यते—'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति' इति, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति' (तै० २।७) 'सैपानन्दस्य मीमांसा भवति एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' (तै० २।८, ९) इति । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० ३।६) इति । श्रुत्यन्तरे च—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (वृ० ३।१।२८) इति ब्रह्मण्येवानन्दशब्दो दृष्टः । एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ब्रह्मण्यभ्यासादानन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते ।

परमात्मा ही आनन्दमय होने के योग्य है । यदि कहा जाय कि कैसे ? तो अभ्यास से आनन्दमय परमात्मा सिद्ध होता है । परमात्मा में ही आनन्दशब्द का बहुत बार अभ्यास (प्रयोग) किया जाता है । आनन्दमय का प्रस्ताव (प्रसंग) करके लिखा है कि वह रस (आनन्द) है और वही इस प्रकार उस आनन्दमय के रसत्व को कहकर कहा जाता है कि (रस सार तत्त्व) को प्राप्त करके ही यह लोक आनन्दयुक्त होता है । कोन अन्यात् (चले) और कीन प्राण्यात् (जीवे) यदि यह आकाश (पूर्ण) आनन्द न हो । यह पूर्णानन्द ही सब को आनन्द देता है, आनन्दयुक्त करता है । मनुष्यानन्द से ब्रह्मानन्द तक यह आनन्द की विचारणा होती है । इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करता है । ब्रह्मानन्द को जानने वाला किसी से नहीं डरता है । आनन्दस्वरूप ब्रह्म है इस प्रकार भृगु ने समक्षा (विज्ञानमानन्द) इस दूसरी श्रुति में भी ब्रह्मार्थ में ही आनन्दशब्द देखा गया है । इस प्रकार आनन्द शब्द का बहुत बार ब्रह्मविषयक अभ्यास से आनन्दमयरूप आत्मा ब्रह्म है ऐसा समझा जाता है ।

यत्तूक्तम्—'अन्नमयाद्यमुख्यात्मप्रवाहपतितत्वादानन्दमयस्याप्यमुख्यत्वमिति-नासौ दोषः । आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् । मुख्यमेव ह्यात्मानमुपदिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरत् अन्नमयं शरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य भूपानिपिक्कद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राह्यत् प्रतिपत्तिसौकर्यपेक्षया सर्वान्तरं मुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरम् । यथारुन्धतीनिदर्शने वह्नीष्वपि तारास्वमुख्यास्वरुन्धतीषु दर्शितासु यान्त्या प्रदर्श्यते सा मुख्यैवारुन्धती भवति, एवमिहाप्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम् ।

जो यह कहा था कि अन्नमयादि अमुख्य (गौण) आत्मा के प्रसंग में आनन्दमय के ज्ञान होने से आनन्दमय को भी अमुख्यत्व है । वहाँ कहा जाता है कि अमुख्य प्रवाह-पातजन्य अमुख्यत्व दोष आनन्दमय में नहीं है, क्योंकि आनन्दमय को सर्वान्तरत्व है । यदि इससे अभ्यन्तर अन्य कोई होता, तो उसकी अपेक्षा अन्नादिमय के समान यह भी अमुख्य होता, यह बात नहीं है । उस मुख्य ही आत्मा के उपदेश के इच्छुक शास्त्र ने

लोगों की बुद्धि का अनुसरण करता हुआ, अन्नमय अनात्मा शरीर जो अत्यन्त मूढ़ों को आत्मरूप से प्रसिद्ध है उसका अनुवाद करके सचि म दिए हुए द्रुत तामे आदि की प्रतिमा के समान उसके अन्दर इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समान उत्तर-उत्तर अनात्मा की ही ज्ञान की सुगमता की दृष्टि से प्रथम आत्मरूप से ग्रहण (ज्ञान) करता हुआ अन्त में सर्वान्तमुख्य आनन्दमय आत्मा का उपदेश दिया है, ऐसा मानना अत्यन्त उचित है। जैसे अरुण्यती के प्रदर्शन (दिखाने) में प्रथम बहुत अमुख्य अरुण्यती ताराओं को देखने के बाद में जो अरुण्यती दिखाई जाती है वह मुख्य ही अरुण्यती रहती है। इसी प्रकार यहाँ भी आनन्दमय को सर्वान्त होने से मुर्यात्मत्व है।

यत्तु ब्रूये—प्रियादीना शिरस्त्वादिकल्पनाऽनुपपत्ता मुख्यस्यात्मन इति—
अतीतानन्तरोपाधिजनिता सा न स्वाभाविकीत्यदोषः । शारीरत्वमप्यानन्दम-
यस्यान्नमयादिशरीरपरम्परया प्रदर्श्यमानत्वात्, न पुन साक्षादेव शारीरत्व
ससारिवत्, तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा ॥ १२ ॥

जो यह कहते ही कि मुख्य आनन्दमय में प्रियादि की शिर आदि रूप से कल्पना अयुक्त है, इसका उत्तर है कि वह शिर आदि की कल्पना आनन्दमय से पूर्वगत विज्ञान-मय रूप उपाधि जनित है स्वभावसिद्ध नहीं है, इससे कोई दोष नहीं है। और आनन्दमय को शरीर सम्बन्धित्व भी अन्नमयादि शरीरों की परंपरा से दिखलाया गया है। ससारो के समान साक्षात् शरीरत्व नहीं दिखलाया गया है, जिससे आनन्दमय परमात्मा ही है ॥ १२ ॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

विकारशब्दान् न इति चेत् न प्राचुर्यात् । इस प्रकार इस सूत्र में छ पद हैं । सक्षिप्तार्थ है कि (आनन्दमयशब्दे मयइवेतयोरित्यादि सूत्रेण विकारार्थे प्रत्ययसत्त्वा-
दानन्दमयशब्दो न ब्रह्मवाचक इति चेत्, तत्प्रकृतवचने मयदितिसूत्रेण प्राचुर्यं (बाहुल्य)
विशिष्टार्थेऽपि मयटो विधानात् सम्भवति ब्रह्मवाचकत्वमानन्दमयशब्दस्येति) आनन्दमय
शब्द में (मयइवा) इस सूत्र से विकार और अवयव अर्थ में प्रत्यय विधान के कारण
विकार अर्थ में प्रत्यय है, इससे आनन्दमय शब्द निविकार ब्रह्म का वाचक नहीं है,
इस का उत्तर है कि (तत्प्रकृत) इत्यादि सूत्र से बहुलता विशिष्ट (युक्त) अर्थ में
मयट होता है, वही आनन्दमय में है, क्योंकि (द्वयचच्छन्दसि) इस सूत्र से नियम
किया गया है कि वैदिक शब्द में यदि विकारार्थ में मयट हो तो दो अच् वाले ही
से हो और आनन्द शब्द में तीन अच् हैं, इससे आनन्दमय शब्द को ब्रह्मवाचकत्व है ।

अत्राह—नानन्दमयः पर आत्मा भवितुमर्हति । कस्मात्, विकारशब्दात् ।
प्रकृतिवचनादयमन्य शब्दो विकारवचन समाधिगत, आनन्दमय इति
मयटो विकारार्थत्वात् । तस्मादन्नमयादिशब्दवद्विकारविषय एवानन्दमयशब्द
इति चेत्, न । प्राचुर्यार्थेऽपि मयट स्मरणात् । 'तत्प्रकृतवचने मयट' (पा०

५।४।२१ । इति हि प्रचुरतायामपि मयट् स्मर्यते । यथा 'अन्नमयो यज्ञः' इत्यन्न-
प्रचुर उच्यते । एवमानन्दप्रचुरं ब्रह्मानन्दमयम् उच्यते । आनन्दप्रचुरत्वं च
ब्रह्मणो मनुष्यत्वादारभ्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्स्थाने शतगुण आनन्द इत्युक्त्वा
ब्रह्मानन्दस्य निरतिगयत्वावधारणात् । तस्मात्प्राचुर्यार्थं मयट् ॥ १३ ॥

यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि आमन्दमय परमात्मा होने योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें
विकार वाचक मयट् शब्द है । (तत्प्रकृत) इत्यादि से जो मयट् होता है वह
प्रकृति के बाहुल्य अर्थ में होता है । इसी प्रकार जो अन्य कोई प्रकृति का वाचक शब्द
है उससे अन्य यह विकारवाचक शब्द मयट् समझा जाता है । तथा आनन्द शब्दार्थ
से भिन्न अर्थ को मयट् कहता है, क्योंकि आनन्दमय इसमें मयट् को विकारार्थकत्व है ।
जिससे आनन्दमय शब्द भी अन्नमयादि शब्दों के समान विकार वाचक है । इस शंका
का उत्तर है कि—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्राचुर्यार्थ में भी मयट् का विधान है ।
'तत्प्रकृतवचने मयट्' बाहुल्यरूप से प्रस्तुत के वाचक से उसी संयुक्त अर्थ के कथन में
मयट् होता है, जैसे कि (अन्नमयो यज्ञः) 'बहुत अन्न जिसमें है ऐसा यज्ञ है' यहाँ अन्न
की अधिकता की प्रतीति होती है और वही मयट् की प्रकृति है, इसी प्रकार आनन्द के
बाहुल्य से युक्त ब्रह्म आनन्दमय कहा जाता है । और मनुष्यत्व से आरम्भ करके उत्तर
स्थानों में शतगुण अधिक आनन्दों को कहकर ब्रह्मानन्द को सर्वोत्तम निश्चय करने से
ब्रह्म में आनन्द बाहुल्य सिद्ध होता है । इस हेतु से प्राचुर्यार्थ में (ही यहाँ) मयट् है ॥ १३ ॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

इतश्च प्राचुर्यार्थं मयट् । यस्मादानन्दहेतुत्वं ब्रह्मणो व्यपदिशति श्रुतिः—
'एष ह्येवानन्दयाति' इति । आनन्दयतीत्यर्थः । यो ह्यन्यानानन्दयति स प्रचुरा-
नन्द इति प्रसिद्धं भवति । यथा लोके योजन्येषां धनिकत्वमापादयति स प्रचुर-
धन इति गम्यते, तद्वत् । तस्मात्प्राचुर्यार्थेऽपि मयटः सम्भवादानन्दमयः पर
एवात्मा ॥ १४ ॥

इस वक्ष्यमाण (आगे कथित) हेतु से भी आनन्दमय में प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय
है, जिससे श्रुति आनन्दमय ब्रह्म को (तस्य हेतुस्तद्धेतुः) उस जीव सम्बन्धी
आनन्दों का हेतु कहती है कि यही सबको आनन्दयुक्त करता है । एवं जो अन्य
को आनन्दयुक्त करता है वह बहुत आनन्द वाला है, यह प्रसिद्ध निश्चित होता है ।
जैसे लोक में जो अन्य को धनिकत्व सिद्ध करता है, वह प्रचुर (अधिक) धन
वाला समझा जाता है, वैसे ही ब्रह्म प्रचुरानन्द वाला समझा जाता है । जिससे
प्राचुर्यार्थ में भी मयट् के हो सकने से आनन्दमय परमात्मा ही है । सूत्रार्थ भाष्यार्थ
से ही स्पष्ट हो गया है ॥ १४ ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

इतश्चानन्दमय पर एवात्मा, यस्मात्, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम' इत्युपक्रम्य 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' (तै० २।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे यत्प्रकृत ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तविशेषणैर्निर्धारित, यस्मादाकाशादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्यजायन्त, यच्च भूतानि सृष्ट्वा तान्यनुप्रविश्य गुहायामवस्थित सर्वान्तर, यस्य विज्ञानाय 'अन्योऽन्तर आत्मान्योऽन्तर आत्मा' इति प्रकान्त तस्मान्नान्त्रवर्णिकमेव ब्रह्मेह गीयते 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय' (तै० २।५) इति । मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्व युक्तम्, अविरोधात् । अन्यथा हि प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये स्याताम् । न चान्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्माभिधीयते । 'एतन्निष्ठैत्र च सैवा भार्गवी वारुणी विद्या' (तै० ३।६) तस्मादानन्दमय पर एवात्मा ॥१५॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आनन्दमय परमात्मा ही है, जिससे (ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है) इस प्रकार उपक्रम (आरम्भ) करके मन्त्र लिखा है कि (सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म) सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है । वहाँ इस मन्त्र में जो ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप विशेषणों द्वारा निर्धारित (निश्चित) हुआ है और जिससे आकाशादि क्रम से स्थावर, जगम मय प्राणी उत्पन्न होते हैं और जो भूतों को रच कर और उनमें प्रविष्ट हो हृदयगत बुद्धिकोशरूप गुहा में सर्वान्तर स्वरूप से स्थिर है, एवं जिसके विज्ञान के लिए अन्य अन्तरात्मा है, इस प्रकार प्रकृष्ट क्रम किया और कहा गया है, वही मन्त्रात्मक वर्ण (शब्द) में प्रतिपादनीय रूप से वर्तमान ब्रह्म इस ब्राह्मण वाक्य में भी गाया (कहा) गया है (अन्य अन्तरात्मा आनन्दमय है) । क्योंकि व्याख्येय और व्याख्यान रूप मन्त्र और ब्राह्मण को एकार्थवत्त्व होना भी उचित है, ऐसा होने में दोनों में अविरोध होता है । अन्यथा मन्त्र से ब्राह्मण के भिन्नार्थ होने पर प्रकृत की हानि (प्रकरणप्राप्त का त्याग) और अप्रकृत की प्रक्रिया (अप्रकृतार्थ का आरम्भ स्वीकार) रूप दोष होगा, यद्यपि मन्त्र के व्याख्यान रूप अन्तमयादि का वर्णन भी है, परन्तु उनसे अन्य अन्य अन्तरात्मा के वर्णन से उनमें अमुख्यता सिद्ध हो जाती है, और उनके समान आनन्दमय से अन्य अन्तरात्मा का कथन नहीं है । यह भृगु को दी गई वरुण से उपदिष्ट भाग की वारुणी विद्या भी एतन्निष्ठ (आनन्दमय में ही परिनिष्ठित) है, इससे आनन्दमय परमात्मा ही है । इन दोनों सूत्रों में चकार हेतु अर्थ में पड़ा गया है और इस सूत्र का अर्थ भी भाष्यार्थ से स्पष्ट हो गया है ॥ १५ ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६ ॥

इतश्चानन्दमय पर एवात्मा नेतर । इतर ईश्वरादन्य ससारी जीव इत्यर्थः । न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते । कस्मात् ? अनुपपत्तेः । आनन्द-

मयं हि प्रकृत्य श्रूयते—‘सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय’ इति । ‘स तपोऽजप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च’ (तै० २।६) इति । तत्र प्राक्गरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥ १६ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आनन्दमय परमात्मा ही है, इतर (ईश्वर से अन्य संसारी जीव) आनन्दमय नहीं है, अर्थात् आनन्दमय शब्द से जीव नहीं कहा जाता है, प्रश्न होता है कि क्यों नहीं कहा जाता ? उत्तर है कि—अनुपपत्ति (असम्भव, अयुक्तता) से नहीं कहा जाता है । कैसी अनुपपत्ति है ? इस अर्थ को दगनि के लिए कहा जाता है कि आनन्दमय का प्रसङ्ग करके उसी के प्रकरण में मुना जाता है कि (उस आनन्दमय रूप ईश्वर ने इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ । फिर उसने सृष्टि का विचार रूप तप किया और वह तप करके संसार को रचा, और जो कुछ वस्तु है सबको बनाया इत्यादि । वहाँ गरीरादि की उत्पत्ति से पूर्वकाल में सृष्टि का चिन्तन विचार और सृष्टि क्रिया से उत्पन्न होने वाले सब विकारों (कार्यों) से सृष्टि करने वाले का अभेद (एकता) और सब विकार की सृष्टि, ये तीनों बातें परमात्मा के बिना अन्य में नहीं बन सकती हैं, इस हेतु से आनन्दमय परमात्मा है जीव नहीं यह सूत्र पूर्वपक्ष का उत्तर रूप है ॥ १६ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

इतश्च आनन्दमयः संसारी, यस्मादानन्दमयाधिकारे—‘रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति’ (तै० २।७) इति जीवानन्दमयी भेदेन व्यपदिशति । नहि लब्ध्वैव लब्धव्यो भवति । कथं तर्हि ‘आत्मान्वेष्ट्यः’ ‘आत्मलाभान्न परं विद्यते इति च श्रुतिस्मृती, यावता न लब्ध्वैव लब्धव्यो भवतीत्युक्तम् । वादम् । तथाप्यात्मनोऽप्रच्युतात्मभावस्यैव सतस्तत्त्वानवबोधनिमित्तो मिथ्यैव देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः तेन देहादिभूतस्यात्मनोऽप्यात्माऽनन्विष्टोऽन्वेष्टव्योऽलब्धो लब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्योऽविज्ञातो विज्ञातव्य इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते । प्रतिपिध्यत एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात्परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ (वृ० ३।७।२३) इत्यादिना । परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पितान्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः । यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः । यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः । ईदृशं च विज्ञानात्मपरमात्मभेदमाश्रित्य ‘नेतरोऽनुपपत्तेः’ ‘भेदव्यपदेशाच्च’ इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

पूर्व सूत्रगत अनुपपत्ति रूप हेतु के साथ समुच्चय (एकार्थत्व) द्योतन के लिए च शब्द है । अतः पूर्वोक्त हेतु के समान इस हेतु (कारण) से भी आनन्दमय संसारी जीव नहीं

है। आनन्दमय के अधिकार (प्रकरण) में श्रुति है कि वह (आनन्दमय परमात्मा) रस (आनन्दस्वस्व) है, और यह जीव उस आनन्द को पाकर आनन्द वाला होता है। इस प्रकार यह श्रुति जीव और आनन्दमय को भेदपूर्वक कथन करती है, क्योंकि प्राप्त करने वाला कर्ता ही प्राप्त करने योग्य प्राप्ति क्रिया का कर्म नहीं होता है ? लोक में कर्ता कर्म का भेद प्रसिद्ध है, इससे जीव रूप प्राप्तिकर्ता से आनन्दमय भिन्न है। यहाँ शका होती है कि, यदि कर्ता कर्म का भेद निश्चित है जिससे लब्धा (लाभ कर्ता) लब्धव्य (लाभ का कर्म) नहीं होता है तो, 'आत्मान्वेष्टव्य' 'आत्मलाभान पर विद्यते'। आत्मा का अन्वेष्टण (खोज-विचार) करना चाहिए। आत्मा की प्राप्ति से उत्तम कोई वस्तु वा क्रिया नहीं है, इस प्रकार की श्रुति स्मृति वैसे सगत हो सकती है। सिद्धान्त रूप उत्तर दिया जाता है कि यह शका ठीक ही है, तो भी अप्रच्युत (अनष्ट) आत्मभाव युक्त वर्तमान आत्मा के ही सत्य स्वरूप के अज्ञान निमित्तक (अज्ञानजन्य) देहादि रूप अनात्मा में मिथ्या ही आत्मत्व का लौकिक (भ्रम रूप लोक में प्रसिद्ध) निश्चय ज्ञान देखा जाता है, जो प्रत्यक्ष है। इसने मिथ्या ज्ञान द्वारा देहादिरूपता को प्राप्त आत्मा का भी अन्विष्ट (प्राप्त विचारित) देहादि से भिन्न आत्मा है, इससे अनन्विष्ट है, इससे अन्वेष्टण योग्य है। इसी प्रकार अलब्ध है इसने लब्धव्य है, अश्रुत है इससे श्रोतव्य है। अमत (मनन का अविषय) है, इससे मन्तव्य है। अविज्ञात है इससे विज्ञातव्य (जानने योग्य) है, इत्यादि भेद का व्यवहार बनता है। एव अज्ञान औपाधिक मिथ्या भेद निमित्तक सत्र व्यवहार होते हुए भी परमार्थ रूप से तो सर्वज्ञ परमेश्वर अन्य द्रष्टा वा श्रोता वा श्रुति से निषेध ही किया जाता है कि (नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा) दस परमात्मा से अन्य द्रष्टा नहीं है इत्यादि। इससे सत्यात्मा से यद्यपि मिथ्या जीव भिन्न सत्ता वाला नहीं है, तो भी अविद्या कल्पित जो जीव शरीराभिमानो कर्ता भोक्ता विज्ञानात्मा नाम वाला है उससे परमेश्वर अन्य है। जैसे कि ढाल और तलवार लेकर भूमि (तन्त्रु) द्वारा आकाश में चढ़ते हुए मायावी (नट) से अन्य वही सत्य मायावी भूमि में स्थिर रहता है अथवा उपाधि से परिच्छिन्न (एकदेशी) आकाश से जैसे उपाधि से अपरिच्छिन्न विमु आकाश भिन्न रहता है, और इस प्रकार के कल्पित जीव परमात्मा के भेद को मानकर 'नेतरोनुपपत्ते' 'भेदव्यपदेशाच्च' यह कहा गया है ॥ १७ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

सक्षिप्तार्थ है कि 'जीवात्मान आनन्दमयत्वानुपपत्तावपि, अनुमानमपेक्षते स्वसिद्धा-वित्यनुमानापेक्षा प्रकृति सत्त्वप्रचुराऽऽनन्दमय' स्वादित्याशङ्क्यामाह—कामादपि प्रकृति-नानन्दमय' इति। जीवात्मा के आनन्दमय नहीं हो सकने पर भी अपनी सिद्धि में अनुमान की अपेक्षा रखने वाली प्रकृति सत्त्वाधिपत्य युक्त होने से आनन्दमय हो सकती है। ऐसी शका होने पर सूत्रकार ने कहा है कि काम के श्रवण से भी प्रकृति आनन्दमय नहीं हो सकती है।

आनन्दमयाधिकारे च 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इति कामयितृत्वनिर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वापेक्षितव्यम् । 'ईक्षतेनाशब्दम्' (ब्र० १।१।५) इति निराकृतमपि प्रधानं पूर्वसूत्रोदाहृतां कामयितृत्वश्रुतिमाश्रित्य प्रसङ्गात्पुनर्निराक्रियते गतिसामान्यप्रपञ्चनाय ॥ १८ ॥

आनन्दमय के प्रकरण में (उसने कामना की कि बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ) इस प्रकार इच्छा कर्तृत्व रूप से आनन्दमय का कथन है, इससे और अनुमान से सिद्ध भी सांख्य से परिकल्पित अचेतन प्रधान आनन्दमय रूप वा स्वतन्त्र कारण रूप से मन्तव्य नहीं है । 'ईक्षतेनाशब्दम्', इस सूत्र से प्रथम ही प्रधान निराकृत (खंडित) हो चुका है, तो भी उस उक्त, 'ईक्षति' सूत्र में उदाहरण रूप से पठित कामकर्तृत्व श्रुति का आश्रयण करके, वेदान्त की गति सामान्य का विस्तार से कथन के लिए प्रसङ्गवश प्रधान का फिर निराकरण किया गया है कि अनुमीयते, इति अनुमानं प्रधानं तस्यापेक्षा (सम्बन्धः) आनन्दमये नैव भवति कामश्रवणात् । अनुमान से जाना जाय उसको भी अनुमान कहते हैं, ऐसा जो प्रधान उसका आनन्दमय वाक्य में वाच्य रूप से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि यहाँ काम का श्रवण है, जड़ में काम नहीं हो सकता । कामादि को श्रुति में जो मन रूप कहा गया है, सो उपादानता निमित्तत्वादि दृष्टि से कहा गया है, कर्तृत्व दृष्टि से नहीं, यहाँ कर्तृत्व का वर्णन है ॥ १८ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

इतश्च न प्रधाने जीवे वाऽनन्दमयशब्दः, यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योगं शास्ति, तदात्मना योगस्तद्योगः, तद्भावापत्तिः मुक्तिरित्यर्थः । तद्योगं शास्ति, शास्त्रम्—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' (तै० २।७) इति । एतदुक्तं भवति । यदैतस्मिन्नानन्दमयेऽल्पमप्यन्तरमतादात्म्यरूपं पश्यति तदा संसारभयान्न निवर्तते । यदा त्वतस्मिन्नानन्दमये निरन्तरं तादात्म्येन प्रतिष्ठति तदा संसारभयान्निवर्तते इति । तच्च परमात्मपरिग्रहे घटते, न प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा । तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम् ।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी प्रधान वा जीव में आनन्दमय शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता कि जिससे इस प्रकरण प्राप्त आनन्दमय रूप आत्मा में प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) इस जीवात्मा का तद्योग (तद्भाव से सम्बन्ध) का अर्थात् (अभेद) का शास्त्र उपदेश देता है, तद्भावापत्ति रूप मुक्ति का वर्णन करता है कि (जिस काल में यह जीव, इस अदृश्य स्थूल जगत्तरहित) अनात्म्य (लिङ्गतरहित) अवाच्य प्रकृति पार वस्तु में, जिस प्रकार अभय हो उस रीति से चित्त की स्थिति का लाभ करता है, उसी समय वह अभय को

प्राप्त हो जाता है। और जिस काल में अल्प भी अन्तर (भेद) करता (समझना) है तो उस काल में उसको भय होता है, इससे यह कहा गया है कि जब इस आनन्दमय में अल्प भी अतादात्म्य (अब्रह्मत्व) रूप भेद को पुरुष देखता है, तब ससार भय से रहित नहीं होता है। और जब इस आनन्दमय ब्रह्म में निरन्तर (सदा) तद्रूप से स्थिर (ब्रह्मनिष्ठ) होता है, सदा निजात्मा रूप से आनन्दमय को जानता है, तब ससार भय से रहित होता है। यह पूर्व वर्णित श्रुति का कथन तब सघटित (युक्त) हो सकता है कि जब आनन्दमय शब्द से परमात्मा को समझा जाय। और आनन्दमय से प्रपान वा जीव को समझने पर पूर्व कथन सघटित नहीं हो सकता है, इससे आनन्दमय परमात्मा है यह स्थित (सिद्ध) हुआ।

इदं त्विह वक्तव्यम्—‘स वा एष पुरुषोऽन्तरसमयः’ ‘तस्माद्वा एतस्मादन्तरसमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः’ ‘तस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः’ ‘तस्मात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः’ (तै० २।१, २, ३, ४) इति च विकारार्थं मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादधर्जर्तीयन्यायेन कथमिव मयट् प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चाश्रूयत इति। मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत् ? न। अन्नमयादीनामपि तर्हि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः।

इस पूर्वोक्त मयट् के प्राचुर्यादि रूपाथर्वत्ता युक्त व्याख्यान में यह वक्तव्य (दोष) या वचनार्ह है कि (सो यह पुरुष अन्तरसमय है) इस पूर्वोक्त अन्तरसमय से अन्य अन्तरात्मा प्राणमय है। उससे अन्य अन्तरात्मा मनोमय है। उससे अन्य अन्तरात्मा विज्ञानमय है, इस प्रकार विकारार्थक मयट् के प्रवाह रहते अन्तरमात् (कारण के बिना) आनन्दमय में ही अर्द्धजर्तों न्याय से मयट् को प्राचुर्यार्थत्वं और ब्रह्मविषयत्वं किस प्रकार माना जाता है। यदि कहा जाय कि मन्त्र में वर्णित ब्रह्म का प्रकरण होने में माना जाता है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरण से यदि आनन्दमय ब्रह्म का वाचक हो तो अन्नमयादि को भी ब्रह्मत्व की प्राप्ति होगी।

अत्राह—युक्तमन्नमयादीनामब्रह्मत्वं, तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्तरस्यान्यस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वात्, आनन्दमयात्तु न कश्चिदन्योऽन्तर आत्मोच्यते, तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्, अन्यथा प्रकृतज्ञानाप्रकृतप्रक्रियाप्रमङ्गादिति।

यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि अन्नमयादि को अब्रह्मता उचित है, क्योंकि इस अन्नमयादि से अन्य-अन्य अन्तरात्मा कहा गया है। और आनन्दमय से अन्य कोई अन्त-

१ यहाँ शंका होती है कि (द्व्यचरच्छदसि) इस नियम सूत्र के अनुसार, अन्न-समय, विज्ञानमय और आनन्दमय में विकारार्थक मयट् हो नहीं सकता है, उसका उत्तर है कि (नित्य वृद्धशरादिभ्यः) इस सूत्र के आगम्य सामर्थ्य से ही नित्यत्व के सिद्ध होते हुए भी नित्यग्रहण से अर्थ होता है कि लोक में वृद्धशरादि में विकारार्थ में नित्य मयट् होता है, और छन्द में भी वही होता है।

रात्मा नहीं कहा जाता है, इससे आनन्दमय को ब्रह्मात्मा है, अन्यथा प्रकृत की हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया प्राप्त होगी ।

अत्रोच्यते—यद्यप्यन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेति न श्रूयते तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं, यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते—‘तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिण. पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ (तै० २।५) इति । तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णे प्रकृतम्—‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति, तदिह ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्युच्यते । तद्विजिज्ञापयिष्यैवान्ममयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्चकोशाः कल्पन्ते, तत्र कुतः प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रिया-प्रसङ्गः । नन्वानन्दमयस्यावयवत्वेन ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्युच्यते, अन्नमया-दीनामिव ‘इदं पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्यादि, तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शक्यं विज्ञातुम् । प्रकृतत्वादिति ब्रूमः । नन्वानन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विजायमाने न प्रकृतत्वं हीयते, आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादिति ।

यहाँ कहा जाता है कि यद्यपि अन्नमयादि से पर (अन्य) आत्मा के समान आनन्दमय से अन्य अन्तरात्मा नहीं सुना जाता है, तथापि आनन्दमय को ब्रह्मत्व नहीं है, क्योंकि आनन्दमय का आरम्भ करके उसके प्रकरण में सुना जाता है कि (उस) आनन्दमय का प्रिय (इष्टार्थं दर्शनजन्यमुख) शिर है, मोद (इष्ट की प्राप्तिजन्य सुख) दक्षिण पांख है, प्रमोद (इष्टोपभोगजन्य सुख) उत्तर पांख है, और आनन्द रूप चेतन उसका आत्मा है, विभु शुद्ध ब्रह्म उसका पुच्छ और प्रतिष्ठा (आश्रय) है इत्यादि । वहाँ जो ब्रह्म मन्त्राक्षर में प्रकृत है—(सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है) वही ब्रह्म यहाँ पुच्छ प्रतिष्ठारूप कहा जाता है । और उसी ब्रह्म को समझाने की इच्छा से ही अन्नमयादि आनन्दमय पर्यन्त पंचकोश कल्पित होते हैं । इस व्यवस्था में प्रकृत हान और अप्रकृत प्रक्रिया का प्रसङ्ग किस हेतु से है ? पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे अन्नमयादि को यह पृथिवी आदि पुच्छ प्रतिष्ठा है यह कहा गया है, वैसे ही आनन्दमय के अवयव रूप से ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा कहा गया है: तो इस अवस्था में ब्रह्म को स्वयं प्रधानत्व कैसे समझा जा सकता है ? उत्तर है कि ब्रह्म का प्रकरण है, इससे हम ब्रह्म को प्रधान कहते हैं । पूर्वपक्षी कहता है कि आनन्दमय के अवयव रूप से भी ब्रह्म के विज्ञात स्वीकृत होने पर ब्रह्म का प्रकृतत्व (प्रकरण) नष्ट नहीं होता है, क्योंकि आनन्दमय को ब्रह्मत्व है ।

अत्रोच्यते—तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्मावयवी, तदेव च ब्रह्म-पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यात् । अन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देश आश्रयितुं ब्रह्मशब्दसंयोगात्, नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति । अपि च ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्युक्त्वेदमुच्यते—‘तदप्येव श्लोको भवति, असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः’ (तै० २।६) इति । अस्मिन् श्लोकेऽनु-

कृप्यानन्दमय ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोगुणदोषाभिधानाद्गम्यते—‘ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा’ इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता, प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् । कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते—‘ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा’ इति । नेप दोषः । पुच्छवत्पुच्छ प्रतिष्ठा परायणमेकनीड लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्यतदनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वम्, ‘एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति’ (बृह० ४।३।३२) इति श्रुत्यन्तरात् । अपि च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेष ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम् । निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनमयोरगोचरत्वाभिधानात्—‘यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह, आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्, न विभेति कुतश्चन इति’ (तै० २।९) । अपि च आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते, प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यत्वपेक्षत्वात् । तथाच सति ‘यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा’ (छा० ७।२।४१) इति भूमिं ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुच्येत । प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम् । ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ (तै० २।१) इत्यानन्त्यश्रुतं, ‘एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा’ (श्वे० ६।११) इति च श्रुत्यन्तरात् ।

यहाँ कहा जाता है कि उक्त रीति से मानने पर वही ब्रह्म आनन्दमय आत्मारूप अवयवो (प्रधान) है, और वही ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा अवयव (अधिधान) है, इस प्रकार अयुक्तता होगी । दोनों में से एक का ब्रह्म रूप से ग्रहण करना हो तो, ‘ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा’ इसी वाक्य में ब्रह्म का कथन मानने योग्य है, क्योंकि ब्रह्म शब्द का इसमें सम्बन्ध है । आनन्दमय वाक्य में ब्रह्म का कथन मानने योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें ब्रह्म शब्द के सम्बन्ध का अभाव है । ‘ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा’ यह कहकर फिर यह कहा गया है कि उक्तार्थ में यह श्लोक है कि (असन्नेव) इत्यादि । ब्रह्म असत् है (नहीं है) ऐसा जो जानता है सो स्वयं आपही असत् होता है, और जानना है कि ब्रह्म है तो उसको ज्ञानी लोग ब्रह्म रूप से सत् समझते हैं । इस श्लोक में आनन्दमय का सम्बन्ध अनुवृत्ति नहीं करके ब्रह्म के ही भाव और अभाव की ज्ञान दशा (अवस्था) में गुण और दोष के कथन से समझा जाता है कि ‘ब्रह्मपुच्छ प्रतिष्ठा’ इस वाक्य में ब्रह्म ही स्वयं प्रधान है, और आनन्दमय रूप आत्मा के भावाभाव की शका तो युक्त नहीं हो सकती, क्योंकि प्रियमोदादिविशेषगुण वाला आनन्दमय सब लोक में प्रसिद्ध है । यदि कहो कि श्रुति में सिद्धान्त के अनुसार स्वयं प्रधान सत् ब्रह्म आनन्दमय के पुच्छ रूप से कैसे कहा गया है कि आनन्दमय का ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है । तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि पुच्छशब्द का मुख्य वाच्यार्थ तो सगत नहीं हो सकता है, इससे सादृश्य अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग है । भाव यह है कि जैसे पक्षी का पुच्छ

उड़ने आदि में आधार होता है, वैसे ही पुच्छ के तुल्य यह ब्रह्मानन्द प्रतिष्ठा परम आय-
तन (वास स्थान) और एक नीड (अद्वितीय आश्रय) सब लौकिक आनन्दों का है,
यह अर्थ यहाँ विवक्षित है । अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्म सब आनन्दादि का हेतु और
अधिष्ठान है, अवयवत्व विवक्षित नहीं है । क्योंकि दूसरी श्रुति कहती है कि इसी
ब्रह्मानन्द की मात्रा (स्वल्पांश) का उपभोग सब प्राणी करते हैं । और दूसरी बात
यह है कि यदि आनन्दमय को ब्रह्म माना जायगा तो उसे प्रियादि अवयव वाला होने
से सविशेष (सगुण) ब्रह्म को स्वीकार करना होगा, और निगुण ब्रह्म वाक्यशेष
(अंगवाक्य) में मुना जाता है, क्योंकि वाक् और मन की अगोचरता (अविषयता)
का वाक्य शेष में कथन है कि मन सहित वाणी जिसको प्रकाश करने और कहने में
असमर्थ होकर निवृत्त होती है, जिसको प्राप्त नहीं कर सकती है, उस ब्रह्म के आनन्द
को जानने वाला किसी से नहीं डरता है । और आनन्दमय को बहुत आनन्दयुक्त कहने
पर उसमें दुःख की सत्ता भी प्रतीत होती है । अनुमान से दुःख की सत्ता समझी जाती
है, क्योंकि लोक में प्रतियोगी (विरोधी सम्बन्धी) की अल्पत्व की अपेक्षा से अन्य में
प्रचुरता (अधिकता) की सिद्धि होती है । ब्रह्म में अल्प दुःख की सत्ता मानने पर
जिस ब्रह्म में जो अन्य को नहीं देखता है, नहीं सुनता है, न अन्य को जानता है, वही
भूमा विमु ब्रह्म है । इस रीति से ब्रह्म में ब्रह्म से मिल्न वस्तु के अभावो को कहने वाली
श्रुति बाधित होगी । प्रतिशरीर (सब शरीर) में प्रियमोदादि के भेद से आनन्दमय
को भी भेद है, सब में एक आनन्दमय नहीं है, और ब्रह्म प्रत्येक शरीर में मिल्न नहीं
होता है, क्योंकि (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) यह अनन्तता विभुता सुनी गई है, और
दूसरी श्रुति है कि (एको देवः) एक परम देव ब्रह्म सब प्राणी में छिपा है, सब में
व्यापक और सब प्राणी की अन्तरात्मा है ।

न चानन्दमयस्याभ्यासः श्रूयते, प्रातिपदिकार्यमात्रमेव हि सर्वत्राभ्य-
स्यते—‘रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात्कः
प्राप्न्यात्, यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति सैपा-
नन्दस्य मीमांसा भवति’ ‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चनेति,’
(तै० २।७।८।९) ‘आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्’ (तै० ६।५) इति च । यदि च
आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत्, तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगे-
ष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्पेत, न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति, प्रियशिरस्त्वा-
दिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम । तस्माच्छ्रुत्यन्तरे ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ (वृ० ३।१।२८)
इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात् ‘यदेव आकाश आनन्दो न
स्यात्’ इत्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो न त्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम् ।

यस्त्वय मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यास — 'एतमानन्दमयमात्मानमुपस-
क्रामति' (तै० २।८) इति,—न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति विकारात्मनामेवात्र-
मयादीनामनात्मनामुपसक्रामितव्याना प्रवाहे पठितत्वात् ।

अभ्यास से आनन्दमय को ब्रह्म कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आनन्दमय का अभ्यास नहीं सुना जाता है, किन्तु मयट् प्रत्यय का आश्रय जो आनन्दरूप प्रातिपदिक उसी के अर्थमात्र का ही अभ्यास किया गया है कि वह रस है, वह रस को ही पाकर आनन्दयुक्त होता है । कौन चले या कौन जीवे, यदि वह विभु आनन्द न हो । वही आनन्द देता है । यही उस आनन्द को विचारणा है । ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से नहीं डरता है । आनन्द ब्रह्म है, (ऐसा समझा) इत्यादि । यदि कहा जाय कि यद्यपि आनन्दमात्र का अभ्यास है तथापि वह लक्षणावृत्ति से आनन्दमय का बोधक है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यदि आनन्दमय शब्द को ब्रह्मवाचकत्व निश्चित हो, तो उससे आगे के आनन्दमात्र के प्रयोगों (कथनों) में आनन्दमय के अभ्यास की कल्पना लक्षणा से की जाय । इसलिए आनन्दमय को प्रियशिरस्त्वादि हेतुओं से ब्रह्मत्व नहीं है यह बात कही जा चुकी है । इससे दूसरी श्रुति में (विज्ञानमानन्द ब्रह्म) इस प्रकार आनन्द के प्रतिपादक शब्द का ब्रह्म में प्रयोग देखने से (यह देश आकाश आनन्द) इत्यादि भी ब्रह्मविषयक प्रयोग है, आनन्द-मय का अभ्यास नहीं है ऐसा मानना चाहिये । और जो यह मयट् प्रत्ययान्त आनन्दमय का अभ्यास है कि (इस आनन्दमय आत्मा को उपसक्रमण करता है) वहाँ उपसक्रम का निवृत्ति (बाध) अर्थ है, इससे उसको ब्रह्मविषयत्व नहीं है, क्योंकि विकार स्वरूप जो अन्नमयादि बाधयोग्य हैं उनके ही प्रवाह में वह आनन्दमय भी पवित है ।

नन्वानन्दमयस्योपसक्रामितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे मति नैव विद्रुपो ब्रह्मप्राप्तिफल निर्दिष्ट भवेत् । नैव दोष । आनन्दमयोपसक्रमणनिर्देशेनैव-
पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्ते फलस्य निर्दिष्टत्वात् । 'तदप्येव श्लोको भवति, यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिना च प्रपञ्च्यमानत्वात् । या त्वानन्दमयमन्निधाने 'सोऽक्रामयत् बहु स्या प्रजायेय' इति इयं श्रुतिरदाहृता सा 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' इत्यनेन सन्निहिततरेण ब्रह्मणा सम्बध्यमाना आनन्दमयस्य ब्रह्मता प्रतिबोध-
यति । तदपेक्षत्वाच्चोत्तरम्य ग्रन्थस्य 'रसो वै म' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता ।

मदि कहो कि उपसक्रम योग्य प्राप्य आनन्दमय को भी अन्नमयादि के समान ब्रह्ममिन्त्व होने पर विद्वान को ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल निर्दिष्ट (कथित) नहीं होगा, तो यह फलनिर्देश रूप दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमय की प्राप्ति के निर्देश से ही पुच्छ प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल का निर्देश हो गया है । अर्थात् उपसक्रमण से आनन्दमय की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति कहा गया है, और उसी का 'तदप्येव' ५

श्लोको भवति, यतो वाचो' इत्यादि से विस्तार किया गया है। एवं जो आनन्दमय के समीप में (सोऽकामयत) यह श्रुति उदाहरण (दृष्टान्त) रूप कही गई है, वह भी 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इस अत्यन्त निकट स्थित ब्रह्म के साथ सम्बन्धयुक्त होकर आनन्दमय की ब्रह्मता का प्रतिबोध नहीं कराती है, और उस ब्रह्मपुच्छ के साथ अपेक्षा रखने वाला 'रसो वै सः' इत्यादि ग्रन्थ को भी आनन्दमय विषयता नहीं है, अर्थात् आनन्दमय को रस रूप नहीं कहता है किन्तु ब्रह्म को कहता है।

ननु 'सोऽकामयत' इति ब्रह्मणि पुंलिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते। नायं दोषः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यत्र पुंलिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। यत्तु भार्गवी वारुणी विद्या 'आनन्दो ब्रह्मोति व्यजानात्' इति, तस्यां मयडश्रवणात्, प्रियशिरस्त्वाद्यश्रवणाच्च युक्तमानन्दस्य ब्रह्मत्वम्। तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते। नचेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं, वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः। तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेपि विकारार्थ एव मयट् विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः।

शंका होती है कि 'सोऽकामयत' यहाँ ब्रह्मार्थकता में पुंलिङ्ग उच्चारण नहीं बन सकता है, आनन्दमय में बन सकता है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' यहाँ पुंलिङ्ग 'आत्म' शब्द से भी ब्रह्म प्रकृत (प्रस्तुत) है और (आनन्द ब्रह्म है ऐसा समझा) इत्यादि भार्गवी वारुणी विद्या कही गई है, उसमें मयट् का श्रवण नहीं है, एवं न प्रियशिरस्त्वादि का ही श्रवण है, इससे वहाँ आनन्द को ब्रह्मता युक्त हो है। इससे अति अल्प भी विशेष (गुणादि) के आश्रयण किए बिना स्वतः निर्गुण ब्रह्म को प्रियशिरस्त्वादि नहीं बन सकता है, और यहाँ सगुण के प्रतिपादन की इच्छा नहीं है, क्योंकि वाक् और मन की गोचरता (विषयता), का अभाव सुना गया है, जिससे अन्नमयादि के समान आनन्दमय में भी विकारार्थक मयट् ही मानने योग्य है, प्राचुर्यार्थक मन्तव्य नहीं है।

सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि—'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र किमानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति। पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। आनन्दमय आत्मेत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते, अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवति' इत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलस्याभ्यस्यमानत्वात्, 'विकारशब्दान्तेति चेन्न प्राचुर्यात्'। विकारशब्देनावयवशब्दोऽभिप्रेतः, पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वं ब्रह्मण इति यदुक्तं, तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते—नायं दोषः प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः। प्राचुर्यं प्रायापत्तिः, अवयवप्राये वचनमित्यर्थः। अन्नमयादीनां हि शिर आदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तत्वानन्दमयस्यापि शिर आदी-

न्यवयवान्तराण्युक्तत्वावयवप्रायापत्त्या 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' इत्याह, नावयव-
विवक्षया यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्व ब्रह्मण समर्थितम् । 'तद्धेतुव्यप-
देशाच्च' । सर्वस्य च विकारजातस्य आनन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते-
'इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' (तै० २।६) इति । नच कारण सत् ब्रह्म स्व-
विकारस्यानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्याऽवयव उपपद्यते । अपराण्यपि सूत्राणि
यथासम्भव पुच्छवाक्यानिदिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानि ॥ १९ ॥

सूत्र तो इस वक्ष्यमाण रीति से व्याख्यान के योग्य है कि 'ब्रह्म पुच्छम्' इत्यादि
में आनन्दमय के अवयव रूप से ब्रह्म विवक्षित है किम्वा स्वयं प्रधान रूप से विवक्षित
है, इस प्रकार के सशय के बाद, पूर्वपक्ष हुआ कि 'पुच्छ' शब्द के बल से वह अवयव रूप
से ही विवक्षित है, तब कहा जाता है कि 'आनन्दमयोऽभ्यासात्', आनन्दमय आत्मा, यहाँ
पर (इस वाक्य में) ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा, इससे स्वयं प्रधान ब्रह्म का उपदेश दिया जाता
है । क्योंकि (असन्नेव स भवति) इस निगमन (सर्वसारांशग्रहण उपसंहार) श्लोक
में केवल ब्रह्म का ही अभ्यास है ।^१ 'विकारशब्दान्तेति चेन्न प्राचुर्यात्' यह विकार शब्द
से अवयव शब्द अभिप्रेत (तात्पर्य का विषय) है । भाव यह है कि पुच्छ इस अवयव
वाचक शब्द के रहने से ब्रह्म को स्वयं प्रधानत्व नहीं है, यह जो कहा गया है, उसका
उत्तर कहना चाहिये । यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, प्राचुर्य से अवयव शब्द
सङ्गत हो सकता है । प्राचुर्य का अर्थ है प्रायापत्ति (अवयव क्रम की वृद्धि) अवयववाहुल्य
में कथन । इससे अन्नमयादि के शिर आदि पुच्छ पर्यन्त अवयवों के कहने पर आनन्दमय
के भी शिर आदि अन्य अवयवों को कहकर अवयवप्राय की प्राप्ति से 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा'
यह श्रुति कहती है, अवयवत्व की विवक्षा से नहीं कहती है । क्योंकि 'अभ्यासात्' इस
हेतु से ब्रह्म को स्वयं प्रधानत्व समर्थित (सिद्ध) किया जा चुका है । 'तद्धेतुत्वव्यप-
देशात्', आनन्दमय सहित सब विकारों के कारण रूप से ब्रह्म का कथन किया जाता है
(जो कुछ ये दृश्य हैं, उन सबकी रचा) इस प्रकार सबका कारण रूप ब्रह्म अपने
कार्य आनन्दमय का मुख्य वृत्ति से अवयव नहीं बन सकता है । इसी प्रकार अन्य मूर्तों
को भी सम्भव के अनुसार पुच्छ वाक्य में कथित ब्रह्म के साधक हैं, ऐसा समझना
चाहिये । वस्तुतः 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दमुक् चेतोमुख प्राज्ञस्तृतीयः पाद १,
(माण्डूक्य ५) 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनि सर्वस्य प्रमवाप्ययौ हि
भूतानाम्' (माण्डू० ६) इत्यादि श्रुति में आनन्दमय सुषुप्तिकालिक प्राज्ञ नामा जीव
को ईश्वराभेद दृष्टि से जैसे सर्वेश्वर सर्वज्ञ अन्तर्यामी योनि आदि कहा गया है, वैसे ही
तैत्तिरीय श्रुति गत आनन्दमय को अभेद मानकर सूत्र की प्रवृत्ति प्रतीत होती है
(सोऽकामयत) इत्यादि की सगति सगुणता बिना नहीं हो सकती, इससे सूत्रकार के

१ प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन ये पञ्च अवयव परार्थानुमान
वाक्य में होते हैं, वहाँ वाक्य के अन्त्यावयव अवाधित अर्थ को पक्ष में सिद्ध करता है ।

मत से यहाँ सगुण ब्रह्म का ही मुख्य रूप से कथन है, और वह सगुण वस्तुतः निगुणानन्द से भिन्न नहीं है। इससे निगुण का अभ्यास सगुण का ही अभ्यास है, और सगुण ही वास्तविक स्वरूप से मन वाणी का अविषय है यह सूत्रकार का तात्पर्य है, भाष्य का तात्पर्य तो अति प्रगट है ॥ १९ ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

यहाँ पूर्व से ब्रह्म का सम्बन्ध है, और संक्षिप्तार्थ है कि (सूर्यं चक्षुषि चान्तः स्थित-त्वेन श्रुतः पुरुषो ब्रह्मैव नान्यः कुतस्तस्य ब्रह्मणो धर्माणामुपदेशादिति) सूर्य और आँख में स्थित स्वरूप से सुना गया पुरुष ही ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्म के धर्मों का उपदेश है।

अन्तरधिकरण (७)

हिरण्यमयो देवतात्मा किं वासौ परमेश्वरः ।

मर्यादाधाररूपोक्तैर्देवतात्मैव नेश्वरः ॥ १ ॥

सार्वभ्यात्सर्वदुरितराहित्याच्चेष्ट्वरो मतः ।

मर्यादाद्या उपास्त्यर्थमीशेऽपि स्युरुपाधिगाः ॥ २ ॥

हिरण्यमय पुरुष श्रुति में वर्णित है, वह देवतास्वरूप है या परमेश्वर है ? इस संशय के बाद-पूर्वपक्ष है कि विभूति की मर्यादा, आधार और रूप के श्रवण से देवतात्मा है, ईश्वर नहीं है। उत्तर है कि विभु आधाररहित रहित ईश्वर में उपाधिगत मर्यादा आदि का उपदेश उपासना के लिये है, और सार्वभूता सर्वपापासङ्गता के श्रवण से यह पुरुष परमेश्वर है।

इदमाम्नायते—‘अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्म-श्रुहिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः’ ‘तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवम-क्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद’ इत्यादिदेवतम् (छा० १।६।७।८) । अथाध्यात्मम्—‘अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ (छा० १।७।१५) इत्यादि । तत्र संशयः— किं विद्याकर्मातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षः कश्चित्संसारी सूर्यमण्डले चक्षुषि चोपास्य-त्वेन श्रूयते किंवा नित्यसिद्धः परमेश्वर इति । किं तावत्प्राप्तम् ? संसारीति । कुतः ? रूपवत्त्वश्रवणात् । आदित्यपुरुषे तावत् ‘हिरण्यश्मश्रुः’ इत्यादि रूपमु-दाहृतम् । अक्षिपुरुषेऽपि तदेवातिदेशेन प्राप्यते—‘तस्यैतस्य तदेव रूपं यद-मुष्य रूपम्’ इति । नच परमेश्वरस्य रूपवत्त्वं युक्तम् ‘अशब्दमस्पर्शमरूपम-व्ययम्’ (का० १।३।१५) इति श्रुतेः । आधारश्रवणाच्च—‘य एषोऽन्तरादित्ये य एषोऽन्तरक्षिणि’ इति । नह्यनाधारस्य स्वमहिमप्रतिष्ठस्य सर्वव्यापिनः परमेश्व-रस्याधार उपदिश्येत । ‘स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि’ (छा० ७।२।४।१) इति, ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः’ इति च श्रुती भवतः । ऐश्वर्य-मर्यादाश्रुतेश्च । ‘स एष ये चामुष्मात्पराश्चा लोकास्तेषां चैष्ट्रे देवकामानां च’

(छा० १।६।८) इत्यादित्यपुरुषस्यैश्वर्यमर्यादा, 'स एष ये चैतनमादर्वाश्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।६) इत्यक्षिपुत्पस्य । नच परमेश्वरस्य मर्यादावदेष्वयं युक्तम्, 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुविधरण एषा लोकानामसमेदाय' (बृ० ४।४।२२) इत्यविशेषश्रुते । तस्मान्नाद्यादित्यधोरन्तः परमेश्वर इति । एव प्राप्ते ब्रूम— 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति । 'य एषोऽन्तरादित्ये य एषोऽन्तरक्षिणि' इति च श्रूयमाणं पुरुषं परमेश्वर एव, न मसारी । कुत ? तद्धर्मोपदेशात् । तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टा, तद्यथा—'तस्योदितिनाम' इति श्रावयित्वा अस्यादित्यपुरुषस्य नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित' इति सर्वपाप्मापगमेन निर्वर्त्ति । तदेव च कृतनिर्वचनं नामाक्षिपुरुषस्याप्यतिदिशति—'यन्नाम तन्नाम' इति । सर्वपाप्मापगमश्च परमात्मन एव श्रूयते—'य आत्माऽपहृतपाप्मा (छा० ८।७।१) इत्यादी । तथा चाक्षुषे पुरुषे 'सैवर्कं' तत्पाम तदुक्तं तद्य-जुस्तद्ब्रह्म' इत्युक्तमामाद्यात्मकतां निर्वर्त्त्यति । मा च परमेश्वरस्योपपद्यते, सर्वकारणत्वात्मवर्त्मकत्वोपपत्तेः । पृथिव्यान्मायात्मके चाधिदैवत ऋक्सामे वाक्प्राणाद्यात्मके चाध्यात्मगनुक्तम्याह—'तस्यैवर्कं सामं च गेष्णी' इत्यधिदैवतम् । तथाध्यात्ममपि—'पावमुष्य गेष्णी तौ गेष्णी' इति । तच्च सर्वात्मकत्वे सत्येवोपपद्यते 'तद्य इमे वीणाया गायन्त्येव त्वेव ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनय' (छा० १।७।६) इति च लौकिकेऽपि गानेध्वम्यैव गीयमानत्वं दर्शयति । तच्च परमेश्वरपरिग्रहे घटते—

श्रुति मे यह कहा जाता है कि 'अथ य' इस उपासना के आरम्भार्थ मे 'अथ' शब्द है । सूर्य मण्डल मे जो यह हिरण्यमय (जोतिमय) पुरुष उपासक से देखा जाता है, उसके दाढी वेश भी हिरण्यमय हैं, और वह नखपर्यन्त सब सुवर्ण (ज्योति स्वरूप) है, एव कपि (बानर) जिस अवयव को भूमि मे टिका के बैठता है, उसके समान जो लाल कमल उस कमल के समान जिसकी आँखें हैं उसका 'उद्' यह नाम है, और वह सबसे उदित (उद्भूत) असग है । जो पुरुष ऐसा समझकर उस पुरुष की उपासना करता है, वह सब पाप से रहित हो जाता है, यह अधिदैवत (देव सम्बन्धी चिन्तन) कहा गया है । अत्र अध्यात्म (देह सम्बन्धी) कहा जाता है कि (जो यह आँख मे पुरुष देखता है इत्यादि । यहाँ सशय होना है कि विद्या कर्म की अधिकता से उत्कर्षता (श्रेष्ठता) को प्राप्त कोई ससागी जीव सूर्यमण्डल और नेत्र मे उपास्य रूप से सुना जाता है, अथवा नित्य सिद्ध परमेश्वर सुना जाता है । पूर्वपक्ष रूप में ससारी प्राप्त है, क्योंकि रूप वाला सुना जाता है । प्रथम आदित्य पुरुष मे हिरण्यश्मश्रु आदि रूप उदाहरण कहा गया है, और नेत्रगत पुरुष मे भी वही रूप

अतिदेश (सदृश बोधन) द्वारा प्राप्त होता है कि (इस उस आँख गत पुरुष का वही रूप है कि जो उस सूर्य मण्डलगत पुरुष का रूप है) और परमेश्वर को रूप वाला होना युक्त नहीं है, क्योंकि (वह शब्द स्पर्श रूप रहित निर्विकार अविनाशी है) इस प्रकार श्रुति से रूपरहित परमात्मा है। एवं आधार के श्रवण से भी यह पुरुष परमात्मा नहीं है (जो यह आदित्य के अन्तर में है, जो यह चक्षु में है) इस प्रकार आधार सुना जाता है। और निराधार अपनी महिमा (स्वरूप) में अत्यन्त स्थिर सर्वव्यापी परमेश्वर के आधार का उपदेश नहीं दिया जाता, यदि उसका ही उपदेश होता तो इस प्रकार नहीं कहा जाता, क्योंकि नारद जी ने पूछा कि हे भगवन् वह किसमें प्रतिष्ठित है, तब सुनत्कुमार जी ने कहा कि अपनी महिमा में। तथा वह आकाश के समान सर्वगत नित्य है। केवल ऐश्वर्य की मर्यादा को सुनने से ही वह पुरुष परमेश्वर नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है कि जो आदित्यमण्डलगत पुरुष है वह उस आदित्य लोक से जो परे लोक है उनका, और देवताओं के कामों का ईशिता (नियन्ता) है। इस प्रकार आदित्य पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा है। और (जो चक्षुगत पुरुष है वह चक्षु के विषय रूप लोक से नीचे के लोकों का और मनुष्यों के कामों का नियन्ता है) इस प्रकार नेत्रगत पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा (सीमा) है। और परमेश्वर को मर्यादायुक्त ऐश्वर्य होना युक्त नहीं है। क्योंकि (यह परमात्मा सर्वेश्वर है, यह सब प्राणी का स्वामी है, सबका रक्षक है, और यह विशेष रूप धारण करने वाला सब लोकों के असम्भेदन (अनाश-स्थिति) के लिये सेतु तुल्य है, एवं धर्मादि की मर्यादाओं का रक्षक है) यह अविशेष (मर्यादा रहित) ऐश्वर्य की बोधक श्रुति है। इससे नेत्र आदित्य के अन्तर्गत परमात्मा नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि—‘अन्तस्तदित्यादि’। यह सूर्य के अन्दर और यह नेत्र के अन्दर देखा गया पुरुष परमात्मा ही है, संसारी नहीं है, क्योंकि यहाँ इस परमात्मा के धर्म उपदिष्ट हुए हैं (कहे गये हैं) जो इस प्रकार हैं कि (उसका उद् यह नाम है) इस प्रकार आदित्य पुरुष का नाम सुनाकर, फिर उस नाम का श्रुति निर्वचन (व्याख्यान) करती है कि सो यह पुरुष सब पाप से उदित (उद्गत) रहित है, यह नाम का निर्वचन सब पाप के अपगम (अभाव) द्वारा किया गया है। और उसी निर्वचन वाले नाम का अक्षिगत पुरुष में श्रुति अतिदेश करती (प्राप्त कराती) है कि जो आदित्य पुरुष का नाम है वही नाम नेत्रगत पुरुष का भी है। और (य आत्माऽपहतपाप्मा) इत्यादि श्रुति में सब पाप का अभाव परमात्मा ही सुना जाता है। इसी प्रकार नेत्रगत पुरुष में ऋग् सामादि रूपता का श्रुति अवधारण (निश्चय) कराती है। कि (वह चक्षुगत पुरुष ही ऋग्वेद, साम (स्तोत्र), उक्थ (शास्त्र-अप्रगीतमन्त्रकस्तुति) यजुर्वेद, ब्रह्म (तीनों वेद) यह सब स्वरूप है। और यह ऋणादि रूपता परमेश्वर में बन सकती है, क्योंकि सबका कारण होने से परमात्मा में सर्वात्मकता की सिद्धि होती है। पृथिवी, अग्नि आदि स्वरूप अधिदैवत (देव

सम्बन्धी देवरूप) ऋक् और साम का वर्णन करके पृथिवी ऋक् है, अग्नि साम है इत्यादि । तथा अध्यात्म (देह सम्बन्धी) वाक् प्राणादिरूप ऋक् साम का वर्णन करके श्रुति कहती है कि (तस्य) उस आदित्यगत पुरुष के पृथिवी अग्नि आदि स्वरूप ऋक् और साम गेष्ण (पर्व) पोरमाण विशेष हैं, उसको प्राप्ति के साधन सोपान रूप हैं । यह अधिदैवत उपदेश है । इसी प्रकार अध्यात्म भी है कि (जो आदित्यगत पुरुष के गेष्ण हैं वही अक्षिगत पुरुष के गेष्ण हैं) यह उपदेश सर्वात्मक परमात्मा रूप पुरुष के होने पर ही युक्त हो सकता है) वह ऋक् सामगेष्णवत्त्व अन्य में नहीं बन सकता है । और जो ये गाने वाले वीणा में गाते हैं, वह इसी पुरुष को गाते हैं, जिससे वे धन की सति (लाभ) वाले (धनी) होते हैं । इस प्रकार लौकिक वीणा द्वारा गान में भी इसी पुरुष को गान का विषय श्रुति दर्शाती है । यह श्रुति कथन भी तभी सघटित (युक्त) हो सकता है कि जब पुरुषशब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया जाय, क्योंकि भगवद्गीता में भी देखा जाता है—

यद्यद्विभूतिमत्तत्त्व श्रीमद्वर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशमम्भवम् ॥ (१०।४१)

इति भगवद्गीतादर्शनात् । लोककामेगितृत्वमपि निरङ्कुश श्रूयमाण परमेश्वर गमयति ।

यत्तूक्त—हिरण्यश्मश्रुतिरित्यादिरूपश्रवण परमेश्वरे नोपपद्यत—इति, अत्र ब्रूम—स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामय रूप साधकानुग्रहार्थम् ।

माया ह्येवा मया मुष्टा यन्मा पश्यमि नारद । ।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं मेव मा ज्ञातुमर्हमि ॥

इति स्मरणात् । अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेष परमेश्वर रूपमुपदिश्यते, भवति तत्र शान्त्र्यम्—‘अशब्दमम्पशंमरूपमव्ययम्’ इत्यादि । सर्वकारणत्वात् विकारधर्मेरपि कैश्चिद्विशिष्ट परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—‘सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस (छा० ३।१४।२) इत्यादिना । तथा हिरण्यश्मश्रुत्वादिनिर्देशोऽपि भविष्यति । यदप्याधारश्रवणात् परमेश्वर इति । अत्रोच्यते—स्वमहिमप्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपामनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वाद्ब्रह्मणो ध्योमवर्तमान्तरत्त्वोपपत्तेः । ऐश्वर्यमर्यादाश्रवणमप्यध्यात्माधिदैवतविभागापेक्षमुपासनार्थमेव । तस्मात्परमेश्वर एवादयादित्ययोरन्तरूपदिश्यते ॥२०॥

जो जो विभूति, ऐश्वर्य वाला, लक्ष्मी शोभायुक्त, बली प्राणी है, (उन सबको तुम मेरे तेजोऽश जन्म जानो) और लोक तथा काम का जो निरकुश (स्वतन्त्र) नेतृत्व सुना जाता है वह परमेश्वर का ही बोध अनुमान कराता है ।

जो यह कहा था कि सुवर्णमय दाढ़ी आदि युक्त जो रूप सुना जाता है वह परमेश्वर में नहीं बन सकता है, उसका समाधान है कि साधक भक्त उपासक के प्रति अनुग्रह (हित-सम्पादन अहित निवारण) के लिए इच्छा के अधीन परमेश्वर को भी मायामय रूप हो

सकता है। महाभारत में भगवद्भवचन रूप स्मृति है कि (हे नारद ! यह जो तुम मुझे मूर्तिमान् शरीर देख रहे हो यह मूर्ति तो मुझ से मायात्मक रही गई है, वस्तुतः सब भूतों के गुणों से युक्त इस प्रकार मुझे आप समझने के योग्य नहीं हो ।) और जहाँ सब भेदों से रहित परमेश्वर के स्वरूप का उपदेश दिया जाता है, वहाँ शास्त्र कहता है कि—वह अद्वयहित स्वयं-हित रूप-हित निर्विकार है। और सबका कारण होने से किसी विकार के धर्मों से भी युक्त परमेश्वर नहीं कहा जाता है, जैसे कि—सब कर्म वाला—सब काम वाला सब गन्ध वाला—सब रस वाला है। वैसे ही हिरण्य-श्मश्रुत्वादि का निर्देज (कथन) भी हो सकता है। और जो कहा था कि सूर्य नेत्ररूप आधार के मुनने ने वह पुरुष परमेश्वर नहीं है, इस विषय में कहा जाता है कि अपनी महिमा में स्थिर ईश्वर का भी आधार विशेष का कथन रूप उपदेश उपामना के लिये हो सकता है और ब्रह्म को सर्वगत (विभु) होने से आकाश के समान सर्वान्तरत्व भी बन सकता है। तथा ऐश्वर्य की मर्यादा जो मुनी गई है, वह भी अध्यात्म और अधिदैवत ध्यानादि के विनाश जान पूर्वक उपासना ही के लिए सुनी गई है। ऐश्वर्य के भेद के लिये नहीं, उससे परमेश्वर का ही नेत्र और सूर्य के अन्तर में उपदेश दिया गया है, अन्य का नहीं ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

अस्ति चादित्यादिशरीराभिमानिभ्यो जीवेभ्योजन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी—‘य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्य-मन्तरो यमयत्येव त आत्मान्तर्याम्यमृतः’ (वृ० ३।६।१२) इति श्रुत्यन्तरे भेद-व्यपदेशात्। नत्र हि ‘आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद’ इति वेदितुरादित्या-द्विजानात्मनोजन्योऽन्तर्यामी स्पष्टं निर्दिश्यते। स एवेहाप्यन्तरादित्ये पुरुषो भवितुमर्हति, श्रुतिनामान्यात्। तस्मात्परमेश्वर एवेहोपदिश्यत इति सिद्धम्।

यद्यपि सूर्यलोकवासी देव भी पुरुष कहा जा सकता है; तथा जीवात्मा भी पुरुष कहा जाता है तथापि आदित्यादि रूप शरीरों के अभिमानी जीवों से भिन्न अन्तर्यामी ईश्वर है जिसका दूसरी श्रुति में भेदपूर्वक कथन है कि जो आदित्य में रहता हुआ आदित्य से भिन्न तदन्तर्गत है। जिसको आदित्य नहीं जान सकता है, जिसका आदित्य शरीर तुल्य है, जो आदित्य का अन्तर्गत्मा होकर आदित्य का नियमन (शासन) करता है। यही अमृत (अविनाशी) अन्तर्यामी भी तेरा सत्यात्मा है। वहाँ उस श्रुति में कहा गया है कि, वह आदित्य से भिन्न तदन्तर्गत है जिसको आदित्य नहीं जानता है। इससे जानने वाला विज्ञानात्मा (जीव) रूप सूर्य से अन्य अन्तर्यामी स्पष्ट ही कहा गया है और वही इस हिरण्यमयादि श्रुति में भी आदित्य के अन्तर्गत पुरुष होने के योग्य है, क्योंकि दोनों श्रुतियों में तुल्यता है। इससे यहाँ परमेश्वर का ही उप-देश है, यह सिद्ध हुआ ॥ २१ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

मक्षिसार्थं है कि (अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच । इति श्रुतौ य आकाशव्यर्थस्तद्ब्रह्म न भूताकाशो ब्रह्मणो लिङ्गदर्शनादि) इस लोकका क्या आशय है, इस प्रश्न का उत्तर है कि आकाश है । इस श्रुति में जो आकाश शब्द का अर्थ है वह ब्रह्म है भूताकाश नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का लिङ्ग (चिह्न) देखा जाता है ।

आकाशाधिकरण (८)

आकाश इति होवाचेत्यत्र स ब्रह्म वाऽत्र यम् ।

शब्दस्य तत्र रूढत्वाद्वाय्वादे सज्जनादपि ॥ १ ॥

साकाशजगदुत्पत्तिहेतुत्वाच्चोक्तम् ।

एवकारादिना चात्र ब्रह्मोवाकाशशब्दितम् ॥ २ ॥

(आकाश इति होवाच) इस श्रुति में भूताकाश वा ब्रह्म आकाश कहा गया है ? ऐसा मशय होने पर पूर्वपक्ष है कि भूताकाश में हो आकाश शब्द रूढ (लोक में निश्चित) है, और उससे वायु आदि की भृष्टि भी होती है । इससे जगत् का कारण रूप आकाश ही कहा गया है । सिद्धान्त है कि आकाश सहित जगत् के हेतु होने में और श्रौतस्मृति (श्रुतगतप्रसिद्धि) से तथा एवकारादि से ब्रह्म ही यहाँ आकाशशब्द से कहा गया है ॥ १-२ ॥

इदमामनन्ति—‘अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाश प्रत्यस्मिन् यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाश परायणम्’ (छान्दो० १।१।१) इति । तत्र मशय — किमाकाशशब्देन पर ब्रह्माभिधीयते उत भूताकाशमिति । कुत मशय ? उभयत्र प्रयोगदर्शनात् । भूतविशेषे तावत्सुप्रसिद्धो लोकवेदयोराकाशशब्द ब्रह्मण्यपि क्वचित्प्रयुज्यमानो दृश्यते, यत्र वाक्यशेषवशादसाधारणगुणश्रवणाद्वा निर्धारित ब्रह्म भवति, यथा—‘यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्’ (तै० २।७) इति, ‘आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म’ (छा० ८।१।४।१) इति चैवमादौ । अत मशय कि पुनरत्र युक्तम् ? भूताकाशमिति कुत ? तद्वि प्रसिद्धतरेण प्रयोगेण शोध बुद्धिमारोहति । न चायमाकाशशब्द उभयो साधारण शक्यो विज्ञातुम्, अनेकार्थत्वप्रसङ्गात् । तस्माद्ब्रह्मणि गौण आकाशशब्दो भवितुमर्हति विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्भर्मे सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति, न च मुख्यसंभवे गौणोऽर्थो ग्रहणमर्हति, संभवति चेह मुख्यम्यैवाकाशस्य ग्रहणम् । ननु भूताकाशपरिग्रहे वाक्यशेषो नोपपद्यते—‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते’ इत्यादि । नैव दोषः । भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वोपपत्तेः । विज्ञायते हि—‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशं संभूत आकाशाद्वायु वायोरग्नि’ (तै० २।१) इत्यादि । ज्यायस्त्व- परायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षयोपपद्यते भूताकाशस्यापि । तस्मादाकाशशब्देन भूताकाशस्य ग्रहणमिति ।

छान्दोग्य में कहा है कि शालावत्य नामक ब्राह्मण जैबलि नामक राजा से पूछता है कि (अस्य) इत्यादि । उसका भाष्यकार वर्णन करते हैं कि श्रुतियाँ यह कहती हैं कि (इस पृथिवी आदि रूप प्रत्यक्षपरोक्ष लोक का आधाररूप आश्रय कौन है ? राजा का उत्तर है कि आकाश आधार है, आकाश आधार है ऐसा कहकर आगे कहा कि आकाश इसलिए आधार है कि आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, और आकाश में ही अन्त लीन होते हैं, आकाश ही उन मयने बहुत बड़ा है । इससे आकाश ही इनका परमायण (परम आश्रय) है । यहाँ संशय होता है कि आकाश शब्द से परब्रह्म कहा जाता है कि भूताकाश कहा जाता है ? विचार होता है कि यह संशय क्यों होता है, तो कहा जाता है कि दोनों अर्थों में आकाश शब्द का प्रयोग अन्यत्र देखने से यहाँ संशय होता है । भूतविशेष में तो प्रथम लोक और वेद में भी आकाश शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध ही है । ब्रह्म में भी कहीं आकाश शब्द का प्रयोग देखा जाता है कि जहाँ वाक्यशेष के बल से या ब्रह्म के असाधारण गुण के श्रवण से ब्रह्म निर्धारित (निर्णीत-निश्चित) रहता है जैसे कि (यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्) यहाँ आनन्दरूप असाधारण गुण श्रवण से आकाश शब्दार्थ ब्रह्म निर्धारित है और (प्रसिद्ध आकाश ही नामरूप का निर्वाहिता (उत्पत्ति स्थिति का हेतु) है, वे नामरूप जिसने भिन्न जिसके अन्दर हैं, वह ब्रह्म है) । यहाँ वह ब्रह्म है इस वाक्यशेष से आकाश शब्द ब्रह्मार्थक निश्चित है, इसी प्रकार अन्यत्र भी निश्चित है । इससे यहाँ संशय होता है, परामर्श होता है कि यहाँ युक्त क्या है ? पूर्वपक्ष है कि भूताकाश युक्तार्थ है, क्योंकि अत्यन्त प्रसिद्ध लौकिक प्रयोग से भूताकाश बुद्धि (समज्ञ) में शीघ्र आता है, और यह आकाश शब्द ब्रह्म और भूतविशेष दोनों का साधारण (तुल्य) वाचक है । ऐसा मानने के योग्य नहीं है, क्योंकि इस प्रकार इस शब्द को अनेकार्थत्व की प्राप्ति होगी । इससे ब्रह्मार्थ में आकाश शब्द गौण होने के योग्य है, क्योंकि विभुत्व असङ्गत्वादि बहुत धर्मों द्वारा आकाश के सहज ब्रह्म है । मुख्य अर्थ का ग्रहण के संभव रहते गौणार्थ का ग्रहण उचित नहीं होता है और यहाँ मुख्यार्थ आकाश का ही ग्रहण हो सकता है । यदि कहा जाय कि यहाँ भूताकाश का ग्रहण करने पर (ये सब प्रसिद्ध आकाश से ही उत्पन्न होते हैं) इस अर्थ को कहने वाला वाक्य का माग संगत नहीं होगा, तो उत्तर है कि यह दोष नहीं है । क्योंकि भूताकाश को भी वायु आदि की उत्पत्ति के क्रम से चराचर संसार का कारणत्व सिद्ध होता है, और (तस्माद्वा एतस्माद्) इत्यादि श्रुति से भूताकाश की कारणता विज्ञात भी होती है कि (आकाश से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से अग्नि उत्पन्न हुई और आकाश मात्र आत्मा से उत्पन्न हुआ) । एवं अन्य भूतों की अपेक्षा श्रेष्ठत्व परम आश्रयत्व भी भूताकाश को उचित हो सकता है, जिससे यहाँ आकाश शब्द से भूताकाश का ग्रहण है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—‘आकाशस्तल्लिङ्गात्’ आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम् । कुतः ? तल्लिङ्गात् । परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—‘सर्वाणि ह वा

इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्व दर्शितम्। सत्यं दर्शितम्। तथापि मूलकारणस्य ब्रह्मणोऽपरिग्रहादाकाशादेरेवधारण, सर्वानीति च भूतविशेषणं नानुकूलं स्यात्। तथा 'आकाशं प्रत्यस्म्यस्मिन्' इति ब्रह्मलिङ्गं 'आकाशो ह्यवैभ्यो ज्यायानाकाशं परायणम्' इति च ज्यायस्त्वपरायणत्वे। ज्यायस्त्व ह्यनापेक्षिकं परमात्मन्येवैकस्मिन्नाम्नानम्—'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तर्गिषाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१।४।३) इति। नया परायणत्वमपि परमकारणत्वात्परमात्मन्येवोपपन्नतन्म। श्रुतिश्च भवति—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म गतेर्दानु परायणम्' (बृ० ३।१।२८) इति। अपि चान्तवत्त्वदोषेण शालावत्यस्य पक्षं निन्दित्वाऽनन्तं किञ्चिद्वस्तुत्कामेन जैवलिनाऽऽकाशं परिगृहीतं, तं चाकाशमुद्गीये मपाद्योपमहरति—'म एष परोवरीणानुद्गाय म एवाऽनन्त' (छा० १।१।२) इति। तच्चानन्त्यं ब्रह्मलिङ्गम्। यत्पुनरुक्तं—भूताकाशं प्रसिद्धिवलेन प्रथमतरं प्रतीयत—इति। अत्र ब्रूम—प्रथमतरं प्रतीयतमपि सत् वाक्यशेषगतान् ब्रह्मणुणान् दृष्ट्वा न परिगृह्यते। दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्द—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वह्तिना' इत्यादी। तथाऽऽकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विद्ये निषेदु' (ऋ० म० १।१६।४।३६) 'मंषा भार्गवी चारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' (तै० ३।६) 'ॐ क ब्रह्म ख ब्रह्म' (छा० ४।१।०।५) 'ख पुराणम्' (बृ० ५।१) इति चैवमादौ। वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्याकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा। 'अग्निरधीतेऽनुवाकम्' इति हि वाक्योपक्रमगतोऽग्निरशब्दो माणवकविषयो दृश्यते। तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति मिद्धम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर सिद्धांत रूप में कहा जाता है कि (आकाशस्तन्त्रिलिङ्गात्) आकाश शब्द में ब्रह्म का ही ग्रहण करना युक्त है, क्योंकि ब्रह्म का लिङ्ग (चिह्न) देखा जाता है। परब्रह्म का ही यह लिङ्ग है ऐसा कहा जाता है कि आकाश से ही ये सब भूत समुत्पन्न होते हैं, क्योंकि परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति होती है, यह सब वेदान्त में मर्यादा (स्थिति-धारणा) की गई है। यदि कहो कि भूताकाश की कारणता प्रथम वायु आदि क्रम से दिनाई गई है, तो यह कहना सत्य है, वायु आदि का कारण भूताकाश ही हो, तो भी यहाँ मूलकारण ब्रह्म के नहीं ग्रहण करने पर, आकाशादेव, इस वाक्य में 'एव' शब्द से अवधारण (अन्य कारण का निवारण) अनुकूल नहीं होगा, और भूतों का सर्व यह विशेषण अनुकूल नहीं होगा। तथा इसी प्रकार (आकाश प्रशब्दतः स्मृति) आकाश में सब लीन होने है, यह भी ब्रह्म का लिंग है। आकाश सबसे अति बड़ा है, परम आशय है ये कथन भी ब्रह्म के ही लिंग हैं। क्योंकि अनापेक्षिक (सर्वथा) श्रेष्ठत्व एक परमात्मा में ही श्रुति से आम्नात

(कथित) है कि (वह पृथिवी से बहुत बड़ा है, अन्तरिक्ष से अति बड़ा है, स्वर्ग से अति बड़ा है । इन लोगों से अति बड़ा है इत्यादि) । इसी प्रकार परम आश्रयत्व भी परम (मूल) कारण होने से परमात्मा में ही अत्यन्त उचित है । श्रुति भी कहती है कि (विज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म है) वह धन के दाता (यज्ञादि कर्ता) का परम आश्रय है । एव शालावत्य जैवलि के संवाद में अन्तवत्त्व दोष से शालावत्य के पक्ष (मन्तव्य) की निन्दा करके अनन्त किसी वस्तु को कहने की इच्छा से जैवलि ने आकाश का ग्रहण किया । और उस आकाश को उद्गाथ सामभाग विशेष और तदवयव ओंकार में संपादन करके (उद्गीथ आकाश ही है) इस प्रकार उद्गीथ आकाश की एकता करके जैवलि ने उपसंहार किया है कि यह (उद्गीथ) पर है और वरों से अति वर है, और यह अनन्त है और वह अनन्तता ब्रह्म का लिंग है तथा जो यह कहा था कि प्रसिद्धि के बल से भूताकाश अत्यन्त पहले (प्रथम) प्रतीत होता है । इस विषय का समाधान है कि बहुत पहले प्रतीत (ज्ञात) होता हुआ भी वाक्यशेषगत ब्रह्म के गुणों को देखने पर यहाँ वह परिगृहीत (स्वीकृत) नहीं होता है और ब्रह्म में भी आकाश शब्द का प्रयोग दिखलाया गया है कि आकाश नामरूप का निर्वाहक है इत्यादि में ब्रह्मार्थक आकाश शब्द है और इसी प्रकार आकाश पर्यायवाची (आकाश के समानार्थक) शब्दों का भी ब्रह्म में प्रयोग देखा जाता है कि (ऋगादि) सब वेद जिसमें प्रमाण है उस अक्षर-कूटस्थ अविनाशी परम व्योम (आकाश) ब्रह्म में सब देव अधिष्ठित (स्थिर) हैं । यह भृगु को दी गई वरुण से उपदिष्ट विद्या व्योम में प्रतिष्ठित है । ओंकार सुखरूप ब्रह्म है, विभु ब्रह्म है । अनादि ब्रह्म है । इन वाक्यों में व्योम-ख शब्द आकाशवाचक आये हैं । और वाक्य के आरम्भ में भी वर्तमान आकाश शब्द को वाक्यशेष के बल से ब्रह्मविषयकत्व का अवधारण (निश्चय) करना उचित है । जैसे कि (अग्निरधीतेऽनु-वाकम्) अग्नि अनुवाक (वेद का भाग विशेष) को पढ़ती है । यहाँ वाक्य के आरम्भ में भी आया हुआ अग्नि शब्द वालकविषयक देखा जाता है । इससे आकाश शब्द का यहाँ ब्रह्म अर्थ है यह सिद्ध हुआ ॥ २२ ॥

अत एव प्राणः ॥ २ ॥

(अत एव पूर्वसूत्रश्रुताल्लिङ्गादेव पूर्वोदाहृतश्रुतेरग्रे वर्तमानायां श्रुती श्रुतः प्राण-शब्दो ब्रह्मवाचक इति) पूर्वसूत्र में सुना गया लिंगरूप हेतु से ही पूर्व सूत्र में उदाहृत श्रुति से आगे वर्तमान श्रुति में सुना गया प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक है ।

प्राणाधिकरण (१)

मुखस्थो वायुरीशो वा प्राणः प्रस्तावदेवता ।

वायुर्भवेत्तत्र सुप्ती भूतसारेन्द्रियक्षयात् ॥ १ ॥

संकोचोऽक्षपरत्वे स्यात् सर्वभूतलयश्रुतेः ।

आकाशशब्दवत् प्राणशब्दस्तेनैशवाचकः ॥ २ ॥

प्रस्ताव (स्तुति विशेषमात्र वेद) की देवतारूप से वर्णित प्राण मुख में स्थिर वायु है, वा ईश्वर है, इस सशय के बाद में पूर्वपक्ष है कि वायु ही यह प्राण हो सकता है । यदि कहा जाय कि उस प्राण में वहाँ सब ससार के विलयादि सुने गये हैं, वह कैसे संगत होगा तो कहा जाता है कि सुषुप्ति में भूतों के साररूप इन्द्रियो का प्राण में विलय होता है, उस आशय में उस विलयादि का बयन है । सिद्धान्त है कि इस प्रकार मानने से केवल इन्द्रियो के लयपरक लय वायव्य के होने से सब भूत के विलय श्रुति का सकोच होगा । इसमें आकाश शब्द के समान प्राण शब्द भी ईश्वर वाचक है ॥ १-२ ॥

उम्दीये—‘प्रस्तोतार्या देवता प्रस्तावमन्त्रायत्ता’ इत्युपक्रम्य श्रूयते—‘कतमा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिमविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्त्रायत्ता’ (छा० १।१।४, ५) इति । तत्र सशयनिर्णयी पूर्ववदेव द्रष्टव्यो । ‘प्राणबन्धन हि सोम्य मन (छा० ६।८।२) ‘प्राणस्य प्राणम्’ (वृ० ४।४।१८) इति चैवमादौ ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, वायुविकारे तु प्रमिद्धतरो लोकवेदयो, अत इह प्राणशब्देन कतरम्योपादान युक्तमिति भवति सशय । किं पुनरत्र युक्तम् ? वायुविकारस्य पञ्चवृत्ते प्राणम्योपादान युक्तम् । तत्र हि प्रमिद्धतर प्राणशब्द इत्यवोचाम । ननु पूर्ववदिहापि तल्लिङ्गादग्रहण एव ग्रहण युक्तम्, इहापि वाक्यशेषे भूतानां संवेदनोद्गमनं प्राणेश्वर कर्म प्रतीयते । न । मुख्येऽपि प्राणे भूतसंवेदनोद्गमनस्य दर्शनात् । एव ह्याम्नायते—‘यदा वै पुरुष स्वपिनि प्राणं तर्हि वागधेति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः न यदा प्रवुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते’ (शा० ब्रा० १०।३।३।६) इति । प्रत्यक्षं चैतत्—स्वापकाले प्राणवृत्तावपरिलुप्तमानायासिन्द्रियवृत्तयः परिलुप्यन्ते, प्रबोधकाले च प्रादुर्भवन्तीति । इन्द्रियगारत्वाच्च भूतानां विरुद्धो मुख्ये प्राणेऽपि भूतसंवेदनोद्गमनवादी वाक्यशेषः । अपि चादित्योऽत्र चोद्गीथप्रतिहारयोर्देवते प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्यानन्तरं निर्दिश्यते । न च तयोर्ब्रह्मत्वमस्ति, तत्सामान्याच्च प्राणस्यापि न ब्रह्मत्वमिति । एव प्राप्ते सूत्रकार आह—‘अत एव प्राणः’ इति । ‘तल्लिङ्गात्’ इति पूर्वसूत्रे निर्दिष्टम् । अत एव तल्लिङ्गात् प्राणशब्दमपि परं ब्रह्म भवितुमर्हति । प्राणस्यापि हि ब्रह्मालिङ्गमन्वन्धं श्रूयते—‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिमविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते’ (छा० १।१।५) इति प्राणनिमित्तं सर्वेषां भूतानां भुत्वत्तिप्रलयावृध्यमानो प्राणस्य ब्रह्मणा गमयत । ननु च मुख्यप्राणपरिग्रहेऽपि संवेदनोद्गमनदर्शनमविरुद्धं, स्वापप्रबोधयोर्दर्शनादिति । अत्रोच्यते—स्वापप्रबोधयोरिन्द्रियाणामेव केवलानां प्राणाश्रय संवेदनोद्गमनं दृश्यते न सर्वेषां भूतानाम्, इह तु सैन्द्रियाणां मशरीराणां च जीवादिशानां भूतानां ‘सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि’ इति श्रुते । यदाऽपि भूतश्रुतिर्महाभूतविषया परिग्रह्यते तदापि ब्रह्मालिङ्गत्वमविरुद्धम् । ननु महापि विषयैरिन्द्रियाणां स्वापप्रबोधयो

प्राणेऽप्ययं प्राणाच्च प्रभवं शृणुमः—‘यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैवं वाक्सर्वेनाभिः सहाप्येति’ (कौ० ३।३) इति (१) । तत्रापि तल्लिङ्गात्प्राणशब्दं ब्रह्मैव । यत्पुनरन्नादित्यसंनिधानात्प्राणस्या-ब्रह्मत्वमिति । तदयुक्तम् । वाक्यशेषवलेन प्राणशब्दस्य ब्रह्मविषयतायां प्रतीयमानायां संनिधानम्याकिञ्चित्करत्वात् । यत्पुनः प्राणशब्दस्य पञ्चवृत्तौ प्रसिद्ध-तरत्वम्, तदाकाशशब्दस्येव प्रतिविधेयम् । तस्मात्सिद्धं प्रस्तावदेवतायाः प्राणस्य ब्रह्मत्वम् । अत्र केचिदुदाहरन्ति—‘प्राणस्य प्राणम्, प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः’ इति च । तदयुक्तम् । शब्दभेदात्प्रकरणाच्च संशयानुपपत्तौ । यथा पितुः पितेति प्रयोगेऽप्यः पिता (२) पृष्टो निर्दिष्टोऽप्यः प्रथमानिर्दिष्टः पितुः पितेति गम्यते, तद्वत् प्राणस्य प्राणम् इति शब्दभेदात् प्रसिद्धात् प्राणादन्यः प्राणस्य प्राणम् इति निश्चीयते । नहि स एव तस्येति भेदनिर्देशार्हो भवति । यस्य च प्रकरणे यो निर्दिश्यते नामान्तरेणापि स एव तत्र प्रकरणनिर्दिष्ट इति गम्यते । यथा ज्योतिष्टोमाधिकारे—‘वसन्ते वसन्त ज्योतिषा यजेत’ इत्यत्र ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमविषयो भवति, तथा परस्य ब्रह्मणः प्रकरणे ‘प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः’ इति श्रुतेः प्राणशब्दो वायुविकारमात्रं कथमवगमयेत् । अतः संशयाविषयत्वात्तदुदाहरणं युक्तम् । प्रस्तावदेवतायां तु प्राणे संगयपूर्वपक्षनिर्णया उपपादिताः ॥ २३ ॥

उद्गीथ नामक स्तुतिविशेष के प्रकरण में सर्वप्रथम यह कथा है कि उपस्ति नामक चक्रवंश के चाक्रायण, पूर्ण विद्वान् ऋषि किसी दुष्काल के समय किसी राजा के यज्ञ में द्रव्य की इच्छा से गये, और प्रस्तोता नामक ऋषि के पास में बैठ गये, तथा प्रस्तोता ने जब स्तुति करना चाहा तब बोले कि (हे प्रस्तोतः जो देवता प्रस्ताव-स्तुति) का नियन्ता है, उसको समझे बिना यदि मेरे सामने स्तुति करोगे तो तेरा शिर गिर जायगा । यहाँ से आरम्भ करके सुना जाता है कि उस प्रस्तोता ने ऋषि से पूछा कि भगवन् वह कौन देवता प्रस्ताव का नियन्ता है, ऋषि बोले कि वह देवता प्राण है, और ये सब भूत अन्तकाल में प्राण में ही लीन होते हैं, सृष्टिकाल में प्राण से ही उद्गत (प्रगट उत्पन्न) होते हैं, इसलिये यही सबका हेतुरूप देवता प्रस्ताव (स्तुति) का नियन्ता है । यहाँ संशय और निर्णय पूर्व के समान जानना चाहिये । जैसे कि (प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः) मन रूप उपाधि वाला जीव प्राण रूप बन्धन वाला है अर्थात् सुषुप्ति में प्राण नामक ब्रह्म से एक हो जाता है, तदधीन रहता है । वह ब्रह्म प्राण का प्राण (प्रेरक प्रकाशक) है इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मविषयक प्राण शब्द देखा जाता है, और वायु के विकार प्राणापानादि अर्थ में प्राणशब्द वेद में प्रसिद्ध ही है । इससे यहाँ प्रस्तावनियन्ता प्राणशब्दार्थ किसको माना जाय, प्राणशब्द द्वारा दोनों में से किसका ग्रहण करना उचित है यह संशय होता है । फिर यहाँ किसका ग्रहण युक्तियुक्त है ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष होता

है कि प्राण, अपान, ममान, उदान, व्यान, नामक पाँच वृत्ति (अवस्था-परिणाम) वाला प्राण का ग्रहण होना उचित है, क्योंकि इस प्राण अर्थ में प्राण शब्द अतिप्रसिद्ध है, यह पहले भी कहा जा चुका है । यदि कहा जाय कि यहाँ भी पूर्वं के समान ब्रह्मलिङ्ग से ब्रह्म ही का ग्रहण होना उचित है, क्योंकि यहाँ भी मूला का विलय और उद्गमन रूप परमेश्वर का कर्म प्रतीत होता है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मुख्य प्राण में भी मूलों का विलय उद्गमन देखा जाता है । श्रुति कहती है कि जब पुष्प खन करता है तब उम काल में प्राण में वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन ये सब लीन हो जाते हैं, और जब जागता है तब प्राण से ही सब उत्पन्न होते हैं । यह प्रत्यक्ष भी है कि सुषुप्ति काल में प्राण वृत्तियों के विलय नहीं होते हुए भी इन्द्रियों की वृत्तियाँ परितुल्य हो जाती हैं । एव जागने के समय सब इन्द्रियवृत्ति प्रगट होती है । 'तस्य ह्येष रस वृ० २।३।५' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार मूलों के साररूप इन्द्रियाँ हैं, इससे मुख्य प्राण में भी मूलों के विलय उद्गम कहने वाला वाक्यदोष विरुद्ध नहीं होता है । और प्रस्ताव का देवता प्राण के वधन के बाद, उद्गीथ और प्रतिहार भाग का देवता सूर्य और अन्न क्रम में कहे गये हैं, और उन दोनों को ब्रह्मत्व नहीं है, इसलिए उनके सामीप्य तुल्यता में भी प्राण को ब्रह्मता नहीं है, इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर सूत्रकार कहने हैं कि 'अत एव प्राण, तल्लिङ्गात्' यह पूर्व सूत्र में कहा गया है, इसी तल्लिङ्ग से प्राण शब्द का अर्थ भी परब्रह्म होने योग्य है, क्योंकि प्राण को ब्रह्मलिङ्ग से सम्बन्ध है । सुना जाता है कि यह सब मूल प्राण ही में प्रवेश करते हैं, प्राण स प्रगट होते हैं । और इस प्रकार कहे गये प्राण हेतुक सब मूलों के उत्पत्ति विनाशक प्राण को ब्रह्मरूपता है ऐसा बोध अनुमान करते हैं । यदि कहो कि पहले कहा गया है कि प्राण शब्द से मुख्य प्राण के ग्रहण करने पर भी मूलों के संवेशन और उद्गमन के दर्शन अविच्छेद हैं । सुषुप्ति और जाग्रत काल में प्राण में प्रवेश और उसी से उद्गम देखा जाता है, तो यहाँ कहा जाता है कि स्वाप प्रबोध काल में केवल इन्द्रियों के प्राणाश्रित संवेशन और उद्गमन देखे जाते हैं, सब मूलों के संवेशनादि नहीं देखे जाते हैं, और यहाँ तो इन्द्रिय एव शरीर सहित जीवों से आविष्ट (युक्त) सब मूलों के लयादि (सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि) इस श्रुति में सुने जाते हैं, और जिस समय मूलश्रुति महामूल आकाशादि विषयक मानी जाती है, तब भी उसको ब्रह्मलिङ्गत्व अविच्छेद है । यदि कहो कि (जब पुष्प तोया हुआ किसी स्वप्न को भी नहीं देखता है, उस समय उस प्राण में ही पुरुष (जीव) एकधा (अभिन्न) हो जाता है, और उस समय इस प्राण में ही सब नामों के सहित वागिन्द्रिय लीन होती है । इस श्रुत्यर्थ के अनुसार विषयों के सहित सब इन्द्रियों का प्राण में विलय और प्राण में उत्पत्ति सुने जाते हैं, तो कहा जाता है कि वहाँ भी ब्रह्म के लिङ्ग होने से प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है । और जो यह कहा था कि अन्न और सूर्य की समीपता से प्राण को अब्रह्मत्व है, सो यह कहना अयुक्त (अनुचित) है, क्योंकि वाक्यदोष के बल से प्राण

शब्द की ब्रह्मविषयता (ब्रह्मबोधकता) के निश्चय ज्ञात होने पर सन्निधान (समीपता) कुछ कर नहीं सकता है । एवं पहले जो यह कहा था कि प्राणशब्द प्राणादि पाँच वृत्ति वाला वायुविशेष में प्रसिद्ध है, उसका प्रतिविधान (उत्तर-निराकरण) आकाश शब्द के समान समक्षता चाहिये । इससे सिद्ध हुआ कि प्रस्ताव का देवता रूप प्राण ब्रह्म है । यहाँ कोई इस सूत्र के उदाहरण रूप (प्राणस्य प्राणम् । प्राणवन्धनं हि सोम्य मनः) इन श्रुतियों को कहते हैं, यह अयुक्त है । क्योंकि प्रथम वाक्य में शब्द के भेद से और दूसरे में प्रकरण से संशय की सिद्धि नहीं हो सकती है, जैसे कि (पितुःपिता) पिता का पिता, इस प्रयोग में पृष्ठी विभक्त्यन्त पद से कहा गया यहाँ पिता एक अन्य है, और प्रथमा विभक्त्यन्त से कहा गया दूसरा पिता का पिता उससे अन्य है यह समझा जाता है, वैसे ही 'प्राणस्य प्राणम्' इस प्रकार के शब्द भेद से निश्चय किया जाता है कि प्रसिद्ध प्राण से अन्य प्राण का प्राण है, क्योंकि वह प्रसिद्ध एक ही प्राण, प्राण का प्राण है, इस प्रकार भेदपूर्वक कथन के योग्य नहीं हो सकता है । और जिसके प्रकरण में जो नामान्तर द्वारा भी कहा जाता है, वहाँ वही प्रकरण में प्रथम कथित वस्तु नामान्तर से भी समझी जाती है कि वही वस्तु यहाँ कही गई है । जैसे कि ज्योतिष्टोम भाग के प्रकरण में (वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत) प्रति वसन्त में ज्योतिष नामक यज्ञ से इष्ट का संपादन करे । इस वाक्य में ज्योतिः शब्द ज्योतिष्टोम का वाचक होता है । इसी प्रकार परब्रह्म के प्रकरण में मुना गया (प्राणवन्धनम्) यह प्राण शब्द वायु के विकार मात्र को कैसे बोध करा सकता है । इसलिए संशय के अविषय होने से यह उदाहरण युक्त नहीं है और प्रस्ताव का देवता रूप प्राणविषयक संशय पूर्वपक्ष और निर्णय तो उपपादित (युक्तिसिद्ध प्रतिपादित) हो चुके हैं ॥ २३ ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

सक्षिसार्थं है कि (परा दिवो ज्योतिरित्यादिश्रुती ज्योतिःशब्दार्थो ब्रह्मैव पूर्व प्रकरणे, ब्रह्मण एव चरणानां भागानामभिधानात् तु सूर्यादिज्योतिस्तस्यार्थ इति) 'परो दिवो ज्योतिः' इत्यादि श्रुति में ज्योतिः शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है, क्योंकि पूर्व प्रकरण में ब्रह्म के भागो (अंशो) का कथन है । इसीसे सूर्यादि उस पद के अर्थ नहीं हैं ॥ २४ ॥

ज्योतिश्चरणाधिकरण (१०)

कार्यं ज्योतिरुत ब्रह्म ज्योतिर्दीयत इत्यदः ।

ब्रह्मणोऽसंनिधेः कार्यं तजो लिङ्गबलादपि ॥ १ ॥

चतुष्पात्प्रकृतं ब्रह्म यच्छब्देनानुवर्त्यते ।

ज्योतिः स्याद्भासकं ब्रह्म लिङ्गन्तुर्पाधियोगतः ॥ २ ॥

‘ज्योतिर्दीप्यते’ यहाँ ज्योति शब्द कार्यं ज्योति का वाचक है अथवा ब्रह्म का वाचक है, ऐसा सशय होने पर पूर्वपक्ष है कि यहाँ ब्रह्म की अगम्यता से और तेज के लिङ्गो के बल से भी कार्यं ही सूर्यादि ज्योति शब्दार्थं हैं ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि चार पाद युक्त ब्रह्म का प्रकरण है, वही प्रकृत ब्रह्म यहाँ यन् शब्द से अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त होता है, और प्रकाशक होने से ब्रह्म ज्योति कहाता है, तथा अन्य कार्यं का निग उपाधि के सम्बन्ध से ब्रह्म में भासता है ॥ २ ॥

इदमामनन्ति—‘अथ यदत परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वत पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेपत्तयेषु लोकेष्विदं वाक् तद्यदिदमस्मिन्नन्त पुरे ज्योति’ (छा० ३।१३।७) इति । तत्र मग्य — किमिह ज्योति शब्देनादित्यादि ज्योतिरभिधीयते किंवा पर आत्मेति । अर्थान्तरविषयस्यापि शब्दस्य तल्लिङ्गाद्ब्रह्मविषयत्वमुक्तम्, इह तु तल्लिङ्गमेवास्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? आदित्यादिकमेव ज्योति शब्देन परिगृह्यत इति । कुत ? प्रसिद्धे । तमो ज्योतिरिति हीमो शब्दो परम्परप्रतिद्वन्द्वविषयो प्रसिद्धौ । चक्षुर्वृत्तेनिरोधक शर्वरादिक तम उच्यते । तस्या एवानुग्राहकमादित्यादिक ज्योति । तथा ‘दीप्यते’ इतीयमपि श्रुतिरादित्यादिविषया प्रसिद्धा । नहि रूपादिहीन ब्रह्म दीप्यत इति मुख्या श्रुतिमर्हति । द्युमर्यादित्वश्रुतेश्च । नहि चराचरबीजस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य द्यौर्मर्यादा युक्ता । कार्यस्य तु ज्योतिष परिच्छिन्नस्य द्यौर्मर्यादा स्यात् । ‘परो दिवो ज्योति’ इति च ब्राह्मणम् । ननु कार्यस्यापि ज्योतिष सर्वत्र गम्यमानत्वाद्द्युमर्यादावस्त्वमममल्लसम् । अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृत तेजः प्रथमजम् । न । अत्रिवृत्कृतस्य तेजस प्रयोजनाभावादिति । इदमेव प्रयोजनं यदुपास्यत्वमिति चेत् । न । प्रयोजनान्तरप्रयुक्तस्यैवादित्यादेरुपास्यत्वदर्शनात् । ‘तासां त्रिवृत त्रिवृतमेकैकां करवाणि’ (छा० ६।३।३) इति चाविशेषश्रुते । न चात्रिवृत्कृतस्यापि तेजसो द्युमर्यादित्वं प्रसिद्धम् । अस्तु तर्हि त्रिवृत्कृतमेव तत्तेजो ज्योति शब्दम् । ननुक्तमवागपि दिवोऽवगम्यतेऽन्यादिक ज्योतिरिति, नैष दोष सर्वत्रापि गम्यमानस्य ज्योतिष ‘परो दिव’ इत्युपासनार्थं प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते, न तु निष्प्रदेशस्यापि ब्रह्मणः प्रदेशविशेषकल्पना भागिनी । ‘सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेपत्तयेषु लोकेषु’ इति चाधारवृत्त्वश्रुति कार्यं ज्योतिष्यपपद्यनेतराम् । ‘इदं वाक् तद्यदिदमस्मिन्नन्त पुरे ज्योति’ (छा० ३।१३।७) इति च कौक्षेये ज्योतिषि पर ज्योतिरव्यस्यमानं दृश्यते । माह्व्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति । यथा — ‘तस्य भूरिति शिरः एकं शिरः एकमेतदक्षरम्’ (वृ० ५।५।३) इति । कौक्षेयस्य तु ज्योतिष प्रसिद्धमब्रह्मत्वम् । ‘तस्यैषा दृष्टिः तस्यैषा श्रुतिः’ (छा० ३।१३।७) इति चौण्यघोषविशिष्टत्वस्य श्रवणात् । तदेतद् दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासितं इति श्रुते । ‘चक्षुष्य श्रुतो भवति य एव वेद’ (छा० ३।१३।८) इति चाल्पफलश्रवणाद्ब्रह्मत्वम् । महते हि फलाय ब्रह्मोपासन-

मिष्यते । न चान्यदपि किञ्चित्स्ववाक्ये प्राणाकाशवज्ज्योतिषोऽस्ति ब्रह्मलिङ्गम् । नच पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इति छन्दोनिर्देशात् । अथापि कथंचित् पूर्वस्मिन् वाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टं स्यादेवमपि न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तत्र हि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (३।१२।१, ६) इति द्यौरधिकरणत्वेन श्रूयते, अत्र पुनः 'परो दिवो ज्योतिः' इति द्यौर्मर्यादात्वेन । तस्मात्प्राकृतं ज्योतिरिह ग्राह्यमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

छान्दोग्य शाखा वाले यह कहते हैं कि (जो इस दिव (स्वर्ग) से परे ज्योति दीप्त होती है, जो विश्व (सब प्राणी) के पृष्ठ के ऊपर दीप्त होती है, जो सब लोक के ऊपर दीप्त होती है, और जिससे कोई उत्तम लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकों में जो प्रकाशित होती है, वह ज्योति यही है कि जो इस पुरुष के अन्दर में अग्निरूप ज्योति है) यहाँ संशय होता है कि यहाँ ज्योति शब्द से सूर्यादि ज्योति कही जाती है, अथवा परब्रह्म आत्मा कहा जाता है । यद्यपि अर्थान्तर वाचक शब्द को ब्रह्मवाचकत्व ब्रह्म के लिङ्ग से कहा जा चुका है, तथापि वह ब्रह्म का लिङ्ग यहाँ है कि नहीं है, इस अर्थ का यहाँ विचार किया जाता है । विमर्श हुआ कि प्राप्त क्या है ? पूर्वं पक्ष है कि आदित्यादिक ही ज्योति शब्द से समझे जाते हैं, क्योंकि आदित्यादि अर्थ में ज्योति शब्द की प्रसिद्धि है । तम और ज्योति ये दोनों शब्द परस्परविरोधी अर्थ को कहने वाले लोक में प्रसिद्ध हैं । चक्षुर्वृत्ति के विरोध करने वाला रात्रि में होने वाला अन्धकारादि तम कहा जाता है और उस नेत्र की वृत्ति (तेज व्यापार) के सहायक सूर्यादि को ज्योति कहा जाता है । इसी प्रकार (दीप्यते) प्रकाशता है, यह श्रुति भी आदित्यादि विषयक प्रसिद्ध है, रूपादि रहित ब्रह्म प्रकाशता है, इस श्रुति का मुख्य अर्थ नहीं हो सकता है । वह वस्तुतः इस वाक्य से नहीं कहा जा सकता है, और स्वर्ग मर्यादत्व (स्वर्ग सीमायुक्त) सुनने से भी यह ज्योति ब्रह्म वाचक नहीं है, क्योंकि चराचर के बीच सर्वात्मा ब्रह्म की स्वर्ग मर्यादा (सीमा) होना युक्त नहीं है, और परिच्छिन्न (एकदेशी) कार्य रूप ज्योति की स्वर्ग मर्यादा (सीमा) हो सकती है । (परो दिवो ज्योतिः) यह ब्राह्मण ग्रन्थ मर्यादा कहता है कि—स्वर्ग से परे ज्योति प्रकाशती है । यदि कार्य ज्योति को भी सर्वत्र उपलब्ध (ज्ञात) होने से उसमें भी स्वर्गमर्यादत्व नहीं बन सकता ऐसी शङ्का हो तो सृष्टि काल में प्रथम उत्पन्न भूमि (अन्न) जल के साथ सम्मेलन रूप त्रिवृत्करण से रहित सूक्ष्म तेज यहाँ ज्योति शब्द का अर्थ हो सकता है । यदि कहा जाय कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सृष्टि के बाद उस सूक्ष्म तेज का कोई प्रयोजन (फल) नहीं होता है, स्थूल तेज ही सर्वत्र काम देता है : इससे उसकी सत्ता में प्रमाण का अभाव है । यदि कहो कि उसका यही प्रयोजन है कि वह उपास्य होता है, उसकी उपासना की जाती है, तो यह कहना भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रयोजनान्तर में प्रयुक्त (हेतुरूप) ही सूर्यादि को उपास्यत्व देखा जाता है ! ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसका केवल उपासना ही प्रयोजन हो । (तेजो, अप, अन्न, रूप देवताओं में एक एक को

त्रिवृत त्रिवृत (तीन रूपों में सम्मिलित) कहें इस प्रकार ईश्वर के सकल्पपूर्वक तीनों का सामान्य रूप से सम्मेलन मुना गया है, इससे सम्मेलन रहित की सत्ता नहीं है, सम्मेलन रहित तेज की भी स्वर्ण सीमायुक्तत्व प्रसिद्ध नहीं है । फिर पूर्व पक्षी कहता है कि तो सम्मिलित ही वह स्थूल तेज ज्योति शब्द का अर्थ है । यदि कहें कि स्वर्ण से नीचे भी अग्नि आदि तेज उपलब्ध होना है यह कहा जा चुका है, तो यह दोष नहीं है, क्योंकि सर्वत्र उपलब्ध (ज्ञात) ज्योति का भी (पर दिव) इस श्रुति के अनुसार उपासना के लिए प्रदेश विशेष का परिग्रह (स्वीकार) विरुद्ध नहीं होता है । निष्प्रदेश (निर्वन्धव्य देश सम्बन्ध रहित) ब्रह्म के प्रदेशविशेष की कल्पना भागिनी (मुक्त) नहीं हो सकती है । (मन्त्र के ऊपर प्रकाशता है । अनुत्तम उत्तम लोको में प्रकाशता है) इस प्रकार बहुत आधारवश्व का श्रवण भी कार्य ज्योति म अत्यन्त मुक्त होता है । और (वह ज्योति यही है कि जो पुरुष में अन्तर्ज्योति है) यहाँ कुक्षिगत ज्योति में पर ज्योति का अध्याम (आगेन) जिना दृष्टा देखा जाता है, और सदृशता निमित्तक अध्यास होते हैं । जैसे नि (आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष का भूर् रूप व्याहृति घिर है, क्योंकि एक घिर है और एक ही यह अक्षर है । और कुक्षिगत ज्योति की अत्रह्यता प्रसिद्ध है (उस कुक्षिगत तेज की यह दृष्टि है जो शरीर में गरमी उपलब्ध होती है । और जो कान में अनाहत शब्द सुना जाता है सो उसकी श्रुति (श्रवण) है । इस प्रकार उष्णता धाप (नाद) युक्तत्व को सुनने से, तथा (यह अन्तर्ज्योति दृष्ट और श्रुत है) इस प्रकार उपासना करे । इस श्रुति में, और इस प्रकार उपासना करनेवाला दर्शनीय सुन्दर होता है एव श्रुत (प्रख्यात) होता है । एव अन्त फल के श्रवण से भी कुक्षिगत तेज को जाह्नत्व (ब्रह्मनिम्नत्व) सिद्ध होता है । क्योंकि महाफल के ही लिये ब्रह्म की उपासना वाञ्छित होती है । और प्राण तथा आकाश के समान अर्थ भी कोई ब्रह्म का लिङ्ग स्ववाक्य (ज्योति वाक्य) में नहीं है कि जिस ब्रह्म में ज्योति को ब्रह्म समझा जाय । पूर्वं वाक्य में भी ब्रह्म नहीं निर्दिष्ट है क्योंकि (गायत्री वा इद सर्वं भूतम्) इस पूर्व वाक्य में छन्द का कथन है, कि गायत्री छन्द रूप यह सत्र मूल है । यदि सर्वात्मत्व अमृतत्व के कथन से किसी प्रकार पूर्व वाक्य में ब्रह्म निर्दिष्ट (कथित) है, ऐसा माना भी जाय तो भी उसका यहाँ प्रत्यभिज्ञान (वही यह है ऐसा निश्चय) नहीं हो सकता है । क्योंकि पूर्व वाक्य में कहा गया है कि (त्रिपादम्यामृतं दिवि) उसके तीन पाद रूप अमृत स्वर्ण में है । इसमें स्वर्ण उस अनृत का अधिकरण रूप से मुना जाना है और यहाँ दिव (स्वर्ण) से पर ज्योति मुनी जाती है । इसमें स्वर्ण मर्यादा सीमा रूप से मुना जाना है । तथा प्राकृत (प्रकृति के कार्य), माधारण ज्योति यहाँ ग्रहण के योग्य है ।

ज्योतिरिह ब्रह्म ग्राह्यम् । कुत ? चरणाभिधानात्, पादाभिधानादित्यर्थः । पूर्वस्मिन् हि वाक्ये चतुष्पादं ब्रह्म निर्दिष्टम्—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(छा० ३।१२।६) इत्यनेन मन्त्रेण । तत्र यच्चतुष्पदो ब्रह्मणश्चिपादमृतं द्युसम्बन्धिरूपं निर्दिष्टं तदेवेह द्युसम्बन्धान्निर्दिष्टमिति प्रत्यभिज्ञायते । तत्परित्यज्य प्राकृतं ज्योतिः कल्पयतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम् । न केवलं पूर्ववाक्याज्ज्योतिर्वाक्य एव ब्रह्मानुवृत्तिः, परस्यामपि शाण्डिल्यविद्यायामनुवर्तिष्यते ब्रह्म । तस्माद्विह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । यत्तूक्तम्—‘ज्योतिर्दीप्यते’ इति चैतां शब्दी कार्ये ज्योतिषि प्रसिद्धाविति । नायं दोषः । प्रकरणादब्रह्मावगमे सत्यनयोः शब्दयोरविशेषकत्वात् दीप्यमानकार्यज्योतिरूपलक्षिते ब्रह्मण्यपि प्रयोगसम्भवात् । ‘येन सूर्यस्तपति तेजसेदः’ (तै० ब्रा० ३।१२।१।७) इति च मन्त्रवर्णनात् । यद्वा नायं ज्योतिःशब्दश्चक्षुर्वृत्तेरेवानुग्राहके तेजसि वर्तते, अन्यत्रापि प्रयोगदर्शनात्—‘वाचं वायं ज्योतिपास्ते’ (वृ० ४।३।५) ‘मनो ज्योतिर्जुपनाम्’ (तै० ब्रा० १।६।३।३) इति च, तस्माद्ब्रह्मण्यस्य चिदवभासकं तत्तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते । तथा सति ब्रह्मणोऽपि चैतन्यरूपस्य समस्तजगदवभासहेतुत्वादुपपन्नो ज्योतिःशब्दः । ‘तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं त्रिभाति’ (कौ० २।५।१५) ‘तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होषामतेऽमृतम्’ (वृ० ४।४।१६) इत्यादि श्रुतिभ्यश्च । यदप्युक्तं—द्युमर्यादित्वं सर्वगतस्य ब्रह्मणो नोपपद्यत—इति । अत्रोच्यते । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपामनार्थः प्रदेशविशेषपरिग्रहो न विरुध्यते ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि ज्योति यहाँ ब्रह्म ग्रहण के योग्य है, क्योंकि प्रथम चरण (ब्रह्म के पादो) का कथन किया गया है । पूर्व वाक्य में चार पादयुक्त ब्रह्म ही कहा गया है कि (तावान्) चतुष्पदा पड्विधा गायत्री आदि रूप यह संसार इस ब्रह्म की महिमा (विभूति) है, और वह ब्रह्म रूप पुष्ट उस विभूति से बहुत बड़ा (अधिक) है, क्योंकि ये सब भूत इसके एक पाद (अंश) रूप हैं । उसके त्रिपाद (अनन्त स्वरूप) दिव (प्रकाश मय स्वरूप) में है, या सूर्य मण्डल में है । तावानित्यादि मन्त्र में जो चतुष्पादयुक्त ब्रह्म का त्रिपाद रूप अमृत स्वरूप प्रकाश सम्बन्धी रूप वाला कहा गया है, वही यहाँ (दिवः परः) इस वाक्य में कहा गया है, वह प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान दिवपद के सम्बन्ध से होता है । वहाँ प्रत्यभिज्ञा के विषय ब्रह्म को त्याग कर प्राकृत ज्योति की कल्पना करने वाले को प्रकृत की हानि अप्रकृत की कल्पना रूप दोष प्राप्त होगा । एवं पूर्व वाक्य से केवल ज्योति वाक्य में ही ब्रह्म की अनुवृत्ति (प्राप्ति सम्बन्ध) नहीं होती है, किन्तु इससे भी आगे वर्णित शाण्डिल्य नामक विद्या में ब्रह्म की अनुवृत्ति होगी । इससे यहाँ ‘ज्योति’ इस पद से ब्रह्म को समझना चाहिये । पहले जो यह कहा था कि (ज्योति और दीप्यते)

ये दोनों शब्द काय रूप ज्योति मे प्रसिद्ध हैं, वहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि प्रकरण से ब्रह्म के ज्ञान होने पर ये दोनों शब्द विशेषक (भेदक) नहीं होते हैं, ब्रह्म की व्यावृत्ति करके अन्यार्थ के बोधक नहीं होते हैं । क्योंकि दीप्यमान कार्य ज्योति मे उपलक्षित (बोधित) ब्रह्म मे भी उनका प्रयोग हो सकता है । तथा (जिस तेज रूप चेतनात्मा से इन्द्र—प्रकाशित होकर सूर्य—तपता प्रकाश करता है) इत्याद्यथक मन्त्रों से उक्ताथ की सिद्धि होनी है, अथवा यह ज्योति शब्द नेत्र वृत्ति का सहायक तेज ही अर्थ को कहता है, यह नियम नहीं है । अन्य अर्थ मे भी ज्योति शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे कि (सूर्य दीपादि के नहीं रहने पर यह पुरुष अन्धकार मे वाक् रूप ज्योति से ही स्थिति आदि व्यवहार करता है) और 'घृत जुषताम्' घृत का भक्षण पान करने वालों का मन ज्योति (प्रकाशक) होना है इत्यादि । इसमे जो जिस किसी का प्रकाश होता है वह सब ज्योति शब्द से कहा जाता है । और ऐसे होने पर चेतन स्वरूप ब्रह्म को भी सम्पूर्ण जगत के प्रकाश का हेतु होने से उस अर्थ मे ज्योति शब्द उचित है एवं (उस ब्रह्म के प्रकाशित रहते ही सब फिर प्रकाशता है । उसके प्रकाश से यह सब जगत प्रकाशता है । उस ब्रह्म की ही ज्योतियों की ज्योति रूप से और आयु अमृत रूप से देव सब उपासना करते हैं । इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म ज्योति कहा जाता है । पहले जो यह कहा था कि विभु ब्रह्म की स्वर्ग सीमा नहीं हो सकती, सीमा युक्तत्व ब्रह्म मे अनुत्तिष्ठ है । वहाँ कहा जाता है कि विभु ब्रह्म की उपासना के लिए प्रदेश विशेष का परिग्रह स्वीकार, विरुद्ध नहीं होता है ।

ननुक्त—निप्रदेशस्य ब्रह्मण प्रदेशविशेषकल्पना नोपपद्यत—इति नाथ दोष । निप्रदेशस्यापि ब्रह्मण उपाधिविशेषसम्बन्धात्प्रदेशविशेषकल्पनापपत्त । तथाहि—आदित्ये चक्षुषि हृदये इति प्रदेशविशेषसम्बन्धीनि ब्रह्मण उपामनानि श्रूयन्ते एतेन 'विश्वत पृष्ठेषु' इत्याधारखट्वत्वमुपपादितम् । यदप्येतदुक्तम्—औष्ण्यघोपानुमिते कौशेय कार्ये ज्योतिष्यध्यम्यमानत्वात्परमपि दिव कार्यं ज्योतिरेव—इति । तदप्ययुक्तम् । परम्यापि ब्रह्मणो नामादिप्रतीकत्ववत्कौशेयज्योतिप्रतीकत्वोपपत्त । 'दृष्ट च श्रुत चैत्युपासीत' इति तु प्रतीकद्वारक दृष्टत्व श्रुतत्व च भविष्यति । यदप्यत्यफलप्रवणान्न ब्रह्मेति । तदप्यनुपपन्नम् । नहीयते फलाय ब्रह्माध्ययणायम्, इयंते नेति नियमहेतुरस्ति । यत्र हि निरस्त-सर्वविशेषसम्बन्ध पर ब्रह्मात्मत्वेनोपदिश्यते, तत्रैकरूपमेव फल मोक्ष इत्यवगम्यते । यत्र तु गुणविशेषसम्बन्ध प्रतीकविशेषसम्बन्ध वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र ममारणोचराण्येवोच्चावचानि फलानि दृश्यन्त—अन्नादो वसुदानो विदन्त वसु य एव वेद' (वृ० ४।४।२४) इत्याद्यासु श्रुतिषु । यद्यपि न मन्वाक्ये किञ्चिज्ज्योतिषो ब्रह्मलिङ्गमस्ति तथापि पूर्वस्मिन्वाक्ये दृश्यमान ग्रहीतव्यं भवति । तदुक्त सूत्रकारेण—'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति । कथं पुनर्वाक्यान्तरगतेन ब्रह्मनिधानेन ज्योति श्रुति स्वविषयात् प्रच्याव्य शक्या व्यावर्तयि-

तुम् । नैप दोषः । 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति प्रथमतरपठितेन यच्छब्देन सर्वनाम्ना द्युसम्बन्धाप्रत्यभिज्ञायमाने पूर्ववाक्यनिर्दिष्टे ब्रह्मणि स्वसामर्थ्येन परामृष्टे मत्यर्थज्ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मविषयत्वोपपत्तेः । तस्मादिह ज्योतिरिति ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ॥ २४ ॥

यदि कहो कि यह बात कहो जा चुकी है कि निरवयव ब्रह्म के प्रदेश विशेष की कल्पना नहीं बन सकती है (तो कहा जाता है कि) यह दोष भी नहीं है क्योंकि निरवयव ब्रह्म का भी उपाधि विशेष के साथ सम्बन्ध से प्रदेश विशेष की कल्पना सिद्ध होती है, जैसे कि आदित्य, चक्षु, हृदय, इत्यादि प्रदेश विशेष सम्बन्धो ब्रह्म की उपासनायें सुनी जाती हैं । इन श्रुतियों से ही 'विश्वतः पृष्ठेषु' इत्यादि में वर्णित आधार बहुत्व का कथन भी उपासना के लिये उपपादित (सिद्ध) हो चुका । और जो यह भी कहा गया था कि उष्णता और नाद से अनुमित (ज्ञात) कुक्षिस्थ कार्य अग्नि में अध्यास का विषय होने से दिव (स्वर्ग) से पर मा कार्य अग्नि रूप ही ज्योति है, वह भी कथन अयुक्त है । परब्रह्म को भी नामादिप्रतीकत्व के समान कौक्षेय ज्योतिप्रतीकत्व (आश्रय अवयवत्व) बन सकता है । और (दृष्ट है, श्रुत है इस प्रकार उपासना करे) इत्यादिबिहित दृष्टव्य श्रुतत्व भी ब्रह्म को प्रतीक द्वारा होगा । जो यह कहा गया था कि अल्प फल होने से दृष्ट श्रुत ब्रह्म नहीं है । वह भी अयुक्त है, क्योंकि यह नियम नहीं है कि इतने फल के लिये ब्रह्म का आश्रयण करना चाहिये और इतने के लिये नहीं । जहाँ सब विशेष सम्बन्ध से रहित ब्रह्म का उपदेश रहता है, वहाँ एक स्वरूप ही मोक्ष फल अवगत (अनुभूत) होता है । और जहाँ गुण विशेष का सम्बन्ध युक्त वा प्रतीक विशेष का सम्बन्ध युक्त ब्रह्म उपदिष्ट होता है, वहाँ संसार विषयक ही उत्तममव्यमादि फल देखे जाते हैं । जैसे कि ईश्वर अन्न को खाने वाला वा देने वाला है, तथा वसु (हिरण्य को देने वाला है, इस प्रकार समझ कर जो उपासना करता है, वह धन पाता है) इत्यादि श्रुतियों में वर्णन है । यद्यपि ज्योति बोधक वाक्य में कोई लिंग नहीं है कि ज्योति की ब्रह्मता सिद्ध करे, तथापि पूर्व वाक्य में देखा गया है कि लिंग ग्रहण के योग्य है । इसलिये सूत्रकार ने कहा कि 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' । शंका होती है कि वाक्यान्तर गत ब्रह्म के सन्निधान (सम्बन्ध) से ज्योतिः प्रत्यक्ष श्रुति अपने विषय से प्रच्युति के योग्य कैसे हो सकती है, उत्तर है कि (यदतः परो दिवो ज्योतिः । यहाँ सबसे प्रथम पठित सर्वनाम यत् शब्द से स्वसामर्थ्य द्वारा पूर्व वाक्य में कथित ब्रह्म के परामृष्ट (स्मृत) होने पर, और दिव के साथ सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञात होने पर फिर (अर्थात् ज्योति पद के साथ यत् की सामानाधिकरण्यात् से) ज्योति शब्द को ब्रह्म विषयकत्व सिद्ध होता है । इससे यहाँ 'ज्योति' इस शब्द से ब्रह्म को समझना चाहिये ॥ २४ ॥

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

छन्दोभिधानात् न-इति, चेत्त-न-तथा-चेताऽर्पणनिगदात्-तथा-हि-दर्शनम् । ये दश पद इस सूत्र में हैं । और ब्रह्म तथा उच्यते पद का पूर्व से सम्बन्ध होता है । मन्त्रिष्ठ सूत्रार्थ है कि (पूर्वस्मिन् वाक्ये गायत्री नाम्नश्छन्दोभिधानाद् गायत्र्या एव पादत्रयाद्युक्तेष्मादशवाक्यदलान्नात्र ज्योतिर्ब्रह्म भवितुमर्हति इति चेन्न तथा (तेन प्रकारेण) गायत्रीकथनमार्गेण तत्रानुगते ब्रह्मणि तद्वाच्ये चैनसोऽर्पणस्य कथनात्, तथा अन्यत्रापि दर्शनमस्त्येव (एत एव बह्वृचामहत्युक्त्ये मीमामन्ते इत्यादि) पूर्वं वाक्य में गायत्री नामक छन्द के कथन से तथा उसी के तीन पादादि की उक्ति से वैसे वाक्य के बल में यहाँ ज्योति ब्रह्म नहीं हो सकता है । यदि इस प्रकार कोई कहे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस रीति से गायत्री के कथन द्वारा गायत्री में अनुगत उसका वाच्य ब्रह्म में चित्त का अर्पण कहा गया है, और इस प्रकार (एत एव) इत्यादि वचन देखा गया है, इससे पूर्ववाक्य में ब्रह्म का कथन है ॥ २५ ॥

अथ यदुक्तम्—पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये न ब्रह्माभिहितमस्ति, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूत यदिदं किञ्च' (छा० ३।१।१२।) इति गायत्र्याख्यस्य छन्दमोऽभिहितत्वात्-इति । तत्परिहर्तव्यम् । कथं पुनश्छन्दोभिधानान्न ब्रह्माभिहितमिति शक्यते वक्तुं, यावता 'तावानस्य महिमा' इत्येनम्यामुचि चतुष्पाद्ब्रह्म दर्शितम् । नैतदस्ति । 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति गायत्रीमुपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणप्रभेदैर्व्याख्याय 'मैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' तदेतदृचाभ्यनूक्त 'तावानस्य महिमा' इति तन्वामेव व्याख्यातरूपाया गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्र कथमकस्माद्ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात् । योऽपि तत्र 'तद्वै तद् ब्रह्म' (छा० ३।१।५, ६) इति ब्रह्मशब्द मोऽपि छन्दसं प्रकृतत्वाच्छन्दोविषय एव । 'य एतामेव ब्रह्मोपनिषद वेद' (छा० ३।१।१३) इत्यत्र हि वेदोपनिषदमिति व्याचक्षते, तस्माच्छन्दोभिधानान्न ब्रह्मण प्रकृतत्वमिति चेत् ? नैष दोषः । 'तथा चैनोऽर्पणनिगदात्' तथा गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगते ब्रह्मणि चैतमोऽर्पणं चित्तममाधानमनेन ब्राह्मणवाक्येन निगद्यते—'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति । न ह्यक्षरगनिनेजमात्राया गायत्र्या सर्वात्मकत्वं सम्भवति । तस्माद्यद्गायत्र्याप्यविकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म तदिह सर्वमित्युच्यते । यथा 'सर्वं स्वत्तिदं ब्रह्म' (छा० ३।१।११) इति । कार्यं च कारणद्वयतिरिक्तमिति वक्ष्याम—'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, (ब्र० ३।१।१८) इत्यत्र । तथान्यत्रापि विनाशद्वारेण ब्रह्मण उपासनं द्रश्यते—'एन ह्यत्र बह्वृचा महत्युक्त्ये मीमामन्ते, एतमग्नावध्ययं, एतं महाव्रते छन्दोगा' (ऐ० जा० ३।१।३।१०) इति । तस्मादस्ति छन्दोभिधानेऽपि पूर्वस्मिन्वाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिष्टम् । तदेव ज्योतिर्वाक्येऽपि परामृश्यते उपासनान्तरविधानाय ।

और पूर्व में जो कहा था कि पूर्व वाक्य में ब्रह्म नहीं कथित है, क्योंकि (गायत्री ही इस सब भूत स्वरूप है और जो कुछ यह वस्तु है वह गायत्री है) इस प्रकार गायत्री नामक

छन्द कहा गया है, इस शंका की निवृत्ति करनी चाहिये । यहाँ कोई कहता है कि छन्द के कथन से ब्रह्म नहीं कहा गया है । यह कैसे कहा जा सकता है ? जब कि (तावानस्य महिमा) इस ऋग् मन्त्र में चारपादयुक्त ब्रह्म दिखलाया गया है । पूर्वपक्षी कहता है कि उस मन्त्र में भी ब्रह्म नहीं दिखलाया गया है, क्योंकि (गायत्री वा इदं सर्वम्) गायत्री ही यह सर्वस्वरूप है । इस प्रकार गायत्री का आरम्भ करके फिर उसीका भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय, वाक् और प्राण के प्रभेद रूप से व्याख्यान करके उसी के विषय में कहा गया है कि—यह गायत्री चारपाद वाली छः प्रकार की है । एवं यह ऋग् मन्त्र से भी कहा गया है कि—तावानस्य महिमा । इस प्रकार यह मन्त्र भी उस व्याख्यात रूपवाली गायत्री में ही उदाहरण दिया गया है । फिर चारपाद वाले ब्रह्म को वह मन्त्र अकस्मात् कैसे कह सकता है ? बिना कारण के वह ब्रह्म को नहीं कह सकता है । और जो वहाँ (यद्वैतद्ब्रह्म) इस वाक्य में ब्रह्म शब्द है उसके बल से भी मन्त्र ब्रह्म को नहीं कह सकता है, क्योंकि छन्द का प्रकरण होने से वह ब्रह्म शब्द छन्द विषयक ही है । (य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद) इस वाक्य में ब्रह्मोपनिषद का वेदोपनिषद इस प्रकार व्याख्यान करते हैं । इससे गायत्री आदि रूप वेद भी ब्रह्म शब्द का अर्थ होता है । उक्त वाक्य का अर्थ है कि—‘जो कोई इस वेद के रहस्यरूप मधुचिद्धा को कथित रीति से जानता है उसको उदयादि रहित ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।’ इस पूर्वोक्त हेतु से पूर्व प्रकरण में वेदरूप छन्द के कथन से ब्रह्म को पूर्व प्रकृतत्व नहीं है । यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है । यद्यपि गायत्री का कथन पूर्व प्रकरण में ठीक ही है, तो भी उस गायत्री के द्वारा ब्रह्म में चित्त का अर्पण भी कहा गया है; इससे ब्रह्म भी प्रकृत है । क्योंकि इस ब्राह्मण वाक्य से (गायत्री नामक छन्द द्वारा) उसमें व्यापक ब्रह्म में चित्त का समाधान रूप अर्पण कहा जाता है (गायत्री ही यह सब स्वरूप है) । गायत्री पद से यदि तदनुगत ब्रह्म को लक्षित नहीं माना जाय तो अक्षरों के सन्निवेश (रचनाविशेष) मात्ररूप गायत्री को सर्वात्मकता सम्भव नहीं हो सकती है । जिससे गायत्री नामक कार्य में अनुगत जगत का कारण जो ब्रह्म वही यहाँ सर्व स्वरूप कहा जाय । जैसे कि (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) इस श्रुति में सर्व स्वरूप ब्रह्म कहा जाता है । और कार्य वस्तु, उपादान कारण से भिन्न नहीं होती है यह आगे (तदनन्यत्वम्) इत्यादि सूत्र में कहेंगे । इसी प्रकार अन्यत्र भी कार्य द्वारा ब्रह्म की उपासना देखी गई है कि इसी परमात्मा की बह्वृच (ऋग्वेदी) महान् उक्थ (शस्त्र) में उपासना करते हैं । इसी की उपासना यजुर्वेदी अग्नि में करते हैं और सामवेदी महाव्रत रूप क्रतु में उपासना करते हैं । जिससे छन्द का कथन होते हुए भी पूर्व वाक्य में ब्रह्म निर्दिष्ट है, वही ब्रह्म उपासनान्तर के विधान के लिए ज्योतिर्बोधक वाक्य में भी परामृष्ट (स्मृत) होता है ।

अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते संख्यासामान्यात्, यथा गायत्री चतुष्पदा पञ्चक्षरैः पादैस्तथा ब्रह्म चतुष्पात् । तथान्यत्रापि

छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे मख्यासामान्यात् प्रयुज्यमानो दृश्यते । तद्यथा—
'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्य दश मन्तस्तत्कृतस्' इत्युपक्रम्याह 'सैषा
विराड्नादी' (छा० ४।३।८) इति । अस्मिन् पक्षे ब्रह्मैवाभिहितमिति न छन्दो-
भिधानम् । सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृत ब्रह्म ॥ २५ ॥

यहाँ अन्य कोई कहते हैं कि गायत्री शब्द लक्षणा द्वारा ब्रह्म का बोधक नहीं है
किन्तु गौणी वृत्ति से साक्षान् ही गायत्री शब्द द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन होता है ।
यहाँ पाद सख्या की तुल्यता गुण है । जैसे पङ्क्तिर वाले पादों से गायत्री चारपाद वाली
होती है, वैसे ही ब्रह्म भी चारपाद वाला है । इसी प्रकार अन्यत्र भी छन्दवाचक शब्द
सख्या की तुल्यता से अर्थान्तर में प्रयुक्त देखा जाता है । जैसे कि सवर्गविद्या में कहा
गया है कि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और जल ये वायु में लीन होते हैं । इससे अपने
स्वरूप सहित वायु पञ्चात्मक है और वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन प्राण में लीन
होते हैं, इससे प्राण भी पञ्चात्मक है । एव वे अग्नि आदि रूप पाँच अन्य हैं,
तथा यागादि रूप पाँच अन्य हैं, वे दोनों पाँच-पाँच मिलकर दश हो जाते हैं और
दश होने से वृत्त (सतयुग) और द्यूत विशेष हो जाते हैं, क्योंकि वृत्त की चार
सख्या, घेना की तीन सख्या, द्वापर की दो सख्या और वरि की एक सख्या (एक)
समझी जाती है । वहाँ वृत्त दशात्मक होता है (दशाक्युक्त समझा जाता है) क्योंकि
चार के अन्दर तीन, तीन के अन्दर दो और दो के अन्दर एक प्रविष्ट होता है, इसमें
चार तीन सात, सात दो नौ और नौ एक दश हो जाता है, इसमें वायु आदि और
प्राणादि भी दश होकर वृत्त कहाते हैं, और इन वायु आदि दश का उपक्रम करके
कहा गया है कि यही दश अक्षर वाला विराट् नामक छन्द है जो अनादी है । इस पक्ष
में भी गायत्री पद से ब्रह्म ही कहा गया है ॥ २५ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

इतश्चैवमभ्युपगन्तव्यमस्ति 'पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृत ब्रह्मेति, यतो भूतादीन्
पादान् व्यपदिशति । भूतपृथिवीशरीरहृदयानि हि निदिश्याह—'सैषा चतुर्पादा
पङ्क्तिर्वा गायत्री' इति । नहि ब्रह्मानाश्रयणे केवलस्य छन्दसो भूतादय पादा
उपपद्यन्ते । अपि च ब्रह्मानाश्रयणे नेयमृक्मवध्येत—'तावानस्य महिमा इति ।
अनया हि ऋचा स्वरसेन ब्रह्मैवाभिधीयते, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपाद-
स्यामृत दिवि' (छा० ३।१२।५) इति सर्वात्मत्वोपपत्ते । पुरुषमूक्तोऽपीयमृग-
ह्यपरतयेव ममाम्नायते । स्मृतिश्च ब्रह्मण एवरूपता दर्शयति—'विष्टभ्याहमिद
कृत्स्नमेकाशेन स्थिनो जगत्' (भग० १०।४२) इति । 'यद्वै तद्ब्रह्म' (छा० ३।
१२।७) इति च निर्देश एवमिति मुख्यार्थ उपपद्यते । 'ते वा एते पञ्च ब्रह्म-
पुष्ट्या' (छा० ३।१३।६) इति च हृदयसुपिपु ब्रह्मपुष्ट्य (१) श्रुतिब्रह्मसम्बन्धि-

तायां विवक्षितायां सम्भवति । तस्मादस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये ब्रह्म प्रकृतम् । तदेव ब्रह्म ज्योतिर्वाक्यं द्युसम्बन्धात्प्रत्यभिज्ञायमानं परामृश्यत इति स्थितम् ॥ २६ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी (गायत्री द्वारा तदनुगत ब्रह्मनिर्दिष्ट है) इसी प्रकार पूर्व वाक्य में ब्रह्म प्रकृत (प्रस्तुत) है यह स्वीकार करने योग्य है, जिससे भूतादि रूप पादों का कथन श्रुति करता है । जैसे कि भूत, पृथिवी, शरीर, और हृदय का निर्देश करके कहती है कि (यह पूर्वोक्त चार पाद वाली पङ्क्ति गायत्री है) वहाँ ब्रह्म का आश्रयण (स्वीकार) नहीं करने पर केवल छन्दरूप गायत्री के भूतादि पाद नहीं सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु ब्रह्म के ग्रहण करने पर यह कथन युक्त होता है । एवं ब्रह्म के अनाश्रयण करने पर (तावानस्य महिमा) यह ऋग्मन्त्र भी समाहित नहीं होगा, क्योंकि इस ऋग्मन्त्र से मुख्य तात्पर्य द्वारा ब्रह्म कहा जाता है (इसके सब भूत एक पाद हैं, अमृत तीन पाद दिव्य स्वरूप में हैं) इस प्रकार सर्वात्मत्व की सिद्धि से वह तात्पर्य समझा जाता है । पुरुष सूक्त में भी यह मन्त्र ब्रह्मपरक ही पढ़ा गया है । एवं स्मृति भी इस प्रकार ब्रह्म की सर्वात्मकता दिखलाती है कि (मैं एक अंश से इस सब जगत् का व्यास-धारण करके स्थिर हूँ) और इस प्रकार पूर्व वाक्य में ब्रह्म का कथन मानने पर (यद्वा तद् ब्रह्म) यह कथन भी मुख्यार्थक सिद्ध होता है, और (ते वा एते ब्रह्म पुरुषाः) इस प्रकार हृदय के छिद्रों में ब्रह्म पुरुषत्व का श्रवण भी उसे ब्रह्म सम्बन्धी मानने पर सम्भव होता है, अर्थात् गायत्री नामक ब्रह्म की उपासना जब हृदय में मानी जाती है, तब हृदय के पूर्वादि छिद्रों में ब्रह्म के द्वारपालरूप प्राणादि वायु सिद्ध होते हैं, उनका कथन सम्भव है, अन्यथा नहीं । जिससे पूर्ववाक्य में ब्रह्म प्रस्तुत है, वही 'ब्रह्म ज्योतिः' वाक्य में 'दिव' पद के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञात स्मृत होता हुआ परामृष्ट (विचारित) होता है, यह स्थित हुआ ॥ २६ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

उपदेश भेदात्-न-इति-चेत्-न-उभयस्मिन्-अपि-अविरोधात् । ये आठ पद इस सूत्र में हैं । ब्रह्म और ज्योति का पूर्व से सम्बन्ध है । संक्षिप्तार्थ यह है कि (पूर्वापरवाक्ययोः सप्तमी-पञ्चमी-विभक्ति-भेदेनोपदेशभेदात् तेन च विरुद्धार्थत्वाज्ज्योतिर्वाक्ये ब्रह्म न परामृश्यते, इति चेत्-उच्यते, तन्नवक्तव्यम्—कुतः, उभयस्मिन्नपि विरोधाभावात्, तादृश-प्रयोगस्यार्थत्वेऽपि लोके दर्शनादिति) पूर्ववाक्य में सप्तमी और उत्तरवाक्य में पञ्चमीविभक्ति के भेद से उपदेश में भेद है । जिसलिए विरुद्धार्थकता है, इसलिए ज्योति वाक्य में ब्रह्म का परामर्श नहीं होता है । यदि किसी से यह बात कही जाती हो, तो वह कहने योग्य नहीं है, क्योंकि दोनों वाक्यों में विरुद्धार्थता का अभाव है । इस प्रकार विभक्ति भेद युक्त प्रयोग लोक में एकार्थ में भी देखा जाता है । अर्थात् दोनों

विभक्तियों में से एक विभक्ति लक्षणा द्वारा दूसरी विभक्ति के अर्थ को कहती है, अतः अविवेक हो जाता है, इत्यादि ।

यदप्येतदुक्तं पूर्वञ्च 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा इह पुन 'अथ यदतः परो दिवः' इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, तस्मादुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञानमस्तीति तत्परिहृतं व्युत्पद्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः । उभयस्मिन्नप्यविरोधात्, उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते चोपदेशं न प्रत्यभिज्ञानं विरुध्यते । यथा लोके वृक्षागमवद्भोज्यं दृश्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते-वृक्षाग्रे दृश्येनो वृक्षाप्रात्परतः दृश्येन-इति च । एव दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते ।

जो यह भी कहा जा कि प्रथम (त्रिपादस्यामृतं दिवि) इस वाक्य में सप्तमी विभक्ति से स्वर्ग ब्रह्म के आधार रूप में कहा गया है, और (अथ यदतः परो दिवः) इस वाक्य में पञ्चमी विभक्ति से स्वर्ग की ज्योति की मर्यादा (सीमा) रूप में कहा गया है, जिससे उपदेश के भेद से उस ब्रह्म के स्वर्ग के साथ सम्बन्ध मात्र से यहाँ ज्योति वाक्य में प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है कि वही ब्रह्म ज्योति शब्द का अर्थ है, इस शंका का परिहार (निवारण) कर्तव्य है । इसलिए यहाँ कहा जाता है कि यह दोष यहाँ नहीं है, क्योंकि दोनों वाक्यों की विभक्तियों में विरोध नहीं होने से प्रत्यभिज्ञा में भी विरोध नहीं है, सप्तम्यन्त पञ्चम्यन्त दोनों उपदेशों में स्वर्ग के सम्बन्ध से होने वाला प्रत्यभिज्ञान विच्छिन्न नहीं होता है । उसमें कोई विघ्न नहीं उपस्थित होता है, जैसे लीन में वृक्षाग्र के साथ सम्बन्ध वाला भी दृश्य पक्षों दो प्रकार से उपदिष्ट देखा जाता है कि वृक्षाग्र में दृश्य है वृक्षाग्र से परे दृश्य है, इसी प्रकार स्वर्ग में ही रहना हुआ ब्रह्म स्वर्ग में परे है इस प्रकार कहा जाता है, अर्थात् यहाँ पञ्चमी विभक्ति भी लक्षणा से आधार को ही कहती है ।

अपर आह—यथा लोके वृक्षाग्रेणामवद्भोज्यं दृश्येन उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते, वृक्षाग्रं ज्येनो वृक्षाप्रात्परतः दृश्येन इति च एव च दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीन्युपदिश्यते । तस्मादस्ति पूर्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मण इह प्रत्यभिज्ञानम् । अतः परमेव ब्रह्म ज्योति शब्दमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

यहाँ दूसरे लोग कहते हैं कि वृक्षाग्र से सम्बन्ध रूपर उदता हुआ दृश्य भी दोनों प्रकार से उपदिश्यमान देखा जाता है कि वृक्ष के अग्र भाग में दृश्य है, वृक्ष के अग्र भाग से परे दृश्य है । इसी प्रकार वस्तुतः स्वर्ग में परे होता हुआ भी ब्रह्म स्वर्ग में है ऐसा कहा जाता है । इस पक्ष में सप्तमी विभक्ति लक्षणा से पञ्चमी विभक्ति के अर्थ को कहती है, वस्तुतः अमगादि होने से स्वर्गादि से परे है, और विभु होने से सब में है भी, जिससे पूर्व कथित ब्रह्म का यहाँ, ज्योति वाक्य में प्रत्यभिज्ञान होता है । इसलिए यहाँ ब्रह्म ही ज्योति शब्द का अर्थ है, यह सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

प्रतर्दनाधिकरण (११)

प्राणोऽस्मीत्यत्र वाय्विन्द्रजीवब्रह्मसु संशयः ।

चतुर्णां लिङ्गसद्भावात्पूर्वपक्षस्त्वनिर्णयः ॥ १ ॥

ब्रह्मणोऽनेकलिङ्गानि तानि सिद्धान्यनन्यथा ।

अन्येषानन्यथासिद्धेर्व्युत्पाद्यं ब्रह्म नेतरत् ॥ २ ॥

प्राणोऽस्मि, इत्यादि वाक्यों में, प्राणवायु, इन्द्र, जीव, और ब्रह्म चारों के लिङ्ग रहने से चारों विषयक संशय होता है कि इन चारों में से मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु यहाँ कौन है ? पूर्वपक्ष होता है कि अनेक के अनेक लिङ्ग रहने ही से यहाँ निर्णय नहीं हो सकता है । सिद्धान्त है कि ब्रह्म के अनेक लिङ्ग हैं, वह अन्यथा सिद्ध नहीं है, प्राणादि के साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो सकता है, और प्राणादि के लिङ्ग अन्यथा सिद्ध है, उनका ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो सकता है, इसलिए यहाँ मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म है अन्य नहीं ॥ १-२ ॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा) इत्यत्र, तथा—ज्योतिवत् प्राणशब्दोऽपि ब्रह्मवाचकः, कस्माद् ब्रह्मधर्मानुगमात्, ब्रह्मधर्मसम्बन्धात् । पदानां समन्वयावगमात् तथैव प्रतीतेरिति) प्राणोऽस्मि, इत्यादि वाक्य में ज्योति वाक्यके समान प्राण शब्द भी ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि ब्रह्म के धर्मों का सम्बन्ध है । और पदों का भी ब्रह्म के साथ सम्यक् अन्वय है, जिससे ब्रह्म धर्म का सम्बन्ध ज्योति के समान ही प्रतीत होता है इत्यादि ।

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—‘प्रतर्दनो ह वै दैवो-
दासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च’ इत्यादिभ्याम्नाता ।
तस्यां श्रूयते—‘स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व’
इति । तथोत्तरत्रापि ‘अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति’
(कौ० ३।१, २, ३) इति । तथा ‘न वाचं विजिज्ञासीत वक्तरं विद्यात्’ इत्यादि,
अन्ते च ‘स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः’ (कौ० ३।८) इत्यादि ।
तत्र संशयः—किमिह प्राणशब्देन वायुमात्रमभिधीयत उत देवतात्मोत जीवोऽ-
थवा परं ब्रह्मेति । ननु ‘अत एव प्राणः’ इत्यत्र वर्णितं प्राणशब्दस्य ब्रह्म-
परत्वम् । इहापि च ब्रह्मलिङ्गमस्ति—‘आनन्दोऽजरोऽमृतः’ इत्यादि, कथमिह,
पुनः संशयः संभवति । अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः । न केवलमिह ब्रह्मलिङ्ग-
मेवोपलभ्यते । सन्ति हीतरलिङ्गान्यपि । ‘मामेव विजानीहि’ (कौ० ३।१)
इतीन्द्रस्य वचनं देवतात्मलिङ्गम् इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति प्राणलिङ्गम्

‘न वाच विजिज्ञामीत वक्तार विद्यात्’ इत्यादि जीवलिङ्गम् । अत उपपन्न सशय । तत्र प्रसिद्धेर्वायु प्राण इति प्राप्त उच्यते—

कौपीयकि नामक ब्राह्मण भाग रूप उपनिषद् मे इन्द्र और प्रतर्दन नामक राजा की आध्यायिका (कथा विशेष) है जहाँ (प्रतर्दन नाम से प्रसिद्ध दिवोदास का पुत्र युद्ध और अन्य पुरुषार्थ के द्वारा पुण्य विशेष से इन्द्र के प्रिय धाम स्वर्ग में गया) इस प्रकार आरम्भ करके वह कथा कही गई है, और उस कथा में सुना जाता है कि इन्द्र ने प्रसन्न होकर उसे वर देने के लिये कहा, तो प्रतर्दन ने कहा मनुष्य के लिये जो आप अत्यन्त हित समझते हो वह वर दें, तब इन्द्र बोले कि (प्रज्ञात्मा प्राण मैं हूँ, उस मुझ को तुम आयु अमृत इस प्रकार समझ कर मेरी उपासना करो) फिर उसके आगे कहा है कि (प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को अमिमानपूर्वक ग्रहण करके शयनाशनादि से उठाता है, अन्य इन्द्रियो में यह शक्ति नहीं है) और अन्त में कहा है कि (यह प्राण रूप ही प्रज्ञात्मा आनन्द स्वरूप अजर और अमृत है) इत्यादि । यहाँ सशय होता है कि क्या यहाँ प्राण शब्द से वायु मात्र कहा जाता है, अथवा देवता स्वरूप इन्द्र या जीव वा परब्रह्म कहा जाता है । यदि कहा जाय कि (अत एव प्राण) इस मूत्र में ब्रह्म के लिङ्ग से प्राण शब्द के ब्रह्मपरत्व का वर्णन हो चुका है, और यहाँ भी (आनन्दोऽजरोऽमृत) इत्यादि ब्रह्म का लिंग ही, फिर यहाँ सशय बनें हो सकता है, तो उत्तर है कि अनेक लिंगों के देखने में फिर सशय होता है । यहाँ केवल ब्रह्म का ही लिंग नहीं उपलब्ध होता है, किन्तु अन्य के लिंग भी हैं (मुझे ही समझो) यह इन्द्र का वचन देवतात्मा का लिंग है । और (इस शरीर का परिग्रहण करके इसको उठाता है) यह प्राण का लिंग है (वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे, किन्तु वक्ता को समझे) इत्यादि जीव का लिंग है, इससे सशय सिद्ध होता है । सशय होने पर पूर्वपक्ष हुआ कि प्रसिद्धि से वायु प्राण है ।

प्राणशब्द ब्रह्म विज्ञेयम् । कुत ? तथानुगमात् । तथाहि—पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते । उपक्रमे तावत् ‘वर वृणीष्व इतीन्द्रेणोक्त प्रतर्दन परम पुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप—‘त्वमेव मे वृणीष्व’ यत्त्र मनुष्याय हिततम मन्यसे’ इति । तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमान प्राण कथं परमात्मा न स्यात् न ह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्वितनमप्राप्तिरस्ति ‘तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽप्यनाय’ (श्वेता० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा ‘म यो मा वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहन्यया’ (कौ० ३।१) इत्यादि च ब्रह्मपरिग्रहे धर्यते । ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः—‘क्षीयन्ते चान्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे (मु० २।२।८) इत्याद्यासु श्रुतिषु प्रज्ञात्मत्व च ब्रह्मपक्ष एवोपपद्यते । न ह्यचेतनस्य वायो प्रज्ञात्मत्व सम्भवति । तथोपम-

हारेऽपि—‘आनन्दोऽजरोऽमृतः’ इत्यानन्दत्वादीनि न ब्रह्मणोऽन्यत्र संभवन्ति । ‘स न साधुना कर्मणा भूयात् भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेप ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपते एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽथो निनीपते’ इति; ‘एष लोकाधिपतिरेप लोकेशः’ (कौ० ३।८) इति च । सर्वमेतत्परस्मिन् ब्रह्मण्याश्रीयमाणेऽनुगन्तुं शक्यते न मुख्ये प्राणे । तस्मात्प्राणो ब्रह्म ॥ २८ ॥

प्राण शब्द का अर्थ यहाँ ब्रह्म समझना चाहिये क्योंकि वैसा ही अनुगम (पदों का सम्बन्ध) है । इसलिये वैसा ही दिखलाया जाता है कि वाक्य के पूर्वापरसहित वाक्य को विचारने समझने से पदार्थों का सम्बन्ध ब्रह्मप्रतिपादनपरक ही उपलब्ध होता है । आरम्भ में प्रथम इन्द्र ने कहा कि (वर मांगो) इस प्रकार इन्द्र से कहे जाने पर, उस प्रतर्दन ने परमपुरुषार्थ रूप वर का उपक्षेप (प्रक्षेप) किया, अर्थात् इन्द्र के ही प्रति अपेक्षा किया, मांगने का भार अपने शिरसे हटाया, और इन्द्र से कहा कि मैं क्या जानता हूँ, कि मेरे लिये वर (हित) क्या है, आप सर्वज्ञ हो (आप ही जिसको मनुष्य के लिये अत्यन्त हित समझते हो वह मेरे लिये देना स्वीकार करो) फिर उस प्रतर्दन के लिये अत्यन्त हित रूप से उपदिश्यमान (इन्द्र से उपदिष्ट) प्राण परमात्मा कैसे नहीं होगा । क्योंकि परमात्मज्ञान के बिना अन्यत्र कहीं भी हिततम की प्राप्ति नहीं होती है, यह बात (उस ब्रह्मात्मा को जान करके ही अतिमृत्यु मोक्ष पाता है; अन्य मार्ग मोक्ष के लिए नहीं है इत्यादि) श्रुत्यर्थ से सिद्ध होती है । इसी प्रकार (वह जो कोई पुरुष मुझ आत्मा को प्रत्यक्ष जानता है, उस विद्वान् का मोक्ष रूप लोक किसी कर्म से भी हिंसित नष्ट नहीं होता है, न चोरो से न गर्भ हत्या वालहत्या से नष्ट होता है) इत्यादि कथन भी ब्रह्म का प्राण शब्द से ग्रहण करने पर संघटित होता है । क्योंकि ब्रह्म विज्ञान से ही सब कर्मों का नाश (उस परावर परमात्मा के अपरोक्ष होने पर इस ज्ञानी के कर्म नष्ट हो जाते हैं) इत्याद्यर्थक श्रुतियों में प्रसिद्ध है । और प्रजात्मत्व (प्रकृत ज्ञान रूपत्व) तो ब्रह्म का स्वीकार पक्ष में ही युक्त हो सकता है, अचेतन वायु को प्रजात्मत्व का सम्भव नहीं है । इसी प्रकार उपसंहार (अन्त) में श्रुत (आनन्द अजर अमृत) ये विशेषण सब ब्रह्म से अन्यत्र संबन्ध के योग्य नहीं हैं । और (वह पुण्य कर्म से बड़ा नहीं होता है, पाप कर्म से छोटा नहीं होता है, यही उससे पुण्य करवाता है कि जिसको इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है, एवं वही उससे पाप कर्म कराता है जिसको इन लोकों से नीचे ले जाना चाहता है । यही लोकाधिपति है, यही लोकपाल है) इत्यादि । प्राण शब्द के अर्थ रूप से परब्रह्म के स्वीकार करने पर ये वर्णित सभी विशेषण गुण सम्बन्ध के योग्य संगत होते हैं, मुख्य प्राण में संगत नहीं हो सकते, जिससे प्राण शब्दार्थ ब्रह्म है ॥ २८ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२९॥

संक्षिप्तार्थं है कि (वक्तुरिन्द्रस्य देवतात्मन उपदेशात्प्राणशब्दार्थो देव एवास्ति चेन्न-
श्रिद् ब्रूते तन्न युक्तं हि (यत्) अस्मिन् प्रकरणे अध्यात्मवाहुल्यमुपलभ्यते तस्माद् ब्रह्म-
परत्वेन वक्ता, वक्ता रूप इन्द्र के देवता स्वल्प के उपदेश से प्राण शब्द का अर्थ शरीरो
देव ही है, इस प्रकार यदि कोई कहता हो तो वह कहना उचित नहीं है, क्योंकि इस
प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्ध की बहुलता से इसे ब्रह्मपरता ही उचित है ॥

यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति, तदाक्षिप्यते—न परं ब्रह्म प्राणशब्दम् । कस्मान् ?
वक्तुरात्मोपदेशात् । वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान् देवताविशेष स्वमात्मानं
प्रतर्दनायाचक्षते—‘मामेव विजानीहि’ इत्युपक्रम्य ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा’ इत्य-
हङ्कारवादेन, न एव वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमान प्राण कथं ब्रह्म स्यात् । नहि
ब्रह्मणो वक्तृत्व सम्भवति, ‘अवागमना’ (बृह० ३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।
तथा विग्रहसम्बन्धिभिरेव ब्रह्मण्यसम्भवद्विधर्मैरात्मानं तुष्टाव—विशीर्षाण
त्वाष्ट्रमह्नमस्त्रमुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्’ इत्येवमादिभिः । प्राणत्व
चेन्द्रस्य बलवत्त्वादुपपद्यते, ‘प्राणो वै बलम्’ इति हि विज्ञायते बलस्य चेन्द्रो
देवता प्रसिद्धा । ‘या च काचिद्वलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्’ इति हि वदन्ति । प्रज्ञा-
त्मत्वमप्यप्रतिहृतज्ञानत्वादवतात्मन सम्भवति, अप्रतिहृतज्ञाना देवता इति हि
वदन्ति । निश्चिते चैव देवतात्मोपदेशे हिततमत्वादिवचनानि यथासम्भव
तद्विषयाण्येव योजयितव्यानि । तस्माद्वक्तुरिन्द्रस्यात्मोपदेशात् प्राणो ब्रह्मत्वा-
क्षिप्य प्रतिनमाधीयते—

पहले जो कहा गया है कि प्राण ब्रह्म है, उसका आक्षेप (निन्दा-निषेध) किया
जाता है कि प्राण शब्द का अर्थ परब्रह्म नहीं है, क्योंकि वक्ता के आत्मा का उपदेश
है । यहाँ इन्द्र नाम से प्रसिद्ध शरीरधारी कोई देवता विशेष रूप वक्ता ने प्रतर्दन के प्रति
अपने आत्मा को जानने के लिए कहा कि (मुझे ही जानो) और इस प्रकार उपक्रम
करके वह (मैं) इस प्रकार के अहंकार का कथनपूर्वक कहा गया कि (मैं ही प्राण हूँ,
प्रज्ञात्मा हूँ) तो इस प्रकार वक्ता इन्द्र का आत्मा रूप कहा गया प्राण ब्रह्म कर्म ही
सकता है, और ब्रह्म को वक्तृत्व भी नहीं सम्भव है, क्योंकि (अवागमना) वाग् अन-
रहित है, इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं । एव ब्रह्म में अगम्यव देह सम्बन्धी धर्म द्वारा
ही इन्द्र ने अपनी स्तुति की है कि (मैंने तीन शिर वाले त्वष्टा के पुत्र को मार
डाला और सर्पशास्त्र के अप्ययनादि ने रहित यतियों को मारकर जगली कुत्तों को द-
दिया) इत्यादि । बली होने से इन्द्र को प्राणता सिद्ध होती है (प्राण ही बल है) ऐसा
समझा जाता है, और बल का देवता इन्द्र प्रसिद्ध है । लोक में जिस किसी ने बल का
काम किया है वह इन्द्र का ही कर्म है इस प्रकार लोग कहते हैं । और अप्रतिहृत ज्ञान

१ ‘काचन’—‘पठन्ति इति प्रा० मु० पू० पाठ रत्नप्रभाकाराणां सम्मतो बोध्यः ।

होने से प्रज्ञात्मत्व भी देवतात्मा को सम्भव है । क्योंकि अप्रतिहत ज्ञान वाला देव होता है ऐसा लोग कहते हैं । इस प्रकार देवात्मा के उपदेश निश्चित होने पर, हिततमत्वादि वचनों को भी सम्भव के अनुसार देवविषयक सम्बाध योजना करना ही युक्त है । जिससे वक्ता इन्द्र के आत्मा के उपदेश होने से प्राण ब्रह्म नहीं है, इस प्रकार आक्षेप करके सिद्धान्त का समर्थन रूप प्रतिसमाधान किया जाता है ।

‘अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्’ इति । अध्यात्मसम्बन्धः प्रत्यगात्मसम्बन्धस्तस्य भूमा बाहुल्यमस्मिन्नध्याय उपलभ्यते । ‘यावद्व्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः’ इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः प्रत्यग्भूतस्यायुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति, न देवताविशेषस्य पराचीनस्य । तथास्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमित्यध्यात्ममेवेन्द्रियाश्रयं प्राणं दर्शयति । तथा ‘प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति’ (कौ० ३।३) इति, ‘न वाचं विजिज्ञासीत वक्तरं विद्यात्’ इति चोपक्रम्य ‘तद्यथा रथस्यारपु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणैर्जर्पिताः’ ‘स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः’ इति विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति । ‘स म आत्मेति विद्यात्’ इति चोपसंहारः प्रत्यगात्मपरिग्रहे साधुर्न पराचीनपरिग्रहे । ‘अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः’ (बृह० २।५।१९) इति च श्रुत्यन्तरम् ; तस्मादध्यात्मसम्बन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायं न देवता-त्मोपदेशः ॥ २९ ॥

इस अध्याय में अध्यात्म सम्बन्ध की बहुलता उपलब्ध होती है अर्थात् देह में प्राप्त अन्तरात्मा सम्बन्धी धर्मों का बहुत उपलब्ध (ज्ञान) इस अध्याय में होता है, जैसे कि (जब तक इस शरीर में प्राण वसता है तब तक आयु (जीवन) है) यहाँ प्रत्यक् स्वरूप प्रज्ञात्मा प्राण की आयु प्रदान और उपसंहार (मृत्यु) में स्वतन्त्रता श्रुति दिखलाती है, बाह्य देवता विशेष की स्वतन्त्रता नहीं दिखलाती है । इसी प्रकार प्राण के रहने ही पर निःश्रेयस (इन्द्रियों की स्थिति रूप कल्याण) होता है, इस रीति से इन्द्रियों के आश्रय अध्यात्म प्राण को ही दिखलाती है । एवं प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को ग्रहण करके उठाता है । वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे वक्ता को समझे । यह आरम्भ करके कहा गया है कि (लोक में जैसे रथ के आरो में नेमी अर्पित (प्रोत) स्थित रहती है और नाभी में आरा अर्पित रहते हैं) इसी प्रकार भूत मात्रा (शब्दादि विषय और उनके आश्रय पाँचों भूत) प्रज्ञामात्रा (इन्द्रियों) में अर्पित हैं और प्रज्ञा मात्रा प्राण में अर्पित है । इसलिये यह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द अजर अमृत है) इस प्रकार विषय इन्द्रिय के व्यवहारों से अनभिभूत सर्वाश्रय आनन्दादि स्वरूप प्रत्यगात्मा का ही श्रुति अन्त में उपसंहार करती है । और (वह प्राण मेरा आत्मा है) यह भी उपसंहार प्रत्यगात्मा के परिग्रहण करने पर संगत ठीक

होगा, बाह्य वस्तु के ग्रहण करने पर नहीं (यह आत्मा ब्रह्म है, सबका अनुभवकर्ता है) इस प्रकार दूसरी श्रुति भी कहती है । जिससे अध्यात्मसम्बन्ध की बहुलता से यह ब्रह्मोपदेश ही देवतात्मा का उपदेश नहीं है ॥ २९ ॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेश ?

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

उक्तार्थ में शङ्का होती है कि यदि प्रतर्दन के प्रति इन्द्रदेव ने उक्त रीति से ब्रह्म का ही उपदेश दिया है, तो वक्ता इन्द्र ने अपनी आत्मा का उपदेश कैसे किया है कि (मामेव विजानीहि) मुझे ही जानो, तब कहा जाता है कि—‘शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्’ ।

इन्द्रो नाम देवतात्मा स्वमात्मान परमात्मत्वेनाहमव पर ब्रह्मोत्पार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्र पश्यन्नुपदिशति स्म—‘मामेव विजानीहि’ इति । यथा तद्धेत-
त्पश्यन्नुपिर्वामदेव प्रतिपेदेऽहं मनुर्भव सूर्यश्च इति तद्वत्, ‘तद्यो यो देवानां प्रत्यवुध्यन् स एव तदभवत्’ (वृ० १।४।१०) इति श्रुते । यत्पुनरुक्त—‘मामेव विजानीहि’ इत्युक्त्वा विप्रग्रहमेरिन्द्र आत्मानं तुष्टाव त्वाष्ट्रवधादिभिरिति—
तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—न त्वाष्ट्रवधादीनां विज्ञेयेन्द्रस्तुत्यर्थत्वेनोपन्यास-
यस्मादेवकर्माह तस्मान्मा विजानीहि इति, कथं तर्हि ? विज्ञानस्तुत्यर्थत्वेन ।
यत्कारणं त्वाष्ट्रवधादीनां भाहसान्युपन्यस्य परेण विज्ञानस्तुतिमनुसन्दधाति—
‘तस्य मे तत्र लोमं च न मीयते स यो मा वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते’ इत्यादिना । एतदुक्तं भवति—यस्मादीदृशान्यपि ऋणाणि कर्माणि कृत्वतो मम ब्रह्मभूतस्य लोमापि न हिंस्यते, स योज्ञ्योऽपि मा वेद न तस्य केनचिदपि कर्मणा लोको हिंस्यत इति । विज्ञेयं तु ब्रह्मैव ‘प्राणो-
ऽस्मि प्रज्ञात्मा’ इति वक्ष्यमाणम् । तस्मात् ब्रह्मवाक्यमेतत् ॥ ३० ॥

इन्द्र नाम से प्रसिद्ध देवतात्मा ने अपनी आत्मा (स्वरूप) को आर्ष (जन्मान्तरीय श्रवणादि सस्कारज) दर्शन (ज्ञान) से शास्त्र के अनुसार में ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार परमात्म स्वरूप से देखते हुए प्रतर्दन के प्रति आत्मदृष्टि से ही उपदेश दिया कि मेरे सत्य प्रत्यगात्मा को समझो कि जो परमात्म स्वरूप है । जिसे कि उस ब्रह्मात्मा को अपरोक्षान्तर स्वरूप से देखते हुए वामदेव ऋषि ने समझा, इस अनुभव को प्राप्त किया कि ‘मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ’ (अर्थात् अपने को सर्वात्म स्वरूप समझा) वैसे-ही समझ कर इन्द्र ने उपदेश दिया क्योंकि श्रुति कहती है कि (देवताओं में जिस-जिस देव ने उस ब्रह्म को समझा वह अवश्य उस ब्रह्म का रूप हो गया) और जो पहले कहा था कि (मुझे ही जानो, ऐसा कहकर इन्द्र ने देह के धर्म त्वाष्ट्र (विश्वरूप) के वधादि द्वारा अपनी आप स्तुति (प्रशंसा) की है, उसका परिहार करना चाहिये)

यहाँ कहा जाता है कि त्वाष्ट्रवधादि का कथन विज्ञेय (जानने योग्य) इन्द्र की स्तुति के लिये नहीं है, अर्थात् उसका यह तात्पर्य नहीं है कि जिससे मैं इस प्रकार के कर्मों को करने वाला हूँ इससे मुझे समझो । यदि कहो कि उसका क्या तात्पर्य है ? तो सुनो, उस त्वष्टृपुत्रवधादि का कथन विज्ञान की स्तुति के लिए है, जिस कारण से त्वाष्ट्रवधादि रूप साहसों (दुष्कर कर्मों) का कथन करके वहाँ के आगे के वाक्य से विज्ञान की स्तुति का ही अनुसन्धान (सम्बन्ध) किया गया है कि (उस मुझ साहसी का वहाँ एक लोम भी नहीं हिंसित हुआ) जो कोई मुझे जानता है आत्मानुमवी होता है उसके भी किसी कर्म से लोक (मोक्ष) नहीं हिंसित होता इत्यादि । इससे यह साफ कहा गया है कि जिस कारण से इस प्रकार के क्रूर कर्मों को करने वाला होने पर भी ब्रह्म स्वरूप होने से मेरा एक लोम भी नहीं हिंसित होता है, इसी प्रकार जो अन्य कोई भी मुझे समझता है उसके भी किसी कर्म से लोक हिंसित नहीं होता है । ज्ञान की स्तुति होते भी विज्ञेय (जानने योग्य) ब्रह्मा ही है, क्योंकि (मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ) इस प्रकार वक्ष्यमाण (आगे का वाक्य है, जिससे यह ब्रह्मबोधक वाक्य है ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्या-

दाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

‘जीवमुख्यप्राणलिगात्-न-इति-चेत्-न-उपासात्रैविध्यात्-आश्रितत्वात्-इह-तद्यो-गान्’ । ये नौ पद इस सूत्र में हैं । संक्षिप्तार्थ है कि (जीवस्य मुख्यप्राणस्य च लिगात्-लिङ्गस्य सत्त्वान्न केवलब्रह्मपदमिदं वाक्यं भवितुमर्हतीति कश्चिद् यद्याह, तन्न युक्तं तथासति ह्युपासनायास्त्रैविध्यप्रसंगात्, श्रुत्यन्तरे ब्रह्मलिङ्गवशात्प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वस्वीकारादिहापि च ब्रह्मलिङ्गयोगाद्, ब्रह्मपरत्वमेव वाक्यस्येति) जीव और मुख्य प्राण के भी लिङ्ग रहने से यह वाक्य केवल ब्रह्मपरक नहीं हो सकता है । यदि इस प्रकार कोई कहे तो वह कहना उचित नहीं है, क्योंकि केवल ब्रह्मपरक वाक्य को नहीं मानने पर त्रिविध उपासना की प्राप्ति से वाक्यभेद को प्राप्ति होगी । वाक्य एक है, और दूसरी श्रुति में ब्रह्म के लिङ्ग से प्राण शब्द को ब्रह्मपरक माना गया है, एवं यहाँ भी ब्रह्म के लिङ्ग का संबन्ध है, इससे जीव प्राण वाच्य शब्द भी ब्रह्मपरक है ।

यद्यप्यध्यात्मसम्बन्धभूमदर्शनाच्च पराचीनस्य देवतात्मन उपदेशः, तथापि न ब्रह्मवाक्यं भवितुमर्हति । कुतः ? जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च । जीवस्य तावदस्मिन् वाक्ये विस्पष्टं लिङ्गमुपलभ्यते—‘न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्’ इत्यादि । अत्र हि वागादिभिः करणैर्व्यापृतस्य कार्यकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते । तथा मुख्यप्राणलिङ्गमपि—‘अथ खलु प्राण एव प्रजात्मैदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति’ इति । शरीरधारणं च मुख्यप्राणस्य

धर्म । प्राणसवादे वागादीन् प्राणान् प्रकृत्य—‘तान् वरिष्ठ प्राणउवाच मा मोह-
मापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्येतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामि’ (प्र० २।३)
इति श्रवणात् । ये तु ‘इमं शरीरं परिगृह्य’ इति पठन्ति तेषामियं जीवमिन्द्रि-
यग्रामं वा परिगृह्य शरीरमुत्थापयतीति व्याख्येयम् । प्रज्ञात्मत्वमपि जीव
तावच्चेतनत्वादुपपन्नम् । मुख्येऽपि प्राणे प्रज्ञासाधनप्राणान्तराश्रयत्वादुपपन्न-
मेव । जीवमुख्यप्राणपरिग्रहे च प्राणप्रज्ञात्मनो सहवृत्तित्वेनाभेदनिर्देश-
स्वरूपेण च भेदनिर्देश इत्युभयथा निर्देश उपपद्यते—‘यो वै प्राण सा प्रज्ञा
या वै प्रज्ञा स प्राण’ इति ‘महं ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः स होत्क्रामत’ इति ।
ब्रह्मपरिग्रहे तु किं कस्माद्विद्यत । तस्मादिह जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर उभौ वा
प्रतीयेयाता न ब्रह्मेति चेत् ? नैतदेवम्, उपामात्रैर्विध्यात् । एव मति त्रिविध-
मुपामन प्रमज्येत जीवोपामन मुख्यप्राणोपामन ब्रह्मोपामन चेति । न चैतदेक-
स्मिन् वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम् । उपक्रमोपमहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते ।
‘मामेव विजानीहि’ इत्युपक्रम्य प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा त मामायुरमृतमित्युपाम्ब-
इत्युपान्वान्ते ‘स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृत’ इत्येकरूपगद्गुप-
क्रमोपमहारी दृश्येते । तथार्थैकत्व युक्तमाश्रयितुम् । न च ब्रह्मलिङ्गमन्यपरत्वेन
परिणेतुं शक्यम्, दशाना भूतमात्राणां प्रज्ञामात्राणां च ब्रह्मणोऽन्यत्रार्पणानु-
पपत्तेः । आश्रितत्वाच्च, अन्यत्रापि ब्रह्मलिङ्गवशात् प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रवृत्तः ।
इहापि च हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगाद्ब्रह्मोपदेश एवायमिति गम्यते यत्तु
मुख्यप्राणलिङ्गं दर्शितम्—‘इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति’ इति । तदमत्
प्राणव्यापारस्यापि परमात्मायत्तत्वात् परमात्मन्युपचरितुं शक्यत्वात्,—

अध्यात्म सम्बन्ध का बहुलता के देखने से यद्यपि बाह्य देवतात्मा का उद्देश्य
नहीं है, तो भी ब्रह्म वाक्य होने योग्य नहीं है । क्योंकि जीव का लिङ्ग है, और
मुख्य प्राण का भी लिङ्ग है (वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे किन्तु वक्ता को
समझे) इत्यादि कथन रूप जीव का अतिस्पष्ट लिङ्ग इस वाक्य में प्रथम उपलब्ध
होता है । क्योंकि यहाँ वागादि इन्द्रियो द्वारा व्यापार करने वाले शरीरेन्द्रिय के
अध्यक्ष जीव को ज्ञेयत्व कहा जाना है । इसी प्रकार (निश्चित यह प्रज्ञात्मा प्राण ही
इस शरीर को धर कर उठाता है) यह मुख्य प्राण का लिङ्ग भी है । क्योंकि शरीर
का धारण करना मुख्य प्राण का धर्म है । प्राण के सम्बन्ध में वागादि रूप प्राण
(इन्द्रियो) का प्रसंग करके कि सब इन्द्रियाँ कहने लगी कि मैं ही श्रेष्ठ हूँ और
निर्णय के लिए प्रजापति के पास गई, प्रजापति बोले कि जिसके निकलने से शरीर
अत्यन्त अमङ्गल रूप हो वह तुममें श्रेष्ठ है, अन्य के निकलने से शरीर बँसा नहीं

१ यद्यपि प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति की कथा नहीं है, तथापि बृहदा० ६।१ में है,
और सब श्रुतियों का सम्बन्ध है इसलिए ऐसा लिखा गया है ।

हुआ, और मुख्य प्राण जब निकालना चाहता तभी सब इन्द्रियाँ व्याकुल हो गई (तब मुख्य सर्वश्रेष्ठ प्राण ने उनसे कहा कि मोह को नहीं प्राप्त होओ, मैं ही अपनी आत्मा को पाँच रूप से विभक्त करके इस कार्य को करता हूँ कि इस प्राण (गमनशील) शरीर को आश्रयण करके इसको धरता हूँ । जो कोई (इमं शरीरं परिगृह्य) इस प्रकार श्रुति को पढ़ते हैं, उनके मत में (इस जीव को वा इन्द्रिय समूह को आश्रयण करके शरीर को उठाता हूँ) इस प्रकार व्याख्यान होगा । और जीव के चेतन होने से उसमें प्रज्ञात्मत्व मुख्य रूप से सिद्ध होता है । मुख्यप्राण में (प्रज्ञा) ज्ञान के साधन अन्य इन्द्रियों के आश्रय होने से प्रज्ञात्मत्व सिद्ध होता ही है । जीव तथा मुख्य प्राण दोनों के ग्रहण करने पर इन दोनों की सहवृत्तता से अभेद का कथन भी युक्त होता है, और स्वरूप से भेद का कथन भी युक्त होता है । जैसे कि (जो ही प्रज्ञा है वही प्राण है, और जोही प्राण हो वही प्रज्ञा है) यह अभेद कथन है । और (ये प्राण और प्रज्ञा दोनों इस शरीर में साथ बसते हैं, साथ निकलते हैं) यह भेद कथन है । यदि यहाँ ब्रह्म का सर्वथा ग्रहण हो तो कौन किससे भिन्न होगा जिससे यहाँ जीव और मुख्यप्राण में से एक या दोनों ज्ञेय प्रतीति के विषय हो सकते हैं, ब्रह्म नहीं । इस प्रकार यदि कोई कहे, तो कहना चाहिये कि यह उपदेश का तत्त्व इस प्रकार ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उपासात्रैविध्यप्रसङ्गात्, वाक्यभेदापत्तिरित्यादि । अर्थात् जीव और मुख्य प्राण के लिङ्ग रहने से जीव और मुख्य प्राण को उपास्यादि रूप ज्ञेय मानने पर ब्रह्म का भी लिङ्ग है ही इससे तीनों की त्रिविध उपासना की प्राप्ति होगी, कि जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना इस वाक्य में विहित है, यह त्रैविध्य इस एक वाक्य में मानना उचित नहीं है । क्योंकि यहाँ उपक्रम और उपसंहार (आरम्भ और समाप्ति) से एकवाक्यता (एकार्थ प्रतिपादकता) प्रतीत होती है (मुझे ही जानो) इस प्रकार उपक्रम करके (मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ, मुझे आयु अमृत रूप से चिन्तन करो) इस प्रकार कहकर अन्त में कहा कि (यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है; आनन्द अजर अमृत है) इस रीति से एक रूप ही उपक्रम और उपसंहार देखे जाते हैं । वहाँ अर्थ की एकता भी मानने योग्य है । और प्रधान स्वरूप ब्रह्म के लिङ्ग को अन्यपरत्वेन (अन्यार्थसम्बन्धित्वरूप से) प्राप्त नहीं करा सकते हैं । क्योंकि पाँच भूत और पाँच विषयरूप स्थूल सूक्ष्म दश भूत मात्राओं का तथा उनके वृत्ति ज्ञान रूप दश प्रज्ञा मात्राओं का ब्रह्म से अन्य में अर्पण नहीं वन सकता है । ब्रह्म लिङ्ग के बल से प्राण शब्द की ब्रह्म में प्रवृत्ति का तो अन्यत्र भी आश्रयण (स्वीकार) किया गया है । यहाँ भी हिततम (अत्यन्त हित) का कथनादि रूप लिङ्ग के सम्बन्ध से यह ब्रह्म का ही उपदेश है ऐसा समझा जाता है । और जो मुख्य प्राण का लिङ्ग दिखलाया है कि—इस शरीर को ग्रहण करके उठाता है, यह मुख्यप्राण का लिङ्ग है, वह असत् है—ठीक नहीं है । क्योंकि प्राण का

व्यापार भी परमात्मा के अधीन है, इससे परमात्मा में भी शरीरोत्थापन का गौण व्यवहार किया जा सकता है ।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥

(काठ० २५।५) इति श्रुते । यदपि 'न वाच विजिज्ञासीत वक्ता विद्यात्' इत्यादि जीवलिङ्ग दर्शितम्, तदपि न ब्रह्मपक्षे निवारयति, नहि 'जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्माण 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । बुद्ध्यानुपाधिकृत तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव सन् जीव कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते । तस्योपाधिकृतविशेषपरित्यागेन स्वरूप ब्रह्म प्रदर्शयितुं 'न वाच विजिज्ञासीत वक्ता विद्यात्' इत्यादिना प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थमुपदेशो न विरुध्यते । 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युच्यते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपामते' (क० १।४) इत्यादि च श्रुत्यन्तरं वचनादिक्रियाव्यापृतस्यैवात्मनो ब्रह्मत्व दर्शयति । यत्पुनरेतदुक्तम्—'सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामत' इति प्राणप्रज्ञात्मनोर्भेददर्शनं ब्रह्मवादे नोपपद्यत इति । नैव दोषः । ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयाश्रयोर्बुद्धिप्राणयोः प्रत्यगात्माभाधिमूतयोर्भेदनिर्देशोपपत्तेः । उपाधिरूपोपहितस्य तु प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेत्येकीकरणमविरुद्धम् ।

श्रुति कहती है कि (कोई मनुष्य प्राण वा अपान से नहीं जीवित रहता है, किन्तु इनसे इतर (भिन्न) ब्रह्मात्मा से सब प्राणी जीते हैं कि जिस ब्रह्म के आश्रित ही ये प्राणपान भी रहते हैं । और जो जीव का लिंग दिखलाया है कि (वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे, वक्ता को समझे) यह जीव का लिंग है । वह लिंग भी ब्रह्मपक्ष का निवारण नहीं करता है, क्योंकि (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि जीव नाम से प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं है, किन्तु बुद्धि आदि रूप उपाधि से अन्य विशेषाभिध्यक्ति आदि का आश्रयण करके ब्रह्म ही होना हुआ कर्ता और भोक्ता जीव कहा जाता है । उसके उपाधिकृत विशेष (भेद) को त्यागकर ब्रह्मस्वरूप दिखलाने के लिये (वाक् को जानने की इच्छा नहीं करे, वक्ता को समझे) इत्यादि वाक्यों से अन्तरात्मा के अविमुख करने के लिये यह उपदेश है, वह भी विरुद्ध नहीं होता है । क्योंकि (जो वाक् ने नहीं कहा जाता है, जिसमें वाक् कही जाती है, उसी ब्रह्म को तुम जानो, जिसकी इदं रूप से उपासना की जाती है उसे ब्रह्म नहीं जानो (इत्यादि अन्य श्रुतियाँ वचनादि क्रिया से रहित ही आत्मा की ब्रह्मरूपता बताती हैं । और जो यह कहा या कि—(ये जीवात्मा और मुख्यप्राण साथ ही इस शरीर में बसते हैं, साथ ही निकलते हैं) इस प्रकार प्राण और प्रज्ञात्मा का भेदप्रदर्शन

ब्रह्मवाद में नहीं बन सकेगा । तो वह दोष भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति के आश्रय जो बुद्धि और प्राण प्रत्यगात्मा के उपाधि स्वरूप हैं, उनके भेद का कथन बनता है । और दोनों उपाधियों से उपहित (युक्त) जो अन्तरात्मा है उसको स्वरूप से एकता है इससे (प्राण ही प्रज्ञात्मा है) इस प्रकार एक निश्चय करना भी अविरोध है ।

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' इत्यस्यायमन्योऽर्थः— न ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते । कथम् ? उपासात्रैविध्यात् । त्रिविधमिह ब्रह्मोपासनं विवक्षितं प्राणधर्मेण प्रज्ञाधर्मेण स्वधर्मेण च । तत्र 'आयुरमृतमुपास्स्वायुः' प्राणः' इति, 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' इति, 'तस्मादेतदेवोक्तमुपासीत' इति च प्राणधर्मः । 'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इत्युपक्रम्य 'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्राः प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यादिः प्रज्ञाधर्मः । 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं, दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्, यद्वि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युः, यद्वि प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः, न ह्यन्यतरतो रूपं किञ्चन सिद्ध्येत्, नो एतन्नाना । 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वपि ताः प्रज्ञामात्राः प्राणेर्ऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्यादिर्ब्रह्मधर्मः । तस्माद्ब्रह्मण एवैतदुपाधिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितम् । अन्यत्रापि 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१।४।२) इत्यादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मण उपासनमाश्रितम्, इहापि तद्युज्यते वाक्यस्योपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थत्वावगमात् प्राणप्रज्ञाब्रह्मलिङ्गावगमाच्च । तस्माद्ब्रह्मवाक्यमेतदिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अथवा 'नोपासात्रैविध्यादित्यादि, सूत्रांश का यह वक्ष्यमाण अन्य अर्थ है कि ब्रह्मवाक्य में भी जीव और मुख्य प्राण का लिङ्ग विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि ब्रह्म की एक ही उपासना के त्रैविध्य हैं । यहाँ तीन प्रकार की ब्रह्मोपासना विवक्षित है, एक प्राणधर्म द्वारा दूसरा प्रज्ञाधर्म द्वारा तीसरा ब्रह्म का स्वकीय धर्म द्वारा विवक्षित है । द्वार में भेद है उपास्य ब्रह्म है । इससे वाक्यभेद दोष नहीं है । वहाँ (आयु अमृत की उपासना करो, आयु प्राण है) यह, और (इस शरीर का आश्रयण करके इसे उठाता है) यह तथा (शरीर को प्राण उठाता है, जिससे इसी को उक्त समझ कर

उपासना करे) ये सब प्राण के धर्म हैं । (अथ) बुद्धि प्राण की साथ स्थिति और उत्क्रम के बाद में जिस प्रकार इस प्रज्ञा (बुद्धि) के सम्बन्धी सब भूत एक हो जाते हैं, उसके आत्मा हो जाते हैं, यह व्याख्यान करेंगे, इस प्रकार आरम्भ करके कहा है कि (नाम और रूपात्मक इस बुद्धि के एक अंग को वाक् पूरण किया, अर्थात् वाग् द्वारा नामविषयक बुद्धि हुई । और उस बुद्धि का ही प्रसिद्ध अंगरूप चक्षु द्वारा दृष्टादिभूतमात्रा रूपादि पीछे अर्द्धांग रूप प्रतिविहित (ज्ञापित-मिथ) हुए । इस प्रकार नामरूपात्मक बुद्धि के दोनों अंग के मिथ होने पर, जीवात्मारूप पुरुषप्रज्ञा (बुद्धि) द्वारा वागिन्द्रिय पर आरुढ़ होकर वाक् द्वारा सब नामों को प्राप्त करता है । इसी प्रकार नेत्रादि द्वारा रूपादि को प्राप्त करता है, वह सब बुद्धियुक्त जीव के धर्म हैं । और वे पूर्व वर्णित दस ही भूतमाना हैं, वह प्रज्ञा (इन्द्रियजन्य ज्ञान) में स्थिर हैं, इन्द्रियो से समझी जाते हैं, और दस प्रज्ञा मात्र (इन्द्रिय और तज्जन्य वृत्ति) भूतमात्राओं में स्थिर हैं, क्योंकि यदि भूतमात्रा न हों तो प्रज्ञामात्रा नहीं हो सकते हैं, और यदि प्रज्ञामात्रा न हों तो भूतमात्रा भी नहीं हो सकते, क्योंकि अन्यतर (दोनों में से एक) से कोई रूप नहीं सिद्ध हो सकता है । अर्थात् ग्राह्य विषय से ग्राह्य का स्वरूप नहीं सिद्ध होता है, किन्तु ग्राहक इन्द्रिय से उसका स्वरूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार ग्राहक भी विषयकी अपेक्षा जिना नहीं सिद्ध होता है, इस प्रकार परस्पर सापेक्ष होने से ये ग्राह्यग्राहक (भूतेन्द्रियादि) गाना (भिन्न) नहीं हैं और जन्म रथ के आरो में नेमी प्राप्त रहती है, नाभि में आरा स्थिर रहता है, इसी प्रकार ये भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा में रहते हैं, प्रज्ञामात्रा प्राण में रहता है, और यह प्राण ब्रह्म ही प्रज्ञान्मा है, अर्थात् विषयेन्द्रिय बुद्धि आदि सब में आत्मा की ही सत्ता है, इत्यादि ब्रह्म धर्म हैं, जिससे ब्रह्म का ही उपाधि रूप बुद्धि और प्राण के धर्म द्वारा और स्वधर्म द्वारा एक ही उपासना तीनों प्रकार से विवक्षित है । अन्यत्र भी 'मनोमय प्राणशरीर' इत्यादि, वाक्यों में मन प्राण उपाधि के धर्म द्वारा ब्रह्म की उपासना मानी गई है कि ब्रह्मात्मा मनोमय है, प्राण रूप शरीर वाला है इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये इत्यादि । इससे जीवोपाधि द्वारा चिन्तन सिद्ध होता है, यहाँ भी वह अन्य धर्म द्वारा उपासनायुक्त हो सकती है, क्योंकि वाक्यके उपक्रम और उपसंहार से एकाग्रता का ज्ञान होता है, और प्राण प्रज्ञा तथा ब्रह्म के धर्मों का भी ज्ञान होता है । जिससे यह ब्रह्म का बोधक वाक्य है, यह सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार प्रथमाध्याय प्रथम पाद का अनुवाद समाप्त हुआ ।

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तवाक्यानामुपास्यब्रह्मविषयाणां विचारः]

सर्वत्र प्रसिद्धयधिकरण (१)

मनोमयोऽयं शारीर ईशो वा प्राणमानसे ।

हृदयस्थित्यणीयस्त्वे जीवे स्युस्तेन जीवगाः ॥ १ ॥

शमवाक्यगतं ब्रह्म तद्वितादिरपेक्षते ।

प्राणादियागश्चिन्तार्थश्चिन्त्यं ब्रह्म प्रसिद्धितः ॥ २ ॥

प्रथमे पादे 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याकाशादेः समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्युक्तम् । तस्य समस्तजगत्कारणस्य ब्रह्मणो व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं सर्वात्मकत्वमित्येवंजातीयका धर्मा उक्ता एव भवन्ति । अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषाञ्चिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सन्दिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि । पुनरप्यन्यानि वाक्यान्वयस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सन्दिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किञ्चिदिति तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारम्भेते ।

इस समन्वयाध्याय के प्रथम पाद में (जन्माद्यस्य यतः) इस सूत्र से आकाशादि सम्पूर्ण जगत् का कारण रूप ब्रह्म है यह कहा गया है, और उस समस्त जगत् के कारण रूप ब्रह्म के व्यापकत्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वात्मकत्व इस प्रकार के सभी जातीय धर्म उक्त हो जाते हैं । अर्थात् जिन गुणादिकों के बिना ईश्वरत्व नहीं सिद्ध हो सकता है, उनका कथन निरपेक्ष ईश्वर के कथन से ही समझना चाहिये । ब्रह्म से अन्यार्थ में प्रसिद्ध कितने शब्दों को ब्रह्मविषयत्व (वाचकत्व) में हेतुओं के प्रतिपादन द्वारा स्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग वाले सन्देह के विषय कितने वाक्य ब्रह्म के प्रतिपादक रूप से निर्णीत किये गये हैं । फिर अस्पष्ट लिङ्ग वाले अन्य वाक्य सन्देह के विषय संदिग्ध हैं कि ये वाक्य परब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, अथवा किसी दूसरे अर्थ का । उनके निर्णय के लिये दूसरे और तीसरे पाद का आरम्भ किया जाता है ।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

संक्षिप्तार्थ यह है कि (सर्वेषु वेदान्तेषु जगत्कारणत्वेनोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वादिना च प्रसिद्धस्य ब्रह्मणः (तज्जलानुपासीत) इत्युपास्यत्वेनोपदेशान्मनोमय इत्यादिशब्देन ब्रह्मैवावगन्तव्यमिति) सब वेदान्त में जगत् के कारण उपास्यत्व, ज्ञेयत्वादि रूप से प्रसिद्ध ब्रह्म की ही उत्पत्ति-स्थिति-लयाधार रूप से उपासना करे ऐसा कहा गया है ।

यहाँ उपास्य रूप से उपदेश है, इसलिए उस प्रकरण में स्थित मनोमयादि शब्द से भी ब्रह्म को ही समझना चाहिये ।

इदमाम्नायते—‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तं उपासीत, अथ खलु क्रतुमयं पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेत प्रेत्य भवति स क्रतु कुर्वीत, मनोमयं प्राणशरीरो भारूपः’ (छा० ३।१४।१, २) इत्यादि । तत्र सशयं किमिह मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शरीर आत्मोपास्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्वित्परं ब्रह्मेति । किं तावत्प्राप्तम् ? शरीर इति । कुत ? तस्य हि कार्यकरणाधिपते प्रमिद्धो मन आदिभिः सम्बन्धो न परस्य ब्रह्मण ‘अप्राणो ह्यमना शुभ्रः’ (मु० २।१।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ननु ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ इति स्वशब्देनैव ब्रह्मोपात्तं कथमिह शरीर आत्मोपास्य आगच्छयते । नैव दोषः । नेदं वाक्यं ब्रह्मोपासनाविधिपरम्, किं तर्हि ? शमविधिपरम् । यत्कारणं ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तं उपासीत’ इत्याह । एतदुक्तं भवति—यस्मात्सर्वमिदं विकारजातं ब्रह्मेव, तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वाच्च । न च सर्वम्येकात्मने रागादयः सभवन्ति, तस्माच्छान्तं उपासीतेति । न च शमविधिपरत्वे सत्यनेन वाक्येन ब्रह्मोपासनं नियन्तुं शक्यते, उपासनं तु ‘स क्रतुः कुर्वीत’ इत्यनेन विधीयते । क्रतुः सङ्कल्पो ध्यानमित्यर्थः । तस्य च विषयत्वेन श्रूयते—‘मनोमयं प्राणशरीरं’ इति जीवलिङ्गम् । अतो ब्रूमो जीवविषयमेतदुपासनमिति । ‘सर्वकर्म’ ‘सर्वकाम’ इत्याद्यपि श्रूयमाणं पर्यायेण जीवविषयमुपपद्यते । ‘एष स आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्नीहेर्वा यवाद्वा’ इति च हृदयायतनत्वमणीयस्त्वच्चाराम्नायस्य जीवस्यावकल्पते नापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः । ननु ‘ज्यायान्पृथिव्या’ इत्याद्यपि न परिच्छिन्नेष्ववकल्पत इति । अत्र ब्रूम—न तावदणीयस्त्वज्यायस्त्वचोभयमेकस्मिन्समाश्रयितुं शक्यं विरोधात् । अन्यतराश्रयणे च प्रथमश्रुतत्वादणीयस्त्वयुक्तमाश्रयितुम् । ज्यायस्त्व तु ब्रह्माभावापेक्षया भविष्यतीति । निश्चिते च जीवविषयत्वे यदन्ते ब्रह्मसकीर्तनं ‘एतद्ब्रह्म’ (छा० ३।१४।४) इति, तदपि प्रकृतपरामर्शयित्वाज्जीवविषयमेव । तस्मान्मनोमयत्वादिभिर्धर्मैर्जीवं उपास्य इत्येव प्राप्ते ब्रूमः ।

श्रुति यह कहती है कि (यह सब जगत् निश्चित ब्रह्म स्वरूप ही है इसकी सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि ‘तज्ज’ उस ब्रह्म से जायमान है । ‘तल्ल’ उसी में लीन होता है । तदन्, उसी में चेश जीवन करता है । इससे सबको ब्रह्म भिन्न एक सत्य स्वरूप होने से भेद को वाचारम्भणमात्र होने से राग-द्वेषादि को त्याग कर शान्त होकर, उत्पत्ति आदि का हेतु रूप ब्रह्म की तज्ज, तल्ल, तदन्, इस रूप से उपासना करनी चाहिये और समझना चाहिये कि यह जीवात्मा रूप पुरुष क्रतु (सङ्कल्प-उपासन-चिन्तन) मय ही है । इससे जैसा सत्त्व वाला इस लोक और

शरीर में पुरुष रहता है, वैसा ही यहाँ से लोकान्तरादि में जाकर मरने के बाद होता है। इसलिए वह पुरुष संकल्प ध्यान करे कि ब्रह्मात्मा मनोमय प्राणरूप शरीरवाला प्रकाश स्वरूप है, इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि इस श्रुति में मनोमयत्वादि धर्म द्वाग शरीरवृत्ति जीवात्मा की उपासना का उपदेश दिया गया है, इससे जीवात्मा उपास्य है अथवा परब्रह्म की उपासना का उपदेश है, अर्थात्—ब्रह्म उपास्य रूप कहा गया है। विमर्श हुआ कि प्राप्त क्या होता है? तब पूर्वपक्ष होता है कि शरीर-वृत्ति जीवात्मा प्राप्त होता है। क्योंकि कार्यकरण (शरीरेन्द्रिय) के स्वामी उस जीव का मन आदि के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है, और (ब्रह्मात्मा प्राणरहित है, मनरहित है, दोस शुद्ध है) इत्यादि श्रुति से ब्रह्म के साथ मन आदि के सम्बन्धादि के निषेध से ब्रह्म में सम्बन्ध प्रसिद्ध नहीं है। शंका होती है कि (यह सब जगत् ब्रह्म ही है) इस प्रकार ब्रह्म अपने वाचक ब्रह्म शब्द से हो वहाँ गृहीत—‘कथित’ है, फिर भी शरीरी उपास्य है यह शंका कैसे की जाती है। वहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वाक्य उपासना की विधिपरक (उपासनाविषयक) नहीं है, तो क्या है? शमविधिपरक है। कारण यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है। ‘उत्पत्ति आदि के आधार रूप से ब्रह्म की उपासना शान्त होकर करे’ यह श्रुति कहती है। श्रुति द्वारा कहा जाता है कि यह सब विकार (कार्य) समूह ब्रह्म ही है, क्योंकि उस ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है, और उसी में जीवन व्यवहार करता है। सब का एक स्वरूप निश्चित होने पर रागादि का सम्भव नहीं हो सकता, जिससे शान्त होकर उपासना करे। इस प्रकार इस वाक्य को शमविधिपरक होने पर पुनः इससे ब्रह्मोपासना का नियम नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उपासना (वह संकल्प करे) इस वाक्य से विहित होती है। क्रतु का संकल्प = ध्यान अर्थ है, और उस ध्यान का विषय रूप से मनोमय प्राणशरीर सुना जाता है, यह जीव का लिंग है। इससे पता चलता है कि यह उपासना जीवविषयक है और (सर्वकर्म-सर्वकामः) इत्यादि भी जो सुना जाता है, वह भी अतः जन्मों के क्रम से जीव में सम्भव है। एक जन्म में नहीं कर सकने पर भी जन्म की परंपरा से सब कर्म कामादि जीव करते हैं और (यह मेरी आत्मा हृदय में है, धान वा यव से भी अति अणु (छोटा) है। यह श्रुतिवर्णित हृदयाश्रयत्व अति अल्पत्व भी आरा के अग्रमात्र स्वरूप जीव में युक्त होता है, व्यापक ब्रह्म में नहीं युक्त हो सकता है। यदि कहा जाय कि ‘पृथिवी से बहुत बड़ा है’ इत्यादि श्रुति भी परिच्छिन्न जीव में युक्त नहीं हो सकती। ऐसा होने पर यहाँ कहा जाता है कि अति अणुता और अति महत्ता के विरोध से ये दोनों धर्म एक वस्तु में नहीं रह सकते हैं। इससे परस्पर विरोधी ये धर्म एक में माने भी नहीं जा सकते हैं। इन दोनों में से एक को मानने पर प्रथम श्रुत होने से अणुता मानना उचित है, और सर्वश्रेष्ठत्व तो जीव को ब्रह्म भाव की अपेक्षा

से होगा। इस प्रकार जीवविषयकत्व वाक्य के निश्चित होने पर, जो अन्त में ब्रह्म का सङ्गीतन है कि 'एतद्ब्रह्म'—यह ब्रह्म है, वह भी पूर्व प्रकृत (प्रस्तुत) का पगमर्थ के लिए होने से जीवविषयक ही है, जिससे मनोमयत्वादि धर्मयुक्त स्वरूप से जीव ही उपास्य है। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि—

परमेव ब्रह्म मनोमयत्वादिभिर्धर्मैरुपास्यम् । कुत ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । यत्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धं ब्रह्मशब्दम्यात्मन्वन जगत्कारणम्, इह च 'सर्वं सत्त्विदं ब्रह्म' इति वाक्योपक्रमे श्रुतं तदेव मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टमुपदिश्यत इति युक्तम् । एव च प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यत । ननु वाक्योपक्रमं शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं न भविष्यत्येत्युक्तम् । अनोच्यते—यद्यपि शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं तथापि मनोमयत्वादिपूषदिश्यमानेषु तदेव ब्रह्म सन्निहितं भवति । जीवस्तु न सन्निहितो न च स्वशब्देनोपात्त इति वक्ष्यम् ॥ १ ॥

परब्रह्म ही मनोमयत्वादि धर्मयुक्त रूप से उपास्य है। क्योंकि सर्वत्र प्रसिद्ध ब्रह्म का ही उपदेश है। जो ब्रह्म शब्द का आत्मन्वन (विषय) जगत् का कारण सर्व वेदान्त में प्रसिद्ध है, और जो यहाँ भी वाक्य के आरम्भ में सुना गया है कि 'यह सर्व जगत् ब्रह्म है' वही ब्रह्म मनोमयत्वादि धर्म सहित यहाँ उपदेश का विषय है, ऐसा मानना उचित है। ऐसा मानने से प्रकृतहान और अप्रकृत की प्रक्रिया रूप दोष नहीं होंगे। यदि कहो कि वाक्य के आरम्भ में शमविधि की विवक्षा (कहने की इच्छा) से ब्रह्म निर्दिष्ट (कथित) हुआ है। ब्रह्म की विवक्षा से नहीं निर्दिष्ट हुआ है। यद्यपि शमविधि की विवक्षा से ही ब्रह्म निर्दिष्ट हुआ है, तथापि मनोमयादि के उपदेश काल में वह ब्रह्म ही सन्निहित (उपस्थित-प्राप्त) होता है, जीव न सन्निहित है, न जीव शब्द से वहाँ गृहीत है, यह जीव और ब्रह्म में यहाँ भेद है ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

वक्तुमिष्टा विवक्षिता । यद्यप्यपौरुषेय वेदे वक्तुरभावाच्चेच्छार्थं सम्भवति तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते । लोके हि यच्छब्दामिहितमुपादेयं भवति तद्विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति । तद्वद्वेदोपादेयत्वेनाभिहितं विवक्षितं भवति, इतरदविवक्षितम् । उपादानानुपादाने तु वेदवाक्यतात्पर्यातात्पर्याभ्यामवगम्येते । तदिह ये विवक्षिता गुणा उपायनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टा सत्यमङ्गल्यप्रभृतयन्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । सत्यमङ्गल्यत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते । परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्मापहृतपाप्मा' (छा० ८।३।१) इत्यत्र 'सत्यकाम सत्यसङ्कल्प' इति श्रुतम् । आकाशात्मेत्यादिनाकाशवदात्मास्येत्यर्थः । सर्वगतत्वा-

दिभिर्धर्मैः संभवत्याकाशेन साम्यं ब्रह्मणः । 'ज्यायान्पृथिव्याः' इत्यादिना चैतदेव दर्शयति । यदाप्याकाश आत्मा यस्येति व्याख्यायते, तदापि संभवति सर्व-जगत्कारणस्य सर्वात्मनो ब्रह्मण आकाशात्मत्वम्, अत एव 'सर्वकर्मा' इत्यादि । एवमिहोपास्यतया विवक्षिता गुणा ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । यत्तूक्तं 'मनोमयः प्राण-जरीरः' इति जीवल्लिङ्गं न तद्ब्रह्मण्युपपद्यत इति, तदपि ब्रह्मण्युपपद्यत इति ब्रूमः । सर्वात्मत्वाद्ब्रह्मणो जीवसम्बन्धीनि मनोमयत्वादीनि भवन्ति । तथाच ब्रह्मविषये श्रुतिस्मृती भवनः—

कहने की इच्छा के विषय जो पदार्थ हैं, जिनका कथन इष्ट हो वे पदार्थ विवक्षित कहाते हैं । वहाँ अर्पात्पेव (पुरुष से अर्चित) अनादि वेद में मूल वक्ता के अमान से इच्छार्थक सन् प्रत्यय का यद्यपि सम्भव नहीं है, तथापि उपादेय ग्राह्यगुण का उपादान (ग्रहण) रूप फल से गौण व्यवहार किया जाता है । लोक में जो शब्द से कथित अर्थ उपादेय होता है वह विवक्षित इस शब्द से और जो अनुपादेय (अग्राह्य) होता है, वह अनुपादेय कहा जाता है । ग्रहण तथा अग्रहण वेद के तात्पर्य श्रीन अतात्पर्य ने समझे जाते हैं । वैदिक शब्दों के जिस अर्थ में वेद का तात्पर्य रहता है उसका ग्रहण होता है अन्य का त्याग होता है, जिससे यहाँ जो मत्त्वसंकल्पादि विवक्षित गुण उपासना में उपादेय रूप से इष्ट हैं वे सब परब्रह्म में ही सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि नृष्टि, स्थिति और संहार में अखण्डित शक्ति होने से परमात्मा ही को सत्य संकल्पवत्त्व सिद्ध हो सकता है । परमात्मा के ही गुण रूप से (जो आत्मा पापग्रहित है) यहाँ पर भी (सत्यकाम है, सत्यसंकल्प है) यह मुना गया है । और (आकाशात्मा) इत्यादि पद से आकाशतुल्य विभु असंग इस का स्वरूप है । एवं सर्वगतत्वादि धर्मों द्वारा ब्रह्म को आकाश के साथ तुल्यता का सम्भव है । (पृथिवी से बहुत बड़ा है) इत्यादि से भी इसी सर्वगतत्वादि को श्रुति दिखलाती है, जब आकाश आत्मा है (जिसका) इस प्रकार आकाशात्मा शब्द का व्याख्यान करते हैं तब भी सब जगत् का कारण सर्वात्मा ब्रह्म को ही आकाशात्मत्व संभव है, और सर्वात्मा होने ही से ब्रह्म सर्वकर्म है इत्यादि । इस प्रकार यहाँ उपास्य रूप से विवक्षित गुण ब्रह्म में युक्त होते हैं जो पहले कहा गया था कि 'मनोमयः प्राणजरीरः' ये जीव के लिंग हैं, और ब्रह्म में सिद्ध नहीं हो सकते, वे भी ब्रह्म में उत्पन्न (युक्त होते हैं, इसलिए कहते हैं कि ब्रह्म को सर्वात्मा होने से जीवसम्बन्धी मनोमयत्वादि धर्म भी ब्रह्म के होते हैं । उसके सर्वात्मत्व के बोधक श्रुति-स्मृति वचन स्पष्ट हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।

त्वं जीर्णो दण्डेन वच्चसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः ॥

(श्वे० ४।३) इति ।

सर्वतः पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

(गा० १३।३३) इति च । 'अप्राणो ह्यमना शुभ्र' इति श्रुति शुद्ध-
ब्रह्मविषया । इयं तु 'मनोमय प्राणशरीर' इति सगुणब्रह्मविषयेति विशेषः ।
अनो विवक्षितगुणोपपत्तेः परमेव ब्रह्मोपास्यत्वेनोपदिष्टमिति गम्यते ॥ २ ॥

तुम आनन्दात्मा ही स्त्री-पुरुष शब्द का वाच्य होते हो, और कुमार-कुमारी भी
होते हो, वृद्ध होने पर तुम दण्ड के सहारे चलते हो, और जात (उत्पन्न) बालक
होने हो और सब तरफ मुँह वाला (नानावस्थायुक्त) होते हो वह ब्रह्म सर्वतो हाथ
पैर वाला सर्वतोऽक्षि शिर-मुख वाला है तथा सर्वतः श्रोत्र वाला है और लोक में सब
को आच्छादित करके स्थिर है । (अप्राणो ह्यमना शुभ्र) यह श्रुति शुद्ध ब्रह्म-
विषयक है । और (मनोमय) इत्यादि श्रुति सगुण ब्रह्मविषयक है, यह भेद
है । अतः विवक्षित गुणों की उपपत्ति से पर ब्रह्म ही यहाँ उपास्य रूप से उपदिष्ट है
यह ज्ञात और सिद्ध होता है ॥ २ ॥

अनुपपत्तैस्तु न शरीरः ॥ ॥

पूर्वण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता । अनेन तु शरीरे
तेषामनुपपत्तिरुच्यते । तुशब्दोऽवधारणार्थः । ब्रह्मोक्तेन न्यायेन मनोमयत्वा-
दिगुणः, न तु शरीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः, यत्कारणं 'सत्यसङ्कल्प आका-
शात्मा अवाकी अनादर ज्यायान् पृथिव्या' इति चैवजातीयका गुणा न शरीरे
आव्यजस्येनोपपद्यन्ते । शरीर इति शरीरे भव इत्यर्थः । नन्वीश्वरोऽपि शरीरे
भवति । सत्यम् । शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति । 'ज्यायान्पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षात्, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इति च व्यापित्वध्वननात् । जीव-
स्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥ ३ ॥

जीव के धर्मों का ब्रह्म में सर्वतमत्त्व से सम्भव है, परन्तु ब्रह्म के धर्मों का जीव
में सम्भव नहीं है, अनुपपन्न है । इस रीति से पूर्वसूत्र द्वारा ब्रह्म में विवक्षित गुणों
की सिद्धि कही गई है । इस सूत्र से उन ब्रह्म-गुणों की जीव में असिद्धि कही जाती है ।
'तु' शब्द निश्चयार्थक है । उक्त सर्वतमत्त्वादि न्याय (युक्ति) से मनोमयत्वादि गुण वाला
ब्रह्म ही है, शरीरवर्ती जीवमनोमयत्वादि गुण वाला नहीं है । क्योंकि (सत्यसङ्कल्प)
आकाशात्मत्व, वागादि इन्द्रिय रहितता, अनादर (अकामता) पृथ्वी आदि से
महत्ता । इस प्रकार के गुण सब जीव में तत्त्वतः यथार्थ रूप में नहीं सिद्ध हो
सकेंगे । शरीर उसको कहा जाता है जो शरीर में हो । यह कहो कि ईश्वर भी
शरीर में रहता है, तो वह कहना सत्य है । परन्तु शरीर ही में नहीं रहता
है, क्योंकि (पृथ्वी से बड़ा है, अन्तरिक्ष से बड़ा है, आकाश के समान सर्वगत
और नित्य है) इत्यादि वाक्यों से व्यापकत्व सुना जाता है । जीव तो शरीर में ही

रहता है, क्योंकि भोग के आश्रय शरीर से अन्यत्र उसकी वृत्ति (जीविका स्थिति) नहीं है ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

इतश्च न शारीरो मनोमयत्वादिगुणः, यस्मात्कर्मकर्तृव्यपदेशो भवति 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' (छा० ३।१।४।४) इति । एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणमुपास्यमात्मानं कर्मत्वेन प्राप्यत्वेन व्यपदिशति । अभिसंभवितास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन प्रापकत्वेन । अभिसंभवितास्मीति प्राप्तास्मीत्यर्थः । नच सत्यां गतावेकस्य कर्मकर्तृव्यपदेशो युक्तः । तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव । तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादि-विशिष्टः ॥ ४ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी जीव मनोमयादि गुण वाला नहीं है, जिससे कर्म और कर्ता का व्यपदेश (व्यवहार-कथन) होता है, कि (इस शरीर से मुक्त होकर इस सर्वात्मा को प्राप्त करूँगा) श्रुति में 'एतम्' इस पद से मनोमयादि गुण वाला उपास्य आत्मा का कर्म रूप से प्राप्यरूप से श्रुति कथन करती है, अभिसंभवितास्मि, इस पद से उपासक जीव का कर्तृत्व प्रापकत्व रूप से कथन करती है, अभिसंभवितास्मि, इसको प्राप्त करने वाला हूँ यह अर्थ है, और गति (मार्गान्तर उपास्यान्तर) के रहते एक को कर्म कर्ता का व्यवहार युक्त नहीं होता है । इसी प्रकार उपास्य उपासक भाव भी मित्राश्रय में ही रहता है, जिससे भी जो मनोमयत्वादि युक्त उपास्य नहीं है किन्तु उपासक है ॥ ४ ॥

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

इतश्च शारीरादन्यो मनोमयत्वादिगुणः, यस्माच्छब्दविशेषो भवति समान-प्रकरणे श्रुत्यन्तरे—'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाक-तण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्यमयः' (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति । शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति, तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनोमयत्वादिविशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः । तस्मात्तयोर्भेदोऽधिगम्यते ॥ ५ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी जीव से अन्य मनोमयादि गुण वाला है जिससे शब्द का (विभक्ति का) विशेष (भेद) है । इसी श्रुति के तुल्य प्रकरण वाली दूसरी श्रुति में वाक्य है कि (जैसा व्रीहि, वा यव वा श्यामाक वा श्यामाक तण्डुल हो) ऐसे यह हिरण्यमय पुरुष अन्तरात्मा में रहता है । यहाँ जीवात्मा का वाचक जो लुप्त सप्तम्यन्त 'अन्तरात्मन्' यह शब्द है, उससे विशिष्ट (भेदयुक्त) प्रथमान्त पुरुषशब्द मनोमयत्वादि युक्त आत्मा का वाचक है । जिससे दोनों शब्दों का भेद समझा जाता

है और शब्द के भेद से आधारार्थेय अर्थ का भेद सिद्ध होता है इससे जीव मनो-
मयादि से भिन्न है ॥ ५ ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेद दर्शयति—

ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽजुनः । तिष्ठति ।

आमयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(गी० १८।६१) इत्याद्या ।

अत्राह—कः पुनरयं शारीरो नाम परमात्मनोऽन्य य प्रतिपिध्यते
'अनुपपत्तस्तु न शारीर' इत्यादिना । श्रुतिस्तु—'नान्योऽनोऽस्ति द्रष्टा नान्यो-
तोऽस्ति श्रोता' (बृह० ३।७।२३) इत्येवजातीयका परमात्मनोऽन्यमात्मानं
वारयति । तथा स्मृतिरपि—

क्षेत्रज्ञ चापि मा विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । ।

(गी० १३।२) ।

इत्येवजातीयकेति ।

अत्रोच्यते मत्त्यमेवैतत् । पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परि-
च्छिद्यमानो बालः शारीर इत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरि-
च्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत् । तदपेक्षया च कर्मत्वकर्तृत्वा-
दभेदव्यवहारो न विरूप्यते प्राक् 'तत्त्वमसि' इत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणान् ।
गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिमर्बव्यवहारपरिममाप्तिरेव स्यात् ॥ ६ ॥

स्मृतिं भी जीव परमात्मा मे भेद दिखलाती है । नगवान् बहते हैं कि 'हे अजुनः ।
शरीर रूप यन्त्र पर अभिमानादि से आच्छादित (स्थिर) सब प्राणी को अपनी माया से
अमण कराता हुआ ईश्वर सब प्राणी के हृदय में स्थिर रहता है' इत्यादि स्मृति का
वचन है । यहाँ कोई शका करता है कि यह शरीर (जीव) नामक परमात्मा से अन्य
कौन है कि जिसका (अनुपपत्तस्तु न शारीर इत्यादि सूत्रों में) निषेध किया जाता है
(इस परमात्मा से अन्य द्रष्टा नहीं है, श्रोता नहीं है) इस प्रकार कहने वाली श्रुति
तो परमात्मा से अन्य आत्मा का वारण (निषेध) करती है । तथा हे भारत
(अजुनः) सब शरीरों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो । इस प्रकार की स्मृति भी भेद का
वारण करती है । यहाँ इस शका का समाधान (उत्तर) कहा जाता है कि वास्तविक
सत्यात्मा की दृष्टि से यह कहना सत्य ही है कि परमात्मा से अन्य जीव नहीं है,
तो भी परमात्मा ही देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि रूप उपाधियों से परिच्छिद्यमान
(उपहित) होकर अज्ञों से जीव कहा जाता है (मिथ्या व्यवहार किया जाता है)
जैसे घट, कमण्डलु आदि उपाधि के वश (बल) अपरिच्छिन्न भी आकाश परि-
च्छिन्न (एकदेशी-परिमित) भासता है, वैसे ही इससे (तत् त्वमसि) वह द्रष्टा

सत्यात्मा तू है, इस प्रकार आत्मा के एकत्व के उपदेश के ग्रहण से प्रथम उस औपाधिक भेद की अपेक्षा से कर्मत्व-कर्तृत्व का व्यवहार विरुद्ध नहीं होता है। आत्मा के एकत्व के ग्रहण करने पर (समझने पर) तो बन्ध-मोक्षादि सब व्यवहार समाप्त ही हो जाते हैं ॥ ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं
व्योमवच्च ॥ ७ ॥

अर्भकौकस्त्वात्-तद्व्यपदेशात्-च-न-इति-चेत्-न-निचाय्यत्वात्, एवम् व्योमवत्-च । ये ग्याह पद इस मंत्र में हैं । संक्षिप्तार्थ यह है कि (अर्भकमल्पमोकः स्थानं यस्य सः अर्भकौकस्तस्य भावोऽर्भकौकस्त्वं तस्मादल्पस्थानवत्त्वात् तस्याल्पस्थानवत्त्वस्य अल्पत्वस्य च साक्षात् कथनाच्च न ब्रह्मात्रामिधीयते, इति चेत् कश्चिद् वक्ति तन्नैव तद्व्ययम् यतः अर्भकस्थाने निचाय्यत्वात्-उपास्यत्वादुपलभ्यत्वाच्चैवं व्यपदिश्यते न स्वरूपतः । व्योमवच्चैतदौपाधिकाल्पस्थानत्वं स्वरूपेण विभुत्वमुन्नेयम्) हृदयादि अल्प स्थान वाला होने से तथा अल्प स्थानवत्त्व अल्पत्व के साक्षात्कथन से मनोममादि ब्रह्म नहीं है, किन्तु जीव है, इस प्रकार यदि कोई कहना हो तो वह नहीं कहना चाहिये । क्योंकि अल्पस्थान में उपास्य, अन्वेषणीय, प्राप्य होने से अल्पस्थान वाला अणीयान् (अति अणु) आदि ब्रह्म कहा जाता है, स्वरूप से नहीं, और आकाश के समान यह उपाधि निमित्त से अल्पदेशित्व और स्वरूप से विभुत्व समझने योग्य है ।

अर्भकमल्पमोको नीडम्, 'एष म आत्मान्तर्हृदये' इति परिच्छिन्नायतनत्वात्, स्वशब्देन च 'अणीयान्त्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यणीयस्त्वव्यपदेशात्, शारीर एवाराग्रमात्रो जीव इहोपदिश्यते, न सर्वगतः परमात्मेति यदुक्तं तत्परिहर्तव्यम् ।

यह आत्मा मेरे हृदय में है, इस प्रकार अर्भक (अल्प) आत्मा का नीड (आश्रय) श्रुत है, इससे परिच्छिन्न (अल्प) (आयतनत्व आश्रयवाला) होने से, तथा अल्पार्थ-वाचक शब्द द्वारा उपदेश होने से (यह ब्रीहि से अति अणु है वा यव से अति अणु है) इस प्रकार अणुत्व के कथन से शरीरधारी आराग्रमात्र (सूक्ष्म) जीव ही यहाँ उपदेश का विषय है, सर्वगत परमात्मा उपदेश का विषय नहीं है, यह जो प्रथम कहा गया था, उसका परिहार (निवारण) कर्तव्य है ।

अत्रोच्यते-नायं दोषः । न तावत्परिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमप्युपपद्यते, सर्वगतस्य तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्नदेशव्यपदेशोऽपि कयाचिदपेक्षया सम्भवति, यथा समस्तवसुधाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते । कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यते इति । निचाय्यत्वादेवमिति ब्रूमः । एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत

ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते । यथा शालग्रामे हरि । तत्रास्य बुद्धिविज्ञान ग्राहकम् । सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्रोपास्यमान प्रसीदति । व्योमवच्चैतद् द्रष्टव्यम् । यथा सर्वगतमपि मद् व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयाऽर्भ-
कौकोऽणीयश्च व्यपदिश्यते, एव ब्रह्मापि । तदेव निचाय्यत्वापेक्ष ब्रह्मणोऽर्भ-
कौकस्त्वमणीयस्त्व च न पारमार्थिकम् । तत्र यदाशङ्क्यते-हृदयायननत्वाद्-
ब्रह्मणो हृदयायतनाना च प्रतिशरीर भिन्नत्वाद्भिन्नायतनाना च शुकादीनामने-
कत्वसावयवत्वानित्यत्वादिदोषदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति, तदपि परि-
हृत भवति ॥ ७ ॥

इसमें यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है । पहले तो बात यह है कि परि-
च्छिन्न देश वाले एकदेशी को सर्वगतत्व व्यापकत्व का कथन किसी प्रकार नहीं बन
सकता है । और सर्वगत को तो सर्वदेश में वर्तमान रहने से परिच्छिन्न देश का कथन
भी किसी स्वरूप की अपेक्षा से हो सकता है, जैसे कि समस्त भूमि का स्वामी होता
हुआ भी अयोध्या का अधिपति कहा जाता है । यदि कहो कि फिर किस अपेक्षा से
सर्वगत होता हुआ भी ईश्वर अल्पस्थान वाला और अति अणु कहा जाता है, तो
कहते हैं कि निचाय्य (द्रष्टव्य) होने से ऐसा कहा जाता है । क्योंकि जैसे शालग्राम
शिला में हरि का उपदेश दिया जाता है, इसी प्रकार अति अणुत्वादि गुण समूहयुक्त
ईश्वर उस हृदय कमल में निचाय्य द्रष्टव्य कहा जाता है । वह हृदय में इसलिये कहा
जाता है कि जिससे उस हृदय में बुद्धि के वृत्तिरूप विज्ञान उस ईश्वर को ग्रहण-व्यक्त
करने वाला होता है । सर्वगत भी ईश्वर उस हृदय में उपासना का विषय होने पर प्रसन्न
व्यक्त होता है और इसको आकाश से समान समझना चाहिए—जैसे सर्वगत
होते हुए भी सूचीपाशादि की अपेक्षा से अल्पस्थान वाला अति अणु कहा जाता है,
इसी प्रकार ब्रह्म भी कहा जाता है । इस प्रकार द्रष्टव्यत्व ध्येयत्व की अपेक्षा से वह
ब्रह्म का अल्पस्थानत्व और अति अणुत्व है पारमार्थिक (सत्य) नहीं है । इस
प्रकार आकाशानुस्य अल्पस्थानादि के मिथ्यात्व सिद्ध होने पर, जो यहाँ शका होती
है कि ब्रह्म का हृदय आश्रय होने से एव प्रत्येक शरीर में हृदय रूप आश्रय के भिन्न
होने में तथा भिन्न आश्रय वाले शुकादि को अनेकत्व भावयवत्व अनित्यत्व दोष देखने
से ब्रह्म को भी भिन्नत्व और अनेकत्वादि दोष प्राप्त होते हैं । यह शका भी आकाश के
दृष्टान्त से ही परिहृत निवारित हो गई, क्योंकि अनेकाश्रय वाला भी आकाश वस्तुतः
भिन्नानेकादि नहीं होता है ॥ ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वेशेऽप्यात् ॥ ८ ॥

संक्षिप्तार्थ यह है कि (सर्वगतस्यापि ब्रह्मणोऽर्भकौकस्त्वे स्वीकृते तस्यापि जीववत्
सम्भोगस्य प्राप्ति स्यादिति चेन्न सप्तद्वत्वादिभिन्नमयोर्भेदात्) सर्वगत ब्रह्म को भी जीव
के स्थान रूप अल्प हृदय स्थान वाला मानने पर जीव के समान ब्रह्म को भी सम्भोग की

प्राप्ति होगी यदि ऐसी शंका कोई करे तो ठीक नहीं है ससंगता असंगता आदि से जीव ब्रह्म में भेद है, इससे जीव के समान ईश्वर को संभोग नहीं होता है ।

व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वपाणिहृदयसम्बन्धात्, चिद्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात् सुखदुःखादिसम्भोगोऽप्यविशिष्टः प्रसज्येत । एकत्वाच्च । नहि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (वृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात्परस्यैव संसारसम्भोग-प्राप्तिरिति चेत् न, वैशेष्यात् । न तावत्सर्वपाणिहृदयसम्बन्धाच्छारीरवद्ब्रह्मणः सम्भोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात् । विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः । एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमांश्च, एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादि-गुणः । एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य । यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादि-प्रसङ्गः, सर्वगतानेकात्मवादिनामपि समावेतौ चोद्यपरिहारौ । यदपि-एकत्वाद् ब्रह्मण आत्मान्तराभावाच्छारीरस्य भोगेन ब्रह्मणो भोगप्रसङ्ग-इति । अत्र वदामः—इदं तावद्देवानांप्रियः प्रष्टव्यः—कथमयं त्वयात्मान्तराभावोऽप्यवसित इति । 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादि-शास्त्रेभ्य इति चेत् ? यथाशास्त्रं तर्हि गास्त्रीयोर्थः प्रतिपत्तव्यो न तत्रार्थजरतीयं लभ्यम् । शास्त्रं च 'तत्त्वमसि' इत्यपहतपाप्मत्वादिविशेषणं ब्रह्म शारीरस्यात्म-त्वेनोपदिशच्छारीरस्यैव तावदुपभोक्तृत्वं वारयति । कुतस्तदुपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः ।

आकाश के समान सर्वगत ब्रह्म का सब प्राणी के हृदयों के साथ सम्बन्ध होने से और चेतन होने से जीव से विलक्षणता के अभाव से सुखदुःखादि का संभोग भी जीव के तुल्य ही प्राप्त होगा । जीव ब्रह्म की एकता से भी तुल्य भोग प्राप्त होगा, क्योंकि परमात्मा से अन्य कोई आत्मा संसारी नहीं है यह 'इस ब्रह्म से अन्य विज्ञाता नहीं हैं' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है । जिससे परमात्मा ही को भोग की प्राप्ति होती है । यदि इस प्रकार कहा जाय तो यह कहना उचित नहो क्योंकि जीव ब्रह्म में भेद है । सब प्राणी के हृदय के साथ सम्बन्ध से जीव के समान ब्रह्म को संभोग की प्राप्ति नहीं है । इसमें विशेषता (भेद) ही हेतु है । और जीव परमेश्वर में परस्पर भेद अवश्य है । एक जीव कर्ता, भोक्ता, धर्माधर्म रूप साधन वाला और सुख-दुःखादि वाला है और एक परमात्मा उससे विपरीत अपहतपाप्मत्वादि (पापादि-रहितत्वादि) गुण वाला है । इसी विशेष (भेद) से एक जीव को भोग होता है, उससे अन्य परमात्मा को भोग नहीं होता है । यदि वस्तु की शक्ति का आश्रयण (स्वीकार) नहीं करके सन्निधि (समीपता) मात्र से कार्य के सम्बन्ध को स्वीकार करें, तो दग्ध होते हुए काष्ठादि के सामीप्य से आकाशादि को भी दाहादि की प्राप्ति होगी । सर्वगत

अनेकात्मवादियों को भी यह शका और समाधान तुल्य है। सबके आत्मा सर्व हृदय में सम्बन्ध वाले हैं, इससे सर्वत्र सब को भोग प्राप्त होता है, उसका निवारण सबका कर्तव्य है, केवल मुझे ही इस शका का निवारण करना नहीं है। पहले यह जो कहा था कि ब्रह्म के एक होने में, आत्मान्तर के अभाव से जीव के भोग से ब्रह्म की भोग प्राप्त होता है, तो इस विषय में कहते हैं कि पहले उस मूढ़ को पूछना चाहिए कि दूसरे आत्मा का अभाव है, यह तुमने कैसे निश्चय किया है, किस प्रमाण से समझा है ? यदि कहे कि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादि शास्त्रों से समझा है कि तू ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, और ब्रह्म से अन्य विज्ञाता नहीं है। तो उसको सर्वांश में शास्त्र के अनुसार ही शास्त्रकथित अर्थ को समझना चाहिए। शास्त्रार्थ में अर्द्धजरतीय प्राप्त होने योग्य नहीं है। कुछ मानना कुछ नहीं मानना यह अर्द्धवृद्धयुक्त के समान अयुक्त है 'तत्त्वमसि' यह शास्त्र ता विगतपापादिविशेषणयुक्त ब्रह्म को जीव की आत्मा रूप से उपदेश करता हुआ जीव को भी प्रथम से अज्ञानवश प्राप्त उपनोक्तृत्व का वारण करता है, फिर उस जीव के उपभोग से ब्रह्म को कैसे उपभोग की प्राप्ति हो सकती है ?

अथागृहीत शारीरस्य ब्रह्मणैकत्व तदा मिथ्याज्ञाननिमित्त शारीरस्योपभोग, न तेन परमार्थरूपस्य ब्रह्मण मस्पर्शः । नहि चालेस्तलमलिनतादिभिर्व्याप्तिं विकल्प्यमाने तलमलिनतादिविशिष्टमेव परमार्थतो व्योम भवति । तदाह—न वैशेष्यादिति । नैकत्वेऽपि शारीरस्योपभोगेन ब्रह्मण उपभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात् । विशेषा हि भवति मिथ्याज्ञानसम्यग्ज्ञानयोः । मिथ्याज्ञानकल्पित उपभोगः, सम्यग्ज्ञानदृष्टमेकत्वम् । नच मिथ्याज्ञानकल्पितेनोपभोगेन सम्यग्ज्ञानदृष्ट वस्तु सम्पृश्यते । तन्मात्रोपभोगगन्धोऽपि शक्य ईश्वरस्य कल्पयितुम् ॥ ८ ॥

यदि शास्त्रादि द्वारा जीव की ब्रह्म के साथ एकता को नहीं समझता है, तो मिथ्या ज्ञाननिमित्तक प्रतिमायात्मक जीव को भोग होता है, और उस भोग के साथ सत्य स्वरूप ब्रह्म को सम्पर्श (सम्बन्ध) नहीं होता है, जैसे कि अज्ञानियों से तल-मलिनतादि धर्मों द्वारा आकाश के विकल्पित (उन धर्मों से सहित ज्ञात) होने पर भी वस्तुतः तलमलिनतायुक्त ही आकाश नहीं हो जाता है, जिससे सूत्रकार कहते हैं कि (न वैशेष्यादिति) । ब्रह्म के एक सर्वानुगत होने हुए भी जीव के उपभोग से ब्रह्म को उपभोग की प्राप्ति नहीं होनी है, क्योंकि भेद है । मिथ्या ज्ञान और सत्य ज्ञान में अवश्य भेद होता है । वहाँ मिथ्याज्ञान से कल्पित (सिद्ध) उपभोग होता है, और सत्यज्ञान से एकत्व दृष्ट (प्रत्यक्ष) होता है, तथा मिथ्याज्ञान से कल्पित उपभोग के साथ सत्यज्ञान से दृष्ट वस्तु सस्पृष्ट-सम्बद्ध नहीं होती है, जिससे उपभोग का गन्ध (लेश) मात्र भी ईश्वर में कल्पना के योग्य नहीं है ॥ ९ ॥

अत्राधिकरण (२)

जीवोऽग्निरीशो वाऽत्ता स्यादोदने जीव इष्यताम् ।

स्वाद्वत्तीति श्रुतेर्वह्निर्वाग्निरन्नाद इत्यदः ॥ १ ॥

ब्रह्मक्षत्रादिजगतां भोज्यत्वात् स्यादिहेश्वरः ।

ईशप्रश्नोत्तरत्वाच्च संहारस्तस्य चात्तृता ॥ २ ॥

संक्षिप्तार्थं यह है कि (यद्यपि पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणो भोक्तृत्वं प्रतिपिद्धं तथापि कठवाक्याल्लब्धोऽत्ता ब्रह्मैव नाम्नादिकम् । ब्रह्मक्षत्रपदार्थां चराचरस्य जगतो ग्रहणादत्त-व्यत्वेन स्वीकारादिति) यद्यपि पूर्वं अधिकरण में ब्रह्म को भोक्तृता का निषेध किया गया है, तथापि कठ श्रुति के ओदनयुक्त वाक्य से सूचित अत्ता ब्रह्म ही हो सकता है, अग्नि आदि नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मक्षत्रपद से चराचर जगत् का उपलक्षण द्वारा ग्रहण होता है, और सब जगत का संहर्तारूप अत्ता ब्रह्म ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता ।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ १ ॥

(यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च) इस श्रुति से उपलब्ध अत्ता जीव वा अग्नि वा ईश्वर है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष होता है कि ओदन शब्दार्थं भोग्य के रहने के कारण भोक्तारूप जीव ही यहाँ अत्ता हो सकता है, और (पिप्पलं स्वाद्वत्ति) इस श्रुति से भी अत्ता जीव सिद्ध होता है । अथवा (अग्निरन्नादः) इस श्रुति के अनुसार अग्नि अत्ता हो सकती है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि ब्रह्मक्षत्रपद के उपलक्षक होने से यहाँ सब जगत के भोज्य होने से ईश्वर ही अत्ता हो सकता है । दूसरी बात है कि उक्त वाक्य ईश्वरविषयक प्रश्न का उत्तर रूप है, इससे ईश्वर ही अत्ता है । जगत का संहार ही ईश्वर की अत्तृता (भोक्तृता) है, क्योंकि सुखादि की भोक्तृता उसमें नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है ॥ २ ॥

कठवल्लीषु पठ्यते—‘यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्यो-पसेचनं क इत्या वेद यत्र सः’ (१।२।२४) इति । अत्र कश्चिदोदनोपसेचन-सूचितोऽत्ता प्रतीयते । अत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः, विशेषानवधारणात्, त्रयाणां चाग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्नन्ये प्रश्नो-पन्यासोपलब्धेः । किं तावत्प्राप्तम् ? अग्निरत्तति । कुतः ? ‘अग्निरन्नादः’ (वृ० १।४।६) इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम् । जीवो वाऽत्ता स्यात्, ‘तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति’ इति दर्शनात् । न परमात्मा, ‘अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति’ (मुण्ड० ३।१।१) इति दर्शनादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः ।

कठोपनिषद् के छः वल्ली (लता-काण्ड) हैं । दो अध्याय हैं । वहाँ प्रथम अध्याय वल्ली २ के अन्दर पढ़ा गया है कि (जिसके ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों ओदन हैं, मृत्यु उस

ओदन मे उपसेचन (सस्कारक घृत दाल आदि) है, वह अत्ता जिस निगुण ब्रह्म मे अभिन्न रूप से रहता है। जिस निज महिमा मे रहता है, उस ईश्वराश्रय को जैसे साधनसम्पन्न अधिकारी जानता है, इस रीति से अन्य कौन जान सकता है) इत्यादि। यहाँ ओदन और उपसेचन से सूचित (बोधित) कोई अत्ता प्रतीत होता है। यहाँ सशय होता है कि अग्नि अत्ता हो सकती है अर्थात् जीव अत्ता है, अथवा परमात्मा? क्योंकि विशेष का निश्चय नहीं होता है, और अग्नि, जीव, परमात्मा इन तीनों के प्रश्नों का कथन इस ग्रन्थ मे उपलब्ध (ज्ञात) होता है। विमर्श होता है कि पहले प्राप्त क्या है? पूर्वपक्ष है कि अग्नि अत्ता है, क्योंकि (अग्नि अन्न का भोक्ता है) इस प्रकार श्रुति कहती है और लोक मे प्रसिद्धि भी है कि अग्नि अत्ता है। जाठराग्नि के ही अधीन भोक्तृत्व है। अथवा जीव अत्ता हो सकता है, क्योंकि जीवेश्वर मे एक जीव स्वादु विषय को भोगता है। इस अर्थ मे श्रुति देखी जाती है, और परमात्मा तो भोक्ता नहीं हो सकता। क्योंकि (भोग नहीं करता हुआ परमात्मा प्रकाश करता है) इस अर्थ मे श्रुति देखी जाती है। इस प्रकार प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं।

अत्ताऽत्र परमात्मा भवितुमर्हति। कुत? चराचरग्रहणात्। चराचर हि स्थावरजङ्गम मृत्यूपसेचनगिहाद्यत्वेन प्रतीयते। तादृशस्य चाद्यस्य न परमात्मनोऽन्य कात्स्न्येनात्ता सम्भवति, परमात्मा तु विकारजात सहस्रत सर्वमन्तीत्युपपद्यते। नन्विह चराचरग्रहण नोपलभ्यते, तत् कथं सिद्धवच्चराचरग्रहण हेतुत्वेनोपादीयते। नैव दोषः। मृत्यूपसेचनत्वेन सर्वस्य प्राणिनिकायस्य प्रतीयमानत्वात्, ब्राह्मणक्षत्रयोश्च प्राधान्यात्प्रदर्शनार्थत्वापपत्तेः। यत्तु—परमात्मनोऽपि नात्तृत्व सम्भवति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति दर्शनात्—इति। अवोच्यते। कर्मफलभोगस्य प्रतिषेधकमेतद्दर्शनम्, तस्य सनिहितत्वात्, न विकारसहारस्य प्रतिषेधकम्, सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मण प्रमिद्धत्वात्। तस्मात्परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति ॥ ९ ॥

यहाँ 'अत्ता' परमात्मा ही होने योग्य है, क्योंकि चराचर का यहाँ ग्रहण है। इससे चराचर रूप स्थावर और जगम मृत्युरूप उपसेचनयुक्त यहाँ प्रतीत होता है। ऐसे चराचररूप अद्य (मध्य) का सम्पूर्ण रूप से मक्षक परमात्मा से अन्य नहीं हो सकता है, और परमात्मा तो विकार-समूह का सहार करता हुआ सबको खाता है, यह बन सकता है। शका होती है कि यहाँ चराचर का ग्रहण उपलब्ध (ज्ञात) नहीं होता है, तो भी श्रुति मे वर्तमान के समान चराचर ग्रहण का हेतुरूप से कैसे ग्रहण किया जाता है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि मृत्यु की उपसेचना से सब प्राणि-समूह की प्रतीति होती है। ब्राह्मण-क्षत्रिय का ग्रहण प्रधानता से है, और उन दोनों की प्रधानता से अन्य सब प्राणी के प्रदर्शनार्थत्व की सिद्धि होती है, उनके द्वारा सब प्राणी को ओदन रूप समझाया जाता है। और जो यह कहा था कि परमात्मा को भी भोक्तृत्व नहीं बन सकता, क्योंकि (भोगरहित होकर परमात्मा

प्रकाश करता है) इस अर्थ में श्रुति देखी जाती है । यहाँ कहा जाता है कि कर्मफल भोग का प्रतिपेधन रूप यह दर्शन (वचन) कर्मफल भोग ही की समीपता है, विकारसंहार का प्रतिपेधक वह दर्शन नहीं है, क्योंकि सब वेदान्त में सृष्टि स्थिति और संहार के कारण रूप से ब्रह्म प्रसिद्ध है । जिससे यहाँ परमात्मा अत्ता होने योग्य है ॥ ९ ॥

प्रकरणान्च ॥ १० ॥

इतश्च परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति, यत्कारणं प्रकरणमिदं परमात्मनः, 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (काठ० १।२।१८) इत्यादि । प्रकृतग्रहणं च न्याय्यम् । 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञानत्वं परमात्मलिङ्गम् ॥ १० ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परमात्मा ही अत्ता होने योग्य है । क्योंकि यह परमात्मा ही का प्रकरण है (यह परमात्मा न जन्मता है, न मरता है और यह विद्वान् सर्वज्ञ है) इत्यादि । एवं प्रकरण प्राप्त का ग्रहण न्याययुक्त होता है । और जहाँ वह परमात्मा है उसे इदमित्यम्—यह ऐसा है इस प्रकार से कीन जान सकता है । इस प्रकार (दुर्विज्ञानत्व) कष्टसाध्यज्ञानविषयत्व भी परमात्मा का ही लिंग है ॥ १० ॥

गुहाप्रविष्टाधिकरण (३)

गुहां प्रविष्टौ धीजीर्वा जीवेशौ वा हृदि स्थितौ ।

छायातपाख्यदृष्टान्ताद्धीजीवी स्तो विलक्षणौ ॥ १ ॥

पिवन्ताविति चैतन्यद्वयं जीवेश्वरौ ततः ।

हृत्स्थानमुपलब्ध्य स्याद्विलक्षणमुपाधितः ॥ २ ॥

'गुहां प्रविष्टौ' इस रूप से वर्णित बुद्धि और जीव हैं, अथवा जीवेश्वर हैं ? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि छाया और आप्तप नामक दृष्टान्त से विलक्षण हृदयस्थित बुद्धि और जीव है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि 'पिवन्तौ' इस कथन से दो चेतन की प्रतीति होती है, 'इससे जीव और ईश्वर गुहाप्रविष्ट कहे गये हैं, और हृदय स्थान उपलब्धि (ज्ञानोपासना) के लिये कहा गया है । जीवेश्वर में उपाधि से विलक्षणता होती है ॥ २ ॥

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

'गुहाम्-प्रविष्टौ-आत्मानौ-हि-तद्दर्शनात्' ये पाँच पद इस सूत्र में हैं । संक्षिप्तार्थ है कि (गुहां प्रविष्टौ—इति कठवल्ल्यां गुहायां प्रविष्टत्वेन श्रुतौ जीवपरमात्मानौ हि एव स्तः । तयोरेवान्यास्वपि श्रुतिषु गुहाप्रविष्टत्वेन दर्शनादिति) गुहां प्रविष्टौ, इस प्रकार पठित कठवल्ली में गुहाप्रविष्टत्वरूप से सुने गये जीव और परमात्मा हैं, क्योंकि उन दोनों को ही अन्य श्रुतियों में भी गुहाप्रविष्टत्व रूप से वर्णित देखा जाता है ।

कठवल्लोप्तेव पठ्यते—'ऋतं पितृन्तो मुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपो ब्रह्माविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' (काठ० १।३।१) इति । तत्र सशय — किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टावुत जीवपरमात्मानाविति । यदि बुद्धिजीवौ, ततो बुद्धिप्रधानात्कार्यकरणसङ्घाताद्विलक्षणो जीवः प्रतिपादितो भवति । तदपीह प्रतिपादयितव्यम्, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चेके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाह वराणामेव वरस्तनीय' (काठ० १।१।२०) इति पृष्टत्वात् । अथ जीवपरमात्मानौ, ततो जीवाद्विलक्षण परमात्मा प्रतिपादितो भवति । तदपीह प्रतिपादयितव्यम्, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यमि तद्वद' (काठ० १।२।१४) इति पृष्टत्वात् । अत्राहाक्षेप्ता—उभावप्येतौ पक्ष न सम्भवतः । कस्मात् ? ऋतपान कर्मफलोपभोग, 'मुकृतस्य लोके' इति लिङ्गात् । तच्च चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य सम्भवति, नाचेतनाया बुद्धेः । पितृन्तो इति च द्विवचनेन द्वयोः पानं दर्शयति श्रुतिः । अतो बुद्धिक्षेत्रज्ञपक्षस्तावन्न सम्भवति, अत एव क्षेत्रज्ञपरमात्मपक्षोऽपि न सम्भवति, चेतनेऽपि परमात्मनि ऋतपानासम्भवात् । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति मन्त्रवर्णादिति । अत्रोच्यते—नैव दोषः । छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा बहूना छत्रिणोपचारदर्शनात् । एवमेकेनापि पितृता द्वौ पितृन्तावुच्येयाताम् । यद्वा जीवस्तावन्नवति, ईश्वरस्तु पाययति, पाययन्नपि पितृतीत्युच्यते । पाचयितव्यं पक्त्वस्वप्रसिद्धिदर्शनात् । बुद्धिक्षेत्रज्ञपरिग्रहोऽपि सम्भवति कारणे कर्तृत्वोपचारात्, एधासि पचन्तीति प्रयोगदर्शनात् । न चाध्यात्माधिकारेऽन्यो कोचिद् द्वावृत पितृन्तौ सम्भवतः । तस्माद् बुद्धिजीवौ स्याता जीवपरमात्मानौ वेति सशयं किं तावद्भासम् ? बुद्धिक्षेत्रज्ञाविति । कुत ? 'गुहा प्रविष्टौ' इति विशेषणात् । यदि शरीरं गुहा यदि वा हृदयम् उभयथापि बुद्धिक्षेत्रज्ञौ गुहा प्रविष्टावुपपद्यते नच सति सम्भवे सर्वगतस्य ब्रह्माणो विशिष्टदेशत्वमुक्तं कल्पयितुम् । 'मुकृतस्य लोके' इति च कर्मगोचरानतिक्रमं दर्शयति । परमात्मा तु न मुकृतस्य वा दुष्कृतस्य वा गोचरे वर्तते, 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयाद्' इति श्रुते । 'छायातपो' इति च चेतनाचेतनयोर्निर्देश उपपद्यते छायातपवपस्परविलक्षणत्वात् । तस्माद् बुद्धिक्षेत्रज्ञाविहोच्येयानामिति प्राप्ते ब्रूम —

कठवल्लियों में ही पढ़ा जाता है कि मुकृत-स्वयंकृत कर्म के ऋत-अवश्यमाविकल को संसार में वा कर्मफलरूप देहात्मक लोक में वर्तमान और पर (परात्मा) की स्थिति के योग्य परार्ध हृदय रूप गुहा में प्रविष्ट को ब्रह्मवेत्ता और कर्मों की छाया और छातप के समान विलक्षण कहते हैं, जो कर्मों पञ्चाग्नि वाले और तीन बार नाचिकेव नामक अग्नि का चयन करने वाले हैं । वहाँ स शय होता है कि क्या यहाँ बुद्धि और जीव गुहाप्रविष्ट शब्द से कहे गये हैं, वा जीव और परमात्मा कहे गये हैं ? यदि बुद्धि

और जीव कहे गये हो तो जिसमें बुद्धि प्रधान है ऐसे देहेन्द्रिय के संघात से विलक्षण जीव यहाँ प्रतिपादित होता है। उस जीव का बुद्धि से विलक्षणत्व भी यहाँ प्रतिपादन कर्तव्य है, क्योंकि कोई कहते हैं कि मनुष्य के मरने पर भी जीवात्मा रहता है, कोई कहते हैं कि नहीं रहता है, इस तत्त्व को मैं आप से उपदिष्ट शिक्षित हो कर जानूँगा। यही वरों में तीसरा वर है। यदि यहाँ जीव और परमात्मा कहे गये हों, तो जीव से विलक्षण परमात्मा प्रतिपादित होता है। वह विलक्षण परमात्मा का स्वरूप भी यहाँ प्रतिपादन योग्य है, क्योंकि प्रश्न है कि (धर्म, अधर्म, इस कार्य कारण, और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इन सबसे अन्यत्र (भिन्न) त्रिकालातीत जिस वस्तु को जानते हो सो कहो)। यहाँ आक्षेप (निन्दा) करने वाला कहता है कि, ये दोनों पक्ष अयुक्त हैं, बन नहीं सकते हैं, क्योंकि कर्मफल भोग का नाम ऋतपान है। उसमें, 'सुकृतस्य लोके' (स्वयं कृत कर्म के कार्य देह में) यह कथन लिंग हेतु अनुमापक है। और ऋतपान चेतन क्षेत्रज्ञ का हो सकता है। अचेतन बुद्धि का नहीं हो सकता है। एवं भिक्वन्ती, इस पद में द्विवचन से गुहाप्रविष्ट दोनों के ऋतपान के सम्बन्ध को श्रुति दर्शाती है। इससे प्रथम बुद्धि क्षेत्रज्ञ वाला पक्ष का असंभव है। इसी हेतु से दूसरा क्षेत्रज्ञ परमात्मपक्ष (विशेष) का भी सम्भव नहीं है, क्योंकि चेतन परमात्मा में भी कर्मफल का भोग नहीं है (परमात्मा फल को नहीं भोगता हुआ प्रकाश करता है। इस प्रकार वेद मन्त्र कहता है। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि एक छत्र वाले के रहते भी अजहत् लक्षणा के द्वारा एक साथ चलने वाले बहुत मनुष्यों में ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि ये छत्ता वाले जाते हैं। इसी प्रकार एक फल भोक्ता जीव के साथ से जीवेश्वर दोनों फल भोगते हैं यह लक्षणा से कहा जा सकता है। अथवा जीव वस्तुतः फल भोगता है, और ईश्वर भोगाता है। इससे भोगाता हुआ भी भोगता है इस प्रकार कहा जाता है, क्योंकि पाक कराने वालों में भी पाक-कर्तृत्व की प्रसिद्धि देखी जाती है। और बुद्धि क्षेत्रज्ञ का ग्रहण भी करण में कर्तृत्व के उपचार (गौण व्यवहार) से हो सकता है। एधांसि पचन्ति (लकड़ियाँ पकाती हैं) ऐसा प्रयोग देखा जाता है और अव्यात्म-निरूपण के अधिकार (प्रकरण) में अन्य कोई फल भोक्ता नहीं हो सकते हैं। जिससे बुद्धि जीव हो सकते हैं, या जीव परमात्मा हो सकते हैं। इससे संशय है; विमर्श है कि क्या प्राप्त है? पूर्वपक्ष है कि बुद्धि और क्षेत्रज्ञ प्राप्त है। क्योंकि भोक्ता का गुहा प्रविष्ट यह विशेषण है, उसका बुद्धि और जीव में सम्भव है। क्योंकि यदि शरीर गुहा है वा हृदय गुहा है इन दोनों प्रकार से बुद्धि और क्षेत्रज्ञ ही गुहाप्रविष्ट हो सकते हैं। सम्भव रहते सर्वगत ब्रह्म को विशिष्ट देशत्व (एकदेशित्व) की कल्पना करना युक्त नहीं है। और ('सुकृतस्य लोके') यह श्रुति कर्मफल का अनतिक्रमण (संबन्ध) दर्शाती है। परमात्मा तो पुण्य पाप के अधीन नहीं रहता है, क्योंकि श्रुति कहती है कि परमात्मा न कर्म से बढ़ता है न छोटा होता है, और छाया आतप तुल्य कथन भी अचेतन, तथा

चेतना में बन सकता है। क्योंकि जब चेतन में छाया और आतप तुल्य विलक्षणता है। जिससे बुद्धि और क्षेपज्ञ यहाँ पान-कर्ता कहे जा सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम् । कस्मात् ? आत्मानो हि तावु-
भावपि चेतनो समानस्वभावी । मर्याश्रवणे च समानस्वभावेऽप्येव लोके
प्रतीतिर्दृश्यते । अस्य गोद्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गोरेव द्वितीयोऽन्विष्यते,
नाश्व पुरुषो वा । तदिह ऋतपानेन लिङ्गेन निश्चिते विज्ञानात्मनि द्विती-
यान्वेषणाय समानस्वभावश्चेतन परमात्मेव प्रतीयते । ननुक्त—‘गुहाहित-
त्वदर्शनान्न परमात्मा प्रत्येतव्य’—इति । गुहाहितत्वदर्शनादेव परमात्मा प्रत्ये-
तव्य इति वदाम । गुहाहितत्व तु श्रुतिस्मृतिष्वसकृत्परमात्मन एव दृश्यते—
‘गुहाहितं गृह्येष्ट पुराणम्’ (काठ० १।२।१२) ‘यो वेद निहित गुहाया परमे
व्योमन्’ (तै० २।१) ‘आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्’ इत्याद्याम् । सर्व-
गतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थो देशविशेषोपदेशो न विरुध्यत इत्येतदप्युक्तमेव ।
सुकृतलोकवतित्व तु छत्रित्ववदेकस्मिन्नपि वर्तमानमुभयोरविरुद्धम् । छाया-
तपावित्यप्यविरुद्धम्, छायातपवत्परस्परविलक्षणत्वात्मसारित्वाससारित्वयो ।
अविद्याकृतत्वात्सारित्वस्य पारमाधिकत्वाच्चासमारित्वस्य । तस्माद्ब्रह्मज्ञानात्म-
परमात्मानो गुहा प्रविष्टो गृह्येते ॥ ११ ॥

विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा यहाँ कहे जा सकते हैं। क्योंकि वे दोनों
चेतनात्मा ही समान स्वभाव वाले भी हैं और सख्या के श्रवण स्थान में समान
स्वभाव विषयक भी प्रतीति लोक में देखी जाती है, जैसे कि इस गौ (दूध-बैल)
के सम्बन्धी (साथी-जोड़ा) दूसरा गौ का अन्वेषण करना (खोजना), ऐसा कहने
पर दूसरा बैल ही लोक में खोजा जाता है, अश्व या पुष्प (मनुष्य नहीं खोजा जाता
है । जिससे यहाँ भी कर्मफल भोगरूप लिंग से विज्ञानात्मा (जीव) के निश्चय होने
पर द्वितीय के खोज चिन्ता करने पर समान स्वभाव वाला चेतन परमात्मा ही प्रतीत
होता है । एवं जो कहा गया है कि ‘गुहाहितत्व’ (शरीर बुद्धि में प्रविष्टत्व) के दर्शन से
परमात्मा नहीं समझा जा सकता, वहाँ कहते हैं कि गुहाहितत्व के देखने से ही पर-
मात्मा समझा जा सकता है । क्योंकि परमात्मा को ही गुहाहितत्वरूप से अनेक बार
श्रुति स्मृतियों में सुना जाता है बुद्धि (बुद्धि गुहा) में प्रविष्ट-बैल रूप गृह्य (गहन
निकुञ्ज) में स्थिर पुरातन को जान कर विद्वान् हर्ष शोक को त्यागता है । परम श्रेष्ठ
व्योम/हृदयाकाश गत बुद्धि गुहा में जो निहित (प्रविष्ट) ब्रह्म को जानता है, जो सब
काम को प्राप्त करता है । (गुहा में प्रविष्ट आत्मा को विचारो) इत्यादि श्रुति ब्रह्मात्मा
को गुहाहित कहने वाली हैं और सर्वगत ब्रह्म का भी ज्ञानोपासनादि के लिए देश विदेश
का उपदेश विरुद्ध नहीं होता है यह बात कही जा चुकी है । सुकृत लोक (कर्म
जन्म देह) में रहता भी एक जीव ही भरहते भी छत्रित्व के समान लक्षणा से दोनों

में कथा अविरुद्ध है। छायातप तुल्यता भी अविरुद्ध है, क्योंकि संसारित्व और असंसारित्व को छाया और आतप के समान परस्पर विलक्षणता है। अविद्याकृत संसारित्व एवं पारमार्थिक असंसारित्व है, इससे इन दोनों में विलक्षणता है। जिससे विज्ञानात्मा और परमात्मा गुहाप्रविष्ट गृहीत (ज्ञात) होते हैं ॥ ११ ॥

कुतश्च विज्ञानात्मपरमात्मानो गृह्येते ?

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

किस हेतु से विज्ञानात्मा और परमात्मा गृहीत होते हैं ?

संक्षिप्तार्थ है कि (गन्तृगन्तव्यत्वादिविशेषणभेदात् । मन्तृमन्तव्यत्वादिविशेषण-भेदेन निरूपणात्—जीवात्मपरमात्मैव गृह्येते) गन्ता प्राप्ति कर्ता जीव है। गन्तव्य परमपद परमात्मा है। मनन करने वाला ज्ञाता जीव है मन्तव्य परमात्मा है। इनके धर्म रूप विशेषणों का भेद है। विशेषणों के भेद पूर्वक श्रुति में निरूपण इन दोनों का किया गया है। इससे जीवात्मा परमात्मा का ग्रहण किया जाता है।

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव सम्भवति। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (का० १।३।३) इत्यादिना परेण ग्रन्थेन रथिरथादिरूपक-कल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्षयोगन्तारं कल्पयति। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (का० १।३।९) इति च परमात्मानं गन्तव्यं कल्पयति। तथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अथात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धोरो हर्षशोकौ जहाति ॥' (का० १।२।१२) इति पूर्वस्मिन्नपि ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ। प्रकरणं चेदं परमात्मनः। 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं परमात्मपरिग्रहे घटते। तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्। एष एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्ड० ३।१।१) इत्येवमादिष्वपि। तत्रापि ह्यव्यात्माधिका-रान्न प्राकृती सुपर्णावुच्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद्वि-ज्ञानात्मा भवति। 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यनश्नचेतनत्वाभ्यां परमात्मा। अनन्तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्यभावेन विशिनष्टि—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वोतशोकः ॥' (मुण्ड० ३।१।२) इति।

जीवात्मा और परमात्मा का ही वक्ष्यमाण विशेषण हो सकता है, क्योंकि आत्मा को रथी और शरीर को रथ जानो। इत्यादि आगे के ग्रंथ से रथी रथादि रूपक की कल्पना द्वारा विज्ञानात्मारूप रथी को संसार और मोक्ष मार्ग में गमन कर्ता सिद्ध किया जाता है। और वह जीव संसार मार्ग के परम पार को प्राप्त करता है जो परम पार विष्णु 'व्यापक' परमात्मा का पद (स्वरूप) है। इस प्रकार परमात्मा को गन्तव्य (प्राप्य) सिद्ध करता है। इसी प्रकार (उस दुर्दर्श दुर्ज्ञेय)

माया से आवृत माया मे प्रविष्ट शरीरासक्त मिलित के समान पुरातन उस आत्म-
देव को विवेकादियुक्त निदिव्यासनस्य अध्यात्मयोग से अपरोक्ष समझकर (अध्यात्म
योग की प्राप्ति से आत्मा को प्राप्त करके) विद्वान् पुरुष हृषं शोक को त्याग देता है ।
इस पूर्व ग्रन्थ मे भी मत्ता और मन्तव्य रूप से ये जीव और परमेश्वर ही विशेषण युक्त
निरूपित कथित हैं । परमात्मा का प्रकरण है, और / ब्रह्मवेत्ता इसको कहते
हैं) यह वक्ता का ब्रह्मज्ञतारूप विशेषण भी परमात्मा के परिग्रहण करने पर सघटित-
युक्त होता है । जिससे यहाँ जीव परमात्मा को ही कहते योग्य समझना चाहिये ।
यही न्याय (ब्रह्मसुपर्णा सयुजा सखाया) इत्यादि श्रुति मे भी समझना चाहिये । सुन्दर
गति वाले, सदा साथ रहने वाले, तुल्य स्वभाव वाले जीवेश्वर दोनों एक शरीर वृक्ष
का आश्रयण करते हैं, उनमे से एक जीव स्वादु कर्म फल को भोगता है । एक ईश्वर
भोगे बिना सही रूप मे प्रकाशता है । इस श्रुति मे भी अध्यात्म प्रकरण होने से सुपर्ण
पद से सुन्दर पाँख वाले प्राकृत (लोक प्रसिद्ध) साधारण पक्षी नहीं कहे जाते हैं । किन्तु
उनमे एक स्वादु पिप्पल खाता है । इस बदल (भोग) रूप से लिंग से ज्ञानात्मा सिद्ध
होता है । भोगे बिना प्रकाशता है । यहाँ अनशन (भोगाभाव) और चैनान्त्य से
परमात्मा सिद्ध होता है । ब्रह्मसुपर्णा, के जनन्तर पठित मन्त्र मे ये ही जीव और पर-
मात्मा द्रष्टा और द्रष्टव्य भावरूप विशेषण युक्त कहे गये हैं । इन्ही को द्रष्टृत्व द्रष्टव्यत्व
विशेषण युक्त श्रुति कहती है कि समान एक देह वृक्ष मे देहमिमानादि से आसक्त
जीवात्मा रूप पुरुष अनीशता के कारण मोहित होता हुआ शोचता है सन्तप्त होता
है । और जब योगादि द्वारा जुष्ट (सेवित) अन्य ईश्वर को अपरोक्ष करता है, और
सब जगत् को उसके महिमा रूप देखता है तब उसको प्राप्त हो कर शोक रहित हो
जाता है इत्यादि ।

अपर आह—‘ष्टा सुपर्णा’ इति नेयमृगस्याविकरणस्य सिद्धान्त भजते,
पेङ्गिरहस्यब्राह्मणेनान्यथा व्याख्यातत्वात् । ‘तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वतीति
सत्त्वम्, ‘अनशनन्नन्योऽभिचाकशीतीति, अनशनन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञ, तावेनौ
सत्त्वक्षेत्रज्ञौ’ इति । सत्त्वशब्दो जीव क्षेत्रज्ञशब्द परमात्मेति यदुच्यते ।
तन्न । सत्त्वक्षेत्रज्ञशब्दयोरन्तःकरणशारीरपरतया प्रसिद्धत्वात् । तत्रैव च
व्याख्यातत्वात्—‘तदेतत्सत्त्व येन म्वप्न पश्यति, अथ योज्य शारीर उपद्रष्टा
स क्षेत्रज्ञमनावेनौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ’ इति । नाप्यस्याधिकरणस्य पूर्वपक्ष भजने ।
नह्यत्र शारीर क्षेत्रज्ञ कर्तृत्वभोक्तृत्वादिना सगारधर्मणोपेनो विवक्ष्यते ।
कथं तर्हि सर्वमसारधर्मातीतो (१) ब्रह्मस्वभावश्चैन्यमात्रस्वरूप ‘अनशन
न्नन्योऽभिचाकशीति, अनशनन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञ.’ इति वचनात् ‘तत्त्वमसि’
‘क्षेत्रज्ञ चापि मा बिद्धि’ (गी० १३।२) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । तावता च
विशेषणसद्वारदर्शनमेवमेवावकल्प्यते ‘तावेनौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवविदि

किञ्चन रज आवृंसते' इत्यादि । कथं पुनरस्मिन्पक्षे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ती-
ति सत्त्वम्' इत्यचेतने सत्त्वे भोक्तृत्ववचनमिति । उच्यते । नेयं श्रुतिरचेतनस्य
सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता किं तर्हि ? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्म-
स्वभावतां च वक्ष्यामीति । तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारो-
पयति । इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं
कल्प्यते । परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि सम्भवति, अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रिय-
त्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य, अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य-सुतरां न सम्भवति ।
तथा च श्रुतिः—'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' इत्यादिना स्वप्नदृष्ट-
हस्त्यादिव्यवहारवदविद्याविषय एव कर्तृत्वादिव्यवहारं दर्शयति । 'यत्र त्वस्य
सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (वृ० ४।५।१५) इत्यादिना च विवकिनः कर्तृत्वा-
दिव्यवहाराभावं दर्शयति ॥१०॥

अन्य कोई कहते हैं कि (दानुपर्णा) यह ऋग् इस अधिकरण के सिद्धान्त को
नहीं भजती (कहती) है । क्योंकि 'पैङ्गिरहस्य' ब्राह्मण में इसका अन्य रीति से
व्याख्यान किया है । कहा गया है कि (तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति) यहाँ भोक्ता
सत्त्व है और अनश्ननन्योऽस्मिन्चाकशीति) इससे कहा गया है कि सोगे बिना अन्य
देखता है, सो ज्ञ (ज्ञाता) है । और ये दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं । सत्त्व शब्द
का अर्थ जीव और क्षेत्रज्ञ शब्द का अर्थ परमात्मा जो कहते हैं वह कहना ठीक नहीं
है क्योंकि सत्त्व क्षेत्रज्ञ शब्द की अन्तःकरण और शारीरपरता प्रसिद्ध है । जिस
अन्तःकरण शरीर अर्थ में ही पैङ्गिरहस्य में ये दोनों शब्द व्याख्यात हैं । (जो यह सत्त्व
है, जिससे स्वप्न देखता है और जो यह शरीर उपद्रष्टा है वह क्षेत्रज्ञ है, यही दो सत्त्व
क्षेत्रज्ञ हैं) और इसी प्रकार यह ऋक् इस अधिकरण के पूर्वपक्ष को भी नहीं भजती
है । क्योंकि यहाँ कर्तृत्वभोक्तृत्वादि संसार धर्म से युक्त शरीर क्षेत्रज्ञ विवक्षित नहीं
है । फिर कैसा विवक्षित है कि सब सांसारिक धर्म से रहित असङ्गतादि ब्रह्म के स्वभाव
वाला चैतन्यमात्र स्वरूप विवक्षित है, क्योंकि बिना भोगे प्रकाशता है, बिना भोगे
देखता है । इस प्रकार का वचन है । वही सत्यात्मा तू है, (मुझे ही क्षेत्रज्ञ
जानो) इत्यादि श्रुति स्मृति से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है और तावता (मन्त्र
के व्याख्यान मात्र से ही) विद्या का उपसंहार वचन है कि (ये दोनों सत्त्व और
क्षेत्रज्ञ हैं) इस प्रकार जानने वाले में अविद्या रूप रज कुछ भी विवृंस को नहीं प्राप्त
करा सकता है, विद्वान् में अविद्या का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता है । शंका होती
है कि इस पक्ष में (उन दोनों में से एक स्वादु पिप्पल खाता है, और वह सत्त्व है)
इस प्रकार अचेतन सत्त्व में भोक्तृता कथन कैसे बन सकता है । यहाँ उत्तर कहा
जाता है कि यह श्रुति, अचेतन सत्त्व को भोक्तृत्व कहूँगा, इस आशय से नहीं प्रवृत्त हुई
है, तो किस आशय में प्रवृत्त हुई कि चेतन क्षेत्रज्ञ को अभोक्तृता और ब्रह्म स्वभावता

बढ़ेंगे ? इस भास्य से प्रवृत्त हुई है । इसलिए सुखादि विकार वाले सत्त्व में भोक्तृता का आध्यारोप करती है । और यह कर्तृत्व भोक्तृत्व में सत्त्व और क्षेत्रज्ञ के परस्पर स्वभावों के अविवेककृत सिद्ध होता है । परमार्थ से तो सत्त्व क्षेत्रज्ञ में एक को भी कर्तृत्व भोक्तृत्व का सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्त्व में अचेतनता है और क्षेत्रज्ञ को निविकारता है । सत्त्व को अविद्याजन्य स्वभाव वाला होने से उसमें कर्तृत्वादि का अत्यन्त असम्भव है । अतः श्रुति कहती है कि (जिस अज्ञान काल में चैतन्य मित्र के समान रहता है, उस काल में अन्य द्रष्टा अन्य दृश्य को देखता है) इत्यादि कथनों से स्वप्न से दृष्ट हस्ती आदि व्यवहार के समान अविद्या विषय (काल) में ही कर्तृत्वादि व्यवहार को श्रुति दर्शाती है, और (जिस काल में इस ज्ञानी को सब आत्मा ही हो गया उस काल में किससे किमको देखे) इत्यादि से विवेकी के कर्तृत्वादि व्यवहारों के अभाव को बर्शाती है ॥ १२ ॥

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

‘य एपोर्क्षणि पुरुषो दृश्यते’ यहाँ सशय होता है कि यह नेत्र में दृश्य पुरुष छाया है, या जीव है, या देव है, या ईश्वर है ? पूर्व पक्ष है कि आधार और दृश्यता के कथन से ईश्वर से अन्य तीन में से कोई हो सकता है । सिद्धान्त है कि जो प्रथम मुखस्वरूप विष्णु ब्रह्म कहा गया है वही वामनीत्वादि गुण युक्त नेत्र में उपासना का विषय है अन्य नहीं क्योंकि अन्य में अमृतत्वादि सम्भव नहीं है ॥ १-२ ॥

अन्तराधिकरण (४)

छायाजावौ देवतशौ वामौ योर्क्षणि दृश्यते ।

आधारदृश्यतौ कन्येशादन्येषु त्रिषु कञ्चन ॥

क क ब्रह्म यदुक्तं प्राग् तदेपाक्षिण्युपासते ।

वामनीत्वादिना ज्येषु नामृतत्वादिसम्भवः ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (चक्षुषि दृश्यत्वेनोपदिष्टोऽन्तर पुरुष परमात्मैव, तत्रोक्तानां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेरिति) नेत्र में दृश्यत्वरूप से उपदिष्ट अन्तरात्मा रूप पुरुष परमात्मा ही है, क्योंकि वहाँ कहे गये धर्मों की सिद्धि परमात्मा में ही हो सकती है ।

‘य एपोर्क्षणि पुरुषो दृश्यते एव आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति, तद्यद्यप्यस्मिन्मर्षिर्वोदकं वा सिद्धानि वर्त्मनी एव गच्छति’ (छा० ४।१।५।१) इत्यादि श्रूयते । तत्र सशय -- किमप्य प्रतिविम्बात्मादयधिकरणो निर्दिश्यतेऽथवा विज्ञानात्मा उत देवतात्मेन्द्रियम्याधिष्ठाताऽथवेश्वर इति । किं तावत्प्राप्तम् ? छायात्मा पुरुषप्रतिरूप इति । कुत ? तस्य दृश्यमानत्व-प्रसिद्धे । ‘य एपोर्क्षणि पुरुषो दृश्यते’ इति च प्रमिद्ववदुपदेशात् । विज्ञानात्मनो वाच्य निदेश इति युक्तम् । न हि चक्षुषा रूप पश्यश्चक्षुषि

सन्निहितो भवति, आत्मशब्दश्चास्मिन्पक्षेऽनुकूलो भवति । आदित्यपुरुषो वा चक्षुषोऽनुग्राहकः प्रतीयते, रश्मिभिरेपोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' (वृ० ५।५२) इति श्रुतेः । अमृतत्वादीनां च देवतात्मन्यपि कथंचित्संभवात् । नेश्वरः, स्थानविशेषनिर्देशादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः ।

उपकोसल नामक शिष्य के प्रति जावाल नाम के गुरु ने कहा कि (जो यह आँख में पुरुष दीखता है यह आत्मा है और यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है, और इस आत्मा का जो नेत्र रूप स्थान है उसमें यदि घृत वा जल कोई सींचता है, तो वह घृत वा जल नेत्र में नहीं टिकता है किन्तु वर्तों (पक्ष्मो) पलकों में ही चला जाता है) इत्यादि सुना जाता है । यहाँ संशय होता है कि यह नेत्र रूप अधिकरण वाला प्रतिबिम्ब स्वरूप कहा जाता है, अथवा विज्ञानात्मा जीव कहा जाता है, या इन्द्रिय का अधिष्ठाता देवतात्मा कहा जाता है अथवा ईश्वर कहा जाता है । प्राप्त क्या होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर पूर्व पक्ष होता है कि पुरुष का प्रतिबिम्बरूप छायात्मा निर्दिष्ट है, और उसमें अमृतत्वादि ध्यान के लिए कल्पित मात्र है सत्य नहीं । छायात्मा ही क्यों है जिससे उसको दृश्यमानत्व प्रसिद्ध है, और मनुष्य दूसरे के नेत्र में अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को देख सकता है । (यह आँख में जो पुरुष दीखता है) इस प्रकार प्रसिद्ध के समान उपदेश है, इससे छायात्मा उपास्य है । अथवा इस पक्ष में अमृतत्वादि को अत्यन्त कल्पित होने से विज्ञानात्मा का यह कथन है ऐसा मानना उचित है । यद्यपि विज्ञानात्मा संपूर्ण शरीर में रहता है वा विशेष रूप से उसका हृदय स्थान है, तथापि वह चक्षु से रूप को देखते समय चक्षु में विशेषरूप से सन्निहित (प्राप्त) होता है, और श्रुति कथित आत्म शब्द भी इस पक्ष में अनुकूल होता है । अथवा नेत्र का सहायक आदित्य पुरुष यहाँ प्रतीत होता है, क्योंकि श्रुति भी कहती है कि (यह सूर्य किरणों द्वारा नेत्र में स्थिर है) देवात्मा में भी कल्पान्त तक स्थिति से किसी प्रकार अमृतत्वादि का सम्भव है । स्थान विशेष के कथन से यहाँ ईश्वर नहीं प्रतीत होता है । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि—

परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति कस्मात् ? उपपत्तेः । उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम् । आत्मत्वं तावन्मुख्यया वृत्त्या परमेश्वर उपपद्यते 'स आत्मा तत्त्वमसि' इति श्रुतेः । अमृतत्वाभयत्वे च तस्मिन्नसकृच्छ्रुतौ श्रूयेते । तथा परमेश्वरानुरूपमेतदक्षिस्थानम् । यथाहि परमेश्वरः सर्वदोषैरलिप्तः, अपहृतपाप्मत्वादिश्रवणात् तथाक्षिस्थानं सर्वलेप-रहितमुपदिष्टम्, तद्यद्यप्यस्मिन्सर्वोदिकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' इति श्रुतेः । संयद्वा मत्वादिगुणोपदेशश्च तस्मिन्नवकल्पते । 'एतं संयद्वा म इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति, एष उ एव वामनीरेप हि सर्वाणि वामानि

नयति' एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१।२, ३, ४)
इति च अत उपपत्तेरन्तर परमेश्वर ॥ १३ ॥

नेत्र के अन्त्यन्तर निदिष्ट (कथित) पुरुष परमेश्वर ही है, क्योंकि उसी की उपपत्ति (सिद्ध) होती है । जिसमें यहाँ उपदिष्ट गुण समूह परमेश्वर में ही सिद्ध होने हैं । और (वह आत्मा है, तुम आत्म स्वरूप हो) इस श्रुति से आत्म शब्द भी मुख्य वृत्ति से परमेश्वर में ही संघटित सिद्ध होता है । एव अमृतत्व-अमयत्व उस परमेश्वर में अनेकों बार श्रुति में सुने जाते हैं । इसी प्रकार परमेश्वर के योग्य यह नेत्र रूप स्थान है । क्योंकि पापादि में अलिखतादि के सुनने से जैसे परमेश्वर सब दोषों से अलिख अलग है, वैसा ही नेत्र रूप स्थान सब लोप से रहित उपदिष्ट (कथित) है कि (यदि इस आँख में धूल वा जल सींचता है, तो वह वर्तमान में चला जाता है । श्रुति कहती है कि (इस नेत्र गत पुष्प को सम्यक्त्वम्' कहते हैं, क्योंकि इसी परमात्मा के निमित्त कारण रूप से प्राप्त करके सब प्राणी के बाय (शोभन कर्म फल पुष्प) उत्पन्न और प्राप्त होते हैं । इससे यह परमात्मा ही वामनी (कर्मफलदाता शोभनपुण्यादि को प्राप्त कराने वाला) है । क्योंकि यही सब वामो (कर्म फलो) को प्राप्त कराता है । यही भामनी (प्रकाश का प्रापक) है । क्योंकि यही सब लोकों में प्रकाशता है । इस प्रकार श्रुत्यर्थ के ईश्वर में संघटित सिद्ध होने से यहाँ अन्तर्गता परमेश्वर है ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

कथं पुनराकाशवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणोऽयत्नस्थानमुपपद्यत इति । अत्रोच्यते—भवेदेवाज्जबल्लक्ष्मि यद्येतदेवेक स्थानमस्य निदिष्टं भवेत् । सन्ति ह्यन्यान्यपि पृथिव्यादीनि स्थानान्यस्य निदिष्टानि—'य पृथिव्या तिष्ठत्' (बृ० ३।७।३) इत्यादिना । तेषु हि चक्षुरपि निदिष्टम्—'यश्चाक्षुषि तिष्ठत्' इति । स्थानादिव्यपदेशात्' इत्यादिग्रहणेनैतद्दर्शयति—न केवल स्थानमेवैक-मनुचित ब्रह्मणो निदिश्यमान दृश्यते, किं तर्हि ? नामरूपमित्येवजातीयकमप्य-नामरूपस्य ब्रह्मणोऽनुचित निदिश्यमान दृश्यते—'तस्योदिति नाम' 'हिरण्य-इमंश्च' (छा० १।६।७।१६) इत्यादि । निगुणमपि सद्ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणै-सगुणमुपासनार्थं तत्र यत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव । सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरध्यते, शान्दग्राम इव विष्णोरित्येतद-प्युक्तमेव ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तार्थ में शका होती है कि आकाश तुल्य सर्वगत ब्रह्म का नेत्ररूप अल्प स्थान कैसे सिद्ध हो सकता है ? यहाँ कहा जाता है कि यह अमिद्धि अप्रकृतता सब

१ भयति—समुत्पद्यन्ते, वामानि शोभनानि फलानि यतः स सम्यक्त्वम् इति ।

होती, कि यदि यह एक ही स्थान इस ब्रह्म का निर्दिष्ट (कथित) होता । ऐसी बात है नहीं, क्योंकि अन्य भी पृथिवी आदि स्थान इसके निर्दिष्ट हैं । जैसे लिखा है कि (वह पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी का नियन्ता है) इत्यादि । और उन पृथिवी आदिकों में चक्षु भी निर्दिष्ट है कि (जो चक्षु में रहता हुआ चक्षु का नियन्ता है) और (स्थानादि व्यपदेशात्) इसमें आदि शब्द का ग्रहण से वह दशति है कि ब्रह्म का केवल एक अनुचित स्थान ही कहा गया नहीं दीखता है, किन्तु इस प्रकार के नाम रूप रहित ब्रह्म के अनुचित नाम और रूप के कथन भी दीखते हैं कि (उसका उद् यह नाम है) और वह हिरण्यमय दाढ़ी वाला है) इत्यादि । भाव यह है कि वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म का नाम रूप में स्थिर गुणों के द्वारा उपासना के लिए तत्तन् स्थानों में सगुण उपदेश दिया जाता है, यह पहले भी कहा ही गया है । और सर्वगत ब्रह्म का भी ज्ञान उपासना के लिए स्थान विशेष विरुद्ध नहीं होता है, जैसे विष्णु की उपासना के लिए शालग्राम विरुद्ध नहीं होता है । यह भी पहले कहा जा चुका है ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अपिच नैवात्र विवदितव्यम्—किं ब्रह्मास्मिन्वाक्येऽभिधीयते न वेति । सुखविशिष्टाभिधानादेव ब्रह्मत्वं सिद्धम् । सुखविशिष्टं हि ब्रह्म यद्वाक्योपक्रमे प्रकान्तं 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, तदेवेहाभिहितं, प्रकृतपरिग्रहस्य न्याय्यत्वात् । आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छा० ४।१।४।१) इति च गतिमात्राभिधानप्रतिज्ञानात् । कथं पुनर्वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्म विजायत इति । उच्यते—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्येतदग्नीनां वचनं श्रुत्वोपकोसल उवाच—'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि' इति । तत्रेदं प्रतिवचनम्—'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' (छा० ४।१।०।५) इति । तत्र खंशब्दो भूताकाशे निरुद्धो लोके । यदि तस्य विशेषणत्वेन कंशब्दः सुखवाची नोपादीयेत, तथा सति केवले भूताकाशे ब्रह्मशब्दो नामादिष्वेव प्रतीकाभिप्रायेण प्रयुक्त इति प्रतीतिः स्यात् । तथा कंशब्दस्य विषयेन्द्रियसंपर्कजनिते सामये सुखे प्रसिद्धत्वात्, यदि तस्य खंशब्दो विशेषणत्वेन नोपादीयेत, लौकिकं सुखं ब्रह्मेति प्रतीतिः स्यात् । इतरेतरविशेषिणी तु कंखंशब्दौ सुखात्मकं ब्रह्म गमयतः । तत्र द्वितीये ब्रह्मशब्देऽनुपादीयमाने कं खं ब्रह्मेत्येवोच्यमाने कंशब्दस्य विशेषणत्वेनैवोपयुक्तत्वासुखस्य गुणस्याध्येयत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्युभयोः कंखंशब्दयोर्ब्रह्मशब्दशिरस्त्वं 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति । इष्टं हि सुखस्यापि गुणस्य गुणिवद्ध्येयत्वम् । तदेव वाक्योपक्रमे सुखविशिष्टं ब्रह्मापदिष्टम् । प्रत्येकं च गार्हपत्यादयोऽननयः स्वं स्वं महिमानमुपदिश्य 'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या च' इत्युपसंहरन्तः पूर्वत्र ब्रह्म निर्दिष्टमिति जापयन्ति । 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति च गतिमात्राभिधान-

प्रतिज्ञानमर्थान्तरविवक्षा वारयति । 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवविदि पाप कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१।४।३) इति चाक्षित्वपुरुष विज्ञानत पापेनानुपघात ब्रुवन्नक्षिस्थानस्य पुरुषस्य ब्रह्मत्व दर्शयति । तस्मात्प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्षिस्थानता सयद्ब्रह्मत्वादिगुणता चोक्त्वाचिरादिका तद्विदो गतिं वक्ष्यामीत्युपक्रमते—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच' (छा० ४।५।१) इति ॥ १५ ॥

यहाँ इस वाक्य में ब्रह्म कहा जाता है या नहीं कहा जाता है ? इस प्रकार के विवाद यहाँ नहीं करने चाहिए । क्योंकि मुख विशिष्ट का कथन से ही ब्रह्मत्व सिद्ध निश्चित है । मुखविशिष्ट ही जो ब्रह्मवाक्य के आरम्भ में निरूपण के लिए प्रस्तुत हुआ है कि (प्राण ब्रह्म है क मुख ब्रह्म ख विभु ब्रह्म है) वही ब्रह्म यहाँ नेत्र में कहा गया है, क्योंकि प्रवृत्त का ग्रहण न्याय (उचित) होता है । एवं उपकोशल की सेवा से प्रसन्न अग्नि देव ने (प्राणो ब्रह्म) इत्यादि रीति से ब्रह्म का उपदेश करके (तेरा आचार्य गति-मार्ग कहेगा) इस प्रकार गति मात्र के कथन की प्रतिज्ञा की है । इसने विशेषत आचार्य की गति मात्र वक्तव्य है । अन्य उपदेश तो अग्नि के ब्रह्म स्वरूप उपदेश का अनुवाद मात्र है । ऐसा नहीं मानने पर प्रतिज्ञादि से विरोध होगा । यदि कहो कि वाक्य के उपक्रम में मुख विशिष्ट ब्रह्म कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि (प्राण ब्रह्म है, क ब्रह्म है, ख ब्रह्म है) इस अग्नि के वचन को सुनकर उपकोशल ने कहा कि (सूत्रात्मरूप प्राण को ब्रह्म जानता हूँ, परन्तु तुच्छ विषयमुख और जड़ आकाश को तो ब्रह्म नहीं जानता हूँ) इस सशय में अग्नि का प्रतिवचन है कि (जो ही क है वही ख है और जो ख है वही क है) यहाँ तात्पर्य यह है कि लोक में ख शब्द भूताकाश में निरुद्ध है (भूतरूप आकाश का वाचक रूप से निश्चित है) यदि उस ख का विशेषण रूप से मुख वाचक क शब्द का ग्रहण नहीं होता, तो ऐसी प्रतीति होती कि केवल भूताकाश में प्रतीक के अग्निप्राय से ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे कि नाम मन आदि में ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है । इसी प्रकार के शब्द को विषय एवं इन्द्रियों के सम्बन्ध से जन्म सद्गोप सौपद्रव्य विनश्वर सुखार्थ में प्रसिद्ध होने से यदि उसका विशेषण रूप से ख शब्द का ग्रहण नहीं किया जाता तो लौकिक मुख ब्रह्म है ऐसी प्रतीति होती और परस्पर पूर्वरीति से विशेषितार्थक क ख शब्द तो अनित्य मुख तथा भूताकाश से मिश्र नित्य सुखात्मक विभु ब्रह्म का बोध कराते हैं । यदि कहा जाय कि मुख स्वरूप ब्रह्म का बोध के लिए तो (क ख ब्रह्म) इतने ही की जरूरत है, दूसरा ब्रह्म शब्द का श्रुति में क्यों ग्रहण किया गया है, तो कहा जाता है कि वहाँ दूसरे ब्रह्म शब्द के नहीं ग्रहण करने पर और (क ख ब्रह्म) इतना ही कहने पर क शब्द ख का विशेषण रूप से उपयोगी (सफ़ल) होगा, ख का विशेषण होकर उसको भूताकाश

से व्यावृत्त करेगा, इससे विशेषण रूप से उपयुक्त होने से सुख गुण होगा और खं प्रधान होगा, इसी से गुण रूप सुख ध्येय नहीं होगा, उसमें ध्यानाविषयता की प्राप्ति होगी, वह न हो इसलिए कं खं दोनों शब्दों को ब्रह्म शिरवाला (कं ब्रह्म खं ब्रह्म) ऐसा किया गया है । यद्यपि ऐसा करने पर भी सुख ब्रह्म का गुण (विशेषण है) तथापि विशिष्ट ब्रह्म के ध्यान में गुणी ब्रह्म के समान गुण रूप सुख को भी ध्येयत्व इष्ट है । और (कं खं ब्रह्म) कहने पर ख गुणविशिष्ट ब्रह्म ध्येय होगा विशेषण रूप से खं भी ध्येय होगा परन्तु खं का विशेषण कं विशेषण का विशेषण हो जाने से ध्येय नहीं होगा । इसलिए सुख विशिष्ट विभ्रुता विशिष्ट ब्रह्म वाक्य के उपक्रम में इस प्रकार उपदिष्ट है । और प्रत्येक गार्हपत्यादि अग्नियों ने अपनी २ महिमाओं का उपदेश करके (हे सोम्य ! तेरे लिए ये हमारी विद्या और आत्मविद्या कहीं गई है) इस प्रकार उपसंहार करती हुई समझाती है कि प्रथम ब्रह्म का निर्देश किया गया है । और (आचार्य तेरा गति कहेगा) इस प्रकार गतिमात्र के कथन का जो प्रतिज्ञान है, वह अर्थान्तर की विवक्षा का वारण करता है । एवं (जैसे कमल के पत्र में जल लीन नहीं होता है, वैसे ही इस प्रकार जानने वाले में पाप कर्म) । इस प्रकार नेत्रस्थ पुरुष को जानने वाले को पाप से पीड़ा हिंसा के अभाव को कहता हुआ आचार्य अक्षिस्थ पुरुष को ब्रह्मत्व दर्शाता है । जिससे सिद्ध होता है कि प्रकृत ब्रह्म की ही अक्षिस्थानता और संयद्वात्मत्वादिगुणता को कहकर और उसको जानने वालों की अर्चि आदि गति (मार्ग) कहूँगा इस आशय से वक्ता आरम्भ करता है कि (जो यह आँख में पुरुष देखता है वह आत्मा है ऐसा कहा) इत्यादि ॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षिस्थानः पुरुषः परमेश्वरः, यस्माच्छ्रुतोपनिषत्कस्य श्रुतरहस्य-विज्ञानस्य ब्रह्मविदो या गतिर्देवयानाख्या प्रसिद्धा श्रुतौ—‘अथौत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते’ (प्रश्न० १।१०) इति । स्मृतावपि—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः पण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ (गीता० ८।२४) इति ।

सैवेहाक्षिपुरुषविदोऽभिधीयमाना दृश्यते । ‘अथ यदु चैवास्मिञ्छब्धं कुर्वन्ति यदि च नार्चिपमेवाभिसम्भवन्ति’ इत्युपक्रम्य ‘आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनाम्ब्रह्म गमयत्येव देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते’ (छा० ४।१।५) इति । तदिह ब्रह्म-विद्विषयया प्रसिद्धया गत्याक्षिस्थानस्य ब्रह्मत्वं निश्चीयते ॥ १६ ॥

इस वदयमाण हेतु से भी अक्षिस्थानवाला पुरुष परमेस्वर है, क्योंकि जिसने उपनिषदों को मुत्ता है और श्रवण पूर्वक रहस्यमय उपासनाओं का अनुष्ठान (आचरण) किया है, उस सगुण ब्रह्मोपासक ज्ञानी को श्रुतोपनिषत्क कहा गया है, उस श्रुतोपनिषत्क उपासना रहस्य (मर्म) के ज्ञानी सगुण ब्रह्म वेत्ता की जो देवयान नामक गति (मार्ग) श्रुति में प्रसिद्ध है कि (तप ब्रह्मचर्य श्रद्धा और विद्या से आत्मा का अवेपण ध्यान चिन्तन उपासना करके अर्थ (मृत्यु के बाद) उत्तर मार्ग से सूर्य लोक में प्राप्ति पूर्वक सगुण ब्रह्म स्थान को उपासक प्राप्त करते हैं) यह ब्रह्म प्राणों का आश्रय है यह अमृत है यह अमय है, यही परमगति है, अर्थात् सगुण ब्रह्म निर्गुण स्वरूप ही है उसकी सत्ता एक है, ज्ञानपूर्वक उसको प्राप्त करके उससे फिर ससार में नहीं आता है। स्मृति में भी कहा है कि (अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण छ मास के अभिमानी देवों से युक्त मार्ग में मर कर प्राप्त होने वाले ब्रह्मोपासक जन ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म को प्राप्त करते हैं) इस पूरे कही रीति से श्रुतोपनिषत्क उपासक की जो गति कही गयी है, वही गति यहाँ अक्षिस्थ पुरुष के ज्ञानी को अभिधीयमान (कही हुई) देली जाती है कि (इस प्रकार के उपासक के मरने पर यदि अन्य लोभ उसके शव (मृत शरीर) सम्बन्धी कर्म करते हैं वा नहीं करते हैं, परन्तु वह मर कर अक्षि को प्राप्त करता है। इस प्रकार आरम्भ करके लिखा है कि (आदित्य से चन्द्रमा को चन्द्र से विद्युत् को प्राप्त होते हैं) तब अमानव पुरुष ब्रह्मलोक से आकर उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करता है, ब्रह्म लोक में ले जाता है, यही देव मार्ग है, इसी को ब्रह्म पथ कहते हैं, इस मार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त पुरुष इस मानव ससार जन्ममरणादि आवृत्ति में नहीं प्राप्त होते हैं, इत्यादि। अतः यहाँ ब्रह्मविद् विषयक प्रसिद्ध गति से अक्षिस्थानवाला पुरुष के ब्रह्मत्व का निश्चय किया जाता है ॥ १६ ॥

अनवस्थितैरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

यत्पुनरुक्तम्—छायात्मा विज्ञानात्मा देवतात्मा वा स्यादक्षिस्थान—इति। अत्रोच्यते—न छायात्मादिरितर इह ग्रहणमर्हति। कस्मात्? अनवस्थिते। न तावच्छायात्मनश्चक्षुषि नित्यमवस्थान सम्भवति। यदैव हि कश्चित्पुरुषश्चक्षुरासीदिति तदा चक्षुषि पुरुषच्छाया दृश्यते, अपगते तस्मिन् दृश्यते। 'य एषोऽक्षिणि पुरुष' इति च श्रुति सन्निधानात्स्वचक्षुषि दृश्यमान पुरुषमुपास्यत्वेनोपदिशति। नचोपासनाकाले छायाकर कश्चित्पुरुष चक्षुसमीपे सन्निष्ठाप्योपास्त इति युक्त कल्पयितुम्। 'अस्मैव शरीरस्य नाशमन्वेप नश्यति' (छा० ८।१।१) इति श्रुतिश्छायात्मनोऽप्यनवस्थितत्व दर्शयति। असम्भवाच्च तस्मिन्मृतत्वादीनां गुणानां न छायात्मनि प्रतीतिः।

जो यह कहा या कि छायात्मा, विज्ञानात्मा, देवतात्मा वा आँव में स्थान वाले हैं। यहाँ कहा जाता है कि छायात्मादि कोई भी ब्रह्म से इतर (भिन्न) यहाँ ग्रहण

के योग्य नहीं हो सकता है। क्योंकि इन सबकी अक्षि में अनवस्थिति है अर्थात्—सदा स्थिति का अभाव है। प्रथम तो छायात्मा की नेत्र में नित्य स्थिति का सम्भव नहीं है, क्योंकि जब ही कोई पुरुष आँख के पास में आता है तभी आँख में पुरुष की छाया दीखती है, उस पुरुष के चले जाने पर छाया नहीं दीखती है, और (जो यह आँख में पुरुष दीखता है) ऐसा कहने वाली श्रुति मन्निधान (नमीपता) के कारण अपने नेत्र में दृश्यमान (दीख पड़ने वाले) पुरुष को उपास्य रूप से उपदेश करती है। और उपासक पुरुष उपासना काल में अपने नेत्र में छाया को सिद्ध करने वाले किसी पुरुष को नेत्र के समीप में उपस्थित करके उपासना करता है यह कल्पना करने योग्य नहीं है। क्योंकि (इस शरीर के नाभ के बाद छायात्मा नष्ट होता है) इस प्रकार श्रुति भी छायात्मा को अनवस्थितत्व दर्शाती है, और उस छायात्मा में अमृतत्वादि गुणों का असम्भव है, इससे (एषोऽक्षिणि) यहाँ छायात्मा की प्रतीति नहीं होनी है।

तथा विज्ञानात्मनोऽपि साधारणे कृत्स्नशरीरेन्द्रियसम्बन्धे सति चक्षुष्ये-
वावस्थितत्वं वक्तुं न शक्यम्। ब्रह्मणस्तु व्यापिनोऽपि दृष्ट उपलब्ध्यर्थो हृदया-
दिदेशविशेषसम्बन्धः। समानश्च विज्ञानात्मन्यप्यमृतत्वादीनां गुणानाम-
सम्बन्धः। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव, तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं
तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वाभयत्वे नोपपद्येते। संयद्दामत्वादय-
श्चैतस्मिन्नर्नेश्वर्यादनुपपन्ना एव। देवतात्मनस्तु 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः'
इति श्रुतेर्यद्यपि चक्षुष्यवस्थानं स्यात्तथाप्यात्मत्वं तावन्न सम्भवति, परा-
ग्रूपत्वात्। अमृतत्वादयोऽपि न सम्भवन्ति, उत्पत्तिप्रलयश्रवणात्। अमरत्वमपि
देवानां चिरकालावस्थानापेक्षम्। ऐश्वर्यमपि परमेश्वरायत्तं न स्वाभाविकम्।

भीपास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।

भीपास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(तै० २।८) इति मन्त्रवर्णात्। तस्मात्परमेश्वर एवायमक्षिस्थानः प्रत्येतव्यः।
अस्मिश्च पक्षे दृश्यत इति प्रसिद्धबहुपादानं शास्त्राद्यपक्षं विद्वद्विषयं प्ररोचनार्थ-
मिति व्याख्येयम्॥ १७॥

इसी प्रकार विज्ञानात्मा के भी सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों के साथ साधारण
(सामान-तुल्य) सम्बन्ध रहते चक्षु में ही अवस्थितत्व कहना योग्य नहीं है। एवं
ब्रह्म को व्यापक होने पर भी ज्ञानोपासना के लिए हृदयादि देश विशेष का सम्बन्ध
श्रुति में वर्णित देखा गया है। छायात्मा के समान ही विज्ञानात्मा में अमृतत्वादि
गुणों का असम्बन्ध है। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मा से अनन्य (अमिन्न)
ही है, इससे अमृतत्व अभयत्व भी होना चाहिए तथापि अविद्या और काम जन्य
मर्त्यता (मरण शीलता) उस विज्ञानात्मा में अव्यारोपित है, और भय भी अव्यारोपित
है। जिससे अमृतत्व और अभयत्व दोनों सिद्ध नहीं हो सकते हैं। और अनीद्वरता

(ऐश्वर्य का अभाव) से सयधामन्वादि गुण भी इस विज्ञानात्मा में अनुपपन्न (असिद्ध) ही हैं । (यह आदित्य किरणों द्वारा नेत्र में प्राप्त है) इस श्रुति की उक्ति के अनुसार यद्यपि देवतात्मा की चक्षु में स्थिति है, तथापि देवता को भी पहले तो आत्मत्व का सम्भव नहीं है, क्योंकि पराग (वाह्य) अनात्म रूपता है । और उत्पत्ति प्रलय के सुनने से अमृत्वादि का भी देवतात्मा में सम्भव नहीं है । देवताओं को अमरत्व भी अन्य प्राणों की अपेक्षा में चिरकाल तक स्थिति की अपेक्षा (इष्टि) से है । और देवताओं के ऐश्वर्य (विमूर्ति) भी ईश्वराधीन हैं भ्वाभाविक नहीं, क्योंकि वेदमन्त्र कहता है कि (इस ईश्वर से भय के कारण वायु चलता है, सूर्य उदित होता है, और अग्नि तथा इन्द्र भय के कारण अपने-अपने कार्य करते हैं, और पञ्चम मृत्यु भय के कारण गतायु के पास जाता है ।) अतः यह अक्षिभ्यः पुंस्त्व परमेश्वर ही है, ऐसा समझना चाहिए । इस पक्ष में 'इत्येते' दीखता है, इस प्रकार प्रसिद्ध ज्ञात के समान जो ग्रहण (कथन) है, वह शास्त्रादि की अपेक्षा में है । अर्थात् (प्रतिबोधविहित मतम् केन० २।४) इस श्रुति के अनुसार यहाँ चक्षु शब्द सब इन्द्रिय जन्य बुद्धि वृत्ति का बोधक है और सब बुद्धि वृत्ति में बुद्धि वृत्तियों के साक्षिरूप में ब्रह्म ही प्रगटता है । इस प्रकार समझने वाले को ही ब्रह्म ज्ञात अनुभूत होता है, इस ऐसे विद्वान् का अनुभव विषयक यह ग्रहण है, और अज्ञ प्राणों के प्रति प्ररोचनार्थक (रुचि उत्पादनार्थक) यह उपदेश है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए ॥ १७ ॥

अन्तर्याम्यधिकरण (५)

प्रधान जीव ईशो वा कोऽन्तर्यामी जगत्प्रति ।

कारणत्वात्प्रधान स्याज्जीवो वा कर्मणो मुक्तात् ॥ १ ॥

जीवेकत्वामृतत्वादेरन्तर्यामी परमेश्वर ।

द्रष्टृत्वादेर्न प्रधान न जीवोऽपि नियम्यत ॥ २ ॥

जगत् के प्रति श्रुत अन्तर्यामी कौन है ? प्रधान है, या जीव है, या ईश्वर है ? ऐसा सदेह होने पर पूर्वपक्ष है कि जगत् का कारण होने में प्रधान अन्तर्यामी हो सकता है । अथवा कर्म द्वारा जीव हो सकता है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि (एष त आत्मान्तर्याम्यमृत) इस श्रुति में जीव के साथ अभेद श्रुति और अमृत्वादि के श्रवण से परमात्मा अन्तर्यामी है, द्रष्टृत्वादि के श्रवण में प्रधान नहीं है । तथा नियम्य (नियमन का विषय) होने से नियन्ता अन्तर्यामी जीव भी नहीं है ॥ २ ॥

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (अधिदैवादिषु योऽन्तर्यामी श्रूयते स परमात्मैव नाय । तस्य परमात्मनो धर्माणा व्यपदेशादिति) अधिदैवादिवादिकों में जो अन्तर्यामी मुना जाता है सो परमात्मा ही है, अन्य नहीं है, क्योंकि उस परमात्मा के धर्मों का कथन है ।

‘य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति’ इत्युपक्रम्य श्रूयते—‘यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येव त आत्मान्तर्याम्यमृतः’ (बृ० २।७।१, २) इत्यादि । अत्राधिदेवतमधिलोकमधिदेवमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयितान्तर्यामीति श्रूयते । स किमधिदैवाद्यभिमानी देवतात्मा कश्चित्किंवा प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्यः कश्चिद्योगी किंवा परमात्मा किंवार्थान्तरं किञ्चिदित्यपूर्वसंज्ञादर्शनात्संशयः । किं तावन्नः प्रतिभाति, संज्ञाया अप्रसिद्धत्वात्संज्ञिनाऽप्यप्रसिद्धनार्थान्तरेण केनचिद्भूवितव्यमिति । अथवा नानिरूपितरूपमर्थान्तरं गव्यमस्त्यभ्युपगन्तुम् । अन्तर्यामिशब्दश्चान्तर्यमनयोगेन प्रवृत्तो नात्यन्तमप्रसिद्धः । तस्मात्पृथिव्याद्यभिमानी कश्चिद्देवोऽन्तर्यामी स्यात् । तथा च श्रूयते—‘पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः’ (बृ० ३।१।१०) इत्यादि । स च कार्यकरणवत्त्वात्पृथिव्यादीनन्तस्तिष्ठान्यमयतीति युक्तं देवतात्मनो यमयितृत्वम् । योगिनो वा कस्यचित्सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात्, नतु परमात्मा प्रतीयेत, अकार्यकरणत्वादिति ।

(जो मनुष्यादि के स्थान रूप इस लोक का तथा देवादि के स्थान रूप इस लोक का नियन्त्रण करता है, तथा जो सब भूतों का अन्तरात्मा होता हुआ सब भूतों का नियन्त्रण अनुशासन करता है । उसको क्या जानते हो ?) इस प्रकार आरम्भ करके सुना जाता है कि (जो पृथिवी में रहता हुआ पृथ्वी का अन्तरात्मा है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी का अन्तरात्मा होकर पृथिवी का नियन्ता है, वही अमृत अन्तर्यामी तेरा आत्मा है) इत्यादि । इस अन्तर्यामी ब्राह्मण ग्रन्थ में अधिदेव (पृथिवी आदि देव में वर्तमान) तथा इसी प्रकार लोकादि में वर्तमान, अधिलोक, अधिदेव, अधियज्ञ, अधिभूत, अध्यात्म स्वरूप और सब के अन्तर में स्थित कोई सर्व नियन्ता रूप अन्तर्यामी सुना जाता है, जहाँ अपूर्व संज्ञा (नाम) के देखने से संशय होता है कि वह अधिदेवादि के अभिमानी कोई देवतात्मा है, अथवा अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त किया हुआ कोई योगी है, अथवा परमात्मा है, अथवा इन सब से भिन्न कोई आन्तर विलक्षण पदार्थ है । प्रथम हमको क्या प्रतीत होता है कि संज्ञा के अप्रसिद्ध होने से संज्ञी भी कोई अप्रसिद्ध अर्थान्तर होना चाहिए । अथवा अनुरूपित (अप्रसिद्ध) रूप वाला पदार्थान्तर है ? ऐसा मानना नहीं बन सकता है । और अन्तर्यामी शब्द अन्तर में नियमन रूप अवयवार्थ द्वारा प्रवृत्त हुआ है इससे अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है । जिससे पृथिवी आदि का अभिमानी कोई देव अन्तर्यामी होगा । इस पक्ष के अनुसार ही सुना जाता है कि (इस देव का पृथिवी ही आयतन (शरीर) है । और अग्निर्लोक (नेत्र) है, सर्वार्थ प्रकाशक ज्योतिर्मान है इत्यादि । वह देव शरीर और इन्द्रिय वाला होने के कारण पृथिवी आदि

के अन्तर में रहता हुआ उनका नियमन करता है। इससे देवतात्मा को नियन्त्रित होना युक्त है। अथवा किसी सिद्ध योगी को सब में अनुप्रवेश द्वारा नियन्त्रित हो सकती है। परमात्मा नियन्त्रा रूप नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वह शरीरेन्द्रियादि साधन रहित है।

एव प्राप्ते इदमुच्यते—योज्ज्वर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते स परमात्मैव स्यान्नान्य इति। कुत ? तद्धर्मव्यपदेशात्। तस्य हि परमात्मनो धर्मा इह निर्दिश्यमाना दृश्यन्ते। पृथिव्यादि तावदधिदैवादिभेदभिन्न समस्त विकारजातमन्तस्तिष्ठन्यमयतीति परमात्मनो यमयितृत्व धर्म उपपद्यते। सर्वविकारकारणत्वे सन्ति सर्वव्यक्त्युपपत्ते। 'एष त आत्माज्ज्वर्याम्यमृत' इति चात्मत्वामृतत्वमुख्ये परमात्मन उपपद्येते। 'य पृथिवी न वेद' इति च पृथिवीदेवताया अधिज्ञेयमन्तर्यामिण ब्रुवन्देवतात्मनोज्ज्वर्यामन्तर्यामिण दर्शयन्ति। 'पृथिवी देवता ह्यहमस्मि पृथिवीत्यात्मान विजानीयात्'। तथा 'अदृष्टोऽश्रुत' इत्यादिव्यपदेशो रूपादिविहीनत्वात्परमात्मन उपपद्यत इति। यत्तु—अकार्यकरणस्य परमात्मनो यमयितृत्व नोपपद्यते—इति। नैष दोषः। यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणवत्त्वोपपत्ते। तस्याप्यन्यो नियन्तेत्यनवस्थादोषश्च न सम्भवति, भेदाभावात्। भेदे हि सत्यनवस्थादोषोपपत्तिः। तस्मात्परमात्मेवान्तर्यामी।

इस प्रकार पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि अधिदैवादि में जो अन्तर्यामी सुना जाता है वह परमात्मा ही हो सकता है अन्य नहीं, क्योंकि परमात्मा के ही धर्मों का वहाँ कथन है। साक्षात् उसी के धर्म कहे गये यहाँ देखे जाते हैं। प्रसिद्ध पृथिवी आदि अधिदेवतादि भेद से भिन्न (भेदयुक्त) समस्त विकार समूह के अन्तर में रह कर नियमन करता है, इस कथन से परमात्मा का ही नियन्त्रित्व धर्म सिद्ध होता है। क्योंकि परमात्मा को ही सब विकारों के कारण होते हुए सर्वशक्तिमत्त्व की उपपत्ति (सिद्ध) है। और (यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है) इसमें वर्णित आत्मत्व और अमृतत्व मुख्यरूप से परमात्मा में ही सिद्ध होते हैं। और (जिसको पृथिवी नहीं जानती है) इस प्रकार पृथिवी देवता से अधिज्ञेय अन्तर्यामी को कहा हुआ वक्ता देवतात्मा से अथ अन्तर्यामी को दर्शाता है। क्योंकि पृथिवी रूप जो देवता है, वह तो मैं पृथिवी हूँ, इस प्रकार अपने को जान सकता है। इसी प्रकार (अदृश्य-अमृत) इत्यादि कथन भी परमात्मा का रूपादि रहित होने से संगत होता है। और जो यह कहा था कि शरीरेन्द्रिय रहित परमात्मा को नियन्त्रित नहीं बन सकता, यह दोष नहीं है, क्योंकि परमात्मा जिनका नियन्त्रण करता है उनके ही शरीर और इन्द्रियों से शरीरेन्द्रियवाला हो जाता है, इसमें उसको कार्य कारणवत्ता की सिद्धि है। जैसे देहादि के नियन्त्रा जीव का ईश्वर नियन्त्रा है। इसी प्रकार उस ईश्वर का भी अन्य नियन्त्रा होगा तब अनवस्था दोष होगा। वह दोष भी

नहीं हो सकता है, क्योंकि जीवात्मा परमात्मा में सत्यभेद का अभाव है, इससे नियन्ता रूप से जो जीव प्रसिद्ध है, वह परमात्मा ही है, ऐसा उपाधि का वारण द्वारा उपदेश है। यदि सत्यभेद हो तो अनवस्था दोष की मिद्धि हो। इससे सर्वात्मा परमात्मा ही अन्तर्यामी है वह सिद्ध हुआ ॥ १८ ॥

न च स्मार्तमतद्वर्माभिलापात् ॥ १९

संक्षिप्तार्थ है कि (स्मार्त सांख्यादिस्मृतिषु प्रायः प्रसिद्धं प्रधानं तु न अन्तर्यामी शब्दार्थः प्रधानमित्रचेतनधर्माणामभिलापादिति । यद्यपि (धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः) इति मनुवचनानुसारेण धर्मशास्त्राणामेव स्मृतिशब्दार्थत्वं विद्यते, तथाप्यत्र दर्शने गीता-पुराणदर्शनादीनामपि स्मृतिशब्दार्थत्वमुपलभ्यते—इति व्ययम्) सांख्यादि स्मृतियों में अधिक प्रसिद्ध प्रधान तो यहाँ अन्तर्यामी शब्द का अर्थ है नहीं, क्योंकि (न तद् अतद-तस्य धर्माः—अतद्वर्माः—तेषामभिलापात्) जो प्रधान नहीं है, जड़ प्रधान से मित्र चेतन है उसके धर्मों का कथन है और धर्मशास्त्र को स्मृति कहा जाता है इस मनु वचन के अनुसार धर्मशास्त्र ही स्मृति शब्द का अर्थ है। तथापि वेदान्त दर्शन में गीता पुराण इतिहास दर्शन की भी स्मृति-शब्दार्थता उपलब्ध होती है, इसे ध्यान में रखना चाहिये, इसमें कारण है कि इन सभी में परापरधर्म का शासन है। इससे सब धर्मशास्त्र कह सकते हैं, और वैशेषिक दर्शन का तो प्रथम सूत्र ही है कि—(अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः) इत्यादि। पूर्वमीमांसा में धर्म का व्याख्यान है ही। सांख्ययोग भी विवेकादि रूप धर्मों का पूर्ण व्याख्यान करते हैं। इत्यादि।

स्यादेतत् । अदृष्टत्वादयो धर्माः सांख्यस्मृतिकल्पितस्य प्रधानस्याप्युप-पद्यन्ते, रूपादिहीनतया तस्य तैरभ्युपगमात् । 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' (मनु० १।५) इति हि स्मरन्ति । तस्यापि नियन्तृत्वं सर्वविकारकार-णत्वादुपपद्यते । तस्मात्प्रधानमन्तर्यामिगच्छं स्यात् । ईक्षतेनाशब्दम्' (ब्र० १।१.५) इत्यत्र निराकृतमपि सत्प्रधानमिहादृष्टत्वादिव्यपदेशसंभवेन पुनराशङ्क्यते ।

यहाँ शंका होती है कि यह पूर्वोक्त कथन हो सकता है, परन्तु अदृष्टत्वादिधर्म सांख्य-स्मृति से कल्पित स्वतन्त्र प्रधान के भी सिद्ध हो सकते हैं, केवल परमात्मा के ही हो सकें यह बात नहीं है, क्योंकि रूपादिरहित स्वरूप से उन लोगों ने उस प्रधान को माना है (प्रधान तर्क का अविषय है, रूपादि रहित होने से अविज्ञेय है, और जड़ से सर्वत्र प्रसुप्त के समान होने से व्याप्त है) इस प्रकार स्मृति कहती है। सब विकारों का कारण होने से अपने कार्यों के प्रति उसकी भी नियन्त्रिता बन सकती है। जिससे प्रधान अन्तर्यामी शब्द का अर्थ हो सकता है। यद्यपि (ईक्षतेनाशब्दम्) यहाँ प्रधान निराकृत हो चुका है, तथापि यहाँ अदृष्टादिव्यवहार के सम्भव से फिर प्रधान की शंका होती है।

अत उत्तरमुच्यते—नच स्मार्त प्रधानमन्तर्यामिशब्द भवितुमर्हति । कस्मात् ? अतद्वर्माभिन्नापात् । तद्यप्यदृष्टत्वादिव्यपदेश प्रधानस्य सम्भवति तथापि न द्रष्टृत्वादिव्यपदेश सम्भवति, प्रधानस्याचेतनत्वेन तैरभ्युपगमात् । 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुत श्रोताऽमृतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' (बृह० ३।७।२३) इति हि वाक्यशेष इह भवति । आत्मत्वमपि न प्रधानस्यापपद्यते ॥ १९ ॥

अत उत्तर कहा जाता है कि प्रधान अन्तर्यामी शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रधान से भिन्न धर्मों का कथन है । यद्यपि अदृष्टत्वादि का व्यवहार (कथन) प्रधान को भी सम्भव है, तथापि दृष्टत्वादि का व्यवहार सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रधान को अचेतन रूप से उन लोगो ने माना है । और (अदृष्ट होते द्रष्टा हैं, अश्रुत होते श्रोता हैं, अमृत होते मन्ता हैं, अविज्ञात होते विज्ञाता हैं) इस प्रकार यहाँ वाक्य शेष है । एवं प्रधान को आत्मत्व भी युक्त हो सकता है ॥ १९ ॥

यदि प्रधानमात्मत्वद्रष्टृत्वाद्यसम्भवान्तर्यामीभ्युपगम्यते, शारीरमन्तर्हन्तर्यामी भवतु । शारीरो हि चेतनत्वादद्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता च भवति, आत्मा च प्रत्यक्त्वात् । अमृतश्च, धर्माधर्मफलोपभोगोपपत्तेः । अदृष्टत्वादयश्च धर्मा शरीरे प्रसिद्धा, दर्शनादिक्रियाया कर्तारं प्रवृत्तिविरोधात् । 'न दृष्टेर्दृष्टार पदये' (बृ० ३।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । तस्य च कार्यकरणमघातमन्तर्यामयितुं शीलं, भोक्तृत्वात् । तस्माच्छारीरोऽन्तर्यामीति । अत उत्तर पठति—

फिर शका होती है कि आत्मत्व दृष्टृत्वादि के असम्भव होने से यदि प्रधान को अन्तर्यामी नहीं माना जाता है, तो शरीरो जीवात्मा ही अन्तर्यामी हो । क्योंकि चेतन होने से जीवात्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता होता है । और प्रत्यक् (अन्तर) होने से आत्मा भी है । धर्माधर्म के फलों के उपभोग की उपपत्ति (सिद्धि) से अमृत (अविनाशी) है । अन्यथा शरीर के समान यदि जीव का नाश हो तो धर्मादि के फलों को कौन भोगेगा । जीवात्मा में अदृष्टत्वादि धर्म भी प्रसिद्ध हैं । क्योंकि दर्शन क्रिया की कर्ता में प्रवृत्ति का विरोध है । अर्थात् दर्शनकर्ता अपने आप उस दर्शन का विषय नहीं होता है । क्योंकि एक में कर्तृ-कर्मभाव विरुद्ध है । इसलिये अर्थ (दृष्टि के द्रष्टा को न देखो अर्थात्—नहीं देख सकते हो) इत्यादि श्रुत्यर्थ सिद्ध होता है । एवं उस जीव को कार्यकरण शरीरेन्द्रिय के अन्दर स्थिति पूर्वक उनका नियन्त्रण करने का स्वभाव है, क्योंकि वह भोक्ता है । यहाँ शका होती है कि शरीरादि के नियन्त्रण के बिना भोग नहीं हो सकता है । अतः शरीरात्मा अन्तर्यामी है । इस शका का उत्तर सूत्रकार मगवान् व्यास इस प्रकार देते हैं कि—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । शारीरश्च नान्तर्यामीष्यते । कस्मात् ? यद्यपि दृष्टृत्वादयो धर्मास्तस्य सम्भवन्ति तथापि घटाकाशवदुपाधिपरिच्छिन्नत्वात्

कात्स्न्येन पृथिव्यादिष्वन्तरवस्थातुं नियन्तुं च शक्नोति । अपि चोभयेऽपि हि शाखिनः काण्वा माध्यन्दिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते—‘यो विज्ञाने तिष्ठन्’ (वृ. ३।७।२२) इति काण्वाः । ‘य आत्मनि तिष्ठन्’ इति माध्यन्दिनाः । ‘य आत्मनि तिष्ठन्’ इत्यस्मिन्स्तावत्पाठे भवत्यात्मशब्दः शारीरस्य वाचकः । ‘यो विज्ञाने तिष्ठन्’ इत्यस्मिन्नपि पाठे विज्ञानशब्देन शारीर उच्यते । विज्ञानमयो हि शारीरः । तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम् ।

इस सूत्र में पूर्वसूत्र से ‘न’ इस पद की अनुवृत्ति (आगमन) होती है । जिससे सूत्रार्थ यह होता है कि शरीर-जीवात्मा अन्तर्यामी रूप से इष्ट मन्तव्य नहीं है । यद्यपि द्रष्टृत्वादि धर्म उसके सम्भव है, तथापि घटाकाश के समान उपाधि से परिच्छिन्न (परिमित) होने से पृथिवी आदि में पूर्णरूप से स्थिति के लिये और उनका नियन्त्रण करने के लिये वह समर्थ नहीं हो सकता है । दूसरी बात यह है कि काण्व और माध्यन्दिन शाखा वाले दोनों ही अन्तर्यामी से भेदपूर्वक इस शरीर को पृथिवी आदि के समान अन्तर्यामी के अधिष्ठान (आश्रय) रूप से और नियम्य रूपसे पढ़ते हैं । अर्थात् अन्तर्यामी के नियन्त्रण के अधीन जीव को कहते हैं (जो विज्ञान में रहता हुआ) इस प्रकार काण्व शाखा वाले कहते हैं । एवं (जो आत्मा में रहता हुआ) इस प्रकार माध्यन्दिन शाखा वाले पढ़ते हैं । (यो विज्ञाने तिष्ठन्) इस पाठ में, तो प्रत्यक्ष आत्म शब्द शरीर का वाचक प्रसिद्ध है । (य आत्मनि तिष्ठन्) इस पाठ में भी विज्ञान शब्द से शरीर कहा जाता है, क्योंकि जीव विज्ञानमय ही है । यद्यपि बुद्धि को ही विज्ञान कहा जाता है तथापि बुद्धिरूप उपाधिवाला होने से जीव भी विज्ञान शब्द से कहा जाता है । जिससे शारीर जीव से भिन्न ईश्वर अन्तर्यामी है यह सिद्ध हुआ ।

कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारवुपपद्यते, यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी यश्चायमितरः शारीरः । का पुनरिहानुपपत्तिः । ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ इत्यादि श्रुतिवचनं विरुद्ध्येत । अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽज्यं द्रष्टारं, श्रोतारं मन्तारं विज्ञातारं चात्मानं प्रतिपेक्षति । नियन्त्रन्तरप्रतिपेक्षार्थमेतद्वचनमिति चेत् ? न । नियन्त्रन्तराप्रसङ्गादविशेषश्रवणाच्च ।

यहाँ फिर भी शंका होती है कि एक देह में अन्तर्यामी=ईश्वर और शारीर=जीव ये दो द्रष्टा कैसे उत्पन्न (युक्त) हो सकते हैं ? यदि कहा जाय कि यहाँ अनुपपत्ति (अयुक्तता दोष) क्या है, तो उसका उत्तर है कि (इस अन्तर्यामी से अन्य द्रष्टा नहीं हैं) इत्यादि श्रुति वचन विरुद्ध होंगे । क्योंकि इस श्रुति वचन में प्रकृत अन्तर्यामी से अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आत्मा का यह वचन निषेध करता है । यदि कहा जाय कि यह वचन द्रष्टा आदि रूप जीवात्मा के निषेध के लिये नहीं है, किन्तु दूसरे नियन्ता के प्रतिषेध के लिये है, तो यह कहना

ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे नियन्ता का यहाँ प्रसंग नहीं है, निषेध का अविशेष (समान) रूप से श्रवण होता है, इससे अन्तर्यामी भिन्न द्रष्टा मान्य का निषेध है ।

अत्रोच्यते—अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोज्ञ सागेरान्त र्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिक । एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवतः । एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतो यथा घटाकाशो महाकाश इति । ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि ससारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्र चेति सर्वमेतदुपपद्यते । तथाच श्रुति—‘यत् हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति’ इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहार दर्शयति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन क पश्येत् इति विद्याविषये सर्वं व्यवहार वारयति ॥ २० ॥

यहाँ उत्तर कहा जाता है कि अविद्याजन्य कार्यकरणरूप उपाधिनिमित्तक यह जीव और अन्तर्यामी के भेद का व्यवहार होता है, पारमार्थिक (सत्य) व्यवहार नहीं है । प्रत्यगात्मा एक ही होता है, दो प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) हो नहीं सकता है, और एक का उपाधिकृत भेद का व्यवहार होता है, जैसे घटाकाश महाकाश यह औपाधिक भेद का व्यवहार होता है । उस औपाधिक भेद में ज्ञाना ज्ञेयादि के भेद विषयक श्रुतियाँ, और प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण, ससार का अनुभव और विधि-प्रतिषेध रूप शास्त्र में सब उत्पन्न (सिद्ध) होते हैं । वैसे ही श्रुति कहती है कि (जिस अविद्या काल में द्वैत के समान रहता है, उस काल में इतर द्रष्टा इतर दृश्य को देखता है) इस प्रकार अविद्या काल में सब व्यवहार को दर्शाती है । और (जिस काल में इस ज्ञानी को सब आत्मा ही हो गया उस काल में किससे किमको देखेगा) यह श्रुति विद्या काल में सब व्यवहार का धारण करती है ॥ २० ॥

अदृश्यत्वाधिकरण (६)

भूतयोनि प्रधान वा जीवो वा यदि वेश्वर ? ।

आद्यौ पक्षावुपादाननिमित्तस्याभिधानतः ॥

ईश्वरो भूतयोनि स्यात्सर्वजन्तवादिर्कोर्तनात् ।

दिव्याद्युक्तेन जीव म्यान्न प्रधान मिदोक्तिन ॥

(मत्तद्वेश्वर) इत्यादि श्रुतियों में अदृश्यतादि गुणवाला भूतों का योनिरूप जो पदार्थ कहा गया है, वह प्रधान है, या जीव है, या परमात्मा है, ऐसा सदाय होने पर पूर्व पक्ष है कि भूत योनि में प्रथम के दोनों पक्ष हो सकते हैं, अर्थात् प्रधान और जीव भूतयोनि कह सकते हैं, ‘माया तु प्रकृति विद्धि’ इत्यादि श्रुति मायारूप प्रकृति को उपादान रूप से कथन करती है, और जीव कर्म द्वारा निमित्त कारण है । यही कारणमात्र का योनि शब्द बोधक है इत्यादि । सिद्धान्त है कि सर्वजन्ता आदि सभी

के कथन से भूत योनि ईश्वर ही हो सकता है, दिव्यता आदि गुणों के कथन से जीव नहीं हो सकता है, तथा (अक्षरात् परतः परः) इस श्रुति में अपने कार्यों से पर अक्षर (प्रधान) से भूतयोनि को पर कहा गया है । इससे भेद की उक्ति (कथन) से प्रधान भूतयोनि नहीं हो सकता है इत्यादि ॥ १-२ ॥

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते’, ‘यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः’ (मुण्ड० १।१।५, ६) इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमयमद्रेश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं स्यादुत शारीर आहोस्वित्परमेश्वर इति । तत्र प्रधानमचेतनं भूतयोनिरिति युक्तम्, अचेतनानामेव तस्य दृष्टान्तत्वेनोपादानात् ।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

(मुण्ड० १।१।७) इति । नतूर्णनाभिः पुरुषश्च चेतनाविह दृष्टान्तत्वेनोपात्तौ । नेति ब्रूमः । नहि केवलस्य चेतनस्य तत्र सूत्रयोनित्वं केशलोमयोनित्वं चास्ति । चेतनाधिष्ठितं ह्यचेतनमूर्णनाभिः शरीरं सूत्रस्य योनिः, पुरुषशरीरं च केशलोम्नामिति प्रसिद्धम् । अपि च पूर्वत्रादृष्टत्वाद्यभिलाषसम्भवेऽपि द्रष्टृत्वाद्यभिलाषासंभवान्न प्रधानमभ्युपगतम् । इह त्वदृश्यत्वादयो धर्माः प्रधाने संभवन्ति । नचात्र विरुध्यमानो धर्मः कश्चिदभिलप्यते । ननु ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’ (मुण्ड० १।१।९) इत्ययं वाक्यशेषोऽचेतने प्रधाने न सम्भवति, कथं प्रधानं भूतयोनिः प्रतिज्ञायत इति । अत्रोच्यते—‘यया तदक्षरमधिगम्यते’ ‘यत्तदद्रेश्यम्’ इत्यक्षरशब्देनादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोनिं श्रावयित्वा पुनः स्ते श्रावयिष्यति—‘अक्षरात्परतः परः’ (मुण्ड २।१।२) इति । तत्र यः परोऽक्षराच्छ्रुतः स सर्वज्ञः सर्ववित्संभविष्यति । प्रधानमेव त्वक्षरशब्दनिर्दिष्टं भूतयोनिः । यदा तु योनिशब्दो निमित्तवाची तदा शारीरोऽपि भूतयोनिः स्यात्, धर्माधर्माभ्यां भूतजातस्योपार्जनादिति ।

अपरा विद्या के वाद पराविद्या उसे समझना चाहिये कि जिस विद्या से उस अक्षर (अविनाशी) को प्राप्त किया जाता है । (जो वह अक्षर है वह ज्ञानेन्द्रियों से अदृश्य है, कर्मेन्द्रियों से अग्राह्य है, गोत्रवर्ण रहित है, चक्षु और श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से रहित है, पाणि पादादि कर्मेन्द्रियों से रहित है, नित्य है, विभु (प्रभु) है, सर्वगत और अत्यन्त सूक्ष्म है, वह अव्यय (निर्विकार अपक्षय रहित) है, जिसको धीर (विद्वान्) लोग ‘भूतयोनि’ जानते हैं, उसी की विद्या परविद्या है ऐसा सुना जाता है । यहाँ संशय होता है कि क्या यह अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि प्रधान हो सकता

है, या जीव अथवा परमेश्वर । यहाँ पूर्व पक्ष है कि प्रधान अचेतन है, वही भूत योनि है ऐसा मानना युक्तियुक्त है, क्योंकि उस भूतयोनि का दृष्टान्त रूप से श्रुति में अचेतनो का ही ग्रहण किया गया है । (जैसे मकड़ी तंतुओं की सृष्टि सर्जन करती है, और फिर उनका ग्रहण उपसंहार करती है) और जैसे भूमि में औषधियाँ होती हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश लोम होते हैं, इसी प्रकार इस सर्ग काल में अक्षर से विद्वद् होता है । यहाँ अचेतन दृष्टान्त दिये गये हैं । यदि कहा जाय कि चेतन रूप मकड़ी और पुरुष दृष्टान्त रूप से गृहीत हैं, पृथिमात्र जड दृष्टान्त है, तो हम कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मकड़ी और पुरुष में केवल चेतन को सूत्र (तन्तु) योनित्व वा केशलोमयोनित्व नहीं है । केवल चेतन से कही भी तन्तु वा केशलोमादि नहीं होते हैं । किन्तु चेतन से अधिष्ठित (आश्रित) अचेतन मकड़ी का शरीर तन्तु का योनि (कारण) है, और चेतन से अधिष्ठित पुरुष का शरीर केश लोमादि का कारण है, यह लोक में प्रसिद्ध है । दूसरी बात है कि पूर्वाधिकरण में वर्णित अदृष्टत्वादि की उक्ति का प्रधान में सम्भव होने भी द्रष्टृत्वादि उक्ति के असम्भव से वहाँ प्रधान का स्वीकार नहीं किया गया है । यहाँ तो अदृष्टत्वादि धर्मों का प्रधान में सम्भव है, कोई भी यहाँ प्रधान का विरोधी धर्म नहीं कहा जाता है । यदि कहा जाय कि (जो सबको सामान्य रूप से जानने वाला सर्वज्ञ, और विशेष रूप से जानने वाला सर्वविद् है) इस वाक्य शेष (अग) का अचेतन प्रधान में सम्भव नहीं है, इससे विरोध है, तो फिर यहाँ भूतयोनि प्रधान है, यह प्रतिज्ञा कैसे की गई है वा कैसे प्रतिज्ञा की जा सकती है ? तो यहाँ कहा जाता है कि (जिस विद्या से अक्षर को प्राप्त किया जाता है) (जो अक्षर अदृश्य है) इस प्रकार अक्षर शब्द से अदृश्यत्वादि गुण वाले भूतयोनि को सुना कर फिर अन्त में सुनाया जायगा कि (वह पर अक्षर से भी पर है) वहाँ जो अक्षर से पर सुना गया है, वह सर्वज्ञ और सर्वविद् सिद्ध सम्भव होगा, और प्रधान ही अक्षर शब्द कथित भूतयोनि है । जब योनि शब्द निमित्त वाचक हो, तो जीव भी भूत योनि हो सकता है, क्योंकि धर्माऽधर्म द्वारा जीव भूत-समूह का उपाजर्जन (प्राप्ति-मृष्टि) करता है ।

एव प्राप्तेऽभिधीयते—योऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनि स परमेश्वर एव स्यान्नान्य इति । कथमेतदवगम्यते ? धर्मात्ते । परमेश्वरस्य हि धर्म इहोच्यमानो दृश्यते—‘य सर्वज्ञ सर्वविद्’ इति । नहि प्रधानस्याचेतनस्य शरीरस्य वोपाधिपरिच्छिन्नदृष्टे सर्वज्ञत्व वा सम्भवति ।

नन्वक्षरशब्दनिर्दिष्टाद्भूतयोने परस्येव तत्सर्वज्ञत्व सर्ववित्त्व च न भूत-योनिविषयमित्युक्तम् । अत्रोच्यते—नैव सम्भवति । यत्कारण ‘अक्षरात्मभवतीह विश्वम्’ इति प्रकृत भूतयोनिमिद् जायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्यानन्तरमपि जायमानप्रकृतित्वेनैव सर्वज्ञ निर्दिशति—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ इति ॥

तस्मान्निर्देशसाम्येन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्प्रकृतस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेः सर्वज्ञत्वं सर्ववित्त्वं च धर्म उच्यत इति गम्यते । 'अक्षरात्परतः परः' इत्यत्रापि न प्रकृताद्भूतयोनेरक्षरात्परः कश्चिदभिधीयते । कथमेतदवगम्यते ? 'येनाक्षरं पुरुष वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मुण्ड० १।२।१३) इति प्रकृत्य तस्यैवाक्षरस्य भूतयोनेरदृश्यत्वादिगुणकस्य वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात् । कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति व्यपदिश्यत इति ? उत्तरसूत्रे तद्वक्ष्यामः । अपि चात्र द्वे विद्ये वेदितव्ये उक्ते—'परा चैवापरा च' इति । तत्रापरात्मवेदादिलक्षणां विद्यामुक्त्वा ब्रवीति—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि । तत्र परस्या विद्याया विषयत्वेनाक्षरं श्रुतम् । यदि पुनः परमेश्वरादन्यददृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परिकल्प्येत नेयं परा विद्या स्यात् । परापरविभागो ह्ययं विद्ययोरभ्युदयनिःश्रेयसफलतया परिकल्प्यते । नच प्रधानविद्या निःश्रेयसफला केनचिदभ्युपगम्यते । तिस्रश्च विद्याः प्रतिज्ञायेरन्, त्वत्पक्षेऽक्षराद्भूतयोनेः परस्य परमात्मनः प्रतिपाद्यमानत्वात् । द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये इह निर्दिष्टे, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणं सर्वात्मके ब्रह्मणि विवक्ष्यमाणेऽवकल्प्यते, नाचेतनमात्रैकायतने प्रधाने, भोग्यव्यतिरिक्ते वा भोक्तरि । अपिच 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह' (मुण्ड० १।१।१) इति ब्रह्मविद्यां प्राधान्येनोपक्रम्य परापरविभागेन परां विद्यामक्षराधिगमनीं दर्शयन्तस्या ब्रह्मविद्यात्वं दर्शयति । सा च ब्रह्मविद्यासमाख्या तदधिगम्यस्याक्षरस्याब्रह्मत्वे वाधिता स्यात् । अपरगर्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ब्रह्मविद्योपक्रम उपन्यस्यते ब्रह्मविद्याप्रशंसायै—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥

(मुण्ड० १।२।७) इत्येवमादिनिन्दावचनात् । निन्दित्वा चापरां विद्यां ततो विरक्तस्य परविद्याधिकारं दर्शयति—

ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि जो यह अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि है वह परमात्मा ही हो सकता है, अन्य नहीं हो सकता । यदि कहो कि यह कैसे समझा जाता है ? तो कहा जाता है कि परमात्मा के धर्मों की उक्ति (कथन) से यह परमात्मा समझा जाता है । यहाँ परमेश्वर का ही कहा जाता हुआ धर्म दीखता है, कि (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है) अचेतन प्रधान को वा उपाधि से परिच्छिन्न दृष्टिवाले जीव को सर्वज्ञत्व वा सर्ववित्त्व नहीं सम्भव है । यदि कहो कि अक्षर शब्द

से कथित भूतयोनि से पर का सर्वज्ञत्व और सर्ववित्त्व धर्म है। इससे सर्वज्ञत्वादि का कथन भूतयोनि विषयक नहीं है, यह पहले कहा गया है। अब कहा जाता है कि इस प्रकार व्यवस्था होना यहाँ सम्भव नहीं है। जिस कारण से (यहाँ अक्षर से विश्व होता है) इस प्रकार भूतयोनि को उत्पन्न होने वाले जगत् के प्रकृति (उपादान) रूप से कथन करके उसके अनन्तर भी उत्पद्यमान के प्रकृति रूप से ही युक्ति कथन करती है कि जो सर्वज्ञ, सर्वविद् है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे यह कार्य ब्रह्म नामरूप और अत्र उत्पन्न होते हैं। जिसे निर्देश (कथन) की तुल्यता से वही यह है, इस प्रकार को प्रत्यभिज्ञा के विषय होने के कारण प्रकृत भूतयोनि का ही सर्वज्ञत्व सर्ववैश्वत्व धर्म कहा जाता है, ऐसी प्रतीति होती है। और (पर अक्षर से भी पर है) यहाँ भी प्रकृत भूतयोनि रूप अक्षर से पर कोई पदार्थ नहीं कहा जाना है। यदि कहो कि यह कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि (जिस ज्ञान में अक्षर भूतयोनि सत्यपुरुष को शिष्य जाने उस ब्रह्मविद्या को शिष्य के लिये आचार्य यथार्थ रूप से कहे) इस प्रकार प्रारम्भ करके उसी अदृश्यत्वादि गुण वाले भूतयोनि रूप अक्षर की वक्तव्य रूप से प्रतिज्ञा की गई है। इससे समझा जाता है कि भूतयोनि अक्षर से पर कोई अन्य नहीं है। यदि कहो कि ऐसा होने पर (अक्षरात्परतः पर) यह कैसे कहा गया है ? तो इसका विवरण-विचार आगे के सूत्र में किया जायगा। यहाँ यह भी समझना चाहिये कि श्रुति में दो विचार्य जानने योग्य वही गई है, जिनमें एक परा और एक अपरा नाम वाली हैं। उनमें ऋग्वेदादिरूप अपरा विद्या को कहकर आचार्य कहता है कि (अपरा के बाद परा है कि जिससे वह अक्षर समझा जाता है, प्राप्त किया जाता है) इत्यादि। यहाँ परा विद्या का विषय रूप से अक्षर श्रुत हुआ (सुना गया) है। यदि यहाँ परमेश्वर से अन्य अदृश्यत्वादि गुणवाला अक्षर परिकल्पित हो (माना जाय) तो यह अक्षर विषयक विद्या परा विद्या नहीं होगी। यदि कहो कि कारण रूप प्रधान की विद्या भी परा विद्या है तो वह हो नहीं सकती, क्योंकि विद्याओं का जो यह परा और अपरा रूप से विभाग है, वह अम्युदय और निश्रेयसरूप फल के भेद से सिद्ध होता है, अर्थात् फल भेद से विद्या में भेद की कल्पना होती है, और प्रधान की विद्या निश्रेयसरूप ब्रह्मविद्या से मिश्र यदि भूतयोनि विद्या हो तो ऋगादि विद्या, निश्रेयसरूप ब्रह्मविद्या से मिश्र यदि भूतयोनि विद्या हो तो तीन विद्या की प्रतिज्ञा की जाती, क्योंकि तेरे पक्ष में अक्षर भूतयानि से पर परमात्मा का प्रतिपादन है, परन्तु दो ही विद्या यहाँ ज्ञेयत्व कही गई हैं। और (हे भगवन् ! जिसके विज्ञात होने से यह सब विज्ञात होता है) इस प्रकार एक के विज्ञान में सबके विज्ञान की अपेक्षा (चिन्तन) की गई है, वह सर्वात्मक ब्रह्म के विवक्षित होने पर सिद्ध हो सकती है। एक ज्ञेयतन मात्र के आश्रय प्रधान के विवक्षित रहने पर, वा भोग्य से मिश्र भावना के विवक्षित रहने पर नहीं सिद्ध हो सकती है,

और (उस ब्रह्मा ने सब विद्याओं की प्रतिष्ठा-आश्रय सीमा-रूप ब्रह्म विद्या का कथन ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिए किया) इस प्रकार ब्रह्मविद्या का प्रधान रूप से प्रारम्भ करके फिर परापर के विभाग द्वारा अक्षरतत्त्व को प्राप्त करनेवाली परा को दर्शाते हुए, उसको ब्रह्मविद्यात्व भी दर्शाते हैं । अतः उस विद्या की ब्रह्मविद्या समाख्या (योगिक नाम) वांछित होगी । उससे अतिरिक्त अधिगम्य (ज्ञेय-प्राप्तव्य) अक्षर को तो, अब्रह्मता होगी । उस ब्रह्मविद्या के आरम्भ में उस ब्रह्मविद्या की स्तुति प्रशंसा के लिए ऋग्वेदादिरूप अपरा कर्मविद्या कही गई है । जिससे (यज्ञ के निरूपक साधक अतएव यज्ञरूप षोडशभूतविक्रय यजमान और यजमान की पत्नी ये अठारह जिससे अदृढ़ (अस्थिर) और प्लव विनश्वर हैं । और जिनमें अवर (अनित्य फलप्रद) कर्म कहा गया है । यही कर्म श्रेय है, इस प्रकार जो मूढ़ अमिनन्दन स्वीकार करते हैं, वे फिर भी बार बार जरामृत्यु को प्राप्त होते हैं) इत्यादि रूप से कर्म के निन्दा वचन से ब्रह्मविद्या की प्रशंसा होती है । इस प्रकार अपरा विद्या की निन्दा करके उससे विरक्त का विद्या में श्रुति अधिकार दर्शाती है ।

परोक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

(मुण्ड० १।२।२२) इति । यत्तूक्तम्—अचेतनानां पृथिव्यादीनां दृष्टान्त-त्वेनोपादानादाष्टान्तिकेनाप्यचेतनेन भूतयोनिना भवितव्यम्—इति । तदयुक्तम् । नहि दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोस्त्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति । अपि च स्थूलाः पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दाष्टान्तिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते । तस्माददृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वरः एव ॥ २१ ॥

(कर्मों से साधित लोकों को अनित्यादि रूप से जानकर ब्रह्म में प्रेमादियुक्त होकर वैराग्य को प्राप्त करे क्योंकि अकृत (मोक्ष) कृत कर्म से नहीं होता है । ऐसा समझ कर उस ब्रह्म के विज्ञान के लिये विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण समिदादि भेंट युक्त प्राप्त हो) और जो यह कहा था कि अचेतन पृथिवी आदि का दृष्टान्त रूप से ग्रहण होने के कारण, जिसका दृष्ट है, वह दाष्टान्तिक भूतयोनि भी अचेतन ही होना चाहिये; वह कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि दृष्टान्त दाष्टान्तिक को अत्यन्त तुल्य होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है । यदि सर्वथा तुल्यता को स्वीकार करो, तो स्थूल पृथिवी आदि दृष्टान्त रूप से गृहीत हैं । इसलिए तुझे स्थूल ही दाष्टान्तिक भूतयोनिको मानना चाहिए । परन्तु स्थूल ही दाष्टान्तिक भूतयोनि किसी से नहीं माना जाता है, जिससे अदृश्यत्वादि गुणवाला भूतयोनि परमेश्वर ही सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्या च नेतरौ ॥ २२ ॥

इतश्च परमेश्वर एव भूतयोर्निर्नेतरौ शारीर प्रधान वा । कस्मात् विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् । विशिनष्टि हि प्रकृत भूतयोर्नि शारीराद्विलक्षणत्वेन—‘दिव्यो ह्यमूर्तं पुरुष सवाह्याभ्यन्तरा ह्यज । अप्राणो ह्यमना शुभ्र’ (मुण्ड० २।१।२) इति । न ह्येतद्विव्यत्वादिविशेषणमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपपरिच्छेदाभिमानिनस्तद्धर्मन्स्वात्मनि कल्पयत शारीररयोपपद्यते । तस्मात्साक्षादोपनिषद पुरुष इहोच्यते । तथा प्रधानादपि प्रकृत भूतयोर्नि भेदेन व्यपदिशति—‘अक्षरात्परत पर’ इति । अक्षरमव्याकृत नामरूपबीजशक्तिरूप भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रय तस्यैवोपाधिभूत सर्वस्माद्विकारात्परो योऽविकारस्तस्मात्परत पर इति भेदेन व्यपदेशात्परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति । नात्र प्रधान नाम किञ्चित्स्वतन्त्र तत्त्वमभ्युपगम्य तस्माद्भेदव्यपदेश उच्यते । किं तर्हि ? यदि प्रधानमपि कल्प्यमान श्रुत्यविरोधेनाव्याकृतादिशब्दवाच्य भूतसूक्ष्म परिकल्प्येन परिकल्प्यताम् । तस्माद्भेदव्यपदेशात्परमेश्वरो भूतयोर्निरित्येनदिह प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परमेश्वर ही भूतयोनि है, इतर जीव वा प्रधान भूतयोनि नहीं है, यदि कहो कि किस हेतु से ऐसा नियम करते हो, तो कहा जाता है कि भूतयोनि का विशेषण और भेद के ब्यवन से यह नियम सिद्ध होता है । क्योंकि शरीर से विलक्षण रूप से भूतयोनि को विशेषणों से विशिष्ट (युक्त) कहा जाता है कि (वह दिव्य स्वयं प्रकाश अमूर्त-पूर्ण-प्रत्यगात्मा पुरुष है, और वही वाह्य स्थूल आभ्यन्तर सूक्ष्म सहित है इन सबका आधार है, अज है, प्राण मन से रहित शुभ्र दिव्यत्वादि जीव से अन्तर्यामी को यह वचन निम्न दर्शाता है । क्योंकि यह शुभ्र है । इससे विशेषण, अविद्याजन्य नामरूप भेद से अभिमानों और नामरूप के धर्मों को अपने आत्मा में कल्पना करने वाला शारीर जीव का उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता है । जिससे साक्षात् उपनिषद् से ज्ञेय पुरुष यहाँ कहा जाता है । इसी प्रकार प्रधान से भी भेद पूर्वक प्रकृत भूतयोनि का ब्यवन श्रुति करती है कि (पर अक्षर से यह भूतयोनि पर है) यहाँ अक्षर शब्द का अनादि अव्यक्त नामरूप का बीज ईश्वर की शक्तिरूप भूतों के सूक्ष्म सत्कारों का आश्रय चिदात्मा ईश्वर के आश्रित रहने वाला और उस ईश्वर के उपाधि स्वरूप, और सब विकार से पर जो अविकार है, उस पर से पर भूतयोनि है इस प्रकार भेद पूर्वक निर्देश से परमात्मा को ही यहाँ श्रुति विवक्षित दर्शाती है । यह भी यहाँ समझना चाहिए कि, यहाँ प्रधान नामक किसी स्वतन्त्र तत्त्व को मान कर उससे भेद का ब्यवन नहीं किया जाता है । तो यहाँ कहा जाता है कि यदि अव्याकृतादि शब्दों का वाच्यार्थ भूतों का सूक्ष्म स्वरूप कल्पमान प्रधान भी श्रुति के साथ अविरोध पूर्वक अर्थात् स्वतन्त्रता रहित ईश्वर की शक्ति स्वरूप से पञ्चलित (सिद्ध)

हो सके, तो परिकल्पित (सिद्ध) हो, स्वयं श्रुति कहती है कि (इन्द्रो मायामिः पुरुष ईयते) इत्यादि । जिससे भेद कथन से परमेश्वर भूतयोनि है यह यहाँ प्रतिपादन किया जाता है ॥ २२ ॥

कुतश्च परमेश्वरो भूतयोनिः—

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अपि च 'अक्षरात्परतः परः' इत्यस्यानन्तरेऽस्मि 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति प्राणप्रभृतीनां पृथिवीपर्यन्तानां तत्त्वानां सर्गमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी च सूर्या दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

(मुण्ड० २।१।४) इति । तच्च परमेश्वरस्यैवोचितं, सर्वविकारकारणत्वात् । न शरीरस्य तनुमहिम्नः । नापि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः सम्भवति, सर्वभूतान्तरात्मत्वासम्भवात् । तस्मात्परमेश्वर एव भूतयोनिर्नेतराविति गम्यते । कथं पुनर्भूतयोनेरयं रूपोपन्यास इति गम्यते ? प्रकरणात्, 'एषः' इति च प्रकृतानुकर्षणात् । भूतयोनिं हि प्रकृत्य 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति वचनं भूतयोनिविषयमेव भवति । यथोपाध्यायं प्रकृत्यैतस्मादधीर्ष्वेष वेदवेदाङ्गपारग इति वचनमुपाध्यायविषयं भवति तद्वत् । कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं संभवति । सर्वात्मत्वविवक्षयेदमुच्यते नतु विग्रहवत्त्वविवक्षयेत्यदोषः, 'अहमन्नमहमन्नादः' (तै० ३।१०।) इत्यादिवत् ।

किस हेतु से परमेश्वर भूतो का कारण सिद्ध होता है—तो और हेतु यह है कि 'पर अक्षर से पर है' इस कथन के अनन्तर (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इस प्रकार से प्राणादि पृथिवी पर्यन्त तत्त्व की सृष्टि को कह कर, फिर उसी भूतयोनि का सर्वविकारात्मक रूप उपन्यस्यमान (कथ्यमान) कथित-वर्णित देखते हैं कि (उसके अग्नि, स्वर्ग शिर है, चन्द्र सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, विवृत्त, प्रसिद्ध, वेद वाक् हैं, वायु प्राण है, संसार हृदय है, पृथिवी पैर है, इस प्रकार का जिसका रूप आकार है, वह सब प्राणी का अन्तरात्मा है) यह रूप का कथन सब विकारों (कार्यों) के कारण होने से परमेश्वर के लिये उचित है । अल्प महिमा वाले जीव के लिए उचित नहीं है, और प्रधान का भी यह रूप कथन सम्भव नहीं है, क्योंकि उसको सब भूतों के अन्तरात्मत्व का असम्भव है । जिससे परमेश्वर ही भूतयोनि है, उससे इतर (अन्य) जीव और प्रधान भूतयोनि नहीं है, यह समझा जाता है । यदि कहो कि भूतयोनि के रूप का यह कथन है । यह किस प्रमाण से कैसे समझते हो तो कहा जाता है कि

प्रकरण से समझते हैं, और धृति में जो 'एष' यह पद है, उसमें प्रकृत भूतयोनि का अनुकर्षण (आवृत्ति पूर्वक सम्बन्ध) होता है । और भूतयोनि के ही कथन का प्रारम्भ करके कहा गया है कि (इसमें प्राण उत्पन्न होता है) (यह सब भूतों का अन्तरात्मा है) इससे यह वचन भूतयोनि विषयक ही है । जैसे कि उपाध्याय को प्रस्तुत करके (उपाध्याय के नाम गुणादि का कथन करके) यदि कहा जाता है कि इनसे पड़ो, ये वेदभारगत हैं, तो फिर उपाध्याय के नाम लिए बिना भी यह वचन प्रकरण से उपाध्याय विषयक ही होता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये । यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भी अहन्यत्वाद गुण वाले भूतयोनि को विग्रह (विस्तार विभाग युक्त शरीर) वाला रूप का सम्भव रूप कैसे हो सकता है, तो कहा जाता है कि सर्वात्मकता की विग्रहा से भूतयोनि का यह कहा जाता है, शरीरत्व की विग्रहा से नहीं, इससे दोष (पूर्वापर विरोध) नहीं है । जैसे कोई आत्मज्ञ कहता है कि (मैं धन हूँ मैं अन्नादि हूँ) वह सर्वात्मकता दृष्टि से कहता है, उसी के समान यहाँ समझना चाहिये ।

अन्ये पुनर्मन्यन्ते—नाय भूतयोने स्पोपन्यास, जायमानत्वेनोप-
न्यासात् ।

एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च ।

स वायुज्योतिरप पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

इति हि पूर्वत्र प्राणादिपृथिव्यन्तं तत्त्वजातं जायमानत्वेन निरदिशत् ।
उत्तरत्रापि च 'तस्मादग्निं समिधो यश्च सूर्यं' इत्येवमादि, 'अतश्च सर्वा
ओषधयो रसाश्च' इत्येवमन्तं जायमानत्वेनैव निर्दिश्यति । इहैव कथमक-
स्मादन्तराले भूतयोने रूपमुपन्यमेत् । सर्वात्मत्वमपि सृष्टि परिसमाप्योपदे-
श्यति—'पुरुष एवेदं विदव कर्म' (मुण्ड २।१।१०) इत्यादिना । भुक्तिस्मृत्याश्च
त्रैलोक्यशरीरस्य प्रजापतेर्जन्मादि निर्दिश्यमानमुपलभामहे—

हिरण्यगर्भं समवर्ततां भूतस्य जातं पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं चाभुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ० स० १०।१२।१) इति । समवर्ततेत्यजायतेत्यर्थः । तथा—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।

आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवतत ॥ इति च ॥

विकारपुरुषस्यापि सर्वभूतान्नरान्मत्वं सम्भवति, प्राणात्मना सर्वभूतानाम-
ध्यात्ममवस्थानात् । अस्मिन्पक्षे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इत्यादिसर्वस्वोप-
न्यासः परमेश्वरप्रतिपत्तिहेतुरिति व्याख्येयम् ॥ २३ ॥

यहाँ अन्य लोग तो मानते हैं कि यह पूर्व वर्णित भूतयोनि के रूप का कथन नहीं है, क्योंकि जायमान (उत्पद्यमान) रूप में प्राणादि का कथन है कि (इस भूत

योनि से प्राण उत्पन्न होता है, और मन, सब इन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल, विश्व का धारण करनेवाली भूमि) ये सब उस भूतयोनि से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार प्रथम प्राणादि पृथिवी पर्यन्त तत्त्व समूह जायमान (कार्य) रूप से बूढ़े गये हैं । और आगे भी (उससे अग्नि स्वर्ग हुई जिसके मूर्धा समिध हैं) इत्यादि जायमान स्वर्गादि का और (इसी से सब औपधियाँ और रस हुए) इस प्रकार रसादि पर्यन्त का जायमान कार्य रूप से ही कथन करेंगे । यहाँ मध्य में अकस्मात् (कारण के बिना) भूतयोनि के रूप का कथन कैसे करेंगे । इससे मध्य में सृष्टि का ही कथन है । यदि कहा जाय कि सर्वात्मता की विवक्षा से मध्य में भूतयोनि के रूप का कथन है तो कहना उचित नहीं है, क्योंकि नृष्टि कथन को समाप्त करके अन्त में सर्वात्मत्व का भी उपदेश करेंगे, कि (पुरुष ही यह विश्व और कर्मस्वरूप है) इत्यादि । और श्रुति स्मृति में दोनों लोक रूप शरीर वाले प्रजापति के जन्मादि का कथन हमें उपलब्ध होता है कि (प्रथम हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा समवर्तत—उत्पन्न हुआ) और वह उत्पन्न होकर भूतों का एक स्वामी हुआ । एवं उसने इस पृथिवी और स्वर्ग को धारण किया । उस एक अपूर्व देव की रुचि द्वारा लोग सेवा परिचर्या करते हैं ! समवर्तत, इस पद का अजायत (उत्पन्न हुआ) यह अर्थ है । इसी प्रकार वर्णन है कि (वह ब्रह्मा ही (हिरण्यगर्भ) प्रथम शरीरी है, वही पुरुष कहा जाता है । वह प्राणियों का आदि कर्ता है, यह प्रथम उत्पन्न हुआ) इत्यादि । यदि कहो कि उसको सर्वात्मत्व कैसे हो सकता है, तो कहा जाता है कि विकार पुरुष हिरण्यगर्भ को भी सर्वभूतान्तरात्मत्व का सम्भव है, क्योंकि समष्टि प्राण रूप से सब भूतों के शरीर के अन्दर उसकी स्थिति होती है । इस पक्ष में पुरुष ही यह विश्व कर्म और तप आदि है । इत्यादि सर्वरूप का कथन परमेश्वर के ज्ञान का हेतु है । इस रीति से सूत्र का व्याख्यान कर्तव्य है ॥ २३ ॥

वैश्वानराधिकरण (७)

वैश्वानरः कौक्षभूतदेवजीवेश्वरेषु कः ? ।

वैश्वानरात्मशब्दाभ्यामीश्वरान्येषु कश्चन ॥

द्युमूर्धत्वादितो ब्रह्मशब्दान्चेश्वर इष्यते ।

वैश्वानरात्मशब्दौ तावीश्वरस्यापि वाचकौ ॥

जाठरान्नि, भूताग्नि, देवाग्नि, जीव, ईश्वर, इनमें से किस का वाचक श्रुति में वैश्वानर शब्द है, ऐसा संशय होने पर पूर्व पक्ष है कि वैश्वानर शब्द अग्नि अर्थ में प्रसिद्ध है । आत्मशब्द जीव में प्रसिद्ध है, इससे दोनों शब्दों के बल से ईश्वर से अन्य ही कोई वैश्वानर है । सिद्धान्त है कि द्युमूर्धत्वादि के श्रवण से तथा ब्रह्म शब्द से वैश्वानर ईश्वर ही अमोघार्थ है । और वे वैश्वानर और आत्म शब्द भी ईश्वर के वाचक हैं ॥ १-२ ॥

सक्षिप्तार्थ है कि (आत्मानं वैश्वानरमुपास्त, इति श्रुतौ वैश्वानरशब्दस्य जाठराग्नि भूतान्यादित्यदेवेषु साधारणत्वेऽपि, तथा चात्मशब्दस्य जीवान्मपरमात्मनो साधारण-वाचकत्वेऽपि (मूर्ध्व मुनेजा) इत्यादि विशेषस्य श्रवणाद्वैश्वानर परमात्मैवेति) वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, इस श्रुति में वैश्वानर शब्द जाठराग्नि आदि अर्थ में साधारण है । आत्म शब्द जीवात्मा परमात्मा अर्थ में साधारण है, तो भी विशेष श्रवण से वैश्वानर शब्द का अर्थ यहाँ परमात्मा ही है ।

वैश्वानर. साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

‘को न आत्मा किं ब्रह्म’ इति, ‘आत्मानमेवेम वैश्वानर, मप्रत्यघ्येपितमेव नो ब्रूहि’ (छा० ५।१।११, ६) इति चोपक्रम्य शुसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां मुनेजस्त्वादिगुणयोगमेकैकोपामननिन्दया च वैश्वानर प्रत्येषा मूर्धादिभावमुपदिश्याम्यामते—‘यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविद्यमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमति तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्व मुतेजाश्चक्षुर्विश्वम् प्राण पृथग्वत्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयि पृथिव्येव पादावुर एव वेदिलोमानि वर्हिर्हृदय गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय’ (छा० ५।१।८।१२) इत्यादि । तत्र सशय—किं वैश्वानरशब्देन जाठरोऽग्निरुपदिश्यत उत भूताग्निरथ तदभिमानिनी देवता अथवा शागीर आहोस्वित्परमेश्वर इति । किं पुनश्च मशय-कारणम् ? वैश्वानर इति जाठरभूताग्निदेवनाना साधारणशब्दप्रयोगादात्मेति च शागीरपरमेश्वरयो । तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति सशय । किं तावत्प्राप्तम् ? जाठरोऽग्निमिति । कुत ? तत्र हि विशेषेण क्वचित्प्रयोगो दृश्यते—‘अयमग्निर्वैश्वानरो योज्यमन्तं पुरुषं धेनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते’ (बृह० ५।९) इत्यादौ । अग्निमात्रं वा स्यात्, मामान्येनापि प्रयोगदर्शनात् ‘विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृष्वन्न’ (ऋ० स० १०।८।१२) इत्यादौ । अग्निमरीरा वा देवता स्यात्, तस्यापि प्रयोगदर्शनात् ‘वैश्वानरस्य भुमती स्याम राजा हि कं भुवनानामभिधी’ (ऋ० स० १।९।८।१) इत्येवमाद्याया श्रुतेर्देवतायामेश्वर्याद्युपेनाया सम्भवात् । अयात्मशब्दसामानाधिकरण्यादुपक्रमे च ‘को न आत्मा किं ब्रह्म’ इति केवलात्मशब्दप्रयोगादात्मशब्दवशेन च वैश्वानरशब्द परिणेष इत्युच्यते, तथापि शारीर आत्मा स्यात्, तस्य भोक्तृत्वेन वैश्वानरमभिकर्त्ता । प्रादेशमात्रमिति च विशेषणस्य तस्मिन्नुपाधिपरिच्छिन्न सम्भवात् । तस्मान्नेश्वरो वैश्वानर इति ।

कथा है कि प्राचीनशालादि नाम वालो ने प्रथम आपस में विचार किया कि (हम सबका आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है ? फिर निश्चय के लिये उद्दालक ऋषि के पास

गये, ऋषि भी नहीं समझा सके, फिर ऋषि सहित सँकैकय नाम राजा के पास गये, और राजा से पूछा कि इस समय आप वैश्वानर आत्मा का स्मरण चिन्तन करते हो, उसी का कथन हम लोगों के प्रति आप करें। यहाँ से आरम्भ करके, फिर वर्णन है कि राजा सबसे जुदा जुदा पूछेंगे कि आप सब किसकी उपासना करते हो, तो वे लोग जुदा जुदा (भिन्न भिन्न) बोले। स्वर्ग, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथिवी को अपना अपना भिन्न भिन्न ध्येय बताये। तब राजा मुतेजस्त्वादि गुणों के सम्बन्ध का उपदेश करके एक एक की उपासनाओं की निन्दा पूर्वक वैश्वानर के प्रति इन स्वर्गादिकों को मूर्धादिभाव का उपदेश करके कहा कि ये सब स्वतन्त्र उपास्य नहीं हैं, किन्तु वैश्वानर के शिर आदि रूप से उपास्य हैं इस प्रकार से उपदेश करके फिर कहा गया है कि (जो इस प्रादेशमात्र उन अङ्गों से युक्त) अमिविमान (सर्वज्ञ) वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, सो सब लोक, सब भूत सब आत्मा में अन्न खाता है। और उस प्रसिद्ध इस वैश्वानर आत्मा के सुतेजा (स्वर्ग) मूर्धा है, विश्वरूप-सूर्य चक्षु है, पृथग्वत्मा वायु प्राण है, बहुल आकाश संदेह (देह मव्य) है। वस्तिस्थान रयि (घन का हेतु जल) है, पृथिवी पाद है: उरः स्थान यज्ञ वेदी है, कुश लोम है, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है, मुख आहवनीय है इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि वैश्वानर शब्द से जाठराग्नि का उपदेश दिया जाता है, या भूताग्नि का अथवा अग्नि के अमिमानी देव का अथवा जीव या ईश्वर का उपदेश दिया जाता है। यदि कहा जाय कि यहाँ संशय का कारण क्या है, तो उसका उत्तर यह है कि यहाँ जाठराग्नि, भूताग्नि, देवाग्नि इन तीनों के साधारण तुल्य रूप से वाचक वैश्वानर शब्द का प्रयोग है, और जीवेश्वर के साधारण वाचक आत्म शब्द का प्रयोग है। यहाँ संशय होता है कि इन पाँचों का तो ग्रहण उपासना के लिए हो नहीं सकता है, तो इनमें से किसका ग्रहण न्याय्य (उचित) है, और किसका त्याग उचित है यह संशय होता है, विमर्श होता है कि प्राप्त क्या है। प्रथम पूर्व पक्ष है कि जाठराग्नि प्राप्त है, क्योंकि जाठराग्नि विषयक ही कहीं विशेषरूप से वैश्वानर शब्द का प्रयोग देखा जाता है कि (यह अग्नि वैश्वानर है कि जो पुरुष के अन्तर में है, और जिससे यह अन्न पचता है कि जो यह अन्न पुरुष से खाया जाता है) इत्यादि। अथवा अग्निमात्र वैश्वानर होगा, क्योंकि समानरूप से ही प्रयोग देखा जाता है कि (सब भुवनों के लिए देवताओं ने दिन का चिह्न रूप सूर्यात्मक अग्नि को बनाया है) इत्यादि। या अग्नि शरीर वाला देव वैश्वानर हो सकता है, क्योंकि उस देव-विषयक प्रयोग भी देखा जाता है (हम लोग वैश्वानर की सुमति का विषय होवें, अर्थात् हमारे विषयक वैश्वानर की सुमति हो। जिससे वैश्वानर भुवनों का राजा है (सुख स्वरूप मुख प्रद) है, और अभिमुख श्रीवाला है। इस प्रकार श्रुतियों का ऐश्वर्यादियुक्त देवताविषयक ही प्रयोग सम्भव है। और यदि (आत्मानं वैश्वानरम्)

यहाँ वैश्वानर की आत्मा के साथ समानाधिकरणता से और आरम्भ में (हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है) यहाँ केवल आत्म शब्द के प्रयोग में आत्म शब्द के बलद्वारा भी वैश्वानर शब्द आत्मार्थ में परिणय (प्राप्त कराने योग्य) आत्मार्थक है ऐसा कहा जाय, तो भी वैश्वानर शब्द का अर्थ जीवात्मा हो सकता है, क्योंकि उसे भोक्ता होने से वैश्वानर के साथ उसको सम्बन्ध सामीप्य है, और प्रादेशमात्र इस विशेषण का भी उपाधिपरिच्छिन्न उस जीवात्मा में सम्भव है । जिससे ईश्वर वैश्वानर नहीं है ।

एव प्राप्ते तत इदमुच्यते-वैश्वानर परमान्मा भवितुमर्हतीति । कुत ? साधारणशब्दविशेषात् । साधारणशब्दयोर्विशेष साधारणशब्दविशेष । यद्यप्येतावुभावप्यात्मवैश्वानरशब्दौ साधारणशब्दौ, वैश्वानरशब्दस्तु त्रयस्य साधारण, आत्मशब्दश्च द्वयस्य तथापि विशेषो दृश्यते, येन परमेश्वरपरत्वं तयोरभ्युपगम्यते, 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वं सुतेजा' इत्यादि । अत्र हि परमेश्वर एव द्युमूर्धत्वादिविशिष्टोऽवस्थान्तरगत प्रत्यगात्मत्वेनोपन्यस्त आव्यानायेति गम्यते, कारणत्वात् । कारणस्य हि सर्वाभि कार्यगताभिरवस्थाभिरवस्थावत्त्वाद्द्युलोकाद्यवयवत्वमुपपद्यते । 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वप्नमिति' इति च सर्वलोकाद्याश्रय फल श्रूयमाण परमकारणपरिग्रहे सम्भवति । 'एव हास्य सर्वे पाप्मानं प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) इति च तद्विद- सर्वपाप्मप्रदाह्श्रवणम् । 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इति चारमब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम इत्येवमेतानि लिङ्गानि परमेश्वरमेवावगमयन्ति । तस्मात्परमेश्वर एव वैश्वानरः ॥ २४ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर यह सिद्धान्त कहा जाता है कि वैश्वानर परमात्मा होने के योग्य है । क्योंकि साधारण शब्दों का भी विशेष है । साधारण शब्दों के विशेष को साधारण शब्द विशेष इस शब्द में सूत्र में कहा गया है । भाव यह है कि ये आत्म शब्द और वैश्वानर शब्द दोनों ही साधारण शब्द हैं, उनमें वैश्वानर शब्द तीन का साधारण वाचक है, आत्म शब्द दो का साधारण वाचक है, तो भी विशेष देखा जाता है । जिस विशेष में उन दोनों शब्दों को परमेश्वरपरत्वं स्वीकार करते हैं । वह विशेष यह है कि (उस वैश्वानर आत्मा के ही सुन्दर प्रकाश वाला स्वर्ग मूर्धा है) इत्यादि । यहाँ त्रिलोकात्मकता रूप अवस्थान्तर को प्राप्त परमेश्वर ही द्युमूर्धत्वादि विशिष्ट भी प्रत्यगात्मारूप से आन्तरध्यान के लिए कहा गया है, ऐसी प्रतीति होती है । क्योंकि वह सब का कारण है । और कारण को कार्यगत अवस्थाओं में अवस्थावत्त्व होता है, इससे स्वर्गादिलोक रूप अवयववत्त्व भी सिद्ध होता है । और (सब लोक सब भूत सब आत्मा में अन्त जाता है) सर्वलोकादि के आश्रित सुना गया यह फल भी पर कारण का स्वीकार करने पर सम्भव है । इसी प्रकार (अग्नि में इषीका वृक्ष के समान इस विद्वान् के सब पाप नष्ट हो जाते हैं) इस वैश्वानर के ज्ञानी के यह सब

पापों का दाह श्रवण । और (कौन हमारी आत्मा है, ब्रह्म क्या है) इस प्रकार आत्म ब्रह्म से आरम्भ ये सब लिङ्ग परमेश्वर का ही बोध करते हैं, जिससे परमेश्वर ही वैश्वानर है ॥ २४ ॥

संक्षिप्तार्थ है कि (स्मृत्या स्मर्यमाणं परमेश्वरं रूपं स्वमूलभूतां श्रुतिमनुमापयद्वैश्वानरस्यानुमानं गमकं स्यात्तस्माद्वैश्वानरः परमेश्वर एवेति) स्मृति से स्मर्यमाण जो परमेश्वर का रूप है, अतः अपने मूलश्रुति का अनुमान कराता हुआ वैश्वानर का बोधक होता है, इसलिए वैश्वानर परमेश्वर होता है ।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैव-अग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा-इतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते—

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणी क्षितिः ।

सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ॥ इति ।

एतत्स्मर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वर-परत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः । इतिशब्दो हेत्वर्थः । यस्मादिदं गमकं तस्मादपि वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः । यद्यपि स्तुतिरियं 'तस्मै लोकात्मने नमः' इति । स्तुमित्वमपि नासति मूलभूते वेदवाक्ये सम्यगीदृशेन रूपेण सम्भवति ।

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभि चन्द्रसूर्यां च नेत्रे ।

दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ॥

इत्येवंजातीयका च स्मृतिरिहोदाहर्तव्या ॥ २५ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परमेश्वर ही वैश्वानर है, क्योंकि परमेश्वर का ही (—अग्नि, जिसका मुख है, स्वर्ग शिर है—) इस प्रकार का त्रैलोक्यात्मक स्वरूप का स्मृति से कथन किया जाता है कि (जिसका अग्नि मुख है, स्वर्ग शिर है, आकाश नाभि है, भूमि चरण है, सूर्य नेत्र है, दिशायें कान हैं, उस सर्वलोक स्वरूप परमात्मा के प्रति प्रमाण है (म० भा० शा० ४८।३८) इस स्मृति से यह स्मर्यमाण रूप, एतदर्थक स्वमूलश्रुति का अनुमान करता हुआ, इस वैश्वानर शब्द को परमेश्वर परत्व में अनुमानरूप गमक लिङ्ग होता है । सूत्र में इति शब्द हेतु अर्थ में है, इस प्रकार अर्थ होता है कि जिससे स्मर्यमाण रूप गमक है, उससे भी वैश्वानर परमात्मा ही है । उस लोकात्मा के प्रति नमस्कार से यद्यपि यह स्मृति स्तुतिरूप है, तथापि मूलस्वरूप वेदवाक्य के अभाव काल में इस प्रकार के रूप द्वारा स्तुतित्व भी सम्यक् नहीं हो सकता है । और (विप्र लोग जिसके शिर को स्वर्ग कहते हैं, आकाश को नाभि कहते हैं, चन्द्र सूर्य को नेत्र कहते हैं, दिशाओं को श्रोत्र कहते हैं, पृथिवी को पाद कहते हैं,

वह अचिन्त्यात्मा सब मृतो का प्रणेता नियन्ता कर्ता स्वामी है उसको जानो) उस प्रकार की अन्य स्मृतियाँ भी यहाँ उदाहरण के योग्य हैं ॥ २५ ॥

**शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशाद-
संभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥**

शब्दादिभ्यः - अन्तःप्रतिष्ठानाच्च - नेति - चेन्न - तथा दृष्ट्युपदेशात् - असंभवात् - पुरुषम् - अपि च - एनम् - अधीयते । उस सूत्र में १५ पद हैं, मक्षिसार्थ है कि (वैश्वानरशब्द गार्हपत्याग्निप्रत्यनप्राणाहृत्याधारमासकीर्तनेभ्यः शरीरान्तःप्रतिष्ठानाच्च न वैश्वानरः परमात्मेति चेन्न तेन प्रकारेण जाठरे परमादृष्ट्युपदेशासंभवात् । किञ्चैनं वैश्वानरं वैश्वानरपुरुषमपि पठन्ति तस्मात्परमानमेव वैश्वानर इति) अग्निवाचकं वैश्वानरशब्द से, तथा गार्हपत्यादि तीन अग्नियों की कल्पना से, प्राण के लिए जो आहुति एवं उसकी आधारता के कथन से तथा शरीर के अन्दर स्थिति के कथनादि से वैश्वानर परमात्मा नहीं है, किन्तु जाठराग्नि आदि है । ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि उस रीति से जाठराग्नि में परमात्मदृष्टि का ही उपदेश दिया गया है और जाठर में विशेषण का असंभव है । इस वैश्वानर को कोई 'पुरुष' शब्द में भी कहते हैं, अतः परमात्मा ही वैश्वानर है ।

अत्राह—न परमेश्वरो वैश्वानरो भवितुमर्हति । कुन ? शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च । शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमेश्वरे सम्भवति, अर्थान्तरे रूढत्वात् । तथाग्निशब्द 'म एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इति । आदिशब्दान् 'हृदय गार्हपत्य' (छा० ५।१।८।२) इत्याद्यग्नित्रेताप्रवर्त्यनम् । 'तद्यद्भक्त प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१।०।१) इत्यादिना च प्राणाहृत्यधिकरणतासकीर्तनम् । एतेभ्यो हेतुभ्यो जाठरो वैश्वानर प्रत्येनव्य । तयान्तःप्रतिष्ठानमपि श्रूयते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति । तच्च जाठरे सम्भवति । यदप्युक्तम्—मूर्ध्वं सुतेजा इत्यादेर्विपेशाल्कारणात्परमात्मा वैश्वानरः—इति । अत्र ब्रूम—कुतो ह्येष निर्णयः, यदुभयथापि विशेषप्रतिभाने सति परमेश्वरविषय एव विशेष आश्रयणीयो न जाठरविषय इति । अथवा भूतान्नेरन्तर्बहिर्ब्रूयादतिष्ठमानस्येप निर्देशो भविष्यति । तस्यापि हि द्युलोनादिसम्बन्धो मन्त्रवर्णादिवगम्यते—'यो भानुना पृथिवी द्यामुनेमामाततान रादमी अन्तरिक्षम्' (ऋ० म० १०।८।८।३) इत्यादौ । अथवा तच्छरीराया देवताया ऐश्वर्ययोगाद्द्युल्लोकाद्यवयवत्वं भविष्यति । तस्मान्न परमेश्वरो वैश्वानर इति ।

उक्तार्थ में कोई शका करता है कि परमेश्वर वैश्वानर शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि वैश्वानरशब्दादिरूप हेतुओं में और अन्तःप्रतिष्ठान (स्थिति) से ऐसी प्रतीति होती है कि वैश्वानर ईश्वर नहीं है । पहले तो वैश्वानर शब्द ऐसा है कि

जो परमेश्वरार्थ में उसके प्रयोग का सम्भव नहीं है, क्योंकि वह दूसरे अर्थ में रूढ़ है, रुढ़ि (समुदायशक्ति) से अग्नि का वाचक है । वैसे ही अग्नि शब्द भी अर्थान्तर से रूढ़ है, वह भी परमेश्वर वाचक नहीं है । जैसे कि यह अग्नि वैश्वानर है इत्यादि प्रयोग है । सूत्र में आदि शब्द से (हृदय गार्हपत्य है) इत्यादि वचनों से जो तीन अग्नियों की कल्पना की गई है उनका ग्रहण है, और (वह जो प्रथम मात (ओदन) आवे वह होमायेंक द्रव्य है) इत्यादि वचनों से प्राण के लिए अन्न की आहुति (हवन) की अधिकरणता का वैश्वानराग्नि में कथन है । इन हेतुओं से जाठराग्नि वैश्वानर शब्द का अर्थ जानने योग्य है । इसी प्रकार उस वैश्वानर की शरीरान्तर (भीतर) में स्थिति भी सुनी जाती है कि (वैश्वानर को पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठित समझे) वह अन्तःस्थिति भी जाठराग्नि से ही सम्भव है । एवं जो यह पहले कहा है कि (मूर्ध्व सुतेजा) इत्यादि । वहाँ विशेषरूप कारण से परमात्मा वैश्वानर है । अब प्रश्न है कि यह निर्णय कैसे हो सकता है कि जाठराग्नि विषयक और परमात्मविषयक दोनों प्रकार के विशेषों की प्रतीति रहनेपर भी वैश्वानर शब्द परमेश्वरविषयक ही आश्रयण करना चाहिए, जाठर-विषयक विशेष का नहीं । यदि कहों कि द्युमूर्धत्वादि विशेष का जाठराग्नि में असंभव है, इससे परमेश्वरविषयक विशेष बली है, तो भी बाहर-भीतर वर्तमान भूताग्नि का ही यह द्युमूर्धत्वादि निर्देश (कथन) है, क्योंकि उस अग्नि को भी द्युलोकादि के साथ संबन्ध का ज्ञान मन्त्राक्षर से होता है । मन्त्र कहता है—(जो अग्नि इस भूमि और स्वर्गरूप रोदसी (लोक) तथा मध्यगत अन्तरिक्ष को सूर्य द्वारा व्याप्त किया) इत्यादि । यदि जड़ अग्निमात्र व्यर्थ नहीं माना जा सके, तो चाहे उस अग्निरूप शरीर वाले देव को ऐश्वर्यादि के सम्बन्ध से द्युलोकादि अवयव हो सकते हैं, और देव स्वर्ग-शिर आदि वाला हो सकता है, उससे परमेश्वर वैश्वानर नहीं है ।

अत्रोच्यते—न तथादृष्ट्युपदेशादिति । न शब्दादिभ्यः कारणेभ्यः परमेश्वरस्य प्रत्याख्यानं युक्तम् । कुतः ? तथा जाठरापरित्यागेन दृष्ट्युपदेशात् । परमेश्वरदृष्टिर्हि जाठरे वैश्वानर इहोपदिश्यते, 'मनो ब्रह्मोत्पृषासीत' (छा० ३। १८।१) इत्यादिवत् । अथवा जाठरवैश्वानरोपाधिः परमेश्वर इहे द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरोभा रूपः' (छा० ३।१४।२) इत्यादिवत् । यदि चेह परमेश्वरो न विवक्ष्येत केवल एव जाठरोऽग्निर्विवक्ष्येत ततो मूर्ध्व सुतेजा इत्यादेर्विशेषस्यासम्भव एव स्यात् । यथा तु देवताभूताग्नियुपाश्रयेणाप्ययं विशेष उपपादयितुं न शक्यते तथोत्तरसूत्रे वक्ष्यामः । यदि च केवल एव जाठरो विवक्ष्येत, पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं तस्य स्यान्न तु पुरुषत्वम् । पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'स एपोऽग्निवैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' (शं० ब्रा० १०।६। १।११) इति । परमेश्वरस्य तु सर्वात्मत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं

चोभयमुपपद्यते । ये तु 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रावयव पठन्ति, तेषामेवोक्तं — केवलजाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्त प्रतिष्ठितत्वं केवलं म्यात्र पुरुष-विधत्वम् । पुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिन — 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्त-प्रतिष्ठितं वेदे' इति । पुरुषविधत्वं च प्रकरणाद्यदधिदैवतं शुभ्रमूर्धत्वादि पृथिवी-प्रतिष्ठितत्वान्तं, यच्चाध्यात्मं प्रसिद्धं मूर्धत्वादि चतुर्बुक्प्रतिष्ठितत्वान्तं तत्परिगृह्यते ॥ २६ ॥

यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि उस प्रकार की परमात्मविषयक दृष्टि का उपदेश होने से पूर्व कथन ठीक नहीं । अर्थात् उक्त शब्दादि रूप हेतुओं से परमात्मा का प्रत्याख्यान करना उचित नहीं है, क्योंकि उस प्रकार से जाठराग्नि को त्याग बिना परमात्म दृष्टि का उपदेश है अर्थात् यहाँ जाठराग्नि रूप वैश्वानर में परमेश्वर दृष्टि (उपासना) का उपदेश दिया जाता है । जैसे कि 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' — मन ब्रह्म है — ऐसी उपासना करे, इत्यादि उपदेश है, उनके समान इस उपदेश को समझना चाहिए । अथवा (मनोमय प्राणशरीरोमारूप) इत्यादि के समान इस उपदेश को समझ जाठर वैश्वानर (जाठराग्नि) रूप उपाधिवाला परमेश्वर यहाँ द्रष्टव्य रूप से उपदेश का विषय है, क्योंकि यदि यहाँ परमेश्वर नहीं विवक्षित हों, और केवल जाठराग्नि ही विवक्षित हों तो (मूर्ध्वं मुतेजा) इत्यादि विशेषण का असम्भव ही होगा । देवता तथा भूताग्नि के आश्रयण द्वारा भी इस शुभ्रमूर्धत्वादि विशेषण का उपपादन नहीं कर सकते, यह प्रकार उत्तर सूत्र में कहेंगे । यदि केवल जाठराग्नि को विवक्षित माना जाय तो उसमें केवल पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठितत्वं विशेषण का सम्भव होगा, पुरुषत्व का सम्भव नहीं होगा और वाजसनेयी लोग इस वैश्वानर का पुरुष रूप से भी अध्ययन करते हैं कि (जो पुरुष है, वह यह वैश्वानर अग्नि है जो कोई इस वैश्वानर अग्नि को इस प्रकार पुरुष मह्य पुरुष के अन्दर में प्रतिष्ठित जानना है, वह सर्वत्र भोग पाता है), और परमेश्वर को तो सवान्मा होने में पुरुषत्व पुरुष के अन्त प्रतिष्ठितत्वं दोनों उपपन्न होने हैं । और जो कोई (पुरुषविधमपि चैनमधीयते) इस प्रकार सूत्र का अवयव पढ़ते हैं, उनके अनुसार अर्थ होगा कि केवल जाठराग्नि के ग्रहण करने पर, केवल पुरुष के अन्त प्रतिष्ठितत्व होगा, पुरुषविधत्व नहीं होगा, और इस वैश्वानर को वाजसनेयी पुरुषविध भी पढ़ते हैं कि (पुरुष मह्य और पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठित जानते हैं) इत्यादि । यहाँ प्रकरण से पुरुषविधत्व यह है कि जो अग्नि-दैवत शुभ्रमूर्धत्वादि से युक्त पृथिवी प्रतिष्ठितत्वपर्यन्त है । और मूर्धत्वादियुक्त चतुर्बुक्प्रतिष्ठितत्वपर्यन्त जो अध्यात्म प्रसिद्ध है । अर्थात् एक विराड्देहाकारत्व है और एक उपासक के शिर में ढाढ़ी तक में कल्पित ईश्वर के पुरुष विधत्व है । वे ही यहाँ परिगृहीत होते हैं, देहव्यापित्वादि का ग्रहण नहीं होगा ॥ २६ ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

यत्पुनरुक्तम्—भूताग्नेरपि मन्त्रवर्णं द्युलोकादिसम्बन्धदर्शनान्मूर्ध्वं सुतेजा इत्याद्यवयवकल्पनं तस्यैव भविष्यतीति, यच्छरीराया देवताया वैश्वर्ययोगात्— इति । तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न देवता वैश्वानरः । तथाभूताग्निरपि न वैश्वानरः । नहि भूताग्नेरीण्यप्रकाशमात्रात्मकस्य द्युमूर्धत्वादिकल्पनोपपद्यते, विकारस्य विकारान्तरात्मत्वासम्भवात् । तथा देवतायाः सत्यर्थावयवयोगे न द्युमूर्धत्वादिकल्पना सम्भवति । अकारणत्वात्परमेश्वराधीनैश्वर्यत्वाच्च । आत्मशब्दासम्भवश्च सर्वेष्वपि पक्षेषु स्थित एव ॥ २७ ॥

जो यह कहा था कि भूताग्नि का भी मन्त्रवर्ण में द्युलोकादि के साथ सम्बन्ध देखा (सुना) जाता है, उससे (मूर्ध्वं मुजेता) इत्यादि वचनों द्वारा अग्नि के ही अवयवों की कल्पना हो सकती है, अथवा उस अग्नि रूप शरीर वाले देव के अवयवों की कल्पना हो सकती है ? इस शंका का परिहार (निवारण) अवश्य कर्त्तव्य है । उक्त द्युमूर्धत्वादि सर्वलोकफलभागित्व सर्वपापप्रहादिरूप हेतुओं से ही देवता वैश्वानर नहीं है तथा भूताग्नि भी वैश्वानर नहीं है, क्योंकि औण्य (उष्णता) और प्रकाशमात्र जिसकी आत्मा (स्वरूप) है, ऐसी भूताग्नि के द्युमूर्धत्वादि की कल्पना युक्त सिद्ध नहीं हो सकती है, जिससे एक विकार की विकारान्तरात्मता का असम्भव है । वैसे ही देवता के ऐश्वर्यादि का संबन्ध रहते भी द्युमूर्धत्वादिकल्पना का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि देवता उपादान कारण नहीं है, और उसका ऐश्वर्य ईश्वराधीन है । इन सभी पक्षों में आत्मशब्द का असम्भव तो स्थिर ही है ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पूर्वं जाठराग्निप्रतीको जाठराग्न्युपाधिको वा परमेश्वर उपास्य इत्युक्तमन्तः-प्रतिष्ठितत्वाद्यनुसंधेन । इदानीं तु विनैव प्रतीकोपाधिकल्पनाभ्यां साक्षादपि परमेश्वरोपासनपरिग्रहे न कश्चिद्विरोध इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । ननु जाठराग्न्यपरिग्रहेऽन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं शब्दादीनि च कारणानि विरुध्येरन्निति । अत्रोच्यते—अन्तःप्रतिष्ठितत्ववचनं तावन्न विरुध्यते । नहीह 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति जाठराग्न्यभिप्रायेणेदमुच्यते । तस्याप्रकृतत्वादसंग-न्दितत्वाच्च । कथं तर्हि यत्प्रकृतं मूर्धादिचुदुक्तान्तेषु पुरुषावयवेषु पुरुषविधत्वं कल्पितं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति । यथा वृक्षे शाखां प्रतिष्ठितां पश्यतीति तद्वत् । अथवा यः प्रकृतः परमात्माध्यात्ममधिदैवतं च पुरुषविधत्वोपाधिस्तस्य यत्केवलं साक्षिरूपं तदभिप्रायेणेदमुच्यते—'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति । निश्चिते च पूर्वपिरालोचनवशेन

परमात्मपरिग्रहे तद्विषय एव वैश्वानरशब्द केनचिद्योगेन वर्तिष्यते । विष्वश्चाय नरश्चेति, विश्वेपा वाय नर, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानर परमात्मा, सर्वात्मत्वात् । विश्वानर एव वैश्वानर । तद्वित्तोऽनन्यार्थ, राक्षसवायसादिवत् । अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयणेन परमात्मविषय एव भविष्यति । गार्हपत्यादिकल्पन प्राणादुत्पत्तिकरणत्व च परमात्मनोऽपि सर्वात्मत्वादुपपद्यत ।

प्रथम जाठराग्नि रूप प्रतीक (मूर्ति) वाले वा जाठराग्नि रूप उपाधि वाले परमेश्वर उपाम्य हैं, यह बात अन्त प्रतिष्ठितत्वादिके अनुरोध (अनुकूलता) से कही गई है । अब इस समय कहा जाता है कि प्रतीक और उपाधि की कल्पना के बिना ही साक्षात् भी परमेश्वर की उपामना को स्वीकार करने पर कोई विरोध नहीं है, इस प्रकार जमिनि आचार्य मानते हैं । यहाँ कोई पूर्ववर्णित शका करते हैं कि जाठराग्नि के सर्वथा अपरिग्रह (अस्वीकार) करने पर अन्त प्रतिष्ठितत्व-वचन और पूर्वोक्त शब्दादि कारण विरुद्ध होंगे । इसका उत्तर है कि प्रथम अन्त प्रतिष्ठितत्व-वचन तो नहीं विरुद्ध होता है, क्योंकि यहाँ (पुरुषविध पुरुष के अन्त प्रतिष्ठित को जाने) यह वचन जाठराग्नि के अग्निप्राय से नहीं कहा जाता है, वह अग्नि अप्रकृत है, अर्थात् यहाँ जाठराग्नि का कोई प्रकरण नहीं है, और असञ्चित है, अर्थात् खास उसके वाचक शब्द से जाठराग्नि कही नहीं गई है । अग्नि आदि शब्द ईश्वर के वाचक हैं, जाठराग्नि के नहीं । यदि कही कि अन्दर-जाठराग्नि की स्थिति के अग्निप्राय से अन्त प्रतिष्ठितत्व-वचन नहीं है, तो किस अग्निप्राय से वैसा वचन है ? इसका समाधान है कि जो पुरुषविधत्व प्रकृत है और भूषादिचतुष्टयान् पुरुष के अवयवों में कल्पित है, उसके अग्निप्राय से यह कहा जाता है कि (पुरुषविध पुरुष प्रतिष्ठित को जाने) यह पुरुष के अन्दर देखने के बिना पुरुषविध शिर आदि को पुरुष में इस प्रकार देखता है, जैसे वृक्ष में प्रतिष्ठित शाखा को मनुष्य देखता है । अथवा अध्यात्म और अधिदैवत पुरुषविध-उपाधिवाला जो परमात्मा प्रकृत है, उसका जो वेबल साक्षिरूप है उसके अग्निप्राय से यह कहा जाता है कि (पुरुष के अन्दर प्रतिष्ठित जाने) और पूर्वापर श्रवण के पर्यालोचन के वश से परमात्म-परिग्रह के निमित्त होने पर वैश्वानर शब्द भी किसी योग (अवयव शक्ति) द्वारा उस परमात्मविषय (अर्थ) में ही स्थित रहेगा । योगवृत्ति ऐसी होगी कि (विश्वरूप यह नर है—अर्थात् सर्वात्मा है) अथवा विश्व का वर्तनी नर ईश्वर है, अथवा सब नर (जीव) इसके स्वरूप हैं, क्योंकि यह सर्वात्मा है । स्वार्थ में उद्धित प्रत्यय होने से विश्वानर ही वैश्वानर कहलाता है, और (नरे सज्ञायाम्) इस सूत्र से विश्व शब्द को दोष होता है । यहाँ उद्धित का अन्य अर्थ नहीं है, जैसे वायस राक्षसादि शब्दों में प्रकृति के अर्थ में अन्य प्रत्ययार्थ नहीं रहता है । अग्नि शब्द भी अप्रकृत-प्रापकत्वादि योग के आश्रयण द्वारा परमात्मविषय ही होगा । इसी प्रकार गार्हपत्यादि

रूपता की कल्पना और प्राणाहुति का अधिकरणत्व भी परमात्मा के सर्वात्मत्व से उत्पन्न सिद्ध होता है ॥ २८ ॥

कथं पुनः परमेश्वरपरिग्रहे प्रादेशमात्रश्रुतिरूपपद्यत इति तां व्याख्यातु-
मारभते—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अतिमात्रस्यापि परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यात् अभिव्य-
ज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वर उपासकानां कृते । प्रदेशेषु वा हृदया-
दिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषणाभिव्यज्यते । अतः परमेश्वरेऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरभि-
व्यक्तेरूपपद्यत इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥

यहाँ शङ्का होती है कि पूर्वोक्ति से परमात्मा के स्वीकार करने पर प्रादेशमात्र
श्रुति कैसे उत्पन्न होगी अर्थात् फैलाई हुई तर्जनी और अंगुष्ठ के मध्यभाग को एक
वितस्ति से भी कम प्रदेश को प्रादेश कहते हैं, परमात्मा प्रादेशमात्रवृत्ति कैसे होगा ?
इस शङ्का की निवृत्ति के लिए उस श्रुति का व्याख्यान करने के लिए आरम्भ करते हैं—
'अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः' इति अर्थात् मत्र परिमाणों से रहित परमेश्वर को भी प्रादेश-
मात्रत्व अभिव्यक्तिनिमित्तक होता है । क्योंकि उपासकों के लिए प्रादेशमात्र-परिमाण
वाला ही परमेश्वर अवश्य अभिव्यक्त (प्रकट) होता है । अथवा उपलब्धि (ज्ञान) के
स्थान हृदयादि प्रदेशों में विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है । इससे (प्रदेशेषु मीयते
ज्ञायते) ऐसा प्रादेशमात्र कहलाता है । इससे परमेश्वर में भी अभिव्यक्तिरूप हेतु से
प्रादेशमात्रता की श्रुति उपपन्नयुक्त होती है, इस प्रकार आश्मरथ्य आचार्य मानते
हैं ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्वादिरः ॥ ३० ॥

प्रादेशमात्रहृदयप्रतिष्ठेन वायं मनसाऽनुस्मर्यते तेन प्रादेशमात्र इत्युच्यते ।
यथा प्रस्थमिता यवाः प्रस्था इत्युच्यन्ते तद्वत् । यद्यपि च यवेषु स्वगतमेव परि-
माणं प्रस्थसम्बन्धाद्व्यज्यते, न चेह परमेश्वरगतं किञ्चित्परिमाणमस्ति यद्धृदय-
सम्बन्धाद्व्यज्यते; तथापि प्रयुक्तायाः प्रादेशमात्रश्रुतेः सम्भवति यथाकथंचिदनुर-
णमालम्बनमित्युच्यते । प्रादेशमात्रत्वेन वायमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेश-
मात्रश्रुत्यर्थवत्तार्य । एवमनुस्मृतिनिमित्ता परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिरिति वादरि-
राचार्यो मन्यते ॥ ३० ॥

अथवा प्रादेशमात्र (देशविशेषमात्र) रूप हृदय में रहने वाला मन से यह पर-
मात्मा स्मरण का विषय होता है (ध्यान में आता है) उससे प्रादेशमात्र कहा जाता है,
जैसे कि प्रस्थनामक प्रमाण विशेष से मित (मापे-तीले गए) जी (यव) भी

प्रश्न कहलाते हैं। जैसे ही प्रादेशरूप मन से मित (ज्ञात-स्मृत) होने से परमात्मा प्रादेशमात्र कहलाता है। यद्यपि यवों में स्वगत ही परिमाण प्रत्यक्ष के सम्बन्ध से अभिव्यक्त (ज्ञात) होता है। यही परमात्मा में रहने वाला कोई भी परिमाण नहीं है कि जो परिमाण हृदय-सम्बन्ध से अभिव्यक्त हो। तथापि परमात्मविषयक प्रयुक्त (कथित) प्रादेशमात्र श्रुति-वचन का जिस किसी प्रकार से अनुस्मरण आलम्बन (विषय) हो सकता है इस आशय से श्रुति कहती है, कि मनगत प्रादेशमात्रता मन से स्मृत परमात्मा में कल्पित होती है, अथवा सूत्र का अर्थ है कि प्रादेशमात्र श्रुति की अर्थवत्ता (सफलता) के लिए यह अप्रादेशमात्र (विभु) परमात्मा भी प्रादेशमात्र रूप से स्मरण के योग्य है, अर्थात् परमात्मा के प्रादेशमात्र नहीं रहते हुए भी श्रुति की साधकता के लिए वैसा स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार अनुस्मरणनिमित्तक परमात्मा में प्रादेशमात्र श्रुति है, वह वादरि आचार्य मानते हैं ॥ ३० ॥

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥ ३१ ॥

सम्पत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुति । कुत ? तथाहि—समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणं क्षुप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तालौक्यात्मनो वैश्वानरम्यावयवानध्यात्ममूर्धप्रभृतिषु चतुर्कपर्यन्तेषु देहावयवेषु सम्पादयत्प्रादेशमात्रसम्पत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति—“प्रादेशमात्रमिव ह वै देवा सुविदता अभिसम्पन्नास्तथा नु व एतान्वदयामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसपादयिष्यामीति, न होवाच मूर्धानमुपदिशन्नुवाच एष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति । चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै मुतेजा वैश्वानर इति । नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति । मुखमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति । मुरया अप उपदिशन्नुवाचैष वै रथिवैश्वानर इति । चतुर्कमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति । चतुर्कमित्यधर मुखफलकमुच्यते । यद्यपि वाजसनेयके वीरतिष्ठात्वागुणा समाप्तायते आदित्यश्च सुतेजस्त्वगुण, छान्दोग्ये पुनर्द्यौ सुतेजस्त्वगुणा समाप्तायते, आदित्यश्च विश्वरूपत्वगुण । तथापि नैतावता विज्ञेयेण विश्विद्धीयते, प्रादेशमात्रश्रुतेरविशेषात्, सर्वशाखाप्रत्ययत्वाच्च । सम्पत्तिनिमित्ता प्रादेशमात्रश्रुति युक्ततरा जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

अथवा सम्पत्ति (लघु वा गृह्यसपादन) निमित्तक प्रादेशमात्र श्रुति है, क्योंकि वैसा ही वर्णनरूप ब्राह्मण ग्रन्थ इस अर्थ को प्रदर्शित करता है। इस प्रादेश श्रुति के तुल्य प्रकरण वाला वाजसनेयी ब्राह्मणरूप ग्रन्थ पृथिवी आदि तीन लोकपर्यन्त जो त्रिलोक-त्मक वैश्वानर के महान् अवयव हैं, उनको अपने आत्म (देह)-सम्बन्धी मूर्धादि चतुर्क (दाढ़ी) पर्यन्त देह के अवयवों में सम्पादन (प्रतिपादन सिद्ध) करता हुआ परमेश्वर

को भी प्रादेशमात्रता की प्राप्ति दिखलाता है (प्रादेशरहित ईश्वर को भी प्रथम के देव सवने सम्पत्ति से प्रादेशमात्र के समान समझा, और प्राप्त किया । जिस प्रकार देवताओं ने उसे प्रादेशमात्र प्रत्यागात्मा रूप से प्राप्त किया, उसी प्रकार इन द्युलोकादि अवयवों को हमलोगों ने (यह कैकेय राजा का कथन प्राचीनशालादियों के प्रति है) जिस रीति से वैश्वानर को प्रादेशमात्र ही सिद्ध कर फिर अपने शिर का उपदेश करता (अङ्गुली से प्रदर्शन करता) हुआ वह राजा बोला कि यह मेरा शिर भूरादि लोकों का अतिक्रमण करने वाला निश्चय से अतिष्ठा नामक वैश्वानर का अवयव है । नेत्रों को दिखाता हुआ उसने कहा कि यह निश्चय सुन्दर तेज वाला सुतेजा नामक वैश्वानर का अवयव है । नासिका को दिखाता हुआ कहा कि—यह (इसमें रहने वाला प्राण) पृथक् गतिवाला वायु स्वरूप वैश्वानर का अवयव है । मुख के आकाश को दिखाता हुआ कहा—कि यह वहल (आकाश) नामक वैश्वानर का अवयव है । मुख के जल की दिखाता हुआ कहा—कि यह रयि (वस्तिस्थ उदक) रूप वैश्वानर का अवयव है । चुबुक (डाढ़ी) को दिखाता हुआ कहा—कि यह अवश्य प्रतिष्ठा (पाद) रूप विश्वानर का अवयव है । (मुख के नीचे के भाग को चुबुक कहते हैं) । यद्यपि वाजसनेयक में द्युलोक को अतिष्ठात्व गुण वाला पढ़ा है और आवित्य को सुतेजस्त्व गुण वाला कहा है । और छान्दोग्य में द्युलोक को सुतेजस्त्व गुण वाला पढ़ा है, आदित्य को विश्वरूपत्व गुण वाला पढ़ा है तो भी इतने भेद से कुछ हानि नहीं होती है । विद्या में भेद नहीं समझा जाता है, क्योंकि प्रादेशमात्र का श्रवण दोनों में अविशेष (तुल्य) है । एवं शाखा का भेद होते हुए भी शाखाओं में प्रतीत होने वाली वैश्वानरादि की उपासना एक है यह न्याय आगे कहना है । इससे सम्पत्तिनिमित्तक श्रुति को प्रादेशमात्र ही जैमिनि आचार्य युक्ततर मानते हैं ॥ ३१ ॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन्मूर्धचुबुकान्तराले जावालाः—‘य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति । सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति’ । तत्र चेमामेव नासिकां वरणा नासीति निरुच्य या सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति सा नासीति । पुनरामनन्ति—‘कतमच्चास्य स्थानं भवतीति, भ्रुवोर्ध्वाणस्य च यः सन्धिः स एष द्युलोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति’ (जावा० १) । तस्मादुपपन्ना परमेश्वरे प्रादेशमात्रश्रुतिः । अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया । प्रत्यगात्मतया सर्वैः प्राणिभिरभिविमीयत इत्यभिविमानः । अभिगतो वायं प्रत्यगात्मत्वाद्विमानश्च मानवियोगादित्यभिविमानः । अभिवि-

मिमीते वा सर्वं जगत्कारणत्वादित्यभिविमान । तस्मात्परमेश्वरो वैश्वानर इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृती शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य द्वितीय पाद ॥ २ ॥



परमेश्वर के मूर्धा और चुबुक के अन्तराल (मध्य) में जावाल प्रश्न करने हैं कि अव्यक्त अनन्त आत्मा को कैसे जानूँगा ? इस प्रकार अग्नि जी के द्वारा प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्यजी बोले कि जो यह अनन्त अव्यक्त आत्मा है वह अविमुक्त (कामादि से बद्ध जीव) के अन्दर प्रतिष्ठित (स्थिर) है । इसमें वही उपासना से जानने योग्य है । फिर अग्नि जी बोले कि वह अविमुक्त कहाँ प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य जी बोले कि वह वरणा और नासी के मध्य में प्रतिष्ठित है । अग्नि जी बोले कि वह वरणा कौन है, और नासी कौन है ? तब उस जावाल-श्रुति में उस भूसंहित नासिका को ही वरणा और नासी निश्चयपूर्वक कहकर याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि इन्द्रिय-वृत्त सब पापों का वारण करती है इसमें भ्रूवारण है और इन्द्रियवृत्त सब पापों का नाश करती है इसमें नासिका नामी है । पुनः प्रश्न होता है कि उन दोनों में भी इस जीव का स्थान कौन है ? उत्तर है कि दोनों भ्रू और नासिका की जो सन्धि रूप त्रिकुटी है, वही द्युलोक और परलोक परमात्मा की सन्धि (गुण स्थान) है । उसमें परमेश्वर में प्रादेशमात्र श्रुति उपपन्न (सिद्ध) होती है । एव प्रत्यागात्मत्व के अभि-प्राय से अभिविमान श्रुति है । क्योंकि प्रत्यागात्मारूप में जो सत्र प्राणियों से जाना जाय उसको अभिविमान कहते हैं, सब प्राणी के वह ग्रन्थ (ज्ञान) का विषय साक्षीरूप वस्तुतः परमात्मा ही है । अथवा प्रत्यागात्मा (सबकी अन्तरात्मा) होने से परमात्मा सब को अभिगत (प्राप्त) है, और व्यापक होने से परिमाण रहित है विगतमान है, इससे अभिविमान कहलाता है । अथवा कारण होने से सब जगत् का अमित विमात निर्माता कर्ता है इससे अभिविमान कहलाता है । तथा उससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर वैश्वानर है ॥ ३२ ॥

प्रथमाध्याय का द्वितीय पाद समाप्त ।

प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

[अत्रास्पष्टब्रह्मलिङ्गानां प्रायो ज्ञेयब्रह्मविषयाणां विचारः । एवं पादत्रयेणापि वाक्यविचारः]

द्युभ्वाद्याधिकरण (१)

सूत्रं प्रधानं भोक्तेशो द्युभ्वाद्यायतनं भवेत् ।

श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभ्यां भोक्तृत्वाच्चेत्स्वरेतरः ॥

नाद्यौ पक्षावात्मशब्दान्न भोक्ता मुक्तगम्यतः ।

ब्रह्मप्रकरणादीशः सर्वज्ञत्वादितस्तथा ॥

मुण्डक श्रुति में जो स्वर्ग-भूमि आदि का आश्रम सुना गया है, वह सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) है, या प्रधान है, अथवा भोक्ता जीव है या ईश्वर है ? ऐसी शंका होने पर पूर्वपक्ष है कि सूत्रात्मा रूप वायु से लोक ग्रथित है, इत्यादि श्रुति-प्रसिद्धि के अनुसार सूत्रात्मा हो सकता है अथवा सांख्य स्मृति में प्रसिद्धि के अनुसार प्रधान हो सकता है, अथवा भोक्ता होने से कर्म द्वारा सब का आश्रय जीव हो सकता है जो ईश्वर से भिन्न है । सिद्धान्त है कि आत्म शब्द के श्रवण से सूत्रात्मा और प्रधान नहीं हो सकते हैं, मुक्त से प्राप्यता के श्रवण से भोक्ता जीव भी नहीं हो सकता है, और ब्रह्म के प्रकरण से तथा सर्वज्ञत्वादि के श्रवण से ईश्वर ही स्वर्ग-भूमि आदि का आश्रय है, अन्य नहीं ॥ १-२ ॥

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

इदं श्रूयते—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥

(मुण्ड० २।२।५) इति । अत्र यदेतद्द्वयप्रभृतीनामोतत्ववचनादायतनं किञ्चिदवगम्यते, तर्हि परं ब्रह्म स्यादाहोस्विदर्थान्तरमिति सन्दिह्यते । तत्रार्थान्तरं किमप्यायतनं स्यादिति प्राप्तम् । कस्मात् ? 'अमृतस्यैष सेतुः' इति श्रवणात् । पारवान् हि लोके सेतुः प्रख्यातः । न च परस्य ब्रह्मणः पारवत्त्वं शक्यमभ्युपगन्तुम् 'अनन्तमपारम्' (बृह० २।४।१२) इति श्रवणात् । अर्थातरे चायतने परिगृह्यमाणे स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानं परिगृहीतव्यं, तस्य हि कारणत्वादायतनत्वोपपत्तेः । श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्, 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृष्टवानि भवन्ति' (बृह० ३।७।२) इति वायोरपि विधारणत्वश्रवणात् । शारीरो वा स्यात्, तस्यापि भोक्तृत्वाद्भोग्यं प्रपञ्चं प्रत्यायतनत्वोपपत्तेरिति ।

यह सुना जाता है कि (जिसमें स्वर्ग, भूमि और अन्तरिक्ष रूप सब स्थूल प्रपञ्च ओत (समाश्रित-अर्पित) है और सब गौण-मुख्य प्राण-इन्द्रियादि सहित मन (सूक्ष्म प्रपञ्च) जिसमें ओत (कल्पित) है। उसी एक सर्वाधिष्ठान आत्मा को जानो (श्रवणादि से समझो), और अन्य अनात्मगोपक वचनो को संस्था त्याग दो। क्योंकि अनात्मपरक वचनादि का त्यागपूर्वक आत्मदर्शन ही ससार सिन्धु के पार रूप अमृत को प्राप्त कराने में सेतु (पुल) तुल्य है। इस श्रुति में स्वर्ग-भूमि आदि के ओतत्व-वचन में जो यह कुछ आश्रय प्रतीत होता है, वह क्या परब्रह्म है? अथवा अर्थान्तर है? ऐसा सन्देह होता है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि कोई अर्थान्तर आयतन (आश्रय) होना चाहिये। ऐसा ही प्राप्त (ज्ञात) होता है, क्योंकि यह अमृत का सेतु है इस प्रकार भेद सुना जाता है और लोक में सेतु पार वाली वस्तु ही प्रख्यात (प्रसिद्ध) है। परब्रह्म को पारवत्त्व (परिच्छिन्नत्व) नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अनन्तम-अपारम्) ऐसा सुना गया है। इस कारण से अर्थान्तर रूप जगदाश्रय के स्वीकार करने पर स्मृति में प्रसिद्ध प्रधान स्वीकार के माग्य है, क्योंकि उसको कारणत्व होने से आश्रयत्व सिद्ध हो सकता है। अथवा श्रुति में प्रसिद्ध वायु जगदाश्रय हो सकता है। श्रुति है कि (हे गौतम ! वायु ही यह निश्चित सूत्र (सूत्रात्मा) है इससे हे गौतम ! वायु रूप सूत्र से ही यह लोक-परलोक और सब भूत सन्द्ध्य (ग्रथित घृत) है। इससे वायु को भी विचारवत्त्व का श्रवण होता है, अथवा जीव आयतन हो सकता है। क्योंकि उसको भोक्तृत्व के रहने से योग्य प्रपञ्च के प्रति आयतनत्व की सिद्धि हो सकती है।

एव प्राप्त इदमाह—शुम्बाद्यायतनमिति। द्यौश्च भूश्च द्यभुवौ द्यभुवावादी यस्य तदिदं शुम्बादि। यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौ पृथिव्यन्तरिक्षं मन प्राणा इत्येवमान्मकं जगदोनत्वेन निर्दिष्टं तस्यायतनं परब्रह्म भवितुमर्हति। कुत ? स्वशब्दात् आत्मशब्दादित्यर्थः । आत्मशब्दो हीह भवति—‘तमेवैकं जानय आत्मानम्’ इति। आत्मशब्दश्च परमात्मपरिग्रहे सम्यगवकल्पते नार्थान्तरपरिग्रहे। क्वचिच्च स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते—‘सन्मला. मोम्येमा’ सर्वा प्रजा सदायतना मत्प्रतिष्ठा’ (छा० ६।८।४) इति। स्वशब्देनैव चेह पुरस्तादुपरिष्ठाच्च ब्रह्म सङ्कीर्त्यते—‘पुरम् एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्’ इति। ‘ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरणं’ (मुण्ड० २।२।११) इति च। तत्र त्वयितनायतनवद्भावश्रवणात् ‘सर्वं ब्रह्म’ इति च सामानाधिकरण्यात्। यथानेकात्मको वृक्ष शाखा स्कन्धो मूलं चेत्येव नानारमो विचित्र आत्मेत्याशङ्का सम्भवति ता निवर्तयितुं साधधारणमाह—‘तमेवैकं जानय आत्मानम्’ इति।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर सूत्रकार यह कहते हैं कि शुभ्र आदि का

आयतन ब्रह्म है । यहाँ दिव (स्वर्ग) और भूमि को द्युभूवी कहते हैं, और वे दोनों हैं आदि जिसके वह समूह द्युभ्वाधिक होता है, ऐसा जो इस श्रुति-वाक्य में कथित स्वर्ग, भूमि, अन्तरिक्ष, मन, प्राणादि हैं, और एतत्स्वरूप ही सब जगत् है, जो कि ओत रूप से निर्दिष्ट (कथित) है, उस सब जगत् का आयतन परब्रह्म ही होने योग्य है, क्योंकि वहाँ ब्रह्म का स्ववाचक आत्मशब्द है । (उन एक आत्मा ही को जानो) इस वाक्य में यहाँ आत्मशब्द है । और परमात्मा के स्वीकार करने पर आत्मशब्द का प्रयोग सम्यक् सिद्ध होता है, अर्थान्तर के स्वीकार करने पर ऐसा नहीं होगा । कहीं साक्षात् आयतन शब्द से ही ब्रह्म का आयतनत्व सुना जाता है कि (हे सोम्य ! सद्ब्रह्मरूप मूल वाली ये सब प्रजा हैं, और स्थिति काल में सत् आयतन वाली हैं, अन्त में सब सत् में प्रतिष्ठा (समाप्ति) वाली हैं । यहाँ स्ववाचक शब्द से ही प्रथम और आगे भी ब्रह्म कहा जाता है कि पुरुष ही यह सब विश्वस्वरूप है, कर्म, तप आदि रूप विश्व है और ब्रह्म पर अमृत स्वरूप है । (यह अमृत ब्रह्म ही पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर है) परन्तु यस्मिन् इत्यादि श्रुति में सन्मूलादि श्रुति में आयतनभाव और आयतनवद्भाव के श्रवण से तथा (सब ब्रह्म) है इस प्रकार सब जगत् के साथ ब्रह्म की समानाधिकरणता (एकविविक्तवाच्य अभिन्नता) से आशंका हो सकती है कि जैसे अनेकात्मक वृक्ष होता है, शाखा, स्कन्ध और मूल ये सब वृक्ष रूप हैं, सब को मिलाकर वृक्ष कहा जाता है, वैसे ही नाना रस (गुण-शृङ्गादि) वाला विचित्र आत्मा है । उस शृङ्गा को निवारण करने के लिए अवधारण (निश्चय) पूर्वक श्रुति कहती है कि उस एक आत्मा को ही जानो ।

एतदुक्तं भवति—न कार्यप्रपञ्चविशिष्टो विचित्र आत्मा विज्ञेयः । किं तर्हि ? अविद्यादृतं कार्यप्रपञ्चं विद्यया प्रविलापयन्तस्तमेवैकमायतनभूतमात्मानं जानर्थकरसमिति । यथा यस्मिन्नास्ते देवदत्तस्तदानयेत्युक्तं आसनमेवानयति न देवदत्तम्, तद्वदायतनभूतस्यैवैकरसस्यात्मनो विज्ञेयत्वमुपदिश्यते । विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते—‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति’ (का० २।४।११) इति । सर्वं ब्रह्मेति तु सामानाधिकरण्यं प्रपञ्चप्रविलापनार्थं नानेकरसताप्रतिपादनार्थम्, ‘स यथा सैन्धवधनोऽनन्तरोऽब्राह्मः कृत्स्नो रसधन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽब्राह्मः कृत्स्नः प्रजानघन एव’ (बृह० ४।५।१३) इत्येकरसताश्रवणात् । तस्माद्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म । यत्तुक्तं—सेतुश्रुतेः सेतोश्च पारवत्त्वोपपत्तेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण द्युभ्वाद्यायतनेन भवितव्यम्—इति । अत्रोच्यते—विधारणत्वमात्रमत्र सेतुश्रुत्या विवक्ष्यते, न पारवत्त्वादि । नहि मृदारुमयो लोके सेतुर्दृष्ट इत्यत्रापि मृदारुमय एव सेतुरभ्युपगम्यते । सेतुगन्धार्थोऽपि विधारणत्वमात्रमेव न पारवत्त्वादि, पित्रो बन्धन-कर्मणः सेतुशब्दव्युत्पत्तेः ।

इससे यह उक्त (कथित) होता है कि कार्यविस्तारयुक्त विविध आत्मा नहीं विज्ञेय (विशेष रूप से जानने योग्य) है, तो क्या जानना कि अविद्यावृत्त कार्यविस्तार को विद्या से विलय करते हुए उस एक आयतनस्वरूप आत्मा को एकरस जानो । जैसे कि कहा जाय कि जिस पर देवदत्त बैठा है उसे लाओ, तो आसन को ही लाता है, देवदत्त को नहीं । वैसे ही आयतनस्वरूप एकरस आत्मा को विज्ञेयत्व का उपदेश दिया जाता है और विकार रूप अनृत (मिथ्या) में अभिसन्ध (अभिमान आसक्ति) वाले का अपवाद (निन्दा) गुना जाता है कि (जो इस एकरस ब्रह्म को नाना के समान देखता है वह जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पड़ता है) । 'सर्व ब्रह्म है' इस प्रकार जो समानाधिकरणता है, वह रज्जुसर्पेन्तुल्य प्रपञ्च का बाध द्वारा विलय के लिए है, अनेक रसता का प्रतिपादन के लिए नहीं है । क्योंकि (जैसे लोक में प्रसिद्ध लवण का पिण्ड बाहर-भीतर रसान्तर से शून्य सम्पूर्ण लवण रसमय ही रहता है, वरे भेदेयि ! इसी प्रकार यह आत्मा बाहर-भीतर भेदरहित सम्पूर्ण प्रज्ञानरूप एक रस ही है) । इत्यादि श्रुति से एकरसता सुनी जाती है । उससे स्वर्गादि का आयतन ब्रह्म है । एवं जो यह कहा है कि श्रुति में सेतु कहने में और सेतु को पारवत्त्व की सिद्धि से, ब्रह्म से अर्थान्तर ही दिव-भूमि आदि का आश्रय होना चाहिये । यहाँ कहा जाता है कि सेतुश्रुति से विधारण मात्र ही यहाँ अर्थ विवक्षित हैं, पारवत्त्वादि विवक्षित नहीं है । लोग में मिट्टी, लकड़ी आदिमय सेतु देखा गया है । हममें यहाँ श्रुति में मिट्टी, लकड़ी से बना हुआ सेतु का स्वीकार नहीं किया जा सकता है । और सेतु शब्द का अर्थ भी विधारणत्वमात्र ही है, पारवत्त्वादि उसका अर्थ नहीं है । क्योंकि दन्धनत्रियायकं पित्र् घातु से सेतु शब्द सिद्ध होता है, वहाँ दन्धन से नियमन रूप विधारण अर्थ की ही प्रतीति होती है । वह ब्रह्म सबके अमृत को धारण करने वाला है, तथा सत्य-धर्मादि का धारण करने वाला है । इसी से 'स सेतुरीजानानाम् । स सेतुर्विभूतिः । एष सेतुर्विधारणः' इत्यादि श्रुति से सङ्गति होती है ।

अपर आह—'तमेवेकं जानन् आत्मानम्' इति यदेतत्सङ्कीर्तितमात्मज्ञानं, पञ्चेतत् 'अन्या वाचो विमुञ्चय' इति वाग्विमोचनं, तदन्वामृतत्वसाधनत्वात् 'अमृतस्यैष सेतुः' इति सेतुश्रुत्या सङ्कीर्त्यन्ते न तु शुभ्वाद्यायतनम् । तत्र यदुक्तं—सेतुश्रुतेर्ब्रह्मणोऽर्थान्तरेण शुभ्वाद्यायतनेन भाव्यमिति—एतदयुक्तम् ॥ १ ॥

प्रथम शुभ्वादि आयतन के साथ सेतु पद के सम्बन्ध को मानकर शङ्का हुई थी, और उस सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए उत्तर दिया गया है । दूसरे लोग कहते हैं कि सेतु पद का आयतन के साथ सम्बन्ध नहीं, किन्तु (उस एक आत्मा ही को जानो) इस वाक्य में जो यह आत्मज्ञान कहा गया है और (अन्य वचनों को त्यागो) इस वाक्य से जो यह अन्य वचन का त्याग कहा गया है, वे ही दोनों अमृतत्व का साधन होने से (यह अमृत का सेतु है) इस प्रकार सेतु-भूति में कहे जाते हैं । शुभ्वादि का

आयतन ब्रह्म सेतु पद से नहीं कहा जाता है । 'तत्र' इम प्रकार अन्य वाग्-विमोचन सहित ज्ञान को सेतु मानने पर जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि सेतु के सुनने से ब्रह्म से कोई अन्यार्थ ही स्वर्ग-भूमि आदि का आश्रय होना चाहिये वह अयुक्त है ॥ १ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ ६ ॥

इतश्च परमेव ब्रह्म द्युभ्वाद्यायतनम् । यस्मान्मुक्तोपसृप्यतास्य व्यप-
दिश्यमाना दृश्यते । मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम् । देहादिष्वनात्मस्वहृम-
स्मीत्यात्मबुद्धिरविद्या, ततस्तत्पूजनादी रागस्तत्परिभवादी च द्वेषः, तदुच्छेद-
दर्शनाद्भयं मोहश्चेत्येवमयमन्तभेदोऽनर्थव्रातः सन्ततः सर्वेषां नः प्रत्यक्षः ।
तद्विपर्ययेणाविद्यारागद्वेषादिदोषमुक्तैरुपसृप्यं गम्यमेतदिति द्युभ्वाद्यायतनं
प्रकृत्य व्यपदेशो भवति । कथम् ?

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुण्ड० २।२।८)

इत्युक्त्वा ब्रवीति—

तथा विद्वान्तामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।

(मुण्ड० ३।२।८) इति । ब्रह्मणश्च मुक्तोपसृप्यत्वं प्रसिद्धं शास्त्रे—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (बृह० ४।४।७)

इत्येवमादौ । प्रधानादीनां तु न क्वचिन्मुक्तोपसृप्यत्वमस्ति प्रसिद्धम् । अपि च
'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैव सेतुः' इति वाग्वि-
मोक्तपूर्वकं विज्ञेयत्वमिह द्युभ्वाद्यायतनस्योच्यते । तच्च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मणो दूष्टम्—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।

नानुध्यायाद्वह्मंश्छन्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

(बृह० ४।४।२१) इति । तस्मादपि द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥ २ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परब्रह्म ही द्युभ्वादि का आयतन है कि जिससे मुक्तों से
उपसृप्यता (प्राप्यता) कही गई हुई इसकी देखी जाती है । अर्थात् मुक्त पुरुष इस
सर्वाधार को प्राप्त होते हैं इस प्रकार श्रुति कहती है, इससे वह सर्वाधार ब्रह्म ही है,
अन्य नहीं । मुक्तों से जो उपसृप्य (प्राप्य) हो, उसको मुक्तोपसृप्य कहते हैं । प्रथम
बन्ध क्या है कि जिससे मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त किया जाता है, इस आशङ्का की
निवृत्ति के आशय से कहा जाता है कि, 'अनात्मस्वरूप देहादि में' यह मैं हूँ इस प्रकार
की आत्मबुद्धि (आत्मता का ज्ञान) अविद्याजन्य होने से अविद्या रूप है, और उस
शरीर के पूजन-सत्कारादि में राग होता है, एवं उस शरीर से परिभव तिरस्कार

अनादरादि मे द्वेष होता है, उस गरीर के उच्छेद-नाशादि के देखने से भय और मोह होने हैं, इस प्रकार के अनन्त भेद वाले अनयंसमूह (ससार-बन्धन) सर्वत्र सतत (व्याप्त) हम सबको प्रत्यक्ष दीखता है। एव उस अनर्थ से विपरीत (उत्तरा) स्वभाव से मुक्त अविद्या राग-द्वेषादि दोषों से रहित पुरुषों से उपमृष्य गम्य (प्राप्य) यह है, इस प्रकार द्युम्बादि आयतन के प्रकरण में कथन है। वह कथन कैसे है कि (उस पर अपर स्वरूप श्रेष्ठ परमात्मा के अपरोक्ष ज्ञान होने पर इस ज्ञानों के हृदय की प्रणति टूट जाती है। सब सशय नष्ट हो जाते हैं, और सब बर्तन छोड़ हो जाते हैं। ऐसा कह कर फिर श्रुति कहती है कि (जैसे समुद्र में प्राप्त होने पर नदियाँ अपने नाम-रूप को त्याग कर समुद्र रूप से स्थिर होती हैं। वैसे ही विद्वान् भी नाम-रूपात्मक ससार को त्याग कर, कार्यों से पर अव्यक्त से भी पर (पूर्ण) दिव्य (स्वयंप्रकाश) को प्राप्त हो कर तद्रूप से स्थिर होता है)। इस मुमुक्षु के हृदय में वर्तमान जो काम है वे हसब जब ज्ञानादि से समूल नष्ट हो जाते हैं उस समय यह मर्त्य भी अमृत हो जाता है, और इस देह में रहते ब्रह्म को सम्यक् प्राप्त करता है) इत्यादि शास्त्रों में मुक्तों से प्राप्यता ब्रह्म की प्रसिद्ध है, और प्रधानादि की कही भी मुक्त से प्राप्यता प्रसिद्ध नहीं है दूसरी बात है कि (उसी एक आत्मा को जानो अन्य वस्तुओं को त्यागो, यह अमृत का सेतु है) इस प्रकार अन्य वाक् का त्यागपूर्वक स्वर्गादिक के आश्रय को यहाँ विक्षेपत्व कहा जाता है, वह विक्षेपत्व दूसरी श्रुति में ब्रह्म का देखा गया है कि (धीरे धीरे ब्रह्मण उस आत्मा को जान कर (विशुद्ध हृदय को समझ कर) असंग सर्वात्मस्वरूप की प्रज्ञा को प्राप्त करे एव बहुत शब्दों का अनुचिन्तन-अध्ययनादि नहीं करे, क्योंकि उनके चिन्तनादि वाक् और वाक् सम्बन्धी सब वर्णस्थानों के विस्फापन (शोषण श्रम) कारक हैं। मन में ग्यानि को पैदा करने वाले हैं इत्यादि। उससे भी द्यु-भूमि आदि का आश्रय पर ब्रह्म है ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

यथा ब्रह्मण प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतु प्रतिपादकोऽस्तीत्याह—नानुमानिक माह्व्यस्मृतिपरिवर्त्यित प्रधानमिह द्युम्बाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात्? अतच्छब्दात्। तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादक शब्दस्तच्छब्द, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः। न ह्यना-चेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादक कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतन प्रधान कारणत्वेनायतनत्वेन वाज्यगम्येन। तद्विपरीतस्य चेतनस्य प्रतिपादकशब्दोऽस्तीति—‘य सर्वज्ञ सर्वविद्’ (मुण्ड० १।१।९) इत्यादि। अत एव न वायुरपीह द्युम्बाद्यायतनत्वेनाश्रीयते ॥ ३ ॥

जैसे ब्रह्म का प्रतिपादक वैशेषिक (असाधारण) हेतु कहा है। अर्थान्तर का

प्रतिपादक इस प्रकार के असाधारण हेतु नहीं है । इस अर्थ को सूत्रकार कहते हैं कि आनुमानिक (केवल अनुमान से ज्ञेय) सांख्य-स्मृति में परिकल्पित प्रधान भी द्युम्बादि के आश्रय रूप से ज्ञातव्य नहीं है, क्योंकि उसका वाचक कोई शब्द इस प्रकरण में नहीं है । उस अचेतन प्रधान के प्रतिपादक शब्द को तच्छब्द कहा गया है । तच्छब्द का न होना अतच्छब्द है । यहाँ अचेतन प्रधान का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है कि जिससे अचेतन प्रधान को कारण रूप से वा आयतन रूप से समझा जाय । किन्तु उस प्रधान से विपरीत चेतन का प्रतिपादक शब्द (जो अविनाशी भूतयोनिरूप पुरुष सर्वज्ञसर्ववेत्ता है इत्यादि) में है । इसी अतच्छब्दत्व रूप हेतु से वायु भी यहाँ द्युम्बादि के आयतन रूप से स्वीकार के योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणभृतो विज्ञानात्मन आत्मत्वं चेतनत्वं च सम्भवति तथाप्युपाधि-परिच्छिन्नज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाद्यसम्भवे सत्यस्मादेवातच्छब्दात् प्राणभृदपि न द्युम्बाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः । न चोपाधिपरिच्छिन्नस्याविभोः प्राणभृतो द्युम्बाद्यायतनत्वमपि सम्यक्सम्भवति । पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥ ४ ॥

यद्यपि प्राणधारी जीव को आत्मत्व और चेतनत्व का सम्भव है, तथापि उपाधि से परिच्छिन्न (परिमित) ज्ञान वाले को सर्वज्ञत्वादि के असम्भव होने पर इस अतच्छब्द (सर्वज्ञात्मत्वामाव शब्द) से ही प्राणधारी भी द्युम्बादि के आश्रय रूप से स्वीकार के योग्य नहीं है, और उपाधि से परिच्छिन्न (परिमित) अतएव एकदेशी प्राणधारी को द्युम्बादि का आयतनत्व सम्यग् रीति से सम्भव भी नहीं है । अतच्छब्द रूप हेतु के रहते भी प्राणभृच्च, इस योग (सूत्र) को प्रथम सूत्र से पृथक् इसलिए किया गया है कि जिससे उत्तर सूत्र में इसकी ही अनुवृत्ति हो ॥ ४ ॥

कुतश्च न प्राणभृद् द्युम्बाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्यः—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

भेदव्यपदेशश्चेह भवति—‘तमेवैकं जानथ आत्मानम्’ इति ज्ञेयज्ञातृभावेन । तत्र प्राणभृतावन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता, परिशेषादात्मशब्दवाच्यं ब्रह्म ज्ञेयं द्युम्बाद्यायतनमिति गम्यते, न प्राणभृत् ॥ ५ ॥

किस हेतु से प्राणधारी द्युम्बादि के आश्रय रूप से अमन्तव्य है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—‘भेदव्यपदेशात्’ इति । अर्थात् इस द्युम्बादि के आयतन के प्रकरण में भेद का व्यवहार कथन है कि (उस एक आत्मा को ही जानो) इस प्रकार ज्ञेयभाव और ज्ञातृभाव से भेद का कथन है, उसमें मुमुक्षु होने से प्राणधारी ज्ञाता है । और उससे परिवेश रहने के कारण आत्मशब्द का वाच्य ज्ञेय ब्रह्म द्युम्बादि का आयतन है, ऐसा समझा जाता है, किन्तु प्राणधारी आयतन रूप नहीं समझा जाता है ।

कुतश्च न प्राणभृद् शुभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्य —

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

प्रकरणं चेद परमात्मन । 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु० १।१।३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानापेक्षणात् । परमात्मनि हि सर्वात्मके विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं स्यात् केवले प्राणभृति ॥ ६ ॥

किस हेतु से प्राणधारी सर्वायय नहीं मन्तव्य है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं 'प्रकरणात्' इति । अर्थात् यह परमात्मा का प्रकरण है कि (हे भगवन् किसके विज्ञात होने से यह सब जगत् विज्ञात होता है ।) इस प्रकार यहाँ एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की अपेक्षा (आशा) की गई है, और एक परमात्मा के ही विज्ञात होने से यह सब जगत् विज्ञात होता है । केवल प्राणधारी के ज्ञात होने से जगत् नहीं ज्ञात हो सकता ॥ ६ ॥

कुतश्च न प्राणभृद् शुभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रयितव्य —

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

शुभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१) इत्यनं स्थित्यदने निर्दिश्यते, 'तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्ति इति कामं कलाशनम्, 'अनश्नन्नन्योर्जभचाकशीति इत्यौदासीन्येनावस्थानं च । ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते । यदि चेश्वरो शुभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्तत्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते, अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमावस्मिकमसम्बद्धं स्यात् । ननु तवापि क्षेत्रज्ञस्येश्वरापृथग्वचनमावस्मिकमेव प्रमज्येत ? न, तस्याविवक्षितत्वात् । क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्यद्याद्युपाधिभिम्वद्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते । ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या नात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्यावस्मिक वचनं युक्तम् । 'गुहा प्रविष्टावात्मानो हि' इत्यत्राप्येनर्द्दिगित 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामूर्चेश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति । यदापि पैङ्गव्युपनिपत्कृतेन व्याख्यानेनास्यामूर्चि सत्त्वक्षेत्रज्ञावुच्येते, तदापि न विरोधः कश्चित् । कथम् ? प्राणमृद्धौ घटादिच्छिद्रवत्स्वत्वाद्युपाध्यभिमानित्वेन प्रतिशरीरं गृह्यमाणो शुभ्वाद्यायतनं न भवतीति निषिध्यते । यस्तु सर्वशरीरेभ्योपाधिभिर्विनोपलक्ष्यते परमात्मैव स भवति । यथा घटादिच्छिद्राणि घटादिभिस्पाधिभिर्विनोपलक्ष्यमाणानि महाकाश एव भवन्ति, तद्वत्प्राणभृत् परमादन्यत्वानुपपत्तेः प्रतिषेधो नोपपद्यते । तस्मात्परत्वाद्युपाध्यभिमानिन एव शुभ्वाद्यायतनत्वप्रतिषेधः । तस्मात्परमेव ब्रह्म शुभ्वाद्यायतनम् । तदेतत् 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते' इत्यनेनैव सिद्धम्, तस्यैव हि भूतयोनिवाक्यस्य मध्य इदं पठितम् 'यस्मिन्द्यो पृथिवी चान्तरिक्षम्' इति । प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम् ॥ ७ ॥

किस हेतु से स्वर्ग भूमि आदि के आश्रय रूप से प्राणधारी को नहीं मानना चाहिए ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—‘स्थित्यदनाभ्यां च’ अर्थात् स्वर्ग भूमि आदि के आयतन को प्रस्तुत (प्रकरण प्राप्त) करके (द्वासुपर्णा) इस मन्त्र में स्थिति और अदन (भक्षण) का निर्देश (कथन किया गया) है कि (जीवेद्वर दोनों में से एक जीव स्वादु कर्मफल को भोगता है) इससे कर्मफल का अशन (भोग) निदिष्ट होता है । और (उस जीव से अन्य ईश्वर भोग के विना प्रकाश करता है) इस कथन से उदासीनतापूर्वक स्थिति का निर्देश होता है । वहाँ उस स्थिति और अदन उपभोग से ही ईश्वर और जीव गृहीत (ज्ञात) होते हैं । यहाँ यदि ईश्वर स्वर्ग भूमि आदि के आश्रय रूप से विवक्षित होता है, तब तो उस प्रकृत ईश्वर साक्षी स्वरूप का जीव से पृथक् कथन युक्त सिद्ध होता है, ऐसा नहीं होने पर आकस्मिक अप्रकृत का वचन असम्बद्ध होगा । यदि वह स्वर्गादि का आयतन होता है, तो उसके लिए ईश्वर प्रतिपादनीय रहता है । अन्यथा उसका वचन असम्भव होगा । यदि कहो कि तुम्हारे मत में भी तो जीव को ईश्वर से पृथक् कथन आकस्मिक (निर्हेतुक) ही प्राप्त होगा, क्योंकि वह प्रतिपादनीय नहीं है । यह कहना ठीक नहीं है ? क्योंकि ईश्वर से भिन्न जीवन का कथन होते हुए भी वहाँ जीव विवक्षित अर्थ नहीं है, जिससे कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वरूप से प्रत्येक शरीर में बुद्धि आदि उपाधि के साथ सम्बन्ध वाला क्षेत्रज्ञ जीव लोकव्यवहारादि से ही प्रसिद्ध है, इससे वह श्रुति के तात्पर्य का विषय रूप से विवक्षित नहीं होता है और ईश्वर तो लोक से अप्रसिद्ध है । इससे श्रुति के तात्पर्य का विषय रूप से विवक्षित होता है । अतः उसका आकस्मिक कथन होना युक्त नहीं है । क्योंकि (गुहां प्रविष्टौ) इत्यादि सूत्र में भी यह दर्शाया गया है कि ‘द्वा सुपर्णा’ इस ऋग्मन्त्र में ईश्वर और क्षेत्रज्ञ दोनों कहे जाते हैं । जब पैङ्गी उपनिषद् कृत व्याख्यान के अनुसार इप ऋग्मन्त्र से सत्त्व (बुद्धि) क्षेत्रज्ञ को कहते हैं तब भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि घटादि छिद्र के तुल्य सत्त्वादि के अभिमानी रूप से प्रत्येक शरीर में तायमान प्राणधारी ही यहाँ स्वर्गादि संसार का आश्रय नहीं हो सकता, इस प्रकार परिच्छिन्न प्राणधारी का निषेध किया जाता है । एवं जो सब शरीरों में उपाधियों के विना चिन्मात्र उपलक्षित होता है वह परमात्मा ही है । जैसे घटादि रूप उपाधियों के विना उपलक्ष्यमाण घटादि के छिद्र महाआकाश ही रहते हैं, वैसे ही प्राणधारियों के परमात्मा से अन्यत्व की असिद्धि से निषेध नहीं बन सकता (द्युभू आदि के आयतनत्व का अभाव नहीं कहा जा सकता) है जिससे सत्त्वादि उपाधियों के अभिमानियों को ही सर्वाश्रयत्व का निषेध है अतः परब्रह्म ही सर्वाश्रय है । यद्यपि यह पूर्वप्रतिपादित अर्थ (अदृश्यत्वादि) इस सूत्र से ही गतार्थ है, क्योंकि उसी भूतयोनि वाक्य मध्य में ही (यस्मिन् धीः) इत्यादि पठित हैं । तथापि प्रपञ्चार्थ (विस्तार से द्युभू आदि को समझाने के लिए) फिर से कहा गया है ॥ ७ ॥

२ भूमाधिकरण (१-२)

भूमा प्राण परेशो वा प्रश्नप्रत्युक्तिवर्जनात् ।
 अनुवर्त्यातिवादित्वं भूमोक्तेर्वायुरेव स ॥
 विच्छिद्यैव त्विति प्राण मत्यस्योपक्रमात्तथा ।
 महोपक्रम आत्मोक्तेरीशोऽयं द्वैतवारणात् ॥

यहाँ सामान्य दृष्टि से सशय होता है कि भूमा प्राण है वा परमात्मा है । पूर्वपक्ष है कि प्रथम से अनेक प्रश्नोत्तर हैं, और प्राण के उपदेश के बाद में श्रुति में प्रश्नोत्तर का अभाव है, इससे प्रतीत होता है कि अन्तिम उद्देश्य, उपदेश्य वस्तु प्राण है, और प्राण को ही जानने वाले को अतिवादित्व की अनुवृत्तिपूर्वक भूमा का कथन है, इससे भूमा वायु (प्राण) ही है । सिद्धान्त है कि (सत्येन तु) इस वाक्य गत तु शब्द से प्राण का विच्छेद करके उसमें सम्बन्ध हटाकर मत्यब्रह्म के उपदेश का आरम्भ हुआ है, और महा उपक्रम में आत्मा कहा गया है, तथा (नान्यत्पश्यति) इस वाक्य से द्वैत का वारण किया गया है, इसमें भूमा ब्रह्म है ॥ १-२ ॥

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

• इदं ममामनन्ति-‘भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य’ इति ‘भूमान भगवो विजिज्ञास’ इति । ‘यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्’ (छा० ७।२३, २४) इत्यादि । तत्र सशय — कि प्राणो भूमा स्यादाहोस्वित्परमात्मेति । कुत सशय ? भूमेति तावद्बहुत्वमभिधीयते, ‘बहोर्लोपो भू च बहो’ (पा० ६।४।१५८) इति भूमशब्दस्य भावप्रत्ययान्ततास्मरणात् । किमात्मक पुनस्तद्बहुत्वमिति विशेषाकाङ्क्षाया ‘प्राणो वा आशाया भूयान्’ (छा० ७।१।५।१६) इति सन्निधानात्प्राणो भूमेति प्रतिभाति । तथा ‘श्रुतं ह्येव मे भगवद्दूशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्’ इति, ‘मोज्झ भगव शोचामि त मा भगवान् शोकस्य पार तारयन्तु’ (छा० ७।१।१।३) इति प्रकरणोत्थानात्परमात्मा भूमेत्यपि प्रतिभाति । तत्र कस्योपादानं न्याय्यं कस्य वा हानमिति भवति सशय । किं तावन्नाप्तम् ? प्राणो भूमेति । कस्मात् ? भूय प्रश्नप्रतिवचनपरम्परा दर्शनात् । यथा हि ‘अस्ति भगवो नाम्नो भूय’ इति, ‘वाग्वाव नाम्नो भूयसो’ इति, तथा ‘अस्ति भगवो वाचो भूय’ इति, ‘मनो वाव वाचो भूय’ इति च नामादिभ्यो ह्य प्राणाद्भूय प्रश्नप्रतिवचनप्रवाहं प्रवृत्तं । नैव प्राणात्परं भूय प्रश्नप्रतिवचनं दृश्यते — अस्ति भगव प्राणाद्भूय इत्यदो वाव प्राणाद्भूय — इति । प्रागमेव तु नामादिभ्य आशान्तेभ्यो भूयास ‘प्राणो वा आशाया भूयान्’ इत्यादिना सप्रपञ्चमुक्त्वा प्राणदर्शिनश्चातिवादित्वम् — ‘अति

वाद्यसीति अतिवाद्यस्माति ब्रूयान्नापहनुवीन' इत्यभ्यनुज्ञाय 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति प्राणव्रतमतिवादित्वमनुकृ-
प्यापरित्यज्यैव प्राणं सत्यादिपरम्परया भूमानमवतारयन्प्राणमेव भूमानं मन्यत
इति गम्यते । कथं पुनः प्राणे भूमनि व्याख्यायमाने 'यत्र नान्यत्पश्यति'
इत्येतद्भूमनो लक्षणपरं वचनं व्याख्यायेतेति । उच्यते—सुषुप्त्यवस्थायां
प्राणग्रस्तेषु करणेषु दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिदर्शनात्सम्भवति प्राणस्यापि 'यत्र
नान्यत्पश्यति' इत्येतल्लक्षणम् । तथा च श्रुतिः 'न शृणोति न पश्यति' इत्या-
दिना सर्वकरणव्यापारप्रत्यस्तमयरूपां सुषुप्त्यवस्थामुक्त्वा 'प्राणाग्नय एवेतस्मि-
न्पुरे जाग्रति' (प्र० ४।२।३) इति तस्यामेवावस्थायां पञ्चवृत्तेः प्राणस्य जागरणं
ब्रुवती प्राणप्रधानां सुषुप्त्यवस्थां दर्शयति । यच्चैतद्भूमनः सुखत्वं श्रुतम्—'यो
वै भूमा तत्सुखम्' (छा० ७।२३)—इति, तदप्यविरुद्धम् 'यत्रैव देवः स्वप्नान्न
पश्यत्यथ यदेतस्मिञ्छरीरे सुखं भवति' (प्र० ४।६) इति सुषुप्त्यवस्थायामेव
सुखश्रवणात् । यच्च—'यो वै भूमा तदमृतम्' (छा० ७।२४।१)—इति, तदपि
प्राणस्याविरुद्धं, 'प्राणो वा अमृतम्' (कौ० ३।२)—इति श्रुतेः । कथं पुनः
प्राणं भूमानं मन्यमानस्य 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यात्मविविदिपया प्रकरण-
स्योत्थानमुपपद्यते । प्राण एवेहात्मा विवक्षित इति ब्रूमः । तथाहि—
'प्राणो ह पिता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः'
(छा० ७।१५।१) इति प्राणमेव सर्वात्मानं करोति । 'यथा वा अरा
नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्' इति च सर्वात्मत्वारनाभिनि-
दर्शनाभ्यां च सम्भवति वैपुल्यात्मिका भूमरूपता प्राणस्य । तस्मात्प्राणो भूमेत्येवं
प्राप्तम् ।

यद्यपि भूमा वाक्य से प्रथम प्राण की चर्चा है, तथापि सुषुप्ति अवस्था में भी
जागृत रहने वाले प्राण से ऊपर भूमा का उपदेश है । प्राण से प्राण ऊपर नहीं हो
सकता इससे भूमा ब्रह्म है । नारद जी के पूछने पर उनके प्रश्न के उत्तर रूप से
छान्दोग्य में सनत्कुमार जी यह कहते हैं कि (अल्प में सुख नहीं है, विभु ब्रह्म ही
मुख रूप है, इससे सुखार्थियों से भूमा ही विचारणीय है) नारद जी ने कहा कि
(भगवन् मैं भूमा को विचारना जानना चाहता हूँ वह कैसा है) सनत्कुमार जी ने
कहा कि (जिस भूमा में अन्य द्रष्टा अन्य दृश्य को नहीं देखता है, इसी प्रकार न
अन्य को सुनता है न अन्य को जानता है वह भूमा है) अर्थात् जिसके ज्ञान होने
पर सब वस्तु तन्मय भासती है, वही ब्रह्म है । और जहाँ अन्य को देखता, सुनता,
जानता है वह अल्प (तुच्छ) है इत्यादि । वहाँ संशय होता है कि प्राण भूमा हो
सकता है अथवा परमात्मा भूमा है । संशय क्यों होता है कि भूमा यह शब्द मुख्य रूप
से बहुत्व अर्थ को कहता है, क्योंकि (वहोर्लोपो न च वक्तोः) इस सूत्र से 'भूम' शब्द को

भावप्रत्ययान्तता वही गई है। अर्थात् वह शब्द से भाव अर्थ में 'इमनिच्' प्रत्यय होता है, उसके आदि भाग इकार का इसी मूल से लोप होता है, वह के स्थान में मू का आदेश होता है, इच् अनुबन्ध होने से लुप्त होता है, तब 'मूमन्' शब्द बनता है। सु विभक्ति के सबन्ध से पुल्लिङ्ग में मूमा होता है, इससे उसका अर्थ बहुत्व ही है। वहाँ वह बहुत्व किमात्मक (किस स्वरूप का) है इस प्रकार विशेष को जानने की आकांक्षा (इच्छा) होने पर (प्राण ही आशा से बहुत बड़ा है) इस वचन के सन्निधान (सामोप्य) से प्राण मूमा है, ऐसी प्रतीति होती है। एव प्रकरण के उत्थान (आरम्भ) से परमात्मा मूमा है ऐसी प्रतीति भी होती है, क्योंकि प्रकरण के आरम्भ में नारद जी का कथन है कि (हे भगवन् ! आप जैसे महात्माओं से मुझे श्रुत है कि अनात्मज्ञ शोक को तर जाता है, और मैं तो अनेक विद्याओं का ज्ञाता होते हुए भी आत्मज्ञ होने के कारण शोक करता हूँ, जिस मुझ को आप ससार शोक के पार कर दें) वहाँ मध्य होता है कि किसका ग्रहण उचित है और किसका त्याग है ? वहाँ प्रथम विचार होता है कि प्राप्त क्या है, पूर्वपक्ष है कि प्राण मूमा है, क्योंकि प्राण के बाद अधिकतर का प्रश्न और प्रतिवचन की परंपरा के दर्शन से यह निश्चय हो जाता है कि प्राण मूमा है, जैसे कि—नारद जी का प्रश्न है कि (भगवान् के नाम से अधिकतर क्या है ?) उत्तर है कि (वाक् ही नाम से अधिकतर है) इसी प्रकार प्रश्न है कि (वाक् से अधिकतर क्या है) उत्तर है कि (मन ही वाक् से अधिकतर है) इस प्रकार नामादि से आरम्भ करके प्राणपर्यन्त अधिकता के प्रश्न और प्रतिवचन का प्रवाह प्रवृत्त (सिद्ध) रहा है, और प्राण के आगे अधिकतर का प्रश्न वा प्रतिवचन नहीं दीखता है कि हे भगवन् प्राण से अधिकतर क्या है, या अमुक प्राण से अधिक है इत्यादि। किन्तु (प्राण ही आशा से अधिकतर है) इत्यादि वचनों में प्राण को ही नामादि आशा पर्यन्त से अधिकतर विस्तारपूर्वक कहकर, फिर प्राणापासक को ही अतिवादी श्रेष्ठ वक्ता स्वीकार किया है कि (यदि कोई प्रश्न करे कि तुम क्या अतिवादी हो तो प्राणोपासक को उत्तर देना चाहिये कि मैं अतिवादी हूँ, उमे अपने अतिवादित्व का अपह्लाव (अपलाप-अस्वीकार) नहीं करना चाहिये, असत्य नहीं बोलना चाहिए (कि मैं अतिवादी नहीं हूँ)। इसी प्रकार प्राणवेत्ता में अतिवादित्व का स्वीकार करके फिर कहा है कि (यह तो निश्चय अतिवादी है, कि जो सत्य में अतिवादी श्रेष्ठवक्ता होता है) इस प्रकार प्राणोपासना सम्बन्धी व्रतरूप अतिवादित्व का एष शब्द से अनुकर्षण सबन्ध करके और प्राण को नहीं त्याग कर सत्यादि की परंपरा से मूमा का अवतरण (आरम्भ-निरूपण) करते हुए सनत्कुमार प्राण को ही मूमा मानते हैं, ऐसी प्रतीति होती है। यदि कहा जाय कि प्राण को मूमा रूप से व्याख्यान करने

पर (जिसमें अन्य को नहीं देखता है सो भूमा है) इस प्रकार के भूमा के लक्षणपरक वचन का कैसे व्याख्यान किया जायगा ? तो कहा जाता है कि सुषुप्ति अवस्था में करणों के प्राण से ग्रस्त होने पर (इन्द्रियों के प्राण में लीन होने पर) दर्शनादि व्यवहारों की निवृत्ति देखने से प्राण का भी यह लक्षण हो सकता है कि (जिसमें अन्य को नहीं देखता है वह भूमा रूप प्राण है) क्योंकि (न सुनता है न देखता है) इस प्रकार की श्रुति भी सब करणों के व्यापार का विलय रूप सुषुप्ति अवस्था को कहकर (इस पुर में प्राण अग्निर्या ही जागती है) इस रीति से उस सुषुप्ति अवस्था में ही पञ्चवृत्ति वाले प्राण की जागृति को कहती हुई प्राण रूप प्रधान वाली सुषुप्ति अवस्था को दर्शाती है । और (जो भूमा है वही सुख है) इस प्रकार जो भूमा को सुखत्व सुना गया है, वह भी प्राणपक्ष में विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि (जिस काल में यह देव (जीव) स्वप्नों को नहीं देखता है, उस समय सुषुप्ति में इस शरीर के अन्दर यह सुख होता है) इस प्रकार प्राण प्रधान सुषुप्ति में सुख सुना गया है । और 'जो भूमा है वही अमृत है' इस प्रकार जो अमृतत्व भूमा को श्रुत है, सो भी प्राण को अविरुद्ध है, क्योंकि (प्राण अवश्य अमृत है) यह श्रुति है । यदि कहा जाय कि प्राण को भूमा मानने वाले के मत में (आत्मज्ञ शोकरहित हो जाता है) इस प्रकार आत्मज्ञान की इच्छा से प्रकरण का आरम्भ कैसे उचित होगा ? तो कहते हैं कि यहाँ प्राण ही आत्मा विवक्षित है, क्योंकि (प्रसिद्ध प्राण ही पिता, माता, भ्राता, बहन, आचार्य और ब्राह्मण हैं) इस प्रकार की श्रुति प्राण को ही सर्वात्मा स्वीकार और सिद्ध करती है । और (जैसे नामि में—आरा समर्पित प्रोत रहते हैं, उसी प्रकार इस प्राण में सब समर्पित है) इस सर्वात्मत्व और आरा नामि के दृष्टान्त से विपुलता रूप भूमा रूपता प्राण को सम्भव है, जिससे प्राण ही भूमा है इस प्रकार व्यास है ।

तत इदमुच्यते—परमात्मैवेह भूमा भवितुमर्हति न प्राणः । कस्मात् ? सम्प्रसादादध्युपदेशात् । सम्प्रसाद इति सुषुप्तं स्थानमुच्यते, सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति निर्वचनात् । बृहदारण्यके च स्वप्नजागरितस्थानाभ्यां सह पाठात् । तस्यां च सम्प्रसादावस्थायाम् प्राणो जागर्तीति प्राणोऽत्र सम्प्रसादोऽभिप्रेयते । प्राणादूर्ध्वं भूम्न उपदिश्यमानत्वादित्यर्थः । प्राण एव चेद्भूमास्यात्स एव तस्मादूर्ध्वमुपदिश्येत्यश्लिष्टमेवैतत्स्यात् । नहि नामैव नाम्नो भूय इति, नाम्न ऊर्ध्वमुपदिष्टम् । किं तर्हि ? नाम्नोऽप्यर्थान्तरमुपदिष्टं वागाख्यम्—'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इति । तथा वागादिभ्योऽप्या प्राणादर्थान्तरमेव तत्र तत्रोर्ध्वमुपदिष्टम्, तद्वत्प्राणादूर्ध्वमुपदिश्यमानो भूमा प्राणादर्थान्तरभूतो भवितुमर्हति ।

इसके बाद यह सिद्धान्त कहा जाता है कि यहाँ परमात्मा ही भूमा होने योग्य है,

प्राण नहीं, क्योंकि सप्रसाद (सुपुष्टि प्राण) से आगे ऊपर भूमा के उपदेश से यह निश्चय होता है । सप्रसाद इस शब्द से सुपुष्टि स्थान कहा जाता है । अच्छी तरह यथाथ रूप से जिसमें प्रसन्न (सुखी) हो, इस प्रकार सप्रसाद का निर्वचन अर्थ किया जाता है, और बृहदारण्यक श्रुति में स्वप्न जागरित स्थान के साथ सप्रसाद के पाठ से सप्रसाद सुपुष्टि स्थान है और उस सप्रसादावस्था में प्राण जागता है । इस कथन से लक्षणा द्वारा इस सूत्र में सप्रसाद शब्दार्थ प्राण अभिप्रेत (स्वीकृत) है । अर्थात् सूत्र में सप्रसाद शब्द प्राण को कहा गया है, इससे सूत्र का अर्थ है कि (प्राण के बाद 'ऊपर' भूमा उपदिष्ट है, इससे भूमा प्राण नहीं है किन्तु परमात्मा है) क्योंकि यदि प्राण ही भूमा हो तो वह प्राण ही प्राण के बाद (ऊपर) उपदिष्ट होगा, फिर इस प्रकार यह वाक्य असंगत ही हो जायगा । क्योंकि नाम ही नाम से ब्रह्म है, इस प्रकार नाम के आगे नाम नहीं उपदिष्ट हुआ है । कारण, नाम के बाद नाम से अन्य अर्थान्तर वाग् नामक उपदिष्ट हुआ है । जैसे (नाम से बड़ी वस्तु वाक् है) उसी प्रकार वागादि से प्राण तक भी अर्थान्तर ही उन-उन स्थानों में अधिकतर उपदिष्ट हुए हैं । एव प्राण से आगे उपदिष्ट भूमा भी प्राण से अर्थान्तर स्वरूप होने योग्य है ।

नन्विह नास्ति प्रश्न—अस्ति भगव. प्राणादभूय-इति, नापि प्रतिवचन-मस्ति-प्राणाद्वाव भूयोर्जन्त-इति, कथं प्राणादधि भूमोपदिश्यत इत्युच्यते । प्राणविषयमेव चातिवादित्वमुत्तरत्रानुकूप्यमाणं पश्याम—'एष तु वा अतिवदति य. सत्येनातिवदति' इति । तस्माच्चास्ति प्राणादध्युपदेश इति । अथोच्यते—न तावत्प्राणविषयस्यैवातिवादित्वस्यैतदनुकर्षणमिति शक्यं वक्तुं विशेषवादात् 'य सत्येनातिवदति' इति ।

यहाँ तो हे भगवद् 'प्राण से बड़ा क्या है ?' ऐसा प्रश्न नहीं है, न उसका उत्तर ही है कि प्राण से भी बड़ा है । तो प्राण से ऊपर भूमा का उपदेश है, भूमा ऊपर उपदिष्ट है, यह कैसे कहा जाता है, और प्राण विषयक अतिवादित्व ही आगे अनुवृत्त (अनुवृत्त) देखने हैं (वह अतिवादी है कि जो सत्यवचनयुक्त अतिवादी होता है) जिससे प्राण से ऊपर उपदेश नहीं है । यहाँ कहा जाता है कि प्रथम तो यह नहीं कह सकते हो कि प्राण विषयक अतिवादित्व का ही यहाँ यह अनुवचन (अनुवृत्ति) संबन्ध है । क्योंकि यहाँ सत्य से अतिवादित्व रूप पूर्व से विशेष (अधिक) वाद है कि (सत्य से जो अतिवादी होता है) ।

ननु विशेषवादोऽप्ययं प्राणविषय एव भविष्यति । कथम् ? यथैपोऽग्निहोत्रो य. सत्यं वदतीत्युक्ते न सत्यवदनेनाग्निहोत्रित्वम्, केन तर्हि ? अग्निहोत्रेणैव, सत्यवदनं त्वग्निहोत्रिणो विशेष उच्यते । तथा 'एष तु वा अतिवदति य

‘सत्येनातिवदति’ इत्युक्ते न सत्यवदनेनातिवादित्वम्, केन तर्हि ? प्रकृतेन प्राण-
विज्ञानेनैव । सत्यवदनं तु प्राणविदो विशेषो विवक्ष्यत इति । नेति ब्रूमः । श्रुत्यर्थ-
परित्यागप्रसङ्गात् । श्रुत्या ह्यत्र सत्यवदनेनातिवादित्वं प्रतीयते—‘यः सत्येना-
तिवदति सोऽतिवदति’ इति । नात्र प्राणविज्ञानस्य संकीर्तनमस्ति । प्रकरणात्तु
प्राणविज्ञानं सम्बध्येत । तत्र प्रकरणानुरोधेन श्रुतिः परित्यक्ता स्यात् । प्रकृतव्या-
वृत्त्यर्थश्च तुशब्दो न सङ्गच्छते ‘एष तु वा अतिवदति’ इति । ‘सत्यं त्वेव
विजिज्ञासितव्यम्’ (छा० ७।१६) इति च प्रयत्नान्तरकरणमर्थान्तरविवक्षां
सूचयति । तस्माद्यथैकवेदप्रशंसायां प्रकृतायामेष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदान-
धीत इत्येकवेदेभ्योऽर्थान्तरभूतश्चतुर्वेदः प्रशस्यते तादृगेतद्द्रष्टव्यम् । न च प्रश्न-
प्रतिवचनरूपयैवार्थान्तरविवक्षया भवितव्यमिति नियमोऽस्ति, प्रकृतसम्बन्धा-
सम्भवकारितत्वादर्थान्तरविवक्षायाः । तत्र प्राणान्तमनुशासनं श्रुत्वा तूष्णीम्भूतं
नारदं स्वयमेव सन्तकुमारो व्युत्पादयति । यत्प्राणविज्ञानेन विकारानृतविषये-
णातिवादित्वमनंतिवादित्वमेव तत् ‘एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति’
इति । तत्र सत्यमिति परं ब्रह्मोच्यते, परमार्थरूपत्वात् ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’
(तै० २।१) इति च श्रुत्यन्तरात् । तथा व्युत्पादिताय नारदाय ‘सोऽहं भगवः
सत्येनातिवदानि’ इत्येवं प्रवृत्ताय विज्ञानादिसाधनपरम्परया भूमानमुपदिशति ।
तत्र यत्प्राणादधि सत्यं वक्तव्यं प्रतिज्ञातं तदेवेह भूमेत्युच्यत इति गम्यते ।
तस्मादस्ति प्राणादधि भूम्न उपदेश इत्यतः प्राणादन्यः परमात्मा भूमा
भवितुमर्हति । एवं चेहात्मविविदिषया प्रकरणस्योत्थानमुपपन्नं भविष्यति ।
प्राण एवेहात्मा विवक्षित इत्येतदपि नोपपद्यते । नहि प्राणस्य मुख्यया
वृत्त्याऽऽत्मत्वमस्ति । न चान्यत्र परमात्मज्ञानाच्छोकविनिवृत्तिरस्ति, ‘नान्यः
पन्था विद्यतेऽयनाय’ (श्वे० ६।१५) इति श्रुत्यन्तरात् । ‘तं मा भगवान् शोकस्य
परं पारं तारयतु’ (छा० ७।१३) इति चोपक्रम्योपसंहरति—‘तस्मै मृदितकषायाय
तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः’ (छा० ७।२६।२) इति । तम इति
शोकादिकारणमविद्योच्यते । प्राणान्ते चानुशासने न प्राणस्यान्यायत्ततोच्येत ।
‘आत्मनः प्राणः’ (छा० ७।२६।१) इति च ब्राह्मणम् । प्रकरणान्ते च परमात्म-
विवक्षा भविष्यति, भूमा तु प्राण एवेति चेत् । त्र । ‘स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित
इति स्वे महिम्नि’ (छा० ७।२४।१) इत्यादिना भूम्न एवाप्रकरणसमाप्ते-
रनुकर्षणात् । वैपुल्यात्मिका च भूमरूपता सर्वकारणत्वात्परमात्मनः
सुतरामुपपद्यते ॥ ८ ॥

यहाँ शंका होती है कि यह विशेष वाद भी प्राण विषयक ही हो सकता है,
कैसे हो सकता है, कि जैसे कहा जाय कि यह अग्निहोत्री है जो सत्य बोलता है ।
यहाँ सत्य कथन से अग्निहोत्रित्व नहीं होता है, तो किससे होता है ? उत्तर—अग्नि-

होत्र से ही होता है। और सत्य कथन अग्निहोत्री का विशेष धर्म कहा जाता है, वैसे ही (यह अतिवादी है जो सत्य में अतिवादी है) ऐसा कहने पर भी सत्य कथन में अतिवादित्व नहीं होता है, तो कैसे होता है कि प्रकृत (प्रस्तुत) प्राण विज्ञान से ही अतिवादित्व होता है। एव सत्य कथन प्राणवेत्ता का विशेष धर्म विवक्षित रहता है। यहाँ सत्य शब्द को सत्य वचनार्थक मानकर और (एष तु) वाक्य से एष शब्द से प्राणवेत्ता का अनुवर्णन मानकर पूर्वपक्ष हुआ है। सिद्धान्त में सत्य शब्द का सत्यात्मा अर्थ मानकर, तु शब्द से प्राण के सम्बन्ध के विच्छेद से एष शब्द सत्यब्रह्म वक्ता का बोधक है ऐसा मानकर यहाँ कहा जाता है कि यह पूर्व का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वैसे विवक्षा से श्रुत अर्थ के परित्याग का प्रसंग आता है। 'सत्येन' इस पद में तृतीया विभक्तिरूप श्रुति से सत्यब्रह्म के कथन से अतिवादित्व (अनात्मा का अतिक्रमण पूर्वक वक्तृत्व) प्रतीत होता है, क्योंकि (जो सत्यब्रह्म द्वारा अतिक्रमण कहता है वह अतिवक्ता है) यह श्रुति कहती है। यहाँ प्राण विज्ञान का सकीर्तन नहीं है। प्रकरण से प्राण विज्ञान सम्प्रद्व हो सकता है, और उसके सम्बद्ध होने पर प्रकरण के अनुसार से प्रत्यक्ष श्रुति परित्यक्त हो जायगी। एव पूर्व में प्रकृत की व्यावृत्ति के लिए पठित 'तु' शब्द भी सगत नहीं होगा कि (यही फिर निश्चय अतिवादी है) इत्यादि। तथा (सत्य ही विचारणीय है) इस वचन में प्रत्यक्षान्तर का कथन अर्थान्तर की विवक्षा को सूचित करता है। इससे जेमे एक वेदज्ञ की प्रशंसा के प्रकरण में कहा जाता है कि 'यह महाब्राह्मण है' जो चारों वेद पढ़ता है, तो वहाँ एक वेदज्ञों से अर्थान्तर स्वरूप चतुर्वेदी प्रशंसित होता है, वैसे ही यहाँ सम्प्रज्ञा चाहिये कि प्राणज्ञ से आत्मज्ञ प्रशंसित होता है। और जो यह कहा या कि प्रश्न के बिना भूमा कहा गया है इससे प्राण है, वहाँ कहा जाता है कि यह नियम नहीं है कि प्रश्न प्रतिवचन रूप में ही अर्थान्तर की विवक्षा होनी चाहिये, क्योंकि अर्थान्तर की विवक्षा प्रकृत सम्बन्ध के असम्भव से कारित (उत्पादित) होनी है। और उस नारद सनत्कुमार जी के संवाद में प्राण पर्यन्त के उपदेश को सुनकर तूष्णीभूत (चुप लगाये) नारद को स्वयं सनत्कुमार व्युत्पन्न (विज्ञानी) करते समझाते हैं कि विचार अनृत विषयक प्राण विज्ञान से जो अतिवादित्व है, वह वस्तुतः अतिवादित्व नहीं है, (यह वस्तुतः अतिवादी है जो सत्य करके अतिवादी है) वहाँ सत्य शब्द में परब्रह्म कहा जाता है, क्योंकि ब्रह्म परमार्थ स्वरूप है, और दूसरी श्रुति में (सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है) ऐसा कहा गया है। उक्तरीति से व्युत्पादित (विवेकादि युक्त समाहित) किए गए, और (हे मगधन् अव मे सत्य में अतिवादी होऊँगा) इस प्रकार सत्य के ज्ञान के लिए प्रवृत्त नारद जी के प्रति विज्ञानादि (मनन ध्यादि) साधनों की परम्परा द्वारा भूमा का उपदेश सनत्कुमार जी ने दिया। वहाँ प्राण के ऊपर जो सत्य वक्तव्य रूप से प्रतिज्ञात हुआ, जिसे कहने के लिए प्रतिज्ञा की गई

है, वही वहाँ 'भूमा' इस शब्द से कहा जाता है ऐसी प्रतीति होती है। उससे प्राण के वाद भूमा का उपदेश है। इसीसे प्राण से अन्य परमात्मा भूमा होने योग्य है। यहाँ ऐसा होने ही पर आत्मज्ञान की इच्छा से प्रकरण का आरम्भ युक्त सिद्ध होगा। एवं जो यह कहा था कि यहाँ प्राण ही आत्मा विवक्षित है, वह नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि मुख्य शक्तिवृत्ति से प्राण को आत्मशब्दार्थत्व नहीं है। और परमात्मज्ञान के बिना शोक की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरी श्रुति कहती है कि (शोकादि की निवृत्ति मोक्ष के लिए आत्मज्ञान से अन्य मार्ग नहीं है) और यहाँ (जिस शोक-युक्त मुझ को है भगवन् ! आप शोकसागर से पार कर दें) इस प्रकार आरम्भ करके उपसंहार करते हैं कि (उस दोषरहित नारद के लिए तम के पार को भगवान् सनत्कुमार दर्शति हैं) यहाँ 'तम' इस शब्द से शोकादि का कारण अविद्या कही जाती है। और यदि यहाँ प्राण पर्यन्त ही उपदेश होता तो प्राण की अन्याधीनता नहीं कही जाती कि (आत्मा से प्राण होता है) और ऐसा ब्राह्मण है। यदि कहो कि प्रकरण के अन्त में परमात्मा की विवक्षा होगी और भूमा तो प्राण ही है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि (हे भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है) निज महिमा में प्रतिष्ठित है, इत्यादि वचनों से भूमा का ही प्रकरण की समाप्ति पर्यन्त अनुकर्षण होता है, और विपुलतात्मक भूमरूपता सर्वकारणता से परमात्मा को ही अत्यन्त उचित सिद्ध होती है ॥ ८ ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

अपि च ये भूमिं श्रूयन्ते धर्मस्ति परमात्मन्युपपद्यन्ते । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति दर्शनादिव्यवहाराभावं भूमन्यवगमयति । परमात्मनि चायं दर्शनादिव्यवहाराभावोऽवगतः, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (वृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । योऽप्यर्साः सुषुप्तावस्थायां दर्शनादिव्यवहाराभाव उक्तः सोऽप्यात्मन एवासङ्ग-त्वविवक्षयोक्तो न प्राणस्वभावविवक्षया, परमात्मप्रकरणात् । यदपि तस्याम-वस्थायां सुखमुक्तम्, तदप्यात्मन एव सुखरूपत्वविवक्षयोक्तम् । यत आह— 'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (वृ० ४।३।२२) इति । इहापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नात्ये सुखमस्ति भूमैव सुखम्' इति सामयसुखनिराकरणेन ब्रह्मैव सुखं भूमानं दर्शयति । 'यो वै भूमा तदमृतम्' इत्यमृतत्वमपीह श्रूयमाणं परमकारणं गमयति, विकाराणाम-मृतत्वस्यापेक्षिकत्वात्, 'अतोऽन्यदार्तम्' (वृ० २।४।२) इति च श्रुत्यन्तरात् । तथा च सत्यत्वं स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमिति चैते धर्माः श्रूयमाणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते नान्यत्र । तस्माद्भूमा परमात्मेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

और भूमा में जो धर्म सुन जाते हैं वह परमात्मा ही में सिद्ध युक्त हो सकते हैं। जैसे कि (जहाँ अन्य को न देखता है, न सुनता है, न जानता है वह भूमा है) यह वचन भूमा में दर्शनादि व्यवहारों के अभाव को बोध कराता है। और परमात्मा में यह दर्शनादि का अभाव (जिसकाल में इस ज्ञानी को सब आत्मा हो गया उस काल में किसी के किसी देखे) इत्यादि दूसरी श्रुतियों से अवगन (ज्ञान) होता है। एव जो वह सुषुप्ति अवस्था में दर्शनादि व्यवहारों का अभाव कहा है, वह भी आत्मा के ही असङ्गत्व की विवक्षा में कहा है, प्राण के स्वभाव की विवक्षा से नहीं, क्योंकि परमात्मा का प्रकरण है। इसी प्रकार जो सुषुप्ति में सुखरूपता कही गई है, वह आत्मा की है प्राण की नहीं, जिससे दूसरी श्रुति कहती है कि (यह आत्मा का परम आनन्द है) इसी आनन्द के लेश को अन्य प्राणी (उपभोग करते हैं) और इस छान्दोग्य में भी (जो भूमा है वहीं सुख है अतः में सुख नहीं है) इस कथन से नाशादि दोषरूप आमय महित सुख का निराकरणपूर्वक ब्रह्मरूप भूमा (विभु) सुख को ही दर्शाते हैं। (जो भूमा है वहीं अमृत है) इस कथन से यहाँ सुना गया अमृतत्व भी परम कारण का बोध कराता है, क्योंकि विकारों को आपेक्षिक अमृतत्व होता है, सर्वथा नहीं इसलिये दूसरी श्रुति कहती है कि (इस आत्मा से अन्य आर्त्त-नश्वर है) जिससे यह सिद्ध हुआ कि (सत्यत्व, स्वमहिमा में स्थिरत्व, सवगतत्व, सर्वात्मत्व) ये श्रुतिप्रतिपादित धर्म सब परमात्मा में ही युक्त सिद्ध होते हैं, अन्य में नहीं, जिससे भूमा परमान्मा ही है यह सिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अक्षराधिकरण (३)

अक्षर प्रणव किंवा ब्रह्मलोकेऽक्षराभिधा । वर्णं प्रसिद्धा तेनात्र प्रणव स्यादुपास्तये ॥
अव्याकृताधारतोक्ते सर्वधर्मनिषेधतः । शासनाद् द्रष्टृतादेश्च ब्रह्मैवाक्षरमुच्यते ॥

भूमि में लेकर आकाश (अव्यक्त) पर्यन्त के धारण का श्रवण से अक्षर शब्द वर्णमान का वाचक नहीं है परन्तु ब्रह्म का वाचक है। फिर भी सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि (तदक्षरम्) इस श्रुति में अक्षर शब्द का अर्थ प्रणव (ओंकार) वर्ण है, वा ब्रह्म ? लोक में अक्षर यह नाम वर्ण का प्रसिद्ध है, इससे यहाँ उपासना के लिए अक्षर शब्दार्थ प्रणव होगा। सिद्धान्त है कि अव्याकृत की आधारता के कथन से तथा सब धर्मों के निषेध में शासन के श्रवण से द्रष्टृतादि के श्रवण से ब्रह्म ही अक्षर कहा जाता है, यह निश्चय होता है ॥ १-२ ॥

अक्षरमम्बरान्तधृते. ॥ १० ॥

'कस्मिन्तु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति, म हांचार्चतद्वै तदक्षर गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यम्यूलमनणु' (वृ० ३।८।३।८) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशय - किमक्षरशब्देन वर्ण उच्यते किंवा परमेश्वर इति। तथाक्षरसामान्या

इत्यादावक्षरशब्दस्य वर्णं प्रसिद्धत्वात् प्रनिष्ठयनिक्रमस्य चायुक्तत्वात् 'अकार एवेदं सर्वम्' (छा २।२।३) इत्यादौ च श्रुत्यन्तरे वर्णस्याप्युपास्यत्वेन सर्वात्मकत्वावधारणात्, वर्ण एवाक्षरशब्द इति ।

वृहदारण्यक की कथा है कि महात्मा याज्ञवल्क्य जी से विरक्ता विदुषी गार्गी ने पूछा कि भूत, भविष्यत्, वर्तमान यह सब जगत् किममें ओत (सम्मिलित होकर स्थिर) है । मुनि ने अव्याकृत आकाश को सबका आश्रय बताया । तब फिर गार्गी ने पूछा कि (आकाश किस निश्चित वस्तु में ओत प्रोत है । मुनि ने कहा कि गार्गी यही वह अक्षर (अविनाशी) वस्तु है कि जिसको ब्राह्मण लोग अस्थूल अनण इत्यादि कहते हैं) इत्यादि मुना जाता है । यहाँ संशय होता है कि 'अक्षर' शब्द से वर्ण कहा जाता है किंवा परमात्मा ? वहाँ पूर्व पक्ष है कि पाणिनि व्याकरण के मूल रूप चतुर्दश मूत्र को अक्षर समाम्नाय (अक्षरात्मक वेद) कहा जाता है, इससे ऐसे स्थानों में अक्षर शब्द वर्णार्थ में प्रसिद्ध है, और प्रनिष्ठि का अतिक्रमण अयुक्त होता है, । 'अकार ही यह सब जगत् रूप है' इस प्रकार दूसरी श्रुति में वर्ण को भी उपास्य रूप से सर्वात्मकता का निश्चय किया गया है, इससे यहाँ वर्ण ही अक्षर शब्द का अर्थ है ।

एवं प्राप्त उच्यते पर एवात्माक्षरशब्दवाच्यः । कस्मात् ? अम्बरान्तधृतेः— पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजातस्य धारणात् । तत्र हि पृथिव्यादेः समस्त-विकारजातस्य कालत्रयविभक्तस्य 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इत्याकाशे प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यनेन प्रश्नेनेदमक्षरम्' वतारितम् । तथा चोपसंहृतम्—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति । नचेयमम्बरान्तधृतिर्ब्रह्माण्डेऽप्यत्र सम्भवति । यदपि—'अकार एवेदं सर्वम्' इति, तदपि ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वात्स्तुत्यर्थं द्रष्टव्यम् । तस्मान्न क्षरत्यश्नुते चेति नित्यत्वव्यापित्वाभ्यामक्षरं परमेव ब्रह्म ॥ १० ॥

ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि परमात्मा ही अक्षर शब्द का वाच्यार्थ है, यह कैसे निश्चय होता है कि जिनसे पृथिवी से आकाश पर्यन्त विकार का धारण मुना जाता है । वहाँ श्रुति में तान काल में विभक्त पृथिवी आदि सम्पूर्ण विकार (कार्य) समूह को (वह आकाश में ही ओत और प्रोत है) इस प्रकार आकाश में प्रतिष्ठितत्व (स्थिरता) कह कर (आकाश किस निश्चित आधार में ओत प्रोत सर्वथा स्थिर है) इस प्रश्न द्वारा इस अक्षर को श्रुति में अवतारित (वक्तव्य रूप से प्राप्त) किया है । और उसी प्रकार से उपसंहार किया है कि (हे गार्गी, इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है) और यह आकाश पर्यन्त सब विकार का धारण ब्रह्म से अन्य में सम्भव नहीं है । (ओकार ही यह सब जगत् रूप है) यह जो श्रुति है, वह भी ओकार ब्रह्मज्ञान का साधन है, इससे उस ओकार की स्तुति के लिए

हे, ऐसा समझना चाहिये। यद्यपि (रुद्धिर्योगमपहरति) रुद्धिवृत्ति योग वृत्ति का अपहरण करती है, इस न्याय से वर्णार्थ में अक्षर शब्द की रुद्धि चली है, तथापि प्रश्न प्रतिबचन से जगदाधार में श्रुति के तात्पर्य का निश्चय होने से यहाँ ऐसा योग वृत्ति मानना चाहिए कि (न क्षरति-अस्तुते च) नष्ट नहीं होता है, और सब में व्यापक है, इससे अक्षर कहा जाता है। इस प्रकार नित्यत्व व्यापकत्व से अक्षर पर ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

स्यादेतत् कार्यस्थ चेत्कारणाधीनत्वमम्बरान्तधृतिरभ्युपगम्यते, प्रधान-कारणवादिनोऽप्यभ्युपगच्छते, कथमम्बरान्तधृतेर्ब्रह्मत्वप्रतिपत्तिरिति, अत उत्तरं पठति—

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

सा चाम्बरान्तधृति परमेश्वरस्यैव कर्म। कस्मात् ? प्रशामनात्। प्रशासन हीह श्रूयते—‘एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृता तिष्ठत’ (वृ० ३।८।९) इत्यादि। प्रशासन च पारमेश्वर कर्म नाचेतनस्य प्रधानस्य प्रशासन भवति। न ह्यचेतनाना घटादिकारणाना मृदादीना घटादिविषय प्रशामनमस्ति ॥ ११ ॥

फिर शका होती है कि इस अम्बरान्त धृति में वर्ण अक्षर शब्दार्थ नहीं है, यह ऐसा ही सिद्धांत रहे, परन्तु कार्य को कारणाधीनत्व रूप यदि अम्बरान्त धृति मानी जाती है, तो यह प्रधान कारणवादी को भी बड़ सकती है, फिर अम्बरान्त धृति से कारण में ब्रह्मत्व ज्ञान का कैसे हो सकता है, ऐसी शका होने पर सूत्रकार, उत्तर देते हैं ‘सा च प्रशासनात्’ इति। अर्थात् वह अम्बरान्त का श्रुति कथित कारण परमेश्वर का ही कर्म (क्रिया) है, क्योंकि प्रशासन सुना जाता है। यहाँ निश्चयपूर्वक प्रशासन सुना है कि (हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन-आज्ञा में सूर्य और चन्द्रमा व्यवस्थित रूप से स्थिर हैं) इत्यादि। शासन परमेश्वर का कर्म है, अचेतन प्रधान का प्रशासन रूप कर्म नहीं हो सकता है। क्योंकि घटादि के कारण अचेतन मृत्तिका आदि का घटादि विषयक अनुशासन नहीं होता है ॥ ११ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च कारणाद् ब्रह्मैवाक्षरशब्दवाच्यम्, तस्यैवाम्बरान्तधृति कर्म नान्यस्य कस्यचित्। किमिदमन्यभावव्यावृत्तेरिति। अन्यस्य भावो-ऽन्यभावान्तस्माद्व्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिरिति। एतदुक्तं भवति-यदन्यद् ब्रह्मणोऽक्षरशब्दवाच्यमिहाशङ्क्यते तद्भावादिदमम्बरान्तविधारणमक्षर व्यावर्तयति श्रुति—‘तद्वा एतदक्षर गार्ग्यदृष्टं द्रष्टुं अश्रुतं श्रोतुं अमृतं मन्तुं अविज्ञातं विज्ञातुं’ (वृ० ३।८।११) इति। तत्रादृष्टत्वादिव्यपदेश प्रधानस्यापि सभवति, द्रष्टुं-

त्वादिव्यपदेशस्तु न संभवत्यचेतनत्वात् । तथा 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतो-
स्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इत्यात्मभेदप्रतिषेधात् ।
न शरीरस्याप्युपाधिमतोऽक्षरशब्दवाच्यत्वम्, 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः'
(वृ० ३।८।८) इति चोपाधिमत्ताप्रतिषेधात् । नहि निरुपाधिकः शरीरो नाम
भवति । तस्मात्परमेव ब्रह्माक्षरमिति निश्चयः ॥ १२ ॥

ब्रह्म से अन्य के भाव (स्वभाव धर्मादि) की व्यावृत्तिरूप कारण से ब्रह्म ही
अक्षर शब्द का वाच्यार्थ है, और उस ब्रह्म का अम्बरान्त का धारण रूप कर्म है अन्य
का यह कर्म नहीं है । 'अन्यभावव्यावृत्तेः' इसका क्या अर्थ है, यदि ऐसी जिज्ञासा हो
तो सुनो—अन्य के भाव को अन्यभाव (भेद) कहते हैं, उसकी व्यावृत्ति (अभाव)
को अन्यभावव्यावृत्ति कहते हैं । इससे यह कथित होता है कि जो ब्रह्म से अन्य
अक्षर शब्दार्थ यहाँ पूर्वपक्षी से माना जाता है, उस भाव से इस अम्बरान्त का
विध्वरण करने वाले अक्षर को श्रुति भिन्न बताती है (हे गार्गी ! वह ऐसा अक्षर है
कि अन्य से अदृष्ट होते द्रष्टा है, अश्रुत होते श्रोता है, अमत होते मन्ता है, अविज्ञात
होते विज्ञाता है । उन अदृष्टत्वादि का कथन प्रधान को भी संभव होता है, परन्तु प्रधान
के अचेतन होने से द्रष्टृत्वादि का व्यवहार कथन प्रधान में नहीं हो सकता है ।) इसी
प्रकार (इस अक्षरात्मा से अन्य द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नहीं है) यह आत्मा में भेद
का प्रतिषेध है, जिससे उपाधि वाले जीव को भी अक्षर शब्द की वाच्यता नहीं है ।
और (अक्षरात्मा चक्षुः श्रोत्र वाङ्मन रहित है) इस प्रकार उपाधि सम्बन्ध के निषेध
से भी अक्षर शब्द का वाच्य जीव नहीं है, क्योंकि उपाधिरहित जीव प्रसिद्ध नहीं है,
जिससे परब्रह्म ही अक्षर है, यह निश्चय है ॥ १२ ॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशाधिकरण (४)

त्रिमात्रप्रणवे व्येयमपरं ब्रह्म वा परम् । ब्रह्मलोकफलोक्त्यादेरपरं ब्रह्म गम्यते ॥
ईक्षितव्यो जीवघनात्परस्तात्प्रत्यभिज्ञया । भवेद्व्येयं परं ब्रह्म क्रममुक्तिः फलिष्यति ।

'त्रिमात्रेण-अभिव्यायीत' इत्यादि वाक्य में व्येय वह परमात्मा ही है, क्योंकि
(पुरुषमीक्षते) इस वाक्य में वह व्येय ही ईक्षण का कर्मरूप से कहा गया है, और का
कर्म तो कल्पित भी हो सकता है, सत्य ज्ञान का विषय कर्म कल्पित नहीं होता है,
इससे सत्य परमात्मा ही व्येय है । ऐसा होते हुए भी सामान्य दृष्टि से संशय है कि तीन
मात्रा वाले प्रणव में व्येय अपर ब्रह्म है या परब्रह्म ? । पूर्व पक्ष है कि ब्रह्मलोक की
प्राप्ति के कथनादि से अपर ब्रह्म की प्रतीति होती है । सिद्धान्त है कि अन्त में जीव घन
(समष्टि जीव) हिरण्यगर्भ से पर जो ब्रह्म द्रष्टव्य पुरुष कहा गया है, ध्यान विधायक
वाक्य में पुरुष शब्द से उसी की प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह वही है, इससे ईक्षति कर्म
परब्रह्म ही व्येय होता है, उस ध्यान से क्रममुक्तिरूप फल सिद्ध होता है ॥ १-२ ॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सुः ॥ १३ ॥

‘एतद्वै सत्यकाम पर चापर च ब्रह्म यदोद्धारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनै-
कनरमन्वेति’ इति प्रकृत्य श्रूयते—‘य पुनरेत त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण पर
पुरुषमभिध्यायोत’ (प्र० ५।२, ५) इति । किमस्मिन्वाक्ये पर ब्रह्माभिध्यात-
व्यमुपदिश्यत आहोम्बिदपरमिति । एतेनैवायतनेन परमपर चैकतरमन्वेतीति
प्रकृतत्वात्प्रशय । तत्रापरमिद ब्रह्मेति प्राप्तम् । कस्मात् ? ‘म तेजसि सूर्ये
सम्पन्न’ ‘म मामभिरुह्यते ब्रह्मलोकम्’ इति च तद्विदो देशपरिच्छिन्नस्य
फलस्योच्यमानत्वात् । नहि परब्रह्मविदेशपरिच्छिन्न फलमश्नुवतीति युक्तम्,
सर्वगतत्वान्तरस्य ब्रह्मण । नन्वपरब्रह्मपरिग्रहे पर पुरुषमिति विशेषण नोपप-
पद्यते । नैष दोषः, पिण्डापेक्षया प्राणस्य परत्वोपपत्तेः ।

प्रश्नोपनिषद् की क्या है कि पिण्डाद नामक गुरु में सत्यकाम नामक शिष्य ने
पूछा कि हे भगवन् । प्राणान्त तक जो ओङ्कार का सदा ध्यान करता है, वह किस लोक
को प्राप्त करता है । गुरु ने कहा कि हे सत्यकाम । जो यह ओङ्कार है वह पर
(निर्गुण) और अपर (सगुण) दोनों ब्रह्मरूप है, अर्थात् दोनों का वाचक है, दोनों
का ध्यान के लिए बलमय प्रतीक रूप आश्रय है उसने प्राणव की ब्रह्मरूप जानने वाले
विद्वान् इस ओङ्कार के ध्यान रूप वायतन (आश्रय-साधन) में ही ध्यान के अनुसार
पर अपर में से किसी एक को प्राप्त करता है, इस प्रकार आकार की चर्चा को
आरम्भ करके मध्य में एकमात्र द्विमात्र ओङ्कार की चर्चा के बाद सुना जाता है कि
जो पुरुष त्रिमात्र (तीनों मानाओं के ऋषि देवादि के ज्ञानादि पूर्वक) ओमित्या-
कारक अक्षर रूप से पर पुरुष का ध्यान करता है, वह तेज रूप सूर्य में प्राप्त होता है
इत्यादि । यहाँ इसी आयतन में पर वर अपर एक को प्राप्त करता है, इस प्रकार
पर अपर दोनों के प्रस्तुत होने से संशय होता है कि इस वाक्य में ध्यान का (ध्येय)
रूप में परब्रह्म का उपदेश है, अथवा अपर ब्रह्म का उपदेश है ? वहाँ पूर्वपक्ष है कि
यह ध्येय अपर ब्रह्म है ऐसा प्राप्त (प्रतीत) होता है, क्योंकि (सोव्याता
रूप तेज में सम्पन्न प्रविष्ट होता है, फिर वह तृतीय मानारूप साम द्वारा ब्रह्मलोक में
प्राप्त कराया जाता है) इस प्रकार उस ओङ्कार के ज्ञाता उपामक के लिए देश से
परिच्छिन्न (परिमित) फल कहा गया है । परब्रह्म के ज्ञाता देश से परिच्छिन्न फल
को भोगता है ऐसा होना युक्त नहीं है, क्योंकि परब्रह्म सवगन (विभु) है, और
सदात्मकता ही ब्रह्मज्ञ का फल है । यदि कहा जाय कि अपर ब्रह्म को ध्येय स्वीकार
करने पर (पर पुरुषम्) वह ध्येय का विशेषण अयुक्त होगा, तो कहा जाता है कि
यह दोष नहीं है, क्योंकि विचर (विराट्) की अपेक्षा में प्राण रूप हिरण्यगर्भ को
परत्व सिद्ध होता है ।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—परमेव ब्रह्महाभिध्यातव्यमुपदिश्यते । कस्मात् ? ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् । ईक्षतिदर्शनम्, दर्शनव्याप्यमोक्षतिकर्म, ईक्षतिकर्मत्वेनास्याभिध्यातव्यस्य पुरुषस्य वाक्यगोपे व्यपदेशो भवति—‘म एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते’ इति । तत्राभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति, मनोरथकल्पितस्याप्यभिध्यायतिकर्मत्वात् । ईक्षतेस्तु तथाभूतमेव वस्तु लोके कर्म दृष्टमिष्यन्तः परमात्मैवायं सम्यग्दर्शनविषयभूत ईक्षतिकर्मत्वेन व्यपदिष्ट इति गम्यते । न एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिजायते ।

इस प्रकार पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि यहाँ परब्रह्म ही व्यातव्य (ध्यानयोग्य) उपदिष्ट होता है, क्योंकि ईक्षति का कर्म रूप से उस व्येय का कथन है और ईक्षति दर्शन (ज्ञान) का नाम है । उस दर्शन से व्याप्य दर्शन का विषय ईक्षति कर्म है और इस अभिव्यातव्य (ध्यानयोग्य) पुरुष का वाक्य शेष में ईक्षति (दर्शन) का कर्मरूप से कथन है कि वह (ध्यान करने वाला इस पर जीवघन (सूत्रात्मा) से पर पुरिशय (सर्वगरीरानुप्रविष्ट) पुरुष को देखता है । वहाँ अभिव्यान का विषयरूप कर्म तो मित्या वस्तु भी होती है, क्योंकि इच्छा से कल्पित भी ध्यान का विषयरूप कर्म होता है । परन्तु ईक्षति कर्म तो लोक में (सत्य वस्तु) ही देखी जाती है, इससे सम्यक् दर्शन का विषयरूप परमात्मा ही इस ईक्षति का कर्म रूप से कहा गया है, ऐसी प्रतीति होती है । वही यहाँ अभिव्यातव्य है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा पर और पुरुष शब्द से होती है ।

नन्वभिध्याने परः पुरुष उक्तः, ईक्षणे तु परात्परः, कथमितर इतरत्र प्रत्यभिजायत इति । अत्रोच्यते—परपुरुषशब्दौ तावदुभयत्र साधारणौ । न चात्र जीवघनशब्देन प्रकृतोऽभिध्यातव्यः परः पुरुषः परामृश्यते, येन तस्मात्परात्परोऽयमीक्षितव्यः पुरुषोऽन्यः स्यात् । कस्तिहि जीवघन इति उच्यते ? घनो मूर्तिः, जीवलक्षणो घनो जीवघनः, सैन्धवखिल्यवद्यः परमात्मनो जीवरूपः खिल्यभावः उपाधिकृतः परश्च विषयेन्द्रियेभ्यः सोऽत्र जीवघन इति । अपर आह—‘स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्’ इत्यतीतानन्तरवाक्यनिर्दिष्टो यो ब्रह्मलोकः परश्च लोकान्तरेभ्यः सोऽत्र जीवघन इत्युच्यते । जीवानां हि सर्वेषां करणपरिवृतानां सर्वकरणात्मनि हिरण्यगर्भे ब्रह्मलोकनिवासिनि संघातोपपत्तेर्भवति ब्रह्मलोको जीवघनः । तस्मात्परो यः परमात्मेक्षणकर्मभूतः स एवाभिध्यानेऽपि कर्मभूत इति गम्यते । परं पुरुषमिति च विशेषणं परमात्मपरिग्रहे एवावकल्पते । परो हि पुरुषः परमात्मैव भवति यस्मात्परं किञ्चिदन्यन्नास्ति, ‘पुरुषात् परं किञ्चित्सा काष्ठा वा परा गतिः’ इति च श्रुत्यन्तरात् । ‘परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः’ इति च द्विभज्यानन्तरमोङ्कारेण परं पुरुषमभिध्यातव्यं ब्रुवन् पर-

मेव ब्रह्म पर पुरुष गमयति । 'यथा पादोदरस्त्वक्षा विनिर्मुच्यते एव ह वै म पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पाप्मविनिर्मोकफलवचन परमात्मानमिहाभिव्या-
तव्य सूचयति । अथ यदुक्त—परमात्माभिध्यायिनो न देशपरिच्छिन्न फल
युज्यत—इति । अत्रोच्यते—त्रिमात्रेणोद्भारेणालम्बनेन परमात्मानमभिव्यायत
फल ब्रह्मलोकप्राप्ति क्रमेण च मम्यदर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्-
विष्यतीत्यदोष ॥ १३ ॥

यहाँ सवा होती है कि अभिध्यान में परपुरुष ध्येय कहा गया है और ईक्षण
में पर से पर कहा गया है, तो इनमें (ईक्षति कम) इतग्न (ध्यायति वाक्य में)
कैसे प्रत्यभिज्ञान होता है । यहाँ कहा जाना है कि पर और पुरुष शब्द प्रथम
दोनों वाक्य में तुल्य हैं । इस ईक्षति वाक्य में जीवधन शब्द से प्रथम अभि-
ध्यातव्य पर पुरुष का परामर्श (सम्बन्ध) नहीं होता है कि जिसमें उस ध्यातव्य
पर से पर यह द्रष्टव्य पुरुष अन्य (ध्येय से भिन्न) हो । सवा होती है कि यदि
ध्यातव्य पर पुरुष जीवधन नहीं है, तो कौन ह ? इसका उत्तर कहा जाता है कि धन
शब्द भूति का वाचक है, और जीव रूप जो धन उसको जीवधन कहते हैं अर्थात्
संघ (लवण) वित्त (पिण्ड) तुल्य जो परमात्मा को उपाधिवृत्त जीव माव रूप
गित्त माव (परिच्छिन्न माव) है, और इन्द्रियो में पर है यहाँ जीवधन है । कोई
कहते हैं कि (वह साम से ब्रह्म लोक में पहुँचाया जाता है) इस अतीत (पूर्वगत)
अव्यवहित वाक्य में निद्रिष्ट जो ब्रह्मलोक है, और लोकान्तरो से पर भी है, वही
यहाँ जीवधन शब्द से कहा जाता है, जिससे व्यष्टि करणो (इन्द्रियो) से परिवृत्त
(आच्छादित) व्यष्टि करणों के अनिमानी सब जीवों का सर्वकरणारमा (समष्टि
करणमिमानी) ब्रह्मलोक निवासो हिरण्यगर्भ में सघात की सिद्धि होती है, जिससे
ब्रह्मलोक जीवधन (जीव संघ का आश्रय) होना है, उससे पर जो परमात्मा
ईक्षण का कर्म स्वरूप है, वही अभिध्यान में भी कर्म स्वरूप है ऐसा जाना जाता है ।
एव 'पर पुष्पम्', यह विदोषण भी परमात्मा को स्वीकार करने पर ही युक्त सिद्ध
होगा । क्योंकि पर पुरुष परमात्मा ही होता है जिसमें पर अर्थ कुछ भी नहीं है । दूसरी
श्रुति कहती है कि (पुष्प से पर कुछ नहीं है, पुष्प परत्व की सीमा है और उत्तम
गतिरूप है) और (जो ओंकार है, वह पर अपर ब्रह्म है) इस प्रकार विभाग कर के
उससे बाद पर पुष्प को अनिव्याप्तव्य कहा हुआ गुरु पर ब्रह्म को पर पुरुष समझाता
है । (जैसे सर्प जीर्ण त्वक् से मुक्त होता है, वैसे ही वह ध्याता पाप से मुक्त होता
ह) इस प्रकार पाप की निवृत्ति रूप फल का वचन यहाँ परमात्मा की अभिध्यानव्य
भूषण करना है । जो यह कहा था कि परमात्मा के अभिध्यान करने वाले के
लिए देश से परिच्छिन्न (परिमित) फल युक्त नहीं है । यहाँ कहा जाता है कि त्रिमात्र
ओंकार रूप आलम्बन के द्वारा परमात्मा के ध्यान करने वाले को प्रथम ब्रह्मलोक की

प्राप्तिं रूपं फलं होता है, फिर क्रम से सम्यग् दर्शन को उत्पत्ति होती है, इस प्रकार क्रम मुक्ति में अभिप्राय वाला यह फल वचन है, इसमें दोष नहीं है ॥ १३ ॥

दहराधिकरण (५)

दहरः को वियज्जीवो ब्रह्म वाऽऽकाशगन्धनः ।

वियत्स्यादथवाल्पतः श्रुतेर्जीवो भविष्यति ॥

वाह्याकाशोपमानेन द्युभूम्यादिसमाहितेः ।

आत्मापहतपाप्मत्वात्सेतुत्वाच्च परेश्वर ॥

(दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः) इस श्रुति में मुना गया दहर (अल्प) आकाश ब्रह्म का बोधक है, भूताकाशदि का नहीं, उनमें कारण यह है कि उत्तर वाक्य शेषों में, सर्वाविष्टानत्वापहतपाप्मत्वादि कहे गये हैं सो ब्रह्म ने अन्य में नहीं हो सकते । सामान्य दृष्टि से संशय है कि दहर कीन है ? आकाश जीव या ब्रह्म है । पूर्वपक्ष है कि आकाश शब्द से भूताकाश है, अल्पत्व के मुनने से जीव हो सकता है । सिद्धान्त है कि वाह्याकाश को उपमान कहा गया है, और उसे उपमेय कहा गया है, इससे वह भूताकाश नहीं है, और स्वर्गभूमि आदि को उसमें स्थिति कही गई है, तथा पापादि में रहित असंग कहा गया है, एवं वर्मादि का नेतृ कहा गया है इससे दहर परमात्मा है ।

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

‘अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरे पुण्डरीके वेद्यं दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञामितव्यम्’ (छां० ८।१।१) इत्यादिवाक्यं समाप्तायते । तत्र योज्यं दहरे हृदयपुण्डरीके दहर आकाशः श्रुतः स किं भूताकाशोऽथवा विज्ञानात्माऽथवा परमात्मेति संशय्यते । कुतः संशयः ? आकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम् । आकाशगन्धो ह्ययं भूताकाशे परस्मिन् प्रयुज्यमानो दृश्यते । तत्र किं भूताकाश एव दहरः स्यात्किंवा पर इति संशयः । तथा ब्रह्मपुरमिति किं जीवोऽत्र ब्रह्मनामा तस्येदं पुरं गरीरं ब्रह्मपुरमथवा परस्यैव ब्रह्मणः पुरं ब्रह्मपुरमिति । तत्र जीवस्य परस्य वान्यतरस्य पुरस्वामिनो दहराकाशत्वे संशयः । तत्राकाशगन्धस्य भूताकाशे रुढत्वाद्भूताकाश एव दहरशब्द इति प्राप्तम् । तस्य च दहरायतनापेक्षया दहरत्वम् । ‘यान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाशः, इति च वाह्याभ्यन्तरभावकृतभेदस्योपमानोपमेयभावः द्यावापृथिव्यादि च तस्मिन्नन्तः समाहितम्, अवकाशात्मनाकाशस्यैकत्वात् । अथवा जीवो दहर इति प्राप्तम्, ब्रह्मपुरशब्दात् । जीवस्य हीदं पुरं सच्छरीरं ब्रह्मपुरमित्युच्यते, तस्य स्वकर्मणां पाजितत्वात् । भक्त्या च तस्य ब्रह्मशब्दवाच्यत्वम् । नहि परस्य ब्रह्मणः गरीरेण स्वस्वामिभावः सम्बन्धोऽस्ति । तत्र पुरस्वामिनः पुरैकदेशेऽवस्थानं दृष्टं यथा राजः । मन उपाधिकश्च जीवः, मनश्च प्रायेण हृदये प्रतिष्ठितमित्यतो जीवस्यैव हृदयेऽन्तरवस्थानं स्यात् । दहरत्वमपि तस्यैव आराध्यापमितत्वादवकल्पते । आकाशोपमितत्वादि

च ब्रह्माभेदविवक्षया भविष्यति । न चायं दहरस्याकाशस्यान्वेष्यत्व विजिज्ञासितव्यत्व च श्रूयते, 'तस्मिन्यदन्त' इति परविशेषणत्वेनोपादानादिति ।

भूमविद्या के बाद (ब्रह्म की प्राप्ति का साधन होने से ब्रह्मपुर रूप जो यह मानव शरीर है, उसमें जो यह प्रसिद्ध दहर (अल्प) हृदय कमल है, जो वैश्म (गृह) के समान है, उसमें दहर आकाश है, उसके अन्दर जो है सो अन्वेषणीय है, और विशेष रूप से ज्ञातव्य है) इत्यादि वाक्य पढ़े जाते हैं । वहाँ जो यह दहर हृदय पुण्डरीक में दहर आकाश सुना गया है वह क्या भूताकाश है, अथवा जीव है, अथवा परमात्मा है ? इस प्रकार सशय होता है । जिज्ञासा होती है कि सशय किस हेतु से होता है, उत्तर है कि आकाश और ब्रह्मपुर इन दोनों शब्दों से सशय होता है, क्योंकि यह आकाश शब्द भूताकाश और परमात्मा दोनों अर्थों में प्रयुक्त (पठित) देखा जाता है, वहाँ सशय होता है कि इस वाक्य में क्या भूताकाश ही दहर होगा अथवा परमात्मा दहर होगा । इसी प्रकार 'ब्रह्मपुरम्', इसमें सशय होता है कि क्या यही जीव ब्रह्म नाम वाला है और उसका पुर यह शरीर है इससे ब्रह्मपुर है ? अथवा पर ब्रह्म का ही पुर है इससे ब्रह्मपुर है ? उस वर्णित सशय के होने पर जीव वा परमात्मा रूप अन्यतर पुर स्वामी के दहराकाशत्व में सशय होता है । वहाँ आकाश शब्द के भूताकाश में रुद्ध होने से भूताकाश ही दहर शब्द का अर्थ है, ऐसी प्राप्ति होती है, और उसको अल्प वाश्रय की अपेक्षा से अल्पत्व है । (जितना परिमाणवाला यह बाह्याकाश है, उतना ही परिमाणवाला यह हृदय का आकाश है) इस बाह्याभ्यन्तर भावकृत भेदवाले आकाश की उपमान-उपमेय भाव होता है । एव आकाश स्वरूप से एक होने के कारण उसके अन्दर स्वर्ग भूमि आदि समाहित (सम्यक् धृत) हैं । अथवा ब्रह्मपुर शब्द से जीव दहर है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि यह शरीर जीव का पुर होता हुआ ब्रह्मपुर कहा जाता है और उसके अपने कर्म से शरीर उपाजित है, इससे उसका पुर है । चेतन होने से गोणीवृत्ति द्वारा जीव को ब्रह्म शब्द की वाच्यता है । परब्रह्म का यहाँ ब्रह्म शब्द से नहीं ग्रहण हो सकता, क्योंकि परब्रह्म का शरीर के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध नहीं है । वहाँ पुर के स्वामी जीव का ही हृदय रूप एक देश में वास देखा गया है, जैसे राजा का निवास पुर के एक देश में देखा जाता है । अर्थात् लोक में पुर के स्वामी राजा का अवस्थान जैसे पुर के एक देश राजमवन में देखा गया है, वैसे ही उक्त श्रुति में शरीर के स्वामी जीव का हृदय में अवस्थान देखा गया है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे नगर स्वामी से अन्य भी नगर के एक देश में रहता है, वैसे ही शरीर के स्वामी जीव से अन्य ब्रह्म का हृदय वासस्थान है । यद्यपि जीव का सम्पूर्ण शरीर भोग का स्थान है, तथा कर्मोपाजित है, तथापि मन उपाधिवाला जीव है और मन अधिकतर हृदय में प्रतिष्ठित रहता है, इस हेतु से जीव का ही यह श्रुति दृष्ट हृदय के अन्दर अवस्थान (निवास) हो सकता है । आराध से उपमित (तुल्यता) के कारण दहरत्व

भी जीव को ही युक्त सिद्ध होता है, एवं आकाश तुल्यता आदि जीव को ब्रह्म के साथ अभेद की विवक्षा से होगा । एवं श्रुति में अन्वेपणीय रूप से जिज्ञासितव्य रूप से दहराकाश नहीं सुना जाता है, क्योंकि (जो उसके अन्दर है) इस प्रकार जो उसके पर (अन्य) वस्तु है, उसके विशेषण आधार रूप से आकाश का ग्रहण है, इससे भूताकाश दहर हो सकता है, और उसमें अन्वेपणीय परब्रह्म है ।

अत उत्तरं ब्रूमः—परमेश्वर एवात्र दहराकाशो भवितुमर्हति न भूताकाशो जीवो वा । कस्मात् ? उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्यः । तथाहि—अन्वेष्टव्यतया विहितस्य दहरस्याकाशस्य 'तं चेदब्रूयुः' इत्युपक्रम्य 'किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्येवमाक्षेपपूर्वकं प्रतिसमाधानवचनं भवति । 'स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्वावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छां० ८।१।३) इत्यादि । तत्र पुण्डरीकदहरत्वेन प्राप्तदहरत्वस्याकाशस्य प्रसिद्धाकाशौपम्येन दहरत्वं निवर्तयन् भूताकाशत्वं दहरस्याकाशस्य निवर्तयतीति गम्यते । यद्यप्याकाशशब्दो भूताकाशे रूढस्तथापि तेनैव तस्योपमा नोपपद्यत इति भूताकाशशङ्का निवर्तिता भवति ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर इसके बाद उत्तर कहते हैं कि परमेश्वर ही यहाँ दहराकाश होने योग्य है, भूताकाश वा जीव नहीं । क्योंकि आगे के वाक्य शेष गत हेतुओं से ऐसा निश्चय होता है, जैसे कि 'तदन्वेष्टव्यम्' इत्यादि वचन से अन्वेष्टव्य रूप से विहित का सम्बन्धी आधार दहराकाश का आक्षेपपूर्वक, उस गुह को यदि शिष्य कहें, इस प्रकार आरम्भ करके शिष्य का कथन है कि (अल्प पुण्डरीक के अन्दर अति अल्प इस) दहराकाश के अन्दर क्या है जो अन्वेष्टव्य और विशेष विचारणीय है ? इस प्रकार दहराकाश का आक्षेपपूर्वक शिष्य के प्रति समाधान का वचन है कि (वह गुह शिष्य के प्रति कहे कि जितना यह बाह्य आकाश है, निश्चय उतना ही अन्तर हृदयाकाश है । एवं स्वर्ग भूमि दोनों इसमें अन्तर्गत स्थिर स्थापित है) इत्यादि । वहाँ प्रसिद्ध आकाश की उपमा से पुण्डरीक के अल्पत्व से जो आकाश को अल्पत्व प्राप्त था उस अल्पत्व को निवृत्त करता हुआ गुह दहराकाश के भूताकाशत्व की भी निवृत्ति करता है, ऐसा प्रतीत होता है । यद्यपि आकाश शब्द भूताकाश में रूढ़ है, तो भी उस भूताकाश की उपमा (तुल्यता) नहीं बन सकती है, इससे भूताकाश की शंका निवृत्त हो जाती है ।

नन्वेकस्याप्याकाशस्य बाह्याभ्यन्तरत्वकल्पितेन भेदेनोपमानोपमेयभावः सम्भवतीत्युक्तम् । नैवं सम्भवति । अगतिः का हीयं गतिः, यत्काल्पनिकभेदाश्रयणम् । अपि च कल्पयित्वापि भेदमुपमानोपमेयभावं वर्णयतः परिच्छिन्नत्वादभ्यन्तराकाशस्य न बाह्याकाशपरिमाणत्वमुपपद्यते ।

यद्यपि एक आकाश के भी बाह्यत्व अन्तरत्व से कल्पित भेद द्वारा उस एक में भी

उपमान उपमेय भाव सम्भव है, यह पहले कहा है, तथापि इन प्रकार का उपमान-उपमेय भाव मुख्य रूप में सम्भव नहीं है, और जो उपमान-उपमेय भाव के लिए कात्पनिक भेद का स्वीकार है, यह तो अगतिव गति है। यहाँ दहाराकाश को ब्रह्म मानने पर अगतिवता है नहीं। और दूसरी बात है कि अभेद में भेद की कल्पना करके उपमान-उपमेय भाव का वर्णन करने वाले को अन्तर्गत आकाश के परिच्छिन्न होने से यह बाह्य आकाश के परिमाण वाली उपमा नहीं सिद्ध हो सकती है, न उपमेय हो सकता है, परिच्छेद दृष्टि का त्यागने पर अन्यन्ताभेद से उपमानोपमेय भाव नहीं हो सकता है।

ननु परमेश्वरस्यापि 'ज्यायानाकाशात्' (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति श्रुत्यन्तरात्तत्वाकाशपरिमाणत्वमुपपद्येत। नैष दोषः। पुण्डरीकवेष्टनप्राप्तदहर-
त्वनिवृत्तिपरत्वाद्वाक्यस्य न नावत्त्वप्रतिपादनपरत्वम्। उभयप्रतिपादने हि वाक्य भिद्येत। न च कल्पितभेदे पुण्डरीकवेष्टिते आकाशकदेशे द्यावापृथिव्या-
दीनामन्त ममाधानमुपपद्यते। 'एष आत्मापहृतपाप्मा विजरो विमृत्युविशोको विजिघत्सोऽपिपाम मन्थकाम मन्थमकल्प' इति चात्मत्वापहृतपाप्मत्वादयश्च गुणा न भूताकाशे सम्भवन्ति। यद्यप्यात्मशब्दो जीवे सम्भवति तथापीतरेभ्य कारणेभ्यो जीवाशङ्कापि निर्वर्तिता भवति। नह्यपाधिपरिच्छिन्नस्याराशोपमितस्य जीवस्य पुण्डरीकवेष्टनकृत दहर्त्त्व शम्य निवर्तयितुम्। ब्रह्माभेदविवक्षया जीवस्य भवंगतत्वादिविवक्ष्येतेति चेत्। यदान्ततया जीवस्य सर्वंगतत्वादि विवक्ष्येत तस्यैव ब्रह्मण साक्षात्सर्वंगतत्वादि विवक्ष्यतामिति युक्तम्। यदप्युक्तं—ब्रह्मपुर-
मिति जीवेन परस्योपलक्षितत्वाद्वाज्ञ इव जीवस्यैवेद पुरस्वामिन पुरैकदेश-
वर्तित्वमस्तु—इति। अत्र ब्रूम। परस्यैवेद ब्रह्मण पुर सञ्चरीर ब्रह्मपुरमित्यु-
च्यते, ब्रह्मणद्वयस्य तस्मिन्मन्यत्वात्। तस्याप्यस्मिन् पुरेणानेन मन्वन्ध, उप-
लब्ध्यधिष्ठानत्वात्। 'म एतस्माज्जीवधनात्परात्पर पुरिषाय पुरूपमोक्षते' (प्र० ५।५) 'म वा अय पुरूप सर्वाणि पूर्ण पुरिषाय' (वृ० २।५।१८) इत्यादिश्रुति-
भ्यः। जयवा जीवपुर एवागिमन्ब्रह्मणि सनिहितमुपलक्ष्यते। यथा शालग्रामे विष्णु सनिहित इति तद्वत्। 'तद्यदेह कर्मचितो लोक क्षीयन् एवमेवामुन पुण्य-
चितो लोक क्षीयते' (छा० ८।१६) इति च कर्मणामन्तवत्फलत्वमुक्त्या 'अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्येनाश्च सत्यान्कामास्तेषां नवैषु लोकेषु कामचारो भवति' इति प्रकृतदहाराकाशविज्ञानम्यानन्तफलत्वं वदन् परमात्मत्वमस्य सूचयति। यदप्येतदुक्तं—न दहरस्याकाशस्यान्वेष्टव्यत्वं विजिज्ञामितव्यत्वं च श्रुत, परविशे-
षणत्वेनोपादानात्—इति। अत्र ब्रूम। यद्याकाशो नान्वेष्टव्यत्वेनोक्त स्यात् 'मावान् वा अयमाकाशस्त्वावानेपोज्जर्हदय आकाश' इत्याद्याकाशम्वम्प्रदर्शनोपपद्येत।

यदि कहा जाय कि (ज्यायानाकाशात्—परमात्मा आकाश से बहुत बड़ा है) इस श्रुति से परमात्मा में भी अति श्रेष्ठत्व सिद्ध है, इससे परमात्मा का भी आकाश तुल्य परिमाणत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। इसका समाधान है कि यहाँ यह दोष नहीं है, क्योंकि यह वाक्य पुण्डरीक वेष्टन से प्राप्त जो अल्पत्व उसकी निवृत्ति परक है, अर्थात् आकाश-की उपमा से अल्पत्व शंका मात्र निवृत्त किया जाता है, इससे इस वाक्य का आकाश तुल्यत्व मात्र प्रतिपादन परत्व नहीं है। एक वाक्य से दोनों अर्थों के प्रतिपादन करने पर वाक्यभेद की प्राप्ति होगी और कल्पित भेद वाले पुण्डरीक से वैष्टित आकाश के एक देश में स्वर्ग भूमि आदि का अन्तःसमाधान (सम्यग् धारण) नहीं बन सकता है। इसी प्रकार (यह आत्मा पाप रहित, जरा अवस्था रहित, मृत्यु और शोक रहित, दुःखरहित, पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प वाला है) इस प्रकार के आत्मत्व पापविमुक्तत्वादि गुण मूलाकाश में सम्भव नहीं है। यद्यपि आत्म शब्द जीव में सम्भव है, तो भी इतर हेतुओं से जीव की आशंका भी निवृत्त हो जाती है। क्योंकि उपाधि से परिमित आराग्न की उपमा वाला जीव का पुण्डरीकवेष्टनकृत दहरत्व निवृत्त करने के लिये शक्य (योग्य) नहीं है। यदि ब्रह्म के साथ अभेद की विवक्षा से जीव के सर्वगतत्वादि कहना चाहते हो, तो उस ब्रह्म को ही साक्षात् सर्वगतत्वादि की विवक्षा करो, यही उचित है और भी जो यह कहा था कि 'ब्रह्मपुरम्' इस वाक्य में जीव से पुर (देह) के उपलक्षितत्व (सम्बद्धत्व) के कारण राजा के समान पुर के स्वामी जीव का ही पुर के एक देश-हृदय में वर्त्तिता (स्थिति) रहे। यहाँ कहते हैं कि परब्रह्म का ही पुर होता हुआ यह शरीर ब्रह्मपुर कहाता है, क्योंकि ब्रह्मशब्द परब्रह्म में मुख्य वृत्ति से है इससे यहाँ उसका ही मुख्यत्व है। एवं उस ब्रह्म का भी इस पुर के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि यह देह उस ब्रह्म की उपलब्धि (ज्ञान) का अधिष्ठान (स्थान) है, इससे उपलब्धि स्थानत्वरूप सम्बन्ध है। तथा (वह ध्याता इस पर जीवधन से पर पुरनिवासी पुरुष को देखता है) और 'वह पुरुष सब शरीरों में हृदय पुर में यह सोया (स्थिर) है' इत्यादि श्रुति वचनों से उक्त सम्बन्ध निश्चित होता है। अथवा शरीर की वृद्धि का हेतु होने से जीव ही ब्रह्म शब्द का अर्थ (ब्रह्मपुरम्) इस वाक्य में है और उस जीव के इस शरीर रूप पुर में ही हृदय में सन्निहित (ध्यात) ब्रह्म उपलक्षित (ज्ञात) होता है, जैसे कि शालग्राम में सन्निहित विष्णु उपलक्षित होता है, वैसे ही समझना चाहिये। एवं जैसे यहाँ कर्माजित लोक नष्ट होता है, वैसे ही परलोक में पुण्याजित लोक विषयादि भी नष्ट होते हैं। इस प्रकार कर्मों को विनश्वर फलवत्त्व कहकर कहा है कि (वैराग्य के बाद जो कोई इस शरीर में आत्मा को ध्यानादि से जान कर परलोक में जाते है, तथा इस आत्मा के आश्रित रहने वाले इस सत्य कामादि गुणों को जानकर परलोक में जाते है उनको सब लोकों में यथेष्ट गति होती है) इस कथन से प्रकृत दहराकाश के विज्ञान के अनन्त फलत्व को कहता हुआ गुरु

इसको परमात्मत्व सूचित करता है। पहले जो यह भी कहा था कि दहगकाश को अन्वेष्टव्यत्व और विजिज्ञासितव्यत्व नहीं मुना गया है, क्योंकि पर के विज्ञेयण रूप से उसका ग्रहण किया गया है। उसके लिए कहते हैं कि यदि आकाश अन्वेष्टव्य रूप से नहीं उक्त होता तो 'जिनका यह आकाश है इतना ही यह अन्त हृदयाकाश है' इत्यादि वचन से आकाश के स्वरूप का प्रदर्शन उपयुक्त (सफल) नहीं होगा।

नन्वेतदप्यन्तर्वन्तिवस्तुमद्भावाप्रदर्शनायैव प्रदर्शयन्ते, 'त चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेदम दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्य यद्भावा विजिज्ञामितव्यम्' इत्याक्षिप्य परिहारावसर आकाशोपम्योपक्रमेण द्यावापृथिव्यादीनामन्त समाहितत्वदर्शनात्। नैनदेवम्। एव हि मति यदन्त-समाहित द्यावापृथिव्यादि तदन्वेष्टव्य विजिज्ञामितव्य चोक्त म्यात्। तत्र वाक्यशेषो नोपपद्येत। 'अस्मिन्कामा समाहिता, एष आत्माऽपहतपाप्मा' इति हि प्रकृत द्यावापृथिव्यादिममाधानाधारमाकाशमाकृष्य 'अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येनाश्च सत्यान्कामान्' इति समुच्चयार्थेन चगब्देनात्मान कामाधारमाश्रिताश्च कामान्विज्ञेयान्वाग्यशेषो दर्शयति। तस्माद्वाक्योपक्रमेऽपि दहर एवाकाशो हृदयपुण्डरीकाधिष्ठान महान्त स्यैव समाहितै पृथिव्यादिभि मत्यैश्च कामैर्विज्ञेय उक्त इति गम्यते। न चोक्तेभ्यो हेतुभ्य परमेस्वर इति ॥ १४ ॥

यदि कहो कि यह स्वरूप प्रदर्शन भी अन्तर्वन्ती वस्तु के मद्भावा प्रदर्शन कराने के लिए किया गया है, क्योंकि 'उस गुह को यदि शिष्य कहे कि जो इस ब्रह्मपुर में अल्प पुण्डरीक रूप वेदम है उसमें अल्प अन्त आकाश है, यहाँ कौन वह वस्तु है कि जो अन्वेष्टव्य है और अवश्य विजिज्ञासितव्य है' इस प्रकार आक्षेप करके, परिहार के अवसर में आकाश की उपमा तुल्यता का प्रारम्भ पूर्वक स्वर्ग भूमि आदि का अन्त समाहितत्व देखा जाता है, जिसके अन्तर्गत वस्तु प्रदर्शन के ही लिए आकाश के स्वरूप का प्रदर्शन है। वहाँ कहा जाता है कि यह प्रदर्शन इस प्रकार का नहीं है, जिससे ऐसा होने पर जो अन्त में समाहित स्वर्ग भूमि आदि हैं वे ही अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य हैं, यह कथित होगा। इससे जगत् ही ध्येय ज्ञेय सिद्ध होगा। ऐसा होने पर वाक्य शेष भंगन नहीं होगा, क्योंकि (इसमें काम समाहित है, यह आत्मा अपहतपाप्मा है) इन वाक्या से प्रकृत स्वर्ग भूमि आदि के ममाधान का आधार आकाश का आकर्षण सम्बन्ध करके (अब जो यहाँ आत्मा और इन सत्य कामों को जानकर गमन करता है) इस कथन से समुच्चयार्थक च शब्द से काम के आधार आत्मा का और आश्रित कामों को वाक्यशेष विज्ञेय दियलाता है स्वर्ग भूमि आदि को नहीं। इससे वाक्य के प्रारम्भ में भी हृदयपुण्डरीकवृत्ति दहगकाश ही अन्त स्थित समाहित पृथिवी आदि सहित और सत्य कामों सहित विज्ञेय कहा गया है, यह निश्चय होता है। एव वह दहर उक्त हेतुओं से परमात्मा है ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

गतिशब्दान्याम्—तथा-हि-दृष्टम्-लिङ्गम्-च । इमं सूत्र मे छः पद हैं । संक्षिप्तार्थ है कि (गमन ब्रह्मलोकशब्दान्यां दहरो ब्रह्मेति हि । यस्माच्छ्रुत्यन्तरे तथा दृष्टं वर्तते वाक्यशेषे श्रुत्यन्तरे दृष्टं वचनं च ब्रह्मलोकशब्दे कर्मधारयसमासे लिङ्गं भवतीति) ब्रह्मलोक में प्रतिदिन का गमन और ब्रह्मलोक शब्द से दहर ब्रह्म है और दूसरी श्रुति में भी जिससे वैसा वचन देखा गया है, उससे भी दहर ब्रह्म है, एव वही वचन कर्मधारय समास में भी लिङ्ग (हेतु) होता है ।

दहरः परमेश्वर उत्तरेभ्यो हेतुभ्य इत्युक्तम् । न एवोत्तरे हेतव इदानीं प्रपञ्च्यन्ते । इतश्च परमेश्वर एव दहरः, यस्माद्दहरवाक्यशेषे परमेश्वरस्यैव प्रतिपादको गतिशब्दो भवतः—‘इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्म-लोकं न विन्दन्ति’ (छां० ८।३।२।) इति । तत्र प्रकृतं दहरं ब्रह्मलोकशब्दे-नाभिधाय तद्विषया गतिः प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानामभिधीयमाना दहरस्य ब्रह्मतां गमयति । तथा ह्यहरहर्जीवानां सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मविषयं गमनं दृष्टं श्रुत्यन्तरे—‘सता सोम्य नदा सम्पन्नो भवति’ (छां० ६।८।१) इत्येवमादी । लोकेऽपि किल गाढं सुषुप्तावस्थते-ब्रह्मभूतो ब्रह्मतां गत-इति । तथा ब्रह्म-लोकशब्दोऽपि प्रकृते दहरे प्रयुज्यमानो जीवभूताकाशगच्छां निवर्तयन् ब्रह्मतामस्य गमयति । ननु कमलासनलोकमपि ब्रह्मलोकशब्दो गमयेत्, गमयेद्यदि ब्रह्मणो लोक इति पक्षीसमासवृत्त्या व्युत्पद्येत । सामानाधिकरण्यवृत्त्या तु व्युत्पाद्यमानो ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति परमेव ब्रह्म गमयिष्यति । एतदेव चाहरहर्ब्रह्मलोक-गमनं दृष्टं ब्रह्मलोकशब्दस्य सामानाधिकरण्यवृत्तिपरिग्रहे लिङ्गम् । नह्यहर-हरिमाः प्रजाः कार्यब्रह्मलोकं सत्यलोकाख्यं गच्छन्तीति गवयं कल्पयितुम् ॥१५॥

उत्तर हेतुओं से दहर परमेश्वर ही है, पहले यह कहा गया है । ध्रुव वे ही अगले हेतु इस समय विस्तृत रूप से कहे जाते हैं कि इस वक्ष्यमाण हेतु से भी परमेश्वर ही दहर है, जिससे दहर के वाक्यशेष में परमेश्वर के ही प्रतिपादक गति और शब्द है कि (यह सब प्रजाजीव) प्रतिदिन सुषुप्ति काल में इस दहररूप ब्रह्म में प्राप्त होती है (परन्तु अज्ञानसे आवृत रहने के कारण ब्रह्मलोक को जानती नहीं हैं) । वहाँ प्रकृत दहर को ब्रह्मलोक शब्द से कह कर प्रजा शब्द के जीवों की उस दहर विषयक गति को कहती हुई श्रुति दहर की ब्रह्मता को समझाती है । एवं श्रुत्यन्तर में भी उसी रीति से जीवों की प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म विषयक गमन देखा गया है कि (हे सोम्य ! सुषुप्ति काल में जीव सद्ब्रह्म से मिल जाता है) इत्यादि । लोक में भी अत्यन्त गाढ (अतिगह) निद्रायुक्त को लोग कहते हैं कि ब्रह्मस्वरूप हो गया ब्रह्मता को प्राप्त किया इत्यादि । उक्त गति के समान श्रुतिगत ब्रह्मलोक शब्द भी प्रकृत दहर

मं प्रयुज्यमान (उच्चारित) हो कर, दहर विषयक जीव और भूताकाश वाचकत्वका निवृत्त करता हुआ इस दहर की ब्रह्मता को समझता है। मका होती है कि ब्रह्मा के लोक को भी 'ब्रह्मलोक' शब्द बोध करा सकता है? उत्तर है कि यदि (ब्रह्मणो लोक) ब्रह्मा का लोक, इस प्रकार में पष्ठीममासरूप वृत्ति द्वारा ब्रह्मलोक शब्द को सिद्ध किया जाता तो ब्रह्मलोक शब्द ब्रह्मा के लोक को बोध कराना, परन्तु जहाँ कर्मधारय समास समव हो, वहाँ पष्ठी में कर्मधारय बली होता है, यह पूर्वमीमांसा (निपादस्यपि अधिकरण) में प्रसिद्ध है। यहाँ कर्मधारय का सम्भव है इसमें समानाधिकरण वृत्ति (कर्मधारय) से साधा गया है कि ब्रह्मस्य लोक ब्रह्मलोक है। इस प्रकार यह शब्द पर ब्रह्म का ही बोध करायेगा अन्य का नहीं। एव यही देखा गया प्रातदिन का ब्रह्म-लोकगमन ब्रह्मलोक शब्द की समानाधिकरण वृत्ति के स्वीकार में सिद्ध है, क्योंकि ये प्रजा सत्यलोक नामक कार्यब्रह्म के लोक में प्रतिदिन जाती हैं, ऐसी कल्पना हो नहीं सकती है ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धे ॥ १६ ॥

धृते च-महिम्न-अस्य-अस्मिन्-उपलब्धे ये छ पद इस सूत्र में हैं। सक्षिप्तार्थ है कि (धृतेर्हेतोः परमात्मैव दहरो भवति नृत्वात्मकस्य, अस्य परमात्मनो महिम्नोऽस्मिन् दहरे ह्युपलब्धेर्ज्ञायते यद्य ब्रह्मेति) धारणारूप हेतु में दहर परमात्मा है, और श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध परमात्मा की धृतिरूप महिमा इस दहर में ज्ञान होती है, इसमें जाना जाता है कि दहर ब्रह्म है।

॥ धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवाय दहर । कथम् ? 'दहरोऽस्मिन्नन्तर्गता' इति हि प्रकृत्याकाशोपम्यपूर्वकं तस्मिन्मदंममाधानमुक्त्वा तस्मिन्नेव चात्म-शब्द प्रयुज्यापहनपाप्मन्वादिगुणयोगं चोपदिश्य तमेवाननिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति- 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधारेणा लोकानामसम्भेदाय' (छा० ८।६।१) इति । तत्र विधृतिरित्यात्मशब्दमामानाधिकरणप्रादिधारयितोच्यते, क्वचित् कर्तरि स्मरणान् । यथोदङ्गमन्तानस्य विधारयिता लोके सेतु क्षेत्रमप-दामसम्भेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादिभेदभिन्नाना लोकाना वर्णाश्रमा-दीना च विधारयिता सेतुरसम्भेदायामङ्कुरायेति । एवमिह प्रकृते दहरे विधा-रणलक्षणं महिमानं दर्शयति । अथ च महिमा परमेश्वर एव श्रुत्यन्तरादुपलभ्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशमने गामि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादेः । तथान्यत्रापि निश्चिते परमेश्वरवाक्ये श्रूयते—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारण एषा लोकानामसम्भेदाय' इति । एव धृतेश्च हेतोः परमेश्वर एवाय दहर ॥ १६ ॥

धृति हेतु से भी परमेश्वर ही यह दहर है, क्योंकि (इसमें दहर अन्तर आकाश है) इस प्रकार आरम्भ करके ही आकाश की उपमा पूर्वक उसमें सबका समाधान कहकर

और उस दहर में ही 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करके और अपहृतपाप्मत्वादि गुण सम्बन्ध का उपदेश करके, जिसका प्रकरण अतिवृत्त (समास-निवृत्त) नहीं हुआ है उसी का श्रुति निर्देश करती है कि (जो आत्मा है वह इन लोकों का असम्भेद=अमिश्रण) के लिये सेतु है । विधृति=धारण कर्ता है । वहाँ 'विधृति' इस शब्द से आत्म शब्द की समानाधिकरणता से विधारयिता कहा जाता है । क्योंकि कित्च् प्रत्यय कर्ता अर्थ में स्मृत है, और जैसे जलप्रवाह का विधारण करने वाला सेतु लोक में होता है, वह क्षेत्र सम्पत्ति के असम्भेद के लिये होता है, वैसे यह आत्मा आद्यात्मादि भेद से भिन्न इन लोकों का और वर्णाश्रमादि का असम्भेद (असङ्कर) के लिये विधारयिता सेतु है, इस प्रकार यहाँ प्रकृत दहर में विधारणरूप महिमा को श्रुति दिखलाती है, और यह महिमा श्रुत्यन्तर से परमेश्वर की ज्ञात होती है कि (हे गार्गि । इस अक्षर परमात्मा के अनुशासन में सूर्य चन्द्रमा विधृत स्थिर है) इत्यादि । वैसे ही अन्यत्र भी निश्चित परमेश्वर विषयक वाक्य में सुना जाना है कि (यह सर्वेश्वर है यह भूतपति है, यह भूतपालक है, और इन लोकों का असम्भेद के लिये यही विधारण कर्ता सेतु है । इस प्रकार धृति हेतु से भी परमात्मा ही यह दहर है ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च १७ ॥

इतश्च परमेश्वर एव 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्युच्यते । यत्कारणमाकाश-शब्दः परमेश्वरे प्रसिद्धः । 'आकाशो वै नाम नामरूपयोनिर्वहिता' (छां० ८।१।४), 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (छां० १।९।१) इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । जीवे तु न कचिदाकाशशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते । भूताकाशस्तु सत्यामप्याकाशशब्दप्रसिद्धावुपमानोपमेयभावाद्यसम्भवान्न गृहीतव्य इत्युक्तम् ॥ १७ ॥

इस हेतु से भी परमेश्वर ही (इसमें दहर अन्तःआकाश है) इस प्रकार कहा जाता है, कि जिस कारण से आकाश शब्द परमेश्वर अर्थ में प्रसिद्ध है (आकाश ही नाम रूप का निर्वाहक आश्रय है । सब भूत आकाश ही से सम्यक् उत्पन्न होते हैं) इत्यादि वचनों में ईश्वर विषयक आकाश शब्द का प्रयोग देखने से प्रसिद्धि समझी जाती है । जीव अर्थ में प्रयुज्यमान (पठित) आकाश शब्द तो कहीं नहीं देखा जाता है । भूताकाश अर्थ में आकाश शब्द की प्रसिद्धि होते हुए भी उपमान उपमेयभाव का एक में असम्भव से भूताकाश यहाँ ग्रहण के योग्य नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है ।

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

यदि वाक्यशेषवलेन दहर इति परमेश्वरः परिगृह्येतास्तीतरस्यापि जीवस्य वाक्यशेषे परामर्शः—अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्य एष आत्मेति होवाच' (छां० ८।३।४)

इति । अत्र हि सम्प्रसादशब्द श्रुत्यन्तरे सुप्तावस्थाया दृष्टत्वात्तदवस्थावन्त जीव श्वनोत्पुपस्थापयितुं नार्थान्तरम् । तथा शरीरव्यपाधयस्यैव जीवस्य शरीरात्ममुत्थान सम्भवति । यथाकाशव्यपाश्रयाणां वाय्वादीनामाकाशात्समुत्थानं यद्वत् । यथा चादृष्टोऽपि लोके परमेश्वरविषय आकाशशब्द परमेश्वरधर्मसमभिव्याहारात् 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादौ परमेश्वरविषयोऽभ्युपगत एव जीवविषयोऽपि भविष्यति । तस्मादितरपरामर्शात् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इत्यत्र स एव जीव उच्यते इति चेत् । नैतदेव स्यात् । कस्मात् ? असम्भवात् । नहि जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानो सन्नाकाशेनोपमायेत । न चोपाधिधर्मानभिमान्यमानस्यापहतपाप्मत्वादयो धर्मा सम्भवन्ति । प्रपञ्चिनं चैतत्प्रथमसूत्रे । अतिरेकाशङ्कापरिहारायात्र तु पुनरुपन्यस्तम् । पठिष्यति चोपरिप्रात् 'अन्यार्थश्च परामर्शः' (ब्र० १।३।२०) इति ॥

शका होती है कि यदि वाक्यशेष के वच से 'दहर्' इस पद से परमेश्वर परिगृहीत = स्वीकृत = ज्ञात होता है, तो परमेश्वर से इतर (भिन्न) जीव का भी वाक्यशेष में परामर्श (विचार) कथन है कि—जो यह सप्रसाद जीव इस शरीर से सम्पर्क उठकर (विविक्त आत्मा को समझकर) और शरीराभिमान के अभाव से आत्मा को निज स्वरूप में प्राप्त करके उस परम ज्योति को प्राप्त करता है वही आत्मा है, ऐसा प्रजापति ने इन्द्र से कहा । दूसरी श्रुति में सप्रसाद शब्द सुषुप्ति अवस्था में प्रयुक्त देखा गया है । इसमें यहाँ उस अवस्था वाले जीव को उपस्थित (बुद्धिस्थ ज्ञात) करा सकता है, अर्थान्तर को नहीं करा सकता । इसी प्रकार शरीर के आश्रित रहने वाला शरीराभिमानो जीव का ही शरीर से समुत्थान का सम्भव है, जैसे कि आकाश के आश्रित रहने वाले वायु आदि का आकाश से समुत्थान (आविर्भाव) होता है, ऐसा ही समझना चाहिए । जैसे लोक में आकाश पर परमेश्वर विषयक (परमेश्वर वाचक) अदृष्ट भी है, तो भी परमेश्वर के धर्मों के कथन में (प्रसिद्ध आकाश ही नाम और रूप का निर्वहक है) इत्यादि श्रुति में परमेश्वर विषयक आकाश शब्द माना गया है, इसी प्रकार जीव विषयक भी दहर्आकाश शब्द हो सकता । इस कारण से इतर के परामर्श से (इसमें अल्प अन्तराकाश है) । यहाँ वह जीव ही दहर्आकाश कहा जाता है, इस प्रकार यदि कोई कहे, तो उसका उत्तर है कि यह दहर्आकाश इस प्रकार जीव नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है । जिससे बुद्धि आदि उपाधिद्वय परिच्छेद (भेद) का अभिमानो होता हुआ जीव आकाश से उपनिमित्त नहीं हो सकता (आकाश के तुल्य नहीं कहा जा सकता) है । एवं उपाधि के हृष्योकादि धर्मों का भी सम्भव नहीं है, यह प्रथम सूत्र में विस्तार पूर्वक कहा गया है । यहाँ तो आगे वर्णित अधिक शका के निवारण के लिए फिर उपयास (कथन) किया गया है और जीव के स्वरूप के परामर्श का प्रयोजन आगे सूत्र में कहेंगे कि (अन्यार्थक जीव का परामर्श है) ॥ १८ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

इतरपरामर्शाद्या जीवाशङ्का जाता साऽसम्भवान्निराकृता । अयेदानी मृत-
स्यैवामृतसेकात्पुनः समुत्थानं जीवागङ्कायाः क्रियते उत्तरस्मात्प्राजापत्याद्वा-
क्यात् । तत्र हि 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यपहतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानमन्वे-
ष्टव्यं विजिज्ञासितव्यं च प्रतिज्ञाय 'य एपोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा'
(छां० ८।७।४) इति ब्रुवन्नक्षिस्थं द्रष्टारं जीवमात्मानं निर्दिशति । 'एतं त्वेव
ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छां० ८।१।३) इति च तमेव पुनः पुनः परामर्श्य
'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा' (छां० ८।१०।१) इति, 'तद्यत्रैत-
त्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा' इति च जीवमेवाव-
स्थान्तरगतं व्याचष्टे । तस्यैव चापहतपाप्मत्वादि दर्शयति—'एतदमृतमभय-
मेतद्ब्रह्म' इति । 'नाह खल्वयमेव सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो
एवेमानि भूतानि' (छां० ८।११।१, २) इति च सुषुप्तावस्थायां दोषमुपलभ्य
'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इति चोपक्रम्य
शरीरसम्बन्धनिन्दापूर्वकं 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूप-
सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इति जीवमेव शरीरात्म-
मुत्थितमुत्तमम्पुरुषं दर्शयति । तस्मादस्ति सम्भवो जीवे पारमेष्ठवराणां धर्मा-
णाम् । अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति जीव एवोक्त इति चेत्कश्चिद्ब्रूयात् ।

इतर के परामर्श से जीव की शंका हुई थी, वह असम्भव से निराकृत (निवारित)
की गई । फिर जैसे अमृत के सेचन से मृत को जिलाया गया, वैसे उत्तर पठित प्रजा-
पति के वाक्य से इस समय जीव शंका का समुत्थान किया जाता है । क्योंकि उस प्रजा-
पति के वाक्य में (जो आत्मा है सो पापरहित है) इस प्रकार विगत पापत्वादि गुण
वाला आत्मा को अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासितव्य की प्रतिज्ञा करके (जो यह आँख में पुरुष
दीखता है यह आत्मा है) इस प्रकार कहता हुआ, अक्षिस्थ द्रष्टा को जीवात्मा कहते हैं,
(इसी को तेरे लिये फिर व्याख्यान करूँगा) इस प्रकार उसका ही बार-बार परामर्श
(स्मरण) करके (जो यह स्वप्न में वासनामय विषयों से पूज्यमान होकर विचरता है
यह आत्मा है) इस वाक्य में और (सुषुप्ति काल में जब यह गाढ़ निद्रा से सोया रहता
है, सब इन्द्रियाँ जिसकी लीन हुई रहती हैं, स्वयं सम्प्रसन्न दोषरहित शुद्ध रहता है,
स्वप्न नहीं देखता है, यह आत्मा है) इस वाक्य में भी प्रजापति अवस्थान्तर गत जीव
का ही कथन करते हैं । उसी को (यह अमृत है, यह अमय है, यह ब्रह्म है) इत्यादि
वाक्य से अपहतपाप्मत्वादि दिखलाते हैं । यहाँ इन्द्र का कथन है कि (अह-खेद है कि
इस सुषुप्ति काल में यह जीव अपने ही आत्मा को नहीं जानता है कि मैं यह हूँ और न
इन भूतों को ही जानता है) • इस प्रकार दोष देखकर स्थिर इन्द्र के प्रति प्रजापति का
कथन है कि (इसी आत्मा का मैं फिर व्याख्यान करूँगा, इससे अन्य का व्याख्यान

नहीं करूँगा) इस प्रकार आरम्भ करके शरीर सम्बन्ध की निन्दापूर्वक जीव को ही शरीर से समुत्थित (भिन्न) उत्तम पुरुष दिखलाते हैं कि (यह सम्प्रसाद इस शरीर से समुत्थित होकर पर ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न पूर्ण होता है) उस प्रजापति के वाक्य से जीव में परमेश्वर के धर्मों का सम्भव है । इससे प्रजापति के वाक्य असम्भव की असिद्धि से इसमें दृढ़ अन्तराकाश है) इस प्रकार जीव ही कहा गया है, इस प्रकार यदि कोई कहे तो—

त प्रति ब्रूयात्—‘आविर्भूतस्वरूपस्तु’ इति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवस्याशङ्का सम्भवतीत्यर्थः । कस्मात् ? यतस्तत्राप्याविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते । आविर्भूतस्वरूपमस्येत्याविर्भूतस्वरूप । भूतपूर्वगत्या जीववचनम् ।

उसके प्रति कहना चाहिए कि वहाँ समारी जीव नहीं कहा गया है, किन्तु आविर्भूत (प्रकट) स्वरूपवाला जीव कहा गया है । यहाँ ‘तु’ शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है । अर्थ है कि यहाँ उत्तर वाक्य से भी जीव की आशंका का सम्भव नहीं है, क्योंकि जिसमें उत्तर वाक्य में भी आविर्भूत स्वरूप वाला जीव विवक्षित है । जिसका जीवत्व में रहित स्वरूप प्रगट हो गया हो उसको आविर्भूत स्वरूप कहते हैं, और इस अवस्था में जीवत्व का अभाव होते हुए सा भूतपूर्व गति (पूर्वकालिक अवस्था को दृष्टि) से जीव कहा जाता है ।

एतदुक्तं भवति—‘य एपोऽक्षिणि’ इत्यक्षिलक्षितं द्रष्टारं निर्दिश्योदशरात्र-ब्राह्मणेनेन शरीरात्मताया व्युत्पाप्य ‘एत त्वेव ते’ इति पुनः पुनस्तमेव व्याख्येयत्वेनावृष्य म्यज्जसुप्तोपन्यासक्रमेण ‘परं ज्योतिरुपमम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’ इति यदस्य पारमार्थिक स्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैर्न जीव व्याचष्टे न जैवेन रूपेण । यत्परं ज्योतिरुपमम्पद्यथ्य श्रुतं तत्परं ब्रह्म, तन्वापहतपाप्मत्वादधिधर्मकं, तदेव च जीवस्य पारमार्थिक स्वरूपं ‘तत्त्वमसि’ इत्यादिशास्त्रेभ्यः, नेतरदुपाधिकल्पितम् । यावदेव हि म्याणाविव पुरुषवृद्धिं द्वैतलक्षणमविद्या निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम् । यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिमिन्द्रियादिव्याप्यं शुभ्रं प्रतिबोध्यते—‘नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिमिन्द्रियात्, नासि समारी, किं तर्हि ? तद्यत्स्य स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्तत्त्वमसीति । तदा कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानं प्रतिबुद्ध्याम्याच्छरीराद्यभिमानात्प्रमुक्तिंश्च न एव कूटस्थनित्यदृक्स्वरूप आत्मा भवति । ‘म यो ह वै तत्परमं ब्रह्मैव भवति’ (मुण्ड० ३।२।९) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तदेव चारय पारमार्थिक स्वरूपं येन शरीरात्ममुत्पायं स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।

इसमें यह तात्पर्य मिट होता है कि (एपो अक्षिणि) यह आँख में दोलना है । इस कथन से नेत्रजन्य वृत्ति में साक्षिस्वरूप से उपलक्षित द्रष्टा आत्मा का निर्देश

करके उदकयुक्त शराव का वर्णन करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ से, इस द्रष्टा आत्मा को शरीरात्मता से पृथक् करके अर्थात् जल प्रतिबिम्ब के समान शरीर को मिथ्या दिखलाता हुआ उससे भिन्न द्रष्टा को सत्य समझकर, और 'एत त्वेव ते' इस वाक्य से उसी द्रष्टा का बार-बार आकर्षण करके और स्वप्न मुपुसि के प्रदर्शन क्रम से (पर ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है) इस कथन द्वारा जो इस जीव का पारमार्थिक स्वरूप परब्रह्म है, उस रूप से इस जीव का व्याख्यान प्रजापति करते हैं, जीव सम्बन्धी रूप से नहीं करते हैं, यह तत्त्व यहाँ उक्त हुआ है । एव जो पर ज्योति प्राप्तव्य सुना गया है, वह परब्रह्म है, और वह अपहृतपाप्मत्वादि धर्म वाला है । वही जीव का पारमार्थिक स्वरूप है, उपाधि से कल्पित दूसरा स्वरूप पारमार्थिक नहीं है, वह (तत्त्वमसि) तू वही है इत्यादि शास्त्र से सिद्ध होता है । जीव को जीवत्व तभी तक है कि जब तक स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैतरूप अविद्या को निवृत्त करता हुआ कूटस्थ-नित्य चित्स्वरूप आत्मा को (अहं ब्रह्मास्मि) में ब्रह्म हूँ इस रूप से नहीं समझता है । और जिस काल में देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप सघात से व्युत्थित (ऊपर पृथक्) करके श्रुति से समझाया जाता है कि तुम देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप सघात (अनेकात्मक समूह) नहीं हो, ससारी नहीं हो, तो क्या हो कि वह जो सत्य है, वही चैतन्यमात्र स्वरूप आत्मा है, वही तुम हो । इस प्रकार समझाने पर अधिकारी जीव कूटस्थ नित्य चित्स्वरूप आत्मा को समझकर इस शरीरादि के अभिमान से उत्थित मुक्त होता हुआ वही कूटस्थ नित्य और ज्ञानस्वरूप आत्मा होता है । (वह जो कोई उस परब्रह्म को जानता है वह परब्रह्म ही होता है) इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ सिद्ध होता है । इस जीव का वही पारमार्थिक स्वरूप है कि जिस स्वरूप से शरीर से समुत्थित (भिन्न) होकर अभिनिष्पन्न (सिद्ध स्थिर) होता है ।

कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति सम्भवति कूटस्थनित्यस्य । सुवर्णादीनां तु द्रव्यान्तरसम्पर्कदिभिर्भूतस्वरूपाणामनभिव्यक्तासाधारणविशेषाणां क्षारप्रक्षेपादिभिः शोध्यमानानां स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । तथा नक्षत्रादीनामह्न्यभिभूतप्रकाशानामभिभावकवियोगे रात्रौ स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात् । न तु तथात्मचैतन्यज्योतिषो नित्यस्य केनचिदभिभवः सम्भवत्यसंगित्वाद्यव्योम्न इव । दृष्टविरोधाच्च । दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम् । तच्च शरीरादसमुत्थितस्यापि जीवस्य सदा निष्पन्नमेव दृश्यते । सर्वो हि जीवः पश्यन् शृण्वन्मन्वानो विजानन्व्यवहरत्यन्यथा व्यवहारानुपपत्तः । तच्चेच्छरीरात्समुत्थितस्य निष्पद्येत प्राक्समुत्थानाद्दृष्टो व्यवहारो विरुध्येत । अतः किमात्मकमिदं शरीरात्समुत्थानं, किमात्मिका वा स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरिति ।

यहाँ शङ्का होती है कि कूटस्थ नित्य जीव का अपना स्वरूप पुनः स्वरूप से निष्पन्न होता है, वह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि द्रव्यान्तर के सम्पर्क से अभिभूत

स्वरूप वाले अतएव अनभिध्यक्त (अप्रकट) असाधारण विशेषण वाले सुवर्णादि का तो क्षार द्रव्य के प्रक्षेप (वर्षण) आदि से शोधन होने पर स्वरूप से सिद्ध हो सकती है । एव दिन में अभिमूत प्रकाश वाटे नक्षत्रादि का रात्रि में अभिभावक सूर्यालोक के वियोग में स्वरूप से निष्पत्ति हो सकती है । परन्तु आकाश के समान असंशय होने से नित्य आत्मचैनय ज्योति का सुवर्णादि नक्षत्रादि के समान किसी में अभिभव होना सम्भव नहीं है और अभिभव मानने पर दृष्ट व्यवहार से भी विरोध होता है । क्योंकि दर्शन-श्रवण-मनन-विज्ञान ही जीव का स्वरूप है, वह स्वरूप शरीर से असमुत्थित (शरीरगमिमानी) जीव का भी सदा निष्पन्न (सिद्ध) ही देखा जाता है जिसमें सब जीव देवते मुनते विचारते जानते हुए ही गमनागमनादि व्यवहार करते हैं, अन्यथा दर्शनादि के बिना व्यवहार ही नहीं सिद्ध हो सकता है । वह जीव का स्वरूप यदि शरीर से समुत्थित ज्ञानी का ही निष्पन्न (सिद्ध) हो, तो समुत्थान से प्रथम दृष्ट व्यवहार विरुद्ध होगा, व्यवहार की मिद्धि नहीं होगी । उस प्रकार सदा मरूप का निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) के रहते भी जो शरीर से समुत्थान के बाद नहीं जाती है, उस निष्पत्ति का हेतु रूप समुत्थान का क्या स्वरूप है ? यह शरीर से समुत्थान किस स्वरूप वाला है, और स्वरूप से अननिष्पत्ति किम स्वरूप वाला है ? यह प्रश्न है ।

अत्रोच्यते—प्राग्विवेकविज्ञानोत्पन्न अरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिर्विविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्या हि ज्योतिस्वरूप भवति । यथा शुद्धस्य स्फटिकस्य स्वाच्छद्य द्यौक्यं च स्वरूप प्राग्विवेकग्रहणाद्वक्तृनीलाद्युपाधिभिरविविक्तमिव भवति । प्रमाणजनितविवेकग्रहणात्तु-पराचो न स्फटिक स्वाच्छद्येन द्यौक्येन च स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते प्रागपि तथैव मनु । तथा देहाद्युपाध्यविविक्तस्यैव मनो जीवस्य अनिर्गुण विवेकविज्ञान शरीरात्मसमुत्थान विवेकविज्ञानस्य स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरेव लान्मस्वरूपावगतिः । तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽरीरेत्वं मरीरेत्वं च मन्त्रवर्णात् 'अरीरे मरीरेपु' (को० १।२।२२) इति, 'अरीरेम्योऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गी० १३।२१) इति च मरीरेत्वंविदोपाभावमभ्युपगमात् । तस्माद्विवेकविज्ञानाभावादानाविभूतस्वरूप मन्विवाविज्ञानादाविभूतस्वरूप इत्युच्यते । नत्वन्यादृशावाविर्भावानाविर्भावा मन्वपस्य सम्भवनं स्वरूपत्वादेव । एव मित्याज्ञानकृत एव जीवपरमेष्ठ्ययोर्भेदो न वस्तुवृत्त न्योस्रवदमङ्गत्वाविशेषात् । कुतश्चेतदेव प्रतिपत्तव्यम् । मनो 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्युपदिश्य 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युपदिशति । योऽक्षिणि प्रसिद्धो द्रष्टा द्रष्टृत्वेन विभाव्यते सोऽमृताभयवक्षणाद्ब्रह्मणोऽन्यश्चेत्स्यात्ततोऽमृताभयब्रह्ममामानाधिकरूप्यं न स्यात् । नापि प्रतिच्छायात्मायमाक्षिलक्षितो निदिश्यते, प्रजापतेर्मृणावादित्वप्रसङ्गात् । तथा द्वितीयेऽपि पयांश्च 'य एष स्वप्ने गहीयमानश्चरति' इति न प्रथमपर्यायनिदिष्टादक्षिपुरुषाद्द्रष्टृरन्यो निदिष्टः, 'एतत्त्वेव ते भूयोऽमृतं

व्याख्यास्यामि' इत्युपक्रमात् । किञ्चाहमद्य स्वप्ने हस्तिनमद्राक्षं नेदानीं तं पश्यामीति दृष्टमेव प्रतिबुद्धः प्रत्याचष्टे । द्रष्टारं तु तमेव प्रत्यभिजानाति—य एवाहं स्वप्नमद्राक्ष स एवाहं जागरितं पश्यामि—इति । तथा तृतीयेऽपि पर्याये 'नहि खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि' इति सुषुप्तावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमेव दर्शयति न विज्ञातारं प्रतिपेक्षति । यत्तु तत्र 'विनाशमेवार्पातो भवति' इति, नदपि विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृविनाशाभिप्रायम्, 'नहि विज्ञातृविज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (वृ० ४।३।३०) इति श्रुयन्तरात् । तथा चतुर्थेऽपि पर्याये 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्' इत्युपक्रम्य 'भवन्मर्त्य वा इदं शरीरम्' इत्यादिना प्रपञ्चेन शरीराद्युपाधिसम्बन्धप्रत्याख्यानानेन नम्प्रसादशब्दोदितं जीवं 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति ब्रह्मस्वरूपापन्नं दर्शयन् परस्माद् ब्रह्मणोऽमृताभयस्वरूपादन्यं जीवं दर्शयति ।

यहाँ उत्तर कहा जाता है कि विवेक विज्ञान की उत्पत्ति ने पूर्व काल में शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और विषयों का अनुभव तथा हर्षणोकादिरूप वेदना रूप उपाधियों से अविविक्त (मिलित) के समान जीव के दृष्टि आदि रूप ज्योतिःस्वरूप रहता है, विविक्त भी अविविक्त के समान मासता है । जैसे कि शुद्ध स्फटिक की स्वच्छता और शुक्लत्वरूप स्वरूप विवेकज्ञान से प्रथम रक्तनीलादिरूप उपाधि से अविविक्त (अमिन्न) के समान रहता है । प्रमाणजनित विवेक ज्ञान होने से तो प्रथम भी स्वच्छ शुक्ल रहने पर ही कहा जाता है कि पहले यह बाह्यस्थित स्फटिक की ही स्वच्छता और शुक्लता रूप अपने स्वरूप से व्यक्त हो रहा है । उसी प्रकार शरीरादि उपाधि से अविविक्त (अमिन्न) वर्तमान जीव को ही श्रुतिकृत विवेक का विज्ञान होता है, वह शरीर से समुत्थान कहलाता है, और विवेक विज्ञान के फलरूप स्वरूप से अमिनिष्पत्ति केवल आत्मस्वरूप की अवगति है । इसी प्रकार (शरीरों में रहते अशरीर हैं) इत्यादि मन्त्राक्षर के अनुसार विवेक और अविवेकमात्र से ही अशरीरत्व और सशरीरत्व आत्मा को है । (कौन्तेय ! आत्मा शरीर में रहते भी न कर्म करता है न कर्मफल से लिस होता है) इस कथन से आत्मा में सशरीरत्व अशरीरत्वस्वरूपविशेष (भेद) के अभाव कथन से भी अविवेक विवेककृत ही सशरीरत्व और अशरीरत्व है । एवं विवेक विज्ञान के अभाव से पहले अनाविभूत स्वरूप होता हुआ विवेक विज्ञान से आविभूतस्वरूप हुआ ऐसा कहा जाता है, अर्थात् पहले अव्यक्त (अप्रकट) था अब व्यक्त हुआ ऐसा व्यवहार अविवेक विवेककृत होता है । स्वरूप होने से ही इससे अन्य प्रकार के सत्य स्वरूप की अमिव्यक्ति अनमिव्यक्ति नहीं हो सकती है । इसी प्रकार आकाशगुण्य असंगता के तुल्य रहने से जीवेश्वर में मिथ्याज्ञानकृत ही भेद है, वस्तुतः सत्य भेद नहीं है । जिज्ञासा हुई कि यह जीवेश्वर-

भेद के मिथ्यात्व को कैसे समझा जाय, तब कहा जाता है कि जिससे श्रुति में (जो यह नेत्र में पुरुष दीखता है । इस प्रकार से उपदेश करके फिर उपदेश करते हैं कि यह अमृत है, अमय है, ब्रह्म है) वहाँ आँख में प्रसिद्ध जो द्रष्टा शिष्य को द्रष्टा रूप से समझाया जाता है, वह यदि अमृत अमयस्वरूप ब्रह्म से अन्य हो, तो अमृत अमय ब्रह्म के साथ समानाधिकरणता (अभेदबोधक एकविभक्तिवाच्यता) जीव को नहीं हो सकेगी और यह नहीं समझना चाहिये कि आँख में लक्षित (दृष्ट) छायात्मा कहा जाता है द्रष्टा जीव का द्रष्टा रूप से कथन ही नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर प्रजापति की भृषावादित्व की प्राप्ति होगी । इसी प्रकार द्वितीय पर्याय (क्रम प्रकार) में भी (जो यह स्वप्न में पूज्यमान हो कर विचरता है) इस वाक्य में प्रथम-निर्दिष्ट अक्षिप्त्य पुरुषरूप द्रष्टा से अन्य का निर्देश (कथन) नहीं है, क्योंकि (इसी का मैं तेरे लिए फिर व्याख्यान करूँगा) इस प्रकार उसका उपक्रम (आरम्भ) हुआ है । अब मैंने आज स्वप्न में हाथी देखा था, इस समय उसको नहीं देखता हूँ, इस प्रकार दृष्टवस्तु का ही जागृत हो कर निषेध करता है, और द्रष्टा को तो वह रूप ही समझता है कि जिसे मैंने स्वप्न में देखा था उसे ही मैं जागरित रूप में देखता हूँ । इसी प्रकार तृतीय पर्याय में भी (निश्चय यह खेद है कि सुषुप्ति में न यह अपने को जानता है कि यह मैं हूँ न इन भूतों को जानता है) इस प्रकार विशेष विज्ञान के अभाव को ही दर्शाता है, विज्ञाता का प्रतिषेध नहीं करता है । और जो वहाँ सुषुप्तिविषयक वचन है कि (विनाश को ही प्राप्त होता है) वह भी वचन विशेष विज्ञान के नाश का अनि-प्राय वाला हो है, विनाश के नाश का अनिप्राय वाला नहीं है, क्योंकि दूसरी श्रुति है कि (विज्ञाता की विज्ञानिज्ञानस्वरूपता) का नाश नहीं होना है, क्योंकि वह अनि-नाशी है । इसी प्रकार चतुर्थ पर्याय में भी (इसी का तेरे लिए मैं फिर व्याख्यान करूँगा, इससे अन्य का नहीं) इस प्रकार आरम्भ करके (हे दन्द्र ! यह शरीर अवश्य मरणशील-विनश्वर है) इत्यादि विस्तारयुक्त शरीरादि उपाधि के प्रत्याख्यानपूर्वक सप्रसाद चन्द से कथित जीव को (अपने स्वरूप से अभिव्यक्त होता है) इस प्रकार ब्रह्मस्वरूपापन (ब्रह्मस्वरूपप्राप्त) दिखाता हुआ जगृत अमयस्वरूप परब्रह्म में जीव अन्य नहीं है, यह प्रजापति दिखलाते हैं ।

केचित्तु परमात्मविवक्षायाम् 'एत त्वेव ते' इति जीवाकर्षणमन्याय्य मन्थ-माना एतमेव वाक्योपक्रमसूचितमपहृतपाप्मत्वादिगुणकमात्मानं ते भूयोऽनु-व्याख्यास्यामीति कल्पयन्ति । तेषामेतमिति मनिहितावलम्बिनी सर्वनामश्रुति विप्रवृष्येत । भूय श्रुतिश्चोपस्थेत, पर्यायान्तगभिहितस्य पर्यायान्तरेऽभिधी-यमानत्वात् । 'एत त्वेव ते' इति च प्रतिज्ञाय प्राप्तचतुर्थात् पर्यायादन्यमन्य-व्याचक्षाणस्य प्रजापते प्रतापकत्वं प्रमज्येत । तस्माद्यदविद्याप्रत्युपस्थापितम-पारमार्थिक जीव रूप कर्तृभोक्तृरागद्वेषादिदोषकल्पितमनेकानर्थयोगि तद्विलय-

नेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वाद्भिगुणकं पारमेश्वरं स्वरूपं विद्यया प्रतिपाद्यते, सर्पादिविलयनेनेव रज्ज्वादीन् ।

जीव और परमात्मा को सर्वथा मित्र मानने वाले कोई आचार्य तो जब परमात्मा की विवक्षा है, उस अवस्था में (एतं त्वेव ते) इसीका मैं तेरे लिए फिर व्याख्यान कहूँगा । इन वाक्यों में 'एतं' शब्द से जीव के आकर्षण को अन्याय मानते हुए कल्पना करते हैं कि वाक्य के आरम्भ में त्रिचिन् और अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला इस आत्मा ही का मैं तेरे लिए फिर व्याख्यान कहूँगा । उनके मत में सन्निहित अर्थ को बोध कराने वाली (एतं) वह सर्वनामरूप श्रुति विप्रकृष्ट (दूरान्वित) हो जायगी और भूयः श्रुति भी उपरुद्ध (निरुद्ध बाधित) होगी, क्योंकि पूर्वकथित के फिर कथन में भूयः कहा जाता है । एवं उक्त मत में प्रथम पर्यायान्तर में कथित का आगे के पर्यायान्तर में कथन नहीं है, और इसी को 'तेरे लिए फिर व्याख्यान कहूँगा' इस प्रकार प्रतिज्ञा करके चतुर्थ पर्याय से प्रथम अन्य-अन्य का व्याख्यान करने वाले प्रजापति को प्रतारकत्व (वञ्चकत्व) की प्राप्ति होगी । उससे अविद्याजन्य, कर्तृत्व भोक्तृत्व रागद्वेषादि दोषों से कलुषित (मलिन) अनेक अनर्थों से युक्त मिथ्याकल्पित जो जीव का रूप है, उसका विलयन (संशोधन-बाध) करके, उससे विपरीत अपहतपाप्मत्वादि गुण वाला परमेश्वर के स्वरूप का विद्या (महावाक्य) से प्रतिपादित किया जाता है, जैसे कल्पित सर्पादि का बाध करके रज्जु आदि का प्रतिपादन ।

अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित् । तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रनिषेधायेदं शारीरकमारब्धम् । एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति । यत्त्विदं परमेश्वरवाक्ये जीवमाशङ्क्य प्रतिषेधति सूत्रकारः—'नासम्भवात्' (ब्र० १।३।१८) इत्यादिना । तत्रायमभिप्रायः—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन्नसङ्गे परमात्मनि तद्विपरीतं जैवं रूपं व्योम्नीव तलमलादि परिकल्पितम् । तदात्मैकत्वप्रतिपादन-परैर्विक्रियैर्न्यायोपेतैर्द्वैतवादप्रतिषेधैश्चापनेष्यामीति परमात्मनो जीवादन्त्यत्वं द्रढयति । जीवस्य तु न परस्मादन्यत्वं प्रतिपादयिष्यति किन्त्वनुवदत्येवाविद्या-कल्पितं लोकप्रसिद्धं जीवभेदम् । एवं हि स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादेन प्रवृत्ता कर्मविधयो न विरुध्यन्त इति मन्यते । प्रतिपाद्यं तु शास्त्रार्थमात्मैकत्वमेव दर्शयति—'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र० १।१।३०) इत्यादिना । वर्णितश्चास्माभिर्विद्वद्विद्वद्भेदेन कर्मविधिविरोधपरिहारः ॥ १९ ॥

अन्य वादी लोग और कुछ मेरे लोग भी जीव के सांसारिक स्वरूप को सत्य ही मानते हैं, आत्मैकत्व के सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्ष (विरोधी) स्वरूप उन सबका प्रतिषेध (खण्डन) के लिए यह शारीरिक आरब्ध द्रव्या है (रचा गया है) कि कूटस्थ

नित्य विज्ञान स्वरूप एक ही परमेश्वर अविद्यारूप माया में मायावी के समान अनेक प्रकार से प्रतीत होता है, उससे अन्य विज्ञान स्वरूप वस्तु नहीं है और जो यह परमेश्वर के प्रतिपादक वाक्य में जीव की भाशका करके सूत्रकार प्रतिषेध करते हैं कि (नासम्भवाद) इत्यादि, वहाँ यह अभिप्राय है कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले कूटस्थ नित्य एक परमात्मा में उससे विपरीत जीव का रूप आनाश में तलमलादि के समान कल्पित है। उस कल्पित रूप का न्याययुक्त, आत्मा के एकत्व के प्रतिपादनपरक वाक्यों से और द्वैतवाद के प्रतिषेधों से निवारण कहेंगा, इस आशय से जीव में परमात्मा के अन्यत्व को छुड़ करते हैं, एव जीव को तो परमात्मा से अन्यत्व का प्रतिपादन कला नहीं चाहते हैं, किन्तु अविद्या से कल्पित लोक में प्रसिद्ध जीव के भेद का अनुवादनमात्र करते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अनुवाद से कर्मविधि विरुद्ध नहीं होते हैं यह मानते हैं और (शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्) इत्यादि से प्रतिपादनयोग्य शास्त्र का अर्थ आत्मएकत्व को ही दिखाने हैं। तथा विद्वान् अविद्वान् के भेद से कर्म विधि के विरोध का परिहार हमने भी पहले वर्णित हुआ है ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

अथ यो दहरवाक्यशेषे जीवपरामर्शो दर्शित — 'अथ य एष सम्प्रसाद (छा० ८।३।४) इत्यादि, न दहरे परमेश्वरे व्याख्यायमाने न जीवोपासनीयदेशो न प्रकृतविशेषोपदेश इत्यनर्थकत्व प्राप्नोतीति। यत आह—अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो न जीवस्वरूपपर्यवसायी, किं तर्हि? परमेश्वरस्वरूपपर्यवसायी। कथम्? सम्प्रसादशब्दोदितो जीवो जागरितव्यवहारे देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षो भूत्वा तद्वासनानिर्मिताश्च स्वप्नान्नाडीचरोऽनुभूय श्रान्त शरणं प्रेक्षुरुभयरपादपि शरीराभिमानात्समुत्थाय मुपसावस्याया पर ज्योतिर्गकाशशब्दित पर ब्रह्मोपसम्पद्य विशेषविज्ञानवत्त्वं परित्यज्य स्वेन रूपेणायमभिनिष्पद्यते। स एष आत्माऽपहनपाप्मन्वादिगुण उपान्य इत्येवमर्थोऽयं जीवपरामर्शः परमेश्वरवादिनोऽप्युपपद्यते ॥ २० ॥

उक्तार्थ के चार्द शब्दा होती है कि जो दहर के वाक्यशेष में जीव का परामर्श (जो यह सम्प्रसाद) इत्यादि से दिखलाया गया है वहाँ दहर को परमेश्वर रूप से व्याख्यान करने पर यह जीव का परामर्श न होकर जीव की उपासना का उपदेशरूप हुआ, न कि प्रकृत दहर में विशेष गुणादि का उपदेशरूप हुआ। इससे अनर्थकत्व की प्राप्ति होता है। इससे सूत्रकार कहते हैं कि यह जीव का परामर्श जीव के स्वरूपमात्र में परवसान (तात्पर्य) वाला नहीं है, किन्तु अन्यायक है (जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश के लिए है)। यह जीव के परामर्श के बिना नहीं हो सकता है, इसलिए जीव का परामर्श है। जीव का स्वरूप पर्यवसायी नहीं है तो क्या है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा है कि परमेश्वरस्वरूप पर्यवसायी है (परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन के तात्पर्य से परामर्श

है) इसी से अनर्थक रही है । क्योंकि सम्प्रसाद शब्द से कथित जीव जाग्रत्काल के व्यवहार में देहेन्द्रिय समूह का अध्यक्ष होकर फिर नाडीचर (नाडीचारी) होता हुआ उस जागरणकालिक वासनाओं से निर्मित (रचित) स्वप्नों का अनुभव करके श्रान्त होकर शरण (रक्षक विश्रामस्थान) की प्राप्ति का इच्छुक होकर जाग्रत्स्वप्नकालिक दोनों रूप वाले शरीर के अभिमानों से उत्थित (रहित) होकर सुषुप्ति अवस्था में पर ज्योति और आकाश शब्द से कथित परब्रह्म को प्राप्त करके विशेष ज्ञानवत्त्व को त्यागकर अपने स्वरूप से यह निष्पन्न (सिद्ध व्यक्त) होता है और जिस रूप से निष्पन्न होता है वही यह सर्वात्मा अपहृतपाप्मत्वादि गुणवाला उपास्य है, इस प्रकार के इस प्रयोजन के लिए जीव का परामर्श परमेश्वरवादी को भी उत्पन्न सफल सिद्ध होता है ॥ २० ॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

यदप्युक्तम्—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इत्याकाशस्याल्पत्वं श्रूयमाणं परमेश्वरे नोपपद्यते, जीवस्य त्वाराग्रोपमितस्याल्पत्वमवकल्पत—इति, तस्य परिहारो वक्तव्यः । उक्तो ह्यस्य परिहारः—परमेश्वरस्यापेक्षिकमल्पत्वमवकल्पत—इति, 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' (ब्र० १।२।७) इत्यत्र, स एवेह परिहारोऽनुसन्धातव्य इति सूचयति । श्रुत्यैव चेदमल्पत्वं प्रयुक्तं प्रसिद्धं नाकाशेनोपमिमानया 'यावान्वा अयमाकाशस्तावाने-पोऽन्तर्हृदय आकाशः' इति ॥ २१ ॥

और जो यह भी कहा गया था कि (इसमें अल्प आकाश है) इस प्रकार सुना हुआ आकाश का अल्पत्व परमेश्वर में युक्त नहीं सिद्ध होता है और आराग्र से उपमित (आराग्र तुल्य) जीव को अल्पत्वयुक्त सिद्ध होता है, तो उसका परिहार कहना चाहिए । किन्तु इसका परिहार (उत्तर) पहले ही किया गया है कि परमेश्वर आपेक्षिक अल्पत्व युक्त होता है (अर्भकौकस्त्वात्) इस सूत्र में यह परिहार कहा गया है, वही परिहार यहाँ अनुसन्धान (सम्बन्ध-चिन्तन) करने योग्य है, यह सूत्रकार सूचना करते हैं । (जितना यह बाहर आकाश है उतना यह अन्तर हृदय में आकाश है) इस प्रकार प्रसिद्ध आकाश द्वारा उपमा देने वाली श्रुति ने ही इस अल्पत्व का निवारण किया है ।

अनुकृत्यधिकरण (६)

न तत्र सूर्यो भातीति तेजोऽन्तरमुतापि चित् ।

तेजोऽभिभावकत्वेन तेजोऽन्तरमिदं महत् ॥

चित्स्थितात्सूर्याद्यभास्यत्वात्तादृक्तेजोऽप्रसिद्धितः ।

सर्वस्मात्पुरतो भानात्तद्भासा चान्वभासनात् ॥

(तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) इस श्रुति में अनुकरण के श्रवण से सर्वावभासक परब्रह्म है, अन्य नहीं, उस ब्रह्म की ही अनुकृति और अवभास है । (यह सूत्रार्थ है) 'न तत्र सूर्यो भाति', यहाँ संशय होता है कि यह तेजोऽन्तर निरोधक और सर्वप्रकाश को ही विलक्षण तेजोऽन्तर है अथवा चेतनात्मा है । पूर्वपक्ष है कि तेज का

अभिभावक होने से कोई महत्—भारी तेज ही है। सिद्धांत है कि सूर्यादि में अप्रकाशितत्व के श्रवण में तथा सत्र तेज का अभिभावक सबप्रकाशक तेज की अप्रमिद्धि से तथा सबसे प्रथम भान होने से और उसी के प्रकाश से अन्य के प्रकाशित होने में चेतनात्मा ही हो सकता है, अन्य नहीं ॥ १-२ ॥

अनुकृतेस्तस्य ३ ॥ २२ ॥

‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यैवाभासा सर्वमिदं विभाति’ ॥

(मु० २।२।१०) इति समामनन्ति । तत्र य भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति स किं तेजो धातुः काश्चिदुत प्राज्ञ आत्मेति विचिकित्सायां तेजो धातुरिति तावत्प्राप्तम् । कुत ? तेजोधातूनामेव सूर्यादीनां भानप्रतिषेधात् । तेजः स्वभावकं हि चन्द्रतारकादि तेजः स्वभावक एव सूर्ये भासमानेऽह्नि न भासत इति प्रमिद्धम्, तथा महं सूर्येण सर्वमिदं चन्द्रतारकादि यस्मिन् भान्ते सोऽपि तेजः स्वभाव एव काश्चिदित्यवगम्यते । अनुमानमपि तेजः स्वभावक एवोपपद्यते, समानस्वभावकेष्वनुकारदर्शनात्, गच्छन्तमनुगच्छतीतिवत् । तस्मात्तेजोधातुः काश्चित् ।

उस परब्रह्म में सूर्य नहीं भासने है अर्थात् उसको नहीं प्रकाशते हैं, इस प्रकार चन्द्र, तारा, विद्युत् जिसको नहीं प्रकाश कर सकते, उसे यह अग्नि कैसे प्रकाश कर सकती है, उसी के प्रकाशित दीप्त होने पर सब प्रकाशित होते हैं क्योंकि उसीके प्रकाश से यह सब जगत् भामता है । उस प्रकार की श्रुति को पढ़ते हैं, वहाँ जिसके प्रकाशित होने से सब प्रकाशते हैं, तथा जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, वह क्या कोई तेजरूप पदार्थ है, अथवा प्राज्ञ सर्वज्ञ सर्वभासक आत्मा है, ऐसी विचिकित्सा (संशय) होने पर पूर्वपक्ष में कहा जाता है कि तेज रूप पदार्थ ही प्रथम प्राप्त (प्रतीत) होता है, क्योंकि उसके प्रकाश में तेज रूप सूर्यादि के ही प्रकाश का प्रतिषेध होता है और लोक में प्रसिद्ध है कि तेजस्वी स्वभाव वाले सूर्य के दिन में प्रकाशित रहने पर तेजस्वी स्वभाव वाले चन्द्र तारा आदि नहीं प्रकाशते हैं, उसी प्रकार जिसके प्रकाशित रहने सूर्य सहित ये चन्द्र तारा आदि नहीं प्रकाश करते हैं, वह भी तेज स्वभाव वाला कोई पदार्थ है, इस प्रकार अनुमान से समझा जाता है । अनुमान (एक के बाद दूसरे का भान) भी तेज स्वभाव वाले में ही मिद्ध हो सकता है, क्योंकि समान स्वभाव वाली में ही अनुकार (अनुकरण) देखा गया है, जैसे कि चलते हुए के पीछे चलता है, ऐसा कहने पर एक गमन स्वभाव वाले के बाद दूसरे के गमन की प्रतीति होती है, वहाँ दोनों गतिवाले रहते हैं, वैसे ही यहाँ तेज स्वभाव तिससे कोई तेज रूप पदार्थ है ऐसा समझना चाहिए ।

इत्येवप्राप्ते ब्रूम — प्राज्ञ एवायमात्मा भवितुमर्हति । कस्मात् ? अनुकृते । अनुकरणमनुकृतिः । यदेतत् ‘तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्’ इत्यनुमानं, तत्प्राज्ञपरिग्रहेऽवकल्पते । ‘आरूप सत्यमद्भुतम्’ (छा० ३।१।२) इति हि प्राज्ञमा-

त्मानमामनन्ति, न तु तेजो धातुं कञ्चित्सूर्यादयोऽनुभान्तीति प्रसिद्धम् । सम-
त्वाच्च तेजोधातूनां सूर्यादीनां न तेजोधातुमन्यं प्रत्यपेक्षास्ति यं भान्तमनु-
भायुः । नहि प्रदीपः प्रदीपान्तरमनुभाति । यदप्युक्तं—समानस्वभावकेष्वनु-
कारो दृश्यते—इति । नायमेकान्तो नियमोऽस्ति, भिन्नस्वभावकेष्वपि ह्यनुकारो
दृश्यते, यथा सुतप्तोऽग्निः पिण्डोऽग्न्यनुकृतिरग्निं दहन्तमनुदहति, भीमं वा रजो
वायुं वहन्तमनुवहतीति । अनुकृतेरित्यनुभानमसूचत् । तस्य चेति चतुर्थं
पादमस्य श्लोकस्य सूचयति । 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति तद्वेतुकं
भानं सूर्यादेरुच्यमानं प्राज्ञमात्मानं गमयति । 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्हो-
पासतेऽमृतम्' (वृ० ४।४।१६) इति हि प्राज्ञमात्मानमामनन्ति । तेजोन्तरेण
सूर्यादितेजो विभातीत्यप्रसिद्धं विरुद्धं च, तेजोन्तरेण तेजोन्तरस्य प्रतिघातात् ।
अथवा न सूर्यादीनामेव श्लोकपरिपठितानामिदं तद्वेतुकं विभानमुच्यते । किं
तर्हि ? 'सर्वमिदम्' इत्यविशेषश्रुतेः सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजा-
तस्य याभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिःसत्तानिमित्ता । यथा सूर्यादिज्योतिःसत्तानि-
मित्ता सर्वस्य रूपजातस्याभिव्यक्तिस्तद्वत् । 'न तत्र सूर्यो भाति' इति च
तत्रशब्दमाहरन्प्रकृतग्रहणं दर्शयति । प्रकृतं च ब्रह्म 'तस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्त-
रिक्षमोतम्' (मु० २।२।५) इत्यादिना । अनन्तरं च—

‘हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ इति ।’

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्राज्ञ आत्मा ही सब का मासक होने योग्य
है, क्योंकि अनुकृति (अनुकरण) सुनी जाती है, (उसके भासित रहते पीछे सब
भासते हैं) यह जो अनुमान श्रुत है, वह प्राज्ञात्मा के स्वीकार करने पर संगत
सिद्ध होता है । (प्रकाशस्वरूप है, सत्यसंकल्प है) इत्यादि श्रुतियाँ प्राज्ञ आत्मा
को ही कहती हैं । किसी तैजस पदार्थ के वाद सूर्यादि प्रकाशते हैं, यह लोकवेद में
कही प्रसिद्ध नहीं है, उससे तैजस पदार्थ सूर्यादि को अन्य तैजस पदार्थ की अपेक्षा
नहीं है कि जिसके भासित होने पर पीछे सूर्यादि भासित हों, एक दीप किसी दूसरे
दीप को प्रकाशित नहीं करता है । एवं जो यह कहा था कि समान स्वरूप वालों
में अनुकरण देखा जाता है, वह भी अनिवार्य नियम नहीं है । भिन्न स्वभाव
वालों में भी अनुकरण देखा जाता है, जैसे अत्यन्त तप्त लोहपिण्ड अग्नि का अनु-
करण करता है, जलाती हुई अग्नि को जलाता है, भूमि की धूलि चलते हुए वायु
के पीछे चलती है, इत्यादि । अनुकृतेः, इससे अनुमान का सूचन सूत्रकार ने किया
है । और 'तस्य च' इस सूत्रांश से (न तत्र) इत्यादि रूप इस श्लोक के चतुर्थ
पाद को सूचित करते हैं कि (उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशता है) इससे उसे
हेतुजन्य कथित सूर्यादि का प्रकाश परमात्मा का बोध कराता है, क्योंकि (उस ब्रह्म

को देव लोग ज्योतिया की ज्योति और आयु अमृत रूप से उपासना करते हैं) इस प्रकार प्राज्ञात्मा का ही कथन करते हैं । अन्य तेज से सूर्यादि प्रकाशित होते हैं, यह अप्रसिद्ध एवं विरुद्ध है, क्योंकि प्रवल दूसरे तेज से अल्पजल तेजोन्तर का प्रतिघात (पराभव) होता है । अथवा इलोक में परिपठित (पढ़े गए) सूर्यादि का ही यह तन्निमित्तक प्रकाश नहीं कहा जाता है किन्तु (सर्वमिदम्) उसके प्रकाश से यह सब प्रकाशता है, इस प्रकार जद्विशेष (सामान्य) श्रुति द्वारा नामरूप क्रियाकारक फल सामान्यरूप से इस विद्यमान समस्त जगत् की जो अभिव्यक्ति होती है, यह ब्रह्मज्योति की सत्ता निमित्तक ही होती है, जैसे कि सूर्यादि ज्योति की सत्तानिमित्तक सर्वरूप सामान्य की । एवं 'न तत्र सूर्यो भाति' यहाँ तत्र शब्द का ग्रहण करते हुए गुण पूर्व प्रवृत्त (प्रस्तुत) का ग्रहण दिखलाते हैं और 'जिसमें स्वर्ग भूमि अन्तरिक्ष स्थिर है' इत्यादि वचन से ब्रह्म प्रकृत है, तथा 'न तत्र सूर्यो भाति', इसके अध्यवहित पूर्व में भी ब्रह्म का वर्णन है कि 'तेजोमय पर आनन्दमय कोश में निर्दोष निरवयव ब्रह्म है, वह शुद्ध ज्योतियो की ज्योति है, जिस ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ।'

कथं तज्ज्योतिषा ज्योतिरित्यत इदमुत्थितम्—'न तत्र सूर्यो भाति' इति । यदप्युक्त—सूर्यादीना तेजसा भानप्रतिपेक्षस्तेजोधातावेवान्यस्मिन्नवकल्पते सूर्य इवेतरेषाम्—इति । न त्र तु स एव तेजोधातुरन्यो न सम्भवतीत्युपपादितम् । ब्रह्मण्यपि चेवा भानप्रतिपेक्षोज्ज्वल्यते, यतो यदुपलभ्यते तत्सर्वं ब्रह्मणैव ज्योतिषोपलभ्यते, ब्रह्म तु नान्येन ज्योतिषोपलभ्यते स्वयं ज्योति र्वस्वरूपात्, येन सूर्यादयस्तस्मिन्भायु । ब्रह्म ह्यन्यद्व्यनक्ति न तु ब्रह्मान्येन व्यज्यते 'आत्म-नैवाय ज्योतिपास्ते' (वृ० ४।३।६) 'अगृह्यो नहि गृह्यते' (वृ० ४।२।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

यह ज्योतियों की ज्योति किम प्रकार है, ऐसी जिज्ञासा होने पर 'न तत्र' यह वचन जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये उपस्थित होता है कि (उसमें सूर्य नहीं प्रकाशता है) इत्यादि । एवं पहले जो यह कहा है कि जैसे सूर्य के रहते अन्य तेजस पदार्थमास का प्रतिपेक्ष होता है, वैसे ही अन्य तेजस-पदार्थ के ही रहते सूर्यादि रूप तेजो के भान का प्रतिपेक्ष पराभव होना सम्भव है, इसके उत्तर में उपपादन (सिद्ध) किया गया है कि वह प्रज्ञात्मा ही तेजोधातु (प्रकाशमय पदार्थ) है अन्य का सम्भव नहीं है, और ब्रह्म में भी इन सूर्यादिको के भान (प्रकाश) का प्रतिपेक्षसम्भव सिद्ध हो सकता है, जिससे जो कुछ उपलब्ध (ज्ञात-अनुभूत) होता है, वह सब ब्रह्मज्योति से ही उपलब्ध होता है । स्वयंप्रकाश ज्योतिस्वरूप होने से ब्रह्म अन्य ज्योति से उपलब्ध नहीं होता कि जिसमें सूर्यादि उसमें भासित हो प्रकाश करें । ब्रह्म अन्य को अभि व्यक्त करता है, ब्रह्म अन्य से अभिव्यक्त नहीं होता है, यह अर्थ (यह आत्मा आत्म ज्योति से रहता है) अग्राह्य है, अर्थात्—किसी से गृहीत नहीं होना है इत्यादि श्रुति-वचन से सिद्ध होता है ॥ २२ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

अपि चेद्वृष्टत्वं प्राज्ञस्यैवात्मनः स्मर्यते भगवद्गीतासु—‘न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥’ (१५।६) इति, ‘यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥’ (१५।१२) इति च ॥ २३ ॥

और अन्य से अप्रकाश्यत्व स्वयंप्रकाशत्व ऐसा रूपवान् प्राज्ञ आत्मा ही को है, ऐसा भगवद्गीता में स्मरण एवं वर्णन किया गया है कि (उसको सूर्य नहीं प्रकाश करते हैं, चन्द्र और अग्नि भी नहीं प्रकाशित करते हैं, जिसे प्राप्त करके जीव संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम (तेजोमय स्वरूप) है । सूर्यगत जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशता है, और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्नि में है, उन्हें मेरा तेज जानो, आत्मचैतन्यरूप सब तेजों को समझो ॥ २३ ॥

प्रमिताधिकरण (७)

अङ्गुष्ठमात्रो जीवः स्यादीशो वाऽल्पप्रमाणतः ।

देहमध्ये स्थितेऽथैव जीवो भवितुमर्हति ॥

भूतभव्यशता जीवे नास्त्यतोऽसाविहेश्वरः ।

स्थितिप्रमाणे ईशेऽपि स्तो हृद्यस्योपलब्धितः ॥

अङ्गुष्ठमात्र प्रमाणयुक्त मुना गया प्राज्ञात्मा है, वह ईशानादि श्रुतिगत शब्द से प्रमित (ज्ञात) होता है, वहाँ अङ्गुष्ठमात्रता और ईशानता दोनों के श्रवण से संशय होता है, कि यह अङ्गुष्ठमात्र जीव है अथवा ईश्वर है । यहाँ पूर्वपक्ष है कि अल्प प्रमाणता से और देह के मध्य में स्थिति से यह जीव ही होने योग्य है । सिद्धान्त है कि ईश्वरता जीव में नहीं है, और यहाँ ईश्वरता सुनी जाती है, इससे यह ईश्वर है और हृदय में उपलब्धि से शरीर के अन्दर स्थिति और प्रमाण ईश्वर में भी है ॥ २ ॥

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति’ इति श्रूयते । तथा ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ इव एतद्वै तत्’ (का० २।४।१३) इति च । तत्र योज्यमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते स किं विज्ञानात्मा किंवा परमात्मेति संशयः । तत्र परिमाणोपदेशात्तावद्विज्ञानात्मेति प्राप्तम् । नह्यनन्तायामविस्तारस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणमुपपद्यते । विज्ञानात्मनस्तूपाधिमत्त्वात्सम्भवति कयाचित्कल्पनयाङ्गुष्ठमात्रत्वम् । स्मृतेश्च—‘अथ सत्यवतः कायात्पाशवद्धं वशं गतम् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो वलात् ॥’ (म० भा० ३।२९।७) इति । नहि परमेश्वरो वलाद्यमेन निष्कर्षं शक्यस्तेन तत्र संसार्यङ्गुष्ठमात्रो निश्चितः स एवेहापीति ।

‘अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाला पुत्प मध्यआत्मा (शरीर मध्यहृदय) में रहता है’ यह सुना जाता है । इसी प्रकार सुना जाता है कि (धूमरहित निर्मल प्रकाशरूप

ज्योति के समान अद्गुणपरिमाण पुरुष है वह भूतमावी का स्वामी नियता है, वही आज प्राणियों में वर्तमान है, और वही आगे रहेगा, और नचिकेता ने जिसे पूछा था वह ब्रह्म यही है) । यहाँ जो अद्गुणमान पुरुष मुता जाता है वह विज्ञानात्मा जीव है, अथवा परमात्मा है ? यह मशय होता है, यहाँ परिमाण के उपदेश से पहले जीवान्मा प्राप्त होता है, क्योंकि अनन्तदीर्घता और अन्तर्विस्तार महत्त्वयुक्त परमात्मा को अद्गुणपरिमाण सिद्ध नहीं हो सकता है, और विज्ञानात्मा को तो उपाधि वाला होने से किसी कल्पना द्वारा अद्गुणमानत्व का सम्मन है । स्मृति से भी जीव में ही अद्गुणमानत्व की सिद्धि होती है, महामारत में लिखा है कि (मरण के बाद यमपाश से बद्ध कर्म के बशवत् अद्गुणमान पुरुष को सत्यवान् के शरीर में यम ने बल से खींचा) परमेश्वर यम से बलपूर्वक खींचने के योग्य नहीं है, अब इस स्मृति में ससागे अद्गुणमात्र निश्चित है, यही यहाँ श्रुति में भी है ।

एव प्राप्तं ब्रूम — परमात्मैवायमद्गुणमात्रपरिमित पुरुषो भवितुमर्हति । कस्मात्, शब्दात् — 'ईशानो भूतभव्यस्य' इति । नह्यन्य परमेश्वराद्भूतभव्यस्य निरद्भुशमीक्षिता । 'एतद्वै तत्' इति च प्रकृत पृष्टमिहानुमन्दधाति । एतद्वै तद्यत्पृष्ट ब्रह्मोन्वयं । पृष्ट चेह ब्रह्म — 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृता कृतात् । अन्यत्र भूतान्च भव्यान्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ।' (का० १।२।१४) इति । शब्दादेवेत्यभिधान्श्रुतेरेवेगान इति परमेश्वरोज्य गम्यन इत्यर्थं ॥ २४ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि परमात्मा ही यह अद्गुणमात्र परिमित पुरुष होने योग्य है, क्योंकि (भूत भव्य का ईशान है) इस शब्द में परमात्मा ही सिद्ध होता है । परमेश्वर में अन्य भूतमावी का निरद्भुश (स्वतन्त्र) नियता नहीं है । (एतद्वै तत्) यह वही है, इस कथन से प्रकृत में पूछी गई वस्तु का यहाँ अनुसंधान (सर्वन्ध) करते हैं । एव यहाँ पूछी गई वस्तु ब्रह्म ही है कि (धर्म अधर्म से अन्य, इस कार्य-कारण से अन्य भूत-मावी-वर्तमान से अन्य जिसको दग्ध हो उसे कहें) इसमें 'ईशान' इस शब्द-रूप अभिधान (ईश्वर का नाम) सुनने में ही यह अद्गुणमात्र परमात्मा है, ऐसी प्रतीति होती है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २४ ॥

कथ पुन सर्वगतस्य परमात्मन परिमाणोपदेश इत्यन ब्रूम —

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

सर्वगतस्यापि परमात्मनो हृदयेऽन्यन्यनमपेक्षयाद्गुणमात्रत्वमिदमुच्यते । आकाशस्येव वनपर्वपिशिरस्मरत्तिमात्रत्वम् । नह्यन्यमानिमात्रस्येव परमात्मनोऽद्गुणमात्रत्वमुपपद्यते न चान्य परमात्मन इह ग्रहणमर्हतीशानशब्दादिभ्य इत्युक्तम् ।

फिर सर्वगत परमेश्वर के परिमाण का उपदेश कैसे किया गया है, ऐसी शङ्का होने पर यहाँ उत्तर कहते हैं कि—सर्वगत परमात्मा को भी हृदय में स्थिति की दृष्टि से यह अद्गुणमात्रता कहो जानी है, जैसे कि आकाश को वाँस के पत्र (पार) की

दृष्टि से हाथ भर कहा जाता है, अतिमात्र (विधु) परमात्मा को हृदयादि की अपेक्षा के बिना अज्ञाता (तत्त्वतः सत्य) अङ्गुष्ठमात्र नहीं कहा जा सकता है, न अङ्गुष्ठमात्रत्व निश्च हो सकता है, और ईशानशब्दादि ने परमात्मा से अन्य वस्तुतः हृदयवर्ती भी जीव यहाँ ग्रहण के योग्य नहीं है ।

ननु प्रतिप्राणिभेदं हृदयानामनवस्थितत्वात्तद्वेक्षमप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं नोपपद्यत इत्यत उत्तरमुच्यते—मनुष्याधिकारत्वादिनि । शान्त्रं ह्यविशेषप्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति, शक्तत्वादथित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्चेति वर्णितमेतदधिकारलक्षणे (जं० ६।१) । मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः, औचित्येन नियतपरिमाणमेव चैषामङ्गुष्ठमात्रं हृदयम् । अतो मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः । यदप्युक्तं—परिमाणोपदेशात्स्मृतेश्च संमार्येवायमङ्गुष्ठमात्रः प्रत्येतव्य—इति, तत्प्रत्युच्यते—‘स आत्मा तत्त्वमसि’ इत्यादिवत्संनानि एव नतोऽङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मत्वमिदमुपदिश्यत इति । द्विरूपा हि वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः, कैचित्परमात्मस्वरूपनिरूपणपरा क्वचिद्विज्ञानात्मनः परमात्मैकत्वोपदेशपरा । तदत्र विज्ञानात्मनः परमात्मनैकत्वमुपदिश्यते नाङ्गुष्ठमात्रत्व कस्यचित् । एतमेवार्थं परेण स्फुटीकरिष्यति—‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये मंनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेदीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतम् ॥’ (का० २।६।१७) इति ।

यहाँ शंका होती है कि भिन्न भिन्न तत्त्व प्राणियों के भी हृदयों के अनवस्थित (अनेक) स्वरूप वाले होने से उस हृदय की अपेक्षा से भी सर्वहृदयनिवासी परमात्मा को अङ्गुष्ठमात्रत्व नहीं निश्च हो सकता है । अतः उत्तर है कि शास्त्र में मनुष्य के अधिकार से दोष नहीं है । यद्यपि शास्त्र सामान्य रूप से प्रवृत्त होता है, तथापि मनुष्यों को ही कर्म-भक्ति-ज्ञानादि का अधिकार देता है, मनुष्यों में भी जो शक्त (सामर्थ्ययुक्त) हैं, कर्मादि के फलार्थी हैं, अपर्युदस्त (अनिपिद्ध) हैं, उनको शक्तत्वादि से शास्त्र अधिकारी बनाता है । इस प्रकार उपनयनादि शास्त्र से उपनयनादि युक्त को ही वैवर्णिक कर्मादि में शास्त्रबोधित अधिकार है, यह पूर्व भीमांसा के अधिकाराध्याय में वर्णित है । और मनुष्यों के नियत परिमाण वाला शरीर होता है, और उस शरीर की योग्यता से युक्त नियत परिमाण वाला ही उनका अङ्गुष्ठमात्र हृदय होता है । इससे शास्त्र का अधिकार मनुष्यों को होने से मनुष्य के हृदय में स्थिति की अपेक्षा से परमात्मा को अङ्गुष्ठमात्रत्व युक्त है । जो यह कहा गया था कि परिमाण के उपदेश से और स्मृति से संसारी ही अङ्गुष्ठ मात्र है, ऐसा जानना चाहिये, उसके प्रति समाधान है कि (वह सत्यादि स्वरूप आत्मा है, और आत्मा तुम हो) इत्यादि के समान अङ्गुष्ठमात्र को संसारी होते भी वह ब्रह्मत्व का उपदेश दिया जाता है, क्योंकि वे रूपवाले वेदान्त वाक्यों की प्रवृत्ति है, कही (अस्थूलम्)

इत्यादि स्थान में परमात्मास्वरूप के निरूपणपरक प्रवृत्ति है, और कही विज्ञानान्मा के परमात्मा के साथ एकत्व (अभेद) का उपदेशपरक प्रवृत्ति है। यहाँ वही विज्ञानान्मा के परमात्मा के साथ एकत्व का उपदेश दिया जाता है, किसी के अगुष्ट-मात्रत्व का उपदेश नहीं दिया जाता है। इसी अर्थ को आगे के ग्रन्थ से गुह्य स्फुट व्यक्त करेंगे कि अगुष्टमात्र अन्तरात्मास्व रूप्य जनों के हृदय में सदा मम्यक् निविष्ट (प्रविष्ट) है। उसको अपने शरीर से धर्म द्वारा मूज से ईषीका समान विविन्न पृथक् करे, और उसको शुद्ध अमृतस्वरूप समझे ॥ २५ ॥

देवताधिकरण (८)

नाधिक्रियन्ते विद्याया देवा किंवाधिकारिण ।

विदेहत्वेन सामर्थ्यहानेर्नैषामधिक्रिया ॥

अविच्छेदार्थवादादिमन्त्रादेर्देहसत्त्वत ।

अर्थित्वादेश्च मौलभ्याद् देवाद्या अधिकारिण ॥

सम्भवयाध्याय में प्रसंग से मनुष्याधिकार के चिन्तन होने पर प्रसंग से ही देवाधिकार का चिन्तन है कि मनुष्यो से ऊपर स्थित जा देव हैं, उनका भी ज्ञान में अधिकार है, क्योंकि उनमें सामर्थ्यादि का सम्भव है। यहाँ ज्ञान में पुस्तक के अध्ययन-जन्य ज्ञान का ग्रहण नहीं है किन्तु अधिकार की प्राप्ति के बाद गुप्तरण में प्राप्त हो कर जो नचिकेता सत्यकाम श्वेतकेतु नारदादि के समान पुस्तक द्वारा या बिना पुस्तक के गुह्य से ज्ञान की प्राप्ति की जाती है, उस ज्ञान का ग्रहण है। यहाँ संशय होता है कि आत्मविद्या में देव अधिकारी नहीं होते हैं, अथवा अधिकारी होते हैं। पूर्वपक्ष है कि विदेह होने से देव में सामर्थ्य का अभाव है अतः इनका अधिकार नहीं है। सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों ने अविच्छेद अर्थवाद और मन्त्र-पुराण इतिहासादि से देव को देहवत्त्व सिद्ध होने में तथा देही होने पर अर्थित्वादि के भी सुलभ होने में देवादि भी अधिकारी हैं।

तदुपर्यपि वादरायण सम्भवात् ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षा मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रम्येत्युक्तं, तत्प्रसङ्गेनेदमुच्यते। वाद मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्, न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञानेन नियमोऽस्ति, नेषा मनुष्याणामुपरिष्ठाद्ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रमिति वादरायण आचार्यो मन्यते। कस्मात् ? सम्भवात्। सम्भवति हि तेषामप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणम्। तत्रार्थित्व तावन्मोक्षविषय देवादोनामपि सम्भवति विकारविषयविभूत्यनित्यत्वालौचनादिनिमित्तम्। तथा सामर्थ्यमपि तेषा सम्भवति, मन्त्रार्थवादेतिहामपुगणलोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात्। न च तेषा कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति। नचोपनयनादिशास्त्रेणैषामधिकारो निवर्त्येत, उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्, तेषा च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्। अपि चेपा विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति—‘एमांश्च वै वर्षाणि मधवान्प्रजापती

ब्रह्मचर्यमुवास' (छां० ८।१।१३), 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार
अधीहि भगवो ब्रह्म' (तै० ३।१) इत्यादि । यद्यपि कर्मस्वनधिकारकारणमुक्तम्—
'न देवानां देवतान्तराभावात्' इति, 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' (जै० ६।
१।६।७)—इति, न तद्विद्यास्वस्ति, न च भृगवादीनां भृगवादिसगोत्रतया । तस्माद्-
देवादीनामपि विद्यास्वधिकारः केन वार्यते । देवाद्यधिकारेऽप्यङ्गुष्ठमात्रश्रुतिः
स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुध्यते ॥ २६ ॥

पहले कहा गया है कि शास्त्र का अधिकार मनुष्य को है, इससे अंगुष्ठमात्रश्रुति
मनुष्य के हृदय की अपेक्षा से है, उस अधिकार के प्रसंग से यह कहा जाता है कि
शास्त्र मनुष्य को अधिकृत करता है, यह बात सत्य है । परन्तु मनुष्यमात्र को इस
ब्रह्मज्ञान में अधिकृत करता है, यह नियम यहाँ नहीं है । इससे उन मनुष्यों के ऊपर
जो देवादि हैं, उनको भी शास्त्र अधिकृत करता है, इस प्रकार वादरायण आचार्य
मानते हैं । वयों ऐसा मानते हैं, तो उसका उत्तर है कि ऐसा सम्भव है । क्योंकि उन
देवों को भी अधिकार के कारण अर्थित्वादि का सम्भव है । प्रथम मोक्षविषयक अर्थित्व
(इच्छा) विकार रूप विषय विभूति के अनित्यत्व से ढालोचन (दर्शन) निमित्तक
देवादि को भी जैसे सम्भव है वैसे ही यन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराण और लोक द्वारा
गरीरित्व के ज्ञान होने से उन्हें सामर्थ्य का भी सम्भव है । उनके अधिकरण का प्रतिषेध
रूप कोई शब्द नहीं है, उपनयनादि शास्त्र से उनका अधिकार निवृत्त नहीं किया
जा सकता है, क्योंकि उपनयन वेद के अध्ययन के लिए होता है । देवादि को
जन्मान्तर के संस्कारादि से वेद स्वयं प्रतिमान (स्मृत-प्रतिमागत) रहते हैं । दूसरी
बात यह है कि विद्या के ग्रहण (प्राप्ति) के लिए इनके ब्रह्मचर्यादि को श्रुति
दिखलाती है कि (इन्द्र ने एक सी एक वर्ष प्रजापति के पास में ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास
किया । वरुण का पुत्र भृगु पिता के पास में गया और उनसे कहा कि भगवन् मुझे
ब्रह्मज्ञान का उपदेश करो ।) और जो कर्म में देवादि के अनधिकार का कारण कहा
गया है कि (देवों को देवोद्देश्यक) कर्म में अधिकार नहीं है, क्योंकि उद्देश्य देवान्तर
का अभाव है । इसी प्रकार ऋषि को भी आर्षेय (ऋषि उद्देश्यक) कर्म में अधिकार
नहीं है क्योंकि आर्षेयान्तर (उद्देश्यान्तरमन्त्रादि) का अभाव है, अर्थात् वसु आदि
देव के लिए ध्येय दूसरे वसु आदि वैसे नहीं हैं, तैसे ही मन्त्रतादि के ऋषि ध्येय भृगु
आदि दूसरे नहीं हैं, इससे देव और ऋषि का मन्त्रादि वैदिक कर्म में अधिकार
नहीं है । वह अनधिकार कर्म कारण विद्या (ब्रह्मात्मज्ञान) में नहीं है, क्योंकि
विद्याओं में अधिक्रियमाण (प्रवृत्त) इन्द्रादि को इन्द्रादि का उद्देश्य (लक्ष्य) करके कुछ
भी कर्तव्य नहीं है, न भृगु आदि को भृगुसगोत्रता से कुछ कर्त्तव्य है, अतः देवादि का
विद्याविषयक अधिकार किससे निवारित हो सकता है ? अर्थात् विद्या के अधिकार का

कोई नहीं निवारण कर सकता है । देवादि का अधिकार होने पर भी अपने अगूठे की अपेक्षा से अगुष्ठमात्रश्रुतिविरुद्ध नहीं होती है ।

विरोध कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दशनात् ॥ २७ ॥

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्यते विग्रहवत्त्वाद्यद्विगदादिब्रह्मादीनामपि स्वरूपमनिधानेन कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत, तदा च विरोध कर्मणि स्यात्, नह्येन्द्रादीनां स्वरूपमग्निदानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते, नच सम्भवति, बहुषु यागेषु युगपदेकस्यैन्द्रस्य स्वरूपसन्निधानतानुपपत्तेरिति चेत् ? नायमस्ति विरोध । कस्मात् ? अनेकप्रतिपत्तेः । कस्यापि देवतात्मनो युगपदनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति । कथमेतदवगम्यते ? दर्शनात् । तथाहि—‘कति देवा’ इत्युपक्रम्य ‘त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा’ इति निरुच्य ‘कतमे ते’ इत्यस्या पृच्छायाम् ‘महिमान एवंपामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव । देवा’ (वृ० ३।१।१२) इति निर्बुधवती श्रुतिरेकैकस्य देवतात्मनो युगपदनेकरूपता दर्शयति । तथा त्रयस्त्रिंशतोऽपि पटाद्यन्तर्भावक्रमेण ‘कतम एको देव, इति ‘प्राण’ इति, प्राणैकरूपता देवानां दर्शयन्ती तस्यैवैकस्य प्राणस्य युगपदनेकरूपता दर्शयति ।

तथा स्मृतिरपि—‘आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ । योगी कुर्याद्विल प्राप्य तैश्च नर्धमंही चरेत् ॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्र तपश्चरेत् । सक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥’ इत्येवजातीयका प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोग दर्शयति । त्रिमुक्त्वव्यमाज्जन्मसिद्धानां देवानाम् । अनेकरूपप्रतिपत्तिमम्भवाच्चैकैका देवता ऋभी रपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गभाव गच्छति, परंश्च न दृश्यतेऽन्तर्धानादिप्रियायोगादित्युपपद्यते ।

पूर्वोक्तं सापेक्ष अगुष्ठमात्रत्वादि हो गकता है, परन्तु यदि विग्रहवत्त्व (शरीरित्व) का स्वीकार करके देवादि का विद्या में अधिकार का वर्णन किया जायगा, तो इन्द्रादि को भी ऋत्विगादि के समान शरीरी होने में ऋत्विगादि के समान ही शरीर द्वारा सन्निधान (सामीप्य) पूर्वक इन्द्रादि के कर्माङ्गभाव (कर्माङ्गत्व) अभ्युपगमन स्वीकृत होगा । तब कर्म में विरोध होगा । क्योंकि यदि स्वरूप (शरीर) से देव का कर्म सन्निधान हो तो दीखना चाहिए, और इन्द्रादि का स्वरूप सन्निधानपूर्वक याग में अङ्गत्व दीखता नहीं है । और ऐसा अङ्गभाव का सम्मन भी नहीं है, क्योंकि बहुत यागों में एक काल में एक इन्द्र की स्वरूप में सन्निधानता की अनुपपत्ति (अनुपपत्ता प्रसिद्धि) है । इस प्रकार यदि कोई विरोध की शका करे, तो कहा जाता है कि यह विरोध नहीं है, क्योंकि एक देव को भी अनेकरूपता अदृश्यता आदि की प्राप्ति होती है । एक देवतात्मा को भी एक काल में अनेक स्वरूप की प्राप्ति सम्मन है । यदि कहो कि यह कर्मे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि शास्त्र को देखने से यह समझा जाता है ।

ऐसा ही शास्त्र है कि (शाकल्य ने याज्ञवल्क्य जी से पूछा कि यज्ञविशेष में स्तुत्यहं देव कितने हैं ? इस प्रकार आरम्भ करके फिर याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि (तीन सौ तीन और तीन हजार तीन देव हैं) अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः देव हैं, इस प्रकार संख्या का निर्वचन (कथन) करके, फिर संख्येय देव विषयक पृच्छा (प्रश्न) उपस्थित हुई कि वे देव कौन हैं । इस प्रश्न के बाद याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि ये तीन हजार आदि इन देवों के महिमा (विभूति) हैं, वस्तुतः आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ये तैंतीस देव हैं, इस प्रकार देव का निर्वचन (कथन) करती हुई श्रुति एक-एक देवतात्मा की एक काल में अनेकरूपता दिखलाती है, इस प्रकार तैंतीस देव का भी छः देवादि में अन्तर्भाव के क्रम से एक में अन्तर्भाव कहने पर प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह एक देव कौन है, उत्तर है कि समष्टिप्राणरूपहिरण्यगर्भ एक देव है, अर्थात् वसु आदि तैंतीस का अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और दिव में अन्तर्भाव है, इनका तीन लोक में अन्तर्भाव है, लोकों का हिरण्यगर्भ में अन्तर्भाव है । इस प्रकार देवों की एकप्राण रूपता दिखलाती हुई श्रुति उस एक प्राण की ही एक काल में अनेकरूपता दिखलाती है । इसी प्रकार की स्मृति भी है कि (हे भरतश्रेष्ठ ! योगी योग की अणिमादि सिद्धि रूप बल को प्राप्त करके अपने बहुत शरीरों को बना लेता है, और उन सबसे भूमि पर विचरता है कि कितने शरीरों से विषयो को प्राप्त करता है, कितने से उग्र (उत्कट) तप करता है और फिर उनको संक्षिप्त करता (समेटता) है, जैसे सूर्य किरण समूहों को समेटते हैं ।) इस प्रकार की स्मृति अणिमादि ऐश्वर्यों को प्राप्त किये योगियों का भी एक काल में अनेक शरीर से सम्बन्ध दिखलाती है, तो फिर जन्म-सिद्ध देवताओं के विषय में कहना हो क्या है । और अनेक रूप की प्राप्ति के सम्भव होने से एक एक देव बहुत रूप से अपने आत्मा को प्रविभक्त करके बहुत यागों में एक काल में अङ्गभाव (अङ्गत्व) को प्राप्त होते हैं अन्तर्धानादि क्रिया के सम्बन्ध से अन्य से देखे नहीं जाते हैं, ऐसा सिद्ध होता है, और देव को भी विद्या में अधिकार इससे युक्त है ।

अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यस्यापरा व्याख्या—विग्रहवतामपि कर्माङ्गभावचो-
दनास्वनेका प्रतिपत्तिर्दृश्यते क्वचिदेकोपि विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं न
गच्छति, यथा बहुभिर्भोजयद्भिर्नैको ब्राह्मणो युगपद्भोज्यते । क्वचिच्चैकोऽपि
विग्रहवाननेकत्र युगपदङ्गभावं गच्छति, यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैरेको ब्राह्मणो
युगपन्नमस्क्रियते । तद्वदिहोद्देशपरित्यागात्मकत्वाद्यागस्य विग्रहवतीमप्येकां
देवतामुद्दिश्य बहवः स्वं स्वं द्रव्यं युगपत्परित्यक्ष्यन्तीति विग्रहवत्त्वेऽपि देवानां
न किञ्चित्कर्मणि विरुध्यते ॥ २७ ॥

‘अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्’ इस सूत्रांश की दूसरी व्याख्या है कि शरीरियों के भी कर्म के अङ्गत्व की विधि में अनेक प्रतिपत्ति (प्राप्ति रीति) देखी जाती है कि कहीं तो

एक भी शरीरी एक काल में अनेक व्यवहार में अङ्गत्व को नहीं प्राप्त होता है । जैसे कि बहुत भोजन करने वालों में एक ब्राह्मण एक काल में भोजन नहीं कराया जाता है और वही एक भी शरीरी अनेक व्यवहार में एक काल में ही अङ्गता प्राप्त करता है, जैसे कि बहुत नमस्कार करने वालों से एक ब्राह्मण एक काल में नमस्कृत होता है । इस नमस्कार की अङ्गत्व की समान एक एक देव को अनेकानेक धाम में अङ्गत्व होगा, क्योंकि देव को उद्देश्य (ध्यान) करके द्रव्य का परित्यागात्मक यज्ञ के होने से विग्रह वाली एक देव को भी उद्देश्य (ध्यान का लक्ष्य) करके बहुत लोग एक काल में अपने अपने द्रव्यों का परित्याग करेंगे, इस प्रकार देवों के शरीरत्व होने पर भी कर्म में कोई विरोध नहीं है ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नात. प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

शब्दे-इति-चेन्-अत-प्रभवान्—प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । इस सूत्र में सात पद हैं । उक्तितार्थ है कि (कर्मणि विगोषामावेऽपि शब्दे विगोष स्यादिति चेन्न-अत-शब्दादेव प्रत्यक्षानुमानाभ्या प्रभवान् विगोषासिद्धे) कर्म में विरोध की नहीं होते भी शरीरी देव पक्ष में शब्द के नित्यत्व में विरोध होगा, यह नहीं कहना, श्रुति स्मृति से नित्य शब्द-जन्यन्व देवादि के सिद्ध होने से विरोध की असिद्धि होती है ।

मा नाम विग्रहवत्त्वे देवानामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोध प्रसज्जि, शब्दे तु विरोध प्रसज्येत । कथम् ? जीवत्पत्तिः हि शब्दस्यार्थेन सम्बन्धमाश्रित्य 'अनपेक्षत्वात्' इति वेदस्य प्रामाण्य स्थापितम् । इदानीं तु विग्रहवती देवानामभ्युपगम्यमाना यद्यप्येश्वर्ययोगाद्युपपदनेककर्मसम्बन्धोऽस्ति हवीषि भुञ्जीत तथापि विग्रहयोगादस्मादिवज्जननमरणवती मेति नित्यस्य शब्दस्य नित्ये-नार्थेन नित्ये सम्बन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिके शब्दे प्रामाण्य स्थित तस्य विरोध स्यादिति चेत् । नायमप्यस्ति विरोध । कस्मान् ? अतः प्रभवात् । अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्वादिषः जगत्प्रभवति ।

देवादि की शरीरी मानने पर कर्म में कोई विरोध भले ही नहीं प्राप्त हो, परन्तु शब्द में विरोध की प्राप्ति होगी, क्योंकि शब्दों का अर्थों के साथ जीवत्पत्ति (स्वामाधिक नित्य) सबध की मानकर (अनपेक्षत्वात्) इस अनपेक्षत्व से वेद की प्रामाण्यता को स्थिर किया है । अब इस समय देव की शरीरी मानने पर तो यद्यपि विग्रह वाली मानी गयी देवता ऐश्वर्य के सम्बन्ध से एक काल में अनेक कर्म सम्बन्धी हवीषी को भोग सकती है, तथापि वेद के सम्बन्ध में हम समान वह देवता जो जन्म मरण वाली होगी, इस कारण में जो नित्य शब्द को नित्य अर्थ के साथ नित्य सबध के प्रतीत होने में वैदिक शब्दों में प्रामाण्य स्थिर रहा, उसका विरोध होगा, ऐसा यदि कोई कहे तो कहा जाता है कि यह भी विरोध नहीं है, क्योंकि इस शब्द में ही प्रमत्त (उत्पत्ति) होती है इस वैदिक शब्द से देवादि सब जगत् उत्पन्न होता है, और कारण

होने से शब्द सदा रहता है, इससे शब्द में अनित्यत्व रूप विरोध नहीं है, और जो जिससे उत्पन्न होता है उसका उसके साथ वाच्य-वाचकादि भाव सदा रहता है, इससे सम्बन्ध में भी अनित्यत्व विरोध नहीं है ।

ननु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतोऽवधारितं, कथमिह शब्दप्रभवत्वमुच्यते । अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः, कथमेतावता विरोधः शब्दे परिहृतः, यावता वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्था अनित्या एवोत्पत्तिमत्त्वात्, तदनित्यत्वे च तद्वाचिनां वैदिकानां वस्वादिशब्दानामनित्यत्वं केन निवार्यते । प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यजदत्त इति तस्य नाम क्रियत इति । तस्माद्विरोध एव शब्दे चेत् । न । गवादिशब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वदर्शनात् । नहि गवादिव्यक्तीनामुत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात् । द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाकृतयः । आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः । व्यक्तीनामानन्त्यात्सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः । व्यक्तिपूतपद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्न गवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते । तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम् । आकृतिविशेषस्तु देवादौनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्यः । स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत् । ततश्च यो यस्तत्तत्स्थानमधिरोहति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति । न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववदुपादानकारणाभिप्रायेणोच्यते । कथं तर्हि ? स्थितं वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थसम्बन्धिनि शब्दव्यवहारयोग्यार्थव्यक्तिनिष्पत्तिवतः प्रभव इत्युच्यते । कथं पुनरवगम्यते शब्दात्प्रभवति जगदिति ? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात् । ते हि शब्दपूर्वा सृष्टिं दर्शयतः । 'एते इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति गन्धमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः' इति श्रुतिः । तथान्यत्रापि 'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्' (वृ० १।२।४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्दपूर्विका सृष्टिः श्राव्यते ।

यहाँ शंका-होती है कि 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में जगत् का ब्रह्म-प्रभवत्व (ब्रह्मजन्यत्व) निश्चित किया है, फिर यहाँ शब्द-प्रभवत्व कैसे कहा जाता है ? और दूसरी बात है कि यदि प्रसिद्ध वैदिक शब्द से इस देवादि का प्रभव (उत्पत्ति) मान भी लिया गया, तो इतने मानने से शब्द में विरोध कैसे परिहृत (निवारित) हुआ ? क्योंकि जब वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत ये सब अर्थ उत्पत्ति वाले होने से अनित्य ही हैं, तो उनके अनित्य होने पर उनके वाचक वैदिक वसु आदि शब्दों के अनित्यत्व को किससे निवारण किया जा सकता है । लोक में प्रसिद्ध है कि देवदत्त के

पुन के उत्पन्न होने पर उसका यज्ञदत्त यह नाम दिया जाता है, उससे शब्द में विरोध ही है। ऐसी यदि शका हो तो कहा जाता है कि विरोध नहीं है, क्योंकि गो आदि शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का नित्यत्व देखा जाता है, क्योंकि गवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति होने पर भी जाति और जाति का व्यञ्जक उनकी आकृति (आकार) की उत्पत्ति नहीं है, क्योंकि व्यक्ति निम्न-निम्न रहती है, और जाति, आकृति तो भूत, भावी वतमान सबमें एक रहती है। इससे द्रव्य गुण और कर्म की व्यक्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं, और शब्दों का जाति, आकृतियों के साथ सम्बन्ध है, व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि व्यक्तियाँ अनन्त हैं, उनके साथ शब्दों के सम्बन्ध का ग्रहण हो नहीं सकता है। व्यक्तियों के उत्पन्न होने पर भी जाति, आकृति की नित्यता से गो आदि शब्दों में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार देवादि की व्यक्तियों की उत्पत्ति मानने पर भी जाति, रूप, आकृति के नित्य होने पर वसु आदि शब्दों में कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। मन्त्र अर्थवादादि में देवादि के शरीरत्व का निश्चय ज्ञान होने से उनका आकृति विशेष भी जानने योग्य (मन्तव्य) है। आकार-विशेष भी मन्त्रादि से ही ज्ञेय है। गेनापति आदि शब्द के समान स्थान-विशेष के साथ सम्बन्ध-निमित्तक भी इन्द्रादि शब्द हो सकते हैं, उसमें जो-जो उन उन स्थानों में आसद प्राप्त स्थिर होता है वह-वह इन्द्रादि शब्दों में कहा जाता है, इससे विरोध दोष नहीं होता है। जो यह शब्दजन्यत्व है ऐसा कहने हैं, वह ब्रह्मजन्यत्व के समान उपादान कारण के अभिप्राय से नहीं। वह कैसे कहते हैं कि वाचक रूप से नित्यार्थ-सम्बन्धी नित्य शब्द के स्थिर रहते शब्द में व्यवहार के योग्य अर्थ की उत्पत्ति होती है, अतः प्रभव, शब्द से उत्पन्न हो जाता है यह कहा है। फिर भी शब्द से जगत् होता है, यह कैसे जाना जा सकता है? यदि ऐसी जिज्ञासा हो तो कहा जाता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जाना जाता है, वहाँ अपनी प्रमाणता के प्रति अन्य की अपेक्षा रहित होने से श्रुति को प्रत्यक्ष कहते हैं, और प्रमाणता में श्रुतिनापेक्ष होने से स्मृति को अनुमान कहते हैं, वे श्रुति-स्मृति दोनों शब्दपूर्वक सृष्टि दिखलाती है कि देव का स्मारक एते शब्द से देव का स्मरण कर्त्ते प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की। इसी प्रकार अमृक्-अधिरमय देह में रमने वाले अमृग-मनुष्य की सृष्टि अमृग से स्मरण पूर्वक हुई। इन्द्रपूर्वक पितरो की, 'तिर पवित्रम्' से ग्रहों (यज्ञ-पात्रों) की स्मृति पूर्वक यज्ञपात्रों की, 'आशुव' से स्मरणपूर्वक स्तोत्रों की, 'विश्वानि' से स्मरणपूर्वक शस्त्रों की और 'अमिसौमग' इसमें अन्य प्रजाओं का स्मरणपूर्वक अथ की सृष्टि की गई, इस प्रकार श्रुति कहती है। वैसे ही अन्यत्र भी श्रुति है कि (उस प्रजापति ने मन से वाक् को मिथुन किया) अर्थात् वेद से प्रकाशित सृष्टि का मन से आलोचन विचार किया) इत्यादि वचनों से तत्तत्स्थानों में शब्दपूर्वक सृष्टि श्रुतियों में सुनी जाती है।

स्मृतिरपि—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ इति ।

उत्सर्गोऽप्ययं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मको द्रष्टव्यः, अनादिनिधनाया अन्या-
दृशस्योत्सर्गस्यासम्भवात् । तथा—

नामरूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥ (मनु० २।१०१)

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्मम ॥ इति च ।

अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थ-
मनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं
वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जति गम्यते । तथा
च श्रुतिः—‘स भूरिति व्याहरन् स भूमिमसृजत’ (तै० ब्रा० २।२।४।२)
इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान्
दर्शयति ।

और स्मृति भी है कि (सृष्टि के आदि काल में स्वयंभू ब्रह्मा) ने वेदमयी दिव्य आदि-
अन्तरहित नित्य वाक् का उत्सर्ग (सृष्टि) किया । जिससे कि सब प्रवृत्ति सिद्ध हुई ।
यह वाक् का उत्सर्ग (सृष्टि) भी संप्रदाय (गुरु-शिष्यपरंपरा) का प्रवर्तन रूप
समझना चाहिये । क्योंकि आदि-अन्त रहित वाक् के अन्य प्रकार के उत्सर्ग का
असम्भव है । इसी प्रकार (उस महेश्वर ने वेद के शब्दों से ही आदि काल में भूतों
के नाम-रूप का कर्मों की प्रवृत्ति का निर्माण (सृष्टि) किया) । उस परमात्मा ने
सबके पृथक्-पृथक् नामों का पृथक्-पृथक् कर्मों का पृथक्-पृथक् संस्था (अवस्था) का
वेद शब्द से ही आदि काल में निर्माण (रचना) किया । जैसे हम सबको यह
प्रत्यक्ष है कि जिस काम या वस्तु के करने की इच्छा होती है, उसको करने या बनाने
वाला पुरुष उसके वाचक शब्द का प्रथम स्मरण करके उस काम को करता है या
वस्तु को बनाता है, वैसे स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) प्रजापति को भी सृष्टि से प्रथम वैदिक
शब्द मन में प्रादुर्भूत (प्रकट) हुए । उसके बाद उन शब्दों में अनुगत (वाच्य रूप
से प्राप्त) तथा उनके बाद उनसे स्मृत अर्थों की सृष्टि प्रजापति ने की । श्रुति से
ऐसा समझा जाता है । इसी प्रकार वह भूः ऐसा कहा और भूमि को रचा
इत्यादि अर्थ को कहने वाली श्रुतियाँ भी मन में प्रादुर्भूत भूरादि शब्दों से ही जन्य
भूरादि लोकों को दिखलाती हैं ।

किमात्मकं पुनः शब्दमभिप्रेत्येदं शब्दप्रभवत्वंमुच्यते ? स्फोटमित्याह ।
वर्णपक्षे हि तेषामुत्पन्नप्रध्वंसित्वान्नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव

इत्यनुपपन्न स्यात् । उत्पन्नध्वसितश्च वर्णो प्रत्युच्चारणमन्यथा चान्यथा च प्रतीयमानत्वात् । तथाहि-अदृश्यमानोऽपि पुरुषविशेषोऽध्ययनध्वनिश्रवणादेव विशेषतो निर्धार्यते-देवदत्तोऽयमधीते-इति । न चायं वर्णविषयोऽन्यथात्वप्रत्ययो मिथ्याज्ञान, बाधकप्रत्ययाभावात् । न च वर्णोऽभ्योऽर्थावगतिर्युक्ता, न ह्येकैको वर्णोऽर्थं प्रत्याययेत् व्यभिचारात् । न च वर्णसमुद्रायप्रत्ययोऽस्ति, क्रमवत्त्वा दृष्टान्तात् । पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितमस्कारमहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति यदुच्येत । तन्न । सम्बन्धग्रहणापेक्षो हि शब्द स्वयं प्रतीयमानोऽर्थं प्रत्याययेद् धूमादिवत् । न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसस्कारसहितस्यान्त्यवर्णस्य प्रतीतिरस्ति, अप्रत्यक्षत्वात्मस्काराणाम् । कार्यप्रत्यायिते सस्कारे सहितोऽन्त्यो वर्णोऽर्थं प्रत्याययिष्यतीति चेत् ? न । सस्कारकार्यस्यापि स्मरणस्य क्रमवर्तितत्वात् । तस्मात्स्फोट एव शब्दः । न चैकैकवर्णप्रत्ययाहितसस्कारवी-
जेऽन्त्यवर्णप्रत्ययजनितपरिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभा-
सते । न चायमेकप्रत्ययो वर्णविषया स्मृतिः, वर्णानामनेकत्वादेकप्रत्ययविषय-
त्वानुपपत्तेः तस्य च प्रत्युच्चारण प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्नित्यत्वम्, भेदप्रत्ययस्य
वर्णविषयत्वात् । तस्मान्नित्याच्छब्दात्स्फोटरूपादभिधायकात्क्रियाकारकफल-
क्षण जगदभिधेयभूत प्रभवतीति ।

यहां जिज्ञासा होती है कि शब्द से जो मृष्टि मानी गई वह शब्द के किस स्वरूप को मानकर अर्थात् वह शब्द वर्णात्मक है वा स्फोटात्मक ? जिससे संसार को जन्यत्व कहा जाता है । वहां व्याकरण कहते हैं कि वह शब्द स्फोट नामक वर्ण से भिन्न नित्य है, वह वर्णों में व्यक्त होकर पद-वाक्यादि रूप से भासता है । वर्णपक्ष में वर्णों की अनित्यता से उनके स्वयं उत्पन्न (विनाशशून्य) होने से उनसे मृष्टि नहीं हो सकती, इसमें नित्य स्फोटात्मक शब्द से ही देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानना युक्त होगा । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो नित्य शब्दों से देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है यह कथन अनुपपन्न (अयुक्त-असिद्ध) होगा और प्रत्येक उच्चारण में भिन्न-भिन्न प्रतीत होने से वर्ण उत्पत्ति-विनाश वाले हैं । ऐसा ही देखा जाता है कि किसी अदृश्यमान (परोक्ष) पुरुष के अध्ययन की ध्वनि का सुनने में ही विशेष रूप से निरूपण (निश्चय) किया जाता है कि यह देवदत्त पढ़ रहा है, यह यज्ञदत्त पढ़ता है इत्यादि । यदि कहा जाय कि ध्वनिरूप उपाधिवृत्त वर्णों में भेद का ज्ञान होता है इसमें मिथ्याज्ञान (भ्रम) है, वहां कहा जाता है कि यह वर्ण-विषयक अन्यथात्व प्रत्यय (भेदज्ञान) मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि इसके बाधक ज्ञान का अभाव है, बाधक ज्ञान में ही मिथ्या-ज्ञानत्व का निश्चय होता है, अन्यथा नहीं । और वर्णों में अर्थ की अवगति (अनुमति) भी उचित नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि पदगत एक-एक वर्ण अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता है, जिससे व्यभिचार है, अर्थात्

एक वर्ण से पद के अर्थ की प्रतीति का अभाव है, वर्णमात्र से अर्थ की प्रतीति नहीं देखी जाती, और यदि ऐसे हो भी तो अन्य वर्ण व्यर्थ होंगे। यदि वर्णों के समूह से अर्थ का ज्ञान माना जाय तो वह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान के करण श्रोत्र-नेत्रादि अज्ञात होते हुए भी ज्ञान के हेतु स्वरूप से होते हैं, प्रत्यक्ष से अतिरिक्त स्थान में ज्ञात करण ज्ञान का हेतु होता है, जैसे पर्वत में ज्ञात धूम अग्नि की अनुमिति का हेतु होता है, वैसे ही शब्द भी ज्ञात होकर शाब्दज्ञान का हेतु होता है, और वर्णों के क्रम वाले होने से एक काल में वर्ण-समुदाय का प्रत्यय (ज्ञान) नहीं होता है। यदि कोई कहे कि वर्ण-समूह का एक काल में ज्ञान नहीं होने पर भी संस्कार द्वारा वर्णों का समूह (सम्मेलन) होगा उससे अर्थ का ज्ञान होगा, क्योंकि पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार-सहित अन्तिम वर्ण अनुभूत होकर अर्थ का ज्ञान करायेगा। तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि धूमादि हेतु के समान स्वयं प्रतीयमान (ज्ञात) और अर्थ के साथ सम्बन्ध शक्ति संकेत का ग्रहण की अपेक्षापूर्वक ही शब्द अर्थ का प्रत्यय करा सकता है, और पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभवजन्य संस्कार-सहित अन्तिम वर्ण की प्रतीति (ज्ञान) नहीं होती है क्योंकि अदृष्टादि के समान संस्कार अप्रत्यक्ष वस्तु है, स्मृतिरूप कार्य से अनुमेय है। यदि कहा जाय कि अर्थ ज्ञान का स्मरण रूप कार्य से प्रत्यायित (अनुमित) संस्कार-सहित ज्ञान अन्त्य वर्ण अर्थज्ञान का स्मरण करायेगा, तो वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वर्णों के क्रमयुक्त होने से उनके अनुभव क्रम से होते हैं, अनुभव के अनुसार संस्कार क्रम से होते हैं, इससे संस्कार के कार्य स्मरण भी क्रम से वर्तने वाले (रहनेवाले) होते हैं, और क्रम वाले होने से क्रम से ही संस्कार की अनुमिति के हेतु होंगे, उससे एक काल में अनुमिति सब संस्कारों के साथ होकर भी अन्तिम अनुभूत वर्ण अर्थ ज्ञान का हेतु नहीं हो सकती है। इससे स्फोट ही शब्द है (स्फुट-साफ जिससे अर्थ का ज्ञान हो उसे स्फोट कहते हैं) और वह स्फोट ही अनेक वर्ण और पद में एक पद और एक वाक्य ज्ञान का विषय होकर पद स्फोट और वाक्य स्फोट कहा जाता है, और एक प्रत्यय का विषय इस प्रकार होता है कि एक-एक वर्ण के ज्ञानों से जन्य स्फोटविषयक अव्यक्त ज्ञानरूप बीज जिस चित्तरूप प्रत्ययी (ज्ञानाश्रय) में स्थिर किया गया है, और अन्त्य वर्ण के ज्ञान से अन्तिम संस्काररूप परिपाक जिसमें हो चुका है, उस प्रत्ययी में एक ज्ञान के विषय रूप से स्फोट शीघ्र भासता है कि यह एक पद है, एक वाक्य है। यह पद वा वाक्य विषयक एकत्व की प्रतीति वर्णविषयक स्मृतिरूप नहीं है, क्योंकि वर्ण अनेक हैं, इससे एक ज्ञान की विषयता उनमें हो नहीं सकती है। उस स्फोट को प्रत्येक उच्चारण में प्रत्यभिज्ञा का विषय होने से नित्यत्व है। एक पद में जो उदात्त-अनुदात्त, तार-मन्दादि भेद की प्रतीति होती है, वह वर्णविषयक होती है, भ्रम से भले ही स्फोट में भासता हो परन्तु स्फोट प्रत्येक उच्चारण में एक रहता है, उससे अर्थ के अभिधायक (वाचक)

नित्यस्फोट रूप नित्यशब्द से त्रियाकारक फलरूप अभिधेय (वाच्यार्थ) रूप जगत् उत्पन्न होता है यह सिद्ध हुआ ।

‘वर्णा एव तु शब्द’ इति भगवानुपवर्ष । ननूत्पन्नप्रव्वसित्व वर्णानामुक्तम् । तन्न । त एवेति प्रत्यभिज्ञानात् । सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञान केशादिष्विवेति चेत् ? न । प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः । प्रत्यभिज्ञानमाकृति-निमित्तमिति चेत् ? न । व्यक्तिप्रत्यभिज्ञानात् । यदि हि प्रत्युच्चारण गवादिव्यक्तिवदन्या अन्या वर्णव्यक्तय प्रतीयेरस्तत आकृतिनिमित्त प्रत्यभिज्ञान स्यात् । नत्वेतदस्ति । वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारण प्रत्यभिज्ञायन्ते । द्विगोशब्द उच्चारित इति हि प्रतिपत्तिर्न तु द्वौ गोशब्दाविति । ननु वर्णा अप्युच्चारणभेदेन भिन्ना प्रतीयन्ते देवदत्तयज्ञदत्तयोरध्ययनध्वनिश्रवणादेव भेदप्रतीतेरित्युक्तम् । अत्राभिधोयते—मति वर्णविषये निश्चिते प्रत्यभिज्ञाने सयोगविभागाभिव्यङ्ग्यत्वाद्गर्णानामभिव्यञ्जकवैचित्र्यनिमित्तोऽयं वर्णविषयो विचित्र प्रत्ययो न स्वरूपनिमित्त । अपि च वर्णव्यक्तिभेदवादिनापि प्रत्यभिज्ञानसिद्धये वर्णाकृतयः कल्पयितव्याः । तासु च परोपाधिको भेदप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्, तद्वर वर्णव्यक्तिष्वेव परोपाधिको भेदप्रत्यय, स्वरूपनिमित्त च प्रत्यभिज्ञानमिति कल्पनालाघवम् । एष एव च वर्णविषयस्य भेदप्रत्ययस्य बाधक प्रत्ययो यत्प्रत्यभिज्ञानम् । कथं तर्ह्येकस्मिन् काले बहूनामुच्चारयतामेक एव सन् गकारो युगपदनेकरूप स्यात्—उदात्तश्चानुदानश्च स्वरितश्च मानुनामिकश्च निरनुनासिकश्च—इति । अथवा ध्वनिमृतोऽयं प्रत्ययभेदो न वर्णकृत इत्यदोषः ।

अथ आचार्य सम्प्रदाय की उत्तिपूर्वक सिद्धान्त कहते हैं कि भगवान् उपवर्ष कहते हैं कि वर्ण रूप ही शब्द है, क्योंकि वर्ण से अतिरिक्त स्फोट रूप शब्द का अनुभव नहीं होता है । जो यह कहा है कि वर्ण उत्पन्न होकर प्रव्वम स्वभाव वाले क्षणिक हैं, वह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिनका देवदत्त ने उच्चारण किया था वे ही वर्ण थे हैं जिनका यज्ञदत्त उच्चारण कर रहा है । इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से वर्ण उत्पन्न प्रव्वसी नहीं हैं । यदि कहो कि अनेकों बार कटने पर फिर बड़े हुए केशो दीपमिता नदी-प्रवाहादि में सदृशता से प्रत्यभिज्ञा होती है, वैसे ही वर्णों में सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा भ्रमरूप होती है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि भ्रम का प्रमाणान्तर से बाध (नाश) होता है और वर्ण प्रत्यभिज्ञा का प्रमाणान्तर में बाध की अनुपपत्ति (असिद्धि) है, इसका बाध नहीं होता है । यदि कहो कि आकृति-निमित्तिक प्रत्यभिज्ञा है, अर्थात् वह जाति की विषय करती है, इससे भ्रमरूप नहीं होने से बाध भी नहीं होता है, और उसके बल में वर्ण भी निरव्यय रूप नहीं सिद्ध हो सकते हैं, तो यह कहना भी अनुचित है, क्योंकि व्यक्ति के भेद की सिद्धि के बिना प्रत्यभिज्ञा की जातिविषयता में कोई प्रमाण नहीं है, इससे वर्ण व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा होती है । यदि प्रत्येक उच्चारण

में गो आदि की व्यक्ति के समान अन्य अन्य वर्ण व्यक्ति प्रतीत होते, तो प्रत्यभिज्ञा आकृतिनिमित्तक होती, परन्तु यह व्यक्ति के भेद का ज्ञान नहीं होता है, इसमें वर्णों की व्यक्तियाँ ही प्रत्येक उच्चारण में प्रत्यभिज्ञा होती हैं (प्रत्यभिज्ञा से जानी जाती हैं) जिससे कहा जाता है कि इसने एक गो शब्द का दो बार उच्चारण किया है, इससे दो बार गो शब्द उच्चारित हुआ ऐसी प्रतीति होती है, दो गो शब्द उच्चारित हुए ऐसी प्रतीति नहीं होती है। शंका होती है कि उदात्तादि भेद से उच्चारण के भेद द्वारा वर्ण भी भिन्न प्रतीत होते हैं; क्योंकि देवदत्त यज्ञदत्त के अव्ययन की ध्वनि के श्रवण से ही अव्ययन भेद की प्रतीति होती है, यह कहा जा चुका है। यहाँ उत्तर है कि वर्णविषयक निश्चित प्रत्यभिज्ञा के होने पर, वर्णविषयक यह विचित्र प्रत्यय वर्ण के स्वरूपनिमित्तक नहीं हैं, किन्तु तत्तत् तालु आदि स्थानों में वायु आदि के संयोग और विभाग से वर्णों की अभिव्यक्ति होने से अभिव्यञ्जक स्थान वायु आदि की विचित्रता निमित्तक यह वर्णविषयक विचित्र ज्ञान होता है। दूसरी बात है कि वर्ण व्यक्ति के भेद मानने वाले को भी प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि के लिए वर्णों की आकृति पर (जातियों) की कल्पना करनी पड़ेगी। एवं उनमें परोपाधिनिमित्तक उदात्तादि भेद का ज्ञान होता है ऐसा मानना होगा। उससे श्रेष्ठ यह मन्तव्य है कि वर्ण की व्यक्तियों में अन्योपाधिक भेद ज्ञान है, और स्वरूपनिमित्तक प्रत्यभिज्ञान है, क्योंकि ऐसा मानने पर व्यक्ति का भेद और जाति की कल्पना नहीं करके वर्ण-भेद मात्र की औपाधिकता से कल्पना की लघुता होती है। एवं जो यह प्रत्यभिज्ञा है वही वर्ण विषयक भेद-ज्ञान का बाधक ज्ञान है, ऐसा निश्चय होने पर अनेक उच्चारण करने वालों से उच्चारित एक ही होता हुआ यह गकार एक काल में अनेक कैसे होगा कि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक और निरनुनासिक भिन्न हैं, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा के बल से भिन्नकालिक गकार के अभेद सिद्ध होने पर एक काल में अनेक से उच्चारित में भी उदात्तादि भेद से किसी प्रकार भी स्वरूप भेद नहीं सिद्ध हो सकता है, इससे औपाधिक भेद उदात्तादि में भी है स्वरूप भेद नहीं। इस औपाधिक भेद का स्वीकारपूर्वक वायु आदि के संयोग रूप उपाधि में अप्रत्यक्षता से तद्वत् विचित्रता का प्रत्यक्ष उदात्तादि में प्रत्यक्ष आरोप नहीं हो सकता है, इस आशय से स्वमत भाष्यकार कहते हैं कि अथवा वर्णों में यह उदात्तादि ज्ञान का भेद ध्वनिनिमित्तक है, वर्णभेदकृत नहीं है, इससे वर्ण में भेदापत्ति आदि दोष नहीं हैं। अर्थात् उदात्तादि ध्वनि के धर्म है, वह ध्वनि और वर्ण के अभेदाध्यास से वर्ण में भासते हैं।

कः पुनरयं ध्वनिर्नाम ? यो दूरादाकर्णयतो वर्णविवेकमप्रतिपद्यमानस्य कर्णपथमवतरति, प्रत्यासीदतश्च पटुमृदुत्वादिभेदं वर्णेष्वसञ्जयति। तन्निबन्धनाश्चोदात्तादयो विशेषा न वर्णस्वरूपनिबन्धनाः। वर्णानां प्रत्युच्चारण प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। एवं च सति सालम्बना उदात्तादिप्रत्यया भविष्यन्ति, इतरथा

हि वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां निर्भेदत्वात्मयोगविभागकृता उदात्तादिविशेषा कल्पेरन् । सयोगविभागानां चाप्रत्यक्षत्वान्न तदाश्रया विशेषा वर्णेष्वध्यवसितुं शक्यन्त इत्यतो निरालम्बना एवैत उदात्तादिप्रत्यया स्युः । अपि च नैवेतदभिनिवेष्टव्यम्—उदात्तादिभेदेन वर्णानां प्रत्यभिज्ञायमानानां भेदो भवेत्—इति । नह्यन्यस्य भेदेनान्यस्याभिद्यमानस्य भेदो भवितुमर्हति । नहि व्यक्तिभेदेन जातिभिन्ना मन्यन्ते । वर्णोभ्यश्चार्थप्रतीतिः सम्भवात्स्फोटकल्पनानार्थिका । न कल्पयाम्यह स्फोटप्रत्यक्षमेव त्वेनमवगच्छामि, एकैकवर्णग्रहणाहितसंस्काराणां बुद्धौ झटिति प्रत्यवभासनादिति चेत् ? न । अस्या अपि बुद्धेर्वर्णविषयत्वात् । एकैकवर्णग्रहणोत्तरकाला हीयमेका बुद्धिर्गौरिति समस्तवर्णविषया नार्थान्तरविषया । कथमेतदवगम्यते ? यतोऽस्यामपि बुद्धौ गकारादयो वर्णा अनुवर्तन्ते न तु दकारादयः । यदि ह्यस्या बुद्धेर्गकारादिभ्योऽर्थान्तरस्फोटो विषयः स्यात्ततो दकारादय एव गकारादयोऽप्यस्या बुद्धेर्व्यावर्तेरन् न तु तथास्ति, तस्मादियमेकबुद्धिर्वर्णविषयैव स्मृतिः ।

अका होती है कि ध्वनि नाम वाली कौन वस्तु है ? उत्तर है कि दूर से शब्द सुनने का कारण जो श्रोता वर्ण के विवेक को न समझ सकता है । उसके वर्णमार्ग में जो वर्ण विवेक के बिना पहल पहल दूर से प्रविष्ट होती है, और धीरे २ पास में जाने पर वर्णों में उस श्रोता के लिए पटुत्व (स्फुटत्वे) सन्देहादि भेद का आरोप सम्बन्ध करती है वह ध्वनि है, और उस ध्वनिनिमित्ताक वर्णों में उदात्तादि विशेष (भेद) हैं, स्वरूप-निमित्ताक नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण में वर्णों की प्रत्यभिज्ञा होती है प्रत्यभिज्ञा का विषय एक वर्ण प्रतीत होता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष ध्वनि रूप वर्ण की उपाधि के स्वीकार करने पर उदात्तादि का ज्ञान मालम्बन (विषयसहित) होगा, अन्यथा वर्णों के प्रत्यभिज्ञता होने में उनमें भेद के अभाव होने के कारण सयोग-विभागकृत उदात्तादि विशेषों की पूर्ण रीति से कल्पना करनी होगी, और उक्त सयोग-विभागों के अप्रत्यक्ष होने में उनके आश्रित रहने वाले विशेषों का वर्णों में अनुभव निश्चय नहीं किया जा सकता है, इसमें इस प्रकार ये उदात्तादि के ज्ञान निरालम्बन ही हो जायेंगे । ऐसा आग्रह कभी नहीं करना चाहिए कि उदात्तादि के भेद से प्रत्यभिज्ञात वर्णों का भी भेद होगा, क्योंकि किसी अथ घट-मठादि के भेद से भेदरहित आकाश का भेद होने योग्य नहीं है, वैसे ही ध्वनिगत उदात्तादि भेद से वर्णों में भेद होने योग्य नहीं है, जैसे कि व्यक्ति के भेद से जाति को भिन्न नहीं मानते हैं, वैसे ही ध्वनि के भेद से वर्णों में भेद नहीं मानते हैं । वर्णों से ही अर्थ की प्रतीति के सम्भव होने से स्फोट की कल्पना अनर्थक है, यदि कोई बड़े कि मैं स्फोट की कल्पना नहीं करता है, किन्तु इस प्रत्यक्ष स्फोट का अनुभव म्बोकार करता हूँ, क्योंकि एक एक वर्ण के ग्रहण से अर्पित स्फोटविषयक संस्कार वालों बुद्धि में यह स्फोट स्वयं प्रत्यवभासित अनुभूत होता है । वहाँ कहा जाता है कि यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यह बुद्धि भी वर्ण-

विषयक ही होती है, एक-एक वर्ण के ज्ञान के उत्तरकाल में होने वाली गीः, इस प्रकार की यह एक बुद्धि (एक ज्ञान) सम्पूर्ण वर्णविषयक होती है, स्फोटरूप अर्थान्तर विषयक नहीं होती है । यदि कहो कि यह कैसे समझते हो कि यह बुद्धि वर्णविषयक है ? तो कहा जाता है कि जिससे इस बुद्धि में गकारादि वर्ण ही अनुवृत्त (सम्बद्ध) होते हैं, दकारादि नहीं, इससे इसको गकारादि वर्णविषयक समझते हैं । और यदि इस बुद्धि का विषय गकारादि से अतिरिक्त अर्थान्तर स्फोट होता तो, उस बुद्धि से जैसे दकारादि व्यावृत्त हो जाते हैं, वैसे ही इस बुद्धि से गकारादि भी व्यावृत्त हो जाते, 'गीः' इस बुद्धि में दकारादि से समान गकारादि भी नहीं भासते, परन्तु वैसा होता नहीं है, उससे यह एक बुद्धि वर्णविषयक ही स्मृति है ।

नन्वेकत्वाद्वर्णानां नैकबुद्धिविषयतोपपद्यत इत्युक्तम् । तत्प्रति ब्रूमः— सम्भवत्यनेकस्याप्येकबुद्धिविषयत्वम्, पङ्क्तिर्वनं सेना दशशतं सहस्रमित्यादि-दर्शनात् । या तु गौरित्येकोऽयं शब्द इति बुद्धिः, सा बहुष्वेव वर्णेष्वेकार्थाव-च्छेदनिबन्धनौपचारिकी वनसेनादिवुद्धिवदेव । अत्राह—यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिभक्तिर्न स्यात्, त एव हि वर्णा इतरत्र चेतत्र च प्रत्यवभासन्त—इति । अत्र वदामः । सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमा-नुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन् एव वर्णाः पदबुद्धिमारोह्यन्ति, तत्र वर्णानामविशेषेऽपि क्रमविशेषकृता पदविशेषप्रति-पत्तिर्न विरुध्यते । वृद्धव्यवहारे चेमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीता गृहीतार्थविशेषण-सम्बन्धाः सन्तः स्वव्यवहारेऽप्येकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीति वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना । स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च । वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति, स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यात् । अथापि नाम प्रत्युच्चारणमन्येऽन्ये वर्णाः स्युः, तथापि प्रत्यभिजालम्बनभावेन वर्णसामान्यानामवश्याभ्युपगन्तव्यत्वाद्वा वर्ण-प्वर्थप्रतिपादनप्रक्रिया रचिता सा सामान्येषु संचारयितव्या । ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् ॥ २८ ॥

जो यह कहा था कि वर्णों के अनेक होने से एकपदादि बुद्धिविषयता वर्णों की नहीं हो सकती, वहाँ प्रत्युत्तर कहते हैं कि अनेक वर्णों को भी एकार्थबोधकत्व एक स्मृति-विषयत्वादि से एकबुद्धिविषयत्व का सम्भव है, जैसे कि पंक्ति वन, सेना, दशशतं, सहस्रम्, इत्यादि प्रयोगों में देखा जाता है । इसी प्रकार 'गीः' यह एक शब्द है । ऐसी जो बुद्धि होती है, वह बहुत वर्णों में ही एकार्थावच्छेदनिमित्तक (एकार्थबोध-कत्वनिमित्तक) औपचारिकी (गौणी) बुद्धि वन-सेनादि-बुद्धि तुल्य ही होती है । यहाँ

काई कहते हैं कि यदि वर्ण ही समस्त रूप में एकबुद्धि विषयता को प्राप्त होकर पद होते हैं, तो जारा-राजा, और कपि-पिक, इत्यादि में पद-भेद का ज्ञान नहीं होना चाहिये, क्योंकि तुल्य वे ही वर्ण भिन्न-भिन्न स्थानों में भासते हैं। यहाँ कहते हैं कि वे ही समस्त वर्णों के भिन्न-भिन्न स्थानों में ज्ञान होने पर भी जैसे क्रम का अनुरोध धारण करने वाली चीटियाँ पक्षि-बुद्धि का विषय होती हैं, इसी प्रकार क्रमानुरोधी ही वर्ण पदबुद्धि में आरब्ध होंगे। उससे वहाँ वर्णों के तुल्य होने पर भी क्रम के भेद से जल्य पदभेद की बुद्धि में विरोध नहीं होता है। यद्यपि वर्ण विभु हैं, इससे उनमें क्रम नहीं है, तथापि उनके ज्ञान में क्रम होता है, इसमें पदशक्ति के ग्राहक बृद्धों के व्यवहार में क्रमादि से अनुगृहीत (ज्ञात) हुए और तत्तत् विरोध अर्थ के साथ गृहीत (ज्ञात) शक्ति सम्बन्ध वाले वे वर्ण, अपने व्यवहार में भी एक-एक वर्ण के ज्ञान के बाद समस्त वर्णों को विषय करने वाली स्मृतिरूप बुद्धि में उस क्रमिक स्वरूप से ही प्रत्यवभासित (प्रकाशित) हुए उस-उस अर्थ को निश्चित रूप से बोध करावेंगे, इस रीति से वर्णवादी की अति लघु कल्पना करनी पड़ती है, और स्फोटवादी की दृष्ट वर्णों की हानि होती है और अदृष्ट स्फोट की कल्पना करनी पड़ती है। इससे गौरव है, क्योंकि क्रम में गृहीत वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त करेंगे, और वह व्यक्त स्फोट अर्थ को अभिव्यक्त करेगा, यह अति गुरु कल्पना होगी। अम्पुपगम वाद से कहते हैं कि यदि प्रत्युच्चारण प्रसिद्ध वर्ण अन्य-अन्य भी हों, तो भी प्रत्यभिज्ञा के अवलम्बन (विषय) रूप से वर्णों के सामान्यों (जातियों) को अवश्य गन्तव्य होने से वर्णों में अर्थ प्रतिपादन की जो प्रक्रिया (रीति) रही गई है, उस प्रक्रिया का वर्ण-सामान्य में सञ्चार करना होगा, अर्थात् वर्णों की जाति में अर्थबोधकता माननी पड़ेगी, स्फोट की कोई जरूरत नहीं है। उससे नित्य शब्दों से देवादि व्यक्ति की उत्पत्ति होती है इस सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है।

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

स्वतन्त्रस्य कर्तुरस्मरणादिभि स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधमाशङ्क्य 'अत प्रभवात्' इति परिहृत्येदानीं तदेव वेदनित्यत्व स्थित द्रव्यमिति—अत एव च नित्यत्वमिति । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जातो वेदशब्दप्रभवत्वाद्वेदशब्दनित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् । तथा च मन्त्र-वर्ण — 'यज्ञेन वाच पदवोयमायन्तामन्वविन्दन्तृपिपु प्रविष्टाम्' (ऋ० सं० १०।७।१३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्ता दर्शयति । वेदव्यामश्चैवमेव स्मरति—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।

लेभिरे तपमा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥ इति ॥ २९ ॥

स्वतन्त्र वेदवर्णों के अस्मरण (स्मरणानाव) आदि हेतुओं से वेद के नित्यत्व स्थिर होने पर, देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति मानने से उस नित्यत्व के विरोध की

आर्गका करके फिर (अतः प्रमत्वात्), इससे शंका का परिहार करके, अब इस समय उस स्थिर वेद के नित्यत्व को ही दृढ़ करते हैं कि (अत एव च नित्यत्वमिति) इसी हेतु से अर्थात् नियत आकृतिवाले देवादि रूप जगत् को वेदशब्द से सृष्टि होने से वेद के शब्दों में नित्यत्व भी समझना चाहिये । वैसा ही मन्त्रवर्ण भी है कि (पूर्वं के सुकृत रूप यज्ञ द्वारा वेदरूप वाक् की प्राप्ति की योग्यता को प्रथम प्राप्त करने वाले याज्ञिक लोगों ने पीछे ऋषियों में प्रविष्ट उस वाक् को प्राप्त किया) यह मन्त्र प्रथम से सिद्ध वेद को ही अनुविन्न (उपलब्ध-प्राप्त) दिखलाता है और भगवान् वेदव्यास भी ऐसे ही कहते हैं कि (प्रथम ब्रह्मा जी की सम्मति युक्त महर्षियों ने युगान्त में अन्तर्हित (लुप्त) वेदों को तप से प्राप्त किया) ॥ २९ ॥

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

• समाननामरूपत्वात्—च—आवृत्तौ—अपि—अविरोधः—दर्शनात्—स्मृतेः—च । ये आठ पद इस सूत्र में हैं । संक्षिप्तार्थ है कि (सर्गप्रलययोः पुनः प्राप्तिरक्षणायामावृत्तौ सत्यामपि शब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वदोषात्मको विरोधो नास्ति समाननामरूपत्वात्, तथाविधश्रुतेर्दर्शनात् स्मृतेर्येति) सृष्टि और प्रलय की बार-बार प्राप्ति रूप आवृत्ति के होने पर भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में अनित्यत्व दोष रूप विरोध नहीं है, क्योंकि सब सर्ग में तुल्यनाम रूप वाले देवादि होते हैं, और इसका निश्चय वैसी श्रुति स्मृति के देखने से होता है ॥ ३० ॥

अथापि स्यात्—यदि पश्वादिव्यक्तिवद् देवादिव्यक्तयोऽपि सन्तत्यैवोत्पद्येरन्निरुद्धेरंश्च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृव्यवहाराविच्छेदात्सम्बन्धनित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत । यदा तु खलु सकलं त्रैलोक्यं परित्यक्तनामरूपं निर्लेपं प्रलीयते प्रभवति चाभिनवमिति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति तदा कथमविरोध—इति ।

फिर भी शंका होती है कि पूर्वोक्त व्यवस्था तब हो सकती, यदि आज पशु आदि व्यक्ति के समान देवादि की व्यक्तियों के भी निरन्तर प्रवाह रूप से सर्ग प्रलय होते, नाम, नामी और वक्ता के व्यवहार के अविच्छेद (निरन्तर वर्तमानता) से नाम-नामी के सम्बन्ध के नित्य होने से, शब्द में अनित्यत्व दोष परिहृत (निवारित) हो जाता । परन्तु श्रुति स्मृति के वचन कहते हैं कि प्रलय में तीन लोकात्मक यह सब जगत् नाम-रूप को त्याग कर निःशेष रूप से प्रलीन (नष्ट) हो जाता है, और फिर नवीन उत्पन्न होता है, तो इस अवस्था में शब्दानित्यत्व विषयक अविरोध कैसे हो सकता है ?

तत्रेदमभिधीयते—समाननामरूपत्वादिति । तदापि संसारस्यानादित्वं तावदभ्युपगन्तव्यम् । प्रतिपादयिष्यति चाचार्यः संसारस्यानादित्वम्—‘उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च’ (ब्र० २।१।३६) इति । अनादौ च संसारं यथा

स्वापप्रबोधयोः प्रलयप्रभवश्रवणोऽपि पूर्वप्रबोधवदुक्तप्रबोधोऽपि व्यवहारान्न कश्चिद्विरोधः । एव कल्पान्तरप्रभवप्रलययोरपीति द्रष्टव्यम् । स्वापप्रबोधयोश्च प्रलय-प्रभवो श्रूयते—‘यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्ययास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदेतं वाकमर्वेर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वे रूपैः महाप्येति, श्रोत्रं सर्वे शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वे ध्यानि सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशा विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेन्नेवमेवं तस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः ’ (कौ० ३।३) इति ।

इस शका के होने पर यह कहा जाता है, कि प्रलय होने पर फिर सृष्टि-काल में पूर्वसर्ग-सुख नाम रूप होने से अविरोध है, क्योंकि सर्ग-प्रलय की आवृत्ति होने पर भी, ससार को अनादिता (प्रवाह रूप से सदा वर्तमानता) अवश्य मन्तव्य है, और आचार्यों भी ‘उपपद्यते च’ इत्यादि सूत्र से ससार की अनादिता का प्रति-पादन करेंगे । ससार के अनादि होने पर, जैसे सुषुप्ति और जागरण में प्रलय और सृष्टि के श्रवण होने पर भी पूर्व जागरण के समान आगे के जागरण में कोई व्यवहार का विरोध नहीं होता है, इसी प्रकार कल्पांतर के सर्ग और प्रलय में भी व्यवहार के अविरोध को समझना चाहिये कि पूर्वकल्प के समान ही वेद और देवादि प्रकट होते हैं, इससे अनित्यत्व दोष वेद में नहीं है इत्यादि । सुषुप्ति और जागरण में प्रलय और सर्ग सुने जाते हैं कि (जब सोया हुआ प्राणी कोई स्वप्न नहीं देखता है उस समय वह इस परमात्मा-स्वरूप प्राण य एव हो जाता है । उस समय सब नामों के सहित वाक् (उस प्राण में लीन हो जाती है) नेत्र सत्र रूपों के सहित प्राण में लीन होता है । कान सब शब्दों के सहित लीन होता है और मन सब ध्यान (सकल्प विकल्पादि) सहित लीन होता है । प्राणी जब जागता है तब जबलित अग्नि से जैसे चित्तगारियाँ सब दिशाओं में गमन करती (फैलती) हैं, इसी प्रकार इस आत्मा से जब इन्द्रियाँ अपने-अपने आयतनों (गोलकस्थानों) के तरफ गमन करती हैं, प्रगट होती हैं, उन प्राणों से देव प्रगट होते हैं, देव सहित इन्द्रियों से विषयादि रूप लोक प्रगट होते हैं ।) इत्यादि ।

स्यादेतत् । स्वापे पुरुषान्तरव्यवहाराविच्छेदात्स्वयं च सुप्तप्रबुद्धस्य पूर्वप्रबोधव्यवहारानुमन्धानसम्भवादविरुद्धम् । महाप्रलये तु सर्वव्यवहारोच्छेदाज्जन्मान्तरव्यवहारवच्च कल्पान्तरव्यवहारस्यानुमन्धानुमशक्यत्वाद्दोष-म्यमिति । नप दोषः । सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानु-ग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुमन्धानोपपत्तेः । यद्यपि प्राकृता प्राणिनो न जन्मान्तरव्यवहारमनुमन्दधाना दृश्यन्ते इति, तथापि न प्राकृतवदोश्वराणां भवितव्यम् । यथाहि प्राणित्वाविशेषोऽपि मनुष्यादिस्तम्बप-र्यन्तेषु ज्ञानेश्वर्यादिप्रतिबन्ध परेण परेण भूयान्भवन्दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानेश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवतीत्येवञ्च-

तिस्मृतिवादेष्वसकृदनुश्रूयमाणं न शक्यं नास्तीति वदितुम् । ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वाराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तिः ।

फिर शका होती है कि सुषुप्ति में प्रलय सुनने पर भी एक के सो जाने पर भी पुरुषान्तर के व्यवहार का उच्छेद अभाव नहीं होता है, और स्वयं पहले सो कर जागे हुए को पूर्व जाग्रत के व्यवहारों के अनुसंधान (स्मरणादि) के सम्भव से विरुद्ध व्यवहारादि नहीं प्राप्त होते हैं, और महाप्रलय में तो सब व्यवहारों का नाश हो जाता है इससे जन्मान्तर के व्यवहारों के समान कल्पान्तर के व्यवहार का अनुसंधान करना अशक्य है, इससे महाप्रलय के लिए सुषुप्ति का दृष्टान्त विपमतायुक्त है । यहाँ कहा जाता है कि यह अनुसंधानाभावादिरूप दोष नहीं है, क्योंकि सब व्यवहार के उच्छेद-वाले महाप्रलय के होने पर भी परमेश्वर के अनुग्रह से ईश्वररूप हिरण्यगर्भादिको कल्पान्तर के व्यवहारों के अनुसंधान की सिद्धि होती है । यद्यपि प्राकृत साधारण प्राणी जन्मान्तर के व्यवहारों का अनुसंधान करते हुए नहीं देखे जाते हैं, तथापि प्राकृत प्राणी के समान अनुसंधानादि रहित ईश्वर को नहीं होना चाहिए, न ऐसा हो सकता है । जैसे कि प्राणिता के तुल्य रहने पर भी मनुष्य से स्तम्ब (वृण) पर्यन्त में ज्ञान ऐश्वर्यादि का उत्तर अधिक प्रतिबन्ध (निरोध-वियोग) होता हुआ दीखता है । इसी प्रकार मनुष्यादि में भी हिरण्यगर्भादि पर्यन्त में ज्ञानैश्वर्यादि की अभिव्यक्ति (प्रकटता प्राप्ति) उत्तर-उत्तर अधिक होती है, यह बात श्रुति-स्मृति-वचनों में बार-बार सुनी जाती है, वह ऐश्वर्यादि नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं, न श्रुति-स्मृति का निषेध कर सकते हैं, इससे व्यतीत कल्प में जिन्होंने प्रकृष्ट ज्ञान (उपासना) और कर्मों का अनुष्ठान (आचरण) किया है, ऐसे ईश्वररूप वर्तमान कल्प के आदि में प्रादुर्भूत (प्रकट) होने वाले परमेश्वर से अनुगृहीत हिरण्यगर्भादि को सुषुप्ति से जागे हुए के समान कल्पान्तर के व्यवहारों के अनुसंधान की सिद्धि होती है ।

तथा च श्रुतिः—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (श्वे० ६।१८) इति ।

स्मरन्ति च शौनकादयः 'मधुच्छन्दःप्रभृतिभिर्ऋषिभिर्दाशतय्यो दृष्टाः' इति । प्रतिवेदं चैवमेव काण्डर्ष्यादयः स्मर्यन्ते । श्रुतिरप्यृषिज्ञानपूर्वकमेव मन्त्रेणानुष्ठानं दर्शयति—'यो ह वा अविदितार्पेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वच्छेति गतं वा प्रतिपद्यते' (सर्वानु० परि०) इत्युपक्रमस्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्' इति । प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते, दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिपिध्यते । दृष्टानुश्रवि-

कसुखदुःखविषयो च रागद्वेषौ भवतो न विलक्षणविषयावित्यतो धर्माधर्म-
फलभूतोत्तरा सृष्टिर्निष्पद्यमाना पूर्वसृष्टिमदृश्येव निष्पद्यते । स्मृतिश्च भवति—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्मृष्ट्या प्रतिपेदिरे ।

तान्येव ते प्रपद्यन्ते सुज्यमाना पुनः पुनः ॥

हिंसाहिंसे मृदुकूरे धर्माधर्मावृतानृते ।

तद्भाविता प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥ इति ।

श्रुति कहती है कि 'जो परमेश्वर के कल्प के आदि काल में ब्रह्मा को उत्पन्न सिद्ध करता है और उस ब्राह्मण के लिए ज्ञानमय वेद का प्रदान करता है, आत्मरूप से बुद्धि में प्रकाशमान उस देवरूप शरण (रक्षक) को मुमुक्षु में प्राप्त होता है' । शीनकादि स्मरण करके कहते हैं कि (मधुच्छन्द आदि ऋषियो ने (दासतय्य) दशमण्डलात्मक ऋग्वेद की ऋचाओं को देखा) इसी प्रकार सब वेद में तत्तत् नाम में काण्ड और ऋषि आदि कहे जाने हैं, और श्रुति भी मन्त्रों के ऋषि के ज्ञानपूर्वक ही मन्त्रों से अनुष्ठान दिखलाती है कि (जिस मन्त्र के धारण करने वाले, ऋषि, छन्द, देव, विनियोजक ब्राह्मण का ज्ञान नहीं हो, उस मन्त्र से यदि यज्ञ कराता है वा अध्यापन कराता है, तो स्थावर योनि में प्राप्त होता है वा नरक में जाता है) इस प्रकार आरम्भ करके कहा है कि (ऋषि आदि के ज्ञान बिना उक्त अनर्थ होने के कारण इन ऋषि आदि को प्रत्येक मन्त्र में समझना चाहिए) । और प्राणियों को सुख की प्राप्ति के लिए धर्म की विधि की जाती है दुःख की निवृत्ति के लिए अधर्म का निषेध किया जाता है । एव दृष्ट इमं लोक के सुख दुःख विषयक वा शास्त्र से अनुश्रुत परलोक के सुख-दुःख-विषयक राग और द्वेष होते हैं, इससे विलक्षण विषयक राग-द्वेष नहीं होते हैं, अर्थात् सुख में द्वेष और दुःख में राग नहीं होते हैं, इससे धर्माधर्म के फलस्वरूप आगे होने-वाली सृष्टि पूर्व सृष्टि के सदृश ही सिद्ध होती है । इस अर्थ को कहने वाली स्मृति भी है कि (उन प्राणियों में जो प्राणी जिन कर्मों को पूर्व सृष्टि में प्राप्त किये, वे बार बार उत्पन्न होकर उन्हीं कर्मों को प्राप्त कर सकते हैं, वे ही कर्म करते हैं) । हिंसा-अहिंसा (धातुक-अधातुक) मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य-मिथ्या, कर्मादि को उनकी वासना से युक्त होकर प्राप्त करते हैं, और उस वासना से ही पुण्य पापादि पसन्द होते हैं ।

प्रलीयमानमपि चेद जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते । शक्तिमूलमेव च प्रभवति इतरथाकस्मिकत्वप्रसङ्गात् । नचानेकाकारा शक्तयः शक्या कल्पयितुम् । ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवता भूरादिलोकप्रवाहाणां, देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनामप्रवाहाणां वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ मसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसम्बन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम् । नहीन्द्रियविषयसम्बन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं पठेन्द्रियविषयकत्वं शक्यमुत्प्रेक्षितम् । अतश्च सर्वकल्पानां तुल्यव्यवहारत्वात्कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धा-

नक्षमत्वाच्चेश्वराणां समाननामरूपा एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादिविरोधः । समाननामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ (ऋ० मं० १०।१९०।३) इति ।

यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्कल्पं तथास्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः । तथा 'अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानां स्यामिति, स एवमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्' (तै० ब्रा० ३।१।४।१) इति नक्षत्रेष्टिविधौ योऽग्निर्निरवपद्यस्मै वाग्नये निरवपत्तयोः समाननामरूपतां दर्शयतीत्येवंजातीयका श्रुतिरिहोदाहृतव्या ।

प्रलय में प्रलीन होता हुआ भी यह जगत् संस्कार-वासना नामक शक्ति की अवशेषता (स्थिरता) पूर्वक लीन होता है, फिर शक्तिमूलक ही सृष्टि-काल में उत्पन्न होता है, अन्यथा शक्ति सहित लीन होने पर सृष्टि को आकस्मिकत्व (निहंतुकत्व) की प्राप्ति होगी और कल्पादि के भेद से भी शक्ति रूप प्रकृतियाँ अनेकाकार वाली कल्पता के योग्य नहीं हैं । उससे विच्छिन्न नष्ट हो-हो कर उत्पन्न होने वाले भूरादिलोकों के प्रवाह, और देव, तिर्यक्, मनुष्य रूप प्राणिसमूह के प्रवाह, और वर्ण-आश्रम के धर्म तथा फल की व्यवस्था, इन सबको अनादि संसार में नियतत्व है, इससे जैसे इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध को नियतत्व होता है, वैसे ही इनके नियतत्व को समझना चाहिये । इन्द्रिय और विषय के सम्बन्धादि रूप व्यवहार का हर एक सर्ग में बाह्यपष्ठेन्द्रियविषय के समान अन्यथात्व (भेद) की कल्पना करना शक्य (योग्य) नहीं है । इससे सब कल्पों के तुल्य व्यवहार होने से, और ईश्वरों को कल्पान्तर के व्यवहारों के अनुसंधान में समर्थ होने से समान नाम-रूप वाले ही विशेष (विभक्त कार्य) सब सर्ग में प्रकट होते हैं । समान नाम-रूप के होने से जगत् के महासर्ग-महाप्रलय रूप आवृत्ति को मानने पर भी शब्द के प्रामाण्यादि में कोई विरोध नहीं होता है । सब सर्ग में समान नाम-रूपता को श्रुति और स्मृति दिखलाती हैं (जगत् का धारण करने वाले परमात्मा ने पूर्वसृष्टि के समान ही सूर्य, चन्द्रमा, दिव्यलोक, भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग को उत्पन्न सिद्ध किया) पूर्वकल्प में सूर्य-चन्द्रादि रूप जगत् जैसे क्लृप्त (सिद्ध) था वैसे ही परमेश्वर ने इस कल्प में भी सिद्ध किया, यह श्रुति का अर्थ है । इसी प्रकार (भावी दृष्टि से अग्नि नाम वाला यजमान ने कामना किया कि मैं देवताओं के अन्न को खाने वाला होऊँ । फिर उसने कृत्तिका नक्षत्र के अभिमानी अग्निदेव के लिए आठ कपालों (मृत्पात्रों में) पकाया हुआ पुरोडाश (हवि) का अर्पण किया) यह श्रुति नक्षत्र दृष्टि (योग) विधि में जिस अग्नि ने पुरोडाश का अर्पण किया और

जिसके लिए किया, उन दोनों की समान नाम-रूपना दर्शाती है, इसी प्रकार से अन्य श्रुतियाँ भी यहाँ उदाहृतव्य है ।

स्मृतिरपि—

ऋषीणा नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टय ।

शर्वर्यन्ते प्रसूताना तान्येवेभ्यो ददात्यज ॥

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।

दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥

यथाभिमानिनोऽर्जातास्तुल्यास्ते माम्प्रतैरिह ।

देवा देवेरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥ इत्येवञ्जातीयका द्रष्टव्याः ॥३॥

स्मृति भी है कि (पूर्वकल्प में ऋषियों के जो नाम रहते हैं, वेदविषयक जो दृष्टियाँ ज्ञान रहते हैं प्रलय रूप रात्रि के अन्त में अज परमात्मा उत्पन्न उन ऋषियों के वे ही नाम और दृष्टि उनके लिए देता है) जैसे ऋतुओं के पर्याय आवृत्ति में नाना रूप वाले वेही-वेही ऋतुओं के लिंग चिह्न देखे जाते हैं, वैसे ही युगादि में पदार्थ तुल्य होते हैं । और जो चक्षु आदि के अभिमानी देव व्यनीत हो गये, वह जैसे यहाँ अभी वर्तमान अभिमानी देव के साथ तुल्य नाम-रूप द्वारा थे, वैसे ही उन अतीतों के साथ तुल्यनाम-रूप से युक्त वर्तमान अभिमानी देव हैं) इस प्रकार की अन्य स्मृति भी द्रष्टव्य हैं ॥ ३० ॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकार जैमिनिः ॥३१॥

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञात तत्पर्यावर्त्यते । देवादीनामनधिकार जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? मध्वादिष्वसम्भवात् । ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत । नचैव सम्भवति । कथम् ? 'अमौ वा आदित्यो देवमधु' (छा० ३।१।१) इत्यत्र मनुष्या आदित्य मध्वध्याग्नेनोपासीरन्, देवादिषु ह्युपामकेष्वभ्युपगम्यमानेष्वेवादित्य कमन्यमादित्यमुपासीत । पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य 'वमवो रद्रा आदित्या मस्त साध्याश्च पञ्च देवगणा क्रमेण तत्तदमृतमुपजीवन्ती'त्युपदिश्य 'स य एतदेवममृत वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृत दृष्ट्वा दृष्यति' इत्यादिना वस्वादुपजीव्यान्मृतानि विजानता वस्वादिमहिमप्राप्तिं दर्शयति । वस्वाद-यस्तु कानन्यान्वस्वादीनमृनोपजीविनो विजानीयुः क वान्य वस्वादिमहिमानं प्रेप्सेयुः । तथा 'अग्नि पादो वायु पाद आदित्य पादो दिश पाद' (छा० ३।१।२), 'वायुर्वाव सवर्ग' (छा० ४।३।१) 'आदित्यो ब्राह्मेत्यादेश' (छा० ३।१।१) इत्यादिषु देवतात्मोपासनेषु न तेषामेव देवतात्मनामधिकार

सम्भवति । तथा 'इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोज्यं भरद्वाजः' (वृ० २।२।४) इत्यादिष्वप्यृषिसम्बन्धेऽप्यासनेषु न तेषामेवर्षीणामधिकारः सम्भवति ॥ ३१ ॥

इस ब्रह्मविद्या में देवादि का भी अधिकार है, यह जो प्रथम प्रतिज्ञा की गई है, उसकी पर्यावृत्ति (निवारण) किया जाता है कि जैमिनि आचार्य देव-ऋषि का ज्ञान में अधिकार नहीं मानते हैं, क्योंकि मधु आदि विद्याओं में देव का अधिकार होना असम्भव है । एवं ब्रह्मविद्या में अधिकार मानने पर विद्यात्व की तुल्यता से मधु आदि विद्याओं में भी अधिकार माना जायगा, और ऐसा सम्भव है नहीं, क्योंकि (अन्तरिक्ष में स्थित यह आदित्य देवताओं के मधु है) जिनसे देवताओं का मोद आनन्द के हेतु हैं, इससे आदित्य देव मधु कहा गया है, परन्तु इस आदित्य में मधु का अव्यास करके मनुष्य उपासना कर सकते हैं, देव नहीं कर सकते हैं, क्योंकि देवादि को भी उपासक मानने पर आदित्य देव किस अन्य आदित्य की उपासना करेंगे । फिर भी आदित्य के आश्रित आदित्य में रहने वाले रक्तशुक्लकृष्णादिरूप किरणमय अमृतों के वर्णन का आरम्भ करके, फिर वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत, साव्य ये पञ्चदेवगण उन अमृतों को क्रम से भोगते हैं । इस प्रकार उपदेश करके कहा है कि (वह जो कोई उपासक इस अमृत को इस प्रकार जानता है वह वसु में एक वसु रूप होकर अग्नि की प्रधानता द्वारा अग्नि मुख से अमृत को देखकर तृप्त होता है) इत्यादि रीति से वसु आदि के उपभोग्य रूप अमृतों को जानने वालों को वसु आदि की महिमा की प्राप्ति रूप फलश्रुति दर्शाती है, वहाँ वसु आदि किन अन्य अमृतोपभोगी वसु आदि को जाएंगे, या किन अन्य वसु आदि की महिमा को प्राप्त करना चाहेंगे ? इसी प्रकार आकाश रूप ब्रह्म के (अग्नि पाद भाग है, वायु पाद है, आदित्य पाद है, दिशापाद है, वायु संवर्ग है, आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है) इत्यादि रीति से विहित देवतात्माओं की उपासनाओं में उन देवतात्माओं का अधिकार सम्भव नहीं है । इसी प्रकार गले से ऊपरवर्ती इन्द्रियों का सप्तर्षि रूप से चिन्तन बताया गया है । वहाँ यह दक्षिण कर्ण गोतम है, वाम कर्ण भरद्वाज है, इससे ये दोनों गोतम भरद्वाज है, इत्यादि रीति से वर्णित ऋषि सम्बन्धी उपासनाओं में उन ऋषियों का अधिकार असम्भव है ॥ ३१ ॥

कुतश्च देवादीनामधिकारः—

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

यदिदं ज्योतिर्मण्डलं द्युस्थानमहोरात्राभ्यां वम्भ्रमज्जगदवभासयति तस्मिन्नादित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते लोकप्रसिद्धेर्वाक्यशेषप्रसिद्धेश्च । न च ज्योतिर्मण्डलस्य हृदयादिना विग्रहेण चेतनतयार्थत्वादिना वा योगोऽवगन्तुं शक्यते मृदादिवदचेतनत्वावगमात् । एतेनान्यादयो व्याख्याताः ।

स्यादेतत्—मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकेभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवग-

मादयमदोष इति । नेत्युच्यते । नहि तावत्लोको नाम किञ्चित् स्वतन्त्र प्रमाण-
मस्ति, प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्य प्रमाणेभ्य प्रसिद्धयन्तर्गो लोकात्
प्रसिध्यतीत्युच्यते, न चात्र प्रत्यक्षादीनामन्यतम प्रमाणमस्ति । इतिहासपुराणमपि
पौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरमूलमाकाङ्क्षति । अर्थवादा अपि विधिनेकवाक्यत्वात्
स्तुत्यर्था सन्तो न पार्थग्येन देवादीनां विग्रहादिसङ्कावे कारणभाव प्रतिपद्यन्ते ।
मन्त्रा अपि श्रुत्यादिविनियुक्ता प्रयोगममवायिनोऽभिवानार्था न कस्यचिदर्थस्य
प्रमाणमित्याचक्षते । तन्मादभावो देवादीनामधिकारस्य ॥ ३२ ॥

किस हेतु से देवादि का विद्या में अनुधिकार है ? इस पर कहते हैं—कि आकाश में
रहने वाले दिन रात्रि के भेद में भ्रमने वाला जो यह ज्योतिर्मण्डल (ज्योतिर्मूह) जगत्
को प्रकाशता है, उसी अर्थ में आदित्य आदि देवता वाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं । अर्थात्
ज्योतिर्मण्डल को ही आदित्य, मूर्यं, चन्द्र, शुक्रादि शब्दों से कहा जाता है । वह लोक
प्रसिद्धि और (आदित्य पुरस्तादुदेता पश्चाद्रस्तमेता) सूर्य पूर्वदिशा में उदय होने वाला
पश्चिम में अस्त होने वाला है, इत्यादि वाक्यशेष से समझा जाता है । उस ज्योतिर्मण्डल
का, हृदयादि के साथ, विग्रह (देह) के साथ, चेतनता के साथ, वा आश्रित्वादि के
साथ योग (सम्बन्ध) नहीं माना जा सकता है, न समझा जा सकता है । क्योंकि
मृदादि के समान उसमें अचेतनता का अवगम (ज्ञान) होता है । इसी अचेतनता के
ज्ञान से अग्निवायुभूमि भी ज्ञानानधिकारी व्याख्यात (कथित) हो गये, और अग्नि
आदि शब्द अचेतनवाचिन्वेन व्याख्यात हो गये । यदि कहा जाय कि ये दोस्त पड़नेवाले
ज्योतिर्मण्डल अग्नि आदि अचेतन हो, परन्तु मन्त्र अर्थवादरूप ('वज्रहस्त पुरन्दर'
'सोऽरोदीन्') इत्यादि वाक्यों से तथा अनेक इतिहास, पुराण और लोक से देवादि के
शरीरित्व के ज्ञान होने से यह अचेतनत्वमूलक अधिकार दोष नहीं । वहाँ कहा जाता है
कि यह कहना नहीं बन सकता, क्योंकि लोक नामक तो कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है कि
जिससे देव को शरीरत्वादि मिद हो सकें, किन्तु विशेष विचार रहित प्रत्यक्षादि प्रमाणों
से प्रसिद्ध होता हुआ अर्थ, लोक में प्रसिद्ध है इस प्रकार कहा जाता है । देव सम्बन्धी
शरीर भोग ऐश्वर्यादिविषयक प्रत्यक्षादि में से कोई भी प्रमाण नहीं है, और इतिहास
पुराण भी पुरुष रचित होने से अपनी प्रमाणता के लिए प्रमाणान्तर रूप मूल की
आकाक्षा करते हैं । अर्थवाद में विधि के साथ एकवाक्यता पूर्वक स्तुत्यर्थक होता हुआ
पृथक् अर्थ वाला होकर देवादि के शरीरादि की सत्ता में कारणता को नहीं प्राप्त
कर सकते हैं । श्रुति लिगादि रूप छ प्रमाणों से वर्मों में विनियुक्त (सम्बद्ध) मन्त्र
भी वर्म सम्बन्धी अर्थ को कहने वाले ब्रीहि आदि के समान पदार्थ स्मरण कराने
द्वारा वर्म में प्रत्यक्ष उपकारक है, किसी धर्म के प्रमाण रूप नहीं है' इस प्रकार
मीमांसक कहते हैं । उन विग्रहादि के अभाव से देवादि के अधिकार का अभाव
है ॥ ३२ ॥

भावं तु वादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

‘तु’ शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति । वादरायणस्त्वाचार्यो भावमधिकारस्य देवादीनामपि मन्यते । यद्यपि मध्वादिविद्यासु देवतादिव्यामिश्रास्वसम्भवोऽधिकारस्य, तथाप्यस्ति हि शुद्धायां ब्रह्मविद्यायां सम्भवः, अर्थित्वसामर्थ्याप्रतिषेधाद्यपेक्षत्वादधिकारस्य । न च क्वचिदसम्भव इत्येतावता यत्र सम्भवस्तत्राप्यधिकारोऽप्योद्येत, मनुष्याणामपि न सर्वेषां ब्राह्मणादीनां सर्वेषु राजसूयादिष्वधिकारः सम्भवति । तत्र यो न्यायः सोऽत्रापि भविष्यति । ब्रह्मविद्यां च प्रकृत्य भवति दर्शनं श्रीतं देवाद्यधिकारस्य सूचकम्—‘तद्यो यो देवानां प्रत्यवुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्’ (वृ० १।४।१०) इति, ‘ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो-यमात्मानमन्विष्य सर्वाश्च लोकानान्जोति सर्वाश्च कामान्’ इति, ‘इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्’ (छां० ८।७।२) इत्यादि च । स्मार्तमपि गन्धर्वयाज्ञवल्क्यसंवादादि ।

मूत्रगत ‘तु’ शब्द पूर्वपक्ष को व्यावृत करता है, कि पूर्वपक्ष समाप्त हो गया अब सिद्धान्त कहा जाता है कि वादरायण आचार्य तो देवादि के भी ज्ञानाधिकार का भाव मानते हैं, और कहते हैं कि देवता से व्यामिश्रित (सम्मिलित) मधु आदि विद्या में यद्यपि देवादि के अधिकार का असम्भव है । तथापि शुद्ध ब्रह्मविद्या में उनके अधिकार का सम्भव है, क्योंकि शुद्ध विद्या में अर्थित्व सामर्थ्य और अप्रतिषेधादि की अपेक्षा अधिकार को रहती है अर्थात् अर्थित्वादि से विद्या का अधिकार होता है । कहीं अधिकार का असम्भव भी है, इसी से जहाँ सम्भव है वहाँ अधिकार निवारित (निषिद्ध) नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्राह्मणादि सब मनुष्यों को भी राजसूयादि सब कर्मों में अधिकार नहीं सम्भव होता है, वहाँ उन ब्राह्मणादिकों में अधिकार के लिए जो न्याय (उचित) है, वह देवाधिकार के लिए भी होगा और ब्रह्मविद्या के प्रकरण में श्रीत दर्शन—श्रुति सम्बन्धी दृष्टि है कि (देवताओं में जिस जिस उस ब्रह्म को प्रत्यगात्मा समझा वह तद्रूप ही हो गया, वैसे ही ऋषियों में और मनुष्यों में ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप हुआ) । वे देव परस्पर विचार कर बोले कि हम सब इस समय उस आत्मा का अन्वे-
षण करें कि जिसका अन्वेषण (खोज) करके सब लोक और सब काम को प्राप्त करता है । उसके बाद (देवताओं का राजा इन्द्र और अमुरों का राजा विरोचन विद्याप्रद प्रजापति के पास में गये) इत्यादि वचन देवाधिकार का दर्शन (लिंग) रूप हैं । गन्धर्व और याज्ञवल्क्य के संवादादि रूप स्मृतियाँ भी इस अर्थ में प्रमाण हैं ।

यदप्युक्तं—ज्योतिषि भावाच्च—इति । अत्र ब्रूमः—ज्योतिरादिविषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाश्चेतनावन्तमैश्वर्याद्युपेतं त तं देवतात्मानं सम-
र्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा व्यवहारात् । अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाद्देवतानां ज्योति-
राद्यात्मभिश्चावस्थातुं यथेष्टं च तं तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम् । तथाहि श्रूयते

सुत्रह्यण्यार्थवादे-मेधानियेमेंपेति, 'मेधातिथि ह काण्वायनमिन्द्रो मेघो भूत्वा जहार' (पड्विंश० ब्रा० ११) इति । स्मर्यते च—'आदित्य पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति । मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते—'मृद-
ब्रवीदापोऽब्रुवन्' इत्यादिदर्शनात् । ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरदित्यादिवचन-
त्वमभ्युपगम्यते, चेतनास्त्वधिष्ठातारो देवतात्मानो मन्त्रार्थवादादिषु व्यवहारा-
दित्युक्तम् । यदप्युक्त—मन्त्रार्थवादयोरन्यार्थत्वान्न देवताविग्रहादिप्रकाशनमा-
र्थम्—इति । अत्र ब्रूम—प्रत्ययाप्रत्ययी हि सद्भावात्सद्भावयो कारण, नान्यार्थ-
त्वमन्यार्थत्व वा । तथाह्यन्यार्थमपि प्रस्थितः पथि पतित तृणपर्णादिस्तीत्येव
प्रतिपद्यते । अत्राह—विषम उपन्यास, तत्र हि तृणपर्णादिविषय प्रत्यक्ष प्रवृत्त
मस्ति येन तद्वस्तित्व प्रतिपद्यते । अत्र पुनर्विध्युद्देशैकवाक्यभावेन स्तुत्यर्थेऽथवादे
न पार्थगर्थ्येन वृत्तान्तविषया प्रवृत्ति शक्याऽध्यवसातुम् । नहि महावाक्येऽर्थ-
प्रत्यायकेऽजान्तरवाक्यस्य पृथक्प्रत्यायकत्वमस्ति । यथा 'न सुरा पिबेत्' इति
नञ्वति वाक्ये पदत्रयमम्बन्धात्सुगपानप्रतिषेध एवैकोऽर्थोऽवगम्यते, न पुन सुरा
पिबेदिति पदद्वयमम्बन्धात्सुगपानविधिरपीति ।

जो यह कहा है कि 'ज्योतिषि भावाच्च' ज्योति में देव शब्द का प्रयोग होना है,
यहाँ कहते हैं कि देवता वाचक आदित्यादि शब्द ज्योति आदि विषयक होने हुए भी
चेतना वाले ऐश्वर्यादियुक्त तत्त्व देवतात्मा का बोध कराने हैं, क्योंकि मन्त्र अर्थवादादि
में उस चेतनत्व रूप से व्यवहार है (कथन है) और देवताओं को ऐश्वर्य के सम्बन्ध
से ज्योति आदि रूप से स्थिति के लिए, तथा यथेष्ट तत्त्व शरीर को ग्रहण करने के
लिए सामर्थ्य है । क्योंकि वैसा ही शरीरी रूप का व्यवहार सुत्रह्यण्य (उद्गानृगणस्य
ऋत्विक्) के अर्थवाद में मुना जाता है कि (इन्द्र ने मेघ होकर कण्व के पुत्र मेधातिथि
का हरण किया) इससे उक्त अर्थवाद में (मेधातिथि का मेघ) ऐसा सम्बोधन इन्द्र
विषयक है । एव स्मृति में मुना जाता है कि (आदित्य पुरुष होकर कुन्ती के पास
गया) और मृदादि (भूमि आदि) में भी चेतन अधिष्ठाता माने जाते हैं क्योंकि
(मृत्तिका बोली, जल बोला) इत्यादि वचन देखा जाता है, इससे मृत्तिकादि के समान
आदित्यादि को सर्वथा जड़ कहना नहीं बन सकता है, और आदित्यादि में ज्योति आदि
रूप भूतात्मक पदार्थों को तो अचेतनत्व माना ही जाता है, किन्तु मन्त्र अर्थवादादि में
चेतन रूप से व्यवहार से उन भूतात्माओं के अधिष्ठाता देवतात्मा चेतन हैं, यह कहा
गया है । जो यह कहा था कि मन्त्र और अर्थवाद अन्य प्रयोजन के लिए हैं, इससे
देवता के विग्रह (शरीर) आदि के प्रकाशन (बोध कराने) में उनका सामर्थ्य नहीं
है । यहाँ कहते हैं कि पदार्थ के ज्ञान और अज्ञान पदार्थ की सत्ता असत्ता का कारण है,
वचन के अन्यार्थत्व वा अनयार्थत्व किमी का कारण नहीं है, जसे कि अय प्रयोजन
के लिए चला हुआ मनुष्य भी माग पतित तृणपर्णादि को 'है' ऐसा समझता

है, वैसे ही अन्य प्रयोजन के लिए उच्चांगित मन्त्र अर्थवाद से प्रतीत होने वाले अर्थ हैं ऐसे समझे जायेंगे । यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि मन्त्रार्थादि का तृणपर्णादि रूप दृष्टान्त विषय है, क्योंकि दृष्टान्त में तो तृणपर्णादि विषयक प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त होता है कि जिससे तृणपर्णादि की सत्ता ज्ञात होती है, और यहाँ दार्ष्टान्तिक में तो विधि वाक्य के साथ एकवाक्यता रूप से स्तुत्यर्थक अर्थवाद में पृथक् अर्थ के प्रतिपादक रूप से सिद्ध वृत्तान्त भूतार्थ विग्रहादि विषयक वाक्य की प्रवृत्ति का निश्चय नहीं कर सकते हैं । जैसे कि (न मुरां पियेत्) मदिग न पिये, इस न-युक्त वाक्य में तीनों पद के सम्बन्ध से मुरापान का निषेध रूप एक ही अर्थ प्रतीत होता है, और 'न' रहित दो पद के संबंध से (मुरा पिये) इस प्रकार मुरापान की विधि भी नहीं प्रतीत होती है, वैसे अर्थवाद में स्तुत्यर्थ के बाद भूतार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती ।

अत्रोच्यते-विषम उपन्यासः । युक्त यत्पुरापानप्रतिपन्धे पदान्वयस्यैकत्वाद-
वान्तरवाक्यार्थस्याग्रहणम्, विध्युद्देशार्थवादयोस्त्वर्थवादस्थानि पदानि पृथगन्वयं
वृत्तान्तविषयं प्रतिपद्यान्तरं कैमर्थ्यवशेन कामं विधेः स्तावकत्वं प्रतिपद्यन्ते ।
यथाहि-‘वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः’ इत्यत्र विध्युद्देशवर्तिनां वायव्यादि-
पदानां विधिना सम्बन्धः नैवं ‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेये-
नोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति’ इत्येवमर्थवादगतानां पदानाम् । नहि भवति
वायुर्वा आलभेतेति क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेतेत्यादि । वायुस्वभावसङ्कीर्तनेन
त्ववान्तरमन्वयं प्रतिपद्यैवंशिष्टदैवत्यमिदं कर्मेति विधिं स्तुवन्ति । तद्यत्र सोऽवा-
न्तरवाक्यार्थः प्रमाणान्तरगोचरो भवति तत्र तदनुवादेनार्थवादः प्रवर्तते यत्र
प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन । यत्र तु तदुभयं नास्ति तत्र किं प्रमाणान्तरा-
भावाद् गुणवादः स्यादाहोस्वित् प्रमाणान्तराविरोधाद्विद्यमानार्थवाद इति प्रतीति-
गरणैर्विद्यमानवाद आशयणीयो न गुणवादः । एतेन मन्त्रो व्याख्यातः । अपिच
विधिभिरेवेन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिरपेक्षितमिन्द्रादीनां स्वरूपम्, नहि
स्वरूपरहिता इन्द्रादयश्चेतस्यारोपयितुं शक्यन्ते । नच चेतस्यनारुढायै तस्यै
तस्यै देवतार्थं हविः प्रदातुं शक्यते । श्रावयति च-‘यस्य देवतार्थं हविर्गृहीतं
स्यात्तां ध्यायेद्वपद्करिष्यन्’ (ऐ० ब्रा० ३।८।१) इति । नच शब्दमात्रमर्थ-
स्वरूपं सम्भवति, शब्दार्थयोर्भेदाद्, तत्र यादृशं मन्त्रार्थवादयोरिन्द्रादीनां स्वरूप-
मवगतं न तत्तादृशं शब्दप्रमाणकेन प्रत्याख्यातुं युक्तम् । इतिहासपुराणमपि
व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साध-
यितुम् । प्रत्यक्षादिमूलमपि सम्भवति । भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्त-
नानां प्रत्यक्षम् । तथाच व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते ।
यस्तु ब्रूयादिदानान्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति,
स जगद्वैचित्र्यं प्रनिषेधेत् । इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति

ब्रूयान् । ततश्च राजसूयादिचोदनोपस्त्व्यात् । उदानीमिव च काशान्तरेऽप्यव्य-
वस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थक
स्यात्, तस्माद्धर्मोत्कर्षशास्त्रचिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्ष व्यवजह्नुमिति
श्लिष्यते । अपिच स्मरन्ति—स्वाध्यायादिष्टदेवताप्रयोग' (यो० मू० २।४४)
इत्यादि । योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफल स्मर्यमाणो न अवयते साहसमात्रेण
प्रत्यास्यानुम् ।

यहाँ सिद्धान्ती कहते हैं कि अर्थवाद वाक्य का 'न मुरा पिवेत्' यह वाक्य
द्वयान्त विषय है । क्योंकि एकवाक्यता दो प्रकार की होती है, एक तो पदैकवाक्यता
होती है, दूसरी वाक्यैकवाक्यता । जहाँ एकवाक्यगत अनेक पद रहते हैं,
उनका एक बार जो परस्पर अन्वय होता है, उसको पदैकवाक्यता कहते हैं, और
जहाँ दो वाक्य अलग-अलग पदैकवाक्यता को प्राप्त होकर फिर दोनों एकवाक्यता
को प्राप्त होते हैं उसको वाक्यैकवाक्यता कहते हैं । यहाँ (मुरा न पिवेत्) जो सुगपान
का प्रतिषेध है, वह पदैकवाक्यता से पदों का सम्बन्ध एक है, इससे (मुरा पिवेत्)
सुरा पिवे इस प्रकार अवान्तर वाक्यार्थ (मध्यगत भिन्न वाक्यार्थ) का अग्रहण होता
ही युक्त है । विधिवाक्य अर्थवाद में जो अर्थवाद में स्थित पद है, वह भूतार्थ
विषयक पृथक् सम्बन्ध को प्राप्त होकर किमर्थता के वश में अर्थात् इस वाक्य में
फलादि के अग्रवर्णादि से ये स्तुति आदि वाक्य किसके लिए हैं, ऐसी आज्ञाशा के वश
से अर्थविधि के स्वावक्य को प्राप्त होते हैं । जैसे कि (विमृति की इच्छावाला
श्वेत पशु का वायु के लिए अप्रण करे) इस स्थान में विधिवाक्य में स्थिर वायव्यादि
पदों का विधि के साथ सम्बन्ध होता है, इस प्रकार अर्थवाद गत पदों का विधि के
साथ अन्वय नहीं होता है । अर्थवाद है कि (वायु निश्चय शीतगामिनी देवता है, जो
कोई उस वायु के अपने भाग द्वारा उसको वृष करता है, उसको वह वायु विमृति
प्राप्त करता है ।) यहाँ ऐसा सम्बन्ध नहीं होता है कि वायुरालम्बे, वा क्षीपिष्ठा देवता
आलम्बे, इत्यादि । अर्थात् अर्थवाद की विधि के साथ पदैकवाक्यता नहीं होती है,
किन्तु वायु के स्वभाव के सवीर्तन द्वारा अवान्तर अन्वय को प्राप्त होकर, इस प्रकार
के श्रेष्ठ देववाला यह कर्म है, इसमें श्रेष्ठ है इस प्रकार विधि की स्तुति अर्थवाद करते
हैं । उन अर्थवादों में जहाँ वह अवान्तर वाक्यार्थ प्रमाणान्तर का विषय रहता है,
वहाँ उस प्रमाणान्तर सिद्ध का अनुवाद द्वारा अर्थवाद प्रवृत्त होता है, जैसे कि
(अग्निहिंस्य भेषजम्) अग्नि उष्ट्री को निवृत्त करनेवाली है, यह वाक्य है, और
जहाँ प्रमाणान्तर से विरुद्ध अर्थ रहता है वहाँ गुणवाद में अर्थवाद प्रवृत्त होता है,
जैसे कि (आदित्यो यूष) यज्ञस्मन् सूर्य है, यहाँ तेजस्विन्व गुणमात्र में तात्पर्य है ।
और जहाँ ये दोनों प्रकार नहीं हैं, वहाँ इन्द्र, वरुणादि के वर्णरूप अर्थवाद प्रमाणान्तर
के अभाव में क्या गुणवाद होंगे, अथवा प्रमाणान्तर में अविरोधना के कारण

विद्यमानार्थवाद होंगे। इस प्रकार विचार कर प्रतीतिरूप शरणवाले विचारशोलों को विद्यमानार्थवाद का आश्रयण करना चाहिए, गुणवाद का नहीं, इसी से मन्त्र भी व्याख्यात हो गये, अर्थात् मन्त्रार्थ में जहाँ प्रमाणान्तर से विरोधादि नहीं हैं, वहाँ मन्त्र भी विद्यमान अर्थ को कहने वाले हैं इत्यादि। दूसरी बात है कि इन्द्रादि देव के अभाव मानने पर देवसम्बन्धी किसी कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि इन्द्रादि देवसम्बन्धी हविषों के विधान करनेवाली विधियोंको इन्द्रादि के स्वरूप अपेक्षित हैं, जिससे स्वरूप रहित इन्द्रादि देव चित्त में ध्यान धारण योग्य नहीं हो सकते हैं, और चित्त में आरुढ़ हुए विना तत्तत् देवताओं के लिए हविष का प्रदान नहीं कर सकते। श्रुति सुनाती है कि (जिस देवता के लिङ्ग हविगृहीत हों वपट् करने से प्रथम उस देव का ध्यान करे।) यदि कोई कहे कि विधि को अपेक्षित हो तो देव का स्वरूप माना जाय परन्तु विधि को देवस्वरूप की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि शब्दात्मक ही देव है। वहाँ कहा जाता है कि शब्दमात्र अर्थ का स्वरूप सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ का भेद है। इस प्रकार देवस्वरूप के अपेक्षित होने पर मन्त्र और अर्थवाद में इन्द्रादि का जैसा स्वरूप अवगत (ज्ञात) हुआ है, वह वैसा है, इसलिए शब्दप्रमाणवादी से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। एवं इतिहास-पुराण भी मन्त्र और अर्थवाद मूलक होने से व्याख्यात मार्ग से प्रमाणरूप होते हुए देवादि के विग्रहादि को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं, और प्रत्यक्षमूलक भी देव शरीरादि की सिद्धि का सम्भव है। क्योंकि हमलोगों के अप्रत्यक्ष भी पदार्थ चिरन्तन-प्राचीनों को प्रत्यक्ष होता है। जैसे कि स्मृति है कि व्यासादि देवताओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। जो कोई कहेगा कि वर्तमान मनुष्यों के समान पूर्व के लोगों को भी देवादि के साथ व्यवहार करने का सामर्थ्य नहीं था, वह जगत् की विचित्रता का भी निषेध करेगा। इस समय के समान अन्य काल में भी सार्वभौम (चक्रवर्ती) क्षत्रिय नहीं थे ऐसा भी वह कहेगा। तब तो राजसूयादि की विधि निराकृत हो जायगी। वह वर्तमान काल के समान कालान्तर में भी वर्णाश्रम धर्म को प्रायः अव्यवस्थित मानेगा, तब तो व्यवस्था-विधायक शास्त्र अनर्थक होगा। जिससे धर्मोत्कर्षवश (वल) से चिरन्तन लोग देवादि के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे यही मानना संगत है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि (स्वाध्याय वेदाध्ययन मन्त्र जप परायण होने से इष्टदेव का दर्शन संभाषणादि सम्बन्ध होता है) इत्यादि। अणिमा, गरिमा आदि रूप ऐश्वर्य की प्राप्ति रूप फल वाला योग भी योगस्मृति में स्मृत है तो साहस (धृष्टता) मात्र से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है।

श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति—

“पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगोऽग्निमयं शरीरम्॥” (श्वे० २।

१२) इति । ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शना सामर्थ्येनात्मदीयेन सामर्थ्येनोपमानु युक्तम् । तस्मात्समूलमितिहासपुराणम् । लोकप्रसिद्धिरपि न सति सभवे निरालम्बनाध्यवसायं युक्ता, तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीना विग्रहवत्त्वाद्यवगम । ततश्चार्थित्वादिसम्भवादुपपन्नो देवादीनार्माप ब्रह्मविद्यायामधिकारः । क्रममुक्तिदर्शनान्यप्येवमेवोपपद्यन्ते ॥ ३३ ॥

श्रुति भी योग की महिमा को प्रख्यात करती कहती है कि (शरीर में स्थिर जो पृथिवी आदि पांच भूतों के भाग है, उन्हें धारणाओं में समुत्थित-विजित होने पर, और अणिमादि रूप योगगुण के प्रवृत्त-प्राप्त होने पर, योगान्मिमय शरीर का प्राप्त योगी को रोग, जरा, मृत्यु नहीं प्राप्त होते हैं । योगयुक्त मन्त्र ब्राह्मण के द्रष्टा ऋषि के सामर्थ्य को अपने सामर्थ्य के तुल्य समझना युक्त नहीं है जिससे इतिहास, पुराण समूल हैं, इससे प्रमाण है । एव लोक प्रसिद्धि भी श्रुति आदि मूल के सम्भव हो सकने से निराश्रय के योग्य नहीं है । इससे मन्त्रादि द्वारा देवादि के भी शरीरित्वादि का ज्ञान सिद्ध है, और उस शरीरित्वादि से अर्थित्वादि के सम्भव होने से देवादि को भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है । इस प्रकार ब्रह्मविद्या में देवादि का अधिकार होने ही पर क्रममुक्ति विषयक दर्शन (उपासनादि के उपदेशात्मक श्रुतियाँ) उपपन्न (युक्त) हो सकती हैं । अन्यथा देव को ज्ञान के अभाव से क्रममुक्ति नहीं सिद्ध हो सकेगी ॥ ३३ ॥

अपशूद्राधिकरण (९)

शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि ।
अत्रैकवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान् ।
देवा स्वयभातवेदा शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् ।
नाधिकारी श्रुतीस्मार्ते त्वधिकारो न वायते ॥

शुगस्पेत्यादि सूत्र में शुक्-अस्य-तदनादरथवणात् तदाद्रवणात्-सूच्यते-हि छ पद हैं । सक्षिप्तार्थ है कि (तस्य जानश्रुतेस्तस्य हसस्यानादरथवणात्-शुग् (शोक) उत्पन्ना तथा शुचा च रैव प्रति तस्य जानश्रुतेर्गमनात्तद्वैक्वेन शूद्रशब्देन सूच्यते नतु तस्य शूद्रत्वाच्छूद्र उच्यते-) इस जानश्रुति को उस हस के अनादर वचन के सुनने से शोक हुआ, और उस शोक ही से उसका रैव ऋषि के प्रति गमन हुआ सर्वज्ञ ऋषि ने उस शोक को समझाने के लिये उसे शूद्रशब्द से कहा, शूद्र होने से नहीं । यहाँ छांदोग्य श्रुति की ऐसी कथा है कि जानश्रुति राजा ने ऋषियों की ब्रह्म सेवा की जिससे प्रसन्न होकर उसे ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त कराने के लिये हसरूप होकर रात्रि के समय उसके पास गये जहाँ वह छत पर सोया था । वहाँ उस हस पक्षि में अगले हस को पिछले हस ने कहा कि इस तेजस्वी राजा के पास में नहीं जाओ, यह तेज से जला देगा । अगले हस ने कहा कि क्या इस समान मनुष्य को सपुष्पा, गाड़ीसहित रहनेवाला रैव के समान कहते हो, इस प्रकार अपनी समान मनुष्यता आदि को गुनकर उसको शोक हुआ,

फिर सूत द्वारा रैव का पता लगाकर छः सी गौ हार, रथ लेकर उपदेश लेने के लिये गया ऋषि ने उतने में सन्तुष्ट नहीं होने के कारण उपदेश नहीं दिया । राजा ने समझा कि ये विधुर हैं विवाह करना चाहते हैं, जिससे लड़की अर्पण किया और वे विद्या का उपदेश दिये इत्यादि । वेदविद्या में शूद्र अधिकारी होता है, अथवा नहीं ? ऐसा संदेह होने पर पूर्वपक्ष है कि तीन वर्ण से भिन्न देवादि जैसे अधिकारी होते हैं, वैसे ही शूद्र भी अधिकारी है । उत्तर पक्ष है कि देव स्वयं भाषित वेदवाले होते हैं, इससे ज्ञान के अधिकारी होते हैं । किंतु वेदाध्ययन का शूद्र में अभाव रहता है अतः श्रुति में शूद्र अनधिकारी है, स्मृति में अनधिकार का वारण नहीं किया जाता है ॥ १-२ ॥

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

यथा मनुष्याधिकारनियममपोद्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यते । तत्र शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादिति तावत् प्राप्तम्, अथित्वसामर्थ्ययोः सम्भवात्, 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकल्लः' (तै० सं० ७।१।१।६) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवकल्लः' इति च निषेधाश्रवणात् । यच्च कर्मस्वनधिकारकारणं शूद्रस्यानग्नित्वं न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकं लिङ्गम् । न ह्याहवनीयादिरहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते । भवति च लिङ्गं शूद्राधिकारस्योपोद्वलकम्, संवर्गविद्यायां हि जानश्रुति पौत्रायणं शूश्रूषुं शूद्रशब्देन परामृशति—'अहं हारेत्वा शूद्रं तवैव सह गोभिरस्तु' (छां० ४।२।३) इति । विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विशिष्टविज्ञानसम्पन्नाः स्मर्यन्ते । तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्विति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात् । अधोतवेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते । न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य । उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात् । यत्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्येऽधिकारकारणं भवति । सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति । शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्योपेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात् । यच्चेदं—'शूद्रो यज्ञेऽनवकल्लः'—इति तन्न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवकल्लसत्वं द्योतयति, न्यायस्य साधारणत्वात् । यत्पुनः संवर्गविद्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तल्लिङ्गं, न्यायाभावात् । न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति, न चात्र न्यायोऽस्ति । कामं चायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्, तद्विषयत्वात्, न सर्वासु विद्यासु, अर्थवादस्थत्वात् न क्वचिदप्ययं शूद्रमधिकतुमुत्सहते । शक्यते चायं शूद्रशब्दोऽधिकृतविषये योजयितुम् । कथमित्युच्यते—'कम्बर एनमेतत्सन्तं सयुग्मानमिव रैवमात्थ' (छां० ४।१।३) इत्यस्माद्धंसाव्यादात्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पेदे, तामृषी रैकः शूद्रशब्देनानेन सूचयांवभूवात्मनः परोक्षज्ञानताख्यापनायेति

गम्यते, जातिशूद्रस्यानधिकारात् । कथं पुनः शूद्रशब्देन शुश्रूषणा सूच्यते इति ? उच्यते—तदाद्रवणात्, शुचमभिदुद्राव शुचा वाभिदुद्रावे शुचा वा रेक्वमभिदुद्रावेति शूद्र, अवयवार्थमम्भवादूक्त्यर्थस्य चामम्भवात् । दृश्यते चायमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ॥ ३४ ॥

जन्मे मनुष्य मान को वेदमूलक विद्या में अधिकार है, इस नियम को हटा कर देवादि का विद्या में अधिकार कहा है । इसी प्रकार द्विजाति के अधिकार के नियम को हटा कर, शूद्र का भी विद्या में अधिकार होना चाहिए, इस आशंका को निवृत्ति के लिए इस अधिकरण का आरम्भ किया जाता है । वहाँ शूद्र का भी अधिकार होना चाहिए इस प्रकार प्रथम प्राप्त होता है, क्योंकि शूद्र में भी अर्थित्व और सामर्थ्य का सम्भव है । (तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकलृप्त) आहित अग्नि न होने के कारण शूद्र यज्ञ में असमर्थ है । इस वचन के समान शूद्र विद्या में असमर्थ है, इस प्रकार का निषेध नहीं सुना गया है । और जो शूद्र को वैदिक कर्म में अनधिकार का कारण आहित अग्नि-रहितता है, वह विद्या में अधिकार का बाधक लिंग नहीं है । क्योंकि आहवनीय आदि अग्नि रहित से विद्या नहीं समझी जा सके, यह बात नहीं है । एव शूद्र का भी विद्या में अधिकार सिद्ध करने वाला लिंग (हेतु) है । क्योंकि सर्वांग विद्या में श्रवणेच्छुक पोषायण जानश्रुति को रेक्व ऋषि ने शूद्र शब्द से परामर्श (सम्बोधन) किया है कि (हे शूद्र ! हार और गोओ के सहित इत्वा (रथ) तेरे ही रहें) और शूद्रयोनि में होने वाले विदुर आदि भी विशिष्ट विज्ञान सम्पन्न कहे जाते हैं, जिनमें शूद्र भी विद्या में अधिकारी होता है । ऐसा पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि शूद्र को वेद मूलक विद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि उसको वेद के अध्ययन का अभाव है । तथा जो वेद को विधिपूर्वक पढ़ा हो, सामान्य रूप से वेदार्थ को जानता है, वही वेदार्थ के विचारादि में अधिकारी होता है, और शूद्र को वेदों का अध्ययन नहीं है, क्योंकि वेद का अध्ययन उपनयन संस्कारपूर्वक होता है । उपनयन तीन वर्ण विषयक ही विहित है । (जन्मे—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयोत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्) और जो अर्थित्व (इच्छा) है, वह भी सामर्थ्य के नहो रहने पर अधिकार का कारण नहीं होता है शास्त्र मन्वन्धी अर्थ में केवल लौकिक सामर्थ्य भी अधिकार का कारण नहीं होता है, किन्तु शास्त्रीय अर्थ में शास्त्रीय सामर्थ्य की अपेक्षा होती है और अध्ययन के निराकरण से ही शूद्र में शास्त्रीय सामर्थ्य निराकृत हो गया है । जो यह शूद्र को यज्ञ में असमर्थ कहा गया है, वह अध्ययनादि न्यायपूर्वक होने से विद्या में भी असमर्थत्व का द्योतन (प्रकाश) करता है, क्योंकि न्याय साधारण है, इसमें यज्ञ शब्द वेदार्थ मात्र का बोधक है । और जो सर्वांग विद्या में शूद्र शब्द के श्रवण को शूद्र के अधिकार में लिंग मानते हो, सो न्याय के धर्मात् से लिंग नहीं है । क्योंकि न्याय से कथित अर्थ में लिङ्ग का दर्शन उस अर्थ का द्योतक होता है,

यहां न्याय नहीं है। एवं लिंग को भानने पर निपादस्थपति न्याय से यह शूद्र शब्द एक संवर्ग विद्या में शूद्र के अधिकार को यथेष्ट सिद्ध कर सकेगा, क्योंकि संवर्ग विषयक वाक्य में शूद्र का प्रयोग है, सब विद्याओं में अधिकार को नहीं सिद्ध करेगा। और निपाद शब्द के विधि में श्रवण से वह अधिकार का माधक होता है, और यहाँ शूद्रपद के अर्थवाद में श्रवण से यह शूद्र पद किसी शूद्र को कहीं अधिकार में नियुक्त नहीं कर सकता। यह शूद्र शब्द विद्या में अधिकृत विषय में भी नियुक्त किया जा सकता है, कैसे किया जा सकता है ? इसका समाधान किया जाता है कि (शकट युक्त रैक्व के तुल्य किस वराक अज्ञ इस मनुष्य के विषय में यह वचन कह रहे हो) रैक्व का महान् तेज है, इसका कहाँ तेज है। इस प्रकार के हंस के वचन के श्रवण से पीत्रायण जानश्रुति को शोक उत्पन्न हुआ, उस शोक को रैक्व ऋषि ने इस शूद्र शब्द से सूचन किया, सो अपनी परोक्षज्ञता को जनाने के लिए किया, यह यहाँ अवगत (ज्ञात) होता है। क्योंकि जन्मशूद्र का अनधिकार है, जिज्ञासा हुई कि शूद्र शब्द से प्रथम उत्पन्न शोक कैसे सूचित किया गया ? शूद्र शब्द में कोई शोकार्थक वर्ण तो नहीं है, न शूद्र शब्द शोकवाचक है, तब कहा जाता है कि तदाद्रवणात्, उस शोक को प्राप्त हुआ, वा शोक से प्राप्त (ग्रसित) हुआ, वा शोक से रैक्व के पास में गया इस अर्थ में योगव्युत्पत्ति से शोक सूचित होता है रुढ़ि वृत्ति से नहीं। क्योंकि अवयवार्थ का ही यहाँ सम्भव है, रुढ़ि अर्थ का नहीं। यही अर्थ इस आख्यायिका में दीखता है ॥ ३४ ॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः, यत्कारणं प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्व-
मस्योत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराल्लिङ्गादगम्यते।
उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथिरभिप्रतारिणः क्षत्रियः संकीर्त्यते—‘अथ
ह शानकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनि सूदेन परिविष्यमाणो ब्रह्मचारी
विभिक्षे’ (छां० ४।३।५) इति। चैत्ररथित्वं चाभिप्रतारिणः कापेययोगादव-
गन्तव्यम्, कापेययोगो हि चित्ररथस्यावगतः ‘एतेन वै चैत्ररथं कापेया अया-
जयन्’ (ताण्ड्य ब्रा० २०।१२।५) इति। समानान्वयाच्च, प्रायेण समानान्वया
याजका भवन्ति। ‘तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत’ इति च क्षत्रपति-
त्वावगमात् क्षत्रियत्वमस्यावगन्तव्यम्। तेन क्षत्रियेणाभिप्रतारिणा सह समानायां
विद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति। समानानामेव हि प्रायेण
समभिव्याहारा भवन्ति। क्षत्तुप्रेक्षणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः
अतो न जातिशूद्रस्याधिकारः ॥ ३५ ॥

वक्ष्यमाण हेतु से भी जानश्रुति जन्म शूद्र नहीं था, जिस कारण से प्रकरण के देखने से और आगे चैत्ररथ अभिप्रतारी क्षत्रिय के साथ अव्ययन कथन रूप लिंग से

इस जान-श्रुति को क्षत्रियत्व समझा जाता है । आगे सवर्ग विद्या के वाक्य शेष में चौत्र-रथि अभिप्रतारी क्षत्रिय का कथन है कि (शुनक के पुत्र कापेय और कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी राजा को भोजन के लिए रमोई जब परोसी जाती थी, अर्थात् महारो पारस करता था, तब एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा की याचना की) । अभिप्रतारी के चौत्ररथित्व को कापेय के सम्बन्ध से समझना चाहिये (इस द्विरात्र के द्वारा कापेयों ने चौत्ररथ से यज्ञ करवाया) इत्यादि से चौत्ररथ को कापेय से सम्बन्ध ज्ञात होता है । और प्रायः समान वश वाली के समान वश वाले याजक (ऋत्विक् पुरोहित) होते हैं (उस चौत्ररथ से चौत्ररथि नाम वाला एक क्षत्रपति जन्मा) इस कथन से क्षत्रपतित्व के ज्ञान से उनके क्षत्रियत्व को भी समझना चाहिये । उस क्षत्रिय अभिप्रतारी के साथ एक विद्या में जान-श्रुति का भी सकीर्तन जान-श्रुति के क्षत्रियत्व का सूचन करता है । क्योंकि समान पुरुष का ही प्रायः साथ कथन अध्ययन होते हैं और रंक्व का अन्वेपण के लिए मारथी की प्रेरणा आदि ऐश्वर्य के सम्बन्ध से भी जान-श्रुति के क्षत्रियत्व का ज्ञान होता है । इससे शूद्र जाति का विद्या में अधिकार नहीं है ॥ ३५ ॥

सस्कारपरामर्शात्तद्भावामिलापान्च ॥ ३६ ॥

इतद्वच न शूद्रस्याधिकार यदिद्याप्रदेशोपनयनादयः सस्कारा परामृश्यन्ते-
'त होपनिन्ये' (श० ब्रा० ११।५।३।१३) 'अवीहि भगव इति होपसमाद' (छा० ७।१।१) 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा पर ब्रह्मान्वेपमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति'
'ते ह समित्पाणयो भगवन्त पिप्पलादमुपमन्ता' (प्र० १।१) इति च, 'तान्हा-
नुपनीयैव' (छा० ५।११।७) इत्यपि प्रदर्शितेवोपनयनप्राप्तिर्भवति । शूद्रस्य च
मस्काराभावोऽभिलप्यते, 'शूद्रश्चतुर्यो वर्ण एकजाति' (मनु० १०४) इत्येक-
जातित्वस्मरणात्, 'न शूद्रे पातक किञ्चिन्न च सस्कारमर्हति' (मनु० १०।१२।६)
इत्यादिभिश्च ॥ ३६ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी शूद्र का अधिकार नहीं है कि जिससे विद्या के उपदेशादि के स्थानों में उपनयनादि सस्कार परामृष्ट (कथित-विचारित) होते हैं कि (आचार्य ने शिष्य का उपनयनात्मक सस्कार किया) विद्यार्थी नारद भी मन्त्रा का उच्चारण करते हुए सनत्कुमार जी के पास गये और कहा कि हे भगवान् (उपदेश दो) (वेदाध्ययन परगण सगुण ब्रह्मनिष्ठ निर्गुण परब्रह्म के अन्वेपण में लगे हुए भरद्वाजादि छ ऋषि, यह पिप्पलाद हमारे जिज्ञासा के विषय सब वस्तु को कहेंगे, ऐसा निदधय करके वे लोग हाथ में लकड़ी लेते हुए भगवान् पिप्पलाद के शरण में प्राप्त हुए) और (उन औप-मन्यवादि ब्राह्मणों को अश्वपति राजा ने उपनयन किए बिना विद्या पढायी) यह कथन भी उपनयन की प्राप्ति दिखलाता ही है । और शूद्र के सस्कार का अभाव कहा जाता है कि (शूद्र चौथा वर्ण एक जन्म वाला है) इस प्रकार उपनयन सस्कार रहित होने से

शूद्र एक जाति कहा है। शूद्र में संस्कृत पुरुषों के कर्तव्य नित्य कर्मादि के अना-
चरण जन्य कुछ भी पाप नहीं लगता है, क्योंकि वह उन कर्मों के हेतु संस्कार के योग्य
नहीं है, संस्कार योग्य को संस्कार के विना और संस्कृत को उचित कर्म के त्याग से
दोष का भागी होना पड़ता है इत्यादि ॥ ३६ ॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः । यत्सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जावालं
गीतमः उपनेतुमनुशासितुं च प्रवृत्ते 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं
सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' (छां० ४ ४।५) इति श्रुतिलिङ्गात् ॥ ३७ ॥

इससे भी शूद्र का अधिकार नहीं है कि जिससे गोत्र के ज्ञान से रहित मृतपितृक
जावाल के सत्य वचन से शूद्रत्व के अभाव का निश्चय होने पर गीतम ऋषि उसके
उपनयन और अध्यापन के लिए प्रवृत्त हुए और बोले कि (हे सोम्य ! इस प्रकार का
सत्य ब्राह्मण से अन्य नहीं बोल सकता है, लकड़ी ला तेरा उपनयन करूँगा, तुम सत्य
से नहीं गिरे हो) इस श्रुति रूप लिङ्ग से भी शूद्र का अनधिकार सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

इतश्च न शूद्रस्याधिकारः यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति,
वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य
स्मर्यते । श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वत्स्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रति-
पूरणम्' इति, 'पद्यु ह वा एतच्छ्रमशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्'
इति च । अत एवाध्ययनप्रतिषेधः, यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति स
कथमश्रुतमधीयीत । भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद
इति । अत एव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति 'न शूद्राय मतिं दद्यात्'
इति, 'द्विजातीयानामध्ययनमिज्या दानम्' इति च । येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कार-
वशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेधुः,
ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात् । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे
चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात् । वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति
स्थितम् ॥ ३८ ॥

इस अग्रिम हेतु से भी शूद्र का अधिकार नहीं है, जिससे इस शूद्र के श्रवण,
अध्ययन तथा अर्थ तीनों का प्रतिषेध स्मृति से होता है, वेदश्रवण का प्रतिषेध,
वेदाध्ययन का प्रतिषेध, और उसके अर्थ के ज्ञान का और अनुष्ठान का प्रतिषेध
स्मृति से कहे जाते हैं । इससे शूद्र के ये तीनों निषिद्ध हैं : प्रथम श्रवण का प्रतिषेध
है कि (पढ़ने वालों के पास में जाकर प्रमाद से वेद को सुनने वाले इस शूद्र के
दोनों कानों को सीसा और लाह से प्रायश्चित्त के लिए भर देना चाहिये) और (जो

यह शूद्र है, वह पशु-गमन कर्ता जगम इमंज्ञान है, जिससे शूद्र के समीप में वेद नहीं पढ़ना चाहिये इत्यादि । इस श्रवण के निषेध से ही अध्ययन का निषेध सिद्ध होता है, क्योंकि जिसके समीप में भी वेद अध्ययन योग्य नहीं है, वह श्रवण रहित वेद का अध्ययन कैसे करेगा ? और वेद का उच्चारण करने पर शूद्र की जिह्वा काटनी चाहिए । वेद को कण्ठस्थ करने पर शरीर का भेदन-छेदन करना चाहिये, ऐसी भी स्मृतियाँ हैं । इसी में शूद्र के लिए वेदार्थ का ज्ञान और अनुष्ठान अर्थात् निषिद्ध होते हैं, और शूद्र को मति (वेदार्थ का ज्ञान) नहीं देना चाहिए । वेद का अध्ययन, यज्ञ और दान द्विजों के धर्म हैं, इत्यादि भी स्मृति है । परन्तु विदुर, धर्मव्याघ्र आदिकों को पूर्व जन्म वृत्त श्रवणादि के सस्वारों से ज्ञान उत्पत्ति हुई या होती है, उनके ज्ञान के फल की प्राप्ति का प्रतिषेध नहीं कर सकते हैं, ज्ञान का फल ऐकान्तिक अवश्यभावी अव्यभिचरित होता है । एव जिन शूद्रों को पूर्व के सस्वार से ज्ञान नहीं हो और वे साधक जिज्ञासु हो, उनके लिए (चारों वर्णों को श्रवण करना चाहिये) इस महाभारत के कथनानुसार इतिहास पुराणादि के श्रवण द्वारा ज्ञान में चारों वर्णों के अधिकार का कथन है । वेदपूर्वक ज्ञान में शूद्रों का अविकार नहीं है, यह स्थिर सिद्धान्त है ।

(न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।

ब्राह्मण पूर्वसृष्टि हि कर्ममिवर्णतां गतम् । म०भा०शा० १८८/१०)

(सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मण क्षत्रियो वंश्य शूद्र) यह महाभाष्य का वचन है । इस प्रकार पारमार्थिक रूप में अनादि कोई जाति शूद्र नहीं है और न हो सकता है । जानश्रुति प्रथम स्वभाव शूद्र रहा हो उस आशय से रैवक ऋषि ने शूद्र कहा था, और राज्य मिलने पर उसमें क्षात्र स्वभाव आया, और राज्य प्राप्ति के उत्तर काल में उस क्षत्रियत्व की अवगति से चैत्र (चित्र अद्भुत) रथ के साथ सम्बन्ध द्वारा लिङ्ग से व्यक्त हुआ वह स्वभाव समाना गया इत्यादि । किसी महात्मा ने भी कहा है कि—

सरल सुशुद्ध मुजान सित, समझे गुरुवर जन ।

सो पावे सुखमुपशं अति, मुक्ती अविचल जन ॥ ३८ ॥

कम्पनाधिकरण (१०)

जगत्कम्पनकृत्प्राणोज्जनिवायुस्तेष्वर ।

अशनिर्भयहेतुन्वाद्यायुर्वा देहचालनात् ॥

वेदनादमृतत्वोत्पत्तीशोऽन्तयामिरुपत ।

भयहेतुश्चालनन्तु सर्वशक्तियुतत्वत ॥

कम्पन का हेतु रूप सुना गया प्राण, अशनि है, या वायु, अथवा ईश्वर । ऐसा सशय होने पर पूर्वपक्ष है कि भय का हेतु होने में अशनि है, अथवा देह के चालन से वायु हो सकता है । सिद्धांत है कि उसके ज्ञान से मुक्ति कहीं गई है, इससे ईश्वर है, और यही अतीर्यामीरूप से भ्रम का हेतु है, एव सर्वशक्ति युक्त होने में चालन भी करता है ॥ १-२ ॥

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

अवसितः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः । प्रकृतामेवेदानीं वाक्यार्थविचारणां प्रवर्तयिष्यामः । 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्, महद्भूयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (का० २।६।२) इति एतद्वाक्यम् 'एजृ-कम्पने' इति धात्वर्थानुगमाल्लक्षितम् । अस्मिन् वाक्ये सर्वमिदं जगत्प्राणाश्रयं स्पन्दते, महच्च किञ्चिद्भूयकारणं वज्रशब्दितमुद्यतं, तद्विज्ञानाच्चात्मत्वप्राप्तिरिति श्रूयते । तत्र कोऽसौ प्राणः, किञ्च तद्भूयानकं वज्रमित्यप्रतिपत्तेर्विचारे क्रियमाणे प्राप्तं तावत्प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राण इति । प्रसिद्धेरेव चाशनिर्वज्रं स्यात् । वायोश्चदं माहात्म्यं सङ्कीर्त्यते । कथम् ? सर्वमिदं जगत्पञ्चवृत्तौ वायौ प्राणशब्दिते प्रतिष्ठायजति । वायुनिमित्तमेव च महद्भूयानकं वज्रमुद्यम्यते । वायौ हि पर्जन्यभावेन विवर्तमाने विद्युत्स्तनयितुवृष्ट्यशनयो विवर्तन्त इत्याचक्षते । वायुविज्ञानादेव चेदममृतत्वम् । तथाहि श्रुत्यन्तरम्—'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद' इति । तस्माद्वायुरयमिह प्रतिपत्तव्य इति ।

प्रसंग से प्राप्त अधिकार का विचार अवसित (समास) हो गया । अब इस समय (प्रारब्ध) ही वाक्यार्थ का विचार फिर प्रवृत्त करेगे, (जो कुछ यह सब जगत है, वह प्राण के रहते ही चलता है, प्राण से ही निःसृत (उत्पन्न) हुआ । वह प्राण महाभय का हेतु उद्यत वज्र के समान है, जो इसको जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं । इस सूत्र से श्रुति वाक्य लक्षित (बोधित) हुआ है, 'एजृ कम्पने' एजृ धातु कांपने अर्थ में है, इस धातु के अर्थ का इस वाक्य में अनुगम (ज्ञान) होता है, इससे यह वाक्य लक्षित हुआ है । इस वाक्य में सुना जाता है कि यह सब जगत् प्राणाश्रित रह कर चेष्टा करता है । और कोई महान् भय का कारण वज्र शब्दार्थ उद्यत है । वहाँ वह प्राण क्या है, वह भयानक वज्र क्या है इसका निश्चय ज्ञान नहीं होने से विचार करने पर पाँच वृत्तिवाला प्राण प्रथम प्रसिद्धि से प्राप्त होता है । एवं प्रसिद्धि से ही अशनि वज्र होगा और वायु का ही यह माहात्म्य कहा जाता है, क्योंकि यह सब जगत् प्राणशब्दार्थ पञ्चवृत्ति वाले वायु में स्थिति पाकर प्राण के रहते ही चलता है । वायु निमित्तक ही महा भयानक वज्र उद्यत होता है । वायु के ही मेघ विशेष रूप से विवर्तित (परिणत) होने पर विद्युत्, मेघ, वृष्टि और वज्र परिणत होते हैं, ऐसा कहते हैं । वायु के विज्ञान से ही यह अमृतत्व भी होता है । क्योंकि जैसी दूसरी श्रुति है कि (वायु ही व्यष्टि है, वायु ही समष्टि है । जो इस प्रकार जानता है सो अपमृत्यु को जीत लेता है) जिससे यहाँ प्राण शब्द का अर्थ वायु को ही समझना चाहिए ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम् । कुतः ? पूर्वोत्तरालोचनात् ।

पूर्वोत्तरयोर्हि ग्रन्थभागयोर्ब्रह्मैव निर्दिश्यमानमुपलभामहे । इहैव कथमकस्मादन्तराले वायु निर्दिश्यमान प्रतिपद्येमहि । पूर्वत्र तावत्—

तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।

तस्मिँल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ (का० २।६।१)

इति ब्रह्म निर्दिष्ट, तदेवेहापि सन्निधानात् जगत्सर्वं प्राण एजतीति च लोकाश्रयत्वप्रत्यभिज्ञानान्निदिष्टमिति गम्यते । प्राणशब्दोऽप्यय परमात्मन्येव प्रयुक्त 'प्राणस्य प्राणम्' (वृ० ४।४।१८) इति दर्शनात् । एजयितृत्वमपीद परमात्मन एवोपपद्यते न वायुमात्रस्य, तथाचोक्तम्—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ (का० २।५।५) इति ।

उत्तरत्रापि—

भयादभ्याग्निमन्त्रपति भयात्तपति सूर्य ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धोवति पञ्चम ॥ (का० २।१३)

इति ब्रह्मैव निर्दिश्यते न वायुः । मवायुकस्य जगतो भयहेतुत्वाभिधानात् । तदेवेहापि सन्निधानान्महद्भय वज्रमुद्यतमिति च भयहेतुत्वप्रत्यभिज्ञानान्निदिष्टमिति गम्यते । वज्रमुद्यतमिति च भयहेत्प्रसामान्यात्प्रयुक्त, यथाहि वज्रमुद्यत ममेव शिरसि निपतेग्रहहमस्य शामन न कुर्यामित्यनेन भयेन जनो नियमेन राजादिशामने प्रवर्तते । एवमिदमग्निवायुसूर्यादिक जगदस्मादेव ब्रह्मणो विभ्यन्नियमेन स्वव्यापारे प्रवर्तते इति भयानक वज्रोपमिन ब्रह्म । तथाच ब्रह्मविषय श्रुत्यन्तरम्—

भीषास्माद्वात पवते भीषोदेति सूर्य ।

भीषाम्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धोवति पञ्चम ॥ (तै० ८।१।) इति ।

अमृतत्वफलश्रवणादपि ब्रह्मैवेदमिति गम्यते । ब्रह्मत्रानाद्वयमृतत्वप्राप्ति, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य षन्त्या विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ६।११५) इति मन्त्रवर्णात् । यत्तु वायुविज्ञानात्प्रचिदमृतत्वमभिहितं तदापेक्षिकम् । तत्रैव प्रकरणान्तरकरणेन परमात्मानमभिधाय 'अनोज्यदानम्' (वृ० ३।४) इति वाक्यदेरानर्तत्वाभिधानात् । प्रकरणादप्यत्र परमान्मनिश्चय ।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यमि तद्वद ॥

(का० १।२।१४) इति परमात्मन पृच्छत्वात् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर सिद्धांत कहते हैं कि यहाँ यह प्राणादि रूप ब्रह्म ही समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वोत्तर के आलोचन में ऐसा ही सिद्ध होता है, पूर्वोत्तर के ग्रन्थ भाग में निर्दिश्यमान (कथित) ब्रह्म का ही ज्ञान करने हैं, तो फिर यहाँ ही

मध्य में निहेतुक निर्दिश्यमान वायु को कैसे समझ सकते हैं । इस वाक्य से पूर्व में (वही संसार का मूल शुक्र स्वयंप्रकाश शुद्ध है, वह ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है, उसी के आश्रित सब लोक हैं, उसका उल्लंघन कोई नहीं करता है) इस प्रकार ब्रह्म निर्दिष्ट है । यहाँ भी 'प्राण के रहते सब जगत् चलता है' इस प्रकार आश्रयत्व की प्रत्यभिज्ञा से और सन्निधान से वही ब्रह्म निर्दिष्ट है, ऐसी प्रतीति होती है । एवं (प्राणस्य प्राणम्) प्राण का प्राण है, इस प्रकार के ब्रह्म विषयक प्रयोग देखने से यह प्राणशब्द भी परमात्मा में ही प्रयुक्त हुआ है, और यह जगत् कम्पन चेष्टा हेतुत्व भी परमात्मा का ही सिद्ध हो सकता है, वायुमात्र का नहीं । वैसे ही कहा भी है कि (कोई मनुष्य प्राण वा अपान से नहीं जीता है, किन्तु जिसके आश्रित प्राण और अपान है, उस इतर से सब जीते हैं) और आगे भी (इसके मय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है, इन्द्र और वायु इसके मय से अपने कर्तव्य करते हैं, तथा पञ्चम मृत्यु मय से घावता है) इस प्रकार ब्रह्म ही कहा जाता है वायु नहीं । क्योंकि वायु सहित जगत् का मय में हेतुत्व कहा गया है, वही मय हेतु सन्निधान से और मय हेतुत्व की प्रत्यभिज्ञा से यहाँ भी महद् मय उद्यत वज्ररूप निर्दिष्ट है ऐसी प्रतीति होती है । यह वज्र शब्द भी मय हेतुत्व समानता से ब्रह्म में प्रयुक्त हुआ है । जैसे कि यदि मैं इसका शासन नहीं करूँगा (आज्ञा नहीं मानूँगा) तो उद्यत वज्र मेरे ही सिर पर गिरेगा, इस प्रकार के मय से मनुष्य नियमपूर्वक राजा आदि के शासन में रहता है और उसकी आज्ञा मानने में प्रवृत्त होता है । इसी प्रकार यह अग्नि, वायु, सूर्यादि रूप जगत् इस ब्रह्म से ही डरता हुआ नियमपूर्वक अपने व्यापार में प्रवृत्त होता है इससे वज्र के समान ब्रह्म भयानक है । इसी प्रकार की ब्रह्मविषयक दूसरी श्रुति है कि (इसके मय से वायु चलता है, सूर्य उगता है, अग्नि, इन्द्र अपने काम करते हैं । पञ्चम मृत्यु दौड़ती है) और अमृतत्व फल के श्रवण से भी यह ब्रह्म ही है, यह समझा जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है । उस ब्रह्मात्मा को जान करके ही अतिमृत्यु (मोक्ष) पाता है, मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं है । एवं जो कहीं वायु के ज्ञान से अमृतत्व कहा गया है, वह आपेक्षिक है । क्योंकि वहाँ ही प्रकरणान्तर का करण पूर्वक परमात्मा का कथन करके (इससे अन्य आतं है) इस प्रकार वायु आदि के आतंत्व (विनाशित्व) को कहा है । तथा प्रकरण से भी यहाँ परमात्मा का निश्चय होता है, क्योंकि (धर्माधर्म इस कार्य कारण भूतमात्री आदि से अन्य जिसको जानते हो उसे कहो) इस प्रकार परमात्मा ही पूछा गया है ॥ ३९ ॥

ज्योतिरधिकरण (११)

परं ज्योतिस्तु सूर्यस्य मण्डलं ब्रह्म वा भवेत् ।
 समुत्थायोपसम्पद्येत्युक्त्यास्याद्रविमण्डलम् ॥
 समुत्थानं त्वम्पदार्थशुद्धिर्विकार्यार्थबोधनम् ।
 सम्पत्तिरुत्तमतोक्तेर्ब्रह्म स्यादक्षिसाक्षितः ॥

(शरीरात्समुत्थाय पर ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते) इस श्रुति में पर ज्योति सूर्य का मण्डल है, वा ब्रह्म हो सकता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि शरीर से निकल कर प्राप्ति के कथन से रविमण्डल हो सकता है । सिद्धान्त है कि यहाँ समुत्थान का अर्थ शरीर से निकलना नहीं है किन्तु त्व पद के अर्थ की शुद्धि विवेक ज्ञान समुत्थान है और देहाभिमान के त्यागपूर्वक वाक्यार्थ का ज्ञान ब्रह्मात्मा के एकत्व का अपरोक्ष ज्ञान ही सम्पत्ति प्राप्ति है, एव उत्तमत्व की उक्ति तथा अक्षि की साक्षिता से पर ज्योति ब्रह्म है ।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

‘एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय पर ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते’ (छा० ८।१२।३) इति श्रूयते । तत्र मशय्यते, कि ज्योति-शब्द चक्षुर्विषय तमोपहृ तेज किंवा पर ब्रह्मेति । किं तावत्प्राप्तम् । प्रसिद्धमेव तेजो ज्योति शब्दमिति । कुत ? तत्र ज्योति शब्दस्य रुद्धत्वात् । ‘ज्योतिश्चरणाभिधानात्’ (ब्र० सू० १।१।२४) इत्यत्र हि प्रकरणाज्ज्योति शब्द स्वार्थ परित्यज्य ब्रह्माणि वर्तते । न चेह तद्वत्किञ्चित्त्वार्थपरित्यागे कारण दृश्यते । तथा च नाडीखण्डे—‘अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यर्थैतेरेव रश्मिभिर्हृध्वन्माक्रमते’ (छा० ८।६।५) इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता । तस्मात्प्रसिद्धमेव तेजो ज्योति शब्दमिति ।

यह सप्रसाद (जीव) इस शरीर के अभिमान को छोड़कर अपने स्वरूप से अमि-व्यक्त सिद्ध होकर पर ज्योति को प्राप्त करता है, यह सुना जाता है । वहाँ सधय होता है कि ज्योति शब्द का अर्थ नेत्र का विषय तम को नाश करने वाला तेज है, अथवा परब्रह्म है ? वहाँ प्रसिद्ध तेज ही ज्योति शब्द का अर्थ है, यह पहले पहल प्राप्त होता है, क्योंकि उस तेज अर्थ में ज्योति रुद्ध है । (ज्योतिश्चरणाभिधानात्) यहाँ तो ब्रह्म के प्रकरणादि से ज्योति शब्द अपने अर्थ को त्याग कर ब्रह्म में वर्तता है । यहाँ उसके समान स्वार्थ के त्याग में कोई कारण नहीं दीखता है और इसी प्रकार (ता वा एता हृदयस्य नाड्य) इस नाडी खण्ड में मुमुक्षु को आदित्य की प्राप्ति कही गई है कि (वारण काल में बाह्य विज्ञान के लुप्त होने पर जब इस शरीर से ऊपर निकलता है, तो उस काल में नाडियों में मिली हुई इन सूर्य की किरणों द्वारा ऊपर जाता है सूर्य को प्राप्त करता है) इत्यादि जिससे प्रसिद्ध ही तेज ज्योति शब्द का अर्थ है ।

एव प्राप्ते ब्रूम —परमेव ब्रह्म ज्योति शब्दम् । कस्मात् ? दर्शनात् तस्य हीह प्रकरणे वक्ष्यत्वेनानुवृत्तिर्दृश्यते, ‘य आत्माऽपहृतपाप्मा’ (छा० ८।७।१) इत्यपहृतपाप्मत्वादिगुणकस्यात्मन प्रकरणादावन्वेष्टव्यत्वेन विजिज्ञासितव्यत्वेन च प्रतिज्ञानात् ‘एत त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि’ (छा० ८।९।३)

इति चानुसंधानात् । 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृगतः' (छां० ८।१२।१) इति चाशरीरतार्ये ज्योतिःसम्पत्तेरस्याभिधानात् ब्रह्मभावाच्चान्यत्राशरीरतानुपपत्तेः 'परं ज्योतिः' 'स उत्तमः पुरुषः' (छां० ८।१२।२) इति च विशेषणात् । यत्तूक्तं—मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहिता—इति, नासावात्यन्तिको मोक्षो गत्युत्क्रान्तिसम्बन्धात् । न ह्यात्यन्तिके मोक्षे गत्युत्क्रान्ती स्त इति वक्ष्यामः ॥ ४० ॥

ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं कि यहाँ पर ब्रह्म ही ज्योति शब्द का अर्थ है, क्योंकि ब्रह्म ही का प्रकरण देखा जाता है । अर्थात् इस प्रकरण में ब्रह्म की ही वक्तव्य रूप से अनुवृत्ति देखी जाती है (जो आत्मा पापरहित है) इस प्रकार अपहृतपाप्मत्वादि गुण वाला आत्मा का प्रकरण के आदि में अन्वेषणीय और विचारणीय रूप से प्रतिज्ञा की गई है उपदेश दिया गया है । एवं (इसी का मैं फिर तेरे लिए व्याख्यान कहेगा) इस प्रकार पूर्व का अनुसन्धान (सम्बन्ध) किया है । (शरीर रहित को प्रिय अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं) इस रीति से कथित अशरीरता के लिए ज्योतिःसम्पत्ति के कथन से और ब्रह्मभाव के बिना अन्यत्र अशरीरता की असिद्धि से (परं ज्योतिः स उत्तमः पुरुषः) परमज्योति है, वह उत्तम पुरुष है । इत्यादि विशेषण से ज्योतिशब्दार्थ ब्रह्म है । एवं जो यह कहा है कि मुमुक्षु को आदित्य की प्राप्ति कही गई है, वह गति और उत्क्रमण के सम्बन्ध से आत्यन्तिक मोक्ष नहीं है, आत्यन्तिक मोक्ष में गति तथा उत्क्रान्ति नहीं होती है, वह आगे कहेंगे ॥ ४० ॥

अर्थान्तरत्वव्यपदेशाधिकरण (१२)

वियद्वा ब्रह्म वाकाशो वै नामेति श्रुतं वियत् ।

अवकाशप्रदानेन सर्वनिर्वाहकत्वतः ॥

निर्वोढत्वं नियन्तृत्वं चैतन्यस्यैव तत्त्वतः ।

ब्रह्म स्याद्वाक्यशेषे च ब्रह्मात्मेत्यादिशब्दतः ॥

नाम-रूप से आकाश में अर्थान्तरत्व भिन्नत्व के कथनादि से नाम-रूप निर्वाहक आकाश नाम रूप से रहित ब्रह्म है, नाम-रूपात्मक भूताकाश नहीं है । तो भी समान दृष्टि से संशय है कि वह आकाश वियत् (भूताकाश) है, अथवा ब्रह्म है ? पूर्वपक्ष है कि 'वै नाम' इत्यादि शब्द से सुना गया वियत् ही है । और अवकाश प्रदान द्वारा उसी को सर्वनिर्वाहकत्व है । सिद्धान्त है कि निर्वाहकत्व नियन्तृत्व रूप है, वह वस्तुतः चेतन का ही धर्म है । इससे नाम-रूप का निर्वाहक ब्रह्म ही आकाश शब्द का अर्थ हो सकता है, तथा वाक्य शेष में ब्रह्म आत्मा इत्यादि शब्दों के श्रवण से भी आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म है ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छां० ८।१४।१) इति श्रूयते । तत्किमाकाशशब्दं परं ब्रह्म किं वा

प्रसिद्धमेव भूताकाशमिति विचारे भूतपरिग्रहो युक्त, आकाशशब्दस्य तस्मिन्
रूढत्वात्, नामरूपनिर्वहणस्य चावकाशदानद्वारेण तस्मिन् योजयितुं शक्यत्वात् ।
स्पष्टत्वादेश्च स्पष्टस्य ब्रह्मलिङ्गस्याश्रवणादिति ।

एव प्राप्त इदमुच्यते—परमेव ब्रह्मोहाकाशशब्द भवितुमर्हति, कस्मात् ? अर्था-
न्तरत्वादिव्यपदेशात्, 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इति हि नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूत-
माकाश व्यपदिशति । न च ब्रह्मणोऽन्यन्नामरूपाभ्यामर्थान्तर सम्भवति, सर्वस्य
विकारजातस्य नामरूपाभ्यामेव ध्याकृतत्वात् । नामरूपयोरपि निर्वहण निरङ्कुश
न ब्रह्मणोऽन्यत्र सम्भवति । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'
(छा० ६।३।२) इत्यादिब्रह्मकर्तृकत्वश्रवणात् । ननु जीवस्यापि प्रत्यक्ष नाम-
रूपविषय निर्वोढत्वमस्ति । वादमस्ति, अभेदस्त्वह विवक्षित । नामरूप-
निर्वहणाभिधानादेव च स्पष्टत्वादि ब्रह्मलिङ्गमभिहितं भवति । 'तद्ब्रह्म तदमृत
स आत्मा' (छा० ८।१४) इति च ब्रह्मवादस्य लिङ्गानि । 'आकाशस्तल्लिङ्गात्'
(ब्र० १।१।२२) इत्यस्यैवायं प्रपञ्च ।

(आकाश नाम रूप का धारण करने वाला है, और वे नाम रूप जिसके अन्तर्गत
हैं, वह ब्रह्म है, अमृत है, आत्मा है) यह गुण जाता है । वहाँ वह आकाश शब्द का
वाच्य परब्रह्म है अथवा प्रसिद्ध ही भूताकाश आकाशशब्द का वाच्यार्थ है ? इस प्रकार
विचार करने पर, आकाश शब्द के भूताकाश में रूढ होने से भूताकाश का आकाश
शब्द से परिग्रहण करना युक्त (उचित) भासता है और अवकाशदान के द्वारा उस
भूताकाश में ही नाम रूप निर्वहण (धारण) का सम्बन्ध करना हो सकता है ।
क्योंकि (आकाशस्तल्लिङ्गात्) इस सूत्र में अर्णित गृष्टिकर्तृत्वादिरूपेण ब्रह्मलिङ्ग का
यहाँ अश्रवण है । ऐसा प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि परब्रह्म ही यहाँ आकाश
शब्द का अर्थ होने योग्य है, क्योंकि भूताकाशादि से प्रकृत आकाश को अर्थान्तर-
त्वादि का कथन है, जिससे (वे नाम रूप जिसके अन्तर्गत हैं वह ब्रह्म है) इस
प्रकार नाम रूप में अर्थान्तर स्वरूप आकाश की श्रुति कहती है, और ब्रह्म से अन्य
वस्तु नाम रूप से अर्थान्तर (भिन्न) होने का सम्भव नहीं है । क्योंकि सब विकार
समूह नामरूप से ही ध्याकृत (व्यक्त किये गये) हैं । एव नाम रूप का निरङ्कुश
(स्वतन्त्र) निर्वहण (धारण नियन्त्रण) भी ब्रह्म से अन्य में नहीं बन सकता है ।
क्योंकि (इस जीवात्मा रूप से प्रविष्ट होकर नाम और रूप की भी व्यक्त करेगा)
इत्यादि वाक्यों में नामरूप अभिव्यक्तीकरण में ब्रह्म को कर्तृत्व गुण जाता है । शका
होती है कि श्रुति के अनुसार जीव रूप से नामरूप की अभिव्यक्ति होती है, इससे
जीव को भी प्रत्यक्ष नामरूप विषयक निर्वाहकता है । उत्तर है कि जीव की निर्वाह-
कता सत्य है, परन्तु यहाँ, 'अनेन जीवेन' इन जीव से, इस कथन में जीव को
ब्रह्म से अभेद विवक्षित है, और ब्रह्माग्नि रूप से जीव नामरूप का निर्वाह है,

साक्षात् नहीं । तथा नामरूप के निर्वहण के कथन से ही सृष्टि कर्तृत्वादि ब्रह्मलिङ्ग कथित होता है । (वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वह आत्मा है) यह भी ब्रह्म वाचकत्व के लिङ्ग है, और वस्तुतः (आकाशस्तल्लिङ्गात्) इसी का यह विस्तार है ।

सुषुप्त्युक्रान्त्यधिकरण (१३)

स्याद्विज्ञानमयो जीवो ब्रह्म वा जीव इष्यते ।

आदिमध्यावसानेषु संसारप्रतिपादनात् ॥

विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः ।

ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं बोध्यते ब्रह्म नेतरत् ॥

सुषुप्ति और मरणकाल में जीवात्मा से भेदपूर्वक विज्ञानात्मा के कथन से (विज्ञानमयः प्राणेषु) यहाँ विज्ञानमयशब्द का अर्थ ब्रह्म है, जीव नहीं । ऐसे स्थल में सामान्य-दृष्टि से संशय होता है कि विज्ञानमय जीव है वा ब्रह्म ? पूर्वपक्ष है कि आदि मध्य और अन्त में उस वाक्य के अन्दर प्राण अवस्थादि रूप संसार का प्रतिपादन है, इससे विज्ञान शब्द का अर्थ संसारी जीव इष्ट है । सिद्धान्त है कि लोक से अत्यन्तसिद्ध जीव को प्राणादि उपाधि रूप संसार से विवेक द्वारा पृथक् करके उसकी ब्रह्मरूपता को श्रुति बोध कराती है, इससे लोकसिद्ध जीव का अनुवाद करके अन्य से अप्राप्त ब्रह्म का ही बोध कराती है अन्य का नहीं ।

सुषुप्त्युक्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्तते । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके 'क्तम आत्मेति, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (वृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः । तत्किं संसारिस्वरूपमात्रान्वाख्यानपरं वाक्यमुतासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? संसारिस्वरूपमात्रविषयमेवेति । कुतः उपक्रमोपसंहाराभ्याम् । उपक्रमे 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति शारीरलिङ्गात्, उपसंहारे च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (वृ० ४।४।२२) इति तदपरित्यागात्, मध्येऽपि बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेन तस्यैव प्रपञ्चनादिति ।

पूर्व सूत्र के 'व्यपदेशात्' इस पद की अनुवृत्ति होती है । बृहदारण्यक के षष्ठ प्रपाठक (अध्याय) में (अहं बुद्धि के विषय में यह आत्मा कीन है, इस प्रकार जनक जी के प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य जी बोले कि जो यह प्राणो मे विज्ञानमय है, हृदय के अन्दर ज्योतिःस्वरूप है, और वस्तुतः पुरुष 'पूर्ण' है, वह बुद्धि प्राणादि से भिन्न आत्मा है) इस प्रकार आरम्भ करके आत्म विषयक विचार का बहुत विस्तार किया है । यहाँ संशय होता है कि वह विस्तृत वाक्य संसारी जीवात्मा के स्वरूप मात्र का उपदेशपरक है अथवा असंसारी स्वरूप का प्रतिपादनपरक ? विमर्श होता है कि पहले क्या प्राप्त होता है ? पूर्वपक्ष है कि संसारी स्वरूपमात्रविषयक ही

है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार से ससारी का स्वरूप ही भासता है। उपक्रम में (जो यह विज्ञानमय प्राणो मे है) इस प्रकार जो ससारी का चिह्न इन्द्रियादि है, उपसंहार में (वही यह महान् अज आत्मा है, जो यह प्राणो मे विज्ञानमय है) उस उक्त ससारित्व के लिङ्ग का त्याग नहीं किया गया है और मध्य मे भी बुद्धान्त (जाग्रदवस्था) आदि अवस्थाओं के कथन से उस ससारी स्वरूप का ही प्रपञ्च किया है।

एव प्राप्ते ब्रूम — परमेश्वरोपदेशपरमेवेद वाक्य न शारीरमात्रान्वास्यान-परम् । कस्मात् ? सुषुप्तावुत्क्रान्ती च शारीरादभेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात् । सुषुप्ती तावत् 'अयं पुरुष प्राज्ञेनात्मना भर्परिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेद नान्तरम्' (वृ० ४।३।२१) इति शारीरादभेदेन परमेश्वर व्यपदिशति । तत्र पुरुष शारीर स्यात्तस्य वेदितृत्वात् बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत्प्रतिषेध-सम्भवात् । प्राज्ञ परमेश्वर सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात् । तथो-त्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारुद्ध उत्सर्जन् याति' (वृ० ४।३।२५) इति जीवादभेदेन परमेश्वर व्यपदिशति । तथापि शारीरो जीव स्याच्छरीरस्त्वामित्वात् । प्राज्ञस्तु स एव परमेश्वर । तस्मात्सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन व्यपदेशात्परमेश्वर एवात्र विवक्षित इति गम्यते । यदुक्तम्—आद्यन्तमव्येपु शारीरलिङ्गात्तत्परत्वमस्य वाक्यस्य—इति । अत्र ब्रूम । उपक्रमे तावत् 'योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु' इति न ससारिस्वरूप विवक्षित, किं तर्हि ? अनूद्य ससारि-स्वरूप परेण ब्रह्मणास्यैकता विवक्षति, यतो 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्येवमाद्यु-त्तरग्रन्थप्रवृत्ति ससारिधर्मनिराकरणपरा लक्ष्यते । तथोपसंहारेऽपि यथोपक्रममे-वोपसंहरति—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु' इति । योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु ससारी लक्ष्यते स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर एवास्माभि प्रतिपादित इत्यर्थः । यस्तु मध्ये बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासात्ससारि-स्वरूपविवक्षा मन्यत, स प्राचीमपि दिश प्रस्थापित प्रतीचीमपि दिश प्रतिष्ठेत, यतो न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्व ससारित्व वा विवक्षित, किं तर्ह्यव-स्थारहितत्वमससारित्व च विवक्षति । कथमेतदवगम्यते । यत् 'अत ऊर्ध्वं विमो-क्षायं व ब्रूहि' इति पदे पदे पृच्छति, यच्च 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष' (वृ० ४।३।१४, १५) इति पदे पदे प्रतिवक्ति । 'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तोणो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' (वृ० ४।३।२२) इति च । तस्मादससारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवेतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि परमेश्वर का उपदेशपरक यह वाक्य है, जीव मात्र का कथनपरक नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति काल मे और उत्क्रान्ति (भरण) काल मे जीव से भेदपूर्वक परमेश्वर का कथन किया गया है । पहले सुषुप्ति मे भेद का कथन है कि (यह जीवात्मा रूप पुरुष सुषुप्ति मे प्राज्ञात्मा परमात्मा के साथ एक रूप से

मिलकर बाहर वा अन्दर की किसी वस्तु को नहीं जानता है) इस प्रकार जीव से भेद-पूर्वक परमेश्वर का निर्देश श्रुति करती है । इस वाक्य में पुरुष जीव कहा गया है शरीर नहीं, क्योंकि उसी को ज्ञातृत्व हो सकता है, उसी को बाहर भीतर के ज्ञान का प्रसंग रहते, उसके प्रतिषेध का सम्भव है । प्राज्ञ परमेश्वर है, सर्वज्ञत्वरूप प्राज्ञ से उसको सदा अवियोग (संवन्ध) रहता है । इसी प्रकार मरण काल में जीव से भेद पूर्वक परमेश्वर का कथन श्रुति करती है कि (यह जीवात्मा प्राज्ञात्मा से अधिष्ठित होकर आतं शब्द करता हुआ जाता है) यहाँ भी शरीर जीव कहा गया है, क्योंकि वह शरीर का स्वामी है । प्राज्ञ तो वही परमेश्वर है । इस सुपुंसि और उत्क्रान्ति में भेदपूर्वक निर्देश से परमेश्वर ही यहाँ विवक्षित है, यह यहाँ समझा जाता है । एवं जो यह कहा है कि आदि अन्त और मध्य में जीव के लिङ्ग से जीवपरत्व इस वाक्य को है, यहाँ कहते हैं कि प्रथम उपक्रम में (जो यह विज्ञानमय प्राण में है) इस वाक्य में संसारी का स्वरूप नहीं विवक्षित है, तो क्या है कि संसारी के स्वरूप का अनुवाद करके उसका परब्रह्म के साथ एकता की विवक्षा करते हैं, जिससे बुद्धि के ध्यान काल में व्याता के समान उसके संचलन-दीपन काल में गन्ता आदि के समान आत्मा होता है) इत्यादि उत्तर ग्रन्थ की प्रवृत्ति संसारी धर्म के निराकरणपरक देखी जाती है । इसी प्रकार उपसंहार में भी उपक्रम के अनुसार ही उपसंहार श्रुति करती है कि (वही यह विज्ञानमय महान् अज आत्मा है, जो प्राणों में विज्ञानमय है) उसका अर्थ है कि जो यह विज्ञानमय प्राणों में संसारी दीखता है, वही महान् अज आत्मा परमेश्वर ही हम से प्रतिपादित किया गया है । और जो कोई मध्य में जाग्रदादि अवस्थाओं के कथन से संसारी स्वरूप की विवक्षा मानते हैं वे लोग पूर्व दिशा में भेजे गये पश्चिम दिशा में भी मानो जायेंगे । जिससे जाग्रदादि के कथन से अवस्थावत्त्व वा संसारित्व विवक्षित नहीं है, किन्तु है क्या कि अवस्थारहितत्व और असंसारित्व की विवक्षा करते हैं । यदि कहो कि यह कैसे समझा जाता है, तो कहते हैं कि जिससे (इस विवेक के बाद मोक्ष के ही लिये कहिये, इस प्रकार जनक राजा पद २ (वाक्य २) में पूछता है । और जिससे (इस अवस्था धर्म से आत्मा अनन्वागत अस्पृष्ट रहता है क्योंकि यह असंग है) इस प्रकार याज्ञवल्क्य जी पद २ में उत्तर देते हैं, इससे समझा जाता है कि असंसारित्व की विवक्षा करते हैं । एवं (यह आत्मा पुण्य-पाप से अस्पृष्ट है, और उस सुपुंसि काल में हृदय गत सब शोकों से रहित जीव हो जाता है) इससे भी असंसारी आत्मा कहा गया है । शोकादि मन के धर्म हैं आत्मा के नहीं, इससे असंसारी स्वरूप का प्रतिपादनपरक ही यह वाक्य है, ऐसा समझना चाहिये ।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इतरचासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपरमेवैतद्वाक्यमित्यवगन्तव्यम् । यदस्मिन् वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारिस्वरूपप्रतिपादनपराः संसारित्वभावप्रति-

पेधनाश्च भवन्ति । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान सर्वम्याधिपति' इत्येवजातीयका अससारिस्वभावप्रतिपादनपरा । 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इत्येवजातीयका ससारिस्वभावप्रतिपेधना । तस्मादससारी परमेश्वर इहोक्त इत्यवगम्यते ॥ ४३ ॥

इति श्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृती शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य तृतीय पाद ॥ ३ ॥



इस वक्ष्यमाण हेतु से भी अससारी स्वरूप का प्रतिपादनपरक ही यह वाक्य है, ऐसा मानना चाहिये, जिससे इस वाक्य में पति आदि शब्द अससारी स्वरूप के प्रतिपादनपरक और ससारीस्वभाव के प्रतिपेधक हैं । यहाँ (सब को स्ववश करने वाला स्वतन्त्र है, सबका नियन्ता है, सब का स्वामी है) इस प्रकार के शब्द अससारी स्वभाव के प्रतिपादनपरक हैं । (वह पुण्य कर्म से बड़ा, नहीं होता है, न पाप कर्म से छोटा होता है) इस प्रकार के शब्द ससारी स्वभाव के प्रतिपेधक हैं । इससे अससारी परमेश्वर यहाँ कहा गया है, यह समझा जाता है ॥ ४३ ॥



प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र प्रधानविषयत्वेन संदिह्यमानानामव्यक्ताजादिपदानां चिन्तनम् ।]

आनुमानिकाधिकरण (१)

महत्तः परमव्यक्तं प्रधानमथवा वपुः ।

प्रधानं सांख्यशास्त्रोक्ततत्त्वानां प्रत्यभिज्ञया ॥

श्रुतार्थप्रत्यभिज्ञानात्परिशेषाच्च तद्वपुः ।

सूक्ष्मत्वात्कारणावस्थमव्यक्ताख्यां तदर्हति ॥

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-

गृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम्—“जन्माद्यस्य यतः” (ब्र० १।१।२) इति तल्लक्षणं प्रधानस्यापि समानमित्यागच्छ्य तदशब्दत्वेन निराकृतम्—“ईक्षतेनशिदम्” (ब्र० १।१।५) इति । गतिसामान्यं च वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मकारणवादं प्रति विद्यते न प्रधानकारणवादं प्रतीति प्रपञ्चितं गतेन ग्रन्थेन । इदं त्विदानीमवशिष्टमाशङ्क्यते—यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वं तदसिद्धं, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात् । अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते । तद्यावत्तेषां शब्दानामन्यपरत्वं न प्रतिपाद्यते तावत्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणमिति प्रतिपादितमप्याकुलीभवेत्, अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः सन्दर्भः प्रवर्तते । आनुमानिकमप्यनुमाननिरूपितमपि प्रधानमेकेषां शाखिनां शब्दबहुपलभ्यते । काठके हि पठ्यते—“महत्तः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः” (१।३।११) इति । तत्र य एव यन्नामानो यत्क्रमाश्च महदव्यक्तपुरुषाः स्मृतिसिद्धास्त एवेह प्रत्यभिज्ञायन्ते । तत्राव्यक्तमिति स्मृतिप्रसिद्धेः शब्दादिहीनत्वाच्च न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तिसम्भवात् स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयतेऽतः तस्य शब्दवत्त्वादशब्दत्वमनुपपन्नम् । तदेव च जगतः कारणं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्य इति चेत् ?

‘महत्तः परमव्यक्तम्’ इस वाक्य में अव्यक्त शब्द का अर्थ प्रधान है अथवा शरीर है, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष होता है कि सांख्यशास्त्र में पठित महत्तत्त्व अव्यक्त पुरुष की प्रत्यभिज्ञा से अव्यक्त शब्द का अर्थ प्रधान होगा । पूर्वश्रुत अर्थ की प्रत्यभिज्ञा से और परिशेष से अव्यक्त शरीर है, कारणावस्था में प्राप्त शरीर भी सूक्ष्म होने से वह अव्यक्त नाम के योग्य होता है यह सिद्धान्त है ।

‘आनुमानिकम्-अपि-एकेषाम्-इति-चेत्-न-शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः-दर्शयति-च’, इस सूत्र में नी पद हैं । संक्षिप्त अर्थ है कि (महत्तः परमव्यक्तमित्याद्युक्तेः केषांश्चिदेकेषां

शास्त्रिणामनुमानिकमपि शब्दप्रतिपाद्यमुपलभ्यत इति चेन्न शरीरं यद्रूपके विन्यस्तं तस्यै-
वाव्यक्तशब्देन गृहीतेस्तद्रूपकादिकं च दर्शयति श्रुतिरिति) महत्तत्त्व से पर अव्यक्त है,
इत्यादि वचन से अनुमान से कल्पित प्रधान भी श्रुति से प्रतिपादित समझा जाता है,
कोई शास्त्रावाले उसका प्रतिपादन करते हैं, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि रूपक में
जो शरीर पड़ा है, उसी का यहाँ अव्यक्त शब्द से ग्रहण होता है, और वह रूपकादि
श्रुति दिखलाती है ।

ब्रह्म जिज्ञासा की प्रतिज्ञा करके (जन्माद्यस्य यतः) इससे ब्रह्म का लक्षण कहा
गया है वह लक्षण प्रधान का भी तुल्य है इस प्रकार आशङ्का करके, अशब्दता
वैदिक शब्दशून्यता से वह प्रधान निराकृत किया गया है कि (ईक्षण के श्रवण से
प्रधान कारण नहीं है) और वेदान्त वाक्य का गतिसामान्य ब्रह्मकारणवाद के प्रति है,
और प्रधान कारणवाद के प्रति गति सामान्य नहीं है, यह गत ग्रन्थ से विस्तारपूर्वक
कहा गया है । इस समय यह फिर अवशिष्ट (बाकी) शका की जाती है, ईक्षति
अधिकरण का आक्षेप किया जाता है कि जो प्रधान को अशब्दत्व कहा है, वह असिद्ध
है, क्योंकि किसी शास्त्रावाले में प्रधान के सम्यक् बोध करनेवाले कारणत्व समझनेवाले
रूप से आमासित होते हुए शब्द सुने जाते हैं । इससे वेद सिद्ध ही प्रधान के कारणत्व
का महान् कपिलादि परम ऋषियो ने ग्रहण किया है, ऐसी प्राप्ति होती है,
इससे जब तक उन शब्द के प्रधान में अन्यायत्व का प्रतिपादन नहीं किया जाता है,
तब तक सर्वत्र ब्रह्म का कारण है, यह प्रतिपादित भी ब्रह्मकारणत्व व्याकुल
(व्यस्त-सन्दिग्ध) सा होगा, अतः उन्हें अन्यपरत्व दर्शाने के लिए आगे का ग्रन्थ
प्रवृत्त होता है (आरम्भ किया जाता है) कि, आनुमानिक (कार्यालङ्कार अनुमान
से निरूपित साधित) प्रधान भी एक शास्त्रावाले के शब्द से कथित, प्रतिपादित,
उपलब्ध (प्रतीत) होता है, इससे ब्रह्मकारणवाद के समान प्रधानकारणवाद भी वेद
सम्मत है । कठ प्रोक्त उपनिषद् में वाक्य पड़ा है कि (महत् से पर अव्यक्त है, और
अव्यक्त से पर (श्रेष्ठ) पुरुष है) यहाँ जिस नामवाले, जिस क्रमवाले जो ही महत्-
अव्यक्त और पुरुष साख्य स्मृति से सिद्ध हैं, वे ही यहाँ प्रत्यभिज्ञा होते हैं, उनकी यहाँ
प्रत्यभिज्ञा होती है । यहाँ अव्यक्त इस शब्द से स्मृति में प्रसिद्ध प्रधान कहा जाता है,
क्योंकि उस अर्थ में अव्यक्त शब्द की साख्य में प्रसिद्धि है, और शब्दादि से रहित होने
के कारण न व्यक्त है इससे अव्यक्त है ऐसी व्युत्पत्ति (ज्ञान) के सम्भव होने से अव्यक्त
कहना ठीक है । इससे प्रधान को वैदिक अव्यक्त शब्द का अर्थ होने से उसको
अशब्दत्व अमुक्त असिद्ध है, इससे अशब्द कहना ठीक नहीं है । इस प्रकार प्रधान के
अशब्द के असिद्धि होने पर (अजामेकाम् श्वे० ४।२ हेतु प्रवृत्तिरच्यते । म०गी० १३/२०)
इत्यादि श्रुति स्मृति, अनुमान और प्रसिद्धि से वह अव्यक्त नामक प्रधान ही जगत् का
उपादान कारण है ।

नैतदेवम् । न ह्येतत्काठकं वाक्यं स्मृतिप्रसिद्धयोर्महदव्यक्तयोरस्तित्वपरम् ।

न ह्यत्र यादृशं स्मृतिप्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते, शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते । स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लभ्ये च प्रयुज्यते, न चायं कस्मिंश्चिद्रूढः । या तु प्रधानवादिनां रूढिः सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थनिरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते । नच क्रममात्रसामान्यात्समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूपप्रत्यभिज्ञाने । न ह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति । प्रकरणनिरूपणायां चात्र न परपरिकल्पितं प्रधानं प्रतीयते, शरीररूपक-विन्यस्तगृहीतेः । शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते । कुतः प्रकरणात्परिशेषाच्च । तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिर-थादिरूपकपक्षसि दर्शयति—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ (का० १।३। ३-४) इति ।

तैश्चेन्द्रियादिभिरसंयतैः संसारमधिगच्छति । संयतैस्त्वध्वः पारं तद्विष्णोः परमं पदमाप्नोतीति दर्शयित्वा, किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायां तेभ्य एव प्रकृतेभ्य इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानमध्वनः पारं विष्णोः परमं पदं दर्शयति—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

महत्तः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

(का० १।३।१०, ११) इति । 'तत्र य एवेन्द्रियादयः पूर्वस्यां रथरूपक-कल्पनायामश्ववादिभावेन प्रकृतास्त एवेह परिगृह्यन्ते प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिया-परिहाराय । तत्रेन्द्रियमनोबुद्धयस्तावत्पूर्वत्रेह च समानशब्दा एव, अर्थास्तु, ये शब्दादयो विषया इन्द्रियहयगोचरत्वेन निर्दिष्टाः तेषां चेन्द्रियेभ्यः परत्वम्, 'इन्द्रियाणां ग्रहत्वं, विषयाणामतिग्रहत्वम्' (वृ० ३।२) इति श्रुतिप्रसिद्धेः । विषयेभ्यश्च मनसः परत्वं, मनोमूलत्वाद्विषयेन्द्रियव्यवहारस्य । मनसस्तु परा बुद्धिः, बुद्धिं ह्यारुह्य भोग्यजातं भोक्तारमुपसर्पति । बुद्धेरात्मा महान् परो यः स 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इति रथित्वेनोपक्षिप्तः । कुतः ? आत्मशब्दात् भोक्तुश्च भोगोपकरणात्परत्वोपपत्तेः । महत्त्वं चास्य स्वामित्वादुपपन्नम् ।

इस प्रकार यदि कोई कहे तो कहा जाता है कि यह प्रधान को वैदिक शब्द वाच्यत्व नहीं है, क्योंकि यह कठ श्रुति का वाक्य स्मृति प्रसिद्ध महत् और अव्यक्त के अस्तित्व

(सत्ता) परक (बोधक) नहीं है, जिसमें स्वतन्त्र कारणरूप तीन गुणवाला जैसा प्रधान साक्ष्य स्मृति में प्रसिद्ध है, वैसा प्रधान यहाँ प्रत्यभिज्ञात (स्मृत) नहीं होता है । यहाँ श्रुति में अव्यक्त इस शब्द मान की प्रत्यभिज्ञा होती है अर्थ की नहीं । वह अव्यक्त शब्द तो न व्यक्त होने से अव्यक्त कहा जाता है । इस प्रकार यौगिक होने से प्रधान से अन्य भी सूक्ष्म दुर्ज्ञेय अर्थ में प्रयुक्त होता है, इससे यह अव्यक्त शब्द किसी अर्थ में रुद्ध नहीं है । और जो प्रधान वादी रुद्धि है, वह उनकी ही पारिभाषिकी (सकेत जन्य) होने से वेदार्थ के निरूपण में कारणता को नहीं प्राप्त हो सकती है । पदार्थ के स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा के बिना क्रममात्र की तुल्यता से तुल्यार्थ का ज्ञान नहीं होता है । क्योंकि अश्व के स्थान में गौ को देखता हुआ मोट-भ्रान्ति-रहित मनुष्य यह अश्व है ऐसा निश्चय नहीं करता है । प्रकरण को देखने विचारने पर यहाँ अन्य से परिकल्पित प्रधान नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि जो शरीर रूपक (रथ सादृश्य) रूप से विन्यस्त (कथित) हुआ है उसी का यहाँ अव्यक्त शब्द से गृहीति (ज्ञान) होता है । शरीर ही यहाँ रथ रूपक रूप से विन्यस्त है, वही अव्यक्त शब्द से ज्ञात होता है, और इस ज्ञान में प्रकरण और परिशेष हेतु है । एव इस ज्ञान के अनुकूल ही अनन्तर अतीत ग्रन्थ भी आत्मा और शरीरादि को रथी रथ आदि रूपक (सादृश्य) की कल्पना (कल्पना) को दिखलाता है—

(जीवात्मा को रथ का स्वामी जानो, शरीर को रथ ही जानो, बुद्धि को सारथि जानो, मन को लगाम जानो) इन्द्रियों को अश्व, उनके विषयो को गोचर (मार्ग) समझो । और शरीर इन्द्रिय मन सहित जीवात्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं । एव अम्यत (अवश) उन इन्द्रियादिको द्वारा यह जीव जन्मादि रूप ससार को प्राप्त करता है और सयत (वशीभूत) उन इन्द्रियादि द्वारा ससार मार्ग से पर पार उस विष्णु के परम पद को प्राप्त होता है, ऐसा दिखलाकर, ससार मार्ग में पर पार वह विष्णु का परमपद (स्वर्ग) क्या है ? ऐसी आकाङ्क्षा जिज्ञासा होने पर, उन प्रवृत्त इन्द्रियादिको से ही परत्वेन (पररूप से) पर आत्मा को ही ससार मार्ग से पर विष्णु के परम पद को श्रुति दिखलाती है—

इन्द्रियो से, इन्द्रियो के अर्थ शब्दादि विषय पर (श्रेष्ठ) प्रवृत्त हैं । विषयो में प्रवृत्त मन है, मन में बुद्धि श्रेष्ठ है, व्यष्टि बुद्धि से महानात्मा समष्टि बुद्धि जीवात्मा श्रेष्ठ है, उस महान् से श्रेष्ठ अव्यक्त है, अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष है, पुरुष से पर कुछ नहीं है, पुरुष ही परत्व की काष्ठा (सीमा) रूप है, और वही परम गति (मुक्ति आश्रय) स्वरूप है । वहाँ जो ही इन्द्रियादि प्रथम रथ की रूपक कल्पना में अस्मादि रूप से प्रवृत्त हैं, वर्णित हैं वे ही प्रवृत्त हान और अप्रवृत्त प्रक्रिया की प्रसक्ति (प्राप्ति) का वारण के लिए यहाँ गृहीत होते हैं, इनमें इन्द्रिय, मन और बुद्धि तो पूर्व और यहाँ उत्तर वाक्य में समान शब्द वाले ही हैं, मुख्य (एव-एक) शब्द से

कहे गये हैं, इन्द्रियों के गोचर (मार्ग) रूप से निर्दिष्ट (कथित) जो शब्दादि विषय रूप अर्थ हैं, उनको यहाँ इन्द्रियों से परत्व कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियों को ग्रहत्व है, और विषयो को अतिग्रहत्व है, यह बृहदारण्यक श्रुति में प्रसिद्ध है । एवं मनोमूलक विषय इन्द्रियों के व्यवहारों के होने से मन को विषयों से परत्व है, और मन से पर-बुद्धि है, जिससे बुद्धि में आरूढ (स्थिर-निश्चित) हो करके ही भोग्य समूह भोक्ता को प्राप्त होते हैं, और जो बुद्धि से पर महान् आत्मा है, उस (आत्मा को रथी जानो) इस प्रकार रथी रूप से उपक्षिप्त (निर्दिष्ट बोधित) हुआ है । क्योंकि आत्मशब्द से आत्मा ही उपक्षिप्त (प्राप्त) होता है । भोक्ता को भोग के उपकरण (साधन) से परत्व होना युक्त भी है, और स्वामित्व से इसको महत्त्व सिद्ध है ।

अथवा—

मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्वबुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।

प्रज्ञा संविच्चितिशचैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥ इति स्मृतेः,

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च ग्रहिणोति तस्मै । (श्वे० ६।१८)
इति च श्रुतेर्या प्रथमजस्य हिरण्यगर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासां बुद्धीनां परमा प्रतिष्ठा, सेह महानात्मेत्युच्यते । सा च पूर्वत्र बुद्धिग्रहणेनैव गृहीता सती हिरुगिहोपदिश्यते, तस्या अप्यस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोपपत्तेः । एतस्मिन्तु पक्षे परमात्मविषयेणैव परेण पुरुषग्रहणेन रथिन आत्मनो ग्रहणं द्रष्टव्यम्, परमार्थतः परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदाभावात् तदेवं शरीरमेवैकं परिशिष्यते तेषु । इतराणीन्द्रियादीनि प्रकृतान्येव परमपददिदर्शयिषया समनुक्रामन् परिगम्यते । शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासंयुक्तस्य ह्यविद्यावतो भोक्तुः शरीरादीनां रथादिरूपककल्पनया संसारमोक्षगतिनिरूपणेन प्रत्यगात्मब्रह्मावगतिरिह विवक्षिता । तथा च—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (का० १।३।१२)

इति वैष्णवस्य परमपदस्य दुरवगमत्वमुक्त्वा तदवगमार्थं योगं दर्शयति—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

(का० २।३।१३) इति । एतदुक्तं भवति—वाचं मनसि संयच्छेत्, वागादिवाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत् । मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं विकल्पदोषदर्शनेन ज्ञानशब्दोदितायां बुद्ध्यावध्यवसायस्वभावायां धारयेत् । तामपि बुद्धिं महत्यात्मनि भोक्तव्यग्रथायां वा बुद्धौ सूक्ष्मतापादनेन नियच्छेत्, महान्तं त्वात्मानं शान्त आत्मनि प्रकरणवति परस्मिन् पुरुषे परस्यां काष्ठायां

प्रतिष्ठापयेदिति । तदेव पूर्वापरालोचनाया नास्त्यत्र परस्परिकल्पितस्य प्रधान-
स्यावकाशः ।

अथवा (मनन शक्ति रूप मन, व्यापिनी शक्ति महान्, भाविनिश्चयरूप मति,
जीवात्मारूप ब्रह्मा, भोग्याश्रयरूप पुर, तात्कालिकज्ञानरूप बुद्धि, कीर्तिशक्ति, नियमन-
शक्ति, कैकालिकप्रज्ञा, सम्भित्, चित्ति, स्मृति, इन रूपों से समष्टि बुद्धि कही जाती है)
इस स्मृति कथन से, और (जो प्रथम ब्रह्मा को सिद्ध उत्पन्न करता है, और उनकी
बुद्धि में वेदों को प्रकट करता है) इस श्रुति कथन से जो प्रथम उत्पन्न होने वाले
हिरण्यगर्भ की बुद्धि है वह सब व्यष्टि बुद्धियों का परम आश्रय है, वही यहाँ महानात्मा
कही गयी है वह भी अप्रकृत नहीं है, किन्तु प्राथमिक बुद्धि के ग्रहण से ही गृहीत होती
हुई, यहाँ पृथक् उपदिष्ट होती है । उसको भी हमलोगों की बुद्धियों से परत्व
उत्पन्न (युक्तिसिद्ध) होता है । परन्तु इस पक्ष में परमात्मविषयक सबसे परपुरुष के
ग्रहण से ही रथों आत्मा का भी ग्रहण समझना चाहिए, क्योंकि वास्तविक स्वरूप में
परमात्मा और विज्ञानात्मा को भेद का अभाव है । इस प्रकार पूर्वकथित इन छ
पदार्थों में से वह एक शरीर ही ग्रहण में अवशिष्ट रहता है, यहाँ परम पद को दिखलाने
की इच्छा से पूर्वं प्रकृत शरीर से भिन्न इन्द्रियादिकों का ही सम अनुक्रमण (क्रम से
ग्रहण-अनुसरण) करनेवाला गुरु यम है । यहाँ परिशिष्ट अन्तिम अव्यक्त शब्द से परिशिष्ट
प्रकृत शरीर को ही दिखलाते हैं, ऐसी प्रतीति होती है । और शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि,
विषय वेदना (भोग) से समुक्त अविद्या वाला भोक्ता जीव के शरीरादि को रथादि
रूपक कल्पना द्वारा ससार और मोक्ष की प्राप्ति के निरूपण से यहाँ प्रत्यगात्मा की
ब्रह्मरूप से अवगति (ज्ञान) विवक्षित है । यहाँ कहते हैं कि (सब भूतों में गूढ़
(छिपा हुआ) यह आत्मा प्रकाशता (अनुभूत होता) नहीं है, परन्तु आस (शुद्ध) सूक्ष्म
बुद्धि द्वारा सूक्ष्म दृष्टियों से देखा समझा जाता है) इस प्रकार वैष्णव परपद के दुर्ज्ञेयत्व
को कहकर, उसके ज्ञान के लिए योग दिखलाते हैं कि (बुद्धिमान् पुरुष वाक् का मन में
लय करे, मन का ज्ञान प्रकाश रूप बुद्धि में लय करे, बुद्धि का समष्टि बुद्धि महान् में लय
करे, उसका शान्त स्वरूप आत्मा में लय करे) इत्यादि । इससे यह कहा गया है कि
वाक् को मन में सम्यक् (बद्ध) करे । अर्थात् वागादि बाह्य इन्द्रियों के व्यापारों को त्याग
कर मनोमय रूप से स्थिर होवे । विषयों के विकल्प के लिए अभिमुख (प्रवृत्त) मन को
भी विकल्पजन्य दोषों के दर्शन द्वारा ज्ञान शब्द से कथित निश्चय स्वभाववाली बुद्धि
में धारण करे । फिर उस बुद्धि को भी महानात्मा भोक्ता में अथवा आस बुद्धि में सूक्ष्मता
का सम्पादन द्वारा लय करे । महानात्मा को प्रकरणप्राप्त परम सीमारूप शान्तात्मा पर
पुरुष में प्रतिष्ठा स्थिति लय करे । इस प्रकार पूर्वापर के आलाचना करने पर अन्य से
कल्पित प्रधान का यहाँ अवकाश नहीं है ।

सूक्ष्मं तु तदहर्त्वात् ॥ २ ॥

उक्तमेतत्प्रकरणपरिगेपाभ्यां शरीरमव्यक्तशब्दं न प्रधानमिति । इदमिदानीमाशङ्क्यते—अथमव्यक्तशब्दार्हत्वं शरीरस्य, यावता स्थूलत्वात्स्पष्टतरमिदं शरीरं व्यक्तशब्दार्हमस्पष्टवचनस्त्वव्यक्तशब्द इति ।

अत उत्तरमुच्यते—सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात् । यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति । प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः, यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० सं० १।४।६।४) इति । श्रुतिश्च—तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् (वृ० १।४।७) इति । इदमेव व्याकृतनामरूपविभिन्नं जगत्प्रागवस्थायां परित्यक्तव्याकृतनामरूपं बीजशक्त्यवस्थमव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति ।

यह कहा गया है कि प्रकरण और गेपरूप हेतु से अव्यक्त शब्द का अर्थ शरीर है, प्रधान नहीं । यहाँ यह आशंका होती है कि शरीर को अव्यक्त शब्द के योग्यत्व कैसे होगा ? जब कि स्थूल होने से यह शरीर अत्यन्त स्पष्ट व्यक्त शब्दार्थ है और अस्पष्ट का वाचक अव्यक्त शब्द है । उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ कारण रूप से सूक्ष्म शरीर अव्यक्त शब्द से विवक्षित होता है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर को अव्यक्त शब्द की योग्यता है । यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वयं अव्यक्त शब्द के योग्य नहीं है, तथापि उसका आरम्भक भूतों का सूक्ष्मांश तो अव्यक्त के योग्य है ही । यदि कहो कि कारण का वाचक शब्द कार्य को कैसे कहेगा तो कहा जाता है कि कार्य कारण में अभेद दृष्टि से कारण वाचक शब्द का विकार (कार्य) में प्रयोग देखा गया है । जैसे कि (गौ के दूध से मत्सर-सोम को मिश्रित करे) यहाँ दूध अर्थ में गौ शब्द का प्रयोग किया गया है और व्यक्त को ही कारणावस्था में श्रुति अव्यक्त कहती है कि (पूर्वावस्था में प्रसिद्ध यह जगत् अव्याकृत था) इससे यह व्याकृत नामरूप से भेदयुक्त जगत् को ही पूर्वावस्था में व्यक्त नामरूपरहित बीजशक्ति संस्काररूप में स्थिर को अव्यक्त शब्द योग्य श्रुति दिखलाती है ।

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

अत्राह—यदि जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं बीजात्मकं प्रागवस्थमव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्येत, तदात्मना च शरीरस्याप्यव्यक्तशब्दार्हत्वं प्रतिजायेत, स एव तर्हि प्रधानकारणवाद एवं सत्यापद्येत । अस्यैव जगतः प्रागवस्थायाः प्रधानत्वेनाभ्युपगमात्—इति ।

अत्रोच्यते । यदि वयं स्वतन्त्रां काश्चित्प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधानकारणवादम् । परमेश्वराधीना त्वयमस्माभिः

प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा । सा चावस्थाभ्युपगन्तव्या, अर्थवती हि सा । नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्व सिद्धयति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः । कुत ? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात् । अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्ति, यस्या स्वरूपप्रतिबोधरहिता शेरते ससारिणो जीवाः । तदेतदव्यक्तं कचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम्—‘एतस्मिन्नुत्पत्त्यक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च’ (वृ० ३।८।११) इति श्रुते । क्वचिदक्षरशब्दोदितम्—‘अक्षरात्परतः पर’ (मु० २।१) इति श्रुते । क्वचिन्मायेति सूचितम्—‘माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्’ (श्वे० ४।१०) इति मन्त्रवर्णात् अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशम्यत्वात् । तदिदं ‘महत् परमव्यक्तम्’ इत्युक्तमव्यक्तमप्रभवत्वात्महतं, यदा हैरण्यगर्भो बुद्धिमहान् । यदा तु जीवो महास्तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य महत् परमव्यक्तमित्युक्तम् । अविद्या ह्यव्यक्तम्, अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्वं व्यवहारः सन्ततो वर्तते । तच्चाव्यक्तगतं महत् परत्वमभेदोपचारात्तद्विकारे शरीरे परिकल्प्यते । सत्यपि शरीरवदिन्द्रियादीनां तद्विकारत्वाविशेषे शरीरस्यैवाभेदोपचारादव्यक्तशब्देन ग्रहणम्, इन्द्रियादीनां स्वशब्दैरेव गृहीतत्वात्परिशिष्टत्वाच्च शरीरस्य ।

यहाँ शका होती है, कि यदि व्यक्त नामरूप रहित बीजात्मक पूर्वावस्थायुक्त यह जगत् अव्यक्त शब्द के योग्य माना जाय, और उस बीजात्मक स्वरूप से शरीर को भी अव्यक्त शब्द योग्यत्व की प्रतिज्ञा की जाय, तो इस प्रकार मूढभावस्था के स्वीकार होने पर वही प्रधान कारणवाद प्राप्त होगा । क्योंकि इस जगत् की ही पूर्वावस्था को प्रधान (त्रिगुण की साम्यावस्था) रूप में माना जाता है । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि, यदि हम किसी स्वतन्त्र जगत् की पूर्वावस्था को जगत् के कारण रूप में स्वीकार करें तो प्रधान कारणवाद की प्राप्ति कर सकते हैं । परन्तु हम लोग तो परमेश्वराधीन इस जगत् की पूर्वावस्था को मानते हैं, स्वतन्त्र नहीं । और वह अवस्था अप्रत्यक्ष मानने योग्य है, क्योंकि वह अर्थवती (मफला) है । उसके बिना कूटस्थ निर्विकार परमेश्वर को स्रष्टृत्व (मृष्टि कर्तृत्व) नहीं सिद्ध हो सकता है । शक्तिरहित उस परमात्मा की मृष्टि विषयक प्रवृत्ति की असिद्धि से स्रष्टृत्व की असिद्धि होगी और बीजशक्ति को मानने पर बन्ध मोक्ष की व्यवस्था होती है, इसमें मुक्तात्माओं की फिर उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि विद्या से उस जन्म के हेतु बीजशक्ति का दाह नाश हो जाता है, जिसमें जन्मादि का हेतुरूप वह बीजशक्ति अविद्या स्वरूप अव्यक्त शब्द में निर्देश के योग्य परमेश्वराश्रित लौकिक मातानुस्य महासुप्ति स्वरूपा है, जिसमें स्वरूप के ज्ञान से रहित सारी जीव सब

मोहनिद्रा में सोते हैं, उसके कार्यादि में आसक्त होते और अभिमान करते हैं। अतः यह अव्यक्त कहीं आकाश शब्द से कहा गया है कि (हे गार्गि इस अविनाशी आत्मा में आकाशादि का कारण रूप आकाश ओत-प्रोत है) इस प्रकार श्रुति से अव्यक्त आकाश शब्दार्थ सिद्ध होता है (पर अक्षर से पर परब्रह्म है)। यहाँ अव्यक्त अक्षर शब्द से कहा गया है, अन्यत्र भी अक्षर शब्द से कथित होता है। और कहीं माया इस शब्द से अव्यक्त सूचित हुआ है। (माया को जगत् की प्रकृति (उपादान) रूप कारण समझे, और माया जिसके अधीन है, उस मायी को जगत् का महान् ईश्वर समझे) इन मन्त्राक्षरों से वह सूचना होती है। और वह माया अव्यक्त है, क्योंकि वह तत्त्व (सत्य ब्रह्म स्वरूपत्व) और ब्रह्मान्यत्व उभयरूप में किसी रूप से निरूपण के योग्य नहीं है, शक्ति होने से ब्रह्म से अन्य नहीं है, सर्वथा अमिन्न में शक्ति-शक्तिमद्भाव नहीं हो सकने से सर्वथा अमिन्न नहीं है। वही अक्षर माया आदि शब्द का अर्थ अव्यक्त (महत् से पर अव्यक्त है) इस प्रकार कहा गया है। एवं यह महत् पर अव्यक्त उस अवस्था में कहा गया है कि जब हिरण्यगर्भ की बुद्धि महत् शब्द का अर्थ है। जब जीव महत् शब्द का अर्थ है, तब भी जीवभाव के अव्यक्ताधीन होने से महत् से अव्यक्त है, यह कहा गया है, जिससे अविद्या ही अव्यक्त है। और अविद्यावत्ता रूप से ही जीव के सब सांसारिक व्यवहार निरन्तर होते हैं। वह जो अव्यक्त में महत् से परत्व है, उसका कार्यकारण में अभेद के व्यवहार से शरीर में कल्पना की जाती है और शरीर के समान इन्द्रियादि को भी उस अव्यक्त के विकारत्व तुल्य होते हुए भी अभेद के उपचार व्यवहार से शरीर का ही अव्यक्त शब्द से ग्रहण होता है, अन्य का नहीं, क्योंकि इन्द्रियादि वहाँ स्ववाचक शब्दों से ही गृहीत हैं, और शरीर को ही परिशिष्टत्व है।

अन्ये तु वर्णयन्ति—द्विविधं हि शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च। स्थूलं यदिदमुपलभ्यते। सूक्ष्मं यदुत्तरत्र वक्ष्यते—‘तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न-निरूपणाभ्याम्’ (वृ० ३।१।१) इति। तच्चोभयमपि शरीरमविशेषात्पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितम्, इह तु सूक्ष्ममव्यक्तशब्देन परिगृह्यते सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। तदधीनत्वाच्च बन्धमोक्षव्यवहारस्य जीवात्तस्य परत्वम्, यथाऽधीनत्वादिन्द्रियव्यापारस्येन्द्रियेभ्यः परत्वमर्थानामिति।

तैस्त्वेतद्वक्तव्यम्, अविशेषेण शरीरद्वयस्य पूर्वत्र रथत्वेन संकीर्तितत्वात्समानयोः प्रकृतत्वपरिशिष्टत्वयोः कथं सूक्ष्ममेव शरीरमिह गृह्यते न पुनः स्थूलमपीति। आम्नातस्यार्थं प्रतिपत्तुं प्रभवामो नाम्नातं पर्यनुयोक्तुम्, आम्नातं चाव्यक्तपदं सूक्ष्ममेव प्रतिपादयितुं शक्नोति नेतरद्व्यक्तत्वात्तस्येति चेत् ? न, एकवाक्यताधीनत्वादर्थप्रतिपत्तेः। नहीमे पूर्वोत्तरे आम्नाते एकवाक्यतामनापद्य केञ्चिदर्थं प्रतिपादयतः, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। नचाकाङ्क्षामन्तरेणैकवाक्यताप्रतिपत्तिरस्ति, तत्राविशिष्टायां शरीरद्वयस्य ग्राह्यत्वाकाङ्क्षायां यथा-

काङ्क्ष सम्बन्धेऽनभ्युपगम्यमान एकवाक्यतेव बाधिता भवति कुत आम्नात-
स्यार्थस्य प्रतिपत्तिः । नचैव मन्तव्य-दु शोधत्वात्सूक्ष्मस्यैव शरीरस्येह ग्रहण,
स्थूलस्य तु दृष्टव्योभत्सतया सुशोधत्वादग्रहणम्-इति । यतो नैवेह गोचन कस्य-
चिद्विवक्ष्यते । न ह्यत्र शोधनविधायि किञ्चिदाख्यातमस्ति, अनन्तरनिर्दिष्टत्वात्
किं तद्विष्णो परम पदमितोदमिह विवक्ष्यते । तथाहीदमस्मात्परमिदमस्मात्पर-
मित्युक्त्वा 'पुष्टान्न पर किञ्चित्' इत्याह । सर्वयापि त्वानुमानिकनिराकरणो-
पपत्तैस्तथानामान्तु, न न किञ्चिच्छब्दे ।

अन्य आचार्य उक्त दो सूत्रों के अर्थ का इस प्रकार वर्णन करते हैं कि स्थूल और
सूक्ष्म दो प्रकार के शरीर हैं, स्थूल तो वह है जो प्रत्यक्ष उपलब्ध (ज्ञात) होता है,
और सूक्ष्म वह है, जिसको आगे कहेंगे कि (मृत्यु के बाद शरीरान्तर लोकान्तर में
प्राप्ति के समय यह जीव भूतो के सूक्ष्मांश सूक्ष्म शरीर में सम्बद्ध हो जाता है वह
प्रश्न और प्रत्युत्तर से समझा जाता है) वह दोनों शरीर अविलोपता में प्रथम स्वरूप
से सञ्जीवित हुआ है । और यहाँ आगे तो सूक्ष्म को अव्यक्त शब्द के योग्य होने से
सूक्ष्म ही अव्यक्त शब्द से परिगृहीत होता है । उस सूक्ष्म शरीर के अधीन जीव के
बन्धमोक्ष का व्यवहार होता है, इससे उस सूक्ष्म को जीव से परत्व है, जैसे कि इन्द्रियों
के व्यापारों को अर्थ के अधीन होने से इन्द्रियों से परत्व अर्थों को कहा गया है । इस
रोचि से सूत्रार्थ करने वाले के प्रति भाष्यकार कहते हैं कि उन्हें यह कहना चाहिए कि
प्रथम अविशेष (अभिन्न समान) रूप से दोनों शरीरों को स्वरूप से सञ्जीवितत्व होने
में दोनों में प्रकृतत्व और परिशिष्टत्व भी तुल्य है, इस अवस्था में सूक्ष्म शरीर ही अव्यक्त
शब्द में कैसे गृहीत है, और फिर स्थूल भी क्यों नहीं गृहीत होता है । यदि आप कहो
कि वेद से कथित अर्थ को समझने के लिए हम समर्थ हैं, कथित को पर्यानुयोग करने
को (आज्ञा करने को) समर्थ नहीं हैं, कि तुम ऐसे नहीं रहकर अन्य स्वरूप बन जाओ ।
एव कथित अव्यक्तपद तो सूक्ष्म को ही प्रतिपादन के लिए समर्थ है, अन्य को प्रतिपादन
करने के लिए वह समर्थ नहीं है, क्योंकि उस स्थूल को व्यक्तत्व है । भाष्यकार कहते हैं कि
यह आपका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कथित पद वाक्य के अर्थ की प्रतीति भी केवल
पद वाक्य मात्र से ही नहीं हो जाती है, किन्तु एकार्थबोधक पदों की परस्पर की आकांक्षा
से एक बुद्धि विषयत्व रूप एकवाक्यता के अधीन वाक्यार्थ का ज्ञान होता है । ये पूर्वोक्त
आम्नात (पठित) वाक्य एकवाक्यता को प्राप्त हुए बिना किसी अर्थ का प्रतिपादन
नहीं करते हैं, क्योंकि एकवाक्यता के बिना शरीर शब्द से रुद्ध वृत्ति द्वारा प्रकृत स्थूल
शरीर के ग्रहण का हान (त्याग) होगा, और अप्रकृत भूतसूक्ष्मादि का अव्यक्त शब्द
से ग्रहण रूप प्रक्रिया की प्राप्ति होगी । और आकांक्षा के बिना एकवाक्यता का ज्ञान
नहीं होता है, और आकांक्षा से वाक्यैकवाक्यत्व के होने पर और दोनों शरीर का
तुल्य ग्राह्यत्वाकांक्षा होने पर आकांक्षा के अनुसार सम्बन्ध को नहीं मानने पर एक-

वाक्यता बाधित होगी फिर वेदार्थ का ज्ञान कैसे होगा ? ऐसा भी नहीं मानना चाहिये कि सूक्ष्म शरीर के दुःशोध्य होने से अर्थात् दुर्विवेच्य होने से आत्मा के साथ एक रूप से गृहीत उस सूक्ष्म का शोधन विवेचन के लिए सूक्ष्म का ही ग्रहण है । और स्थूल शरीर तो दृष्ट वीमत्सता (विकृतता) से मुशोध्य है, इसके आत्ममिन्नत्व का ज्ञान सुलभ है, इसलिए अव्यक्त शब्द से स्थूल का अग्रहण है इत्यादि । इससे यहाँ किसी का शोधन विवक्षित नहीं है, क्योंकि शोधन का विधायक कोई आख्यात (क्रियावाचक पद) यहाँ नहीं है । किन्तु अनन्तर निर्दिष्ट होने से (वह विष्णु का परम पद क्या है) यही यहाँ विवक्षित है । जैसे कि वह इससे पर है, यह इससे पर है, इस प्रकार इन्द्रियादि से पर पुरुष को कहकर (पुरुष से पर कुछ नहीं है) इस विष्णु के परपद (स्वरूप) को धृति कहती है कि जिससे पर कुछ नहीं है । एवं आनुमानिक के निराकरण की सिद्धि तो सर्वथा होती है, इससे वैसे व्याख्यान भी हो, उससे हमारी कुछ हानि नहीं है ।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः, नहि गुणस्वरूपमजात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति । क्वचिच्च विभूति-विशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति । नचेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते, पदमात्रं ह्याव्यक्तशब्दः, नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति । नचानुपदिष्टं पदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम् । तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधानमभिधीयते । अस्माकं तु रथरूपककल्पशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ।

त्रिगुण रूप प्रधान से मिश्र पुरुष ज्ञान से अर्थात् प्रधान पुरुष के विवेक रूप भेद ज्ञान से मोक्ष कहने वाले सांख्यवादी प्रधान को ज्ञेय रूप से स्मरण (चिन्तन कथन) करते हैं, क्योंकि गुणमय प्रधान के स्वरूप को जाने बिना गुणों से पुरुष का भेद जाना नहीं जा सकता है, और कहीं विभूति (अणिमादि ऐश्वर्य) विशेष की प्राप्ति के लिए प्रधान ज्ञेय उपास्यादि है ऐसा कहते हैं । यहाँ यह अव्यक्त ज्ञेय रूप से नहीं कहा जाता है, पदमात्र ही अव्यक्त शब्द है । अव्यक्त जानने योग्य है, वा उपास्य है, ऐसा वाक्य यहाँ नहीं है । उपदिष्ट (करने के लिए विहित) ज्ञानव्यानादि सफल होते हैं, अनुपदिष्ट (अविहित) पदार्थज्ञान पुरुषार्थ रूप सफल है, ऐसा नहीं मान सकते हैं, न समझ सकते हैं । और उस ज्ञेयत्वावच्छिन्न से भी यहाँ अव्यक्त से प्रधान नहीं कहा जाता है । हमारे मत में तो शरीर के ज्ञेयत्व की अनुक्ति होते हुए भी रथरूपक (सादृश्य) रूप से सिद्ध शरीरादि के अनुसरण (अवलम्बन) द्वारा विष्णु का ही परमपद को दर्शाने के लिए यह उपन्यास (वाक्योपक्रम-रचना) है । इससे दोषरहित सफल है ।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

अत्राह सारथ्य — 'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम् ? कथम् ? श्रूयते ह्युत्तरत्राय-
कशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम्—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथाऽरम नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्त महत् पर ध्रुव निचाय्य त मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

(का० २।३।१५) इति । अत्र हि यादृश शब्दादिहीन प्रधान महत् पर
स्मृतौ निरूपित तादृशमेव निचाय्यत्वेन निर्दिष्ट, तस्मात्प्रधानमेवेद, तदेव
चाय्यकशब्दनिर्दिष्टमिति ।

यहाँ साख्यवादी कहते हैं कि, ज्ञेयत्वावचनात्, यह जो हेतु कहा गया वह असिद्ध
है, क्योंकि उत्तर वाक्य में अव्यक्त शब्द से कथित प्रधान को ज्ञेयत्ववचन (कथन)
सुना जाता है कि (शब्दस्पर्शरूपरहित, अव्यय (अविनाशी) तथा रसरहित,
नित्य, गन्धरहित, अनादि, अनन्त, महत् से पर, ध्रुव (निश्चल) जो तत्त्व है, उस
आत्मा को जान कर मृत्यु के मुख से प्रमुक्त होता है) जैसे शब्दादिरहित प्रधान
स्मृति में महत् से पर निरूपित है वैसे ही यहाँ भी निचाय्यत्व (ज्ञेयत्व) रूप से
निर्दिष्ट है । उसमें यह प्रधान ही निर्दिष्ट है, और वही अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट
(कथित) है ।

अत्र ब्रूम — नेह प्रधान निचाय्यत्वेन निर्दिष्टम्, प्राज्ञो हीह परमात्मा निचा-
य्यत्वेन निर्दिष्ट इति गम्यते । कुतः ? प्रकरणात् । प्राज्ञस्य हि प्रकरण वित्तन वर्तते
'पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति ' इत्यादिनिर्देशात् । 'एष सर्वेषु भूतेषु
गूढोत्मा न प्रकाशते' इति च दुर्ज्ञानत्ववचनेन तस्यैव ज्ञेयत्वाकाङ्क्षाणात् । 'यच्छे-
द्वाङ्मनसो प्राज्ञ ' इति च तज्ज्ञानायैव वागादिमयस्य विहितत्वात्, मृत्युमुख-
प्रमोक्षणफलत्वाच्च । नहि प्रधानमात्र निचाय्य मृत्युमुच्यते इति साङ्ख्यैरिष्यते ।
चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्युमुखात्प्रमुच्यते इति तेषामभ्युपगम सर्वेषु वेदान्तेषु
प्राज्ञस्यैवात्मनोऽशब्दादिधर्मन्वमभिलप्यते । तस्मान्न प्रधानम्यात्र ज्ञेयत्वमव्यक्त-
शब्दनिर्दिष्टत्वं वा ।

यहाँ सिद्धान्त कहते हैं कि यहाँ ज्ञेयत्व रूप से प्रधान नहीं निर्दिष्ट हुआ है । यहाँ
प्राज्ञ परमात्मा ही ज्ञेयत्व रूप से निर्दिष्ट है, ऐसा यहाँ ज्ञान होना है, क्योंकि परमात्मा
का प्रकरण है । प्राज्ञ का ही विस्तृत प्रकरण वर्तमान है कि (पुरुष से पर कुछ नहीं
है, वह परत्व की सीमा है पर गति है) इत्यादि कथन से पुरुष का प्रकरण है ।
क्योंकि (सब भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा नहीं प्रकाशता है) इस प्रकार दुर्ज्ञेयत्व
कथन से उस आत्मा ही के ज्ञेयत्व की आकांक्षा होती है । (बुद्धिमान् वाक् को
मन में लीन करे) इत्यादि वचनों से उस आत्मा के ज्ञान के लिए ही वागादि का
समय विहित है, और मृत्यु मुख से प्रमोक्षणरूप फलवाला होने से भी यह आत्मज्ञान

का प्रकरण है । क्योंकि प्रधान मात्र को जानकर मृत्यु के मुख से मुक्त होता है, यह सांख्यवादी को भी इष्ट नहीं है । चेतनात्मा के विज्ञान से ही मृत्यु के मुख से मुक्त होता है, यह उनका भी स्वीकृत सिद्धान्त है । एवं सब वेदान्त में प्राज्ञ आत्मा की ही अशब्दादि धर्मता कही जाती है । जिससे यहाँ प्रधान को न ज्ञेयत्व है, न अव्यक्त शब्द से निर्दिष्टत्व है ।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

इतरश्च न प्रधानस्याव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा । यस्मात्त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन् ग्रन्थे कठवल्लिपु वरप्रदानसामर्थ्याद्व्यक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते, तद्विषय एव च प्रश्नः, नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वास्ति । तत्र तावत्—

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येऽपि मृत्योः प्रवृहि तं श्रद्धधानाय मह्यम् ।

(का० १।१।१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः ।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तोत्येके नायमस्तीति चैके ।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेव वरस्तृतीयः ॥

(का० १।१।२०) इति जीवविषयः प्रश्नः ।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्द्व ॥

(का० १।२।१४) इति परमात्मविषयः । प्रतिवचनमपि—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा । (का० १।१।१५)

इत्यग्निविषयम् ।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ (का० २।५।६, ७) इति ।

व्यवहितं जीवविषयम् । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (का० १।२।१८)

इत्यादि बहुप्रपञ्चं परमात्मविषयम् । नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति अपृष्टत्वादनूपन्यसनीयत्वं तस्येति ।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी प्रधान को अव्यक्त शब्द वाच्यत्व अथवा ज्ञेयत्व नहीं है कि जिससे इस ग्रन्थ में वरप्रदान के सामर्थ्य से कठवल्लियों में अग्निजीव परमात्मा रूप तीन पदार्थों का ही वक्तव्य रूप से उपन्यास (उपक्रम कथन) दीखता है, और उन तीन पदार्थ विषयक ही प्रश्न हैं । उन तीन से अन्य का प्रश्न वा उपन्यास नहीं है । वहाँ प्रथम अग्नि विषयक प्रश्न है कि (वह मुझे वर देने वाले आप स्वर्ग का हेतु अग्नि का स्मरण करते हो, हे मृत्युदेव ! उस अग्नि आदि विषयक श्रद्धायुक्त मेरे

लिए उस अग्नि का उपदेश करो) और जीवविषयक प्रश्न है कि (मनुष्य के मरने पर जो यह सशय होता है कि शरीर के अतिरिक्त जीवात्मा अब भी है ? कोई कहते हैं कि मरने पर नहीं है । यह आत्मतत्त्व कैसा है ? इस अर्थ को मैं आप से उपदेश पा कर समझूंगा, वरों में यह तीसरा वर है) और ('धर्म अधर्म कार्य कारण भूत भविष्यत् वर्तमान से अन्य जिसको आप जानते हो, उसे कहो') यह परमात्मविषयक प्रश्न है । एव प्रतिवचन भी अग्निविषयक है कि (लोको का हेतु विराट् रूप से उपास्य उस अग्नि को मृत्यु ने नचिक्वेता के लिए कहा । और अग्निचयन के लिए जिस स्वरूप वाली जितनी ईंटे होनी चाहिए यह कहा, तथा चयन का प्रकार कहा) तथा 'हन्त इस समय, तेरे लिए यह गुप्त सनातन ब्रह्म कहूंगा' इस प्रकार ब्रह्म विषयक प्रतिज्ञा करके, और (हे गौतम ! मरण को प्राप्त होकर जैसा होता है वह भी कहूंगा) इस प्रकार जीव विषयक प्रतिज्ञा करके, और ब्रह्म विषयक प्रतिज्ञा से व्यवधानयुक्त जीव विषयक उत्तर है कि 'कोई देही मरण पा कर फिर शरीर ग्रहण के लिए कर्म और ज्ञान के अनुसार योनि में प्राप्त होते हैं, उनमें अन्य स्थावर में प्राप्त होते हैं और सर्वज्ञ परमात्मा जन्मता मरता नहीं है' इत्यादि वचनां से बहुत विस्तारपूर्वक परमात्मविषयक प्रतिवचन है । इस प्रकार प्रधान विषयक प्रश्न नहीं है, और अपृष्ट होने से उस प्रधान का उपन्यास होना भी योग्य नहीं है, वह अव्यक्त है ।

अत्राह—योज्यमात्मविषय प्रश्नो 'येय प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ती'ति, किं स एवायम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' इति पुनरनुकृष्यते, किंवा ततोऽन्योज्यमपूर्वं प्रश्न उत्थाप्यत इति । किंचात ? स एवायं प्रश्न पुनरनुकृष्यत इति यद्युच्येत, तदा द्वयोरात्मविषययोः प्रश्नयोरैकतापत्तेरग्निविषय आत्मविषयश्च द्वावेव प्रश्नावित्यतो न वक्तव्य त्रयाणां प्रश्नोपन्यासाविनि । अथान्योऽयमपूर्वं प्रश्न उत्थाप्यत इत्युच्यते ततो यथैव वरदानव्यतिरेकेण प्रश्नकल्पनायामदोषः, एव प्रश्नव्यतिरेकेणापि प्रधानोपन्यासकल्पनायामदोषः स्यादिति ।

यहां शका होती है कि जो यह आत्मविषयक प्रश्न है कि 'जो यह मनुष्य के मरने पर सशय होता है' इत्यादि, क्या यही प्रश्न (अन्यत्र धर्मात्) इत्यादि रूप से फिर अनुवृष्ट (सम्बद्ध) होता है ? अथवा उससे अन्य यह अपूर्व प्रश्न खड़ा किया जाता है । यदि कहा जाय कि इस विचार में क्या फल है ? तो कहा जाता है कि इस विचार का यह फल है कि यदि कहा जाय कि वह पूर्व का ही प्रश्न यहाँ फिर अनुवृष्ट होता है, तो आत्मविषयक दोनों प्रश्नों की एकता की प्राप्ति से अग्निविषयक और आत्मविषयक दो ही प्रश्न सिद्ध होते हैं, इससे तीन का प्रश्न और उपन्यास है, यह नहीं कहना होगा । और यदि यह अन्य अपूर्व प्रश्न उठाया जाता है, इस प्रकार कहा

जाता है, तो जैसे वर प्रदान के बिना प्रश्न की कल्पना में अदोष है, इसी प्रकार प्रश्न के बिना भी प्रधान के उपन्यास की कल्पना में अदोष होगा ।

अत्रोच्यते । नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कंचित्कल्पयामः, वाक्योपक्रमसामर्थ्यात् । वरप्रदानोपक्रमा हि मृत्युनचिकेतःसंवादरूपा वाक्यप्रवृत्तिरासमाप्तेः कठवल्लीनां लक्ष्यते । मृत्युः किल नचिकेतसे पित्रा प्रहिताय त्रीन् वरान् प्रददौ, नचिकेताः किल तेषां प्रथमेन वरेण पितुः सीमनस्थं वव्रे, द्वितीयेनाग्निविद्याम्, तृतीयेनात्मविद्याम्, 'येयं प्रेते' इति 'वराणामेव वरस्तृतीयः' (का० १।१।२०) इति लिङ्गात् । तत्र 'यद्यन्यत्र धर्मा' दित्यन्योऽयमपूर्वः प्रश्न उत्थाप्येत ततो वरप्रदानव्यतिरेकेणापि प्रश्नकल्पनाद्वाक्यं वाध्येत ।

यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि वाक्य के उपक्रम के सामर्थ्य से हम यहाँ वर-दान के बिना किसी प्रश्न की कल्पना नहीं करते हैं । जिसके आरम्भ में वर प्रदान का वर्णन है, ऐसी मृत्यु और नचिकेता के संवाद रूप वाक्य की प्रवृत्ति कठवल्लियों की समाप्ति पर्यन्त देखी जाती है । पिता से प्रहित (प्रेषित-भेजे गये) नचिकेता के लिए मृत्यु ने तीन वर दिए । नचिकेता ने उन तीनों वरों में से प्रथम वर द्वारा पिता की प्रसन्नता मांगी, द्वितीय वर से अग्निविद्या मांगी, तृतीय से आत्मविद्या मांगी । इसलिए 'योऽयं प्रेते' इत्यादि पूर्वक 'वरों में यह तीसरा वर है' इस हेतु से समझा जाता है । इस प्रकार के वाक्यारम्भ होते, यदि (अन्यत्र धर्मात्) इत्यादि से यह अपूर्व प्रश्न उत्थित किया जाय तो वर प्रदान के बिना भी कल्पना से वाक्य बाधित होगा ।

ननु प्रष्टव्यभेदादपूर्वोऽयं प्रश्नो भवितुमर्हति, पूर्वो हि प्रश्नो जीवविषयः 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ति नास्ती'ति विचिकित्साभिवानात्, जीवश्च धर्मादि-गोचरत्वान्नान्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हति । प्राज्ञस्तु धर्माद्यतीतत्वादन्यत्र धर्मादिति प्रश्नमर्हतीति । प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते, पूर्वस्यास्तित्वनास्तित्वविषय-त्वादुत्तरस्य धर्माद्यतीतवस्तुविषयत्वात्, तस्मात्प्रत्यभिज्ञानाभावात्प्रश्नभेदः, न पूर्वस्यैवोत्तरत्रानुकर्षणमिति चेत् ? न, जीवप्राज्ञयोरेकत्वाभ्युपगमात् । भवेत्प्रष्ट-व्यभेदो यद्यन्यो जीवः प्राज्ञात्स्यात्, न त्वन्यत्वमस्ति 'तत्त्वमसी'त्यादिश्रुत्यन्त-रेभ्यः इह चान्यत्र धर्मादित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इति जन्ममरणप्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति । सति हि प्रसङ्गे प्रतिषेधो भागी भवति । प्रसङ्गश्च जन्ममरणयोः शरीरसंस्पर्शाच्छारी-रस्य भवति न परमेश्वरस्य ।

यहाँ गंका होती है कि जीव और ईश्वर रूप प्रष्टव्य (प्रश्न के विषय) के भेद से 'अन्यत्र धर्माद' इत्यादि स्वरूप यह प्रश्न अपूर्व होने के योग्य है । क्योंकि जो यह संशय

होता है कि कोई कहता है कि शरीर में भिन्न है कोई कहता है कि नहीं है । इस प्रकार सदाय का कथन किया गया है, और धर्मादि के गोचर (आश्रय-अधीन) होने से अन्यत्र धर्मादि इस प्रश्न के योग्य जीव नहीं हो सकता है । धर्मादि से अतीत (रहित) होने से प्राज्ञ (ईश्वर) तो (अन्यत्र धर्मादि) इस प्रश्न के योग्य है और प्रश्नों की छाया (कान्ति स्वरूप) भी तुल्य नहीं दीखती है, क्योंकि प्रथम प्रश्न मरण के बाद अस्तित्व नास्तित्व विषयक है । और उत्तर (पीछे का) प्रश्न धर्मादि से रहित वस्तु विषयक है । इससे पूर्व के उत्तर में प्रत्यभिज्ञा के अभाव में प्रश्न का भेद है, इससे पूर्व प्रश्न का ही उत्तर (आगे) अनुकर्षण नहीं है । यदि ऐसा कोई बहे तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीव और प्राज्ञ को एक मानने से दोनों प्रकार के प्रश्न एक वस्तु विषयक होने से एक हैं । प्रष्टव्य (प्रश्न विषय) के भेद से प्रश्न का भेद तब होता यदि प्राज्ञ से जीव भिन्न होता । परन्तु (तत्त्वमसि) वही तुम हो, इत्यादि श्रुत्यन्तर से जीव को प्राज्ञ से अन्यत्व (भेद) नहीं है । और यहाँ भी 'अन्यत्र धर्मादि' इत्यादि प्रश्न का 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादि वचन से जन्ममरणादि के प्रतिषेध द्वारा प्रतिपादित किया गया प्रतिवचन (उत्तर) भी जीवेश्वर के अभेद को दिखलाता है । क्योंकि प्रसंग (प्राप्ति) के रहते ही प्रतिषेध भागी (युक्त) होता है । शरीर के साथ सम्बन्ध से जन्म मरण का प्रसङ्ग जीव को होता है, परमेश्वर को जन्म मरण का प्रसंग नहीं होता है ।

तथा—स्वप्नान्त जागरितान्त चोभौ येनानुपश्यति ।

महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ॥ (का० २।४।४)
इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्वविशेषणस्य मननेन शोकविच्छेद दर्शयन् प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति । प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोकविच्छेद इति वेदान्तमिद्वान्त । तथाग्रे—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नामैव पश्यति ॥ (का० २।२।१०)
इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति । यथा जीवविषयस्यास्तित्वनास्तित्वप्रश्नस्यानन्तरम् 'अन्य वर नचिकेतो वृणोष्व' इत्यारभ्य मृत्युना तैस्ते कामे प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल, तर्दान् मृत्युरभ्युदयनि श्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च 'विद्याभोप्सिन् नचिकेतस मन्ये न त्वा कामा बह्वोज्ज्वलुपन्त' (का० १।२।४) इति प्रश्नस्य प्रश्नमपि तदीय प्रश्नसन् यदुवाच—
त दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति ॥
(का० १।२।१२) इति, तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते । यत्प्रश्ननिमित्ता च प्रश्नामा महती मृत्यो प्रत्यपद्यत नचिकेता यदि त विहाय

प्रशंसानन्तरमन्यमेव प्रश्नमुपक्षिपेदस्थान एव सा सर्वा प्रशंसा प्रसारिता स्यात्, तस्मात् 'येयं प्रेते' प्रश्नस्यैतदनुकर्षणम् 'अन्यत्र धर्मात्' इति ।

इसी प्रकार 'स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था इन दोनों को जिस साक्षिस्वरूप आत्मा द्वारा जीव देखता है, उस महान् विभु आत्मा को जानकर विद्वान् सोचता नहीं है' इस वाक्य से स्वप्न जाग्रत के द्रष्टा जीव का ही महत्त्व विभुत्व विशेषणयुक्त रूप से मनन द्वारा शोक विच्छेद को दिखलाते हुए गुरु जीव प्राज्ञ से अन्य नहीं है, यह दिखलाते हैं, क्योंकि प्राज्ञ के विज्ञान से शोक का विच्छेद होता है, यह वेदान्त का सिद्धान्त है । इसी प्रकार आगे (जो यहाँ है, वही चेतन अन्यत्र परलोक मूर्यादि में है, वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है जो इसमें नाना के समान देखता है) इस वचन से जीव और प्राज्ञ में भेद-दृष्टि का अपवाद (निन्दा) करते हैं । इसी प्रकार जीव विषयक अस्तित्व नास्तित्व के प्रश्न के अनन्तर (वाद, हे नचिकेता ! अन्य वर मांगो) इस प्रकार आरम्भ करके मृत्यु से तत्तद् कामों (विषयों) द्वारा लोभायमान (प्रलोभित किया गया) भी नचिकेता जब लुब्ध विचलित नहीं हुआ, तब मृत्यु से अम्युदय (स्वर्गादि) और निःश्रेयस (मोक्ष) के विभाग का प्रदर्शन पूर्वक, तथा विद्या और अविद्या के विभाग का प्रदर्शन पूर्वक उसको कहा कि (बहुत काम तुम्हें लोलुप नहीं कर सके इससे तुम नचिकेता को विद्या-भीप्सी (विद्यार्थी) मानता है । इस प्रकार उसकी प्रशंसा करके, उसके प्रश्न की भी प्रशंसा करते हुए मृत्यु बोले कि (उस दुर्ज्ञेय, माया में गूढ़ (छिपा हुआ) अत एव उसमें अनुप्रविष्ट बुद्धिरूप गुहा में स्थिर शरीर में स्थिर अनादि देव को अव्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा समझ कर विद्वान् हर्षशोक को त्यागता है) । उस कथन से जीव और प्राज्ञ का यहाँ अभेद ही विवक्षित प्रतीत होता है । और जिस प्रश्न निमित्तक महती प्रशंसा को नचिकेता ने यम से प्राप्त किया, यदि प्रशंसा के बाद उस प्रश्न को त्याग कर अन्य प्रश्न को उपक्षेप (उपस्थित) करेगा, तो सब प्रशंसा कुस्यान (अपात्र) में प्रसारित होगी अर्थात् अनवसर में कृत होगी । जिससे (येयं प्रेते) इसी प्रश्न का यह अनुकर्षण है—(अन्यत्र धर्मात्) इत्यादि ।

यत्तु प्रश्नच्छायावैलक्षण्यमुक्तं तददूषणम्, तदीयस्यैव विगोपस्य पुनः पृच्छ्यमानत्वात् । पूर्वत्र हि देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वं पृष्ठमुत्तरत्र तु तस्यैवामंसारित्वं पृच्छ्यत इति । यावद्व्यविद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्वं जीवस्य जीवत्वं च न निवर्तते । तन्नित्यवृत्तौ तु प्राज्ञ एव 'तत्त्वमसी'ति श्रुत्या प्रत्याप्यते । नचाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुनः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । यथा कश्चित्सन्तमसे पतितां काञ्चिद्रज्जुमर्हि मन्यमानस्ततो भीतो वेपमानः पलायते, तं चापरो ब्रूयान्मा भैपीनयिमही रज्जुरेवेति, स च तदुपश्रुत्याहिकृतं भयमुत्सृजेद्वेपथुं पलायनं च, न त्वहिवुद्धिकाले तदपगमकाले च वस्तुनः कश्चिद्विशेषः स्यात्, तथैवैतदपि द्रष्टव्यम् । ततश्च 'न जायते म्रियते वा' इत्येवमाद्यपि भवत्यस्तित्वप्रश्नस्य प्रतिवचनम् । सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया

योजयितव्यम् । एकत्वेऽपि ह्यात्मविषयस्य प्रश्नस्य प्रायेणावस्थाया देहव्यति-
रिक्तास्तित्वमात्रविचिकित्सनात्कर्तृत्वादिसारस्वभावानपोहनाच्च पूर्वस्य
पर्यायस्य जीवविषयत्वमुत्प्रेक्ष्यते, उत्तरस्य तु धर्माद्यत्ययसङ्कीर्तनात्प्राज्ञविषय-
त्वमिति, ततश्च युक्ताग्निजीवपरमात्मकल्पना । प्रधानकल्पनाया तु न वरप्रदान
न प्रश्नो न प्रतिवचनमिति वैषम्यम् ॥ ६ ॥

जो प्रश्न की छाया में विलक्षणता कहा है, वह द्वयण नहीं है, क्योंकि पूर्वप्रश्न का
ही विशेष फिर पूछा गया है । जिससे प्रथम देहादि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व
(सत्ता) पूछा है । और उत्तर में उसी आत्मा का असंसारित्व पूछा गया है । जिसमें
जब तक अविद्या नहीं निवृत्त होती है, तभी तक जीव को धर्मादि के आश्रयत्व और
जीवत्व भी नहीं निवृत्त होते हैं, उस अविद्या की निवृत्ति होने पर तो जीव प्राज्ञ ही
हो जाता है, यह (तत्त्वमसि) इत्यादि श्रुति से समझाया जाता है, एवं प्रत्यक्ष अनुभव
कराया जाता है । अविद्यावत्त्व (अविद्या की वर्तमानता) से और अविद्या के अपगम
(निवृत्ति) से आत्मवस्तु को कुछ विशेष (भेद हानिलाभ) नहीं होता है, इससे जीव
का स्वरूप ब्रह्मरूपता आगन्तुक नहीं है । जैसे सन्तमस (व्याससमान अन्धकार) में
पड़ी हुई किसी रज्जु (रस्ती) को सर्प मान कर और उससे डरकर कांपता हुआ
कोई मागता हो, और उसको अन्य कोई कहे कि मत डरो 'यह सर्प नहीं है यह तो
रज्जु ही है' तो वह भागनेवाला उस वचन को सुनकर सर्पकृत भय, कम्प और मागना
रूप क्रिया इन तीनों को त्याग देता है, परन्तु सर्पज्ञान काल में और उस ज्ञान के
निवृत्तिकाल में रज्जुरूप वस्तु को कुछ विशेष नहीं होता है, वैसे यहाँ भी समझना
चाहिये । इस प्रकार प्रश्न की एकता से (न जायते श्रियते वा) न जन्मता है न मरता
है, इत्यादिक भी अस्तित्व प्रश्न का उत्तर है कि जन्मादि रहित होने में आत्मा सदा
एक रस रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता है इत्यादि । परन्तु जीव ब्रह्म के एक
होने पर (त्रयाणाम्) यह सूत्र कैसे सगत हो सकता है, इस आशय से कहते हैं कि
अविद्या से कल्पित जीव ब्रह्म के भेद की अपेक्षा से सूत्र की योजना (वाक्यार्थ) करता
चाहिये । आत्मविषयक प्रश्न को एकत्व होते हुए भी मरणकाल में देह से भिन्न आत्मा
के अस्तित्वमात्र के सशय होने में और कर्तृत्वादि ससार धर्म की अनिवृत्ति में प्रथम
पर्याय (प्रकार) वाले प्रश्न को जीवविषयत्व की उत्प्रेक्षा (वृद्धि) की जाती है ।
धर्मादि के अत्यय (अतिशय) के सकीर्तन से उत्तर पर्याय (प्रकार) को प्राज्ञ-
विषयत्व की उत्प्रेक्षा की जाती है । जिससे अग्नि जीव और परमात्मा की कल्पना भी
युक्त है । प्रधान की कल्पना में यह विषमता है कि न प्रधान विषयक वर प्रदान है,
न प्रश्न है, न प्रतिवचन है ।

महद्वच्च ॥ ७ ॥

यथा महच्छब्द साङ्ख्ये सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वेदि-

केपि प्रयोगेऽभिधत्ते, 'बुद्धेरात्मा महान् परः' (का० १।३।१०), 'महान्तं विभुमा-
त्मानम्' (का० १।२।२२), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (श्वे० ३।८) इत्येवमादा-
वात्मशब्दप्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः, तथाव्यक्तशब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभि-
धातुमर्हति । अतश्च नास्त्यानुमानिकस्य शब्दवत्त्वम् ॥७॥

जैसे सांख्यवादी लोग महत् शब्द को प्रथम उत्पन्न प्रकृति का प्रथम कार्य सत्ता-
मात्र महत्त्व अर्थ ही में प्रयोग करते हैं, वैदिक प्रयोग में भी महत् शब्द से उस सत्ता-
मात्र को नहीं कहा जाता है । इसलिए (बुद्धि से महान् विभु आत्मा को मानकर धीर
नहीं सोचता है । मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ) इत्यादि वाक्यों में जैसे आत्मशब्द
प्रयोगादिरूप हेतुओं से समझा जाता है, वैसे ही अव्यक्त शब्द भी वैदिक प्रयोगों में प्रधान
को नहीं कह सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि आनुमानिक प्रधान को श्रुति शब्द से प्रति-
पाद्यत्व नहीं है ।

चमसाधिकरण (२)

अजा हि साङ्ख्यप्रकृतिस्तेजोऽवन्नात्मिकाऽथवा ।

रज आदौ लोहितादिलक्ष्येऽसौ साङ्ख्यशास्त्रगा ॥

लोहितादिप्रत्यभिज्ञा तेजोऽवन्नादिलक्षणाम् ।

प्रकृति गमयेच्छ्रौतीमजाक्लृप्तिमधुत्ववत् ॥

'चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इस श्रुति में कथित चमस के समान (अजामेकाम्) इत्यादि
श्रुति में विशेष के ज्ञान नहीं होने से संशय होता है कि यह अजा सांख्य की त्रिगुणात्मि-
का स्वतन्त्र प्रकृति है अथवा श्रुति कथित तेज, जल, अन्न (भूमि) रूप प्रकृति का
वाचक ? पूर्वपक्ष है कि लोहितादि शब्दों के लक्ष्यरूप रजोगुणादि में पठित वह सांख्य-
शास्त्रगत अजा शब्द है । इससे सांख्य की प्रकृति अजा है । सिद्धान्त है कि छान्दोग्य में
पठित तेज आदि की यहाँ लोहितादि शब्दों से प्रत्यभिज्ञा होती है, जिससे तेज आदिरूप
श्रुति सिद्ध प्रकृति का ही अजा शब्द बोध करता है । सूर्य में मधु के समान तेज आदि
में अजा की कल्पना होती है ।

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धिमित्याह, कस्मात् ? मन्त्रवर्णात्—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजां ह्येको जुपमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ (श्वे०
४।५) इति । अत्र हि मन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णाशब्दै रजःसत्त्वतमांस्यभिधी-
यन्ते । लोहितं रजो रज्जनात्मकत्वात्, शुक्लं सत्त्वं प्रकाशात्मकत्वात्, कृष्णं
तम आवरणात्मकत्वात् । तेषां साम्यावस्थाऽत्रयवधर्मैर्व्यपदिश्यते लोहितशुक्ल-
कृष्णेति । न जायत इति चाजा स्यात्, 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' इत्यभ्युपगमात् ।
नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः । वाढम् । सा तु रूढिरिह नाश्रयितुं शक्या,

विद्याप्रकरणात् । मा च बह्वी प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति, ता प्रकृतिमज एक पुरुषो जुषमाण प्रीयमाण सेवमानो वानुज्येते । तामेवाविद्ययात्मत्वेनोपगम्य सुखी दुःखी मूढोऽहमित्यविवेकितया ससरति, अन्य पुनरजः पुरुष उत्पन्नविवेकज्ञानो विरक्तो जहात्येना प्रकृतिं भुक्तभोगा कृतभोगापवर्गा परित्यजति मुच्यत इत्यर्थः । तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादिकल्पना कापिलानामिति ।

प्रधानवादी फिर भी कहता है कि प्रधान के अशब्दत्व को अस्तिद्धि है, क्योंकि मन्त्रवर्ण से प्रधान निम्न होता है कि (समानरूपवाली बहुत प्रजा को उत्पन्न करनेवाली रज सत्त्वतमोगुणवाली एक अजा अनादि प्रकृति को सेवन करता हुआ एक अज पुरुष उसको भजता है, उसका अनुसरण करता है, और अन्य अज जिससे भाग मिला है ऐसी उस अजा को त्याग देता है) । इस मन्त्र में लोहितशुक्लकृष्ण शब्दों से रज सत्त्वतम कहे जाते हैं । उनमें रज्जनात्मक होने से रजोगुण लाहित है । प्रकाशात्मक होने से सत्त्वगुण शुक्ल है । आवरणात्मक होने से तमोगुण कृष्ण है । उन गुणों की साम्यावस्था अवयव के घर्षों से लोहितशुक्लकृष्ण कही जाती है, और जन्मती नहीं है इससे अजा ही सक्ती है । एव ऐसा अम्युपगम (स्वीकार) भी किया गया है कि (सबका मूलरूप जो प्रकृति है, वह किसी की विद्वति कार्य नहीं है) रुद्धियोग से प्रबल होती है इस आशय से सका होती है कि अजा शब्द तो बकरा अर्थ में रुद्ध है, फिर प्रकृति का वाचक कैसे हो सकता है ? उत्तर है कि लोक में रुद्धि सत्य ही है परन्तु विद्या का प्रकरण होने से यहाँ उस रुद्धि का आश्रयण नहीं किया जा सकता है, और वह अजा प्रकृति सुखदुःख मोहरूप त्रैगुण्य में युक्त बहुत महदादि कार्यरूप प्रजा को उत्पन्न करती है, उस अजा प्रकृति को एक अज पुरुष जुषमाण अर्थात् उसमें प्रेमयुक्त उससे प्रमन्नरूप प्रियमाण होता हुआ अथवा उसका सेवन करता हुआ अनुशयन करता है । अविद्या को उस अजा को ही आत्मारूप से समझकर और अविवेक से 'मैं सुखी-दुःखी मूढ़ हूँ' इस प्रकार समझता हुआ ससार चक्र में पड़ता है । और जिसको विवेकज्ञान उत्पन्न हो गया है, वह अन्य विरक्त अजपुरुष, भुक्तभोगी अर्थात् जो भोग और भोक्ष का सम्पादन कर चुकी है, ऐसी इस प्रकृति को सर्वथा त्याग करता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है । यह उक्त श्रुति का अर्थ है, जिससे कपिलमतानुयायियों की श्रुतिमूलक ही प्रधान की कल्पना है ।

एव प्राप्ते ब्रूम — नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्त्व साङ्ख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम् । न ह्ययं मन्त्र स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि वाद समर्थयितुमुत्सहते । सर्वत्रापि यथा यथाचित्कल्पनयाऽज्ञात्वादिमम्पादनोपपत्तेः, साङ्ख्यवाद एवेहभिप्रेत इति विशेषावधारणकारणाभावात् । चममवत् । यथाहि 'अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वं बुध्न' (बृ० २।२।३) इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येणाय नामानो चममोऽभिप्रेत इति न

शक्यते निरूपयितुम्, सर्वत्रापि यथाकथंचिदर्वाग्विलत्वादिकल्पनोपपत्तेः । एव-
मिहाप्यविशेषोऽजामेकामित्यस्य मन्त्रस्य, नास्मिन्मन्त्रे प्रधानमेवाजाभिप्रेतेति
शक्यते नियन्तुम् ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि इस मन्त्र से सांख्यवाद को श्रुतिमत्त्व का
आश्रयण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी वाद का समर्थन
करने के लिए उत्साह नहीं करता है । और सर्वत्र ही जिस किसी कल्पना से अजा-
त्वादि के सम्पादन की सिद्धि हो सकती है । सांख्यवाद ही यहाँ अभिप्रेत (अभिप्राय
का विषय) है, इस विशेष के अवधारण (निश्चय) के कारण अभाव से यह चमस
के समान है । जैसे कि (अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः) जिसके नीचे विल है, ऊपर
गोल है वह यज्ञपात्र चमस है । इस मन्त्र में यह वह प्रसिद्ध चमस अभिप्रेत है, इस
प्रकार स्वतन्त्रता से निरूपण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि सर्वत्र ही जिस किसी प्रकार
में अर्वाग्विलत्वादि कल्पना की सिद्धि हो सकती है । इसी प्रकार यहाँ भी अजामे-
काम् इस मन्त्र को अविशेषता है । इससे इस मन्त्र में प्रधान ही अभिप्रेत है, ऐसा
नियम नहीं कर सकते हैं ।

तत्र तु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इति वाक्यशेषाच्च-
मसविशेषप्रतिपत्तिर्भवति, इह पुनः केयमजा प्रतिपत्तव्येति, अत्र ब्रूमः—

ज्योतिरूपक्रमा तु यथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य
प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या । तुशब्दोऽवधारणार्थः । भूतत्रयलक्षणवेयमजा
विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा । कस्मात् ? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्व-
रादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं
तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति । तान्येवेह तेजोबन्नानि
प्रत्यभिज्ञायन्ते, रोहितादिशब्दसामान्यात्, रोहितादीनाञ्च शब्दानां रूपविशेषेषु
मुख्यत्वाद्भाक्तत्वाच्च गुणविषयत्वस्य । असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं
मन्यन्ते । तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किंकारणं ब्रह्म' (श्वे० १।१) इत्युप-
क्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढास्' (श्वे० १।३)
इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात् । वाक्य-
शेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति । 'यो योनिं योनिम-
धितिष्ठत्येकः' (श्वे० ४।१०, ११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचि-
त्प्रकृतिः प्रधानं नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम् । प्रकरणात्तु सैव
देवो शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागवस्थानेनापि मन्त्रेणाम्नायत इत्यु-
च्यते । तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम् ।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि उस चमस विषयक तो वचन है कि (यह शिर ही वह

चमस रूप है कि जिमस मुख रूप नीचे मिल है और ऊपर गोल है ऐसा यह चमस है) इस वाक्य दोष रूप वचन में चमस विशेष को ज्ञान हो जाता है, परन्तु यहाँ इस अज्ञा में क्या समझना चाहिए ? तो यहाँ कहते हैं कि ज्योति जिसमें प्रमुख (प्रथम) है, ऐसा तेज, जल, अन्न स्वरूप और अजादि चारों प्रकार के प्राणी समूह की जो प्रवृत्ति (जननी) स्वरूप है, यही अज्ञा जानने योग्य है, वह परमेश्वर से प्रथम उत्पन्न हुई है, इससे जन्मरहित होने से अज्ञा नहीं कहाती है । सूत्र में 'तु' शब्द अवधारण (निश्चय) अर्थ में है, इससे अर्थ है कि तेज, जल, अन्न स्वरूप ही यह अज्ञा जानने योग्य है । रज सत्त्वादि तीन गुण स्वरूप इसे नहीं समझना चाहिये, क्योंकि एक शाखा वाले छान्दोग्य में तेज, जल, अन्न की परमेश्वर से उत्पत्ति कह कर, उनकी ही रोहित (लोहित) आदि रूपता का बयन करते हैं कि (जो अग्नि का रक्त रूप है, वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का है, जो अग्नि का कृष्ण (काला) रूप है वह अन्न का है । रोहितादि शब्दों की तुल्यता से (अजामेकम्) इस धृति में उनकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है, और रोहितादि शब्दों को रूप विशेषों में मुख्यत्व है, अर्थात् रूप विशेषों के ये वाचक हैं, इससे रूप वाले तेज आदि को लक्षणा से कह सकते हैं । एव रज्जनीयत्वादि गुण योग से गुणविषयत्व भाक्त (गौण) है । भाक्त से मुख्य वृत्ति बली होती है । और सब शाखाओं का समन्वय होने से असन्दिग्ध शाखान्तर द्वारा सन्दिग्ध शाखान्तर का निगमन (अवबोधन) निश्चय करना न्याययुक्त मानते हैं । शाखान्तर के समान इस श्वेता-स्वतर में भी त्रिगुण प्रधान का बोधक प्रकरण नहीं है, क्योंकि (ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि कारण रूप ब्रह्म कौन है) इस प्रकार आरम्भ करके लिखा है कि (उन ब्रह्म-वादी लोगों ने ध्यान रूप योग में समाहित ब्रह्म में प्रविष्ट होकर अपने गुणों में आवृत्त परमात्मा के आत्मस्वरूप शक्ति को देखा । अर्थात् उन्होंने योग में परमात्मा की शक्ति को समझा) इस प्रकार समस्त जगत् को सिद्ध उत्पन्न करने वाली परमेश्वर की शक्ति का वाक्य के आरम्भ में ज्ञान होता है । वाक्योप में भी (माया को जगत् की प्रवृत्ति जानो, माया को स्वाधीन रखने वाले को महेश्वर जाना) और (जो महेश्वर एक होता हुआ भी प्रवृत्ति के अनन्त अक्ष रूप सब योनियों—कारणों का अधिष्ठाता है) इन धृतियों से भी उसी शक्ति का ज्ञान होता है । इसमें प्रधान नाम वाली स्वतन्त्र कोई प्रवृत्ति अज्ञा मन्त्र में कही जाती है, यह नहीं कह सकते हैं । और प्रकरण से अव्यावृत्त नाम रूप वाली नाम रूप की पूजावस्था रूप वही देवी (ईश्वरीय) शक्ति (अजाम्) इस मन्त्र में भी कही जाती है, इस प्रकार कहा जाता है । एव उसके विकारों के आश्रित रहने वाली जो त्रिरूपता है, अर्थात् तेज आदि में जो त्रिरूपता है, उससे वह भी तीन रूप वाली कही जाती है ।

कथं पुनस्तेजोवन्नाना त्रैरूप्येण त्रिरूपाया प्रतिपत्तु शक्यते, यावता न तावत्तेजोवन्नेष्वजाकृतिरस्ति, नच तेजोवन्नाना जातिश्रवणादजातिनिमित्तोऽप्यजाशब्दः सम्भवतीति । अत उत्तरं पठति—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

नायमजाकृतिनिमित्तोऽजाशब्दः, नापि यौगिकः, किं तर्हि ? कल्पनोपदेशोऽयम्, अजारूपककल्पितस्तेजोवन्नलक्षणायाश्चराचरयोनेरुपदिश्यते । यथाहि लोके यदृच्छया काचिदजा रोहितगुक्लकृष्णवर्णा स्याद्वह्वर्करा सरूपवर्करा च, तां च कश्चिदजो जुपमाणोऽनुगयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोवन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चराचरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रजेनोपभुज्यते, विदुषा च परित्यज्यत इति । नचेदमाशङ्कितव्यम्—एकः क्षेत्रजोऽनुशेतेऽन्यो जहातीत्यतः क्षेत्रज्ञभेदः पारमार्थिकः परेपामिष्टः प्राप्नोति—इति । नहीयं क्षेत्रज्ञभेदप्रतिपिपादयिषा किन्तु बन्धमोक्षव्यवस्थाप्रतिपिपादयिषा त्वेषा । प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्षव्यवस्था प्रतिपाद्यते, भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिश्रुतिभ्यः । मध्वादिवत्, यथा 'आदित्यस्यामघुनो मघुत्वम्' (छा० ३।१), 'वाचश्चाग्नेनोर्ध्वेनुत्वम्' (वृ० ५।८), 'द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम्' (वृ० ८।२।९) इत्येवंजातीयकं कल्प्यते, एवमिदमनजाया अजात्वं कल्प्यत इत्यर्थः, तस्मादविरोधस्तेजोवन्नेष्वजाशब्दप्रयोगस्य ।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि तेज, जल, अन्न की त्रिरूपता से तीन रूप वाली तेज आदि स्वरूपा ही अजा कैसे समझी जा सकती है, जब कि तेज, जल और अन्न में अजा की आकृति (आकार जाति) नहीं है । और श्रुति में इनके जन्म के श्रवण से अजाति (अनुत्पत्ति) निमित्तक भी (न जायत इति अजा) न उत्पन्न हो वह अजा, इस प्रकार भी अजा शब्द के प्रयोग का उनमें सम्भव नहीं है । इससे सूत्रकार उत्तर पढ़ते हैं कि—श्रुति में यह अजा शब्द वक्ररा की आकृति निमित्तक रूढ नहीं है, न अजन्म निमित्तक यौगिक ही है, तो क्या कल्पना से यह उपदेश है ? चराचर की योनि (कारण) तेज, जल, भूमि की अजासदृशाता की कल्पना का उपदेश दिया जाता है, जैसे लोक में यदृच्छा (दैवयोग) से कोई वकरी लाल, श्वेत, कृष्ण रंग वाली हो, बहुत बच्चों वाली हो । समान रूप युक्त बच्चों वाली हो । और कोई अज बच्चा वकरो उसमें प्रेम रख कर उसको सेवन करता हुआ उसके पीछे चले । एवं कोई अज वकरी उससे दूध मोगने के बाद उसको त्याग दे । इसी प्रकार यह भी तेज, जल, अन्न स्वरूप भूतों की प्रकृति तीन वर्ण वाली है, और समान रूप वाले चराचर स्वरूप बहुत विकार समूह को उत्पन्न करती है, तथा अज्ञ क्षेत्रज्ञ जीव से भोगी जाती है, ज्ञानी से सर्वथा त्यागी जाती है । अब इस कथन से यह शंका नहीं करना कि जब एक क्षेत्रज्ञ प्रकृति का सेवन करता हुआ उसके साथ सोता है, और अन्य उसको त्यागता है, तब तो अन्यवादी का इष्ट पारमार्थिक (सत्य) क्षेत्रज्ञ भेद की प्राप्ति होती है । क्योंकि यह अजारूपक कल्पना क्षेत्रज्ञ के भेदों के

प्रतिपादन की इच्छा से नहीं की गई है, किन्तु बन्धमोक्ष की व्यवस्था के प्रतिपादन की इच्छा से यह कल्पना की गई है । यदि कहा जाय कि बन्धमोक्ष की व्यवस्था के लिए भी यदि वेद से भेद का प्रतिपादन हुआ तो वह वेदप्रतिपादित अर्थ सत्य होगा तो इसका समाधान है कि वेद में यहाँ भेद का प्रतिपादन नहीं किया जाता है, किन्तु अन्य प्रमाणादि से प्रसिद्ध भेद का अनुवाद करके बन्धमोक्ष की व्यवस्थामात्र का यहाँ प्रतिपादन किया जाता है । एव वह भेद उपाधि निमित्तक मिथ्याज्ञान अविवेकादि से कल्पित है, सत्य नहीं है, वह (एकदेव सब भूतों में छिपा है, सब में व्यापक है, सब भूतों का अत-रात्मा है) इत्यादि श्रुतिवचन से सिद्ध होता है । वह अज्ञा सादृश्य की कल्पना मधु आदि की कल्पना के समान है । जैसे कि मधु में भिन्न आदित्य की उपासना के लिए मधुरूप से कल्पना की जाती है । अयेनुवाक् की धेनुत्वरूप से कल्पना होती है, अग्नि-भिन्नद्युलोवादि की अग्निरूप से कल्पना होती है । एव इस प्रकार की अन्य भी कल्पना की जाती है, इसी प्रकार यह अज्ञामिन्न की अज्ञारूप से कल्पना की जाती है यह सूत्र का अर्थ है । इससे तेज, जल, अन्न में अज्ञाशब्द के प्रयोग को किसी से विरोध नहीं है ।

संख्योपसंग्रहाधिकरण (३)

पञ्च पञ्चजना साख्यतत्त्वान्याहो श्रुतीरिस्ता ।

प्राणाद्या मात्यतत्त्वानि पञ्चविंशतिभासनात् ॥

न पञ्चविंशतेर्भागमात्माकाशातिरेकत ।

मज्ञा पञ्चजनेत्येषा प्राणाद्या मज्जिन श्रुता ॥

श्रुतिगत (पञ्चपञ्चजन) शब्द से साख्यवादी के मान्य पञ्चीस तत्त्व की सख्या के उपसंग्रह से भी साख्यगत पन्नाय श्रुतिसम्मत नहीं मनस्ये जा सकते हैं, क्योंकि वहाँ पाँच पंचे पचीस का ही बोध नहीं होता है, क्योंकि एक तो नानाभाव है, अर्थात् पाँच-पाँच-मात्र में अनुगत धर्म नहीं है । यद्यपि इन्द्रियादि में अनुगत धर्म है, तथापि अव्यक्त अह-ङ्कार पुरुषादि पाँच में अनुगत धर्म नहीं है । और आकाश तथा आत्मा से अधिक सख्या की प्राप्ति होती है । यहाँ सशय होता है कि पञ्चपञ्चजन साख्य कथित तत्त्व हैं, अथवा श्रुति कथित प्राणादि हैं ? पूर्वपक्ष है कि पचीस सख्या की प्रतीति होने से साख्य के तत्त्व ही पञ्चपञ्चजन हैं । सिद्धान्त है कि आत्मा आकाश के अतिरिक्त बन्धन से पचीस का ज्ञान श्रुति में नहीं होता है, इससे पञ्चजन यह सज्ञा है और प्राणादि सज्ञा हैं, उनकी ही यहाँ प्रतीति होती है ।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

एव परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्यान्मन्नात्माख्य प्रत्यवतिष्ठते ।

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित ।

तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्राह्मामृतोऽमृतम् ॥ (वृ० ४।४।१७) इति ।

अस्मिन्मन्त्रे पञ्च पञ्चजना इति पञ्चमस्याविषयाऽपरा पञ्चमस्या श्रूयते पञ्चशब्दद्वयदर्शनात् । त एते पञ्चपञ्चका पञ्चविंशति सपद्यन्ते । तथा

पञ्चविंशतिसंख्यया यावन्तः संख्येया आकाङ्क्षयन्ते तावन्त्येव च तत्त्वानि सांख्येः संख्यायन्ते—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

पौडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ (सांख्यका० ४)

इति । तथा श्रुतिप्रसिद्धया पञ्चविंशतिसंख्यया तेषां स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्राप्तं पुनः श्रुतिमत्त्वमेव प्रधानादीनाम् ।

इस पूर्ववर्णित रीति से अजापदयुक्त मन्त्र से सांख्यवाद का परिहार (निवारण) करने पर भी फिर भी अन्य मन्त्र के बल से सांख्यवादी प्रतिपक्षी होते हुए शंका करते हैं कि (जिस आत्मा में प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, मन रूप पाँच पञ्चजन नाम वाले स्थिर हैं, जिनमें अन्न विराट् रूप है और चार सूत्रात्मा रूप हैं, उनके कारणरूप आकाश (अव्यक्त) जिसमें स्थिर है, उस आत्मा को मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ, उसके मनन से विद्वान् मैं अमृत हूँ) इस मन्त्र में, 'पञ्च पञ्चजनाः' इस प्रकार दो पञ्चशब्द के देखने से एक पञ्चसंख्याविषयक, दूसरे संख्येय-परक हैं, ये पाँच पञ्चक मिलकर पचीस सिद्ध होते हैं । और उस पचीस संख्या से जितनी संख्येय (संख्यावाली) वस्तु की आकांक्षा होती है उतने ही तत्त्व सांख्यवादियों से कहे और गिने जाते हैं । सब का परमूल रूप प्रकृति (कारण प्रधान) किसी की विकृति (कार्य) नहीं है, और महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्रा ये सात महदादि प्रकृति और विकृति (कारण कार्य—उभयस्वरूप हैं) उनमें महत्तत्त्व प्रधान का कार्य है, और अहंकार का कारण । अहंकार तामस रूप से शब्दादि तन्मात्राओं का कारण है, सात्त्विक अहंकार ग्यारह इन्द्रियों का कारण है । पञ्चतन्मात्राये पञ्चमहाभूतों के क्रम से कारण हैं, और पञ्चमहाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ केवल विकार (कार्य) स्वरूप हैं, किसी तत्त्वान्तर के कारण नहीं हैं, पुरुष एवं आत्मा प्रकृति-विकृति से विलक्षण (उदासीन, है । उक्त उस श्रुतिप्रसिद्ध पचीस संख्या से स्मृतिप्रसिद्ध उन पचीस तत्त्वों का उपसंग्रह (ज्ञान) होने से फिर भी प्रधानादि को श्रुतिमत्त्व (वेदप्रतिपाद्यत्व) ही प्राप्त होता है ।

ततो ब्रूमः—न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्त्वं प्रत्याशा कर्तव्या । कस्मात् ? नानाभावात् । नाना ह्येतानि पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि, तेषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्चविंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्च संख्या निविशेरन्, नह्येकनिबन्धनमन्तरेण नानाभूतेषु द्वित्वादिकाः संख्या निविशन्ते । अथोच्येत—पञ्चविंशतिसंख्यैवेयमवयवद्वारेण लक्ष्यते, यथा 'पञ्च सप्त च वर्षाणि न वर्षे शतक्रतुः' इति, द्वादशवर्षाणामेकीमनावृष्टि कथयन्ति तद्वत्—इति । तदपि नोपपद्यते । अयमेवास्मिन् पक्षे दोषो यल्लक्षणाश्रयणीया स्यात् । परश्चात्र पञ्चशब्दो जनशब्देन समस्तः पञ्चजना

इति, पारिभाषिकेण स्वरेणैकपदत्वानिश्चयात् । प्रयोगान्तरे च 'पञ्चाना त्वा पञ्चजनानाम्' (तै० १।६।२।२) इत्येकपदेकस्वरेणैकविभक्तिकत्वावगमात् । ममस्तत्वाच्च न वीष्मा पञ्च पञ्चेति । न च पञ्चकद्वयग्रहण पञ्चपञ्चेति । न च पञ्चमस्याया एकस्या पञ्चसस्यया परया विशेषण पञ्चपञ्चका इति, उपसर्जनस्य विशेषणेनासयोगात् । नन्वापन्नपञ्चमस्याका जना एव पुन पञ्चसस्यया विशेष्यमाणा पञ्चविंशति प्रत्येप्यन्ते । यथा पञ्च पञ्चपुत्र इति पञ्चविंशति पूला प्रतीयन्ते तद्वत् । नेति ब्रूम । युक्ते यत्पञ्चपूली-शब्दस्य समाहाराभिप्रायत्वात्कतीति सत्या भेदाकाङ्क्षाया पञ्च पञ्चपुत्र इति विशेषणम्, इह तु पञ्चजना इत्यादित एव भेदोपादानात्कतीत्यसत्या भेदाकाङ्क्षाया न पञ्च पञ्चजना इति विशेषण भवेत् । भवदपीद विशेषण पञ्चमास्याया एव भवेत्, तत्र चोक्तो दोष । तस्मात्पञ्चजना इति न पञ्चविंशति-तत्त्वाभिप्रायम् ।

उससे कहते हैं—कि सख्या के उपसग्रह से भी प्रधानादि के श्रुतिप्रतिपाद्यत्व के प्रति आशा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि वह आशा की अकर्तव्यता नानामात्र से सिद्ध होती है । जिससे ये साख्योक्त पचीस तत्त्व नामा पृथक् पृथक्) हैं । इनके पञ्च पञ्च में इतर से व्यावृत्त साधारण धर्म नहीं हैं । यद्यपि ज्ञानकरणत्व, कर्मकरणत्व, स्थूलभूत-प्रकृतत्व तीन पञ्चक में साधारण मिल सकते हैं, तथापि साधारण धर्मयुक्त अन्य दो पञ्चक सिद्ध नहीं होते हैं, कि जिस धर्म से पचीस के अन्तर में अन्य पाँच-पाँच सख्या का निवेश हो । क्योंकि किसी एक निग्रन्धन-संग्राहक हेतु धर्म के बिना नानास्वरूप पदार्थ में द्वित्वादि सख्या का निवेश (प्रवेश) नहीं होता है । अर्थात् (दो अस्वी हैं, सात श्रुति हैं, आठ वसु हैं), जो सप्तदश हैं, इस प्रकार महामस्या में द्वित्वादि सख्या का प्रवेश होता है, अन्यथा नहीं । यदि साख्यवादो कहे कि महसख्या के अन्दर अल्प सख्या के निवेश की यहाँ चर्चा ही नहीं है, किन्तु जैसे "पाँच और सात वर्ष इन्द्र नहीं बरसा" इस वाक्य से बारह वर्ष का अनावृष्टि कहते हैं, वहाँ पाँच और सात पद स्ववाच्यसख्या का व्यापक बारह सख्या के लक्षणा से बोधक होते हैं । जैसे ही पाँच-पाँच अवयव (एकदेश) की सख्या द्वारा पचीस सख्या लक्षित (लक्षणा से बोधित) होती है, तो वह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि इस पद में प्रथम तो यही दोष है जो लक्षणा का आश्रय करना पड़ता है, और यहाँ उत्तर का पञ्चशब्द जो पद के साथ समस्त होकर (मिलकर) पञ्चजना यह एकपद हो गया है, और उस एकपदत्व का पारिभाषिक स्वर से निश्चय होता है । अर्थात् यहाँ पञ्चजनशब्द में (समासस्य) इस सूत्र से उदात्त स्वर अन्तर्विहित हुआ है । 'अनुदात्त पदमेकवर्जम्' इस सूत्र से अन्त्य से मित्त को अनुदात्त हुआ है, और इसी प्रकार के पारिभाषिक स्वर में एकपदत्व समझा जाता है । एव (हे आज्य पाँच पञ्चजन नामक देव के

लिए मैं तेरा ग्रहण करता हूँ) यहाँ प्रयोगान्तर में भी एकपदता, एकस्वरता, एक विभक्तिकत्वरूप समास के चित्त-लिंग अवगत होते हैं । समस्त होने ही से पञ्च-पञ्च यह वीप्सा (व्याप्ति इच्छा अर्थ में द्वित्व) नहीं है । और पञ्च-पञ्च इस प्रकार दो पञ्चक का ग्रहण भी नहीं है, ऐसा होने से दशसंख्या की ही प्रतीति होगी । और पूर्व की एक पञ्चसंख्या का एक परवर्ती पञ्चसंख्या के साथ विशेषणता रूप सम्बन्ध भी नहीं है कि पाँच पञ्चक हैं । क्योंकि पञ्चजन में जो पंच है, वह उपसर्जन (गौण) है, और जन प्रधान है । उपसर्जन का विशेषण के साथ सम्बन्ध नहीं होता है, यह नियम है । यदि कहा जाय कि पञ्चत्व को प्राप्त जन अर्थात् पाँच-संख्याविशिष्ट जन को फिर पाँच संख्या से अन्वय होने पर दो बार पाँच से विशिष्ट होने के कारण जनशब्द ही पचीस संख्या का बोध करायेगा, क्योंकि पञ्चजन का विशेषण होता हुआ पञ्च, पञ्चजन के विशेषण पंच का भी विशेषण होगा, इससे पचीस संख्या की प्रतीति होगी, जैसे कि पञ्चपूली पाँच है, ऐसा कहने से पचीस पूलों का बोध होता है, वहाँ कहते हैं कि (पाँच पंचपूली) के समान (पाँच पंचजन) पचीस संख्या का बोध नहीं करा सकता है, क्योंकि पंचपूली शब्द में समाहार (समूह) का अभिप्राय होने से, अर्थात् समाहार अर्थ में समास होने से समूह में एकत्व की प्रतीति के बाद फिर आकांक्षा होती है कि पंचपूली कितनी है, वहाँ पंच विशेषण उचित है । और यहाँ पञ्चजन में तो प्रथम से ही भेद का ग्रहण होने से कितने हैं इस प्रकार के भेद की आकांक्षा होने पर पञ्च पञ्चजन हैं, इस प्रकार विशेष्य-विशेषणभाव नहीं हो सकता है, अर्थात् पाँच जन हैं, ऐसा ज्ञान होने पर, कितने है, ऐसी आकांक्षा ही नहीं होती है कि जिससे फिर पञ्च विशेषण का सम्बन्ध हो सके । यदि कहा जाय कि जन निराकांक्ष है, इससे उसके साथ पञ्च विशेषण का सम्बन्ध हो नहीं सकता, तो उसका विशेषण पञ्चत्व का विशेषण हो सकता है, क्योंकि पञ्चत्व कितने हैं, ऐसी आकांक्षा हो सकती है । वहाँ कहा जाता है कि इस रीति से विशेषण होता हुआ भी यह विशेषण जनगत पञ्चसंख्या ही का होगा । परन्तु इस पक्ष में भी प्रथम दोष कहा जा चुका है कि उपसर्जन का विशेषण से सम्बन्ध नहीं होता है, प्रधान के साथ ही विशेषण सम्बद्ध होता है इत्यादि, उससे, पञ्च पञ्चजनाः, यह शब्द पचास तत्त्व के अभिप्राय से नहीं है ।

अतिरेकाच्च न पञ्चविंशतितत्त्वाभिप्रायम् । अतिरेको हि भवत्यात्माका-
शाभ्यां पञ्चविंशतिसंख्यायाः । आत्मा तावदिह प्रतिष्ठां प्रत्याधारत्वेन निर्दिष्टः,
यस्मिन्निति सप्तमीसूचितस्य 'तमेव मन्य आत्मानम्' इत्यात्मत्वेनानुकर्षणात् ।
आत्मा च चेतनः पुरुषः, स च पञ्चविंशतावन्तर्गत एवेति न तस्यैवाधारत्व-
माधेयत्वं च युज्यते । अर्थान्तरपरिग्रहे च तत्त्वसंख्यातिरेकः सिद्धान्तविरुद्धः
प्रसज्येत । तथा 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्याकाशस्यापि पञ्चविंशतावन्तर्गतस्य

न पृथगुपादान न्याय्यम् । अर्थान्तरपरिग्रहे चोक्तं दूषणम् । कथं च सख्यामात्रश्रवणे सत्यश्रुतानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपमग्रहं प्रतीयेत, जनशब्दस्य तत्त्वेष्वस्त्वत्वात्, अर्थान्तरोपमग्रहेऽपि सख्योपपत्तेः । कथं तर्हि पञ्च पञ्चजना इति ? उच्यते—‘दिकम्पत्ये सज्ञायाम्’ (पा० सू० २।१।५०) इति विशेषस्मरणात्सज्ञायामेव पञ्चशब्दस्य जनशब्देन समाम्, ततश्च स्त्वत्वाभिप्रायेणैव केचित्पञ्चजना नाम विवक्ष्यन्त न मास्यतत्त्वाभिप्रायेण, ते कतीत्यस्यामाकाङ्क्षाया पुनः पञ्चैति प्रयुज्यते । पञ्चजना नाम ये केचित्ते च पञ्चैवेत्यर्थः । सप्तर्षयः सप्तेति यथा ।

सख्या की अधिकता से भी यह पद पचीस तत्त्वविषयक अभिप्राय वाला नहीं है, जिससे आत्मा और आकाश द्वारा पचीस सख्या से अधिक सख्या की सिद्धि हो, क्योंकि आत्मा तो यहाँ प्रतिष्ठा (स्थिति) के प्रति आधार रूप में कहा गया है, जिसमें (तस्मिन्) इस सप्तमी-विमक्तियुक्त पद से सूचित का ही (उसी आत्मा को मानता है) यहाँ आत्मरूप में अनुवर्पण सम्बन्ध होता है, इसमें आत्मा ही आधाररूप कहा गया है, और वह आत्मा चेतन पुष्प है, वह पचीस तत्त्व के अन्तर्गत ही है, इससे उसी को आधारत्व (आश्रयत्व) और आधेयत्व (आश्रितत्व) दोनों प्राप्त हैं, वह युक्त नहीं है । इसी प्रकार आकाश भी उसमें प्रतिष्ठित-स्थिर है, इस प्रकार पचीस के अन्तर्गत आकाश का भी पृथक् ग्रहण न्याय्य (युक्त) नहीं है, और उक्त आधार एवं आकाश को पचीस से भिन्न अर्थान्तर स्वीकार करो तो दोष कहा गया है कि अधिक सरया हो जाती है । यहाँ पचीस सख्या की सिद्धि मानने से सख्यामात्र के श्रवण होने पर भी अश्रुत-अपठित पचीस तत्त्वों का उपमग्रह (ग्रहण) कैसे प्रतीत हो सकता है । यदि जनशब्द से तत्त्वों का ग्रहण कहा जाय तो वह नहीं बन सकता है, क्योंकि जनशब्द तत्त्वों में स्त्व नहीं है । यदि सख्या के बल से तत्त्वों का ग्रहण कहा जाय तो वह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अर्थांतर के ग्रहण करने पर भी कथित सख्या की सिद्धि होती है । जिज्ञासा हुई कि जिस अर्थान्तर के ग्रहण से सख्या की सिद्धि होती है, वह पदार्थान्तर पञ्चजन कैसे हैं ? तो कहा जाता है कि— (दिता और सख्यावाचक शब्दों का सज्ञा अर्थ में उत्तर सुवन्त के साथ समास होता है) समाम-विधायक इस प्रकार के विशेष सूत्र से सज्ञा अर्थ में ही पञ्चशब्द का जन पद के साथ समास (एकता) है । उससे स्त्वत्वा के ही तात्पर्य से कोई पदार्थ ‘पञ्चजना’ नाम से विवक्षित है, साध्य के तत्त्वों के अभिप्राय से कुछ भी विवक्षित नहीं है । वे ‘पञ्चजन’ नाम वाक्ये कितने हैं ? इस आकांक्षा के होने पर फिर इसका प्रयोग होता है कि ‘पञ्चजन’ नाम वाले जो कोई पदार्थ हैं, वे पाँच ही हैं, यह अर्थ जैसे कि ‘सप्तर्षि’ नाम वाले सात हैं, इस प्रयोग में होता है, वैसे ही यहाँ भी सप्तपत्ता चाहिये ।

के पुनस्ते पञ्चजना नामेति, तदुच्यते—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

‘यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः’ इत्यत उत्तरस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः—‘प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्र-मन्नस्थानं मनसो ये मनो विदुः’ इति । तेऽत्र वाक्यशेषगताः सन्निधानात् पञ्चजना विवक्ष्यन्ते । कथं पुनः प्राणादिषु जनशब्दप्रयोगः ? तत्त्वेषु वा कथं जनशब्दप्रयोगः ? समाने तु प्रसिद्धयतिक्रमे वाक्यशेषवशात् प्राणादय एव ग्रहीतव्या भवन्ति, जनमन्वन्धान्च प्राणादयो जनशब्दभाजो भवन्ति । जनवचनश्च पुरुषशब्दः प्राणेषु प्रयुक्तः ‘ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः’ (छां० ३।१।३।६) इत्यत्र, ‘प्राणो ह पिता प्राणो ह माता’ (छां० ७।१।५।१) इत्यादि च ब्राह्मणम् । समासवलाच्च समुदायस्य रूढत्वमविरुद्धम् । कथं पुनर-सति प्रथमप्रयोगे रूढिः शक्याश्रयितुम् ? शक्योद्भिदादिवदित्याह—प्रसिद्धार्थ-सन्निधाने ह्यप्रसिद्धार्थः शब्दः प्रयुज्यमानः समभिव्याहारात्तद्विषयो नियम्यते, यथा ‘उद्भिदा यजेत’ ‘यूपं छिनत्ति’ ‘वेदीं करोति’ इति, तथाऽयमपि पञ्च-जनशब्दः समासान्वाख्यानादवगतसंज्ञाभावः संज्ञाकाङ्क्षी वाक्यशेषसमभिव्याहृतेषु प्राणादिषु वर्तिष्यते । कैश्चित्तु देवाः पितरो गन्धर्वा असुरा रक्षांसि च पञ्च पञ्चजना व्याख्याताः । अन्यैश्च चत्वारो वर्णा निपादपञ्चमाः परि-गृहीताः । कचिच्च ‘यत्पाञ्चजन्यया विशा’ (ऋ० सं० ८।५।३।७) इति प्रजा-परः प्रयोगः पञ्चजनशब्दस्य दृश्यते, तत्परिग्रहेऽपीह न कश्चिद्विरोधः । आचार्यस्तु न पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामिह प्रतीतिरस्तीत्येवंपरतया ‘प्राणादयो वाक्यशेषात्’ इति जगाद ।

फिर वे पञ्चजन नाम वाले कौन हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर वे कहते हैं कि— (जिसमें पाँच पञ्चजन हैं) इसके उत्तर मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप के निरूपण के लिए प्राणादि पाँच कहे गये गये हैं कि (प्राण का भी प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का भी जो मन उसको जो जानते हैं, अर्थात् प्राणादि का साक्षी आत्मा को जो जानते हैं, वह ब्रह्म को जानते हैं) वे वाक्यशेषगत प्राणादि यहाँ समीपता द्वारा पञ्चजन शब्द से विवक्षित हैं । यहाँ शंका होती है कि संज्ञा अर्थ में समास होने पर भी मनुष्य जाति के पुरुष का नाम पञ्चजन शब्द है, तो फिर यहाँ प्राणादि अर्थ में (जन-शब्द) याने पञ्चजन शब्द का प्रयोग कैसे हुआ है ? यह सांख्यवादी का प्रश्न है । सिद्धान्ती का कथन है कि आपके मत में अथवा तत्त्वों में ही कैसे (जनशब्द) पञ्चजन-शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि तत्त्वों का वाचक भी पञ्चजन शब्द नहीं है, और जिस जन अर्थ में पञ्चजनशब्द रूढ़ है, प्रसंग के अनुसार उसका ग्रहण हो नहीं सकता है, इससे चाहे तत्त्वों का ग्रहण करो वा प्राणादि का, प्रसिद्धि (रूढि) का अतिक्रमण

तुल्य होता है, अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग मानता पड़ता है। वहाँ वाक्यशेष के बल से प्राणादिक ही ग्रहण के योग्य होने हैं, और जन (पञ्चजन) के साथ सम्बन्ध से भी प्राणादि जनशब्द (पञ्चजनशब्द) के भागी (योग्य) होते हैं। एव जनवाचक पुरुष-शब्द अन्यत्र प्राणों में प्रयुक्त है कि (वे प्राण ही ये पाँच ब्रह्म के पुरुष हैं) यहाँ प्राण में पुरुष शब्द का प्रयोग है। इसी प्रकार (प्राण ही पिता है प्राण ही माता है।) इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ है। समास के बल से समुदाय को जन अर्थ में रूढ़ता अविरद्ध है, इससे योगादि द्वारा तत्त्वों का वाचक नहीं हो सकता है। यद्यपि अमरकोश में (पुमान् पञ्चजना) यह प्रयोग है, तथापि लोफ में अति प्रसिद्धि के अभाव की दृष्टि से सका है कि प्रथमप्रयोग के नही रहने पर भी रुढ़ि कैसे मानी जा सकती है? उत्तर है कि उद्भिदादि के समान रुढ़ि का आश्रयण स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि प्रथम पञ्चजनशब्द की लक्षणा प्राणादि में कही गई है, तथापि अब उद्भिद के समान रुढ़ि कही जाती है कि प्रसिद्धार्थक शब्द के सम्बन्ध-सामोष्य रहते प्रयुक्त अप्रसिद्धार्थक शब्द-सममिव्याहार (साथ पाठ) से तद्विपर्यय नियमित (रूढ़) होता है जैसे कि (उद्भिद द्वारा पशु की इच्छा वाला यज्ञ में पशु की प्राप्ति करे) यहाँ सशय होता है कि उद्भिद पद किसी विधेय गुण का वाचक है या याग का नाम है? वहाँ भूमि को उद्भेदन करने वाले खनती आदि में प्रसिद्धि से गुणविधि के पास होने पर सिद्धान्त होता है कि—प्रसिद्धार्थक याग के साथ समानाधिकरणता से याग का नाम है कि (उद्भिदानामकेन यागेन पशु सम्पादयेत्) उद्भिद नाम वाला याग से पशु को सिद्ध करे—प्राप्त करे। और फल का उद्भेदन—माधन होने से याग उद्भिद कहाता है। तथा “यूप का छेदन करता है” इस वाक्य में प्रसिद्धार्थ छेदन के साथ पाठ से अप्रसिद्धार्थक यूप शब्द का लकड़ी अर्थ समझा जाता है (वेद बना कर वेदी बनाता है) यहाँ बनाता त्रिया के सम्बन्ध से उसके योग्य स्थान का बोध होता है। वेदी के सम्बन्ध से उसके आच्छादनयोग्य दर्ममुष्टि का वेद शब्द से बोध होता है। इसी प्रकार यह पञ्चजनशब्द भी समास के अन्वाख्यान (शक्ति) से सज्जामाव (सज्ञान्व) को अवगत (ज्ञात-प्राप्त) होने पर मज्ञी की आकांक्षा वाला होकर वाक्यशेष में सममिव्याहृत (पठित) प्राणों में रहेगा। अर्थात् प्रसिद्धार्थक प्राणादिशब्द के सममिव्याहार से प्राणादिवाचकता पञ्चजनशब्द को निश्चित होती है। किसी आचार्य ने देव, पितर, गन्धर्व, अमुर, गक्षम इनको पञ्चजन कहा है। अन्य किसी ने चार वर्ण और पञ्चम निप्रद को पञ्चजनशब्द से ग्रहण किया है। और कहीं (जो पाञ्चजन्या प्रजारूप विश्व से इन्द्र की मूर्ति के लिए शब्द हुआ) प्रजापरक पञ्चजन शब्द का प्रयोग देखा जाता है, उसका ग्रहण करने पर भी यहाँ कोई विरोध नहीं है, आचार्य तो पवीत तत्त्व की प्रतीति यहाँ नहीं है, इस अर्थ के तात्पर्य से (प्राणादयो वाक्यशेषाः) यह कहते हैं।

भवेयुस्तावत् प्राणादयः पञ्चजना माध्यन्दिनानां, येऽन्नं प्राणादिष्वामनन्ति । काण्वानां तु कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुर्येऽन्नं प्राणादिषु नाऽऽमनन्तीति । अत उत्तरं पठति—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

असत्यपि काण्वानामन्ने ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्येत । तेऽपि हि 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यतः पूर्वस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूपनिरूपणायैव ज्योतिरधीयते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति । कथं पुनरुभयेषामपि तुल्य-वदिदं ज्योतिः पठ्यमानं समानमन्त्रगतया पञ्चसंख्यया केषांचिद् गृह्यते केषांचिन्नेति ? अपेक्षाभेदादित्याह । माध्यन्दिनानां हि समानमन्त्रपठितप्राणादिपञ्चजनलाभान्नास्मिन् मन्त्रान्तरपठिते ज्योतिष्यपेक्षा भवति । तदलाभात्तु काण्वानां भवत्यपेक्षा अपेक्षाभेदान्न समानेऽपि मन्त्रे ज्योतिषो ग्रहणाग्रहणे तथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात् षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे तद्वत् । तदेवं न तावच्छ्रुतिप्रसिद्धिः काचित् प्रधानविषयास्ति, स्मृतिन्यायप्रसिद्धी तु परिहरिष्येते ।

यहाँ शंका होती है कि जो माध्यन्दिन शाखा वाले प्राणादि में अन्न को पढ़ते हैं, उनके यहाँ प्राणादि पंचजन हो सकते हैं, परन्तु जो काण्व शाखा वाले प्राणादि में अन्न को नहीं पढ़ते हैं, उनको प्राणादि कैसे पंचजन होंगे, इस शंका के होने से उत्तर कहते हैं कि—काण्व शाखा वालों के ग्रन्थ में अन्न के पाठ नहीं रहते हुए भी पठित ज्योतिः से उन्हें पंच संख्या की पूर्णता होगी । क्योंकि वे काण्व शाखा वाले भी (जिसमें पाँच पंचजन हैं) इससे पूर्वमन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण के लिए ही ज्योतिः का अध्ययन (पाठ) करते हैं कि (सूर्यादि ज्योतियों की ज्योति उस ब्रह्म की उपासना देव करते हैं) यहाँ शंका होती है कि माध्यन्दिन शाखा वाले और काण्व शाखा वाले दोनों की शाखा से यह ज्योति शब्द तुल्यतायुक्त पठित है फिर भी समान (एक) मन्त्रगत पंच संख्या से एक शाखा में ज्योति गृहीत होती है, और किसी अन्य की शाखा में क्यों नहीं गृहीत हाती है ? उत्तर है कि अपेक्षा (आकांक्षा) के भेद से यह भेद होता है, जिससे माध्यन्दिनो को एक मन्त्र में पठित प्राणादि पंचजन के लाभ से इस मन्त्रान्तर में पठित ज्योतिर्विषयक उनको आकांक्षा नहीं है, और अन्न के अभाव द्वारा पंचजन के एक मन्त्र में अलाभ (अप्राप्ति) से कारणों की अपेक्षा होती है । और अपेक्षा के भेद से एक मन्त्र में भी ज्योति का ग्रहण तथा अग्रहण होते हैं जैसे कि एक अतिरात्र नामक याग में भी वचन के भेद से षोडशि नामक पात्र का ग्रहण और अग्रहण होता है, वैसे ही यहाँ भी ज्योति के ग्रहणाग्रहण को समझना चाहिये । उससे इस पूर्ववर्णित रीति से प्रधानविषयक कोई श्रुति-प्रसिद्धि नहीं है, यह बात पहले सिद्ध हुई, स्मृति और न्याय प्रसिद्धि का परिहार आगे करेंगे ।

कारणत्वाधिकरण (४)

समन्वयो जगद्योनी न युक्तो युज्यतेऽथवा ।

न युक्तो वेदवाक्येषु पस्परविरोधत ॥

मर्गक्रमविवादेऽपि नासी सृष्टिर विद्यते ।

अव्याकृतमसत्प्रोक्त युक्तोऽसौ कारणे तत ॥

जिस प्रकार एक वेदान्त में ईश्वर कारणत्वेन व्यपदिष्ट (कथित) हुआ है, वैसे ही सर्वत्र की उक्ति से आकाशादि कार्यों में विरोध होने पर भी ब्रह्मात्मा ईश्वर में वेदान्त का समन्वय है । यहाँ पहले सशय होता है कि जगद्योनिविषयक पूर्वोक्त समन्वय युक्त है, अथवा अयुक्त ? पूर्व पक्ष है कि वेदवाक्यों में विरोध होने से परस्पर विरुद्धार्थ कथन से समन्वय युक्त नहीं है । सिद्धान्त है कि सृष्टि के क्रमविषयक वेदवचन में विरोध होने पर भी वह विरोध स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) विषयक नहीं है । यदि कोई कहे कि कहीं असत् से सृष्टि कही गई है इससे स्रष्टा में भी विरोध है, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ भी अव्याकृत (अव्यक्त) सत् कारण को ही असत् कहा गया है, इससे कारणविषयक समन्वय युक्त है ।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

प्रतिपादित ब्रह्मणो लक्षणम् । प्रतिपादित च ब्रह्मविषय गतिसामान्य वेदान्तवाक्यानाम् । प्रतिपादित च प्रधानस्याशब्दत्वम् । तत्रेदमपरमाशङ्क्यते— न जन्मादिकारणत्व ब्रह्मणो ब्रह्मविषय वा गतिसामान्य वेदान्तवाक्यानां प्रतिपत्तु शक्यम् । कस्मात् ? विगानदर्शनाद्, प्रतिवेदान्त ह्यन्याऽन्या सृष्टिरपलभ्यते क्रमादिवैचित्र्यात् । तथाहि—क्वचित् 'आत्मन आकाश मभूत्' (तै० ५।१) इत्याकाशादिका सृष्टिराम्नायते । क्वचित् तेज आदिका—'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति, क्वचित् प्राणादिका—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४) इति, क्वचिदक्रमेणैव लोकानामुत्पत्तिराम्नायते—'म इमाँलोकानसृजत अम्भो मरीचोर्मरमाप' (ऐ० उ० ४।१।२) इति, यथा क्वचिदसत्पूर्विका सृष्टि पठ्यते—'अमद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' (तं० २।७) इति, 'असदेवेदमग्र आसीत्तत्पदानीत्तत्तममभवत्' (छा० ३।१५।१) इति च । क्वचिदमद्वादनिराकरणेन सत्पूर्विका प्रक्रिया प्रतिज्ञायते—'तद्वैक आहुरमदेवेदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'कुतस्तु खलु सोम्येव स्यादिति होवाच कथमसत् सज्जायेतेति, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० २।२।१, २) इति, क्वचित्त्वयकर्तृत्वं व्याक्रिया जगतो निगद्यते—'तद्वैद तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (वृ० १।४।७) इति । एवमनेकधा विप्रतिपत्तेर्वस्तुनि च विकल्पस्थानुपपत्तेर्न वेदान्तवाक्यानां जगत्कारणावधारणपरता न्याय्या । स्मृतिन्यायप्रसिद्धिभ्यां तु कारणान्तरपरिग्रहो न्याय्य इति ।

ब्रह्म का लक्षण प्रतिपादित हो चुका, और वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मविषयक गतिसामान्य एवं प्रधान का अशब्दत्व भी प्रतिपादित हो चुका है । वहाँ यह

दूसरी आशंका की जाती है कि ब्रह्म और जगत् के जन्मादि-कारणत्वरूप लक्षण को तथा वेदान्तवाक्यों के ब्रह्मविषयक गतिसामान्य को नहीं माना जा सकता है, अर्थात् इसका ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि विगान (विरुद्ध कथन) देखा जाता है कि प्रत्येक वेदान्त में क्रमादि की विचित्रता से अन्य अन्य सृष्टि की उपलब्धि (ज्ञान) होती है। जैसे कही तो (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इस प्रकार जिसके आदि में आकाश होता है, ऐसी सृष्टि कही जाती है और कही (उस ब्रह्म ने तेज को रचा) इस प्रकार तेजपूर्वक सृष्टि कही जाती है। एवं कही (उसने प्राण को रचा, प्राण से श्रद्धा हुई) इस प्रकार प्राणपूर्वक सृष्टि कही गई है। तथा कही (उस परमात्मा ने इन लोकों को रचा, जलमय शरीर वाला (अम्भ) स्वर्ग को, सूर्यकिरणों से व्याप्त मरीचि (अन्तरिक्ष) को मरणशील मनुष्यलोक को, और जलमय पाताल को रचा) इस प्रकार क्रम के बिना ही सृष्टि कही गई है। इसी प्रकार कही असत्पूर्वक सृष्टि पढ़ी जाती है कि (यह सब जगत् पहले असत् ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ। अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त हुआ) (यह पहले असत् ही था, वह सत् था, फिर वह सम्यक् व्यक्त हुआ) कही असत्-वाद का निराकरण पूर्वक सत्पूर्वक प्रक्रिया (सृष्टि) की प्रतिज्ञा की जाती है कि (इस कारणविषयक किसी का कथन है कि यह सब जगत् असत् कारणरूप ही था) इस प्रकार आरम्भ करके, कहा है कि (हे सोम्य ! इस प्रकार कैसे हो सकता है, यह पिता ने पुत्र से कहा कि असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा, इससे हे सोम्य ! यह जगत् पहले सत्स्वरूप ही था) और कही जगत् की व्याक्रिया (अभिव्यक्ति-सृष्टि) अन्य कर्ता के बिना स्वकर्तृक कही जाती है कि पूर्व काल में यह जगत् अव्याकृत कारणस्वरूप ही था वह नाम से व्याकृत—व्यक्त हुआ है, इस प्रकार से अनेक प्रकार की विप्रतिपत्ति (विरोध) एवं वस्तु में विकल्प की अनुपपत्ति (असिद्धि) से वेदान्तवाक्यों की जगत्कारणावधारणपरता न्याययुक्त नहीं है, किन्तु स्मृतिप्रसिद्धि और न्यायप्रसिद्धि से सिद्ध कारणान्तर का ही वेदान्तवाक्यों से भी परिग्रहण करना न्याययुक्त है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सत्यपि प्रतिवेदान्तं सृज्यमानेष्व्वाकाशादिषु क्रमादिद्वारके विगाने न स्रष्टरि किञ्चिद्विगानमस्ति। कुतः? यथाव्यपदिष्टोक्तेः। यथाभूतो ह्येकस्मिन् वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्ट-स्तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदिश्यते। तद्यथा—‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ (तै० २।१) इति। अत्र तावज्ज्ञानशब्देन परेण च तद्विषयेण कामयितृ-त्ववचनेन चेतनं ब्रह्म न्यरूपयदपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरं कारणमब्रवीत्। तद्विषयेणैव परेणात्मशब्देन शरीरादिकोशपरम्परया चान्तरानुप्रवेशनेन सर्वेषामन्तः प्रत्य-गात्मानं निरधारयत्। ‘बहु स्यां प्रजायेय’ (तै० २।६) इति चात्मविषयेण बहुभवनानुशंसनेन सृज्यमानानां विकाराणां स्रष्टुरभेदमभाषत, तथा ‘इदं

सर्वमसृजत यदिद किंच' (तै० २।६) इति ममस्तजगत्सृष्टिनिर्देशेन प्राक्सृष्टेर-
द्वितीय स्रष्टारमाचष्टे ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्रत्येक वेदान्त में सृज्यमान (कार्य) आकाशादि-
विषयक क्रमादि द्वारा विगान (विरोध-विप्रतिपत्ति) रहने पर भी स्रष्टा (सृष्टिकर्ता)
विषयक कुछ भी विरोध नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार एक वेदान्त में स्रष्टा व्यपदिष्ट
(कथित) है, उसी प्रकार सब वेदान्त में उसकी उक्ति (कथन) है । जिसमें एक
वेदान्त में जिस स्वरूप वाली स्रष्टा, सर्वेश्वर, सर्वात्मा, एक अद्वितीय वस्तु जगत् के
कारण रूप से कही गई है, वैसे ही स्वरूप वाली अन्य वेदान्तों में बही जाती है । ब्रह्म
का सर्वज्ञत्वादि इस प्रकार निरूपित है कि वह सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप है । यहाँ
पहले ज्ञान शब्द में और आगे ब्रह्मविषयक कामयितृत्व शब्द से चेतन ब्रह्म का
निरूपण और परप्रयोज्यता के अभाव—स्वतन्त्रता से ईश्वररूप कारण का कथन किया
गया है । उस ब्रह्मस्वरूप ईश्वरविषय का ही आगे प्रयुक्त आत्म शब्द से तथा
शरीरदिरूप बोध-परम्परा द्वारा अन्तर में अनुप्रवेश से सबके अन्तःकरण में—अन्तर
में अन्तरात्मा का निर्धारण (निर्णय) किया गया है । एव (बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ)
इस आत्मविषयक बहुमवन के अनुरासन (उपदेश) से सृज्यमान विकारों का स्रष्टा
ईश्वर से अभेद कहा है । इसी प्रकार (ये जो कुछ हैं, इन सबको प्रथम रचा) इस
समस्त जगत् की सृष्टि के कथन से सृष्टि से प्रथम अद्वितीय स्रष्टा को तैत्तिरीय श्रुति
कहती है ।

तदत्र यत्लक्षणं ब्रह्म कारणत्वेन विज्ञातं तल्लक्षणमेवान्यत्रापि विज्ञायते—
'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहु स्या प्रजायेयेति,
तत्तेजोमृजत' (छा० ६।२।१, ३) इति, तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र
आसीन्नान्यत्किंचन मिपत् स ऐक्षत लोकान्नु मृज' (ऐ० उ० ४।१।१, २) इति
च, एवजातीयकस्य कारणस्वरूपनिरूपणपरस्य वाक्यजातस्य प्रतिवेदान्तमविगी-
तार्थत्वात् । कार्यविषय तु विगानं दृश्यते क्वचिदाकाशादिका सृष्टि क्वचित्तेज-
आदिकेत्येवजातीयकम् । नच कार्यविषयेण विगानेन कारणमपि ब्रह्म भवेद्वेदा-
न्तेष्वविगीतमधिगम्यमानमविवक्षितं भवितुमर्हतीति शक्यते वक्तुम्, अति-
प्रसङ्गात् । समाधान्यति चाचार्यं कार्यविषयमपि विगानं 'न विदधुने' (ब्र०
सू० २।३।१) इत्यारभ्य । भवेदपि कार्यस्य विगीतत्वमप्रतिपाद्यत्वात्, नह्यस्य
सृष्ट्यादिप्रपञ्च प्रतिपिपादयिषित । नहि तत्प्रतिबद्धं कश्चित्पुरुषार्थो दृश्यते
श्रूयते वा, नच कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपमहाराभ्यां तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यै
साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात् । दर्शयति च सृष्ट्यादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रति-
पत्त्यर्थताम्—'अन्नेन सोम्य शुद्धेनापोमूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुद्धेन तेजो-
मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुद्धेन मन्मूलमन्विच्छ' (छा० ६।८।४) इति ।

मृदादिदृष्टान्तैश्च कार्यस्य कारणेनाभेदं वदितुं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः श्राव्यत इति गम्यते । तथा च सम्प्रदायविदो वदन्ति—

यह ब्रह्म जिस लक्षण वाला यहाँ कारण रूप से विज्ञात हुआ है, उसी लक्षण वाला ही अन्य (छान्दोग्य) वेदान्त में भी विज्ञात होता (समझा जाता) है कि (हे सोम्य ! यह सब जगत् पहले सत् ही था, एक ही था, अद्वितीय था । उसने आलोचना किया कि बहुत होऊँ, उत्पन्न होऊँ, उसने तेज को उत्पन्न किया ।) इसी प्रकार ऐतरेय उपनिषद् में है कि—(यह सब जगत् पहले एक आत्मस्वरूप ही था, अन्य कुछ क्रियायुक्त नहीं था) उसने आलोचन-विचार किया कि लोकों की सृष्टि करूँ । इस प्रकार के कारण के स्वरूप के निरूपणपरक वाक्यसमूह की अविरोधार्थता से स्रष्टा के स्वरूपादि में विरोध नहीं है, कार्यविषयक विरोध तो देखा जाता है कि कहीं आकाशपूर्वक सृष्टि का कथन है, तो कहीं तेजपूर्वक है, इस प्रकार का विरोध है । परन्तु कार्यविषयक विरोध से सब वेदान्त में अविगीत (अविरुद्ध) रूप से प्रतीत होने वाला ज्ञातकारण ब्रह्म भी अविवक्षित होने योग्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अन्यविषयक विरोध से अन्य की अविवक्षा मानने पर स्वप्न के विषयों में विरोध से स्वप्नद्रष्टा में अविवक्षा आदि की अतिप्रसक्ति होगी । वस्तुतः कार्यविषयक भी विरोध नहीं है, जो विरोध सा प्रतीत होता है, उसका (न विषदश्रुतेः) इस सूत्र से आरम्भ करके आचार्य समाधान करेंगे । एवं अप्रतिपादनीय होने से कार्यों को विरुद्धत्व हो तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि यह सृष्टि आदि का विस्तार श्रुति से प्रतिपादन की इच्छा का विषय नहीं है, जिससे सृष्टि आदि के ज्ञान बिना नहीं होने वाला और सृष्टि आदि के ज्ञान से होने वाला कोई पुरुषार्थ न देखा जाता है, न सुना ही जाता है, और न किसी पुरुषार्थ की कल्पना ही की जा सकती है । क्योंकि सृष्टिवाक्यों के उपक्रम एवं उपसंहार से वहाँ ब्रह्मविषयक वाक्यों के साथ सृष्टि-वाक्यों की एकवाक्यतारूप से ज्ञान होता है, इससे सृष्टिसम्बन्धी न पुरुषार्थ (फल) है, और न उसकी कल्पना हो सकती है । श्रुति भी सृष्टि आदि विस्तार को ब्रह्मज्ञानार्थकता दिखलाती है कि (हे सोम्य ! अन्रूप कार्यात्मक लिंग से जलरूप कारण को जानो, जलरूप कार्य से तेजरूप मूल को समझो, तेजरूप कार्य से सत् ब्रह्मरूप मूल को जानो) और मृदादि दृष्टान्तों के द्वारा कार्य का कारण के साथ अभेद करने के लिए सृष्टि आदि का प्रपञ्च सुनाया जाता है, ऐसी प्रतीति होती है । इसी प्रकार वेदान्त सम्प्रदाय के ज्ञानी कहते हैं :—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टीर्या चोदिताऽन्यथा ।

उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥

(माण्डू० ३।२५) इति । ब्रह्मप्रतिपत्तिप्रतिबद्धं तु फलं श्रूयते—‘ब्रह्मविदानोति परम्’ (तै० २।१) ‘तरति शोकमात्मवित्’ (छां० ७।३१) ‘तमेव

विदित्वाऽस्तिमृत्युमेति' (श्वे० ३।८) इति च । प्रत्यक्षावगम चेद फलम् 'तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्ती मत्या समार्यात्मत्वव्यावृत्ते ।

मिट्टी, लोहा, चिनगारी आदि के दृष्टान्तों द्वारा जो अन्य-अन्य प्रकार से सृष्टि कही है, वह ब्रह्मज्ञान का हृदय में अवतरण (प्राप्ति) के लिए उपायरूप है । इससे उपाय में भेद होने हुए भी उपाय से प्राप्य ज्ञान और उसके विषय ब्रह्मात्मा में किसी प्रकार भी भेद नहीं है, प्राप्ति के साधन-मार्गादि के भेद से ग्रामादि का भेद नहीं होता है । उक्त रीति से सृष्टिसम्बन्धी वा उसके ज्ञानसम्बन्धी कोई पुरुषार्थ फल नहीं होते हुए भी ब्रह्म-ज्ञान से प्रतिबद्ध (प्राप्य) फल सुना जाता है कि ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है, आत्मज्ञानी शोकरहित हो जाता है, उस आत्मा को जान करके ही अतिमृतिमुक्ति पाता है इत्यादि । (तत्त्वमसि) इत्यादि उपदेशों से असंसारी आत्मत्व के ज्ञान होने पर संसारी आत्मत्व की निवृत्ति से प्रत्यक्ष अवगम (ज्ञान) का विषय यह फल है, इससे निश्चित प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय ब्रह्मज्ञान का फल है, सृष्टि आदि का नहीं ।

यत्पुन कारणविषय विगान दर्शितम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० २।७) इति नात्रासन्निरात्मक कारणत्वेन श्राव्यते यत् 'असन्नेव न भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्, अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेन ततो विदु' इत्यमन्नादापवादेनास्तित्वलक्षण ब्रह्मान्नमयादिकोशपरम्परया प्रत्यगात्मान निर्धार्य 'सोऽकामयत्' इति तमेव प्रकृत समाकृष्य सप्रपञ्चा सृष्टि तस्माच्छ्रावयित्वा 'तत्सत्यमित्याचक्षते' इति चोपमहृत्य 'तदप्येष श्लोको भवति' इति तस्मिन्नेव प्रकृतेश्च श्लोकमिममुदाहरति—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति । यदि त्वसन्निरात्मकमस्मिच्छ्लोकोऽभिप्रेयेत ततोऽन्यममाकर्षणेऽन्यस्योदाहरणादसम्बद्ध वाक्यमापद्येत । तस्मान्नामरूपव्याकृतवस्तुविषय प्रायेण सच्छब्द-प्रसिद्ध इति तद्व्याकरणाभावापेक्षया प्रागुत्पत्ते सदेव ब्रह्मासदिवासीदित्युपचर्यत ।

कारणविषयक विरोध जो दिखलाया गया था कि—यह पहले असत् ही था, इत्यादि । उसका परिहार (निवारण) करना चाहिये, इसलिए यहाँ कहा जाता है कि—(असत् ही यह पहले था) इस वचन से यहाँ निःसर्ग (स्वरूपशून्य) असत् कारणरूप से नहीं सुना जाता है, जिससे वह असत् ही होता है । यदि ब्रह्म असत् है, ऐसा जानता है, और यदि ब्रह्म है, इस प्रकार से जानता है, तो विद्वान् लोग उसको सत् ब्रह्मरूप ही जानते हैं । इस प्रकार से असत्वाद का अपवाद (निन्दा) पूर्वक अस्तित्व लक्षण वाले ब्रह्म का अन्नमयादि कोशों को परम्परा द्वारा प्रत्यगात्मा रूप से निवारण (निर्णय-निश्चय) करके (वह इच्छा किया) इस प्रकार उस प्रकृत सत् ब्रह्म का ही समाकर्षण

सम्बन्ध करके और उसी से विस्तारसहित सृष्टि सुनाकर उसको सत्य करते हैं। इस प्रकार सत्य सृष्टिवर्णन का उपसंहार करके (इस अर्थ को कहने वाला यह श्लोक मन्त्र है) इस प्रकार उस प्रकृत सद् ब्रह्म अर्थ में यह श्लोक उदाहरण (दृष्टान्त) दिया गया है कि (यह पहले असत् ही था) इससे यह निरात्मक असत् नहीं सुना जाता है। यदि निरात्मक असत् इस श्लोक में अभिप्रेत (अभिप्राय का विषय) किया गया हो, तब तो अन्य सद्ब्रह्म का समाकर्षण रहते अन्य (असत्) का उदाहरण से पूर्वापर वाक्य असम्बद्ध हो जायगा। उससे नाम-रूप से व्याकृत (व्यक्त) वस्तुविषयक प्रायः सत् शब्द प्रसिद्ध है। उससे उस नाम-रूप के पहले व्याकरण (अभिव्यक्ति) के अभाव को अपेक्षा से उत्पत्ति से पहले सत् ही ब्रह्म असत् के समान था। यह उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है।

एवैव 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छां० ३।१९।१) इत्यत्रापि योजना, 'तत्सदासीत्' इति समाकर्षणात्। अत्यन्ताभावाभ्युपगमे हि तत्सदासीदिति किं समाकृष्येत। 'तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (छां० ६।२।१) इत्यत्रापि न श्रुत्यन्तराभिप्रायेणायमेकीयमतोपन्यासः, क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पस्यासंभवात्। तस्माच्छ्रुतिपरिगृहीतसत्पक्षदाढ्यायैवायं मन्दमतिपरिकल्पितस्यासत्पक्षस्योपन्यस्य निरास इति द्रष्टव्यम्। 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (वृ० १।४।८) इत्यत्रापि न निरध्यक्षस्य जगतो व्याकरणं कथ्यते। 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्नेभ्यः' इत्यध्यक्षस्य जगतो व्याकृतकार्यानुप्रवेशित्वेन समाकर्षात् निरध्यक्षे व्याकरणाभ्युपगमे ह्यनन्तरेण प्रकृतावलम्बिना स इत्यनेन सर्वनाम्ना कः कार्यानुप्रवेशित्वेन समाकृष्येत। चेतनस्य चायमात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशः श्रूयते, अनुप्रविष्टस्य चेतनत्वश्रवणात्, 'पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इति। अपिच यादृशमिदमद्यत्वे नामरूपाभ्यां व्याक्रियमाणं जगत्साध्यक्षं व्याक्रियते एवमादिसर्गोऽपीति गम्यते, दृष्टविपरीतकल्पनानुपपत्तेः। श्रुत्यन्तरमपि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२) इति साध्यक्षामेव जगतो व्याक्रियां दर्शयति। व्याक्रियत इत्यपि कर्मकर्तारि लकारः सत्येव परमेश्वरे व्याकर्तारि सौकर्यमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा लूयते केदारः स्वयमेवेति सत्येव पूर्णके सवितरि। यद्वा कर्मण्येवैष लकारोऽर्थाक्षिप्तं कर्तारमपेक्ष्य द्रष्टव्यः। यथा गम्यते ग्राम इति ॥१५॥

ऐसी ही योजना (असत् ही यह पहले था) यहाँ भी समझना चाहिये, क्योंकि (वह सत् था) वहाँ उसका समाकर्षण होता है। यदि अत्यन्त असत् माना जाय तो (वह सत् था) यहाँ किसका क्या समाकर्षण किया जायगा। (उस सृष्टि से प्रथम संसार के विषय के कुछ लोग कहते हैं कि यह पहले असत् ही था) यहाँ भी दूसरी श्रुति के अभिप्राय से अनेक मतों का कथन नहीं है, क्योंकि क्रिया के समान वस्तु में विकल्प का असंभव है। उस श्रुति से स्वीकृत सत् ब्रह्म पक्ष की

दृढता के लिए ही मन्दमति से परिकल्पित असत् पक्ष का उपन्यास करके यह निरास (निराकरण) किया गया है, ऐसा समझना चाहिये । (पूर्वकाल में यह जगत् अव्यावृत्त था) यहाँ अध्यक्ष कर्ता रहित जगत् का व्याकरण नहीं कहा जाता है, क्योंकि (वह यह आत्मा इस शरीर में नखाग्र पर्यन्त प्रविष्ट है, इस प्रकार अध्यक्ष का व्यावृत्त नाम-रूप में अनुप्रवेशित्व रूप से समाकर्षण है । निगद्यक्ष व्याकरण के मानने पर अनन्तर पठित 'प्रकृतावलम्बी स ' इस सर्वनाम से कार्यानुप्रवेशो रूप से कौन समनु-वृष्ट होगा, और चेतनात्मा का यह अनुप्रवेश सुना जाता है । क्योंकि अनुप्रविष्ट का चेतनत्व सुना जाता है कि (वह देखता हुआ चक्षु (द्रष्टा) कहा जाता है, सुनता हुआ श्रोत्र श्रोता कहा जाता है, मनन कर्ता हुआ मन-मन्ता कहा जाता है) इत्यादि । और दूसरी बात है कि नाम-रूप से व्यावृत्त-व्यक्त होता हुआ यह जगत् वर्तमान काल में जिस प्रकार साध्यक्ष (अध्यक्ष सहित) व्यावृत्त होता है, इसी प्रकार आदि सगं भी । वह ब्रह्म कार्यत्वरूप हेतु से अनुमान द्वारा समझा जाता है । क्योंकि प्रत्यक्ष दृष्ट से विपरीत की कल्पना नहीं हो सकती है, दृष्टानुसारी ही कल्पना भी हो सकती है । दूसरी श्रुति भी कहती है कि (इस जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके मैं नाम-रूप का व्याकरण विभाग-अभिव्यक्ति कहूँगा) इस प्रकार अध्यक्षसहित हो जगत् की प्रक्रिया (सृष्टि) की श्रुति दिखलाती है । अध्यक्षरूप कर्ता के रहने पर भी व्या-कर्ता परमेश्वर अव्यावृत्त नाम-रूप द्वारा स्वयं व्यक्त होता है । यह कर्म रूप कर्ता अर्थ में प्रयोग भी सुकरता-मुखमाध्यता की दृष्टि में समझना चाहिए, जैसे कि पूर्णक (अखण्ड समर्थ) लविता (बाटने वाला) के रहने पर भी केदार (कथारी) स्वयं कटता है, ऐसा प्रयोग होता है, इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए । अथवा यह लकार प्रत्यय कर्म में ही है, यह अर्थ से आक्षिप्त कर्ता की अपेक्षा करते हुए कर्म में जाननेयोग्य है, जैसे कि ग्रामप्राप्त किया जाता है । यहाँ कर्म में प्रत्यय होने पर भी कर्ता की अपेक्षा रहती है इत्यादि ।

वालाक्यधिकरण (५)

पुरुषाणान्तु क कर्ता प्राणजीवपरात्मसु । कर्मेति चलने प्राणो जीवोऽपूर्वं विवक्षते ॥१॥
जगद्धाची कर्मशब्द पुमात्रविनिवृत्तये । तत्कर्त्ता परमात्मैव न मृषावादिता तत ॥२॥

(यो ह वै वाचाक एतेषा पुरुषाणा कर्ता यस्य वैतत्कर्मस वेदितव्य) इस श्रुति में कर्म शब्द जगत् का वाचक है, और उस जगत् का परमात्मा कारण है, इससे जगत् के मध्यगतपुरुषों का भी परमात्मा ही कारण है । यहाँ सामान्य दृष्टि से मशय होता है कि चन्द्रादि में वर्तमान पुष्पो का कर्ता प्राण जीव और परमात्मा में से कौन है ? वहाँ पूर्व पक्ष है कि चलन अर्थ में कर्म शब्द के होने से जिस प्राण का यह चलन रूप कर्म-क्रिया है वह पुष्पो का भी कर्ता है । अथवा कर्म शब्द से अपूर्व अदृष्ट-धर्माधर्म की विवक्षा करने पर धर्माधर्म के कर्ता जीव ही पुष्पो का कर्ता होगा । सिद्धान्त है कि

क्रियते इति कर्म, इस प्रकार के उत्पन्न होने वाले सब जगत् का वाचक कर्म शब्द है क्रिया वा अदृष्ट का वाचक नहीं है, इससे केवल पुरुषमात्र के कर्तृत्व की निवृत्ति के लिए जिस का यह जगत् कार्य है, यह कहा गया है, इस प्रकार पुरुषसहित जगत् का कर्ता परमात्मा ही है । ऐसा मानने ही से सत्य के उपदेशक राजा को मृषावादिता नहीं होगी, प्राण वा जीवात्मा के उपदेश देने पर मृषावादिता होगी ।

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

कौपीतिकब्राह्मणे वालाक्यजातशत्रुसंवादे श्रूयते—‘यो वै वालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वेदितव्यः’ (कौ० ब्रा० ४।२९) इति तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनोपदिश्यते उत मुख्यः प्राण उत परमात्मेति विशयः । किं तावत्प्राप्तम् ?

प्राण इति । कुतः ? ‘यस्य वैतत्कर्म’ इति श्रवणात् । परिस्पन्दलक्षणस्य च कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्, वाक्यशेषे च ‘अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति’ इति प्राणशब्ददर्शनात् । प्राणशब्दस्य च मुख्ये प्राणे प्रसिद्धत्वात् । ये चैते पुरस्ताद्वालाकिना ‘आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः’ इत्येवमादयः पुरुषा निर्दिष्टास्तेषामपि भवति प्राणः कर्ता प्राणावस्थाविशेषत्वादादिदेवतात्मनाम्, ‘कतम-एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते’ (वृ० ३।१।९) इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । जीवो वायमिह वेदितव्यतयोपदिश्यते । तस्यापि धर्माधर्मलक्षणं कर्म शक्यते श्रावयितुम् ‘यस्य वैतत्कर्म’ इति, सोऽपि भोक्तृत्वाद्भोगोपकरण-भूतानामेतेषां पुरुषाणां कर्तोपपद्यते । वाक्यशेषे च जीवलिङ्गमवगम्यते । यत्कारणं वेदितव्यतयोपन्यस्तस्य पुरुषाणां कर्तृवैददायोपेतं बालाकिं प्रति ब्रुवोऽयिपुरजातशत्रुः सुप्तं पुरुषमामन्त्र्यामन्त्रणशब्दाश्रवणात्प्राणादीनामभोक्तृत्वं प्रतिबोध्य यष्टिघातोत्थापनात्प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं भोक्तारं प्रतिबोध्यति । तथा परस्तादपि जीवलिङ्गमवगम्यते—‘तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रजातमैतरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति’ (कौ० ब्रा० ४।२०) इति । प्राणभृत्वाच्च जीवस्थोपपन्नं प्राणशब्दत्वम् । तस्माज्जीवमुख्यप्राणयोरन्यतर इह ग्रहणीयो न परमेश्वरः, तल्लिङ्गानवगमादिति ।

कौपीतिक ब्राह्मण मे वालाका का पुत्र वालाकी नामक ब्राह्मण और अजातशत्रु नामक राजा के संवाद में मुना जाता है कि (हे वालाके जो इन प्रसिद्ध नूर्य-चन्द्रादि पुरुषों का कर्ता है, तथा जिसका यह जगत् कार्य है वही जानने योग्य है) वहाँ संशय होता है कि यहाँ वेदितव्य (ज्ञेय) रूप से जीव का उपदेश दिया जाता है, अथवा मुख्य प्राण का उपदेश दिया जाता है, अथवा परमात्मा इस उपदेश का विषय है ? विमर्श होता है कि पहले प्राप्त क्या है ? पूर्वपक्ष है कि प्राणप्राप्त है, क्योंकि जिसका

यह कर्म है, इस प्रकार सुना जाता है, और परिस्पन्द (चलन) रूप कर्म को प्राणा-
श्रयत्व ही है । वाक्य शेष में प्राणशब्द बोधता है कि (सुषुप्ति काल में इन्द्रियो के
लीन होने पर द्रष्टा जीव इसे प्राण में एकता को प्राप्त करता है) और प्राणशब्द की
प्रसिद्धि मुख्यप्राण में है, इसमें प्राण ही पुष्पो का वर्ता है । (आदित्य में पुरुष है,
चन्द्रमा में पुरुष है) इत्यादि वचनों द्वारा जो पहले बालाकि से पुरुष निर्दिष्ट हुए
हैं, उनका भी प्राण वर्ता होता है, क्योंकि आदित्यादि देवताओं को प्राण की अवस्था
विशेष रूपता ही है । वह श्रुत्यन्तर की प्रसिद्धि से सिद्ध होता है । श्रुत्यन्तर की
प्रसिद्धि है कि (एक देव कौन है) उत्तर है कि एक देव प्राण है, और प्राण ही ब्रह्म
है, प्राण ही त्वद (परोक्ष सूत्रात्मा है इस प्रकार भी कहते हैं) । अथवा यहां वेदितव्य
रूप से यह जीव उपदिष्ट होता है, उसके भी धर्माधर्म रूप कर्म (जिसका यह कर्म
है) इस श्रुति से सुनाया जा सकता है । वह जीव भी मोक्षता होने से भोग के उप-
करण उपकारक माधन रूप इन पुष्पो का वर्ता उत्पन्न मिद्ध हो सकता है । और
वाक्य शेष में जीव का लिंग अवगत (ज्ञात) होता है कि जिन कारण से वेदितव्य
ज्ञेय रूप से कथित पुरुषों का वर्ता की समझने के लिए पास में प्राप्त बालाकि के
प्रति बोध कराने की इच्छा वाला अज्ञात शत्रु ने मोक्ष हुए पुरुष को आमन्त्रित किया
मधुर स्वर से पुकारा, फिर आमन्त्रण के शब्द को नहीं सुनने से चलते हुए जाग्रत
प्राणादि को अमोक्त्वत्व समझाकर कि ये प्राणादि आत्मा नहीं हैं । फिर लाठी के
ग्रहार से जागने पर प्राणादि से भिन्न मोक्षता जीव का पक्षिबोध कराया । इसी प्रकार
आगे भी जीव का लिङ्ग अवगत होता है कि (जेमें श्रेष्ठ प्रधान पुरुष अपने आश्रित
भूत्यादि में उपहृत प्राप्त वस्तु का उपभोग करता है, और वे आश्रित लोग उसमें
भोग पाते हैं । इसी प्रकार प्रज्ञात्मा जीव भी इन मूर्त्यादि देवताओं से प्रकाशादि
द्वारा भोग पाता है, और इसी प्रकार वे देवात्मा सप्त जीव के आश्रित हवि आदि
भोग पाते हैं । इसमें पहले और वाक्य शेष में कथित भोक्त्वत्व जीव का लिंग है ।
और जीव को प्राणधारी होने में (प्राण में एक होता है) इत्यादि वाक्य में जीव को
प्राणशब्द वाच्यत्व भी उपपन्न (युक्त) होता है । इसमें जीव और मुख्यप्राण इन
दोनों में से एक यहां ग्रहण के योग्य है, परमेश्वर नहीं, क्योंकि उसका लिङ्ग यहां
अवगत नहीं होता है ।

एव प्राप्ते ब्रूम — परमेश्वर एवायमेतेषां पुरुषाणां कर्ता स्यात् । कस्मात् ?
उपक्रमसामर्थ्यात्, इह हि बालाकिरजानशत्रुणा सह 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति
सर्वदितुमुपचक्रमे, न च कतिचिदादिन्याशधिकरणान् पुरुषानमुत्पन्नब्रह्मदृष्टिभाज
उक्त्वा तूष्णीं बभूव, तमजातशत्रु 'मृषा वै मलु मा भवदिष्टा ब्रह्मते प्रब्रवाणि'
इत्यमुख्यब्रह्मवादिनयापोद्य तत्कर्तारमन्य चेदितव्यतयोपचिक्षेप । यदि भोग्य
मुख्यब्रह्मदृष्टिभाक् स्यादुपक्रमो वाच्येत, तस्मात्परमेश्वर एवाय भवितुमर्हति ।

कर्तृत्वं चैतेषां पुरुषाणां न परमेश्वरादन्यस्य स्वातन्त्र्येणावकल्पते । 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यपि नायं परिस्पन्दलक्षणस्य धर्माधर्मलक्षणस्य वा कर्मणो निर्देशः, तयोरन्यतरस्याप्यप्रकृतत्वात्, असंशब्दितत्वाच्च । नापि पुरुषाणामयं निर्देशः, एतेषां पुरुषाणां कर्तृत्वेव तेषां निर्दिष्टत्वात्, लिङ्गवचनविगानाच्च । नापि पुरुषविषयस्य करोत्यर्थस्य क्रियाफलस्य वायं निर्देशः, कर्तृशब्देनैव तयोरुपात्तत्वात् । पारिशेष्यात्प्रत्यक्षसंनिहितं जगत्सर्वनाम्नैतच्छब्देन निर्दिश्यते । क्रियत इति च तदेव जगत्कर्म । ननु जगदप्यप्रकृतमसंशब्दितं च । सत्यमेतत् । तथाप्यसति विशेषोपादाने साधारणेनार्थेन संनिधानेन संनिहितवस्तुमात्रस्यायं निर्देश इति गम्यते न विशिष्टस्य कस्यचित्, विशेषसंनिधानाभावात् । पूर्वत्र च जगदेकदेशभूतानां पुरुषाणां विशेषोपादानादविशेषितं जगदेवेहोपादीयत इति गम्यते । एतदुक्तं भवति । य एतेषां पुरुषाणां जगदेकदेशे भूतानां कर्ता, किमनेन विशेषेण, यस्य कृत्स्नमेव जगदविशेषितं कर्मेति ? वाशब्द एकदेशावच्छिन्नकर्तृत्वव्यावृत्त्यर्थः । ये वालाकिना ब्रह्मत्वाभिमताः पुरुषाः कीर्तितास्तेषामब्रह्मत्वख्यापनाय विशेषोपादानम् । एवं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन सामान्यविशेषाभ्यां जगतः कर्ता वेदितव्यतयोपदिश्यते । परमेश्वरश्च सर्वजगतः कर्ता सर्ववेदान्तेष्ववधारितः ॥ १६ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि यह परमेश्वर ही इन पुरुषों का कर्ता हो सकता है, क्योंकि उपक्रम के सामर्थ्य से परमेश्वर ही अवगत होता है, जिससे यहाँ वालाकि ने (तेरे लिए ब्रह्म का वर्णन कहूँगा) इस प्रकार अजातशत्रु के साथ संवाद करने के लिए आरम्भ किया । और वह वालाकि आदित्यादि में रहनेवाले अमुख्य ब्रह्मदृष्टि के विषयक अनेक पुरुषों का वर्णन करके चुप हो गया । तब उसको अजातशत्रु ने (मृषा मिय्या ही संवाद नहीं करो कि मैं तेरे लिए ब्रह्म कहूँगा) इस प्रकार उस वालाकि की अमुख्य ब्रह्मवादिता का अपवाद (निन्दा) करके उन पुरुषों का कर्ता उनसे अन्य को वेदितव्य रूप से ग्रहण किया । यदि वह वेदितव्य भी अमुख्य ब्रह्मदृष्टि-भागी विषय होगा तो उपक्रम बाधित होगा, जिससे यह वेदितव्य वस्तु परमेश्वर ही होने योग्य है । और इन पुरुषों के स्वतन्त्र रूप से कर्तृत्व भी परमेश्वर के सिवाय अन्य को नहीं सिद्ध हो सकता है । (जिसका यह कर्म है) इस प्रकार का यह निर्देश भी परिस्पन्द रूप या धर्माधर्म रूप कर्म का निर्देश कथन नहीं है, क्योंकि वे दोनों या दोनों में से कोई एक यहाँ प्रकृत प्रस्तुत नहीं हैं, एवं असंशब्दित हैं, पास में किसी श्रुति वचन से निर्दिष्ट नहीं है । पुरुषों का भी यह कर्मरूप से निर्देश नहीं है, क्योंकि जो इन पुरुषों का कर्ता है, इस कथन से ही वे पुरुष निर्दिष्ट हो चुके हैं, फिर निर्देश से पुनरुक्ति होगी । लिङ्ग वचन में विरोध होने से भी बहुत पुरुष नपुंसक एक वचन एतद् शब्द से निर्दिष्ट नहीं हो सकते हैं, इसी प्रकार पुरुष विषयक जो 'करोति' धातु का अर्थ पुरुषों का उत्पादन, या उत्पादन

वा फल जो पुरुषों का जन्म उसका भी यह एतत् पद से निर्देश नहीं है, क्योंकि क्रिया और उसके फल के बिना कर्तृत्व के अमम्भव से कर्तावाचक शब्द से ही क्रिया और क्रिया के फल गृहीत हो जाते हैं उनके लिए पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं होनी है। इस प्रकार परिचयता से प्रत्यक्ष सन्निहित जगत् सर्वनाम एतत् शब्द से निर्दिष्ट होता है। यदि कहा जाय कि जगत् भी अप्रकृत और असशब्दित है, तो यह कहना यद्यपि सत्य है, तथापि सकोच के हेतु विशेष किसी वस्तु के ग्राह्य नहीं रहने पर साधारण अर्थ के साथ सन्निधान (सम्बन्ध) से सन्निहित वस्तुमात्र का यह निर्देश है, किसी विशेष का निर्देश नहीं है इस प्रकार समझा जाता है। विशेष के अभाव की दशा में सामान्य का स्वाभाविक ज्ञान होता है, क्योंकि विशेष का सानिध्य नहीं है। एव प्रथम जगत् के एक देशरूप पुरुषों के ग्रहण से अविशेषित (सामान्य जगत् ही यहाँ गृहीत होता है, ऐसा समझा जाता है। यहाँ शका हुई कि यदि एतत् शब्द से सम्पूर्ण जगत् का ग्रहण किया जाता है, तो पुरुषों के पृथक् ग्रहण के क्या फल हैं? इस शका की निवृत्ति के लिए कहा जाता है कि यहाँ तात्पर्य से यह रहस्य उक्त होता है कि, जो जगत् के एक देश स्वरूप इन पुरुषों का कर्ता है, ऐसा विशेषण से क्या फल है, जिसका भेदरहित सम्पूर्ण जगत् ही कर्म है, कार्य है, वही ज्ञेय ब्रह्म है, वा शब्द एकदेशावच्छिन्नकर्तृत्व (पुरुष मात्र से निरूपित कर्तृत्व) अर्थात् एकदेशमात्र कर्तृत्व के निवारण के लिए है। एव वालाकि द्वारा जो ब्रह्म रूप से अभिमत (स्वीकृत) पुरुष कहे गये थे, उन्हें अग्रह कथन ज्ञापन के लिए पुरुष-रूप विशेषों का ग्रहण है। इसी प्रकार ब्राह्मण परित्राजक न्याय से सामान्य विशेष द्वारा जगत् का कर्ता वेदितव्य रूप से उपदिष्ट होता है। परमेश्वर ही सब जगत् का कर्ता रूप से सब वेदान्त में अवधारित (निर्णीत) है। इससे परमेश्वर वेदितव्य है ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

अथ यदुक्त—वाक्यगोपगताज्जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तयोरेवान्यतर-स्येह ग्रहण न्याय्य न परमेश्वरस्य—इति, तत्परिहृतव्यम्। अत्रोच्यते—परिहृत चेत्तत् 'नोपासानैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्' (ब्र० सू० १।१।३१) इत्यत्र। त्रिविध ह्युपासनमेव सति प्रसज्येत जीवोपासन मुख्यप्राणोपासन ब्रह्मोपासन चेति। न चैतन्न्याय्यम्, उपक्रमोपमहाराभ्यां हि ब्रह्मविषयत्वमस्य वाक्यस्यावगम्यते। तत्रोपक्रमस्य तावद्ब्रह्मविषयत्व दर्शितम्। उपसहारस्यापि निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मविषयत्व दृश्यते—'सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां थ्येष्ठ्य स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एव वेद' इति। नन्वेव मति प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्य निर्णीयेत, न निर्णीयते 'यस्य वैतत्कर्म' इत्यस्य ब्रह्मविषयत्वेन तत्रानिर्धारितत्वात्। तस्मादत्र जीवमुख्यप्राणगङ्गा

पुनरुत्पद्यमाना निवर्त्यते । प्राणवन्दोऽपि ब्रह्मविषयो दृष्टः 'प्राणवन्दनं हि सोम्य मनः' (छां० ६।८।२) इत्यत्र । जीवलिङ्गमप्युपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मविषय-त्वादभेदाभिप्रायेण योजयितव्यम् ॥ १७ ॥

पहले जो यह कहा है कि वाक्य घोषणत जीव-लिङ्ग से और मुख्य प्राण-लिङ्ग से उन दोनों में से ही एक का यहाँ ग्रहण करना न्याययुक्त है, परमेश्वर का ग्रहण न्याययुक्त नहीं, उसका परिहार करना चाहिए । यह शंका परिहृत हो चुकी है कि (नोपासात्रैविष्यादित्यादि) ऐसा मानने पर यहाँ तीन प्रकार की उपासना प्राप्त होगी, जीवोपासना, मुख्यप्राणोपासना और ब्रह्मोपासना । ये तीनों उपासनाएँ कर्तव्य हो जायेंगी, और यह त्रैविध्य न्याययुक्त नहीं है, जिसके उपक्रम और उपसंहार से इस वाक्य को ब्रह्मविषयत्व समझा जाता है । उसमें उपक्रम का ब्रह्मविषयत्व पहले दिखलाया गया है, निरतिशय (सर्वोत्तम) फल के श्रवण से उपसंहार को भी ब्रह्मविषयत्व देखा (समझा) जाता है कि (जो इस प्रकार जानता है, वह सब पापों को नष्ट करके सब भूतों में श्रेष्ठता (गुणाधिकता) स्वराज्य (स्वतन्त्रता) और आधिपत्य (स्वामिता) को प्राप्त करता है । यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर प्रवर्दन वाक्य के निर्णय ने ही यह वाक्य भी निर्णीत हो सकता है, उस पर कहा जाता है कि उसके निर्णय से यह निर्णीत नहीं होता है । क्योंकि (जिसका यह कर्म है) इसका ब्रह्मविषयत्वेन वहाँ निर्णय नहीं हुआ है, और वहाँ इसका अनिर्धारण होने ही ने जीव और मुख्य प्राण विषयक शंका पुनः उत्पन्न होने पर यहाँ उसकी निवृत्ति की जाती है, कि प्राण-विषयक लिङ्ग को ब्रह्म-विषयक ही जानना चाहिए, क्योंकि (हे सोम्य मन ! जीव प्राणाधीन है) इस वाक्य में ब्रह्म विषयक प्राण-शब्द देखा गया है । और उपक्रम-उपसंहार के ब्रह्म-विषयक होने से जीव-विषयक लिङ्ग भी जीव ब्रह्म के अभेद अभिप्राय से ब्रह्म-विषयक सम्बन्ध के योग्य है ॥ १६ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं-जीवप्रधानं देवं वाक्यं स्याद्ब्रह्मप्रधानं वा-इति । यतोऽन्यार्थं जीवपरामर्शं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमस्मिन् वाक्ये जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मात् ? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् । प्रश्नन्तावत्सुप्तपुरुषप्रतिबोधनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीवव्यतिरिक्तविषयो दृश्यते-‘क्वैप एतद्वालके पुरुषोऽश्रयिष्ठ क्व वा एतदभूत्कुत एतदागात्’ (कौ० ब्रा० ४।१९) इति । प्रतिवचनमपि ‘यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति’ इत्यादि, ‘एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः’ (कौ० ब्रा० ४।२०) इति च । सुषुप्तिकाले च परेण

ब्रह्मणा जीव एकता गच्छति, परस्माच्च ब्रह्मण प्राणादिक जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा । तस्माद्यत्राम्य जीवस्य नि सम्बोधतास्वच्छतारूप स्वाप उपाधिजनितविशेषविज्ञानरहित स्वरूप यनस्तद्भ्रंशरूपमागमन सोऽत्र परमात्मा वेदितव्यतया आवित इति गम्यते । अपि चैवमेके शाखिनो वाजमनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुमवादे स्पष्ट विज्ञानमयशब्देन जीवमाभ्यास-तद्व्यतिरिक्त परमात्मानमामनन्ति—‘य एष विज्ञानमय पुरुष क्वैष तदाभूक्तु एतदागात्’ (बृ० २।१।१६) इति प्रश्ने प्रतिवचनेऽपि ‘य एषोऽस्तहृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते’ इति । आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रयुक्तः ‘दहरोऽस्मिन्न्तराकाश’ (छा० ८।१।१) इत्यत्र । ‘सर्व एव आत्मनो व्युच्चरन्ति’ इति चोपाधिमतामात्मनामन्यतो व्युच्चरणमामनन्त परमात्मानमेव कारणत्वेनामनन्तोति गम्यते । प्राणनिराकरणस्यापि सुषुप्तपुरुषोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्तोपदेशोऽभ्युच्चय ॥ १८ ॥

पहले अभेद के अमिप्राय से जीव के लिङ्ग को ब्रह्मसम्बन्धी कहा गया है । अब यहाँ ऐसा विवाद हो नहीं करना चाहिए कि यह वाक्य जीव-प्रधान है या ब्रह्म प्रधान ? ‘जिससे जीव के परामर्श (कथनादि) को अन्य प्रयोजन के लिए अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए’ इस वाक्य को जमिनि आचार्य मानते हैं, क्योंकि प्रश्न और उसके व्याख्यान से यह अर्थ सिद्ध होता है । पहले सोया हुआ पुरुष को जगाने के लिए प्राणादि में मिल जीव के प्रति बोधन (ज्ञान) कराने पर जीव से व्यतिरिक्त (भिन्न) विषयक प्रश्न दौखता है कि (हे वागके ! यह पुरुष कहाँ एक भाव में सोया था, और एक भाव में शयन कहाँ हुआ था, और यह आगमन कहाँ से हुआ है ?) प्रतिवचनरूप व्याख्यान भी है कि (जब सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है, तब इस प्राण (ब्रह्म) में ही एक अभिन्न हो जाता है) इत्यादि और (इस आत्मा से ही सब प्राण (इन्द्रियाँ) अपने आश्रय के अनुसार जागते पर, गमन करते हैं, प्रकट होते हैं, प्राणों में देव, देव में लोक विषयादि प्रकट होते हैं) इत्यादि । सुषुप्ति-काल में जीव परब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त होता है, और परब्रह्म से ही प्राणादि रूप जगत् उत्पन्न होता है, यह वेदान्त की मर्यादा (स्थिति धारणा) है । जिसमें जहाँ इस जीव को विशेष ज्ञान शून्यता (नि सम्बोधता) और स्वच्छता रूप स्वाप (शयन) होता है । तथा उपाधिजनित विशेष विज्ञान से रहित स्वरूप रहता है और जहाँ से उस स्वप्न स्वरूप से पवनरूप आगमन होता है । वही परमात्मा यहाँ वेदितव्य रूप से मुनाया गया है, ऐसी प्रतीति होती है, प्रश्न और व्याख्यान से यही समझा जाता है । प्रश्न व्याख्यान के प्रसंग में वाजसनेयी नामक एक शाखा वाले इसी बालाकि-अजातशत्रु के सवाद में विज्ञानमय शब्द से स्पष्ट जीव का कथन करते उससे भिन्न परमात्मा का कथन करते हैं कि (जो यह विज्ञानमय

पुरुष है, यह सुषुप्ति काल में कहाँ रहा, और कहाँ से इसका यह आगमन हुआ है) इस प्रश्न के होने पर प्रतिवचन में भी कहा है कि (यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसी में सोता है) और आकाश शब्द परमात्मा में प्रयुक्त है, वही (इस हृदय में अन्तराकाश अल्प है) यहाँ प्रयुक्त हुआ है । आत्मा से ही सब प्रकट होते हैं, इस प्रकार उपाधिवाले आत्माओं का अन्य से व्युच्चरण (अभिव्यक्ति) को करते हुए परमात्मा को ही कारणरूप से अन्य शाखा वाले भी कहते हैं, यह समझा जाता है । सुषुप्त पुरुष के उत्थापन द्वारा जो प्राण से भिन्न आत्मा का उपदेश है वही प्राण के निराकरण का भी समुच्चय रूप है । इससे यह वाक्य परमात्मा में समन्वित है, प्राणादि में नहीं ॥ १९ ॥

वाक्यान्वयाधिकरण (६)

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तः संसारी वा परेश्वरः ।

संसारी पतिजायादिभोगप्रोत्यास्य सूचनात् ॥

अमृतत्वमुपक्रम्य तदन्तेऽप्युपसंहृतम् ।

संसारिणमनूद्यातः परेशत्वं विधीयते ॥ २ ॥

(आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः) आत्मा ही अत्यन्त प्रिय है, इससे अरे मैत्रेयि ! आत्मा प्रत्यक्ष जानने योग्य है, यहाँ पूर्वापर वाक्य के अन्वय से परमात्मा ही द्रष्टव्य कहा गया है । तो भी सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि यहाँ द्रष्टव्य आत्मा को संसारी कहा गया है अथवा परमात्मा को । पूर्वपक्ष है कि यहाँ द्रष्टव्य रूप संसारी आत्मा कहा गया है, क्योंकि पति-जाया आदि के भोगजन्य प्रीति (सुख) से इस जीवात्मा का ही सूचन होता है, और भोगजन्य सुखों का उस वाक्य में वर्णन है ॥ १ ॥

सिद्धान्त है कि इस वाक्य को अमृतत्व से आरम्भ करके अमृतत्व ही में समाप्त किया गया है, और अमृतत्व की प्राप्ति परमात्म दर्शन के बिना हो नहीं सकती है । इससे भोग-प्रीति आदि द्वारा प्रसिद्ध संसारी का अनुवाद करके वस्तुतः सुखस्वरूप में परेशता का ही विधान करते हैं ॥ २ ॥

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

वृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणेऽधीयते (१)—‘न वा अरे पत्युः कामाय’ इत्युपक्रम्य ‘न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विजानेनेदं सर्वं विदितम्’ (वृ० ४।५।६) इति, तत्रैतद्विचिकित्स्यते—किं विजानात्मैवायं द्रष्टव्यश्रोतव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित्परमात्मेति । कुतः पुनरेषा विचिकित्सा ? प्रियसंसूचितेनात्मना भोक्त्रोपक्रमाद्विजानात्मोपदेश इति प्रतिभाति, तथात्मविजानेन सर्वविजानोपदेशात्परमात्मोपदेश इति । किं तावत्प्राप्तम् ?

विजानात्मोपदेश इति । कस्मात् ? उपक्रमसामर्थ्यात् । पतिजायापुत्रविना-

दिक हि भोग्यभूत सर्वं जगदात्मार्थतया प्रिय भवतीति प्रियससूचित भोक्तार-
मात्मानमुपक्रमानन्तरमिदमात्मनो दर्शनाद्युपदिश्यमान कस्यान्यस्यात्मन-
स्यात् ? मध्येऽपि 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवेतेभ्यो भूतेभ्य
समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य मज्जास्ति' इति प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य
द्रष्टव्यस्य भूतेभ्य समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन युवन्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं
दर्शयति । तथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति कर्तृवचनेन शब्देनोप-
महर्गन्विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति । तस्मादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानवचनं
भोक्तव्यत्वाद्भोग्यजातस्यापचारिकं द्रष्टव्यमिति ।

वृत्तदारण्यकान्तर्गतं मैत्रेयी ब्राह्मण मे अध्ययनं किया जाता (पढा जाता) है कि
(अरे मैत्रेय ! पति के काम (काम्य-मुखादि) के लिए स्त्री का पति प्रिय नहीं होता
है) इस प्रकार आरम्भ करके (अरे मैत्रेय ! सबके नाम के लिए सब प्रिय नहीं होते
हैं, किन्तु अपनी आत्मा के काम (प्रयोजन) के ही लिए सब प्रिय होते हैं, इससे आत्मा
मुख्य प्रेम का विषय है, और उसके अग्रे शेष उपकारक रूप में अन्य पदार्थ प्रिय होने
हैं, इसमें अरे मैत्रेय ! प्रियतम आत्मा ही द्रष्टव्य (दर्शन योग्य) है और दर्शन के
लिए वही श्रवण, मनन, निदिध्यासन (ध्यान) के योग्य है । एवं अरे मैत्रेय ! आत्मा
के ही दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से यह सब जगत विदित (ज्ञात) हो जाता
है । यहाँ यह सशय किया जाता है कि क्या यह विज्ञानात्मा ही द्रष्टव्यव्योक्तव्यादि रूप
से उपदिष्ट होती है अथवा परमात्मा उपदिष्ट होता है ? यदि कहा जाय कि यह सशय
क्यों होता है—तो कहा जाता है कि प्रिय भोग्य-वस्तु पति-जायादि से समूचित
अनुमित भोक्ता आत्मा में इस वाक्य का उपक्रम होने में यह वाक्य विज्ञा-
नात्मा का उपदेश रूप है, ऐसी प्रतीति होती है । और इसी प्रकार आत्मा के
विज्ञान से, सबके विज्ञान के उपदेश में परमात्मा का उपदेश है, ऐसी प्रतीति हँती है
एवं इस द्वैविध्य से सशय होता है । विमर्श है कि पहले क्या प्राप्ति है ? पूर्वपक्ष है कि
विज्ञानात्मा का उपदेश प्राप्ति होता है, क्योंकि उपक्रम के सामर्थ्य से पूर्वाधिकरण के
समान यहाँ जीवात्मा की ही प्रतीति होती है । जिससे पति, जाया, पुत्र, वित्तादि सब
भोग्यस्वरूप जगत् आत्मापरक होने में प्रिय होता है, इस प्रकार प्रिय भोग्यादि में
समूचित भोक्तात्मा का आरम्भ करके उसके अनन्तर (बाद में) जो यह आत्मा के
दर्शन, श्रवणादि उपदिश्यमान हुए हैं, वे आत्मा में अन्य किसके होंगे । इससे जीवात्मा
के दर्शनादि का ही उपदेश है । और (यह अन्तरात्मा महान् सत्य, अनन्त-अपार
विज्ञानघन एक रस होने हुए भी इन भूतों के द्वारा शरीरीरूप से प्रगट हो कर उन
भूतों के नाश से उत्थित रूप में नष्ट हो जाती है, इससे मर कर स्थिर रहने वाले
का ज्ञान नहीं होता है ।) इस मध्य वाक्य में भी प्रकृत ही महान सत्य द्रष्टव्य आत्मा
का विज्ञानात्मा रूप में भूतों में समुत्थान (जन्म) को कहता हुआ विज्ञानात्मा को
ही यह द्रष्टव्यत्व मानवलय जी दिखलाते हैं । इसी प्रकार (अरे ! मैत्रेय विज्ञाता को

किससे जानेगा ?) यहाँ पर कर्ता वाचक विज्ञाता शब्द द्वारा उपसंहार करते हुए मुनि विज्ञानात्मा को ही उपदिष्ट करते हैं । इससे आत्मविज्ञान से सबके विज्ञान विषयक वचन को भोग्य समूह के भोक्ता के लिए होने से औपचारिक (गौण) समझना चाहिए ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मोपदेश एवायम् । कस्मात् ? वाक्यान्वयात् । वाक्यं हीदं पौर्वपिष्येणावेक्ष्यमाणं परमात्मानं प्रति अन्वितावयवं लक्ष्यते । कथमिति ? तदुपपाद्यते—‘अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन’ इति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य ‘येनाह नामृता स्यां किमहं तेन कुर्या यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि’ इत्यमृतत्वमाशासानाया मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञानमिदमुपदिशति । नचान्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रुतिस्मृतिवादा वदन्ति । तथाचात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानं नान्यत्र परमकारणविज्ञानान्मुख्यमवकल्पते । न चैतदीप-चारिकमाश्रयितुं शक्यं, यत्कारणमात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायानन्तरेण ग्रन्थेन तदेवोपपादयति—‘ब्रह्म तं परादाद्योज्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद’ इत्यादिना । यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगदात्मनोज्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति ते मिथ्यादर्शिनः तदेव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत्पराकरोतीति भेददृष्टिमपोद्य ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’ इति सर्वस्य वस्तुजातस्यात्मव्यतिरेकमवतारयति । दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च (वृ० ४।५।८) तमेवाव्यतिरेकं द्रवयति । ‘अस्य महतो भूतस्य निर्वसितमेतच्चदृग्वेदः’ (वृ० ४।५।११) इत्यादिना च प्रकृतस्यात्मनो नामरूपकर्मप्रपञ्चकारणतां व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति । तथैवैकायन-प्रक्रियायामपि (वृ० ४।५।१२) सविषयस्य सेन्द्रियस्य सान्तःकरणस्य प्रपञ्च-स्यैकायनमनन्तरमवाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघनं व्याचक्षाणः परमात्मानमेनं गमयति, तस्मात्परमात्मन एवायं दर्शनाद्युपदेश इति गम्यते ॥ १९ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि यह परमात्मा ही का उपदेश है, क्योंकि वाक्य के अन्वय से परमात्मा की ही प्रतीति होती है । जिससे पूर्व पर के सहित विचार्यमाण यह वाक्य परमात्मा के प्रति अन्वित (सम्बद्ध) अवयववाला लक्षित (जात) होता है, और कैसे लक्षित होता है ? उसका उपपादन (प्रतिपादन) करते हैं कि (वित्त से साध्य कर्म से मोक्ष की आशा नहीं है) इस प्रकार याज्ञवल्क्य जी से मुन कर, मैत्रेयी बोली कि (जिससे मैं अमृतमुक्त नहीं होऊँगी, उससे मैं क्या कहूँगी, जो अमृत का साधन है भगवान् यदि आप जानते हों वही मेरे लिए कहिए) इस प्रकार अमृतत्व की आशा करने वाली मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य जी ने यह आत्मज्ञान का उपदेश किया है । और परमात्म-ज्ञान के बिना अमृतत्व नहीं प्राप्त होता है, यह श्रुति-स्मृति आदि के बहुते से वचन कहते हैं । इसी प्रकार आत्म विज्ञान से कहा गया सबका विज्ञान भी परमकारण के विज्ञान के बिना मुख्य नहीं सिद्ध हो सकता, और न सब विज्ञान को औपचारिक आश्रयण कर सकते हैं । इसी कारण आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञान

की प्रतिज्ञा करने के अनन्तर ग्रन्थ के द्वारा उसी सर्वविज्ञान का प्रतिपादन सिद्ध करते हैं कि (उसको ब्रह्मत्व जाति परामव करती है कि जो अन्य ब्राह्मणत्व को समझता है) इत्यादि वचन से सर्वज्ञान का उपपादन किया गया है कि जो कोई ब्रह्मक्षत्रादि रूप जगत् को आत्मा से अन्यत्र स्वतन्त्र रूप से प्राप्त सत्ता वाला देखता है, उस मिथ्यादर्शी को वही मिथ्यादृष्ट ब्रह्म क्षत्रादि रूप जगत् पराजय-पराभव करता है, श्रेय मार्ग से गिराता है । इसलिए भेद दृष्टि का अपवाद (तिरस्कार) करके (जो कुछ यह है सो सब आत्मा है) इस प्रकार सब वस्तु समूह को आत्मा से अव्यतिरेक (अभेद) समझाते हैं । एव दुन्दुभी आदि दृष्टान्तों द्वारा उसी अभेद को दृढ करते हैं । तथा (इस महान् सत्यात्मा का निश्वास ऋग्वेद है) इत्यादि वचनों से प्रकृत आत्मा की नाम-रूप कर्म के प्रपञ्च (विस्तार) आकारता का व्याख्यान करते हुए ऋषि इससे इस परमात्मा का ही बोध कराते हैं । इसी प्रकार सबका एवायन (एकाग्रय) प्रक्रिया में भी विषय-इन्द्रिय-अन्त-करण सहित प्रपञ्च (ससार) के बाह्याभ्यन्तर भेदरहित कृत्स्न (पूर्ण) प्रज्ञानधन (निरन्तर प्रज्ञानस्वरूप) एक सर्वाश्रय का व्याख्यान करते हुए मुनि इस सर्वाश्रय को परमात्मा समझते हैं । इसमें परमात्मा के दर्शनादि का ही यह उपदेश है—ऐसा निश्चय होता है ॥ १९ ॥

यत्पुनरुक्त—प्रियसमूचितोपक्रमाद्विज्ञानात्मन एवाय दर्शनाद्युपदेश इति, अत्र ब्रूम —

प्रतिज्ञासिद्धौलिङ्गमाश्मरथ्यः॥ २० ॥

अस्त्यत्र प्रतिज्ञा 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति, इदं सर्वं यदयमात्मा' इति च, यस्याः प्रतिज्ञाया मिद्धि सूचयत्येतल्लिङ्गं यत्प्रियसमूचितस्यात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसङ्कीर्तनम् । यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोज्ञः स्यात्ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं यत्प्रतिज्ञातं तद्वीयेत । तस्मात्प्रतिज्ञासिद्धयर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदादोनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २० ॥

यहाँ जो कहा या कि पति, जाया आदि प्रिय से समूचित अनुमित जीवात्मा से वाक्य के प्रारम्भ होने से जीवात्मा के दर्शनादि का ही यह उपदेश है । यहाँ कहने हैं कि यह श्रुतिपाठ्य प्रतिज्ञा है कि (आत्मा के विज्ञात होने पर यह सब जगत् विज्ञात हो जाता है) और (जो यह सब जगत् है वह इस आत्मस्वरूप है) उस प्रतिज्ञा की सिद्धि को यह लिङ्ग (हेतु) सूचित करता है कि जो लिङ्ग प्रिय से समूचित जीवात्मा के द्रष्टव्यत्वादिसङ्कीर्तन स्वरूप है । क्योंकि यदि जीवात्मा परमात्मा से अन्य होता, तब तो परमात्मा के विज्ञात होने पर भी जीवात्मा विज्ञात नहीं होता, और ऐसा होने पर, जो प्रतिज्ञा की गई थी कि एक के विज्ञान से सबका विज्ञान होता है । उस प्रतिज्ञा की हानि होती—वह प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती, इससे प्रतिज्ञा के विषय प्रतिज्ञात वस्तु भी

त्यागी जाती । इससे प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए जीवात्मा और परमात्मा के अभेदांश से वाक्य का उपक्रमण (आरम्भ) हुआ है । इस प्रकार आश्मरथ्याचार्य मानते हैं । इनके मत में भेदाभेद स्वीकार है ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

विज्ञानात्मन एव देहेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातोपाधिसम्पर्कात्कलुषीभूतस्य ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहादिसङ्घातादुत्क्रमिष्यतः परमात्मैक्योपपत्तेरिदमभेदेनोपक्रमणमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । श्रुतिश्चैवं भवति 'एष-सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छां० ८।२।३) इति । कचिच्च जीवाश्रयमपि नामरूपं नदीनिदर्शनेन ज्ञापयति—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(मुण्ड० ३।२।८) इति । यथा लोके नद्यः स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय समुद्रमुपयन्त्यैवं जीवोऽपि स्वाश्रयमेव नामरूपं विहाय परं पुरुषमुपैतीति हि तत्रार्थः प्रतीयत दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्तुल्यतायै ॥ २१ ॥

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के संघातरूप-उपाधि के सम्बन्ध से कलुषीभूत (मलिन के समान) और ज्ञान-ध्यानादि साधनों के अनुष्ठान से सम्प्रसन्न (अत्यन्त स्वच्छ) होकर देहादि संघात से उत्क्रमण करने वाले विज्ञानात्मा को मोक्ष दशा में परमात्मा के साथ एकता की सिद्धि से यह अभेद दृष्टि से आरम्भ हुआ है । इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं । इस प्रकार की श्रुति भी है कि (यह सम्प्रसाद जीव इस शरीर से निकल कर अपने शुद्ध स्वरूप से सिद्ध होकर परम ज्योति को प्राप्त करता है) और यह जीव का संसार औपाधिक होने के कारण मिथ्या है, इसको सदा परमात्मा के साथ वस्तुतः अभेद है यह बात नहीं है, किन्तु संसार दशा में स्वाभाविक भेद है, मोक्ष दशा में ही अभेद होता है, इसीसे कही श्रुति भी नदी के दृष्टान्त द्वारा जीवाश्रित भी नाम रूप को समझाती है कि—

जैसे बहती हुई नदियाँ अपने आश्रित नाम और रूप को त्याग कर समुद्र में अस्त (विलय) होती है, वैसे ही नाम रूप से विमुक्त विद्वान् पर से, पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है । जैसे लोक में नदियाँ स्वाश्रय नाम रूप को त्याग कर समुद्र को प्राप्त होती है, इसी प्रकार जीव भी स्वाश्रय नाम रूप को त्याग कर पर पुरुष को प्राप्त होता है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की तुल्यता के लिये यही अर्थ उस श्रुति में प्रतीय होता है ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदेनोप-

क्रमणमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते । तथा च ब्राह्मणम्—‘अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’ (छा० ६।३।२) इत्येवजातीयक परस्मै-वात्मनो जीवभावेनावस्थान दर्शयति । मन्त्रवर्णेश्च—‘सर्वाणि रूपाणि विचित्र्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते’ (तै० आ० ३।१२।७) इत्येवजातीयक । न च तेज प्रभृतीना सृष्टौ जीवस्य पृथक्सृष्टि श्रुता येन परस्मादात्मनोजन्यस्तद्विकारो जीव स्यात् काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृत परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम् । आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेत तथापि प्रतिज्ञामिद्वेरिति सापेक्षत्वाभिधानात् कार्यकारणभाव कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते । औडुलोमिपक्षे पुन स्पष्टमेवाऽवस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्यते । तत्र काशकृत्स्नीय मत श्रुत्यनुमारीति गम्यते, प्रतिपिपादयिपितार्थानुमारात् ‘तत्त्वमसि’ इत्यादिश्रुतिभ्यः । एव च सति तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पते, विकारात्मकत्वे हि जीवस्याभ्युपगम्यमाने विकारस्य प्रकृतिसम्बन्धे प्रलयप्रसङ्गान्न तज्ज्ञानादमृतत्वमवकल्पेत, अतस्तत् स्वाध्ययस्य नामरूपस्यासम्भवादुपाध्यायस्य नामरूप जीव उपचर्यते । अत एवोत्पत्तिरपि जीवस्य कचिदग्निविस्फुलिङ्गोदाहरणेन श्राव्यमाणोपाध्याययैव वेदितव्या ।

इय परमात्मा वा ही इस विज्ञानात्मा रूप से भी अवस्थान (स्थिति) से अभेद द्वारा यह विज्ञानात्मा का उपक्रमण (आरम्भ) है, इस प्रकार काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं । एव इस प्रकार का ब्राह्मण ग्रन्थ है कि (इस जीवात्मा रूप से तेज आदि में प्रवेश करके नाम रूप का विभाग कर) इस प्रकार के ब्राह्मण ग्रन्थ परमात्मा ही का जीव रूप से अवस्थान दिखलाते हैं । मन्त्र वर्ण भी है कि (धीर-सर्वज्ञ परमात्मा ही सब रूपों को विरच कर और उनके नाम द्वारा बुद्धि आदि में पैठ कर नामों के अभिवदनादि कर रहा है । एव उसको जानने वाला विद्वान् अमृत होता है) इस प्रकार का मन्त्र जीव ब्रह्म की एवता दिखलाता है, तेज आदि की सृष्टि प्रकरण में जीव की पृथक् सृष्टि नहीं सुनो गई है कि जिससे परमात्मा में अन और उसका विकार जीव हो सके, इसने काशकृत्स्नाचार्य का मत है कि अविकृत परमेश्वर ही जीव है, परमेश्वर से अन्य कभी नहीं है । एव आश्मरथ्याचार्य को तो यद्यपि जीव का परमात्मा से अनन्यत्व (अभेद) अभिप्रेत (दृष्ट) है, तथापि प्रतिज्ञासिद्धे, इस सापेक्षत्व के कथन में जीवेश्वर में कार्यकारणभाव है, कारण के ज्ञान से, कार्य के ज्ञान से प्रतिज्ञा की सिद्धि है, इससे अभेद के समान कुछ भेद भी अभिप्रेत है, सर्वथा अभेद नहीं तथा औडुलोमि के सिद्धांत में तो स्पष्ट ही अवस्थान्तर का अपेक्षा वाले भेद और अभेद दोनों प्रतीत होते हैं । इन मतों में काशकृत्स्न का मत श्रुति अनुसार प्रतीत होता है । क्योंकि (तत्त्वमसि) वह तू है, इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादन की इच्छा के विषय रूप, अमीष्ट जो अर्थ है, उस अर्थ में अनुसार काशकृत्स्नाचार्य का

मत है और काशकृत्स्न मत के अनुसार सत्य अभेद और कल्पित संसार के होने पर ही उस अभिन्नात्म ज्ञान से अमृत सिद्ध होता है । जीव को विकार स्वरूप मानने पर तो विकार को प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने पर विकार का प्रलय की प्राप्ति से प्रकृति के ज्ञान से विकार को अमृतत्व नहीं सिद्ध हो सकता है, इससे जीव में स्वाश्रय नाम-रूप के अभाव से उपाधि के आश्रित नाम-रूप का जीव में उपचार होता है । जीव की स्वाभाविक उत्पत्ति होने पर मोक्ष के असम्भव से ही जो कही अग्नि के विस्फुलिङ्ग (चिन-गारी) रूप उदाहरण (दृष्टान्त) के द्वारा जीव की उत्पत्ति भी श्रुति में सुनाई गई है, उस उत्पत्ति को उपाधि के आश्रित ही समझना चाहिये ।

यदप्युक्तं—प्रकृतस्यैव महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन दर्शयन् विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यत्वं दर्शयति—इति, तत्रापीयमेव त्रिसूत्री योजयितव्या । ‘प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः’ । इदमत्र प्रतिज्ञातम्—‘आत्मनि विदिते सर्वं विदितं च भवति’ ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’ (बृह० २।४।६) इति च, उपपादितं च सर्वस्य नामरूपकर्मप्रपञ्चस्यैकप्रसवत्वादेकप्रलयत्वाच्च दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्च कार्यकारणयोरव्यतिरेकप्रतिपादनात् तस्या एव प्रतिज्ञायाः सिद्धिं सूचयत्येतल्लिङ्गं यन्महतो भूतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं विज्ञानात्मभावेन कथितमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । अभेदे हि सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमवकल्पत इति । ‘उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः’ । उत्क्रमिष्यतो विज्ञानात्मनो ‘ज्ञानध्यानादिसामर्थ्यात्संप्रसन्नस्य परेणात्मनैक्य-सम्भवादिदमभेदाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । ‘अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः’ । अस्यैव परमात्मनोऽनेनापि विज्ञानात्मभावेनावस्थानादुपपन्नमिदमभेदाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते ।

यह भी जो पहले कहा था कि प्रकृत ही महान् सत्य द्रष्टव्य का विज्ञानात्मा रूप से भूतों द्वारा समुत्थान को दिखलाते हुये मुनि विज्ञानात्मा को ही यह द्रष्टव्यत्व दिखलाते हैं । वहाँ भी इन्हीं तीनों सूत्रों की योजना (सम्बन्ध) करनी चाहिए कि ‘प्रतिज्ञासिद्धेः’ इत्यादि । यहाँ यह प्रतिज्ञा की गई है कि आत्मा के विदित होने से यह सब विदित (ज्ञात) होता है । (जो यह सब है सो आत्म स्वरूप है) इति । एवं नाम-रूप विस्तार का एक से प्रसव (उत्पत्ति) होने से तथा एक में प्रलय होने से और दुन्दुभी आदि दृष्टान्तों से कार्य कारण के अभेद प्रतिपादन के द्वारा उक्त प्रतिज्ञात वस्तु प्रतिज्ञा उपपादित भी हुई है, एवं उसी प्रतिज्ञा की सिद्धि को यह लिङ्ग भी सूचित (प्रतिज्ञा) करता है कि जो महान् सत्य द्रष्टव्य का विज्ञानात्मा रूप से भूतों से समुत्थान कहा गया है । इस प्रकार आश्मरथ्याचार्य मानते हैं । क्योंकि अभेद रहते ही एक के विज्ञान से प्रतिज्ञात सर्व विज्ञान सिद्ध हो सकता है । (उत्क्रमिष्यतः) उत्क्रमण करने वाले ज्ञान ध्यानादि के सामर्थ्य से सम्प्रसन्न विज्ञानात्मा की परमात्मा

के साथ एकता के सम्भव से यह अभेद का कथन है, इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं । (अवस्थित) इस परमात्मा को ही इस विज्ञानात्मा रूप से स्थिति के कारण यह अभेद का कथन युक्त है इस प्रकार वायव्यत्सनाचार्य मानते हैं ।

ननुच्छेदाभिधानमेतत्—‘एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्ति’ (बृह० २।४।१२)—इति कथमेतदभेदाभिधानम् ? नैष दोष । विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम् । ‘अत्रैव मा भगवानमृमृहन्न प्रेत्य सज्ञास्ति’ इति । पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्यार्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—‘न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्राससर्गस्त्वस्य भवति’ इति । एतदुक्तं भवति—कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानधन आत्मा नास्योच्छेदप्रसङ्गोऽस्ति, मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरससर्गो विद्यया भवति, ससर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य सज्ञास्तीत्युक्तमिति । यदप्युक्तम्—‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ इति कर्तृवचनेन शब्देनोपसहाराद्विज्ञानात्मन एवेदं द्रष्टव्यम्—इति, तदपि काशकृत्स्नीयेनैव दर्शनेन परिहरणीयम् ।

यहाँ शका होती है कि (इन भूतो से समुत्थित होकर और उन भूतो के नाश के बाद यह जीवात्मा नष्ट हो जाता है । मर कर स्थिर रहने का ज्ञान नहीं रहता है) यह उच्छेद नाश का कथन है, फिर परमात्मा के साथ अभेद का कथन कैसे हो सकता है ? उत्तर है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि यह विनाश का कथन विशेष ज्ञान के विनाश के अभिप्राय से है, आत्मा के उच्छेद के अभिप्राय से नहीं । क्योंकि (मृत की सज्ञा (ज्ञान) नहीं रहती है, इस वाक्य में हे भगवन् आपने मुझे मोहित किया है) इस प्रकार पर्यनुयोग (आशंकामय प्रश्न) करके श्रुति से स्वयं अर्थान्तर का प्रदर्शन कराया गया है कि (अरे मैंने यि । मैं मोह का हेतु रूप वाक्य नहीं कह रहा हूँ । अरे । यह आत्मा निश्चय अविनाशी है, और नाशक के अभाव से अनुच्छित्ति (नाश रहितता) रूप धर्म वाली है । परन्तु शरीर से समुत्थान काल में इसका विषय इन्द्रियादि से सम्बन्ध नहीं है, इसलिए विशेष ज्ञान का अभाव रहता है । इससे यह कहा गया है कि कूटस्थ नित्य ही और विज्ञानधन स्वरूप ही यह आत्मा है, उसके उच्छेद का कोई प्रसङ्ग, अवसर कमो है ही नहीं, परन्तु भूतेन्द्रिय स्वरूप अविद्याकृत मात्राओं के साथ इसका विद्या से असर्ग (सम्बन्धभाव) होता है, और ससर्ग के अभाव होने पर सम्बन्धकृत विशेष ज्ञान के भी अभाव होने के कारण कहा गया है कि मरने के बाद सज्ञा नहीं है, और पहले जो यह कहा था कि (अरे मैंने यि । विज्ञाता को किससे जाना जायगा) इस प्रकार विज्ञातारूप कर्ता के वाचक शब्द द्वारा उपसहार होने से विज्ञानात्मा ही यहाँ द्रष्टव्य स्वरूप है, इसका भी वायव्यत्सनाचार्य के सिद्धान्त विज्ञान से ही परिहार कर्तव्य है ।

अपि च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (वृ० २।४।१३) इत्यारभ्याविद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणं विशेषविज्ञानं प्रपञ्च्य 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्त्वेन कं पश्येत्' इत्यादिना विद्याविषये तस्यैव दर्शनादिलक्षणस्य विशेषविज्ञानस्याभावमभिदधाति । पुनश्च विषयाभावेऽपि आत्मानं विजानीयात् इत्याशङ्क्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्याह । ततश्च विशेषविज्ञानाभावोपपादनपरत्वाद्वाक्यस्य विज्ञानधातुरेव केवलः सन् भूतपूर्वगत्या कर्तृवचनेन तृचा निर्दिष्ट इति गम्यते । दर्शित तु पुरस्तात् काशकृत्स्नीयस्य पक्षस्य श्रुतिमत्त्वम्, अतश्च विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येपोऽर्थः सर्वेवेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः ।

दूसरी बात यह है कि (जहाँ द्वैत के समान रहता है वहाँ अन्य पुरुषादि अन्य पुरुषादि को स्वप्न के समान सत्य ही देखता है) यहाँ से आरम्भ करके अविद्या काल में उस विज्ञाता के ही दर्शनादि रूप विशेष ज्ञान का प्रपञ्च (विस्तार) करके (जिस अवस्था और काल में इस विज्ञाता के सब आत्मा ही हो गये उस काल में किससे किसको देखे) इत्यादि वचनों द्वारा उसी विज्ञानात्मा के विद्याकाल में दर्शनादिरूप विशेष ज्ञान के अभाव को कहते हैं । एवं विषयों के अभाव होने पर भी आत्मा को कौन जानेगा ऐसी शंका फिर से करके (अरे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जाना जायगा) यह कहते हैं । इससे मोक्षावस्था में विशेष ज्ञानों के अभाव का प्रतिपादन परक वाक्य के होने से, मोक्ष काल में स्थिर केवल विज्ञान स्वरूप ही भूतपूर्व गति (अज्ञान-कालिक दृष्टि) से कर्ता वाचक तृच् प्रत्यय से निर्दिष्ट हुआ है, ऐसा समझा जाता है । इससे वस्तुतः कर्ता शब्द से उपसंहार नहीं है और काशकृत्स्नाचार्य के पक्ष को पहले श्रुतिमत्त्व (श्रुतिअनुसारित्व) दिखलाया गया है । अतः इस श्रुतिमत्ता से यह अर्थ सब वेदान्तवादियों को समझना चाहिये कि विज्ञानात्मा और परमात्मा का भेद अविद्यादि से प्रत्युपस्थापित (प्राप्त) नामरूप से रचित देहादिरूप उपाधि निमित्तक है, इससे भेद मिथ्या है पारमार्थिक सत्य नहीं ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६।२।१) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छां० ७।२।२), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (मुण्ड० २।२।११), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (वृ० २।४।६) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (वृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (वृ० ३।८।११) इत्येवंरूपाभ्यः श्रुतिभ्यः, स्मृतिभ्यश्च 'वासुदेवः सर्वमिति' (गी० ७।१९), 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' (गी० १३।२), 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी० १३।२७) इत्येवंरूपाभ्यः । भेददर्शनापवादाच्च 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः' (वृ० १।४।१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (वृ० ४।४।१९) इत्येवंजातीयकात् ।

है सोम्य । यहाँ ससार सृष्टि से पहले सत् एक और त्रितीयरूप ही था । (ये सब आत्मा ही है), (ये सब ब्रह्म ही हैं), (जो यह आत्मा है यह सब है), (इस आत्मा से अन्य द्रष्टा नहीं है), इससे अन्य द्रष्टृ नहीं है), इस प्रकार के स्वरूप वाली श्रुतियों से उक्त पारमार्थिक भेदों का अभाव सिद्ध होता है । एव (सब का वासस्थान देव सर्वात्मा है), हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ गुप्त ही जानो) (सब भूतों में सम निर्विशेष रूप से वर्तमान परमेश्वर को जो देखता है वह सत्य को देखता है) इस प्रकार की स्मृतियों से भी पारमार्थिक भेद का अभाव सिद्ध होता है । एव (वह परमात्मा मुझसे अन्य है, मैं परमात्मा से अन्य हूँ) इस प्रकार जो जानता है वह नहीं जानता है, वह जैसा पशु हो वैसा है) (वह मृत्यु के बाद बार-बार मृत्यु को प्राप्त करता है कि जो इस आत्मा में नाना के समान देखता है) इस प्रकार की श्रुतियों से भेददर्शन का अपवाद (निन्दा) से भी भेद पारमार्थिक नहीं है ।

‘स वा एष महानज आत्माजरोऽपरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म’ (बृ० ४।४।२५) इति चात्मनि सर्वविक्रियाप्रतिषेधात्, अन्यथा च मुमुक्षूणा निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः, मुनिश्चिन्तार्थत्वानुपपत्तेश्च । निरपवाद हि विज्ञान सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमात्मविषयमिष्यते, ‘वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्था’ (मुण्ड० ३।२।६) इति च श्रुते, ‘तत्र को मां ह क शोक एकत्वमनुपश्यत’ (ईशा० ७) इति च । स्थितप्रज्ञलक्षणममृतेश्च (गी० २।५४) । स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वविषये मध्यमदर्शने क्षेत्रज्ञ परमात्मेति नाममात्रभेदात् क्षेत्रज्ञोऽय परमात्मनो भिन्न परमात्माय क्षेत्रज्ञाद्भिन्न इत्येव जानीयक आत्मभेदविषयो निर्वन्धो निरर्थक । एको ह्यपमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयत इति, नहि ‘मृत्युं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहिन गुहायाम्’ (तै० २।१) इति काञ्चिदेवैका गुह्यामधिकृत्यैतदुक्तम् । न च ब्रह्मणोऽन्यो गुहाया निहितोऽस्ति, ‘तत्समृष्टा तदेवानुप्राविशत्’ (तै० २।६) इति स्रष्टुरेव प्रवेग्यवणात् । ये तु निर्वन्धे कुर्वन्ति ते वेदान्तार्थं वाचमाना श्रेयोद्वार मध्यमदर्शनमेव वाचन्ते, कृतकमनित्यं च मोक्षं कल्पयन्ति, न्यायेन च न भगच्छन्त इति ।

(वह यह आत्मा महात्मा, वज्र, (जन्मरहित) जरारहित, मृत्युरहित, नित्य मुक्त अमय ब्रह्म स्वरूप है) इस प्रकार आत्मा में सब विकारों का निषेध से भेद सत्य नहीं है । अन्यथा भेद के सत्य रहने मुमुक्षुओं को वह ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) यह ज्ञान निरपवाद (वाचक रहित) नहीं होगा । एव मुनिश्चितार्थकत्व के ज्ञान में असिद्धि होगी, इससे भेद मिथ्या है । एव भेद के अभाव से निरपवाद ही आत्मविषयक ज्ञान सर्वाकांक्षा का निवर्तक माना जाता है, आकांक्षा का निवर्तक रूप से इष्ट समझा जाता है । यह (वेदान्त के विज्ञान में मुनिश्चित अर्थ वाले परिमुक्त होते हैं) इस वि से सिद्ध होता है । एव (एकत्व को देखने वाले को उस एकत्व के दर्शन काल

में और उस आत्मा में कौन मोह और कौन शोक हो सकता है) अर्थात् निश्चित ज्ञान से अज्ञानमूलक मोहादि का अभाव हो जाता है । इस श्रुति वचन से और स्थितप्रज्ञ के लक्षणरूप स्मृति से भी निरपवाद निश्चित ज्ञान से सब आकांक्षादि निवृत्त होते हैं । क्षेत्रज्ञ परमात्मा के एकत्वविषयक सम्यक् ज्ञान के निश्चितरूप से स्थिर होने पर क्षेत्रज्ञ और परमात्मा में नाममात्र के भेद रहने से, यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा से भिन्न है या यह परमात्मा क्षेत्रज्ञ से भिन्न है इस प्रकार का आत्मभेद विषयक निर्वन्ध (आग्रह नियम) निरर्थक निष्प्रयोजन है । यह एक ही आत्मा नाममात्र के भेद से बहुत प्रकार से कहा जाता है । और (सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है उसको जो बुद्धिरूप गुहा में निहित स्थित जानता है, वह सब भोग को भोगता है) यह कथन जीव के स्थानों से भिन्न किसी एक गुहा के अधिकार (प्रकरण उद्देश. करके नहीं है और ब्रह्म से अन्य गुहा में निहित नहीं है । क्योंकि (वह ब्रह्म ही संसार एवं शरीरादि को रचकर इसमें प्रवेश करता है) इस प्रकार स्रष्टा का ही प्रवेश सुना गया है, इससे सब गुहा में एक ब्रह्म प्रविष्ट है, वही जीव है, इससे भेद का आग्रह निरर्थक है, क्योंकि भेद मिथ्या है, एवं जो लोग सत्य भेद का आग्रह करते हैं, वे वेदान्तार्थ सत्य अभेद को वाधित (निषेध) करते हुए मोक्ष का द्वार सम्यग्दर्शन ज्ञान को वाधित (नष्ट) करते हैं । एवं ज्ञान को नष्ट करके कर्म-जन्य कार्यरूप अनित्य मोक्ष को कल्पना करते हैं तथा न्यायपथ से गमन नहीं करते हैं, अर्थात् ज्ञान से अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक नित्यमुक्त स्वरूप की अभिव्यक्तिरूप मुक्ति को नहीं मानते हैं, अतः ये न्याय से संगत नहीं होते हैं ।

प्रकृत्यधिकरण (७)

निमित्तमेव ब्रह्म स्यादुपादानं च वीक्षणम् ।

कुलालवन्निमित्तं तन्नोपादानं मृदादिवत् ॥ १ ॥

बहु स्यामित्युपादानभावोऽपि श्रुत ईक्षितुः ।

एकबुद्ध्या सर्वधीश्च तस्माद्ब्रह्मोभयात्मकः ॥ २ ॥

भावी ईश्वर माया शक्ति द्वारा जगत् की प्रकृति (उपादानकरण) भी है । ऐसा ही होने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुपरोध (अवध-अनिवारण) है । यहाँ संशय होता है कि ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण ही है, या उपादान भी । पूर्वपक्ष है कि वीक्षण के श्रवण से चेतन कुलालादि के समान निमित्त कारण ही है मृदादि के समान उपादान नहीं । सिद्धान्त है कि ईक्षणकर्ता ईश्वर की उपादानता भी (बहु स्याम्) इस श्रुति में सुनी गई है, एवं एक ब्रह्म के ज्ञान से सबका ज्ञान सुना गया है, अतः वह उपादान के बिना हो नहीं सकता, अर्थात् ब्रह्मनिमित्त और उपादान उभय (दोनों) कारण स्वरूप है ।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

यथाभ्युदयहेतुत्वाद्धर्मो जिज्ञास्य एवं निःश्रेयसहेतुत्वाद्ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्, ब्रह्म च 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १।१।२) इति लक्षितम् । तच्च लक्षणं घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत्प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिवन्निमित्तत्वे च

ममानामित्यतो भवति विमर्श — किमात्मक पुनर्ब्रह्मण कारणत्वं स्यात्—इति । तत्र निमित्तकारणमेव तावत्केवलं स्यादिति प्रतिभाति । कस्मात् ? ईक्षापूर्वक-कर्तृत्वध्रुवणात् ईक्षापूर्वकं हि ब्रह्मण कर्तृत्वमवगम्यते—‘स ईक्षाचक्रे’ (प्र० ६।३) स प्राणममृजत’ (प्र० ६।४) इत्यादिश्रुतिभ्यः । ईक्षापूर्वकं च कर्तृत्व-निमित्तकारणत्वेव कुलालादिषु दृष्टम् । अनेककारकपूर्विका च क्रियाफलसिद्धि-लोकं दृष्टा ।

अभ्युदय रूप स्वर्गादि के हेतु होने से जैसे घर्म जिज्ञास्य (विचारणीय) है । इसी प्रकार मोक्ष का हेतु होने से ब्रह्म भी जिज्ञास्य है, यह पहले कहा गया है । एव (जन्माद्यस्य यत) इससे ब्रह्म का लक्षण कहा गया है । वह लक्षण, घट और रत्नक (भूषण विशेष) आदि के जैसे मिट्टी, सुवर्णादि उपादान कारण होते हैं, वैसे ही ब्रह्म में जगत् प्रकृतित्व (उपादानत्व दशा में, कुम्हार, मोतार के समान निमित्तत्व दशा में तुल्य है । इससे भेद ज्ञान के लिए विमर्श (विचार से संशय) होता है कि ब्रह्म की कारणता किस स्वरूप से हो सकती है ? वहाँ पहले भासता है कि ब्रह्म केवल निमित्तकारण ही हो सकता है, क्योंकि ईक्षण आलोचनपूर्वकं कर्तृता सुनी गई है । इसमें ईक्षापूर्वक ही ब्रह्म के कर्तृत्व अवगत जात होते हैं (वह ईक्षण क्रिया) और (वह प्राण की सृष्टि क्रिया) इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ ही सिद्ध होता है । लोक में भी ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व-निमित्त कारणरूप कुम्भकारादि में ही देखा गया है । अनेक कारकपूर्वक क्रियाफल की सिद्धि लोक में देखी गई है । अर्थात् निमित्त और उपादान रूप भिन्न कारण से घटादि की सिद्धि देखी गई है ।

स च न्याय आदिकर्तार्यपि युक्त सक्रमयितुम् । ईश्वरत्वप्रसिद्धे च । ईश्वराणां हि राजवैवस्वतादीनां निमित्तकारणत्वमेव केवलं प्रतीयते तद्वत्परमेश्वरस्यापि निमित्तकारणत्वमेव युक्तं प्रतिपत्तुम् । कार्यं चेदं जगत्मावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृजेनैव भवितव्यं, कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनाद् ब्रह्म च नैवलक्षणमवगम्यते ‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवयवं निरञ्जनम्’ (श्वे० ६।१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः । पारिदोष्याद्ब्रह्माण्डजन्यदुपादानकारण-मशुद्धादिगुणकं स्मृतिप्रसिद्धयभ्युपगन्तव्यम् । ब्रह्मकारणत्वश्रुतेर्निमित्तत्वमात्रे पर्यवसानादिति ।

यही लौकिक न्याय आदि कर्ता ईश्वर में भी सक्रम (प्राप्ति) कराने योग्य है । अर्थात् ईश्वर भी स्वभिन्न उपादान सहित होकर जगत् रचता है, अकेला नहीं । एव ईश्वरत्व की प्रसिद्धि से भी ईश्वर उपादान रूप नहीं है, किन्तु केवल निमित्त रूप है । जिससे राजा और वैवस्वतमनु आदि रूप ईश्वरो को केवल निमित्त कारणत्व ही प्रतीत होता है, वैसे ही परमेश्वर का भी निमित्त कारणत्व ही समझने योग्य है । यह जगत् रूप कार्य सावयव अचेतन और अशुद्ध दीक्षता है । उसका उपादान कारण भी वैसा

ही होना चाहिये, क्योंकि कार्य और उपादान कारण में समान रूपता (तुल्यता) देखी जाती है । ब्रह्म इस प्रकार वाला (सावयवादि स्वरूप वाला) अवगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि (ब्रह्म निरवयव क्रिया रहित परिणामादि रहित निर्दोष तमः परिवर्जित है) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म में सावयवता आदि का अभाव सिद्ध होता है । इस प्रकार ब्रह्म को जगत् के सदृश नहीं हो सकने पर ब्रह्म से अन्य अशुद्धि आदि गुण वाला सांख्य स्मृति में प्रसिद्ध ही उपादान कारण परिशेषता से मानने योग्य है, और ब्रह्म के कारणत्व विषयक श्रुति का ब्रह्म के निमित्त कारणत्व मात्र में पर्यवसान (समाप्ति तात्पर्य) होने से विरोध नहीं है । उक्त परिशेष से कारणत्व की सिद्धि होती है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—‘प्रकृतिश्च’ उपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्त-कारणं च । न केवलं निमित्तकारणमेव । कस्मात् ? प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते । प्रतिज्ञा तावत्—‘उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्’ (छां० ६।१।२) इति । तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्य-दविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते, तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य, निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति, लोके तक्षणः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात् । दृष्टान्तोऽपि—‘यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इत्युपादानकारणगोचर एवाभ्यायते तथा ‘एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्’ ‘एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्णायिसं विज्ञातं स्यात्’ (छां० ६।१।४, ५, ६) इति च । तथान्यत्रापि ‘कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति’ (मुण्ड० १।१।२) इति प्रतिज्ञा, ‘यथा पृथिव्याभोषधयः सम्भवन्ति’ (मुण्ड० १।१।७) इति दृष्टान्तः, तथा ‘आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्’ इति प्रतिज्ञा, ‘स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुमेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा ‘शब्दो गृहीतः’ (बृ० ४।५।६, ८) इति दृष्टान्तः ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं कि प्रकृतिश्च । ब्रह्म को उपादान कारण और निमित्त कारण भी मानना चाहिये, केवल निमित्त कारण ही नहीं, क्योंकि निमित्त और उपादान उभयस्वरूप ब्रह्म को ही मानने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुपरोध (अबाध) होता है । अर्थात् ब्रह्म को उभय कारण मानने से श्रुति में वर्णित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त उपरुद्ध (बाधित) नहीं होते हैं । पहले प्रतिज्ञा है कि (तुमने क्या उस उपदेश को भी गुरु से पूछा था, कि जिस उपदेश के सुनने से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, जिसके मनन से मनन रहित भी मनन का विषय हो जाता है, और जिसके विज्ञान से अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है) उस प्रतिज्ञा में एक के विज्ञात होने से अन्य सब अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है । इस अर्थ की प्रतीति

होती है वह उपादान कारण के विज्ञान से सबका विज्ञान होना सम्भव है, क्योंकि उपादान कारण से कार्य का अभेद होता है, और निमित्त कारण से अभेद तो कार्य का नहीं होता है क्योंकि प्रासाद (महत्) को बनाने वाले तक्षा (बदर्द) को लोक में प्रासाद में भेद देखा जाता है । दृष्टान्त भी उपादान कारण विषयक ही कहा जाता है कि (हे सोम्य । जंसे ज्ञात एक मृत् पिण्ड से मिट्टी के सब कार्य विज्ञात होते हैं, क्योंकि चाक से आरम्भ जिसका होता है, ऐसा नाम मात्र विकार कार्य है, मृत्तिका ही सत्य है) इसी प्रकार (एक लोहमणिसुवर्णपिण्ड से सब लोह सुवर्णमय कार्य विज्ञात होता है) और (एक नख निवृन्तन (नहरनी) का हेतु लोहपिण्ड से लोह के कार्य सब ज्ञात होते हैं) ऐसे ही अन्यत्र भी प्रतिज्ञा है कि (हे भगवन् किसके विज्ञात होने से यह सब जगत् विज्ञात होता है) और दृष्टान्त है कि जंसे भूमि में औषधियाँ होती हैं । इसी प्रकार प्रतिज्ञा है कि (अरे मंत्रेयि । आत्मा ही के दृष्ट श्रुत मत और विज्ञात होने पर यह सब विदित (ज्ञात) हो जाता है । अथ दृष्टान्त है कि (कारण से पृथक् कार्य गृहीत नहीं होता है, जंसे बजाई जाती हुई दुन्दुभी के बाह्य शब्दों का ग्रहण नहीं कर सकते हैं, परन्तु दुन्दुभि के ग्रहण से या दुन्दुभि को बजाने वाले के ग्रहण से सब दुन्दुभि के शब्द गृहीत होते हैं ।

एव यथासम्भव प्रतिवेदान्त प्रतिज्ञादृष्टान्तौ प्रकृतित्वसाधनौ प्रत्येतव्यौ । यत इतीय पञ्चमी 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'जनितुं प्रकृति' (पा० सू० १।४।३०) इति विशेषस्मरणात्प्रकृतितलक्षण एवापादने द्रष्टव्या । निमित्तत्व त्वधिष्ठात्रन्तराभावादधिगन्तव्यम् । यथाहि लोके मृत्सुवर्णादिकमुपादानकारण कुलालसुवर्णकारादीनाधिष्ठातृनपेक्ष्य प्रवर्तते नैव ब्रह्मण उपादानकारणस्य समोज्योर्धिष्ठातापेक्ष्योऽस्ति, प्रागुत्पत्तेरेकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात् । अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेवोदितो वेदितव्यः । अधिष्ठातरि ह्युपादानादन्यस्मिन्नभ्युपगम्यमाने पुनरप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्यामभवात्प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोध एव स्यात् । तस्मादधिष्ठात्रन्तराभावादात्मन कर्तृत्वमुपादानान्तराभावाच्च प्रकृतित्वम् ॥ २३ ॥

प्रत्येक वेदान्त में इसी प्रकार के प्रकृतित्व (उपादानत्व) के माधनरूप प्रतिज्ञा और दृष्टान्त को यथासम्भव (सम्भव के अनुसार) समयना चाहिए । एव (जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि अथ को कहने वाली श्रुति में (यत) यह पञ्चमी विभक्तियुक्त पद है, वहाँ (जनितुं प्रकृति) इस विशेष सूत्र से प्रकृति रूप उपादान अर्थ में ही पञ्चमी विभक्ति समझनी चाहिये । इस प्रकार ब्रह्म को जगत् प्रकृतित्व होने पर भी अन्य अधिष्ठाता के अभाव में निमित्त कारणत्व भी ब्रह्म में समझना चाहिये जिससे लोक में मिट्टी सुवर्णादि रूप उपादान कारण, कुलाल (कुम्भकार) सुवर्णकारादि रूप अधिष्ठाता की अपेक्षापूर्वक काय सिद्धि के लिए

प्रवृत्त होता है, स्वयं नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म को उपादान कारण होने पर भी अन्य अधिष्ठाता अपेक्षित नहीं है, क्योंकि जगत् की उत्पत्ति से पहले एक ही अद्वितीय था, इस प्रकार अवधारण (नियम) किया गया है। और प्रतिज्ञा दृष्टान्त के अनुरोध रूप हेतु से ही अन्य अधिष्ठाता का अभाव भी उक्त ही समझना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मस्वरूप उपादान से अन्य अधिष्ठाता का स्वीकार करने पर, फिर भी एक के विज्ञान से सबके विज्ञान का असम्भव होने से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का बच ही होगा। इससे अन्य अधिष्ठाता के अभाव से आत्मा को ही कर्तृत्व है और अन्य उपादान के अभाव से प्रकृतित्व है। यहाँ अभिप्राय यह है कि—(तदधीनत्वादर्थवत्) इस सूत्र में स्वतन्त्र प्रकृति का निषेधपूर्वक ईश्वराधीन जगत् के बीज शक्तिरूप प्रकृति का स्वीकार किया ही गया है। एवं (मायां तु प्रकृतिं विद्यात्) इत्यादि श्रुति में स्पष्ट ही मायारूप शक्ति को प्रकृति कहा गया है, इससे परमात्मा को कूटस्थनित्यतादि का स्वीकार से परमात्मा में परिणामी उपादानता सर्वथा असम्भव है, तथापि शक्तिमात्र का अवेद की दृष्टि से तथा माप की भिन्न सत्ता आदि के अभावादि की दृष्टि से प्रकृतिरूप माया की उपादानता तथा परिणाम को ब्रह्म में कल्पित ब्रह्ममात्र ही मानकर यह अधिकरण प्रवृत्त हुआ है ॥ २३ ॥

कुतश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे—

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

अभिध्योपदेशश्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च। तत्राभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते, बहु स्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद्बहुभवन-
अभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते ॥ २४ ॥

एवं अन्य किस हेतु से आत्मा को कर्तृत्व और प्रकृतित्व है—

अभिध्या (सृष्टि संकल्प) भी आत्मा के कर्तृत्व और प्रकृतित्व दोनों के बोध कराते हैं—कि (उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ और उत्पन्न होऊँ) वहाँ अभिध्यानपूर्वक स्वाधीन प्रकृति से कर्ता है ऐसी प्रतीति होती है और बहुत होऊँ, इस प्रकार बहुभवन के अभियान को प्रत्यगात्मविषयत्व से ब्रह्मात्मा प्रकृति है, यह भी समझा जाता है ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

प्रकृतित्वस्यायमभ्युच्चयः। इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं साक्षाद्ब्रह्मैव कारणं सुपादायोर्भा प्रभवप्रलयावाप्तायेत—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छां० १।१।१) इति। यद्विद्यस्मात्प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत्तस्योपादानं प्रसिद्धम्, यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी।

माणादिति चोपादानान्तरानुपादान दर्शयत्याकाशादेवेति । प्रत्यस्तमयश्च नोपादानादन्यत्र कार्यस्य दृष्टः ॥ २५ ॥

इस सूत्र में च शब्द से ब्रह्म के प्रकृतित्व का अमुच्य (समुच्य) किया गया है, अर्थात् ब्रह्म के प्रकृतित्व में दूसरा हेतु बताया गया है कि, इस कारण में भी ब्रह्म प्रकृति है जिस कारण से साक्षान् ब्रह्महृण कारण का ग्रहण स्वीकार करके उत्पत्ति और प्रलय दोनों वहे जाते हैं कि (प्रसिद्ध ये सब ही भूत आकाश (विभु) परमात्मा से ही समुत्पन्न होते हैं, और आकाश ही में लीन होते हैं) एव जो जिससे उत्पन्न होता है जिसमें लीन होता है, वह उसका उपादान होता है, यह प्रसिद्ध है । जैसे कि धान, जो आदि का पृथिवी उपादान है । एव सूत्रगत साक्षात् पद से दूसरे उपादान के अग्रहण को सूचकार दिखलाते वह 'आकाशादेव' इस श्रुति में एवकार में सूचित होता है । कार्य का प्रलय भी उपादान से अलग नहीं देखा गया है, इससे लयाधार ब्रह्म उपादान कारण है ॥ २५ ॥

आत्मकृते. परिणामात् ॥ २६ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारण ब्रह्मप्रक्रियायाम् 'तदात्मानं स्वयमकुस्त' (तै० २।७) इत्यात्मन कर्मत्व कर्तृत्व च दर्शयति, आत्मानमिति कर्मत्व, स्वयमकुस्तेति कर्तृत्वम् । कथं पुन पूर्वसिद्धस्य सत कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्व शत्रय मपादयितुम्, परिणामादिति ब्रूम । पूर्वसिद्धोऽपि हि मन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति । विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिपूपलब्ध, स्वयमिति च विशेषणान्निमित्तान्तरानपेक्षत्वमपि प्रतीयते । परिणामादिति वा पृथक्सूत्रम् । तस्यैपोऽर्थ — इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म यत्कारण ब्रह्मण एव विकारात्मनाय परिणाम सामानाधिकरण्येनाम्नायते 'सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्त चानिरुक्त च' (तै० २।६) इत्यादिनेति ॥ २६ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी ब्रह्म प्रकृति है कि जिस कारण से ब्रह्म सम्बन्धी सृष्टि के प्रकरण में (वह आत्मा को स्वयं ससार रूप बनाया) इस प्रकार आत्मा को कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों श्रुति दिखलाती है । (आत्मानम्) इस पद से कर्मत्व तथा 'स्वयमकुस्त' इसमें कर्तृत्व । यहाँ शका होती है कि क्रिया का आश्रयसिद्ध पदार्थ कर्ता होता है, और क्रियाजन्य साध्य पदार्थ कर्म होता है, वहाँ कर्ता रूप से व्यवस्थित (निश्चित) अत एव पूर्वसिद्ध सत्यात्मा में क्रियाजन्यत्व रूप कर्मत्व का सम्पादन (सिद्धि) कैसे कर सकते हैं ? उत्तर है कि परिणाम से जिसमें पूर्वसिद्ध होता हुआ भी आत्मा, मायिक विकारात्मक विशेषरूप से अपनी मायामय आत्मा को परिणत कर दिया । मिट्टी आदि रूप प्रकृति में विकार रूप से परिणाम उपलब्ध (प्रत्यक्ष) है और स्वयम्, इस विशेषण से अर्थ निमित्त की अनपेक्षता भी प्रतीत होती है । अथवा (परिणामात्) यह प्रसङ्ग सूत्र है, उसका यह अर्थ है कि, इस कारण से भी ब्रह्म

प्रकृति है कि ब्रह्म का ही यह विकार (कार्य) रूप से परिणाम समानाधिकरणता के द्वारा कहा जाता है कि (वह ब्रह्म सत् प्रत्यक्ष, भूमि, जल, तेज, रूप और तत्त्व परोक्ष वायु आकाश रूप तथा निर्वचन योग्य और निर्वचन के अयोग्य रूप हो गया) इत्यादि में विकार को ब्रह्म के साथ समानाधिकरणता (एक विभक्ति वाच्य अभिन्नता) है इससे विकार की प्रकृति सिद्ध होती है ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म, यत्कारणं ब्रह्म योनिरित्यपि पठ्यते वेदान्तेषु 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मुण्ड० ३।१।३) इति, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मुण्ड० १।१।६) इति च । योनिशब्दश्च प्रकृतिवचनः समधिगतो लोके 'पृथिवी योनिरौषधिवनस्पतीनाम्' इति । स्त्रीयोनेरप्यस्त्येवावयवद्वारेण गर्भं प्रत्युपादानकारणत्वम् । क्वचित्स्थानवचनोऽपि योनिशब्दो दृष्टः—योनिष्ट इन्द्र निपदे अकारि' (ऋ० सं० १।१०४।१) इति । वाक्यशेषात्त्वत्र प्रकृतिवचनता परिगृह्यते 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मु० १।१।७) इत्येवंजातीयकात् । तदेव प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रसिद्धम् । यत्पुनरिदमुक्तम्—ईक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेणैव कुलालादिषु लोके दृष्टं नोपादानेषु—इत्यादि, तत्प्रत्युच्यते—न लोकवदिह भवितव्यम्, न ह्ययमनुमानगम्योऽर्थः । शब्दगम्यत्वात्त्वस्यार्थस्य यथाशब्दमिह भवितव्यम् । शब्दश्चोक्षितुरीश्वरस्य प्रकृतित्वं प्रतिपादयतीत्यवोचाम । पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः ॥ २७ ॥

इस हेतु से भी ब्रह्म प्रकृति है कि वेदान्तों में ब्रह्म योनि है । इस प्रकार भी पढ़ते हैं कि (कर्ता नियन्ता पूर्ण ब्रह्म योनि वा ब्रह्मा की योनि प्रकृति) वा (भूत योनि को धीर लोग ध्यान से देखते हैं) यहाँ योनि शब्द प्रकृति का वाचक है यह लोक में समधिगत (प्रसिद्ध) है कि (औषधि वनस्पति की पृथिवी योनि है) इत्यादि । स्त्री की योनि को भी शोणित रूप अवयव द्वारा गर्भ के प्रति उपादानकारणत्व है ही । कही स्थान का वाचक भी योनि शब्द देखा गया है, जैसे कि (हे इन्द्र ! तेरे निषद-स्थिति के लिए मैंने स्थान बनाया है) परन्तु वाक्य शेष से यहाँ प्रकृति वाचकता परिगृहीत की जाती है (जैसे मकड़ी तन्तु को रचती है और ग्रहण करती है) इस प्रकार के वाक्य शेष है । उनसे प्रकृति का ग्रहण होता है । इस प्रकार वह ब्रह्म का प्रकृतित्व प्रसिद्ध हुआ और जो पहले यह कहा था कि लोक में ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व कुलालादि निमित्त कारणों में ही देखा गया है, उपादानों में नहीं, उसके प्रति कहा जाता है कि यहाँ लोक के समान नहीं होना चाहिये । क्योंकि लोक के उदाहरणादि द्वारा अनुमान से गम्य (ज्ञेय) यह अर्थ नहीं है, कुलालादि तुल्य अनुमेय यदि ईश्वर होगा, तो कुलालादि के समान तटस्थ शरीरीआदि स्वरूप ही होगा । इससे इस अर्थ को शब्द प्रमाण से गम्य (ज्ञेय) होने से यहाँ शब्द के अनुसार अर्थादि होना चाहिये और शब्द

ईश्वर के प्रकृतित्व का प्रतिपादन करता है, यह कहा जा चुका है । फिर भी विस्तार से इन सब अर्थों को आगे कहेंगे ॥ २७ ॥

सर्वव्याख्यानाधिकरण (८)

अण्वादेरपि हेतुत्वं श्रुतं ब्रह्माण एव वा ।

वटधानादिदृष्टान्तादण्वादेरपि तच्छ्रुतम् ॥ १ ॥

शून्याण्वादिवैकबुद्ध्या सर्वबुद्धिर्न युज्यते ।

स्युर्ब्रह्माण्यपि धानाद्यास्ततो ब्रह्मैव कारणम् ॥ २ ॥

इस प्रधान कारणवाद का निराकरण से ही वेद विरुद्ध सब का निराकरण रूप व्याख्यान हो चुका है । सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि परमाणु शून्यादि को भी श्रुति में जगत् का कारणत्व सुनाया गया है, अथवा ब्रह्म का ही कारणत्व सुना गया है ? पूर्वपक्ष है कि छान्दोग्य में वट बीज का दृष्टान्त जगत् के कारण को समझाने के लिये दिया गया है, और एक वट बीज की अत्यन्त पीस देने से अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण जो कुछ नहीं दीखता है, उसी की महान् वटवृक्ष का हेतु बताकर उसी प्रकार का जगत् कारण को समझा गया है, इससे अणु कारणवाद और शून्य कारणवाद भी सिद्ध होता है, क्योंकि वहाँ कहा गया है कि कुछ नहीं दीखता है, उसमें कार्य होता है अणु से कार्य होता है इत्यादि । (अणोरणीयान्-असद्वेदेदमग्र आसीत्) इत्यादि श्रुति से भी अणु-वादादि की सिद्धि होती है । सिद्धान्त है कि शून्य अणुवादादि में एक ज्ञान से सबका ज्ञान नहीं हो सकता है, और इन्द्रिय की अविषयता सूक्ष्मता से वट-बीजादि का दृष्टान्त ब्रह्मविषयक ही है, इससे ब्रह्म ही कारण है ॥ १-२ ॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

‘ईक्षतेर्नाशब्दम्’ (ब्र० सू० १।१।५) इत्यारभ्य प्रधानकारणवाद सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृत, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिरिलङ्घ्याभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन् प्रतिभान्तीति । न च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य । देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैस्वग्रन्थेष्वश्रित, तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽस्तीव कृतो नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्या । तेषामप्युपोद्बलकवैदिक किंचिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन् प्रतिभायादिति । अतः प्रधानमत्तलनिवर्हणन्यायेनातिदिशति—एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेष्वण्वादिकारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्या । तेषामपि प्रधानवदशब्दत्वाच्छब्दविरोधित्वाच्चेति । व्याख्याता व्याख्याता इति पादाभ्यामोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादवृत्तो शारीरकमीमांसामाष्ये

प्रथमाध्यायस्य अनुर्थं पादं समाप्तं ॥ ४ ॥

ईक्षतेनाशब्दम्, यहाँ से आरम्भ करके सूत्रों द्वारा ही प्रधान कारणवाद की बार-बार आशंका करके सूत्रों से ही प्रधान कारणवाद निराकृत किया गया है। जिससे उस पक्ष के साधक पुष्टिकारक लिङ्गाभास (असत् लिङ्ग) मन्दमति वालों को वेदान्तों में सामान्य दृष्टि से भासते हैं। एवं कार्यकारण के अभेद के स्वीकार से वह प्रधान कारणवाद वेदान्तवाद के प्रत्यासन्न (अतिसमीपवर्ती) है। देवल आदि कितने धर्मसूत्रकारों ने अपने ग्रन्थों में प्रधान कारणवाद का आश्रयण किया है। इस कारण से प्रधान कारणवाद के प्रतिषेध में अत्यधिक यत्न किया गया है। और अणु आदि कारणवाद के निषेध में यत्न नहीं किया गया है। परन्तु वे अणु आदि कारणवाद भी ब्रह्मकारणवाद रूप पक्ष (सिद्धान्त) के प्रतिपक्षत्व (विरोधिता) से प्रतिषेध के योग्य हैं। जब उनका भी प्रवर्द्धक (पोषक) कोई वैदिक लिङ्ग सामान्य दृष्टि से मन्दमति वालों को भासेगा, और भास सकता है। इससे प्रधान (मुख्य) मल्ल (योद्धा) निवर्हण (निवारण-विजय) न्याय से अतिदेश करते हैं (सादृश्य रूप से निषिद्ध दिखलाते हैं) कि इस प्रधान कारणवाद के निषेध रूप न्याय समूह से सब अणु आदि कारणवादों को भी प्रतिषिद्ध रूप से व्याख्यात (निराकृत) समझना चाहिये। क्योंकि उनको भी प्रधान के समान अशब्दत्व और शब्द से विरोधित्व है (व्याख्याता व्याख्याताः) यह पद का अभ्यास अध्याय की समाप्ति का द्योतक (प्रकाशक) है ॥ २८ ॥

मङ्गलं मङ्गलानां यज्ज्ञानानां ज्ञानमव्ययम् ।

सत्यं सत्यस्वरूपाणां प्राणप्राणं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

यस्मिन् मायामनोयोगाद् विविधाः सृष्टयो भूताः ।

तं नौमि सच्चिदानन्द स्वात्मानममयं विभुम् ॥ २ ॥

कार्यकारणताहीनं कार्यकारणतां गतम् ।

मायया न स्वरूपेण तं ब्रह्मात्मानमाश्रये ॥ ३ ॥

यस्मिञ्ज्ञाते भवेज्ज्ञातं सर्वं सदसदात्मकम् ।

द्वन्द्वजालं विनश्येत् तं रामं सर्वगं भजे ॥ ४ ॥

जिज्ञासा ब्रह्मणः पुण्या लक्षणं पुण्यमुत्तमम् ।

समन्वयोऽतिपुण्यात्मा सविशेषोऽत्र विद्यते ॥ ५ ॥

प्रकृतेः परपारस्य प्रकृतित्वं तु मायया ।

इन्द्रो मायामिरित्युक्ते विवर्तस्याश्रयो हरिः ॥ ६ ॥

प्रकृतिं स्वां ह्यधिष्ठाय संभवामीति चोक्तितः ।

निर्विकारः सदा रामः सच्चिदानन्दलक्षणः ॥ ७ ॥

नैदाघकिरणे वारि यथा यस्मिन्निदं जगत् ।

निर्मलं निर्विकारं तमात्मानं संस्मराम्यहम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ।



अथ द्वितीयोऽध्यायः

[द्वितीये अविरोधाध्याये सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः
सांख्यादिप्रयुक्तकैश्च वेदान्तसमन्वयविरोधपरिहारः]

स्मृत्यधिकरण (१)

प्रथमेऽध्याये सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत् उत्पत्तिकारणं मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम् । उत्पन्नस्य जगतो नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं, मायावीव मायायाः । प्रसारितस्य च जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणम्, अवन्ति-रिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य । स एव च सर्वेषां न आत्मेत्येतद्वेदान्तवाक्य-समन्वयप्रतिपादनेन प्रतिपादितम् । प्रधानादिकारणवादाश्चाशब्दत्वेन निरा-कृताः । इदानीं स्वपक्षे स्मृतिन्यायविरोधपरिहारः, प्रधानादिवादानां च न्याया-भासोपवृंहितत्वं, प्रतिवेदान्तं च सृष्ट्यादिप्रक्रियाया अविगीतत्वमित्यस्यार्थ-जातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । तत्र प्रथमं तावत्स्मृतिविरोध-मुपन्यस्य परिहरति—

नित्यानन्दस्वरूपाय निर्गुणाय समात्मने ।

सर्वाविरुद्धमानाय रामाय गुरवे नमः ॥

प्रथमाध्याय में वेदान्त वाक्यों के समन्वय के प्रतिपादन द्वारा यह प्रतिपादित हुआ है कि जैसे घट रुचकादि की उत्पत्ति के कारण मृत्तिका सुवर्णादि हैं, वैसे ही जगत् की उत्पत्ति का कारण सर्वज्ञ सर्वेश्वर है और जैसे उत्पन्न मायामय वस्तु का नियन्ता रूप से मायावी उसकी स्थिति का कारण होता है वैसे उत्पन्न जगत् का नियन्ता रूप से सर्वज्ञ सर्वेश्वर उसकी स्थिति का कारण है । पृथिवी जैसे अण्डजादि चारों प्रकार के भूत (प्राणी) के शरीर समूह को अपने में उपसंहार (विलय) का कारण है । वैसे ही प्रसारित विस्तृत जगत् का फिर अपने में उपसंहार का कारण सर्वज्ञ सर्वेश्वर है, और वही हम सब की आत्मा है । और अशब्दता से प्रधानाधिकारणवाद निराकृत हो चुके हैं । अर्थात् ये वाद सब श्रुतिसिद्ध नहीं हैं, इससे उनका निराकरण किया गया है । अब इस समय अपने पक्ष (सिद्धान्त) में स्मृति और न्याय के विरोधों का परिहार (निवारण), प्रधानादि कारणवादों की न्यायानुसङ्गता भ्रममूलकता, और प्रत्येक वेदान्त में सृष्टि आदि प्रक्रिया की अविरोधिता (श्रेष्ठता) इत्यादि अर्थ समूह के प्रतिपादन के लिए दूसरे अध्याय का आरम्भ किया जाता है । उनमें भी सबसे प्रथम स्मृति विरोध का प्रदर्शन कराकर उसका निवारण करते हैं कि—

सांख्यस्मृत्यास्ति संकोचो न वा वेदसमन्वये ।

धर्मे वेदः सावकाशः संकोचोऽनवकाशता ॥

प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिर्मन्वादिस्मृतिभि स्मृति ।

अमूला कापिली वाव्या न सकोचोऽनया तत ॥

पुरुषप्रधानादि का मोक्षोपयोगी विवेकादिमात्र के लिए प्रतिपादन करने वाली स्मृति की अनवकाशता (निष्प्रयोजनता) दोष की प्राप्ति से वेदान्त का ब्रह्म में समन्वय लोक नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रधानादि को मानने पर भी अन्य स्मृति की अनवकाशता दोष प्राप्त होता है । सामान्य दृष्टि से सशय होता है कि वेदान्त का ब्रह्मविषयक समन्वय में साख्यस्मृति से सकोच, तदन्यविषयत्व होता है वा नहीं । पूर्वपक्ष है कि वेदवेदान्त धर्मोपासनादि अर्थ में सावकाश हैं इससे अनवकाश स्मृति से उसका सकोच होता है । सिद्धान्त है कि प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक मनु आदि स्मृतियों से मूलरहित साख्यस्मृतिबाधित निषिद्ध हो जाती है, जिससे वेदान्त के ब्रह्मविषयक समन्वय का सकोच नहीं हो सकता है ॥ १-२ ॥

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष-

प्रसङ्गात् ॥ १ ॥

यदुक्त—ब्रह्मैव सर्वज्ञ जगत् कारणम्—इति, तदयुक्तम् । कुत ? स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् । स्मृतिश्च तन्त्राप्या परमपिप्रणीता शिष्टपरिगृहीता, अन्याश्च तदनुसारिण्य स्मृतयः, एव सत्यनवकाशा प्रसज्येरन् । तासु ह्यचेतन प्रधान स्वतन्त्र जगत् कारणमुपनिवध्यते । मन्वादिस्मृतयस्तावच्चोदनालक्षणेनाग्नि-होत्रादिना धर्मेजातेनापेक्षितमर्थं समर्पयन्त्य सावकाशा भवन्ति । अस्य वर्णस्यास्मिन् कालेऽनेन विधानेनोपनयनम् । ईदृशश्चाचार इत्य वेदाध्ययनम्, समावर्तनम्, इत्य सहधर्मचारिणीसयोग इति । तथा पुरुषार्थाश्च वर्णाश्रम-धर्मान्नानाविधान् विदधति, नैव कपिलादिस्मृतीनामनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति । मोक्षसाधनमेव हि सम्यग्दर्शनमधिकृत्य ता प्रणीता । यदि तत्राप्यनवकाशा स्युरानर्थक्यमेवासा प्रसज्येत । तस्मात्तदविरोधेन वेदान्ता व्याख्यातव्या ।

पहले जो यह कहा गया है कि सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है, वह कहना अयुक्त (अनुचित) है, क्योंकि ऐसा मानने से स्मृति की अनवकाशत्तरूप दोष की प्राप्ति होती है । तन्त्र (शास्त्र) नाम वाली परमऋषि कपिल से प्रणीत (रचित) शिष्ट पुरुषों से गृहीत स्मृति है, और उसके अनुसारो अन्य भी स्मृतियाँ हैं । इस प्रकार ब्रह्म को कारण मानने पर अनवकाश (निरर्थक सिद्ध होगा) क्योंकि उन स्मृतियों में अचेतन स्वतन्त्र प्रधान जगत् का कारण स्वीकृत किया गया है । मनु आदि स्मृतियाँ तो विधिरूप अग्निहोत्रादिधर्म समूह से अपेक्षित अर्थ का समर्पण (दान) कराती हुई सावकाश होती हैं । इस अमुक वर्ण का इस काल में इस विधि से उपनयन होना चाहिए, इस प्रकार का आचार होना चाहिए, इस प्रकार वेद का अध्ययन करना चाहिए, इस प्रकार समावर्तन (गृहस्थाश्रम में प्रवेश) होना चाहिए ।

धर्माचरण करने वाली स्त्री के साथ इस प्रकार संयोग होना चाहिए । इन सब अर्थों को मनु आदि स्मृतियाँ बोध कराती हैं । केवल विधिरूप यागादि से अपेक्षित अर्थ का ही नहीं बोध कराती है, किन्तु इसी प्रकार वर्णाश्रम के लौकिक धर्मरूप नाना प्रकार के पुरुषार्थों (प्रयोजनों) का भी विधान करती है । कपिलादि स्मृतियों में इस प्रकार से अनुष्ठेय (कर्तव्य) विषय (कर्म) में अवकाश (सार्थकता) नहीं है । जिससे मोक्ष का साधन सम्यग्दर्शन (विवेकज्ञान) को ही लक्ष्य उद्देश्य करके वे स्मृतियाँ रची गई हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ करके सम्यग्दर्शन के अधिकारियों के लिए रची गयी है । यदि वहाँ भी अनवकाश होगी, (स्वतन्त्रप्रधानादि का बोध नहीं करा सकेंगी) तो इनको अनर्थकता ही प्राप्त होगी । जिससे उन स्मृतियों के साथ अविरोधपूर्वक वेदान्त का व्याख्यान कर्तव्य है ।

कथं पुनरीक्षत्यादिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्मैव सर्वज्ञं जगत् : कारणमित्यवधारितः श्रुत्यर्थः स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गेन पुनराक्षिप्यते । भवेदयमनाक्षेपः स्वतन्त्र-प्रज्ञानां, परतन्त्रप्रज्ञास्तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्यर्थमवधारयितुमशक्नु-वन्तः प्रख्यातप्रणेतृकांस्मृतिष्ववलम्बेरन् । तद्वलेन च श्रुत्यर्थं प्रतिपित्सेरन् । अस्मत्कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर्वहुमानात्स्मृतीनां प्रणेतृषु । कपिलप्रभृतीनां चार्पं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते । श्रुतिश्च भवति—‘ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत्’ (श्वे० ५।२) इति । तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं सम्भावयितुम् । तर्काविषट्म्येन चैतैः प्रतिष्ठापयन्ति । तस्मादपि स्मृति-वलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः ।

यहाँ शंका होती है कि ईक्षणादि रूप हेतुओं से सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है इस वेदार्थ के अवधारित (निर्णीत) होने पर फिर वह अवधारित अर्थ स्मृति अनवकाशता रूप दोष के प्रसंग से आक्षिप्त कैसे हो सकता है ? अर्थात् श्रुति से विरुद्ध स्मृति अप्रमाण होती है । उसके साथ अविरोधपूर्वक वेदान्त का व्याख्यान करना चाहिए यह पूर्वपक्ष नहीं बन सकता है । ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि स्वतन्त्र बुद्धि वालों के लिए यह आक्षेप, (पूर्वपक्ष) नहीं हो सकता है । अर्थात् जो स्वतन्त्रतापूर्वक श्रुति के अर्थ को विचार सकते हैं, उनके लिए यह पूर्वपक्ष नहीं है । परन्तु मनुष्य प्रायः परतन्त्र बुद्धि वाले होते हैं, इससे स्वतन्त्रतापूर्वक श्रुति के अर्थ के अवधारण (निर्णय) करने के लिए असमर्थ होकर प्रख्यात प्रणेतृओं से रचित स्मृतियों में अवलम्बित (श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त) होंगे, और उन स्मृतियों के बल से श्रुतियों के अर्थ को जानना चाहेंगे, एवं स्मृति के रचयिता में बहुमान (आदर-प्रतिष्ठा) होने से हमसे किए गये व्याख्यानों में विश्वास नहीं करेंगे । कपिलादि का आर्ष (वैदिक) अप्रतिहत (अविनाशी) ज्ञान कहा जाता है । और श्रुति भी है कि (जो परमात्मा सृष्टि के आदि-काल में जायमान (उत्पन्न होते हुए) कपिल ऋषि को उत्पन्न करता

है । और स्थिति काल मे प्रसूत (उत्पन्न) उस ऋषि को जो ज्ञानो से पालन-पोषण करता है । उस परमात्मा को देखना चाहिए) इससे इन कपिलादि के मत अवयव हैं, ऐसी सम्भावना नहीं कर सकते हैं । और ये लोग तर्क का अवलम्ब लेकर प्रधानादि अर्थ का प्रतिपादनादि रूप स्थापन करते हैं, इससे भी स्मृति बल से वेदान्त व्याख्यान के योग्य हैं यह फिर आक्षेप है ।

तस्य समाधि नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति । यदि स्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्य स्मृत्योऽनवकाशा प्रसज्येरन् । ता उदाहरिष्याम — 'यत्तत्सूक्ष्मविशेषम्' इति पर ब्रह्म प्रकृत्य 'स ह्यन्तरात्मा भूताना क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते' इति चोक्त्वा 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्न त्रिगुण द्विजसत्तम' इत्याह । तथान्यत्रापि 'अव्यक्त पुरुष ब्रह्मन्निर्गुण सप्रलीयते' इत्याह ।

इस आक्षेप का समाधान है कि कपिल स्मृति के अनुसार वेदान्त का व्याख्यान हो नहीं सकता है, क्योंकि ऐसा करने से कपिल स्मृति मे अन्य स्मृतियों की अनवकाशाता रूप दोष की प्राप्ति होगी । यदि स्मृति के अनवकाशरूप दोष के प्रसङ्ग से ईश्वर कारणवाद आक्षिप्त (अनादृत-व्यक्त) होगा तो इसी प्रकार ईश्वर को कारण कहने वाली अन्य स्मृतियाँ अनवकाशसिद्ध होंगी । और इस प्रकार अनवकाश होने वाली स्मृतियों का अभी उदाहरण देंगे कि (जो वह सूक्ष्म विशेषरूप से जानने के अयोग्य है) इस प्रकार परब्रह्म के निरूपण का आरम्भ करके (वही प्राणियों की अन्तरात्मा है और वही क्षेत्र कहा जाता है) इस प्रकार कह कर (हे द्विजसत्तम ! उससे तीन गुण वाला अव्यक्त उत्पन्न हुआ) इस प्रकार कहते हैं । इसी प्रकार अन्य स्थान मे भी (हे ब्रह्मन् ! निर्गुण पुरुष में अव्यक्त सप्रलीन होता है) इस प्रकार कहते हैं, ये इतिहास की बातें रही ।

अतश्च मक्षेपमिम शृणुष्व नारायण सर्वमिद पुराणः ।

स भगंकाले च करोति सर्वं सहारकाले च तदस्ति भूय ॥

इति पुराणे । भगवद्गीतासु च—

अहं कृत्स्नम्य जगत् प्रभव प्रलयस्तथा ।

(भ० गी० ७।६) इति । परमात्मानमेव च प्रकृत्यापस्तम्ब पठति—

तस्मात्काया प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकं स नित्य । (ध० सू० १।८।२३।२) इति । एवमनेकश स्मृतिष्वपीश्वर कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाशयते । स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेनैवोत्तर वक्ष्यामीत्यतोऽन्यस्मृत्यनवकाशदोषोपन्यास दर्शित तु श्रुतीनामीश्वरकारणवाद प्रति तात्पर्यम् । विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्यकर्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्य स्मृतय प्रमाणमनपेक्षया इतरा । तदुक्त प्रमाणलक्षणे—

‘विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्’ (जै० सू० १।३।३) इति । नचातीन्द्रियानर्थान् श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभत इति शक्यं सम्भावयितुं निमित्ताभावात् ।

पुराण में भी कहा है कि (इससे यह संक्षेप सुनो कि यह सब जगत् पुराण अनादि नारायण-सर्वाधिष्ठानस्वरूप है और वही नारायण सृष्टिकाल में सबको उत्पन्न करता है । और फिर प्रलयकाल में सबको अपने में लीन करता है ।

भगवद्गीता में कहा है कि (मैं ही सब जगत् का प्रभव-उत्पादक और प्रलयाधार हूँ) और—

परमात्मा का प्रसंग करके ही आपस्तम्ब पढ़ते (कहते) हैं कि (उस ईश्वर से ब्रह्मा आदि नाम वाले सब शरीर उत्पन्न होते हैं, इससे वह निमित्त कारण है, और वही सबका मूल=उपादान कारण है, और उपादान होते हुए भी शाश्वतिक सदा एकरस रहने वाला निर्विकार कूटस्थ है, अत एव नित्य अविनाशी है । इस प्रकार अनेक बार पुनः पुनः स्मृतियों में भी निमित्त कारण रूप से और उपादान रूप से ईश्वर प्रकाशित (उपदिष्ट) है । यद्यपि श्रुति विरोध से ही अनीश्वरवादी स्मृति का निराकरण हो सकता था, तथापि स्मृतिविरोध से स्मृतिवल से प्रत्यवस्थान (प्रतिपक्षविरोध) करने वाले को स्मृतिवल से ही उत्तर कहूँगा, इस विचार से यह अन्य स्मृति का अनवकाश-रूप दोष कहा गया है । स्मृतियों का परस्पर विरोध होते हुए भी तत्त्व निर्णय का हेतु रूप श्रुतियों का ईश्वर कारणवाद के प्रति तात्पर्य को पहले दर्शित (प्रकट) कराया गया है । स्मृतियों की परस्पर विप्रतिपत्ति (विरोध) दशा में दोनों में से एक का त्याग अन्य का ग्रहण अवश्य कर्तव्य होने से श्रुति के अनुसारिणी ईश्वर की कारणादि मानने वाली स्मृतिर्या प्रमाण होने से ग्रहण योग्य हैं, और स्मृतिर्या अनपेक्ष्य (त्याज्य) अप्रमाण हैं । पूर्वमीमांसा के प्रमाण लक्षण (अध्याय) में कहा है कि (श्रुति से विरोध होने पर स्मृति अनपेक्ष (अप्रमाण त्याज्य) होती है, विरोध के नहीं रहने पर उसके मूलरूप श्रुति का अनुमान होता है) और श्रुति के बिना धर्मादि रूप अतीन्द्रिय अर्थों को कोई जानता है ऐसी सम्भावना नहीं कर सकते हैं, क्योंकि श्रुति के बिना अतीन्द्रिय अर्थ के ज्ञान के निमित्त कारण का अभाव रहता है ।

शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वादिति चेत् ? न । सिद्धेरपि सापेक्षत्वात् । धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः । स च धर्मश्चोदनालक्षणः । ततश्च पूर्वसिद्धायाश्चोदनाया अर्थो न पश्चिमसिद्धपुरुषवचनवशेनातिशङ्कितुं शक्यते । सिद्धव्यपाश्रयकल्पनायामपि बहुत्वात्सिद्धानां प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृतिविप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुतिव्यपाश्रयादन्यन्निर्णयकारणमस्ति । परतन्त्रप्रज्ञस्यापि नाकस्मात्स्मृतिविशेषविषयः पक्षपातो युक्तः । कस्यचित्त्वचित्पक्षपाते सति पुरुषमतिवैषम्यलक्षणे तत्त्वव्यवस्थानप्रसङ्गात् । तस्मात्तस्यापि स्मृतिविप्रतिपत्त्यु-

पन्थासेन स्मृत्यनुसाराननुसारविषयविवेचनेन च सन्मार्गे प्रज्ञा सग्रहणीया । या तु श्रुति कपिलस्य ज्ञानातिशय प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तथा श्रुतिविरुद्धमपि कपिल मत श्रद्धातु शक्य, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात् । अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतिसुर्वासुदेवनाम्न स्मरणात् । अन्यायदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात् । भवति चान्या मनोर्माहात्म्य प्रत्यापयन्ती श्रुति — 'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्' (तै० स० २२।१०।२) इति ।

शका होती है कि अप्रतिहत (अकुठित) ज्ञान होने से कपिलादि सिद्धों को श्रुति के बिना भी अतीन्द्रिय अर्थों के ज्ञान को सम्भावना की जा सकती है । वहाँ कहा जाता है कि यदि ऐसे कोई शका करे, तो वह कहना नहीं बन सकता, क्योंकि ईश्वर से अन्य की सिद्धि भी सापेक्ष कारणजन्य होती है, जिससे धर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा वाली धर्मजन्य सिद्धि होती है, और वह धर्म (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म) इन सूत्र के अनुसार विधिरूप लक्षण वाला पाप के सम्बन्ध से रहित होता है, इससे सिद्धि से पहले मिद्ध चोदना (विधि) रूप श्रुति का अर्थ पश्चात् सिद्ध पुरुष के वचन के वश से अतिशक्ति (उल्लिखित) नहीं किया जा सकता है । अर्थात् श्रुति के मुख्यार्थ को त्याग कर गौणार्थता की शका नहीं कर सकते हैं । सिद्धों के वचन का आश्रयण करके वेदार्थ की कल्पना मानने पर भी सिद्धों के बहुत होने से और पूर्वप्रदर्शित प्रकार (रीति) से सिद्धि की उक्त रूप स्मृतियों को भी विप्रतिपत्ति (विरोध) होने पर श्रुति के आश्रयण से अन्य निर्णय का कारण नहीं है, अर्थात् श्रुतिरूप आश्रय के बिना सिद्धोक्ति मात्र तत्त्व निर्णय का कारण नहीं है, इसमें श्रुति को आश्रयण करने वाले मनु आदि से श्रुति के अर्थ का निर्णय हो सकता है अन्य से नहीं । इसमें परतन्त्र बुद्धि वाले को भी अकम्मात् (निहंतुक) किसी स्मृतिविशेषविषयक पक्षपात होना युक्त नहीं है, किन्तु विचारादि कर्तव्य है, क्योंकि विचारादि के बिना किसी का कही पक्षपात होने पर पुरुष की बुद्धि ही विश्वरूपना (विचित्रता अनन्तता) से तत्त्व का अव्यवस्थान (अनिश्चय) प्राप्त होगा । इससे उस परतन्त्र बुद्धि वाले को भी स्मृतियों की विप्रतिपत्ति के उपन्यास (कथनादि) द्वारा श्रुति के अनुसार विषय का और श्रुतिविरुद्ध विषय का विवेचनपूर्वक श्रुति के अनुसार विषय (प्रतिपाद्यार्थ) वाली स्मृति कथित सन्मार्गे में बुद्धि सग्रहणीय (प्राप्त और स्थिर करने योग्य) है । और कपिल के ज्ञानातिशय (ज्ञानाधिक्य) को प्रदर्शन (बोध) कराने वाली जो श्रुति पहले प्रदर्शित करायी गई है, उससे श्रुतिविरुद्ध भी कपिलमत श्रद्धा के योग्य नहीं हो सकता है । क्योंकि (कपिलम्) यह श्रुति सामान्य मात्र है । अर्थात् श्रुतिकथित कपिल नाम समान (एकतुल्य) है, और कपिल नाम वाले अनेक हैं, इसमें श्रुतिवर्णित साह्य का कर्ता नहीं है, उस साह्य कर्ता से अन्य सगर पुत्रों के प्रदाहक बामुदेव नामक कपिल का स्मृति में वर्णन है, इससे उनके ही ज्ञानातिशय का श्रुति में भी प्रदर्शित करायी

गया है, सांख्यकर्ता का नहीं। और दूसरी बात यह है कि (जो कपिल को ज्ञान से पोंछता है उसको देखना चाहिए, इस श्रुति में ईश्वर के दर्शन का विधान है, उसके अङ्ग (शेष) रूप से कपिल और उनके ज्ञान का अनुवादमात्र है, इससे प्रमाणान्तर से प्राप्ति रहित जो अन्यायक दर्शन (अनुवाद) है, वह अर्थ का असाधक है, उससे सर्वज्ञत्वादि की सिद्धि नहीं हो सकती है। मनु की महिमा को प्रख्यात करने वाली अन्य श्रुति है कि (मनु ने जो कुछ कहा है सो औषध है) और—

मनुना च—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ (१२।९१)

इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कपिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते । कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात् । महाभारतेऽपि च 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु' इति विचार्य 'बहवः पुरुषा राजन्सांख्ययोगविचारिणाम्' इति परपक्षमुपन्यस्य तद्व्युदासेन—

बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते ।

तथा तं पुरुषं विश्वमाख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥

इत्युपक्रम्य—

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः ।

सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित्त्वचित् ॥

विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः ।

एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥

इति सर्वात्मतैव निर्धारिता । श्रुतिश्च सर्वात्मतायां भवति—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ई० ७) इत्येवंविधा । अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारिमनुवचनविरुद्धं च, न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति । वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थं प्रामाण्यं खेरिव रूपविषये । पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः । तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोषः ॥ १ ॥

मनु ने तो—सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को देखता हुआ आत्मयाजी (ब्रह्मार्पण कर्ता) स्वयंप्रकाश मोक्षानन्द को प्राप्त करता है ।

इस रीति से सर्वात्म दर्शन की प्रशंसा करते हुए कपिल मत की निन्दा की है, ऐसी प्रतीति होती है, आत्मा में भेद के स्वीकार से सर्वात्मत्व दर्शन (ज्ञान) को कपिल नहीं मानते है । और महाभारत में भी (हे ब्रह्मन् पुरुष आत्मा बहूत है, अथवा ये कक्षी

है) इस प्रकार विचार कर (हे राजन् साख्य योग के अनुसार विचार करने वालों के मत में आत्मा बहुत है) इस अर्थ के पक्ष का कथन करके, उसका व्युदास (निषेध) द्वारा—

जैसे बहुत पुरुषाकार देहों की एक भूमियोनि उपादान कारण कहो जाती है, वैसे ही सर्वज्ञत्वादि अधिक गुण वाला सर्वविश्वात्मक उस पुरुष को कहेंगा ।

इस प्रकार आरम्भ करके—

जो मेरी अन्तरात्मा है, और तेरी अन्तरात्मा है, और जो अन्य देहों में स्थिर अन्तरात्मयों हैं, वह पुरुष सब अन्तरात्माओं का साक्षी स्वरूप है, (किसी से कहीं ग्रहण के योग्य नहीं है) और सप्तारी के सप्त शिर भुजा, पाद, आँख, नाक उसी के हैं । वह भूतो में अवेला विचरता है (प्रकाशता है और स्वतन्त्र सुखस्वरूप है) इस प्रकार महाभारत में भी सर्वात्मत्व ही निर्धारित किया गया है । सर्वात्माविषयक श्रुति भी है कि—

जिस ज्ञानकाल में सब प्राणी आत्म स्वरूप ही निश्चित हो गये, उस काल में उस विज्ञानी की एतद्वदर्थों को कौन मोह और कौन शोक रह सकता है ?

इस प्रकार की श्रुति है, इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा में भेद की कल्पना से भी कपिल का तन्त्र (शास्त्र) वेद और वेदानुसारि मनुवचन से विरुद्ध है, केवल स्वतन्त्र प्रकृति की कल्पना ही से वेदादि में विरुद्ध है ऐसी बात नहीं है । रूप का प्रकाशन में सूर्य के समान वेद की अपने अर्थ में निरपेक्ष (स्वतन्त्र) प्रमाणता है, और पुरुष के वचनों की मूलान्तरापेक्ष प्रमाणता होती है । वक्ता के स्मरण में व्यवहित प्रमाणता होती है, अर्थात् वक्ता मूलार्थ स्मरण करता है । वहाँ यदि स्मरण यथार्थ होता है, तो स्मरण-जन्य वचन प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं, इससे श्रुति की अपेक्षा स्मृति की प्रमाणता विप्रकर्ष (दूर) है, श्रुति स्मृति में यही भेद है । वेद में विरुद्ध विषय में स्मृति की अनवकाशता की प्राप्ति दोष नहीं है ॥ १ ॥

कुतश्च स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो न दोष —

इतरेषां वानुपलब्धेः ॥ २ ॥

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतो कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके दोषलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात् महदादीना यष्टम्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते । यदपि क्वचित्तत्परमिदं श्रवणमवभासते तदप्यतत्पर व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १।१।१) इत्यत्र । कार्यस्मृतेरप्रामाण्यात्कारणस्मृतेरप्यप्रामाण्यं युक्तमित्यभिप्रायः । तस्मादपि न स्मृत्यनवकाशप्रसङ्गो दोषः । तर्कावष्टम्भस्तु 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० २।१।४) इत्यारम्भोन्मथिष्यति ॥ २ ॥

किस हेतु से स्मृति का अनवकाशप्रसंग दोष नहीं है—

प्रधान से भिन्न प्रधान के परिणाम रूप से जो स्मृति में कल्पित हैं, वे महत्तत्वाहं-कारादि लोक वा वेद में नहीं उपलब्ध (ज्ञान-प्राप्त) होते हैं । जिससे भूत और इन्द्रियाँ तो लोक और वेद में प्रसिद्धता से स्मृति में प्रतिपादित (स्मृत) हो सकते हैं । परन्तु लोक वेद में प्रसिद्धता से बाह्य पष्ठ (छठें) इन्द्रियार्थ के समान महत्तत्वादि की स्मृति नहीं हो सकती है । अर्थात् जैसे श्रोत्रादि पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रिय प्रसिद्ध हैं, और शब्दादि पाँच इन्द्रियार्थ प्रसिद्ध हैं । इनसे भिन्न बाह्यज्ञान इन्द्रिय और उसका विषय अप्रसिद्ध है, वैसे ही महत्तत्वादि अप्रसिद्ध हैं, उनका स्मृति से प्रतिपादन ठीक नहीं है । जो कहें (महतः परमव्यक्तम्) इत्यादि वाक्य में महत्तत्वादि के प्रतिपादनपरक के समान श्रवण प्रतीत होते हैं, वे भी अन्यायपरक हैं, जिनके (आनुमानिकम्) इत्यादि सूत्र में व्याख्यान हो चुके हैं । इस प्रकार महत्तत्वादि कार्य-विषयक स्मृति के अप्रमाण होने से कारणरूप प्रधानविषयक स्मृति भी अप्रमाण है, इससे इसकी अप्रमाणता युक्त है, यह इस सूत्र का अग्निप्राय है । इससे भी स्मृति का अनवकाशप्रसंग दोष नहीं है, सांख्य के तर्कों का अवलम्बन करें तो (न विलक्षणत्वात्) इस सूत्र से आरम्भ करके खण्डन करेंगे ॥२॥

योगप्रत्युक्त्यधिकरण (२)

योगस्मृत्यास्ति संकोचो न वा योगो हि वैदिकः ।

तत्त्वज्ञानोपयुक्तश्च ततः संकुच्यते तथा ॥

प्रमापि योगे तात्पर्यादितात्पर्यान् सा प्रमा ।

अवैदिके प्रधानादावसंकोचस्तयाप्यतः ॥

इस सांख्य के खंडन से ही श्रुति से विरुद्धांश में योग का भी खण्डन हो गया । शंका होती है कि योगरूप स्मृति से वेदान्त के समन्वय का संकोच होता है कि नहीं ? पूर्वपक्ष है कि योग वैदिक पदार्थ है और तत्त्वज्ञान में उपयुक्त (सहायक हेतु) है, इससे इस योग स्मृति से समन्वय संकुचित होता है । सिद्धान्त है कि योग स्मृति का योग में तात्पर्य है, इसलिए वह योगविषयक प्रमा (प्रमाण) रूप है । अवैदिक प्रधानादि में उसका तात्पर्य नहीं है, इसलिए प्रधानादि अर्थ में वह प्रमाण नहीं है, इससे उससे भी समन्वय का संकोच नहीं होता है ॥ १-२ ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति । तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्पन्ते । नन्वेवं सति समानन्यायत्वात्पूर्वैषैवैतद्गतं किमर्थं पुनरतिदिश्यते ? अस्ति ह्यत्राभ्यधिका शङ्का । सम्यग्दर्शनाभ्युपायो हि योगो वेदे विहितः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इति । 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वे० २।८) इत्यादिना चासनादिकल्प-

नापुरसर बहुप्रपञ्च योगविधानं श्वेताश्वतरोपनिषदि दृश्यते । लिङ्गानि च वैदिकानि योगविषयाणि सहस्रश उपलभ्यन्ते 'ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरा-
मिन्द्रियधारणाम्' (का० २६।११) इति । 'विद्यामेता योगविधिं च कृत्स्नम्'
(का० २।६।१८) इति चैवमादीनि । योगशास्त्रेऽपि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायो
योगः' इति सम्प्रदर्शनाभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते । अतः सप्रतिपन्नार्थ-
कदेशत्वादष्टकादिस्मृतिवद्योगस्मृतिरप्यनपवदनीया भविष्यतीति । इयमप्यधिका
शङ्काऽतिदेशेन निवर्त्यते, अर्थैकदेशसप्रतिपत्तावप्यर्थैकदेशविप्रतिपत्ते पूर्वोक्ताया
दर्शनात् । सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु साख्ययोगस्मृत्योरेव
निराकरणे यत्नः कृतः । साख्ययोगी हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ,
शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रुतेनोपबृंहितौ- 'तत्कारणं साख्ययोगाभिपन्नं
ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपापैः' (श्वे० ६।१३) इति । निराकरणं तु न साख्यज्ञानेन
वेदानिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निश्चयसमधिगम्यत इति ।

इस साख्य स्मृति के प्रत्याख्यान से योग स्मृति भी प्रत्याख्यात (खण्डित) हो
गई, ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार यहाँ पूर्वोक्त का अतिदेश करते हैं । क्योंकि
उस योग में भी श्रुति के विरोधपूर्वक स्वतन्त्र ही प्रधान रूप कारण और लोक वेद में
अप्रसिद्ध महत्त्वादि कार्य काल्पनिक माने जाते हैं । यहाँ शका होती है कि यदि साख्य-
योग की ऐसी तुल्यता है तो समान (एक) न्याय दोनों के लिए होने से पूर्वाधिकरण
से ही यह गतार्थ हो चुका है, किस प्रयोजन के लिए फिर यहाँ अतिदेश किया जाता
है । उत्तर है कि पूर्व की अपेक्षा यहाँ अधिक आशका है, उसकी निवृत्ति के लिए अति-
देश है, अधिक आशका यह है कि सम्प्रदर्शन का श्रेष्ठ उपायरूप योग वेद में विहित है
कि (आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिये) श्रवण मनन योग के साधन
हैं और निदिध्यासन योग है । (उर-श्रीवा-शिर ये तीनों जिसमें उन्नत (ऊँचे) हों
ऐसे शरीर को सम सीधा स्थिर करके मन से इन्द्रियो को रोक कर विद्वान् ससार
सागर को तरे) इत्यादि वचनो द्वारा आसनादि की कल्पनापूर्वक बहुत विस्तारयुक्त
योग का विधान श्वेताश्वतरोपनिषद् में देखा जाता है, और योग विषयक हजारों
लिङ्ग (हेतुरूप अर्थवाद) उपलब्ध होते हैं । जैसे कि (उस इन्द्रियो को स्थिर धारणा
को योगवेत्ता योग मानते हैं) (उक्त इस ब्रह्मविद्या को और सम्पूर्ण योगविधि को
गुरुत्वा से प्राप्त करके नचिन्वेता ने ब्रह्म को प्राप्त किया) इत्यादि योग के ज्ञापक लिङ्ग
हैं । और योगशास्त्र में भी (अथ तत्त्वज्ञान का उपाय योग कहा जाता है) । इस रीति
से सम्प्रदर्शन का उपाय रूप से ही योग का स्वीकार किया जाता है, इससे सप्रतिपन्न
(अविच्छिन्न प्रामाणिक) एकदेश (योगाश) वाली होने से (अष्टका कर्तव्या) अष्टका
कर्तव्य है इत्यादि स्मृति के समान योगस्मृति भी अपवाद (निन्दा निषेध) के योग्य
नहीं होगी, उससे स्वतन्त्र प्रधानादि अर्थ में भी स्वीकार के योग्य होना चाहिये । यह
अधिक शका अतिदेश से निवृत्त की जाती है, क्योंकि योग रूप अर्थ के एकदेश में

सम्प्रतिपत्ति होते भी अर्थ के एकदेश में पूर्वोक्त विप्रतिपत्ति (विरुद्धता) देखी जाती है । यद्यपि अध्यात्मविषयक बहुत स्मृतियाँ हैं तथापि उनके रहते हुए भी उनका निराकरण नहीं करके सांख्य और योग स्मृति के ही निराकरण में यत्न किया गया है, जिससे सांख्य और योग परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के साधन रूप से लोक में प्रसिद्ध हैं । और शिष्ट (सत्यादि धर्मपरायण) से गृहीत (स्वीकृत) हैं, एवं वैदिक लिंग से प्रवर्धित पुष्ट हैं वैदिक लिङ्ग है कि (उस प्रसिद्ध सब कार्य के कारण और सांख्य और योग से प्राप्त होने योग्य देव को जानकर अविद्यादि सब बन्धन से मुक्त होता है ।) वेद की अपेक्षा के बिना सांख्य ज्ञान से या योग मार्ग से मोक्ष नहीं प्राप्त होता है इसलिए यहाँ निराकरण किया गया है ।

श्रुतिर्हि वैदिकादात्मैकत्वविज्ञानादन्यन्निःश्रेयससाधनं वारयति 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० ३।८) इति । द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च नात्मैकत्वदर्शिनः । यत्तु दर्शनमुक्तं-तत्कारणं सांख्ययोगामिपन्नम्-इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते प्रत्यासत्तेरित्यवगन्तव्यम् । येन त्वंशेन न विरुध्यते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम् । तद्यथा—'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (वृ० ४।३।१६) इत्येवमादिश्रुतिप्रसिद्धमेव पुरुषस्य विशुद्धत्वं निर्गुणपुरुषनिरूपणेन सांख्यैरभ्युपगम्यते । तथा च योगैरपि 'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः' (जावा० ५) इत्येवमादि श्रुतिप्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनानुगम्यते । एतेन सर्वाणि तर्कस्मरणानि प्रतिवक्तव्यानि । तथापि तर्कोपपत्तिभ्यां तत्त्वज्ञानायोपकुर्वन्तीति चेदुपकुर्वन्तु नाम । तत्त्वज्ञानं तु वेदान्तवाक्येभ्य एव भवति 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१।१९।७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (वृ० ३।१।२६) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः ॥ ३ ॥

वैदिक आत्म एकत्व के विज्ञान से अन्य मोक्ष साधन का श्रुति वारण (निषेध) करती है कि (उस एक आत्मा को ही जानकर मृत्युमय संसार से रहित हो सकता है । मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं हैं) और वे सांख्य और योग दर्शन वाले द्वैतवादी हैं, आत्म-एकत्ववादी नहीं हैं, और जो (सांख्ययोगामिपन्नम्) यह वैदिक लिंग का दर्शन कहा है, वहाँ भी समीपता से वैदिक ज्ञान और ध्यान ही सांख्य और योग शब्द से कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिए, और जितने अंश में सांख्य और योग श्रुति से विरुद्ध नहीं होते हैं, उतने अंशों में सांख्य योग स्मृति को सावकाशत्व (प्रमाणत्व) इष्ट है, सो सावकाशत्व इस प्रकार है कि (यह पुरुष आत्मा असङ्ग है) इत्यादि श्रुतियों में जैसे आत्मा विशुद्ध प्रसिद्ध है, उसी पुरुष के प्रसिद्ध विशुद्धत्व को निर्गुण पुरुष के निरूपण से सांख्यवादी स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार योगवादी भी (संन्यासी कपाय वस्त्रधारी मुण्डित परिग्रह रहित रहे) इत्यादि श्रुति में विहित प्रसिद्ध ही निवृत्तिनिष्ठत्व को संन्यासादि के उपदेश से अनुसरण करते हैं । इस श्रुति विरोध से सब तर्कात्मक

स्मृति श्रुति विरुद्धाश्च मे प्रति वक्तव्य (खण्डनार्ह) हैं । वे भी यदि तर्क (अनुमान) और युक्ति द्वारा तत्त्व ज्ञान के लिए उपकार करते हो तो उपकार करें, उस उपकारकाश का प्रतिपक्ष नहीं है । परन्तु तत्त्वज्ञान तो वेदान्त वाक्यों से ही होता है, केवल तर्कादि से नहीं, यह सिद्धान्त (वेदज्ञ से मिन उस विभु ब्रह्मात्मा को नहीं जानता है । उस उपनिषद् मान से ज्ञेय आत्मा को आप से पूछता हूँ) इत्यादि श्रुति, कथनों से सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

विलक्षणत्वाधिकरण (३)

वैलक्षण्याख्यतर्केण वाध्यतेऽथ न वाध्यते ।

वाध्यते साम्प्रनियमात्कार्यकारणवस्तुनो ॥

मृदघटादौ समत्वेऽपि दृष्ट वृश्चिककेऽप्यो ।

स्वकारणेन वैषम्य तर्काभासो न बाधक ॥

(अस्य जगतो ब्रह्म वैलक्षण्यान्नैतद् ब्रह्मप्रकृतिकम् वैलक्षण्यं च शब्दादगम्यते) इस जगत् मे ब्रह्म से विलक्षणता है, इसलिए यह ब्रह्म रूप प्रकृति वाला नहीं है, और यह विलक्षणता श्रुति से प्रतीत होती है । यह पूर्वपक्षरूप सूत्र है । सशय होता है कि ब्रह्म और जगत् मे विलक्षणता नामक तर्क (अनुमान हेतु) से समन्वय बाधित होता है, अथवा नहीं । पूर्वपक्ष है कि उपादान कारण और कार्य में समता का नियम है, इससे समन्वय बाधित होता है । सिद्धान्त है कि मिट्टी घटादिरूप कारण और कार्य में समता होते हुए भी वृश्चिक (विच्छू) और केश को अपने कारण के साथ विलक्षणता देखी जाती है, अर्थात् जड़ गोवर से चेतन विच्छू उत्पन्न होता है, चेतन शरीर से जड़ केश उत्पन्न होता है, इससे तर्काभास (असत्तर्क) समन्वय का बाधक नहीं है ॥ १-२ ॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्व च शब्दात् ॥ ४ ॥

ब्रह्मास्य जगतो निमित्तकारण प्रकृतिश्चेत्यस्य पक्षस्याक्षेप स्मृतिनिमित्त परिहृत । तर्कनिमित्त इदानीमाक्षेप परिह्रियते । कुत पुनरस्मिन्नवधारित आगमार्थे तर्कनिमित्तस्यावकाश । ननु धर्म इव ब्रह्मण्यप्यनपेक्ष आगमो भवितुमर्हति । भवेदयमवष्टम्भो यदि प्रमाणान्तरानवगाह्य आगममात्रप्रमेयोऽयमर्थं स्यादनुष्ठेयरूप इव धर्म । परिनिष्पन्नरूप तु ब्रह्मावगम्यते । परिनिष्पन्ने च वस्तुनि प्रमाणान्तराणामस्त्यवकाशो यथा, पृथिव्यादिषु । यथा च श्रुतीनां परस्परविरोधे सत्येकवशेनेतरा नीयन्ते, एव प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयते । दृष्टमाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य मनिर्कृप्यते । विप्रकृप्यते तु श्रुतिरैतद्ब्रह्मात्रेण स्वार्थाभिधानात् । अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानमविद्याया निवर्तक मोक्षमाधनं च दृष्टफलतयेष्यते ।

इस जगत् का ब्रह्म निमित्त कारण है, और प्रकृति (उपादान कारण) भी ब्रह्म ही है, इस पक्ष के स्मृति निमित्तक आक्षेप का परिह्वार (निवारण) किया गया । अब

इस समय तर्क निमित्तक (तर्कजन्य) आक्षेप का परिहार किया जाता है । यहाँ शंका होती है कि स्वतः प्रमाणरूप वेद से अवधारित (निश्चित) इस वेदार्थ में पुनः तर्क निमित्तक आक्षेप का अवकाश किससे हो सकता है कि जिसका परिहार किया जाता है । यदि कहा जाय कि तर्क भी वेदार्थ के निर्णय में सहायक माना गया है, अतः तर्क से आक्षेप भी हो सकता है, तथापि आशंका होती है कि शक्ति तात्पर्यादि के ज्ञान के लिए तर्क की अपेक्षा होने पर भी जैसे धर्म में वेद तर्कादि की अपेक्षा विना स्वतः प्रमाण है, वैसे ही ब्रह्म में भी अनपेक्ष प्रमाण होने योग्य है । इस शंका का पूर्वपक्षसाधक उत्तर है कि यह धर्म का अवष्टम्भ (दृष्टान्त) तब होता है कि जब यह ब्रह्म स्वरूप वेदार्थ भी प्रमाणान्तर से अग्राह्य वेदमात्र से प्रमेय और धर्म के समान अनुष्ठेय (साध्य) स्वरूप होता, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि परिनिष्पन्न (सिद्ध) स्वरूप ब्रह्म वेद से जाना जाता है, और सिद्ध वस्तु पृथिवी आदि के समान सिद्ध ब्रह्म में प्रमाणान्तर का भी अवकाश है । जैसे श्रुतियों का परस्पर विरोध होने पर एक प्रधान श्रुति के अनुसार दूसरी अप्रधान अर्थवादादि श्रुतियाँ प्राप्त की जाती हैं, निरवकाश श्रुति के अनुसार सावकाश श्रुतियों का अर्थ किया जाता है, वैसे ही प्रमाणान्तर से विरोध होने पर भी उस प्रमाणान्तरवश से उसके अनुसार ही श्रुति प्राप्त होगी । दृष्ट अनुभूत अर्थ की समता (दृष्टान्त) से अदृष्ट अर्थ का समर्थन (प्रतिपादन) करती हुई युक्ति अनुभव के निकटवर्ती है, उससे शीघ्र अनुभव होता है । ऐतिह्य (परम्पराश्रुत) मात्र से अपने अर्थ को परोक्षरूप से कहने से श्रुति अनुभव से दूर सिद्ध होती है । और अविद्या का नाशक मोक्ष का साधन ब्रह्म विज्ञान दृष्टफलता से अनुभव रूप अवसान (सीमा) वाला इष्ट माना जाता है, क्योंकि अनुभव के बिना परोक्ष ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति आदि नहीं हो सकती है ।

श्रुतिरपि 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधती तर्क-मप्यत्रादर्थव्यं दर्शयति । अतस्तर्कनिमित्तः पुनराधेयः क्रियते 'न विलक्षणत्वादस्य' इति । यदुक्तं—चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिः—इति । तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः । इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेय-माणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते । ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते । नच विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः नहि रुचकादयो विकारा मृत्प्रकृतिका भवन्ति शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतिकाः । मृदेव तु मृद-न्विता विकाराः क्रियन्ते सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः । तथेदमपि जगदचेतनं सुखदुःखमोहान्वितं सदचेतनस्यैव सुःखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति न विलक्षणस्य ब्रह्मणः । ब्रह्मविलक्षणत्वं चास्य जगतोऽशुद्ध-चेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम् । अशुद्धं हि जगत्सुखदुःखमोहात्मकतया प्रातिपरि-तापविषादादिहेतुत्वात्स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्वाच्च । अचेतनं चेदं जगत्,

चेतन प्रति कार्यकारणभावेनोपकरणभावोपगमात् । नहि साम्ये सत्युपकार्योप-
कारकभावो भवति नहि प्रदीपौ परस्परम्योपकुस्त ।

‘श्रोतव्यो मन्तव्य’ आत्मा श्रवण और मनन योग्य है । इस प्रकार की यह श्रुति भी श्रवण से मित्त रूप से मनन का विधान करती हुई तर्क को भी आदराहं दिखलाती है, क्योंकि मनन तर्क विशेषरूप ही है । इस प्रकार तर्क का प्रवेश होने से तर्क निमित्तक पुन आक्षेप किया जाता है कि (न विलक्षणत्वादस्य) इति । जो पहले कहा है कि चेतन ब्रह्म जगत् का प्रकृतिरूप कारण है, यह नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इस जगत् रूप विकार (कार्य) को ब्रह्मस्वरूप प्रकृति से विलक्षणत्व है । जिससे ब्रह्म के कार्यरूप अमिप्रेत स्वीकृत यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण अचेतन और अशुद्ध दीखता है । जगत् में विलक्षण ब्रह्म चेतन और शुद्ध सुना जाता है, और विलक्षणता के रहते प्रकृति विकारभाव नहीं देखा गया है । रूचकादि भूषणरूप विकार मृत्तिका प्रकृति वाले नहीं होते हैं, अथवा शरावादि सुवर्ण प्रकृति (उपादान) वाले नहीं होते हैं । मृत्तिकायुक्त विकार मृत्तिका से किये जाते हैं । सुवर्ण युक्त विकार सुवर्ण से किये जाते हैं । उसी प्रकार अचेतन सुखदुःख मोहयुक्त होता हुआ यह जगत् भी सुखदुःखमोहात्मक अचेतन ही कारण का कार्य होने योग्य है, और जगत् से विलक्षण ब्रह्म का कार्य होने योग्य जगत् नहीं है । इस जगत् की ब्रह्म से विलक्षणता को जगत् में अशुद्धि अचेतनत्व के दर्शन से समझना चाहिये । और प्रीति (सुख) परिताप (शोक) विषाद (भ्रम) और रागद्वेषादि के हेतु होने से तथा स्वर्गनरकादि रूप उन्वावच (अनेक प्रकार के) विस्तार रूप होने से, यह जगत् सुखदुःखमोहात्मक त्रिगुणात्मक है ब्रह्मात्मक नहीं है । सुखदुःखमोहात्मक (त्रिगुणस्वरूप) होने से यह जगत् अशुद्ध है और चेतन के प्रति कार्यकारण (शरीर इन्द्रिय) भाव से साधनभाव के उपगम (प्राप्ति) से यह जगत् अचेतन है, क्योंकि समता होने पर उपकार्य उपकारक भाव नहीं हो सकता है । यहाँ चेतन उपकार्य (भोगादि उपकार के योग्य) है, और शरीरादि अचेतन भोगादि में उपकारक हैं, यदि दोनों ब्रह्मस्वरूप हो तो यह व्यवस्था नहीं बन सकती है, क्योंकि दो प्रदीप परस्पर उपकार नहीं करते हैं ।

ननु चेतनमपि कार्यकारण स्वामिमृत्यन्यायेन भोक्तृत्वरूप्यति । न । स्वामिमृत्ययोरप्यचेतनाशस्यैव चेतन प्रत्युपकारकत्वात् । यो ह्येवम्य चेतनस्य परिग्रहो बुद्ध्यादिचेतनभाग स एवान्यस्य चेतनम्योपकरोति ननु स्वयमेव चेतनश्चेतनान्तरस्योपकरोत्यपकरोति वा । निरतिशया ह्यकर्तारश्चेतना इति साहचर्या मन्यन्ते । तस्मादचेतन कार्यकरणम् । न च काष्ठलोष्टादीनां चेतनत्वे किञ्चित्प्रमाणमस्ति । प्रसिद्धश्चायं चेतनाचेतनविभागो लोके । तस्माद्ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगत्तत्प्रकृतिरुम् ।

यदि कहा जाय कि चेतन भी शरीर और इन्द्रिय स्वामी और मृत्य की रीति से

मोक्ता के उपकार करेंगे, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि स्वामी और भृत्य में भी अचेतन शरीरादि अंश को ही चेतन के प्रति उपकारकत्व होता है। जिससे एक चेतन का जो बुद्धि आदि रूप अचेतन भागरूप परिग्रह (परिवार) रहता है, वही अन्य चेतन का उपकार करता है, स्वयं एक चेतन ही दूसरे चेतन का उपकार या अपकार नहीं करता है, क्योंकि सांख्यवादी मानते हैं कि अतिशय (उत्कर्षता) से रहित अकर्ता अनन्त चेतन हैं और उस उपकारकता से शरीर इन्द्रिय अचेतन हैं, काठ, लोष्ठ आदि की चेतनता में कोई प्रमाण नहीं है। एवं यह चेतन और अचेतन का विभाग लोक में प्रसिद्ध है। इससे ब्रह्म की विलक्षणता से सिद्ध होता है कि यह जगत् ब्रह्म प्रकृति वाला नहीं है।

योऽपि कश्चिदाचक्षीत श्रुत्या जगत्चेतनप्रकृतिकतां तद्वलेनैव समस्तं जगच्चेतनमवगमयिष्यामि, प्रकृतिरूपस्य विकारेऽन्वयदर्शनात्। अविभावनं तु चैतन्यस्य परिणामविशेषाद्भविष्यति। यथा स्पष्टचैतन्यानामप्यात्मनां स्वाप-मूर्च्छाद्यवस्थासु चैतन्यं न विभाव्यत एवं काष्ठलोष्टादीनामपि चैतन्यं न विभावयिष्यते। एतस्मादेव च विभावितत्वाविभावितत्वकृताद्विशेषाद्द्रुपादिभावाभावाभ्यां च कार्यकरणानामात्मनां च चेतनत्वाविशेषेऽपि गुणप्रधानभावो न विरोत्स्यते। यथा च पार्थिवत्वाविशेषेऽपि मांससूपीदनादीनां प्रत्यात्मवर्तिनो विशेषात्परस्परोपकारित्वं भवत्येवमिहापि भविष्यति। प्रविभागप्रसिद्धिरप्यत एव न विरोत्स्यत इति।

जो कोई कहे कि जगत् की चेतन प्रकृतिता को सुन कर उस वल से ही समस्त जगत् को चेतन समझूँगा, और सिद्ध करूँगा। क्योंकि प्रकृति के स्वरूप का विकार में सम्बन्ध देखा जाता है, और जगत् में चेतनता की अनभिष्यक्ति अप्रतीति तो परिणाम विशेष से हो सकती है। अर्थात् सर्वत्र चेतनता के तुल्य रहते हुए भी अन्तःकरण से अन्य में चेतनता की अप्रतीति परिणाम की विलक्षणता से होती है। जैसे कि स्पष्ट चेतनता वाले अत्माओं की भी चेतनता मुपुष्टि, मूर्च्छादि अवस्थाओं में नहीं प्रतीति होती है। इसी प्रकार काष्ठ लोष्ठ आदि की चेतनता भी नहीं प्रतीत होगी। चेतनता के इस व्यक्तत्व अव्यक्तत्व कृत विशेष (भेद) से, तथा रूपादि के भाव और अभाव से देहेन्द्रियों का और आत्माओं को चेतनत्व के तुल्य होने पर भी गुणप्रधान भाव विरुद्ध नहीं होगा। और मांस, सूप (दाल) और ओदन (भात) आदि में पार्थिवत्व (पृथिवी कार्यत्व) के तुल्य रहते हुए भी प्रत्येक के स्वरूपवर्ती विशेषों से परस्पर उपकारित्व होता है। इसी प्रकार यहाँ चेतनमय संसार में भी परस्पर उपकारित्व होगा। एवं इस चैतन्य की अभिव्यक्ति अनभिष्यक्ति से ही जड़ चेतन का प्रविभाग की प्रसिद्धि विरुद्ध नहीं होगी।

तेनापि कथंचिच्चेतनाचेतनत्वलक्षणं विलक्षणत्वं परिह्रियेत। शुद्ध्याशुद्धित्वलक्षणं तु विलक्षणत्वं नैव परिह्रियते। नचेतरदपि विलक्षणत्वं परिह्रितुं शक्यत

इत्याह—तथात्व च शब्दादिति । अनवगम्यमानमेव हीद लोके समस्तस्य वस्तुनश्चेतनत्व चेतनप्रकृतिकत्वश्रवणाच्छब्दशरणतया केवलयोत्प्रेक्ष्यते, तच्च शब्देनैव विरुध्येते । यतः शब्दादपि तथात्वमवगम्यते । तथात्वमिति प्रकृतिविलक्षणत्व कथयति । शब्द एव 'विज्ञान चाविज्ञान च' (तै० २।६) इति कस्यचिद्विभागस्याचेतनता श्रावयञ्चेतनाद्ब्रह्मणो विलक्षणमचेतन जगच्छ्रावयति ॥ ४ ॥

इस प्रकार कहने वाले से भी चेतनत्व अचेतनत्वरूप विलक्षणत्व किसी प्रकार परिहृत (निवारित) हो सकता है, परन्तु शुद्धित्व अशुद्धित्व रूप विलक्षणत्व तो उससे भी परिहृत नहीं होता है । वस्तुतः इतरत् (चेतनत्व अचेतनत्व) रूप विलक्षणत्व का भी परिहार नहीं किया जा सकता, इस आशय से कहते हैं कि (तथात्व च शब्दादिति) लोक में समस्त पदार्थ चेतन नहीं प्रतीत होते हैं, इससे यह समस्त वस्तु के चेतनत्व सर्वथा अनवगम्यमान (अज्ञात) हो है । वह भी श्रुति में चेतन प्रकृतिजन्यता के श्रवण से और केवल श्रुतिरूप शब्द की शरणता (आश्रयता) से जगत् में चेतनता की उत्प्रेक्षा (कल्पना) की जाती है, तो भी शब्द (श्रुति) के साथ ही विरोधी सिद्ध होती है, जिससे शब्द से तथात्व समझा जाता है, तथात्व इस शब्द से प्रकृति विलक्षणत्व को कहते हैं । एव (विज्ञान चाविज्ञान च) विज्ञान (चेतन) और अविज्ञान (जड) स्वरूप सत्य ब्रह्म हुआ यह शब्द (श्रुति) ही किसी विभाग की अचेतनता को सुनाता हुआ चेतन ब्रह्म से विलक्षण अचेतन जगत् का श्रवण करता है ।

ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते, यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श० प० ब्रा० ६।१।३।२।४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा ६।२।३, ४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुति, इन्द्रियविषयापि 'ते हेमे प्राणा अहर्ष्यसे विवदमाना ब्रह्म जग्मु' (वृ० ६।१।७) इति, 'ते ह वाचमूचुस्त्व न उद्गायेति' (वृ० १।३।२) इत्येवमाद्येन्द्रियविषयेति । अत उत्तर पठति—

उक्तार्थ में शका होती है कि यद्यपि अविज्ञान शब्द से ब्रह्मजन्य जगत् को ब्रह्म से विलक्षण अचेतन श्रुति कहती है, परन्तु वही श्रुति ही में अचेतनरूप से स्वीकृत भूत और इन्द्रियों को चेतनत्व भी सुना जाता है, जैसे कि (मृत्तिका बोली, जल बोला) (वह तेज देखा, जल देखा) इत्यादि रूप की भूत विषयक चेतनता बोधक श्रुतियाँ हैं । इन्द्रिय विषयक भी हैं कि (प्रसिद्ध ये प्राण-इन्द्रिय) सब अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए ब्रह्मा के पास में गये) (वे प्राणरूप देवों ने वाणी से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान-उद्गातृकर्म करो) इस प्रकार की इन्द्रिय विषयक श्रुति है, इससे उक्त चेतनाचेतन का विभाग गौण है, ऐसी शका उपस्थित हुई है इसमें अब साख्यवाद का उत्तर पढ़ते हैं कि—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

तुशब्द आशङ्कामपनुदति । न खलु मृदव्रीदित्येवंजातीयकया श्रुत्या भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वमाशङ्कनीयम्, यतोऽभिमानिव्यपदेश एषः । मृदाद्यभिमानिन्यो वागाद्याभिमानिन्यश्च चेतना देवता वदनसंवदनादिषु चेतनोचितेषु व्यवहारेषु व्यपदिश्यन्ते न भूतेन्द्रियमात्रम् । कस्मात् ? विशेषानुगतिभ्याम् । विशेषो हि भोक्तृणां भूतेन्द्रियाणां च चेतनाचेतनप्रविभागलक्षणः प्रागभिहितः । सर्वचेतनतायां चासौ नोपपद्येत । अपि च कौपीतकिनः प्राणसंवादे करणमात्राशङ्काविनिवृत्तयेऽधिष्ठातृचेतनपरिग्रहाय देःताशब्देन विधिपन्ति— 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' इति । 'ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (२।१४) इति च ।

सूत्रगत तुशब्द शंका का निवारण करता है कि (मृत्तिका बोली) इत्यादि श्रुतियों से भूत और इन्द्रियों के चेतनत्व की शंका नहीं करनी चाहिये, जिससे यह भूतेन्द्रिय के वस्तुतः चेतनरूप अभिमानी अधिष्ठातृ देवों का निर्देश (कथन) है । अर्थात् मृत्तिकादि के अभिमानी और वाक् आदि के अभिमानी देव सब, वदन (कथन) और संवदन (विवाद) आदि रूप चेतन के योग्य व्यवहारों में कर्तारूप से कहे जाते हैं, केवल जड़ भूतेन्द्रियमात्र नहीं कहे जाते हैं । क्योंकि विशेष ओर अनुगति से ऐसा ही सिद्ध होता है । जिससे भोक्ताओ और भूतेन्द्रियों का चेतन अचेतन का प्रविभाग स्वरूप विशेष (भेद) पहले कहा गया है, और सबकी चेतनता दशा में वह प्रविभागरूप विशेष नहीं सिद्ध हो सकेगा । दूसरी बात है कि कौपीतकी शाखा वाले प्राणों के संवाद के प्रकरण में करण (इन्द्रिय) मात्र की आशंका की निवृत्ति के लिये, और अधिष्ठाता चेतन देवों का परिग्रहण (ज्ञान) के लिए प्राणों को देवता विशेषणयुक्त पढ़ते हैं कि (ये प्राणादि देवता सब अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए ब्रह्मा के पास गये) । और (विवाद-युक्त ये सब देव प्राण मे निःश्रेयस श्रेष्ठता जानकर प्राण के अधीन हुए) ।

अनुगताश्च सर्वत्राभिमानिन्यश्चेतना देवता मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्योऽवगम्यन्ते । 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० आ० २।४।२।४) इत्येवमादिका च श्रुतिः करणेष्वनुग्राहिकां देवतामनुगतां दर्शयति । प्राणसंवादवाक्यशेषे च 'ते ह प्राणाः प्रजापति पितरमेत्योचुः' (छां० ५।१।७) इति श्रेष्ठत्वनिर्धारणाय प्रजापतिगमनं, तद्वचनाच्चैकैकोत्क्रमणेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणश्रेष्ठ्यप्रतिपत्तिः । 'तस्मै बलिहरणम्' (वृ० ६।१।१३) इति चैवंजातीयकोऽस्मदादिष्विव व्यवहारोऽनुगम्यमानोऽभिमानिव्यपदेशं द्रढयति 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यपि परस्या एव देवताया अधिष्ठात्र्याः स्वविकारेष्वनुगताया इयमीक्षा व्यपदिश्यत इति द्रष्टव्यम् । तस्माद्विलक्षणमेवेदं ब्रह्मणो जगत्, विलक्षणत्वाच्च न ब्रह्मप्रकृतिकमित्याक्षिप्ते प्रतिविधत्ते ॥ ५ ॥

इस विशेषण रूप विशेष से भी अभिमानी देव का उक्त श्रुतियो में कथन है । और मन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराणादि से सब में अनुगत (व्यापक) अभिमानी चेतन देव अवगत (प्रतीत) होते हैं, क्योंकि (अग्निदेव वाक् होकर मुख में प्रवेश किया) इस प्रकार की श्रुति कारणों में इन्द्रियो के अनुग्राहक देवता को अनुगत दिखलाती है । प्राण सवाद के वाक्य शेष में (वे प्राण प्रजापति रूप पिता के पास में जाकर बोले) इस प्रकार श्रेष्ठता का निर्धारण के लिए प्रजापति के पास जाना, और प्रजापति के वचन से एक-एक के उत्क्रमण के द्वारा अन्वय और व्यतिरेक से प्राण की श्रेष्ठता का निश्चय ज्ञान, और (उस प्राण के लिए बलिहरण उपहार भेंट ले जाना) इस प्रकार का जो हम लोग के समान व्यवहार प्रतीत होता है, वह अभिमानी के व्यपदेश को दृढ करता है और (वह तेज विचार किया) यह भी ईक्षणादि अपने विकारों में अनुगत अधिष्ठाता परदेव का ही कहा जाता है, ऐसा समझना चाहिये । इससे यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण ही है, और विलक्षण होने से ब्रह्मरूप प्रकृति वाला नहीं है ।

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

तुगब्द पक्ष व्यावर्तयति । यदुक्त विलक्षणत्वान्नेद जगद् ब्रह्मप्रकृतिकम्-इति । नायमेकान्तः । दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् । तन्वचेतनान्येव च पुरुषादिशरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्याणीति । उच्यते । एवमपि किञ्चिदचेतन चेतनस्यायतनभावमुपगच्छति किञ्चिन्नेत्यन्येव विलक्षणम् । महाश्चाय पारिणामिक स्वभावविप्रकर्षं पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादिभेदात् । तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च । अत्यन्तमाख्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत ।

१ इस उक्त रीति से ब्रह्म प्रकृतिता के आक्षिप्त (खण्डित) होने पर उसका प्रति-विधान (समाधान) करते हैं कि—तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति (निवारण) करता है कि जो यह कहा है कि विलक्षणता से यह जगत् ब्रह्मरूप प्रकृति वाला नहीं है । वहाँ कहा जाता है कि यह एकात्म (व्यापक नियम) नहीं है कि सदा ही में प्रकृति-विकृतिभाव होता है, जिससे लोक में चेतनरूप से प्रसिद्ध पुरुषादि से विलक्षण केश-नखादि की उत्पत्ति देखी जाती है और अचेतन रूप से प्रसिद्ध गोमय (गोबर) आदि से चेतन विच्छू आदि की उत्पत्ति देखी जाती है । यहाँ शका होती है कि अचेतन ही पुरुष आदि के शरीरादि अचेतन केश नखादि के कारण होते हैं, और अचेतन ही विच्छू आदि के शरीर अचेतन गोमयादि के कार्य होते हैं । वहाँ उत्तर कहा जाता है कि ऐसा होने पर भी कोई अचेतन चेतन के आयतनत्व रूप आयतनत्व को प्राप्त करता है, कोई चेतन के आयतन को नहीं प्राप्त करता है, इस प्रकार की विलक्षणता है ही ।

और स्वरूपादि के भेद से पुरुषादि को और केशनखादि को यह महान् परिणामकृत स्वभाव का विप्रकर्ष है (अर्थात् परिणामात्मक स्वभाव का भेद है) इसी प्रकार गोमयादि और वृश्चिकादि को भी परिणामात्मक स्वभाव की विलक्षणता दूरता है । क्योंकि अत्यंत सदृशता में तो प्रकृति विकारभाव ही नष्ट हो जायगा ।

अथोच्येत—अस्ति कश्चित्पार्थिवत्वादिस्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां वृश्चिकादिषु—इति । ब्रह्मणोऽपि तर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते । विलक्षणत्वेन च कारणेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं जगतो दूषयता किण्वशेषस्य ब्रह्मस्वभावस्याननुवर्तनं विलक्षणत्वमभिप्रेयत उत यस्य कस्यचिदथ चैतन्यस्येति वक्तव्यम् । प्रथमे विकल्पे समस्त-प्रकृतिविकारोच्छेदप्रसङ्गः । नह्यसत्यतिशये प्रकृतिविकार इति भवति । द्वितीये इत्युक्तम् । तृतीये तु दृष्टान्ताभावः, किं हि यच्चैतन्येनानन्वितं तदब्रह्मप्रकृतिकं दृष्टमिति ब्रह्मवादिनं प्रत्युदाह्रियेत, समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वाभ्युपगमात् । आगमविरोधस्तु प्रसिद्ध एव, चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यागमतात्पर्यस्य प्रसाधितत्वात् ।

यदि कोई कहे कि जैसे पुरुषादि शरीरों के कुछ पार्थिवत्वादि स्वभाव केशनखादि में अनुवर्तमान हैं, इसी प्रकार गोमयादि के कुछ स्वभाव पार्थिवत्वादि वृश्चिकादि में अनुगत होकर वर्तमान हैं, तो उनसे कहा जाता है कि ब्रह्म का सत्तारूप स्वभाव आकाशादि में अनुवर्तमान दीक्षता है और विलक्षणता रूप कारण से जगत् के ब्रह्म-प्रकृतित्व को दोषयुक्त कहने वाले को क्या सम्पूर्ण ब्रह्म के स्वभाव की अननुवृत्ति (अगमन-अप्राप्ति) रूप विलक्षणत्व अभिप्रेत (अभिप्राय का विषय) है, अथवा जिस किसी स्वभाव की अननुवृत्ति, अथवा चेतनता की अनुवृत्ति, यहां प्रथम पक्ष में ब्रह्म के सब स्वभावों की अनुवृत्ति के अभाव से यदि ब्रह्म के जगत्प्रकृतित्व को दोषयुक्त कहा जायगा तो समस्त प्रकृति विकार का उच्छेद अभाव की प्राप्ति होगी, अर्थात् ऐसे कार्य कारण कहीं मिलेंगे ही नहीं । क्योंकि अतिशय (कुछ भी विलक्षणता) के नहीं रहने पर यह प्रकृति है, यह विकार है, इस प्रकार के व्यवहारादि नहीं हो सकते हैं, और दूसरे विकल्प में असिद्धता है । क्योंकि सत्ता रूप ब्रह्म के स्वभाव की आकाशादि में अनुवृत्ति है, यह पहले कहा गया है और सत्ता की अनुवृत्ति दीखने पर ब्रह्म के किसी भी स्वभाव की अनुवृत्ति नहीं होने से जगत् ब्रह्म से विलक्षण है, यह सिद्ध नहीं हो सकता है । एवं ब्रह्म की चेतनता जगत् में नहीं है इससे जगत् ब्रह्म प्रकृतिक नहीं है, इस तृतीय कल्प में दृष्टान्त का अभाव है, क्योंकि वेदान्त में सब कार्य ही ब्रह्मप्रकृतिक हैं, इससे चैतन्य से अयुक्त कौन ऐसी वस्तु है कि जो ब्रह्मवादी के प्रति उदाहरण दिया जायगा कि अमुक वस्तु चैतन्य से अयुक्त होने से ब्रह्मप्रकृतिक नहीं है, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म-

प्रकृतिक नहीं है, जब समस्त वस्तु समूह ही ब्रह्मप्रकृतिक माना गया है, तो सब पक्ष है, दृष्टान्त भिन्न होना चाहिये वह असिद्ध है। माया अनादि है वह भी दृष्टान्त नहीं हो सकता है। प्रत्येक कल्प में आगम से विरोध तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि चैतन ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और प्रकृति है, इस आगम (शास्त्र) के तात्पर्य को पहले प्रतिपादन किया है।

यत्तूक्तं—परिनिष्पन्नत्वाद्ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयु—इति । तदपि मनोरथमात्रम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थं प्रत्यक्षस्य गोचर । लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् । आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत् । तथा च श्रुति—‘नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ’ (का० १।२।९) इति । ‘को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्’ ‘इय विसृष्टिर्यत् आवभूव’ (ऋ० स० १।३।०।६) इति चैते ऋचो सिद्धानामपीश्वराणां दुर्वोधिता जगत्कारणस्य दर्शयत । स्मृतिरपि भवति—‘अचिन्त्या खलु ये भावा न तास्तर्केण योजयेत्’ इति । अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते’ (गी० २।२५) इति च ।

जो यह कहा है कि सिद्ध वस्तु होने से ब्रह्म में प्रमाणान्तर भी प्रवृत्त हो सकेंगे, इससे प्रमाणान्तर की सम्भावना है, वह भी मनोरथमात्र है, क्योंकि रूपादि के अभाव से यह ब्रह्मात्मरूप अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है। लिङ्गादि के अभाव से अनुमानादि का विषय भी नहीं है, किन्तु धर्म के समान आगममात्र से सम्यक् जानने योग्य यह अर्थ है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (हे प्रेष्ठ ! यह ब्रह्मात्मविषयक मति-ज्ञान, केवल तर्क से प्राप्ति संपादन के योग्य या निवारण के योग्य नहीं है, किन्तु नास्तिक श्रुतियों से अन्य आचार्य से कथित यह मति सुन्दर अनुभव के लिए होती है) (यह विविध प्रकार की सृष्टि जिससे हुई है सर्वत्र व्याप्त है। उसको तत्त्वतः साक्षात् कौन जानता है, या कौन कहा है, या कौन उसका प्रवचन कर सकता है) यह दोनों ऋग्मन्त्र सिद्ध अणिमादि ऐश्वर्य वालों के लिए भी जगत् कारण की दुर्वोधिता को दिखलाने हैं और इस अर्थ को कहने वाली स्मृति भी है कि (जो पदार्थ निश्चित अचित्त हैं उन्हें तर्क से किसी के साथ योजना के लिए नहीं चलाने करे, किन्तु गुणशास्त्र से असंग्रह समझे) (यह आत्मा अव्यक्त-अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है) अर्थात् सब इन्द्रियों का अविषय होने में अव्यक्त है, और अव्यक्त होने से अचिन्त्य (अनुमान का अविषय) है और निरवयव होने से विकाररहित कहा जाता है।

न मे विदुः सुरगणा प्रभव न महर्षय ।

अहमादिहि देवानां महर्षीणां च सर्वश ॥ (गी० १०।२)

इति चैवजातीयका । यदपि—श्रवणव्यतिरेकेण मनन विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयति—इत्युक्तम् । नानेन मिवेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभ सम्भवति, श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाद्भूत्वेनाश्रीयते । स्वप्नान्तबुद्धान्त-

योरुभयोरितरेतरव्यभिचारादात्मनोऽनन्वागतत्वं, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना सम्पत्तेर्निष्प्रपञ्चसदात्मत्वं, प्रपञ्चस्य ब्रह्माप्रभवत्वात्कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इत्येवंजातीयकः । 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० २।१।११) इति च केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वं दर्शयिष्यति । योऽपि चेतनकारणश्रवण-वलेनेव समस्तस्य जगतश्चेतनतामुत्प्रेक्षेत तस्यापि 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इति चेतनाचेतनविभागश्रवणं विभावनाविभावनाभ्यां चैतन्यस्य शक्यत एव योजयितुम् परस्यैव त्वदमपि विभागश्रवणं न युज्यते । कथम् ? परमकारणस्य ह्यत्र समस्त-जगदात्मना समवस्थानं श्राव्यते 'विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्' इति । तत्र यथा चेतनस्याचेतनभावो नोपपद्यते विलक्षणत्वात्, एवमचेतनस्यापि चेतनभावो नोपपद्यते । प्रत्युक्तत्वात् विलक्षणत्वस्य यथाश्रुत्येव चेतनं कारणं ग्रहीतव्यं भवति ॥ ६ ॥

(मेरे जन्म या प्रभाव को देवगण या महर्षि लोग नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं देव और महर्षियों का सर्वथा कारण हूँ) इस प्रकार की अन्य भी स्मृतियाँ हैं । और जो यह कहा था कि श्रवण से भिन्न मनन का विधान करता हुआ शब्द ही तर्क को भी आदर योग्य दिखलाता है, वहाँ कहा जाता है कि इस मनन विधि के मीप (व्याज) से श्रुति की अपेक्षा रहित शुष्क तर्क का यहाँ आत्मलाम्ब (स्वरूप सिद्धि) नहीं हो सकता है । श्रुति से अनुगृहीत श्रुति के अनुकूल ही तर्क का यहाँ अनुभव के अङ्गरूप से आश्रयण किया जाता है कि स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं को परस्पर व्यभिचार (सह वृत्तित्व के अभाव) होने से सब अवस्था में व्यभिचारी आत्मा को उन अवस्थाओं से अनन्वागतत्व (असङ्गत्व) है और सुषुप्ति में सब प्रपञ्च के त्याग से सत्स्वरूपता की प्राप्ति होती है, इसी से उस काल में निष्प्रपञ्च सदात्मता (सत्स्वरूपता) की सिद्धि होती है । प्रपञ्च के ब्रह्मजन्य होने से तथा कार्यकारण की अनन्यता (अभेद) रूप न्याय से प्रपञ्च को ब्रह्म से अभेद है, इस प्रकार के तर्कों का आश्रयण किया जाता है । केवल तर्क को (तर्काप्रतिष्ठानात्) इससे विप्रलम्भकत्व (भ्रामकत्व) दिखलायेंगे और जो कोई चेतन कारण के श्रवणरूप बल से ही जगत् की चेतनता की उत्प्रेक्षा कल्पना करते हैं, उनके मत में भी चेतनता की अभिव्यक्ति अनभिव्यक्ति से (विज्ञानं चाविज्ञानं च) यह चेतन और अचेतन का विभाग श्रवण की योजना की जा सकती है । परन्तु यह विभाग श्रवण पर भी (अन्य) सांख्यवादी के ही मत में युक्त नहीं होता है, क्योंकि (सत्य ब्रह्म ही विज्ञान और अविज्ञान स्वरूप हुआ) इस प्रकार परम कारण को ही समस्त जगत् रूप से स्थिति सुनाई जाती है, वहाँ विलक्षणता से जैसे चेतन को अचेतनत्व नहीं सिद्ध हो सकता, इसी प्रकार अचेतन प्रधान को चेतनत्व भी नहीं सिद्ध हो सकता है । व्यभिचारादि से विलक्षणत्व हेतु के प्रत्याख्यात होने से श्रुति के अनुसार ही चेतन कारण ग्रहण योग्य है ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

यदि चेतन शुद्ध शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमत्तश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत, अनिष्ट चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत् ? नैष दोषः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । प्रतिषेधमात्र हीन भास्य प्रतिषेधस्य प्रतिषेध्यमस्ति, नह्यय प्रतिषेधः प्रागुत्पत्ते सत्त्व कार्यस्य प्रतिषेद्धं शक्नोति । कथम् ? यथैव हीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सदेव प्रागुत्पत्तेरपीति गम्यते । नहीदानीमपीदं कार्यं कारणात्मानमन्तरेण स्वतन्त्रमेवास्ति, 'सर्वं त परादाद्योज्यत्वात्मन सर्वं वेद' (वृ० २।४।५) इत्यादिश्रवणात् । कारणात्मना तु सत्त्व कार्यस्य प्रागुत्पत्तेरविशिष्टम् । ननु शब्दादिहीनं ब्रह्म जगत कारणम् । वाढम् । ननु शब्दादिमत्कार्यं कारणात्मना हीनं प्रागुत्पत्तेरिदानीं वास्ति, तेन न शक्यते वक्तुं प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यमिति । विस्तरेण चैतत्कार्यकारणानन्यत्ववादे वक्ष्याम ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त अर्थ में शका होती है कि यदि शब्दादिरहित और शुद्ध चेतन ब्रह्म को उससे विपरीत शब्दादि वाला अचेतन अशुद्ध कार्य का कारण इष्ट माना जायगा, तो उत्पत्ति से पूर्वकाल में कार्य असत् प्राप्त होगा, उत्पत्ति से प्रथम कार्य की सत्ता नहीं सिद्ध होगी, और सत् कार्यवादी तबरे लिए अनिष्ट है । इस शका का उत्तर है कि यह पूर्वकाल में कार्य की अमत्ता की प्राप्ति दोष नहीं है, क्योंकि यह कथन सत् का प्रतिषेध मात्र है, और जिस लिए यह सत् का प्रतिषेध मात्र है, इसीलिए इस प्रतिषेध का प्रतिषेध योग्य विषय नहीं है, अर्थात् सत् उसी को कहते हैं कि जिसका कमी निषेध नहीं हो और जब कार्य सृष्टिकाल में सत् मान लिया, उसकी सत्ता अनुभूत हो चुकी, तो उसका अभाव कमी नहीं हो सकता है, उत्पत्ति से पूर्वकाल में भी उसकी सत्ता रहनी है । भगवान् कहते हैं कि (असत् का कमी भाव नहीं होता है, और सत् का कभी अभाव नहीं होता है) इस प्रकार इस सत् प्रतिषेध का विषय के नहीं होने से यह प्रतिषेध उत्पत्ति से पूर्वकाल में भी कार्य के सत्त्व का प्रतिषेध नहीं कर सकता है, क्योंकि जैसे ही यह कार्य स्वरूप से असत् वाचारम्भण नाभिधेयमात्र होते हुए भी कारण स्वरूप से सत् है वैसे ही उत्पत्ति से पूर्व काल में भी कारण स्वरूप से सत् रहता है, ऐसी प्रतीति रूप अनुमान होता है । यह कार्य रूप जगत् इस वर्तमान काल में कारणरूपता के बिना स्वतन्त्र सत् नहीं है, (उसका सत् परामय करता है कि जो आत्मा से अय सत्को जानता है) इत्यादि से कारण स्वरूपता के बिना स्वतन्त्र कार्य का अभाव सिद्ध होता है । और कारणरूप से कार्य की सत्ता तो वर्तमान के अविशिष्ट (तुल्य) ही उत्पत्ति से प्रथम भी रहती है, अर्थात् वर्तमान काल में पार्थिव पदार्थ घटपदादि की सत्ता पृथिवी स्वरूप है, पृथिवी की सत्ता स्वकारण जल स्वरूप है, जल की सत्ता स्वकारण तेज स्वरूप है, तेज की सत्ता

स्वकारण वायु स्वरूप है, वायु की सत्ता स्वकारण आकाश स्वरूप है, आकाश की सत्ता बीजशक्ति रूप माया विशिष्ट सत् शब्द का मुख्यार्थ ईश्वर परब्रह्म स्वरूप है, इस प्रकार परम मूलकारण की ही सत्ता साक्षात् परम्परा से सत्र में वर्तमान है। शंका होती है कि उक्त रीति से मूल कारणरूप ब्रह्म शब्दादि से रहित है, और शब्दादियुक्त जगत् का कारण है, इससे उत्पत्तियुक्त जगत् की असत्ता ही सिद्ध होती है। उत्तर है कि शब्दादिरहित ब्रह्म जगत् का कारण यह कहना सत्य है, परन्तु शब्दादियुक्त कार्यरूप यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व या वर्तमान काल में कभी भी उस ब्रह्मस्वरूप कारणरूपता से रहित नहीं रहता है, जिससे उत्पत्ति से पहले कार्य असत् रहता है, यह नहीं कह सकते हैं। और कार्य कारण के अनन्यत्व (अभेद) वाद में इस तत्त्व को विस्तार से कहेंगे ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

अत्राह—यदि स्थौल्यसावयवत्वाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्ध्यादिधर्मकं कार्य ब्रह्मकारणमभ्युपगम्येत तदपीतौ प्रलये प्रतिसंसृज्यमानं कार्यं कारणाविभागमापद्यमानं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यस्येवाशुद्ध्यादिरूपप्रसङ्गात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगत्कारणमित्यसमञ्जसमिदमौपनिषदं दर्शनम्। अपि च समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद्भोक्तृभोग्यादिविभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। अपि च भोक्तृणां परेण ब्रह्मणाऽविभागं गतानां कर्मादिनिमित्तप्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेव ब्रह्मणावतिष्ठेत्, एवमप्यपीतिश्च न सम्भवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न सम्भवतीत्यसमञ्जसमेवेति ॥ ८ ॥

यहाँ कोई पूर्वपक्षी कहता है कि यदि स्थूलता सावयवता, अचेतनता, परिच्छिन्नता, अशुद्धि आदि धर्म वाला कार्य को ब्रह्मरूप कारण (उपादान) वाला माना जायगा, तो प्रलयकाल में उस कार्य को अपीति (कारण में विलय) होने पर, कारण में प्रति संसृज्यमान (मिला हुआ) कारण के साथ अविभाग (अभेद) को प्राप्त वह कार्य अपने धर्मों से कारण को भी दूषित करेगा, इस प्रकार प्रलयकाल में कारण रूप ब्रह्म का भी कार्य के समान अशुद्धि आदि की प्राप्ति से सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है, इस प्रकार का यह औपनिषद (उपनिषद से ज्ञेय) दर्शन (ज्ञान सिद्धान्त) असमञ्जस (अनुचित-अयुक्त) है। और दूसरी बात यह है कि समस्त विभाग (कार्य) को प्रलय में एक ब्रह्म के साथ अविभाग (अभेद) की प्राप्ति से फिर उत्पत्ति करने में नियम कारण के अभाव से भोक्ता भोग्यादि के विभाग पूर्वक उत्पत्ति नहीं प्राप्त होती है, इस प्रकार भी असमञ्जस है और प्रलय में परब्रह्म के साथ अविभाग (एकता) को प्राप्त

भोक्ताओं की कर्मादि निमित्त कारण के प्रलय होने पर भी फिर उत्पत्ति मानने पर भुक्तों की भी फिर उत्पत्ति की प्राप्ति से असमञ्जस है। एवं यदि प्रलयकाल में भी यह जगत् परब्रह्म से विभक्त (भिन्न) स्थिर वर्तमान रहे, तो इस प्रकार मानने पर भी प्रलय का सम्भव नहीं होता है, और कारण से अमित कार्य का सम्भव नहीं होता है इस प्रकार असमञ्जस ही है ॥ ८ ॥

अत्रोच्यते—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

नवास्मदीये दर्शने किञ्चिदसामञ्जस्यमस्ति । यत्तावदभिहित—कारणमपि-
गच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन धर्मेण दूषयेत्—इति, तददूषणम् । कस्मात् ?
दृष्टान्तभावात् । नन्ति हि दृष्टान्ता यथा कारणमपिगच्छत्कार्यं कारणमात्मीयेन
धर्मेण न दूषयति । तद्यथा शरावादयो मृत्प्रकृतिका विकारा विभागावस्थाया-
मुच्चावचमध्यमप्रमेदा पुनः प्रकृतिमपिगच्छन्तो न तामात्मीयेन धर्मेण ससृ-
जन्ति । रुचकादयश्च सुवर्णविकारा अपीतो न सुवर्णमात्मीयेन धर्मेण ससृजति ।
त्वत्पक्षस्य तु न कश्चिद्दृष्टान्तोऽस्ति । अपीतिरेव हि न सम्भवेद्यदि कारणे
कार्यं स्वधर्मेणैवावतिष्ठेत् । अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्व
नतु कारणस्य कार्यात्मत्वम् 'आरम्भणशब्दादिभ्यः' इति वक्ष्याम (ब्र० सू०
२।१।१।४) । अत्यल्प चेदमुच्यते—कार्यमपीतावात्मीयेन धर्मेण कारण
ममृजेत्—इति । स्थितावपि समानोऽयं प्रसङ्गः, कार्यकारणयोरनन्यत्वाभ्युप-
गमात् । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (ब्र० २।४।६), 'आत्मेवेदं सर्वम्' (छा० ७।
२५।२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।११), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'
(छा० ३।१।४।१) इत्येवमाद्याभिहि श्रुतिभिरविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य
कारणानन्यत्वं श्राव्यते । तत्र यः परिहारः—कार्यस्य तद्वर्माणां चाविद्याध्या-
रोपितत्वान्न तैः कारणं ममृज्यत—इति, अपीतावपि न समानः ।

इस शका के होने पर यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—हमारे दर्शन में कुछ भी असमञ्जस नहीं है। पहले जो यह कहा है कि कारण में अपिगच्छत् (लीन होना हुआ) कार्य कारण को भी अपने धर्म से दूषित करेगा वह दूषण नहीं है, क्योंकि अदूषकता में दृष्टान्त की सत्ता है। जिससे दृष्टान्त है कि कारण में लीन होना हुआ भी कार्य जिस प्रकार अपने धर्म से कारण को दूषित नहीं करता है। वे दृष्टान्त इस प्रकार के हैं कि जैसे शरावादि मृत्तिका के कार्य रूप विकार विभागावस्थारूप स्थिति काल में छोटे मध्यम अनेक वाले होते हुए भी फिर अपने कारण में लीन होते हुए उस कारण को अपने धर्म से समृष्ट भुक्त नहीं करते हैं। इसी प्रकार रुचकादि सुवर्ण के विकार भी लीन होने पर अपने धर्म विनिष्टरूप से सुवर्ण की समृष्टि उत्पत्ति नहीं करते हैं। एवं पृथिवी के विकार रूप चार प्रकार के मूल (प्राणी) समूह की समृष्टि नहीं करती

है । लय होने पर भी कार्य कारण को विकृत करता है, इस तुम्हारे पक्ष का कोई दृष्टान्त नहीं । यदि कार्य अपने धर्म सहित कारण में अवस्थित वर्तमान रहेगा तब तो प्रलय का ही असम्भव होगा । यद्यपि कार्य कारण को अनन्यत्व (अभेद) है इससे एक स्वरूपता है, तथापि कार्य को कारण स्वरूपत्व है, और कारण को कार्य स्वरूपत्व नहीं है, इससे सत्कार्यवाद में कार्य का दोष कारण में नहीं प्राप्त होता है, इस अर्थ को (आरम्भण) इत्यादि सूत्र में कहेंगे । और यह अत्यन्त अल्प दूषण कहा जा रहा है कि प्रलय में कार्य अपने धर्म से कारण को संसृष्ट करेगा, क्योंकि स्थिति काल में भी कार्य कारण की अनन्यता के स्वीकार से यह दोष का प्रसंग (सम्बन्ध) तुल्य है । और (जो कुछ यह दृश्य जगत् है वह सब आत्मा ही है, आत्मा ही सब जगत् स्वरूप है, अमृत स्वरूप ब्रह्मा ही पूर्व है, यह सब अवश्य ब्रह्म स्वरूप है) इस प्रकार के अर्थ वाली श्रुतियों से सामान्य रूप से तीनों काल में कार्य के कारण से अनन्यत्व (अभेद) का श्रवण कराया जाता है । वहाँ दोष का जो परिहार (निवारणोपाय) है कि कार्य और धर्मों को अविद्या माया से अध्यारोपित (अध्यस्त मिथ्या) होने से उनसे कारण संसृष्ट नहीं होता है, वही परिहार प्रलय में भी तुल्य है ।

अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि ससारमायया न संस्पृश्यत इति । यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यते प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्, एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते । मायामात्रं ह्येतद्यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति । अत्रोक्तं वेदान्तार्थसंप्रदायविद्भिर्निराचार्यैः—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।

अजमर्निद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥ (गौडपा० कारि० १।१६) इति । तत्र यदुक्तम्—अपीतौ कारणस्यापि कार्यस्येव स्थौल्यादिदोषप्रसङ्ग—इति, एतदयुक्तम् । यत्पुनरेतदुक्तं—समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनर्विभागेनोत्पत्तौ नियमकारणं नोपपद्यत—इति । अयमप्यदोषः, दृष्टान्तभावादेव । यथा—हि सुषुप्तिसमाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभागप्राप्तौ मिथ्याज्ञानस्यानपोदितत्वात्पूर्ववत्पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येवमिहापि भविष्यति । श्रुतिश्चात्र भवति—‘इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति’ (छां० ६।१।२, ३) इति । यथा ह्यविभागेऽपि परमात्मनि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धो विभागव्यवहारः स्वप्नवदव्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि मिथ्याज्ञानप्रतिबद्धैव विभागशक्तिरनुमास्यते । एतेन मुक्ताङ्गां पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदित-

त्वात् । य पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षित—अथेद भगदपोतावपि विमक्त-
मेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेन—इति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिपिद्धि तस्मात्समञ्ज-
समिदमौपनिषद दर्शनम् ॥ ९ ॥

यह दूसरा दृष्टान्त भी है कि अवस्तु (मिथ्या) होने से, स्वयं प्रसारित (फैलाई)
माया से मायावी सस्पृष्ट (लिप्त) नहीं होता है, तीनों काल में उससे असंग रहता
है, इसी प्रकार परमात्मा भी ससाररूप माया से तीनों काल में सस्पृष्ट नहीं होता
है । जैसे एक स्वप्नद्रष्टा स्वप्नदर्शनरूप माया से सस्पृष्ट नहीं होता है, क्योंकि
जाग्रत और सुषुप्ति में उस स्वप्न दर्शन से अनन्वागत (असंग) रहता है, इसी प्रकार
तीनों अवस्था के अव्यभिचारी (व्यापक) एक माक्षी व्यभिचारी (परिच्छिन्न) तीन
अवस्थाओं से सस्पृष्ट नहीं होता है । और जैसे रज्जु की सर्पादिरूप से प्रतीति होती
है, वैसे ही जो यह परमात्मा की अवस्थात्रय (तीन अवस्था) रूप से प्रतीति है वह
माया मात्र (मिथ्या) है । यहाँ वेदान्तार्थ के सम्प्रदाय को जानने वाले आचार्य ने
कहा है कि—

(अनादि माया मोह से सोया हुआ जोव जब जागता है मोह को नष्ट करता है,
सब जन्म निद्रा स्वप्न और द्वैतरहित स्वरूप को समझता है) इस उक्त रीति से पर-
मात्मा में अवस्थाओं के असम्बन्ध होते हुए भी जो पहले कहा है कि प्रलय में कार्य के
समान कारण को भी स्थूलता आदि दोष की प्राप्ति होगी, वह कथन अयुक्त है । और
फिर जो यह कहा है कि प्रलयकाल में समस्त विभाग के अविभाग की प्राप्ति से फिर
विभाग पूर्वक उत्पत्ति में नियम का कारण नहीं मिट्ट होता है । यहाँ कहा जाता है
कि दृष्टान्त के रहने से ही यह भी दोष नहीं है, क्योंकि जैसे सुषुप्ति समाधि आदि
अवस्थाओं में स्वाभाविक अविभाग की प्राप्ति होने पर भी मिथ्या ज्ञान अज्ञान की
निवृत्ति नहीं होने के कारण जागने पर फिर पूर्व के समान प्रविभाग होता है, इसी
प्रकार यहाँ भी सृष्टिकाल में प्रविभाग होगा । सुषुप्ति में एक होने पर भी अज्ञान के
रहने से प्रविभाग होता है इस अर्थ में श्रुति प्रमाण है कि (ये सब प्रजा सुषुप्ति काल में
सर्व ब्रह्म में सम्प्राप्त होकर भी, यह नहीं जानती है कि सत् में प्राप्त हूँ) इस कारण से
वे जीव यहाँ सुषुप्ति से पहले जो बाघ, सिंह, वृक, वराह, कौट, पतंग, वंश, मनुक, जो
जो रहते हैं, सुषुप्ति से जागने पर फिर तत्तद्रूप ही विभक्त होते हैं । जैसे सुषुप्ति में सब
कार्यों का परमात्मा में अविभाग होने पर भी अज्ञान मिथ्याज्ञान से प्रतिबद्ध (सिद्ध सम्मि-
लित) विभाग का व्यवहार स्वप्न के समान अव्याहृत (अविनष्ट) स्थित दीप्तता है, इसी
प्रकार प्रलय में भी मिथ्या ज्ञान सहित ही विभाग शक्ति अनुमित होगी, अर्थात्—अनुमान से
समझी जायगी । और उक्त अज्ञान के अभाव से मुक्तों के फिर उत्पत्तिका प्रसंग खण्डित
हो जाता है, क्योंकि सम्यक् आत्मज्ञान से मिथ्याज्ञान समूल नष्ट हो जाता है । तथा
अन्त में जो फिर यह अन्य विकल्प (पक्ष) उत्प्रेक्षित (कल्पित सिद्ध) किया गया है कि

यदि यह जगत् प्रलय में भी परब्रह्म से विभक्त ही अवस्थित रहेगा इत्यादि । तो वह अस्वीकार से ही प्रतिषिद्ध है । इससे यह औपनिषद् दर्शन समञ्जस (युक्त) उचित है ।

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणा दोषाः प्रादुःष्युः । कथमित्युच्यते ? यत्तावदभिहितं-विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मप्रकृतिकम्-इति, प्रधानप्रकृतिकतायामपि समानमेतत्, शब्दादिहीनाप्रधानाच्छब्दादिमतो जगत् उत्पत्त्यभ्युपगमात् । अत एव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यवादप्रसङ्गः । तथाऽपीतौ कार्यस्य कारणविभागाभ्युपगमात्तद्वत्प्रसङ्गोऽपि समानः । तथा मृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक्प्रलयात्प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते कारणाभावात् । विनैव च कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभावसाम्यान्मुक्तानामपि पुनर्वन्धप्रसङ्गः । अथ केचिद्भेदा अपीतावविभागमापद्यन्ते केचिन्नेति चेत्, ये नापद्यन्ते तेषां प्रधानकार्यत्वं न प्राप्नोतीत्येवमेते दोषाः साधारणत्वान्नान्यतरस्मिन्पक्षे चोदयितव्या भवन्तीत्यदोषतामेवैषां द्रढयति, अवश्याश्रयितव्यत्वात् ॥ १० ॥

वेदान्त के समन्वय में सांख्यवादी से पूर्व वर्णित ये दोष प्रतिवादी के अपने पक्ष में साधारण (तुल्य) अभिव्यक्त होंगे । कैसे होंगे वह कहा जाता है कि जो पहले प्रतिवादी ने कहा है कि विलक्षण होने से यह जगत् ब्रह्मात्मक प्रकृति वाला नहीं है, जगत् की प्रधानात्मक प्रकृति जन्यता में भी यह विलक्षणत्व तुल्य है, क्योंकि शब्दादि रहित प्रधान से शब्दादि वाला जगत् की उत्पत्ति को प्रतिवादी ने स्वीकार किया है । और इस विलक्षण कार्य की उत्पत्ति के स्वीकार से ही उत्पत्ति से पहले असत्कार्यवाद की प्राप्ति भी तुल्य ही है । तथा प्रलय में कार्य का कारण से अविभाग मानने से कार्य के समान प्रधान को रूपादिमत्ता रूप तद्वत्प्रसङ्ग दोष भी तुल्य ही है । इसी प्रकार प्रलय में विनष्ट सब विशेष वाले विकारों के अविभागता (प्रधान में एकता) प्राप्त होने पर यह कर्मादि इस पुरुष का उपादान (उपादेय भोग्य) है, यह अमुक का भोग्य है इस प्रकार जो प्रलय से पहले नियमित भेद रहते हैं, प्रत्येक पुरुष के भोग साधनादि विभक्त रहते हैं, प्रलय के बाद फिर उत्पत्ति में वैसे ही नियम के कारण के अभाव से वैसे ही नियम युक्त भेद नहीं किये जा सकते हैं । एवं यदि कारण के बिना ही भोग भोग्यादि का नियम माना जाय तो कारणभाव की तुल्यता से मुक्तों को भी फिर बन्ध का प्रसङ्ग होगा । यदि बन्ध मोक्ष की व्यवस्था के लिए मानो कि प्रलय में भी मुक्तों के संघातादि रूप कोई विशेष प्रधान में अविभाग पाते हैं (लीन होते हैं) और कोई विशेष (बद्ध जीवों के संघात) नहीं लीन होते हैं, तो जो भेद प्रलय में भी प्रधान के साथ अभिन्न नहीं होते हैं उन्हें पुरुष के समान प्रधान का कार्यत्व भी नहीं प्राप्त होता है । इस प्रकार

इन दोषों के साधारण होने से किसी एक पक्ष में शका के योग्य नहीं हैं, इससे इनकी अदोषता को सूत्रकार दृढ करते हैं, क्योंकि वे अवश्य आश्रयणीय मन्तव्य हैं।

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥

तर्काप्रतिष्ठानात् अपि-अन्यथा-अनुमेयम्-इति-चेत्-एवम् अपि-अविमोक्षप्रसङ्गः । इस प्रकार इस सूत्र में नव पद हैं । सक्षिप्तार्थ है कि (केवलस्य तर्कस्याऽप्रतिष्ठितत्वादपि तेन समन्वयो नाऽऽशङ्कितव्यो भवति, यदि अन्यथा अन्यप्रकारेण समन्वये दोषादिक किञ्चिदनुमेय मन्वसे तर्ह्येवमपि नाप्रतिष्ठादोषाद्विमुक्ति सिद्धयतीति) श्रुति सद्भिचारादिरहित तर्क के नि सीमस्थितिरहित होने से उस तर्क द्वारा समन्वय शका के योग्य नहीं है । यदि तर्क से नहीं किसी अन्य प्रकार से किसी ऋषि मुनि के वचनादि से समन्वय में किसी दोषादि को अनुमेय मानते हो तो भी अप्रतिष्ठा दोष से छुटकारा नहीं है । ऋषि आदि के वचनादि भी प्रतिष्ठा रहित हैं, महामारत में लिखा है कि (नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्) इससे प्रतिष्ठा रहित मुनिवचनादि से ससारबन्धन से भी अविमोक्ष की प्राप्ति होती है, जिससे मुमुक्षु को श्रुति सद्भिचार सत्सङ्गादि का शरण लेना चाहिए ।

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्, यस्मान्निरागमा पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात् । तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते । तेरूपोत्प्रेक्षिता सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्व तर्कणा शक्यमाश्रयितुं, पुरुषमस्तिवेष्यात् । अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा समतस्तर्क प्रतिष्ठित इत्याश्रयेत्, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव । प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणा कपिलकणभुक्प्रभृतोना परस्पर-विप्रतिपत्तिदर्शनात् । अथोच्येत अन्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति, नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्, एतदपि हि तर्कणामप्रतिष्ठितत्व तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते । केवाचित्कर्तृणामप्रतिष्ठितत्वदर्शिनानान्येषामपि तज्जानीयकाना तर्कणामप्रतिष्ठितत्वप्रकल्पनात् । सर्वतर्काप्रतिष्ठाया च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । अतीतवर्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय प्रवर्तमानो लोको दृश्यते । श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारण तर्केणैव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेण क्रियते ।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आगममात्र से ज्ञेय अर्थ में केवल तर्क से प्रत्यवस्थान (प्रतिपक्ष-विरोध) नहीं करना चाहिये कि जिससे आगमरहित पुरुष की उत्प्रेक्षा (उत्कृष्ट दृष्टि-कल्पनाशक्ति) मात्र निमित्तक तर्क अप्रतिष्ठित (स्थिति रहित) होते हैं । क्योंकि उत्प्रेक्षा को निरङ्कुश स्वतन्त्रता है । जैसे कि सावधान किसी तात्त्विक विद्वान् से यत्नपूर्वक उत्प्रेक्षित (कल्पित) तर्क उससे कुशल विद्वान् द्वारा आभास (असत्) ठहराया गया देखा जाता है, इसी प्रकार उन कुशलो से कल्पित तर्क उनसे

भी कुशल विद्वान् द्वारा आभास किया जाता है, इससे तर्क की स्थिति का आश्रयण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि तर्क का हेतु पुरुष की बुद्धि में विविधरूपता होती है। यदि किसी प्रसिद्ध महिमा वाले कपिल वा अन्य किसी के समस्त तर्क को प्रतिष्ठित माना जाय, तो ऐसा मानने पर भी तर्क की स्थिरता नहीं है। क्योंकि प्रसिद्ध महिमा वाले माने गये शास्त्रकर्ता कपिल कणाद आदि का परस्पर विरोध देखा जाता है। यदि कोई कहे कि हम अन्य प्रकार से अनुमान करेंगे जिससे अप्रतिष्ठा दोष नहीं प्राप्त होगा। प्रतिष्ठित तर्क ही नहीं है, यह तो कह नहीं सकते हैं, क्योंकि यह तर्क के अप्रतिष्ठितत्व भी तर्क से ही स्थिर सिद्ध किया जाता है, और कितने तर्कों को अप्रतिष्ठितत्व युक्त देखने से उनके सजातीयता युक्त अन्य तर्कों में भी अप्रतिष्ठितत्व की कल्पना होती है। परन्तु सब तर्क की अप्रतिष्ठा होने पर तो लोक के सब व्यवहारों का उच्छेद (नाश) प्राप्त होगा। क्योंकि भूत और वर्तमान अध्व (काल वा मार्ग) की समता से भावी काल और मार्ग में सुखदुःख की प्राप्ति और निवारण के लिये प्रवृत्त लोग देखे जाते हैं। अर्थात् भूत वर्तमान विषय व्यवहार के समान अनुमान से भावी विषय व्यवहार को समझ कर उसमें प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, तर्क के सर्वथा अप्रतिष्ठित होने पर यह व्यवहार नहीं होगा। और श्रुतियां के अर्थ में विरोध होने पर अर्थाभाव (मिथ्या अर्थ) का निराकरण पूर्वक सत्यार्थ का निर्धारण निश्चय वाक्य की वृत्ति (शक्ति तात्पर्य) का निरूपण रूप पूर्वोत्तर मोमांसात्मक तर्क से ही किया जाता है।

मनुरपि चैवं मन्यते—

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ इति ।

आषं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्क्रेणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ (१२।१०५, १०६)

इति च ब्रुवन् । अयमेव तर्कस्यालङ्कारो यदप्रतिष्ठितत्वं नाम । एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति । नहि पूर्वज्ञो मूढ आसीदित्यात्मनि मूढेन भवितव्यमिति किञ्चिदस्ति प्रमाणम् । तस्मान्न तर्कप्रतिष्ठानं दोष इति चेत् ? एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः । यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषादविमोक्षस्तर्कस्य । नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम ।

मनु भी कुछ तर्क प्रतिष्ठित है ऐसा ही मानते हैं, क्योंकि कहते हैं कि—

धर्म की शुद्धि (अधर्म से विवेक पूर्वक ज्ञान) चाहने वाले को प्रत्यक्ष अनुमान और

विविध प्रकार के धर्मशास्त्रादि रूप आगमात्मक शास्त्र ये तीनों सुविदित ज्ञात करना चाहिये । आपं ऋषि दृष्ट वेद और धर्म का उपदेश रूप धर्मशास्त्र को जो तदनुकूल तर्क द्वारा विचारता है वही शुद्ध धर्म को जानता है, अन्य नहीं ।

ऐसा कहते हुए मनु तर्क को स्वीकार करते हैं और तर्क को जो अप्रतिष्ठितत्व है वही सत्तर्क के लिये अलंकार (भूषण) है । पूर्वोक्त पक्ष से तर्क शोभा पाता है, और तर्क के अप्रतिष्ठित होने ही से दोषयुक्त तर्कों का परित्याग करके निर्दोष तर्क प्राप्त करने योग्य होता है । पूर्वज मूढ़ थे इससे अपने भी मूढ़ होना चाहिये इसमें कोई प्रमाण नहीं है । इससे तर्कप्रतिष्ठान रूप दोष नहीं है, इस प्रकार यदि कोई कहे, तो भी प्रकृत में अप्रतिष्ठितत्व से अविमोक्ष का प्रसङ्ग है ही । यद्यपि किसी विषय में तर्क को प्रतिष्ठितत्व दीखता है, तथापि प्रकृत समन्वय विषय में तर्क को अप्रतिष्ठितत्व दोष में अविमोक्ष ही प्राप्त होता है । क्योंकि अतिगम्भीर यह भाव (जगत्कारण) का यथार्थ अद्वैत मुक्ति का अवलम्बन स्वरूप वस्तु आगम के बिना कल्पना से तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता है, जिससे रूपादि के अभाव से यह अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है, और लिङ्गादि के अभाव से अनुमानादि का भी विषय नहीं है—यह पहले कह चुके हैं ।

अपिच सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः । तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात् । एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते, यथाग्निरुष्ण इति । तत्रैव सति सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिरनुपपन्ना । तर्कज्ञानानां त्वन्योन्यविरोधात्प्रसिद्धा विप्रतिपत्तिः । यद्धि केनचित्तात्त्विकेणोदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति च प्रसिद्धं लोके । कथमेकरूपानवस्थिताविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत् । नच प्रधानवादी तर्कविदामुक्तम् इति सर्वैस्तात्त्विकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि । नच शक्यन्तेऽनीतानागतवर्तमानास्तात्त्विका एकास्मिन्देशे काले च समाहृतुं येन तन्मतिरेकरूपकार्यविषया सम्यग्ज्ञानमिति रिति स्यात् । वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेस्तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वमतीतानागतवर्तमानैः सर्वैरपि तात्त्विकैरपह्नोतुमशक्यम् । अतः सिद्धमस्यैवोपनिषदस्य ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम् । अतोऽन्यत्र सम्यग्ज्ञानत्वानुपपत्तेः ससाराविमोक्ष एव प्रसज्येत । अतः आगमवशेनागमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥ ११ ॥

दूसरी बात यह है कि सम्यक् ज्ञान से मोक्ष होता है, यह सब मोक्षवादियों का अभ्युपगम (सिद्धान्त) है, और ज्ञान के वस्तु तन्त्र होने से वह सम्यक् ज्ञान है जो एक वस्तु विषयक सदा ज्ञान एक स्वरूप वाला है, और एक स्वरूप से सदा स्थिर जो पदार्थ

है, वह परमार्थ सत्य है। लोक में उस परमार्थ विषयक ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। जैसे सदा उष्ण रहने वाली अग्नि का उष्ण ऐसा ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। इस प्रकार एक स्वरूप वाला पदार्थ का एक स्वरूप वाला ज्ञान के यथार्थ होने पर उस यथार्थ ज्ञान से पुरुषों की विप्रतिपत्ति (विरोध) अयुक्त है। तर्कजन्य ज्ञान वालों को तथा उनके ज्ञानों को तो परस्पर विरोध से विप्रतिपत्ति (विपक्षिता) प्रसिद्ध है। जिससे जिस ज्ञान को किसी एक तार्किक ने प्रतिपादन किया कि यही ज्ञान सम्यक् ज्ञान है, उसको अन्य तार्किक व्युत्थापित बाधित करता है। इससे वह व्युत्पत्ति बाधित निषिद्ध होता है, फिर उससे प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित) ज्ञान अन्य किसी से निषिद्ध होता है यह लोक में प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनवस्थित (अनिश्चित) विषय वाला तर्कजन्य ज्ञान सम्यक् ज्ञान कैसे होगा ? और प्रधानवादी सब तर्कवेत्ताओं में उत्तम हैं इस प्रकार भी सब तार्किकों से प्रधानवादी नहीं स्वीकृत हैं, कि जिससे उनका मत सम्यक् ज्ञान स्वरूप है, इस प्रकार समझलें। एवं भूतभावी वर्तमान सब तार्किक एक देश एक काल में साथ मिल नहीं सकते कि जिससे एक अर्थ विषयक एक स्वरूप वाली उनकी मति (बुद्धि ज्ञान) सम्यग्मति है ऐसा निश्चय हो सके। और वेद को तो नित्यत्व और विज्ञानोत्पत्ति के हेतुत्व होने पर व्यवस्थित अर्थ विषयत्व की सिद्धि से वेदजन्य ज्ञान की यथार्थता का भूतभावी वर्तमान सब तार्किकों से भी अपह्नव (अपलाप निवारण) नहीं किया जा सकता है। इससे इस औपनिषद ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञानत्व सिद्ध हुआ, और इससे अन्य ज्ञान में सम्यग्ज्ञानत्व की असिद्धि से संसार से अविमोक्ष की प्राप्ति होगी। इस नित्य आगम के बल से तथा आगमानुसारी तर्क के बल से चेतन ब्रह्म जगत् का कारण और प्रकृति है यह स्थित हुआ ॥ ११ ॥

सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि परमाणु आदि कारणवादी मतों से समन्वय का बोध होता है, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि जिससे न्यून परिमाण वाले तन्तुओं से जन्य उनसे बड़ा पट देखा जाता है, इससे मतों द्वारा समन्वय का बाध होता है अर्थात् विभु ब्रह्म से जगत् नहीं होता है किन्तु परमाणु आदि से होता है। सिद्धान्त है कि श्रुति सत्ता के बल से शिष्टों की इष्ट स्मृति भी छोड़ दी गई है, तो शिष्ट त्यक्त को त्यागने में कौन ऐसी बात है कि जिससे वह नहीं छोड़ा जा सके। इससे बाध नहीं होता है और विवर्त रूप कार्य में कारण की न्यूनता का नियम नहीं है।

शिष्टापरिग्रहाधिकरण (४)

वाधोस्ति परमाण्वादिमतेनो वा यतः पटः ।

न्यूनतन्तुभिरारब्धो दृष्टोऽतो वाच्यते मतेः ॥

शिष्टेऽपि स्मृतिस्त्यक्ता शिष्टत्यक्तमतं किमु ।

नातो वाधा विवर्ते तु न्यूनत्वनियमो नहि ॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद्गुरुतरतर्कबलोपेतत्वाद्देवानुसारिभिश्च
कैश्चिच्छिष्टैः केनचिदंशेन परिगृहीतत्वात्प्रधानकारणवादं तावद्व्यपश्रित्य

यस्तर्कनिमित्त आक्षेपो वेदान्तवाक्येषूपद्रावित स परिहृत । इदानीमप्यादिवादव्यपाश्रयेणापि कैश्चिन्मन्दमतिभिर्वेदान्तवाक्येषु पुनस्तर्कनिमित्त आक्षेप आशङ्क्यते इत्यतः प्रधानमल्लनिर्वहणन्यायेनातिदिशति । परिगृह्यन्त इति परिग्रहा न परिग्रहा अपरिग्रहा शिष्टानामपरिग्रहा शिष्टपरिग्रहा, एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन, शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदशेनापरिगृहीता येऽप्यादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिपिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्या । तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य नात्र पुनराशङ्कितव्य किञ्चिदस्ति । तुर्यमत्रापि परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं तर्कस्य चाप्रतिष्ठितत्वं मन्यथानुमानेऽप्यविमोक्ष आगमविरोधश्चेत्येव जातीयक निराकरणकारणम् ॥१२॥

वैदिक दर्शन के समीप होने से अर्थात् सत्यवायत्वं आत्मासङ्गत्वादि अक्ष मे वेदान्त से सम्मिलित होने से और गम्भीर प्रबल तर्कों से युक्त होने से तथा वेदानुसारी किसी-किसी शिष्टों द्वारा किसी अक्ष मे परिगृहीत होने से प्रथम प्रधान कारणवाद का आश्रयण करके जो तर्कनिमित्तक आक्षेप वेदान्त वाक्यों मे प्रकट किया गया था वह परिहृत (निवारित) हो चुका । अब इस समय अणु आदि वाद का आश्रयण करके भी किसी मन्दमति से फिर तर्कनिमित्तक आक्षेप वेदान्त वाक्यों मे आशङ्क से किया जाता है । इससे प्रधानमल्लनिर्वहणन्याय मे अतिदेश करते हैं कि, जो परिगृहीत हो (स्वीकृत हो) वे परिग्रह करते हैं उनसे मित्त अपरिग्रह कहाते हैं, शिष्टों का अपरिग्रह शिष्टपरिग्रह है । और इस प्रकृत, प्रधानकारणवाद के निराकरण के कारण मे, शिष्ट मनु व्यास आदि द्वारा किसी अक्ष से भी ग्रहण के अविषय जो परमाणु आदि कारणवाद हैं वे भी प्रतिपिद्ध रूप से व्याख्यात निराकृत हो गये ऐसा समझना चाहिये । निराकरण के कारण के तुल्य होने से यहाँ फिर कुछ समन्वय मे शङ्का योग्य नहीं है । यहाँ भी परमगम्भीर जगत् कारण को तर्क से अग्राह्यत्व तुल्य है, और तर्क को अप्रतिष्ठितत्व है । अनुमान करने पर भी अविमोक्ष और आगम विरोध है, इस प्रकार के यहाँ भी निराकरण के कारण हैं ॥१२॥

भोक्त्रापत्यधिकरण (५)

अद्वैते वाच्यते वा नो भोक्तृभोग्यविशेषतः ।

प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धो भेदोऽभावान्यवाधक ॥१॥

तरङ्गफेनभेदेऽपि समुद्रेऽभेदः । इष्यते ।

भोक्तृभोग्याविभेदेऽपि ब्रह्माद्वैत तथास्तु तत् ॥२॥

यह अद्वैतवाद मे शङ्का होती है कि भोक्ता भोग्यादि रूप सब जगत् यदि ब्रह्म से अभिन्न है, तो भोक्ता से अभिन्न ब्रह्म भोक्तृरूपता की प्राप्ति द्वारा भोग्य को भी भोक्तृरूपता की प्राप्ति होती है, क्योंकि तदभिन्नाऽभिन्न को तदभिन्नत्व की प्राप्ति स्वामाविक है । उत्तर है कि यह दोष नहीं है, लोक के समान यह भेद रहेगा । गन्ध से अभिन्न भूमि के रूपादि भूमि से अभिन्न होते हुए भी गन्ध से अभिन्न नहीं होते हैं, तथा भूमि भी गन्ध से अभिन्न होती हुई भी गन्धस्वरूप नहीं होती है, ऐसे ही ब्रह्म और भोग्य भोक्ता नहीं होंगे

कल्पित भेद रहेगा । यहाँ संशय होता है कि भोक्ता भोग्य के भेद से अद्वैत बाधित होता है, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध भेद अद्वैत का बाधक है । सिद्धान्त है कि जैसे समुद्र के फेनतरङ्गादि का परस्पर भेद होते हुए भी समुद्र में अभेद माना जाता है, वैसे ही भोक्ता भोग्य का विभेद होते हुए भी ब्रह्म का सबके साथ अभेद भी है, इससे अभेद का बाधक नहीं होता है ॥ १-२ ॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

अन्यथा पुनर्ब्रह्मकारणवादस्तर्कवलेनैवाक्षिप्यते । यद्यपि श्रुतिः प्रमाणं स्वविषये भवति तथापि प्रमाणान्तरेण विषयापहारेऽन्यपरा भवितुमर्हति, यथा मन्त्रार्थवादौ । तर्कोऽपि हि स्वविषयादन्यत्राप्रतिष्ठितः स्यात् यथा धर्माधर्मयोः । किमतः ? यद्येवम्, अत इदमयुक्तं यत्प्रमाणान्तरप्रसिद्धार्थवाधनं श्रुतेः । कथं पुनः प्रमाणान्तरप्रसिद्धोऽर्थः श्रुत्या बाध्यत इति ? अत्रोच्यते—प्रसिद्धो ह्यर्थं भोक्तृभोग्यविभागो लोके—भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्याः शब्दादयो विषया—इति, यथा भोक्ता देवदत्तो भोज्य ओदन इति, तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत यदि भोक्ता भोग्यभावमापद्येत, भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत । तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वात्प्रसज्येत । नचास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम् । यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः । तस्मात्प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्यविभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणम् ।

फिर भी ब्रह्म कारणवाद का तर्क के बल द्वारा ही अन्य प्रकार से आक्षेप किया जाता है । यद्यपि श्रुति अपने विषय में प्रमाण है कि जो विषय प्रमाणान्तर के अयोग्य हैं, तथापि प्रमाणान्तर के विषय भूमि जलादि में प्रमाणान्तर से अभेदरूप विषय का जहाँ अपहरण (बाध) होता है, वहाँ अपहरण होने पर श्रुति अन्यार्थपरक हो जाती है, जैसे कि मन्त्र और अर्थवाद अन्यार्थपरक होते हैं, अर्थात् जैसे (आदित्यो यूषः) इत्यादि वाक्य यूष के स्तुति परक गौणार्थक है, वैसे ही ब्रह्माद्वैतता की बोधक श्रुति भी गौणार्थक स्तावकमात्र है । जिससे तर्क भी अपने विषय भेदादि से अन्यत्र अप्रतिष्ठित हो सकता है, जैसे कि धर्माधर्म में तर्क अप्रतिष्ठित होता है । अंका होती है कि यदि इस प्रकार श्रुति के समान तर्क भी अपने विषय में प्रतिष्ठित है, तो इससे क्या फल हुआ ? पूर्वपक्षी समाधान करता है कि इससे यह हुआ कि प्रमाणान्तर से प्रसिद्ध द्वैतादि अर्थ का जो श्रुति से बाधन किया जाता है वह अयुक्त है, यदि कहो कि प्रमाणान्तर से प्रसिद्ध अर्थ का श्रुति से बाध कैसे किया जाता है, तो यहाँ कहा जाता है कि भोक्ता और भोग्य वस्तु का विभाग भेद यह लोक में प्रसिद्ध है भोक्ता चेतन जीव है, भोग्य शब्दादि विषय हैं, जैसे कि भोक्ता देवदत्त है, और भोज्य (खाने योग्य)

ओदन (मात) है इत्यादि । इस विभाग का अभाव प्राप्त होगा कि यदि भोक्ता भोग्य रूपता को प्राप्त हो, वा भोग्य भोक्ता रूपता को प्राप्त हो । और परम कारण ब्रह्म के साथ इन भोक्ता भोग्य पदार्थों की अनन्यता (एकता) से इनको परस्पर भी इतरेतरभाव (अभेद) की प्राप्ति प्रसक्त (प्राप्त) होगी, इससे भेद बाधित होगा, और यह प्रसिद्ध विभाग (भेद का बाध) होना युक्त नहीं है । जिस प्रकार अभी वर्तमान काल में भोक्ता और भोग्य का भेद प्रसिद्ध है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसी प्रकार भूत भावी काल में भी कल्पना योग्य अनुमान से ज्ञेय है, इससे अनादि अविनाशी और प्रसिद्ध इस भोक्ता भोग्य के विभाग के अभाव के प्रसंग से यह ब्रह्म कारणता का अवधारण अयुक्त है ।

इति चेत् कश्चिच्चोदयेत् प्रतिब्रूयात्—म्याल्लोकवदिति । उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभाग एव लोके दृष्टत्वात् । तथाहि—समुद्रादुदकात्मनोजन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्गबुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतरमश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते । न च समुद्रादुदकात्मनोजन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति, न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोजन्यत्व भवति, एवमिहापि । न च भोजतृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, न च परम्माद्ब्रह्मणोजन्यत्व भविष्यति । यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणो विकार 'तत्समुद्रा तदेवानुप्रविशत्' (तै० २।६) इति श्रुतेरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात्, तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्याभ्युपाधिनिमित्तो विभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्त इत्यतः परमकारणाद्ब्रह्मणोजन्यत्वेऽप्युपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभाग समुद्रतरङ्गादिन्यायेनेत्युक्तम् ॥ १३ ॥

इस उक्त रीति से यदि कोई शका करे, तो उसके प्रति कहना चाहिये कि यह विभाग लोकवत् होगा । अर्थात् यह विभाग हमारे पक्ष में भी उपपन्न (सिद्ध) होता है, क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है । जैसे कि जल स्वरूप समुद्र से उसके विकार फेनवीची तरङ्ग बुद्बुदादि को अनन्यत्व (अभेद) होते हुए भी परस्पर विभाग और सन्धेय (सम्बन्ध) रूप व्यवहार उपलब्ध होता है (देखा जाता है) और जलान्मक समुद्र से उसके विकार फेनतरङ्गादि को अभिन्न होते हुए भी परस्पर इतरेतरभाव (अभेद) की प्राप्ति नहीं होती है, तथा उनको इतरेतरभाव (अभेद) की असिद्धि होने भी समुद्र से अन्यत्व (भेद) उनको नहीं होता है । इसी प्रकार यहाँ भी भोक्ता और भोग्य को इतरेतरभाव की प्राप्ति नहीं होगी, परब्रह्म से अन्यत्व (भेद) भी नहीं होगा । यद्यपि भोक्ता ब्रह्म का विकार नहीं है, क्योंकि (वह परब्रह्म स्वरूप आत्मा इस जगत् को रचकर इसमें अनुप्रवेश किया) इस कथन से अविकृत स्रष्टा का ही कार्य में अनुप्रवेश द्वारा भोक्तृत्व सुना जाता है । तथापि कार्य में अनुप्रवेशनिमित्तक विभाग है, जैसे कि घटादि उपाधि निमित्तक आकाश का विभाग होता है, वंता यह भोक्ता का विभाग है ।

इससे परम कारण ब्रह्म से अनन्य होने पर भी समुद्र तरङ्गादि न्याय से भोक्ता भोग्य स्वरूप विभाग उपपन्न (सिद्ध) होता है, यह कहा गया है ॥ १३ ॥

आरम्भणाधिकरण (६)

भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ ।

समुद्रादाविव तयोर्वाधाभावेन तात्त्विकौ ॥

वाधितौ श्रुतियुक्तिभ्यां तावेतौ व्यावहारिकौ ।

कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम् ॥

सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि पूर्वोक्त कारणरूप से अभेद विकाररूप के भेद ये दोनों तात्त्विक (सत्य) हैं कि व्यावहारिक हैं—अर्थात् मिथ्या हैं ? पूर्वपक्ष है कि किसी पदार्थ के बाध से उसका मिथ्यात्व समझा जाता है और प्रकृत में समुद्र उसके विकार में भेदाभेद के समान कारणरूप ब्रह्म जगतरूप विकार के भेदाभेद का बाध नहीं होता है, कारणरूप से अभेद और कार्यरूप से भेद सत्य ही नासता है, इससे भेदाभेद सत्य ही हैं । सिद्धान्त है कि यद्यपि प्रत्यक्ष दृष्टान्तादि से भेदाभेद अवाधित प्रतीत होते हैं, तथापि सर्वथा अद्वैत बोधक श्रुति और भेदाभेद के विरोधादिरूप युक्ति से ये भेदाभेद बाधित हैं, इससे व्यावहारिक भेदाभेद हैं । और कार्य को प्रकृतिरूप कारण के साथ अभेद होने से अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है ॥ १-२ ॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितः, न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते । कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात्कारणात्परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते । कुतः ? आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भणशब्दस्तावत् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते—‘यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ (छां० ६।१।१) इति ।

आरम्भण शब्दादि से कार्य जगत् को कारण ब्रह्म से सर्वथा अभेद है, यह कथन-मात्र मिथ्या भेद है । और मिथ्या ही भेद की दृष्टि से पहले समुद्र का दृष्टान्त दिया गया है । इस व्यावहारिक भोक्ता और भोग्यरूप विभाग का स्वीकार करके (लोकवत् व्यवहार होगा) यह परिहार (शंका का उत्तर) कहा गया है । परन्तु यह भोक्ता और भोग्य का विभाग परमार्थरूप से नहीं है, जिससे कार्यकारण (जगत ब्रह्म) का अनन्यत्व (अभेद) अवगत होता है समझा जाता है । वहाँ आकाशादिक बहुत विस्तार-युक्त जगत् का कार्य है और परब्रह्म कारण है, उस कारण से परमार्थरूप से अनन्यत्व (अभेद) और ब्रह्म के बिना कार्य जगत् का अभाव समझा जाता है, ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि आरम्भण शब्दादि से ऐसा ही ज्ञान होता है । पहले आरम्भण शब्द

इस प्रकार है कि एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त की अपेक्षा होने पर कहा जाता है कि (हे सोम्य) जैसे ज्ञात एक मृत्पिण्ड से सब मृत्तिका के विकार विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाक् से जन्म नाममात्र ही विकार है मृत्तिका ही सत्य है ।

एतदुक्तं भवति—एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मय घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत्, यतो वाचारम्भण विकारो नामधेयं वाचं च केवलमस्तीत्यारभ्यते—विकारो घट शराव उदञ्चन च—इति, ननु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति, नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः । तत्र श्रुताद्वाचारम्भणशब्दादार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते । पुनश्च तेजोवन्नाना ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोवन्नकार्याणां तेजोवन्नव्यतिरेकेणाभाव इतीति—‘अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भण विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्’ (छा० ६।४।१) इत्यादिना । आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् ‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि’ (छा० ६।७), ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’ (वृ० २।४।८), ‘ब्रह्मं वेद सर्वम्’ (मु० २।२।११), ‘आत्मं वेद सर्वम्’ (छा० ७।२५।२), ‘नेह नानास्ति किञ्चन’ (वृ० ४।४।१९) इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनपरं वचनजातमुदाहर्तव्यम् । न चान्यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं संपद्यते । तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्व, यथाच मृगतृष्णिकोदकादीनामूपरादिभ्योऽन्यत्व, दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति ।

इससे यह कहा गया है कि परमार्थरूप में मृदात्मक (मिट्टी स्वरूप) एक मृत्तिका के पिण्ड के विज्ञात होने से मृत्तिका के विकार घट शराव उदञ्चनादि सब मृत्तिका रूपता की अवशिष्टता (तुल्यता) से ज्ञात हो जाते हैं, कि ये सब मिट्टीमात्र हैं । जिससे वाक् से आरम्भमाण (जन्म) नामधेय (नाम) मात्र विकार वाक् से ही केवल है इस प्रकार आरब्ध जन्म होते हैं कि विकार रूप घट शराव उदञ्चन हैं, और वस्तु वृत्त (स्वभाव चरित्र) से विकार नामक कोई पदार्थ नहीं है, यह नामधेय मात्र मिथ्या है । विकारों में भी मृत्तिका इस शब्द का अर्थ ही सत्य है, यह श्रुति में ब्रह्म का दृष्टान्त कहा गया है । वहाँ मुना गया वाचारम्भण शब्द से दार्ष्टान्तिक में ब्रह्म से भिन्न ब्रह्म के बिना कार्य समूह का अभाव प्रतीत होता है, फिर भी तेज जल अन्न को ब्रह्म के कार्य स्वरूप कह कर, तेज जल और अन्न के कार्यों का तेज जल और अन्न के बिना अभाव को श्रुति कहती है कि (अग्नि का धर्म अग्नित्व अग्नि में गया अग्नित्व नहीं रहा । क्योंकि विकार नामधेय मात्र है, वाचारम्भण है । तेज जल अन्न ये तीन कारण रूप ही सत्य हैं) इत्यादि । (आरम्भण शब्दादिभ्य) इस सूत्रगत आदि शब्द से (इस परम सूक्ष्म कारण स्वरूप सब जगत् है । और वही कारण

सत्य है वह आत्मा है वही तुम हो । यह सब जो कुछ है वह आत्मा है । ब्रह्म ही सब जगत्स्वरूप है । आत्मा ही सब स्वरूप है । इसमें नाना कुछ नहीं है) इत्यादिक भी आत्मा के एकत्व के प्रतिपादन परक वचनसमूह उदाहरण के योग्य हैं, अन्यथा (उक्त एकता के बिना) एक के विज्ञान से सबका विज्ञान नहीं सिद्ध हो सकता है उससे जैसे घट कमण्डलु आदि के आकाशों को महाकाश से अनन्यत्व (अभेद) रहता है । जैसे मृगतृष्णिका के उदकादि (ऊपरादि में मिथ्या भासने वाले जलादि) को ऊपरादि से अभेद रहता है । क्योंकि वे दृष्ट प्रातिभासिक और नष्ट (अनित्य) स्वरूप वाले होते हैं, और इसी से अपने स्वरूप से सत्तादि शून्य अनिर्वाच्य होते हैं, इससे उन्हें ऊपरादि अनन्यता रहती है । इसी प्रकार इस योग्य भोक्तादि रूप प्रपञ्च समूह का ब्रह्म के स्वरूप से अतिरिक्त अभाव है ।

नन्वेनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाख एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म, अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव । यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति नानात्वम् । यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम् । यथाच मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वम् । तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति । नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयी लौकिकवैदिकव्यवहारी सेत्स्यति इति । एवञ्च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति । नैवं स्यात्, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात् । वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात् । दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्' इति च परमकारणस्थैर्वैकस्य सत्यत्वावधारणात्, 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शरीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात् । स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम् । अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शरीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिवुद्ध्य इव सर्पादिवुद्धीनाम् । बाधिते च शरीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत । दर्शयति च—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (वृ० ४।५।१५) इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम् ।

यहाँ शंका होती है कि एक कारण स्वरूप अद्वैत ब्रह्म सत्य है और अन्य सब मिथ्या है ऐसी स्थिति नहीं है किन्तु ब्रह्म अनेकात्मक अनेक स्वरूप है और अनेक स्वरूप से सत्य है, क्योंकि जैसे वृक्ष अनेक शाखा वाला होता है, इसी प्रकार अनेक शक्तियों द्वारा जो अनन्त परिणाम भेदादि रूप प्रवृत्ति उन प्रवृत्तियों से युक्त ब्रह्म है; इससे वहाँ में एकत्व और नानात्व दोनों सत्य ही है और वृक्ष स्वरूप से वृक्ष में एकता है और शाखा इत्याकारक स्वरूप से नानात्व है । जैसे समुद्र स्वरूप से एकत्व है, फेन तरंगादि

रूप में नानात्व है। और जैसे मृत्तिका रूप से एकत्व है, घट घरावादि रूप से नानात्व है। वहाँ ब्रह्म का एकत्वाद्य कारण स्वरूप है, नानात्वाद्य कार्य स्वरूप उक्त दृष्टान्तों के समान है, वहाँ एकत्वाद्य के सहित ब्रह्म के ज्ञान से मोक्षरूप व्यवहार सिद्ध होगा। और नानात्वाद्य से ब्रह्म को आश्रयण करने वाले लौकिक वैदिक व्यवहार सिद्ध होंगे। इसी प्रकार मृदादि दृष्टान्त भी दार्ष्टान्तिक के अनुरूप (तुल्य) होगा। उत्तर है कि इस प्रकार नहीं हो सकता है, क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है इस प्रकार प्रकृति मात्र की सत्यता का अवधारण (नियम) दृष्टान्त में किया गया है। और वाचारम्भण शब्द से विकार समूह की अनृतता (मिथ्यात्व) कही गई है। दार्ष्टान्तिक में भी (एतदात्म-स्वरूप ही यह सब है। और जिस स्वरूप वाला सब है वह सत्य है) इस प्रकार एक परम कारण की ही सत्यता का अवधारण किया गया है। और (ह श्वेतकेतो ! वह आत्मा है और तू उस आत्मा के स्वरूप हो) इस प्रकार जीव को ब्रह्माभाव का उपदेश दिया गया है। ससार और भेद सत्य हो तो यह उपदेश नहीं बन सकता है, और यह उपदिष्ट एकता कर्मादि साध्य नहीं है किन्तु यह जीव के स्वयं प्रसिद्ध ब्रह्मात्मत्व का उपदेश दिया जाता है, और इस स्वतः सिद्ध ब्रह्मात्म के उपदेश होने से ही यह शास्त्रीय (शास्त्रगम्य) ब्रह्मात्मा की एकता अवगत (अनुभूत) होने पर स्वाभाविक (प्राकृतिक) जीवात्मता का बाधक सिद्ध होता है। जैसे कि रज्जु आदि के ज्ञान रज्जु आदि में कल्पित सर्पादि ज्ञान के बाधक होते हैं, वैसे यहाँ बाधक सिद्ध होता है, और जीवात्मा के बाधित होने पर उसके आश्रित रहने वाला वह स्वाभाविक समस्त व्यवहार बाधित होता है, जिसकी सिद्धि के लिये ब्रह्म के एकत्व में अन्य नानात्वाद्य की कल्पना करनी पड़ती। जैसे (जिस काल में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस काल में जिससे किसीको देखें) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मात्मा के ज्ञानी के प्रतिव्रिया कारक फल स्वरूप सब व्यवहारों का अभाव दिखलाया जाता है।

न चाय व्यवहाराभावोऽवस्थाविशेषनिवद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुम्, 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिवन्धनत्वात्। तत्स्वरूपदृष्टान्तेन चानुतामिमन्वस्य वन्धन मन्धाभिमन्वस्य च मोक्ष दर्शयन्नेकत्वमेवैक पारमार्थिक दर्शयति (छा० ६।१६) मिथ्याज्ञानविजृम्भित च नानात्वम्। उभयमत्यताया हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृनामिसन्ध इत्युच्यते। 'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (वृ० ४।४।१९) इति च भेददृष्टिमपवदन्नेतदेव दर्शयति। न चास्मिन्दशनि ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, मम्यज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्या-ज्ञानस्य मसारकारणत्वेनानभ्युपगमात्। उभयमत्यताया हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते।

यह व्यवहार का अभाव मोक्षादि अवस्थाविशेष सम्बन्धी कहा जाता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, (वह ब्रह्म वृ है) इस प्रकार उपदिष्ट ब्रह्मात्मभाव को जिससे

अवस्थाविशेष सम्बन्धित्व नहीं है, किन्तु नित्य सिद्ध ब्रह्मरूपता का उपदेश है, इससे भेद-रूप संसार मिथ्या सिद्ध होता है । और चोर के दृष्टान्त से मिथ्याभावी असत्यासक्त का बन्धन और सत्यमापी सत्यासक्त का मोक्ष दिखलाता हुआ गुरु एक एकत्व को ही पारमार्थिक सत्य दिखलाता है, और मिथ्याज्ञान के कार्य विस्ताररूप नानात्व को दिखलाता है । यदि भेद और अभेद एक और नाना दोनों स्वरूप ब्रह्म में सत्यता हो तो नानात्व व्यवहार का गोचर (आश्रय) भी जन्तु (प्राणी) अनृतमापी असत्य का प्रेमी कैसे कहा जा सकता है । और (वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है, जो इस ब्रह्मात्मा में नाना के समान देखता है) इस प्रकार भेद का अपवाद (निन्दार्तिषेध) करता हुआ गुरु इस एक पारमार्थिक को ही दिखलाता है । इस भेदाभेद के सत्यता दर्शनपक्ष में ज्ञान से मोक्ष नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान से विनाश के योग्य संसार के कारण-रूप कोई मिथ्याज्ञान इस दर्शन में नहीं माना गया है । और एकत्व नानात्व दोनों की सत्यता दशा में एकत्व के ज्ञान से नानात्व ज्ञान निवृत्त विनष्ट किया जाता है, यह कैसे कहा जा सकता है, और एकत्वमात्र के सत्य होने पर एकत्वज्ञान से नानात्व ज्ञान की निवृत्ति कही जा सकती है, क्योंकि वह मिथ्या है ।

नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात्प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहृन्त्येनन्निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि । तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदोपेक्षत्वात्तदभावे व्याहृन्त्येत । मोक्षशास्त्रस्यापि शिष्यशास्त्रादिभेदोपेक्षत्वात्तदभावे व्याघातः स्यात् । कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येतेति । अत्रोच्यते । नैष दोषः सर्वव्यवहारानामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात्सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात् । यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते, विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा, तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मताप्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः । यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्ने उच्चावचान्भावात् पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक्प्रबोधात्, न च प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति, तद्वत् । कथं त्वसत्येव वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत. नहि रज्जुसर्पेण दृष्टो म्रियते, नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादिप्रयोजनं क्रियत इति । नैषः दोषः । शङ्खाविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः । स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात् । तत्कार्यमप्यनृतमेवेति चेद्ब्रूयात् । अत्र ब्रूमः । यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलं, प्रतिबुद्धस्याप्यवाध्यमानत्वात् । नहि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवग-

तिमपि मिथ्येति मन्यते कश्चित् । एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यवाचनेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः ।

यहाँ सका होती है कि एकत्व का एकान्त (नियत कैवल्य) मानने पर, अर्थात् केवल एकत्व को ही मानने पर नानात्व (भेद) के अभाव से निर्विषयता के कारण प्रत्यक्षादि लौकिक भेद विषयक प्रमाण व्याहत (अप्रमाण) हो जायेंगे, जैसे कि स्थाणु आदि में पुरुषादि के ज्ञान अप्रमाण होने हैं, वैसे ही प्रत्यक्षादि सब हो जायेंगे, और इसी प्रकार भेद सापेक्ष होने से विधि प्रतिषेध रूप शास्त्र भी एकत्व एकान्त पक्ष में अप्रमाण होंगे । और शिष्य शासिता (उपदेश पात्र गुरु) आदि रूप भेद सापेक्ष होने से उस भेद के अभाव होने पर मोक्ष शास्त्र का भी व्याघात (बाध) होगा । यदि कल्पित शास्त्र गुरु शिष्यादि और कल्पित उनके भेदों को मानकर उन शास्त्रों की कल्पित प्रमाणता को माना जाय तो भी अनृत (कल्पित मिथ्या) मोक्षशास्त्र से प्रतिपादित आत्मा की एकता को सत्यत्व कैसे सिद्ध होगा ? अप्रमाणजन्य ज्ञान के अप्रमाण होने से उसका विषय एकत्व भी मिथ्या ही सिद्ध होगा । और भेदाभेद दोनों को सत्य मानने से यह दोष नहीं प्राप्त होता है । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि जागने से पहले स्वप्न के व्यवहार जैसे सत्य रहते, वैसे ही ब्रह्मात्मता के विज्ञान से पहले सब व्यवहारों को भी सत्यत्व की सिद्धि रहती है । क्योंकि जबतक सत्य एकात्मत्व का ज्ञान नहीं होता है, तबतक प्रमाण प्रमेय फलस्वरूप विकारों में किसी को मिथ्यात्व बुद्धि नहीं उत्पन्न होती है । किन्तु विकारों को ही अविद्या से सब प्राणी आत्मरूपा से और आत्मसम्बन्धी रूप में मोग इस प्रकार स्वाभाविक ब्रह्मना को त्याग कर समग्रता है । उससे ब्रह्मात्मता के ज्ञान से पहले लौकिक और वैदिक सब व्यवहार उपपन्न सिद्ध होता है, जैसे सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में अनेक प्रकार के पदार्थों को देखता हुआ साधारण मनुष्य को जगाने से पहले प्रत्यक्षरूप से अमिमित (स्वीकृत) वह स्वप्न कालिक ज्ञान निश्चित ही होता है, उस स्वप्नकाल में उस ज्ञानविषयक प्रत्यक्षमास (असत्प्रत्यक्ष) का अमिश्रण (आशय-निश्चय) उसको नहीं होता है, वैसे ही व्यवहार काल में आत्मैकत्व ज्ञान से पहले व्यावहारिक ज्ञान में असत्यता बुद्धि नहीं होती है । फिर सका होती है कि व्यावहारिक प्रमाण से व्यवहार की सिद्धि होनेपर भी असत्य वेदात् वाक्य से सत्य ब्रह्मात्मत्व का ज्ञान कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि रज्जु में कल्पित सर्प से डसा हुआ नहीं मरता है, न भ्रमवृष्णा के जल से पान स्नानादि प्रयोजन किया जाता है, उत्तर है कि यह भी दोष नहीं है, क्योंकि प्रथम तो वेदान्त वाक्य से जन्य वृत्तिरूप ज्ञान भी सत्य अविनाशी नहीं है । यदि मान भी लो, तो भी असत्य से भी सत्य उत्पन्न होता है, क्योंकि सका भ्रम के विषय कल्पित विषादि निमित्त कारण से मरणादिरूप कार्यको उपलब्धि होती है इससे असत्य से सत्य नहीं उत्पन्न होता है यह नियम नहीं है । और स्वप्न का दर्शनरूप अवस्था वाले को भी मिथ्या सर्प और जल से सर्प दर्शन और

उदक स्नानादि कार्यं देखा जाता है । इससे असत् से भी कार्य होता है । यदि कहा जाय कि वह कार्य भी असत्य ही होता है, असत्य से सत्य कार्य नहीं हो सकता; तो उसका उत्तर है कि यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्था वाले के सर्पदंश उदक स्नानादि कार्य मिथ्या (तात्कालिक प्रातिभासिक) होते हैं, तथापि उनकी अवगति-अनुभूति उनकी अपेक्षा सत्य होती है, क्योंकि जागने पर भी वह अवाधित रहती है । इसीसे स्वप्न से उठा जागा हुआ कोई भी पुरुष स्वप्न में देखे गये सर्पदंश उदक स्नानादि कार्यों को मिथ्या मानता हुआ भी उनकी अवगति (ज्ञान) को मिथ्या नहीं मानता है । इस स्वप्नद्वष्टा के ज्ञान के अबाध से देहमात्र आत्मवाद दूषित समझना चाहिये, क्योंकि यदि देहमात्र आत्मा हो तो स्वप्न का ज्ञान स्वप्नकालिक कल्पित देह का धर्म होगा । इससे जाग्रत देह को उस ज्ञान का अनुसन्धान नहीं होगा । इसलिए सब व्यभिचारी देह में जाग्रत स्वप्नकालिक आत्मा देहों से भिन्न एक है ।

तथा च श्रुतिः—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।

समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ (छां० ५।२।९)

इत्यसत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति । तथा प्रत्यक्ष-दर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ स्वप्नाः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेनास-त्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति । प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वय-व्यातिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यते ईदृशेनासाध्वागमः इति । तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः । अपि चान्त्य-मिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किञ्चिदाकाङ्क्ष्यमस्ति । यथाहि लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते नैवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मा-ऽस्मि' इत्युक्ते किञ्चिदन्यदाकाङ्क्ष्यमस्ति, सर्वात्मैकत्वविषयत्वावगतेः । सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेऽर्थ आकाङ्क्षा स्यात्, न त्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्य-माणोऽन्योऽर्थोऽस्ति य आकाङ्क्ष्येत । न चेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति शक्यं वक्तुम्, 'तद्वास्य विजज्ञौ' (छां० ६।१६।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनां वेदानुवचनादीनां च विधानात् । न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्, अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तराभावाच्च । प्राक्चा-त्मैकत्वावगतेरव्याहृतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम । तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादिते आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनस्य भेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति ।

असत्य से भी सत्य की उत्पत्ति होती है इस अर्थ को श्रुति कहती है कि (सकाम कर्मों के अनुष्ठान काल में यदि स्वप्न में स्त्री को देखता है, तो स्वप्न निदर्शन निमित्तक उस कर्म में समृद्धि सफलता समझनी चाहिये) इस प्रकार असत्य स्वप्नदर्शन से सत्य

समृद्धि (सम्पत्ति) को दिखलाती है । इसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानों में किसी अरिष्ट (मरण के चिह्न, अशुभ) के उत्पन्न होने पर (यह चिरकाल तक नहीं जीवित रहेगा इस प्रकार समझना चाहिये) ऐसे कह कर (इसके बाद स्वप्न कहे जाते हैं कि यदि स्वप्न में काले दाँतों से युक्त काला पुष्प देखता है, तो वह इसकी हिंसा करता है) इत्यादि वचनों द्वारा उस अमृत्य स्वप्नदर्शन से ही सत्य मरण सूचित होता है, यह श्रुति प्रदर्शित करती है और अन्वयव्यतिरेक के विचारादि में कुशलो को इस लोक में भी प्रसिद्ध है कि ऐसे स्वप्न के दर्शन से साधु (सज्जन शुभ) का आगमन प्राप्ति सूचित होता है, और ऐसे स्वप्न के दर्शन से असज्जन अशुभ का आगमन सूचित होता है । इसी प्रकार रेखा (लिपि लेख) रूप मिथ्या अक्षर के ज्ञान से अकारादि सत्य अक्षर का ज्ञान देखा जाता है । दूसरी बात यह है कि आत्मा की एकता का प्रतिपादक यह वेदान्तरूप प्रमाण अन्तिम है, इस को नानात्वाद्य से कोई जरूरत नहीं है, अतः इसके बाद कुछ भी आकाङ्क्षणीय नहीं रहता है । जैसे कि लोक में 'यज्ञ से इष्ट की प्राप्ति करें इस प्रकार कहने पर किस इष्ट फल को प्राप्ति करें, किस साधन से प्राप्ति करें, किस प्रकार प्राप्ति करें इस प्रकार की आकाङ्क्षा की जाती है । इसी प्रकार (वह तू है, मैं ब्रह्म हूँ) इस उपदेश को अधिकारी के प्रति कहने से कुछ भी आकाङ्क्षणीय नहीं रहता है, क्योंकि सर्वात्मा के एकत्व विषयत्व इस अवगति (ज्ञान) को है । अयं अर्थ के अवशेष रहने पर कोई आकाङ्क्षा हो सकती थी, परन्तु आत्म एकत्व से भिन्न अवशिष्ट अन्य अर्थ है नहीं कि जो आकाङ्क्षित हो सके । यदि कहे कि प्रत्यक्षादि के विरोध से यह ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, तो यह नहीं कह सकते हो, क्योंकि (उस आत्मतत्त्व को पिता के वाक्य से श्वेतकेतु ने जाना) इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान की उत्पत्ति कही गई है । और ज्ञान के साधन श्रवणादि का तथा वेदानुवचनादि का विधान किया गया है, उससे ज्ञान के साधन सामग्री के रहने पर ज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है, अनधिकारी को ज्ञान नहीं होता है, उनसे उसको आकाङ्क्षा मले ही हो सकती है कि मैं वैसे ब्रह्म हूँ इत्यादि । एवं यह अवगति सर्वान्त में होने से अनर्थक है वा भ्रान्ति स्वरूप है यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उसकी उत्पत्ति समकालिक अविद्या की निवृत्तिरूप फल देखा जाता है, इससे सार्थक है और बाधकांतर के अदर्शन से भ्रम नहीं है । इस आत्मएकत्व के ज्ञान से पूर्वकाल में सब सत्य और मिथ्या के लौकिक और वैदिक व्यवहार अध्याहत (अबाधित) रहते हैं, यह पहिले कह चुके हैं, इसलिए अन्तिम प्रमाण से आत्मा की एकता के प्रतिपादित होने पर समस्त पूर्वकालिक भेदव्यवहार के बाधित होने से अनेकात्मक ब्रह्म की कल्पना का अवकाश (अवसर) नहीं है ।

ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात्परिणामवद्ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति । नेत्युच्यते, 'स वा एष

महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (वृ० ४।४।२५) 'स एष नेति-
नेत्यात्मा' (वृ० ३।१।२६) 'अस्थूलमनणु' (वृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्व-
विक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात् । नह्येकस्य ब्रह्मणः परिणा-
मधर्मत्वं तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम् । स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत् । न ।
कूटस्थस्येति विशेषणात् । नहि नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्मा-
प्रयत्नत्वं संभवति । कूटस्थं च (नित्यं) ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम ।
तच्च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनमेवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शन-
मपि स्वतन्त्रमेव कस्मैचित्फलायाभिप्रेयेत, प्रमाणाभावात् कूटस्थब्रह्मात्मत्व-
वेज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रम्—'स एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्य 'अभयं
नो जनक प्राप्तोऽसि' (वृ० ४।२।४) इत्येवंजातीयकम् ।

यहाँ शंका होती है कि मृत्तिकादि दृष्टान्त की रचना से परिणाम वाला ब्रह्म शास्त्र
में अभिमत है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि परिणामी ही मृत्तिका आदि पदार्थ लोक
में समधिगत (उपलब्ध) होते हैं । उत्तर है कि ऐसा नहीं कह सकते हैं (वह यह
आत्मा महान् अजन्मा जरा मरणरहित नित्यमुक्त अभय ब्रह्म है । आत्मा बाह्य किसी
द्रव्य रूप नहीं है, स्थूल नहीं है, अणु नहीं है इत्यादि सब विकारों के निषेध रूप
श्रुतियों से ब्रह्म को कूटस्थ नित्यत्व अवगत होता है । एवं एक ही ब्रह्म को परिणाम
रूप धर्म वाला और उससे रहित कूटस्थ स्वरूप नहीं समझ सकते हैं । शंका होती है कि
जैसे एक ही मनुष्यादि में काल भेद से स्थिति और गति होती है, वैसे ही ब्रह्म
में काल भेद से परिणाम और कूटस्थता दोनों हो सकते हैं । उसका समाधान है कि
ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म का कूटस्थ नित्य विशेषण है, विशेषण की अभाव
रूपा में विशेषणाभावनिमित्तक विशिष्टभाव हो जायगा । अर्थात् अग्नि का उष्ण विशेष
स्वरूप के समान ब्रह्म का नित्य कूटस्थ स्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं हो सकता
है, इससे कूटस्थ ब्रह्म को स्थिति गति के समान अनेक धर्म के आश्रयत्व का सम्भव
नहीं है । सब विकार का श्रुति में निषेध से नित्य शाश्वत कूटस्थ ब्रह्म है, यह पहिले
कहा जा चुका है । एवं जैसे ब्रह्म की आत्मा के साथ एकता का ज्ञान मोक्ष का साधन
है । इस प्रकार जगत् रूप से ब्रह्म के परिणामित्व का ज्ञान भी किसी फल के लिए
स्वतन्त्र ही नहीं अभिप्रेत होता है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । जिससे कूटस्थ
ब्रह्मरूपता के विज्ञान से ही शास्त्र फल दिखलाता है कि (नेति नेति जो कहा गया
ब्रह्म यह आत्मा है) इस प्रकार आरम्भ करके कहा है कि (हे जनक निश्चित अभय
को प्राप्त हुए हो) इस प्रकार के शास्त्र हैं !

तत्रैतत्सिद्धं भवति—ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फल-
सिद्धौ सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद्ब्रह्मदर्श-
नोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमितिवत्, न तु स्वतन्त्रं

फलाय कल्प्यत इति । नहि परिणामवत्त्वविज्ञानात्परिणामवत्त्वमात्मन फल स्यादिति वक्तुं युक्तं, कूटस्थनित्यत्वान्मोक्षस्य । ननु कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एक-
त्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभावे ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत् । न ।
अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्मवञ्जत्वस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाश सभूत' (तै० २।१) इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपात्सर्व-
ज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वराज्जगज्जनिस्थितिप्रलया, नाचेतनात्प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थं
प्रतिज्ञात 'जन्माद्यस्य यत' (ब्र० सू० १।१।४) इति । सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न
तद्विरुद्धोऽर्थं पुनरिहोच्यते ।

यास्त्र मे यह सिद्ध होता है कि सब धर्म और विशेष रहित ब्रह्म के दर्शन से
फल की सिद्धि होने पर भी जो उस ब्रह्म के प्रकरण में फलरहित ब्रह्म के जगत् रूप
से परिणामादि सुने जाते हैं, वह ब्रह्मज्ञान के उपाय रूप से ही विनियुक्त (सम्बद्ध-सफल)
होते हैं, जैसे कि फलवान याग के समीप में फलरहित प्रयाजादि सफल के अग होते
हैं, उन्हीं के समान यहाँ भी समझना चाहिए । इससे ब्रह्म के परिणामादि वा उसका
ज्ञान स्वतन्त्र फल के लिए नहीं समर्थ होता है, जिससे ब्रह्म के परिणामवत्ता के विज्ञान
से आत्मा की परिणामवत्तारूप फल की प्राप्ति होगी, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि
मोक्ष को कूटस्थ नित्यता है, यह (ब्रह्मविदाप्नोति परम्) इत्यादि से सिद्ध होता है ।
यहाँ शका होती है कि कूटस्थ ब्रह्मात्मवादी के मत में एकत्व के नित्य होने से ईशिता
(नियन्ता) और ईशितव्य (नियम्य) के अभाव होने पर ईश्वररूप कारण की जो
प्रथम प्रतिज्ञा की गई है, उसमें विरोध होता है । यदि ऐसी शका हो तो कहा जाता
है कि विरोध नहीं है, क्योंकि अविद्यारूप माया शक्ति स्वरूप, चिदात्मा में लीन,
नामरूपात्मक बीज के व्याकरण (अभिव्यक्ति) सृष्टि की अपेक्षा से कल्पित ईश्वरत्व
सर्वज्ञत्वादि हैं, और स्वरूप नित्य एकत्वादि हैं । (उस इस मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थ
से प्रतिपाद्य आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि से सिद्ध होता है कि नित्य-शुद्ध-
बुद्ध-मुक्त स्वरूप वाला सर्वज्ञ सर्वशक्तिमुक्त ईश्वर से जगत् के जन्मस्थिति और प्रलय
होते हैं । अचेतन प्रधान वा अन्य से जगत् के जन्मादि नहीं होते हैं, यह अर्थ (जन्माद्य-
स्ययत) इस सूत्र से प्रतिज्ञात हुआ है (निश्चित प्रतिज्ञा का विषय हुआ है), वह
प्रतिज्ञा उसी अवस्था वाली वैसी ही है । फिर यहाँ उससे विरुद्ध अर्थ नहीं कहा
जाता है ।

कथं नोच्यतेऽत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्व च ब्रुवता ? शृणु यथा
नोच्यते—सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्या-
मनिर्वचनीये समारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्ति प्रकृतिरिति च
श्रुतिस्मृत्योरभिलष्येते, ताभ्यामन्य सर्वज्ञ ईश्वर 'आकाशो वै नाम नामरूप-

योर्निर्वहिता ते यदन्तरा तदब्रह्म' (छां० ८।१।४।१) इति श्रुतेः । 'नामरूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२), 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' (तै० आ० ३।१२।७), 'एकं बीजं बहुधाः यः करोति' (श्वे० ६।१२) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधी । स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसंघातानुरोधिना जीवाख्यान्विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये । तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते । तथाचोक्तम्—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' (छां० ७।२।४।१) इति, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (वृ० ४।५।१५) इत्यादि च । एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे ।

*शंका होती है कि आत्मा के अत्यन्त एकत्व और अद्वितीयत्व (द्वैत भेद रहितत्व) को यहाँ कहते हुए पूर्व प्रतिज्ञा से विरोध को कैसे नहीं कहते हो ? उत्तर है कि जिस प्रकार विरुद्ध नहीं कहा जा रहा है वह सुनो :—सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मस्वरूप के समान अविद्या से कल्पित (सिद्ध) सत्यासत्यरूप से अनिर्वचनीय संसार के धोखेस्वरूप नाम और रूप ही सर्वज्ञ ईश्वर की मायारूप शक्ति और प्रकृति इस शब्द से श्रुति और स्मृति में कहे जाते हैं, उन नाम और रूप दोनों से अन्य सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि (आकाश परमात्मा नाम और रूप का निर्वाह पालनादि करने वाला है, वे नाम रूप जिसके अन्दर हैं, वह ब्रह्म परमात्मा है ।) (नाम रूप की अभिव्यक्ति-विभाग कहें) (यह जो परमात्मा सब रूपों को रचकर और नामकरण करके बुद्ध आदि उपाधिवाला होकर नामों का कथन करता हुआ वर्तमान है ।) (एक माया रूप बीज को जो बहुत प्रकार से करता है) इत्यादि श्रुतियों से ईश्वर को नाम रूप से अन्यत्व सिद्ध होता है । इस प्रकार अविद्याकृत नाम रूप के अनुरोधी (अनुसारी) ईश्वर होता है, जैसे घट कमण्डलु आदि उपाधि के अनुरोधी आकाश होता है । और वह ईश्वर घटाकाश-तुल्य, अविद्याजन्य नामरूपकृत कार्यकरण (शरीरेन्द्रिय) के अनुरोधी स्वात्मरूप ही जीवनात्मक विज्ञानात्माओं के प्रति व्यवहार के विषय में अनुशासन करता है, जिससे इस प्रकार अविद्यात्मक उपाधिकृत परिच्छेद (मिथ्याभेद) की अपेक्षाजन्य ही ईश्वर का ईश्वरत्व है और सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व भी भेद सापेक्ष हैं, एवं विद्या से विनष्ट सर्वोपाधि वाला स्वरूपयुक्त आत्मा में परमार्थ स्वरूप से ईशिता ईशितव्य सर्वज्ञत्वादि व्यवहार नहीं सिद्ध होते हैं । उसी प्रकार परमार्थरूप द्वैत के अभाव को श्रुति में कहा है कि (जिस स्वरूप में न अन्य को देखता है, न सुनता है, न जानता है वह ब्रह्म है ।) और (जिस काल या अवस्था में इस ज्ञानी का सब

आत्मा ही हो गया, उस काल में किसको देखे) इत्यादि । इस प्रकार परमार्थ अवस्था में सब वेदान्त सब व्यवहार के अभाव को कहते हैं ।

तथैश्वरीगोतास्वपि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।

न कर्मफलमयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव मुकृत विभु ।

अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥ (गी० ५।१४-१५)

इति परमार्थावस्थायामोक्षोक्षितव्यादिव्यवहाराभाव प्रदर्श्यते । व्यवहारावस्थायामा तूक्त श्रुतावपीश्वरादिव्यवहार 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सैतुर्विधरण एषा लोकानाममभेदाय' (वृ० ४।४।२२) इति । तथाचेश्वरगोतास्वपि—

ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ (गी० १८।६१) इति ।

सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह । व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महाममुद्रस्थानीयता ब्रह्मणः कथयति । अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्च परिणामप्रक्रिया चाश्रयति भगुणेषूपामनेषूपयोध्यत इति ॥ १४ ॥

इस प्रकार भगवद्गीता में भी परमार्थ व्यवस्था में ईशिता ईशितव्य आदि व्यवहारों के अभाव का प्रदर्शन कराया गया है कि (लोक के कर्तृत्व को और कर्तृत्वाधीन लोक के साध्य कर्मों को और कर्माधीन कर्म फल के संयोग को परमात्मा नहीं रचता है किन्तु अविद्या माया रूप स्वभाव करता करता हुआ प्रवृत्त होता है । परमात्मा किसी भक्त के पाप का भी ग्रहण (नाश) नहीं करता है, न समर्पित पुण्य का स्वीकार करता है, किन्तु अज्ञान में ज्ञान के आवृत रहने के कारण जीव मोहित होते हैं कि परमात्मा सब कर्ता है) इत्यादि । व्यवहार अवस्था में श्रुति में भी ईश्वरादि का व्यवहार कहा है कि (यह परमात्मा सब का ईश्वर नियन्ता है, यह प्राणियों का अधिष्ठाता है, यह प्राणियों का पालनकर्ता है, और यह लोकों का असभेद विवेक पृथक्ता के लिए विधारण कर्ता है) । इसी प्रकार भगवद्गीता में भी है कि (हे अर्जुन देहमिमान से देहरूप यन्त्र पर आम्ह सब प्राणी को अपनी माया से भ्रमण कराते हुए ईश्वर सब प्राणी के हृदय देश में अन्तर्यामी रूप से स्थिर रहते हैं) और सूत्रकार भी परमार्थ के अभिप्राय से (तदनन्यत्वम्) कार्य की कारण से अभेद है इस प्रकार कहते हैं, और व्यवहार के अभिप्राय से तो (स्याल्लोकवत्) लोक के समान विभाग होगा । इस प्रकार महासमुद्र के तुल्य ब्रह्म को कहते हैं, और सगुण उपासनाओं में उपयोग होगा इस दृष्टि से कार्यप्रपञ्च का प्रत्याख्यान (निषेध) नहीं करके और परिणाम की प्रक्रिया का आश्रयण करते हैं ॥ १४ ॥

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

इतश्च कारणादनन्यत्वं कार्यस्य, यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते नाभावे । तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते सत्सु च तन्तुषु पट उपलभ्यते । नच नियमेनान्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा, नह्यश्वो गोरन्यः सन् गोर्भावि एवोपलभ्यते । नच कुलालभाव एव घट उपलभ्यते, सत्यपि निमित्तनैमित्तिकभावेऽन्यत्वात् । नन्वन्यस्य भावेऽप्यन्यस्योपलब्धिर्नियता दृश्यते, यथाग्निभावे एव धूमस्येति । नेत्युच्यते । उद्घापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात् । अथ धूमं कयाचिदवस्थया विशिष्यादीदृशो धूमो नासत्यग्नौ भवतीति । नैवमपि कश्चिद्दोषः, तद्भ्रातृवानुरक्तां हि बुद्धिं कार्यकारणयोरनन्यत्वे हेतुवयं वदामः । न चासावग्निधूमयोर्विद्यते । भावाच्चोपलब्धेरिति वा सूत्रम् । न केवलं शब्दादेव कार्यकारणयोरनन्यत्वं, प्रत्यक्षोपलब्धिभावाच्च तयोरनन्यत्वमित्यर्थः । भवति हि प्रत्यक्षोपलब्धिः कार्यकारणयोरनन्यत्वे । तद्यथा—तन्तुसंस्थाने पटे तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कार्यं नैवोपलभ्यते केवलास्तु तन्तव आतानवितानवन्तः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते, तथा तन्तुष्वंशवोऽंशेषु तदवयवाः । अनया प्रत्यक्षोपलब्ध्या लोहितशुक्लकृष्णानि त्रीणि रूपाणि ततो वायुमात्रमाकाशमात्रं चेत्यनुभेयम् (छां० ६।४), ततः परं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं तत्र सर्वप्रमाणानां निष्ठामवोचाम ॥ १५ ॥

इस वक्ष्यमाण कारण हेतु से भी कार्य को कारण से अनन्यत्व (अभेद) है कि जिस कारण से भाव (सत्ता) रहने का कार्य उपलब्ध होता है कारण के अभाव रहते कार्य नहीं उपलब्ध होता है, जैसे मृत्तिका के रहते ही घट उपलब्ध होता है, तन्तुओं के रहते पट उपलब्ध होता है । अन्य पदार्थ की सत्ता रहते ही नियम से उससे अन्य की उपलब्धि नहीं देखी गई है, गौ से अन्य होता हुआ अश्व गौ के रहते ही नियम से नहीं उपलब्ध होता है । और निमित्त नैमित्तिक भाव के रहते भी अन्यत्व से कुलाल के भाव रहते ही घट नहीं उपलब्ध होता है । यद्यपि सूत्र का भावार्थ है कि उपादान कारण की उपलब्धि (ज्ञान) के रहते ही उपादेय कार्य की उपलब्धि होती है, इससे अनन्यता है और ऐसा नियम धूमाग्नि में नहीं है पर्वतादि में अग्नि के बिना भी धूम का ज्ञान होता है, तथापि सूत्राक्षर के अनुसार शंका होती है कि अन्य के भाव रहते हुए भी अन्य की नियतोपलब्धि देखी जाती है, जैसे कि अग्नि की सत्ता रहते हुए ही धूम की उपलब्धि होती है । उत्तर है कि अग्नि के रहते ही धूम उपलब्ध होता है यह नियम नहीं है, क्योंकि अग्नि के उद्घापित (शान्तनिवृत्त) होने पर भी गोपाल की घुटिका (घुठना) आदि द्वारा गृहीत धूम देखा जाता है, अर्थात् किसी पात्र में धूम को भर कर और उसके मुख को घुटिका आदि से दबा कर रखने से अग्नि के वृक्ष जाने पर भी वह धूम उपलब्ध होता है । यदि धूम को किसी अविच्छिन्न मूलरेखा

आदि रूप अवस्थात्मक विशेषण युक्त वही कि ऐसा धूम अग्नि के रहते ही उपलब्ध होता है तो ऐसा विशेषण देने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि तद्भावा (कारण भाव कारणरूपता) से अनुरक्त (मिश्रित) कार्य की वृद्धि को हम कार्यकारण को अनन्यता में हेतु कहते हैं । ऐसी वृद्धि मृदघट (मृत्तिवात्मक घट है) इत्यादि होती है, अग्नि-धूम (अग्निस्वरूप धूम है) इस प्रकार की वृद्धि नहीं होती है, इससे हेतु में व्यभिचार दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि धूम में वह वृद्धि नहीं है । अथवा (भावाच्चोपलब्ध) ऐसा सूत्र है, अर्थ है कि केवल शब्द (श्रुति) से ही कार्य कारण का अभेद नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष उपलब्धि के भाव (सत्ता से भी कार्य कारण का अभेद है जिससे कार्यकारण का अभेदविषयक प्रत्यक्षज्ञान होता है । जैसे तन्तुओं के सस्थान (आकार सन्निवेश) गचना विशेषरूप पट में तन्तु के बिना तन्तु से भिन्न पट नामक कार्य नहीं उपलब्ध होता है किन्तु आतान वितान (दीर्घता विस्तार तानी भरती वाले केवल तन्तु ही प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं । इसी प्रकार तन्तुओं में अशु (सूक्ष्मांश) और अशुओं में भी उनके अवयव उपलब्ध होते हैं । इस प्रत्यक्ष उपलब्धि से तत्तत्कार्य में कारण मात्र को जान कर फिर श्रुति के अनुसार अनुमान से लोहित शुक्ल और कृष्ण इन तीन रूप को जान कर उनसे आगे वायुमात्र और आकाशमात्र ब्रह्म से अनुमेय हैं, इसमें पर एक ही अद्वितीय परब्रह्म दोष रहता है, उगी में सब प्रमाणों की निष्ठा को सब वेदान्त के तात्पर्य को कह चुके हैं ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

इतश्च कारणात्कार्यस्यानन्यत्व यत्कारण प्रागुत्पत्तं कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।१।१), 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० आ० २।४।१।१) इत्यादाविदशब्द-गृहीतस्य कार्यस्य कारणेन सामानाधिकरण्यात् । यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत् उत्पद्यते, यथा सिक्ताभ्यस्तेलम्, तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात्कार्यमित्यवगम्यते । यथाच कारण ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येव कार्यमपि जगत्त्रिषु सत्त्वं न व्यभिचरति । एक च पुन सत्त्वमतोऽप्यनन्यत्व कारणात्कार्यस्य ॥ १६ ॥

इस वक्ष्यमाण कारण से भी कार्य का कारण से अभेद है कि जिस कारण से उत्पत्ति से पूर्वकाल में कारण स्वरूप से ही अवरकालीन (पाश्चात्कालिक) कार्य का सत्त्व सुना जाता है कि (हे सोम्य । यह जगत् उत्पत्ति से पहिले सत्त्वरूप ही था । यह जगत् पूर्वकाल में एक आत्मस्वरूप ही था) इत्यादि श्रुतियों में इस शब्द से गृहीत कार्य का कारण के साथ सामानाधिकरण्य (अभेदता) से कारणरूप से सत्त्व सुना जाता है, और सत्त्व की सिद्धि होनी है, क्योंकि जो जिस रूप से जहाँ नहीं है, वह उससे उत्पन्न भी नहीं होता है । जैसे कि सिक्ता से तेल नहीं होता है । जिससे उत्पत्ति

से पूर्वकाल में कार्य को कारण से अभिन्न होने से उत्पन्न भी कार्य कारण से अभिन्न ही रहता है, ऐसा निश्चय होता है । एवं जैसे कारणरूप ब्रह्म तीनों काल में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है, इसी प्रकार कार्यरूप जगत् भी तीनों काल में सत्ता से व्यभिचरित (रहित) नहीं होता है । वह सत्त्व एक है, इससे भी कार्य को कारण से अभेद है, अर्थात् एक मूल कारण की ही सर्वत्र सत्ता है, उस रूप से सत्य है, अन्य स्वरूप से असत् है इत्यादि ॥ १६ ॥

असद्वचपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

ननु क्वचिदसत्त्वमपि प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य व्यपदिशति श्रुतिः—‘असदेवेदमग्र आसीत्’ (छां० ३।१५।१) इति, ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ (तै० २।७।१) इति च । तस्मादसद्वचपदेशान्न प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य सत्त्वमिति चेत् । नेति ब्रूमः । न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्वचपदेशः, किं तर्हि ? व्याकृत-नामरूपत्वाद्धर्माद्व्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद्वचपदेशः प्रागुत्पत्तः सत एव कार्यस्य कारणरूपेणान्यस्य । कथमेतदवगम्यते ? वाक्य-शेषात्, यदुपक्रमे सन्दिग्धार्थं वाक्यं तच्छेषान्निश्चीयते । इह च तावत् ‘असदेवेदमग्र आसीत्’ इत्यसच्छब्देनोपक्रमे निर्दिष्टं यत्तदेव पुनस्तच्छब्देन परामृश्य सदिति विशिनष्टि ‘तत्सदासीत्’ इति । असत्तश्च पूर्वापरकालासम्बन्धादासीच्छब्दानुपपत्तेश्च । ‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ इत्यापि ‘तदात्मानं स्वयमकुरुत’ इति वाक्यशेषे विशेषणान्नात्यन्तासत्त्वम् । तस्माद्धर्मान्तरेणायमसद्वचपदेशः प्रागुत्पत्तेः कार्यस्य । नामरूपव्याकृतं हि वस्तु सच्छब्दाहं लोके प्रसिद्धम् । अतः प्राङ्नाम-रूपव्याकरणादसदिवासीदित्युपचयते ॥ १७ ॥

पूर्वोक्तार्थ में शंका होती है कि कही उत्पत्ति से पूर्वकाल में कार्य की असत्ता को भी श्रुति कहती है कि (यह जगत् उत्पत्ति से पूर्वकाल में असत् ही था । निश्चित असद् रूप यह पहिले था) इत्यादि । उस श्रुति के असत् कथन से सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पहिले कार्य का सत्त्व नहीं था, ऐसी यदि शंका हो तो कहते हैं कि उक्त श्रुति से असत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि उस श्रुति में उत्पत्ति से पहिले कार्य का असत्त्व कथन कार्य की अत्यन्त असत्ता के अभिप्राय से नहीं है । तो किस अभिप्राय से है ? इसका समाधान है कि व्याकृत (व्यक्तकृत) नाम रूपत्वात्मक धर्म से अव्याकृत नाम रूपत्व धर्मान्तर (अन्य धर्म) है, उस धर्मान्तर की दृष्टि से कारणरूप से सत्य ही और कारण से अभिन्न ही कार्य को उत्पत्ति से पहिले असत् कहा गया है । यदि कही कि यह अभिप्राय कैसे समझा जाता है । तो कहते हैं कि वाक्यशेष से क्योंकि जो वाक्य उपक्रम में (आरम्भ में) सन्दिग्ध अर्थ वाला रहता है, वह उसके शेष (अङ्ग) रूप वाक्य से निश्चितार्थक होता है । और यहाँ पहिले (यह उत्पत्ति से पूर्व काल में असत् ही था) इस प्रकार आरम्भ में जो असत् शब्द से निर्दिष्ट-कथित

है उसी का फिर तन् शब्द से परामर्श (सम्बन्धस्मरण) करके (वह सन् था) तत्सदासीन् इस प्रकार उस असत् का सन् विशेषण श्रुति कहती है, इससे असत् का उक्त अमिप्राय समझा जाता है । एव असत् स्वरूप रहित को पूर्वापर काल के साथ असम्बन्ध होने से असत् था इस शब्द की भी असिद्धि से उक्त तात्पर्य समझा जाता है । (निश्चित असत् रूप यह पहिले था) यहाँमी (उम परमात्मा ने स्वयं अपने को जगत् रूप से किया) इस वाक्य शेष में अपने आत्मा को जगत् रूप वृत्तता विशेषण से असत् शब्द का अत्यन्त असत्यता अर्थ नहीं है । इससे यह असत् का व्यवदेश धर्मान्तर (अव्यक्तता) की दृष्टि से की है कि उत्पत्ति से पहिले कार्य असत् था । क्योंकि नाम रूप से व्यावृत्त (व्यक्त) ही वस्तु लोक में सन् शब्द के योग्य प्रसिद्ध है, इससे नाम रूप के व्याकरण (अविव्यक्ति) से पूर्व असत् के समान जगत् था इस प्रकार उपचार (गीण व्यवहार) किया जाता है ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

युक्तेश्च प्रागुत्पत्ते कार्यस्य सत्त्वमनन्यत्व च कारणादवगम्यते, शब्दान्तराच्च । युक्तिस्तावद्वर्ण्यते—दधिभटरुचकार्थिभि प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिकासुवर्णादीन्युपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते । नहि दध्यर्थिभिमृत्तिकोपादीयते न घटार्थिभि क्षीर तदसत्कार्यवादे नोपपद्यते । अविष्टे हि प्रागुत्पत्ते सर्वत्र सर्वम्प्राप्तत्वे कस्मात्क्षीरादेव दध्युत्पद्यते न मृत्तिकाया, मृत्तिकाया एव च घट उत्पद्यते न क्षीरात् । अथाविशिष्टेऽपि प्रागमत्त्वे क्षीरे एव दध्न कश्चिदतिशयो न मृत्तिकाया, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीर इत्युच्येत, तर्ह्यतिशयवत्त्वान्प्रागवस्थाया अमत्यकार्यवादहानि सत्कार्यवादसिद्धिश्च । शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्याऽस्मत्तो वा कार्यं नियच्छेत्, अमत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेषाच्च । तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्ति शक्तेश्चात्मभूत कार्यम् । अपि च कार्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीना चाश्चमहिषवज्जेदबुद्ध्यभावात्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम् ।

युक्ति में भी उत्पत्ति से पूर्वकाल में कार्य का सत्त्व और कारण से अनन्यत्व (अभेद) समझा जाता है, ऐसे ही शब्दान्तर (अन्य श्रुतियों) से पता चलता है । वहाँ पहिले युक्ति का वर्णन किया जाता है कि दधि, घट, रुचक आदि की इच्छा वालों से दूध मृत्तिका सुवर्णादिरूप प्रतिनियत कारणों का ग्रहण लोक में किया जाता है, इससे कार्यार्थियों द्वारा नियत ही कारण उपादीयमान (गृहीत) देखे जाते हैं । दधि की इच्छा वालों में दधि के लिए मृत्तिका नहीं गृहीत होती है, घट की इच्छा वाले दूध का ग्रहण नहीं करते हैं । यह नियम असत्कार्यवाद में नहीं सिद्ध होगा । और उत्पत्ति से पूर्व सब कार्य का सर्वत्र असत्त्व की अविशिष्टता (तुल्य) रहने, दूध से ही क्यों दधि उत्पन्न होता है, मृत्तिका से क्यों नहीं ? और मृत्तिका से ही क्यों

घट उत्पन्न होता है, दूध से घट क्यों नहीं उत्पन्न होता है । यदि कार्यासद्वादी कहे कि उत्पत्ति से पहिले कार्य की असत्ता के सर्वत्र तुल्य रहते हुए भी दूध में ही दधि का कोई अतिशय शक्ति विशेष रहता है, मृत्तिका में दधि का अतिशय नहीं रहता है । और मृत्तिका में ही घट का कोई अतिशय रहता है, दूध में घट का अतिशय नहीं रहता है । वहाँ कहा जाता है कि यदि वह अतिशय का धर्म है, तो उत्पत्ति से कार्य की पूर्वावस्था को अतिशयरूप धर्मवाली होने से असत्कार्यवाद को हानि होगी, और सत्कायवाद की सिद्धि होगी । क्योंकि धर्मों के बिना पहिले धर्म रह नहीं सकता है । एवं यदि उस अतिशय को कारण का धर्म मानो, तो कारण को कार्य नियमार्थक कल्पित शक्ति भी कार्य कारण से अन्य वा असत् होने पर असत्त्व अन्यत्व के तुल्य होने से कार्य का नियम नहीं करेगा, अर्थात् दधि की शक्ति दूध में है, और दूध से अन्य है, तो दूध से अन्य घट पटादि के समान दधि का नियामक नहीं होगी, और यदि असत् है तो नृशृङ्गादि के समान नियामक नहीं होगी । इससे कारण की आत्मस्वरूप शक्ति है, और शक्ति का आत्मस्वरूप कार्य है ।' अर्थात् कारणरूप से लीन कार्य ही अभिव्यक्ति का नियामक शक्ति है, जिससे सत्कार्यवाद की सिद्धि होती है । और दूसरी बात है कि कार्य और कारण में; तथा द्रव्य और गुणादि में अथ और महिष के समान इनके भेद की बुद्धि के अभाव से इनका तादात्म्य (अभेद) मानने योग्य है । यदि कोई कहे कि कार्य कारणादि को तादात्म्य नहीं है किन्तु भेद है तो भी अथ महिष तुल्य भेद बुद्धि नहीं होने में कारण यह है कि कार्य कारण का समवाय नामक नित्य सम्बन्ध है । इसी प्रकार गुण क्रिया आदि को गुणी आदि के साथ समवाय सम्बन्ध है, अथ महिष का समवाय नहीं है ।

समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः सम्बन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्यान्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः, अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः । अथ समवायः स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्षयैवापरं सम्बन्धं सम्बध्यते, संयोगोऽपि तर्हि स्वयं सम्बन्धरूपत्वादनपेक्षयैव समवायं सम्बध्येत, तादात्म्यप्रतीतिश्च द्रव्यगुणादीनां समवायकल्पनानर्थक्यम् कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयवद्रव्येषु वर्तमानं वर्तते, किं समस्तेष्ववयवेषु वर्ततेतत् प्रत्यवयवम् । यदि तावत्समस्तेषु वर्तते ततोऽवयव्यनुपलब्धिः प्रसज्येत, समस्तावयवसंनिकर्षस्याशयत्वात् । नहि बहुत्वं समस्तेष्ववयवेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते । अथावयवशः समस्तेषु वर्तते, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन् यैरारम्भकेष्ववयवशोऽवयवी वर्तते । कोणावयवव्यतिरिक्तैर्ह्रस्ववैरसिः कोशं व्याप्नोति । अनवस्था चैवं प्रसज्येत, तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात् । अथ प्रत्यवयवं वर्तते तदैकत्र व्यापारेऽन्यत्राव्यापारः स्यात्, नहि देवदत्तः स्रुघ्ने संनिधीय-

मानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि सनिधीयते युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्ग
स्यात् देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्नपाटलिपुत्रनिवासिनो । गोत्वादिवत्प्रत्येक
परिममाप्तेर्न दोष इति चत् । न । तथा प्रतीत्यभावात् । यदि गोत्वादिवत्प्र-
त्येक परिममाप्तोऽवयवी स्याद्यथा गोत्व प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्ष गृह्यते एवमवयव्यपि
प्रत्यवयव प्रत्यक्ष गृह्येत, नचैव नियत गृह्यते । प्रत्येकपरिसमाप्तौ चावयविन
कार्येणाधिकारात्तास्य चैकत्वाच्छृङ्गेणापि स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम् ।
नचैव दृश्यते ।

समवाय की कल्पना करने पर भी उस समवाय का समवायी (समवाय वाले)
कार्यादि के साथ समवाय सम्बन्ध के स्वीकार करने पर तत्तात् समवायी को अन्य अन्य
समवाय सम्बन्ध कल्पना से मानना होगा । तब अनवस्था की प्राप्ति होगी और सम-
वाय के सम्बन्ध को नहीं मानने पर विच्छेद (कार्यकारण द्रव्यगुणादि में सम्बन्धा-
भाव) की प्राप्ति होगी । स्वय सम्बन्धरहित समवाय अन्य की सम्बद्ध बुद्धि नहीं करा
सकेगा । यदि कहो कि सम्बन्ध स्वरूप होने से दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना ही
समवाय समवायी से सम्बन्ध वाला झोता है, अपनी अन्य की सम्बद्ध विशिष्ट बुद्धि
करता है, तो सयोग भी स्वय सम्बन्ध रूप होने से सम्बन्धान्तर रूप समवाय की अपेक्षा
के बिना ही सयोगी से सम्बद्ध होगा, और विशिष्ट बुद्धि करायेगा । द्रव्यगुणादि का
तादात्म्य की प्रतीति से समवाय की कल्पना अनर्थक है । और समवाय को मानने पर
भी अवयव द्रव्य रूप कारणों में वर्तमान अवयवी कार्यरूप द्रव्य किस प्रकार से
वर्तता रहता है, क्या समस्त अवयवों में रहता है अथवा प्रत्येक अवयव में ?
यदि समस्त अवयवों में रहेगा, तो अवयवी की अनुपलब्धि प्राप्त होगी, क्योंकि समस्त
अवयवों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं हो सकता है, जैसे कि समस्त आश्रय में
वर्तमान बह्व्य व्रित्तादि का व्यस्त (पृथक्, एक) आश्रय के ग्रहण से नहीं ग्रहण
होता है । यदि कहो कि समस्त अवयवों में अवयवी अवयवों द्वारा वर्तता है । अर्थात्
किसी अश्रय में अवयवी का ऊर्ध्वास रहता है, किसी में मध्याग किसी में नीचे का
अश रहता है, इसी प्रकार बाह्याश अन्ताशदि रूप में अवयवी सब अवयवों में रहता
है वहाँ सब अवयव के ज्ञान बिना भी सन्मुख बाह्याश के ज्ञान से अवयवी का ज्ञान होता
है । तो कहा जाता है कि अश भी अवयव को ही कहते हैं, इससे इस प्रकार मानने पर
अवयवी के आरम्भक अवयवों से भिन्न अवयवी के अवयव कल्पित होंगे कि जिनके द्वारा
आरम्भक अवयवों में अवयवी अवयवश (अदाश) रहेगा जैसे कि कोश के अवयवों
से भिन्न अवयवों द्वारा ही तरवार कोश को व्याप्त करता है, वैसे ही यहाँ भी होगा,
और इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होगी । क्योंकि तत्तात् अवयवी में अवयवी के रहने के
लिए अन्य अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी और यदि प्रत्येक अवयव में अवयवी रहेगा,
तो प्रत्येक अवयव में भिन्न-भिन्न अवयवी के होने से एक तन्तु में जिस समय एक पट

रहेगा, उसी समय वह पट दूसरे तन्तु में नहीं रहेगा, इससे एक तन्तु में पटके कोई स्थिति आकर्षणादि रूप व्यापार होने पर अन्य तन्तु में पट का व्यापार नहीं होगा, क्योंकि स्रुघ्न में वर्तमान देवदत्ता उसी दिन पटना में वर्तमान नहीं रहता है, और एक काल में अनेक तन्तु में पट के रहने पर अनेक पट की प्रसक्ति है, जैसे कि स्रुघ्न और पटना के निवासी देवदत्ता यज्ञदत्ता में अनेकता रहती है। यदि कहो कि जैसे गोत्व जाति एक काल में अनेक व्यक्ति में रहती है तथा प्रत्येक व्यक्ति में परिसमाप्त (पूर्ण) रहती है, तो भी उसमें भेद की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही अवयवी की प्रत्येक अवयव में परिसमाप्ति से भेद के प्रसंगादिरूप दोष नहीं है, तो यह कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि गोत्व के समान अवयवी की प्रतीति का अभाव है। यदि गोत्वादि के समान प्रत्येक अवयव में अवयवी परिसमाप्त हो तो जैसे गोत्व जाति प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष गृहीत होती है, इसी प्रकार अवयवी भी प्रत्येक अवयवों में प्रत्यक्ष गृहीत होता, परन्तु इस गोत्व के समान अवयवों में व्यक्ति नियम से नहीं गृहीत होता है। और यदि प्रत्येक अवयव में अवयवी की परिसमाप्ति पूर्णता हो तो अवयवी को कार्य के साथ अधिकार (सम्बन्ध) होने से और प्रत्येक अवयव में परिसमाप्त होने पर भी गोत्व के समान उस अवयवी के एक होने से गौ अपने सींग से भी स्तन का कार्य करने लगेगी, उर से पीठ का कार्य करेगी, ऐसा होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता हुआ देखा नहीं जाता है।

प्रागुत्पत्तेश्च कार्यस्यासत्त्वं उत्पत्तिकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। उत्पत्तिश्च नाम क्रिया, सा लकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्, क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिपिध्येत। घटस्य चोत्पत्तिरुच्यमाना न घटकर्तृका किं तर्ह्यन्यकर्तृकेति कल्प्या स्यात्। तथा कपालादीनामप्युत्पत्तिरुच्यमानान्यकर्तृकैव कल्प्येत, तथा च सति घट उत्पद्यत इत्युक्ते कुलालादीनि कारणान्युत्पद्यन्त इत्युक्तं स्यात्। नच लोके घटोत्पत्तिरित्युक्ते कुलालादीनामप्युत्पद्यमानता प्रतीयते, उत्पन्नताप्रतीतेश्च। अथ स्वकारणसत्तासम्बन्ध एवोत्पत्तिरात्मलाभश्च कार्यस्येति चेत्, कथमलब्धात्मकं सम्बध्येतेति वक्तव्यम्। सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः संभवति न सदसतोरसतोर्वा। अभावस्य च निरुपाख्यत्वात्प्रागुत्पत्तेरिति मर्यादाकरणमनुपपन्नम्, सतां हि लोके क्षेत्रगृहादीनां मर्यादा दृष्टा नाभावस्य। नहि वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव प्राक्पूर्वमणोऽभिपेकादित्येवंजातीयकेन मर्यादाकरणेन निरुपाख्यो वन्ध्यापुत्रो राजा बभूव भविष्यतीति वा विशेष्यते। यदि च वन्ध्यापुत्रोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वमभविष्यत्तत इदमप्युपापत्स्यत कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं भविष्यतीति। वयं तु पश्यामो वन्ध्यापुत्रस्य कार्याभावस्य चाभावत्वाविशेषाद्यथा वन्ध्यापुत्रः कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यत्येवं कार्याभावोऽपि कारकव्यापारादूर्ध्वं न भविष्यतीति।

कहते हैं कि उत्पत्ति क्रिया है, सब क्रिया कर्ता से जन्य होती है वहाँ यदि उत्पत्ति से पहिले कार्य की असत्ता है तो उत्पत्तिरूप क्रिया कर्ता के बिना और निरान्तर होगी, उत्पत्ति प्रसिद्धि क्रिया है, वह गति आदि के समान भवतृक ही होने योग्य है। क्रिया भी नाम हो और वह कर्ता रहित हो यह विरुद्ध है, और कही गई घट की उत्पत्ति घट कर्तृक नहीं है, किन्तु अन्य कर्तृक है, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार कही गई कपालादि की उत्पत्ति भी कपालादि से अन्यकर्तृक ही कल्पना करनी पड़ेगी। ऐसा होने पर घट उत्पन्न होता है ऐसा कहने से कुलालादि कारण उत्पन्न होने हैं ऐसा विरुद्ध कथन सिद्ध होगा। परन्तु लोक में घटोत्पत्ति इस प्रकार कहने पर कुलालादि की उत्पद्यमानता उत्पत्ति नहीं प्रतीति होती है। और पहिले की उत्पन्नता कुलालादि में प्रतीत होती है। अर्थात् कुलालादि में वर्तमान उत्पत्ति क्रिया की आश्रयता नहीं भासती है, किन्तु सिद्धता कारण तो भासती है। यदि कहो कि अपने कारण के साथ और सत्ता के साथ कार्य का सम्बन्ध होता ही कार्य की उत्पत्ति है, और उसका आत्मलाम (स्वरूप की सिद्धि) है। वहाँ कहा जाता है कि पहिले आत्मलाम रहित अद्वय आत्मा वाला कार्य कारण के साथ वा सत्ता के साथ कैसे सम्बन्ध वाला होगा यह कहना चाहिये, क्योंकि दो विद्यमान सत् पदार्थों का सम्बन्ध सम्भव होता है, एक सत् और एक असत् का वा दो असत् का सम्बन्ध नहीं होता है, और अभाव (असत्) के निरुपाय (वचन धर्मादि के अयोग्य) होने से उत्पत्ति से पूर्व असत् कार्य रहता है यह मर्यादा करना भी अयुक्त है क्योंकि निरुपाय असत् का वाक्य के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, लोक में सत् गृह क्षेत्रादि की ही काल देशादि वृत्त मर्यादा देखी गई है, अभाव (असत्) की मर्यादा (सीमा) नहीं देखी गई है। पूर्णवर्मा के राज्याभिषेक से पहिले बन्ध्या का पुत्र राजा हुआ था इस प्रकार की मर्यादा के करने के द्वारा निरुपाय बन्ध्या पुत्र राजा हुआ वा होता है वा होगा इस प्रकार का भेद नहीं किया जाता है। और यदि बन्ध्या का पुत्र भी कारक के व्यापार के बाद होता तो यह भी उत्पन्न (सिद्ध) होना कि कार्याभाव (असत्कार्य) भी कारक व्यापार के बाद उत्पन्न होता है। और हम तो देखते हैं कि बन्ध्यापुत्र और कार्य का अभाव (असत् कार्य) दोनों के तुल्य होने में जैसे बन्ध्या पुत्र कारक व्यापार के बाद में नहीं हो सकता है, इसी प्रकार कार्याभाव (असत्कार्य) भी कारक के व्यापार के बाद में नहीं हो सकता है, क्योंकि (नामतो विद्यते भाव) असत् का भाव नहीं होता है, यह भगवद्वचन भी है।

नन्वेव सति कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत। यथैव हि प्राक्मिदत्वात्कारणस्य स्वरूपसिद्धये न कश्चिद्व्याप्रियन्ते, एव प्राक्मिदत्वात्तदनन्यत्वान्च कार्यस्य स्वरूपसिद्धयेऽपि न कश्चिद्व्याप्रियेत, व्याप्रियते च, अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वाय मन्यामहे प्रागुत्पत्तेरभावः कार्यस्येति। नैव दोषः, यत् कार्याकारेण कारणव्यवस्थापयत् कारकव्यापारस्याभेदत्वमुपपद्यते। कार्याका-

रोऽपि कारणस्यात्मभूत एवानात्मभूतस्यानारम्भत्वादित्यभाणि । नच विपदर्शन-
मात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति । नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च
विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात् । तथा
प्रतिदिनमनेकसंस्थानानामपि पित्रादीनां न वस्त्वन्यत्वं भवति, मम पिता मम
भ्राता मम पुत्र इति प्रत्यभिज्ञानात् ।

यहाँ शंका होती है कि कारक व्यापार से पहिले भी यदि कार्य के उपादान कारण
में सत्ता है तो कारक का व्यापार अनर्थक प्राप्त होता है । जिससे पूर्वसिद्ध कारण के
स्वरूप की सिद्धि के लिए कोई भी व्यापार (क्रिया) नहीं करता है । इसी प्रकार पूर्व
काल में ही सिद्ध होने से और पूर्व से सिद्ध कारण से अन्य (अभिन्न) होने से कार्य
के स्वरूप की सिद्धि के लिये कोई व्यापार नहीं करेगा, न करना चाहिये, परन्तु लोग
कार्य सिद्धि के लिये व्यापार करते हैं, इससे कारक के व्यापारों की सार्थकता के लिये
मानते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व काल में कार्य का अभाव रहता है (कार्य की असत्ता
रहती है) । उत्तर है कि सत्कार्यवाद में यह कारक व्यापार की अनर्थकता की प्राप्ति
रूप दोष नहीं है । जिससे कारण को कार्याकार से व्यवस्थित (व्यक्त-सिद्ध) करता
हुआ कारक व्यापार को सार्थकता उपपन्न (सिद्ध) होती है । अर्थात् उत्पत्ति से पहिले
तिल में तैल के समान मृत्तिकादि में घटादि भी वर्तमान रहते हैं, परन्तु अव्यक्त रहते
हैं कारण रूप से रहते हैं, वहाँ जैसे तिल के पीड़न से तैल व्यक्त होता है, इसी प्रकार
तत्तत् कार्याचित व्यापार से तत्तत् कार्य व्यक्त होते हैं इत्यादि । और वह कार्याकार
रूप अभिव्यक्ति भी कारण का आत्मस्वरूप ही होती है, अर्थात् घट की अभिव्यक्ति
भी मृत्तिका स्वरूप ही है, क्योंकि कारण का अनात्म स्वरूप (असत् कार्य) आरम्भ के
योग्य नहीं है, यह कहा जा चुका है, इससे अभिव्यक्ति सहित कार्य कारण स्वरूप है ।
यहाँ अभिव्यक्ति को भी सत् मानने पर तदर्थक व्यापार की अनर्थकता की शंका होने
पर अनिर्गन्धीय मायामात्र अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति सिद्ध होती है, वह माया परम
कारण की शक्ति अनादि अचिन्त्य है, इससे अनवस्था आदि की शंका उचित नहीं है ।
और कार्य में व्यवताव्यक्त अवस्था के भेद होने पर भी कार्य के स्वरूप में भेद नहीं होता
है क्योंकि अवस्था विशेष के दर्शन मात्र से वस्तु में अन्यत्व (भेद) की प्रतीति नहीं
होती है । संकुचित हाथ, पैर वाला और फैलाये हुये हाथ पैर वाला देवदत्त यद्यपि
विशेष (भिन्न) रूप वाला दीखता है तथापि वस्तु का भेद नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि
वह वही है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । इसी प्रकार प्रतिदिन अनेक संस्थान (आकार)
वाले भी आदि को वस्तु अन्यत्व नहीं होता है, क्योंकि मेरा पिता, मेरा भ्राता, मेरा
पुत्र है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है ।

जन्मोच्छेदानन्तरितत्वात्तत्र युक्तं नान्यत्रेति चेत् । न । क्षीरादीनामपि दध्याद्या-
कार संस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात् । अदृश्यमानानामपि वटधानादीनां समानजातीया-
वयवान्तरोपचितानामङ्कुरादिभावेन दर्शनगोचरतापत्ती जन्मसंज्ञा, तेषामेवावय-

वानामपचयवशाददर्शनापत्तावुच्छेदसज्ञा । तत्रेदृगजन्मोच्छेदान्तरितत्वाच्चेदसत्
 सरवापत्तिस्तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसङ्गः । तथा च बाल्य-
 यौवनस्थाविरेष्वपि भेदप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारलोपप्रसङ्गश्च । एतेन क्षण-
 भङ्गवादः प्रतिपादितव्यः । यस्य पुनः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं तस्य निविषयः कारक-
 व्यापारः स्यात्, अभावस्य विषयत्वानुपपत्तेराकाशस्य हननप्रयोजनखङ्गाद्यनेका-
 युधप्रसक्तिवत् । समवायिकारणविषयः कारकव्यापारः स्यादिति । चेत् । न अन्य-
 विषयेण कारकव्यापारेणान्यनिष्पत्तेरतिप्रसङ्गात् । समवायिकारणस्यैवात्मा-
 तिज्ञाय कार्यमिति चेत् । न । सत्कार्यतापत्तेः । तस्मात्क्षीरादीन्येव द्रव्याणि
 दध्यादिभावेनावतिष्ठमानानि कार्याण्या लभन्त इति न कारणादन्यत्कार्यं वर्षश-
 तेनापि शक्यं निश्चेतुम् । तथा मूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण
 नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्व प्रतिपद्यते । एव युक्ते कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वमनन्यत्व
 च कारणादवगम्यते ।

यहाँ शका होती है कि पिता, भ्राता आदि के जन्म, मरण (नाश) के व्यवधान
 रहित होने में वहाँ प्रत्यभिज्ञा से भेद का अभाव एवता युक्त है । परन्तु दार्ष्टान्तिक
 कार्य कारण में दूध के नाश से दधि होना है, तिल के नाश से तैल होता है, इससे
 कारण का नाश और कार्य की उत्पत्ति से अन्तरित (व्यवहित) कार्य कारण हो जाते
 हैं, इसीसे इनका अभेद भी नहीं हो सकता है । वहाँ कहा जाता है कि कारण का नाश
 नहीं होता है, क्योंकि दूध आदि का ही दधि आदि के आकार से सम्यक् स्थिति सन्निवेश
 का प्रत्यक्ष होता है । और समान जाति वाले अवयवान्तर से वृद्धि को प्राप्त अदृश्य वट
 बीजादि को अकुरादि रूप से दर्शन की विषमता की प्राप्ति होने पर उनकी जन्म सज्ञा
 होती है । और उन्हीं अवयवों के अपचय क्षय के वश से जब अदर्शनता की प्राप्ति होती
 है तब नाश सज्ञा होती है । वस्तुतः वहाँ भी वट बीजादि का काय में अवयव है, कारण
 का नाश और असत् कार्य की उत्पत्ति वहाँ भी नहीं है, अवयव के उपचय, अपचयमात्र
 से जन्मनाश का नाममान होता है । वहाँ इस प्रकार के जन्म और विनाश से
 अन्तरित (व्यवहित) होने से यदि असत् कार्य की सत्ता की प्राप्ति हो, और सत् कारण
 की विनाश रूप असत्ता की प्राप्ति हो, तो ऐसा होने पर गर्भ में रहने वाला और जन्म
 के बाद बाहर उत्तान सोने वाला बच्चा में भी भेद की प्राप्ति होगी । इसी प्रकार
 बाल्य, यौवन और म्याविर (वृद्धत्व) में भी भेद की प्राप्ति होगी, और ऐसा होने पर
 पिता आदि व्यवहार का लोप (अभाव) प्राप्त होगा । इस प्रकार कारण की कार्य में
 अवयव द्वारा कार्य के नित्यत्व के साधन से क्षणभङ्गवाद को प्रत्याख्यात समझना
 चाहिये । जिसके मत में उत्पत्ति से पूर्वकाल में कार्य असत् है, उसके मत में वर्त-
 आदि रूप कारक का व्यापार (उत्पादन-क्रिया) निविषय होगा, क्योंकि अभाव
 (असत् कार्य) को कारक व्यापार विषयत्व इस प्रकार अनुपपन्न है कि जैसे आकाश

को हनन रूप में प्रयोजन के लिये खड्गादि अनेक आयुध की प्रसक्ति (प्राप्ति) अनुपपन्न होती है । यदि असत्कार्यवादी कहें कि कार्य के समवायी कारण विषयक कारक का व्यापार होगा, इससे निर्विषय नहीं होगा, तो यह कहना नहीं बन सकता है । क्योंकि अन्य (समवायी) विषयक व्यापार से अन्य (कार्य) की निष्पत्ति (सिद्ध) मानने से अतिप्रसक्ति होगी (कार्य से अन्य की उत्पत्ति प्राप्त होगी) । यदि कहो कि समवायी कारण को ही स्वरूप का अतिशय रूप कार्य है, इस लिए तद्विषयक व्यापार से कार्यसिद्ध होता है, और अतिव्याप्ति नहीं होती है, तो सत्कार्यवाद की प्राप्ति होगी । यतः दूध आदि रूप द्रव्य ही दधि आदि रूप से स्थिर होकर कार्य संज्ञा का लाभ करते हैं, इस लिए कारण से अन्य कार्य को सौ वर्ष द्वारा भी निश्चय नहीं कर सकते हैं । इस प्रकार मूल कारण ही अन्त्य कारण तक तत्तत् कार्य रूप से नष्ट के समान सब व्यवहार के आश्रयत्व को प्राप्त होता है । इस प्रकार युक्ति से उत्पत्ति से पूर्व काल में कार्य का सत्त्व को और कारण से अमेद को समझा जाता है ।

शब्दान्तराच्चैतदवगम्यते । पूर्वसूत्रेऽसद्व्यपदेशिनः शब्दस्योदाहृतत्वात्त-
तोऽन्यः सद्व्यपदेशी शब्दः शब्दान्तरम्—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमे-
वाद्वितीयम्’ इत्यादि । ‘तद्वैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्’ इति चासत्पक्षमुप-
क्षिप्य ‘कथमसत्तः सज्जायेत’ इत्याक्षिप्य ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ (छा०
६।२।१) इत्यवधारयति । तत्रेदंशब्दवाच्यस्य कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सच्छब्द-
वाच्येन कारणेन सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात्सत्त्वानन्यत्वे प्रसिध्यतः ।
यदि तु प्रागुत्पत्तेरसत्कार्यं स्यात्पश्चाच्चोत्पद्यमानं कारणे समवेयात्तदान्यत्कारणा-
स्यात्, तत्र ‘येनाश्रुतं श्रुतं भवति’ (छा ६।१।३) इतीयं प्रतीज्ञा पीड्यते ।
सत्त्वानन्यत्वावगतेस्त्विदं प्रतिज्ञा समर्थ्यते ॥ १८ ॥

शब्दान्तर से भी यह समझा जाता है । पूर्वसूत्र में असत् व्यपदेशी (उत्पत्ति से प्रथम कार्य को असत् कहने वाला) शब्द का उदाहरण दिया गया है, उससे अन्य सत् व्यपदेशी शब्द शब्दान्तर है कि (हे सोम्य ! यह जगत् पहले सत्य और एक ही था । द्वैत रहित था) इत्यादि । और (कोई कहते हैं कि यह प्रसिद्ध जगत् प्रथम असत् ही था) इस प्रकार असत् पक्ष का उत्थान करके (असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा) इस प्रकार उस पक्ष का आक्षेप करके (हे सोम्य ! यह प्रथम सत् ही था) इस प्रकार अवधारण कराते हैं । वहाँ ‘इदम्’ शब्द का वाच्यार्थ कार्य की उत्पत्ति से प्रथम सत् शब्द का वाच्यार्थ कारण के साथ सामानाधिकरणता के श्रूयमाण होने से कार्य को सत्त्व और अमेद सिद्ध करता है । और यदि उत्पत्ति से प्रथम कार्य असत् हो और पीछे उत्पन्न होकर कारण में समवेत (समवाय से सम्बद्ध) हो तो कारण से अन्य कार्य होगा । फिर उस अवस्था में (जिस कारण के श्रुत होने से अश्रुत भी कार्य श्रुत होता है) यह प्रतिज्ञा बाधित होगी । कार्य के सत्त्व और कारण से अनन्यत्व की अवगति से तो यह प्रतिज्ञा समर्थित (सिद्ध) होती है ॥ १८ ॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

यथा च सवेष्टित. पटो न व्यक्त गृह्यते किमय पट किं वान्यद्द्रव्यमिति, स एव प्रसारितो यत्सवेष्टित द्रव्य तत्पट एवेति प्रसारणेनाभिव्यक्तो गृह्यते । यथाच सवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तरो गृह्यते, स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते न सवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति । एव तन्त्वादिकारणावस्थ पटादिकार्यमस्पष्टं मत् तुरीयेम-कुविन्दादिकारकव्यापारादिभिर्युक्त स्पष्ट गृह्यते । अतः सवेष्टितप्रसारितपट-न्यायेनैवान्यत्कारणात्कार्यमित्यर्थः ॥ १९ ॥

जैसे सवेष्टित (समेटकर वस्त्रा-तर से बाधा हुआ) पट व्यक्त प्रत्यक्ष नहीं गृहीत ज्ञात होता है कि यह पट है, वा अयं द्रव्य है और वही वन्धन खोल कर फैलाने से अभिव्यक्त प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि जो सवेष्टित द्रव्य था वह यह फैलाया हुआ पट ही है ? और जैसे सवेष्टन के समय पट इस प्रकार से ज्ञात होने पर भी भिन्न दीर्घता और विस्तार (लम्बाई आदि) वाला नहीं गृहीत होता है और फैलाने के समय में वही विशेष दीर्घतायुक्त विस्तारयुक्त गृहीत होता है । एव यह नहीं गृहीत होता कि सवेष्टित रूप वाला से अन्य यह भिन्न (दूसरा) पट है । इसी प्रकार तन्तु आदि रूप कारणावस्था वाला पटादि रूप कार्य अस्पष्ट गृहीत होता है, इससे सवेष्टित प्रसारित पट के समान ही कारण से कार्य अभिन्न है—यह सूत्र का अर्थ है ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्र-रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्र कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चनप्रसारणादिकः कार्यान्तरम् । तेष्वेव प्राणभेदेषु पुनः प्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चनप्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्त्यते । न च प्राणभेदानां प्रभेदवत् प्राणादन्यत्वं, समीरणस्वभावाविशेषात् । एव कार्यस्य कारणादन्यत्वं । अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात्तदनन्यत्वाच्च सिद्धेऽपि श्रुती प्रतिज्ञा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इति ॥ २० ॥

और जैसे लोक में प्राण अपान आदि प्राण भेदों के प्राणायाम से निरुद्ध होने पर, कारणमात्र रूप से उन प्राणापानादि के वर्तमान रहने पर जीवनमात्र रूप कार्य सिद्ध होता है, आकुञ्चन प्रसारण (अङ्गों को समेटना फैलाना) आदि रूप अयं कार्य नहीं होता है । उन्हीं प्राणों के निरोध के बाद फिर प्रवृत्त व्यापारयुक्त होने पर जीवन से अधिक आकुञ्चन प्रसारणादिक भी अन्य कार्य सिद्ध होते हैं । और फिर भिन्न रूप में प्रवृत्त होने पर भी उन भिन्न प्राणों को निरुद्ध अवस्था में सब प्रभेद वाला एक प्राण

से अन्यत्व (भेद) नहीं रहता है, क्योंकि दोनों अवस्था में समीरण (वायु) स्वभाव तुल्य है । इसी प्रकार कार्य को कारण से अनन्यता है । और इसी से सम्पूर्ण जगत् के ब्रह्म कार्यत्व और ब्रह्मानन्यत्व से यह श्रुति की प्रतिज्ञा सिद्ध हुई कि (जिससे अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत होता है, और अविज्ञात विज्ञात होता है) ॥ २० ॥

इतरव्यपदेशाधिकरण (७)

हिताक्रियादि स्यान्नो वा जीवाभेदं प्रपद्यतः ।

जीवाहितक्रिया स्वार्था स्यादेवा नहि युज्यते ॥ १ ॥

अवस्तु जीवसंसारस्तेन नास्ति मम क्षतिः ।

इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागता ॥ २ ॥

संशय है कि जीव से अपने अभेद को जानने वाले ईश्वर में दुःखःमय संसार की रचना से हित का अकरण और अहित का कर्ता रूप अनौचित्य दोष की प्राप्ति होती है अथवा नहीं होती है । पूर्वपक्ष है कि जीव के लिए की गयी अहित क्रिया अभिन्नता से स्वार्थक होगी, ऐसी यह क्रिया युक्त नहीं है । सिद्धान्त है कि माया अविद्यामय मिथ्या जीव का संसार है, इससे मेरी कोई क्षति (हानि) नहीं है इस प्रकार जानने वाले ईश्वर को हिताहित दोष की भागिता नहीं है । भाव है कि रागद्वेषादि के बिना ईश्वर साधारण कारण है, हिताहित के विशेष हेतु जीव के हो अविद्या काम कर्मादि हैं और औपाधिक भेद है इससे ईश्वर दोष का आश्रय नहीं होता है ॥ १-२ ॥

इतरव्यपदेशाद्विज्ञातकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते । चेतनाद्वि जगत्प्रक्रियायामाश्रीय-
माणायाम् हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते । कुतः ? इतरव्यपदेशात् । इतरस्य
शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः—‘स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ इति
प्रतिबोधनात् । यद्वा इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति ‘तत्सृष्ट्वा
तदेवानुप्राविशत्’ (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन
शारीरात्मत्वप्रदर्शनात् । ‘अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’
(छां० ६।३।२) इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो
भिन्नः शरीर इति दर्शयति । तस्माच्चद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति । अतः
स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाहितं जन्ममरणजरा-
रोगाद्यनेकानर्थजालम् ।

जीव का जीव से इतर (भिन्न) ब्रह्म रूप से श्रुति में निर्देश से ब्रह्मकृत जीव का अहित आत्मकृत ही सिद्ध होता है, वहाँ अपने लिए हित का अकरणादि दोष प्राप्त है । इससे सर्वात्मा चेतन ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, यह पूर्वपक्ष सूत्र है ।

अन्य प्रकार से फिर चेतन कारणवाद का आक्षेप किया जाता है कि चेतन से जगत् को सृष्टि को स्वीकार करने पर हिताकरणादि दोष प्राप्त होंगे क्योंकि इतर का

इतर रूप से व्यपदेश है। अर्थात् इतर जीव के ब्रह्म स्वरूप को श्रुति कहती है कि (वह ब्रह्म आत्मा है और श्वेतकेतो ! तुम वही हो) इस प्रकार प्रतिबोधन से जीव को ब्रह्म रूप श्रुति कहती है। अथवा इतर ब्रह्म के जीव स्वरूपत्व को कहती है कि (वह ब्रह्म मृष्टि करके उसमें प्रवेश किया) इस प्रकार अविकृत मृष्टिवर्ता ब्रह्म का ही कार्य में अनुप्रवेश द्वारा जीवात्मा का दर्शन होता है। और (इस जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके नाम और रूप का व्याकरण विभाग कहें) इस प्रकार जीव को आत्मशब्द से कहती हुई पराश्रयता जीवब्रह्म से मिलन नहीं है यह दिखलाती है। अतः जो ब्रह्म को मृष्टि का कर्तृत्व है वह जीव का ही है। इसमें वह जीव स्वतन्त्र कर्त्ता होकर अपना हित ही मन को प्रसन्न करने वाला सुख का हेतु कार्य करेगा, और अपना अहित रूप, जन्ममरण, जरा-रोग आदि अनेक अनर्थ समूह को नहीं करेगा।

नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मन कृतवानुप्रविशति । न च स्वय-
मत्यन्तनिर्मल सन्तत्यन्तमलिन देहमात्मत्वेनोपेयात्, कृतमपि कथाञ्चिदुत्त-
करतदिच्छया जह्यात्, सुखकर चोपाददीत, स्मरेच्च मयेद जगद्विम्ब विचित्र
विरचितमिति, मर्षो हि लोक स्पष्ट कार्यं कृत्वा स्मरति मयेद कृतमिति । यथा-
च मायावी स्वय प्रसारिता मायामिच्छयानायासेनैवोपमहरति एव शारीरोऽ-
पीमा सृष्टिमुपमहरेत्, स्वकीयमपि तावच्छरीरं शारीरो न शनोत्पनायामेनोप-
सहंतुम् । एव हितक्रियाद्यदर्शनादन्याध्या चेतनाजगत्प्रक्रियेति गम्यते ॥ २१ ॥

कोई अपरतन्त्र (स्वतन्त्र) अपने लिए बन्धन गृह बनाकर उसमें प्रवेश नहीं करना है, और स्वयं अत्यन्त निर्मल होने हुए अत्यन्त मलिन देह को आत्मरूप से नहीं प्राप्त करेगा। किसी प्रकार प्राप्त करने पर भी जो दुःखकर है, उसको इच्छा के अनुसार त्याग देगा और सुखकारक का इच्छा के अनुसार ग्रहण करेगा, एवं स्मरण करेगा कि इस विचित्र जगत् रूप विम्ब (मण्डल-विस्तार) को मैंने बनाया है। क्योंकि सत्र लोग कार्य करके स्पष्ट (स्पष्ट) स्मरण करते हैं कि हमने यह कार्य किया है। जैसे मायावी स्वयं प्रसारित माया को इच्छा में अनायास ही उपसहार (निवृत्ति) करता है, इसी प्रकार यह जीव भी इस मृष्टि का उपसहार करता है। यह जीव अपने शरीर का भी अनायास से सहज में उपसहार नहीं कर सकता है। इस प्रकार हित क्रियादि के नहीं देखने से चेतन से जगत् की मृष्टि अन्याय है, ऐसी प्रतीति होती है ॥ २१ ॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

तुशब्द पक्ष व्यावर्तयति । यत्सर्वजं सर्वशक्तिं ब्रह्म नित्यगुणबुद्धमुक्तस्वभाव
शारीरादधिकमन्यत्, तद्वय जगत् स्रष्टुं भूम । न तस्मिन् हिताकरणादयो
दोषा प्रमज्जन्ते, नहि तस्य हित किञ्चित्कर्तव्यमस्त्यहित वा परिहर्तव्य,
नित्यमुक्तस्वभावत्वान् । न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्ध शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिद-
प्यस्ति, सर्वज्ञत्वात्मवशक्तित्वाच्च । शारीरस्त्वनेवविधस्तस्मिन्प्रमज्जन्ते हिता-

करणादयो दोषाः, न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत् ? भेदनिर्देशात्, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (वृ० २।४।५), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः') (छां० ८।७।१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छां० ६।८।१), 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वाखुडः' (वृ० ४।३।३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति ।

तु शब्द पूर्वपक्ष का निवारण करता है कि जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिवाला, नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध नित्यमुक्त स्वभाववाला जीव से अधिक (अन्य) ब्रह्म है, उस ब्रह्म को जगत् का स्रष्टा (कर्ता) कहते हैं । जिस ब्रह्म में हिताकरणादि दोष नहीं प्राप्त होते हैं, उस ब्रह्म को कुछ हित कर्तव्य नहीं है, और अहित परिहर्तव्य (त्यागार्ह) नहीं है । जिससे उसको नित्यमुक्त स्वभावता है । एवं उसके ज्ञान का प्रतिबन्ध (निरोध) वा शक्ति का प्रतिबन्ध कहीं नहीं है, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व से उक्त प्रतिबन्धाभाव है । जीवात्मा तो इस प्रकार का नहीं है । उसमें हिताकरणादि दोष प्राप्त होते हैं । परन्तु हम उस जीव को जगत् का स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) नहीं कहते हैं कि जिससे दोष हो । यदि कहो कि स्रष्टा जीव से भिन्न है, तो यह कैसे सिद्ध होता है ? इसका उत्तर है कि भेद के निर्देश से यह सिद्ध होता है (अरे मन्त्रेय ! आत्मा दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (ध्यान) के योग्य है, अतः उसके दर्शनादि करना चाहिए) (वह आत्मा अन्वेष्टव्य खोज के योग्य और विजिज्ञासितव्य विचारादि के योग्य है । हे सोम्य ! उस सुषुप्ति काल में यह जीव सत् ब्रह्म के साथ मिल जाता है) (मरण काल में जीवात्मा परमात्मा से अधिष्ठित होकर आर्त शब्द करता हुआ जाता है) इस प्रकार का कर्ता कर्मादि वेद का निर्देश जीव से अधिक ब्रह्म को दर्शाता है ।

नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः, कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम् । नैष दोषः । आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात् । अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवत्यपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वं, समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बोधितत्वात् । तत्र कुत एव सृष्टिः कुतो वा हिताकरणादयो दोषाः । अविद्याप्रत्युपस्थापितानामरूपकृतकार्यकरणसंघातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिहिताकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृदवोचाम जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत् । अवाधिते तु भेदव्यवहारे 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्येवंजातीयकेन वेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि ॥ २८ ॥

यहाँ शंका होती है कि वह तू है । इस प्रकार का अभेद निर्देश भी दिखलाया गया है वहाँ विरुद्ध भेद और अभेद कैसे सम्भव हो सकते हैं ? उत्तर है कि यह दोष

नहीं है। क्योंकि महाकाश और घटाकाश के न्याय (दृष्टान्त) से भेद और अभेद दोनों के सम्भव का तत्तत् स्थानों में प्रतिपादन किया गया है। दूसरी बात है कि जब (वह तू है) इस प्रकार के अभेद निर्देश से अभेद प्रतिबोधित अनुभूत होता है, सब जीव का ससारित्व और ब्रह्म का स्रष्टृत्व निवृत्त हो जाता है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान का विस्तार कार्यरूप समस्त भेद व्यवहार का सम्यग् ज्ञान से बोध हो जाता है, फिर उस अवस्था में किससे सृष्टि हो सकती है, और किससे हिताकरणादि बोध हो सकते हैं? क्योंकि अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्रकटित) नाम रूप से किये गये शरीर इन्द्रिय का समूहरूप उपाधि के अविवेक कृत भ्रान्ति (मिथ्याज्ञान) ही हिताकरणादि स्वरूप ससार है, परमार्थ से ससार नहीं है। यह अनेक बार कह चुके हैं कि आत्मा में जन्म मरण छेदन भेदनादि के मिथ्या अभिमान के समान ही सब समार है। और अज्ञान काल में भेद व्यवहार के अधाधित रहते (वह आत्मा अन्वेषण योग्य है, विजिज्ञास्य योग्य है) इस प्रकार के भेद निर्देश से अवगत का अधिकत्व हिताकरणादि बोध की प्रसक्ति का निरोध करता है ॥ २२ ॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मना केचिन्महार्हा मणयो वज्रवैडूर्यादयोऽन्ये मध्यमधीर्या सूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणा श्ववायसप्रक्षोप-
णार्हा पापाणा इत्यनेकविध वैचित्र्य दृश्यते। यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणा-
मपि बीजानां बहुविध पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्य चन्दनकिपाकादि-
पूपलक्ष्यते। यथा चैकस्याप्यन्नरसस्य कोहितादीनि केशलोमादीनि च
विचित्राणि कार्याणि भवन्ति। एवमेकस्यापि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्व
कार्यवैचित्र्य चोपपद्यत इत्यतस्तदनुपपत्ति परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः।
श्रुतेश्च प्रामाण्याद्विकारस्य च वाच्यारम्भणमाश्रत्वात्। स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्य-
वच्चेत्यभ्युच्चय ॥ २३ ॥

और जैसे लोक में पृथिवीत्व सामान्य (जाति) से अन्वित (युक्त) भी पत्थरों में कोई महाश्रेष्ठ हीरा वैडूर्यादि बहुमूल्य मणि हैं, उनसे अन्य सूर्यकान्तादि, मध्यम वीर्य (तेज) वाले हैं। उनसे अन्य अत्यन्त हीन कुत्ते कौओं पर फँवने योग्य गन्धर हैं। इस प्रकार पत्थर में अनेक प्रकार की विचित्रता देखी जाती है। एवं जैसे एक पृथिवी में बोये गये बीजों के वृद्ध प्रकार की पत्र-पुष्प, फल, गन्ध, रस आदि की विचित्रता चन्दन और तार आदि में देखी जाती है। और जैसे एक ही अन्नरस के हफिरादि और केशलोमादि विचित्र काय होते हैं। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म के जीव और प्राज्ञ (ईश्वर) रूप पृथक्त्व और कार्य विचित्रत्व उपपन्न (सिद्ध) होते हैं। इससे इसकी अनुपपत्ति है, अर्थात् प्रतिवादी से कल्पित दोष की अनुपपत्ति है, यह सूत्र का अर्थ है। सूत्र में चकार से इस अर्थ का अभ्युच्चय (समुच्चय सम्बन्ध) किया गया है कि जीवगत

दोष वाला अभिन्नता से ब्रह्म है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म में दोषवत्ता श्रुति से वाधित है और श्रुति की प्रमाणता से ही विकार. वाचारम्भणमात्र है और स्वप्न काल में एक स्वप्नद्रष्टा में पदार्थ की विचित्रता के समान एक ब्रह्म जगत् की विचित्रता है ॥ २३ ॥

उपसंहारदर्शनाधिकरण (८)

न सम्भवेत्संभवेद्वा सृष्टिरेकाद्वितीयतः ।

नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न सम्भवि ॥ १ ॥

अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तत्त्वविद्यासहायवत् ।

नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः ॥ २ ॥

शंका होती है कि एक अद्वैत ब्रह्म जगत्कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि लोक में कार्य के लिए अनेक निमित्त उपादान सहाय का कारणों का उपसंहार (संमेलन-संग्रह) देखा जाता है, उत्तर है कि जैसे अकेला दूध कुछ देर में विकृत होकर अन्यस्वरूप हो जाता है, ऐसे माया विशिष्ट एक ब्रह्म जगत् का कारण होता है । सामान्य दृष्टि से संशय है कि एक अद्वितीय ब्रह्म से सृष्टि का असम्भव अथवा सम्भव है ? पूर्वपक्ष है कि नाना प्रकार के कारणों के क्रम से नाना प्रकार के कार्य क्रम से होते हैं, इससे भेद क्रमादि-रहित एक ब्रह्म से नाना प्रकार के कार्यों का क्रम से जन्म का सम्भव नहीं है । सिद्धान्त है कि तत्त्वतः ब्रह्म अद्वैत है, परन्तु वह अविद्यात्मक मायारूप सहायक वाला होकर नाना कार्य को करने वाला होता है, और अविद्या में स्थिर अनन्त वासनादि रूप शक्तियों से कार्य का क्रम होता है ॥ १-२ ॥

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्वि ॥ २४ ॥

चेतनं ब्रह्मेकमद्वितीयं जगत् : कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? उपसंहारदर्शनात् । इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद्वण्डचक्र-सूत्राद्यनेककारकोपसंहारेण संगृहीतसाधनाः सन्तस्तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते । ब्रह्म चासहायं तवाभिप्रेतं तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं त्रुट्यत्वमुपपद्यते । तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत् ।

नैव दोषः । यतः क्षीरवदद्रव्यस्वभावविशेषादुपपद्यते । यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति । ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधन-मीण्यादिकं कथमुच्यते क्षीरवद्वीति । नैव दोषः । स्वयमपि हि क्षीरं यां चं परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वार्यते त्वोण्यादिना दधिभावाय । यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवोण्यादिनापि बलाद्धिभावमापद्येत । नहि वायुराकाशो वौण्यादिना बलाद्धिभावमापद्यते । साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता सम्पाद्यते । परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म न तस्यान्येन केनचित्पूर्णता सम्पादयितव्या । श्रुतिश्च भवति—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वामाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

(श्वे० ६।२) इति । तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिव-
द्विचित्रपरिणाम उपपद्यते ॥ २४ ॥

चेतन एक अद्वितीय ब्रह्म जगत् का कारण है, यह जो प्रथम कहा है, वह उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता है, क्योंकि लोक में उपसंहार देखा जाता है । जिससे इस लोक में कुलालादि रूप घटादि के कर्ता मिट्टी दण्ड चक्र सूत्र आदि रूप अनेक कारण के उपसंहार (सग्रह समेलन) द्वारा सगृहीत साधन वाले होकर तत्तत् कार्यों को करते हुए दखे जाते हैं । ब्रह्म अद्वैतवादी के मत में असहाय अभिप्रेत स्वीकृत है, तो उस ब्रह्म को साधनान्तर के उपसग्रह नहीं रहते स्रष्टृत्व कैसे सिद्ध होगा ? इससे ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, ऐसा यदि कोई कहे तो कहते हैं कि यह दोष नहीं है । क्योंकि दूध के समान द्रव्य के स्वभाव विशेष से कार्य सिद्ध होगा । जैसे लोक में दूध वा जल स्वयं ही बाह्यसाधन की अपेक्षा के बिना दधिरूप से और हिमरूप से परिणत होता है, वैसे यहाँ ब्रह्म में भी कार्य होगा ? शका होती है कि दधि आदि रूप से परिणत होता हुआ दूध आदि भी बाह्यसाधन उष्णता आदि की अपेक्षा करता ही है, फिर कैसे कहा जाता है कि क्षीर के समान होगा । तो कहते हैं कि यह दोष नहीं है । क्योंकि दूध स्वयं ही जिस और जितनी परिणाम की मात्रा (परिणाम) को अनुभव करता (प्राप्त होता) है, उष्णता आदि से भी उतनी ही परिणाम मात्रा प्राप्त होती है । परन्तु उन उष्णतावादियों से दधिरूपता में त्वरा (शीघ्रता) को जाती है । और यदि दूध में स्वयं दधि रूप होने का स्वभाव न हो तो उष्णादि से भी बलात्कार दधि रूपता नहीं प्राप्त की जा सकती है । जैसे वायु वा आकाश उष्णता से बलात्कारपूर्वक दधिरूप से नहीं प्राप्त किया जाता है । इस प्रकार दधि आदि कार्य के लिए दूध आदि में स्वयं शक्ति है, तथापि साधन सामग्री से उष्णादि से उस कारण की पूर्णता सिद्ध की जाती है कि जिससे कार्य सुन्दर होता है, और ब्रह्म तो अपने कार्य के लिए परिपूर्ण शक्ति वाला है इससे उसकी पूर्णता अन्य किसी से संपादन के योग्य नहीं है । श्रुति भी है कि (उस ईश्वर के शरीर और इन्द्रिय नहीं हैं, न उसके समान ही कोई है न उससे अधिक है, और उसकी अनेक प्रकार की परा उत्तम शक्ति सुनी जाती है । एव स्वामाविक ज्ञानक्रिया तथा स्वामाविक बल क्रिया सुनी जाती है ।) (अर्थात् उसके तुल्यादि श्रुति में नहीं देखे सुने जाते हैं, परन्तु सृष्टि आदि की परिपूर्ण शक्ति सुनी जाती है) इसमें एव ब्रह्म का भी विचित्र शक्ति के सम्वन्ध से दूध के समान विचित्र परिणाम सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

स्यादेतत्, उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनानामनपेक्ष्यापि बाह्य साधन दध्या-

दिभावः, दृष्टत्वात्, चेतनाः पुनः कुलालादयः साधनसामग्रोपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमाना दृश्यन्ते, कथं ब्रह्म चेतनं सदसहायं प्रवर्ततेति । देवादिवदिति ब्रूमः । यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किञ्चिद्वाह्यं साधनमैश्वर्यविशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात् । तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून् सृजति, बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते पद्मिनी चानपेक्ष्य किञ्चित्प्रस्थान-साधनं सरोन्तरात्सरोन्तरं प्रतिष्ठते एवं चेतनमपि ब्रह्मानपेक्ष्य वाह्यं साधनं स्वत एव जगत्स्रक्ष्यति । स यदि ब्रूयाद्य एते देवादयो ब्रह्मणो दृष्टान्ता उपात्तास्ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समाना भवन्ति, शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादेन उपादानं न तु चेतन आत्मा, तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतरजन्तुभक्षणाल्लाला कठिनतामापद्यमाना तन्तुर्भवति । बलाका च स्तन-यित्पुत्रवश्रवणादगर्भं धत्ते । पद्मिनी च चेतनप्रयुक्ता सत्यचेतनेनैव शरीरेण सरोन्तरात्सरोन्तरमुपसर्पति वल्लीव वृक्षं, नतु स्वयमेवाचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते, तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ता इति । तं प्रति ब्रूयान्नायं दोषः कुलालादि-दृष्टान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षितत्वादिति । यथा हि कुलालादीनां देवादोनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे वाह्यं साधनमपेक्षन्ते न देवादयः, तथा ब्रह्म चेतनमपि न वाह्यं साधनमपेक्षिष्यत इत्येतावद्वयं देवाद्यदाहरणेन विवक्ष्यामः । तस्माद्यथैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हतीति नास्त्येकान्त इत्यभिप्रायः ।

यह क्षीर का दृष्टान्त अचेतन कारण के लिए ठीक है । और अचेतन क्षीरादि को वाह्य साधन की अपेक्षा के बिना दधि आदि रूपता को प्राप्ति उपपन्न हो सकती है, क्योंकि यह ऐसा देखा जाता है । परन्तु चेतन कुलालादि तो साधन सामग्री की अपेक्षा करके ही तत्तत् कार्यों के लिए प्रवृत्त होते हुए देखे जाते हैं । तो फिर चेतन होता हुआ ब्रह्म सहाय रहित होकर कार्य के लिए कैसे प्रवृत्त होगा ? उत्तर है कि देवादि के समान सहाय रहित होते हुए भी कार्य के लिए प्रवृत्त होगा । जैसे कि (लोक्यते ज्ञायतेऽनेनेति लोकः शास्त्रम्) जिससे अर्थ का ज्ञान हो उस शास्त्र को लोक कहते हैं । उस शास्त्रादि रूप लोक में देव पितर ऋषि इत्यादि महाप्रभाव वाले चेतन भी होते वाह्य किसी साधन की अपेक्षा किए बिना ही ऐश्वर्यविशेष के सम्बन्ध से और केवल अभिध्यान (संकल्प) द्वारा स्वयं आप ही नाना आकार वाले बहुत शरीर और प्रासाद (महल) और रथादि का निर्माण करने वाले मन्त्र अर्थवाद इतिहास और पुराणादि की प्रमाणता से उपलब्ध ज्ञात होते हैं । और मकड़ा किसी साधन के बिना स्वयं तन्तु को रचता है, बलाका शुक्र (वीर्य) के बिना गर्भ का धारण करती है, पद्मिनी किसी गमन साधन की अपेक्षा किये बिना एक तालाब से अन्य तालाब में जाती है इसी प्रकार चेतन भी ब्रह्म वाह्य साधन

की अपेक्षा किये बिना स्वतः आप ही जगत् की सृष्टि करेगा । यहाँ पूर्वपक्षी यदि कहे कि जो ये देवादि ब्रह्म के दृष्टान्त उपात्त (गृहीत) हुए हैं, वे दार्ष्टान्तिक ब्रह्म के तुल्य नहीं हैं, क्योंकि उन देवादि के अचेतन शरीर ही शरीरान्तरादि रूप विभूति के उत्पादन में उपादान का कारण होता है, चेतन आत्मा उपादान कारण नहीं होता है । और तन्तुनाम (मकड़ा) क्षुद्र प्राणी का भक्षण करता है उससे जगत् उसका लार कठिनता को प्राप्त करके तत्तु होता है । वशाका मेघ के शब्द को सुनकर गर्म धारण करती है और पद्मिनी चेतन से प्रयुक्त (प्रेरित) होकर अचेतन शरीर से ही एक तालाब से दूसरे तालाब में जाती है, जैसे कि लता एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाती है । अचेतना पद्मिनी स्वयं दूसरे तालाब में गमनार्थक व्यापार नहीं करती है । इसलिए ये ब्रह्म के दृष्टान्त नहीं हैं । इस प्रकार कहनेवाले पूर्वपक्षी के प्रांत कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है । क्योंकि कुलालादि दृष्टान्त से विलक्षणता देवादि दृष्टान्त में विवक्षित है कि जंमे कुलालादि और देवादि का चेतनत्व तुल्य है ता भी कुलालादि कार्य के आरम्भ में बाह्य साधन की अपेक्षा करते हैं, और देवादि बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं करते हैं, इस प्रकार देवादि के समान चेतन ब्रह्म भी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं करेगा । यह इतना ही अर्थ हम देवादि के उदाहरण द्वारा कहना चाहते हैं । इससे जैसा एक का सामर्थ्य देखा गया है वैसा ही स्रज का होना चाहिए यह नियम नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ २६ ॥

कृत्स्नप्रसवत्यधिकरण (९)

न युक्तो युज्यते वास्य परिणामो न युज्यते ।

कात्स्न्याद्ब्रह्मानित्यताप्तेरजान् सावयव भवेत् ॥१॥

मायाभिर्वर्तुस्त्वत्त्वं न कात्स्न्येनापि भागत ।

युक्तोऽनवयवस्यापि परिणामोऽयं मायिक ॥२॥

निरवयव ब्रह्म का क्षीर तुल्य परिणाम मानने पर ब्रह्म स्वरूप मात्र की अनित्य जगत् रूपता की प्राप्ति होगी, अवयव द्वारा परिणाम मानने पर ब्रह्म को निरवयव कहने वाली श्रुति से विरोध होगा । यहाँ सशय है कि ब्रह्म का परिणाम होता अयुक्त है, अथवा युक्त ? पूर्वपक्ष है कि संपूर्ण ब्रह्म के परिणाम से अनित्यता की प्राप्ति होगी, और अशय के परिणाम होने पर ब्रह्म सावयव होगा, इससे ब्रह्म का परिणाम युक्त नहीं है । सिद्धान्त है कि ब्रह्म को मायाशक्ति से बहु रूपत्व है न कृत्स्न स्वरूप से और न भाग (अंश) से है । और यहाँ निरवयव का भी मायिक परिणाम युक्त है ॥ १-२ ॥

कृत्स्नप्रसवित्तिरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

चेतनमेकमद्वितीय ब्रह्म क्षीरादिवद्देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्यसाधन स्वयं परिणममान जगत् कारणमिति स्थितम्, शास्त्रार्थपरिशुद्धये तु पुनराक्षिपति-कृत्स्नप्रसक्ति, कृत्स्नस्य ब्रह्मण कायरूपेण परिणाम प्राप्नोति, निरवयवत्वात् । यदि ब्रह्म पृथिव्यादिवत्सावयवमभविष्यत्ततोऽस्यैकदेश पर्यणस्यैकदेशान्चा-वास्यास्यत्, निरवयव तु ब्रह्म श्रुतिभ्योजगम्यते—'निष्कल निष्किय शान्त

निरवयवं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु० २।१।२), 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (वृ० २।४।१२), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (वृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु' (वृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्वविशेषप्रतिषेधिनीभ्यः । ततश्चैकदेशपरिणामासम्भवात्कृत्स्नपरिणामप्रसक्तौ सत्यां मूलोच्छेदः प्रसज्येत । द्रष्टव्यतोपदेशानर्थक्यं चापन्नमयत्नदृष्टत्वात्कार्यस्य, तद्व्यतिरिक्तस्य च ब्रह्मणोऽसम्भवात्, अजत्वादिशब्दकोपश्च । अथैतदोपपरिजिहीर्षया सावयवमेव ब्रह्माभ्युपगम्येत, तथापि र्ये निरवयवत्वस्य प्रतिपादकाः शब्दा उदाहृतास्ते प्रकुप्येयुः । सावयवत्वे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति सर्वथायं पक्षो न घटयितुं शक्यत इत्याक्षिपति ॥ २६ ॥

एक अद्वैत चेतन ब्रह्म क्षीरादि और देवादि के समान बाह्य साधन की अपेक्षा किये बिना स्वयं परिणत होता हुआ जगत् का कारण है, यह स्थित (निश्चित) हो चुका है । यहाँ इस शास्त्रार्थ की परिशुद्धि (परिणाम का निराकरण पूर्वक वितर्क की दृढ़ता) आदि के लिए फिर आक्षेप करते हैं कि कृत्स्न ब्रह्म की कार्यरूपता की प्राप्ति होगी । अर्थात् ब्रह्म के निरवयव होने से परिणाम मानने पर सम्पूर्ण ब्रह्म स्वरूप का कार्यरूप से परिणाम प्राप्त होता है । क्योंकि यदि ब्रह्म पृथिवी आदि के समान सावयव सांश होता, तो इस ब्रह्म का एकदेश कुछ अवयव जगत् रूप परिणामरूपता को प्राप्त होता, और एकदेश कुछ अवयव परिणाम रहित स्थिर रहता । परन्तु श्रुतियों से तो निरवयव ब्रह्म अवगत (ज्ञात) होता है कि (निरवयव निष्क्रिय शान्त निर्दोष निर्मल ब्रह्म है । दिव्य आकार रहित बाहर भीतर एकरस वर्तमान अजन्मा ही वह पुरुष आत्मा है । यह परब्रह्म महा सत्यस्वरूप अनन्त अपार निरन्तर विज्ञान स्वरूप है । यह नहीं वह नहीं इस प्रकार अनात्मा के निषेध से ज्ञेय यह आत्मा है । ब्रह्मात्मा स्थूल अणु से भिन्न है) सब भेद के प्रतिषेधक श्रुतियों से निरवयव ही आत्मा ब्रह्म समझा जाता है । इससे ब्रह्म के एकदेश के परिणाम के असम्भव से कृत्स्न, सम्पूर्ण, ब्रह्म के परिणाम की प्राप्ति होने पर मूलोच्छेद (ब्रह्म का विनाश) की प्राप्ति होगी और ब्रह्म की द्रष्टव्यता का उपदेश की अनर्थकता (निष्प्रयोजनता) सिद्ध होगी । क्योंकि कार्यरूपता को प्राप्त ब्रह्म यत्न के बिना ही दृष्ट (प्रत्यक्ष) है, और उस कार्य से भिन्न ब्रह्म का असम्भव (अभाव) है और ब्रह्म का परिणामरूप से जन्म मानने पर ब्रह्म के अजत्व (जन्म रहितत्व) आदि के बोधक जो शब्द (श्रुति) हैं, उनसे विरोध होगा, उनका वाध होगा । और यदि इस दोष के परिहार की इच्छा से सावयव ही ब्रह्म को मानो, तो भी जो निरवयवत्व के प्रतिपादक शब्द प्रथम उदाहृत हुए हैं उदाहरणरूप कहे गये हैं, वे सब प्रकृत विरुद्ध होंगे । और सावयवत्व होने पर अनित्यता की प्राप्ति होगी इससे यह पक्ष सर्वथा संघटित युक्त नहीं हो सकता है । इस प्रकार पूर्वपक्षी आक्षेप करता है ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तुशब्देनाक्षेप परिहरति । न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति । न तावत्कृत्स्न-
प्रसक्तिरस्ति । कुत ? श्रुते । यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिं श्रूयत एव विकार-
व्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात् 'सैयं
देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-
वाणि' (छा० ६।३।२) इति

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पूर्य ।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(छा० ३।१२।२) इति चैवजातीयकात् । तथा हृदयायतनत्ववचनात्सत्प-
म्पत्तिवचनाच्च । यदि च कृत्स्नं ब्रह्म कार्यभावेनोपयुक्तं स्यात् 'सता सोम्य तदा
सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति सुपुत्तिगतं विशेषणमनुपपन्नं स्यात्,
विकृतेन ब्रह्मणा नित्यं सम्पन्नत्वादविकृतस्य च ब्रह्मणोऽभावात्, तथेन्द्रिय-
गोचरत्वप्रतिषेधाद्ब्रह्मणो विकारस्य चेन्द्रियगोचरत्वोपपत्तेः, तस्मादस्त्य-
विकृतं ब्रह्म । न च निरवयवत्वशब्दकोपोऽस्ति, श्रूयमाणत्वादेव निरवयवत्वस्या-
प्यभ्युपगम्यमानत्वात् । शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं चेन्द्रियादिप्रमाणकं
न तथाशब्दमभ्युपगन्तव्यम् । शब्दश्चोभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयत्यकृत्स्नप्रसक्तिं
निरवयवत्वं च । लौकिकानामपि भणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्त-
वैचित्र्यवशाच्छक्तयोः विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते, ता अपि तावन्नोपदेश-
मन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एत-
द्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्य इति । किमुताचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना
शब्देन न निरूप्येत ।

सूत्रगत 'तु' शब्द से आक्षेप का परिहार करते हैं कि हमारे पक्ष में कोई भी दोष
नहीं है, यह निश्चित बात है । वहाँ प्रथम सम्पूर्ण ब्रह्म को कार्यरूपता की प्राप्ति रूप दोष
नहीं है, क्योंकि श्रुति में दोषरहित ब्रह्म समझा जाता है, जिससे जिस प्रकार ब्रह्म से
जगत् की उत्पत्ति सुनी जाती है, इसी प्रकार विकार के बिना ब्रह्म की अवस्थिति सुनी
जाती है, क्योंकि प्रकृति और विकार का भेदपूर्वक व्यपदेश (व्यवहार कथन) किया
गया है कि (उस पर ब्रह्म देव ने सोचा विचारा कि मैं इस समय इस जीवात्मा रूप से
इन तेज आदि रूप तीनों देवों में अनुप्रवेश करके नाम रूप का विस्तार करूँगा । उतनी
इसकी महिमा है पुष्ट्य उससे बहुत बड़ा है । इसके एक पादरूप सब भूत हैं, इसके
त्रिपाद अमृत स्वरूप स्वयं प्रकाश स्वरूप में स्थिर है) इस प्रकार के व्यपदेश से प्रकृति
और विकार का भेद कहा गया है । इसी प्रकार ब्रह्म को हृदयरूप आयतन वाला
कहा गया है । और सुपुत्ति में सत् की सम्पत्ति कही गई है । इसमें भी विकार
से भिन्न ब्रह्म सिद्ध होता है । और यदि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्यरूप में उपयुक्त (समास)

हो गया हो तो (हे सोम्य ! उस सुषुप्ति काल में जीवात्मा सत् ब्रह्म के साथ एक होता है) इस प्रकार सुषुप्तिगत विशेषण अनुपपन्न होगा, क्योंकि विकृत ब्रह्म के साथ नित्य (सदा) सम्पन्न (मिलित) रहने से और विकाररहित ब्रह्म के अभाव से सुषुप्ति में सम्पन्न होना उपपन्न (सिद्ध) नहीं हो सकता है । और इसी प्रकार ब्रह्म को इन्द्रिय विषयता का प्रतिषेध है, और विकार की इन्द्रिय विषयता सिद्ध है, जिससे विकार से अन्य अविकृत ब्रह्म है । और निरवयवत्व शब्द का भी बाध (विरोध) नहीं है, क्योंकि श्रुति में श्रूयमाण होने ही से निरवयवत्व का भी स्वीकार किया जाता है । और शब्दमूलक ब्रह्म है । अर्थात् शब्द प्रमाणक (शब्द प्रमाण से ज्ञेय) है । इन्द्रिय प्रमाणक ब्रह्म नहीं है । इन्द्रियों से नहीं जाना जाता है, इससे शब्द के अनुसार ब्रह्म स्वीकार के योग्य है । शब्दरूप प्रमाण, ब्रह्म के अकृत्स्न प्रसक्ति (सम्पूर्ण ब्रह्म की विकारता की अप्राप्ति) और निरवयवत्व इन दोनों का प्रतिपादन करता है । लौकिक मणि मन्त्र औषधादि की भी देश-काल और निमित्त की विचित्रतावश से विरुद्ध अनेक कार्यविषयक शक्तियाँ देखी जाती हैं । यहाँ वे शक्तियाँ भी प्राथमिक उपदेश के बिना केवल तर्क से नहीं समझी जा सकती हैं कि इस वस्तु की इतनी इस सहायकवाली एतद्विषयक और इस प्रयोगवाली शक्तियाँ हैं । ऐसा होने पर यदि अचिन्त्य प्रभाव वाला ब्रह्म का रूप (स्वरूप) श्रुति के बिना नहीं निरूपित हो सके तो इसमें आश्चर्य क्या है और क्या कहना है ?

तथाचाहुः पौराणिका :—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।

प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥ इति ॥

तस्माच्छब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः ।

ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धोऽर्थः प्रत्याययितुं निरवयवं च ब्रह्म परिणमेत नच कृत्स्नमिति । यदि निरवयवं ब्रह्म स्यान्नैव परिणमेत । कृत्स्नमेव वा परिणमेत । अथ केनचिद्रूपेण परिणमेत केनचिच्चावतिष्ठेति रूप-भेदकल्पनात्सावयवमेव प्रसज्येत । क्रियाविषये हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येवंजातीयकायां विरोधप्रतीतावपि विकल्पा-श्रयणं विरोधपरिहारकारणं भवति पुरुषतन्त्रत्वाच्चानुष्ठानस्य । इह तु विकल्पा-श्रयणेनापि न विरोधपरिहारः सम्भवत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मस्तुनः तस्मादुदुर्घट-मेतदिति ।

इसी प्रकार पौराणिक भी कहते हैं कि जो पदार्थ अचिन्त्य हैं, उनको तर्क से निषेध नहीं करे । जो प्रकृतियों प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु स्वभावों, से पर विलक्षण है, वही शास्त्र से ज्ञेय अचिन्त्य का स्वरूप है । इससे शब्दमूलक ही अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान (यथार्थ अनुभव) होता है, अन्यथा नहीं । यहाँ शंका होती है कि शब्द भी

विषय अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता है कि निरवयव ब्रह्म परिणत विकृत होता है, परन्तु सम्पूर्ण नहीं परिणत होता है, इत्यादि । क्योंकि शब्दजन्य बोध में भी योग्यता कारण होती है, अयोग्य अर्थ का शब्द से भी नहीं ज्ञान होता है । इससे यदि निरवयव ब्रह्म होगा, तो परिणत (परिणामी) नहीं होगा, अथवा सम्पूर्ण परिणत होगा । यदि किसी रूप से परिणत होगा, और किसी रूप से स्थिर रहेगा तो सावयव ही प्रयुक्त होगा, रूपभेद की कल्पना से अवयव वाला सिद्ध होगा । एक ब्रह्म में सावयवता निरवयवता का विकल्प मान नहीं सकते हैं, क्योंकि क्रिया के विषय में (अतिरात्र याग में षोडशमात्र का ग्रहण करे । अतिरात्र में षोडश का ग्रहण नहीं करे) इस प्रकार के विरोध की प्रतीति होने पर विकल्प का आश्रयण विरोध के परिहार का कारण होता है, जिससे अनुष्ठान (कर्म) पुरुष के अधीन है और यहाँ विकल्प आश्रयण से भी विरोध परिहार का सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्तु में पुरुषाधीनता नहीं है । इसलिए ब्रह्म का कारणत्व दुर्घट है ।

नैव दोष । अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात् । न ह्यविद्याकल्पितेन रूपभेदेन सावयव वस्तु मपद्यते । नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोज्ञेक एव भवति । अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूपभेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादिसर्वव्यवहारास्पदत्व प्रतिपद्यते । पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतमपरिणतमवतिष्ठते । वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्याकल्पितस्य नामरूपभेदस्येति न निरवयवत्व ब्रह्मण कुप्यति । नचेय परिणामश्रुति परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्ती फलावगमात् । सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था त्वेपा, तत्प्रतिपत्ती फलावगमात् । 'म एष नेति नेत्यात्मा' इत्युपक्रम्याह—'अभय वै जनक प्राप्नोऽसि' (वृ० ४।२।४) इति । तस्मादस्मत्पक्षे न कश्चिदपि दोष-प्रमङ्गोऽस्ति ॥ २७ ॥

शका का उत्तर है कि यह दुर्घटता रूप दोष नहीं है । क्योंकि अविद्या कल्पित (सिद्ध) ब्रह्म के रूपभेद का स्वीकार किया जाता है । अविद्या कल्पित रूपभेद से ब्रह्म-स्वरूपवस्तु वस्तुतः सावयव नहीं सिद्ध होती है, जिससे तिमिररूप दोष से उपहत दूषित नेत्र से अनेक के समान दीप्तिता हुआ भी चन्द्रमा वस्तुतः अनेक ही नहीं हो जाता है । और अविद्या से परिकल्पित तत्त्व अन्यत्व (सत्त्व असत्त्व) रूप से अनिर्वचनीय व्याकृत अव्याकृत स्वरूप नामरूपात्मक रूपभेद से परिणामादि सब व्यवहारों के आश्रयस्व को ब्रह्म प्राप्त होता है । एव पारमार्थिक स्वरूप से सब व्यवहारों से रहित परिणामरहित स्थिर रहता है, और अविद्या से परिकल्पित नामरूपात्मक भेद के वाचारम्भण मात्र होने से ब्रह्म का निरवयवत्व विरुद्ध नहीं होता है । जो यह परिणाम विषयक श्रुति है, वह परिणाम के निरूपण के लिए नहीं है, किन्तु अविद्यादि से सिद्ध सृष्टि का

अनुवाद रूप है । क्योंकि उसके ज्ञान में किसी फल का अवगम (अनुभव) नहीं होता है, अर्थात् परिणाम के ज्ञान से फल की प्राप्ति नहीं होती है । अतः यह श्रुति सब व्यवहार से रहित ब्रह्मात्मभाव का प्रतिपादन के लिए है, जिससे उस ब्रह्मात्मभाव के ज्ञान में फल का अवगम (अनुभव लाभ) होता है (वह आत्मा यह नहीं वह नहीं) इस प्रकार आरम्भ करके (हे जनक ! तुम निश्चय अन्य ब्रह्म को प्राप्त हो) इससे हमारे पक्ष में कोई दोष का प्रसङ्ग नहीं है ॥ २७ ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

अपि च नैवात्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन् ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति, यत आत्मन्यप्येकस्मिन् स्वप्नदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते—‘न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते’ (वृ० ४।३।१०) इत्यादिना । लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यज्वादिमृष्टयो दृश्यन्ते, तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति ॥ २८ ॥

दूसरी बात यह है कि यह अर्थ विषयक विवाद कभी नहीं करना चाहिये कि एक ब्रह्म में स्वरूप के उपमर्द (नाश) के हुए बिना ही अनेक आकार वाली मृष्टि कैसे होगी ? इत्यादि । जिससे स्वप्नद्रष्टा एक आत्मा में भी स्वरूप के नाश हुए बिना ही अनेक आकार वाली सृष्टि पढ़ी जाती है कि (उस स्वप्न में रथ-रथ जुटने वाले अश्वादि और मार्ग नहीं रहते हैं किन्तु स्वप्नद्रष्टा रथादि की सृष्टि करता है) इत्यादि श्रुतियों से आत्मा में मृष्टि पढ़ी गई है और लोक में भी देव आदि में और मायावी आदि में स्वरूप के नाश हुए बिना ही विचित्र हस्ती अश्व आदि की मृष्टि देखी जाती है । इसी प्रकार एक ब्रह्म में भी स्वरूप के नाश हुए बिना ही अनेक आकार वाली सृष्टि होगी ॥ २८ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

परेपामप्येषः समानः स्वपक्षे दोषः, प्रधानवादिनोऽपि हि निरवयवमपरिच्छिन्नं शब्दादिहीनं प्रधानं सावयवस्य परिच्छिन्नस्य शब्दादिमतः कार्यस्य करणमिति स्वपक्षः, तत्रापि कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वात्प्रधानस्य प्राप्नोति निरवयवत्वाभ्युत्थमकोपो वा । ननु नैव तैर्निरवयवं प्रधानमभ्युपगम्यते, सत्त्वरजस्तमांसि हि त्रयो गुणा नित्यास्तेषां साम्यावस्था प्रधानं तैरेवावयवैस्तत्सावयवमिति । नैवजातीयकेन सावयवत्वेन प्रकृतो दोषः परिहर्तुं पार्यते यतः सत्त्वरजस्तमसामप्येकैकस्य समानं निरवयवत्वम्, एकैकमेव चेतदृष्ट्यानुगृहीतं सजातीयस्य प्रपञ्चस्योपादानमिति समानत्वात्स्वपक्षदोषप्रसङ्गस्य । तर्काप्रतिष्ठानात्सावयवत्वमेवेति चेत् ? एवमप्यनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः । अथ शक्त्य एव कार्यवैचित्र्यसूचिता अवयवा इत्यभिप्रायः, तास्तु ब्रह्मवादिनोऽप्यविशिष्टाः, तथाणुवादिनोऽप्यणुरण्वन्तरेण संयुज्यमानो निरवयवत्वाद्यदि कात्स्न्येन संयुज्येत ततः

प्रथिमानुपपत्तेरनुमात्रत्वप्रसङ्ग । अर्थकदेशेन सयुज्येत तथापि निरवयवत्वा-
भ्युपगमकोप इति स्वपक्षेऽपि समान एव दोष । समानत्वाच्च नान्यतरस्मिन्नेव
पक्षे उपक्षेप्तव्यो भवति । परिहृतस्तु ब्रह्मवादिना स्वपक्षे दोष ॥ २९ ॥

परवादियो के अपने पक्ष में भी यह पूर्वोक्त दोष तुल्य है, क्योंकि प्रधानवादी का भी अपना पक्ष है कि निरवयव अपरिच्छिन्न (विमु) शब्दादिरहित प्रधान, सावयव परि-
च्छिन्न शब्दादि वाले कार्यों का कारण है । वहाँ भी प्रधान के निरवयव होने से सम्पूर्ण
प्रधान को कार्यरूपता की प्राप्ति होती है । अथवा प्रधान की निरवयवता के स्वीकार का
बाध होता है । यहाँ शका होती है कि प्रधानवादी तो प्रधान को निरवयव ही नहीं मानते
हैं, जिससे सत्त्व, रज और तम ये तीन नित्य गुण हैं, और उन गुणों की साम्यावस्था
रूप प्रधान है, वह उन गुणों में ही सावयव है । उत्तर है कि इस प्रकार सावयवता से
प्रकृत दोष का परिहार नहीं किया जा सकता है, जिससे सत्त्व, रज तम में भी प्रत्येक
को निरवयवत्व तुल्य है । और इतर दो गुण से अनुगृहीत सहकृत होकर एक ही गुण
सजातीय प्रपञ्च का उपादान है । इससे स्वपक्ष में उक्त दोष के प्रसङ्ग की समानता
है । यदि कहें कि गुणों में निरवयवत्व के साधक तर्कों के अप्रतिष्ठित होने से गुणों की
सावयवता ही है, इससे एकदेश द्वारा परिणाम होगा और एकदेश स्थिर रहेंगे सम्पूर्ण
को कार्यरूपता की प्राप्तिरूप दोष नहीं होगा, तो इस प्रकार मानने पर अनित्यत्वादि
दोष की प्राप्ति होंगी, अर्थात् सावयव होने पर अनित्य होंगे और मूलकारण नहीं
हो सकेंगे । यदि कहें कि गुणों के अवयव नहीं हैं कि जिसमें अनित्यत्वादि
दोष हो किन्तु कार्य की विचित्रता से सूचित (अनुमित) शक्तियाँ ही अवयव
हैं ऐसा अभिप्राय है, तो वे शक्तियाँ तो ब्रह्मवादी को भी तुल्य हैं, शक्ति में
ब्रह्म सावयव तुल्य होता है । इसी प्रकार अनुवादी का अणु भी दूसरे अणु के साथ
सयुक्त होता हुआ निरवयवता के कारण यदि सम्पूर्ण रूप में सयुक्त होगा, तो प्रथिमा
(पृथुत्व अधिन परिमाण) की अनुपपत्ति असिद्धि से कार्यों में अनुमात्रता की प्राप्ति
होगी । और यदि एकदेश द्वारा सयुक्त होगा तो भी सावयवता की प्राप्ति से निरवयवत्व
स्वीकार का बोध होगा । इस प्रकार स्वपक्ष में भी समान ही यह दोष है । और समान
होने से दोनों में किसी एक पक्ष में उपक्षेप (फेंकने) के योग्य दोष नहीं होता है ।
और ब्रह्मवादी तो अपने पक्ष में दोष का परिहार कर चुके हैं ॥ २९ ॥

सर्वोपेताधिकरण (१०)

नाशरीरस्य मायाऽस्ति यदि चाऽस्ति न विद्यते ।

ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिण ॥ १ ॥

वाह्यहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता ।

ऋतेऽपि देहे मायैव ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणत ॥ २ ॥

शास्त्र के देखने से सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वशक्तिमुक्त है तो भी सशय
होता है कि शरीरादिरहित परमात्मा की माया शक्ति है अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि

परमात्मा में माया शक्ति नहीं है, क्योंकि लोक में जो मायावी होते हैं, वे सब शरीरी होते हैं, और परमात्मा शरीरी नहीं है। सिद्धान्त है कि जैसे बाह्य साधन के बिना मायावी देवादि में कार्य को कर्तृता होती है, वैसे ही ब्रह्म में देह के बिना श्रुति प्रमाण से माया सिद्ध होती है ॥ १२ ॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगादुपपद्यते विचित्रो विकारप्रपञ्च इत्युक्तम्, तत्पुनः कथमवगम्यते विचित्रशक्तियुक्तं परं ब्रह्मेति, तदुच्यते—सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्। कुतः ? तद्दर्शनात्। तथाहि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः—‘सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः’ (छां० ३।१।४), ‘सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः’ (छां० ८।७।१), ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’ (मुण्ड० १।१।९) ‘एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृती तिष्ठतः’ (वृ० ३।८।९) इत्येवंजातीयका ॥ ३० ॥

एक ब्रह्म का भी विचित्र शक्ति के सम्बन्ध से विचित्र विकार का विस्तार सिद्ध होता है, यह प्रथम कहा गया है। वहाँ शंका होती है कि विचित्र शक्ति युक्त ब्रह्म है, वह कैसे अवगत (ज्ञात) होता है। इसका समाधान है कि वह सर्वशक्ति से युक्त है, वह शास्त्र के देखने से ज्ञात होता है। अर्थात् सर्वशक्तियुक्त परा (उत्तमा) देवता रूप परमात्मा है, इस प्रकार समझना चाहिए। क्योंकि ऐसे ही देवता शास्त्र के देखने से ज्ञात होता है, इस प्रकार ही परदेवता के सर्वशक्ति सम्बन्ध को श्रुति दिखाती है कि (परमात्मा सर्वं कर्म वाला सर्वं जगत् का कर्ता है। और दोपरहित सब काम इच्छावाला है, सर्वसुखद गन्ध और रस वाला है, और इस सब जगत् को सर्वथा व्याप्त किया है। तथा वागादि इन्द्रिय शून्य और निष्काम है। सत्यकाम और सत्य संकल्प वाला है जो सर्वज्ञ सर्ववेत्ता है। हे गार्गि ! इसी अविनाशी परमात्मा के शासन में सूर्य और चन्द्रमा विशेष वारण युक्त वर्तमान हैं।) इस प्रकार की श्रुतियाँ परमात्मा में सर्वशक्ति दिखाती हैं ॥ ३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

स्यादेतत्, विकरणां परां देवतां शास्ति शास्त्रम्—‘अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनाः’ (वृ० ३।९।८) इत्येवंजातीयकम्, कथं सा सर्वशक्तियुक्तापि सती कार्याय प्रभवेत्, देवादयो हि चेतनाः सर्वशक्तियुक्ता अपि सन्त आध्यात्मिक-कार्यकरणसम्पन्ना एव तस्मै तस्मै कार्याय प्रभवन्तो विज्ञायन्ते, कथं चे ‘नेति नेति’ (वृ० ३।९।२६) इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषाया देवतायाः सर्वशक्तियोगः सम्भवेदिति चेत् !

यदत्र वक्तव्यं तत्पुरस्तादेवोक्तम् । श्रुत्यवगाह्यमेवेदमतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्काविगाह्यम् । न च ययैकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथान्यस्यापि सामर्थ्येन भवितव्यमिति नियमोऽन्तीति प्रतिपिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगसम्भवतीत्येवमप्यविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेनोक्तमेव । तथा च शास्त्रम्— 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (इत्रै० ३।१९) इत्यकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगदर्शयति ॥ ३१ ॥

शका होतो है कि पूव कथित रीति से परमात्मा को यह सर्वशक्तियुक्तत्व हो, वह भी कारण रहित परा देवता का उपदेश शास्त्र करता है कि (वह नेत्ररहित, श्रोत्र रहित वाक् और मन रहित है) इत्यादि । वहाँ संशय होता है कि सर्वशक्तियुक्त होते हुए भी वह देवता कार्य के लिए कैसे समर्थ होगा ? क्योंकि चेतन देवादि सर्वशक्ति युक्त होते हुए भी आध्यात्मिक (अपने) कार्य करण (शरीरेन्द्रिय) से सम्पन्न युक्त हो करके ही तत्तत् कार्य के लिए समर्थ समझे जाते हैं और नेति-नेति इस श्रुति से जिसके सब विशेष भेदादि निपिद्ध हैं, उस देवता को सर्वशक्ति का सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है ? यदि ऐसा कोई कहे तो उसका उत्तर है कि जो इस विषय के वक्तव्य का उत्तर है, वह प्रथम ही कहा जा चुका है कि यह अति गम्भीर ब्रह्म सत्त्व श्रुति से अवगाहन (अन्वेषण-याह पाने योग्य समझने योग्य) है, केवल तर्क से समझने योग्य नहीं है । और जैसा एक किसी का सामर्थ्य देखा गया है, वैसा ही अन्य का भी सामर्थ्य होना चाहिए, यह नियम नहीं है । इससे प्रतिपिद्ध सर्व विशेष वाले ब्रह्म को भी सर्वशक्ति के साथ सम्बन्ध का सम्भव है, वह भी अविद्या कल्पित रूप भेद के कथन से ही यह कहा जा चुका ही है और इसी प्रकार शास्त्र भी करण रहित भी ब्रह्म का सर्वसामर्थ्य के साथ सम्बन्ध दिखाता है कि (शय रहित ग्रहण कर्ता, पेर रहित वेग से गमन कर्ता, नेत्र रहित द्रष्टा, कान रहित श्रोता परमात्मा है) । इत्यादि ॥ ३१ ॥

प्रयोजनवत्त्वाधिकरण (११)

तृतोऽस्तप्राश्रयवा स्रष्टा न स्रष्टा फलवाञ्छते ।

अतृप्त स्यादवाञ्छायामुन्मत्तनरतुल्यता ॥

लीलास्वासवृथाचेष्टा अनुद्दिश्य फलं यत ।

अनुन्मत्तविरच्यन्ते तस्मात्तृप्तस्तथा सृजेत् ॥

लोक में प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है, इससे संशय होता है कि नित्यतृप्त ईश्वर जगत् का स्रष्टा है, अथवा अस्रष्टा है । पूर्वपक्ष है कि ईश्वर स्रष्टा (सृष्टि कर्ता) नहीं है, क्योंकि यदि सृष्टि की इच्छा होगी और उस इच्छा से सृष्टि करे तो अतृप्त सिद्ध होगा, और फलैच्छा के बिना प्रवृत्त होने पर ईश्वर में उन्मत्ततुल्यता सिद्ध होगी । सिद्धान्त है कि लाला (क्रीडा), श्वास-प्रश्वास और व्यर्थ चेष्टा जिससे फल के

उद्देश के बिना उन्माद रहितों से भी स्वामाविक की जाती है । इससे तृप्त ईश्वर की लीला आदि के समान सृष्टि करेगा ॥ १-२ ॥

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृत्वं जगत् आक्षिपति, न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्विम्बं विरचयितुमर्हति । कुतः ? प्रयोजनवत्त्वात् प्रवृत्तीनाम् । चेतनो हि लोके बुद्धिपूर्वकारो पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत्प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः किमुत गुरुतरसंरम्भाम् । भवति च लोकप्रसिद्धयनुवादिनी श्रुतिः—‘न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति’ (वृ० २।४।४) इति । गुरुतरसंरम्भा चेयं प्रवृत्तिर्यदुन्वावचप्रपञ्चं जगद्विम्बं विरचयितव्यम् । यदीयमपि प्रवृत्तिश्चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगिनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभावोऽपि स्यात् अथ चेतनोऽपि सन्तुन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरेणैवात्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत । तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, तस्मादश्लिष्टा चेतनात्सृष्टिरिति ॥ ३२ ॥

चेतन की कर्तृता का पूर्वपक्षी फिर अन्य प्रकार से आक्षेप करता है कि चेतन परमात्मा इस जगत् के विस्तार को विरचने-वनाने के योग्य नहीं है । क्योंकि प्रवृत्तियों को प्रयोजनवत्ता होती है । अर्थात् प्रवृत्ति प्रयोजनवाली होती है, जिससे बुद्धि विवेकपूर्वक कर्म करने वाले कर्म में प्रवृत्त होते हुए चेतन पुरुष लोक में, मन्दोपक्रमा, अल्प आरम्भ वाली, अनायास साध्य भी अपने प्रयोजन (फल) में अनुपयोगी प्रवृत्ति को आरम्भ करते हुए नहीं देखे गये हैं । फिर अति गुरु महान् आरम्भ वाली प्रवृत्ति को बुद्धि पूर्वक कार्य कर्ता नहीं आरम्भ करते हैं, इसमें कहना ही क्या है । और इस लोक प्रसिद्धि का अनुवाद करने वाली श्रुति भी है कि (अरे मंत्रेयि ! सब के काम प्रयोजन के लिए सब नहीं प्रिय होते हैं किन्तु अपने ही काम के लिए सब प्रिय होते हैं) और जो अनेक प्रकार के प्रपञ्च युक्त जगत् के विस्तार को विरचित सिद्ध करता है । यह प्रवृत्ति तो अत्यन्त गुरु संरम्भ वाली (अत्यन्त प्रयत्न से साध्य) है । यदि ऐसी कल्पना की जाय कि यह प्रवृत्ति भी चेतन परमात्मा के अपने प्रयोजन में उपयोग वाली होती है तो परमात्मा का तृप्तत्व बाधित होगा । अथवा प्रयोजन का अभाव होने पर प्रवृत्ति का अभाव भी होगा और जैसे उत्पन्न चेतन भी बुद्धि के अपराध अविवेकरूप दोष से अपने प्रयोजन के बिना भी प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है, वैसे ही परमात्मा भी प्रयोजन के बिना प्रवृत्त होगा, इस प्रकार यदि कहे, तो ऐसा होने पर श्रुति में सुनी गई परमात्मा की सर्वज्ञता बाधित होगी । अतः चेतन से सृष्टि होना अयुक्त है ॥ ३२ ॥

लोकवल्लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

तुल्येनाक्षेप परिहरति । यथा लोके कस्यचिदाक्षेपणस्य राज्ञो राजामा-
त्यस्य वा व्यतिरिक्त किञ्चित्प्रयोजनमभिसन्धाय केवल लीलारूपा प्रवृत्तय
क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्य किञ्चित्प्र-
योजन स्वभावादेव सम्भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित्प्रयोजनान्तर
स्वभावादेव केवल लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति । न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तर
निरूप्यमाण न्यायत श्रुतितो वा सम्भवति, नच स्वभाव पर्यनुयोक्तुं शक्यते ।
यद्यप्यस्माकमियं जगद्विम्बरचना गुरुरसरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य
लीलेव केवलेय, अपरिमितशक्तित्वाद् । यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चि-
त्सूक्ष्म प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत तथापि नैवात्र किञ्चित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितं शक्यते,
आप्तकामश्रुते । नाप्यप्रवृत्तिरुन्मत्तप्रवृत्तिर्वा सृष्टिश्रुते, सर्वज्ञत्वश्रुतेश्च । नचेयं
परमार्थविषया सृष्टिश्रुति, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्म-
भावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि नैव विस्मर्तव्यम् ॥ ३३ ॥

तुल्येनाक्षेप का परिहार करते हैं कि जैसा लोक में प्राप्त पूर्ण कामना वाला
किसी राजा की वा राजा के मन्त्री की मन्त्र किसी प्रयोजन के अनुसंधान (चिन्तन)
के बिना ही क्रीडा रूप विहार के स्थान में केवल लीला रूप प्रवृत्तियाँ होती हैं । और
बाह्य किसी प्रयोजन के अनुसंधान-चिन्तन के बिना ही उच्छ्वास प्रश्वासादि जैसे स्वभाव
(प्रारब्ध) से होते हैं । इसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा किये बिना माया
रूप स्वभाव से ही केवल लीला रूप प्रवृत्ति होगी । क्योंकि न्याय वा श्रुति से विचार्य-
माण ईश्वर के प्रयोजनान्तर नहीं सिद्ध होते हैं, इससे प्रयोजनान्तर का सम्भव नहीं
है । और स्वभाव के ऊपर पर्यनुयोग आज्ञा नहीं की जा सकती है । न कहा जा सकता
है कि ऐसा स्वभाव क्यों है ? और यद्यपि हमें यह जगत् विस्तार की रचना गुरुर
सरम (अति कठिन आरम्भ) वाली के समान भासती है, तथापि परमेश्वर की तो
यह केवल लीला मात्र ही है, क्योंकि वह अपरिमित शक्ति वाला है । यदि लोक में
प्रसिद्ध लीलाओं में भी किसी सूक्ष्म प्रयोजन की उत्प्रेक्षा (सम्भावना-कल्पना) की जाय
तो भी ईश्वरविषयक आप्तकाम श्रुति से यहाँ किसी भी प्रयोजन की उत्प्रेक्षा नहीं की जा
सकती है और सृष्टि की श्रुति से अप्रवृत्ति भी नहीं कही जा सकती है । सर्वज्ञत्व
श्रुति से उन्मत्त प्रवृत्ति भी नहीं कही जा सकती है और यह सृष्टिविषयक श्रुति
परमार्थ विषयक नहीं है । क्योंकि यह अविद्या से कल्पित नाम और रूप के व्यवहार-
विषयक है, और ब्रह्मात्मभाव के प्रतिपादनपरक है, इस तत्त्व को भी नहीं मूलना
चाहिये ॥ ३३ ॥

वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण (१२)

वैषम्याद्यापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः ।
 सृजन्विषम ईशः स्यान्नघृणश्चोपसंहरन् ॥
 प्राण्यनुष्ठितधर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते ।
 नातो वैषम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चादिमान् ॥

प्राणियों के कर्मवासनादि के अनुसार सृष्टि करने से ईश्वर में विषमता-राग, द्वेषादि नहीं है, न निर्घृणता (निर्दयता-क्रूरता) है, ऐसा ही शास्त्र भी दिखाता है । सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि विषमता आदि दोष ईश्वर में प्राप्त होता है, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि मनुष्यों के भेद से तथा अनेक योनि आदि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख-दुःखादि को रचता हुआ ईश्वर विषम होगा, और सब का उपसंहार-प्रलय करने से क्रूर भी होगा । सिद्धान्त है कि प्राणियों के अनुष्ठित (आचरित) धर्मादि की अपेक्षापूर्वक ही ईश्वर प्रवृत्त होता है । इससे विषमता निर्घृणता नहीं है । यदि कहो कि सबसे प्रथम वाली सृष्टि में विषम रचना से विषमता है, तो वह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संसार आदि वाला नहीं है—अनादि है ॥ १-२ ॥

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञात-स्यार्थस्य दृढीकरणाय । नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते । कुतः ? वैषम्यनैर्घृण्य-प्रसङ्गात् । कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्, कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः पश्वादीन्, कांश्चिन्मध्यमभोगभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमां सृष्टिं निर्मिमाण-स्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छत्वादीश्वरस्व-भावविलोपः प्रसज्येत । तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःख-योगविधानात्सर्वप्रजोपसंहाराच्च प्रसज्येत । तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमिति ।

स्थूणानिखनन न्याय से प्रतिज्ञात ईश्वर कारणतावाद को हट करने के लिए फिर ईश्वर के जगत् के जन्मादिहेतुत्व का आक्षेप करते हैं कि ईश्वर जगत् का कारण नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि कारण होने पर विषमता-क्रूरता की प्राप्ति होती है । जिससे ईश्वर किसी देवादि को अत्यन्त सुखोपभोक्ता करता है । किसी पशु आदि को अत्यन्त दुःखोपभोक्ता करता है । किसी मनुष्य आदि को मध्यम भोगमागी करता है । इससे इस प्रकार की विषमसृष्टि का निर्माण (रचना) करते हुए ईश्वर को पृथग्जन (पामर-नीच) के समान राग-द्वेष की उपपत्ति सिद्धि से श्रुति स्मृति से अवधारित (निर्णीत-निश्चित) स्वच्छत्वादि रूप ईश्वर-स्वभाव का विलोप (अभाव) प्राप्त होगा । इसी प्रकार दुःख सम्बन्ध का विधान (साधन) और सब प्रजा के उपसंहार—नाश से

खलु जनों से मो निन्दित निर्घुणत्व-अतिक्रूरत्व प्राप्त होगा । जिससे-वैषम्य—नैर्घुण्य की प्राप्ति से-ईश्वर कारण नहीं है ।

एव प्राप्ते भ्रूम । वैषम्यनैर्घुण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते । कस्मात् ? सापेक्षत्वात् । यदि हि निरपेक्ष केवल ईश्वरो विषमा सृष्टि निर्मिमीते स्यातामेतो दोषो वैषम्य नैर्घुण्य च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति, सापेक्षो हीश्वरो विषमा सृष्टि निर्मिमीते । किमपेक्षत इति चेत् ? धर्माधर्मावपेक्षत इति वदाम । अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधमपिक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराध । ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्य । यथाहि पर्जन्यो ब्रीहियवादिसृष्टौ साधारण कारण भवति, ब्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्वीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारण कारण भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्त्येवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घुण्याभ्या दुःप्रति । कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरो नीचमध्यमोत्तम समार निर्मिमीत इति । तथा दर्शयति श्रुति — 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपत एष उ एवासाधु कर्म कारयति त यमघो निनीपते' (कौ० ब्रा० ३।८) इति । 'पुण्यो वे पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन' (दृ० ३।२।१३) इति च । स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषातेक्षमेवेश्वरस्यानुगृहीतृत्व निग्रहीतृत्व च दर्शयति—'ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इत्येवजातीयका ॥ ३४ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि विषमता-निर्घुणता ईश्वर को नहीं प्राप्त होती है । क्योंकि ईश्वर को सापेक्षता है । यदि कर्मादि निरपेक्ष केवल ईश्वर विषम सृष्टि का निर्माण करता, तो ये वैषम्य और नैर्घुण्यरूप दोनों दोष होते, परन्तु निरपेक्ष ईश्वर को निर्माणकर्तृत्व नहीं है, सापेक्ष ही ईश्वर विषमसृष्टि का निर्माण करता है । यदि कहो कि ईश्वर किसकी अपेक्षा करता है ? तो उत्तर है कि धर्म और अधर्म की । इससे सृज्यमान (रचे जाते हुए) प्राणियों के धर्माधर्म की अपेक्षा से विषम सृष्टि होती है, यह ईश्वर का अपराध नहीं है । सृष्टि में ईश्वर पर्जन्य (मेघ) के समान साधारण कारण है ऐसा समझना चाहिए कि ब्रीहि-यव आदि की सृष्टि में जैसे मेघ साधारण कारण होता है और ब्रीहि-यवादि की विषमता में तो तत्तद् बीजगत असाधारण विशेष सामर्थ्य ही । कारण होते हैं, इसी प्रकार देव-मनुष्यादि की सृष्टि में ईश्वर साधारण कारण होता है । देवादि की विषमता में तो तत्तद् जीवगत असाधारण कर्म ही कारण होते हैं । इस प्रकार सापेक्ष होने से वैषम्य और नैर्घुण्य से ईश्वर दूषित नहीं होता है । यदि कहो कि कैसे समझा जा सकता है कि यमादि सापेक्ष ईश्वर नीच मध्यम और उत्तम समार की रचना करता है ? तो कहा जाता है कि श्रुति ही इस अर्थ को दिखाती है कि (यह परमात्मा ही जिसको इन लोको से ऊपर प्राप्त कराना चाहता है, उसको साधु पुण्य कर्म करवाता है ।

और जिसको नीचे प्राप्त कराना चाहता है, उसको असाधु पाप कर्म करवाता है । पुण्य कर्म से पुण्यात्मा पवित्र होता है, पाप कर्म से पापात्मा होता है) स्मृति भी प्राणी के कर्म विशेष की अपेक्षापूर्वक ही ईश्वर के अनुग्रहकर्तृत्व और निग्रह (दण्ड) कर्तृत्व को दिखाती है कि (जो जिस प्रकार मुझे प्राप्त होते भजते हैं । मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ उसके भजनानुसार अनुग्रहादि करता हूँ) इत्यादि ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ (छां० ६।२१) इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्ष्य विपमा सृष्टिः स्यात् । सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मपेक्षश्च शरीरादिविभाग इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत । अतो विभागादूर्ध्वं कर्मपेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम, प्राग्विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत् ?

नैष दोषः । अनादित्वात्संसारस्य । भवेदेव दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात् । अनादी तु संसारे बीजाङ्कुरवद्वेतुहेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ॥ ३५ ॥

(हे सोम्य ! यह संसार सृष्टि के पूर्वकाल में सत् स्वरूप एक द्वैत रहित ही था) इस प्रकार सृष्टि से प्रथम अविभाग (अभेद) के अवधारण-निश्चय से कर्म ही नहीं है कि जिसकी अपेक्षा से विपमसृष्टि होगी जिससे सृष्टि के उत्तर काल में शरीरादि विभाग की अपेक्षापूर्वक कर्म होता है और कर्म की अपेक्षापूर्वक शरीरादि का विभाग होता है, इससे इतरेतराश्रयता प्राप्त होगी । इससे विभाग के बाद कर्मपेक्ष ईश्वर भले ही प्रवृत्त हो सकते हैं, परन्तु विभाग से पूर्व विचित्रता के निमित्त कर्म के अभाव से तुल्य ही आद्य (पहिली) सृष्टि प्राप्त होती है । इस प्रकार यदि कोई दोष कहे तो कहते हैं कि यह दोष नहीं है क्योंकि संसार को अनादित्व है । यह उक्त दोष तब होता कि यदि आदि वाला संसार होता । और अनादि संसार में तो बीज अंकुर के समान हेतु-हेतुमद्भाव (कारण-कारणवद्भाव) से कर्म और विपमसृष्टि की प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं होता है ॥ ३५ ॥

कथं पुनरवगम्यतेऽनादिरेष संसार इति । अत उत्तरं पठति—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वम् । आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुखदुःखादिवैपम्यस्य निर्निमित्तत्वात् । न चेश्वरो वैपम्यहेतुरित्युक्तम् । नचाविद्या केवला वैपम्यस्य कारणम्, एकरूपत्वात् । रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मपेक्षा त्वविद्या

वैषम्यकरो स्यात् । न च कर्मान्तरेण शरीर सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गः । अनादित्वे तु बीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति । उपलभ्यते च ससारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः । श्रुती तावत् 'अनेन जीवेनात्मना' (छा० ६।३।२) इति सर्गप्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्नादि ससार इति दर्शयति । आदि-मत्त्वे तु प्रागनवधारितप्राणं सन् कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्ग-प्रमुखेऽभिलप्येत । न च धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्येत, अनागताद्धि सम्बन्धा-दतीतं सम्बन्धो बलवान् भवति, अभिनिष्पन्नत्वात् । 'सूर्याच्चन्द्रासौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० स १०।१९०।३) इति च मन्त्रवर्णं पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति । स्मृनावप्यनादित्वं ससारस्योपलभ्यते—'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' । (गी० १५।३) इति । पुराणे चातीतानाम-नागतानां च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥ ३६ ॥

यह ससार अनादि है, यह कैसे समझा जाता है इस प्रकार की फिर भी जिज्ञासा हुई, इसके उत्तर में कहते हैं कि—

ससार की अनादिता युक्ति से सिद्ध होती है । जिससे ससार के आदि वाला होने पर अकस्मादुद्भूति (निष्कारण उत्पत्ति) होने से मुक्तों का भी फिर जन्मादि ससार उत्पन्न होगा, अर्थात् मुक्त को ससार की प्राप्ति होगी, और अकृत का अभ्यागम (प्राप्ति) रूप दोष का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) होगा । क्योंकि ससार की प्रथमोत्पत्ति-काल में सुख-दुःखादि की विषमता को निहंतुक्त्व होगा । क्योंकि साधारण कारण होने से ईश्वर विषमता का कारण नहीं है यह प्रथम कहा गया है । केवल अविद्या भी एकरूप होने से विषमता का कारण नहीं है । किन्तु राग, द्वेष, मोह रूप क्लेश की वासनाओं से आक्षिप्त (प्राप्त) धर्माधर्मादि की अपेक्षा वाली क्लेश कर्म सहित अविद्या तो विषमता करने वाली होती है, इससे अविद्या माया के सहायक क्लेश-कर्मों का प्रवाह अनादि है । सृष्टि के सादि होने पर प्रथम के कर्म के बिना शरीर नहीं हो सकता है, और शरीर के बिना कर्म का सम्भव भी नहीं है । इससे इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष की प्राप्ति होती है । और ससार के अनादित्व होने पर तो बीजाङ्कुर न्याय से कर्म-शरीर दोनों की उत्पत्ति (सिद्धि) होती है, इससे अकृतमागम अन्योन्याश्रय कोई दोष नहीं प्राप्त होता है । और श्रुति-स्मृति में ससार की अनादिता उपलब्ध (ज्ञात) होती है । श्रुति में उपलब्ध होती है कि (इस जीवात्मा रूप से तेज आदि में पंठकर नामरूप का व्याकरण कहे) इस प्रकार सृष्टि के प्रमुख (आरम्भ) में शरीर आत्मा को प्राण-धारणनिमित्तक जीवशब्द से कहता हुआ परमात्मा ससार अनादि है, इस अर्थ को दिखाता है । ससार के आदि वाला होने पर तो प्रथम अगृहीत प्राण वाला होता हुआ जीव सृष्टि के आरम्भकाल में प्राणधारण-निमित्तक जीवशब्द से

कैसे कहा जा सकता है । यदि कहा जाय कि आगे प्राण का धारण करेगा इससे जीवशब्द से कहा जा सकता है, उसका उत्तर है कि अनागत (भावी) सम्बन्ध से अतीत सम्बन्ध, अभिनिष्पन्न (सिद्ध) होने से बली होता है । और (परमात्मा ने सूर्य और चन्द्रमा को पूर्वसमान ही रचा) यह मन्त्र वर्ण भी पूर्वकल्प के सद्भाव को दिखाता है । स्मृति में भी संसार की अनादिता उपलब्ध होती है कि (इस संसार वृक्ष का रूप गुरु आदि के बिना उपलब्ध-ज्ञात नहीं होता है कि यह सत्य है वा मिथ्या इत्यादि । और ज्ञान के बिना इसके आदि और अन्त भी नहीं उपलब्ध होते हैं, न मध्य काल में सम्प्रतिष्ठा-स्थिति उपलब्ध होती है) इत्यादि । और पुराणों में अतीत-अनागत कल्पों का परिमाण नहीं है, यह स्थापित किया है ॥ ३६ ॥

सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण (१३)

नास्ति प्रकृतिता यद्वा निर्गुणस्यास्ति नास्ति सा ।

मृदादेः सगुणस्यैव प्रकृतित्वोपलम्भनात् ॥ १ ॥

भ्रमाधिष्ठानताऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते ।

निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादौ सा ब्रह्म प्रकृतिस्ततः ॥ २ ॥

जगत् की कारणता के योग्य सब धर्म की उपपत्ति से ब्रह्म जगत् का कारण है । यहाँ संशय है कि निर्गुण ब्रह्म को प्रकृतिता नहीं है, अथवा है ? पूर्वपक्ष है कि सगुण मृत्तिका आदि के ही प्रकृतित्व के उपलम्भ से निर्गुण ब्रह्म प्रकृति नहीं है । सिद्धान्त है कि हम भ्रम की अधिष्ठानता को प्रकृतिता मानते हैं, वह निर्गुण जाति गुण आदि में भी है, इससे ब्रह्म प्रकृति है ॥ १-२ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ७ ॥

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नवधारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्ता-विलक्षणत्वादीन् दोषान् पर्यहार्षोदाचार्यः, इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकरणं प्रारिप्समानः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति । यस्मादस्मिन् ब्रह्माणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्तिं महामायं च ब्रह्म' इति, तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ ३७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यशङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरक-

मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ १ ॥

चेतन ब्रह्म कारण है और प्रकृति है, इस अवधारित वेदार्थ में अन्य से आक्षिप्त (कल्पित) विलक्षणत्वादि दोषों का परिहार आचार्य सूत्रकार ने किया है । इस समय

परपक्ष का प्रतिषेध जिसमें प्रधान है ऐसे प्रकरण के आरम्भ की इच्छा वाले आचार्य स्वपक्ष का परिग्रह जिसमें प्रधान है उस प्रकरण का उपसंहार करते हैं कि जिससे इस ब्रह्म रूप कारण के परिग्रह (स्वीकार) करने पर पूर्व-प्रदर्शित रीति से कारण के सब धर्म उपपन्न (सिद्ध) होते हैं कि (सर्वज्ञ, सर्वशक्तियुक्त और महामाया वाला ब्रह्म है) इत्यादि, इससे यह उपनिषद् से ज्ञेय दर्शन शका द्वारा अतिक्रमण के योग्य नहीं है ।

सिद्ध शुद्धगुणोपेत सगुणो निगुणोऽथवा ।

कारण वै परो देवो देवाना देव ईश्वर ॥ १ ॥

सर्वशक्तिसमायोगान्मायागुणान्मपाश्रमात् ।

कारण सगुणो देवो निगुण साक्षिता गत ॥ २ ॥

नास्ति स्वरूपभेदोऽय माया भेदकरी मृषा ।

तृषा त्यक्त्वा भजन्तीश निगुणत्वाय कल्पते ॥ ३ ॥

आद्यन्तादिविनिर्मुक्त सर्वेषा शरण परम् ।

वन्दे त परमात्मानमात्मान सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथम पाद समाप्त ।

द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः

[अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम्]

रचनानुपपत्त्यधिकरण (१)

प्रधानं जगतो हेतुर्न वा सर्वे घटादयः ।

अन्विताः सुखदुःखाद्यैर्यतो हेतुरतो भवेत् ॥ १ ॥

न हेतुर्योग्यरचनाप्रवृत्त्यादेरसम्भवात् ।

सुखाद्या अन्तरा बाह्या घटाद्यास्तु कुतोऽन्वयः ॥ २ ॥

जड़ अनुमान-सिद्ध प्रधान मात्र से जगत् की रचना की असिद्धि से प्रधान जगत् का कारण नहीं है । यहाँ प्रथम संशय होता है कि त्रिगुण की साम्यावस्था रूप प्रधान जगत् का हेतु है, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि सब घटादिपदार्थ सुख-दुःख और मोह से समन्वित (युक्त) हैं, जिससे सुख-दुःख मोहात्मक हैं, इससे त्रिगुणरूप सुख-दुःख मोहात्मक प्रधान इनका हेतु है । भाव है कि रूप-कुल-शीलादि-सम्पन्न स्त्री अपने स्वामी के लिए सुखरूप होती है, सपत्नी के लिए दुःखरूप होती है । कामी पुरुषान्तर भी उसे चाहते हैं, परन्तु उन्हें नहीं मिलने से उनके मोह का हेतु होती है । इसी प्रकार संसार के सब पदार्थ जिसके सुख के हेतु हैं उसके लिए सुखरूप हैं, जिसके दुःख के हेतु हैं, उसके लिए दुःखरूप हैं, जिसके चिन्ता-अविवेक-मोह के हेतु हैं, उसके लिए मोहरूप हैं । और उपादान कारण के गुण कार्य में अन्वित होते हैं, इससे सुख-दुःख और मोह से समन्वित सब जगत् सुख-दुःख मोहात्मक प्रधानजन्य है इससे प्रधान हेतु है । (शब्दस्पर्शविहीनं तं रूपादिभिरसंयुतम् । त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रमवाप्ययम् ॥ विष्णु पु०) शब्दादि से रहित रूपादि से असंयुक्त वह त्रिगुण-प्रधान जगत् का उपादान है और आदि-उत्पत्ति-नाश-से रहित है । सिद्धान्त है कि प्रधान स्वतन्त्र हेतु नहीं है, क्योंकि जड़ प्रधान से चेतन तो होने योग्य कर्मादिक के अनुसार रचना तो दूर रही देश-कालादि के अनुसार रचना आदि के लिए प्रवृत्ति आदि का भी असम्भव है । और घटादि बाह्य पदार्थ वा शरीरादि अव्यात्म पदार्थ स्त्री-पुत्रादि, सुख-दुःख और मोह के हेतु-निमित्त कारण भले ही हैं परन्तु सुखादि स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि सुखादि शरीर के अन्तर्वर्ती-अन्तःकरण के धर्मरूप से प्रसिद्ध हैं और घटादि बाह्य पदार्थ हैं तो इन घटादिकों को देश-भिन्न होने से सुखादि के साथ अन्वय भी कैसे हो सकता है ? ॥ १-२ ॥

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं न तर्कशास्त्रवत्के-
वलाभिर्युक्तिभिः कश्चित्सिद्धान्तं साधयितुं वा प्रवृत्तम्, तथापि वेदान्तवाक्यानि

व्याचक्षणे सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि साख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानिति तदर्थं पर पाद प्रवर्तते । वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात्तन्निर्णयेन स्वपक्षस्थापन प्रथम कृत तद्व्यवर्थाहित परपक्षप्रत्याख्यानादिति । ननु मुमुक्षूणा मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवल कर्तुं युक्त कि परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण । बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति साख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषा चिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा । तथा युक्तिगाढ त्वसम्भवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते । ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५), 'कामाच्च नानुमाना-पेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याता' (ब्र० सू० १।४।२८) इति च पूर्वत्रापि साख्यादिपक्षप्रतिक्षेप कृतः, किं पुन कृतकरणेनेति । तदुच्यते । साख्यादय स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषा यद्व्याख्यान तद्व्याख्यानाभास न सम्यग्व्याख्यान-मित्येतावत्पूर्वं कृतम् । इह तु वाक्यनिरपेक्ष स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेध क्रियते इत्येष विशेष ।

इस परपक्ष प्रतिषेध रूप पाद के आरम्भ में ही शका होती है कि यद्यपि यह दर्शन शास्त्र वेदान्त-वाक्यो के ऐदम्पर्यं (तात्पर्य) के निरूपण के लिए प्रवृत्त हुआ है । तर्क-शास्त्र के समान केवल युक्तियों से किसी सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए वा दूषित ठहराने के लिये नहीं प्रवृत्त हुआ है । वहाँ तात्पर्य के निश्चयादि प्रथम हो चुके हैं । इससे व्यर्थ इस पाद का आरम्भ भासता है, तथापि स्वपक्ष की स्थिरता, उसमें श्रद्धा आदि के लिए वेदान्त वाक्यो के व्याख्यानकर्ताओं का सम्यक् ज्ञान के प्रतिपक्ष (विरोधी) रूप साख्यादि दर्शनो का निराकरण भी कर्तव्य होता है । उसके लिए यह पर—दूसरा प्रवृत्त (आरब्ध) हुआ है । और वेदान्त के अर्थ के निर्णय को सम्यग् दर्शनार्थक होने से उसके निर्णय द्वारा अपने पक्ष का स्थापन प्रथम किया गया है । क्योंकि परपक्ष के प्रत्याख्यान से वह अमर््याहित (पूज्य-श्रेष्ठ) है । शका होती है कि मुमुक्षुओं के मोक्ष के साधन रूप होने से सम्यग् दर्शन के निरूपण के लिए केवल स्वपक्ष का स्थापन करना ही युक्त है, परपक्ष का निराकरण रूप पर के साथ द्वेष करने का क्या फल है ? उत्तर है कि यह कहना सत्य है, तो भी महाजनों से परिगृहीत महान् साख्यादि शास्त्रों के सम्यग् दर्शन के अपदेश (व्याज) से प्रवृत्त होने से उन्हें प्राप्त करके देखकर किसी मन्दमति को अपेक्षा (विचार) हो सकती है कि ये भी सम्यग् दर्शन के लिए उपादेय हैं । इसी प्रकार युक्ति की दृढ़ता के सम्भव से सर्वज्ञजन से भाषितत्व (कथितत्व) की कल्पना [द्वारा उन दर्शनो में श्रद्धा भी हो सकती है, इससे उनकी असारता का प्रतिपादन के लिए यत्न किया जाता है । फिर शङ्का होती है कि (ईक्षतेर्नाशब्दम्) इत्यादि सूत्र द्वारा पूर्व

ही सांख्यादि पक्षों का प्रतिक्रोष (निराकरण) किया गया है, फिर यह कृत-प्रतिक्रोष के करने से क्या फल है ? ऐसी शङ्का होने पर पुनः प्रतिक्रोष करने का फल कहा जाता है कि सांख्यादिवादियों ने अपने पक्षों की स्थापना के लिए वेदान्त वाक्यों का उदाहरण देकर और स्वपक्ष के अनुसार से ही उन वाक्यों की योजना (सम्बन्ध) करते हुए उनका व्याख्यान किया है और करते हैं। उनका जो यह व्याख्यान है, वह व्याख्यानाभास (असद्व्याख्यान) है, इतने अर्थ का प्रदर्शन प्रथम कराया गया है। यहाँ वाक्य की अपेक्षा किए बिना स्वतन्त्र उनकी पंक्तियों का निषेध किया जाता है यह विशेष (भेद) है।

तत्र सांख्या मन्यन्ते-यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनान्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयान्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । यत्तत्-सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत्त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तत इति । तथा परिमाणादिभिरपि लिङ्गस्तदेव प्रधानमनुमिमते ।

तत्र वदामः । यदि दृष्टान्तत्रलेनैवैतन्निवृण्येत नाचेतनं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किञ्चिद्विशिष्टपुरुषार्थनिवर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद् दृष्टम् । गेहप्राशदशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रजावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते, तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलप्राप्तयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रजावद्भिः सम्भाविततमैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत् । लोप्टपापाणादिष्वदृष्टत्वात् । मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसङ्गः । न च मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण मूलकारणमवधारणीयं, न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किञ्चिन्नियामकमस्ति । न चैवं सति किञ्चिद्विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते चेतनकारणसमर्पणात् । अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति । अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति च-शब्देन हेतोरसिद्धि समुच्चिनोति । नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयान्वय उपपद्यते, सुखादीनां चान्तरस्त्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च । शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात्सुखादिविशेषोपलब्धेः । तथा परिमितानां भेदानां मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वत्वप्रसङ्गः परिमितत्वाविशेषात् । कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं कल्पायतुम् ॥ १ ॥

सांख्यवादी मानते हैं कि जैसे घट-शरावादि रूप भेद (विकार-कार्य) मृत्तिका के स्वरूप से अन्वित हैं, वे मृत्तिकारूप सामान्य (साधारण) कारणपूर्वक लोक में देखे गये हैं, इसी प्रकार बाह्य घटादि और आध्यात्मिक शरीरादिरूप भेद (विकार) भी सुख-दुःख-मोहस्वरूपता से अन्वित हैं । जिसके सुख के हेतु जो पदार्थ हैं, उसके लिए सुख रूप हैं, जिसके दुःख के हेतु हैं, उसके लिए दुःखरूप हैं, जिसके चिन्ता-शोकादि के हेतु है, उसके लिए मोहरूप हैं । इस प्रकार सब पदार्थ सुखादि से समन्वित हैं इससे सुख-दुःख मोहात्मक साधारण कारणपूर्वक होने योग्य है । जो वह सुख दुःख मोहस्वरूप सामान्य साधारण कारण है, वही त्रिगुणप्रधान है, और वह मृत्तिका के समान अचेतन है । वह चेतन पुरुष के भोग और अपवर्ग रूप अर्थ (प्रयोजन) को सिद्ध करने के लिए विचित्र स्वभाव से ही विचित्र कार्य विकार रूप से प्रवृत्त व्यक्त होता है । इसी प्रकार परिणामादि लिङ्गों से उस प्रधान का ही अनुमान करते हैं कि महादियों के परिमाण (परिमित) होने से उसका कारण अव्यक्त प्रधान है, जैसे परिमित घट की अपेक्षा घटरूप से अव्यक्त मृत्तुषिण्ड घट का कारण होता है और कारण की शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति सिद्ध होती है । इससे सब कार्य की शक्ति वाला प्रधान है, जैसे तेल की शक्ति वाला तिल तेल का कारण होता है । अनन्त स्वरूप वाले कार्य का मृत्तिकाल में कारण से विभाग होता है, प्रलय में सब कार्य का कारण से अविभाग होता है, इससे इस विभाग और अविभाग से भी अव्यक्त प्रधान कारणरूप सिद्ध है, जैसे सुवर्ण भूषणों का कारण होता है । वहाँ कहते हैं कि दृष्टान्तों के बल से ही इस प्रधान का निरूपण किया जाता हो, तो चेतन से अनधिष्ठित स्वतन्त्र अचेतन किसी विशिष्ट (श्रेष्ठ) पुरुषार्थ (प्रयोजन) के साधन में समर्थ विकारों को रचता हुआ लोक में नहीं देखा गया है । गृह, महल, शय्या, आसन, क्रीडा के स्थानादि जो समय के अनुसार सुख-प्राप्ति और दुःख के निवारण के योग्य होते हैं वे लोक में बुद्धिमान् शिल्पियों से ही रचे हुए देखे जाते हैं । इसी प्रकार जो यह नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म-सुख, दुःख, फल और उसके साधनरूप उपभोगयोग्य पदार्थात्मिक पृथिवी आदि रूप सम्पूर्ण बाह्य जगत् है और अनेक कर्मफल-भोगों के अधिष्ठान आश्रयरूप जो प्रत्यक्ष दृश्यमान नानाजातियुक्त प्रतिनियत (असाधारण) अवयव विन्यास (रचना) वाले आध्यात्मिक शरीरादि रूप जगत् है, वह सम्भाविततम (अत्यन्त श्रेष्ठ) बुद्धिमान् शिल्पियों के मन से भी चिन्तन के अयोग्य होता हुआ अचेतन प्रधान में कैसे रचा जायगा ? क्योंकि अचेतन लोभ-मापाणादि में रचनावर्तुत्व नहीं देखा जाता है । कुम्भकारादि से अधिष्ठित मृदादि में ही विशिष्ट आकारवाली रचना देखी जाती है इससे प्रधान को भी मृत्तिकादि के समान कार्य के करने में चेतनान्तर से अधिष्ठितत्व का प्रसङ्ग (अवसर) प्राप्त होता है । मृत्तिका आदि-समन्वित उपादान कारणस्वरूप का आश्रयण करके उसके आश्रित रहने वाले धर्म द्वारा ही मूल कारण का अवधारण करना चाहिये, और बाह्य कुम्भकारादि के आश्रयण द्वारा उसके समान

अधिष्ठाता चेतन कर्ता का अवधारण नहीं करना चाहिये, इसमें कोई नियामक हेतु नहीं है। और कुलालादि के समान मूल कारण प्रधान का चेतन अधिष्ठाता मानने पर कुछ विरुद्ध भी नहीं होता है कि जिसके भय से चेतन अधिष्ठाता नहीं माना जाय, उलटा चेतन अधिष्ठाता को मानने पर श्रुति अनुगृहीत होती है, क्योंकि वह चेतन कारण का समर्पण-बोधन कराती है। इससे और रचना की अनुपपत्तिरूप हेतु से अचेतन जगत् का कारण अनुमान के योग्य नहीं है, और जिस अन्वयादिरूप हेतु से प्रधान का अनुमान सांख्यवादी करते हैं, उस अन्वयादि की अनुपपत्ति से भी प्रधान का अनुमान नहीं हो सकता है, इस प्रकार च शब्द से हेतु की असिद्धि का समुच्चय (सम्बन्ध) सूत्रकार करते हैं कि, बाह्य और आध्यात्मिक विकारों को सुख-दुःख-मोहात्मकता रूप से समन्वय नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि सुखादि को भान्तरस्त्व प्रतीति होती है। और शब्दादि को तद्रूपत्व की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु अतद्रूपत्व की प्रतीति होती है। तथा उस सुखादि के निमित्तत्व की प्रतीति शब्दादि में होती है निमित्त-नैमित्तिक का भेद लोक में प्रसिद्ध है। शब्दादि के सुखादि स्वरूप नहीं होने से तथा सुखादि के निमित्त मात्र होने ही से शब्दादि के एकतुल्य रहते हुए भी प्राणी की भावना वासना के भेद से सुखादि विशेष कार्य की उपलब्धि होती है। अन्यथा सबको एक सी उपलब्धि होनी चाहिए। इसी प्रकार मूल-अंकुरादि रूप परिमित विकारों को संसर्गपूर्वकत्व देख कर बाह्य आध्यात्मिक सब विकारों को परिमितत्व हेतु से संसर्ग-पूर्वकत्व का अनुमान करने वाले को सत्त्व, रज और तमोगुण को भी संसर्गपूर्वकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि इनमें भी अंकुरादि के समान ही परिमितत्व है। और विचारपूर्वक निर्मित शय्या-आसनादि का भी कार्य-कारण भाव देखा गया है। इससे कार्य-कारण भाव से बाह्य आध्यात्मिक विकारों की अचेतनपूर्वकता की कल्पना नहीं कर सकते हैं। इससे चेतनाधिष्ठित मायाजन्य संसार है ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

आस्तां तावदियं रचना, तत्सिद्धयर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वान-धिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते, दृष्टान्त्वादृष्टसिद्धिः, अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा। सत्यमेतत्, तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। न त्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। किं पुनरत्र युक्तम्? यस्मिन्प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सेति यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति। ननु यस्मिन्दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्तमुभयोः प्रत्यक्षत्वात्, ननु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन

केवलचेतनो रथादिवत्प्रत्यक्ष । प्रवृत्त्याश्रयदेहादिसयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवदेहस्यैव दृष्टमिति । अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनादेहस्यैव चेतन्यमपीति लोकार्थतिका प्रतिपन्ना । तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति । तदभिधीयते । न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति, भवतु तस्यैव सा, सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूम । तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् यथा काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाश-लक्षणा विक्रियाऽनुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्सयोगे दर्शनात्तद्विद्योगे चादर्शनात्तद्वत् । लोकार्थतिकानामपि चेतन एव देहोऽचेतनानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिपिद्धं चेतनस्य प्रवर्तकत्वम् ।

इस रचना की बात को तो रहने दो, उस रचना की सिद्धि के लिए जो प्रलय-कालिक त्रिगुण के साम्यावस्थान (स्थिति) में प्रच्युति (वैषम्यप्राप्ति), उसके बाद सत्त्व-रज और तमो गुण को अङ्गाङ्गिभाव (रोपशेषिभाव) रूपता की प्राप्ति, और उसके बाद विशिष्ट (विशेषतायुक्त) कार्यों के अभिमुख (कार्यों के उत्पादन) में प्रवृत्तिस्वरूप प्रवृत्ति है, वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधान को नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योंकि अचेतन मृत्तिकादि में और रथादि में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है । और जिससे अचेतन मृत्तिकादि वा रथादि स्वयं अचेतन होते हुए, चेतन कुलालादि वा अश्वादि से अनपिष्ट होकर विशिष्ट कार्य के अभिमुख प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते हैं, और दृष्ट हेतु से अदृष्ट साध्य की सिद्धि होती है तथा प्रत्यक्षदृष्ट दृष्टान्त से अदृष्ट की सिद्धि मानी जाती है । अदृष्ट प्रधान दृष्ट-दृष्टान्त सदृश हो सिद्ध हो सकता है । इसलिए प्रवृत्ति की असिद्धिरूप हेतु से भी अचेतन जगत् का कारण अनुमान के योग्य नहीं है । यहाँ साध्यवादी शका करते हैं कि केवल अचेतन की प्रवृत्ति जैसे नहीं देखी गई है, वैसे ही केवल चेतन की भी प्रवृत्ति नहीं देखी गई है और प्रवृत्ति देखी जाती है तो किसकी मानी जाय ? सिद्धान्ती कहते हैं कि केवल चेतन की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है यह कथन सत्य ही है, तो भी चेतनसयुक्त रथादि अचेतन की प्रवृत्ति देखी गई है, इससे चेतनसयुक्त जब में प्रवृत्ति मानने योग्य है । इस वेदान्त के सिद्धान्त का साध्यवादी खण्डन करते हैं कि अचेतनसयुक्त चेतन की प्रवृत्ति तो नहीं देखी गई है किन्तु सब प्रवृत्ति अचेतन के आश्रित ही देखी जाती है, अचेतन सम्बन्ध से भी चेतनाश्रित नहीं देखी जाती है, जिससे जगत् की सृष्टि चेतन से नहीं होती है । इस प्रकार समय पक्ष के प्राप्त होने पर विमर्श होता है कि यहाँ युक्त क्या है ? अर्थात् अचेतन के स्याग से (प्रवृत्ति होने से) चेतन की प्रवृत्ति समझी जाय, या जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है उसी की समझी जाय (इससे जिसमें प्रवृत्ति देखी गई उसी की वह प्रवृत्ति है, वा जिसके सम्बन्ध से हुई उसकी प्रवृत्ति है) साध्यवादी कहते हैं कि जिसमें प्रवृत्ति दीखती है, उसी की वह है ऐसा मानना उचित है । क्योंकि प्रवृत्ति और उसका

आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं। केवल चेतन तो रथादि के समान प्रवृत्ति के आश्रय रूप से प्रत्यक्ष नहीं है, और अप्रत्यक्ष होते भी प्रवृत्ति के आश्रय देहादि से संयुक्त ही चेतन के सद्भाव (सत्ता) की सिद्धि होती है। क्योंकि केवल अचेतन रथादि से विलक्षणता जीवित देह को देखी जाती है। और इस अप्रत्यक्षता से रथादि से विलक्षणता से ही प्रत्यक्ष देह के रहते प्रवृत्ति चेतनता दीखती है। और देह के नहीं रहने पर प्रवृत्ति चेतनता नहीं दीखती है इससे देह का ही चेतनता धर्म है, इस प्रकार लोकायतिक निश्चय किये हैं। उससे अचेतन की ही प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्ति विषय में अब सिद्धान्त कहा जाता है कि हम यह नहीं कहते हैं कि जिस अचेतन में प्रवृत्ति देखी गई है, उसकी वह प्रवृत्ति नहीं है, वह प्रवृत्ति उसी की हो, परन्तु वह प्रवृत्ति चेतन से होती है। यह हम कहते हैं, क्योंकि चेतन की सत्ता रहते प्रवृत्ति की सत्ता रहती है, चेतन की सत्ता के अभाव होने पर प्रवृत्ति का अभाव होता है, जैसे कि काष्ठादि के आश्रित भी दाह प्रकाश-रूप विकार (कार्य) होते हैं, और केवल अग्नि में उपलब्ध नहीं भी होते हैं, तो भी अग्नि से ही होते हैं। क्योंकि अग्नि के संयोग रहते दाहादि देखे जाते हैं। और अग्नि के वियोग होने पर काष्ठादि में दाहादि नहीं देखे जाते हैं। इसी प्रकार चेतन संयोग से अचेतन में प्रवृत्ति दीखती है, संयोग के अभाव से प्रवृत्ति का अभाव होता है। लोकायत (चार्वाक) के मत में भी चेतन ही देह अचेतन रथादि का प्रवर्तक देखी मानी गई है। इससे चेतन का प्रवर्तकत्व धर्म सबसे अविरोध है।

ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत् । न । अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः । यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति, एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम् । एकत्वात्प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत् । न । अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृतप्रत्युक्तत्वात् । तस्मात्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे न त्वचेतनकारणत्वे ॥ २ ॥

यहाँ शङ्का होती है जो प्रवर्तक होता है वह स्वयं भी प्रवृत्ति वाला होता है। और तुम्हारे मत में तो देह से संयुक्त आत्मा को भी विज्ञानस्वरूपमात्र से भिन्न प्रवृत्ति की असिद्धि से उस निर्विकार निर्गुण आत्मा का प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है। यदि ऐसी शङ्का हो तो कहा जाता है कि प्रवर्तकत्व अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि चुम्बक के समान और रूपादि के समान स्वयं प्रवृत्तिरहित को भी प्रवर्तकत्व की सिद्धि होती है। जैसे चुम्बक रूप मणि स्वयं प्रवृत्तिरहित होते हुए भी लोहा का प्रवर्तक होता है। अथवा जैसे रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्तिरहित भी नेत्रादि के प्रवर्तक होते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्तिरहित भी ईश्वर सर्वगत (व्यापक) सर्वात्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होता हुआ सबको प्रवृत्त

करे, यह युक्त है । यदि बहो कि सर्वात्मास्वरूप एक होने के कारण प्रवर्त्य (प्रवृत्ति योग्य) के अभाव रहने पर प्रवर्तकत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) है । तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या से प्रकटित नाम-रूपाऽऽत्मक माया के साथ आवेश (सम्बन्ध) के वश से उसमें कल्पित भेदादि सिद्ध होते हैं, इस प्रकार उक्त अनुपपत्ति का अनेक बार निराकरण हो चुका है । उससे सर्वज्ञ-कारणत्व पक्ष में प्रवृत्ति का सम्भव है । और अचेतन-कारणत्व पक्ष में असम्भव है ॥ २ ॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

स्यादेतत्, यथा क्षीरमचेतन स्वभावेनैव वत्सविवृद्धयर्थं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतन स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्पन्दत एव प्रधानमचेतन स्वभावेनैव पुष्पार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति ।

नतत्साधूच्यते । यतस्तत्रापि पयोऽम्बुनोदचेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमोमहे, उभयवादिप्रसिद्धे रथादावचेतने केवले प्रवृत्त्यदर्शनात् । शास्त्रं च 'योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो योऽपोऽन्तरो यमयति' (वृ० ३।७।४) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽज्या नद्य स्पन्दन्ते' (वृ० ३।८।९) इत्येवजातीयक समस्तस्य लोकपरिस्पन्दितम्येश्वराधिष्ठितता श्रावयति, तस्मात्साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात्पयोऽम्बुवदित्यनुपन्यास । चेतनायाश्च धेन्वा स्नेहेच्छया पयस प्रवर्तकत्वोपपत्तेः, चतमचोपणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात् । न चाऽम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा, निम्नभूम्यापेक्षत्वात्स्पन्दनस्य । चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम् । 'उपसहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इत्यत्र तु बाह्यनिमित्तनिरपेक्षमपि स्वाश्रय कार्यं भवतीत्येतल्लोकदृष्ट्या निदर्शितम् । शास्त्रदृष्ट्या तु पुन सर्वत्रैश्वरापेक्षत्वमापद्यमानं न पराणुद्यते ॥ ३ ॥

फिर शका होनी है कि इस अचेतन-कारणत्व पक्ष में भी यह रचना प्रवृत्ति आदि कथंचित् सिद्ध हो सकते हैं, जैसे कि अचेतन क्षीर स्वभाव से ही वत्स की वृद्धि के लिए प्रवृत्त होता है । और जैसे अचेतन जल स्वभाव से ही नदियों में लोक के उपकार के लिए बहता है । इसी प्रकार अचेतन प्रधान स्वभाव से ही पुष्पार्थ की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होगा । सिद्धान्ती कहते हैं, कि यह बचन ठीक सुन्दर नहीं कहा जा रहा है, जिससे वहाँ भी पय-जल में भी चेतन से अधिष्ठित ही पय और जल की प्रवृत्ति का अनुमान हम लोग करते हैं । क्योंकि दोनों वादी को प्रसिद्ध केवल चेतनानधिष्ठित अचेतन रथादि में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है (जो जलों में रहता हुआ जल का अन्तरात्मा है, जो अन्तरात्मा होकर जल-देव का भी नियन्त्रण करता है) (हे गार्गि ! इसी अक्षर परमात्मा के अनुशासन में रह कर पूर्व के तरफ अन्य नदियाँ बहती हैं) इत्यादि शास्त्र भी समस्त लोक परिस्पन्दित- (व्यवहार-क्रिया) की

ईश्वररूप अधिष्ठाता की अधीनता का श्रवण कराता है, जिससे दूध जल की प्रवृत्ति भी साध्यवाले पक्ष में प्राप्त होने से पक्ष की तुल्यता से हेतु के व्यभिचार के लिए यह उपन्यास (दृष्टान्त) नहीं है कि जलादि के समान स्वभाव से प्रधान प्रवृत्त होगा, चेतन अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं है । अन्तर्यामी तो सर्वत्र प्रवर्तक है ही, दूध का प्रवर्तकत्व तो चेतन घेनु की स्नेहजन्य इच्छा द्वारा है । और वत्स के चोपण से भी दूध के आकृष्यमाण (आकृष्ट) होने से दूध में प्रवृत्ति होती है । जल को भी प्रवृत्ति में अन्य की अत्यन्त अनपेक्षा (स्वतन्त्रता) नहीं है । क्योंकि जल के स्पन्दन (वहना) रूप प्रवृत्ति को नीची भूमि आदि की अपेक्षा होती ही है, और अनुमान तथा शास्त्र से प्रथम उपदर्शित कराया गया है, दर्शाया गया है कि प्रवृत्ति में सर्वत्र चेतन की अपेक्षा है (उपसंहारदर्शनात्) इत्यादि सूत्र में तो लोकदृष्टि से इतना अर्थ दर्शाया गया है कि बाह्य साधन की अपेक्षा बिना भी दूध में स्वाश्रय कार्य परिणाम होता है । और शास्त्रदृष्टि से तो सर्वत्र ईश्वर की अपेक्षा है, उस प्राप्त ईश्वरापेक्षा का निषेध नहीं किया जाता है । इससे पूर्वपर सूत्र में विरोध नहीं है ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

साङ्ख्यानां त्रयो गुणा साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्, न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किञ्चिद्वाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति, पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम्, अनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इत्येतदयुक्तम् । ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते ॥ ४ ॥

सांख्यवादियों के मत में समरूप से वर्तमान स्थिर तीन गुण प्रधान कहा जाता है, उससे भिन्न ईश्वर वा धर्माधर्मादिरूप कर्म उस प्रधान का प्रवर्तक वा निवर्तक बाह्य कोई अपेक्षणीय स्थिर वस्तु नहीं है, कर्म है तो भी वह प्रधान स्वरूप ही है, सदा रहने वाला नहीं है । और पुरुष उदासीन है, इससे प्रवर्तक वा निवर्तक नहीं है । इस हेतु से प्रधान सर्वत्र अनपेक्ष है, सृष्टि आदि के लिए प्रवृत्ति आदि में प्रधान को किसी सहायकादि की अपेक्षा नहीं है । कर्म प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक को भले ही दूर करते हैं, प्रवृत्ति में नहीं अपेक्षित हैं । इस प्रकार अनपेक्ष होते भी प्रधान कभी महदादि कार्य रूप से प्रवृत्त होता है, परिणत होता है । और कभी नहीं परिणत होता है, यह अयुक्त है, अर्थात् आगन्तुक किसी वस्तु की अपेक्षारहित प्रधान की सदा साम्य रूप से स्थिति वा सदा प्रवृत्ति प्राप्त होती है, और ऐसा होता नहीं है, इससे प्रधान कारणवाद अयुक्त है और ईश्वर को तो सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्व महामायायुक्तत्व होने से प्रवृत्ति अप्रवृत्ति भी कर्मादि की अपेक्षापूर्वक सिद्ध होते हैं, विरुद्ध नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

स्यादेतत् । यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्ष स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमत एव प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणस्यत इति । कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्ष तृणादीति गम्यते ? निमित्तान्तरानुपलम्भात् । यदि हि किञ्चिन्निमित्तमुपलभेमहि ततो यथाकाम तेन तृणाद्युपादाय क्षीर संपादयेमहि, ननु संपादयामहे । तस्मात्स्वाभाविकस्तृणादे परिणामस्तथा प्रधानस्यापि स्यादिति ।

अत्रोच्यते—भवेत्तृणादिवत्स्वाभाविक प्रधानस्यापि परिणामो यदि तृणादेरपि स्वाभाविक परिणामोऽभ्युपगम्येत, न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धे । कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः ? अन्यत्राभावात्, धेनूँव ह्युपभुक् तृणादि क्षीरोभवति न प्रहीणमनडुदाद्युपभुक् वा । यदि हि निमित्तमेतत्तृणाद्वेनुक्षीरसम्बन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरोभवेत् । न च यथाकाम मानुषेर्न शक्य सम्पादयितुमित्येतावता निनिमित्त भवति । भवति हि किञ्चित्कार्यं मानुषसम्पाद्य किञ्चिद्देवसम्पाद्यम् । मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीर सम्पादयितुम्, प्रभूत हि क्षीर कामयमाना प्रभूत घास धेनु चारयन्ति, ततश्च प्रभूत क्षीर लभन्ते । तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविक प्रधानस्य परिणाम ॥ ५ ॥

किं भी प्रधानवादी शका करते हैं कि यह प्रधान भी किसी प्रकार कारण हो सकता है कि जैसे तृण-पल्लव जलादि निमित्तान्तर की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही दूध आदि रूप से परिणत होते हैं, इसी प्रकार प्रधान भी महत् आदि रूप से परिणाम को प्राप्त हो सकता है । तृणादि निमित्तान्तर की अपेक्षा किए बिना क्षीरादिरूप से परिणत होने हैं, यह कैसे समझा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर साह्यवादी कहते हैं कि निमित्तान्तर के अनुपलम्भ (अप्राप्ति) से ऐसा समझा जाता है । क्योंकि यदि किसी निमित्त को प्राप्त करते तो तृणादि को लेकर उस निमित्त से इच्छा के अनुसार क्षीर का सम्पादन (उत्पादन) करते । परन्तु इच्छा के अनुसार नहीं सम्पादन करते हैं, इससे स्वभाविक तृणादि का परिणाम होता है, इसी प्रकार प्रधान का भी स्वाभाविक परिणाम होगा । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि तृणादि के समान प्रधान का भी स्वाभाविक परिणाम होता कि यदि तृणादि का भी स्वाभाविक परिणाम अभ्युपगत होता । परन्तु तृणादि का स्वाभाविक परिणाम नहीं अभ्युपगत (ज्ञात) होता है, क्योंकि निमित्तान्तर की उपलब्धि (ज्ञान) होती है । यदि कहो कि निमित्तान्तर की उपलब्धि कैसे होती है, तो कहा जाता है, गो आदि से छाये गये तृणादि से अन्य तृणादि में दूधरूप परिणाम के अभाव से समझा जाता है कि गो आदि में कोई निमित्त है कि जिसमें दूधरूप परिणाम होता है । जिससे धेनु गो से ही उपभुक्त तृणादि दूधरूप से

परिणत होता है और प्रहीण (नष्ट) वा अन्य पशु से उपभुक्त तृणादि क्षीर रूप से नहीं परिणत होता है । यदि यह दूध बिना निमित्त के होता, तो धेनु के शरीर सम्बन्ध से अन्यत्र भी तृणादि दूध बन जाता है । और मनुष्य इच्छा के अनुसार दूध का सम्पादन नहीं कर सकते, इससे निनिमित्त दूध नहीं हो सकता है । क्योंकि कोई कार्य मनुष्य से सम्पादन-योग्य होते हैं । और कोई दैव (ईश्वर) से ही सम्पादन योग्य होते हैं । और मनुष्य भी तृणादि लेकर उचित उपाय से क्षीर के सम्पादन के लिए समर्थ हो ही सकते हैं । जिससे बहुत दूध की इच्छा वाले बहुत घास धेनु को खिलाते हैं, उससे बहुत अधिक क्षीर का लाभ करते हैं । उससे तृणादि के समान प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं है ॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

स्वाभाविकी प्रधानप्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम्, अथापि नाम भवतः श्रद्धामनुरुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम तथापि दोषोऽनुपपद्येतैव । कुतः ? अर्थाभावात् । यदि तावत्स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किञ्चिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्यते ततो यथैव सहकारि किञ्चिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किञ्चिन्नापेक्षिष्यते इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितुं प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । स यदि वृयात्सहकार्यैव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्यादपवर्गो वोभयं वेति । भोगश्चेत्कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत्, अनिमोक्षप्रसङ्गश्च । अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्, शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च । उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्याद-निर्मोक्षप्रसङ्ग एव । न चैत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः, नहि प्रधानस्याचेतनस्यैत्सुक्यं सम्भवति । न च पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यैत्सुक्यम् । दृक्शक्तिसर्गशक्ति-वेद्यर्थभयाच्चेत्प्रवृत्तिः तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्सर्गशक्त्यनुच्छेदात्संसारानुच्छे-दादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव । तस्मात्प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम् ॥ ६ ॥

प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती है, यह स्थापित (निश्चित) किया जा चुका है । उसके बाद भी यदि आप सांख्यवादी की प्रधान के स्वाभाविक परिणाम-विषयक श्रद्धा-प्रेमादि का अनुरोध (अनुसरण) करते हुए प्रधान की स्वाभाविकी ही प्रवृत्ति मान लें, तो भी दोष की प्राप्ति होती ही है । क्योंकि अर्थ (प्रयोजन) के अभाव से दोष रहता है । अर्थात् यदि प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है, इसी से इस प्रवृत्ति में प्रधान प्रथम किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है, यह कहा जाता है तो कहा जा सकता है कि जैसे ही प्रधान प्रवृत्ति में किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं करता है इसी प्रकार किसी प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं करेगा । इससे यह दोष होगा कि प्रधान पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होता है यह सांख्य की प्रतिज्ञा नष्ट हो

जायगी । वे सांख्यवादी यदि कहें कि केवल सहकारी की ही अपेक्षा प्रधान नहीं करता है, प्रयोजन की भी अपेक्षा नहीं करता है, यह बात नहीं है, प्रयोजन की अपेक्षा करता है, इससे प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती है । तो भी कहा जाता है कि प्रधान की प्रवृत्ति के प्रयोजन (फल) का विवेक-विचार कर्तव्य है कि वह प्रयोजन भोग हो सकता है, अथवा मोक्ष हो सकता है, अथवा भोग-मोक्ष दोनों प्रयोजन हैं । यदि भोग प्रयोजन कहा जाय तो सुखादिरूप अतिशय (विशेष गुण) का जिसमें आधान (स्थापनादि) नहीं किया जा सकता, उस पुरुष को भोग कैसा होगा, यह विवेक कर्तव्य है और भोगमात्र के लिए प्रवृत्ति के होने पर मोक्ष का अभाव प्राप्त होगा । यदि प्रवृत्ति का प्रयोजन मोक्ष कहा जाय तो प्रवृत्ति से प्रथम भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति अनर्थक सिद्ध होगी । और शब्दादि की अनुपलब्धि प्राप्त होगी । और उभयार्थक प्रवृत्ति मानने पर भी भोग के योग्य प्रधान के कार्यरूप मात्रा (विषयो) के अनन्त होने से अनिमोक्ष की प्राप्ति होगी ही । और उत्सुकता (इच्छा विशेष) की निवृत्ति के लिए भी प्रधान की प्रवृत्ति को नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अचेतन प्रधान को उत्सुकता का सम्भव नहीं है । और निर्मल निष्कल (निरवयव) प्राणादिरहित पुरुष में भी औत्सुक्य नहीं हो सकता है । और पुरुष की दृक्शक्ति और प्रधान की सर्वशक्ति की व्यर्थता के भय से यदि प्रधान की प्रवृत्ति मानी जाय तो दृक्शक्ति और सर्गशक्ति के अनुच्छेद से ससार का भी अनुच्छेद (अविनाश) से मोक्षभाव की ही प्राप्ति होगी । इससे प्रधान की पुरुष-प्रयोजन के लिए प्रवृत्ति है, यह कथन अयुक्त है ॥ ६ ॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

स्यादेनत् । यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिमप्यत्र प्रवृत्तिशक्तिविहीन पङ्कुरपर पुरुष प्रवृत्तिशक्तिमपन्न दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति, यथा वाऽयस्स्कान्तोऽस्मा (१) स्वयमप्रवर्तमानोऽप्यय प्रवर्तयति, एव पुरुष प्रधान प्रवर्तयिष्यतीति दृष्टान्तप्रत्ययेन पुन प्रत्यवस्थानम् ।

अत्रोच्यते—तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति । अभ्युपेतहान तावद्दोष आपतति प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात् । कथं चोदासीन पुरुष प्रधान प्रवर्तयेत् । पङ्कुरपि ह्यन्व पुरुष वागादिभि प्रवर्तयति, नैव पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वानिर्गुणत्वाच्च । नाप्यस्स्कान्तवत्तन्निधिमन्त्रेण प्रवर्तयेत्, सन्निधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात् । अयस्स्कान्तस्य त्वनित्यमनिधेरस्ति स्वव्यापार सन्निधि, परिमार्जनाद्यपेक्षा चास्यास्तौत्यनुपन्यास पुरुषाश्मवदिति । तथा प्रधानस्याचैनन्यात्पुरुषस्य चोदासीन्यात्तृतीयस्य च तथा सवन्वयितुरभावात्सवन्वानुपपत्ति । योग्यतानिमित्ते च सम्बन्धे योग्यतानुच्छेदादनिमोक्षप्रसङ्ग पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्य । परमात्मनस्तु स्वरूपवशात्प्रयोजनीयासांशो मायाव्यपारश्च च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशय ॥ ७ ॥

फिर भी सांख्यान्यायी शंका करता है कि यह प्रधान की प्रवृत्ति आदि कथञ्चित् हो सकती है कि जैसे कोई पुरुष दृष्टिशक्ति से सम्पन्न हो, नेत्र अच्छे हों, परन्तु प्रवृत्ति (गमन) शक्ति से विहीन पड़गु हो । और दूसरा कोई पुरुष प्रवृत्ति शक्ति से सम्पन्न हो परन्तु दृष्टिहीन-अन्ध हो तो वह पंगु अन्धे के कन्धे पर स्थिर होकर उसे गमनादि में प्रवृत्त कराता है । अथवा जैसे चुम्बक पत्थर स्वयं प्रवृत्ति के विना भी लोहे को प्रवृत्त करता है, इसी प्रकार पुरुष स्वयं प्रवृत्तिरहित भी प्रधान को प्रवृत्त करायेगा । इस प्रकार दृष्टान्त रूप हेतु से फिर पूर्वपक्ष होता है । यहाँ उत्तर दिया जाता है कि इस दृष्टान्त को स्वीकार करने पर भी दोष से छुटकारा नहीं है । क्योंकि प्रथम तो स्वीकृत सिद्धान्त का हान (त्याग) रूप दोष प्राप्त होता है जिससे स्वतन्त्र प्रधान की प्रवृत्ति स्वीकृत है, और पुरुष का प्रवर्तकत्व अस्वीकृत है । पंगु-अन्ध के दृष्टान्त से इन दोनों स्वीकृति का त्याग होगा । और उदासीन पुरुष प्रधान को प्रवृत्त भी किस प्रकार करायेगा, पंगु भी अन्ध पुरुष को वाक् आदि से कुछ कहकर प्रवृत्त कराता है । इस पुरुष के निगुण और निष्क्रिय होने से इस प्रकार का प्रवर्तना (प्रवृत्ति का हेतु) रूप कोई भी व्यापार पुरुष का नहीं है । चुम्बक के समान सन्निधिमात्र से भी पुरुष प्रवृत्ति नहीं करा सकता है, क्योंकि सन्निधि के नित्य होने से प्रवृत्ति की नित्यता प्राप्त होगी । अनित्य सन्निधिवाला चुम्बक का तो सन्निधिरूप ही अपना व्यापार है । इस चुम्बक को परिमार्जन, सम्मुख स्थापनादि की अपेक्षा भी है । इससे वह परिमार्जनादि द्वारा लोहे की प्रवृत्ति का हेतु हो सकता है, पुरुष में कोई व्यापार नहीं है इससे प्रवृत्ति का हेतु हो नहीं सकता है, इससे पुरुषाश्रित यह दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त नहीं है । इसी प्रकार प्रधान के अचेतन होने से और पुरुष के उदासीन होने से और उन दोनों का सम्बन्ध कराने वाले तृतीय पदार्थ के अभाव से सम्बन्ध की अनुपपत्ति है । सम्बन्ध के योग्यता-निमित्तक स्वभाविक सम्बन्ध को मानने पर योग्यता की अनिवृत्ति से अनिमोक्ष का प्रसङ्ग होता है, क्योंकि द्रष्टृत्व दृश्यत्वरूप योग्यता नित्य है तन्निमित्तक सम्बन्ध नित्य होने से मोक्ष नहीं हो सकता है । स्वतन्त्र प्रधान प्रवृत्ति पक्ष को प्रथम जैसे फलाभाव से दूषित ठहराया गया है, वैसे ही यहाँ पुरुषाधीन प्रवृत्ति-पक्ष में भी अर्थाभाव का विकल्प कर्तव्य है, इस प्रवृत्ति से भोग फल होता है, या मोक्ष होता है, इत्यादि । सब प्रकार से प्रयोजन के अभाव से प्रवृत्ति निरर्थक है इत्यादि । परमात्मा को तो स्वरूपाश्रित उदासीनता है । मायानिमित्तक प्रवर्तकत्व है, यह अतिशय श्रेष्ठता है ॥ ७ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते, यद्वि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुण-
प्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था, तस्याम-

वस्थायामनपेक्षस्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात्परस्पर प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः । बाह्यस्य च कस्यचित्क्षोभयितुरभावाद् गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात् ॥ ८ ॥

इस वदयमाण हेतु से भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है कि जिससे सत्त्व रज और तमोगुण का जो परस्पर गुण-प्रधानभाव है, उसे त्याग कर समतारूप से स्वरूपमात्र से जो स्थिति है वह प्रधानावस्था है । वहाँ उभ निर्विकार अवस्था में गुणों की परस्पर निरपेक्ष स्थितिरूप उस अवस्था के होने से विषमता से स्वरूप-नाश के भय से गुणों को परस्पर के प्रति अङ्गाङ्गिभाव की अनुपत्ति से, प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, और बाह्य किसी क्षोभक हेतु के अभाव से गुण की विषमता-निमित्तक महद् आदि की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है ॥ ८ ॥

अन्यथानुमितौ च जगद्विवियोगात् ॥ ९ ॥

अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे यथा नायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत । न ह्यनपेक्षस्वभावा कूटस्थाश्चास्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते प्रमाणाभावात् । कार्यवशेन तु गुणानां स्वभावोऽभ्युपगम्यते, यथा यथा कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्यते, चल गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः । तस्मात्साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव गुणा अवतिष्ठन्ते इति । एवमपि प्रधानस्य जगद्विवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव । जगद्विवियोगमपि त्वनुमिमानं प्रतिवादित्वान्निरवर्तते, चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात् । वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणा साम्यावस्थायामपि निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन्, भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात्सर्वदेव वैषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः ॥ ९ ॥

अथापि (उक्त रीति से साम्यावस्थापन्न निरपेक्ष गुणों में अङ्गाङ्गिभाव नहीं होने पर भी) वदयमाण रीति से स्यात् (अङ्गाङ्गिभाव होगा) वह रीति क्या है कि हम अन्यथा अनुमान करेंगे कि जिस प्रकार से यह अनन्तरोक्त दोष नहीं प्राप्त होगा, अर्थात् निरपेक्ष गुणों के अनुमान से उनमें अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता है । इससे निरपेक्ष से अन्यथा सापेक्ष का अनुमान करेंगे क्योंकि निरपेक्ष स्वभाव वाले और कूटस्थ गुण को हम लोग नहीं मानते हैं । जिसमें वैसे गुण में प्रमाण का अभाव है, और प्रयोजन के वश से गुणों का स्वभाव माना जाता है, इससे जिस जिस प्रकार से कार्य की उत्पत्ति सिद्ध हो सकेगी, उस उस प्रकार से इन गुणों का स्वभाव माना जाता है और गुणों का स्वभाव चल (स्थिति रहित) है, यह स्वीकार किया गया है । जिससे साम्यावस्था में भी विषमता की प्राप्ति के योग्य ही गुण रहते हैं । इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर कहते हैं कि इस प्रकार अनुमान करने पर भी प्रधान की जगद्विवियोग के अभाव से,

प्रधानावस्था में बुद्धिरूपता के भी वियोग से रचना की अनुपपत्ति आदि रूपपूर्वोक्त दोष ज्यों का त्यों वर्तमान ही है। कार्यानुपपत्ति से प्रधान में ज्ञातृत्व शक्ति का अनुमान करता हुआ प्रतिवादी प्रतिवादित्व से रहित हो जायगा, क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपञ्चरूप जगत् का उपादान है, यह ब्रह्मवाद है, जगत् का एक उपादानरूप प्रधान में ज्ञान-ज्ञातृ-त्वादि मान लेने पर नाममात्र का भेद रहेगा और शेष ब्रह्मवाद की ही प्राप्ति हो जायगी और साम्यावस्था में विषमता की प्राप्ति के योग्य भी गुण, विषमता के निमित्त के अभाव से विषमता को नहीं प्राप्त होंगे। अथवा विषमता को प्राप्त होंगे भी तो निमित्ताभाव की अवशिष्टता (तुल्यता) से सर्वदा ही विषमतायुक्त रहेंगे, इस प्रकार अन्यथा अनुमान करने पर भी यह अनन्तरोक्त दोष प्राप्त होता ही है ॥ ९ ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। क्वचित्सत्तेन्द्रियान्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश, तथा क्वचिन्महत्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहङ्कारात्, तथा क्वचित्त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति क्वचिदेकमिति। प्रसिद्ध एव तु श्रुत्येश्वर-कारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या। तस्मादप्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति।

और सांख्यों का अभ्युपगम (सिद्धान्त-मत) परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि कही सात इन्द्रिय मानते हैं कि त्वक् माय ही ज्ञानेन्द्रिय है, वही अनेक शब्दादि के ज्ञान का कारण है और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं और एक मन है, इस प्रकार सात इन्द्रियाँ हैं। कहीं ग्यारह इन्द्रिय मानते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन है। इसी प्रकार कहीं महत्तत्त्व से तन्मात्राओं की सृष्टिका उपदेश करते हैं, और कही अहङ्कार से तन्मात्रा की सृष्टि कहते हैं। इसी प्रकार कही बुद्धि; अहङ्कार और मनरूप तीन अन्तःकरण का वर्णन करते हैं, कही एक बुद्धि का ही वर्णन करते हैं और एक ईश्वरवादिनी श्रुति तथा उस श्रुति की अनुवर्तिनी (अनुसारिणी) स्मृति से तो विरोध प्रसिद्ध ही है। इससे भी सांख्यों का दर्शन (आलोकन विचार) अयुक्त है।

अत्राह। नन्वीपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनं तप्यतापकयोर्जात्यन्तर-भावानभ्युपगमात्। एकं हि ब्रह्म सर्वात्मक सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छ-तामेकस्यैवात्मनो विशेषी तप्यतापकौ न जात्यन्तरभूतावित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात्। यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषी स्यातां स ताभ्यां तप्यता-पकाभ्यां न निर्मुच्यत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात्। न ह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते। योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो

बोच्यादिभिरनिर्मोक्ष । प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोजित्यन्तरभावो लोके ।
 तथाहि—अर्थो चार्थश्चान्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते, यद्यर्थिनः स्वतोऽन्योऽर्थो न
 स्यात्, यस्यार्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्यार्थो नित्यसिद्ध एवेति तस्य तद्वि-
 षयमर्थित्वं न स्यात्, यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशाख्योऽर्थो नित्यसिद्ध
 एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं भवति, अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति ।
 तथार्थस्याप्यर्थत्वं न स्यात्, यदि स्यात्स्वार्थत्वमेव स्यात्, न चैतदस्ति ।
 सवन्धिगन्धौ ह्येतावर्थौ चार्थश्चेति द्वयोश्च सवन्धिनो सवन्धः स्यान्नैकस्येव ।
 तस्माद्धिन्नावेतावर्थार्थिनौ, तथानर्थानर्थिनावपि । अर्थिनोऽनुकूलोऽर्थः प्रति-
 कूलोऽनर्थस्तस्माभ्यमेकपर्यायेणोभाभ्यां सवध्यते, तत्रार्थस्यात्पीयस्त्वादभूय-
 स्त्वाच्चानर्थस्योभावप्यर्थानर्थानर्थ एवेति तापकः स उच्यते, तप्यन्तु पुरुषो
 य एक पर्यायेणोभाभ्यां सवध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मताया मोक्षा-
 नुपपत्तिः । जात्यन्तरभावे तु तत्सयोगहेतुपरिहारात्स्यादपि कदाचिन्मोक्षोप-
 पत्तिरिति ।

यहाँ साख्यवादी शका करते हैं कि उपनिषद् को प्रमाण मानने वालों का दर्शन
 भी अयुक्त है, क्योंकि त्रिविध ताप से तप्त (दुःखी) होने वाला तप्य जीव और उसको
 तापक दुःख देने वाला ससार के जात्यन्तर भाव (विलक्षणता-भेद) के अस्वीकार
 से अयुक्तता है । जिससे एक ब्रह्म सर्वात्मिक (सबका आत्मा) और सब प्रपञ्च का
 कारण है, इस प्रकार मानने वालों के मत में एक आत्मा ही के विशेष स्वरूप तप्य
 और तापक हैं, जात्यन्तर स्वरूप नहीं हैं । इस प्रकार उस मत में मानना होगा ।
 और यदि ये तप्य और तापक एक आत्मा के विशेष स्वरूप होंगे, तो वह आत्मा
 उन तप्य और तापको से कभी निर्मुक्त-रहित नहीं हो सकता है । इससे ताप की
 निवृत्ति के लिए सम्यग्दर्शन (ज्ञान) का उपदेश देनेवाला शास्त्र अनर्थक होगा,
 क्योंकि उष्णता और प्रकाशरूप धर्म वाले प्रदीप को प्रदीप रूप से स्थिर रहते, कभी
 उष्णता और प्रकाश से निर्मोक्ष नहीं हो सकता है, वैसे ही आत्मा कभी तप्य-तापक
 से निर्मुक्त नहीं हो सकता है । और जो जलतरङ्ग बीच-फेलादि का दृष्टान्त है, वहाँ
 भी एक जल स्वरूप के बीच आदि विशेष स्वरूप हैं, वह भी प्रकट गुणस्वरूप से
 नित्य ही हैं, इसमें जल के स्वरूप को भी बीच आदि से अनिमोक्ष दीप के समान
 ही है । और लोक में यह तप्य-तापक का जात्यन्तर भाव (भेद) प्रसिद्ध है, उसे
 नहीं मानने से लोक से विरोध है और उस भेद की प्रसिद्धि इस प्रकार है कि तप्य
 अर्थी और तापक अर्थ परस्पर भिन्न दीखते हैं । यदि अर्थी (अर्थैच्छुक) से अर्थ स्वतः
 स्वरूप से भिन्न नहीं हो, तो जिस अर्थी को जिस विषयक अर्थित्व (इच्छा) है, वह
 अर्थ उस अर्थी को नित्य सिद्ध ही है । इससे उसको उस अर्थविषयक अर्थित्व नहीं
 होगा । जैसे प्रकाशस्वरूप प्रदीप को प्रकाशनामक अर्थ नित्यसिद्ध ही है, इसमें

प्रदोष को प्रकाशविषयक अर्थित्व नहीं होता है। क्योंकि अप्राप्त-अर्थविषयक अर्थों को अर्थित्व (काम) होता है। इसी प्रकार अर्थ को भी अर्थित्व नहीं होगा, यदि होगा भी तो स्वार्थत्व ही होगा, और यह स्वार्थत्व है नहीं। क्योंकि अर्थों और अर्थ ये दोनों सम्बन्धी के वाचक शब्द हैं, केवल स्वरूपवाचक नहीं हैं। और दो सम्बन्धी को सम्बन्ध होगा, एक को ही सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इससे ये अर्थ अर्थों भिन्न हैं। इसी प्रकार अनर्थ और अनर्थी भी भिन्न हैं। अर्थों के अनुकूल इच्छा के विषय वस्तु को अर्थ कहते हैं, अर्थों के प्रतिकूल अनर्थ होता है। वहाँ एक प्राणी को क्रम से दोनों के साथ सम्बन्ध होता है। उनमें अर्थों की अल्पता से अनर्थों की अधिकता से अर्थ और अनर्थ दोनों अनर्थ ही हैं। उपाजर्जन-रक्षणादिरूप अनर्थ-क्लेश के मध्य में प्राप्त होने से अर्थ भी अनर्थरूप हो जाता है। और इस प्रकार वह अर्थ भी तापक कहा जाता है और तप्य पुरुष है कि जो एक पुरुष अर्थ-अनर्थ दोनों के साथ क्रम से सम्बन्ध वाला होता है। वहाँ तप्य-तापक दोनों को एक ब्रह्मस्वरूपता होने पर मोक्ष की अनुपपत्ति है। तप्य-तापक का जात्यन्तर भाव (भेद) रहने पर तो उस ताप का हेतुरूप संयोग के कारण अविवेक का परिहाररूप विवेक से कमी मोक्ष की सिद्धि हो सकती है। अर्थात् बुद्धिगत मोक्ष का पुरुष में उपचार हो सकता है, यों तो नित्यमुक्तस्वरूप पुरुष है ॥

अत्रोच्यते । न एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः । भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम्, न त्वेतदस्त्येकत्वादेव । न ह्यग्निरेकः सन्स्वमात्मानं दहति प्रकाशयति वा सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च, किमु कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिस्तप्यतापकभावः संभवेत् । क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति ? उच्यते—किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवद्देहस्तप्यस्तापकः सवितेति । ननु तस्मिन्नाम दुःखं सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य, यदि देहस्यैव तप्तिः स्यात्सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैपितव्यं स्यादिति । उच्यते । देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा । न च त्वयापि तस्मिन्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते । नापि देहचेतनयोः संहतत्वम्, अशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात् । न च तस्मैरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि कथं तवापि तप्यतापकभावः । सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत् । न । ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः । सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इत्यापतर्तावशब्दप्रयोगात् । न चेत्तप्यते नेवशब्दो दोषाय । नहि ङुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविपो भवति सर्पो वा ङुण्डुभ इवेत्येतावता निर्विपो भवति । अतश्चाविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्यमिति, नैवं सति ममापि किञ्चिद् दुष्यति । अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रस-

ज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य । तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि सनिमित्तसयोगापेक्षत्वात्तसं सयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिक सयोगोपरम, ततश्चात्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत् । न । अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात् । गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतं सयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याप्यनियतत्वात्साध्यस्यैवानिमोक्षोऽपरिहार्यं स्यात् । औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकम्य च विषयविषयिभावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वथवणादनिमोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि नोपजायते । व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्य परिहर्तव्यो वा भवति ॥ १० ॥

इस शका का उत्तर यहाँ कहा जाता है, कि पारमार्थिक स्वरूप में एकता से ही वस्तुतः तप्य तापकभाव की अनुपपत्ति से यह दोष नहीं है, यह दोष तब होता कि जब एकस्वरूपता में तप्य और तापक परस्पर के विषयविषयिभाव को प्राप्त होते, परन्तु एकत्व से ही परमार्थ एकस्वरूपता में वह तप्य तापकादिभाव है नहीं । उष्णता और प्रकाशादि धर्मभेद के रहते तथा परिणामित्व रहते भी एक होती हुई अग्नि अपनी आत्मा को न दग्ध करती-जलाती है, न प्रकाशित ही करती है, फिर कूटस्थ एक ब्रह्म में तप्य-तापकभाव का सम्भव कैसे हो सकता है । यदि कहो कि एक आत्मा में तप्य-तापकभाव नहीं है, तो यह तप्य-तापकभाव कहाँ है ? तो कहा जाता है कि व्यवहार में जहाँ देखा जाता है, वहाँ है, इससे क्या प्रत्यक्ष ही नहीं देखते हो कि ताप का कर्म स्वरूप जीवित देह तप्य है, और सूर्य तापक है । यहाँ शका होती है कि दुःख का तप्ति (ताप) नाम है, वह ताप चेतयिता (चेतन) का धर्म है, अचेतन देह का नहीं । यदि देह को ही ताप होना, तो देह के नाश में वह ताप स्वयं नष्ट होता है । इससे उस ताप के नाश के लिए साधना का अन्वेषण स्वीकार नहीं करना होगा । उत्तर कहा जाता है कि देह के अभाव रहने भी केवल चेतन का ताप नहीं देखा गया है । केवल चेतन का तापरूप विकार साध्यवादी को भी दृष्ट नहीं है, इसमें चेतनमात्र का विकार नहीं माना जाता है । देह चेतन के सघात का धर्म ताप माना जाय वह भी नहीं हो सकता है । क्योंकि अशुद्धि-सगादि दोष के प्रसंग से चेतन और देह को सहवत्त्व भी नहीं है । ताप के ही ताप को भी नहीं मानते हो, तो तुम्हारे मत में भी तप्य-तापक भाव कैसे है । यदि कहो कि सत्त्वगुण तप्य है, और रजोगुण तापक है, तो भी उनके साथ चेतन पुरुष के सहवत्त्व की अनुपपत्ति से पुरुष में बधन का अभाव है । इससे मोक्ष का उपदेधारूप शास्त्र का आरम्भ नहीं होना चाहिए । यदि कहो कि सत्त्वगुण के अनुरोधी होने से स्वच्छता द्वारा तप्यसत्त्व में प्रतिबिम्बित होने से और अविवेक में अशुभ चेतन भी तापयुक्त के (इव) समान होता है । इससे अविवेक की निवृत्ति के लिए शास्त्र सार्यक है । तो कहा जाता है कि इव शब्द के प्रयोग से यह

प्राप्त (सिद्ध) होता है कि पुरुष परमार्थरूप से तापयुक्त नहीं होता है। जब आत्मा तप्त नहीं होता है, तभी इव शब्द दोष के लिए नहीं है। अन्यथा दोष के लिए मिथ्या हो जायगा, और आत्मा में तापरूप दोष की प्राप्ति होगी। परन्तु इव का सत्य प्रयोग रहते ऐसा होता नहीं है, क्योंकि डुण्डुम (राजिल नाम सर्पंतुल्य प्राणी) सर्प के समान है ऐसा कहने से वह सविष सत्य सर्प नहीं होता है, वा सर्प डुण्डुम के समान है, ऐसा कहने से सर्प विपरहित नहीं सिद्ध होता है। इससे यहाँ भी पुरुष तपते हुए के समान होता है, ऐसा कहने से वास्तविक ताप नहीं सिद्ध होने से यह तप्यतापकभाव अविद्याकृत है पारमार्थिक नहीं है, ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए और ऐसा मानने पर मेरा भी कुछ दूषित नहीं होता है, किन्तु इष्ट सिद्ध होता है। यदि सत्कार्यवादी हो कर तप्य-तापकभाव को मिथ्या मानने पर सिद्धान्त-त्याग के भय से चेतन के पारमार्थिक ही तप्यत्व को मानोगे, तो तुझे अत्यन्त मोक्षाभाव की प्राप्ति होगी क्योंकि तापक रजोगुण को भी नित्य मानते हो, इससे नित्य ही ताप भी होगा। यदि कहो कि तप्यतापक शक्ति, सत्त्वानुसारी पुरुष और रजोगुण के नित्य होते भी, ताप को संयोग के निमित्त अविवेक सहित संयोग (बुद्धि-पुरुष का सम्बन्ध) की अपेक्षा होने से अर्थात् संयोगपूर्वक ताप की सिद्धि होने से, संयोग के निमित्त अदर्शन (अविवेक) की विवेक से निवृत्ति होने पर संयोग का अत्यन्ताभाव होता है, इससे आत्यन्तिक मोक्ष सिद्ध होता है। वहाँ कहा जाता है कि अदर्शनरूप तमोगुण को नित्य मानने से विवेक से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि कहो कि तम की निवृत्ति नहीं होने पर भी, विवेक से वह स्वकार्य से उपरत होता है इससे संयोगाभाव से मुक्ति होती है, तो कहा जाता है कि गुणों के उद्भव, अभिमव (उत्पत्ति-लय) के अनियतरूप होने से संयोग के निमित्त की उपरति भी अनियत है इससे वियोग को भी अनियत होने से सांख्यवादी को अनिमोक्ष अनिवाय होगा। अर्थात् मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकेगी। उपनिषत् मत में तो एकत्व के स्वीकार से, और एक की विषयविषयिभाव की असिद्धि से और विकार-भेद को वाचारम्भण-मात्र सुनने से अनिमोक्ष की शंका स्वप्न में भी नहीं होती है। व्यवहार में जहाँ जैसा तप्य-तापकभाव देखा गया है वहाँ वह वैसा ही है। उसकी तत्त्वज्ञान से निवृत्ति होती है। इससे यहाँ शंका-समाधान का अवसर नहीं है ॥

महद्दीर्घाधिकरण (२)

नास्ति काणाददृष्टान्तः किं वास्त्यसदृशोद्भवे ।

नास्ति शुक्लः पटः शुक्लात्तन्तोरेव हि जायते ॥१॥

अणु द्व्यणुकमुत्पन्नमनणोः परिमण्डलात् ।

अदीर्घाद् द्व्यणुकाददीर्घं त्र्यणुकं तन्निदर्शनम् ॥२॥

ह्रस्व द्व्यणुक से महत्त्र्यणुक के समान और परिमण्डल (परम अणु) से दीर्घ-द्व्यणुक के समान चेतन ब्रह्म से विलक्षण जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। वहाँ संशय है कि कारण के असदृश कार्य की उत्पत्ति में कणादमुनि-सम्मत कोई दृष्टान्त है अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि जिससे शुक्ल तन्तु से ही शुक्ल पट होता है, इससे दृष्टान्त नहीं

है । सिद्धांत है कि अणुभिन्न परिमण्डल से अणु उत्पन्न होता है और अदीर्घद्व्यणुक से दीर्घद्व्यणुक उत्पन्न होता है । इससे दृष्टान्त है । यद्यपि साख्यमत के निराकरण के बाद परमाणुवाद का निराकरण करना चाहिए, तथा स्वमत-स्थापन पूर्वपाद में ही करना चाहिए तथापि प्रधान के गुण-मुखादि के जगत् में अनन्वय से प्रधान जगत् का कारण नहीं है, यह प्रथम कहा गया है, वैसे ही ब्रह्म गुण चैतन्य का जगत् में अनन्वय नहीं होने से ब्रह्म भी कारण नहीं होगा इत्यादि प्रसंग से, तथा स्वमत स्थापनयुक्त परमतनिषेधात्मक इस पाद के होने से स्वमत स्थापन किया गया है ॥ १-२ ॥

प्रधानकारणवादो निराकृतः । परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः । तत्रादौ तावद्योऽणुवादिना ब्रह्मवादिना दोष उत्प्रेक्ष्यते स प्रतिसमाधीयते । तत्राप्यवैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणा कार्यद्रव्ये समानजातीय गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुबलस्य पटस्य प्रसवदर्शनात्तद्विपर्ययादर्शनाच्च । तस्मान्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्य समवेयात्, तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हति—इति । इममभ्युपगमं तदीययेव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

प्रधान कारणवाद निराकृत हो चुका । अब इस समय परमाणु कारणवाद का निराकरण कर्तव्य है । यहाँ आदि (प्रारम्भ) में प्रथम जो अणुवादी से ब्रह्मवादी में दोष की उत्प्रेक्षा (कल्पना) की जाती है, उस दोष का प्रतिसमाधान (निवारण) किया जाता है । वहाँ वैशेषिक (विशेषणदार्थवादी) परमाणुवादियों का यह अभ्युपगम (स्वीकृत सिद्धान्त) है कि कारण द्रव्य में समवायी (समवाय सम्बन्ध से वर्तमान) गुण कार्य द्रव्य में अपने समान जाति वाले गुणान्तर का आरम्भ करते हैं । क्योंकि शुबल तन्तुओं से शुबल पट की उत्पत्ति देखी जाती है, और उसके विपर्यय (उलटा विपरीत) नील-पीतादि की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है । इससे चेतन ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर कार्यरूप जगत् में भा चैतन्य को समवाय सम्बन्ध से वर्तमान होना चाहिये । वह जगत् में समवेत चैतन्य देखा नहीं जाता है, उस चेतना के अदर्शन से ही निश्चय होता है कि चेतन ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होने योग्य नहीं है, परमाणुवादी के इस अभ्युपगम (स्वीकृति) को, उनकी ही प्रक्रिया में व्यभिचारसहित (नियम व्याप्तिरहित) सूत्रकार ठहराते हैं कि—

महदीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

एषा तेषां प्रक्रिया । परमाणवः किल कञ्चित्कालमनारब्धकार्या यथायोगं स्फादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति, ते च पश्चाददृष्टादिपुरःकरा सयोगसचिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यंजातमारभन्ते, कारण-गुणाश्च कार्ये गुणान्तरम् । यदा द्वौ परमाणू द्व्यणुकमारभेते तदा परमाणुगता

रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्व्यणुके शुक्लादीनपरानारभन्ते । परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, द्व्यणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात् । अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्व्यणुकवर्तिनी परिमाणे वर्णयन्ति । यदापि द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभते तदापि समानं द्व्यणुकसमवायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम् । अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्व्यणुकसमवायिनी अपि नैवारभते, चतुरणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात् । यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते तदापि समानैषा योजना । तदेवं यथा परमाणोः परिमण्डलात्सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि न परिमण्डलम्, यथा वा द्व्यणुकादणोर्ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाणु नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम् ।

उन अणुवादियों की यह बक्ष्यमाण प्रक्रिया (पदार्थ-प्रतिपादन की रीति) है कि कुछ समय प्रलयावधि तक कार्य के आरम्भ से रहित परमाणु यथायोग्य रूपादि वाले और पारिमण्डल्य परिणाम वाले स्थिर रहते हैं, अर्थात् पृथिवी के परमाणु रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवाले रहते हैं, जल के परमाणु गन्धरहित रूपादि वाले रहते हैं, तेज के परमाणु रूप और स्पर्श वाले रहते हैं, वायु के परमाणु केवल स्पर्श वाले रहते हैं, और परमाणुमात्रवृत्ति परिमाण को पारिमाण्डल्य कहते हैं, परमाणु को परिमण्डल कहते हैं । प्रलय की अवधि के बीतने पर सृष्टि के आरम्भ काल में फिर वे परमाणु अदृष्ट दिक्-कालादिपूर्वक संयोगपूर्वक होकर द्व्यणुक (दो परमाणुजन्य कार्य) आदि की सृष्टि के क्रम से सम्पूर्ण कार्यसमूह का आरम्भ करते हैं । कारण के रूपादि गुण कार्य में स्वसजातीय गुणान्तर का आरम्भ करते हैं । जिस समय दो परमाणु अदृष्टयुक्त आत्मा के संयोग से द्व्यणुक का आरम्भ करते हैं, उसी समय परमाणुगत शुक्लादि-स्वरूप रूपादिगुण विशेष द्व्यणुक में अन्य शुक्लादि विशेष गुणों का आरम्भ करते हैं । परन्तु परमाणु के गुण विशेष रूप पारिमण्डल्य द्व्यणुक में दूसरा पारिमण्डल्य का आरम्भ नहीं करता है, क्योंकि द्व्यणुक का परिमाण्डल्य से अन्य परिमाण के साथ सम्बन्ध माना गया है । जिससे अणुत्व और ह्रस्वत्वरूप द्व्यणुक वृत्ति परिमाणों का अणुवादी वर्णन करते हैं । जिस समय दो-दो द्व्यणुक, अर्थात्, द्वित्ववाले दो द्व्यणुक याने चार द्व्यणुक जब चतुरणुक का आरम्भ करते हैं, वे भी सजातीय गुणान्तर का आरम्भ करते हैं । परन्तु द्व्यणुकों में समवेत भी अणुत्व और ह्रस्वत्व स्वसजातीय गुण का आरम्भ नहीं करते हैं, क्योंकि चतुरणुक का महत्त्व और दीर्घत्व रूप परिमाणान्तर के साथ सम्बन्ध माना गया है और जिस समय बहुत परमाणु वा बहुत द्व्यणुक वा द्व्यणुकसहित परमाणु कार्य का आरम्भ करते हैं,

तब भी यह योजना तुल्य है । अर्थात् वहाँ भी कारण के शुक्लादिगुण कार्य में शुक्लादि का आरम्भ करते हैं, परन्तु कारणगत परिमाण परिमाणान्तर का आरम्भ नहीं करता है, किन्तु कारणगत बहुत्व सख्या में परिमाण का आरम्भ होता है, यह प्रक्रिया पूर्व के तुल्य है । वहाँ इस पूर्ववर्णित रीति से जैसे परमाणु के परिमण्डल रूप होते भी अणु-ह्रस्वस्वरूप द्व्यणुक उससे उत्पन्न होता है, और महत् तथा दीर्घ त्र्यणुकादि होते हैं, परिमण्डल नहीं होता है । अथवा जैसे अणु और ह्रस्व द्व्यणुक के होते भी उससे महान् और दीर्घ त्र्यणुक उत्पन्न होता है, न अणु होता है, न ह्रस्व होता है । इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न होगा इस प्रकार मानने पर ऐसा क्या नष्ट होता है कि जिससे इसका निषेध करते हो ।

अथ मन्यसे—विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रान्त कार्यद्रव्य द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि कारणगतानि पारिमण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, न तु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नारमेत, न ह्यचेतना नाम चेतनाविराधी कश्चिद्गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमाश्रित्वात्, तस्मात्पारिमाण्डल्यादिवैषम्यात्प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वम्—इति । मैव मस्या । यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेव चैतन्यस्यापीत्यस्याशब्ध समानत्वात् । न च परिमाणान्तराक्रान्तत्व पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारण, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात्क्षणमाश्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युपगमात् । न च परिमाणान्तरारम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यत स्वसमानजातीय परिमाणान्तर नारमन्ते परिमाणान्तरस्यान्यहेतुत्वाम्युपगमात् । 'कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७।१९) 'तद्विपरीतमणु' (७।१।१०) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (७।१।१७) इति हि काणभुजानि सूत्राणि । न च संनिधानविशेषात्कुतश्चित्कारणबहुत्वादीन्येवारभन्ते न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वाऽऽरम्भमाणे सर्वेषामेव कारणगुणाना स्वाश्रयसमवायाविशेषात्, तस्मात्स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्व, तथा चेतनाया अपीति द्रष्टव्यम् । संयोगाच्च द्रव्यादीना विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात्ममानजातीयोत्पत्तिव्यभिचारः । द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणमयुक्तमिति चेत् । न । दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात् । न च द्रव्यस्य द्रव्यमेवोदाहृतव्य गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति । सूत्रकारोऽपि भवता द्रव्यस्य गुणमुदाहृत्वा—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्मयोगस्य पञ्चात्मक न विद्यते' (वै० सू० ४।२।२) इति, यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्मूल्याकाशयो समवयवसंयोगोऽप्रत्यक्ष एव प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चमु मूतेषु समवयवच्छरीरमप्रत्यक्ष स्यात्, प्रत्यक्षं हि

शरीरम् । तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति । एतदुक्तं भवति—गुणश्च, संयोगो द्रव्यं शरीरम् । 'दृश्यते तु' (ब्र० सू० २।१।६) इति चात्रापि विलक्षणोत्पत्तिः प्रपञ्चिता । नन्वेवं सति तेनैवैतद्गतम् । नेति ब्रूमः, तत्सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतच्च वैशेषिकं प्रति । नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याता' (ब्र० सू० २।१।१२) इति । सत्यमेतत् । नस्यैव त्वयं वैशेषिक-प्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुगतेन निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः ॥ ११ ॥

यदि मानते हो कि विरोधी परिमाणान्तर से कार्य द्रव्य द्व्यणुकादि आक्रान्त (अभिव्याप्त) हैं, इससे कारणगत पारिमाण्डल्यादि परिमाण के आरम्भक नहीं होते हैं, यह मैं मानता हूँ । और चेतना (चेतनता) से विरोधी गुणान्तर से तो जगत् अभिव्याप्त नहीं है कि जिससे कारणगत चेतना कार्य में चेतनान्तर का आरम्भ नहीं कर सके, यदि कहो कि अचेतना चेतना का विरोधी है, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अचेतना नामक चेतना का विरोधी कोई गुण नहीं है, चेतना का प्रतिपेधमात्र अचेतना है । उससे पारिमाण्डल्यादि से विषमता के कारण चेतना को आरम्भकत्व की प्राप्ति होती है । यहाँ कहा जाता है कि ऐसा नहीं मानो, क्योंकि जैसे कारण में विद्यमान भी पारिमाण्डल्यादि को अनारम्भकत्व है, इसी प्रकार चैतन्य को भी अनारम्भकत्व है, इतने अंश की दोनों में तुल्यता है । कार्य को परिमाणान्तर से आश्रितत्व, पारिमाण्डल्यादि के अनारम्भकत्व में कारण तही है, क्योंकि परिमाणान्तर के आरम्भ से पूर्व-काल में पारिमाण्डल्यादि को आरम्भकत्व की उपपत्ति सिद्ध हो सकती है, जिससे आरब्ध (उत्पन्न) भी कार्य रूप द्रव्य गुण की उत्पत्ति से पूर्वकाल में एक क्षणमात्र गुण रहित रहता है, यह वैशेषिक का अम्युपगम (सिद्धान्त) है । और यह भी नहीं कह सकते कि परिमाणान्तर के आरम्भ में पारिमाण्डल्यादि व्यग्र (लगे) रहते हैं, इससे स्वसजातीय परिमाणान्तर का आरम्भ नहीं करते हैं, क्योंकि परिमाणान्तर का हेतुत्व अन्य को माना गया है कि (कारणरूप) द्व्यणुक के बहुत्व से त्र्यणुक में महत्त्व होता है, मृत्तिका-तन्तु आदि के महत्त्व से घट-पटादि में महत्त्व होता है, तूलादि में प्रचय (संयोग) विशेष से महत्त्व होता है । और उस महत्त्व से विपरीत द्व्यणुकगत अणुत्व है वह परमाणुगत द्वित्व संख्या से होता है । इसी प्रकार महत्त्व के कारण ही महत्त्व के समान दीर्घत्व का कारण है, और अणुत्व के कारण ही अणुत्व के समान ह्रस्वत्व का कारण है । इससे महत्त्व-अणुत्व के व्याख्यान से दीर्घत्व-ह्रस्वत्व का व्याख्यान भी समझना चाहिये । ये कणाद ऋषि के सूत्रार्थ हैं । और यह भी नहीं कह सकते हो कि किसी सामीप्य विशेष से कारणगत बहुत्वादिक ही अणुत्व-महत्त्वादिक का आरम्भ करते हैं, और समीपता के अभाव से पारिमाण्डल्यादि स्वसजातीय परिमाणान्तर का आरम्भ नहीं करते हैं, क्योंकि द्रव्यान्तर वा गुणान्तर के आरम्भकाल में सभी कारण के गुणों का अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध तुल्य ही रहता है । उससे स्वभाव

ये ही पारिमाण्डल्लादि को अनारम्भकत्व है, इसी प्रकार चेतना के अनारम्भकत्व को भी समझना चाहिये। और अवयवादि का संयोगरूप कारण से भी द्रव्यादिरूप विलक्षण कार्य की उत्पत्ति देखने से कारण से स्वसमानजातीय की उत्पत्ति का व्यभिचार है—नियम नहीं है। यदि कहो कि द्रव्य के प्रकृत प्रस्तुत रहते, गुण का उदाहरण देना अयुक्त है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इस दृष्टान्त से विलक्षण का आरम्भ मात्र विवक्षित है कि संयोगरूप गुण से द्रव्य के समान चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। और द्रव्य का द्रव्य ही उदाहरण देना चाहिये, गुण का गुण ही उदाहरण होना चाहिये ऐसे नियम में कोई हेतु नहीं है। और आप के सूत्रकार ने भी द्रव्य का गुण उदाहरण दिया है कि (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष से संयोग का अप्रत्यक्ष होने से शरीर पांचभौतिक नहीं है किन्तु केवल पाँचिव है, इससे प्रत्यक्ष है) अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भूमि और आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला संयोग अप्रत्यक्ष होता है, इसी प्रकार प्रत्यक्षाप्रत्यक्षस्वरूप पांचभूतों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला शरीर भी अप्रत्यक्ष होगा, और शरीर प्रत्यक्ष ही है, उससे पांचभौतिक नहीं है। इससे यह कहा गया है कि संयोग गुण है और शरीर द्रव्य है, और शरीर के उदाहरण रूप संयोग को सूत्रकार ने कहा है इससे द्रव्य का द्रव्य ही उदाहरण होता है यह नियम नहीं है। (दृश्यते तु) इस सूत्र के भाष्य में भी विलक्षण की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया गया है। यदि कहो कि ऐसा होने पर उसी से यह गतार्थ है, तो कहा जाता है कि गतार्थ नहीं है, क्योंकि वह साधारणों के प्रति कहा गया है, और यह वैशेषिक के प्रति कहा गया है। यदि कहो कि समान-न्यायता से अतिदेश भी प्रथम किया गया है (इससे शिष्टों से अपरिगृहीत भी प्रत्याख्यातरूप से व्याख्यात हो गये) तो यह कहना सत्य है, परन्तु उसी अतिदेश का वैशेषिक प्रक्रिया के आरम्भ में उस प्रक्रिया में अनुगत दृष्टान्त से यह प्रपञ्च-विस्तार किया गया है।

परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण (३)

जनयन्ति जगन्नो वा सयुक्ता. परमाणव ।

आद्यकर्मजसयोगाद् द्र्यणुकादिकमाञ्जनि ॥ १ ॥

सनिमित्तानिमित्तादिविकल्पेष्वाद्यकर्मण ।

असम्भवादसयोगे जनयन्ति न ते जगत् ॥ २ ॥

प्रलयकालिक परमाणुओं में सहेतुक वा निहेतुक दोनों प्रकार से कर्म नहीं हो सकते हैं, और कर्म के अभाव से संयोग का भी अभाव सिद्ध होता है, इससे सृष्टि का अभाव सिद्ध होता है। यहाँ सयोज है कि परस्पर सयुक्त परमाणु जगत् की सृष्टि करते हैं, अथवा नहीं करते हैं, पूर्वपक्ष है कि जीवों के कर्मानुसार ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में आद्य कर्म होता है, उससे जन्य संयोग द्वारा द्र्यणुकादि-त्रय से संसार की उत्पत्ति होती है। सिद्धान्त है कि ईश्वरादि साधारण कारण हैं, जीव के कर्मों का भी परमाणु के साथ सम्बन्ध नहीं है, प्रलय-काल में अन्य भी कोई कर्म के हेतु हैं नहीं, इससे कारणजन्य कर्म नहीं हो सकता है, और अहेतुक कर्म मानें तो प्रलयाभाव की

प्राप्ति होगी, इस प्रकार आद्यकर्म के असम्भव से संयोग के नहीं सिद्ध हो सकने से परमाणु जगत् को नहीं उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १-२ ॥

उभयथापि न कर्मातिस्तदभावः ॥ १२ ॥

इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति । स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठति । पटादीनि हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तन्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमाणानि दृष्टानि, तत्सामान्येन यावत्किञ्चित्सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते । स चायमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः, सर्वं चेदं जगद्गिरिसमुद्रादिकं सावयवं, सावयवत्वाच्चाद्यन्तवत्, न चाकारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः । तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते । तेषां चापकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभागासम्भवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति स प्रलयकालः । ततः सर्गकाले च वायवीयेष्वणुविदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते, तत् कर्म स्वाश्रयमण्वन्तरेण संयुनक्ति, ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते, एवमग्निरेवमाप एवं पृथिवी, एवमेव शरीरं सैन्द्रियमिति, एवं सर्वमिदं जगदणुभ्यः सम्भवति, अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि सम्भवन्ति तन्नुपटन्यायेनेति काणादा मन्यन्ते ।

सांख्य के निराकरण के बाद प्रासङ्गिक कथा करके अब इस समय सूत्रकार परमाणु-कारणवाद का निराकरण करते हैं । और वह वाद इस प्रकार समुपस्थित (अनुमित सिद्ध) होता है कि जिससे लोक में पटादि सावयव द्रव्य, अपने में अनुगत प्रविष्ट और संयोगसहित तन्तु आदि द्रव्यों से ही आरभ्यमाण (विरचित) देखे जाते हैं । इससे उनकी समानता द्वारा यह समझा जाता है कि जो कुछ पृथिवी आदि सावयव वस्तु है वे सब ही स्वस्वरूप में अनुगत (प्रविष्ट) और संयोगसहित तत्तत् अवयवरूप द्रव्यों से ही आरब्ध (जन्य) है, प्रकृति वा ब्रह्म वा अन्य अमावाद से नहीं जन्य हैं । वह अवयव-अवयवी का विभाग जिससे निवृत्त हो जाता है, अर्थात् परमसूक्ष्म स्वरूप जिसमें सावयवता का अनुमान नहीं किया जा सकता है, वह अपकर्ष (न्यून परिमाण) के पर्यन्त (अवसान) को गत (प्राप्ति) पदार्थपरमाणु है । गिरि, समुद्रादि रूप यह सब जगत् सावयव है, सावयव होने से जगत् आदि-अन्त (उत्पत्ति-नाश) वाला पटादि के समान है । कारणरहित स्वामाविक कार्य नहीं हो सकता है । इससे नित्यमूल-कारणरूप परमाणु हैं यह कणाद ऋषि का अभिप्राय है । और उन सावयव, भूमि, जल, तेज, पवन, नामवाले इन चार भूतों को समझ कर, इनके चार प्रकार के परमाणु परिकल्पित-अनुमित होते हैं । न्यूनता की सीमागत

होने से उनके आगे विभाग के असम्भव से नाश होनेवाले पृथिवी आदि का भी परमाणु पर्यन्त ही अवयवों का विभाग होता है, और वह परमाणुपर्यन्त विभाग ही प्रलयकाल है। फिर सृष्टिकाल में वायु के परम अणुओं में अदृष्ट सापेक्ष-कर्म उत्पन्न होता है। वह कम अपने आश्रय अणु परमाणु को दूसरे परमाणु से संयुक्त करता है, तब द्रव्यणुकादि-क्रम से वायु उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न होती है, जल उत्पन्न होता है, इसी प्रकार पृथिवी उत्पन्न होती है, तथा ऐसे ही इन्द्रिय-शरीर उत्पन्न होते हैं। और इस प्रकार यह सब जगत् अणुओं से होना है। और परमाणुगत रूपादि से द्रव्यणुकादिगत रूपादि सब होते हैं, तन्तु से पट और तन्तु के रूपादि से पट के रूपादि की रीति से ही परमाणु से जगत् होता है, इस प्रकार कणाद ऋषि के अनुयायी मानते हैं।

तत्रेदमभिधीयते। विभागावस्थाना तावदणूना संयोग कर्मपिक्षोऽभ्युप-
गन्तव्य, कर्मवता तन्त्वादीना संयोगदर्शनात्, कर्मणश्च कार्यत्वान्निमित्त
किमप्यभ्युपगन्तव्यम्। अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाणुष्व्याद्य कर्म स्यात्,
अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिधातादिर्वा यथादृष्ट किमपि कर्मणो निमित्तम-
भ्युपगम्येत तस्यामम्भवान्नेवाणुष्व्याद्य कर्म स्यात्, नहि तस्यामवस्थायामात्म-
गुणं प्रयत्न सम्भवति शरीराभावात्। शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मन संयोगे
सत्यात्मगुणं प्रयत्नो जायते। एतेनाभिधाताद्यपि दृष्ट निमित्त प्रत्याख्यातव्यम्।
सर्गोत्तरकाल हि तत्सर्वं नाद्यस्य कर्मणो निमित्त सम्भवति। अथादृष्टमाद्यस्य
कर्मणो निमित्तमित्युच्येत तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा ?
उभयथापि नादृष्टनिमित्तमणुषु कर्मावकल्पेन, अदृष्टस्याचेतनत्वात्। न ह्यचेतन
चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते प्रवर्तयति वेति साङ्ख्यप्रक्रियायामभिहितम्।
आत्मनश्चानुत्पन्नचेतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात्। आत्मसमवायित्वा-
भ्युपगमाच्च नादृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यादमम्बन्धात्। अदृष्टवता पुरेणा-
स्त्यणूना सम्बन्ध इति चेत्। सम्बन्धसातत्यात् प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गो नियाम-
कान्तराभावात्। तदेव नियतस्य कस्यचित्कर्मनिमित्तस्याभावान्नाणुष्व्याद्य
कर्म स्यात्, कर्माभावात्तन्निवन्धनं संयोगो न स्यात्, संयोगाभावाच्च तन्नि-
वन्धनं द्रव्यणुकादि कार्यजातं न भ्यात्। संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा
स्यादेकदेगेन वा ? सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुमाश्रयत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्यय-
प्रसङ्गश्च, प्रदेगवनो द्रव्यस्य प्रदेगवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्।
एकदेगेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः। परमाणूना कल्पिता प्रदेशा स्युरिति चेत्।
कल्पितानामवस्तुत्वादवस्त्वेव संयोग इति वस्तुन कार्यस्यासमवायिकारणं न
स्यात्, अमति चासमवायिकारणे द्रव्यणुकादिकार्यद्रव्यं नोत्पद्येन। यथा
चादिभर्गे निमित्ताभावात्मयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाणूना सम्भवत्येव महाप्रल-
येऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म नैवाणूना सम्भवेत्। नहि तथापि किञ्चिन्नियतं

तन्निमित्तं दृष्टमस्ति । अदृष्टमपि भोगप्रसिद्धयर्थं न प्रलयप्रसिद्धयर्थमित्यतो निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म, अतश्च संयोग-विभागाभावात्तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत । तस्मादनुपपन्नोऽर्थः परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

वहाँ यह कहा जाता है कि कर्म (क्रिया) वाले तन्तुओं के संयोग को देखने से विभागावस्था वाले प्रलयकालिक परमाणुओं के संयोग को भी कर्मपेक्ष (कर्मजन्य) स्वीकार करना होगा । और कर्म को भी कार्यरूप होने से कर्म का भी कोई निमित्त मानना होगा, कर्म के निमित्त को नहीं मानने पर निमित्त के अभाव से आद्य (आदि काल में होने वाला) कर्म नहीं हो सकेगा । परमाणुओं में आद्य क्रिया नहीं होगी । कर्म के निमित्त को मानने पर भी व्यवहार में जैसा देखा जाता है, उसके अनुसार प्रयत्न वा अभिधातादि कोई कर्म का निमित्त मानना होगा । परन्तु उसके असम्भव से अणुओं में आद्य कर्म नहीं सिद्ध हो सकता है । क्योंकि उस समय शरीर के अभाव से आत्मा के गुणरूप प्रयत्न का सम्भव नहीं है, जिससे शरीर में स्थिर मन में आत्मा के संयोग होने पर आत्मा का गुणरूप प्रयत्न उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं । इस प्रयत्न के असम्भव से ही अभिधातादि रूप भी कर्म के दृष्ट निमित्त प्रलयावस्था में प्रत्याख्यान के योग्य हैं, सृष्टि के उत्तरकाल में होने वाले वे सब आद्य कर्म का निमित्तरूप नहीं हो सकते हैं । और आद्य कर्म का निमित्त यदि अदृष्ट को कहा जाय । वहाँ भी समझना होगा कि वह कर्म का निमित्त अदृष्ट आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है अथवा परमाणुओं में समवेत रहता है । और इन दोनों प्रकार से भी परमाणुओं में अदृष्टनिमित्तक कर्म नहीं सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है । और चेतन अधिष्ठातारहित अचेतन स्वतन्त्र प्रवृत्त नहीं हो सकता है । न प्रवृत्त करा सकता है । और सृष्टि से प्रथम वैशेषिक मत में आत्मा भी अचेतन है । इससे वह अधिष्ठाता नहीं हो सकता है, चेतन अधिष्ठाता-रहित अचेतन की अप्रवृत्ति का कथन सांख्य की प्रक्रिया में किया गया है । और उस अवस्था में चेतनता की उत्पत्ति से रहित अदृष्ट सहित भी उस आत्मा को अचेतनत्व रहता है, इससे उसको अधिष्ठातृत्व नहीं हो सकता है । और अदृष्ट को आत्मा में समवेत मानने से भी अदृष्ट के साथ परमाणुओं का सम्बन्ध के अभाव से अदृष्ट परमाणुओं के कर्म का निमित्त नहीं हो सकता है । यदि कहो कि अदृष्ट वाला पुरुष आत्मा के साथ परमाणु का सम्बन्ध है इसी से कर्म होगा, तो किसी नियामक के अभाव से सम्बन्ध की सदा स्थिति से प्रवृत्ति की भी सदा प्राप्ति होगी । उससे इस प्रकार नियत किसी कर्म-निमित्त के अभाव से परमाणुओं में आद्य कर्म नहीं होगा । और कर्म के अभाव से कर्म-निमित्तक संयोग नहीं होगा, और संयोग के अभाव से संयोग-निमित्तक द्व्यणुकादि कार्य समूह नहीं होंगे । ईश्वर भी सदा रहने वाला है, वह विशेष नियामक नहीं है । भाव है कि वायु से रेतीली भूमि में रेत के समान परमाणुओं में कथंचित् कर्म द्वारा संयोग होगा

भी तो सयोगमात्र से अनन्त वैचित्र्ययुक्त ससार नहीं हो सकता है । इससे इस अनन्त विचित्रता आदि के लिए अनन्त मायिक शक्ति सर्वात्मा ईश्वर में माननी ही होगी, उसी से स्वप्न-सृष्टि के समान जाग्रत्-सृष्टि भी परमाणु आदि के बिना ही सिद्ध हो सकती है । इसमें परमाणु और उनके सयोगादि की कल्पना निष्प्रामाणिक और निष्प्रयोजन है । और कथञ्चि सयोग होने पर भी एक परमाणु को दूसरे परमाणु के साथ वह सयोग सर्वस्वरूप से होगा वा एकदेश से होगा । यदि सर्वस्वरूप से व्याप्त होकर सयोग होगा, तो एक परमाणु दूसरे में प्रविष्ट होकर तद्रूप ही हो जायगा, इसके कार्य में प्रचय (पृथुत्व) की असिद्धि से सब कार्य को अणुभात्रता की प्राप्ति होगी । और सयोग जसा देखा जाता है, उससे विपरीतता की भी प्राप्ति होगी, क्योंकि अवयव वाले द्रव्य को अवयव वाले द्रव्यान्तर के साथ सयोग देखा जाता है । वह एकदेश से सयोग देखा जाता है । सर्वस्वरूप से सयोग मानने पर उससे विरोध होगा । और यदि परमाणु के सयोग की एकदेश द्वारा मानो तो परमाणु की सावयवता की प्राप्ति होगी । यदि दिशा के भेद से परमाणु में कल्पित अवयव होंगे ऐसा मानो, तो कल्पित के अवस्तु मिथ्या होने से मिथ्या अवयवों का सयोग भी मिथ्या ही होगा । इससे वस्तु रूप कार्य का असमवायी कारणरूप नहीं होगा, और असमवायी कारणरूप सयोग के असत् होने पर- नहीं रहने पर द्व्यणुकादिरूप कार्य द्रव्य नहीं उत्पन्न होंगे । और जैसे सृष्टि में निमित्त के नहीं रहने से सयोग की उत्पत्ति के लिए परमाणुओं के कर्म नहीं हो सकते । इसी प्रकार महाप्रलय में भी परमाणुओं के विभाग की उत्पत्ति के लिए भी कर्म का सम्भव नहीं हो सकता है । क्योंकि उस प्रलय में भी अनन्त परमाणुओं का वियोग के लिए कोई नियत उसका निमित्त दृष्ट नहीं है । और अदृष्ट (धर्माधर्म) भी जीव के भोग की प्रसिद्धि (प्राप्ति) के लिए होता है । प्रलय की प्रसिद्धि के लिए नहीं होता है । इस प्रकार निमित्त के अभाव में परमाणुओं के सयोग की उत्पत्ति के लिए वा विभाग की उत्पत्ति के लिए कर्म नहीं होगा । और इसी से सयोग और विभाग का अभाव होने से तदधीन सृष्टि और प्रलय का भी अभाव प्राप्त होगा, उससे यह परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १६ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाणुवादनिराकरणेन सम्बध्यते । द्वाभ्या चाणुभ्या द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामण्वो समवेतोत्यभ्युपगम्यते भवता, न चैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता समर्थयितुम् । कुत ? साम्यादनवस्थिते । यथैव ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्व्यणुकं समवाय-लक्षणेन सम्बन्धेन ताभ्या सम्बध्यते, एव समवायोऽपि समवायिम्योऽत्यन्तभिन्नं सन् समवायलक्षणेनान्येनैव सम्बन्धेन समवायिभि सम्बध्येतात्यन्तभेदमाभ्यात्, ततश्च तस्य तस्यान्योन्य सम्बन्ध-कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत ।

नन्विह प्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसम्बद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नासम्बद्धः सम्बन्धान्तरापेक्षो वा, ततश्च न तस्यान्यः सम्बन्धः कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येतेति । नेत्युच्यते । संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसम्बद्ध एवेति समवायवन्नान्यं सम्बन्धमपेक्षेत । अथार्थान्तरत्वात् संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्सम्बन्धान्तरमपेक्षेत । न च गुणत्वाद् संयोगः सम्बन्धान्तरमपेक्षते न समवायोऽगुणत्वादिति युज्यते वक्तुम्, अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्, गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्, तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था । प्रसज्यमानायां चानवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां द्व्यणुकं नैवोत्पद्येत । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १३ ॥

समवाय सम्बन्ध के स्वीकार से भी उस अणुकारणवाद का अभाव (असम्भव) है । इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'तदभाव' इस पद का सम्बन्ध होता है, उसका प्रकृत अणुवादनिराकरण के साथ सम्बन्ध होता है कि समवाय के स्वीकार से अनवस्था दोष की प्राप्ति से भी यह वाद सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि आप अणुवादी सब मानते हो कि दो परमाणुओं से उत्पन्न हुआ द्व्यणुक परमाणुओं से अत्यन्त भिन्न होता हुआ दोनों परमाणु में समवाय सम्बन्ध से रहता है । और इस प्रकार मानने वालों से अणुकारणता का समर्थन (प्रतिपादन) नहीं किया जा सकता है । क्योंकि समता से अनवस्था की प्राप्ति होती है । जिससे जैसे ही दो परमाणु से अत्यन्त भिन्न होता हुआ द्व्यणुक समवायरूप सम्बन्ध से दोनों परमाणु के साथ सम्बन्ध वाला होता है । इसी प्रकार समवाय भी अपने आश्रय समवायियों से अत्यन्त भिन्न होता हुआ अन्य समवाय रूप सम्बन्ध द्वारा ही समवायी परमाणुओं से सम्बन्ध वाला होगा, क्योंकि द्व्यणुक और समवाय दोनों को परमाणुओं से अत्यन्त भेद तुल्य है । उससे तत्तत् समवायों के अन्य २ समवाय की कल्पना करना होगी, इस प्रकार अनवस्था ही की प्राप्ति होगी । यदि कहो कि इस तन्तु में पट है, इस पट में रूप है, इत्यादि प्रतीति से ग्राह्य अर्थात् ऐसे ज्ञानों का विषय रूप समवाय, अपने समवायी आश्रय से नित्य सम्बद्ध ही गृहीत (ज्ञान) होता है, सम्बन्धरहित वा सम्बन्धान्तर की अपेक्षा वाला नहीं गृहीत होता है । उससे उस समवाय का अन्य-अन्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं करनी पड़ती है, कि जिससे अनवस्था की प्राप्ति हो । यहाँ कहा जाता है कि ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि ऐसा होने पर संयोग भी संयोगियों के साथ नित्य सम्बद्ध ही रहता है, इससे वह भी समवाय के समान सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं करेगा । और यदि संयोगी से अर्थान्तर होने से संयोग सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करता है, तो समवाय भी समवायी से अर्थान्तर होने से सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करेगा । यह भी कहना युक्त नहीं हो सकता है कि गुण होने से संयोग सम्बन्धान्तर की अपेक्षा करता है, और समवाय सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि यह अगुण (गुणभिन्न) है । जिससे भिन्नतारूप अपेक्षा का कारण संयोग

और समवाय दोनों में तुल्य है । और गुण की परिभाषा (संकेत) इस सबध में अतन्त्र (अहेतु) है जिससे कर्मादि का भी समवाय माना जाता है । उससे समवाय को अर्था-न्तर मानने वाले को अनवस्था की प्राप्ति होती ही है । और अतवस्था की प्राप्ति होने पर एक समवाय की असिद्धि से सब समवाय के अधीन सिद्ध होने वाले परमाणु के संयोग द्वघणुकादि सबकी असिद्धि से दो परमाणु से द्वघणुक नहीं उत्पन्न हो सकता है । उससे भी परमाणु-कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १३ ॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

अपि चाणव प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा बोभयस्वभावा वाऽनुभय-स्वभावा वाऽभ्युपगम्यन्ते गत्यन्तराभावात्, चतुर्धापि नोपपद्यते । प्रवृत्तिस्वभावत्वे नित्यमेव प्रवृत्तेर्भावात्प्रलयाभावप्रसङ्गः । निवृत्तिस्वभावत्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात्सर्गाभावप्रसङ्गः । उभयस्वभावत्व च विरोधादसमञ्जसम् । अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्य-सन्निधानान्नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टादेर्नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तस्मा-दप्यनुपपन्न परमाणुकारणवाद ॥ १४ ॥

और यह भी विचारार्थ विषय है कि परमाणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले हैं, वा निवृत्ति स्वभाव वाले हैं, अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों स्वभाव वाले हैं, यद्वा अनुभय स्वभाव वाले, दोनों स्वभाव से रहित हैं । परन्तु अदृष्ट कालादि निमित्त के अधीन प्रवृत्ति वाले हैं । ये चार के सिवा अन्य गति मार्ग प्रकार नहीं है । और इन चारों प्रकार से परमाणु कारणवाद उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि प्रवृत्ति स्वभाव के रहने पर नित्य ही प्रवृत्ति के भाव से प्रलय का अभाव प्राप्त होता है । निवृत्ति-स्वभावत्व होने पर नित्य ही निवृत्ति के भाव में सृष्टि का अभाव प्राप्त होता है । और उभय स्वभाव तो विरोध से ही अयुक्त है । और अनुभयस्वभावत्व होने पर तो निमित्त के वश से प्रवृत्ति निवृत्ति को मानने पर अदृष्टादि निमित्त के नित्य सन्निधान से नित्य प्रवृत्ति का प्रसंग होता है । और अदृष्टादि सन्निहित होने भी यदि प्रवृत्ति में तन्त्र (हेतु) नहीं हो तो भी नित्य अप्रवृत्ति की प्राप्ति होती है, जिससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है ॥ १४ ॥

॥ १५ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

सांख्यवानां द्रव्याणामवयववशो विभज्यमानानां यत् परो विभागो न सम्भवति ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिक-स्यारम्भको नित्याश्चेति यद् वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरा-लम्बनः एवं, यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणूनामणुत्वमित्येव विपर्ययः प्रसज्येत, परमाणुकारणापेक्षया स्थूलत्वमनित्यत्व च तेषामभिप्रेतविपरीतमापद्येत्यर्थः । कुतः ? एवं लोके दृष्टत्वात् । यद्धि लोके रूपादिमद्वस्तु तत्त्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्य च दृष्टम्, तेषां पदस्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति, तन्त्रव-

श्चांशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति, तथा चामी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात्तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति । यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्—‘सदकारणवन्नित्यम्’ (वै० सू० ४।१।१) इति, तदप्येवं सत्यणुषु न सम्भवति, उक्तेन प्रकारेणाणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः ।

अवयव द्वारा विभक्त (विभागयुक्त) होते हुए अवयव वाले द्रव्यों का जिससे पर-आगे विभाग नहीं हो सकता है । वे ही चार प्रकार के रूपादि वाले परमाणु हैं, जो चार प्रकार के रूपादि वाले भूत-भौतिक पदार्थों के आरम्भक-उत्पादक और नित्य हैं, इस प्रकार जो वैशेषिक मानते हैं, वह उनका मानना निराधार-विषय-प्रमाणादि रहित मिथ्या ही है । जिससे परमाणुओं को रूपादिमत्ता से घटादि के समान अणुत्व और नित्यत्व के विपर्यय की प्राप्ति होगी, परम कारण की अपेक्षा से स्थूलत्व और अनित्यत्व भी उन परमाणु को अभिप्रेत से विपरीत प्राप्त होंगे यह अर्थ है । क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा जाता है । जिससे लोक में जो रूपादिवाली वस्तु हैं, वे अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य देखी गई हैं उससे जैसे पट तन्तुओं की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य होता है, और तन्तु भी अंशुओं की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य होते हैं । इसी प्रकार ये परमाणु भी रूपादि वाले उन वैशेषिकों से माने जाते हैं, जिससे वे परमाणु भी कारण वाले और उसकी अपेक्षा से स्थूल तथा अनित्य प्राप्त होते हैं । और जो उन लोगों ने नित्यत्व में कारण कहा है कि (कारणरहित सत्तावाला भाववस्तु नित्य है ।) प्रागभाव कारणरहित है परन्तु अभाव है, इससे उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति तो नहीं होती है, परन्तु इस पूर्व में कही रीति से परमाणुओं के भी कारणवत्त्व की सिद्धि से परमाणुओं में सदकारणवत्त्व का सम्भव नहीं होता है ।

यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—‘अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधाभावः’ (वै० ४।१।४) इति, तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति, असति हि यस्मिन्कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते, न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवापेक्ष्यते, तच्चास्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म । न च शब्दार्थ-व्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात् । यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्—‘अविद्या च’ (वै० ४।१।५) इति, तद्यद्येवं विव्रीयते सतां परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्या - इति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्यापद्येत । अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत तथाप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत, तस्य च प्रागेवोक्तत्वात् ‘अविद्या च’ इति पुनरुक्तं स्यात् । अथापि कारणविभागात्कारणविनाशाच्चाण्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसम्भवोऽविद्या सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति व्याख्यायेत, नावश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टमर्हतीति नियमोऽस्ति, संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्यारम्भकेऽभ्युपगम्यमान एतदेवं स्यात् । यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमान-

मारम्भकमभ्युपगम्यते, तथा घृतकाष्ठिन्यविलयनवन्मूल्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते । तस्माद्रूपादिमत्त्वात्स्यादभिप्रेतविपर्यय परमाणूनाम्, तस्मादप्यनुपपन्न परमाणुकारणवादः ॥ १५ ॥

जो नित्यत्व में दूसरा कारण कहा है कि (अनित्यम्—इस प्रयोग-प्रतीति से ही विशेष नित्य के प्रतिषेध का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि नित्य के बिना नित्य को प्रतिषेधरूप अनित्य भी नहीं सिद्ध हो सकता है) वह कारण का कथन भी परमाणु की नित्यता को अवश्य निश्चित रूप से नहीं साधता है, क्योंकि जिस किसी नित्य वस्तु के नहीं रहने पर नित्य शब्द के साथ न शब्द का समास नहीं सिद्ध हो सकेगा, इससे समास के लिये किसी नित्य की अपेक्षा है, परन्तु वहाँ परमाणु का ही नित्यत्व अपेक्षित नहीं होता है । और वह अपेक्षित नित्य परम कारणरूप ब्रह्म है ही, इससे परमाणु की नित्यता के बिना नञ् समास की उपपत्ति नहीं है । और प्रमाणान्तर के बिना शब्दार्थ के व्यवहारमात्र से किसी अर्थ की प्रसिद्धि (सत्यता) नहीं होती है, किन्तु प्रमाणान्तर से सिद्ध शब्द और अर्थ में सत्य व्यवहार सिद्ध होता है, प्रमाण के बिना मिथ्या भी नित्यत्वादि के व्यवहार होते हैं । और जो परमाणु के नित्यत्व में तृतीय कारण कहा है कि (अविद्या भी नित्यत्व में हेतु है) उसका यदि ऐसा विवरण व्याख्यान किया जाय कि परिदृश्यमान (प्रत्यक्ष) कार्य वाले वर्तमान कारणों का प्रत्यक्ष प्रमाण से अप्रवृण-अविद्या है, तो द्वयणुक में भी नित्यता की प्राप्ति होगी, वह भी प्रत्यक्ष से अव्याह्य है, और प्रत्यक्ष कार्य वाला है । और यदि द्वयणुक में अतिव्याप्ति का कारण के लिए अद्रव्य होते, अर्थात् आरम्भक द्रव्य से रहित होते, ऐसा विशेषण दिया जाय, तो भी अकारणवत्ता ही नित्यता का निमित्त सिद्ध होगा, उसका प्रथम ही कथन ही चुका है, यह सूत्र व्यर्थ होगा, और पुनरुक्त (कथित का कथन) हो जायगा । और यदि व्याख्यान किया जाय कि कारण के विभाग और कारण के विनाश से कार्य का नाश होता है, निरवयव कारणरहित परमाणुओं का इन दोनों से तो नाश नहीं हो सकता है, और इनसे अन्य किसी तृतीय हेतु से नाश कहा जाय, तो तृतीय विनाश-हेतु का असम्भवरूप अविद्या है, अर्थात् द्रव्य के नाश के दो ही कारण हैं, तीसरा है नहीं, इससे वह तीसरा का असम्भव परमाणु के नित्यत्व का प्रबोध कराता है, वहाँ कहा जाता है कि अवश्य विनष्ट होनेवाली वस्तु दो ही हेतुओं से विनाश के योग्य होती है, यह नियम नहीं है, अर्थात् कार्यारम्भ माना जाय तो यह नियम हो सकता है, किन्तु तन्तु में तन्तु से अत्यन्त मृन् पट के आरम्भ में कोई प्रमाण नहीं है, इससे कारण ही किसी विशेषावस्था को प्राप्त होकर कार्य कहाता है, फिर अवस्थान्तर की प्राप्ति से कार्य का नाश कहा जाता है, इससे संयोगसहित अनेक तन्तु आदिरूप द्रव्य में पटादिरूप द्रव्यान्तर के आरम्भ को मानने पर तो यह नियम इस प्रकार हो सकता है कि दो ही हेतु से कार्य का नाश होता है । और जब परिणामवाद में विशेषावस्थादि से रहित

सामान्य स्वरूपवाला कारण विशेषवाला अवस्थान्तर को प्राप्त होता हुआ आरम्भक होता है, यह मानते हैं, तब तो घृतादि की कठिनता का विलय के समान मूर्ति अवस्था के विलय से भी विनाश सिद्ध होता है। उससे परमाणुओं को रूपादिमान होने से अभिप्रेत नित्यत्व का विपर्यय होगा, अवयव विभाग के बिना भी अवस्थान्तर की प्राप्ति रूप विनाश होगा, उससे भी परमाणु-कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १५ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्मतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत्परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्न वा ? उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात्। कल्प्यमाने तावदुपचितापचितगुणत्व उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमाणुत्वप्रसङ्गः। न चान्तरेणापि मूर्त्युपचयं गुणापचयो भवतीत्युच्येत, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात्। अकल्प्यमाने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्यप्रसिद्धये यदि तावत्सर्व एकैकगुणा एव कल्प्येरन्ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात् अप्सु रूपस्पर्शयोः पृथिव्यां च रसरूपस्पर्शानां, कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानाम्। अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन्, ततोऽस्वपि गन्धस्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायी गन्धरूपरसानाम्। न चैवं दृश्यते। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १६ ॥

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुणवाली पृथिवी स्थूल है। रूप, रस और स्पर्श गुणवाला जल सूक्ष्म है। रूप और स्पर्श गुणवाला तेज सूक्ष्मतर है। स्पर्श गुणवाला वायु सूक्ष्मतम है। इस प्रकार उपचित (समृद्ध अधिक) और अपचित (अल्प) गुण वाले से चारों भूत स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतमत्वरूप तारतम्ययुक्त लोक में देखे जाते हैं, इसी प्रकार इनके परमाणु भी उपचित अपचित गुणवाले कल्पित होंगे, वा नहीं होंगे, दोष तो दोनों प्रकार से अनिवार्य ही है, प्रथम उपचितापचित-गुणत्व की परमाणुओं में कल्पना करने पर उपचित गुण वालों की मूर्ति के उपचय (स्वरूप की स्थूलता) से अपरमाणुत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि मूर्ति के उपचय के बिना ही गुण का उपचय होता है, तो वह नहीं कह सकते, क्योंकि कार्यरूप भूतों में गुण का उपचय होने पर मूर्ति का भी उपचय देखा जाता है। और उपचित अपचित गुणत्व की कल्पना परमाणुओं में नहीं करने पर परमाणुत्व रूप समता की प्रसिद्धि के लिए यदि सब परमाणु को एक गुण वाला ही कल्पना करो-मानो, तो तेज में स्पर्श की उपाधि नहीं होगी। इसी प्रकार जल में रूप और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होगी, भूमि में रूप, रस और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होगी। क्योंकि कारण के गुण पूर्वक कार्य के गुणों की

उत्पत्ति मानी गयी है । और यदि सब परमाणु को चार-चार गुणों से युक्त कल्पना करो, तो जल में भी गन्ध की उपलब्धि होनी चाहिए । तेज में गन्ध और रस की उपलब्धि होनी चाहिए । और वायु में रूप, गन्ध तथा रस की उपलब्धि होनी चाहिए । परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है, उससे भी परमाणु-कारणवाद अनुपपन्न है ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभि मत्कार्यत्वाद्यशोपजीवनाभिप्रायेणोपनिबद्ध । अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टै केनचिदप्यशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभि ।

अपि च वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान्पदपदार्थान्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यातयन्त्यन्तभिन्नान् भिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति, यथा मनुष्योऽश्व शश इति । तथात्व चाभ्युपगम्य तद्विरुद्ध द्रव्याधीनत्व शेषाणामभ्युपगच्छन्ति । तन्नोपपद्यते । कथम् ? यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सता नेतरेतराधीनत्व भवति, एव द्रव्यादीनामत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्व गुणादीनां भवितुमर्हति ।

मनु आदि किन्तु वेद वेत्ताओं ने भी सत्कार्यत्वादि वैदिक सिद्धान्तांश का उपनीवन (स्वीकार-आश्रयण) के अभिप्राय से प्रधान कारणवाद का उपनिबन्ध (लेख) किया है । अर्थात् सत्कार्यत्व आत्मा के असङ्गतत्व चिद्रूपत्व-नित्यमुत्तत्वादि आदि अंश में प्रधान-कारणवादी वेद का आश्रय लेने हैं, इससे वेद-वेत्ताओं ने उन अंशों में प्रधान कारणवाद का कथन किया है । परन्तु यह परमाणु-कारणवाद तो किसी भी शिष्ट से किसी अंश द्वारा भी गृहीत स्वीकृत नहीं हुआ है, इस कारण से यह वेदवादियों में अत्यन्त ही अनादरणीय है ।

दूसरी बात है कि वैशेषिकवादो लोग अपने तन्त्र (शास्त्र) से प्रतिपाद्य पदार्थ स्वरूप ६ पदार्थों को मानते हैं । अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नाम वाले अत्यन्त भिन्न और भिन्न लक्षण वाले ६ पदार्थों को मानते हैं । वहाँ गुण-क्रियावत्त्व वा समवायिकारणता द्रव्य का लक्षण कहते हैं । द्रव्य कर्म से भिन्न होते सामान्य (जाति) मत्ता गुण का लक्षण कहते हैं । संयोग-विभाग के निरपेक्ष कारण को कर्म कहते हैं । नित्यानेकानुगत को सामान्य (जाति) कहते हैं, नित्य द्रव्यवृत्ति विशेष को मानते हैं, और नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं, इन ६ पदार्थों के भेद को इस प्रकार से मानते हैं कि जैसे मनुष्य, अश्व और शश का परस्पर भेद रहता है । तथात्व (अत्यन्तभिन्नत्व) मानकर फिर उससे विरुद्ध द्रव्याधीनत्व द्रव्य में अथ सबको मानते हैं । अतः अत्यन्त भिन्न को द्रव्याधीनत्व सिद्ध नहीं हो सकता है । क्योंकि जैसे लोक में अत्यन्त भिन्न रूप से वर्तमान शश, कुश, पलाश आदि को परस्पर अधीनत्व नहीं होता है

इसी प्रकार द्रव्यादि का अत्यन्त भिन्नत्व होने से गुणादि का द्रव्याधीनत्व होना योग्य नहीं है ।

अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां, ततो द्रव्यभावे भावाद् द्रव्याभावे चाऽभावाद् द्रव्यमेव संस्थानादिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभागभवति । यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्दप्रत्ययभागभवति तद्वत् । तथा सति साङ्ख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः स्वसिद्धान्तविरोधश्चापद्येयाताम् । नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याग्न्यधीनत्वं दृश्यते । सत्यं दृश्यते, भेदप्रतीतेस्तु तत्राग्निधूमयो-रन्यत्वं निश्चीयते, इह तु शुक्लः कम्बलो रोहिणी धेनुर्नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषेण प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयो-रिवभेदप्रतीतिरस्ति, तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य । एतेन कर्मसामान्यविशेषसम-वायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता । गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुत-सिद्धत्वादिति यदुच्यते, तत्पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा, सर्वथापि नोपपद्यते । अपृथग्देशत्वे तावत्स्वाभ्युपगमो विरुध्येत । कथम् ? तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते न पटदेशः, पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते न तन्तुदेशाः । तथा चाहुः—“द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्” (वै० १।१।१०) इति । तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते, तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्त इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति । सोऽभ्यु-पगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने वाध्येत । अथापृथक्कालत्वमयुत-सिद्धत्वमुच्येत, सव्यदक्षिणयोरपि गोविपाणयोरयुतसिद्धत्वं प्रसज्येत । तथाऽ-पृथक्स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्मभेदः सम्भवति, तस्य तादात्म्ये-नैव प्रतीयमानत्वात् ।

यदि गुणादि को द्रव्याधीनत्व होता है । उससे द्रव्य का भाव (सत्ता) रहते उनका भाव होता है, और द्रव्य के अभाव होने पर उनका अभाव होता है तो इससे सिद्ध होता है कि कल्पित भेदवाला वस्तुतः द्रव्य ही संस्थान (आकार-सन्निवेश) आदि के भेद से अनेक शब्द और प्रत्यय का भागी विषय होता है । जैसे देवदत्त एक होता हुआ भी अवस्थान्तर के सम्बन्ध से अनेक शब्द और प्रत्यय का भागी होता है, वैसे ही द्रव्य भी अनेक शब्द-प्रत्यय का भागी होता है । परन्तु ऐसा होने पर सांख्य (वेदान्त) का ही प्रसंग प्राप्त होगा । और वैशेषिक को अपने सिद्धान्त से विरोध प्राप्त होगा । शका होती है कि अग्नि से अन्य धूम को भी अग्नि के अधीनत्व देखा जाता है, ऐसे गुणादि को द्रव्याधीनत्व हो सकता है । उत्तर है कि धूम का अधीनत्व सत्य ही देखा जाता है । परन्तु वहाँ भेद की प्रतीति से अग्नि और धूम में अन्यत्व (भेद का निश्चय) किया जाता है और यहाँ तो शुक्ल कम्बल है, लाल गौ है, नील कमल है, इत्यादि वाक्यों में

तत्तत् विद्येय रूप से प्रतीति का विषय होने से द्रव्य और गुण को अग्नि और धूम के समान भेद की प्रतीति नहीं होती है, उससे गुण को द्रव्यरूपता है। इसी से कम, मामान्य, विद्येय और समवाय को भी द्रव्यात्मकता व्याख्यात हो गई। द्रव्य और गुणादि के अयुतसिद्धत्व से जो गुणादि को द्रव्याधीनत्व कहते हैं कि गुणादि द्रव्य से अभिन्न नहीं हैं, किन्तु द्रव्यसे अयुतसिद्ध हैं, इससे द्रव्य के अधीन हैं। वहाँ वह अयुतसिद्धत्व, अपृथग्देशत्व है, वा अपृथक्कालत्व है, वा अपृथग्भावत्व है, सबधा ही यह सिद्ध नहीं होता है, द्रव्य और गुणादि को यदि अपृथक् सिद्ध मानें तो अपने अभ्युपगम से विरोध होगा। क्योंकि तन्तु से आरब्ध (जन्म) पट को तन्तु देश में मानते हैं पट देश वाला पट को नहीं माना जाता है। और पट के शुक्लादि गुण तो पट देश वाले पटवृत्ति माने जाते हैं, तन्तुवृत्ति नहीं माने जाते हैं, इससे पृथग्देशत्व ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार कहते हैं कि (अवयव द्रव्य अवयवी द्रव्य का आरम्भ करते हैं, अवयव के गुण अवयवी के गुणान्तर को आरम्भ करते हैं) तन्तु कारण द्रव्य है, वह कार्य द्रव्य पट का आरम्भ करते हैं। और तन्तु के शुक्लादि गुण का द्रव्य रूप पट में शुक्लादि गुणान्तर का आरम्भ करते हैं। इस प्रकार वे लोग मानते हैं। द्रव्य और गुण को अपृथग्देशत्व मानने पर वह अभ्युपगम बाधित हो जायगा। और यदि अपृथक्कालत्व अयुतसिद्धत्व कहें तो गौ के बाँधे रहिने सोंग को भी अयुतसिद्धत्व प्राप्त होगा, इसी प्रकार अपृथक् स्वभावत्व यदि अयुतसिद्धत्व हो, तो द्रव्य और गुण का स्वरूप भेद नहीं सम्भव होता है, स्वरूप को ही स्वभाव भी कहते हैं। इस प्रकार जिस गुण को तादात्म्य (द्रव्य के साथ अभिन्न) रूप से ही प्रतीत होने से द्रव्य गुण का भेद सम्भव नहीं है।

युतसिद्धयो सम्बन्ध सयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृपेव तेषां प्राक्सिद्धस्य कार्यात्कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। अथान्यतरापेक्ष एवायमभ्युपगम स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्ध समवाय इति। एवमपि प्राक्सिद्धस्यालब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन सम्बन्धो नोपपद्यते द्वायत्तत्वात्सम्बन्धस्य। सिद्ध भूत्वा सम्बन्ध्यत इति चेत्, प्राक्कारणसम्बन्धात् कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमानायामयुतसिद्ध्यभावात् 'कार्यकारणयोः सयोग-विभागी न विद्येते' इतीदं दुरुक्तं स्यात्। यथा चोत्पन्नमात्रस्याक्रियस्य कार्य-द्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरे सम्बन्ध सयोग एवाभ्युपगम्यते न समवाय, एव कारणद्रव्येणापि सम्बन्ध सयोग एव स्यान्न समवाय। नापि सयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धस्य सम्बन्धिव्यतिरेकेणास्तिन्वे किञ्चित्प्रमाण-मस्ति। सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण सयोगसमवायशब्दप्रत्ययदर्शनात्तयोर-स्तित्वमिति चेत्। न। एकत्वेऽपि स्वरूपग्राह्यत्वापेक्षयानेकशब्दप्रत्ययदर्श-नात्। ययैकोऽपि सन् देवदत्तो लाके स्वरूप सम्बन्धिरूप चापेक्षयानेकशब्द-प्रत्ययमागमवति—मनुष्यो ब्राह्मण श्रोत्रियो वालो वा स्यविर पिता पुत्र

पौत्रो भ्राता जामाता-इति, यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानै-
कदशशतसहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति, तथा सम्बन्धिनोरेव सम्बन्धिशब्द-
प्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययार्हत्वं न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन,
इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरभावो वस्त्वन्तरस्य । नापि सम्बन्धिविषयत्वे
सम्बन्धशब्दप्रत्यययोः सततभावप्रसङ्गः, स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयेत्युक्तोत्तरत्वात् ।
तथाऽण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः सम्भवति, प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता
द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात् । कल्पिताः प्रदेशा अण्वात्ममनसां भविष्यन्तीति
चेत् । न । अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात्, इयानेवाविद्यमानो
विरुद्धोऽविरुद्धोऽवार्थः कल्पनीयो न ततोऽधिक इति नियमहेत्वभावात्, कल्पना-
याश्च स्वायत्तत्वात्प्रभूतत्वसम्भवान्च । न च वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः पङ्क्त्यः
पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वार्था न कल्पयितव्या इति निवारको हेतुरस्ति,
तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्वोचते तत्तत्सिद्धयेत् ।

युत सिद्ध (पृथक्सिद्ध) पदार्थों का सम्बन्ध संयोग है । और अयुतसिद्ध का
सम्बन्ध समवाय है । यह भी उनका सिद्धान्त मिथ्या ही है, क्योंकि कार्य से पूर्व काल
में सिद्ध कारण को अयुतसिद्धत्व की अनुपपत्ति है । अर्थात् कार्य के योग विना कारण
की असिद्धि नहीं है । और यदि ऐसा कहो कि कार्य-कारण दोनों की अपेक्षा से अयुत-
सिद्धि नहीं मानी जाती है किन्तु अन्यतर (एक) कार्य की अपेक्षा से मानी जाती है ।
और कार्य कारण के साथ युक्त हुए विना असिद्ध हैं, इससे अयुतसिद्ध कार्य का कारण
के साथ समवाय सम्बन्ध हो सकता है । तो इस प्रकार भी प्रथम असिद्ध अलब्धात्मा
वाला कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सकता है । क्योंकि सम्बन्ध दो के
अधीन होता है । यदि कहो कि कार्य प्रथम सिद्ध होकर फिर कारण से सम्बन्ध वाला
होता है, तो कारण-सम्बन्ध से प्रथम कार्य की सिद्धि मानने पर अयुतसिद्धि के अभाव से
(कार्य और कारण का संयोग और विभाग नहीं होता है) यह कथन दुरुक्त हो जायगा
और जैसे उत्पन्न मात्र क्रियारहित कार्य द्रव्य का विभु द्रव्यान्तररूप आकाशादि के
साथ संयोग सम्बन्ध ही माना जाता है, समवाय नहीं माना जाता है, इसी प्रकार सिद्ध
कार्य का कारण द्रव्य के साथ भी संयोग ही सम्बन्ध होगा समवाय नहीं होगा । और
संयोग वा समवाय सम्बन्ध की सम्बन्धी से पृथक् अस्तित्व सत्ता में कोई प्रमाण भी
नहीं है । यदि कहो कि सम्बन्धी के वाचक शब्द और सम्बन्धी का ज्ञान उससे भिन्न
संयोग, समवाय, शब्द और ज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभव से उन दोनों सम्बन्धों का अस्तित्व
सिद्ध होता है, तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि एकत्व होते भी स्वरूप और बाह्यहृदय
की अपेक्षा से अनेक शब्द प्रत्यय का अनुभव होता है, जैसे लोक में एक भी होता हुआ
देवदत्त स्वरूप और सम्बन्धी रूप की अपेक्षा करके अनेक शब्द और प्रत्ययों का भागी
(होता है) स्वरूप से मनुष्य सामान्य होते भी जाति से ब्राह्मण, विद्या से श्रोत्रिय, अवस्था

से बाल, युवा, वृद्ध और अन्य को अपेक्षा से पिता, पुत्र, भ्राता, जामाता इत्यादि शब्द और प्रत्यय का भागी होता है। और जैसे एक मी होती हुई रेखा (लेख लिपि) स्थान की अन्यता से (भेद से) वस्तु स्थानों में निवेशित-योजित होने पर एक, दश, शत (सी) और सहस्रादि शब्द और प्रत्यय के भेद का अनुभव करती है। अनुभव का विषय होती है। इसी प्रकार सम्बन्धियों को ही सम्बन्धिवाचक शब्द और सम्बन्धिविषयक ज्ञान से भिन्न संयोग समवाय शब्द और ज्ञान के योग्यत्व होता है, भिन्न वस्तु के अस्तित्व से संयोग, समवाय, शब्द और ज्ञान नहीं होते हैं। इस प्रकार उपलब्धि (भिन्नज्ञान) रूप लिङ्ग से प्राप्त वस्त्वन्तर रूप संयोगादि की भिन्न रूप से अनुपलब्धि से वस्त्वन्तर का अभाव है। अर्थात् सम्बन्धी ही संयोगादि प्रत्यय का भी विषय होता है इससे संयोगादि सम्बन्धी से भिन्न वस्तु नहीं है। यदि कहो कि सम्बन्धिमात्रविषयक सम्बन्ध शब्द और प्रत्यय हो तो सम्बन्धी के स्वरूप रहते स्वरूप के शब्द-प्रत्यय के समान सम्बन्ध के शब्द-प्रत्यय भी सदा होना चाहिए, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप और बाह्यरूप की अपेक्षा से अनेक प्रकार के शब्द और प्रत्यय होते हैं, यह प्रथम ही प्रत्युत्तर कहा जा चुका है। इसी प्रकार परमाणु आत्मा और मन को अप्रदेशवाला (निरवयव) होने से इनके संयोग का सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रदेश वाले द्रव्य का प्रदेश वाले द्रव्यात्तर के साथ संयोग देखा जाता है। यदि कहो कि परमाणु आत्मा और मन के भी कल्पित अवयव हो सकेंगे, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अविद्यमान अर्थ को कल्पना से सिद्ध हो, तो, सब अर्थ की कल्पना से सिद्ध की प्राप्ति होगी, जिससे इतना ही अविद्यमान विरुद्ध वा अविरुद्ध अर्थ कल्पना के योग्य हैं, इससे अधिक कल्पना के योग्य नहीं हैं, इस नियम में हेतु का अभाव है, तथा कल्पना स्वाधीन है। कल्पना के प्रभुत्व (बहुलत्व) निरवयवत्व का सम्भव है। और वैशेषिकों से कल्पित ६ पदार्थों से अन्य अधिक सौ वा सहस्र पदार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए, इस प्रकार निवारक कोई हेतु नहीं है। इसलिए जिस-जिस को जो-जो रचना है वा रचिकर होगा, वह सब कल्पना से सिद्ध होगा।

अन्यो वा व्यसनो मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्, कस्तमो निवारकः स्यात्। किञ्चान्यत्। द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां सावयवस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव सश्लेषानुपपत्तिः, न ह्याकाशस्य पृथिव्यादीनां च जतुकाष्ठवत्सश्लेषोऽस्ति। कार्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यवश्यं कल्प्यं समवाय इति चेत्। न। इतरेतराश्रयत्वात्। कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धिराश्रिताश्रयभावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डवदरवदितोतरेतराश्रयता स्यात्। न हि कार्यकारणयोर्भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव सस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्। किञ्चान्यत्। परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः पङ्कती दश वा तावद्भिरवयवैः सावयवास्ते स्युः

सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत । यांस्त्वं दिग्भेद-
भेदिनोऽवयवान्कल्पयसि त एव मम परमाणव इति चेत् । न । स्थूलसूक्ष्मतार-
तम्यक्रमेणापरमकारणाद्विनाशोपपत्तेः । यथा पृथिवी द्व्यणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा
वस्तुभूतापि विनश्यति, ततः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति ततो
द्व्यणुकं, तथा परमाणवोऽपि पृथिव्येकजातीयकत्वाद्विनश्येयुः । विनश्यन्तोऽप्यव-
यवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत् । नायं दोषः । यतो घृतकाठिन्यविलयनवदपि
विनाशोपपत्तिमवोचाम । यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामप्यग्नि-
संयोगाद् द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भविष्यति, तथा कार्यारम्भाऽपि नाव-
यवसंयोगेनैव केवलेन भवति, क्षीरजलादीनामन्तरेणाप्यवयवसंयोगान्तरं दधि-
हिमादिकार्यारम्भदर्शनात्, तदेवमसारतरतर्कसंदृग्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्ध-
त्वाच्छ्रुतिप्रवर्णश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षास्मिन्परमाणु-
कारणवादे कार्या श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः ॥ १७ ॥

कोई कृपालु कल्पना करेगा कि प्राणियों के दुःख से पूर्ण बहुत दुःख वाला यह
संसार ही नहीं हो । अन्य व्यसनी कामी मुक्तों की भी पुनः उत्पत्ति की कल्पना करेगा,
यहाँ उन दोनों का निवारक कौन होगा । दूसरा दूषण यह है कि जैसे निरवयव आकाश
के साथ द्व्यणुक का संश्लेष नहीं होता है वैसे निरवयव दो परमाणु के साथ भी साव-
यव द्व्यणुक के संश्लेष (संग्रह) की अनुपपत्ति होगी कि जिस संश्लेष से द्व्यणुक
के आकर्षण से परमाणु का आकर्षण होता है । क्योंकि निरवयव आकाश और सावयव
पृथिवी आदि को जतु, लाक्षा और काठ के समान संश्लेष नहीं है । यदि कहो कि कार्य-
कारणरूप द्रव्य को सम्बन्ध के बिना आश्रित आश्रयभाव नहीं हो सकता है, इससे
समवाय अवश्य कल्पना के योग्य है, तो यह भी नहीं कह सकते हो । क्योंकि अन्योन्याश्रय
की प्राप्ति होती है, जिससे प्रथम कार्यकारण का भेद सिद्ध हो, तो आश्रिताश्रयभाव सिद्ध
हो और आश्रिताश्रयभाव सिद्ध हो तो उस कार्यकारण को कुण्ड वैर के समान भेद
सिद्ध हो, इस प्रकार अन्योन्याश्रयता होगी । वेदान्तवादी लोग तो कारण का ही
आकारान्तर मात्र कार्य है, इस प्रकार मानने से कार्यकारण के भेद को वा आश्रित
आश्रयभाव को नहीं मानते हैं । अन्य भी दूषण हैं कि परमाणुओं को घटादि के समान
परिच्छिन्न होने से जितनी छः वा आठ वा दश दिशाएँ हैं, उतने अवयवों से वे परमाणु
सावयव होंगे, अर्थात् उतने अवयवों द्वारा ही उन दिशाओं के साथ सम्बन्ध वाले होंगे
और सावयव होने से अनित्य होंगे, इससे नित्यत्व निरवयवत्व का अभ्युपगम बाधित
होगा । यदि कहो कि दिशाओं के भेद वाले जिन परमाणु के अवयवों की तुम कल्पना
करते हो, वे ही मेरे मत में परमाणु हैं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म के
तारतम्य के क्रम से अपरिच्छिन्न मूल कारण पर्यन्त के विनाश की सिद्धि होती है अर्थात्
स्थूल-सूक्ष्म का न्यूनाधिक भाव होते भी स्थूल के नाशपूर्वक क्रम से सब सूक्ष्म का भी नाश
होता है, मूल कारण का ही नाश नहीं होता है, और परमाणु मूल कारण नहीं हैं क्योंकि

परिच्छिन्नत्व पृथिवीत्वादि से उसमें भी कार्यत्वादि का अनुमान होता है । जैसे कि द्रघणुकादि की अपेक्षा से अत्यन्त स्थूल वस्तुस्वरूप भी पृथिवी नष्ट होती है, उसके बाद में सूक्ष्म और सूक्ष्मतर भी पृथिवी का एक जातीयता वाला नष्ट होता है, उसके बाद द्रघणुक तुम्हारे मत में नष्ट होता है, इसी प्रकार परमाणु भी पृथिवी की एकजातीय-कता से विनष्ट होंगे, यदि कहो कि विनष्ट होने वाले भी अवयव के विभाग से ही विनष्ट होते हैं और परम सूक्ष्म परमाणु में अवयव विभाग की सम्भावना है नहीं तो उनका कैसे नाश होगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, परमाणु का नाश अवश्य नहीं है, जिससे अवयव विभाग के बिना भी घृत काठिन्य के विलयन के समान भी नाश की सिद्धि को कह चुके हैं, इससे जैसे घृत सुवर्णादि के अवयव विभाग नहीं होने पर भी अग्नि संयोग के द्वारा द्रव भाव की प्राप्ति से कठिनता का विनाश होता है, इसी प्रकार परमाणु को भी परम कारण भाव की प्राप्ति से मूर्ति आदि का विनाश होगा । इसी प्रकार कार्य का आरम्भ भी केवल (मुख्य) अवयव संयोग से ही नहीं होता है, क्योंकि क्षीर जलादि के अन्य अवयव संयोग के बिना भी दधि हिमादि कार्यों का आरम्भ देखा जाता है, इस पूर्व वर्णित रीति से अत्यन्त असार तर्कों से सप्रण्यत होने से तथा ईश्वर कारणवादी श्रुतियों से विरुद्ध होने से और श्रुति परायण शिष्ट मनु आदि से अपरिगृहीत होने से श्रेय के अधियो-इच्छुकों को इस परमाणु कारणवाद में अत्यन्त ही अनपेक्षा कर्तव्य है ऐसा यहाँ वाक्य शेष है ॥ १७ ॥

समुदायाधिकरण (४)

समुदायावुभौ युक्तावयुक्तौ वाणुहेतुकः ।

एकोऽपर स्कन्धहेतुस्तिथेव युज्यते द्वयम् ॥ १ ॥

स्थिरचेतनराहित्यात्स्वय चाचेतनत्वतः ।

न स्कन्धानामणूना वा समुदायोऽत्र युज्यते ॥ २ ॥

परमाणु और स्कन्ध उभय हेतुक बाह्यान्तर समुदाय में उस समुदायत्व की असिद्धि है, क्योंकि समुदाय का कोई योग्य हेतु नहीं है । यहाँ सशय है कि अणु हेतुक एक बाह्य समुदाय और स्कन्ध हेतुक दूसरा आन्तर समुदाय इस प्रकार के दो समुदाय युक्त हैं, अथवा युक्त नहीं हैं, पूर्वपक्ष है कि जब दो प्रकार के कारण हैं, तो दोनों समुदाय भी युक्त हैं । सिद्धान्त है कि सध और सधी से मिल्न स्थिर चेतन के अभाव से और सध-सधी के स्वय अचेतन होने से स्कन्ध वा परमाणु वा समुदाय (सध) यहाँ नहीं युक्त हो सकता है ॥ १-२ ॥

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम्, सोऽर्थवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नत-रामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयाम । स च बहुप्रकार प्रतिपत्तिभेदाद्वि-नेयभेदाद्वा । तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति-केचित्सर्वास्तित्ववादिन, केचिद् विज्ञानास्तित्वमात्रवादिन, अन्ये पुन सर्वगून्यत्ववादिन इति । तत्र ये सर्वास्ति-

त्ववादिनो वाह्यमान्तरं च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैतं च, तांस्तावत्प्रतिबुधः । तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः । भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च । चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते । तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्च स्कन्वाः । तेष्वध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते (सर्वद० सं० पृ० २३ पं० १०) ।

तत्रेदमभिधीयते—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेपामभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः स्कन्वहेतुकश्च पञ्चस्कन्वीरूपः, तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिः समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः । कुतः ? समुदायिनामचेतनत्वात् । चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्धयधीनत्वात्, अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रगासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात् निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्, आशयस्याप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात् । क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तस्मात्समुदायानुपपत्तिः । समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत ॥ १८ ॥

दुर्भुक्ति के सम्बन्ध से वेद विरोध से और शिष्टापरिग्रह से वैशेषिक सिद्धान्त ग्रहण के योग्य नहीं है, यह कहा गया है । परिमाण भेद से देहादि का शीघ्र नाश मानने से वह अर्द्ध वैनाशिक है, इससे वैनाशिकत्व की समता से स्मृत सर्व वैनाशिक का सिद्धान्त अत्यन्त अनपेक्षणीय है इस अर्थ का इस समय उपपादन सिद्ध करते हैं । वह सर्व वैनाशिक कालादि के भेद द्वारा प्रतिपत्ति (ज्ञान) के भेद से वा शिष्य के भेद से बहुत प्रकार का है । उसमें ये तीन वादी होते हैं, कोई सबको अस्तित्ववादी होते हैं, कोई विज्ञान का अस्तित्वमात्रवादी होते हैं । उन दोनों से अन्य सर्वशून्यवादी होते हैं । उनमें जो सर्वास्तित्ववादी बाह्य भूत भौतिक वस्तु को और आन्तर चित्त चैत (कामादि) वस्तु को मानते हैं, प्रथम उनके प्रति कहते हैं, उनका प्रतिषेध करते हैं, उनमें पृथिवीरूप महाभूतादि भूत हैं, और रूपादि नेत्रादि भौतिक हैं । खर (कठिन) स्नेह (स्निग्ध) उष्ण और ईरण (चलन) स्वभाव वाले चार प्रकार के पृथिवी आदि के परमाणु हैं, वे पृथिवी आदि भाव से संहत होते हैं । अर्थात् समूहरूप होकर परमाणु ही पृथिवी आदि महाभूतरूपता को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार वे लोग मानते हैं । इसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार नाम वाले पांच स्कन्ध हैं, इनमें विषय सहित इन्द्रियरूप स्कन्ध है । अहम् इस बुद्धि का प्रवाह विज्ञान स्कन्ध है, सुखादि का अनुभव वेदना स्कन्ध है । नाम सहित सविकल्पक ज्ञान संज्ञा स्कन्ध है और राग-द्वेष धर्माधर्म संस्कार स्कन्ध हैं, उनमें विज्ञान स्कन्ध को चित्त और आत्मा कहते हैं । अन्य को चैत कहते हैं । ये पाँचों स्कन्ध भी आत्मसम्बन्धी अव्यात्म सब व्यवहार के आश्रयरूप से संहत होते (मिलते) हैं, ऐसा मानते

हैं। यहाँ यह कहा जाता है कि जो यह उभय हेतुक और उभय प्रकार वाला समुदाय अन्य को अभिप्रेत स्वीकृत है, जो समुदाय अणुहेतुक (परमाणु जन्य) तो भूत भौतिक सहति (समूह) रूप है, और स्कन्ध हेतुक पाँचों स्कन्ध का समाहार रूप है, उस उभय हेतुक समुदाय के अभिप्रेत होने पर भी उसकी अप्राप्ति होगी, समुदाय की अप्राप्ति होगी, अर्थात् समुदाय भाव की अनुपपत्ति होगी, यह सूत्रार्थ है। क्योंकि समुदाय जिनका होता है उनको अचेतनता है, सृष्टि के आदि काल में परमाणु और स्कन्ध सब चेतनता रहित रहते हैं, और चित्त के अभिज्वलन (विज्ञान) को भी समुदाय की सिद्धि का अधीनत्व है, अन्य स्थिर चेतन भोक्ता वा प्रशासिता (ईश्वर) रूप सघातकर्ता का स्वीकार नहीं किया जाता है और यदि कर्ता की अपेक्षा के बिना अणु और स्कन्ध में प्रवृत्ति भावें तो प्रवृत्ति का कमी अभाव नहीं होगा और प्रवृत्ति के अनुपरम से मोक्षभाव की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि आलयविज्ञान का सन्तान अहमहम् इस रूप से विज्ञानधारारूप आशय सघातकर्ता होगा, तो वह सन्तान भी सन्तानी से अन्यत्व और अनन्यत्वरूप से निरूपण के अयोग्य है, क्योंकि सन्तान को सन्तानी से भिन्न और स्थिर मानने पर नामान्तर से वेदान्त-सम्मत आत्मा का स्वीकार प्राप्त होगा और क्षणिक को स्वीकार करने पर उसे उत्पत्ति-नाश के अतिरिक्त व्यापाररहित होने के कारण उससे प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है, उस प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से समुदाय की अनुपपत्ति है और समुदाय की अनुपपत्ति होने पर समुदाय के आश्रित होने वाली लोकयात्रा (उपाय व्यवहार) लुप्त हो जायगी।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतन सहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते, तथाप्यविद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा। तस्या चोपपन्नमा-
नाया न किञ्चिदपरमपेक्षितव्यमस्ति। ते चाविद्यादयोऽविद्या सस्कारो विज्ञान
नाम रूप पडायतन स्पर्शो वेदना तृष्णा उपादान भवो जातिर्जरा मरण शोक
परिदेवना दुःख दुर्मनस्तेत्येवजातीयका इतरेतरहेतुका सौगते समये क्वचित्स-
क्षिप्ता निदिष्टा, क्वचित्प्रपञ्चिता, सर्वेषामप्ययमविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येय।
तदेवमविद्यादिकलापे परस्परनिमित्तानैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमा-
नेर्ज्याक्षिप्त उपपन्न सङ्घात इति चेत्।

तत्र। कस्मात्? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। भवेदुपपन्न सघातो यदि
सघातस्य किञ्चिन्निमित्तमवगम्येत, न त्ववगम्येत। यत इतरेतरप्रत्ययत्वेऽप्य-
विद्यादीना पूर्वम्पूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्त भवद्भवेन् तु सङ्घातोत्पत्ते
किञ्चिन्निमित्त सम्भवति। नन्वविद्यादिभिरर्थोदाक्षिप्यते सङ्घात इत्युक्तम्।
अत्रोच्यते। यदि तावदयमभिप्राय-अविद्यादयः सङ्घातमन्तरेणात्मानमलभ-
माना अपेक्षन्ते सङ्घातम्-इति, ततस्तस्य सङ्घातस्य निमित्तं वक्तव्यम्, तच्च

नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वश्रयाश्रयिभूतेषु च भोक्तृषु सत्सु न सम्भवतीत्युक्तं
 वैशेषिकपरीक्षायाम्, किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु भोक्तृरहितेष्वश्रयाश्रयि-
 शून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु सम्भवेत् । अथायमभिप्रायः—अविद्यादय एव सङ्घातस्य
 निमित्तम्—इति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः । अथ
 मन्यसे—सङ्घाता एवानादौ संसारे सन्तत्यानुवर्तन्ते तदाश्रयाश्रवाविद्यादय—इति,
 तदपि सङ्घातात्सङ्घातान्तरमुत्पद्यमानम् नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन
 वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत, नियमाभ्युपगमे मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारक-
 प्राप्यभावः प्राप्नुयात्, अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित्क्षणमेव हस्ती
 भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नुयात्, उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम् ।
 अपि च यद्भोगार्थः सङ्घातः स्यात्स नास्ति स्थिरो मोक्षेति तवाभ्युपगमः,
 ततश्च भोगो भोगार्थ एव स नान्येन प्रार्थनीयः तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति
 मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम् । अन्येन चेत्प्रार्थ्यतोभयं भोगमोक्षकालावस्थायिना
 तेन भवितव्यम्, अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोधः । तस्मादितरेतरोत्पत्ति-
 मात्रनिमित्तात्मविद्यादीनां यदि भवेद्भवतु नाम न तु सङ्घातः सिद्ध्येत् भोक्त्र-
 भावादित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

शंका है कि यद्यपि मोक्षा वा प्रशासिता किसी चेतन स्थिर संघातकर्ता का स्वी-
 कार नहीं किया जाता है, तथापि अविद्यादि को ही परस्पर प्रत्यय (कारण) होने से
 लोकयात्रा सिद्ध होती है, अर्थात् अविद्यादि के ही घटीयन्त्र की तरह । वीजाङ्कुर की
 भांति वर्तमान रहने से संघात की भी अर्थात् सिद्धि होती है और सब व्यवहार की
 सिद्धि होती है । इस प्रकार जिस लोकयात्रा व्यवहार के सिद्ध होने पर अन्य कुछ अपे-
 क्षितव्य (प्रयोजन के लिए आकांक्षित) नहीं रहता है, वे अविद्यादि ये हैं कि पृथिवी,
 जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान इन छः से उत्पन्न होने वाले देहों में अहं ममादि
 बुद्धि तथा क्षणिक में स्थिर बुद्धि अविद्या है, राग-द्वेष मोह संस्कार हैं, उससे वस्तु
 का विज्ञान होता है, जो गर्भ में ही आद्य विज्ञानरूप होता है, उससे पृथिवी आदि चार
 होते हैं, वे ही नाम के आश्रय होने से नाम हैं, उनसे शुक्रादिरूप होते हैं, नामरूप
 से मिश्रित इन्द्रिय पडायतन हैं । अर्थात् विज्ञान चार भूत और रूप ये पडायतन हैं,
 नामरूप और इन्द्रियों का परस्पर संयोग स्पर्श है । उससे मुख दुःखादि रूप वेदना
 होती है, फिर विषय की तृष्णा होती है, उससे प्रवृत्ति रूप उपादान होता है उससे
 जन्मादि का हेतुरूप भव धर्माधर्म होते हैं, उससे जाति (जन्म) होती है जो पांच
 स्कन्ध का समुदाय है । स्कन्धों का परिपाक जरा है, उनका विनाश मरण है । मरण-
 काल में स्नेहजन्य शोक होता है, उससे ही पुत्र इत्यादि प्रलापरूप परिवेदना होती है ।
 अनिष्ट का अनुभव दुःख है, मानस दुःख दुर्मनस्ता है । इस प्रकार के मानापमानादि
 भी बलेश हैं, सो सब परस्पर हेतुक हैं । बुद्ध सिद्धान्त में कहीं संक्षिप्त रूप से निर्दिष्ट हैं,

कही प्रपञ्चित (विस्तारयुक्त) निर्दिष्ट हैं । ये अविद्यादि केवल बुद्धों के ही नहीं सम्मत हैं किन्तु यह अविद्या आदि का सघात सब वादियों से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है । जिससे इस प्रकार अविद्यादि समूह के परस्पर निमित्त नैमित्तिक (कारण कार्य) भाव से घटीयन्त्र की तरह निरन्तर वर्तमान रहने पर अर्थ (प्रयोजन) से आक्षिप्त सघात उनसे ही उपपन्न होता है । सघात के बिना अविद्यादि का कार्य नहीं हो सकता, इससे अविद्या आदि सघात का आक्षेप (प्राप्ति) करते हैं । इस प्रकार यदि शका हो तो कहा जाता है कि यह शका ठीक नहीं है । क्योंकि अविद्यादि को इस प्रकार परस्पर उत्पत्ति-मात्र का निमित्तात्व सिद्ध होता है, सघात का निमित्तात्व नहीं सिद्ध होता है । और सघात तब उपपन्न होता, कि जब कोई सघात का निमित्त अवगत (ज्ञात-प्राप्त) होता । परन्तु सघात का निमित्त तो नहीं अवगत होता है, जिससे अविद्यादि का परस्पर प्रत्ययत्व (कारणत्व) होने पर भी पूर्व पूर्व उत्तर-उत्तर की उत्पत्तिमात्र का निमित्त होता हुआ परस्पर कारण होगा । परन्तु तो भी सघात की उत्पत्ति का कोई निमित्त नहीं सिद्ध होता है । यदि कहो कि अविद्यादि से अर्थात् सघात आक्षिप्त होता है, यह कहा जा चुका है, तो इस विषय में कहा जाता है कि यहाँ आक्षेप शब्द का क्या अर्थ है ? यदि आक्षेप का यह अभिप्राय (अर्थ) हो कि अविद्यादि सघात के बिना अपने स्वरूप के लाम (प्राप्ति) में असमर्थ होते हुए सघात की अपेक्षा करते हैं, सघात का गमक बोधक होने हैं, स्वकारणरूप से सघात का अनुमान कराते हैं, तो उस सघात का निमित्त कहना चाहिए । परन्तु वह सघात का निमित्त परमाणुओं को नित्य भागने पर और भोक्ताओं को आश्रय आश्रयि स्वरूप (अदृष्टाश्रय) होने पर भी ज्ञान के अभाव-मात्र से सम्भव (सिद्ध) नहीं हो सकता है, यह वैज्ञानिक परीक्षा में कहा गया है । फिर आश्रयाश्रयिरहित वा भोक्तारहित क्षणिक परमाणु को मानने पर हे 'अङ्ग ! वह निमित्त क्या सम्भव होगा और यदि यह अभिप्राय हो कि अविद्या आदिक ही सघात के निमित्त हैं, तो सघात का ही आश्रयण करके आत्मलाम करने वाले सिद्ध होने वाले अविद्यादि सघात के ही निमित्त कैसे होंगे और यदि ऐसा मानते हो कि अनादि ससार में अनन्त सघात ही सन्तति (प्रवाह) रूप से अनुवर्तमान हैं और उनके आश्रित अविद्यादि हैं, तो वह भी सघात से उत्पन्न होने वाला अन्य सघात नियम से या तो सदृश ही उत्पन्न होगा अथवा अनियम से सदृश वा विसदृश उत्पन्न होगा । वहाँ नियम मानने पर मनुष्य पुद्गल (देह) को देव त्रियङ्गु योनि और नरक समूह में प्राप्ति का अभाव प्राप्त होगा । अनियम मानने पर भी मनुष्य शरीर कभी क्षण में हायी होकर अथवा देव होकर फिर मनुष्य होगा, ऐसा प्राप्त होता है । यह दोनों बात सिद्धान्त से विरुद्ध है । दूसरी बात है कि जिसके भोग के लिए सघात होगा, वह स्थिर भोक्ता नहीं है, यह वेदा सिद्धान्त है । जिससे भोग भोगार्थक ही है, अन्य से प्रार्थनीय (अन्य की इच्छा का विषय) नहीं है । इसी प्रकार भोग भी भोगार्थक ही है, अन्य मुमुक्षु होने के योग्य नहीं है । यदि भोग और भोग दोनों

अन्य से प्रार्थित हों, अन्य की प्रार्थना के विषय हों, याचित हों, तो उस याचना करने वाले को भोग और मोक्ष काल में अवस्थायी स्थितिशील होना चाहिये । अवस्थायित्व होने पर क्षणिकत्वाभ्युपगम से विरोध होता है जिससे यदि अविद्यादि को परस्परोत्पत्तिमात्र का निमित्तत्व होता हो, तो हो सकता है, परन्तु संघात नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि स्थिर भोक्ता का अभाव है, यह अभिप्राय है ॥ १९ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

उक्तमेतदविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न सङ्घातसिद्धिरस्तीति, तदपि तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न सम्भवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते । क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगमः उत्तरस्मिन्क्षण उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत-इति । न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते सम्पादयितुम्, निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वादुत्तरक्षणहेतुत्वानुपपत्तेः । अथ भावभूतः परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायस्तथापि नोपपद्यते, भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसम्बन्धप्रसङ्गात् । अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते, हेतुस्वभावानुपपत्तस्य फलस्योत्पत्त्यसम्भवात् । स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्यागप्रसङ्गः । विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः । अपि चोत्पादननिरोधौ नाम वस्तुतः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा सर्वथापि नोपपद्यते । यदि तावद्वस्तुनः स्वरूपमेवोत्पादननिरोधौ स्यातां ततो वस्तुशब्द उत्पादननिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः । अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येत, उत्पादननिरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुनः आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति, एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसम्बन्धित्वाद्वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः । अथात्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादननिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिपवत्, ततो वस्तु उत्पादननिरोधाभ्यामसंभृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः । यदि च दर्शनादर्शने वस्तुन उत्पादननिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव । तस्मादप्यसङ्गतं सौगतं मतम् ॥ २० ॥

प्रथम यह कहा गया है कि अविद्यादि की परस्पर उत्पत्तिमात्र का निमित्त होने से संघात की सिद्धि नहीं है । अब इस समय यह सिद्ध किया जाता है कि वह उत्पत्तिमात्र का निमित्तत्व भी असम्भव है । क्षणभङ्गवादियों का यह अभ्युपगम (सिद्धान्त) है कि उत्तर क्षण (क्षणिक पदार्थ) के उत्पद्यमान (उत्पत्ति) काल में पूर्वकालिक क्षणिक पदार्थ निरुद्ध (नष्ट) हो जाता है । इस प्रकार मानने वाले से पूर्वोत्तर-कालिक क्षणिक पदार्थों में हेतुफलभाव (कारणता कार्यता) नहीं सम्पादन (सिद्ध) किया जा सकता है । क्योंकि निरुध्यमान (नष्ट होता हुआ) वा निरुद्ध (विनष्ट)

पूर्वकाल के क्षणिक पदार्थ को अभाव से ग्रस्त होने से, उत्तर के क्षणिक कार्य के हेतुत्व की अनुपपत्ति है। यदि यह अमिप्राय हो कि भावभूत (सत्स्वरूप) परिनिष्पन्न (सिद्ध) अवस्था वाला पूर्व का क्षणिक पदार्थ उत्तर के क्षणिक का हेतु है, तो भी नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि भावभूत के फिर व्यापारान्तर की कल्पना करने पर क्षणान्तर के साथ सम्बन्ध का प्रसंग होगा। यदि यह अमिप्राय हो, कि पूर्वकालिक क्षणिक पदार्थ का भाव (उत्पत्ति) ही इसका व्यापार है, तो भी क्षणिक को कारणत्व नहीं उपपन्न होता है, क्योंकि हेतु के स्वभाव से अनुपपन्न फल (कार्य) की उत्पत्ति का असम्भव है, घटादि मृत्तिका स्वभाव से उपपन्न पुष्प ही देखे जाते हैं। यदि हेतु के स्वभाव का कार्य में उपराग (सम्बन्ध), मानो तो हेतु स्वभाव के फलकाल में अवस्थायित्व होने पर क्षणभंग अभ्युपगम के त्याग का प्रसंग होगा। अथवा कारण के स्वभाव के उपराग के बिना ही हेतुफलभाव को मानने वाले को सर्वत्र ही उस हेतुफलभाव की प्राप्ति से अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् स्वभाव के उपराग मानने पर तो जिस कार्य में जिसके स्वभाव का उपराग ही यह उसका हेतु है, यह नियम होता है। स्वभावोपराग के बिना यह नियम नहीं होगा। क्षणभगवाद में प्रसिद्ध उत्पत्ति और विनाश चाहे वस्तु के स्वरूप ही हों, या अवस्थान्तर हों या वस्त्वन्तर (भिन्न वस्तु) ही हों, परन्तु सर्वथा उपपन्न (सिद्ध) नहीं होते हैं। क्योंकि यदि वस्तु के स्वरूप ही उत्पत्ति विनाश हो, तो वस्तु वाचक शब्द और उत्पत्ति विनाश शब्द पर्याय (एकार्थक) प्राप्त होंगे। यदि मानें कि कुछ विशेष (भेद) है, अर्थ में एकता नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति विनाश शब्द से मध्यवर्ती वस्तु की आदि और अन्त नाम वाली दो अवस्थायें कही जाती हैं, तो ऐसा मानने पर भी आदि, अन्त और मध्यरूप तीन क्षण के सम्बन्धित्व से वस्तु में क्षणिकत्वाभ्युपगम की हानि होगी। यदि वस्तु से अत्यन्त भिन्न ही वस्तु के उत्पत्ति विनाश अथवा महिषादि के समान होंगे, तो उनसे वस्तु असृष्ट (असंग) सिद्ध होगा, उत्पत्ति विनाश से रहित वस्तु सिद्ध होगा, इससे वस्तु को नित्यत्व की प्राप्ति होगी। यदि वस्तु का दर्शन वस्तु की उत्पत्ति है और वस्तु का अदर्शन विनाश है, ऐसा मानो तो भी वे दर्शन और अदर्शन द्रष्टा के धर्म हैं, वस्तु के नहीं। इसमें वस्तु नित्यता का ही प्रसंग होगा, इससे भी सौगत मत (युद्धमत) असंगत है।

असति प्रतिज्ञोपरोधो योगपक्षमन्यथा ॥ २१ ॥

क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रन्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम्। अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, तत प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्, चतुर्विधान्हेतुप्रतीत्य चित्तचेता उत्पद्यन्ते इतीय प्रतिज्ञा हीयेत, निर्हेतुकाया चोत्पत्तावप्रतिबन्धात्सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत। अयोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्ततो योगपक्षे हेतुफलयो स्यात्, तथापि प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात्, क्षणिका सर्वे सस्कारा इतीय प्रतिज्ञोपपद्येत ॥ २१ ॥

क्षणभंगवाद में पूर्व के क्षणिक पदार्थ विनाश से ग्रस्त होने से उत्तर के क्षणिक का हेतु नहीं होता है यह कहा गया है । और यदि हेतु की असत्ता रहते ही फल की उत्पत्ति कहें, तो प्रतिज्ञा का त्याग बाध होगा, क्योंकि विषय, करण, सहकारी और संस्काररूप चार प्रकार के हेतु को प्रतीत्य (प्राप्त करके) चित्त और चैत (विज्ञान और सुख दुःख कामादि) उत्पन्न होते हैं, यह प्रतिज्ञा नष्ट हो जायगी, यहाँ शब्दादि विषय और इन्द्रियरूप विज्ञान के कारण प्रसिद्ध ही हैं, रूप के विज्ञान में आलोक सहकारी होता है, अव्यवहित पूर्व प्रत्यय को संस्कार कहते हैं, ये सब विज्ञान के हेतु हैं, विज्ञानादि द्वारा सुखादि के भी हेतु हैं, चित्तमय होने से सुखादि को चैत कहते हैं । निर्हेतुक उत्पत्ति मानने पर प्रतिबन्ध के अभाव से सब कार्य सर्वत्र उत्पन्न होगा । यदि कहें कि उत्तर क्षणिक कार्य की उत्पत्ति काल तक पूर्व का क्षणिक कार्य स्थिर रहता है, तो हेतुफल को योगपक्ष सह-वृत्तित्व होगा, तथापि प्रतिज्ञा का उपरोध नाश ही होगा, क्योंकि सब संस्कार (उत्पत्ति नाश वाले पदार्थ) क्षणिक हैं यह प्रतिज्ञा उपरुद्ध (वद्ध) हो जायगी ॥ २१ ॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं चेति । तदपि च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते । त्रयमपि चैतदवस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते । बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसंख्यानिरोधो नाम भाष्यते, तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति । तेषामाकाशं परस्तात्प्रत्याख्यास्यति, निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे । प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरप्राप्तिः असम्भव इत्यर्थः । कस्मात् ? अविच्छेदात् । एतौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ सन्तानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ वा ? न तावत्सन्तानगोचरौ सम्भवतः, सर्वेष्वपि सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात् । नापि भावगोचरौ सम्भवतः नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः सम्भवति, सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानवलेनान्वय्यविच्छेददर्शनात् । अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद् दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात् । तस्मात्परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

और भी वैनाशिक कल्पना करते हैं कि बुद्धि से बोध्य (सब प्रमेय पदार्थ) तीन तुच्छ से अन्य संस्कृत (उत्पाद्य-कार्य) स्वरूप हैं और क्षणिक हैं । और तीन तुच्छ भी प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाशरूप हैं, इस प्रकार वे कहते हैं । ये तीनों भी अवस्तु हैं, अभावमात्र हैं, निरुपाख्य (निःस्वरूप) हैं, ऐसा मानते हैं । बुद्धिपूर्वक भावों (पदार्थों) के विनाश का प्रतिसंख्यानिरोध नाम कहते हैं । अर्थात् में इस सत् वर्तमान वस्तु को असत् नष्ट कर दूँ, ऐसी भाव की विरोधी बुद्धि को प्रति-

संख्या कहते हैं और उस बुद्धि से होने वाले नाश को प्रतिसंख्याननिरोध कहते हैं, उससे विपरीत अबुद्धिपूर्वक नाश अप्रतिसंख्याननिरोध है। आवरण का अभावमात्र आकाश है, ऐसा मानते हैं। उनमें आकाश का प्रत्याख्यान आगे सूत्रकार करेंगे, दोनों निरोधों का अभी प्रत्याख्यान करते हैं कि प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या निरोध की अप्राप्ति है, अर्थात् असम्भव है यह अर्थ है। क्योंकि भाव का विच्छेद नाश नहीं हो सकता है। जिससे ये प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्यारूप निरोध सन्तान (प्रवाह) गोचर (विषयक) होंगे, वा भाव (सन्तानी) गोचर होंगे, वहाँ प्रथम सन्तान गोचर तो हो नहीं सकते हैं, क्योंकि सब सन्तानों में सत्तानियों के अविच्छिन्न हेतुफलभाव से सन्तान के विच्छेद का असम्भव है। भाव है कि हेतुफलभाव का प्रवाह सन्तान है, उसमें सन्तानों हेतुफल के नाश से ही सन्तान का नाश हो सकता है, परन्तु सन्तानी का नाश नहीं हो सकता है। क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही इस मत में सत्त्व है, जो सन्तानी किसी को उत्पन्न किये बिना नष्ट होगा, उसकी अस्तित्व प्राप्त होगी उससे अवश्य अन्य उत्पन्न करके ही सन्तानी नष्ट होता है, इससे सन्तान का विच्छेद नहीं हो सकता है और भाव गोचर भी दोनों निरोध नहीं हो सकते हैं, जिससे भावों का निरन्वय निरुपाख्य विनाश सम्भव नहीं है। अर्थात् मृत्तिका के नाश से मृत्तिका के सम्बन्ध से रहित घट की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि घटादि कार्य में मृत्तिकादि अन्वित भासते हैं, इससे कारण का निरन्वय नाश अत्यन्त अभाव नहीं होता है, जिससे मृत्तिका की पूर्ण, पिण्ड, घटादि सब अवस्थाओं में मृत्तिका की प्रत्यभिज्ञा बल से (यह मृत्तिकात्मक ही है, ऐसा अनुभव बल से) अनुभव के सामर्थ्य से कार्य में अन्वयी कारण का अविच्छेद देखा जाता है। जहाँ कहीं बीजाकुरादि अवस्थाओं में कारण की कार्य में स्पष्ट प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है कि बीज ही अवुरूप हुआ है इत्यादि, वहाँ वही देखे गये अन्वयी कारण के अविच्छेद से अनुमान द्वारा वह अविच्छेद समझा जाता है, अर्थात् मृत्तिका सुवर्णादि का कार्य में अन्वय देखने से अन्य अदृष्ट स्थान में भी अन्वय का अनुमान होता है। इससे अन्य से परिकल्पित दोनों निरोधों की अनुपपत्ति है ॥ २२ ॥

उभयया च दोषात् ॥ २३ ॥

योऽयमविद्यादिनिरोध प्रतिसंख्याननिरोधान्त पाती परपरिकल्पित, स सम्यग्ज्ञानाद्वा सपरिकरात्स्यात्स्वयमेव वा। पूर्वस्मिन्विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रमङ्ग। उत्तर्गस्मिन्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसङ्ग। एवमुभययापि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिद दर्शनम् ॥ २३ ॥

प्रतिसंख्याननिरोध के अन्तर्गत जो यह अविद्यादि का निरोध पर से परिकल्पित है, सो यमनियमादिरूप परिकर (परिवार-साधन समूह) सहित सम्यक् ज्ञान से होना है अथवा स्वयम् ही होता है। यदि प्रथम विकल्प (पक्ष) को मानें कि साधन

सामग्रीसहित ज्ञान से निरोध होता है, तो निहेंतुक विनाश के स्वीकार की हानि का प्रसङ्ग होगा और दूसरे पक्ष में अविद्यादि के नाश के लिए मार्ग साधनोपदेश की अनर्थकता का प्रसंग होगा । इस प्रकार दोनों प्रकार से दोष के प्रसंग (सम्बन्ध) से यह दर्शन अयुक्त है ॥ २३ ॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

यच्च तेषामेवाभिप्रेतं निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोध-
द्वयस्य निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निराकृतम्, आकाशस्येदानीं निराक्रियते । आकाशे
चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः, प्रतिसंख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोरिव वस्तु-
त्वप्रतिपत्तेरविशेषात् । आगमप्रामाण्यात्तावत् 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै०
२।१) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च वस्तुत्वप्रसिद्धिः । विप्रतिपन्नान्प्रति तु
शब्दगुणानुमेयत्वं वक्तव्यं, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात् ।
अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन्सुपणं पतत्यावरणस्य विद्य-
मानत्वात्सुपणान्तिरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः । यत्रावरणाभावस्तत्र पति-
ष्यतीति चेत्, येनावरणाभावो विशेष्यते तर्हि वस्तुभूतमेवाकाशं स्यात्,
नावरणाभावमात्रम् । अपि चावरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य
स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत । सौगते हि समये 'पृथिवी भगवन् किसन्निश्रया'
'इत्यस्मिन्प्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किसन्निश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य
प्रतिवचनं भवति 'वायुराकाशसन्निश्रयः' इति, तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जसं
स्यात् । तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम् । अपि च निरोधद्वयमाकाशं च
त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम् । न ह्यवस्तुनो नित्यत्व-
मनित्यत्वं वा सम्भवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य । धर्मधर्मिभावे हि
घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निरुपाख्यत्वम् ॥ २४ ॥

और जो उन वैनाशिकों का ही अभिप्रेत स्वीकृत है कि दो निरोध और आकाश
निरुपाख्य है, उनमें दोनों निरोधों के निरुपाख्यत्व का प्रथम निराकरण किया गया
है । आकाश के निरुपाख्यत्व का इस समय निराकरण किया जाता है कि आकाश में
भी निरुपाख्यत्व का स्वीकार अयुक्त है, क्योंकि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या-
निरोध में वस्तुत्व प्रतीति के समान आकाश में भी वस्तुत्व की प्रतीति की अविशेषता
(तुल्यता) है । प्रथम तो आगम की प्रमाणता से वस्तुत्व की प्रतीति है, क्योंकि
(आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि कहने वाली श्रुतियों से आकाश के वस्तुत्व
की प्रसिद्धि (ज्ञान) होती है । आगम की प्रमाणता में विप्रतिपन्नो (विरोधियों) के
प्रति तो शब्दरूप गुण से अनुमान के योग्य आकाश को कहना होगा, क्योंकि गन्धादि
गुणों को पृथिवी आदि वस्तु के आश्रितत्व देखा जाता है, वैसे ही शब्द जिसके आश्रित
है वह आकाश वस्तु है अवस्तु निरुपाख्य नहीं है । गुण होने से शब्द निराश्रय नहीं

है । श्रोत्रगाह्य होने में पृथिवी आदि का गुण शब्द नहीं है इत्यादि । और दूसरी बात है कि जो आवरण का अभावमात्र आकाश को मानते हैं, उनके मन में एक पक्षी के आकाश में उड़ने पर उससे आवरण की वर्तमानता से उड़ने की इच्छा वाले दूसरे पक्षी को अनवकाशता की प्राप्ति होगी । अर्थात् मूर्तद्रव्यशून्यता को निरावरण कहा जाता है, एक पक्षी के उड़ने पर मूर्तद्रव्यशून्यता के अभाव से मानो आकाश का ही अभाव हो गया दूसरे पक्षी को उड़ने के लिए अवकाश नहीं मिलेगा । यदि कहो कि जहाँ आवरण का अभाव है, वहाँ दूसरा पक्षी उड़ेगा, तो जिस देश विशेष का आवरण के अभाव के विशेषणरूप से कथन करते हो, वही वस्तुस्वरूप आकाश सिद्ध होगा कि जिसमें पक्षी के उड़ने पर भी आवरण का अभाव रहता है, आवरणमात्र का अधिकरण आवरणाभावमात्र नहीं हो सकता है । दूसरी बात है कि आकाश को आवरणमात्रमान मानने वाले सौगत को अपने अम्युपगम से भी विरोध प्राप्त होगा । जिससे सौगत मत में (हे भगवन् ! पृथिवी किस सम्यक् निश्चय आश्रय वाली है । इस प्रकार के प्रश्नोत्तर के प्रवाह में पृथिवी आदि के अन्त में (वायु किस सम्यक् आश्रय वाला है) इन प्रश्न का उत्तर है कि वायु आकाशरूप सम्यक् आश्रय वाला है । यह उत्तर आकाश में अवस्तुत्व होने पर समञ्जस (युक्त) नहीं हो सकता है, इससे भी आकाश को अवस्तुत्व अयुक्त है । दो निरोध तथा आकाश ये तीनों निष्पाख्य अवस्तु और नित्य हैं । यह कथन विरुद्ध है, जिससे अवस्तु को नित्यत्व वा अनित्यत्व का सम्भव नहीं है । क्योंकि धर्म-धर्मो व्यवहार को वस्तु का आश्रयत्व होता है । इससे धर्म-धर्मिमात्र के रहने पर घटादि के समान निरोध और आकाश को वस्तुत्व ही होगा, निष्पाख्यत्व नहीं होगा ॥ २४ ॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

अपि न वैनाशिक सर्वस्य वस्तुन क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात् । न च सा सम्भवति । अनुस्मृते । अनुभवमुपलब्धिमनूत्पद्यमान स्मरणमेवानुस्मृतिः सा चोपलब्ध्यैककर्तृका सती सम्भवति, पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात् । कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्नमति प्रत्यय स्यात् । अपि च दर्शनस्मरणयोर्कर्तव्यैकस्मिन्प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य प्रसिद्धोऽहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति । यदि हि तयोर्भिन्न कर्ता स्यात्ततोऽहं स्मराम्यद्राक्षीदन्य इति प्रतीयात्, नत्वेव प्रत्येति कश्चित् । यत्रैव प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारि सर्वलोकोऽवगच्छति, स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीदिति । इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिकोऽप्यात्मानमेवैक कर्तारमवगच्छति, न नाहमित्यात्मनो दर्शनं निर्वृत्ता निहनुते यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश इति वा । तत्रैव सत्येकस्य दर्शनस्मरणक्षणद्वयसद्वये क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपेक्षार्था वैना-

शिकस्य स्यात्, तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन्नेककर्तृ-
कामोत्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीरा जन्मन आत्मैककर्तृका प्रसिसंधानः
कथं क्षणभङ्गवादी वैयाशिको नापत्रपेत ।

और भी सब वस्तु की क्षणिकता को मानता हुआ वैयाशिक उपलब्धा (ज्ञाता)
की भी क्षणिकता को मानेगा । परन्तु वह ज्ञाता की क्षणिकता अनुस्मृति से सम्भव
(होने योग्य) नहीं है । जिससे प्रमाणजन्य अनुभवरूप उपलब्धि के बाद उत्पन्न होने
वाला स्मरण ही अनुस्मृति है, सो उपलब्धि के साथ एक कर्ता वाली होती हुई उत्पन्न
होती है । क्योंकि पुरुषान्तर की उपलब्धि के विषय में उससे अन्य पुरुष की स्मृति नहीं
देखी जाती है । क्षणिक आत्मवाद में पूर्वोत्तर द्रष्टा के एक नहीं रहने पर मैंने उसको
देखा था, और अब इसको देखता हूँ, यह ज्ञान कैसे हो सकेगा । अर्थात् भिन्नकालिक
दो ज्ञान का अनुसंधान क्षणिकवाद में नहीं हो सकेगा । दर्शन तथा स्मरण का
एक कर्ता में प्रत्यक्षरूप प्रत्यभिज्ञा ज्ञान सब लोक को प्रसिद्ध है कि मैंने उसको देखा था
और इसको देखता हूँ इत्यादि । इससे जो पूर्वकाल में देखा था वही पूर्व का स्मरणकर्ता
है, वर्तमान का दर्शनकर्ता है और स्मरण दर्शन का भी प्रत्यभिज्ञा ज्ञान वाला है । यदि
दर्शन और स्मरण का भिन्न कर्ता होता तो मैं स्मरणकर्ता हूँ, अन्य किसी ने देखा था,
ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु इस प्रकार कोई नहीं समझता है । जहाँ इस प्रकार
का ज्ञान होता है, वहाँ दर्शन और स्मरण के भिन्न कर्ता को ही सब लोग समझते हैं
कि मैं स्मरण करता हूँ कि इसने उसको देखा था । यहाँ तो मैंने उसको देखा था,
इस प्रकार वैयाशिक भी दर्शन और स्मरण का कर्ता एक आत्मा ही को समझता है ।
मैंने नहीं देखा था इस प्रकार अपने निर्वृत्त (सिद्ध) पूर्व दर्शन का अपलाप निषेध नहीं
करता है । जैसे कि अग्नि उष्ण है वा प्रकाशरहित है, ऐसा अपलाप नहीं करता है ।
इस प्रकार द्रष्टा स्मरणकर्ता के एक होने पर एक आत्मा का दर्शन स्मरण लक्षण वाले
दो क्षण के साथ सम्बन्ध होने पर वैयाशिक के क्षणिकत्वाम्युपगम की हानि अपरिहार्य
होगी । इसी प्रकार वर्तमानकाल से अन्तिम श्वास मरणपर्यन्त एककर्तृक अनन्तर-
अनन्तर वर्तमान अपनी प्रतिपत्ति (ज्ञान) को प्रत्यभिज्ञापूर्वक जानता हुआ तथा जन्म
से लेकर वर्तमान काल तक आत्मा ही एक जिनका कर्ता है, ऐसी अतीत प्रति-
पत्तियों का प्रतिसंधान स्मरणादि करता हुआ क्षणभंगवादी वैयाशिक लज्जित कैसे
नहीं होगा ।

स यदि ब्रूयात्-सादृश्यादेतत्संपत्स्यत इति । तं प्रतिब्रूयात्, तेनेदं सदृशमिति
द्वयायत्तत्वात्सादृश्यस्य क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याभावात्
सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात्, स्याच्चेत्पूर्वोत्त-
रयोः क्षणयोः सादृश्यस्य ग्रहीतैकः तथासत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात्क्ष-
णिकत्वप्रतिज्ञा पीड्येत । तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तरक्षणद्वय-

ग्रहणनिमित्तमिति चेत् । न । तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात् । प्रत्ययान्तरमेव मेव चेत्सादृश्यविषय स्यात्तेनेद सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात्, सादृश्यमित्येव प्रयोग प्राप्नुयात् । यदा हि लोकप्रसिद्ध पदार्थं परीक्षकैर्न परिगृह्यते तदा स्वपक्षसिद्धि परपक्षदोषो बोध्यमप्युच्यमान परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसन्तानमारोहति । एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चित यत्तदेव वक्तव्यम्, ततोऽन्यदुच्यमान बहुलापित्वमात्मन केवल प्रख्यापयेत् । न चाय सादृश्यात्स्वव्यवहारो युक्तः, तद्भावावगमात्तत्सदृशभावानवगमाच्च । भवेदपि कदाचिद्वाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसंभवात्तदेवेद स्यात्तत्सदृश वेति सन्देहः, उपलब्धिर तु सन्देहोऽपि न कदाचिद्भवति-स एवाह स्या तत्सदृशो वा-इति । य एवाह पूर्वोद्गुद्राक्ष स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चितात्तद्भावोपलम्भात् । तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमय ॥ २५ ॥

यदि वह कहे कि सदृशता से यह आत्मा मे प्रत्यभिज्ञान होता है, जैसे दीप, दीप-शिखा आदि मे होता है, तो उसके प्रति कहना चाहिये कि, उसके सदृश वह है, इस प्रकार सादृश्य दो के अधीन होता है । क्षणभगवादी को दो सदृश वस्तु के एक ग्राहक (ज्ञाता) के अभाव से सादृश्यनिमित्तक प्रतिषेधान है । यह मिय्या 'प्रलाप ही होगा और यदि पूर्वोत्तरक्षण वृत्ति वस्तु को सदृशता का ग्रहीता अनुसंधान करने वाला एक होगा तो ऐसा होने पर एक को दो क्षण मे स्थिति से क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा पीटित नष्ट होगी' । यदि कहो कि उसके सदृश यह है, ऐसा ज्ञान भी पूर्वोत्तर दो क्षण दो वस्तु को ग्रहण निमित्तक नहीं है कि जिससे स्थिरता को प्राप्ति हो, 'किन्तु सदृश ज्ञान से ज्ञानान्तर ही यह ज्ञान अपने आकार को ही बाहर के सदृश ग्रहण करता हुआ क्षणान्तर का असम्बन्धी विकल्परूप है । वहाँ कहा जाता है कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उसके साथ यह सदृश है इस ज्ञान मे ज्ञान का स्वरूपमात्र नहीं मासता है (उस-यह-सदृश) इन पदार्थों का इस ज्ञान मे विषयरूप से ग्रहण होता है । तत्ता, इदन्ता, सदृशता तीनों मासते हैं । यदि प्रत्ययान्तर ही सादृश्य विषयक हो, और वस्तु को सदृशता को वह नहीं ग्रहण करता हो, स्वरूप का ग्रहण करता हो, तो उसके सदृश यह ऐसा वाक्य का प्रयोग अनर्थक होगा, सादृश्य है, इतना ही प्रयोग प्राप्त होगा । अब लोक प्रसिद्ध सादृश्यादि पदार्थ परीक्षकों से नहीं गृहीत (स्वीकृत) होगा, अर्थात् स्थिरात्मता के मय से यदि (तेन इद सदृशम्) उसमे यह सदृश है । इस ज्ञान से प्रकाशित तीन पदार्थों को नहीं मानेंगे, किन्तु क्षणिक विज्ञानमात्र ही को मानेंगे, तो परस्पर की वार्ता के अनभिज्ञ उन क्षणिकपरीक्षकों के बुद्धि सन्तान (प्रवाह) में स्वपक्ष सिद्धि वा परपक्ष दोष दोनों बहे गये भी आरुह (निश्चित) नहीं होंगे । इसी प्रकार अपना दोष और परपक्ष की सिद्धि दोनों कहने पर भी अपने बुद्धि सन्तान में यथार्थरूप से नहीं आरुह होंगे । अर्थात् प्रसिद्ध पदार्थ को माने जिता दृष्टान्तादि के

अभाव से कथित भी स्वपक्ष सिद्धि परपक्ष दोष परीक्षकों के या अपने बुद्धि संतान मे यथार्थरूप से नहीं निश्चित होंगे । इसलिए प्रमाण से जो निश्चित हो कि यह अर्थ ऐसा है, उस प्रमाण से निश्चित को ही कहना चाहिए । उस प्रमाण निश्चित से अन्य कुछ भी कथित वस्तु केवल अपने प्रलापित्व (अनर्थक भाषित्व) को ही प्रख्यात कराता है । और आत्मा में जो यह प्रत्यभिज्ञारूप सोऽहम्, इत्यादि सम्यक् व्यवहार (शब्द प्रयोग) है, सो सादृश्य से होना युक्त नहीं है, क्योंकि मैं वह हूँ, इस प्रकार तद्भाव, भूत, वर्तमान काल में ऐक्यभाव का ज्ञान होता है, और उसके सदृश हूँ इस प्रकार सदृशता का ज्ञान नहीं होता है । बाह्य वस्तु में विप्रलम्भ (विसंवाद) के सम्भव से कभी संदेह हो सकता है कि वही यह है वा उसके सदृश अन्य है, उपलब्धा ज्ञाता में तो कभी संदेह भी नहीं होता है कि मैं वही हूँ वा उसके सदृश हूँ । क्योंकि जो मैंने पूर्वकाल में पूर्वदिने में देखा था वही मैं आज स्मरण करता हूँ इस प्रकार निश्चित तद्रूपता एकता की उपलब्धि होती है । अतः वैनाशिक का सिद्धान्त अनुपपन्न है ॥ २५ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायि कारणमनभ्युपगच्छतामभावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते । दर्शयन्ति चाभावाद्भावोत्पत्तिम्—‘नानुपमद्य प्रादुर्भावात्’ इति । विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते, तथा विनष्टात्क्षीराद्धि, मृत्पिण्डाच्च घटः । कूटस्थाच्चेत्कारणात्कार्यमुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत । तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते । तत्रेदमुच्यते—‘नासतोऽदृष्टत्वात्’ इति । नाभावाद्भाव उत्पद्यते, यद्यभावादभाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात्कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात् । नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेव दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान्स्यात् । निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्, न चैवं दृश्यते । यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतात्तत्पलादीनामिव नीलत्वादित्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत्प्रसज्येत, नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्यात्, अभावत्वादेव शशविषाणादिवत् । अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात्, न चैवं दृश्यते । सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात् । न च मृदन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते । मृद्विकारानेव तु मृद्वन्वितान्भावांल्लोकः प्रत्येति ।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी वैनाशिक सिद्धान्त अनुपपन्न है कि जिससे स्थिर अनुयायी (कार्यान्वयी) कारण को नहीं मानने वालों के मत में अभाव से भाव की उत्पत्ति

होती है, यह प्रसंग प्राप्त होता है। वे लोग स्वयं अभाव से भाव की उत्पत्ति दशति हैं कि कारण का उपमर्द नाश हुए बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है इससे विनष्ट बीज से ही अकुर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विनष्ट दूध से दधि होता है और विनष्ट मृत्पिण्ड से घट होता है। यदि कूटस्थ (नाशरहित) कारण से कार्य उत्पन्न हो, तो अविशेषता से सब से सब उत्पन्न होने लगेगा। अर्थात् नित्य कार्योत्पादन में विशेषता बिना समर्थ होने से एक कारण सब कार्य को उत्पन्न कर देगा और विनष्ट से उत्पन्न होने पर तो कारण को विनष्ट करता हुआ ही एक कार्य उत्पन्न होता है इससे अन्य कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। यदि कारण को स्थिर मानें और सहकारी के अधीन क्रम से कार्यों की उत्पत्ति मानें तो सहकारी को सहकारी की अपेक्षा होने पर अनवस्था की प्राप्ति होगी इत्यादि। उससे अभाव (ध्वस) से प्रसूत (विनष्ट) बीजादि से अकुरादि की उत्पत्ति होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार वैनाशिक मानते हैं। वहाँ यह कहा जाता है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि अभावमात्र से उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। अर्थात् अभाव से भाव नहीं उत्पन्न होता है और यदि अभाव से भाव उत्पन्न हो तो अभावत्व के अविशेष (सामान्य) होने से बीज के अभाव को सर्वत्र तुल्य रहने से सर्वत्र अकुर की उत्पत्ति होगी फिर अकुर के लिए कारणविशेष का स्वीकार सप्रह अनर्थक होगा। क्योंकि नष्ट हो गये जो बीजादि उनका जो अभाव, उस अभाव को और शशशृङ्गादि को नि स्वभावत्व (स्वरूप रहितत्व) के तुल्य होने से अभाव में कोई विशेष (भेद) नहीं है, कि जिससे बीज से ही अकुर उत्पन्न होता है और क्षीर से ही दधि होता है, इस प्रकार के कारणविशेष का स्वीकार सार्थक हो। निर्विशेष अभाव को कारणत्व (कारण स्वरूप) मानने पर शशशृङ्गादि से भी कार्य उत्पन्न होंगे, ऐसा देखा नहीं जाता है, जैसे कमल के नीलत्व, रक्तत्वादि विशेष (भेद) होते हैं, वैसे ही अभाव का भी विशेष मानो, तो विशेष वाला होने ही से अभाव को भी कमल आदि के समान भावत्व की प्राप्ति होगी। विशेषरहित अभाव, अभावत्व से ही शशशृङ्गादि के समान किसी की उत्पत्ति का हेतु नहीं हो सकता है। अभाव से यदि भाव की उत्पत्ति होती, तो सब कार्य अभाव से अन्वित (युक्त) ही होता, ऐसा देखा नहीं जाता है। सब वस्तु अपने-अपने भाव स्वरूप से ही उपलब्ध होते हैं और भावरूप से उपलब्ध होने से भावा-न्वित कार्य अभाव का विकार (कार्य) नहीं हो सकते। क्योंकि मृत्तिका से अन्वित घट, चराव आदि भावरूप पदार्थ, भावरूप तन्तु आदि के विकार हैं, ऐसे भी किसी से नहीं माने जाते हैं, फिर अभाव के विकार वैसे माने जा सकते हैं। मृत्तिका से अन्वित भावों को मृत्तिका के कार्य ही लोग समझते हैं, अभावादि के नहीं।

यत्तूक्त-स्थरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित्कूटस्थस्य वस्तुन कारणत्वानुपपत्ते-
रभावाद्भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हति-इति। तद् दुरुक्तम्, स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णा-

दीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादिकार्यकारणभावदर्शनात्, येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमदो लक्ष्यते तेष्वपि नाऽऽवुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारण-मभ्युपगम्यते, अनुपमृद्यमानानामेवानुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारण-भावाभ्युपगमात्, तस्मादसद्भ्यः शशविपाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात् सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद् भावोत्पत्त्यभ्युपगमः । अपि च चतुर्भिश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते, परमाणुभ्यश्च भूतभीतिकलक्षणः समुदाय उत्पद्यत इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद्भावोत्पत्तिं कल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नुवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते ॥ २६ ॥

जो यह कहा है कि स्वरूप नाश के बिना किसी कूटस्थ वस्तु को कारणत्व की अनुपपत्ति से अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होने योग्य है, यह कथन अयुक्त है । क्योंकि स्थिर स्वभाव वाले प्रत्यभिज्ञायमान (वही है ऐसी प्रतीति का विषय) सुवर्णादि को ही रुचकादि कार्यों का कारण रूप देखा जाता है, और सहकारी अग्नि आदि की समीपता के अनुसार क्रम से कार्य के हेतु प्रत्यक्ष दीखते हैं, इससे अनवस्था आदि दोष नहीं हैं । और जिन बीज आदिकों में स्वरूप का नाश दीखता है, उनमें भी चित्पट होती हुई वह पूर्वावस्था (बीजरूपता) उत्तरावस्था (अंकुररूपता) का कारण नहीं मानी जाती है । किन्तु बिनाशरहित कार्य में अनुगत होने वाले बीज आदि के अवयवों को ही अंकुरादि के कारण स्वरूप माना जाता है । जिससे असत् शशशृंग आदि से सत् की उत्पत्ति को नहीं देखने से तथा सत् सुवर्णादि से सत् की उत्पत्ति देखने से, यह अभाव से भाव की उत्पत्ति का अभ्युपगम (स्वीकार) अनुपपन्न (अयुक्त) है । और चार हेतुओं से चित्त और चैत उत्पन्न होते हैं और परमाणुओं से भूत भीतिक स्वरूप समुदाय उत्पन्न होता है, इस प्रकार मानकर फिर अभाव से भाव की उत्पत्ति की कल्पना करने वाले और स्वीकृत का अपलाप करने वाले वैनाशिकों से सब लोक व्याकुल किया जाता है ।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

यदि चाभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवं सत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्यात्, अभावस्य सुलभत्वात् । कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रय-तमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्, कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्य-मत्रोत्पत्तिः, तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः । स्वर्गा-पवर्गयोश्च न कश्चित्कर्तृचित्समीहेत । न चैतद्युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित् । तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः ॥ २७ ॥

और यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति स्वीकार करें, तो ऐसा होने पर उदासीन चेष्टारहित जनों के भी अभिमत (इष्ट) कार्यों की सिद्धि होगी । क्योंकि अभाव रूप साधन सबको सर्वत्र सुलभ है । खेती कर्म वाले कृषक (किसान) को खेती कर्म में यत्न नहीं करने पर भी सस्य (फल-अन्न) की सिद्धि होगी । और मृत्तिका के संस्कार में यत्नरहित कुम्हार को भी अमत्र (घटादि रूप पात्र) की उत्पत्ति होगी । और जुलाहे

को भी तन्तुओं के ताना भरना नहीं करने पर भी ताना भरना करने वाले के समान वस्त्र का लाम होगा । और स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए कोई किसी प्रकार चेष्टा नहीं करेगा । अभाव से ही स्वर्गादि की प्राप्ति समझेंगे । परन्तु यह युक्त उचित नहीं हो सकता है, या ऐसा किसी से स्वीकार भी नहीं किया जाता है । अतः यह अभाव से भाव की उत्पत्ति का अभ्युपगम अनुपपन्न है ॥ २७ ॥

अभावाधिकरण (५)

विज्ञानस्कन्धमात्रत्वं युज्यते वा न युज्यते ।

युज्यते स्वप्नदृष्टान्ताद्बुद्ध्यावव्यवहारतः ॥ १ ॥

अबाधात्स्वप्नवैषम्यं बाह्यार्थस्तूपलभ्यते ।

बहिर्बुद्धिर्दिति तेष्युक्तिर्नाति धीरर्थरूपभाक् ॥ २ ॥

योगाचार नामक बुद्धमत में बुद्धि से भिन्न बाह्य अर्थ का अभाव कहते हैं परन्तु बाह्य अर्थ का अभाव नहीं है, यह बाह्य अर्थ की उपलब्धि से सिद्ध होता है ॥ प्रथम पक्ष स्कन्ध का वर्णन हुआ है, तदन्तरगत विज्ञान स्कन्धमात्रता ही सब बाह्याभ्यन्तर प्रपञ्च की युक्त हो सकती है अथवा नहीं हो सकती है, यह सशय है । पूर्वपक्ष है वि स्वप्न के दृष्टान्त से बुद्धिमात्रता ही सब को युक्त हो सकती है, और स्वप्न के व्यवहार सदृश ही बुद्धि से ही जाग्रत् के सब व्यवहार होने के कारण व्यवहार का भी लोप नहीं होता है । स्वप्न के व्यवहार का बाध होता है जाग्रत् के व्यवहार का बाध नहीं होता है, इससे जाग्रत् को स्वप्न से विपरीतता है, और बुद्धि से भिन्न बाह्य अर्थ उपलब्ध होते हैं, इससे इनका अभाव नहीं है, तुम भी कहते हो, कि बुद्धि बाह्य के सदृश भासती है, इससे उपमान रूप से तुम्हारी उक्ति में भी बाह्य के अर्थ भासते हैं इससे असत् पदार्थ उपमान उपमेयादि भी नहीं हो सकते हैं । इससे बुद्धि अर्थरूपता को धारण करने वाली नहीं है ॥ वेदान्त में मायाशक्ति सहित अखण्ड ब्रह्म बाह्याभ्यन्तर जगत् का कारण है, और जगत् कारण रूप से सत् और स्वरूप से असत् है, तो भी व्यवहार में बाह्य अर्थ उपलब्धि के अनुसार बाह्य है स्थिर है, स्वप्न के अर्थ इससे विपरीत हैं, और योगाचार का मत इस वेदान्त सिद्धान्त से विपरीत है ॥ १-२ ॥

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेपूज्यावितेषु विज्ञानवादो बौद्ध इदानीं प्रत्यक्षतिष्ठते । केपाचित्किल विनेयानां बाह्यं वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता, नासी सुगताभिप्रायः, तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाभिप्रेतः । तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्याखण्डेन रूपेणान्तं स्थ एव प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारं सर्वं उपपद्यते । सत्यपि बाह्योऽर्थो बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात् । कथं पुनरवगम्यतेऽन्तःस्थ एवायं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति, तदसम्भवादि-त्याह । स हि बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युस्तत्समूहा वा स्तम्भा-

दयः स्युः । तत्र न तावत्परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति परमाण्वाभासज्ञानानुपपत्तेः । नापि तत्समूहाः स्तम्भादयः, तेषां परमाणुभ्यो-
 ज्यत्वानन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात् । एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत ।
 अपि चानुभवमात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य जायमानस्य योऽयं प्रतिविषयं
 पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं घटज्ञानं पटज्ञानमिति, नासौ ज्ञानगतविशेष-
 मन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसारूप्यं ज्ञानस्याङ्गीकर्तव्यम् । अङ्गीकृते च
 तस्मिन्विषयाकारस्य ज्ञानेनैवावसृष्टत्वादपार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना । अपि
 च सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोरापतति, न ह्यनयोरेकस्यानुपलम्भे-
 ज्यस्योपलम्भोऽस्ति, नचैतत्स्वभावविवेके युक्तं प्रतिबन्धकारणाभावात्,
 तस्मादप्यर्थाभावः । स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम् । यथाहि स्वप्नमायामरीच्युदक-
 गन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति, एवं जाग-
 रितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते, प्रत्ययत्वाविशेषात् ।
 कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते, वासनार्थवैचित्र्यादित्याह । अनादौ
 हि संसारे बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन
 वैचित्र्यं न विप्रतिपिध्यते । अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव
 ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते, स्वप्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचि-
 त्र्यस्योभाभ्यामप्यावाभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात् अन्तरेण तु वासनामर्थनिमित्तस्य
 ज्ञानवैचित्र्यस्य मयानभ्युपगम्यमानत्वात्, तस्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति ।

इस पूर्व रीति से बाह्य अर्थवाद का आश्रयण करके समुदाय को अप्राप्ति आदि
 रूप दोषों को उद्भावित (प्रकटित) करने पर, विज्ञानवादी बौद्ध अब इस समय प्रति-
 वादी रूप से उपस्थित होता है कि कितने शिष्यों का बाह्य वस्तु में ही अग्निनिवेश
 (आग्रह) देख कर उसके अनुरोध (अनुवर्तन) से उनकी इष्ट सिद्धि के लिए यह
 बाह्यार्थवाद की प्रक्रिया विरचित हुई है । वस्तुतः यह सुगत (बुद्ध) का अग्निप्राय नहीं
 है, उस सुगत को तो विज्ञान रूप एक स्कन्धवाद ही अग्निप्रेत है । और उस विज्ञानवाद
 में बाह्यार्थ के बिना ही बुद्धि में आरूढ़ (स्थिर) रूप से अन्तर में स्थिर ही प्रमाण
 प्रमेय और फल इन सबका व्यवहार उपपन्न सिद्ध होता है । अर्थात् विज्ञान ही अवमा-
 सन शक्ति रूप से प्रमाण होता है, कल्पित वस्तु रूप से प्रमेय होता है, अवभास रूप से
 प्रमाण का फल होता है, शक्ति का आश्रय रूप से प्रमाता होता है इससे सब व्यवहार
 सिद्ध होता है । क्योंकि बाह्य अर्थ के रहने पर भी उन्हें बुद्धि में आरूढ़ (प्राप्त स्थिर)
 हुए बिना प्रमाणादि का व्यवहार नहीं होता है । अर्थात् बुद्धि में आरूढ़ ही बाह्यार्थ
 प्रमेय होता है, तब उसके अधीन प्रमाणादि का व्यवहार होता है । अन्यथा व्यवहार
 का अवतार (जन्म) नहीं होता है । यदि कोई कहे कि यह कैसे समझा जाता है कि
 अन्तरस्थ ही यह सब व्यवहार है, और विज्ञान से भिन्न बाह्य अर्थ नहीं है, तो कहते हैं
 कि बाह्य अर्थ को असम्भव से समझा जाता है । जिससे माना गया हुआ वह बाह्य

अर्थ परमाणु स्वरूप ही होगा, अथवा परमाणुओं के समूह स्तम्भादि स्वरूप होगा । उनमें प्रथम परमाणु स्तम्भादि ज्ञान के परिच्छेद्य (विषय) होने योग्य नहीं है, क्योंकि परमाणु का आभास हो जिसमें ऐसा परमाणु के आकार वाले ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, परमाणु अतीन्द्रिय हैं, इससे परमाणु रूप से स्तम्भादि का इन्द्रियजन्य ज्ञान अनुपपन्न है । परमाणुओं के समूहरूप भी स्तम्भादि नहीं हैं, क्योंकि परमाणु से मिल रूप से वा अभिन्न रूप से उन समूहों का निरूपण करना अशक्य है, क्योंकि परमाणु से अभिन्न होने तो परमाणुरूप ही होगा, इससे प्रत्यक्ष नहीं हो सकेंगे, और कथञ्चित् प्रतीति भी होगी तो उसे परमाणु आकारवाली होनी चाहिए । और परमाणु से अत्यन्त भिन्न होने पर गो अश्व के समान परमाणु और उसके समूह में अत्यन्त विलक्षणता होने से तादात्म्य नहीं होगा । और इसी प्रकार विज्ञानवादी जाति आदि का भी प्रत्याख्यान करेगा कि जाति आदि का धर्मी से अत्यन्त अभेद वा अत्यन्त भेद मानने पर धर्म धर्मी भाव नहीं हो सकता है । इससे जाति आदि नहीं हैं । और पदार्थ का अनुभव-मात्र रूप से साधारण स्वरूप वाले जायमान (उत्पन्न) ज्ञान का जो यह प्रत्येक विषय में, स्तम्भज्ञान, कुडघज्ञान, घटज्ञान, पटज्ञान, इस प्रकार का पक्षपात (विषययुक्त व्यवहार) होता है, वह ज्ञानगत विशेष के बिना उपपन्न नहीं हो सकता है । इससे ज्ञान की विषयस्वरूपता को अवश्य धर्मीकार (स्वीकार) करना होगा, और उस ज्ञान में विषयाकार को अङ्गीकार करने पर, विषयाकार ज्ञान से ही विषय के अवच्छाद्य आच्छादित होने से बाह्यार्थ के सद्भाव (सत्ता) की कल्पना निरर्थक है । और साथ ही ज्ञान के नियम से भी क्षणिक विषय और विज्ञान को अभेद, प्राप्त, सिद्ध होता है, जिससे इन दोनों में से एक का अनुपलम्भ (अज्ञान) रहते अन्य का उपलम्भ नहीं होता है । और विषय और विज्ञान के स्वभाव (स्वरूप) का भेद रहते ऐसा होना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्ध कारण का अभाव है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषय और विज्ञान की प्रतीति में प्रतिबन्धक के नहीं रहते भी साथ उपलब्धि के नियम से भी बाह्य अर्थ का अभाव है । और इस जाग्रत् कालिक विज्ञान को स्वप्न आदि ज्ञान के समान बाह्य विषयादि से रहित समझना चाहिये कि जैसे स्वप्न, माया, मरोचिजल, गधर्वनगर, आदि के ज्ञान बाह्य अर्थ के बिना ही ग्राह्यग्राहक (विषय ज्ञान) आकार वाले होते हैं, इसी प्रकार ज्ञानरव की तुल्यता से जाग्रत्कालिक भी स्तम्भादि के ज्ञान बाह्यार्थ के बिना ही होने के योग्य हैं ऐसा समझा जाता है । यदि कोई कहे कि बाह्यार्थ के नहीं रहने पर ज्ञान की विचित्रता वैसे सिद्ध होती है, तो विज्ञानवादी कहता है कि वासना की विचित्रता से ज्ञान में विचित्रता होती है । जिससे अनादि ससार में बीज और अकुर के समान विज्ञानों और वासनाओं का परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर विचित्रता प्रतिपिद्ध नहीं होती है । और दूसरी बात यह है कि वासना निमित्तक ही ज्ञान की विचित्रता अन्य व्यतिरेक द्वारा भी अवगत (अनुभूत)

होती है। क्योंकि स्वप्नादि में अर्थ के बिना भी वासना निमित्तक ज्ञान की विचित्रता को वादी प्रतिवादी दोनों मानते हैं, इससे वह दोनों से स्वीकृत है। और वासना के बिना अर्थनिमित्तक ज्ञान की विचित्रता को मैं नहीं मानता हूँ, इससे वह हम से अस्वीकृत है, इससे भी बाह्य अर्थ का अभाव है ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—‘नाभाव उपलब्धेः’ इति। न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याव्यवसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति, न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद्ब्रूज्ज्ञानो भुजिसाध्यायां तृप्ती स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन्कथमुपादेयवचनः स्यात्। ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति, किं तूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि। वादमेवं ब्रवीषि निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य, न तु युक्त्युपेतं ब्रवीषि, यत् उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि वलादर्थस्याभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव। नहि कश्चिदुपलब्धमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते, उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन्सर्वे लौकिका उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्वहिर्वदवभासत इति। तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति, इतरथा हि कस्माद्वहिर्वदिति ब्रूयुः। नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत। तस्माद्यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्बहिर्वहरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तु न तु बहिर्वदवभासत इति।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (नाभाव उपलब्धेः) इति। बाह्य अर्थ के अभाव का अव्यवसाय निश्चय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि बाह्यार्थ की उपलब्धि से बाह्यार्थ सिद्ध होता है, जिससे प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, कुड्य, घट, पट इत्यादि बाह्यार्थ उपलब्ध ज्ञात होता है, और उपलभ्यमान का ही अभाव होने योग्य नहीं है। और जैसे कोई भोजन करता हुआ और भोजन से साध्य (जन्य) तृप्ति को स्वयं अनुभव करता हुआ अर्थात् अनुभूत तृप्ति के वर्तमान रहते भी इस प्रकार कहे कि मैं भोजन नहीं करता हूँ, वा तृप्ति नहीं होता हूँ। इसी प्रकार इन्द्रियों के सम्बन्ध द्वारा बाह्यार्थ की स्वयं जानता अनुभव करता हुआ ही मैं बाह्य अर्थ को नहीं जानता हूँ, और वह बाह्य अर्थ नहीं है, इस प्रकार कहता हुआ वह किस प्रकार से उपादेय (ग्राह्य) वचन वाला होगा। और यदि वह कहे कि मैं इस प्रकार नहीं कहता हूँ कि मैं किसी अर्थ को नहीं जानता हूँ; किन्तु यह कहता हूँ कि ज्ञान से भिन्न अर्थ को नहीं जानता हूँ। तो उससे कहा जाता है कि तुम इस प्रकार सत्य कहते हो, क्योंकि तेरा तुण्ड (मुख)

निरकुच (स्वतन्त्र) है, परन्तु युक्तियुक्त नहीं कहते हो, जिससे उपलब्धि से ही अर्थ का उपलब्धि से व्यतिरेक (भेद) भी बलात् (अवश्य) अवगम करने योग्य है, समझने लायक है। क्योंकि कोई भी ज्ञान को ही स्तम्भ कुडघ नही समझता है, किन्तु सब लौकिक पुरुष ज्ञान के विषय रूप से ही स्तम्भ कुडघादि को जानते हैं। और इस वक्ष्यमाण हेतु से भी इसी प्रकार ज्ञान के विषय रूप से ही बाह्य अर्थ को सब लौकिक पुरुष जानते हैं कि जिससे बाह्य अर्थ का प्रत्याख्यान (निषेध) करने वाले भी बाह्य अर्थ का ही व्याख्यान करते हैं कि जो अन्तर में ज्ञेय रूप वस्तु विज्ञान है, सो बाह्य घटपटादि के समान भासता है इत्यादि। वे प्रत्याख्यान करने वाले भी सर्वलोक प्रसिद्ध बाह्य प्रकाशमान सविद (उपलब्धि) को जानते हुए और उसके प्रत्याख्यान के लिए इच्छा भी करते हुए बाह्य अर्थ को बहिर्वत् इस प्रकार कहते हुए वक्तार करते हैं, निषेध के लिए बाह्याय विज्ञान को बाह्य सदृश कहते हैं। अन्यथा यदि सर्व लोक प्रसिद्ध बाह्य बुद्धि का अनुभव उन्हें नहीं होता, तो बहिर्वत् इस प्रकाश किस हेतु से कहते। क्योंकि विष्णुमित्र वक्ष्यापुत्र के समान भासता है, ऐसा कोई नहीं कहता है, इसलिए अनुभव के अनुसार सत्त्व (पदार्थ) को मानने वालों को बाह्य ही पदार्थ भासता है ऐसा मानना स्वीकार करना युक्त है, बाह्य के समान भासता है, ऐसा मानना युक्त नहीं है।

ननु बाह्यस्यार्थस्यासम्भवाद्वहिर्व-वभासत इत्यध्यवसितम्। नाय साधु-
रध्यवसायो यत प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वको सम्भासम्भाववधायते न पुन सम्भ-
वासम्भवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तौ। यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनापि प्रमाणे-
नोपलभ्यते तत्सम्भवति, यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न सम्भवति।
इह तु यथास्व सर्वेरेव प्रमाणेर्वाह्योर्ज्यं उपलभ्यमानं, कथं व्यतिरेकाव्यतिरे-
कादिविकल्पेन सम्भवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव। न च ज्ञानस्य विषयमात्स्याद्विषय-
नाशो भवति, असति विषये विषयमात्स्यानुपपत्तेः, बहिर्ऋषलब्धेश्च विषयस्य।
अत एव महोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोर्पायोपेयभावहेतुक इत्यभ्युप-
गन्तव्यम्। अपि च घटज्ञान पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न
विशेष्यस्य ज्ञानस्य, यथा शुक्लो गो कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकाष्ण्योरेव भेदो न
गोत्वस्य, द्वाभ्यां च भेद एकस्य मिद्धो भवत्येकस्माच्च द्वयोः, तस्मादर्थज्ञानयो-
र्भेदः। तथा घटदर्शनं घटम्भरणमित्यत्रापि प्रतिपत्तव्यम्, अत्रापि हि विशेष्य-
योरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य। यथा क्षीरगन्धः क्षीरस्य
इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य तद्वत्। अपि च
द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वा-
नुपपत्तिः, ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्य-
लक्षणवाम्यवासकत्वाविद्योपप्लवसदमदम्बन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्रगता-
स्ता हीयेरन्। किञ्चान्यत्, विज्ञान विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योर्ज्यं स्तम्भ
कुडघमित्येवजातीयकं कस्मान्नाभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम्। विज्ञानमनुभूयत

इति चेत् । बाह्योऽप्यर्थोऽनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम् । अथ विज्ञानं प्रकाशा-
त्मकत्वात्प्रदीपवत्स्वयमेवानुभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेत् । अत्यन्तविरुद्धां
स्वात्मनि क्रियामभ्युपगच्छस्यग्निरात्मानं दहतीतिवत्, अविरुद्धं तु लोकप्रसिद्धं
स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महद्-
शितम् । न चार्थाव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते, स्वात्मनि क्रिया-
विरोधादेव ।

यदि कहो कि बाह्य अर्थ का असम्भव से, बाहर के समान विज्ञान भासता है यह निश्चय किया गया है । तो कहा जाता है कि यह अव्यवसाय साधु (चारु-सुन्दर) नहीं है, जिससे प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पूर्वक प्रमाणाधीन पदार्थ के सम्भव (सत्यत्व) और असम्भव (असत्यत्व) अवधारित (निश्चित) किये जाते हैं । पदार्थ के सम्भव असम्भव पूर्वक प्रमाण की प्रवृत्ति अप्रवृत्ति अवधारित नहीं होती है । प्रत्यक्षादि प्रमाणों में किसी एक प्रमाण से भी जो उपलब्ध (ज्ञात) होता है वह सत्य है जो किसी प्रमाण से भी नहीं उपलब्ध होता है उसका सम्भव (सत्ता) नहीं है । यहाँ बाह्य देश में तो अपने अपने स्वरूप के अनुसार सभी प्रमाणों से उपलभ्यमान बाह्य पदार्थ हैं, स्वकारण से व्यतिरेक अव्यतिरेक (भेदाभेद) आदि विकल्पों के द्वारा उनका सम्भव नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है, उपलब्धि से ही ऐसा नहीं कहा जा सकता है । ज्ञान की विषयस्वरूपता से विषय का नाश नहीं होता है, विषय के नहीं रहने पर ज्ञान में विषय स्वरूपता की अनुपपत्ति से विषयाकार ज्ञान का विषय हेतु है, उसके नहीं रहते तदाकार ज्ञान ही नहीं हो सकता और विषय की बाहर उपलब्धि होती है, इससे विषय अन्तर्वर्ती विज्ञान रूप नहीं हो सकता है । जिससे ज्ञान और विषय का भेद अनुभव सिद्ध है इसी से ज्ञान और विषय के साथ उपलब्धि का नियम भी उपाय उपेय भाव हेतुक है, ऐसा समझना चाहिए, अभेद हेतुक है ऐसा नहीं समझना चाहिए । दूसरी बात है कि घटज्ञान-पटज्ञान, यहाँ विशेषण घट पट का ही भेद है, विशेष्य ज्ञान का भेद नहीं है, जैसे कि शुक्ल गौ-कृष्ण गौ, यहाँ शुक्लता कृष्णता का भेद है, गोत्व का भेद नहीं है । दो से एक का भेद सिद्ध होता है, तथा एक से दो का भेद सिद्ध होता है, इससे अर्थ और ज्ञान का भेद है । इसी प्रकार घटदर्शन-घटस्मरण, यहाँ भी समझना चाहिए कि यहाँ भी विशेष्य दर्शन और स्मरण का ही भेद है, विशेषण घट का भेद नहीं है । जैसे कि क्षीरगन्ध-क्षीररस, यहाँ विशेष्य गन्ध और रस का ही भेद है, विशेषण क्षीर का भेद नहीं है, ऐसा समझना चाहिए । और पूर्वोत्तर काल में वर्तमान दो विज्ञानों को स्वप्रकाश होने से स्वमात्र के संवेदन से ही क्षणिकत्व के कारण उपक्षीण नष्ट होने से परस्पर ग्राह्यत्व ग्राहकत्व की अनुपपत्ति है, ग्राह्य ग्राहक भाव स्वीकृत भी नहीं है । इससे पूर्वोत्तर कालिक विज्ञान के भेद की प्रतिज्ञा स्थायी ज्ञाता विना नहीं बन सकती है । इसी प्रकार साध्यहेतु दृष्टादि के ज्ञान के विना क्षणिकत्वादि धर्म की प्रतिज्ञा नहीं बन सकती है । और सबसे व्यावृत्त व्यक्ति मात्रत्व रूप स्वलक्षण की, और

अनेकानुगत अतद् व्यावृत्त रूप सामान्य की, उत्तरज्ञान रूप वास्य और पूर्वज्ञान रूप वासक की, अविद्या के उपप्लव (सम्बन्ध) से सत् और असत् धर्म की, अज्ञान से बन्ध की, और ज्ञान से मोक्ष की इत्यादि अनेक के ज्ञानाधीन होनेवाली स्वशास्त्रगत प्रतिज्ञाएँ नहीं सिद्ध हो सकती हैं । इससे ये सब प्रतिज्ञाएँ नष्ट होगी, अतः ग्राह्यादि का भेद मानना चाहिए । भेद में अन्य कारण है कि विज्ञान मात्र ही विषय रहित विज्ञान है, इस प्रकार मानने वाला, स्तम्भ कुड्य इत्यादि रीति से भिन्न भासने वाले बाह्य पदार्थों को किस हेतु से नहीं मानता है वह उसे कहना चाहिए । यदि कहे कि विज्ञान अनुभूत होता है, इससे विज्ञान को मानते हैं, तो कहा जाता है कि बाह्य अर्थ भी अनुभूत ही होते हैं, इससे उनका भी स्वीकार करना युक्त है । यदि कहे कि प्रदीप के समान प्रकाशात्मक होने से विज्ञान स्वयं अनुभूत होता है, बाह्य अर्थ वैसे अनुभूत नहीं होता है । तो उससे कहा जाता है कि अग्नि अपने को जलाती है । इसके समान अत्यन्त विरुद्ध आत्मा में प्रकाश क्रिया मानते हो । अविरुद्ध तथा लोकप्रसिद्ध, वस्तुस्वरूप से भिन्न विज्ञान में बाह्य अर्थ अनुभूत होता है इस वचन को नहीं मानना चाहते हो । इससे आश्चर्य स्वरूप महत् पाण्डित्य को तुमने प्रदर्शित किया है । स्वात्मा में क्रिया के विरोध से ही अर्थ से अमिन्न भी विज्ञान स्वयं ही नहीं अनुभूत होता है ।

ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे तदप्यन्येन ग्राह्य तदप्यन्येनेत्यनवस्था प्राप्नोति । अपि च प्रदीपवदवभासात्मकत्वाज्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरकल्पयत समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति । तदुभयमप्यमत् । विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकाक्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः, साक्षिप्रत्यययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्धुपलभ्यभावोपपत्तेः स्वयसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात् । किंचान्यत् प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्ष स्वयमेव प्रयत इति श्रुता प्रमाणागम्य विज्ञानमनवगन्तूकमित्युक्तं स्यात्, शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत् । बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात् विज्ञानस्येष्टो न पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत् । न । अन्यस्यावगन्तुश्चक्षुसाघनस्य प्रदीपादिप्रथनदर्शनात्, अतो विज्ञानस्याप्यवभास्यत्वाविशेषात्सत्यैवान्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते । साक्षिणोऽवगन्तुश्च स्वयसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रयते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति चेत् । न, विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात् । अतः प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम् ॥ २८ ॥

यदि कहे कि विज्ञान स्वयं नहीं अनुभूत होगा तो अन्य से ग्राह्यत्व (अनुभूतत्व) होने पर वह अन्य भी किसी अन्य से ग्राह्य होगा, फिर वह भी किसी अन्य से ग्राह्य होगा, तो अनवस्था की प्राप्ति होगी । दूसरी बात है कि प्रदीप के समान ज्ञान को अवभास (प्रकाश) स्वरूप होने से ज्ञान विषयक ज्ञानान्तर की कल्पना करने वालों के ज्ञानों

की समता से अवभास्य अवभासक भाव की असिद्धि से कल्पना में अनर्थकता होगी, तो कहा जाता है कि अनवस्था और समता से अनर्थकता रूप दोनों ही दोष शंका असत् हैं, नहीं हैं। क्योंकि विज्ञान के साक्षी को विज्ञान के ग्रहण मात्र होने पर ग्रहण की आकाङ्क्षा की अनुत्पत्ति से अनवस्था शंका की अनुपपत्ति है। साक्षी और ज्ञान को स्वभाव की विषमता से, उपलब्धा (ज्ञाता) और उपलभ्य (ज्ञेय) भाव की उपपत्ति (सिद्धि) है। स्वयं सिद्ध नित्य साक्षी प्रत्याख्यान का विषय नहीं हो सकता है। दूसरी बात है कि प्रदीप के समान विज्ञान अन्य अवभासक की अपेक्षा के बिना ही स्वयं प्रकाशता है इस प्रकार कहनेवाले से यह कथन सिद्ध होगा कि विज्ञान प्रमाण से अगम्य है और अवगन्ता रहित है। इस प्रकार प्रमाण प्रमाता से रहित होने से शिलाघन (संघात) के मध्यस्थ दीप सहस्र के प्रकाशों के तुल्य है, अर्थात् असत् है। यदि कहो कि इस प्रकार से विज्ञान को प्रमाण प्रमाता शून्य होना सत्य ही है। प्रमाता आदि के बिना भी स्वयं अनुभव रूप होने से वह सत्य है। इस विज्ञान रूप को शिलादीप प्रथम तुल्य प्रमाणादि रहित मानने वाले तुमने हमारे इष्ट पक्ष का स्वीकार किया है, तो कहा जाता है कि यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि चक्षु आदि साधन वाला दीप से अन्य अवगन्ता (ज्ञाता) को प्रदीपादि प्रकाश का दर्शन ज्ञान होता। प्रदीप को प्रदीप का दर्शन नहीं होता है। इस उत्पत्ति नाशवाले विज्ञान को भी अवभास्यत्व की तुल्यता से अन्य अवगन्ता साक्षी के रहते ही दीप के समान प्रकाश होता है, ऐसी प्रतीति होती है। यदि कहो कि अवगन्ता साक्षी की स्वयंसिद्धता का उपक्षेप (अंगीकार) करते हुए तुमने विज्ञान स्वयं प्रकाशता है, इस मेरे ही पक्ष का वाक् सम्बन्धी अन्य युक्ति (योजना) से आश्रयण किया है। अर्थात् शब्दान्तर से मेरे ही पक्ष को तुमने माना है, तो ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि तुम विज्ञान को उत्पत्तिव्यस अनेकत्वादि विशेष (भेद) वाला मानते हो। इसी से प्रदीप के समान मित्र से अवभास्यत्व को हमने सिद्ध किया है। अर्थात् वृत्तिरूप विज्ञान को क्षणिक नहीं मानकर भी उसकी उत्पत्ति को हम भी मानते हैं, उसका प्रकाशक साक्षी प्रसाधित किया गया है ॥ २८ ॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

यदुक्तं—वाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादि-प्रत्यया विनैव वाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषात्—इति, तत्प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते। न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या भयोपलब्धो महाजनसमागम—इति, न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। न

चैव जागरितोपलब्ध वस्तु स्तम्भादिक कस्याचिदप्यवस्थाया वाध्यते । अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्, स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तर स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसप्रयोगात्मकमिष्ट पुत्र स्मरामि नोपलभे उपलब्धुमिच्छामीति । तत्रैवर्सात न शक्यते वक्तु मिथ्या जागरितोपलब्धिरूप-लब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तर स्वयमनुभवता । न च स्वानुभवापलाप-प्राज्ञमानिभिर्युक्तं कर्तुम् । अपि चानुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययाना स्वतो निरालम्बनता वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययमाधर्म्याद् वक्तुमिष्यते । नहि यो यस्य स्वतो धर्मो न सभवति सोऽन्यस्य साधम्यतिस्य सभविष्यति । न ह्यग्निहृणोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्याच्छीतो भविष्यति । दर्शित तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयो ॥ २९ ॥

बाह्य अर्थ का अपलाप करने वाले (अभाव कहने वाले) ने जो कहा है कि स्वप्नादि ज्ञान के समान, जाग्रत् काल के भी स्तम्भादि के ज्ञान, ज्ञानरूपता की अवशिष्टता (तुल्यता) से बाह्य अर्थ के बिना ही होंगे, उसका प्रत्युत्तर कहना चाहिए, इससे यहाँ कहा जाता है कि स्वप्नादि ज्ञान के समान जाग्रत् के ज्ञान होने योग्य नहीं हैं । क्योंकि दोनों में वैधर्म्य (विरोधी धर्मवत्ता) है, जिसमें जाग्रत् स्वप्न को वैधर्म्य होता ही है । यदि कहो कि वैधर्म्य क्या है तो कहते हैं कि बाध और अबाध वैधर्म्य है । जिसमें स्वप्न से जागे हुए को स्वप्न में उपलब्ध (ज्ञात) वस्तु बाधित होती है कि मुझे स्वप्न में महाजन का समागम मिथ्या उपलब्ध (ज्ञात-प्राप्त) हुआ था, मुझे महाजन का समागम नहीं है, किन्तु निद्रा से ग्लान (क्षीण) मेरा मन हुआ था, इससे यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई थी । इसी प्रकार माया आदि में भी यथायोग्य बाध होता है । जाग्रत् काल में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु किसी अवस्था में इस प्रकार बाधित नहीं होती है । और जो यह स्वप्न दर्शन है, वह सस्कार जन्य होने से स्मृति तुल्य है, जाग्रत् का ज्ञान उपलब्धि (प्रमाणजन्य) है । स्मृति और उपलब्धि में अर्थ का विप्रयोग और सप्रयोग स्वरूप अन्तर (भेद) प्रत्यक्ष स्वय अनुभव किया जाता है कि इष्ट पुत्र का स्मरण करता हूँ, उपलम्भ नहीं करता हूँ, उपलम्भ करना चाहता हूँ इत्यादि । वहाँ जाग्रत् स्वप्न का इस प्रकार भेद होते और उन दोनों के भेद को स्वय अनुभव करते हुए पुरुष नहीं कह सकते कि जागरित काल की उपलब्धि, उपलब्धि होने से स्वप्नोपलब्धि के समान मिथ्या है । क्योंकि प्राज्ञमानो (पण्डितमानो) लोगों से अपने अनुभव का अपलाप करना युक्त नहीं है । दूसरी बात है कि अनुभव के साथ विरोध के मय से विरोध की प्राप्ति से, जागरित ज्ञानों की निरालम्बनता (विषयशून्यता) स्वतः नहीं कह सकने पर स्वप्न ज्ञान की तुल्यता से कहना चाहते हैं, यदि जाग्रत् ज्ञान को निरालम्बनता प्रत्यक्ष होती तो दृष्टान्त की जरूरत नहीं होती । जिससे अग्नि को दृष्टान्त से उष्ण नहीं सिद्ध किया जाता है । दृष्टान्त का ग्रहण करने पर भी जो

धर्म जिसका स्वतः सम्भव नहीं होगा, वह अन्य के साधर्म्य से भी उसका धर्म नहीं हो सकता है । क्योंकि उष्ण अनुभूयमान अग्नि किसी अंश में जल के साथ साधर्म्य से शीत नहीं हो सकती है । स्वप्न जाग्रत् के बाध और अबाध रूप वैधर्म्य प्रदर्शित करा चुके हैं ॥ २९ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

यदप्युक्तं—विनाप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनानवैचित्र्यादेवावकल्प्यत—इति, तत्प्रतिवक्तव्यम् । अत्रोच्यते । भावो वासनानामुपपद्यते त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्वाह्यानामर्थानाम् । अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति, अनुपलभ्यमानेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः, अनादित्वेऽप्यन्धपरम्परान्यायेनाप्रतिष्ठैवानवस्था व्यवहारविलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः । यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थापलापिनोपन्यस्ती वासनानिमित्तमेवेदं ज्ञानजातं नार्थनिमित्तमिति, तावप्येवंसति प्रयुक्तौ द्रष्टव्यौ, विनाऽर्थोपलब्ध्या वासनानुत्पत्तेः । अपि च विनापि वासनानिर्वाहोपलब्ध्युपगमाद्विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यनभ्युपगमादर्थसद्भावमेवान्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः । अपि च वासना नाम संस्कारविशेषाः, संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते, एवं लोके दृष्टत्वात्, न च तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

और जो यह भी कहा है कि अर्थ के बिना भी वासना की विचित्रता से ही ज्ञान में विचित्रता की सिद्धि हो सकती है, उसका प्रत्युत्तर कहना चाहिये, इससे यहाँ कहा जाता है कि तेरे पक्ष में बाह्य अर्थ की अनुपलब्धि से वासनाओं का भाव नहीं उपपन्न (सिद्ध) हो सकता है । जिससे अर्थ की उपलब्धि निमित्तक ही प्रत्येक अनुभूत अर्थ विषयक नानारूप वाली वासनायें होती हैं, अर्थों के अनुपलभ्यमान (अज्ञात) रहते किस निमित्त से विचित्र वासनायें होंगी । यदि बाह्य अर्थ की उपलब्धि के बिना भी बीजांकुर के समान वासना और ज्ञान की विचित्रता का अनादि प्रवाह माना जाय, तो वासना के और प्रवाह के अनादि होने पर भी अन्धपरम्परान्याय से व्यवहार लोप करने वाली निमूल सीमारहित अनवस्था ही होगी, और अभिप्राय नहीं सिद्ध होगा । अर्थात् बीज से अंकुर की उत्पत्ति देखी जाती है, इससे अदृष्ट बीजांकुर में भी कार्य कारण भाव की कल्पना होती है, यहाँ तो उपलब्धि के बिना अर्थ ज्ञान रहित को वासना की उत्पत्ति नहीं देखी गई है, इससे उपलब्धि निरपेक्ष वासना सर्वथा कल्पित है, उससे ज्ञानगत विचित्रता नहीं सिद्ध हो सकती है, बाह्य अर्थ का अपलाप करने वाले ने जो स्वप्न के दृष्टान्त के अन्वय और व्यतिरेक का उपन्यास (कथन) किया है कि स्वप्न के समान वासना निमित्तक यह ज्ञान समूह होता है, वासना के नहीं रहने पर अर्थ निमित्तक ज्ञान नहीं होता है । सो अन्वय व्यतिरेक भी वासना के बाह्यार्थानुभवजन्यत्व सिद्ध होने पर प्रत्याख्यात (खण्डित) हो गया ऐसा समझना चाहिए क्योंकि

अर्थोपलब्धि के बिना वासना की उत्पत्ति नहीं होती है । प्रथम अनुपलब्ध नवीन अपूर्व अर्थ का वासनाओं के बिना भी ज्ञान-प्राप्त होने से और अर्थों की उपलब्धि के बिना वासना की उत्पत्ति की अप्राप्ति से अन्वय व्यतिरेक भी अर्थों की सत्ता को ही स्थिर करते हैं । और सस्कार विशेष रूप वासना प्रसिद्ध है, और आश्रय के बिना वेगादि रूप सस्कार सिद्ध नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा जाता है । तेरे मन में प्रमाण से अनुपलब्धि के कारण कोई आश्रय नहीं है ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं तदपि क्षणिकत्वाम्बुपगमादनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति । न हि कालत्रयमवन्धिन्त्येकस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तोपेक्षवामनाधानस्मृतिप्रतिसन्धानादिव्यवहारः सम्भवति । स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः । अपि च विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाम्बुपगमस्य समानत्वाद्यानि बाह्यार्थवादे क्षणिकत्वनिबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि तानीहाप्यनुसन्धानादिव्यानि । एवमेतौ द्वावपि वैनाशिकपक्षौ निराकृतौ बाह्यार्थवादिपक्षौ विज्ञानवादिपक्षश्च । शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इतितन्निराकरणाय नादरक्रियते । न ह्ययं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभावे उत्तमं प्रसिद्धे ॥ ३१ ॥

और अहम् इस प्रकार वाला आत्मा रूप जो आलय विज्ञान नाम भी वासनाओं के आश्रय रूप से परिकल्पित है, भी क्षणिकत्व के स्वीकार से अनवस्थित स्वरूप होता हुआ प्रवृत्ति विज्ञान (घट पटादि का ज्ञान) के समान वासनाओं का अधिकरण होने योग्य नहीं है । क्योंकि तीनो काल के साथ सम्बन्ध वाला एक जन्मयो सर्वार्थदर्शी कूटस्थ या स्थायी के नहीं रहने पर, देश, काल और निमित्त की अपेक्षा पूर्वक वासना का आधान (स्थापन) और वासनामूलक स्मृति तथा प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) और तन्मूलक व्यवहार नहीं हो सकते हैं । विज्ञान का सनान भी कोई वस्तु नहीं है कि जिसमें वासना आदि रह सकें । आलय विज्ञान के स्थिरस्वभाव को स्वीकार करने पर सिद्धान्त की हानि होगी । विज्ञानवाद में भी क्षणिकत्वाम्बुपगम (स्वीकृति) की तुल्यता से क्षणिक बाह्यार्थवाद में जो क्षणिकत्वनिमित्तक दूषण उद्भावित (प्रकटित) किये गये हैं, सिद्ध हो चुके हैं कि (उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्) इत्यादि । उनका यहाँ भी अनुसन्धान कर्तव्य है । वे सब दूषण यहाँ लागू होते हैं । इस प्रकार बाह्यार्थवादी का पक्ष और विज्ञानवादी का पक्ष रूप ये दोनों ही वैनाशिकपक्ष निराकृत किये गये । शून्यवादी का पक्ष तो सब प्रमाणों से विरुद्ध है, इसमें उसके निराकरण के लिए आदर (यत्न) नहीं किया जाता है । (सूत्रान्तर का आरम्भ नहीं किया जाता

है) किन्तु इन मूर्तों से ही उसका भी प्रत्याख्यान समझा । क्योंकि सब प्रमाणों से प्रसिद्ध यह लोक व्यवहार अन्य तत्त्व अधिगम (प्राप्ति स्वीकार) किए बिना अपलव-अपलाप के योग्य नहीं है, इससे इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है, अपवाद के अभाव की दशा में उत्सर्ग की प्रसिद्धि से शून्य का अभाव होने पर प्रमाण से प्रतीति के अनुसार लोक व्यवहार सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

किं बहुना सर्वप्रकारेण यथा यथाऽयं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव, न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः, अतश्चानुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः । अपि च बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवादत्रयमितरेतर-विरुद्धमुपदिग्ता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति । सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगत-समयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

बहुत कथन का यहाँ कोई फल नहीं है, जितना कहा गया है वही बहुत है, क्योंकि जिस प्रकार (ज्यों ज्यों) यह वैनाशिक सिद्धान्त उपपत्तिमत्ता (युक्तता) के लिए परीक्षित (विचारित) होता है, त्यों त्यों सिकता (बालू) में छोदे गये कूप के समान विदीर्ण ही होता है । इसमें कोई उपपत्ति नहीं देखते हैं । इससे वैनाशिक तंत्र (दर्शन) का व्यवहार अयुक्त है । दूसरी बात है कि बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद रूप परस्पर विरुद्ध तीन वादों का उपदेश करते हुए सुगत ने अपने असम्बद्ध प्रलापित्व को प्रकट किया है । अथवा विरुद्ध अर्थ के ज्ञान से यह प्रजा विमोहित हो, इस प्रकार के प्रजा विषयक विद्वेष को प्रकट किया है । इससे श्रेयोऽर्थी से यह सुगत का सिद्धान्त सर्वथा ही अनादरणीय है यह अभिप्राय है ॥ ३२ ॥

एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण (६)

सिद्धिः सप्तपदार्थानां सप्तभङ्गीभयान्न वा ।

साधकन्यायसङ्गावात्तेषां सिद्धो किमद्भुतम् ॥

एकस्मिन्नसदसत्त्वादिविरुद्धप्रतिपादनात् ।

अपन्यायः सप्तभङ्गी न च जीवस्य सांशता ॥ २ ॥

जैन मत में सत्र पदार्थ के सात-सात भङ्ग (अवस्था) सदा माने जाते हैं । अर्थात् (स्यादस्ति । स्यान्नास्ति । स्यादस्ति च नास्ति च । स्यादवक्तव्यम् । स्यादस्ति चावक्तव्यञ्च । स्यान्नास्ति चावक्तव्यञ्च । स्यादस्ति च स्यान्नास्ति चावक्तव्यञ्च) इस प्रकार के सात माने जाते हैं । यहाँ स्यात् अव्यय है, उसका कथञ्चित् अर्थ है, इससे तात्पर्यार्थ है कि घट कथञ्चित् किसी प्रकार से है, अर्थात् घटत्वरूप से वर्तमानत्वरूप से वर्तमान काल में है । वर्तमान काल में पटत्वरूप से भूतत्वादि रूप से नहीं रहने से कथञ्चित् नहीं भी है, यह घट की दूसरी अवस्था प्रथमावस्था के साथ ही है । घट में क्रम से घटत्व पटत्व उभय रूपता की वा वर्तमानत्व भूतत्व उभयरूपता की विवक्षा करने पर कहा जाता है

किं कथञ्चित् अस्ति घटत्व वर्तमानत्व रूप से है । कथञ्चित् नास्ति पटत्व भूतत्व रूप में नहीं है, यह घट की तृतीयावस्था भी पूर्व की दोनों अवस्थाओं के साथ घट में वर्तमान है । क्रम के बिना एक काल में घट में घटत्व पटत्व वर्तमानत्व भूतत्व की विवक्षा में कथञ्चित् अवक्तव्य, अवस्था घट की होती है, वह पूर्ववर्ती तीनों के साथ रहती है । घटत्व रूप की विवक्षा तथा युगपद् उभय (घटत्व पटत्व) की विवक्षा करने पर (कथञ्चित् है और कथञ्चित् अवक्तव्य है) यह भी पूर्व की चारों अवस्थाओं के साथ घट में रहता है । घट में घटत्व के अभाव की और घटत्व पटत्व उभयरूपता की युगपद् विवक्षा करने पर (कथञ्चित् नास्ति घटत्वभाव वाला घट नहीं है । कथञ्चित् अवक्तव्य है) घटत्व पटत्व उभय रूप से कहने के अयोग्य है । यह पक्षी अवस्था है । क्रम से घटत्व पटत्व की विवक्षा और युगपद् उभय विवक्षा में सप्तम भग होता है । यहाँ कहा जाता है कि किसी एक वस्तु में ये विरुद्ध सात अवस्थाएँ समकाल में रह नहीं सकती हैं, घट में घटत्व का अभाव है, पटत्व रूप से घट का अभाव नहीं है, क्योंकि पटत्व रूप वाला कभी घट होता नहीं है । प्रतियोगी की प्रसिद्धि के बिना अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती, इसमें यह सप्तमङ्ग की कल्पना निर्मूल है, सत्यात्मा है, सो सर्वथा सदा वर्तमान है । उसका तो किसी प्रकार किसी रूप से कभी अभाव हो ही नहीं सकता इत्यादि । विशेष अन्यत्र द्रष्टव्य है । सहाय है कि सात भग के समूह रूप सप्तमगी न्याय से जैनो के मान्य सात पदार्थों की सिद्धि हो सकती है । अथवा नहीं हो सकती है, अर्थात् सप्त सप्तम में भी स्थान्तास्ति कथञ्चित् नहीं है, इस भग की प्राप्ति होने से सात पदार्थ कैसे सिद्ध हो सकते हैं । पूर्वपक्ष है कि सप्तमङ्गी न्याय के रहते भी उससे भिन्न सात पदार्थ की सिद्ध करने वाले शाक्य न्यायों के सद्भाव से पदार्थ की सिद्धि में आश्चर्य क्या है । अय प्रमाणों से पदार्थ की सिद्धि होती है । सिद्धान्त है कि एक अर्थ में सत्त्वा-सत्त्वादि विरुद्ध धर्म का प्रतिपादन करने से यह सप्तमग का समूह अप-न्याय (दुष्टन्याय) है, इससे प्रमाणान्तर से सिद्ध में भी मध्य जनन द्वारा सात पदार्थ को भी निश्चित रूप से नहीं सिद्ध होने देगा । और जीव की साक्षता युक्त भी नहीं है, और सप्तमगी से भी वह निश्चित रूप से नहीं हो सकती है ॥ १-२ ॥

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

निरस्त सुगतममय, विवसनसमय इदानी निरम्यते । सप्त चैषा पदार्था समता जीवाजीवासवमवरनिर्जरवन्वमोक्षा नाम । मक्षेपतन्तु द्वावेव पदार्था जीवाजीवास्थौ । यथायोग तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते । तयोरिममपर प्रपञ्चमाचक्षते, पञ्चास्तिकाया नाम—जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकायो धर्मा-स्तिकायोऽयमास्तिकाय आकाशास्तिकायश्चेति । सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रमेदान् बहुविधान्वयसमवपरिकल्पितान्वर्णयन्ति । सर्वत्र चैव सप्तमङ्गीनय नाम न्याय-भवतारयन्ति । म्यादन्ति, स्थान्तास्ति, स्यादन्ति च नामि च, स्यादवक्तव्य,

स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति । एवमेवैकत्वनित्यत्वादिव्वपीमं सप्तभंगीनयं योजयन्ति ।

सुगत (बुद्ध) का सिद्धान्त निराकृत हो चुका, विवसन (दिगम्बर) जैनसिद्धान्त का इस समय निराकरण किया जाता है । इन जैनों के, जीव (मोक्ता) अजीव (भोग्य) आस्रव (इन्द्रिय की विषयाभिमुखप्रवृत्ति) संवर (उस प्रवृत्ति का निरोधक यमनियमादि) निर्जर (सम्यक् प्रवृत्ति तप आदि) धन्ध (बन्धन हेतु कर्म) मोक्ष (कर्मनिवृत्ति) ये सात पदार्थ सम्मत हैं । और संक्षेप से तो जीव अजीव नामक दो ही पदार्थ सम्मत (स्वीकृत) हैं । उन जीव जड़ दोनों में ही यथा योग्य अन्य सब का अन्तर्भाव है इस प्रकार मानते हैं । उस जीव जड़ का ही यह अन्य विस्तार कहते हैं कि पाँच अस्तिकाय (पदार्थ) प्रसिद्ध हैं । उनमें बद्ध मुक्तादि अनेक प्रकार का एक जीवरूप अस्तिकाय (पदार्थ) है । दूसरा पूर्ण नष्ट होनेवाला पुद्गल (शरीर) रूप अस्तिकाय है । तीसरा धर्म है, चौथा अधर्म है, पञ्चम आकाशरूप अस्तिकाय (पदार्थ) है । इन सब के भी अपने सिद्धान्त में परिकल्पित बहुत प्रकार के अवान्तर (अन्तरगत) भेदों का वर्णन करते हैं । सब पदार्थों में इस वक्ष्यमाण सप्तमङ्गीनय नामक न्याय का अवतरण (योजना) करते हैं कि सब पदार्थ स्यात् (कथञ्चित्) है, कथञ्चित् नास्ति (नहीं) है । क्रम से अस्तित्व नास्तित्व की विवक्षा में कथञ्चित् है कथञ्चित् नहीं है । अस्तित्व नास्तित्व की समकाल में विवक्षा होने पर कथञ्चित् अवक्तव्य है, क्योंकि दोनों बातें एक समय कही नहीं जा सकती हैं । आद्य और चतुर्थ भंग की सह विवक्षा में पञ्चम भंग है । द्वितीय चतुर्थ की सह विवक्षा में षष्ठभंग है । तृतीय चतुर्थ की विवक्षा में सप्तम है । इसी प्रकार एकत्व नित्यत्वादि में भी सप्तभंगी नय की योजना करते हैं कि स्यादेकः, स्यादनेकः, स्यदेकोऽनेकश्च, इत्यादि, तथा स्यान्नित्यः स्यादनित्यः । इत्यादि, अर्थात् सब पदार्थ किसी प्रकार एक अनेकादि स्वरूप है, नित्य अनित्यादि स्वरूप है, जैसे दो अस्ति नास्ति से सप्तभंग की कल्पना होती है । वैसे एकत्व अनेकत्व से और नित्यत्व अनित्यत्व दो-दो कोटि से ही सात-सात भंगों की कल्पना होती है । और कहते हैं कि पदार्थ के अनेक रूप होने से ही व्यवहार होता है, एक रूप होने पर व्यवहार नहीं हो सकता ।

अत्राचक्ष्महे । नायमभ्युपगमो युक्त इति । कुतः ? एकस्मिन्नसम्भवात् । न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत् । य एते सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्यः । इतरथा हि तथा वा स्यरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात् । नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति । नेति ब्रूमः । निरङ्कुशं ह्यनैकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वविशेषात्स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात् । एवं निर्धार-

यितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तित्वा स्याच्च पक्षे नास्तितेति । एव सति कथं प्रमाणभूतं सस्तीर्यकरं प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात् । कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तते । ऐकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते नान्यथा, अतश्चानिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन्मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनं स्यात् । तथा पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्यास्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात्तावदेकस्मिन्पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वम् अधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात् । न चेपा पदार्थानामवक्तव्यत्वं सभावात्, अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्, उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिपिद्धम् । उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्ते इति च, तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा, एव तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन्मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्ययितव्यस्य पक्षस्य । स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणाया प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशाम्नावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः । एव जीवादिषु पदार्थेष्वेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोः सभावात्सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मज्मत्त्वस्य धर्मान्तरस्यासम्भवादमत्त्वे चैव सत्त्वस्यासम्भवादमगतमिदमाहुः मतम् । एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताद्येकान्ताभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः । यत्तु पुद्गलसंज्ञकेभ्योऽणुभ्यः सघाताः सभवन्तीति, कल्पयन्ति तत्पूर्वैर्वाणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक्कन्निराकरणाय प्रयत्यते ॥ ३३ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि यहाँ हम कहते हैं कि यह अभ्युपगम युक्त नहीं है, क्योंकि एक में सात सात रूपता का असम्भव है, जिससे एक धर्मों के विरुद्ध सदसत्त्वादि रूपता का एक काल में सन्निवेश शीतोष्णादि के समान सम्भव नहीं है । इससे जो सत्यात्मा है, वह सदा सर्वथा सर्वत्र है ही, जो शशशृङ्गादि असत् हैं सो सदा सर्वथा असत्य ही हैं । और ससार सदसद से विलक्षण होने पर भी एक व्यावहारिक स्वरूप वाला है । अनेकान्त स्वरूप नहीं है । जो ये सात पदार्थ निर्धारित हुए हैं, वे पदार्थ इतना इसी प्रकार के स्वरूप वाले और उसी प्रकार वाले होंगे, वा उस प्रकार वाले नहीं होंगे, इस प्रकार एक ही पक्ष सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इतरथा (इससे अन्यथा) होने पर या तो जैसे कहे गये हैं वैसे होंगे, अथवा अन्य प्रकार के होंगे इस प्रकार अनिर्धारित स्वरूप वाले सशय ज्ञान के समान अप्रमाण ही ज्ञान होगा । यदि कहो कि वस्तु अनेकात्मक (सत्यासत्यादि अनेक स्वरूप) है, इस प्रकार निर्धारित (निश्चित) स्वरूप वाला ही उत्पद्यमान ज्ञान सशय ज्ञान के समान अप्रमाण होने योग्य नहीं है । तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं

हो सकता है, संशयरूपता की प्राप्ति होती ही है । जिससे निरंकुश (स्वतन्त्र-सर्वगत) अनेकान्तत्व (अनेकात्मकत्व) को मानने वाले सब वस्तु में निरंकुश अनेकात्मता की प्रतिज्ञा करने वाले के निर्धारण को भी वस्तुत्व की अविरोधता तुल्यता से उस निर्धारण में भी कथंचित् है, कथंचित् नहीं है इत्यादि विकल्पों का उपनिपात (प्राप्ति-सम्बन्ध) होगा, इससे निर्धारण को अनिर्धारणरूपता ही होगी । इसी प्रकार निर्धारण कर्ता और निर्धारण के फल की एक पक्ष में अस्तित्वा (सत्ता) और अन्य पक्ष में नास्तित्वा होगी । ऐसा होने पर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इन सबके अनिर्धारित होने पर तीर्थंकर भी प्रमाणभूत (प्रामाणिक) होता हुआ उपदेश के लिए कैसे समर्थ होगा । अथवा उस गुरु के अभिप्राय के अनुसार प्रवृत्त होने वाले शिष्य उस गुरु से उपदिष्ट अनिर्धारित स्वरूप वाले अर्थ में प्रवृत्त कैसे होंगे । ऐकान्तिक (निश्चित) फलवत्त्व के निर्धारण होने ही पर, उस फल के साधनों का अनुष्ठान (आचरण) के लिए सब लोक अनाकुल (अव्याकुल) होकर प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं । इससे अनिर्धारित अर्थ वाला, शास्त्र की रचना करने वाला मत्त उन्मत्त के समान अनुपादेय (अग्राह्य) वचन वाला होगा । इसी प्रकार पञ्च अस्तिकायों (पदार्थों) को पञ्चत्व संख्या क्या तो है या नहीं है, इस प्रकार विकल्प का विषय होने पर, एक पक्ष में पञ्चत्व संख्या होगी, पक्षान्तर में पञ्चत्व संख्या नहीं होगी । इससे न्यून संख्यात्व या अधिक संख्यात्व की प्राप्ति होगी । और इन पदार्थों को अवक्तव्यत्व का संभव नहीं है, अर्थात् प्रामाणिक अभ्रान्त पुरुष को सत् में असत्त्व की विवक्षा, असत् में सत्त्व की विवक्षा और एक वस्तु में क्रम से सत्त्वा-सत्त्व की विवक्षा नहीं हो सकती । किन्तु अनुभव के अनुसार एक ही निश्चित विवक्षा हो सकती है । इससे कथंचित् यह कथन सर्वथा अयुक्त है । इन तीन मूलरूप भंगों के नहीं हो सकने पर अवक्तव्य भंग का सर्वथा असम्भव है, जो हो ही नहीं सकता, उसकी विवक्षा ही क्यों होगी । इससे इन पदार्थों को अवक्तव्यत्व नहीं है । यदि ये पदार्थ अवक्तव्य होते तो कहे नहीं जाते । और कहे जाते हैं, और अवक्तव्य हैं, यह विरुद्ध कथन है । कहे गये ये पदार्थ जिस प्रकार कहे गये हैं वैसे ही अवधारित होते हैं, और नहीं अवधारित होते हैं, यह कथन भी विरुद्ध है । इसी प्रकार उस अवधारण का फल रूप सम्यक् दर्शन क्या तो है, अथवा नहीं है । इसी प्रकार उससे विपरीत असम्यक् दर्शन भी क्या तो है (कथंचित् है) अथवा नहीं है । इसी प्रकार प्रलाप करता हुआ पुरुष मत्त-उन्मत्त पक्ष का ही सम्बन्धी होगा, अनास होगा । अनास के अन्तर्गत होगा । विश्वास का पात्र आस पक्ष का नहीं होगा । स्वर्ग तथा मोक्ष का भी पक्ष में भाव होगा, और पक्ष में अभाव होगा । इसी प्रकार स्वर्गादि को पक्ष में नित्यता, और पक्ष में अनित्यता होगी, इस प्रकार अवधारण होने पर प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होगी । अपने शास्त्र द्वारा अववृत्त (निश्चित) स्वभाव वाले अनादि सिद्ध जीवादि को भी वे वैसे अववृत्त स्वभाव वाले नहीं हैं, ऐसा प्रसंग पक्ष में प्राप्त होगा । इस प्रकार

जीवादि पदार्थगत एक एक धर्मी में सत्त्व असत्त्वरूप विरुद्ध धर्मों के असम्भव से और सत्त्वारूप एक धर्म के रहते असत्त्वारूप धर्मान्तर के असम्भव से— इसी प्रकार असत्ता के रहते सत्ता के असम्भव से, इन्हें सहवृत्तिता कहने वाला यह आर्हत दर्शन असंगत है। इस सत्त्व असत्त्व की एकत्र वृत्तिता के निषेध से ही एक-अनेक, नित्य-अनित्य, व्यतिरिक्त-अव्यतिरिक्त, आदि अनेकान्त अभ्युपगम को भी निराकृत समझना चाहिए। और पुद्गल-सज्ञक अणुओं से सघात होते हैं, ऐसी जो कल्पना करते हैं, सो पूर्ववर्णित अणुवाद के निराकरण से ही निराकृत होता है, इससे उनके निराकरण के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं किया जाता है ॥ ३३ ॥

एव चात्माऽकात्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

यथैकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मासम्भवो दोष स्याद्वादे प्रसक्त एवमात्मनोऽपि जीवस्याकात्स्न्यमपरो दोष प्रसज्येत। कथम्? शरीरपरिमाणो हि जीव इत्यार्हता मन्यन्ते। शरीरपरिमाणताया च मत्यामकृत्स्नोऽसर्वगत परिच्छिन्न आत्मैत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मन प्रसज्येत। शरीराणा चानवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्य-जीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुन केनचित्कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीर व्याप्नुयात्, पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्न पुत्तिका-शरीरे समीयेत। समान एव एकास्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः। स्यादेतत्, अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे सकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति। तेषा पुनरनन्ताना जीवावयवाना समानदेशत्व प्रतिहन्यते वा न वेति वक्तव्यम्। प्रतिघाते तावन्तानन्तावयवा परिच्छिन्ने देशे समीयेरन्। अप्रतिघातेऽप्येकैवावयवदेशत्वोपपत्ते सर्वेषामवयवाना प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याणु-मात्रत्वप्रसङ्ग स्यात्। अपि च शरीरमात्रपरिच्छिन्नाना जीवावयवानामानन्त्य नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् ॥ ३४ ॥

जैसे एकधर्मी में विरुद्ध धर्मों का असम्भव दोष स्यादवाद में प्राप्त हुआ है, इसी प्रकार आत्मारूप जीव का भी अकात्स्न्य (मध्यम परिमाणत्व) रूप दूसरा दोष प्राप्त होता है, कि जिससे अनित्यता की प्राप्ति होगी। क्योंकि आर्हत (अहंभूदेव के उपासक) जैन लोग, जीव शरीर तुल्य परिमाण वाला है ऐसा मानते हैं। शरीर तुल्य परिमाणता के होने पर तो अकृत्स्न याने असर्वगत परिच्छिन्न आत्मा है, यह सिद्ध होता है। इससे घटादि के समान आत्मा को अनित्यत्व भी प्राप्त होगा। शरीरों के अनवस्थित (अनियत और विनश्वर) परिमाणत्व से मनुष्य शरीरगत जीव मनुष्य शरीर के तुल्य परिमाण वाला होकर फिर किसी कर्म के विपाक (अभिव्यक्ति) से हस्ती जन्म को प्राप्त होता हुआ सम्पूर्ण हस्ती शरीर में व्याप्त नहीं होगा, इससे अकृत्स्नता होगी, हस्ती शरीर का कुछ भाग निर्जिव सिद्ध होगा। और पुत्तिका (पतङ्गिका) जन्म को प्राप्त करने पर सम्पूर्ण जीव पुत्तिका शरीर में नहीं समायेगा, देह से बाहर

भी जीव रह जायगा । एक शरीर में भी वाल्य, यौवन, वृद्धत्व अवस्था में यह दीप समान (तुल्य) है । यदि कहो कि यह जीव को देह परिमाणवत्त्व हो सकता है, क्योंकि अनन्त अवयव वाला जीव है, उसके वे ही अवयव अल्प (छोटे) शरीर में दीपप्रमा के समान संकुचित हो जायेंगे और महान् बड़े शरीर में प्रमातुल्य ही विकसित होंगे । यहाँ कहा जाता है कि दीप की प्रमा विनश्वर है, अल्प देश में दीप के जाने से महान् देश की प्रमा नष्ट हो जाती है, इससे यह कहना चाहिये कि अनन्त उन जीव के अवयवों का समान देशत्व प्रतिहत (प्रतिघात युक्त-विरुद्ध) होता है अथवा नहीं होता है । प्रथम पक्ष प्रतिघात के होने पर अनन्त अवयव परिच्छिन्न अल्पदेश में नहीं समा सकेंगे, और अप्रतिघात होने पर भी सब अवयवों को एकदेश वृत्तित्व परमाणुदेश मात्र स्थिरता की सिद्धि से और प्रथिमा (पृथुत्व) की अनुपपत्ति से जीव को अणुमात्रत्व का प्रसंग होगा । शरीरमात्र से परिच्छिन्न परिमित जीव के अवयवों के परिमित होने ही से उनकी अनन्तता की उत्प्रेक्षा (ऊहा-कल्पना) भी नहीं की जा सकती है ॥ ३४ ॥

अथ पर्यायेण बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीर-प्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत, तत्राप्युच्यते—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

न च पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याविरोधेनो-पपादयितुं शक्यते । कुतः ? विकारादिदोषप्रसङ्गात् । अवयवोपगमापगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्, विक्रियावत्त्वे च चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्येत, ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत, कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्यालाबुवत्संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्व-गामित्वं भवतीति । किञ्चान्यत् आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामागमापाय-धर्मवत्त्वादेवानात्मत्वं शरीरादिवत् । ततश्चावस्थितः कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्, न च स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति । किञ्चान्यत् आगच्छन्तश्चैते जीवा-वयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क्व वा लीयन्त इति वक्तव्यम् । न हि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु न निलीयेरन्, अभौतिकत्वाज्जीवस्य । नापि कश्चिदन्यः साधा-रणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाधारो निरूप्यते प्रमाणाभावात् । किञ्चान्यत्, अनवधृतस्वरूपश्चैवंसत्यात्मा स्यात्, आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामनियत-परिमाणत्वात्, अत एवमादिदोषप्रसङ्गान्न पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमावात्मन आश्रयितुं शक्येते ।

यदि कहें कि क्रम से बड़े शरीर की प्राप्ति काल में कोई जीव के अवयव पास में प्राप्त होते हैं, और तनु (अल्प छोटे) शरीर की प्राप्ति होने पर कोई अवयव दूर चले जाते हैं । यहाँ भी कहा जाता है कि—

क्रम से अवयवों का उपगम (आगमन) और अपगम (निवृत्ति) द्वारा भी यह जीव का देहपरिमाणत्व अविवरोधपूर्वक उपपादन (सिद्ध) नहीं किया जा सकता है । क्योंकि विकारादि दोषों का प्रसंग होता है जिससे अनिष्ट (सदा) अवयवों के उपगम और अपगम से आपूर्ण और अपक्षीण (वृद्धिहासयुक्त) होते हुए जीव को विकारवत्त्व अपरिहार्य (अवश्य) होगा और विकार वाला होने पर चर्मादि के समान अनित्यत्व की प्राप्ति होगी । इससे बन्ध और मोक्ष का अभ्युपगम बाधित होगा । वह बन्ध मोक्ष का अभ्युपगम इस प्रकार है कि, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय नाम वाले ज्ञानादि का आवरण करने वाले और चतुर्थ विघ्नरूप ये चार प्रकार के घाती कर्म कहाते हैं । वेदनीय, नामिक, गोत्रिक, आयुष्क, नाम वाले, ज्ञान, नाम, गोत्र, विषयक अभिमानरूप तथा शरीर की स्थिति के लिए कर्मरूप ये चार प्रकार के अघाती कर्म कहाते हैं । इन कर्मादिक में वेदित ससार सागर में निमग्न जीव के उन कर्मरूप बन्धनों के उच्छेदन-नाश से ऊर्ध्वगमन होता है वही मोक्ष है । जैसे तुम्बा में पत्थर बांध कर पानी में देने से वह डूबता है, परन्तु बन्ध के कटने पर वह ऊर्ध्वगमन करता है, वैसे ही आठ प्रकार के कर्म से जीव ससारी होता है । कर्म रहित होने से मुक्त होता है । यह सिद्धान्त जीव के अनित्य होने पर बाधित होगा । अन्य दूषण है कि आने जाने वाले अवयवों के आगमन और अपगम (अपगमन) रूप धर्म वाले होने से ही शरीरादि के समान अनात्मत्व उनमें सिद्ध होता है, इससे दुर्ज्ञेय कोई स्थिर अवयव आत्मा है, ऐसा मानना होगा । उसका निरूपण नहीं किया जा सकता है कि वह यह है । दूसरी बात है कि आने वाले ये जीव के अवयव कहीं से प्रकट होते हैं । अपगत होने पर किन्तु लीन होते हैं, यह कहना होगा । जीव के अमौलिक होने से मृतों में इसके अवयव नहीं प्रकट हो सकते हैं, न मृतों में लीन हो सकते हैं । अन्य भी कोई सब जीवों के लिए साधारण या प्रत्येक जीव के लिये असाधारण जीव के अवयवों को आधार प्रमाण के अभाव से निरूपित सिद्ध नहीं हो सकता है । अन्य दूषण है कि इस प्रकार आगमापायी अवयव वाला होने पर अनवधृत (अनिश्चित) स्वरूप वाला आत्मा होगा, क्योंकि आने-जाने वाले अवयवों को अनियत परिमाणत्व है । इससे इस प्रकार के दोषों के प्रसंग से क्रम से भी आत्मा के अवयवों के उपगम और अपगम का आश्रयण नहीं कर सकते हैं ।

अथवा पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणम्यात्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्रति-
पक्षावकात्स्न्यप्रसङ्गनद्वारेणानित्यताया चोदिताया पुनः पर्यायेण परिमाणानव-
स्थानेऽपि स्रोत सन्ताननित्यतान्यायेनात्मनो नित्यता स्यात्, यथा रक्पटादीना
विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्सन्ताननित्यता तद्वद्विसिचामपीत्याशङ्क्यानेन सूत्रेणो-
त्तरमुच्यते । सन्तानस्य तावदवन्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः, वस्तुत्वेऽप्यात्मनो
विकारादिदोषप्रसङ्गादस्य पक्षस्यानुपपत्तिरिति ॥ ३५ ॥

अथवा पूर्वं सूत्र से शरीर प्रमाण वाले आत्मा को उपचितापचित (स्थूल सूक्ष्म) शरीरान्तर की प्राप्ति होने पर, अकृत्स्नता की प्राप्ति द्वारा अनित्यता की शंका होने पर फिर पर्याय से शरीर व्यक्ति भेद से परिमाण के अनवस्थिर होने पर भी स्रोत (प्रवाह) रूप आत्म व्यक्ति संतान की नित्यतारूप न्याय से आत्मा को नित्यता होगी, जैसे कि रक्तपटादि वौद्धों के मत में विज्ञान के अनवस्थित रहते भी विज्ञान संतान की नित्यता मानी जाती है, वैसे ही वस्त्ररहित दिगम्बरों के मत में सन्तान की नित्यता होगी । इस प्रकार आशंका करके इस सूत्र से उत्तर कहा जाता है कि पर्याय (व्यक्तिगत संतान) से भी आत्मनित्यत्व का अविरोध नहीं है, क्योंकि विकारादि से सन्तान को भी अनित्यत्व होगा, यदि सन्तान वस्तु है, तो उसके भी विकारादि होंगे । सन्तान के अवस्तु होने पर निरात्मभाव की प्राप्ति होगी । सन्तानी से अतिरिक्त वस्तु संतान को मानने पर कूटस्थ आत्मवाद की प्राप्ति होगी, सन्तानी से अभिन्न सन्तान को मानने पर जन्मादि दोष की प्राप्ति होगी इससे इस पक्ष की अनुपपत्ति है ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

अपि चान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जनैः, तद्वत् पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात्, एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः । अथ वान्त्यस्य जीवपरिमाणस्यावस्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात्, ततश्चाविशेषेण सर्वदैवानुमहान्वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः, अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम् ॥ ३६ ॥

और दूसरी बात है कि मोक्ष अवस्था में रहने वाले जीव के अन्तिम परिमाण का नित्यत्व जैनों को इष्ट है । उसी के समान पूर्वकाल में होने वाले आद्य और मध्यकालिक जीव के परिमाणों को नित्यत्व की प्राप्ति से सर्वदा अविशेषता की (नित्यता की) प्राप्ति होती है । शरीरतुल्य अनित्य परिमाणता कमी नहीं हो सकती है । इससे एक शरीर के परिमाण वाला ही आत्मा होगा, स्थूल, सूक्ष्म शरीरान्तर को नहीं प्राप्त कर सकेगा । अथवा जीव के अन्तिम परिमाण की अवस्थिरता से पूर्वावस्थाओं में भी जीव अवस्थित परिमाण वाला ही होगा । इससे सदा ही भेदरहित तुल्यस्वरूप वाला अणु वा महान् विभु जीव को मानना चाहिये, शरीर परिमाण वाला नहीं और इस शरीर परिमाणता के स्वीकार से सौगत मत के समान आर्हत मत भी असंगत है । इससे यह उपेक्षा (त्याग) के योग्य है ॥ ३६ ॥

पत्यधिकरण (७)

तटस्थेश्वरवादो यः स युक्तोऽथ न युज्यते ।

युक्तः कुलालदृष्टान्तान्नियन्तृत्वस्य सम्भवात् ॥ १ ॥

न युक्तो विषमत्वादिदोषाद्वैदिक ईश्वरे ।

अभ्युपेते तटस्थत्वं त्याज्यं श्रुतिविरोधतः ॥ २ ॥

प्रथम निमित्तोपादान उभय स्वरूप ईश्वर को माना गया है । सर्वात्मा होने से जल

के समान साधारण कारण कहा गया है, विशेष कारण जीवों के अदृष्टादिक बीज के समान हैं। जगत् की रचना आदिक माया लीलामय जीवकर्म सापेक्ष अनादि बीजाकुर न्याय से है। इससे ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्यादि दोष नहीं है। यदि ईश्वर कुलालादि के समान तदस्य कारण होगा तो कुलालादि के समान विशेष ही कारण होगा, काल-देशादि के भेद से भिन्न-भिन्न स्वरूप विशेष घाला होकर विशेष कार्यों को करेगा। इससे उसमें रागद्वेषादि की प्राप्ति से ईश्वरता में असमञ्जस (अयुक्तता) होगा, इससे तदस्ये-स्वरवाद ठीक नहीं है, उपासना के लिए कल्पितमात्र है। शक्य है कि जो तदस्येस्वरवाद है, सो युक्त है अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि कुलाल के दृष्टान्त से और नियन्तृता के समव से युक्त है। सिद्धान्त है कि तदस्यता के होने पर विषयत्वादि दोष से तदस्ये-स्वरवाद युक्त नहीं है। इससे वैदिक ईश्वर के स्वीकृत होने पर श्रुति विरोध से तद-स्यता त्याग के योग्य है ॥ १-२ ॥

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

इदानीं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवाद प्रतिपिध्यते। तत्कथमवगम्यते ? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादुष्टान्तानुपरोधात्' 'अभिध्योपदेशाच्च' (ब्र० १।४।२३, २४) इत्यत्र प्रकृतिभावेनाधिष्ठातृभावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात्। यदि पुनरविशेषणेश्वरकारणवादमात्रमिह प्रतिपिध्येत पूर्वो-त्तरविरोधाद्व्याहृताभिव्याहार सूत्रकार इत्येतदापद्येत। तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवल निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तविहितब्रह्मैकत्वप्रतिपक्षत्वाद्य-त्वेनात्र प्रतिपिप्यते। सा चेय वेदवाह्येश्वरकल्पनानेकप्रकारा। केचित्तावत्मा-ह्ययोगव्यपाश्रया कल्पयन्ति-प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवल निमित्तकारण-मीश्वर इतरेतरविलक्षणा प्रधानपुरुषेश्वरा-इति। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्य-कारणयोगविधिदुःसान्ता पञ्च पदार्था पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणा-योपदिष्टा, पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति। तथा वैशेषिकाद-योऽपि केचित्कथञ्चित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति।

इस समय केवल अधिष्ठाता ईश्वर कारणवाद का प्रतिषेध किया जाता है, यदि कहें कि सामान्य ईश्वर कारणवाद का निषेध नहीं है, तदस्यवाद का निषेध है, यह कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि (प्रकृतिश्च) इत्यादि, तथा (अभिध्योपदेशाच्च) इस सूत्र में प्रकृतिरूप से तथा अधिष्ठातारूप से उभय (दोनों) स्वभाव वाले ईश्वर का आचार्य ने स्वयं प्रतिपादन किया है इससे उक्तार्थ समझा जाता है। यदि फिर अविशेष (सामान्य) रूप से ईश्वर कारणवादमात्र का यहाँ निषेध किया जाय तो पूर्वोत्तर में विरोध से व्याहृ। (विरुद्ध) व्यवहार (वचन) वाले सूत्रकार हैं, यह ऐसा दोष प्राप्त होगा। इससे अप्रकृति स्वरूप केवल अधिष्ठाता निमित्त कारण ईश्वर है। इस प्रकार का यह पक्ष, वेदान्त में विहित ब्रह्म की एकता का प्रतिपक्षी (विरोधी) है, इससे यहाँ पक्ष-

पूर्वक उस पक्ष का प्रतिपेक्ष किया जाता है। वह वेदान्त विरोधी है अतएव वेदवाह्य यह ईश्वर की कल्पना अनेक प्रकार वाली है। कोई सेश्वर सांख्ययोग का आश्रयण करने वाले कल्पना करते हैं कि प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता केवल निमित्तकारण ईश्वर है। प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये तीनों परस्पर विलक्षण हैं, इस सिद्धान्त की कल्पना करने वाले हिरण्यगर्भ पतञ्जलि आदि हैं। महेश्वर से कथित आगम के अनुगामी माहेश्वर कहे जाते हैं। वे माहेश्वर लोग मानते हैं कि (१) महत्तत्वादिरूप कार्य, (२) ईश्वर प्रधानरूप कारण, (३) धारणा-ध्यान समाधिरूप योग, (४) धर्मार्थक व्यापाररूप विधि और (५) मोक्षरूप दुःखान्त, ये पाँच पदार्थ हैं सो पशुपतिरूप ईश्वर से जीवरूप पशु के बन्धनरूप पाशों के विमोक्षण (नाश) के लिये उपदिष्ट (कथित) हैं और पशुपतिरूप ईश्वर निमित्त कारण है। इस प्रकार वे लोग वर्णन करते हैं। इस सिद्धान्त को मानने वाले, (१) शैव, (२) पाशुपत, (३) कारुणिक सिद्धान्ती और (४) कापालिक—ये चार हैं। इसी प्रकार कोई वैशेषिक नैयायिकादि भी किसी प्रकार अपनी-अपनी प्रक्रियाओं के अनुसार निमित्त कारण ईश्वर है, इस प्रकार वर्णन करते हैं कि ईश्वर कुम्भकार के समान निमित्त कारण ही है, कर्म फलदाता है।

अत उत्तरमुच्यते — 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति। पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते, कस्मात् ? असामञ्जस्यात्। किं पुनरसामञ्जस्यम् ? हीनमध्यमोत्तमभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेपादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। प्राणिकमपिक्षितत्वाददोष इति चेत्। न। कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। नानादित्वादिति चेत्। न। वर्तमानकालवदतीतेष्वपि कालेष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरस्परान्यायापत्तः। अपि च 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (न्यायसूत्र १।१।१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थे प्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसामञ्जस्यं, स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। पुरुषविशेषत्वाभ्युपगमाच्चेष्टेश्वरस्य पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमाद्रसामञ्जस्यम् ॥ ३७ ॥

इससे उत्तर कहा जाता है कि (पत्युरसामञ्जस्यात्) पतिरूप ईश्वर को प्रधान और पुरुष के अधिष्ठातारूप से जगत् का कारणत्व उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि ऐसा कारण होने में असामञ्जस्य (अयुक्तता) है। यदि कहो कि वह असामञ्जस्य क्या है, तो कहा जाता है कि विशेष कारण होते हीनादि रचना के दोषगुणादि के ज्ञाता होते, हीन, मध्यम और उत्तमरूप से प्राणी के भेदों का विधान (सिद्धि) करते हुए ईश्वर को रागद्वेपादि दोषों की प्राप्ति से हम लोगों के समान अनीश्वरता की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि प्राणियों के कर्मों की अपेक्षापूर्वक प्राणी कर्म से प्रेरित होकर विषम कर्म फलों को सिद्ध करता है। तो ऐसा कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि कर्म जड़ है, ईश्वर

के प्रेरक नहीं हो सकते हैं । यदि कहो कि ईश्वर से प्रेरित कर्म ईश्वर की प्रेरणा करता है तो कर्म और ईश्वर को परस्पर प्रवर्त्य और प्रवर्तयिता होने से अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी । यदि कहो कि अतीत कर्म ईश्वर की प्रेरणा करता है, उससे प्रेरित होकर ईश्वर वर्तमान कर्म के लिए प्रेरणा करता है क्योंकि सत्तार कर्मप्रवाह को अनादिता है, इससे अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमान कर्म के समान अतीत कर्मों में भी जडता के कारण वे ईश्वर के प्रेरक नहीं हो सकते हैं, इससे ईश्वर से प्रेरित होकर ईश्वर की प्रेरणा करेंगे, तो वर्तमानकाल के समान अतीत कालों में भी अन्योन्याश्रय के तुल्य होने से कर्मकृत प्रेरणा के मानने पर अन्य परस्परा न्याय की ही प्राप्ति होगी । दूसरी बात है कि (प्रवर्तना प्रवृत्ति जनकत्वरूप लक्षण वाले रागद्वेष मोहरूप दोष होते हैं) इससे प्रवर्तकत्व दोष का हेतु है लिङ्ग है । यह न्यायवेत्ता का सिद्धान्त है । इससे न्यायमत के अनुसार प्रवर्तक ईश्वर में रागादि दोषों की प्राप्ति होती है । दोष से असम्बद्ध अप्रेरित कोई भी स्वार्थ वा परार्थ में प्रवृत्त होता हुआ नहीं देखा जाता है, किन्तु स्वार्थप्रयुक्त (स्वार्थ से संयोजित) ही सब जन परार्थ में भी प्रवृत्त होता है । इस प्रकार भी असामञ्जस्य है, क्यों कि इस प्रकार ईश्वर को स्वार्थ वाला होने से अनीश्वरता की प्राप्ति होती है । साख्य योग में ईश्वर को पुरुष मानने से और पुरुष को उदासीन मानने से प्रवर्तकत्व में असामञ्जस्य है । उदस्य कारणता निमित्तक विधेय कारणता से ये सब दोष हैं, अमिन्न निमित्तोपादानता पक्ष में सामान्य कारणता से, श्रुति बल से और (स्वभावस्तु प्रवर्तते) इस आश्रयोक्त माया आदि रूप-स्वभाव बल से कोई दोष नहीं प्राप्त होता है । यह भाव है ॥ ३७ ॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पुनरप्यसामञ्जस्यमेव, नहि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्ध प्रधानपुरुषयोरीशिता । न तावत्सयोगलक्षण संबन्ध सभवति, प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्च । नापि समवायलक्षणः संबन्धः, आश्रयाश्रयिभावानिरूपणात् । नाप्यन्य कश्चित्कार्यगम्य संबन्ध शक्यते कल्पयितुं, कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धत्वात् । ब्रह्मवादिनः कथमिति चेत् । न । तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः । अपि चागमबलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूप निरूपयतीति नावश्य तस्य तथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमिति नियमोऽस्ति, परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूप निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमित्ययमस्त्यतिशयः । परस्यापि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात्मानमानमागमबलमिति चेत् । न । इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादागमप्रत्ययात्सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाच्चागमसिद्धिरिति । तस्मादनुपपन्ना साख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना । एवमन्यास्वपि वेदवाह्यास्वीश्वरकल्पनासु यथासम्भवमसामञ्जस्य योजयितव्यम् ॥ ३८ ॥

फिर भी अन्य असामञ्जस्य कहा जाता है कि प्रधान और पुरुष से भिन्न ईश्वर सम्बन्ध के बिना प्रधान और पुरुष का नियन्ता नहीं हो सकता है। संयोगरूप सम्बन्ध का सम्भव नहीं है। क्योंकि परिच्छिन्न सावयव वस्तु का संयोग होता है। प्रधान, पुरुष तथा ईश्वर इन तीनों को सर्वगतत्व और निरवयवत्व है। गुण-गुणी आदि के समान इनमें आश्रयआश्रयिभाव के अनिरूपण (असिद्धि) से समवायरूप सम्बन्ध नहीं हो सकता है। कार्यकारणभाव से गम्य (अनुमेय) अन्य भी कोई सम्बन्ध कल्पना के योग्य नहीं है कि जिसकी कल्पना हो सके। क्योंकि अभी कार्यकारणभाव ही असिद्ध है। अर्थात् प्रधान के साथ सम्बन्ध की सिद्धि के बिना ईश्वर से प्रेरित प्रधान का महत्त्वादि जगत् कार्य है, इस प्रकार कार्यकारणभाव असिद्ध है। यदि कहो कि ब्रह्मवादी के मत में भी माया और ब्रह्म के विभु और निरवयव होने से संयोग नहीं हो सकता है, समवाय माना नहीं जाता है, कार्यकारणभाव असिद्ध है, इससे कार्यगम्य योग्यत्वरूप सम्बन्ध के अभाव से ब्रह्म और माया को अधिष्ठान-अधिष्ठेयभाव कैसे होगा, तो कहा जाता है कि यहाँ यह दोष नहीं है, उस ब्रह्म को माया के साथ अनिर्वाच्य तादात्म्य सम्बन्ध की सिद्धि (देवात्मशक्तिम्) इत्यादि श्रुति से होती है। दूसरी बात है कि ब्रह्मवादी आगम के बल से कारण आदि के स्वरूप का निरूपण करता है, इससे उसकी दृष्टि के अनुसार ही अवश्य सब मानना चाहिए यह नियम नहीं है। दृष्टान्त के बल से कारणादि के स्वरूप का निरूपण करने वाले अन्य लोगों को दृष्टि के अनुसार ही सब मानना चाहिए यह अतिशय (अत्यन्त भेद) है। यदि कहो कि अन्य को भी सर्वज्ञरचित आगम के रहने से आगम बलवुल्य ही है, तो सो कहना ठीक नहीं है क्योंकि आगमरूप हेतु से उसमें विश्वास से सर्वज्ञत्व की सिद्धि होती है, और सर्वज्ञत्वरूप हेतु से सर्वज्ञता में विश्वास से आगम में प्रमाणता की सिद्धि होती है, इससे अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है। वेदान्त में तो आगम ईश्वर के अनादि होने से अन्योन्याश्रयता नहीं है। इससे सांख्ययोगवादी की ईश्वर कल्पना अनुपपन्न है। इसी प्रकार अन्य भी वेद-ब्राह्म ईश्वर कल्पनाओं में यथासम्भव असामञ्जस्य की योजना कर्तव्य है ॥ ३८ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य । स हि परिकल्प्यमानः कुम्भ-कार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत् । न चैवमुपपद्यते । न ह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं सम्भवति, मृदादिवैल-क्षण्यात् ॥ ३९ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी तार्किकों से परिकल्पित ईश्वर की असिद्धि है। जिससे परिकल्पित वह ईश्वर, जैसे कुम्भकार मृत्तिकादि को अधिष्ठाय (ग्रहण करके) घटादि

कार्य के लिए प्रवृत्त होता है, वैसे ही प्रधानादि को ग्रहण करके उसे कार्यरूप से प्रवृत्त करेगा, परन्तु यह सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि अप्रत्यक्ष रूपादि से रहित प्रधान ईश्वर का भी अधिष्ठेय (वशवर्ती) नहीं हो सकता है जिससे उस प्रधान में मृत्तिकादि से विलक्षणता है । मृत्तिकादि कुम्भकारादि दृष्टान्त से ही तार्किक ईश्वर को सिद्ध करते हैं, इससे दृष्टान्त से विषमता के कारण मृत्तिकादि के समान प्रधान ईश्वर से ग्राह्य-प्रेम अधिष्ठेय नहीं हो सकता है ॥ ३९ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

स्यादेतत्, यथा करणग्राम चक्षुरादिकमप्रत्यक्ष रूपादिहीन च पुरुषोऽधितिष्ठत्येव प्रधानमपीश्वैरोऽधिष्ठास्यतीति । तथापि नोपपद्यते । भोगादिदर्शनादि करणग्रामस्याधिष्ठितत्व गम्यते । न चात्र भोगादयो दृश्यन्ते । करणग्रामसाम्ये ब्रह्मपुष्पगम्यमाने ससारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयो प्रसज्येरन् ।

पूर्वोक्त अर्थ में शका होती है कि यह प्रधान अप्रत्यक्ष-रूप रहित होते भी ईश्वर से अधिष्ठेय हो सकता है, जैसे करण समूह नेत्रादि अप्रत्यक्ष और रूपादिरहित होते भी पुरुष से अधिष्ठेय होते हैं, पुरुष उनका अधिष्ठाता होता है, इसी प्रकार ईश्वर भी प्रधान का अधिष्ठाता होगा । तो कहा जाता है कि इस प्रकार इन्द्रियों के समान भी ईश्वर प्रधान का अधिष्ठाता नहीं सिद्ध हो सकता है, जिससे इन्द्रियों द्वारा पुरुष के भोगादि को देखने से अनुमान द्वारा करण समूह को पुरुष से अधिष्ठितत्व समझा जाता है । इस ईश्वर में प्रधान द्वारा भोगादि नहीं दीखते हैं । न इन्द्रियों द्वारा भोगादि दीखते हैं, कि जिससे प्रधानादि के अधिष्ठातृत्व का अनुमान किया जाय । इन्द्रिय समूह के तुल्य प्रधान को मानकर पुरुष के समान ईश्वर प्रधान का अधिष्ठाता है, ऐसा मानो, तो प्रधान को करण समूह के तुल्य होने पर ईश्वर को भी ससार के समान भोगादि की प्राप्ति होगी । क्योंकि अतीन्द्रिय करणा के अधिष्ठाता में भोगादि देखे जाते हैं, इससे इन्द्रिय तुल्य प्रधान के अधिष्ठाता ईश्वर में भी भोगादि का अनुमान होगा । जिससे अनीश्वरत्व की प्राप्ति होगी । अनीश्वर ही रूपादिरहित, अप्रत्यक्ष, स्वभोगहेतु इन्द्रियों का अधिष्ठाता देखा गया है ॥

अन्यथा वा सूत्रद्वय व्याख्यायते । 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' । इतश्चानुपपत्ति-स्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य । साधिष्ठानो हि लोके सशरीरो राजा राष्ट्रस्येश्वरने दृश्यते न निरधिष्ठानः, अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनादृष्टमीश्वर कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किञ्चिच्छरीर करणायतन वर्णयितव्य स्यात्, न च तद्वर्णयितुं शक्यते । सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः । निरधिष्ठा नत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्ति एव लोके दृष्टत्वात् । 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः' । अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किञ्चित्करणानामायतन शरीर

कामेन कल्प्येत' एवमपि नोपपद्यते । सशरीरत्वे हि सति संसारिबद्धोद्भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत ॥ ४० ॥

अथवा इन दोनों सूत्रों का अन्यप्रकार से व्याख्यान किया जाता है कि अधिष्ठात्र (आश्रय-शरीर) की अनुपपत्ति से कुलालतुल्य तटस्थ कर्ता नहीं हो सकता है । इस हेतु से भी तार्किक से कल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है कि जिससे लोक में साधिष्ठान अर्थात् शरीर सहित राजा ईश्वर (नियन्ता) दीखता है । निरधिष्ठान (शरीररहित) नियन्ता नहीं दीखता है । इससे उस राजा के दृष्टान्त वश से अदृष्ट ईश्वर की कल्पना की इच्छा वाले को ईश्वर के भी इन्द्रियों के आश्रयरूप कोई शरीर का वर्णन करना होगा । उस शरीर का वर्णन नहीं किया जा सकता है । क्योंकि सृष्टि के उत्तर काल में शरीर के होने से, सृष्टि से पूर्वकाल में शरीर की अनुपपत्ति है । निरधिष्ठानत्व, शरीर रहितत्व रहते ईश्वर को प्रवर्तकत्व की अनुपपत्ति है, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा गया है । इसी से यदि ईश्वर का भी करणवत् (करण का आश्रय शरीर) मानो तो भोगादि की प्रसक्ति से अनीश्वरता की प्राप्ति होती है । अर्थात् लोकदृष्टि के अनुसार से यदि ईश्वर का भी कोई करणों का आश्रयरूप शरीर काम से कल्पित सिद्ध करो, कि ईश्वर इच्छा से शरीर रच लेता है, तो ऐसी कल्पना करने पर भी ईश्वरत्व नहीं उपपन्न होता है, जिससे शरीर सहित होने पर संसारी के समान भोगादि की प्राप्ति से ईश्वर को भी अनीश्वरत्व की प्राप्ति होगी ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य । स हि सर्वज्ञस्तैरभ्युपगम्यतेऽनन्तश्च, अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते । तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्येत वा न वा परिच्छिद्येत, उभयथापि दोषोऽनुपपन्न एव । कथम् ? पूर्वस्मिन्तावद्विकल्पे इयत्तापरिच्छिन्नत्वात्प्रधानपुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यं भाव्येवं लोके दृष्टत्वात् । यद्वि लोके इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु घटादि तदन्तवद्दृष्टं तथा प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्नत्वादन्तवत्स्यात् । संख्यापरिमाणं तावत्प्रधानपुरुषेश्वरत्रयरूपेण परिच्छिन्नम्, स्वरूपपरिमाणमपि तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्येतेति । पुरुषगता च महासङ्ख्या । तत्तश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान्संसारित्वं च तेषामन्तवत्, एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात् । प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याधिष्ठेयं संसारित्वेनाभिमतं तच्छून्यतायामीश्वरः किमधितिष्ठेत्, किंविपये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम् । प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः, आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः । अथ मा भूदेप दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत-न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परि-

च्छिद्यत-इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिरपरो दोष प्रसज्येत । तस्मादप्यमङ्गलतस्तार्किकपरिगृहीत ईश्वरकारणवाद ॥ ४१ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी तार्किक से परिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है । जिससे उन तार्किकों से वह ईश्वर सर्वज्ञ और अनन्त माना जाता है । अनन्त ही प्रधान माना जाता है, तथा अनन्त पुरुष माने जाते हैं । ये सब परस्पर भिन्न माने जाते हैं । यहाँ देश काल वस्तुवृत्त अन्तरहित होने वाला अनन्त एक ही हो सकता है, अनेक नहीं हो सकता है । वास्तविक विमृत्तारूप अनन्तता त्रिविध परिच्छेद रहितता ही है, जो एक वस्तु दूसरी वस्तु के अन्दर सर्वथा प्रविष्ट है, वह रज्जु सर्प के समान मिथ्या है । वही अन्तवाली है, प्रधान पुरुष यदि ईश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट है, तो अन्त वाले मिथ्या हैं । ईश्वर भी यदि इनके स्वरूप में सर्वथा प्रविष्ट है इनसे भिन्न देशकाल वाला नहीं है, तो वह भी अन्त वाला मिथ्या है, अत एव असर्वज्ञ अनीश्वर है । दूसरी बात है कि ईश्वर प्रधान और पुरुष के अनन्त होने पर सर्वज्ञ ईश्वर से प्रधान की, पुरुष की और अपनी इयत्ता (सख्या और परिमाण) परिच्छिन्न (अनुभूत) होती हो अथवा नहीं होती हो । दोनों प्रकार से भी दोष की प्राप्ति होती ही है । क्योंकि प्रथम विकल्प (पक्ष) में इयत्ता परिच्छिन्न (सख्या परिमाणयुक्त) होने से प्रधान पुरुष और ईश्वर को अन्तवत्त्व अवश्य होगा, क्योंकि ऐसा ही लोक में देखा जाता है । जैसे लोक में जो इयत्ता में परिच्छिन्न वस्तु घटादि हैं, सो अन्तवाले देखे गये हैं, जैसे ही प्रधान पुरुष और ईश्वर इन तीनों की भी इयत्ता से परिच्छिन्न होने से ये तीनों अन्त वाले होंगे । प्रथम सख्यापरिमाण (सख्यास्वरूप) प्रधान, पुरुष और ईश्वर इन तीन रूपों से परिच्छिन्न है । उन प्रधानादिगत स्वरूप परिमाण भी ईश्वर से परिच्छिन्न होगा । पुरुषगत महासख्या भी ईश्वर में परिच्छिन्न होगी । इससे इयत्ता से परिच्छिन्न के मध्य में बतमान जो ससारी ससार से मुक्त होंगे, उनका ससार अन्तवाला होगा, और उनका ससारित्व अन्तवाला होगा । इसी प्रकार अन्य के भी क्रम से मुक्त होने पर ससार और ससारित्व को अन्तवत्त्व होगा । विकाररहित प्रधान पुरुष का प्रयोजन के लिए ईश्वर के अधिष्ठेय (वक्ष्यवर्ती) ससारीरूप से अभिमत है । उस समारी से शून्यता की प्राप्ति होने पर ईश्वर किसका अधिष्ठान (नियमन) करेगा । वा किस विषयक उस ईश्वर की ईश्वरता और सर्वज्ञता होगी । इस प्रकार प्रधान पुरुष और ईश्वर के अन्तवाले होने पर आदिमत्ता की भी प्राप्ति होगी । इन सब के आदि अन्त वाले होने पर शून्यवाद का प्रसङ्ग होगा । यह दोष नहीं प्राप्त हो इसलिए यदि उत्तर विकल्प वा स्वीकार करें कि प्रधान पुरुष और ईश्वर की इयत्ता ईश्वर से परिच्छिन्न नहीं होती है, तो ईश्वर की सर्वज्ञता के अभ्युपगम की हानिरूप दूसरा दोष प्राप्त होगा, यदि इयत्ता नहीं होती तब तो उस के अज्ञान निमित्तक असर्वज्ञता भी नहीं होती, परन्तु भेदरूप विशेषवत्ता से अन्य द्रव्य के समान इयत्ता अवश्य है ही । इससे भी तार्किक से परिगृहीत ईश्वर कारणवाद असङ्गत है ॥ ४१ ॥

उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण (८)

जीवोत्पत्त्यादिकं पाञ्चरात्रोक्तं युज्यते न वा ।

युक्तं नारायणव्यूहतत्समाराधनादिवत् ॥ १ ॥

युज्यतामविरुद्धोऽंशो जीवोत्पत्तिर्न युज्यते ।

उत्पन्नस्य विनाशित्वे कृतनाशादिदोषतः ॥ २ ॥

पञ्चरात्र मत में जीव की उत्पत्ति ईश्वर से मानी जाती है । परन्तु बीजाक्षुर न्याय से अनादि शरीर कर्म प्रवाह का आश्रय ईश्वरामिन्न कल्पित भेदवाले जीव की उत्पत्ति असम्भव से यह मत भी अयुक्त है । यहाँ संशय है कि पञ्चरात्र में कहे गये जीव के उत्पत्ति आदि युक्त हैं । अथवा अयुक्त हैं । पूर्वपक्ष है कि नारायण का व्यूह (अनेक रूप से स्थिति) समूह, और नारायण के सम्यक् आराधना आदि के कथन समान जीवोत्पत्ति का कथन भी युक्त है । सिद्धान्त है कि श्रुति से अविरुद्ध अंशरूप व्यूहादि युक्त हो सकते हैं । परन्तु जीव की उत्पत्ति युक्त नहीं है । क्योंकि उत्पन्न जीव के विनाशित्व भी होने से कृत कर्म का नाश होगा, और नवीन उत्पन्न जीव को अकृत कर्मफल की प्राप्तिरूप दोष प्राप्त होंगे ॥ १-२ ॥

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥

येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यातः, येषां पुनः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते । ननु श्रुतिसमाश्रयणेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चेति, श्रुत्यनुसारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः, तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति । उच्यते । यद्यप्येवंजातीयकोऽंशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवत्यस्ति त्वंशान्तरं विसंवादस्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायारम्भः । तत्र भागवता मन्यते—भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वं, स चतुर्धाऽऽत्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितो वासुदेवव्यूहरूपेण संकर्षणव्यूहरूपेण प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्धव्यूहरूपेण च । वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते । संकर्षणो नाम जीवः । प्रद्युम्नो नाम मनः । अनिरुद्धो नामाहंकारः । तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम् । तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत—इति ।

जिनको अप्रकृति स्वरूप अधिष्ठाता केवल निमित्त कारण स्वरूप ईश्वर अभिमत है, उनके पक्ष का प्रत्याख्यान हो चुका । जिनको प्रकृति और अधिष्ठाता दोनों कारणरूप ईश्वर अभिमत है, उनके पक्ष का अब प्रत्याख्यान किया जाता है । यदि कहा जाय कि श्रुति का आश्रयण करके भी इस प्रकार के स्वरूप वाला ही ईश्वर पूर्व निर्धारित हुआ है कि ईश्वर प्रकृति और अधिष्ठाता उभय स्वरूप है । श्रुति की अनुसारिणी (अविरुद्ध)

स्मृति प्रमाण होती है, ऐसी स्थिति (मर्यादा) है। तो फिर किस हेतु से यह पदा प्रत्याख्यान की इच्छा का विषय होना है। तो कहा जाता है कि यद्यपि इस प्रकार का अर्थ (स्मृतिभाग) समान होने से विसवाद का विषय नहीं है (विरोध प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है) किन्तु अन्य अर्थ विसवाद विवाद का स्थान है, इससे उसका प्रत्याख्यान के लिए आरम्भ किया जाता है। उस ईश्वर के विषय में भगवत (भगवदुपासक) मानते हैं कि वासुदेव निरञ्जन ज्ञानस्वरूप एक भगवान् ही परमाद्यैतत्त्व है, सो अपने आत्मा को चार रूप से प्रविभक्त करके, वासुदेव मूर्तिरूप से, सकर्षण मूर्तिरूप से, प्रद्युम्न मूर्तिरूप से और अनिरुद्ध मूर्तिरूप से प्रतिष्ठित है। वहाँ वासुदेव इस नाम से परमात्मा कहा जाता है। सकर्षण नाम से जीव कहा जाता है। प्रद्युम्न नाम वाला मन है और अनिरुद्ध नाम वाला अहंकार है। इनमें वासुदेव परा प्रकृतिरूप हैं। उनसे भिन्न सकर्षणादि कार्य हैं। इस प्रकार के परमेश्वर उस भगवान् को उनके मन्दिर में अभिगमन, पूजा के हेतु द्रव्य का उपाजर्जरूप उपादान, इज्या (पूजा) मन्त्रपाठ, और योग (ध्यान) द्वारा सौ वर्ष पूजकर क्षीण बलेशवाला अविद्यादिरहित होकर जीव उस भगवान् की ही प्राप्त होता है।

तत्र यत्तावदुच्यते—योऽग्री नारायण परोऽव्यक्तात्प्रसिद्ध परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनाऽऽज्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित—इति, तन्न निराश्रित्यते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधा भावम्याधिगतत्वात् । यद्यपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमा-राधनमजम्बमनन्याचित्ततयाभिप्रेयते, तदपि न प्रतिषिध्यते, श्रुतिस्मृत्योरोश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात् । यत्पुनरिदमुच्यते—वासुदेवात्मसकर्षण उत्पद्यते सकर्षणान्च प्रद्युम्नः प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध—इति । अत्र ब्रूम । न वासुदेवसज्जकात्परमात्मन सकर्षणसज्जकस्य जीवस्योत्पत्तिः सम्भवति, अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् । उत्पत्ति-मत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषा प्रमज्ज्येरन्, ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्ति-मोक्षः स्यात्, कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात् । प्रतिषेधिष्यति चाचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्—'नात्माऽश्रुतेनित्यत्वाच्च ताम्य' (ब्र० सू० २।३।१७) इति । तस्मादमङ्गुर्तपा कल्पना ॥ ४२ ॥

वहाँ जो यह कहा जाता है कि जो वह नारायण अव्यक्त से पर प्रसिद्ध सर्वात्मा परमात्मा है, सो अपने से अपने को अनेक प्रकार से रचकर अवस्थित है, इसका निराकरण नहीं किया जाता है। क्योंकि (वह एकधा होता है, त्रिधा होता है) इत्यादि श्रुति वाक्यों से परमात्मा के भी अनेक प्रकार के भाव (सत्ता स्वभाव) अधिगत (ज्ञात) होता है। जो भी उस भगवान् की अनन्यचित्तरूप से सदा अभिगमनादिरूप आराधन अभिप्रेत मन्तव्य है, उसका भी प्रतिषेध नहीं किया जाता है। क्योंकि श्रुति स्मृति में ईश्वर के प्रणिधान (मक्ति ध्यानादि) की प्रसिद्धि है। परन्तु जो यह कहा जाता है कि वासुदेव से सकर्षण उत्पन्न होता है। सकर्षण से प्रद्युम्न,

तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उत्पन्न होता है। यहाँ कहते हैं कि वासुदेव संज्ञक परमात्मा से संकर्षण संज्ञक जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि उत्पत्ति होने पर जीव में अनित्यत्व कृत हानि अकृत प्राप्ति आदि दोषों की प्राप्ति होगी। और उत्पत्ति वाला होने से जब अनित्यत्वादि दोष जीव को प्राप्त होंगे, तो उसी से इस जीव को भगवान् की प्राप्ति रूप मोक्ष नहीं होगा, क्योंकि कार्य को कारण में प्राप्ति होने पर प्रविलय (नाश) का प्रसङ्ग होता है। सूत्रकार आचार्य जीव की उत्पत्ति का प्रतिषेध करेंगे कि (नात्माऽश्रुतेनित्यत्वाच्च ताभ्यः) उत्पत्ति प्रकरण-में उत्पत्ति की अश्रुति से और अजत्वादि के बोधक श्रुतियों से आत्मा को नित्यत्व है। नित्यत्व से आत्मा उत्पन्न नहीं होता है। इससे यह उत्पत्ति की कल्पना असङ्गत है ॥ ४२ ॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

इतश्चासंगतेषां कल्पना, यस्मान्न हि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते। वर्णयन्ति च भागवताः—कर्तुर्जीवात्संकर्षणसंज्ञकात्करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते कर्तुर्जाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहंकार उत्पद्यत-इति। न चैतद्दृष्टान्तमन्तरेणाध्यवसातुं शक्नुमः, न चैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे ॥ ४३ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी यह कल्पना असंगत है कि जिससे करण के प्रयोगकाल में लोक में कर्ता देवदत्तादि से परशु आदि करण उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा जाता है, जीव सदा मन का प्रयोक्ता है सब कार्य में उसका करण मन है, करणान्तर के बिना मन को कैसे उत्पन्न करेगा, और यदि बिना करण के मन को उत्पन्न करेगा तो सब कार्य मन के बिना भी कर सकेगा, मन की उत्पत्ति व्यर्थ होगी। ऐसा होते भी भागवत लोग वर्णन करते हैं कि संकर्षण संज्ञक कर्ता जीवसे प्रद्युम्न संज्ञक करणरूप मन उत्पन्न होता है। और कर्ता से जन्य उस मन से अनिरुद्ध संज्ञक अहंकार उत्पन्न होता है। यह दृष्टान्त के बिना निश्चय नहीं कर सकते हैं, न इस प्रकार की श्रुति को देखते हैं ॥ ४३ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

अथापि स्यान्न चैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाभिप्रेयन्ते, किं तर्हि? ईश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिर्ईश्वरैर्धर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति, तस्मान्नायं यथावर्णित उत्पत्त्यसंभवो दोषः प्राप्नोतीति। अत्रोच्यते। एवमपि तदप्रतिषेध उत्पत्त्यसंभवस्याप्रतिषेधः प्राप्नोत्येव। अयमुत्पत्त्यसंभवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथम्? यदि तावदयमभिप्रायः परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम्, एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः। सिद्धान्तहानिश्च, भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमित्यभ्युपगमात्। अथायमभिप्रायः—एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तु-

ल्यधर्माण -इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसम्भव । न हि वासुदेवात्सकर्म-
णस्योत्पत्तिः सम्भवति सकर्मणाच्च प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्य, अतिशया-
भावात् । भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन यथा मृद्वद्वयो । न ह्यसत्यतिशये
कार्यं कारणमित्यवकल्पते । न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकस्मिन्सर्वेषु
वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतं कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते वासुदेवा एव हि सर्वं व्यूहा
निविशेता इष्यन्ते । न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसख्यायामेवावतिष्ठेरन् ब्रह्मादि-
स्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात् ॥ ४४ ॥

और यदि ऐसा अभ्युपगम हो कि, सकर्मणादि जीवादिभाव से अभिप्रेत नहीं है,
वासुदेवादि से सकर्मणादि उत्पन्न नहीं होते हैं । तो ये क्या हैं कि ये सब ईश्वर ही
हैं । इससे ज्ञान और ऐश्वर्य की आन्तरशक्ति शरीर सम्बन्धी बल, शौर्यरूप वीर्य,
प्रागल्भ्य रूप तेज स्वरूप ईश्वरीय धर्मों से युक्त ये माने जाते हैं, ये सब वासुदेव ही हैं ।
इससे रागादि दोषों से शून्य, उपादानरूप अधिष्ठान रहित और निरवयव (अनित्यत्वादि
दोष शून्य) हैं । इससे यह पूर्व वर्णित उत्पत्ति का असम्भव रूप दोष नहीं प्राप्त होता
है । यहाँ कहा जाता है कि ऐसा मानने पर भी उस दोष का अप्रतिषेध है । अर्थात्
उत्पत्ति के असम्भव का अप्रतिषेध प्राप्त होता ही है, परन्तु यह उत्पत्ति का असम्भव
अब अन्य प्रकार से प्राप्त होता है, यह अभिप्राय है । यदि कहो कि कैसे प्राप्त होता है,
वहाँ कहा जाता है कि ये सब ईश्वर ही हैं । उस कथन का यदि यह अभिप्राय हो कि
ये वासुदेवादि चारों परस्पर भिन्न ही तुल्य धर्मवाले ईश्वर हैं, इनको एकात्मता नहीं
है तब तो अनेक ईश्वर की कल्पना में अनर्थकता है । क्योंकि एक ईश्वर से ही ईश्वर
का कार्य सिद्ध होता है । और सिद्धान्त की भी हानि होगी । क्योंकि एक भगवान् वासु-
देव ही परमार्थ तत्त्व है, यह आप का अभ्युपगम (सिद्धान्त) है । यदि यह अभिप्राय
हो कि ये चारों तुल्य धर्मवाले एक भगवान् के ही व्यूह (मूर्तिविकार) हैं, तो उत्पत्ति
असम्भव रूप दोष पूर्वं के समान है । क्योंकि तुल्य धर्मवाले होने से अतिशय के
अभाव रहते, वासुदेव से सकर्मण की उत्पत्ति का सम्भव नहीं है । न सकर्मण से
प्रद्युम्न की न प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति का सम्भव है । कार्य और कारण में
अवश्य अतिशय (भेद औत्कर्ष) होना चाहिए । जैसे मृत्तिका और घट में अतिशय
होता है । अतिशय के नहीं रहते यह कार्य है, यह कारण है ऐसा पृथक् व्यवहार नहीं
हो सकता है, पञ्चरात्र के सिद्धान्त को मानने वाले वासुदेवादिको में से एक में वा सब
में ज्ञान और ऐश्वर्य आदि को तारतम्य (न्यूनाधिक्य) से अब किसी भेद को नहीं
मानते हैं । क्योंकि ये सब व्यूहनिविशेता वासुदेव ही हैं ऐसा इनका मन्तव्य है । परन्तु ये
भगवान् के व्यूह चार सख्या में ही स्थिर रहनेवाले नहीं हैं । क्योंकि ब्रह्मा से
स्तम्बपर्यन्त समस्त ही जगत् को भगवान् के व्यूहत्व (मूर्तित्व) का अवगम
(स्वीकार) है ॥ ४४ ॥

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

विप्रतिषेधश्चास्मिञ्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः ।
 ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवा इत्यादि-
 दर्शनात् । वेदविप्रतिषेधश्च भवति, चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं
 शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात् । तस्मादसङ्गतैषा कल्पनेति सिद्धम् ॥
 इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृती शारीरक-
 मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥ २ ॥

—: ० :—

और पञ्चरात्रशास्त्र में बहुत प्रकार का विरोध उपलब्ध होता है, सो विरोध
 गुणगुणित्व के कल्पनादि स्वरूप है । क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज ये
 भगवान् के गुण हैं । ज्ञानादि ये सब आत्मा ही हैं, भगवान् वासुदेव स्वरूप ही हैं,
 इत्यादि देखने से विरोध सिद्ध होता है । इसी प्रकार प्रद्युम्न, अनिरुद्ध को भगवान् से
 भिन्न मानकर भगवान् स्वरूप मानना विरुद्ध है । यद्यपि वेदान्त में जैसे सत्तारूप से
 सब ब्रह्म स्वरूप है, और औपाधिक मायिरूप से भिन्न भी है, क्योंकि श्रुति ही कहती
 है कि यह सब ब्रह्मस्वरूप है, इन्द्र माया से बहुरूप होता है इत्यादि, तथापि इस
 भागवत मत में एक सत्ता और माया मानी नहीं गई है, इससे उक्त दोष है । एक
 सत्ता माया को मानने पर सिद्धान्त की हानि होगी । वेद से विरोध भी इस शास्त्र में है
 कि चार वेदों में परश्वेदः को नहीं लाभ (प्राप्त) करके शाण्डिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त
 किया, इत्यादि वेद की निन्दा देखने से वेद से विरोध सिद्ध होता है, इससे यह कल्पना
 असङ्गत है । यह सिद्ध हुआ ॥ ४५ ॥

स्वतन्त्रान्न प्रधानाद्वा न चाणोर्वै जगज्जनिः ।

नामावान्न तदस्याद्वा महेश्वराद्धि जायते ॥ १ ॥

तस्मात् सर्वात्मकादीनाञ्जगज्जन्मादिकल्पना ।

जल्पनामात्ररूपैव न जीवस्यास्ति सापि हि ॥ २ ॥

अनन्तं सच्चिदानन्दं ब्रह्म जीवात्मना स्थितम् ।

अज्ञानात् सोऽस्ति संसारी ज्ञानात् कैवल्यमश्नुते ॥ ३ ॥

यदात्मना जगन्नित्यं यं विहाय न किञ्चन ।

तं वन्दे परमानन्दं सर्वतः सर्वदा स्थितम् ॥ ४ ॥

अनन्ताय विमुक्ताय निर्गुणाय निजात्मने ।

नमोऽस्तु परमानन्दरूपाय परमात्मने ॥ ५ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य सांख्यादिमतानां दृष्टत्वप्रदर्शनं नाम द्वितीयः पादः ।

—: ० :—

द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

[अत्र पादे पञ्चमहाभूतजीवादिश्रुतीनां विरोधपरिहार]

वियदधिकरण (१)

व्योम नित्य जायते वा हेतुत्रयविवर्जनात् ।

गतिश्रुतेश्च गौणत्वाच्चित्य व्योम न जायते ॥ १ ॥

एकज्ञानात्मव्युद्धेविभक्तत्वाज्जनिश्रुते ।

विवर्ते कारणैकत्वाद् ब्रह्मणो व्योम जायते ॥ २ ॥

पूर्वपाद के अन्त में जीव की उत्पत्ति का विचार हुआ है । उसके प्रमग से इस पाद के आदि में आकाश की उत्पत्ति का विचार किया जाता है । यहाँ प्रथम एकदेशी मत पूर्वपक्ष से अधिकरण का आरम्भ है कि छान्दोग्य श्रुति में आकाश की उत्पत्ति के अथर्वण से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ यह सूत्रार्थ है ॥ सशय है कि आकाश नित्य है, अथवा उत्पन्न होता है । पूर्वपक्ष है कि कार्य की उत्पत्ति में समवायी, असमवायी और निमित्त ये तीन हेतु होने हैं । यहाँ ससग सावयव द्रव्य के अवयव समवायी कारण होने हैं उनका सयोग असमवायी कारण होता है । उन दोनों से भिन्न निमित्त कारण होता है । असगता से आत्मा के समान निरवयवता के अनुमान होने पर तीनों कारण का अभाव सिद्ध होता है, इससे आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है । इससे तैत्तिरीयश्रुति में जो आकाश की उत्पत्तिश्रुति है सो गौण है, गुण की उत्पत्ति से आकाश की उत्पत्ति कही गई है । सिद्धान्त है कि एक ब्रह्म के ज्ञान से सब के ज्ञान की श्रुति से, तथा आकाश को अन्य भूतादि से विभक्त होने, ब्रह्मात्मा के समान सर्वात्मा नहीं होने से और उत्पत्ति की श्रुति में आकाश के जो अवयव अनुमित हो सकते हैं । अति सूक्ष्मता से असङ्गता भी हो सकती है । दूसरी बात है कि विवर्तन रूप कार्य में कारण की एकता रहती है । इससे एक ब्रह्म से आकाश उत्पन्न होता है ॥ १-२ ॥

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते । केचिदाकाश-स्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । तथा केचिद्वायोत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । एव जीवस्य प्राणाना च । एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेध श्रुत्यन्तरेषु पल्लभ्यते । विप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षितत्वं स्थापितं तद्वत्त्वपक्षस्यापि विप्रतिषेधादेवानपेक्षितत्वमाशङ्क्येत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थनिर्मलत्वाय परः प्रपञ्च आरभ्यते । तदर्थनिर्मलत्वे च फलं यथोक्ताशङ्कानिवृत्तिरेव । तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यने किमस्याकाशस्योत्पत्तिरित्युक्तं नास्तीति । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते — 'न वियदश्रुतेः' इति । न एवाकाशमुत्पद्यते । कस्मात् ? अश्रुते, न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति । छान्दोग्ये हि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (६।२।१) इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य 'तदेकत'

‘तत्तेजोऽसृजत’ (छा० ६।२।३) इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदि कृत्वा त्रयाणां तेजोवन्नानामुत्पत्तिः श्राव्यते । श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ, न चात्र श्रुतिरस्त्याकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादिनी, तस्मान्नास्योत्पत्तिरिति ॥ १ ॥

वेदान्त में तत्तत् स्थानों श्रुतियों में भिन्न-भिन्न गति रीति वाली उत्पत्ति विषयक श्रुतियाँ सुनी जाती हैं उपलब्ध होती हैं । कोई श्रुतियाँ आकाश की उत्पत्ति का कथन करती हैं, कोई उत्पत्ति का कथन नहीं करती हैं । इसी प्रकार कोई श्रुति वायु की उत्पत्ति कहती हैं, कोई नहीं कहती हैं । इसी प्रकार (सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति । एतस्माज्जायते प्राणः) इत्यादि श्रुतियाँ जीव और प्राणों की भी उत्पत्ति कहती हैं । इसी प्रकार क्रम आदि द्वारा विरोध भी अन्य श्रुतियों में देखा जाता है । अर्थात् कहीं आकाशपूर्वक सृष्टि कही जाती है, कही तेजपूर्वक कही जाती है । कहीं क्रम विना ही सृष्टि कही जाती है । विरोध से परपक्षों (अन्य सिद्धान्तों) को अनपेक्षितत्व स्थापित किया है कि परस्पर विरुद्ध होने से तथा पूर्वापर विरुद्ध होने से ये उपेक्ष्य (त्याज्य) हैं । इसी प्रकार स्वपक्ष को भी विरोध से ही अनपेक्षितत्व (त्याज्यत्व) की शंका की जा सकती है । इस कारण से सब वेदान्त में गत (प्राप्त) सृष्टि विषयक श्रुतियों के अर्थ की निर्मलता (अविरोधिता) के लिए आगे का प्रपञ्च विस्तार (दो पाद) आरम्भ किये जाते हैं । श्रुत्यर्थ के निर्मलत्व का फल उक्त शंका की निवृत्ति ही है । उस निर्मलता के लिए प्रथम आदि में आकाश को आश्रयण (विचार का विषय) करके चिन्ता (विचार) की जाती है कि इस आकाश की उत्पत्ति होती है, या नहीं होती है, वहाँ अविरोध के ही लिए सिद्धान्त के एकदेशी से प्रथम प्रतिपादन किया जाता है कि (न वियदश्रुतेः) निश्चय है कि आकाश नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि उत्पत्ति प्रकरण में इस आकाश के अश्रवण से उसकी अनुत्पत्ति का निश्चय होता है । उत्पत्ति प्रकरण में आकाश का श्रवण नहीं है । जिससे छान्दोग्य श्रुति में (हे सोम्य ! यह जगत् सृष्टि से प्रथम सन्मात्र ही था, एक अद्वितीय ही था) इस प्रकार सत् शब्द का वाच्यार्थ ब्रह्म निरूपण का आरम्भ कर के लिखा है कि (उस ब्रह्म ने ईक्षण विचार किया) फिर (उसने तेज को उत्पन्न किया) इस प्रकार पाँचों भूतों के मध्यम (मध्यदेशगत) तेज को आदि स्थान में करके तेज जल और अन्न (भूमि) इन तीनों की उत्पत्ति सुनाई जाती है । अतीन्द्रिय परोक्ष भूत भावी आदि अर्थों के विज्ञान की उत्पत्ति के लिए श्रुति ही हमें प्रमाण है । इस छान्दोग्य में आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाली श्रुति नहीं है । इससे आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे । सा नामाकाशस्य छान्दोग्ये भूदुत्पत्तिः, श्रुत्यन्तरे त्वस्ति । तत्तिरीयका हि समामनन्ति ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इति प्रकृत्य

‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः समूतः’ (तै० २।१) इति । ततश्च श्रुत्यो-
विप्रतिषेधः क्वचित्तेजः प्रमुखाः सृष्टिः क्वचिदाकाशप्रमुखेति । नन्वेकवाक्यता-
नयो श्रुत्योर्युक्ता । सत्यम् । सा युक्ता न तु सावगन्तुं शक्यते । कुतः ?
‘तत्तेजोऽमृजतः’ (छा० ६।१।३) इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन सवन्धा-
नुपपत्तेः ‘तत्तेजोऽमृजतः’ ‘तदाकाशमसृजतः’ इति । ननु सकृच्छ्रुतस्यापि कर्तुं
कर्तव्यद्वयेन सवन्धो दृश्यते, यथा सूपः पक्त्वौदनं पचतीति, एवं तदाकाशः
सृष्ट्वा तत्तेजोऽमृजतेति योजयिष्यामि । नैव युज्यते, प्रथमजत्व हि छान्दोग्ये
तेजसोऽजगम्यते तैत्तिरीयके चाकाशस्य, न चोभयोः प्रथमजत्वः सभवति । एते-
नेतरश्रुत्यन्तरविरोधोऽपि व्याख्यातः । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः समूतः
(तै० २।१) इत्यत्रापि ‘तस्मादाकाशः समूतस्तस्मात्तेजः समूतमिति सकृच्छ्रु-
तस्यापादानस्य सभवनस्य च वियत्तेजोभ्यां युगपत्सवन्धानुपपत्तेः । ‘वायोरग्निः’
(तै० २।१) इति च पृथगाम्नानात् ॥ २ ॥

तु शब्द पश्चान्तर के परिग्रह (स्वीकार) अर्थ में है कि छान्दोग्य में आकाश की
उत्पत्ति का श्रवण न होने पर भी अन्य श्रुति में तो आकाश की उत्पत्ति का वर्णन
है । जिससे तैत्तिरीयक शाखावाले कहते हैं कि (सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है)
इस प्रकार आरम्भ करके कहते हैं कि (उस मन्त्र से प्रतिपादित और इस ब्राह्मण से
प्रतिपादित ब्रह्मात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इससे दोनों श्रुति का विरोध है कि
कहीं तेजः प्रमुखा (तेजपूर्वक) सृष्टि है, तो कहीं आकाशपूर्वक सृष्टि वर्णित है । शका
होती है कि विरोध से अप्रमाणता की प्राप्ति होती है । इससे इन दोनों श्रुतियों की
किसी प्रकार एकवाक्यता का अविरोध होना युक्त है । वहाँ कहा जाता है कि वह एक-
वाक्यता युक्त है, यह बात तो सत्य है । परन्तु वह एकवाक्यता समझी नहीं जा
सकती है । क्योंकि (उसने तेज को रचा) इस प्रकार एक बार सुना गया स्रष्टा (सृष्टि
कर्ता) का स्रष्टव्य (कार्य) दो के साथ सम्बन्ध की अनुपपत्ति है । अर्थात् उसने तेज
को रचा, उसने आकाश को रचा, इस प्रकार का सम्बन्ध एकवाक्यता के लिए नहीं
हो सकता है । शका होती है कि एक बार सुने गये हुए कर्ता का भी दो कर्तव्य
कार्य के साथ क्रम से सम्बन्ध देखा जाता है, जैसे कि सूप (दाल) पकाकर ओदन
(भात) बनाता है । इसी प्रकार (उसने आकाश को रचकर तेज को रचा) ऐसी योजना
(एकवाक्यता) करेंगे । वहाँ कहा जाता है कि ऐसी योजना हो नहीं सकती है ।
क्योंकि छान्दोग्य में तेज का प्रथमजत्व (ज्येष्ठत्व) अवगत होता है कि उत्पन्न होने
वाले सब पदार्थों से प्रथम तेज उत्पन्न हुआ । तैत्तिरीयक में आकाश का प्रथमजत्व
अवगत होता है । दोनों के प्रथमजत्व का सम्भव नहीं है । इस छान्दोग्य का तैत्तिरीय
के साथ विरोध-प्रदर्शन से ही, तैत्तिरीय का छान्दोग्य के साथ अन्य श्रुत्यन्तर-विरोध
भी व्याख्यात हो गया कि (उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) यहाँ भी (उस

से आकाश उत्पन्न हुआ, उससे तेज उत्पन्न हुआ) इस प्रकार एक बार सुना गया उपादान कारण का और सम्भव (उत्पत्तिक्रिया) का एक काल में आकाश और तेज के साथ सम्बन्ध की अनुपपत्ति से एकवाक्यता नहीं हो सकती । छान्दोग्य में तेज का उपादान सत्यात्मा सुना जाता है । तैत्तिरीय में आत्मा से पृथक् वायु का तेज के उपादान रूप से कथन है कि वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, इससे भी एकवाक्यता नहीं हो सकती है ॥ २ ॥

अस्मिन्विप्रतिपेदे कश्चिदाह—

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

नास्ति वियत उत्पत्तिरश्रुतेरेव । या त्वितरा वियदुत्पत्तिवादिनी श्रुतिरुदाहृता सा गौणी भवितुमर्हति । कस्मात् ? असंभवात् । न ह्याकाशस्योत्पत्तिः संभावयितुं शक्या श्रीमत्कणभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु । ते हि कारणसामग्र्यसंभवादाकाशस्योत्पत्तिं वारयन्ति । समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते । द्रव्यस्य चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति । न चाकाशस्यैकजातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन्समवायिकारणे सत्यसमवायिकारणे च तत्संयोगे आकाश उत्पद्येन । तदभावात् तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणं दूरापेतमेवाकाशस्य भवति । उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभाव्यते प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादिकार्यं न वभूव पश्चाच्च भवतीति । आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यते । किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं वभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम् । पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादिलक्षणादाकाशस्याजत्वसिद्धिः । तस्माद्यथा लोक आकाशं कुरु आकाशो जात इत्येवंजातीयको गौणः प्रयोगो भवति, यथा च घटाकाशः करकाकाशो गृहाकाश इत्येकस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो भवति, वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' इति, एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या ॥ ३ ॥

इस प्रकार विरोध के निश्चित होने पर प्रथम सूत्र-वर्णित कोई एकदेशी कहता है कि—

छान्दोग्य में उत्पत्ति के अश्रवण से ही आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है । और जो अन्य आकाश की उत्पत्ति को कहने वाली श्रुति उदाहृत हुई है—कही गई है । वह गौणी उत्पत्तिपरक होने योग्य है क्योंकि आकाश की मुख्य उत्पत्ति का असम्भव है । जिससे श्रीमान् कणादजी के अभिप्रायानुसारियों के जीवित रहते आकाश की उत्पत्ति की संभावना भी नहीं की जा सकती है । जिससे वे लोग कारणसामग्री के असम्भव से आकाश की उत्पत्ति का वारण (निषेध) करते हैं । उनका निश्चय है कि उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ समवायी असमवायी और निमित्त इन तीन कारणों से ही उत्पन्न होते हैं । एकद्रव्य के एकजाति वाले

अनेक द्रव्य समवायी कारण होते हैं। आकाश के एक जाति वाले अनेक द्रव्य आरम्भक कारण नहीं हैं कि जिस समवायी कारण के रहने पर और उनके संयोग रूप असमवायी कारण के रहने पर आकाश उत्पन्न हो। और उन समवायी आदि के अभाव से ही उनके अनुग्रह के लिए प्रवृत्त आकाश के निमित्त कारण दूरापेत (दूरसे त्यक्त) ही होता है। जो तेज आदि उत्पत्ति वाले हैं, उनके पूर्व और उत्तरकाल में विशेष की सम्भावना रहती है कि तेज आदि की उत्पत्ति से प्रथम महाप्रलय में प्रकाशादि कार्य नहीं होते रहे, जैसे कि अभी तेज आदि के बिना प्रकाशादि कार्य नहीं होते हैं। सृष्टि के बाद उनसे प्रकाशादि कार्य होते हैं। और आकाश के पूर्वोत्तर काल में विशेष (भेद अनुभव अर्थ क्रिया में विलक्षणता) की सम्भावना नहीं की जा सकती है। क्या आकाश की उत्पत्ति से प्रथम अनवकाश (स्थूलाश्रयरहित) असुषिर (अणु आश्रय रहित) अच्छिद्र (सूक्ष्माश्रयरहित) था, ऐसा अध्यवसाय (निश्चय) किया जा सकता है। पृथिवी आदि से विरोधी धर्म विभुत्वादि स्वरूप वाला होने से आकाश को अजत्व (जन्मरहितत्व) की सिद्धि होती है। इससे जैसे लोक में छिद्रादि करने अर्थ में कहा जाता है कि आकाश करो, छिद्र होने पर कहा जाता है कि आकाश उत्पन्न हुआ, इस प्रकार के गौण प्रयोग होते हैं। जैसे घटाकाश, करकाकाश, गृहाकाश, इस प्रकार एक आकाश के भी गौण भेद का व्यवहार होता है, तथा वेद में भी (आकाशो मे आरण्य पशुओं का आलम्भ करे) यहाँ एक आकाश में गौण बहुत्व का प्रयोग होता है। इसी प्रकार उत्पत्ति श्रुति को भी गौणी समझना चाहिये ॥ ३ ॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

शब्द खल्वाकाशस्याजत्व व्यापयति । यत आह—‘वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्’ (वृ० २।३।३) इति न ह्यमृतस्योत्पत्तिरपपद्यते । ‘आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य’ इति चाकाशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्या धर्माभ्यामुपमिमान आकाशस्यापि तौ धर्मौ सूचयति । न च तादृशस्योत्पत्तिरपपद्यते । ‘स यथानन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा वेदितव्य’ इति चोदाहरणम्, ‘आकाशगरीरं ब्रह्म’ (तै० १।६।२), ‘आकाश आत्मा’ (तै० १।७।१) इति च । न ह्याकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषण भवति नीलेनेवोन्यत्रस्य । तस्मान्नित्यमेवाकाशेन भाधारणं ब्रह्मेति गम्यते ॥ ४ ॥

केवल तर्क से ही आकाश की अजत्व नहीं है किन्तु शब्द (श्रुति) भी आकाश की अजता का बयन करती है। इससे गौणी उत्पत्ति नहीं मानने पर श्रुति से विरोध होगा जिससे श्रुति कहती है कि (वायु और अन्तरिक्ष अमृत हैं), अमृत की उत्पत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है। (ब्रह्मात्मा आकाश के समान सर्वगत तथा नित्य है) इत्यादि सर्वगतत्व नित्यत्व धर्मों द्वारा ब्रह्म को आकाश की उपमा देती हुई श्रुति आकाश के भी वे दोनों धर्म हैं यह सूचित करती है। तादृश (नित्य सर्वगत) की उत्पत्ति नहीं सिद्ध हो सकती

है । (जैसे यह आकाश अनन्त है, वैसे वह आत्मा अनन्त जानने योग्य है) यह शब्द (श्रुति) भी यहाँ उदाहरण है । (आकाशरूप शरीर वाला ब्रह्म है । आकाशरूप आत्मा है) ये भी उदाहरण हैं । आकाश के उत्पत्ति वाला होने पर नील से कमल के समान उस आकाश से ब्रह्म का विशेषण सम्भव नहीं हो सकता है । इससे नित्य ही आकाश के तुल्य ब्रह्म है । ऐसी प्रतीति होती है ॥ ४ ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

इदं पदोत्तरं सूत्रम् । स्यादेतत् । कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'यस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजःप्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति । अत उत्तरमुच्यते— स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत् । यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३।२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः । यथा च तपसि ब्रह्म-विज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यतेऽञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्माणि तद्वत् । कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः 'एकमेवाद्वितीयम्' (छां० ६।२।१) इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते । ननु नभसा द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति कथं च ब्रह्माणि विदिते सर्वं स्यादिति । यदुच्यते । एकमेवेति तावत्स्वकायपिक्षयोपपद्यते । यथा लोके कश्चित्-कुम्भकारकुले पूर्वेषु मृदण्डचक्रादीनि चोपलभ्यापरेषु च नानाविधान्यमन्त्राणि प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयान्मृदेवैकाकिनी पूर्वेषु रासीदिति । स च तयावधारणया मृत्कायजातमेव पूर्वेषु रासीदित्यभिप्रेयान्न दण्डचक्रादि तद्वत् । अद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति यथा मृदोऽमत्रप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता दृश्यते नैवं ब्रह्मणो जगत्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठातास्तीति ।

यह सूत्र पदोत्तर (पद विषयक शंका का उत्तर) रूप है, यहाँ प्रथम शंका है कि, शब्द से आकाश को नित्यत्व होने पर भी श्रुति में पठित (उस इस आत्मा से आकाश संभूत—उत्पन्न—हुआ) इस एक अधिकार (प्रकरण) में एक संभूत शब्द को आगे के तेज आदि के उत्पत्ति-विधायक वाक्यों में अनुवृत्ति होने पर कैसे मुख्यत्व का संभव होता है । आकाश में कैसे गौणत्व होता है । इससे उत्तर कहा जाता है कि ब्रह्म शब्द के समान एक ही संभूत शब्द का विषय विशेष (भेद) के वश से गौण और मुख्य प्रयोग हो सकता है । जैसे एक ही ब्रह्म शब्द को (तप से ब्रह्म की जिज्ञासा—जानने की इच्छा करो, तप ब्रह्म है) इस एक प्रकरण में (अन्नं ब्रह्म) इत्यादि वाक्यों में अन्नादि अर्थ में ब्रह्म शब्द का गौण प्रयोग है, और (आनन्दो ब्रह्म) यहाँ आनन्द अर्थ में मुख्य प्रयोग है । जैसे ब्रह्म विज्ञान के साधनरूप तप में भाक्त (अभेदोपचार रूप गौण) ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाता है । तप से विज्ञेय ब्रह्म में तो अञ्जसा (मुख्य तत्त्वतः) प्रयोग किया जाता है । वैसे ही सम्भूत शब्द के प्रयोग को भी

समझना चाहिये । यहाँ मुख्य सिद्धान्तों शका करते हैं कि इस प्रकार आकाश की गौणी उत्पत्ति और वस्तुतः अनुत्पत्ति मानने पर (एक अद्वितीय ब्रह्म था) वह प्रतिज्ञा कैसे समर्थित (सायक) होगी । क्योंकि आकाशरूप दूसरी वस्तु से द्वैत सहित ब्रह्म प्राप्त होता है । आकाश नित्य हो तो, एक ब्रह्म के विदित (ज्ञात) होने से सब विदित कैसे हो सकता है । क्योंकि कारण के ज्ञान से कार्य ज्ञात होता है, अन्य नहीं । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि एक ही था यह प्रतिज्ञा तो अपने भायों की अपेक्षा से सिद्ध होती है कि जन्मे लोक में कुम्भकार के कुल (घर) में पूर्व के दिन में मृत्तिका, दण्ड चक्रादि को देख कर फिर एक दूसरे दिन में नाना प्रकार अमत्र (पात्र) को फेंकाये हुए देखकर कोई बड़े कि अकेली (केवल) मृत्तिका ही पूर्व के दिन में थी । तो वह उस अवधारणा (निश्चय) से मृत्तिका के कार्यसमूहविषयक ही अभिप्राय वाला होगा कि पूर्व के दिन में मृत्तिका का कार्यसमूह नहीं था । ऐसा उसका अभिप्राय नहीं हो सकता है कि पहले दिन दण्ड-चक्रादि भी नहीं थे । इसी प्रकार अवधारण एकत्व के निश्चय से सृष्टि से पूर्वकाल में कार्य रूप तेज आदि का निषेध किया जाता है । नित्य आकाशादि का नहीं । अद्वितीय श्रुति अन्य अधिष्ठाता का वारण (निषेध) करती है कि जन्मे घटादि पात्रों की प्रकृति रूप मृत्तिका का कुम्भकार अधिष्ठाता होता है, यह देखा जाता है । जगत् की प्रकृति रूप ब्रह्म का इस प्रकार का कोई अधिष्ठाता नहीं है ।

न च नममापि द्वितीयेन सद्वितीय ब्रह्म प्रसज्यते । लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम्, न च प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति, क्षीरोदकयोरिव समृष्टयोर्व्यापित्वामूर्तत्वादिधर्मसामान्यात् । सर्गकाले तु ब्रह्म जगदुत्पादयितुं यतते स्तिमितमितरत्तिष्ठति, तेनान्यत्वमवसोयते । तथा च 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।६२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः । अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः । अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते, ब्रह्मणा चाव्यतिरिक्तदेशकालमेवाकाशं भवतीति, अतो ब्रह्मणा तदकार्येण च विज्ञातेन सह विज्ञातमेवाकाशं भवति । यथा क्षीरपूर्णं घटे कतिचिदव्यन्दव प्रक्षिप्ता सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति नहि क्षीरग्रहणादव्यन्दुग्रहणं परिशिष्यते । एव ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद् गृहीतमेव ब्रह्मग्रहणेन नमो भवति । तस्माद्ब्रह्मकं नभगं सम्भवश्रवणमिति ॥ ५ ॥

दूसरी बात है कि द्वितीय आकाश में भी ब्रह्म द्वैतसहित नहीं प्राप्त होता है । क्योंकि लक्षण के अन्यत्व (भेद) निमित्तक नानात्व (द्वैत) होता है । ससार की उत्पत्ति से प्रथम ब्रह्म और आकाश में लक्षण का भेद नहीं रहता है, क्योंकि दूध और जल के समान समृष्ट (मिलित) ब्रह्म और आकाश की सृष्टि से प्रथम व्यापित्व (व्यापकत्व)

और अमूर्तत्वादि तुल्य ही धर्म रहते हैं। फिर सृष्टिकाल में जगत् के उत्पादन के लिए ब्रह्म यत्न करता है। इतर (आकाश) स्तिमित (यत्न व्यापार रहित) निश्चल रहता है, उससे भेद का निश्चय किया जाता है। इसी प्रकार (आकाश शरीर जिसका है वह ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म और आकाश में भेद रहते भी अभेद के उपचार (गौण व्यवहार) की सिद्धि होती है। इस अभेद के उपचार से ही ब्रह्म के विज्ञान से सबके विज्ञान की सिद्धि होती है। दूसरी बात है कि उत्पन्न होते हुए सब कार्य आकाश के साथ अमिन्न देशकाल वाले ही उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म के साथ अमिन्न देश-काल वाला ही आकाश रहता है, इससे विज्ञान ब्रह्म और उसके कार्य के साथ आकाश विज्ञात ही होता है। जैसे कि दूध से पूर्ण, भरे हुए, घट में कुछ जल के बिन्दु डाले गये हों तो दूध के ग्रहण से ही वे जलबिन्दु भी गृहीत होते हैं। दूध के ग्रहण से जलबिन्दुओं का ग्रहण बाकी नहीं रह जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म और उसके कार्यों के साथ अमिन्न देश-काल वाला होने से ब्रह्म के ग्रहण से आकाश गृहीत (ज्ञात) ही होता है, उससे आकाश के जन्म का श्रवण भाक्त (गौण) है ॥ ५ ॥

एवं प्राप्त इदमाह—

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

‘येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्’ (छां० ६।११) इति, ‘आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्’ (बृ० ४।५।६) इति, ‘कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति’ (मुण्ड० १।१।३) इति, ‘न काचन मद्बहिर्धा विद्यास्ति’ इति चैवंरूपा प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते। तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्यात्, यद्यव्यतिरेकः कृत्स्नस्य वस्तु-जातस्य विज्ञेयाद् ब्रह्मणः स्यात्। व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स चाव्यतिरेक एवमुपपद्यते यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद् ब्रह्मण उत्पद्येत। शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यतिरेकन्यायेनैव प्रतिज्ञा-सिद्धिरवगम्यते। तथाहि—‘येनाश्रुतं श्रुतं भवति’ इति प्रतिज्ञाय मृदादि-दृष्टान्तैः कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रतिज्ञैषा समर्थ्यते, तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ (छां० ६।२।१), ‘तदैक्षत’ ‘तत्तेजोऽसृजत’ (छां० ६।२।३) इति, एवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्श्याव्यतिरेकं प्रदर्शयन्ति—‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्’ (छां० ६।८।७) इत्यारभ्याप्रपाठकपरि-समाप्तेः, तद्यथाकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञाते आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्।

इस पूर्ववर्णित रीति से आकाश की उत्पत्ति नहीं होने पर भी एकदेशी मत से श्रुतियों का अवरोध प्राप्त होने पर, अब मुख्य सिद्धान्ती यह कहते हैं कि—

(जिस ब्रह्म के श्रवणादि से अश्रुत भी श्रुत होता है) और (अमत भी मत, तथा

अविज्ञात भी विज्ञात होता है), (अरे मंत्रेयि ! आत्मा ही के दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात होने से यह सब अनात्म वस्तु विदित होती है) (हे भगवन् किसके विज्ञात होने से यह सब विज्ञात होता है) (मुझसे वहिर्धा बाह्य स्थितिवाली कोई विद्या वस्तु नहीं है) इस प्रकार के स्वरूप वाली सब वेदसम्बन्धी प्रत्येक वेदान्त में प्रतिज्ञा विज्ञात होती है, उस प्रतिज्ञा की इस प्रकार अहानि (अबाध) होगी कि यदि विज्ञेय ब्रह्म से सम्पूर्ण वस्तुसमूह को अध्यतिरेक (अभेद) होगा, जिससे व्यतिरेक (भेद) रहने पर एक के विज्ञान से सब विज्ञात होता है, यह प्रतिज्ञा नष्ट होगी । वह अभेद इस प्रकार सिद्ध हो सकता है कि यदि सम्पूर्ण वस्तुसमूह एक ब्रह्म में उत्पन्न हो । यद्यपि ब्रह्मस्वरूप जीव और ब्रह्म की शक्तिरूप माया की उत्पत्ति के बिना भी ब्रह्म से अभेद है, तथापि उन से अन्य का प्रवृत्ति-विकार न्याय से ही प्रतिज्ञा की सिद्धि शब्दों से भी अवगत (ज्ञात) होती है । जिससे वैसी ही श्रुति है कि (जिससे अश्रुत भी श्रुत होता है) इस प्रकार प्रतिज्ञा करके कार्य कारण के अभेदप्रतिपादनपरक मृत्तिका आदि रूप दृष्टान्तों के द्वारा यह प्रतिज्ञा समर्थित (सिद्ध) की जाती है । उस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने ही के लिए आगे के शब्द हैं कि (हे सोम्य ! यह जगत् प्रथम सत् ही था एक अद्वितीय ही था । उसने विचारा । उसने तेज को रचा) इस प्रकार कार्यसमूह को ब्रह्म से उत्पन्न दिखाकर, ब्रह्म से अभेद को (इसी स्वरूप वाला यह सब जगत् है) यहाँ से आरम्भ करके पष्ठप्रपाठक (अध्याय) की समाप्ति पर्यन्त शब्द दिखाते हैं, इससे यदि आकाश ब्रह्म का कार्य नहीं होगा तो ब्रह्म के विज्ञात होने पर आकाश विज्ञात भी नहीं होगा । और इससे प्रतिज्ञा की हानि होगी, उसमें वेद में अप्रमाणता होगी ।

न च प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम् तथाहि—प्रतिवेदान्त ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामेव प्रतिज्ञां स्थापयन्ति 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (वृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) इत्येवमादयः । तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते । यदुक्तम्—अश्रुतेर्न विषदुत्पद्यत—इति, तदयुक्तं, विषदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशं समूतं' (तै० २।१) इति । मत्स्य दर्शिनम्, विरुद्धं तु 'तत्तेजोऽमृजत' इत्यनेन श्रुत्यन्तरेण, न एकवाक्यत्वात्सर्वश्रुतीनाम् । भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानाम्, इह तु विरोध उक्तः, मरुच्छ्रुतस्य स्रष्टु स्रष्टव्यद्वयसंबन्धासम्भवाद् द्वयोश्च प्रथमजत्वात्सम्भवाद्विकल्प्यासम्भावचेति । नैष दोषः । तेजसस्य तैत्तिरीयके तृतीयत्वश्रवणात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशं समूतं आकाशाद्वायुं वायोरग्निं' (तै० २।१) इति । अशक्या हीय श्रुतिरन्यथा परिणेतुम्, शक्या तु परिणेतुं छान्दोग्यश्रुति 'तदाकाशं वायुं च स्रष्ट्वा तत्तेजोऽमृजत' इति । न हीय श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धा-माकाशस्योत्पत्तिं वारयितुं शक्नोति । एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्वयासम्भवात् ।

स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणानेकं स्रष्टव्यं सृजेत्, इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां संभवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हातव्या । न चास्माभिः सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वय-सम्बन्धोऽभिप्रेयते श्रुत्यन्तरवशेन स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात् । यथा च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा० ३।१।४।१) इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयति, एवं तेजसोऽपि ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति ।

प्रतिज्ञा की हानि द्वारा वेद की अप्रमाणता करना युक्त नहीं है । जिससे उसी प्रकार प्रत्येक वेदान्त में वे-वे उस-उस दुन्दुभी आदि दृष्टान्तों द्वारा उसी प्रतिज्ञा की स्थापना करते हैं कि (यह आत्मा ही सब इस जगत् स्वरूप है) यह अमृत ब्रह्म ही पूर्वदृष्ट वस्तु स्वरूप है) इत्यादि वे शब्द हैं । इससे अग्नि आदि के समान ही आकाश उत्पन्न होता है । जो यह कहा था कि छान्दोग्य में आकाश की उत्पत्ति के अश्रवण से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है । यह कहना अयुक्त है । क्योंकि आकाश की उत्पत्तिविषयक अन्य श्रुति का प्रदर्शन कराया गया है कि (उस इस ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ) । यदि कोई यहाँ कहे कि श्रुति प्रदर्शित करवाई गई है, यह वात सत्य है, परन्तु वह (उसने तेज को रचा) इस अर्थ वाली दूसरी श्रुति से विरुद्ध है । इससे स्वार्थ में अप्रमाण है, तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सब श्रुतियों की एकवाक्यता है । यदि कहो कि अविरुद्ध श्रुतियों की एकवाक्यता हो, परन्तु यहाँ तो विरोध कहा जा चुका है कि एक बार सुना हुआ स्रष्टा का दो स्रष्टव्य (कार्य) के साथ सम्बन्ध के असम्भव से और दोनों को प्रथमजत्व के असम्भव से और वस्तु में विकल्प के अभाव से एकवाक्यता नहीं हो सकती है । यहाँ मुख्य सिद्धान्तो कहते हैं कि यह दोष नहीं है, क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति में तेज की सृष्टि को तृतीयत्व सुनने से कि (इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न हुई) प्रकृति अर्थ में पंचमी विभक्ति क्रमादि के सुनने से यह श्रुति बलवती है । इससे ही यह श्रुति अन्य प्रकार से परिणत करने के अशक्य है । क्रमादि के श्रवण से रहित छान्दोग्य श्रुति अन्यथा परिणत की जा सकती है कि (उस ब्रह्म ने आकाश और वायु को रचकर तेज को रचा) इससे दोनों श्रुति की एकवाक्यता होती है । यह छान्दोग्य श्रुति तेज की उत्पत्तिरूप प्रधान अर्थ वाली होती हुई अन्य श्रुति से प्रसिद्ध आकाश की उत्पत्ति का वारण नहीं कर सकती है, क्योंकि वाक्यभेद के प्रसंग से एक वाक्य के दो व्यापार (तेज का उत्पत्ति विधान और आकाशोत्पत्ति का निषेध) का असम्भव है । यदि कहो कि एक वाक्य अनेक अर्थों को नहीं बोध करा सकता तो एक स्रष्टा अनेक स्रष्टव्य के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है तो कहा जाता है कि स्रष्टा तो एक भी क्रम से अनेक स्रष्टव्य को उत्पन्न कर सकता है । अर्थात् एक

कर्ता विराम लेकर क्रम से अनेक कार्य करता है, वाक्य विराम लेकर अनेक अर्थ का बोध नहीं करता है। इससे एकवाक्यता की कल्पना के सम्भव रहते विद्वद्वाक्यत्व के द्वारा श्रुति त्याग के योग्य नहीं है। यदि कहो कि आवृत्ति रूप वाक्यभेद के बिना एक शब्द यदि अनेक अर्थ का बोध नहीं कराता है, तो (तत्तज्जोऽमृजत) इस छान्दोग्य गत (असृजत) पद की आकाश वायु के साथ सम्बन्ध के लिए आवृत्ति करनी पड़ेगी यह एकवाक्यता पक्ष में दोष है, तो कहा जाता है कि हम लोग एक बार श्रुत स्रष्टा का दो स्रष्टव्य के साथ सम्बन्ध नहीं मानते हैं कि जिससे उसने आकाश सृजा इस प्रकार आवृत्ति करनी पड़े। किन्तु दूसरी श्रुति के बल से स्रष्टव्यान्तर आकाशादि का उपसग्रह करते हैं। इससे श्रुत्यन्तर के अनुसार वाक्यान्तर की कल्पना होती है कि उसने आकाश को उत्पन्न किया इत्यादि। जैसे (यह सब निश्चित ब्रह्मस्वरूप है, उसी में उत्पत्ति लय चेष्टा वाला है) यहाँ सब वस्तुसमूह को साक्षान् ब्रह्मजन्मत्व सुना गया भी दूसरे स्थान में विहित तेज पूर्वक उत्पत्ति क्रम का वारण नहीं करता है। इसी प्रकार तेज को श्रुत ब्रह्मजत्व भी श्रुत्यन्तर में विहित आकाशपूर्वक उत्पत्ति क्रम का वारण करने के योग्य नहीं है।

ननु शमविधानार्थमेतद्वाक्यम् 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुते नेतत्सृष्टिवाक्य, तस्मादेतन्न प्रदशान्तरप्रसिद्ध क्रममुपरोद्धुमर्हति, 'तत्तज्जोऽमृजत' इत्येतत्सृष्टिवाक्यम्, तस्मादत्र यथाश्रुति क्रमो ग्रहीतव्य इति। नेत्युच्यते। नहि तेज प्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो विपत्पदार्थ परित्यक्तव्यो भवति, पदार्थधर्मत्वात्क्रमस्य। अपि च 'तत्तज्जोऽमृजत' इति नात्र क्रमस्य वाचक कश्चिच्छब्दोऽस्ति। अर्थात्तु क्रमोऽवगम्यते, न च 'वायोरग्नि' इत्यनेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते। विकल्पसमुच्चयो तु वियत्तेजसो प्रथमजत्वविषयावम भवानभ्युपगमाभ्या निवारितौ। तस्मान्नास्ति श्रुत्योविप्रतिषेधः। अपि च छान्दोग्ये 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्येता प्रतिज्ञा वाक्योपक्रमे श्रुता समर्थयितुमसामानातमपि वियदुत्पत्तावुपसस्यातव्य, किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके सामानात नभो न सगृह्यते। यच्चोक्तम्—आकाशस्य सर्वोपानन्यदेशकालत्वाद् ब्रह्मणा तत्कार्येण सह विदितमेव तद्भवत्यतो न प्रतिज्ञा हीयते, न च 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिकोपो भवति, क्षीरोदकवद् ब्रह्मभसोरव्यतिरेकोपपत्तेरिति। अत्रोच्यते। न क्षीरोदकन्यायेन देवमेकविज्ञानेन सर्वाविज्ञान नेतव्यम्। मृदादिदृष्टान्तप्रणयनाद्धि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेद सर्वविज्ञान नेतव्यमिति गम्यते। क्षीरोदकन्यायेन च सर्वाविज्ञान कल्पमान न सम्यग् विज्ञान स्यात्। न हि क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्विज्ञानगृहीतत्वमस्ति। न च वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीकवच्चनादिभिरर्थाविधारणमुपपद्यते। सावधारणा चेयम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुति। क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीडयेत। न च स्वकार्यापेक्षयेद वस्तुवैकदेशविषय सर्वविज्ञानमेकमेवाद्वितीयताविधारण चेति न्याय्य,

मृदादिष्वपि हि तत्संभवान्न तदपूर्ववदुपन्यसितव्यं भवति 'श्वेतकेतो यन्तु सोम्येदं महामना अनुचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छां० ६।१।१) इत्यादिना । तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

यदि कहो कि (तज्जलानिति शान्त उपासीत) इस प्रकार मुनने से यह वाक्य शम की विवि के लिए है । इससे यह सृष्टिविधायक वाक्य नहीं है, जिससे यह वाक्य दूसरे स्थान में प्रसिद्ध क्रम का उपरोध (निवारण) नहीं कर सकता है । (तत्तेजोऽमृतं) यह सृष्टि का विधायक वाक्य है जिससे यहाँ श्रुति के अनुसार क्रम ग्रहण के योग्य है । तो कहा जाता है कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तेज की प्रथमता के अनुरोध से दूसरी श्रुति में प्रसिद्ध आकाशरूप पदार्थ परित्याग योग्य नहीं हो सकता है क्योंकि क्रम पदार्थ का धर्म है । धर्म से धर्मी पदार्थ प्रधान होता है, इससे धर्म-धर्मी के विरोध में धर्म के अनुसार किया जाता है । दूसरी बात है कि (तत्तेजोऽमृतं) इस छान्दोग्य श्रुति में क्रम का वाचक कोई शब्द नहीं है, किन्तु अर्थ से क्रम समझा जाता है । और वह क्रम (वायु से अग्नि उत्पन्न हुई) इस दूसरी श्रुति में प्रसिद्ध क्रम से निवारित होता है । आकाश तेज के प्रथमजन्यत्व-विषयक विकल्प और समुच्चय तो असम्भव और अनभ्युपगम से निवारित (अप्राप्त) हैं । क्योंकि वस्तु में विकल्प नहीं हो सकता है । (वायोरग्निः) इस श्रुति से तेज के प्रथमजन्यत्व के बाधित होने से प्रथमजन्यत्वों का समुच्चय भी नहीं होता है । इससे श्रुतियों का विरोध नहीं है । दूसरी बात है कि छान्दोग्य में वाक्य के आरम्भ में (जिसके मुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है) इस सुनी हुई प्रतिज्ञा को समर्थन (सिद्ध) करने के लिए उत्पत्ति प्रकरण में अपठित भी आकाश उपसंख्यान (उपसंगृह) के योग्य है तो हे अङ्ग ! (प्यारे) फिर तैत्तिरीयक में पठित आकाश क्यों नहीं संग्रहीत किया जायगा । और जो यह कहा है कि आकाश को सबके साथ अभिन्न देश-काल वाला होने से ब्रह्मा और उसके कार्यों के साथ में आकाश भी विदित (ज्ञात) ही हो जाता है । इससे आकाश की उत्पत्ति नहीं होने पर भी प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती है । (एकमेवाद्वितीयम्) इस श्रुति का भी कोप (विरोध) नहीं होता है क्योंकि दूध जल के समान ब्रह्म और आकाश के अभेद की सिद्धि होती है । यहाँ कहा जाता है कि क्षीरोदक न्याय (दूध-जलतुल्यता) से यह एक के विज्ञान से सबका विज्ञान प्राप्त करने योग्य नहीं है, जिससे मृत्तिकादि दृष्टान्तों की रचना से प्रकृति-विकार न्याय (प्रकृति से विकृति की अभेद दृष्टि) से ही यह सबका विज्ञान प्राप्त करने योग्य है, ऐसी प्रतीति होती है । क्षीरोदक न्याय से कल्पित यह सर्वविज्ञान, सम्यग् विज्ञान नहीं होगा क्योंकि क्षीरविज्ञान (बुद्धि) से गृहीत जल को सम्यग् विज्ञान से गृहीतत्व (ज्ञातत्व) नहीं है क्योंकि वह ज्ञान भ्रान्तिरूप है । और वेद की भ्रान्तादि पुरुषों के समान भ्रान्तिरूप मायाजन्य मिथ्या मापण रूप अलीक द्वारा वंचना आदिपूर्वक अर्थ का अवधारण सिद्ध नहीं हो सकता है अर्थात् भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्ता आदि से पुरुष के समान वेद मिथ्या-भ्रम ज्ञान का हेतु

नहीं है । (एक अद्वितीय है) यह अवधारणयुक्त श्रुति का कथन है, क्षीरोदक न्याय से नीयमान (प्राप्त) गौण होने पर श्रुति पीडित (बाधित) होगी । अर्थात् सर्वद्वैत-निषेधपरक श्रुति का सर्वद्वैतनिषेध के बिना बाध होगा । जो यह कहा था कि अपने कार्यों की अपेक्षा से अद्वैतादि का कथन है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अपने कार्यों की अपेक्षा से वस्तु के एकदेशविषयक सर्वविज्ञान और एक अद्वितीयता का अवधारण (निश्चय) यह न्याययुक्त नहीं है । जिससे मृत्तिका आदि में भी उस स्वकार्यपेक्षा से अद्वैत सर्वविज्ञान के सम्भव से, वह अपूर्व के समान कथन के योग्य नहीं हो सकता है कि (हे श्वेतकेतो हे सोम्य ।) जो तुम यह महामना अनूचानमानी (अपने को साग वेदाध्यायी विनतीमानी) और स्तब्ध (अनम्र) हो, क्या उस उपदेश को भी तुमने गुरु से पूछा है कि जिससे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है । इत्यादि वचनों से अपूर्व के समान कथन किया गया है, जिससे सबको ब्रह्म कार्यत्व की अपेक्षा (दृष्टि) से अशेष वस्तु-विषयक ही यह सर्वविज्ञान कहा जाता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यत्पुनरेतदुक्तमसम्भवाद्गौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति, तत्र ब्रूम —

यावद्विकार तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

तुल्यद्वयोऽसम्भवाद्वाव्यावृत्त्यर्थं । न खल्वाकाशोत्पत्तावसम्भवाद्वा कर्तव्या, यतो यावत्किञ्चिद्विकारजात दृश्यते घटघटिकोदञ्चनादि वा कटककेयूर-कुण्डलादि वा सूचीनाराचनिस्त्रिंशादि वा तावानेव विभागो लाके लक्ष्यते, न त्वविकृता किञ्चित्कुतश्चिद्विभक्तमुपलभ्यते । विभागश्चाकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते, तस्मात्सोऽपि विकारो भवितुमर्हति । एतेन दिवकालयन परमाणादीना कार्यत्व व्याख्यातम् । नन्वात्माप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति तस्यापि कार्यत्व घटादिवत्प्राप्नोति । न । 'आत्मन आकाश सम्भूत' (तै० २१) इति श्रुते । यदि ह्यात्मापि विकार स्यात्तस्मात्परमन्यन्न श्रुतिमित्याकाशादि सर्व कार्ये निरात्मकमात्मन कार्यत्वे स्यात् । तथाच शून्यवाद प्रमज्येत । आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः । न ह्यात्मागन्तुक कस्यचित्, स्वयसिद्धत्वात् । न ह्यात्मात्मन प्रमाणमपेक्ष्य मिध्यति । तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते । न ह्याकाशादय पदार्था प्रमाणनिरपेक्षा स्वयसिद्धा केनचिदभ्युपगम्यन्ते । आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्मिध्यति । न चेदृशस्य निराकरण सम्भवति । आगन्तुक हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम् । य एव हि निराकृत तदेव तस्य स्वरूपम् । न ह्याग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते, तथाह—मेवेदानी जानामि वर्तमान वस्त्वहमेवातीतमतीततर चानासिपमहमेवानागतमनागततर च ज्ञास्यामीत्यतीतानागतवर्तमानभावेनाऽन्यथा भवत्यपि ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति, सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात् । तथा भस्मीभवत्यपि देहे नात्मन उच्छेदो

वर्तमानस्वभावादन्यथास्वभावत्वं वा न सम्भावयितुं शक्यम् । एवमप्रत्याख्येयस्वभावत्वादेवाकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाकाशस्य ।

जो यह कहा है कि आकाश की उत्पत्ति के असम्भव से आकाश की उत्पत्ति-विषयक श्रुति गौणी हैं, वहाँ कहते हैं कि—

लोक के समान विकार का व्याप्य अवयव स्वरूपादि का विभाग है । इससे जहाँ विभाग है, वहाँ विकारत्व (कार्यत्व) अवश्य है । इसलिए आकाश की उत्पत्ति के असम्भव की आशंका की व्यावृत्ति के लिए सूत्र में तु शब्द पड़ा गया है, कि यहाँ असम्भव की आशंका भी नहीं हो सकती, निश्चय तो दूर रहा । इसीसे आकाश की उत्पत्ति में असम्भव की आशंका भी नहीं करनी चाहिए । जिससे घट, घटिका, उदञ्चन आदि वा कटक, केयूर, कुण्डल आदि, वा सुई, वाण, तरवार आदि जो कुछ मृत्तिका, गुवर्ण, लोहे आदि के विकार जितने दीखते हैं, उतना ही विभाग लोक में देखा जाता है । विकाररहित कुछ भी किसी से विभक्त (विभाग वाला) नहीं उपलब्ध होता है । अर्थात् घट कारण रूप से मृत्तिका में रहते भी जब तक विकाररूपता को नहीं प्राप्त होता है, तब तक मृत्तिका से विभक्त रूप से नहीं प्रतीत होता है । आकाश को पृथिवी आदि से विभाग अवगत (ज्ञात) होता है । सत्य आत्मा के समान आकाश सर्वरूप नहीं भासता है । तथा भूमि में यह आकाश का प्रदेश है, इत्यादि रूप से आकाश के प्रदेश अवयव भासते हैं, जिससे वह आकाश भी भूमि घटादि के समान विकार होने के योग्य है । इस विभक्तरूपता से ही दिशा, काल, मन, परमाणु आदि के कार्यत्व भी व्याख्यात (कथित) हो गये । यद्यपि आत्मा के निरवयव, निगुण, निष्क्रिय, सर्वात्मा, सत्तारूप से सर्वस्वरूप होने से उसको वस्तुतः आकाशादि से विभक्तत्व नहीं है, तथापि सामान्य दृष्टि से शंका होती है कि आत्मत्व रूप से आत्मा भी आकाशादि से विभक्त है, इससे उसको भी घटादि के समान कार्यत्व प्राप्त होता है । वहाँ आत्मा से अन्यत्व होते विभक्तत्व ही कार्यत्व का बोधक होता है इस आशय से कहा जाता है कि (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुति से आत्मा को कार्यत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है । वमिसमसत्ताक विभाग से कार्यत्व की सिद्धि होती है । आत्मा में कल्पित विभाग है । और वस्तुतः यह विभाग रूप हेतु आत्ममिन्न द्रव्यों के कार्यत्व का अनुभाषक है । इससे अज्ञान और उसके सम्बन्धादि में भी कार्यत्व की प्राप्ति नहीं होती है । यदि आत्मा भी विकार होगा तो उससे पर (श्रेष्ठ कारण) अन्य श्रुति में सुना नहीं गया है, इससे आत्मा के कार्यत्व होने पर आकाशादि सब कार्य निरात्मक (निरूपादान) होंगे । ऐसा होने से श्रुति से निषिद्ध शून्यवाद की प्राप्ति होगी । आत्मत्व से ही आत्मा के निराकरण की आशंका की अनुपपत्ति है, अग्नि अपने को आप नहीं जलाती है । वैसे ही अपने से अपना निराकरण नहीं हो सकता है । आत्मा किसी कारण का आगन्तुक (कार्यस्वरूप) नहीं है कि जिससे कारण में विलय अप्रकाशादि रूप निराकरण हो सके क्योंकि आत्मा स्वयंसिद्ध (अनादि

स्वयं प्रकाश स्वरूप) है । इसीसे प्रमाणों की अपेक्षापूर्वक प्रमाणाधीन आत्मा की सिद्धि नहीं होती है, जिससे प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति इन सबकी सिद्धि होती है उस की सिद्धि के लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं हो सकती । इससे श्रुति से भी आत्मा स्वयं प्रकाशादि कहा जाता है । तो भी आत्मसम्बन्धी प्रत्यक्षादि प्रमाण अप्रसिद्ध प्रमेयों की सिद्धि (ज्ञान) के लिए गृहीत होते हैं । क्योंकि आकाशादि रूप अनात्मक पदार्थ प्रमाणों की अपेक्षा के बिना स्वयं सिद्ध किसी से नहीं माने जाते हैं, इससे प्रमाणों की भी सफलता है । आत्मा की सिद्धि प्रमाणाधीन इसलिए नहीं है कि जिससे प्रमाणादि व्यवहारों के आश्रयरूप होने से प्रमाणादि के व्यवहारों से पूर्व ही सर्वसाक्षी रूप आत्मा सिद्ध प्रकाश स्वरूप वर्तमान रहता है । इस प्रकार निराकरण का भी प्रकाशादि स्वरूप ऐसे आत्मा के निराकरण का सम्भव नहीं है । जिससे आगन्तुक कार्य रूप जडवस्तु का निराकरण किया जाता है । साक्षी स्वरूप का नहीं । जिसने जो ही निराकरण करने वाला है, वह जिस आत्मा का निराकरण करता है वह उसका स्वरूप है । इससे वह अपना निराकरण आप कर नहीं सकता है । जैसे कि अग्नि की उष्णता जमि से नहीं निराकृत होती है । इसी प्रकार मैं ही इस समय वर्तमान वस्तु को जानता हूँ । मैं ने ही अतीत (भूत) और अति अतीत को समझा था । मैं ही भावी और अतिभावी को समझूँगा । इस प्रकार भूत-भावी-वर्तमान रूप से ज्ञातव्य अनात्म वस्तु के अन्यथा भाव (भेद) होने पर भी ज्ञाता आत्मा का अन्यथा भाव नहीं होता है । सर्वदा वर्तमान स्वभावत्व से अन्यथाभाव से रहित आत्मा रहता है । इसी प्रकार देह के मग्नीभूत (नष्ट) होने पर भी आत्मा के वर्तमान स्वभावत्व से उसके सञ्छेद (नाश) का अन्यथा भाव (मिथ्यात्व) की सम्भावना नहीं की जा सकती है । इस पूर्व कही गीति से आत्मा के प्रत्याख्यान के अयोग्य स्वभाव वाला होने से उसको अव्ययत्व है । मायाशक्ति महित आत्मा ही आकाश की उत्पत्ति की हेतु-सामग्री रूप है, इसमें आकाश को कार्यत्व है ।

यत्तु—समानजातीयमनेक कारणद्रव्य व्योम्नो नास्ति—इति, तत्प्रत्युच्यते । न तावत्समानजातीयमेवारभते न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति । नहि तन्तूना तत्सयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति, द्रव्यगुणत्वाम्युपगमात् । न च निमित्तकारणानामपि तुरीयेभादौना समानजातीयत्वनियमोऽस्ति । स्यादेतत् । समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वानभ्युपगमो न कारणान्तरविषय इति । तदप्यनेकान्तरकम् । सूत्रगोवालेहनेरुजातीयैरेका रज्जु मृज्यमाना दृश्यते । तथा सूत्रैरुर्णादिभिश्च विचित्रान्कम्बलान्वितन्वते । सत्त्व-द्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा समानजातीयत्वे कल्प्यमाने नियमानर्थक्य, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात् । नाप्यनेकमेवारभते नैकमिति नियमोऽस्ति, अणुमन-सोराद्यकर्मारम्भाम्युपगमात् । एकैको हि परमाणुमवस्थाद्य स्वकर्मारभते न द्रव्यान्तरैः सहत्येत्यभ्युपगम्यते । द्रव्यारम्भे एवानेकारम्भकत्वनियम इति

चेत् । न । परिणामाभ्युपगमात् । भवेदेव नियमो यदि संयोगसचिवं द्रव्यं द्रव्यान्तरस्यारम्भकमभ्युपगम्यते । तदेव तु द्रव्यं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानं कार्यं नामाभ्युपगम्यते । तच्च कचिदनेकं परिणमते मृद्वीजाद्यङ्कुरादिभावेन, क्वचिदेकं परिणमते क्षीरादि दध्यादिभावेन । नेश्वरशासनमस्त्यनेकमेव कारणं कार्यं जनयतीति । अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद् ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते । तथा चोक्तम्—‘उपसंहारदर्शनाच्चेति चेन्न क्षीरवद्वि’ (ब्र० सू० २।१।२४) इति ।

जो यह कहा था कि द्रव्य की उत्पत्ति में समानजातीय अनेक द्रव्य कारण होता है, वह आकाश के कारण रूप सजातीय अनेक द्रव्य नहीं हैं, उसके प्रति कहा जाता है कि समान (एक) जाति वाला कारण ही आरम्भ करता है, मित्र जाति वाला आरम्भ नहीं करता है, यह नियम नहीं है, क्योंकि तन्तु और उसके संयोग में द्रव्यत्व और गुणत्व के स्वीकार से उनमें समानजातीयत्व नहीं है । संयोगसहित तन्तु पट का आरम्भ करते हैं । और पट के निमित्त कारण तुरी-त्रेमादि को भी समान जातीयत्व नहीं है । यदि कहो कि असमवायी और निमित्त कारण में यह सजातीयता का अभाव हो सकता है, क्योंकि समवायिकारणविषयक ही सजातीयत्व का अभ्युपगम (स्वीकार) है, अन्य कारणविषयक नहीं । तो कहा जाता है कि वह समवायि कारण में भी सजातीयत्व अनैकान्तिक है, सर्वत्र नहीं है, क्योंकि अनेक जाति वाले सूत्र (तन्तु) और गो-वालों के द्वारा बनाई गई एक रज्जु देखी जाती है । इसी प्रकार मूत्र और ऊन आदि के द्वारा विचित्र कम्बलों की रचना करते हैं । सत्त्व-द्रव्यत्वादि की दृष्टि से समान-जातीयत्व की कल्पना करने पर नियम की अनर्थकता होती है, क्योंकि सत्त्वादि रूप से सब द्रव्य को सबके साथ समानजातीयत्व है । और यह भी नियम नहीं है कि अनेक ही समवायि कारण आरम्भ करता है, एक कारण कार्य का आरम्भ नहीं करता है । क्योंकि परमाणु और मन के आद्य कर्म का आरम्भ माना गया है और माना जाता है कि अन्य द्रव्यों के साथ मिले बिना ही एक-एक परमाणु और मन अपने आद्य कर्म का आरम्भ करते हैं । यदि कहो कि द्रव्य के आरम्भ में ही अनेक के आरम्भकत्व का नियम है, तो कहा जाता है कि परिणाम के स्वीकार से यह नियम नहीं हो सकता है । यह नियम होता, यदि संयोगसहित द्रव्य को द्रव्य का आरम्भक माना जाता, परन्तु ऐसा नहीं माना जाता है, अतः यह नियम नहीं है । किन्तु वही कारण रूप द्रव्य विशेष वाला अवस्थान्तर को प्राप्त होने पर कार्य नाम स्वीकार किया जाता है, वे कहीं अनेक द्रव्य मृत्तिका और बीजादि अङ्कुर आदि रूप से परिणत होते हैं । कहीं एक क्षीरादि दधि आदि रूप से परिणत होता है । ईश्वर का शासन नहीं है कि अनेक ही कारण कार्य को उत्पन्न करते हैं । इससे एक ब्रह्म से आकाशादि महाभूतों की उत्पत्ति के क्रम से जगत् उत्पन्न हुआ इस प्रकार श्रुति की प्रमाणता से निश्चय किया

जाता है। इसी प्रकार सूत्रकार ने कहा है कि (कार्य को उत्पत्ति में अनेक साधन का उपसंहार सग्रह देखा गया है, इससे साधन सग्रह रहित ब्रह्म से जगत् नहीं हो सकता यदि ऐसा कहो, तो वह ठीक नहीं क्षीर के समान सहाय रहित ब्रह्म जगत् का कारण है) ।

यच्चोक्तम्-आकाशस्योत्पत्तौ न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेष सम्भावयितुं शक्यत-
इति । तदयुक्तम् । येनैव हि विशेषेण पृथिव्यादिभ्यो व्यतिरिच्यमानं नभ-
स्वरूपवदिदानीमध्यवसीयते स एव विशेष प्रागुत्पत्तेर्नामीदिति गम्यते । यथा च
ब्रह्म न स्थूलादिभिः पृथिव्यादिस्वभावं स्वभाववन्, 'अस्थूलमनणु' (वृ० ३।८।८)
इत्यादिश्रुतिभ्यः, एवमाकाशस्वभावेनापि न स्वभाववदनाकाशमिति श्रुतेरव-
गम्यते । तस्मात्प्रागुत्पत्तेरनाकाशमिति स्थितम् । यदप्युक्तं-पृथिव्यादिवैघर्म्यादा-
काशस्याजत्वम् इति । तदप्यमत् । श्रुतिविरोधे सत्युत्पत्त्यसम्भवानुमानस्याभास-
'त्वोपपत्तेः, उत्पत्त्यनुमानस्य च दर्शितत्वात्, अनित्यमाकाशमनित्यगुणाश्रयत्वाद्-
'टादिवदित्यादिप्रयोगसम्भावच्च । आत्मन्यनैकान्तिकमिति चेत् । न । तस्योपनिषद-
प्रत्यनित्यगुणाश्रयत्वासिद्धे । विभुत्वादीनां चाकाशस्योत्पत्तिर्वादिनः प्रत्यसिद्ध-
त्वात् । यच्चोक्तमेतच्छब्दाच्चेति तन्नामृतत्वश्रुतिस्तावद्वियत्यमृता दिवौकस-
इतिषद् द्रष्टव्या । उत्पत्तिप्रलययोरुपपादितत्वात् 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य'
इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेनाकाशेनोपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय नाकाशसमत्वाय,
यथेष्टपुरिव सविता धावतीति क्षिप्रगतिव्यायोच्यते नेपुण्यगतिव्याय तद्वत् । एते-
नानन्तत्वोपमानश्रुतिर्व्याप्ता । 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ब्रह्मण
आकाशस्योपमानपरिमाणत्वसिद्धिः । 'न तस्य प्रतिमास्ति' (श्वे० ४।१९) इति च
ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति, 'अतोऽन्यदार्तम्' (वृ० ३।४।२) इति च ब्रह्मणो-
ऽन्येषामाकाशादीनामार्तत्वं दर्शयति । तपमि ब्रह्मशब्दवदाकाशस्य जन्मश्रुते-
र्गोणत्वमित्येतदाकाशसम्भवश्रुत्यनुमानाभ्यां परिहृतम् । तस्माद् ब्रह्मकार्यं वियदिति
सिद्धम् ॥ ७ ॥

जो यह कहा है कि आकाश की उत्पत्ति में पूर्व और उत्तरकाल में विशेष की
सम्भावना नहीं की जा सकती है, वह भी कहा अयुक्त है, क्योंकि जिस शब्दाश्रयत्व
रूप विशेष से पृथिवी आदि से व्यतिरिच्यमान (व्यतिरिक्त मित्र) आकाश स्वरूप वाला
इस समय निश्चित होता है, वही विशेष उत्पत्ति से प्रथम नहीं था, यह समझा जाता
है । (अस्थूलमनणु) इत्यादि श्रुतियों से जैसे स्थूलादि पृथिवी आदि के स्वभावों से
युक्त स्वभाव वाला ब्रह्म नहीं है । इसी प्रकार (अनाकाशम्) इस श्रुति से आकाश के
स्वभाव से युक्त स्वभाव वाला भी ब्रह्म नहीं है । ऐसा समझा जाता है । (आकाश-
शरीर ब्रह्म) इस श्रुति का असंगत आदि रूप आकाशसदृशता में तात्पर्य है । इसमें
यह नहीं कहा जा सकता है कि (आकाशशरीर ब्रह्म) इस श्रुति से आकाश स्वभाव

वाला ब्रह्म है, इससे आकाश भी ब्रह्म के समान नित्य ही है, इत्यादि । इससे आकाश की उत्पत्ति से पूर्वकाल में अनाकाश (आकाशरहित) ब्रह्म था, यह स्थित (निश्चित) हुआ । इसीसे, जो यह भी कहा था कि पृथिवी आदि से विरोधी धर्म विभुत्वादि वाला आकाश के होने से अजत्व है, वह भी कथन अयुक्त है । श्रुति से विरोध रहते आकाश की उत्पत्ति के असम्भव के अनुमान को आभासत्व (मिथ्यात्व) सिद्ध होता है । आकाश की उत्पत्ति का अनुमान प्रदर्शित कराया गया है कि विभक्त होने से आकाश पृथिवी आदि के समान कार्य है । अनित्य गुण का आश्रय होने से घटादि के समान आकाश अनित्य है । इत्यादि प्रयोग (अनुमान) का भी संभव होने से आकाश की उत्पत्ति सिद्ध होती है, क्योंकि धर्मों में विकार के बिना गुण का नाश नहीं हो सकता है । वस्तुतः गुणवान् सब अनित्य है, निर्गुण आत्मा ही नित्य है । इससे यदि कहो कि आत्मा में यह अनित्य गुणवत्त्व वा गुणवत्त्व हेतु अनेकान्तिक (व्यभिचारी) है, अनित्यता के बिना कामादि अनित्य गुण वाला आत्मा है । तो वह कहना वेदान्तवादी के प्रति नहीं बन सकता है, क्योंकि उस आत्मा को उपनिषद्वादी के प्रति अनित्यगुणादि के आश्रयत्व की असिद्धि है । आकाश की उत्पत्तिवादी के प्रति आकाश के विभुत्वादि की असिद्धि से आकाश का नित्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है । वेदान्त में सर्वस्वरूपत्व ही विभुत्व है, वह आत्मा से अन्य में नहीं रह सकता है । जो यह कहा है कि (एतदमृतम्) इस शब्द से आकाश नित्य है । वहाँ आकाश विषयक अमृतत्व की श्रुति को स्वर्गवासी देव अमृत है इसके समान चिरस्थायिता के तात्पर्य से समझना चाहिये, क्योंकि आकाश के उत्पत्ति और प्रलय का उपपादन (प्रतिपादन) किया गया है । आकाश के समान आत्मा सर्वगत नित्य है, यह श्रुति-कथन भी प्रसिद्ध महत्त्व वाला आकाश द्वारा आत्मा में निरतिशय महत्त्व समझाने के लिये उपमान किया जाता है, आकाश की तुल्यता समझाने के लिये नहीं । जिससे आत्मा और आकाश के विभुत्वादि तुल्य नहीं हैं (ज्यायानाकाशात्) आकाश से अत्यन्त बड़ा आत्मा है, यह श्रुति का कथन है । इससे जैसे वाण के समान सूर्य दौड़ता है, यह कथन शीघ्रगामिता को समझाने के लिए होता है, वाणतुल्यगतिवत् समझाने के लिए नहीं, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए । और इस आकाश के कार्यत्व अनित्यत्व के व्याख्यान से ही (स यथाऽनन्तोऽप्यमाकाश एवमनन्त आत्मा) जैसे यह प्रसिद्ध आकाश अनन्त है, इसी प्रकार आत्मा अनन्त है । यह अनन्तत्व-विषयक उपमान श्रुति भी व्याख्यात हो गई, अर्थात् यह श्रुति प्रसिद्ध अनन्तता द्वारा मुख्य निरतिशय अनन्तता का आत्मा में बोध कराती है, तुल्य अनन्तता में तात्पर्य नहीं है । जिससे (ज्यायानाकाशात्) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म से आकाश के न्यून-परिमाणत्व की सिद्धि होती है । और (उस ब्रह्म के प्रतिमा-उपमा नहीं है) यह वचन ब्रह्म को उपमानरहितत्व दिखाता है । (अतोऽन्यदार्तम्) यह वचन ब्रह्म से अन्य आकाशादि को आर्तत्व (अनित्यत्व) दिखाता है । और तप में ब्रह्म शब्द के समान

आकाश के जन्म श्रुति को गौणत्व है, इसका आकाश की उत्पत्ति श्रुति और अनुमान से परिहार (खण्डन) किया गया है। इससे ब्रह्म का कार्य आकाश है। यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

मातरिश्वाधिकरण (२)

वायुर्नित्यो जायते वा छान्दोग्येऽजन्मक्रीतनात् ।

मैषानस्तमिता देवतेत्युक्तेर्न च जायते ॥ १ ॥

श्रुत्यन्तरोपसहाराद्गौण्यनस्तमवश्रुति ।

वियद्वज्जायते वायु स्वरूप ब्रह्म कारणम् ॥ २ ॥

मातरिश्वा वायु को कहते हैं, वह नित्य है, या उत्पन्न होता है, यह सशय है। पूर्वपक्ष है कि छान्दोग्य श्रुति में वायु के जन्म के अकथन से, और बृहदारण्यक में तो यह वायु अनस्तमित (अविनाशी) देवता है, इस कथन से वायु नहीं उत्पन्न होता है। सिद्धान्त है कि छान्दोग्य में वायु के जन्म का अश्रवण होते भी तैत्तिरीयक श्रुति में श्रुत जन्म का छान्दोग्य में भी उपसहार (ग्रहण) करने से वायु की अविनाश-श्रुति चिरस्थायित्व दृष्टि से गौणी है, इससे आकाश के समान वायु भी उत्पन्न होता है। और सर्वात्मा ब्रह्म आकाश स्वरूप से वायु का कारण है ॥ १-२ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अतिदेशोऽयम् । एतेन वियद्व्याख्यानेन मातरिश्वापि वियदाश्रयो वायु-
व्याख्यातः । तत्राप्येते यथायोग्य पक्षा रचयितव्याः । न वायुरुत्पद्यते छान्दो-
गानामुत्पत्तिप्रकरणेऽनाम्ननादित्येक पक्षः । अस्ति तु तैत्तिरीयाणामुत्पत्तिप्रकरणे
आम्नानम् 'आकाशाद्वायु' (तै० २।१) इति पक्षान्तरम् । ततश्च श्रुत्योर्विप्रति-
पेधे सति गौणी वायोरुत्पत्तिश्रुतिरसम्भवादित्यपरोऽभिप्रायः । असम्भवश्च 'सैषान-
स्तमिता देवता यद्वायु' (बृ० १।५।२२) इत्यस्तमयप्रतिषेधात्, अमृतत्वादिश्रव-
णाच्च । प्रतिज्ञानुपरोधाद्यावद्विकार च विभागाभ्युपगमादुत्पद्यते वायुरिति
सिद्धान्तः । अस्तमयप्रतिषेधोऽपरविद्याविषय आपेक्षिक, अग्न्यादीनामिव
वायोः स्तमयाभावात् । कृतप्रतिविधान चामृतत्वादिश्रवणम् । ननु वायोराकाशस्य
च तुल्ययोस्तुत्पत्तिप्रकरणे श्रवणाश्रवणयोरेकमेवाधिकरणमुभयविषयमस्तु
किमतिदेशेनामिति विशेष इति । उच्यते । सत्यमेवमेतत् । तथापि मन्दधिया
शब्दमात्रकृताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयमतिदेशः क्रियते । सवर्गविद्यादिषु ह्युपान्यतया
वायोर्महाभागत्वश्रवणात्, अस्तमयप्रतिषेधादिभ्यश्च भवति नित्यत्वाशङ्का
कस्यचिदिति ॥ ८ ॥

यह सूत्र अतिदेश रूप है, पूर्व के सादृश्य का बोधक है, कि इस पूर्वोक्त आकाश के व्याख्यान से मातरिश्वा भी—आकाशाश्रय वाला वायु भी व्याख्यात ही हो गया । इससे वह वायुविषयक भी ये वक्ष्यमाण पक्ष यथायोग्य रचना के योग्य हैं । यहाँ छान्दोग्य साक्षात् बालो के उत्पत्ति प्रकरण में वायु के अकथन से वायु की उत्पत्ति नहीं होती है, यह

एक पक्ष है । और तैत्तिरीयों के उत्पत्ति प्रकरण में (आकाश से वायु होता है) इस प्रकार उत्पत्ति का कथन है, यह दूसरा पक्ष है । दो प्रकार के कथन से श्रुतियों का विरोध होने पर और वायु की उत्पत्ति के असम्भव से अर्थात् अस्तमय के प्रतिषेध से उत्पत्ति के अभाव से वायु की उत्पत्तिविषयक श्रुति गौणी है । यह अन्य अमिप्राय (तीसरा पक्ष) है । (जो यह वायु है वह अनस्तमित देवता है) इस प्रकार नाश के प्रतिषेध से तथा अमृतत्वादि के श्रवण से उत्पत्ति का असम्भव है । और गौणी उत्पत्ति से श्रुतियों का अविरोध है । और वायु की उत्पत्ति से ही एक के ज्ञान से सबके ज्ञान-विषयक प्रतिज्ञा के अनुपरोध (अबाध) से तथा विकारमात्र में विभाग के स्वीकार से वायु उत्पन्न होता है, यह सिद्धान्त है । और वायु के विनाश का जो प्रतिषेध है, वह अपरविद्या (उपासना) विषयक अर्थवाद (स्तुति) रूप और आपेक्षिक है, जिससे अग्नि आदि के समान वायु का शीघ्र विनाश नहीं होता है । अमृतत्वादि श्रुतियों का समाधान प्रथम किया जा चुका है । यहाँ शंका होती है कि वायु और आकाश के उत्पत्ति-प्रकरण में श्रवण और अश्रवण के तुल्य रहते दोनों विषयक एक ही अधिकरण होना चाहिए । विशेष (भेद) के नहीं रहने पर अतिदेश से क्या फल है । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि यह तुल्यता सत्य ही है, तो भी मन्द बुद्धि वालों को अर्थ को समझे बिना शब्दमात्र से जन्म शंकाओं की निवृत्ति के लिए अतिदेश किया गया है । जिससे संवर्गादि विद्याओं में उपास्य रूप से वायु के महामाग्यत्व के श्रवण से, तथा विनाश के प्रतिषेधादि से वायु के नित्यत्व की आशंका किसी को होती है । इत्यादि ॥ ८ ॥

असम्भवाधिकरण (३)

सद्ब्रह्म जायते नो वा कारणत्वेन जायते ।

यत्कारणं जायते तद्वियद्वाय्वादयो यथा ॥ १ ॥

असतोऽकारणत्वेन खादीनां सत् उद्भवात् ।

व्याप्तेरजादिवाक्येन बाधात्सन्नैव जायते ॥ २ ॥

अनुपपत्ति से सत् की उत्पत्ति का असम्भव है, अर्थात् अनवस्था आदि दोष से और सत् शब्दार्थत्व की अनुपपत्ति विकारत्व की अनुपपत्ति से सत् का असम्भव जन्माभाव है । तो भी सामान्य दृष्टि से संशय होता है कि (नित्यो नित्यानाम् । सतः सत्यम्) इत्यादि में कथित जैसे अन्य नित्य सत्यशब्द के अर्थ उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सत्य शब्द का अर्थरूप ब्रह्म उत्पन्न होता है कि नहीं उत्पन्न होता है । पूर्वपक्ष है कि जो-जो आकाशादि कारण हैं, वह सब जैसे उत्पन्न होते हैं, वैसे ब्रह्म भी कारण है । इससे ब्रह्म उत्पन्न होता है, अर्थात् कारण रूप से आकाशादि सब सत्य ब्रह्मस्वरूप ही है, इनका आरम्भ नहीं होता है, यह सिद्धान्त है । यहाँ सत्स्वरूप आकाशादि की अवस्थान्तर की प्राप्ति रूप जैसे उत्पत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्म को भी अवस्थान्तर की प्राप्ति होती है । सिद्धान्त है कि अवस्थान्तर की प्राप्ति जो अन्य कारण के द्वारा होती है, वह उत्पत्ति कहलाती है । और ब्रह्म की अवस्थान्तर की प्राप्ति में असत् कारण

नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति कहती है कि (कथमसत् सज्जायेत) असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा । और आकाशादि की सत् से उत्पत्ति होती है । ये उस सत् को उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकते, और (स वा एष महानज आत्मा) इत्यादि वाक्यों से कारणत्वगत जयत्व की प्राप्ति के बाध से सत् ब्रह्म नहीं उत्पन्न होता है, अन्य कारणाधीन अवस्थान्तर को नहीं प्राप्त होता है इत्यादि ॥ १-२ ॥

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

वियत्पवनयोरसम्भाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि भवेत्कुतश्चिदुत्पत्तिरिति स्यात्कस्यचिन्मति । तथा विकारेभ्य एवाकाशादिभ्य उत्तरेषा विकाराणामुत्पत्तिमुपश्रुत्याकाशस्यापि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तिरिति कश्चिन्मन्येत, तामाशङ्कामपनेतुमिदं सूत्रम्—‘असम्भवस्तु’ इति । न खलु ब्रह्मण सदात्मकस्य कुतश्चिदन्यत् सम्भव उत्पत्तिराशङ्कितव्या, कस्मात् ? अनुपपत्तेः । सन्मात्रं हि ब्रह्म, न तस्य सन्मात्रादेवोत्पत्तिः सम्भवति, असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः । नापि सद्विशेषाद्, दृष्टविपर्ययात् । सामान्याद्वि विशेषोत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो, न तु विशेषेभ्य सामान्यम् । नाप्यसतो निरात्मकत्वात्, ‘कथमसत् सज्जायेत’ (छा० ८।७।१) इति चाक्षेपश्रवणात् । ‘स कारण करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप ’ (श्वे० ६।९) इति च ब्रह्मणो जनयितार वारयति । वियत्पवनयोः पुनरुत्पत्तिः प्रदर्शिता न तु ब्रह्मणः सास्तीति वैषम्यम् । न च विकारेभ्यो विकारान्तरोत्पत्तिदर्शनाद् ब्रह्मणोऽपि विकारत्वं भवितुमर्हतीति, मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । या मूलप्रकृतिरभ्युपगम्यते तदेव च नो ब्रह्मेत्यविरोधः ॥ ९ ॥

अमृतत्वादि के सुतो से महत्त्व विमुक्त्वादि की प्रसिद्धि से जिनकी उत्पत्ति असम्भाव्यमान (असम्भवस्वरूप) है । उन आकाश और वायु की उत्पत्ति को सुनकर, असम्भव जन्म वाले ब्रह्म की भी किसी से उत्पत्ति सिद्ध होगी, ऐसी किसी की बुद्धि हो सकती है । इसी प्रकार पूर्व-पूर्व विकार रूप ही आकाशादि से उत्तर-उत्तर विकारो की उत्पत्ति को सुनकर आकाश की उत्पत्ति भी विकार रूप ब्रह्म से ही होती है, ऐसा भी कोई समझेगा । अर्थात् बीजाङ्कुर न्याय में सबसे कार्यत्व की शका से युक्त होगा । इस शका की निवृत्ति के लिए यह सूत्र है कि (असम्भवस्तु) इत्यादि । सत् स्वरूप ब्रह्म का किसी अन्य से सम्भव (उत्पत्ति) की आवश्यकता करने योग्य नहीं है । क्योंकि अनुपपत्ति में ब्रह्म का सम्भव (जन्म) नहीं होता है । जिसमें सन्मात्र ब्रह्म है, जिस सन्मात्र सत्सामान्य की सन्मात्र से ही उत्पत्ति नहीं हो सकती है । क्योंकि अतिशय (भेद) बिना प्रकृति विकारभाव की असिद्धि होती है । दृष्ट विपर्यय रूप दोष से किसी सत् विशेष से भी सत् सामान्य रूप ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, जिससे सामान्य स्वरूप मृत्तिवादि से विशेष रूप घटादि उत्पन्न होते देखे जाते हैं । और विशेषों

से उत्पन्न होता हुआ समान्य नहीं देखा जाता है । और निरात्म होने से तथा असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा, इस प्रकार श्रुति में आक्षेप सुनने से असत् से भी सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । और (वह कारण है, तथा इन्द्रियों के स्वामीरूप जीवों का भी स्वामी है, और उसका कोई जनयिता पिता वा स्वामी नहीं है) यह श्रुति ब्रह्म के जनयिता का वारण करती है । और आकाश तथा वायु की उत्पत्ति प्रदर्शित कराई गई है, और ब्रह्म की वह उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इससे कारणत्व होने पर भी यह विपमता है । इस प्रकार की विपमता से ही विकारों से विकारान्तर की उत्पत्ति देखनेमात्र से ब्रह्म को भी विकारत्व नहीं होने के योग्य है । क्योंकि ब्रह्म को विकाररहित मूल प्रकृति नहीं मानने पर अनवस्था की प्राप्ति होगी, इससे ब्रह्म को विकार मानने पर भी अनवस्था का निवारण के लिए जो मूल प्रकृति मानी जायगी, वही हमारा मन्तव्य ब्रह्म है । इससे विरोध नहीं है । भाव है कि सत्य कार्य कारणभाव हो तो बीजाङ्कुर न्याय से अनवस्थायुक्त होने पर भी दुष्ट नहीं हो सकता है, परन्तु कल्पित कार्यकारण भाव सत् अधिष्ठान के बिना असम्भव है । इससे सर्वाधिष्ठान ब्रह्म है वह सत्य उत्पत्तिरहित है । सतः सत्त्वान्न वै जन्म नासतोऽपि ह्यसत्त्वतः । जनिमत्त्वं तु जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम् ॥ १ ॥ नाधिष्ठानं विहायात्र माया क्वापि प्रदृश्यते । अनिर्वाच्या ततो माया नित्यं ब्रह्माश्रिता स्थिता ॥ २ ॥ मायया प्रकृतिर्ब्रह्म तयाऽवस्थान्तरं ब्रजेत् । स्वयं नान्यवशं गत्वा स्वरूपेणातिनिर्मलम् ॥ ३ ॥

तेजोऽधिकरण (४)

ब्रह्मणो जायते वह्निर्वार्योर्वा ब्रह्मसंयुतात् ।

तत्तेजोऽसृजतेत्युक्तेर्ब्रह्मणो जायतेऽनलः ॥ १ ॥

वायोरग्निरिति श्रुत्या पूर्वश्रुत्येकवाक्यतः ।

ब्रह्मणो वायुरूपत्वमापन्नादग्निसंभवः ॥ २ ॥

तेज इस वायु से उत्पन्न होता है, (वायोरग्निः) यह श्रुति इसी प्रकार कहती है । यहाँ संशय है कि ब्रह्म से अग्नि उत्पन्न होती है कि ब्रह्मसंयुक्त वायु से उत्पन्न होती है । यहाँ पूर्वपक्ष है कि वह तेज को रचा इस छान्दोग्य श्रुति के कथनानुसार केवल ब्रह्म से अग्नि उत्पन्न होती है ॥ सिद्धान्त है कि (वायोरग्निः) वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, इस श्रुति के साथ (तत्तेजोऽसृजत) इस पूर्वोक्त श्रुति की एकवाक्यता से सिद्ध होता है कि वायुरूपता को प्राप्त ब्रह्म से अग्नि का सम्भव (जन्म) होता है ॥ १-२ ॥

तेजोऽस्तत्थाह्म ॥ १० ॥

छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितं, तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वं, तत्र तेजो-योनिं प्रति श्रुतिविप्रतिपत्ती सत्यां प्राप्तं तावद् ब्रह्मयोनिं तेज इति । कुतः ? 'सदेव' इत्युपक्रम्य 'तत्तेजोऽसृजत' इत्युपदेशात्, सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्म-प्रभवत्वे सर्वस्य सम्भवात्, 'तज्जलान्' (छां० ८।७।१) इति चाविशेषश्रुतेः, 'एतस्माज्जायते प्राणः' (मुण्ड० २।१।४) इति चोपक्रम्य श्रुत्यन्तरे सर्वस्यावि-शेषेण ब्रह्मजत्वोपदेशात् । तैत्तिरीयके च 'स तपस्तप्त्वा, इदं सर्वमसृजत,

यदिद किञ्च' (तौ० ३।६।१) इत्यविशेषश्रवणात् । तस्मात् 'वायोरग्नि' इति क्रमोपदेशो द्रष्टव्यो वायोरनन्तरमग्नि सम्भूत इति ।

छान्दोग्य मे तेज को सन्मूलत्व (सद्ब्रह्ममूलकत्व) सुनाया गया है । और तैत्तिरीय मे वायुमूलकत्व सुनाया गया है । वहाँ तेज की योनि (कारण) के प्रति दोनो श्रुतियों को विरोध की प्राप्ति होने पर अप्रमाणता की शङ्कापूर्वक, प्रथम ब्रह्म योनि वाला तेज प्राप्त होता है । क्योंकि (सदेव) इस प्रकार सद्ब्रह्म का उपक्रम (प्रस्ताव) करके (वह ब्रह्म तेज को रचा) यह उपदेश है, सबको ब्रह्मजन्यत्व ही होने पर ब्रह्म के ज्ञान से सबके ज्ञान की प्रतिज्ञा का सम्भव है । (तज्जलान्) इस श्रुति मे भी सामान्य रूप से सबके जन्म लय चेष्टा को ब्रह्मजन्यत्व सुना जाता है । और इस ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है, इस प्रकार अन्य श्रुति मे उपक्रम करके सबके ब्रह्मजन्यत्व का अविशेष (तुल्य) रूप से उपदेश है । तैत्तिरीयक मे (वह तप ज्ञान करके सबको रचा कि जो कुछ यह जगत् है) इस प्रकार अविशेष (तुल्य सामान्य) सुना जाता है इससे तेज की उत्पत्ति तो ब्रह्म ही से होती है । परन्तु (वायोरग्नि) यह क्रममात्र का उपदेश है ऐसा समझना चाहिए कि वायु के अनन्तर (अव्यवहित उत्तरकाल मे) ब्रह्म से अग्नि उत्पन्न हुई ।

एव प्राप्ते उच्यते । तेजोऽतो मातरिश्वनो जायत इति । कस्मात् ? तथा-ह्याह—'वायोरग्नि' इति । अव्यवहिते हि तेजसो ब्रह्मजत्वे मत्स्यसि वायुजत्वे वायोरग्निरितीय श्रुति कदर्थिता स्यात् । ननु क्रमार्थेपा भविष्यतीत्युक्तम्, नेति ब्रूम । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत' (तौ० २।१।१) इति पुरस्तात्सम्भवव्यपादानस्यात्मन पञ्चमीनिर्देशात्, तस्यैव च सम्भवतेरिहाधिकारात्, परस्तादपि च तदधिकारे 'पृथिव्या ओषधय' (तौ० २।१।१) इत्यपादानपञ्चमोदर्शनाद्वायोरग्निरित्यपादानपञ्चम्येवैवेति गम्यते । अपि च वायो-रुर्ध्वमग्नि सम्भूत इति कल्प्य उपपदार्थयोग, बलसस्तु कारकाथयोगो वायो-रग्नि सम्भूत इति । तस्मादेवा श्रुतिर्वायुयोनित्व तेजसोऽवगमयति । नन्वित-रापि श्रुतिर्ब्रह्मयोनित्व तेजसोऽवगमयति 'तत्तेजोऽसृजत' इति । न । तस्या पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात् । यदापि ह्याकाश वायु च सृष्ट्वा वायुभावापन्न ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते, तदापि ब्रह्मजत्व तेजसो न विरुध्यते । यथा 'तस्या श्रुत दधि तस्या आमिक्षे'त्यादि । दर्शयति च ब्रह्मणो विकारात्मनावस्थान 'तदात्मान स्वयमकुरुत' (तौ० २।७।१) इति । तथा चेश्वरस्मरण भवति—'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह' (भ० गी० १०।४) इत्याद्यनुक्रम्य 'भवन्ति भावा भूताना मत्त एव पृथग्विधा' (भ० गी० १०।५) इति । यद्यपि बुद्ध्यादय स्वकार-णेभ्य प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात्प्राणद्वया वेदवरवश्यत्वात् । एतेनाक्रमवत्सृष्टिवादिन्य श्रुतयो व्याख्याता, तासा सर्वथो-पपत्ते । क्रमवत्सृष्टिवादिनीना त्वन्यथानुपपत्ते. प्रतिज्ञापि सदृश्यत्वमात्रमपेक्षते नाव्यवहितजन्यत्वमित्यविरोध ॥ १० ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहा जाता है कि तेज इस मातरिद्वा से उत्पन्न होता है, क्योंकि (वायोरग्निः) यह श्रुति इसी प्रकार कहती है । और तेज को अव्यवहित (साक्षात्) ब्रह्मजन्यत्व होने पर और वायुजन्यत्व नहीं होने पर (वायोरग्निः) यह श्रुति कदयित (वाधितार्थक) होगी । यदि कहा जाय कि यह श्रुति क्रमार्थक होगी यह कहा जा चुका है । तो कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है । जिससे (इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इस पूर्व वाक्य में सम्भवति (उत्पत्ति) क्रिया का अपादान कारक रूप आत्मा का पञ्चमी विभक्ति से कथन है । उस सम्भव रूप सम्भूति का ही (वायोरग्निः) इस वाक्य में भी अधिकार (सम्बन्ध) है । और आगे भी उसी सम्भवति के अधिकार में (पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न हुई) इस प्रकार अपादान पञ्चमी के देखने से (वायोरग्निः) यहाँ अपादान अर्थ में ही पञ्चमी है ऐसी प्रतीति होती है । दूसरी बात है कि (वायोरग्निः) इसको क्रमविधायक मानने पर, ऊर्ध्वं वा अनन्तरम्, इत्यादि किसी पद की कल्पना के बिना पञ्चमी विभक्तिमात्र से क्रम की प्रतीति नहीं होती है, इससे (वायु के ऊर्ध्वकाल में अग्नि उत्पन्न हुई) इस प्रकार उपपद का अर्थ कल्पना से सिद्ध कर्तव्य है कि जिसके साथ सम्बन्ध से उपपद विभक्ति होगी, इससे उप पदार्थ का योग भी कल्पना से ही साध्य है, साक्षात् श्रुत नहीं है । और वायु से अग्नि हुई, इस प्रकार अपादान कारक को क्रिया के साथ सम्बन्ध से उपपद क्लृप्त (सिद्ध) है, साध्य से सिद्ध बली होता है, तथा उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति दलवती होती है, यह दैयाकरण का सिद्धान्त है, इससे यह श्रुति तेज के वायुयोनित्व का बोध कराती है । यद्यपि (तत्तेजोऽमृजत) यह अन्य श्रुति तेज के ब्रह्मयोनित्व का बोध कराती है, तथापि परम्परा से ब्रह्मजन्यत्व होने पर भी उसका अविरोध है, दोनों श्रुति की एकवाक्यता है । इससे दोष नहीं है, क्योंकि जब ऐसी भी कल्पना करते हैं कि आकाश और वायु की सृष्टि करके वायुरूपता को प्राप्त ब्रह्म ने तेज की नृष्टि की, तब भी तेज के ब्रह्मजन्यत्व विरुद्ध (वाधित) नहीं होता है । जैसे कि (उस-घेनु का कार्यं श्रुत (तप्त) क्षीर है उसी का कार्यं दधि है । और तप्त क्षीर में दधि के देने से सिद्ध आमिक्षा भी उस घेनु का कार्यं है वहाँ क्षीर साक्षात् कार्यं है, दधि आदि परम्परा से कार्यं है इत्यादि । और ब्रह्म की विकार रूप से स्थिति को श्रुति दिखाती है कि (वह ब्रह्म स्वयं अपने को विकार रूप किया) और इसी प्रकार की ईश्वरस्मृति (भगवद्गीता) है कि (बुद्धि, बोधसामर्थ्य, ज्ञान-बोध और असंमोह विवेकपूर्वक प्रवृत्ति) हमसे होते हैं, इस प्रकार आरम्भ करके (मूर्तों के नाना प्रकार के भाव-कार्यविशेष मुझसे ही होते हैं) यहाँ यद्यपि बुद्धि आदि अपने कारण अन्तःकरणादि से होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तो भी सब भाव समूह को साक्षात् वा प्रणाली (परम्परा) से ईश्वरवन्द्यत्व (ईश्वरजन्यत्व) है । इसीसे कहा गया है कि सब मुझसे ही होते हैं । इसीसे क्रम के बिना सृष्टि को कहने वाली श्रुतियाँ भी व्याख्यात हो गई । जिससे साक्षात् वा परम्परा ब्रह्मजन्यत्वमात्र से उन श्रुतियों की भी उपपत्ति (युक्तता) होती है । और क्रम वाली सृष्टि को कहने वाली श्रुतियों की

अन्यथा (परम्परा के बिना) अनुपपत्ति से तेज की परम्परा ब्रह्मजन्यता से ही उसकी उपपत्ति हो सकती है । एक ब्रह्म के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा भी सदब्रह्म-वक्ष्यत्व (जन्यत्व) मात्र की अपेक्षा करती है, अव्यवहित ब्रह्मजन्यत्व की अपेक्षा नहीं करती है, इससे उसको क्रम श्रुति के साथ विरोध नहीं है ॥ १० ॥

अवधिकरण (५)

ब्रह्मणोऽपा जन्म किंवा बह्नेर्नाग्नेर्जलोद्भवः ।

विरुद्धत्वाद्गोरोजन्म ब्रह्मण सर्वकारणात् ॥ १ ॥

अग्नेराप इति श्रुत्या ब्रह्मणो बह्व्युपाधिकात् ।

अपा जनिर्विरोधस्तु सूक्ष्मयोर्नाग्नेरनोरयो ॥ २ ॥

जल का जन्म इस तेज से होता है, जिससे (अग्नेराप) यह श्रुति इसी प्रकार कहती है । यह सूत्रार्थ है । सशय है कि साक्षात् ब्रह्म से जल का जन्म होता है, अथवा अग्नि से होता है । पूर्वपक्ष है कि विरुद्ध स्वभाव होने से नाशय-नाशकता से अग्नि से जल का जन्म नहीं होता है, किन्तु सबके कारणरूप ब्रह्म से जल का जन्म होता है । सिद्धान्त है कि अग्नेराप, इस श्रुति के अनुसार अग्निरूप उपाधि वाला ब्रह्म से जल की उत्पत्ति होती है । सूक्ष्म अग्नि तथा जल का विरोध नहीं है, इससे अपञ्चीकृत अग्नि से अपञ्चीकृत जल उत्पन्न होता है, फिर पञ्चीकरण होने पर विरोध होता है ॥ १-२ ॥

आपः ॥ ११ ॥

‘अतन्तयाह्याह’ इत्यनुवर्तते । आपोऽतन्तेजसो जायन्ते, कस्मात् ? तथा-ह्याह—‘तदपोऽमृजत’ इति ‘अग्नेराप’ इति च । सति वचने नास्ति मंशय । तेजसस्तु सृष्टि व्याख्याय पृथिव्या व्याख्यास्यन्नपोऽन्तरयामीत्याप इति सूत्र-याम्बभूव ॥ ११ ॥

पूर्व सूत्र से (अतस्तया ह्याह) इस भाग की इस सूत्र में अनुवृत्ति होती है । इससे अर्थ है कि आप इस तेज से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (उसने जल को रचा) और (अग्नि से जल हुआ) वचन के रहने से ही सूक्ष्म तेज जल में विरोध का सशय नहीं है, तथा परम्परा ब्रह्मजन्यत्व से श्रुतियों में विरोध का सशय नहीं है । इस प्रकार सशय विरोध के नहीं रहने भी इस सूत्र का आरम्भ इसलिए किया गया है कि तेज की सृष्टि का व्याख्यान करके पृथिवी का व्याख्यान करना है, यहाँ व्याख्यान के बिना जल का अन्तराय (व्यवधान) को प्राप्त होगा । महामृतो के व्याख्यान में जल का अतिव्रमण हो जायगा, वह अतिव्रमण नहीं हो । (आप एवाप आमु) इत्यादि वचनां से जल की प्रथम भूता सुनने से (अग्नेराप) यह गौणी सृष्टिविधायक है, इस मन्दमति की शका की निवृत्ति के लिए भी यह सूत्र रचा गया है ॥ ११ ॥

पृथिव्यधिकाराधिकरण (६)

ता अन्नममृजन्तेति श्रुतमन्न यवादिकम् ।

पृथिवी वा यत्राद्येव लोकेऽन्नत्वप्रमिदित ॥ १ ॥

भूताधिकारात् कृष्णस्य रूपस्य श्रवणादपि ।

तथाऽद्भ्यः पृथिवीत्युक्तेरन्नं पृथ्व्यन्नहेतुतः ॥ २ ॥

भूतों की उत्पत्ति का अधिकार (प्रकरण) और कृष्ण रूप का श्रवण तथा अन्य श्रुति से (ता अन्नमसृजन्त) इस छान्दोग्य श्रुति में अन्न शब्द पृथिवी का बोधक होता है । यहाँ संशय है कि यह श्रुति अन्न यवादि है । अथवा पृथिवी है । पूर्वपक्ष है कि लोक में अन्नत्व प्रसिद्धि से यवादिक ही अन्न शब्द का अर्थ है । सिद्धान्त है कि भूतो के प्रकरण से कृष्ण रूप के श्रवण से और (अद्भ्यः पृथिवी) इस उक्ति से भी अन्न का हेतु होने से पृथिवी अन्न शब्द से कही गई है ॥ १-२ ॥

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

‘ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त’ (छां० ६।२।४) इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमनेनान्नशब्देन ब्रीहियवाद्यभ्यवहार्यं बौदनाद्युच्यते किं वा पृथिवीति । तत्र प्राप्तं तावद् ब्रीहियवाद्योदनादि वा परिग्रहीतव्यमिति, तत्र ह्यन्नशब्दः प्रसिद्धो लोके, वाक्यशेषोऽप्येतमर्थमुपोद्वलयति ‘तस्माद्यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवतीति’ । ब्रीहियवाद्येव हि सति वर्षणे बहु भवति न पृथिवीति ।

(वे आप-जल-सोचने लगे कि हम बहुत होयें और बहुत होने के लिये बहुत रूप से उत्पन्न होयें, फिर वे अन्न को उत्पन्न किये) यह सुना जाता है । यहाँ संशय होता है कि क्या इस अन्न शब्द से ब्रीहि यवादि कहे जाते हैं, अथवा अभ्यवहार्य (भक्ष्य) ओदनादि कहे जाते हैं । यद्वा पृथिवी कही जाती है । वहाँ प्रथम प्राप्त ब्रीहि-यवादि वा ओदनादि ग्रहण के योग्य है । जिससे उन अर्थों में अन्न शब्द लोक में प्रसिद्ध है । और वाक्यशेष भी इसी अर्थ को व्यक्त दृढ़ करता है कि (इससे जहाँ कहीं वृष्टि होती है, तदेव वहाँ ही अधिक अन्न होता है) जिससे वृष्टि होने पर यवादिक ही बहुत होते हैं, पृथिवी नहीं, इससे यह वाक्यशेष अन्न यवाद्यर्थकता को दृढ़ करता है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः । पृथिव्येवेयमन्नशब्देनाद्भ्यो जायमाना विवक्ष्यत इति । कस्मात् ? अधिकाराद्वा पाच्छब्दान्तराच्च । अधिकारस्तावत् ‘तत्तेजोऽसृजत्’ ‘तदपोऽसृजत्’ इति महाभूतविषयो वर्तते । तत्र क्रमप्राप्तां पृथिवीं महाभूतं विलङ्घ्य नाकस्मात् ब्रीह्यादिपरिग्रहो न्याय्यः । तथा रूपमपि वाक्यशेषे पृथिव्यनुगुणं दृश्यते ‘यत्कृष्णं तदन्नस्य’ इति, न ह्योदनादेरभ्यवहार्यस्य कृष्णत्वनियमोऽस्ति, नापि ब्रीह्यादीनाम् । ननु पृथिव्या अपि नैव कृष्णत्वनियमोऽस्ति, पयःपाण्डुरस्याङ्गाररोहितस्य च क्षेत्रस्य दर्शनात् । नायं दोषः । बाहुल्यापेक्षत्वात् । भूयिष्ठं हि पृथिव्याः कृष्णं रूपं न तथा श्वेतरोहिते । पौराणिका अपि पृथिवीच्छायां शर्वरीमुपदिशन्ति, सा च कृष्णाभासेत्यतः कृष्णं रूपं पृथिव्या इति श्लिष्यते । श्रुत्यन्तरमपि समानाधिकारमद्भ्यः पृथिवीति भवति, ‘तद्यदापां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्’ (वृ०

१।२।२) इति च । पृथिव्यास्तु ब्रीह्यादेरुत्पत्तिं दर्शयति—‘पृथिव्या ओषधय ओषधोभ्योऽन्नम्’ इति च । एवमधिकारादिषु पृथिव्या प्रतिपादकेषु सत्सु कुतो ब्रीह्यादिप्रतिपत्तिः । प्रसिद्धिरप्यधिकारादिभिरेव बाध्यते । वाक्यशेषोऽपि पार्थिवत्वादन्नाद्यस्य तद्द्वारेण पृथिव्या एवाद्वयः प्रभवत्व सूचयतीति द्रष्टव्यम् । तस्मात्पृथिवीयमन्नशब्देति ॥ १२ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि जल से जायमान (उत्पन्न होनेवाली) यह पृथिवी ही अन्न शब्द से विवक्षित (अमिप्रेत) है । क्योंकि अधिकार, रूप और शब्दान्तर से यह विवक्षा अमिप्राय प्रतीत होता है । प्रथम महामूतविषय अधिकार (प्रकरण) है कि (उसने तेज को रचा । उसने जल को रचा) वहाँ क्रम से प्राप्त पृथिवी रूप महामूत का उल्लेखन (त्याग) करके अस्मात् ब्रीहि आदि का परिग्रह न्याययुक्त नहीं है । इसी प्रकार वाक्यशेष में पृथिवी के अनुकूल ही रूप का वर्णन भी दिखाई पड़ता है कि (जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है) जिससे मध्य ओदनादि के कृष्णत्व का नियम नहीं है, न ब्रीहि आदि के ही कृष्णत्व का नियम है । इसमें कृष्ण रूप पृथिवी का है । यदि कहा जाय कि पृथिवी के भी कृष्णत्व का नियम नहीं है, जिससे दूध के समान पाण्डुर (श्वेत) और अङ्गार के समान रोहित (रक्त) क्षेत्र (खेत) का भी दर्शन (ज्ञान) होता है । तो कहा जाता है कि बहुलता की अपेक्षा से यह दोष नहीं है जिससे पृथिवी का बहुत अधिक कृष्ण रूप रहता है । इस प्रकार के श्वेत और रक्त नहीं रहते हैं । और पौराणिक भी पृथिवी की छाया रूप रात्रि को कहते हैं, उपदेश करते हैं । वह रात्रि कृष्ण आभाम (प्रतीति) का विषय है । इससे पृथिवी का कृष्ण रूप है । यह मानना युक्त है । महामूत की सृष्टिविषयक तुल्य अधिकार (प्रकरण) वाली दूसरी श्रुति भी है कि (अदम्य पृथिवी) जल से पृथिवी उत्पन्न हुई । (ततः उस सृष्टिकाल में जो जल का क्षर दधि का पूर्वरूप तुल्य था, वह सगठित कठिन हुआ, वह पृथिवी हुई) यह भी श्रुत्यन्तर का कथन है । और पृथिवी से ब्रीहि आदि की उत्पत्ति की श्रुति दिखाती है कि (पृथिवी से ओषधियाँ, और ओषधियों से अन्न उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार प्रकरण, लिङ्ग और स्थान रूप तीनों पृथिवी के बोधक हैं, यहाँ पृथिवी के प्रतिपादक प्रकरणादि के रहते ब्रीहि आदि की प्रतिपत्ति (अनुभूति) किस प्रकार से हो सकती है । लौकिक प्रसिद्धि भी अधिकारादि से ही बाधित हो जाती है । यका होती है कि वृष्टिजन्यत्व लिङ्गसहित वाक्यशेष रूप अन्न श्रुति का प्रकरणादि से बाध नहीं हो सकता है, क्योंकि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इन सब में सबसे श्रुति बलवती होती है, इसमें भी लिङ्गसहित होने से अन्न-श्रुति अतिबलवती है, यहाँ कहा जाता है कि वाक्यशेषसहित अन्न-श्रुति का बाध नहीं होता है । किन्तु वाक्यशेष भी प्रकरणादि बहुत के अनुरोध से तथा (तद्यदपि क्षर) इत्यादि श्रुति के अनुरोध से, और ब्रीहि आदि अन्नो के तथा आद्य (मध्य) ओदनादि के पार्थिवत्व

(पृथिवीजन्यत्व) होने के कारण, उस अन्न के कथन द्वारा पृथिवी को ही जल से जन्यत्व का सूचन करता है, यह समझना चाहिये, इससे यह अन्न शब्द से कही गई पृथिवी है ॥ १२ ॥

तदभिध्यानाधिकरण (७)

व्योमाद्याः कार्यकर्तारो ब्रह्म वा तदुपाधिकम् ।

व्योम्नो वायुर्वायुतोऽग्निरित्युक्तेः खादिकर्तृता ॥

ईश्वरोन्तर्यमयतीत्युक्तेर्व्योमाद्युपाधिकम् ।

ब्रह्म वाय्वादिहेतुः स्यात्तेज आदीक्षणादपि ॥ २ ॥

केवल आकाशादि से वा आकाशादि के अभिमानी देव से सृष्टि नहीं होती है, अर्थात् (आकाशाद्वायुः) इत्यादि श्रुति से आकाशादि मात्र से सृष्टि नहीं कही जाती है, किन्तु उस ईश्वर के अभिध्यान से ही सृष्टि समझाई जाती है कि आकाशादि उपाधि वाला ब्रह्म से वायु आदि उत्पन्न होते हैं । इससे वह कर्ता है, वह अन्तर्यामी श्रुतिगत लिंगों से समझा जाता है । संशय है कि आकाशादि कार्यकर्ता हैं, अथवा आकाशादि उपाधि वाला ब्रह्म कारण है । पूर्वपक्ष है कि आकाश से वायु हुआ, वायु से अग्नि हुई इत्यादि कथन से आकाशादिकर्तृता है । अर्थात् जड़ से रचना की अनुपपत्ति होते भी आकाशादि के अभिमानी देव विशेष सृष्टि के निमित्त कारण हैं । सिद्धान्त है कि ईश्वर देवादि सब का अन्तर्यामी है, इस कथन से आकाशादि रूप उपाधि वाला ब्रह्म वायु आदि का हेतु है । और तेज आदि के ईक्षण से भी ईश्वर कारण है ॥ १-२ ॥

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

किमिमानि वियदादीनि भूतानि स्वयमेव स्वविकारान्सृजन्त्याहोस्वित्परमेश्वर एव तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं त विकारं सृजतीति सन्देहे सति प्राप्त तावत्स्वयमेव सृजन्तीति । कुतः ? 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादि-स्वातन्त्र्यश्रवणात् । नन्वचेतनानां स्वतन्त्राणां प्रवृत्तिः प्रतिषिद्धा । नैष दोषः । 'तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त' (छां० ६।२।४) इति च भूतानामपि चेतनत्व-श्रवणादिति ।

क्या ये आकाशादिरूप भूत स्वयं ही अपने विकारों को रचते हैं, अथवा परमेश्वर ही उस-उस रूप से स्थिर होकर अभिध्यान-चिन्तन करता हुआ तत्तद् विकारों को रचता है, इस प्रकार सन्देह होने पर, प्राप्त हुआ कि आकाशादि स्वयम् ही रचते हैं, क्योंकि (आकाश से वायु और वायु से अग्नि हुई) इत्यादि स्वतन्त्रता के श्रवण से आकाशादि में कारणत्व सिद्ध होता है । यहाँ शंका होती है कि रचना की अनुपपत्ति से स्वतन्त्र अचेतनों की प्रवृत्ति प्रतिषिद्ध हो चुकी है । इससे देव भले हो सकते हैं, भूतमात्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इस शंका का पूर्वपक्षी उत्तर देता है कि यह रचना की अनुपपत्ति और प्रवृत्ति असम्भव रूप दोष नहीं है । क्योंकि (उस तेज ने

विचार किया, उस जल ने विचार किया) इस रीति से भूताभिमानि देवों के भी चेतनत्व के श्रवण से तत्तत् देव तत्तत् कार्य के कर्ता हो सकते हैं ।

एव प्राप्तेऽभिधीयते । स एव परमेश्वरस्तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायस्त त विकार मृजतीति । कुत ? तल्लिङ्गात् । तथाहि शास्त्रम्— य पृथिव्या तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद यम्य पृथिवी शरीर य पृथिवीमन्तरो यमयति' (वृ० ३।७।३) इत्येवजातीयक साध्यक्षाणामेव भूताना प्रवृत्ति दर्शयति । तथा 'सोऽकामयत बहु स्या प्रजायेय' इति प्रस्तुत्य 'सच्च त्यच्चाभवत्, तदात्मान स्वयमकुरुत' (तै० २।६।१) इति च तस्यैव च सर्वात्मभाव दर्शयति । यत्त्वोक्षणश्रवणमप्तेजसोऽन्तर्परमेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम् 'नान्योऽनोऽस्ति द्रष्टा' (वृ० ३।७।२) इतीक्ष्वन्तरप्रतिषेधात्, प्रकृतत्वाच्च सत ईक्षितु 'तदेक्षत बहु स्या प्रजायेय' इत्यत्र ॥ १३ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहा जाता है कि वह परमेश्वर तत्तत् स्वरूपों से स्थिर होता हुआ और तत्तत् कार्यों का अभिध्यान करता हुआ तत्तत् विकारों को रचता है । अर्थात् कोई देव भी किसी कार्य का स्वतन्त्र कर्ता नहीं है, सबत्र स्वतन्त्रता ईश्वर की ही कर्माद्यपेक्ष है । कर्मादि के कर्ता भी देवादि ईश्वराधीन ही कर सकते हैं । क्योंकि वह ईश्वर के स्वतन्त्रमूर्तत्वं सर्वनिगमनृत्वं रूप लिङ्ग से अवगत होता है । इसी प्रकार प्रकरणगत शास्त्र कहता है कि (जो पृथिवी में स्थिर होता हुआ, पृथिवी के अन्तरात्मा स्वरूप है । इसमें जिसकी पृथिवी नहीं जानती है, जिसका पृथिवी शरीर है । और जो पृथिवी का अन्तरात्मा होता हुआ पृथिवी का नियन्त्रण करता है) इस प्रकार के शास्त्र अध्यक्षसहित ही भूतों की प्रवृत्ति को दिखाता है । स्वतन्त्र नहीं है । इसी प्रकार (वह इच्छा किया कि वृत्त होऊ, उत्पन्न होऊँ) ऐसा आगम्य बरवे (वह सत्-मूर्त, और त्यक्-अमूर्त हुआ । कार्य कारण, प्रत्यक्ष परोक्ष हुआ । वह स्वयं अपने आपको उत्पन्न किया) यह शास्त्र भी उस परमान्मा का ही सर्वान्मभाव दिखाता है । इससे जो जल और तेज का ईक्षण मुना जाता है, वह भी परमेश्वर के अन्तर्यामी रूप से आवेश (सम्बन्ध) वश से ही समझना चाहिये जिससे (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इस श्रुति से अय ईक्षिता का निषेध है । और (उसने सोचा कि बहुत हाऊँ, उत्पन्न होऊँ) यह सत् ईक्षित के प्रवृत्तत्व है, प्रकरण है । इससे जलादि का ईक्षण ईश्वर के आवेशनिमित्तक ही सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

विपर्ययाधिकरण (८)

सृष्टिक्रमो ल्ये ज्ञेयो 'विपरीतक्रमोऽप्येव ।

कृत्स्न कल्प्याद्वर तेन ल्ये सृष्टिक्रमो भवेत् ॥ १ ॥

हेतावसति कार्यस्य न सत्त्वं युज्यते तत ।

पृथिव्यप्स्विति चोक्तत्वाद्विपरीतक्रमो ल्ये ॥ २ ॥

इस सृष्टिक्रम से उल्टा प्रलय का क्रम होता है, क्योंकि वंसा ही उपपन्न (सिद्ध) हो सकता है और लोक-पुराणादि में प्रसिद्ध है । यहाँ सामान्य दृष्टि से सशय है कि

सृष्टि का क्रम लय में समझना चाहिये, अथवा उससे विपरीत क्रम समझना चाहिए । पूर्वपक्ष है कि क्लृप्त (सिद्ध-निर्णीत) कल्पनीय से श्रेष्ठ होता है, इससे सृष्टि के लिए क्लृप्त क्रम प्रलय में होगा । सृष्टिक्रम से प्रलय मानने पर मूल कारण के नाशपूर्वक कार्य का नाश होगा यह असम्भव है । हेतु के नष्ट होने पर निराश्रय कार्य की सत्ता नहीं रह सकती, इससे प्रलय में उत्पत्ति क्रम का असम्भव है । पुराण में पृथिवी का जल में लय कहा है, इससे लय में विपरीत क्रम है ॥ १-२ ॥

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १४ ॥

भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः, अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यतः, किमनियतेन क्रमेणाप्यय उत्तोत्पत्तिक्रमेणाथवा तद्विपरीतेनेति । त्रयोऽपि चोत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानां ब्रह्मायत्ताः श्रूयन्ते—‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति’ (तै० ३।१।१) इति । तत्रानियमोऽविशेषादिति प्राप्तम् । अथवोत्पत्तेः क्रमस्य श्रुतत्वात्प्रलयस्यापि क्रमाकाङ्क्षिणः स एव क्रमः स्यादिति ।

भूतों की उत्पत्ति का क्रम चिन्तित (विचारित) हो चुका । अब इस समय प्रसंग से प्रलय के क्रम का विचार किया जाता है कि क्या अनियत क्रम से प्रलय होता है या उत्पत्ति क्रम से होता है । अथवा उत्पत्ति की अपेक्षा विपरीत क्रम से प्रलय होता है । यदि कोई कहे कि भूतों का प्रलय ही नहीं होता है, इससे उसके क्रम की चिन्ता निरर्थक है, तो कहा जाता है कि भूतों के ब्रह्माधीन उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों ही श्रुति में सुने जाते हैं, लय का क्रम श्रुति में नहीं सुना गया है । इससे क्रम की चिन्ता सार्थक है । उत्पत्ति आदिविषयक श्रुति है कि (जिससे ये सब भूत जन्मते हैं, जन्म लेकर जिससे जीते हैं, और प्रलय के समय जिसमें लीन होते हैं वह ब्रह्म है) यहाँ क्रम की अविशेषता से विशेष विधि के अभाव से अनियम है यह प्राप्त होता है । अथवा उत्पत्ति का क्रम श्रुत है, और प्रलय भी क्रम की आकांक्षा वाला है, उसका वही उत्पत्ति-क्रम ही हो सकता है ।

एवं प्राप्तं ततो ब्रूमः—विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद्भूतुमर्हति । तथाहि—लोके दृश्यते येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणावरोहतीति, अपि च दृश्यते मृदो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येत्यद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यवभावमप्येतीति । अतश्चोपपद्यत एतत् यत्पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्तावपोऽपीयादापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः, एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरतरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यंजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्येतीति वेदितव्यम् । न हि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकारणे कार्याप्ययो न्याय्यः । स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययक्रमस्तत्र तत्र दर्शितः—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे । पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।

ज्योतिष्याप प्रलीयन्ते ज्योतिर्वीमी प्रलीयते ॥ इत्येवमादौ ।

उत्पत्तिक्रमस्तत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाप्यये भवितुमर्हति, न चासावयोग्यत्वा-
दप्ययेनाकाक्षयते, न हि कार्ये ध्रियमाणे कारणस्याप्ययो युक्त कारणाप्यये
कार्यस्यावस्थानानुपपत्ते । कार्याप्यये तु कारणस्यावस्थान युक्त मृदादिष्वेव
दृष्टत्वात् ॥ १४ ॥

इस प्रकार प्राप्त होता है । तब कहते हैं कि इस वर्णित उत्पत्ति-क्रम से विपरीत
स्वरूप वाला प्रलय का क्रम होने के योग्य है, जिससे वैसा ही लोक में देखा जाता है,
कि मनुष्य जिस क्रम से सोपान (आरोहण सीढ़ी) पर चढ़ता है, ऊपर प्राप्त होता है,
उससे विपरीत क्रम से उतरता है, नीचे आता है । देखा जाता है कि मृत्तिका से
उत्पन्न घट-शराब आदि प्रलय-नाश काल में मृत्तिकारूपता को प्राप्त होते हैं । जल से
उत्पन्न बर्फ करका (करक-बर्फोपल) आदि अपने विलयकाल में जलरूपता को प्राप्त
होते हैं । इससे यह भी उपपन्न (सिद्ध) होता है कि जलसे उत्पन्न होकर स्थितिकाल में
वर्तमान पृथिवी स्थिति-काल के व्यतिक्रान्त (अत) होने पर जलरूपता को प्राप्त होती
है, जल में लीन हो जाती है । और तेज से उत्पन्न होकर वर्तमान जल अन्त में तेज
रूप होता है । इसी प्रकार क्रम से, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर (अतिसूक्ष्म) जो अनन्तर और
अनन्तरतर (अतिअनन्तर) कारण हैं, उनकी रूपता को प्राप्त होकर, उनमें लीन होकर
सब कार्य-समूह, परम कारण और परम सूक्ष्म ब्रह्म में लीन होते हैं ऐसा समझना
चाहिये । यद्यपि ब्रह्म सर्व जगत् का कारण है, तथापि सबका साक्षात् कारण नहीं है,
इससे अपने कारण में विलय के बिना उसका व्यतिक्रमण उल्लघन करके सब कारणों
के कारण ब्रह्म में कार्य का विलय न्याययुक्त नहीं है । अन्यथा घट के नाश होने पर
मृत्तिका की उपलब्धि नहीं होगी, अर्थात् घट-पटादि भी ब्रह्म में ही विलीन होंगे और
ऐसा होता नहीं है । इससे उक्त क्रम से विलय न्याय्य है । स्मृति में भी उत्पत्ति क्रम
से विपरीत रूप से ही प्रथम का क्रम तत्तत् स्थानों में दर्शित कराया गया है कि (हे
देव ऋषि ! नारद ! जगत्—सब प्राणी का आश्रय भूमि जल में प्रलीन होती है, जल
तेज में लीन होता है, तेज वायु में प्रलीन होता है, वायु आकाश में लीन होता है ।
और वह आकाश अव्यक्त (कारण ब्रह्म) में लीन होता है इत्यादि । और उत्पत्तिक्रम
तो उत्पत्ति में ही श्रुत है, वह क्रम प्रलय में होने योग्य नहीं है । अयोग्यता से ही वह
उत्पत्ति क्रम प्रलय से आकाशित नहीं होता है । कारण के नष्ट होने पर आश्रय के बिना
कार्य की स्थिति की अनुपपत्ति से कार्य के ध्रियमाण (वर्तमान) रहते कारण का प्रलय
युक्त नहीं है । कार्य के लय होने पर तो कारण की स्थिति युक्त है, जिससे मृत्तिका
आदि में ऐसा देखा जाता है ॥ १४ ॥

अन्तराविज्ञानाधिकरण (९)

किमुक्तक्रमभङ्गोऽस्ति प्राणाद्यैर्नास्ति वास्ति हि ।

प्राणाक्षमनसां ब्रह्मवियतोर्मध्य ईरणात् ॥

प्राणाद्या भौतिका भूतेष्वन्तर्भूताः पृथक् क्रमम् ।

नेच्छन्त्यतो न भङ्गोऽस्ति प्राणादौ न क्रमः श्रुतः ॥

(एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी) इस आत्मा से प्राणादि और आकाशादि उत्पन्न होते हैं । इस श्रुति के अनुसार संशय होता है कि (विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानम्) जिससे पदार्थ को समझा जाय उसको विज्ञान कहें । ऐसे ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि है । वहाँ इस श्रुति के अनुसार ये विज्ञान और मन तथा प्राण आकाशादि की उत्पत्ति से प्रथम आत्मा से उत्पन्न होते हैं । इससे आत्मा और आकाशादि के अन्तरा (मध्य) में उत्पन्न होते हैं, इसी से उक्त उत्पत्ति क्रम का प्राणादि से भङ्ग होता है । अथवा नहीं होता है । पूर्वपक्ष है कि प्राणादि का मध्य में कथन से भंग होता है और उस भंग की सिद्धि इन्द्रियों की सिद्धि उक्त श्रुति और (बुद्धि तु सारथि विद्धि) इत्यादि श्रुति रूप लिङ्गों से होती है । सिद्धान्त है कि प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और मन ये सब भौतिक है इससे भूतों से अविशेष (अमिन्न) होने से भूतों के अन्तर्भूत है । इसी से भूतों के क्रम से ही इनका क्रम सिद्ध है, ये पृथक् क्रम नहीं चाहते हैं और उक्त श्रुति में पञ्चमी विभक्ति आदि द्वारा प्राणादि में क्रम नहीं सुना गया है, किन्तु केवल उत्पत्ति सुनी गई है, इससे पूर्वोक्त भूतोत्पत्ति क्रम का बाध नहीं होता । सूत्रार्थ भी इसी से गतार्थ है ॥ १-२ ॥

अन्तरा विज्ञानमनसो क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यां भवत इत्युक्तम्, आत्मादिरुत्पत्तिः प्रलयश्चात्मान्त इत्यप्युक्तम्, सेन्द्रियस्य तु मनसो बुद्धेश्च सद्भावः प्रसिद्धः श्रुतिस्मृत्योः, 'बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहेमेव च । इन्द्रियाणि हयानाहुः' (कठ० ३।३) इत्यादिलिङ्गेभ्यः । तयोरपि कस्मिंश्चिदन्तराले क्रमेणोत्पत्तिप्रलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वाभ्युत्थमात् । अपि चाथर्वणे उत्पत्तिप्रकरणे भूतानामात्मनश्चान्तराले करणान्यनुक्रम्यन्ते—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ (मुण्ड० २।१।३) इति ।

तस्मात्पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गो भूतानामिति चेत् ।

न । अविशेषात् । यदि तावद्भौतिकानि करणानि ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवत इति नैतयोः क्रमान्तर मृग्यम् । भवति च भौतिकत्वे लिङ्गं करणानाम् 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयो वाक्' (छां० ६।५।४) इत्येवं जातीयकम् । व्यपदेशोऽपि क्वचिद्भूतानां करणानां च ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन नेतव्यः । अथ त्वभौतिकानि करणानि तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशेष्यते प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि प्रथमं वा भूतानि—

न्युत्पद्यन्ते चरम वा करणानीति । आथर्वणे तु सामान्नायक्रममात्र करणानां भूतानां च न तत्रोत्पत्तिक्रम उच्यते । तथान्यत्रापि पृथगेव भूतक्रमात्करणक्रम आम्नायते—‘प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासीत्सदात्मानमैक्षत तद्वाचमसृजत’ इत्यादिना । तस्मान्नास्ति भूतोत्पत्तिक्रमस्य भङ्गः ॥ १५ ॥

अनुलोम और प्रतिलोम क्रम द्वारा भूतों की उत्पत्ति और प्रलय होते हैं यह कहा गया है । यह भी कहा गया है कि आत्मस्वरूप आदि वाली उत्पत्ति है । अर्थात् आत्मा से उत्पत्ति का आरम्भ होता है, आत्मस्वरूप अन्त वाला प्रलय है । आत्मा में प्रलय की समाप्ति होती है । और (बुद्धि को सार्ग्य जानो, मन को लगाम समझो, इन्द्रियाँ को अश्व कहते हैं) इत्यादि लिङ्गों से इन्द्रिय सहित मन और बुद्धि श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध हैं । इन्द्रियादि की सत्ता श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है । यहाँ अन्यायपरक शब्दों को लिङ्ग कहा गया है । यहाँ ब्रह्म से उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सहित मन और बुद्धि इन दोनों के भी किसी अन्तराल (मध्य) में उत्पत्ति और प्रलय का उपसग्रह (ग्रहण) करने के योग्य है । क्योंकि सब वस्तु समूह की ब्रह्म से ही उत्पत्ति मानी गयी है । यदि आकाशा हो कि किस अन्तराल में इनके उत्पत्ति और प्रलय गृहीत हो, तो आयवर्ण (मुण्डक) उत्पत्ति क्रम में भूत और आत्मा के अन्तराल (मध्य) में इन्द्रियों का अनुक्रम (ग्रहण) किया गया है कि (इस आत्मा से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सब प्राणियों का धारण करनेवाली पृथिवी, ये सब उत्पन्न होते हैं) जिससे भूतों के पूर्वोक्त उत्पत्ति और प्रलय के क्रमों में भग (अभाव) की प्राप्ति होती है । इससे तैत्तिरीय और मुण्डक श्रुति को विरोध भी प्राप्त होता है । यदि कोई ऐसा कहे तो कहते हैं कि यह क्रम का भग और विरोधादि नहीं है । जिससे इन्द्रियों को भूतों से अविशेष है (भेद नहीं है) जिससे यदि इन्द्रिय भौतिक (भूतों के कार्य) हैं तो भूतों के उत्पत्ति प्रलय से ही इनके भी उत्पत्ति प्रलय होते हैं, इनके क्रमान्तर अन्वेषणीय नहीं हैं । इन्द्रियों के भौतिकत्व में लिङ्ग भी है कि (हे सोम्य ! अन्नमय मन है, जलमय प्राण है, तेजोमयी वाक् है) अर्थात् अग्नादि के विकार रूप मन आदि हैं । इस प्रकार के वचन करणों के भौतिकत्व में प्रमाण हैं । ऐसा होने पर भी जो मुण्डक आदि में कही भूतों और करणों के पृथक् जन्म का व्यपदेश-कथन है, वह ब्राह्मण-परिब्राजक न्याय से नेतव्य (स्वीकार के योग्य) है । और यदि करण भौतिक नहीं हैं, तो भी भूतोत्पत्ति का क्रम करणों से विविष्ट-मिश्र—नष्ट नहीं होता है । जिससे प्रथम करण उत्पन्न होते हैं, अन्त में भूत उत्पन्न होते हैं, अथवा प्रथम भूत उत्पन्न होते हैं, अन्त में करण उत्पन्न होते हैं । मुण्डक में करणों का और भूतों का पाठक्रम मात्र है, उसमें उत्पत्ति का क्रम नहीं कहा जाता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी भूतक्रम से पृथक् ही करण क्रम पढ़ा जाता है कि (यह स्थूल भूत उत्पत्ति से पूर्वकाल में सूक्ष्म भूतात्मक प्रजापति स्वरूप ही था । सूत्रात्मा स्वरूप था । उसने सूक्ष्म भूतात्मक अपने को समझा, फिर मन को रचा, फिर वह मन रूप ही था और उसने

अपने को मन रूप समझा फिर उस मन ने वाक् को रचा) इत्यादि से सूक्ष्म भूत स्वरूप प्रजापति की सृष्टि प्रथम भासती है, उससे मन आदि की सृष्टि भासती है, इससे यह क्रम है, जिससे भूतोत्पत्तिक्रम का मङ्गल नहीं है ॥ १५ ॥

चराचरव्यपाश्रयाधिकरण (१०)

जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वात्मनो हि ते ।

जातो मे पुत्र इत्युक्तेर्जातिकर्मादितस्तथा ॥ १ ॥

मुख्ये ते वपुषो भाक्ते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि ।

जातकर्म च लोकोक्तिर्जीवापेतेति शास्त्रतः ॥ २ ॥

लौकिक उस जीव के जन्म मरण का व्यपदेश (व्यवहार) चराचर देहाश्रय तो मुख्य होता है और जीव में भाक्त (गौण) व्यवहार होता है, क्योंकि उस देह के होने ही से जीव में व्यवहार होता है । संशय है कि जीव के जन्म मरण होते हैं, वा देह के होते हैं । पूर्वपक्ष है कि मेरा पुत्र जन्मा है इस लौकिक व्यवहार से तथा शास्त्र में जात-कर्मादि के विधान से जीवात्मा के ही वे जन्म मरण होते हैं । सिद्धान्त है कि शरीर के वे जन्म मरण मुख्य हैं और जीव के ये जन्म मरण भाक्त हैं । देह गत जन्म मरण का देह के साथ सम्बन्ध होने से जीव में गौण व्यवहार होता है और उस भाक्त की अपेक्षा करके ही लोकोक्ति होती है, जात कर्म होता है । जिससे (जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते) इस शास्त्र से जीव के जन्मादि का अनाव सुना जाता है ॥ १-२ ॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥

स्तो जीवस्याप्युत्पत्तिप्रलयौ, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्येवंजाती-यकालौकिकव्यपदेशात् जातकर्मादिसंस्कारविधानाच्चेति स्यात्कस्यचिद्भ्रान्तिस्तामपनुदामः । न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसंबन्धोपपत्तेः । शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थं विधिप्रतिषेधावनर्थको स्याताम् । श्रूयते च—जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छां० ६।१।३) इति । ननु लौकिको जन्ममरणव्यपदेशो जीवस्य दर्शितः । सत्यं दर्शितः । भाक्तस्त्वेव जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः । किमाश्रयः पुनरयं मुख्यो यदपेक्षया भाक्त इति । उच्यते । चराचरव्यपाश्रयः । स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ । स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते चातस्तद्विषयौ जन्ममरणशब्दौ मुख्यौ सन्तौ तत्स्ये जीवात्मन्युपचर्येते, तद्भावभावित्वात् । शरीरप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ भवतो नासतोः । नहि शरीरसंबन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो वा केनचिल्लक्ष्यते । 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (वृ० ४।३।८) इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति । जातकर्मादिविवानमपि देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम् । अभावाज्जीवप्रादुर्भावस्य । जीवस्य परस्मादात्मन उत्पत्तिवियदा-

दीनामिवास्ति नास्ति वेत्येतदुत्तरेण सूत्रेण वक्ष्यति । देहाश्रयो तावज्जीवस्य स्थूलावृत्तिप्रलयौ न स्त इत्येतदनेन सूत्रेणावोचत् ॥ १६ ॥

देवदत्त जन्मे, देवदत्त मर गया, इस प्रकार के लौकिक व्यवहार से, और जात-कर्मादि संस्कार के विधान से किसी को भ्रान्ति हो सकती है कि जीव के जन्म मरण होते हैं, अर्थात् उत्पत्ति प्रलय होते हैं । उस भ्रम का निवारण करते हैं कि जीव के उत्पत्ति प्रलय नहीं होते हैं, जिससे उत्पत्ति प्रलय के नहीं होने पर ही शास्त्र से विहित कर्म आदि के फलों की जन्मान्तर में उपपत्ति हो सकती है । अन्यथा संस्कारादि विधि भी निरर्थक होंगे । जिससे शरीर के अनुसार विनाश के स्वभाव वाला जीव के होने पर शरीरान्तरगत इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति और निवृत्ति के लिए किये गये विधि और निषेध दोनों अनर्थक हो जायेंगे । मुना जाता है कि (जीव को छोड़कर यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता है) । यदि कहा जाय कि जीव के जन्म मरण का लौकिक व्यवहार दर्शित कराया गया है, तो कहा जाता है कि दर्शित कराया गया है, सो सत्य है, परन्तु वह जीव के जन्म मरण का व्यवहार भावत है । यदि कहा जाय कि वही मुख्य के बिना गौण व्यवहार नहीं होता है, यह व्यवहार मुख्य किसमें है, कि जिसकी अपेक्षा से जीव में गौण है, तो कहा जाता है कि चराचर देहाश्रित मुख्य व्यवहार है । स्थावर जगम शरीर विषयक जन्म मरण शब्द मुख्य हैं । जिससे स्थावर जगम मूल (शरीर) जन्मते हैं, मरते हैं । इससे तद्विषयक जन्म मरण शब्द मुख्य होते हुए, उस देह में स्थित आत्मा में उपचरित होते हैं । जिससे शरीर के जन्म मरण के भाव से ही जन्म मरण शब्द भाव वाले (सत्तायुक्त) होते हैं, शरीर के प्रादुर्भाव और विरोभाव (प्रकट गुप्त) होने पर जन्म मरण शब्द होते हैं, शरीर के प्रकट गुप्त हुए बिना नहीं होते हैं । शरीर सम्बन्ध से रहित किसी अन्य स्थान में जीव उत्पन्न हुआ, मर गया इस प्रकार किसी से नहीं समझा जाता है । (वही यह पुरुष शरीर को प्राप्त होने पर जाग्रमान कहा जाता है । शरीर से उत्क्रमण करने पर त्रियमान कहा जाता है) यह श्रुति शरीर के सयोग और वियोग निमित्तक ही जन्म मरण शब्द को दिखाती है । जातकर्मादि के विधान को भी देह के प्रादुर्भाव की अपेक्षा वाला ही समझना चाहिये, जीव के प्रादुर्भाव के अभाव से देह के प्रादुर्भाव निमित्तक समझना ही उचित है । आकाशादि के समान जीवात्मा की उत्पत्ति, परमात्मा से होती है, वा नहीं, वह आगे के सूत्र से कहेंगे । प्रथम देहाश्रित स्थूल प्रकट जन्म मरण रूप उत्पत्ति प्रलय जीव के नहीं है, इस अर्थ को सूत्रकार ने इस सूत्र से कहा है ॥ १६ ॥

आत्माधिकरण (११)

कल्पादौ ब्रह्मणो जीवो विषद्वज्जायते न वा ।

सृष्टे प्रागद्वयत्वोक्तेर्जायते विस्फुलिङ्गवत् ॥ १ ॥

ब्रह्माद्वय जातबुद्धौ जीवत्वेन विशेषत्वयम् ।

ओपाधिकं जीवजन्म नित्यत्व वस्तुन श्रुतम् ॥ २ ॥

उत्पत्तिप्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति के अश्रवण से जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है और नित्यत्व के बोधक उन श्रुतियों से जीवात्मा की नित्यता से भी वह नहीं उत्पन्न होता है । संशय है कि कल्प के आदि में आकाश के समान जीव भी उत्पन्न होता है वा नहीं उत्पन्न होता है । पूर्वपक्ष है कि सृष्टि के पूर्वकाल में अद्वयता की श्रुति से विस्फुलिङ्ग के समान जीव उत्पन्न होता है । सिद्धान्त है कि सृष्टि के आदि काल में उत्सन्न बुद्धि में जीव रूप से स्वयं अद्वय ब्रह्म प्रवेश करता है, जिससे उपाधिनिमित्तक कल्पित जीव का जन्म है । और वस्तुतः नित्यत्व सुना गया है ॥ १-२ ।

नात्माऽश्रुतेनित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्चराव्यक्षः कर्मफलसंवन्धी । स किं व्योमादिवदुत्पद्यते ब्रह्माण आहोस्विद्ब्रह्मावदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विषयः । कासुचिच्छ्रुतिष्वग्निविस्फुलिङ्गादिनिदर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद् ब्रह्माण उत्पत्तिराम्नायते, कासुचित्त्वविकृतस्यैव परस्य ब्रह्मणः कार्यप्रवेशेन जीवभावो विजायते न चोत्पत्तिराम्नायत इति । तत्र प्राप्तं तावदुत्पद्यते जीव इति । कुतः ? प्रतिज्ञानुपरोधादेव । 'एकस्मिन्विदिते सर्वमिदं विदितम्' इतीयं प्रतिज्ञा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रभवत्वे सति नोपरुध्येत, तत्त्वान्तरत्वे तु जीवस्य प्रतिज्ञेयमुपरुध्येत । न चाविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुं, लक्षणभेदात् । अपहतपाप्मत्वादित्यर्मको हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः, विभागाच्चास्य विकारत्वसिद्धिः । यावान्हाकाशादिः प्रविभक्तः स सर्वो विकारस्तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समविगता, जीवात्मापि पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखयुक्प्रतिशरीरं प्रविभक्त इति तस्यापि प्रपञ्चोत्पत्त्यवसर उत्पत्तिर्भवितुमर्हति । अपि च 'यथाजनेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (वृ० २।१।२०) इति प्राणादेर्भोग्यजातस्य सृष्टि शिष्टा 'सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति भोक्तृणामात्मनां पृथक्सृष्टि शास्ति । 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद्विधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २।१।१) इति च जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते । सरूपवचनात् । जीवात्मानो हि परमात्मना सरूपा भवन्ति चैतन्ययोगात् । न च कचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं वारयितुमर्हति । श्रुत्यन्तरगतस्याप्यविरुद्धस्याधिकस्यार्थस्य सर्वत्रोपसंहर्तव्यत्वात् । प्रवेशश्रुतिरप्येवं सति विकारभावापत्यैव व्याख्यातव्या, 'तदात्मानं स्वयमकुस्त' इत्यादिवत् । तस्मादुत्पद्यते जीव इति ।

शरीर इन्द्रिय रूप पञ्जर (पिञ्जर) का अव्यक्त कर्मफल का सम्बन्धी (भोक्ता) जीवनाम वाला आत्मा है । वह जीवात्मा क्या आकाश आदि के समान ब्रह्म से उत्पन्न होता है । अथवा ब्रह्म के समान ही नहीं उत्पन्न होता है । इस प्रकार श्रुतियों के विरोध से विषय (संशय) होता है । कितनी श्रुतियों में अग्नि के विस्फुलिङ्गादि

दृष्टान्तों द्वारा जीवात्मा की परब्रह्म से उत्पत्ति कही जाती है। कितनी श्रुतियों में अविकृत परब्रह्म का ही कार्य में प्रवेश द्वारा जीवभाव विज्ञात होता है और उत्पत्ति नहीं कही जाती है। वहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि जीव उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रतिज्ञा के अनुपरोध से ही ऐसा सिद्ध होता है (एक के विदित होने से यह सब जगत् विदित होता है) यह प्रतिज्ञा सब वस्तु समूह के ब्रह्मजन्यत्व होने पर उपरुद्ध (बाधित) नहीं होती है। जीव के सत्त्वान्तर होने पर तो यह प्रतिज्ञा बाधित होगी। लक्षण के भेद से अविकृत परमात्मा ही जीव है, यह भी नहीं समझ सकते हैं कि जिस समझ से प्रतिज्ञा का वाय नहीं प्रतीत हो। अपहृतपाम्यत्वादि धर्म वाला परमात्मा है, और उससे विपरीत जीव है, यह लक्षण का भेद है। विभाग से भी इस जीव के विकारत्व की सिद्धि होती है। जितने आकाशादि प्रविभक्त हैं, वे सब विकार हैं, उस आकाशादि की उत्पत्ति समधिगत हुई है, समझी गयी है। पुण्य अपुण्य कर्मवाला सुख दुःख युक्त जीवात्मा भी प्रत्येक शरीर में प्रविभक्त है, इससे प्रपञ्च की उत्पत्ति के समय उस जीवात्मा की भी उत्पत्ति होने योग्य है। दूसरी बात है कि (जैसे अग्नि से तुच्छ विस्फुल्लिग उत्पन्न होते फैलते हैं इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार प्राणादि भोग्य समूह की सृष्टि का उपदेश करके (सभी आत्मायें व्युच्चरित (व्यवत उत्पन्न) होती हैं। इस प्रकार भोक्ता आत्मा की पृथक् सृष्टि का दासन (उपदेश) श्रुति करती है और (हे सोम्य ! जैसे गुदीस अग्नि से हजारों विस्फुल्लिग समान रूप वाले उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव (जीव) उत्पन्न होते हैं, और उसी में लीन होते हैं) यह श्रुति भी दृष्टान्तगत सरूप वचन से जीवात्मा के ही उत्पत्ति प्रलय को कहती है, जिससे चेतनता के योग्य (सम्बन्ध) से जीवात्मा ही परमात्मा के समान (तुल्य) रूप वाले होने हैं, यद्यपि तैत्तिरीयक श्रुति के उत्पत्ति प्रकरण में जीव का अश्रवण है, तथापि कही उत्पत्ति का अश्रवण अन्यत्र श्रुत उत्पत्ति वचन का वारण नहीं कर सकता है। जिससे अन्य श्रुतिगत भी अविरुद्ध अधिक अर्थ सब श्रुति में उपसंहार (ग्रहण) के योग्य होता है। इस प्रकार जीवात्मा के विकार (कार्य) रूप होने पर जीव भाव से परमात्मा के कार्य में प्रवेश बोधक श्रुति भी (उसने विकार प्रपञ्च रूप से अपने आत्मा को स्वयं किया) इत्यादि के अनुसार विकार भाव की प्राप्ति रूप से ही व्याख्यान के योग्य है कि विकारात्मक जीव रूप से प्रवेश किया। उससे जीव उत्पन्न होता है। जीव के अजत्व बोधक श्रुति कल्प के मध्य में जन्मभाव विषयक है (तत्त्वमसि) इत्यादि भी मृदट्ट, इत्यादि के समान कार्यकारण में अभेद दृष्टि से है ॥

एव प्राप्ते ब्रूम — नात्मा जीव उत्पद्यत इति । कस्मात् ? अश्रुते । न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणं श्रवणमस्ति भूयसु प्रदेशेषु । ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयतीत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् । उत्पत्तिरेव त्वस्य न सम्भवतीति

वदामः । कस्मात् ? नित्यत्वाच्च ताभ्यः । चशब्दादजत्वादिभ्यश्च । नित्यत्वं ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते, तथाजत्वमविकारित्वमविकृतरूपस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मनावस्थानं ब्रह्मात्मना चेति । न चैवंरूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते । ताः काः श्रुतयः ? 'न जीवो म्रियते' (छां ६।१।१३), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (वृ० ४।४।२२), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० २।१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ० २।१८), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छां ६।३।२), 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (वृ० १।४।७), 'तत्त्वमसि' (छां० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (वृ० १।४।१०), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (वृ० २।५।१९) इत्येवमाद्या नित्यत्ववादिन्यः सत्यो जीवस्योत्पत्तिं प्रतिवधन्ति । ननु प्रविभक्तत्वाद्विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यत इत्युक्तम् । अत्रोच्यते । नास्य प्रविभागः स्वतोऽस्ति, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इति श्रुतेः । बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंवन्धनिमित्तम् । तथाच शास्त्रम्—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' (वृ० ४।४।५) इत्येवमादि ब्रह्मण एवाविकृतस्य सतोऽस्यैकस्यानेकबुद्ध्यादिमयत्वं दर्शयति । तन्मयत्वं चास्य तद्विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद् द्रष्टव्यम् । यदपि क्वचिदस्योत्पत्तिप्रलयश्रवणं तदप्यत एवोपाधिसंवन्धान्नेतव्यम् । उपाध्युत्पत्त्यास्योत्पत्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलय इति । तथा च दर्शयति—'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (वृ० ४।५।१३) इति । तयोपाधिप्रलय एवायं नात्मविलय इत्येतदप्यत्रैव 'मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' (वृ० ४।५।१४) इति । प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात् । लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्त एव । 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (वृ० ४।३।१५) इति च प्रकृतस्यैव विज्ञानमयस्यात्मनः सर्वसंसारधर्मप्रत्याख्यानेन परमात्मभावप्रतिपादनात् । तस्मान्नैवात्मोत्पद्यते प्रविलीयते चेति ॥ १७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि जीवात्मा नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि उत्पत्ति प्रकरण में जीवात्मा की उत्पत्ति का अश्रवण है । बहुत प्रदेशों में उत्पत्ति प्रकरण में इस जीव का श्रवण नहीं है । यदि कही कि कहीं का अश्रवण अन्यत्र श्रुत का वारण नहीं करता है, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि कहा सत्य गया है, परन्तु

इस जीवात्मा की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है यह हम कहते हैं, क्योंकि उन श्रुतियों से जीवात्मा के नित्यत्व का बोध होता है। सूत्र गत च शब्द आजत्वादि का बोधक होता है कि अजत्व अमरत्व अमयत्वादि श्रुति से भी जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं होती है। इस जीवात्मा का नित्यत्व श्रुतियों से अवगत होता है, इसी प्रकार अजत्व अविकारित्व अविकृत ब्रह्म का ही जीवात्मा रूप से और ब्रह्मात्मा रूप से अवस्थान (स्थिति) अवगत होता है, और इस प्रकार के स्वरूप वाले की उत्पत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है वे कौन श्रुतियाँ हैं कि जिनसे नित्यत्वादि अवगत होते हैं। ऐसी आकाश हो तो सुनो (जीव नहीं मरता है। प्रथम कथित विज्ञान मय यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अमृत, अमय और ब्रह्म है। विपश्चित् मेधावी विद्वान् न जन्मता है न मरता है। यह आत्मा अज नित्य शाश्वत (सनातन अपक्षय रहित) पुराण (एक रस) है। वह ब्रह्म ही कार्य को रचकर जीव रूप से फिर प्रविष्ट हुआ। उस ब्रह्म ने विचार किया कि इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नाम और रूप का व्याकरण विभाग करें। और इस शरीर में नक्षत्र पर्यन्त प्रविष्ट हुआ। वह सत्य ब्रह्म स्वरूप तुम हो। मैं ब्रह्म हूँ। यह आत्मा ब्रह्म है सबका अनुभव कर्ता है) नित्यत्वादि को कहने वाली होती हुई इस प्रकार की श्रुतियाँ जीव की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध निवारण करती हैं। यदि कहो कि प्रविमक्त होने से जीवात्मा विकार रूप है, और विकार होने से उत्पन्न होता है, यह प्रथम कहा गया है, तो यहाँ उत्तर कहा जाता है कि इस जीवात्मा का स्वतः स्वरूप से विभाग नहीं है। इसमें विकार-बोधक हेतु का अभाव है, क्योंकि (एक देव सब भूतों में गूढ़—छिपा है, सर्वव्यापी, सब भूत का अन्तरात्मा है) इस श्रुति से वस्तुतः अविभाग सुना जाता है। इससे घटादि उपाधिनिमित्तक आकाश के प्रविभाग के समान बुद्धि आदि उपाधिनिमित्तक इसके प्रविभाग का, प्रतिमान (प्रतीति) होता है। ऐसा ही शास्त्र है कि (यह आत्मा ब्रह्म है, और, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय है) इत्यादि शास्त्र अविकृत एक सत् ब्रह्म को ही अनेक बुद्धि आदि मयत्व (बुद्धि आदि रूपत्व) दिखाता है। इस ब्रह्म का बुद्धि आदि मयत्व यह है कि बुद्धि आदि से विविक्त मिश्र स्वरूप की अनभिष्यक्ति से बुद्धि आदि से उपरक्त (प्रस्त) रजित स्वरूपत्व है। जैसे जाल्म (असमीक्ष्यकारी) कामी स्त्रीमय है, इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही इन बुद्धिमय आदि वचनों को समझना चाहिये, अर्थात् यहाँ विकार अर्थ में मयत् प्रत्यय नहीं है कि जिससे ब्रह्म विकारत्व नहीं मानने पर भी बुद्धि आदि के विकारत्व जीव को प्राप्त हो। किन्तु प्रचुरार्थ में मयद् है, उसका तदधीना अर्थ है। जो वहाँ इस जीव के उत्पत्ति प्रलय का श्रवण होता है, वह भी इस उपाधि सम्बन्ध से ही नेतव्य (गौण ज्ञातव्य) है कि उपाधि की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति कही जाती है, और उपाधि के प्रलय से इसका प्रलय समझा जाता है। वैसे ही श्रुति दिखाती है कि (विज्ञानधन ही आत्मा इन भूत रूप देहों से समुत्पित (जन्मवान्) होकर उन देहों के विनाश के अनुसार विनष्ट भासता है, इससे मरण के

वाद संज्ञा नहीं रहती है) इसी प्रकार यह प्रलय भी उपाधि का ही होता है, आत्मा का विलय नहीं होता है, इस तत्त्व को भी यहाँ ही प्रश्नपूर्वक शास्त्र प्रतिपादन करता है कि (मुझे आप भगवान् ने मोह के मध्य (भ्रान्ति) में डाला है, मरने पर संज्ञा नहीं रहती है, इस अर्थ को मैं नहीं जानती हूँ) यह मंत्रेयी का प्रश्न है कि इस अज्ञात अर्थ को कहिये । उत्तर है कि (अरे मंत्रेयी ! मैं मोहजनक वाक्य नहीं कहता हूँ, यह आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा अपरिणामी है, परन्तु शरीर रहित अवस्था में मात्रा (विषय) से इसका सम्बन्ध नहीं होता है, इससे प्रेत्य संज्ञा नहीं है । ऐसा कहा जाता है, उस समय विशेष ज्ञान का अभाव रहता है) और अविकृत ब्रह्म के ही जीवभाव के स्वीकार से प्रतिज्ञा का भी बाध नहीं होता है, इसलिए जीव के जन्म मानने की जरूरत नहीं है, और जीव ब्रह्म के लक्षण भेद भी उपाधि निमित्तक ही हैं, (इसके बाद विमोक्ष ही के लिये कहो) इत्यादि प्रश्न और उत्तर द्वारा प्रकृत विज्ञानमय आत्मा के सब संसार धर्म का प्रत्याख्यान करके परमात्मरूपता के प्रतिपादन से औपाधिक लक्षण का भेद सिद्ध होता है, अतः वस्तुतः जीवात्मा नहीं उत्पन्न होता है, न प्रलीन नष्ट होता है ॥ १७ ॥

ज्ञाधिकरण (१२)

अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपो जीवोचिद्रूप इष्यते ।

चेदभावात्सुषुप्त्यादौ जाग्रच्चिन्मनसाकृता ॥ १ ॥

ब्रह्मत्वादेव चिद्रूपश्चित्सुषुप्तौ न लभ्यते ।

द्वैतादृष्टिर्द्वैतलोपात्तहि द्रष्टुरिति श्रुतेः ॥ २ ॥

इस उक्त उत्पत्ति आदि रहित ब्रह्मरूपता से ही जीव ज्ञाता नित्य चेतन स्वरूप है । वहाँ वादियों की विप्रतिपत्ति से संशय होता है कि जीव अचेतन रूप है अथवा चेतन स्वरूप है । न्यायादि मत के अनुसार पूर्व पक्ष है कि आत्मा अचेतन स्वरूप माना जाता है, परन्तु ज्ञानशक्ति वाला है, अचित्स्वरूप होने से सुषुप्ति मूर्च्छा आदि में ज्ञान का अभाव रहता है और ज्ञानशक्ति के रहने से मन के साथ संयोग से जाग्रत् में ज्ञान-कृत (जन्य) होता है । सिद्धान्त है कि पूर्वोक्त रीति से जीवात्मा के नित्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म स्वरूप ही होने से जीवात्मा नित्य चित् स्वरूप है, सुषुप्ति में चित्स्वरूप नहीं लुप्त होता है, अन्यथा जागने पर सुषुप्ति के सुख का स्मरण ही होना चाहिए कि मैं सुखपूर्वक सोया था इत्यादि । यदि कहे कि ज्ञान रूप रहते उस समय द्वैत का ज्ञान क्यों नहीं होता है, तो कहा जाता है कि द्वैत का लोप अभाव से उस समय द्वैत का ज्ञान नहीं होता है, अर्थात् उत्तनी देर के लिए बाह्य भोगप्रद कर्मों के उपरत हो जाने से इन्द्रियादि का अपने कारणों में विलय हो जाता है, मन, बुद्धि की स्फुरणा शक्ति तमोगुण से आच्छादित हो जाती है, इन्द्रियजन्य विशेष वृत्ति रूप ज्ञान नहीं होते हैं और साक्षी स्वरूप वृत्ति सहित अविद्या का प्रकाशक आत्मा उस समय भी चिद्रूप ही रहता है, वह (नहि द्रष्टु-दृष्टेः परिलोपो भवति) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है ॥ १-२ ॥

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

स किं कणभुजानामिवागन्तुकचैतन्य स्वतोऽचेतन आहोस्वित्साख्यानामिव नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः सशय । किं तावत्प्राप्तम् । आगन्तुकमात्मनश्चैतन्यमात्मनः सयोगजमग्निघटमयोगजरोहितादिगुणवदिति प्राप्तम् । नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैतन्य स्यात् । ते पृष्ठा सन्तो न किंचिदयमचेतयामहीति जल्पन्ति स्वस्थाश्च चेतयमाना दृश्यन्ते । अतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्य आमेति ।

यह जीवात्मा कणादमतवादियो की मति के अनुसार आगन्तुक अनित्य कार्य रूप चैतन्य (ज्ञान) वाला और स्वतः स्वरूप में अचेतन है, अथवा साख्यो की मति के अनुसार नित्य चैतन्य स्वरूप ही है । वादियो की विप्रतिपत्ति से यह सशय होता है, वहाँ क्या प्राप्त है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि अग्नि और घट के संयोग से जन्य घट के रक्त रूपादि गुण के समान आत्मा और मन के संयोग से जन्य आगन्तुक आत्मा के चैतन्य (ज्ञान) गुण है, यह प्राप्त होता है । जिससे नित्य चैतन्यत्व होने पर, सुप्त, मूर्च्छित, ग्रहाविष्टो की भी चैतन्य होगा । उन्हें चेतनता होती नहीं है, जागने पर तथा मूर्च्छा रहित स्वस्थ होने पर पूछने से वे लोग कहते हैं, हम उस समय की बातें कुछ भी नहीं समझते थे न स्मरण करते हैं । स्वस्थ होकर वर्तमानकाल में चेतयमान ज्ञाता दीखते हैं । इससे कादाचित्क (किसी काल में साधन से होने वाली) चेतनता वाला होने से आगन्तुक चेतनता वाला आत्मा है ॥

एव प्राप्तेऽभिधीयते । ज्ञा नित्यचैतन्योऽयमात्मा एव यस्मादेव नोत्पद्यते परमेव ब्रह्माविकृतमुपाधिसपर्काज्जीवभावेनावतिष्ठते । परस्य हि ब्रह्मणश्चैतन्यस्वरूपत्वमात्मातम्—'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' (वृ० ३।१।२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' (तै० २।१।१), अन्तरोऽवाह्यं कृत्स्नं प्रज्ञानघन एव' (वृ० ४।५।१३), इत्यादिषु श्रुतिषु । तदेव चेतपरं ब्रह्म जीवस्तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमन्योऽप्यप्रकाशवदिति गम्यते । विज्ञानमयप्रक्रियाया च श्रुतयो भवन्ति—'असुप्तं सुप्तानां भिन्नाः शोति' (वृ० ४।३।११) 'अत्रायं पुरुष स्वयज्योतिर्भवति' (वृ० ४।३।९) 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (वृ० ४।३।३०) इत्येवमुक्ताः । 'अथ यो वेदेद जिघ्राणी'ति 'स आत्मा' (छा० ८।१२।४) इति च सर्वे कारणद्वारेण वेदेद वेदेति विज्ञानेनानुसंधानात्तद्रूपत्वसिद्धिः । नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेन्न । गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्, तथाहि दर्शयति—'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि । यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्येव परिहारोऽभिहितः । सुषुप्तं प्रकृत्य 'यद्वेत्तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (वृ० ४।३।२३) इत्यादिना । एतदुक्तं

भवति । विषयाभावादियमचेतयमानता न चैतन्याभावादिति । यथा वियदा-
श्रयस्वप्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात्तद्वत् । वैशेषिकादि-
तर्कश्च श्रुतिविरोधे आभासीभवति । तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मेति निश्चि-
नुमः ॥ १८ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है । अत एव इस पूर्वोक्त हेतु से ही यह आत्मा 'ज्ञ'
नित्य चैतन्य स्वरूप है अर्थात् जिससे उत्पन्न नहीं होता है, अविकृत पर ब्रह्म ही उपाधि
सम्बन्ध से जीव रूप से स्थिर होता है । इससे नित्य चैतन्य स्वरूप है । (विज्ञान आनन्द
स्वरूप ब्रह्म है । सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है । अन्तर बाह्य भेद रहित पूर्ण ज्ञान
घन ही है) इत्यादि श्रुतियों में परब्रह्म को ही चैतन्य स्वरूपत्व कहा है । वही परब्रह्म
ही जिससे जीव है उससे जीव को भी अग्नि की उष्णता और प्रकाश के समान नित्य
चैतन्य स्वरूपत्व है यह प्रतीत होता है, समझा जाता है । और (योऽयं विज्ञानमयः) इस
विज्ञानमय के प्रकरण में श्रुतियाँ हैं कि (स्वयं असुप्त होता हुआ सुप्तों को प्रकाशित करता
है) यहाँ स्वप्न में यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है । विज्ञाता के विज्ञान का अभाव-नाश
नहीं होता है । इत्यादि इनसे साक्षात् चिद्रूपता सिद्ध होती है । और जो जानता है कि
इस वस्तु को सूँघता हूँ वह आत्मा है । इस प्रकार सब करणों द्वारा इसको जानता है,
इसको जानता है, इस विज्ञान द्वारा अनुसंधान से उस विज्ञान रूपत्व की सिद्धि होती
है । नित्य विज्ञान रूप के बिना अनित्य विज्ञानों का अनुसंधान नहीं हो सकता है । यदि
कोई कहे कि नित्य चैतन्य स्वरूपत्व के होने पर घ्राणादि रूप ज्ञान के हेतु इन्द्रियों की
अनर्थकता होगी तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि गन्धादि रूप विषय विशेष के
पृथक्-पृथक् वृत्ति ज्ञान रूप परिच्छेदार्थक घ्राणादि हैं । जिससे इसी प्रकार श्रुति दिखाती
है कि (गन्ध विषय ज्ञान के लिए घ्राण है) इत्यादि । सुप्त मूर्च्छितादि नहीं जानते हैं,
चैतन्य होने पर कहते हैं कि कुछ नहीं जाना इत्यादि । इससे जो आत्मा की अचेतनता का
संशय होता है, उसका परिहार (निवारणोपाय) श्रुति से ही कहा गया है, जैसे कि
सुप्त का आरम्भ करके (जो वह सुप्त में नहीं देखता है वह स्वरूप चैतन्य से देखता
हुआ ही अन्तःकरण के लीन हो जाने से अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा नहीं देखता है,
अविनाशी होने से द्रष्टा की दृष्टि-ज्ञान का परिलोप नहीं होता है, परन्तु वहाँ उससे अन्य
विभक्त द्वितीय वस्तु नहीं है कि जिसको वह देखे जाने) इत्यादि से परिहार किया गया
है । इससे यह उक्त होता है कि विषय के अभाव से यह अज्ञातृता है, चेतनता के अभाव
से नहीं । जैसे आकाश के आश्रित प्रकाश की प्रकाश करने योग्य वस्तु के अभाव से
अभिव्यक्ति नहीं होती है, स्वरूप के अभाव से नहीं जिससे रात्रि के समय प्रकाश योग्य
चन्द्रमा को प्राप्त होकर प्रकाश अभिव्यक्त होता है, अन्यथा नहीं, इसी प्रकार यहाँ चिद्
अभिव्यक्ति में समझना चाहिए । श्रुति के विरोध होने पर वैशेषिकादि के तर्क आभास
(मिथ्या) हो जाते हैं, इससे नित्य चैतन्य स्वरूप ही आत्मा है, यह निश्चित करते हैं ॥

उत्क्रान्तिगत्याधिकरण (१३)

जीवोऽणु सर्वगो वा स्यादेपोऽणुरिति वाक्यत ।

उत्क्रान्तिगत्यागमनश्रवणाच्चाणुरेव स ॥

साभासवृद्धयाणुत्वेन तदुपाधित्वतोऽणुता ।

जीवस्य सर्वगत्व तु स्वतो ब्रह्मत्वत श्रुतम् ॥

जीव के मध्यम परिमाण का प्रथम निषेध किया गया है, तो भी संशय है कि मध्यम परिमाण नहीं होने पर भी जीव अणु होगा अथवा सर्वगत होगा, पूर्वपक्ष है कि श्रुति में मरणकालिक उत्क्रमण (शरीर का त्याग) फिर लोकान्तर में गमन और लोकान्तर से आगमन के श्रवण से, तथा (एपोऽणुरात्मा) इस श्रवण से जीव अणु ही है ॥ सिद्धान्त है कि आभास सहित वृद्धि के अणु होने से और उपाधि वाला व्यावहारिक जीव के होने से, उस व्यावहारिक जीव को उस उपाधिवाला होने ही से अणुता (सूक्ष्मता) है, और स्वतः स्वरूप से तो जीव को ब्रह्मत्वतः (ब्रह्मरूपता) से विभुत्व श्रुत है ॥ १-२ ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

इदानीं तु किंपरिमाणो जीव इति चिन्त्यते, किमणुपरिमाण उत्तममध्यम-परिमाण आहोस्विन्महापरिमाण इति । ननु नात्मोत्पद्यते नित्यचैतन्यश्चायमित्युक्तम्, अतश्च पर एवात्मा जीव इत्यापतति परस्य चात्मनोजन्तत्वमा-म्नात, तत्र कुतो जीवस्य परिमाणचिन्तावतार इति । उच्यते । सत्यमेतत् । उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति । स्वशब्देन चास्य क्वचिदणुपरिमाणत्वमाप्नायते । तस्य सर्वस्यानाकुलत्वोपपादनायायमारम्भ । तत्र प्राप्तं तावदुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति । उत्क्रान्तिस्तावत्—‘स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति’ (कौपीत० ३।३) इति । गतिरपि ‘ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति’ (कौपीत० १।२) इति । आगतिरपि ‘तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे’ (वृ० ४।४।६) इति । आत्मा मुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति । न हि विमोक्षलनमवकल्पत इति । सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्याहंतपरीक्षाया निरस्तत्वादणु-रात्मेति गम्यते ॥ १९ ॥

अब इस समय विचार किया जाता है कि जीव किस परिमाण वाला है, क्या अणु परिमाण वाला है, अथवा मध्यम परिमाण वाला है । या महापरिमाण वाला विभु है । परन्तु यहाँ शंका होती है कि (नात्माऽणुते) इत्यादि सूत्रों से कहा जा चुका है कि आत्मा उत्पन्न नहीं होता है, और यह आत्मा नित्य चैतन्य स्वरूप है । इसीसे परमात्मा ही जीव है, यह प्राप्त-सिद्ध होता है । परमात्मा को अनन्तत्व आम्नात

(वेद प्रतिपादित) है, वहाँ जीव के परिमाण की चिन्ता का अवसर कहाँ से आया । इस शंका का उत्तर कहा जाता है कि पारमार्थिक जीव को अनन्त ब्रह्मरूपता है, यह बात सत्य है, परन्तु व्यावहारिक जीव के उत्क्रान्ति गति आगति के श्रवण जीव के परिच्छेद (परमात्मा से भेद, परिच्छिन्नता) को प्राप्त (बोध) कराते हैं । कहीं स्वशब्द से भी श्रुति इस जीव के अणुत्व को कहती है, अणु वाचक शब्द से साक्षात् अणुत्व का वर्णन करती है । उन सबके अनाकृत्व (अव्यस्तता-अविरुद्धता) उपपादन (साधन) के लिये यह आरम्भ है, उस आरम्भ में प्रथम प्राप्त होता है कि उत्क्रमण, गति और आगति के श्रवण से परिच्छिन्न अणुपरिमाण वाला जीव है । प्रथम उत्क्रान्ति का श्रवण है कि (वह जीव जिस काल में इस शरीर से उत्क्रमण करता है, इससे निकलता है, इसे त्यागता है, उस समय इन इन्द्रिय बुद्धि आदि के साथ निकलता है) गति की भी श्रुति है कि (जो कोई इस लोक से प्रयाण—यात्रा करते हैं, वे सब चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं—चन्द्रलोक में जाते हैं) आगति भी सुनी जाती है कि (उस चन्द्रलोक से फिर इस लोक के प्रति कर्मानुष्ठान के लिये आते हैं) इन उत्क्रान्ति गति आगतियों के श्रवण से जीव परिच्छिन्न है, यह पक्ष प्रथम प्राप्त होता है, जिससे विभु का चलन नहीं सिद्ध हो सकता है । और परिच्छेद के सिद्ध होने पर शरीर तुल्य मध्यम परिमाणता के आर्हत (जैन) परीक्षा में निरस्त होने से आत्मा अणु है, ऐसा सिद्ध होता है ॥१९॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

उत्क्रान्तिः कदाचिदचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवद्देहस्वाम्यनिवृत्त्या कर्म-क्षयेणावकल्पते । उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः संभवतः । स्वात्मना हि तयोः संबन्धो भवति, गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात् । अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव संभवतः । सत्योश्च गत्यागत्योः उत्क्रान्तिरप्यपसृप्तिरेव देहादिति प्रतीयते, न ह्यनपसृप्तस्य देहाद्गत्यागती स्याताम्, देहप्रदेशानां चोत्क्रान्तावपादानत्ववचनात् 'चक्षुषो वा मूर्ध्नी वा वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (वृ० ४।४।२) इति । 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (वृ० ४।४।१), 'शुक्रमादाय पुनरिति स्थानम्' (वृ० ४।३।११) इति चान्तरेऽपि शरीरे शारीरस्य गत्यागती भवतः । तस्मादप्यस्याणुत्वसिद्धिः ॥ २० ॥

उत्क्रान्ति मरण—शरीर के त्याग को कहते हैं । वह मरण शरीर का त्याग तो कभी नहीं चलने वाले का भी ग्राम की स्वामिता की निवृत्ति के समान कर्मक्षय के द्वारा देह की स्वामिता की निवृत्ति से मन मात्र के गमन से अभिमान के नष्ट होने से सिद्ध हो सकता है परन्तु उत्क्रान्ति के उत्तर—वाद में होने वाली गति और आगति अचल आत्मा के असम्भव हैं, चलने के बिना गति आगति की सिद्धि नहीं हो सकती है, जिससे गति और आगति को स्वात्मा कर्ता के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि गमन को कर्तृस्थ क्रियात्व है । इससे गमनादि वाले आत्मा को अणुत्व है । और मध्यम परिमाण-

रहित आत्मा के अणुत्व होने ही पर गमनागमन हो सकते हैं । और गमनागमन के होने पर उत्क्रान्ति भी देह से निर्गमन रूप ही होती है ऐसी प्रतीति है । क्योंकि देह से निर्गमन रहित के गमनागमन नहीं हो सकते हैं, स्थूल देह सहित चन्द्र लोक में जाना, वहाँ से आना नहीं हो सकता है । देह के प्रदेशों (अवयवों) की उत्क्रान्ति में अपादानत्व के कथन से भी निर्गमन की सिद्धि होती है । प्रदेश का कथन है कि (नेत्र से वा मूर्धा-श्चिर से वा अन्य मुखादि शरीर के प्रदेशों से यह आत्मा उत्क्रमण करता है) । वह आत्मा इन इन्द्रिय रूप तेजों मात्रा-तेज के अवयवों का ग्रहण करता हुआ हृदय में ही अनुगमन करता है । और इन्द्रियरूप तेजोमय शुरु प्रकाश को लेकर फिर जागरित स्थान में आता है । इस प्रकार देह के अन्तर में भी जीव के गमनागमन होते हैं । इससे भी अणुत्व की सिद्धि होती है ॥ २० ॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

अथापि स्यान्नाणुर्यमात्मा । कस्मात् ? अतच्छ्रुते । अणुत्वविपरीतपरिमाण-श्रवणादित्यर्थ । 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु' (बृ० ४।४।१२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य', 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' (तै० २।१।११) इत्येवजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिपिध्येतेति चेत् ।

नैव दोष । कस्मात् ? इतराधिकारात् । परस्य ह्यात्मन प्रक्रियायामेवा परिमाणान्तरश्रुति, परस्यैवात्मन प्राधान्येन वेदान्तेषु वेदितव्यत्वेन प्रकृतत्वात् । विरज पर आकाशादित्येवविधाच्च परस्यैवात्मनस्तत्र तत्र विज्ञेयाधिकारात् । ननु 'योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२) इति शरीर एव महत्त्वसम्बन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते । शास्त्रदृष्ट्या तेषां निर्देशो वामदेववद्द्रष्टव्य । तस्मात्प्राज्ञ-विषयत्वात्परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्याणुत्व विरुध्यते ॥ २१ ॥

उक्त हेतुओं से आत्मा की अणुता की सिद्धि होने पर भी यदि शका होती हो कि यह आत्मा अणु नहीं है, क्योंकि अतन् श्रुति से अर्थात् अणुत्व से विपरीत परिमाण के श्रवण से शका होती है कि (जो यह प्राणों में विज्ञानमय आत्मा है, वह यह निश्चित आत्मा महान् और अज है । आकाश के समान सर्वगत और नित्य है । सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म है) इस प्रकार की श्रुतियाँ आत्मा के अणुत्व होने पर बाधित हो जायेंगी । तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ जीव से अन्य का अधिकार (प्रकरण) है । परमात्मा के प्रकरण में यह अणु परिमाण से भिन्न परिमाण की श्रुति है, वेदान्तों में प्रधान रूप से परमात्मा को ही वेदितव्य (ज्ञेय) रूप से प्रवृत्तत्व (प्रकरण) है । और (आकाश से पर विरज—निर्दोष है) इस प्रकार के परमात्मा ही के तत्त्व स्थानों में अधिकार है, इससे दोष नहीं है । यदि कहो कि (प्राणों में यह विज्ञानमय आत्मा है) यह विज्ञानमय श्रुति से जीव ही महत्त्व के सम्बन्धी रूप से प्रतिनिर्दिष्ट (कथित) होता है, कहा जाता है । तो अणु जीवात्मा के ब्रह्म के साथ भेदाभेद के स्वीकार से शास्त्र-दृष्टि द्वारा वामदेव के समान इस निर्देश की ब्रह्माभेद अर्थ से समझना

चाहिए । जिससे परिमाणान्तर श्रवण के प्राज्ञ (ईश्वर) विषयक होने से जीव के अणुत्व विरुद्ध नहीं होता है ॥ २१ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

इतरश्चाणुरात्मा यतः साक्षादेवास्याणुत्ववाची शब्दः श्रूयते—‘एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश’ (मुण्ड० ३।१।९) इति । प्राण-संवन्धाच्च जीव एवायमणुरभिहित इति गम्यते । तथोन्मानमपि जीवस्याणिमानं गमयति—‘वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः’ (श्वे० ८।८) इति । ‘आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः’ (श्वे० ५।८) इति चोन्मानान्तरम् ॥ २२ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी आत्मा अणु है कि जिससे साक्षात् ही इस आत्मा के अणुत्व का वाचक शब्द सुना जाता है कि (यह आत्मा अणु है, चित्त से जानने योग्य है कि जिसमें पांच प्रकार के प्राण संविष्ट—प्रविष्ट है) और प्राण के सम्बन्ध से यह जीव ही अणु अभिहित (उक्त) हुआ है, यह प्रतीत होता है । इसी प्रकार उन्मान (उद्धरण पूर्वक उपमा रूप मान) अत्यन्त अपकृष्ट परिमाण भी जीव की अणुता का बोध कराते है । और (वाल (केश) के अग्रभाग के सौ भाग करके उसके एक भाग के फिर सौ भाग करने पर जो अत्यन्त सूक्ष्म कल्पित भाग होता है, उसके समान अत्यन्त सूक्ष्म वह जीव जानने योग्य है । अवर जीव भी आरा के अग्र मात्र ही दृष्ट है) ये दो प्रकार के उन्मान हैं ॥ २२ ॥

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते, दृश्यते च जाह्नवीहृदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योपलब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोपलब्धिरिति, अत उत्तरं पठति—

शंका होती है कि जीव के अणुत्व होने पर एक देश में स्थिर जीव को सम्पूर्ण देहगत शीत उष्णादि की उपलब्धि विरुद्ध होती है । गङ्गा के हृद (अगाध जल) में निमग्नो (गोता लगाने वालों) को सर्वाङ्ग में शीतलता की उपलब्धि देखी जाती है । और निदाघ—उष्ण ग्रीष्म काल में सम्पूर्ण शरीर में ताप की उपलब्धि देखी जाती है । इससे उत्तर रूप सूत्र पढ़ते है कि—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

यथाहि हरिचन्दनविन्दुः शरीरैकदेशसम्बद्धोऽपि सन्सकलदेहव्यापिनमाह्लादं करोत्येवमात्मापि देहैकदेशस्थः सकलदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति । त्वक्सम्बन्धाच्चास्य सकलशरीरगता वेदना न विरुध्यते, त्वगात्मनोहि सम्बन्धः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते, त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति ॥ २३ ॥

जैसे शरीर के एकदेश में सम्बन्ध वाला होता हुआ भी हरिचन्दन का विन्दु सम्पूर्ण

देह में व्यापक आनन्द को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार देह के एक देश में स्थिर आत्मा भी सम्पूर्ण देह में व्यापक उपलब्धि को उत्पन्न करेगा। आत्मा के एक देश में रहते भी आत्मा का त्वक् के साथ सम्बन्ध होता है, और आत्मा के सम्बन्ध युक्त त्वक् सम्पूर्ण देह में व्यापी है, इससे त्वक् सम्बन्ध से इसको सम्पूर्ण देहगत ज्ञान विरद्ध नहीं होता है। क्योंकि त्वक् जोर आत्मा का सम्बन्ध सम्पूर्ण त्वक् में व्यापक रहता है। और त्वक् सम्पूर्ण देह में व्यापक रहता है, क्योंकि आत्मा के संयोग युक्त अवयवी रूप त्वक् एक होता है ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २४ ॥

अत्राह यदुक्तमविरोधश्चन्दनवत्—इति, तदयुक्तं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर-
तुल्यत्वात् । मिद्धे ह्यात्मनो देहैकदेशस्थत्वे चन्दनदृष्टान्तो भवति, प्रत्यक्ष तु चन्दन-
स्यावस्थितिवैशेष्यमेकदेशस्थत्व सकलदेहाह्लादनं च आत्मन पुन सकलदेहोप-
लब्धमात्रं प्रत्यक्षं नेकदेशवर्तित्वम् । अनुमेयं तु तदिति यदप्युच्येत । न चात्रानु-
मानं सम्भवति । किमात्मन सकलशरीरगता वेदना त्वगिन्द्रियस्यैव सकलदेह-
व्यापिनं सतं किंवा विभोर्नभम इवाहोस्विच्चन्दनविन्दोरिवानोरेकदेशस्थस्येति
सशयानतिवृत्तेरिति ।

अत्रोच्यते नायं दोषः । कस्मात् ? अभ्युपगमात् । अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि
चन्दनस्यैव देहैकदेशवृत्तित्वमवस्थितिवैशेष्यम् । कथमित्युच्यते । हृदि ह्येव
आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु—‘हृदि ह्येव आत्मा’ (प्रश्न० ३।६), ‘स वा एव आत्मा
हृदि’ (छा० ८।३।३), ‘वतम आत्मेति योज्यं विज्ञानमयं प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति-
रूपम्’ (बृ० ४।३।६) इत्याद्युपदेशेभ्यः । तस्माद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैपम्या-
द्युक्तमेवैतदविरोधश्चन्दनवदिति ॥ २४ ॥

यहाँ कहते हैं कि चन्दन के समान जो अवरोध कहा गया है, वह दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक
की अनुत्पत्ता से अयुक्त है। जिससे आत्मा के देह के एक देह में स्थिरत्व के सिद्ध
होने पर चन्दन दृष्टान्त हो सकता है, वह आत्मा के देह के एकदेशस्थत्व सिद्ध
नहीं है, और चन्दन की तो अवस्थिति की विशेषता एकदेशस्थत्व और सम्पूर्ण
देह में आह्लादन आनन्द प्रत्यक्ष है। आत्मा की सम्पूर्ण देह में उपलब्धि मात्र प्रत्यक्ष
है, एकदेशवर्तित्व प्रत्यक्ष नहीं है, इससे कार्य रूप उपलब्धि की शरीर में व्यापकता
से शरीर में व्यापक ही आत्मा सिद्ध होता है, इसीसे यदि ऐसा भी कहें कि वह आत्मा
के देह के एकदेशस्थत्व अनुमेय (अनुमान से ज्ञेय) है। तो यहाँ अनुमान का
सम्भव नहीं है, जिससे यह आत्मा की सकल शरीरगत वेदना (ज्ञान) त्वक् इन्द्रिय
के समान सम्पूर्ण देह में व्यापक होने से है। अथवा आकाश के समान विभु होने से
है, या चन्दन विन्दु के समान अणु एकदेशस्थ का है इस शंय की अनतिवृत्ति
अनिवृत्ति से अनुमान का असम्भव है। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है,

क्योंकि अभ्युपगम से देह के एक देश हृदय में आत्मा की स्थिति सिद्ध है। जिससे चन्दन के समान आत्मा के देह के एक देश में वृत्तित्व रूप अवस्थिति विशेष माना जाता है, श्रुति से सिद्ध है, कैसे माना जाता है, सो कहा जाता है कि वेदान्तों में यह आत्मा हृदय में पड़ा जाता है, जैसे कि (हृदय में यह आत्मा रहता है। सो यह आत्मा निश्चय हृदय में रहता है। कौन आत्मा है ऐसा पूछने पर उत्तर है कि जो यह विज्ञानमय प्राणों में है सो हृदय के अन्तर में ज्योतिः स्वरूप पुरुष आत्मा है) इत्यादि उपदेशों से ही हृदयवृत्ति आत्मा सिद्ध होता है, जिससे दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक की अविपमता से अविरोधश्चन्दनवत् यह युक्त ही है ॥ २४ ॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

चैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकलदेहव्यापि कार्यं न विरुध्यते । यथा लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशवर्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सतो कृत्स्नेऽपवरके कार्यं करोति तद्वत् । स्यात्कदाचिच्चन्दनस्य सावयवत्वात्सूक्ष्मावयवविसर्पणेनापि सकलदेहे आह्लादयितृत्वं न त्वणोर्जीवस्यावयवाः सन्ति यैरयं सकलदेहं विप्रसर्पेदित्याशङ्क्य गुणाद्वा लोकवदित्युक्तम् ॥

अथवा जीव के अणु होते भी चैतन्य गुण की सम्पूर्ण देह में व्याप्ति से देहमात्र में व्यापक उपलब्धि रूप कार्य विरुद्ध नहीं होता है। जैसे लोक में अपवरक (अपवारक-आच्छादक) गृहादि के एकदेश में वर्तमान भी दीप, मणि आदि की प्रभा अपवरक में व्यापक होकर सम्पूर्ण अपवरक में कार्य करती है, वैसे ही एकदेशस्थ आत्मा के सम्पूर्ण देह में व्यापक चैतन्य गुण कार्य करेगा। चन्दन के सावयव होने से सूक्ष्म अवयवों की गति द्वारा फैलने से कभी सम्पूर्ण शरीर में आह्लादजनकत्व चन्दनविन्दु को हो सकता है, और अणु जीव को तो अवयव नहीं है कि जिनके द्वारा यह जीव सम्पूर्ण देह में फैल सकेगा, ऐसी शंका करके गुणाद्वा लोकवत् यह कहा गया है ॥ २५ ॥

कथं पुनर्गुणो गुणिव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तत, नहि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तमानो दृश्यते । प्रदीपप्रभावद्भवेदिति चेत् । न । तस्या अपि द्रव्यत्वाभ्युपगमात् । निविडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः, प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रमेति । अत उत्तरं पठति—

यहाँ शंका होती है कि फिर भी यह दोष है कि गुणी आत्मा के बिना गुण रूप चैतन्य अन्य देश में कैसे रह सकता है। प्रभा तो द्रव्य है वह फैल सकता है। परन्तु पट का शुक्लगुण पट के बिना अन्यत्र वर्तमान नहीं देखा जाता है। यदि प्रदीप की प्रभा के समान अन्यवृत्तिता कहो, तो उसको द्रव्य मानने से कहना नहीं बन सकता है। जिससे निविड (घनीभूत) अवयव वाला तेज रूप द्रव्य प्रदीप होता है और प्रविरल अवयव वाला तेज रूप द्रव्य ही प्रभा कहा जाता है, ऐसी शंका होने पर फिर उत्तर पढ़ते हैं कि—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

यथा गुणस्यापि सतो गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण वृत्तिर्भवति । अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुमुमगन्धोपशब्दे, एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुण-
व्यतिरेको भविष्यति, अतश्चानेकान्तिकमेतद् गुणत्वाद्व्यापादिवदाश्रयविश्लेषानुप-
पत्तिरिति, गुणस्यैव सतो गन्धस्याश्रयविश्लेषदर्शनात् । गन्धस्यापि सहैवा-
श्रयेण विश्लेष इति चेत् । न । यस्मान्मूलद्रव्याद्विश्लेषस्तस्य क्षयप्रसङ्गात् ।
अक्षीयमाणमपि तत्पूर्वावस्थातो गम्यते, अन्यथा तत्पूर्वावस्थैर्गुरुत्वादिभिर्हीयते ।
स्यादेतत् । गन्धाश्रयणा विश्लेषानामवयवानामत्यत्वात्सन्नपि विशेषो नोपलक्ष्यते,
सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणव सर्वतो विप्रसृता गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति नामिकापुटमनु-
प्रविशन्ति इति चेत् । न । अतीन्द्रियत्वात्परमाणूनां स्फुटगन्धोपलब्धेश्च
नागकेसरादिषु । न च लोके प्रतीतिगन्धवद्द्रव्यमाघ्रातमिति, गन्ध
एवाघ्रात इति तु लौकिका प्रतियन्ति । रूपादिष्वश्रयव्यतिरेकानुप-
लब्धेर्गन्धस्यात्युक्त आश्रयव्यतिरेक इति चेत् । न । प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः ।
तस्माद्यद्यथा लोके दृष्टं तत्तथैवानुमन्तव्य निरूपकैर्नान्यथा । नहि रसो
गुणो जिह्वयोपलभ्यत इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वयैवोपलभ्येरन्निति नियन्तु
शक्यते ॥ २६ ॥

जैसे गुण होते भी गन्धवाले द्रव्य के बिना गन्ध की वृत्ति (स्थिति) होती है, और
गन्धवाले पुष्पादि द्रव्यों के अभास रहते भी पुष्पादि के गन्ध की उपलब्धि से द्रव्य के
बिना गन्ध की वृत्ति है यह समझी जाती है । इसी प्रकार जीव के अणु होते भी उसके
चैतन्य गुण का व्यतिरेक होगा, आत्मा के बिना भी चैतन्य गुण रहेगा । इसमें यह
अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेतु है कि रूपादि के समान गुण होने से चैतन्य गुण को
आश्रय आत्मा से विद्वेष वियोग की अनुपपत्ति है । जिससे गुण होते भी गन्ध को
आश्रय से वियोग विभाग देखा जाता है, इससे गुण का आश्रय से अवियोग का नियम
नहीं है । यदि गन्ध का भी आश्रय सहित ही विद्वेष विभाग माना जाय तो ठीक नहीं
हो सकता है, क्योंकि जिस मूल द्रव्य से विद्वेष विभाग होगा, उसका क्षय (नाश)
की प्राप्ति होगी । गन्ध के निरन्तर विभाग होने पर भी वह मूल द्रव्य पूर्वावस्था से
अक्षीयमाण (अक्षीण) ही प्रवेष्ट होता है, अन्यथा क्षीण होने पर तो उस पूर्वावस्था
वाले गुप्तवादि से हीन हो जाता । यहाँ धरना होती है कि अवयव के विश्लेष होने पर
भी यह अक्षीणता हो सकती है, जिससे गन्ध के आश्रय विश्लेष (वियुक्त) अवयवों
के अल्प होने से तथा अवयवान्तर के प्रवेश से होता हुआ भी विद्वेष (विभाग)
उपलब्धित (ज्ञान) नहीं होता है, सूक्ष्म ही गन्धयुक्त परमाणु सर्वत्र फैलकर नासिका
पुट में प्रवेश करते हुए गन्धबुद्धि को उत्पन्न कराते हैं । यदि ऐसी घटना हो तो युक्त
नहीं है, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं, और नागकेसरादि में स्फुट गन्ध की उपलब्धि

होती है । और लोक में ऐसी प्रतीति नहीं होती है कि गन्ध वाले द्रव्य को सूँघा है, किन्तु गन्ध को ही हमने सूँघा है इस प्रकार लौकिक जन समझते हैं । यदि कहा जाय कि रूपादि मे आश्रय से व्यतिरेक (विभाग) की अनुपलब्धि से गन्ध को भी आश्रय से व्यतिरेक अयुक्त है, तो सो कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि व्यतिरेक की प्रत्यक्षता से अनुमान की प्रत्यक्ष से बाधित अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इससे जो वस्तु लोक में जैसा दृष्ट है, परीक्षकों से वह उसी प्रकार मन्तव्य है । अन्यथा नहीं । जिससे रस गुण जिह्वा से उपलब्ध होता है, समझा जाता है । इससे रूपादि गुण भी जिह्वा से ही उपलब्ध होना चाहिये । ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं ॥ २६ ॥

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्व चात्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' (छा० ८।८।१) इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति ॥ २७ ॥

आत्मा को हृदय रूप आयतन (आश्रय-स्थान) वाला और अणु परिमाण वाला कह कह कर उसी आत्मा के चैतन्य गुण द्वारा समस्त शरीर में व्यापित्व (व्यापकत्व) को श्रुति दर्शाती है कि (लोम पर्यन्त और नखाग्र पर्यन्त आत्मा है) ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

'प्रज्ञया शरीरं समारूढ' (कौषी० ३।६) इति चात्मप्रज्ञयोः कर्तृकरणभावेन पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापिता गम्यते । 'तदेवां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (वृ० २।१।१७) इति च कर्तुः शरीरात्पृथग्विज्ञानस्योपदेश एतमेवाभिप्रायमुपोद्वलयति तस्मादणुरात्मेति ॥ २८ ॥

(प्रज्ञा से शरीर में समारूढ़ (स्थिर) हो कर शरीर से सुख दुःख को प्राप्त करता है) इस प्रकार आत्मा और प्रज्ञा का कर्ता और करण रूप से पृथक् उपदेश से चैतन्य गुण द्वारा ही इस आत्मा के शरीर में व्यापित्व प्रतीत होता है । और (उस सुषुप्ति काल में यह आत्मा चैतन्य गुण रूप विज्ञान द्वारा इन्द्रियो के विज्ञान शक्ति का ग्रहण करके सोता है) इस प्रकार कर्ता जीव से पृथक् विज्ञान का उपदेश भी इस चैतन्य गुण की व्याप्ति विषयक अभिप्राय को ही व्यक्त करता है, इससे आत्मा अणु है ॥ २८ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

तद्गणसारत्वात् तद्वचपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्त्यणुरात्मेति । उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात्तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम् । परमेव चेद्ब्रह्म जीवस्तस्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति, परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमास्नातम्, तस्माद्विभुर्जीवः । तश्चाच 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं

विज्ञानमयः प्राणेषु' (वृ० ४।४।२२) इत्येवजातीयका जीवविषया विभुत्ववादा श्रुताः स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति । न चाणोर्जीवस्य सकलशरीरगत वेदनोपपद्यते । त्वक्सम्बन्धात्स्यादिति चेत् । न । त्वक्कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत, त्वक्कण्टकयोर्हि सयोगः कृत्स्नाया त्वचि वर्तते त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनोति । पादतल एव तु कण्टकतुन्ना वेदना प्रतिलभन्ते । न चाणोर्गुणव्याप्तिरूपपद्यते, गुणस्य गुणिदेशत्वात् । गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत । प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम् । गन्धोऽपि गुणत्वाभ्युपगमात्साश्रय एव सञ्चरितुमर्हति, अन्यथा गुणत्वहानि-प्रसङ्गात् । तथाचोक्तं द्वैपायनेन—

उपलभ्याप्सु चेद्गन्ध केचिद्वयुरनेपुणा ।

पृथिव्यामेव त विद्यादपो वायु च सश्रिनम् ॥ इति ॥

इस पूर्व कही रीति से आत्मा के अणुत्व और विभुत्व विषयक श्रुतियों के विरोध भासने पर जीव के अणुत्व और ईश्वर के विभुत्व प्रतिपादक एकदेशी मत के प्राप्त होने पर कहते हैं कि—

परमात्मा के अणुत्वादि के समान जीव के भी उक्त अणुत्वादि का व्यपदेश कथन, उस अणु बुद्धि के गुणों के सारत्वं (प्रधानत्वं) दृष्टि से है स्वरूप दृष्टि से नहीं । सूत्र-गत तु शब्द पूर्वपक्ष का व्यावृत्ति निवारण करता है कि आत्मा अणु है यह समझ ठीक नहीं है । जिससे उत्पत्ति के अश्रवण से, और परब्रह्म ही का जीवरूप से प्रवेश श्रवण से, और अयमात्मा ब्रह्म, यह आत्मा ब्रह्म है, इत्यादि तादात्म्य उपदेश (कार्य कारणभाव के बिना अभेदोपदेश) से परब्रह्म ही जीव है, यह कहा जा चुका है । जिससे परब्रह्म ही जीव है इससे जिस परिमाण वाला परब्रह्म है, उस परिमाण वाला ही जीव होने योग्य है । परब्रह्म का विभुत्वं वेद में कथित है जिससे जीव विभु है । इस प्रकार (सो यह आत्मा महान् और अजन्मा है, जो यह प्राणों में विज्ञानमय है । इस प्रकार के जीवविषयक श्रुति और स्मार्त (श्रुति स्मृति में श्रुत) विभुत्ववाद (विभुत्व का कथन) समर्थित (सगत सिद्ध) होते हैं । अणु जीव को सम्पूर्ण शरीर-गत वेदना (सुख दुःख और उनका अनुभव) उपपन्न नहीं हो सकता है । यदि कही कि अणु आत्मा के त्वक् के साथ सम्बन्ध से सम्पूर्ण शरीरगत वेदना होगी, तो सो कहना अयुक्त है, ऐसा मानने पर त्वक् को कण्टक से एक देश में वेधन होने पर भी सम्पूर्ण शरीरगत ही वेदना प्राप्त होगी । क्योंकि त्वक् और कण्टक का सयोग सम्पूर्ण त्वक् में रहता है, और त्वक् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है । कण्टक से पादतल (अधोभाग) में वेधनव्यथा वाले लोग पादतल में वेदना का अनुभव करते हैं । इससे अल्प और महान् का सयोग महद में व्यापी नहीं होता है, यह सिद्ध होता है । इससे अणु जीव सम्पूर्ण शरीर में सुखादि का अनुभव नहीं कर सकता है । अणुरूप जीव के ज्ञानगुण की व्याप्ति भी नहीं उत्पन्न हो सकती है । जिससे गुण को गुणीरूप देश-

वत्त्व होता है, अर्थात् गुण गुणी में ही रहता है। गुणी के आश्रयण के बिना स्थिति से तो गुण का गुणत्व ही नष्ट हो जायगा। स्वतन्त्र वृत्तिता से वह द्रव्य कहलायेगा। इसीसे दीप प्रमा को द्रव्यान्तरत्व प्रथम व्याख्यात हो चुका है। गुणत्व के अभ्युपगम से गन्ध भी आश्रय सहित ही संचार गमन कर सकता है। अन्यथा गुणत्व की हानि प्राप्त होगी। इसी प्रकार महर्षि द्वैपायन ने कहा है कि—

जो कोई जल में गन्ध का अनुभव होने से जल में गन्ध कहते हैं सो अनिपुण (अविवेकी) हैं। जल और वायु में संश्रित उस गन्ध को भी पृथिवी में ही समझना चाहिये। इसीसे प्रत्यक्ष से आश्रय के अनुमान का दाव कहा था सो अनुचित है क्योंकि जल आदि में गन्ध के प्रत्यक्ष होने पर भी निराश्रयत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु भ्रम से जल वायु आदि के आश्रित प्रत्यक्ष होता है, परन्तु वहाँ भी श्रुति स्मृति के अनुसार सूक्ष्म भूमि में ही गन्ध रहता है।

यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाणुर्जीवः स्यात्। चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवीष्यप्रकाशी, नात्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति। शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम्। परिशेषाद्भिर्भुजीवः कथं तद्गुणत्वादिव्यपदेश इत्यत आह, तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः—इति। तस्या बुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे सम्भवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम्। नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति, बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तृत्वासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः तस्मात्तद्गुणसारत्वाद्बुद्धिपरिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः। तदुत्क्रान्त्यादिभिर्इचास्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो न स्वतः।

इससे यदि जीव का चैतन्य समस्त शरीर में व्याप्त होता तो जीव अणु नहीं होगा। जिससे वस्तुतः अग्नि के उष्णता और प्रकाश स्वरूप के समान इस जीव के चैतन्य ही स्वरूप है। इस जीव और चैतन्य में गुण गुणों विभाग नहीं है। जीव के शरीर परिमाणत्व प्रत्याख्यात हो चुका है, परिशेष से विभु पारमार्थिक जीव का स्वरूप है, जिज्ञासा हुई कि विभु होते भी अणुत्वादि का व्यपदेश (व्यवहार) कैसे होता है। इससे कहते हैं कि (उस बुद्धि गुण की सारता से वह अणुत्वादि व्यपदेश होता है) उस बुद्धि के गुण को तद्गुण कहते हैं। सो बुद्धि के गुण इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादि हैं। जिस आत्मा का संसारित्व अवस्था में तद्गुण ही सार प्रधान होता है, सो आत्मा तद्गुणसार कहाता है, उस आत्मा का भाव तद्गुणसारत्व है। जिससे बुद्धि के गुणों के बिना केवल आत्मा को संसारित्व नहीं है। सत्य आत्मा के अकर्ता, अमोक्ता, असंसारि और नित्यमुक्त होते भी बुद्धिरूप उपाधि के धर्मों के आत्मा में अव्यास निमित्तक ही कर्तृत्व भोक्तृत्वादि स्वरूप संसारित्व आत्मा को है। इस तद्गुण सारत्व से

बुद्धि के परिमाण द्वारा इस आत्मा के परिमाण का भी व्यपदेश होता है । उस बुद्धि के उत्क्रान्ति आदि से इस आत्मा के उत्क्रान्ति आदि का व्यपदेश होता है, स्वतः नहीं ।

तथाच—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (श्वे० ५।९)

इत्यणुत्व जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह । तच्चैवमेव समञ्जसं स्याद्य-
द्यौपचारिकमणुत्व जीवस्य भवेत्पारमार्थिक चानन्त्यम् । नह्युभय मुख्यमवकल्पेत ।
न चानन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुं, सर्वोपनिपत्सु ब्रह्मात्मभावस्य-
प्रतिपिपादयिपितत्वात् । तथेतरस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ६।८) इति च बुद्धिगुणसम्बन्धेनैवारा-
ग्रमाग्रता शास्ति न स्वेनैवात्मना । 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड०
३।१।९) इत्यत्रापि न जीवस्याणुपरिमाणत्वं शिष्यते, परस्यैवात्मनश्चक्षुराद्य-
नवग्राह्यत्वेन ज्ञानप्रमादगम्यत्वेन च प्रकृतत्वात् । जीवस्यापि च मुख्यानुपरि-
माणत्वानुपपत्तेः । तस्माद्दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुत्ववचनमुपाध्यभिप्रायः वा
द्रष्टव्यम् । तथा 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० २।६) इत्येवजातीयकेष्वपि
भेदोपदेशेषु बुद्धयैवोपाधिभूतया जीवः शरीरं समारुह्यत्येव योजयितव्यम् ।
व्यपदेशमात्रं वा, शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादिवत् । नह्यत्र गुणगुणिविभागोऽपि
विद्यत इत्युक्तम् । हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतनत्वात् । तथोक्तान्त्या-
दौनामप्युपाध्यायत्ततां दर्शयति—'कस्मिन्नहमुत्क्रान्तं उत्क्रान्तो भविष्यामि
कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति' (प्रश्न० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र०
६।४) इति । उत्क्रान्त्यभावे हि गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते, नह्यनपसृजतस्य
देहादागत्यगती स्याताम् । एवमुपाधिगुणसारत्वाज्जीवस्याणुत्वादिव्यपदेशः
प्राज्ञवत्, यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपसनेपूपाधिगुणत्वादणीयस्त्वादिव्य-
पदेशः—'अणीयान्नीहेर्वा यवाद्वा' (छा० ३।१।१४।२) 'मनोमयः प्राणशरीरं
सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसकल्पः' (छा० ३।१।४।२) इत्येवप्रकार-
स्तद्वत् ॥ २९ ॥

इसो प्रकार (बाल के अग्रभाग के सौ भाग में से एक भाग के कल्पित सौ भाग
में से एक भाग के तुल्य जीव जानने योग्य है, सो अनन्तता के लिये समर्थ होता है) ।
यहाँ जीव के अणुत्व को कह कर, फिर उसी जीव की अनन्तता की श्रुति कहती है ।
सो इसी प्रकार समञ्जस (युक्त) होगा, कि यदि जीव के अणुत्व गौण होगा, और
अनन्तता पारमार्थिक होगी, जिससे दोनों मुख्य नहीं सिद्ध हो सकते हैं । सब उपनिषदों
में जीवात्मा के ब्रह्मात्म भाव का प्रतिपादन अभिलिखित है, इससे अनन्तता औपचारिक
है, अणुता मुख्य है, ऐसा नहीं समझ सकते हैं । इसी प्रकार अन्य उन्मान में भी (बुद्धि

के) गुणनिमित्तक आत्मा में कल्पित गुण से ही आराग्रमात्र और अवर (हीन) जीवात्मा समझा जाता है । इस कथन से भी बुद्धि के गुणों के सम्बन्ध द्वारा ही आराग्रमात्रता का उपदेश श्रुति करती है, निजात्म स्वरूप से ही नहीं । (यह अणु आत्मा चित्त से जानने योग्य है) यहाँ भी जीव के अणु परिमाणत्व का उपदेश नहीं दिया जाता है, क्योंकि (न क्षुपा गृह्यते) इत्यादि वचनो से चक्षु आदि द्वारा अनवग्राह्यरूप से तथा ज्ञान की स्वच्छता द्वारा गम्य प्राप्य रूप से परमात्मा ही प्रकृत है । जीव को भी उपाधि के बिना मुख्य अणु परिमाणत्व की अनुपपत्ति है, इस स्वरूप से अणु नहीं है । इससे इस अणुत्व वचन का दुर्ज्ञान्तिवामिप्राय वाला वा उपाधिविपक अमिप्राय वाला समझना चाहिये । इसी प्रकार (प्राज्ञ से शरीर में प्राप्त होकर शरीर से सुखादि का अनुभव करता है) इत्यादि भेदोपदेशों में भी बुद्धि रूप उपाधि द्वारा ही शरीर में प्राप्त होकर सुखादि का अनुभव करता है । इस प्रकार वाक्य की योजना करनी चाहिये । अथवा शिलामूर्ति का शरीर है इत्यादि के समान व्यपदेश (विकल्प) मात्र है, क्योंकि यहाँ गुण गुणी विभाग भी नहीं है, यह कहा जा चुका है । बुद्धि का ही हृदय आयतन (आश्रय) है, इससे बुद्धि उपाधि वाला जीव को भी हृदय आयतनवत्त्व है । इसी प्रकार उत्क्रान्ति आदि को उपाधि अधीनता श्रुति दर्शाती है कि (किसके उत्क्रान्त होने से निकलने से, मैं शरीर से उत्क्रान्त होऊँगा, निकलूँगा वा किसके प्रतिष्ठित स्थिर रहने से प्रतिष्ठित रहूँगा) इस प्रकार विचार करके (वह आत्मा उत्क्रान्ति आदि के साधन प्राण को रचा) और वास्तविक उत्क्रान्ति के अभाव होने पर गति आगति का भी अभाव समझा जाता है, क्योंकि देह से अनिर्गन्त के गमनागम नहीं हो सकते हैं । इस प्रकार उपाधिसारत्व से प्राज्ञ के समान जीव के अणुत्वादि का व्यपदेश है । जैसे प्राज्ञ परमात्मा के सगुण उपासनाओं में उपाधि गुणसारत्व से अति अणुत्वादि का व्यपदेश है कि (ब्रीहि से वा यव से वा अणीयान् है ।) मनोमय, प्राण शरीर वाला, सब गन्ध और सब रसवाला, सत्यकाम और सत्यसंकल्प वाला है ।) इत्यादि रीति से प्राज्ञ का निर्देश है । वंसा ही जीव का औपाधिक निर्देश है ॥ २९ ॥

स्यादेतद्यदि बुद्धिगुणसारत्वादात्मनः संसारित्वं कल्प्येत, ततो बुद्ध्यात्म-
नोभिन्नयोः संयोगावसानमवश्यंभावीत्यतो बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्त-
स्यानालक्ष्यत्वादसत्त्वमसंसारित्वं वा प्रसज्येतेति अत उत्तरं पठति—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

नेयमनन्तरनिर्दिष्टदोषप्राप्तिराशङ्कनीया । कस्मात् ? यावदात्मभावित्वा-
द्बुद्धिसंयोगस्य । यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन
संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति । यावदेव चायं
बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च । परमार्थतस्तु न जीवो

नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति । नहि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यदचेतनो धातुद्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपलभ्यते 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (वृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ' (छा० ६।८।७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।१।६), 'अहं ब्रह्मास्मि' (वृ० १।४।७) इत्यादिश्रुतिशक्तेभ्यः । कथं पुनरवगम्यते—यावदात्मभावी बुद्धिमयोग—इति । तद्दर्शनादित्याह । तथाहि शास्त्रं दर्शयति—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिं पुरुषं स समानं सन्नुभौ लोकावनुसचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (वृ० ४।३।४) इत्यादि । तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति । प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इति विज्ञानमयस्य मन आदिभिः सह पाठात् । बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते, यथा लोके स्त्रीमयो देवदत्त इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते तद्वत् । 'स समानं सन्नुभौ लोकावनुसचरति' इति च लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगबुद्ध्या दर्शयति, केन समानस्तथैव बुद्ध्यति गम्यते सनिधानात् । तच्च दर्शयति—'ध्यायतीव लेलायतीव' (वृ० ४।३।७) इति । एतदुक्तं भवति—नाम स्वतो ध्यायति, नापि चलति, ध्यायन्त्या बुद्धौ ध्यायतीव चलन्त्या बुद्धौ चलतीवेति । अपि च मिथ्याज्ञानपुरमरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधिसम्बन्धः । न च मिथ्याज्ञानस्य सम्पन्नज्ञानस्य सम्पन्नज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद्ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धो न शाम्यति । दर्शयति च—'विदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसं परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यं पन्था विद्यतेऽनया' (श्वेता० ३।८) इति ॥ ३० ॥

यहाँ शका होती है कि यह परमात्मा के मनोमयत्वादि हो सकते हैं । परन्तु यदि बुद्धिसारत्व से जीवात्मा के ससारित्व वल्लित सिद्ध होगा तो बुद्धि और आत्मा के परस्पर भिन्न होने से इनके संयोग का अवसान (अन्त) अवश्य होने वाला होगा, इससे बुद्धि के वियोग होने पर विमक्त आत्मा के अनालक्ष्य (अज्ञेय) होने से उसका असत्त्व वा अससारित्व की प्राप्ति होगी । इससे उत्तर पड़ते हैं कि—

यह अनन्तरनिर्दिष्ट दोष की प्राप्ति आशका योग्य नहीं है, क्योंकि बुद्धि का संयोग यावदात्मभावी है । संयोग को यावदात्मभावित्व है । अर्थात् जब तक यह आत्मा ससारी रहता है, जब तक सम्पक् दर्शन से इसके ससारित्व नहीं निवृत्त होता है, तब तक इसकी बुद्धि के साथ का संयोग शान्त नहीं होता है । जब तक यह बुद्धिरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध है, तब तक जीव का जीवत्व और ससारित्व है । परमार्थ स्वरूप से तो बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से भिन्न जीव नामक वस्तु नहीं है । जिससे वेदान्तार्थ के निरूपण (विचारदि) करने पर नित्यमुक्त स्वरूप सवज्ञ ईश्वर से अन्य दूसरा चेतन पदार्थ नहीं उपलब्ध होता है । (इस परमात्मा से अन्य द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता नहीं है । इससे अन्य द्रष्टृ आदि नहीं है । उस

सत्य ब्रह्म स्वरूप तुम हो । मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से दूसरा चेतन पदार्थ का अभाव सिद्ध होता है । फिर भी यदि कहो कि यावदात्मभावी बुद्धि का संयोग रहता है, यह कैसे समझा जाता है, तो कहते हैं कि शास्त्र में उसके दर्शन से समझा जाता है । जिससे इसी प्रकार शास्त्र दर्शन कराता समझाता है कि (जो यह प्राणों में विज्ञानमय हृदय के अन्तर्वर्ती ज्योतिरूप पुरुष है, सो बुद्धि के समान होता हुआ दोनों लोक में गमन करता है । कभी मानो ध्यान करता है, कभी मानो दीप्त चंचल होता है) इत्यादि, यहां विज्ञानमय इस पद से बुद्धिमय यह वस्तु उक्त (कथित) है, यदि कहो कि विज्ञानरूप ब्रह्म है । ब्रह्ममय ब्रह्म का विकाररूप अणु जीव है, तो सो कहना नहीं बन सकता है । जिससे प्रदेशान्तर (अन्य स्थान) में (विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय) इस प्रकार विज्ञानमय का मन आदि के साथ पाठ से बुद्धिमय ही अर्थ हो सकता है । बुद्धिमयत्व तद्गुणसारत्व रूप ही अभिप्रेत होता है । जैसे लोक में स्त्रीमय देवदत्त है, ऐसे कहने से स्त्रीविषयक रागादि प्रधानता वाला कहा जाता है, स्त्री का विकार नहीं कहा जाता है । वैसे ही बुद्धिमय में समझना चाहिये । (वह समान हो कर दोनों लोक में गमन करता है) यह श्रुति लोकान्तर के गमन में भी बुद्धि के साथ आत्मा के अवियोग को दर्शाती है । किसके साथ समान (तुल्य) होकर गमन करता है, ऐसी आकांक्षा होने पर, संनिधान से समझा जाता है कि उस बुद्धि के साथ समान होकर गमन करता है । उसी बुद्धि के सहशता को (ध्यायतीव लैलायतीव) यह श्रुति दर्शाती है कि बुद्धि के ध्यानादि आत्मा में भासते हैं । इस श्रुति से यह तत्त्व उक्त होता है कि यह आत्मा स्वतः ध्यान नहीं करता है । न स्वतः चलता है, किन्तु बुद्धि के ध्यानावस्था में ध्यानस्थ के समान और उसकी चञ्चलतावस्था में चंचल के समान आत्मा भासता है । दूसरी बात है कि मिथ्याज्ञान-पूर्वक अज्ञानमूलक यह आत्मा का बुद्धि आदि रूप उपाधियों के साथ सम्बन्ध है । सम्यक् ज्ञान के विना मिथ्याज्ञान अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है । इससे जब तक आत्मा का अनवबोध अज्ञान है तब तक यह बुद्धिरूप उपाधि का सम्बन्ध शान्त निवृत्ति नहीं होता है । सो श्रुति दर्शाती है कि (स्वयं प्रकाश तम से असम्बद्ध महान् इस पुरुष को मैं जानता हूँ । उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है । मोक्ष के लिए अन्य मार्ग नहीं है) ॥ ३० ॥

ननु सुपुप्तप्रलययोर्न शक्यते बुद्धिसम्बन्ध आत्मनोऽभ्युपगन्तुम् 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति वचनात्, कृत्स्नवि-
कारप्रलयाभ्युपगमाच्च । तत्कथं यावदात्मभावित्वं बुद्धिसंबन्धस्येत्यत्रोच्यते--

पुंस्त्वादिवत्तस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

यथा लोके पुंस्त्वादीनि वीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमा-
नान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वविर्भवन्ति, नाविद्यमानान्युत्पद्यन्ते

पण्डादीनामपि तदुत्पत्तिप्रमज्ज्ञात्, एवमयमपि बुद्धिसम्बन्ध शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययो पुन प्रबोधप्रसवयोराविर्भवति एव ह्येतद्युज्यते, नह्याकास्मिकी कस्यचिदुत्पत्तिः सम्भवति, अतिप्रसङ्गात् । दर्शयति च सुषुप्तादुत्थानमविद्यात्मक-बीजमद्भावाकारितम्--'सति सपद्य न विदुः सति सपद्यामह' इति, त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६।१।३) इत्यादिना । तस्मात्सिद्धमेतद्यावदात्मभावी बुद्ध्या-द्युपाधिमबन्ध इति ॥ ३१ ॥

उक्त यावदात्ममावित्व की अविद्धि की शक्ता होती है कि सुषुप्ति और प्रलयकाल में आत्मा का बुद्धि के साथ सम्बन्ध को अम्युपगम (स्वीकार) नहीं कर सकते हैं । क्योंकि (हे सोम्य! उस सुषुप्ति में सत् शब्दार्थ देव के साथ पुरुष सम्पन्न (सदृश एक) हो जाता है । स्व सत् स्वरूप को प्राप्त हो जाता है) इस वचन से, और प्रलय में सब विकार का प्रलय के स्वीकार से आत्मा और बुद्धि का सम्बन्ध नहीं रह सकता है, जिससे बुद्धि के रहते सत् की प्राप्ति और प्रलय का असम्भव है । तो फिर बुद्धि सम्बन्ध को यावदात्ममावित्व कैसे है । ऐसी शक्ता होने पर कहा जाता है कि—

जैसे लोक में पुस्त्व (प्रजोन्पादनशक्ति) आदि बीजरूप से विद्यमान ही रहते वारयादि अवस्थाओं में अनुपलभ्यमान (अप्रत्यक्ष) होने से अविद्यमान के तुल्य अभिप्रेत भी यौवनादि अवस्था में आविर्भूत (प्रकट) होते हैं, प्रथम सर्वथा अविद्यमान रहते पीछे नहीं उत्पन्न होते हैं । अन्यथा पण्ड (नपुंसक) आदि को भी उनकी उत्पत्ति प्राप्त होगी । इसी प्रकार यह बुद्धि सम्बन्ध भी सुषुप्ति और प्रलय में शक्तिरूप में विद्यमान ही रहता हुआ जाग्रत् और मृष्टि काल में आविर्भूत प्रकट होता है । इस प्रकार ही यह मुक्त हो सकता है । किसी उत्पत्ति आकास्मिकी (निर्हेतुक) सम्भव नहीं है, अन्यथा अतिप्रमङ्ग होगा, सर्वत्र सबकी उत्पत्ति प्राप्त होगी । सुषुप्ति से उत्थान को अविद्यात्मक बीज के सद्भावा से कारित (उत्पादित) श्रुति दर्शाती है कि { सुषुप्ति में सत् से एक होकर भी नहीं जानते हैं कि हम सत् के साथ एकत्व को प्राप्त हैं । इससे इस लोक में जा वाध सिद्ध रहते हैं वही फिर वे होते हैं } इत्यादि से अविद्या निमित्तक उत्थान दर्शाया गया है । इससे यह सिद्ध हुआ कि यावदात्मभावी बुद्धि आदि रूप उपाधि का सम्बन्ध है ॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

तच्चात्मन उपाधिभूतमन्तःकरणमनो बुद्धिविज्ञानचित्तमिति चानेकधा तत्र तन्नाभिलष्यते । क्वचिच्च वृत्तिविभागेन सशयादिवृत्तिकमन इत्युच्यते, निश्चयादिवृत्तिकबुद्धिरिति । तच्चैवभूतमन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यम्युपगन्तव्यम् । अन्यथा ह्यनम्युपगम्यमाने तस्मिन्नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्, आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धिसाधनानां सन्निधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत । अथ सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवानुपलब्धिः प्रसज्येत, नचैव

दृश्यते । अथवान्यतरस्यात्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः । नचात्मनः शक्तिप्रतिबन्धः संभवति, अविक्रियत्वात् । नापीन्द्रियस्य, नहि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोरप्रतिबद्धशक्तिकस्य सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिवध्येत, तस्माद्यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः । तथाच श्रुतिः— 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रीपम्' (वृ० १।५।३) इति, 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (वृ० १।५।३) इति । कामादयश्चास्य वृत्तय इति दर्शयति 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (वृ० १।५।३) इति । तस्माद्युक्तमेतत् 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः' इति ॥ ३२ ॥

वह आत्मा का उपाधिरूप अन्तःकरण, तत्तत् स्थानीय श्रुतियों में मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त इत्यादि अनेक प्रकार से कहा जाता है । कहीं वृत्ति (परिणाम) के विभाग द्वारा संशय सकल्प विकल्पादि वृत्ति वाला अन्तःकरण मन इस शब्द से कहा जाता है । निश्चयादि प्रमाणजन्य वृत्ति वाला अन्तःकरण बुद्धि कहा जाता है । सो इस प्रकार का अन्तःकरण अवश्य है । ऐसा मानना चाहिये, अन्यथा, उस अन्तःकरण को नहीं मानने पर नित्य उपलब्धि अथवा नित्य अनुपलब्धि का प्रसङ्ग होगा । वहाँ आत्मा, इन्द्रिय और विषय इन तीनों अनेक विषयों की उपलब्धि के साधनों के सन्निधान रहने पर नित्य ही अनेक विषयों की उपलब्धि की प्राप्ति होगी । अर्थात् अनेक ज्ञानेन्द्रिय से अनेक विषय के सम्बन्ध रहते सम्बन्ध काल में सब विषय का सदा ज्ञान प्राप्त होगा । यदि आत्मा, इन्द्रिय और विषय के सम्बन्धरूप हेतु के समवधान (स्थिति) रहते भी फलाभाव होगा, तो नित्य ही अनुपलब्धि प्राप्त होगी । ऐसा देखा नहीं जाता है । इससे कादाचित्क (कभी होने वाली) उपलब्धि का नियामक हेतु रूप अन्तःकरण मन मानने योग्य है । अथवा प्रतिबन्धक मणिमन्त्रादि से जैसे अग्नि की शक्ति का प्रतिबन्ध होता है वैसे ही आत्मा और इन्द्रिय दोनों में से किसी एक की शक्ति का प्रतिबन्ध मानने योग्य है । परन्तु अविकारी होने से आत्मा की शक्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है । प्रतिबन्धक के अभाव से इन्द्रियों की शक्ति का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता है । एक काल में अनेक विषय के ज्ञान नहीं होने पर भी पूर्वोत्तर काल में इन्द्रिय द्वारा अनेक विषयों के क्रम से ज्ञान होने से पूर्वोत्तर क्षण में अप्रतिबद्ध शक्ति वाली इन्द्रिय के होते मध्य में अकस्मात् उसकी शक्ति प्रतिबद्ध नहीं होती है । इससे जिसके अवधान (बोधेच्छा सम्बन्ध सावधानता) और अनवधानता से उपलब्धि और अनुपलब्धि समयविशेष में होती है, वह मन है । इसी प्रकार श्रुति है कि (अन्यत्र मन वाला मैं था, इससे नहीं देखा, अन्यत्र मनवाला था नहीं सुना) और (मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है) । (काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अथर्द्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय, ये सब मन ही हैं) । इस प्रकार कामादि को मन की वृत्ति (परिणाम) रूप श्रुति दर्शाती है, इससे कामादि के

आश्रय रूप से भी मन सिद्ध होता है । इससे (तद्गुणसारत्वात्तदव्यपदेश) यह युक्त है ॥ ३२ ॥

कर्त्रधिकरण (१४)

जीवोऽकर्ताऽयवा कर्ता धिय कर्तृत्वमम्भवात् ।

जीवकर्तृत्तया किं स्यादित्याहु साख्यमानिनः ॥

करणत्वान्न धी कर्त्री यागश्रवणलौकिका ।

व्यापारा न विना कर्त्रा तस्माज्जीवस्य कर्तृता ॥

शास्त्र की अर्थवत्ता से व्यावहारिक जीवात्मा कर्ता है । यहाँ मतभेद से संशय होता है कि जीव अकर्ता अयवा कर्ता है । साख्य मत के अनुसार पूर्वपक्ष है कि आत्मा असंग और उदासीन है इससे सर्वथा अकर्ता है, और बुद्धि परिणाम और संगवाली है इससे बुद्धि के कर्तृत्व के सम्भव होने से जीवात्मा की कर्तृता से क्या फल होना है इस प्रकार साख्यवादी कहते हैं । परन्तु कारण होने से बुद्धि कर्त्री नहीं हो सकती है, और कर्ता के बिना पूर्वकाण्ड वेदविहित याग, वेदविहित श्रवणादि और लोक सिद्ध कृषि आदि व्यापार नहीं सिद्ध हो सकते हैं इससे जीव को कर्तृता है ॥ १-२ ॥

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

तद्गुणसारत्वाधिकारेणैव वापरोऽपि जीवधर्मं प्रपञ्च्यते । कर्ता चायं जीव स्यात् । कस्मात् ? शास्त्रार्थवत्त्वात् । एवञ्च 'यजेत' 'जुहुयात्' 'दद्यात्' इत्येवविध विधिशास्त्रमर्थवद्भवति । अन्यथा तदनर्थकं स्यात् । तद्वि कर्तुं सत कर्तव्यविशेषमुपदिशति । नचाऽस्मिन् कर्तृत्वे तदुपपद्यते । तथेदमपि शास्त्रमर्थवद्भवति 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष' (प्र० ५।९) इति ॥ ३३ ॥

तद्गुणसारत्व के प्रसङ्ग से ही अन्य भी जीव के धर्म विस्तार से कहे जाते हैं कि यह जीव कर्ता होगा । अर्थात् पूर्वोक्त मन के करणरूप से सिद्ध होने पर कर्ता को आकाशा होती है, वहाँ आकाशा का विषय कर्तृत्वं या जीव सिद्ध होता है, क्योंकि कर्ता की सिद्धि शास्त्र के अर्थवत्ता से भी होती है, और इस प्रकार जीव के कर्ता होने हीसे (याग करे, हवन करे, दान दे) इस प्रकार के विधिशास्त्र सायंक होता है, अथवा कर्ता के बिना वह शास्त्र अनर्थक होगा । जिससे वह शास्त्र कर्ता के रहते कर्तव्य विशेष का उपदेश देता है । कर्ता के नहीं रहने पर वह उपदेश सम्पन्न नहीं हो सकता है । इसी प्रकार कर्ता के रहने पर यह शास्त्र भी अर्थवत् (सायंक) होता है कि (यह विज्ञानात्मा पुरुष द्रष्टा, श्रोता, मन्ता बोद्धा और कर्ता है) इत्यादि ॥ ३३ ॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्व, यज्जीवप्रक्रियाया सख्ये स्थाने विहारमुपदिशन्— 'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति, 'स्वे शरीरे ययाकाम परिवर्तते' (बृ० २।१।१९) इति च ॥ ३४ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी इस जीव को कर्तृत्व है जिससे जीव के प्रकरण में संचय-
स्थान (स्वप्न) में जीव के विहार (संचार-क्रिया) का श्रुति उपदेश करती है कि
(सो अमृत स्वरूप आत्मा जिस विषयक इच्छा होती है, वहाँ जाता है । अपने शरीर
में यथेष्ट इच्छा के अनुसार सर्वथा वर्तमान रहता है ।) इत्यादि ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

इतश्चास्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायामेव करणानामुपादानं संकीर्तयति—
'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (वृ० २१।१।१७) इति, 'प्राणान्गृहीत्वा'
(वृ० २।१।१८) इति च ॥ ३५ ॥

इस हेतु से भी जीव को कर्तृत्व है कि जिससे जीव के प्राण में ही करणों के उपादान
(ग्रहण) का श्रुति संकीर्तन करती है कि (उस सुषुप्ति काल में यह जीवात्मा अन्तः
करणगत विज्ञान से इन्द्रियरूप प्राणों के विज्ञान शक्ति का ग्रहण करके सोता है) और
(प्राणों का ग्रहण करके वासनादि के अनुसार यथेष्ट अनुभव करता है) इत्यादि वहाँ
कर्तृता के बिना ग्रहणादि नहीं हो सकते हैं, इससे जीव कर्ता है ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं
व्यपदिशति शास्त्रम्—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २।५।१)
इति । ननु विज्ञानशब्दो बुद्धी समधिगतः कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यत
इति । नेत्युच्यते । जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः । न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देश-
विपर्ययः स्यात्, विज्ञानेनेत्येवं निरदक्ष्यत् । तथा ह्यन्यत्र बुद्धिविवक्षायां
विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान-
मादाय' (वृ० २।१।१७) इति । इह तु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै० २।५।१)
इति कर्तृसामानाधिकरण्यनिर्देशाद्बुद्धिव्यतिरिक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं सूच्यत
इत्यदोषः ॥ ३६ ॥

इस हेतु से भी जीव को कर्तृत्व है कि जिससे लौकिक और वैदिक क्रियाओं में इस
जीव के कर्तृत्व का शास्त्र व्यपदेश (कथन) करता है कि (विज्ञानात्मा जीव यज्ञ का
विस्तार करता है, और कर्मों का भी विस्तार करता है) यदि कोई कहे कि विज्ञान
शब्द बुद्धि अर्थ में अन्यत्र समधिगत (निश्चित) है, यहाँ इस विज्ञान शब्द से जीव के
कर्तृत्व कैसे सूचित (ज्ञात) होता है । तो कहा जाता है कि यहाँ विज्ञान शब्द से
बुद्धि का निर्देश नहीं है किन्तु जीव का ही निर्देश है जिससे बुद्धि का निर्देश यहाँ बन
नहीं सकता है । इससे यहाँ यदि जीव का निर्देश नहीं होगा, तो बुद्धि का निर्देश के
लिये निर्देश का विपर्यय होगा । अर्थात् प्रथमाविभक्ति का निर्देश से विपर्यय रूप तृतीया

विभक्ति द्वारा (विज्ञानेन), विज्ञान द्वारा, ऐसा निर्देश किया गया होता । जिससे अन्य स्थान में बुद्धि की विवक्षा रहने पर इसी प्रकार विज्ञान शब्द सम्बन्धी करण विभक्ति का निर्देश देखा जाता है, अर्थात् करण विभक्ति द्वारा विज्ञान शब्द का निर्देश देखा जाता है कि (उस सुषुप्ति में इन्द्रियो के विज्ञान शक्ति को बुद्धि से ग्रहण करके सोता है) और यहाँ तो (विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है) इस प्रकार कर्ता के वाचक तिङ् विभक्ति के साथ विज्ञान पद के समाधिकरणता (अभेद) के निर्देश से बुद्धि से भिन्न जीवात्मा के ही कर्तृत्व सूचित होता है इससे कोई दोष नहीं है ॥ ३६ ॥

अत्राह—यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीव कर्ता स्यात्स स्वतन्त्र सन्प्रिय हित चैवात्मनो नियमेन सम्पादयेन्न विपरीतम् । विपरीतमपि तु मपादयन्नुपलभ्यते । न च स्वतन्त्रस्यात्मन ईदृशी प्रवृत्तिरनियमेनोपपद्यत इति । अत उत्तर पठति—

यहाँ कोई कहता है कि बुद्धि से भिन्न जीव यदि कर्ता हो, तो (स्वतन्त्र कर्ता) इस सूत्र के अनुसार स्वतन्त्रता के बिना कर्ता नहीं हो सकता, इससे वह स्वतन्त्र होता हुआ अपना प्रिय और हित का ही नियम से सम्पादन (सिद्ध) करे, और विपरीत (अप्रिय, अहित) नहीं करे । परन्तु विपरीत का भी सम्पादन करता हुआ उपलब्ध होता है देखा जाता है, और स्वतन्त्र आत्मा की ऐसी अनियम से प्रवृत्ति युक्त नहीं सिद्ध हो सकती है । इस हेतु से उत्तर पढ़ते हैं कि—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

यथायमात्मोपलब्धि प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्ट चोपलभन एवमनियमेनैवेष्टमनिष्ट च मपादयिष्यति । उपलब्धावप्यस्वातन्त्र्यमुपलब्धिहेतुपादानोपलम्भादिति चेत् । न । विषयप्रकल्पनामात्रप्रयोजनत्वादुपलब्धिहेतूनाम् । उपलब्धौ त्वनन्यापेक्षत्वमात्मनश्चेतन्ययोगात् अपि चार्थक्रियायामपि नात्यन्तमात्मन स्वातन्त्र्यमस्ति देशकालनिमित्तविशेषापेक्षत्वात् । न च महायापेक्षस्य कर्तुं कर्तृत्व निवर्तते । भवति ह्येवोदकाद्यपेक्षस्यापि पक्षु पक्षुत्वम् । सहकारिवैचित्र्याच्चेष्टानिष्ठार्थक्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते ॥

जैसे यह उपलब्धि के प्रति स्वतन्त्र होता हुआ भी अनियम से इष्ट और अनिष्ट को जानता है प्राप्त करता है, इसी प्रकार अनियम से इष्ट और अनिष्ट का सम्पादन करेगा । यदि कहो कि उपलब्धि के हेतु इन्द्रियो के उपादान (ग्रहण) के उपलम्भ (ज्ञान) से सिद्ध होता है कि यह जीव उपलब्धि में भी स्वतन्त्र नहीं है, तो सो कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उपलब्धि के हेतु रूप इन्द्रियो का विषयो की कल्पना (जीवात्मा के साथ सम्बन्ध) मात्र प्रयोजन (फल) होने से चेतन आत्मा की उपलब्धि में स्वतन्त्रता ही है । चेतनता के सम्बन्ध से उपलब्धि में आत्मा को अन्य की अपेक्षा

नहीं है। यदि कहो कि आत्मा को विषय के साथ सम्बन्ध के लिए भी इन्द्रिय की अपेक्षा होने पर उपलब्धि में स्वतन्त्रता नहीं है, तब यह बात कहो जाती है कि अर्थ-साधक क्रिया में कर्तारूप भी आत्मा को अत्यन्त स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि विशेष देश-विशेष काल और विशेष निमित्त की सब क्रिया में अपेक्षा होती है। इससे सहाय की अपेक्षा वाला कर्ता के कर्तृत्व (स्वातन्त्र्य) नहीं निवृत्त होता है, अन्यथा कर्मसापेक्ष जगत् कर्ता ईश्वर में भी नहीं स्वतन्त्रता सिद्ध होगी फिर अन्य की तो कथा ही दूर रह जायगी। लकड़ी, जल आदि सापेक्ष पाचक में भी पाक कर्तृत्व होता है, इससे स्वात्मा से अन्य की अनपेक्षतारूप स्वतन्त्रता कर्तृता का अर्थ नहीं है, किन्तु स्वान्य कारक का प्रेरक होता हुआ, कारकान्तर से अप्रेरित होना ही स्वतन्त्रता है। इससे स्वतन्त्र (कर्ता) आत्मा को भी सहकारी की विचित्रता से इष्ट-अनिष्ट क्रिया में अनियम से प्रवृत्ति विरुद्ध नहीं होती है, अज्ञान, भ्रम, प्रमाद, अशक्ति आदि वश विपरीत प्रवृत्ति स्वतन्त्र की भी होती है इत्यादि ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

इतश्च विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति । यदि पुनर्विज्ञानशब्द-वाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात्ततः शक्तिविपर्ययः स्यात् । करणशक्तिबुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चापद्येत । सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्ययविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अहङ्कारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात्, अहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहं भुञ्जेऽहं पिबामीति च । तस्याश्च कर्तृशक्तियुक्तायाः सर्वार्थकारिकरणमन्यत्कल्पयितव्यम्, शक्तोऽपि हि सन्कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्तमानो दृश्यते इति । ततश्च संज्ञामात्र विवादः स्यान्न वस्तुभेदः कश्चित्, करणव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥ ३८ ॥

इस हेतु से भी विज्ञान (बुद्धि) से भिन्न जीव कर्ता होने योग्य है। कि यदि विज्ञान शब्द का वाच्यार्थ बुद्धि ही कर्त्री होगी, तो शक्ति का विपर्यय होगा। बुद्धि की करण शक्ति निवृत्त हो जायगी, उसमें कर्तृशक्ति प्राप्त होगी, और बुद्धि की कर्तृशक्ति होने पर, उस बुद्धि को ही अहंप्रत्यय (ज्ञान) विषयत्व मानना होगा, जिससे, मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं भोजन करता हूँ और मैं पानी पीता हूँ। इस प्रकार अहंपूर्वक ही सर्वत्र प्रवृत्ति का ज्ञान होता है, इससे इस प्रवृत्ति वाली बुद्धि आत्मा सिद्ध होगी, परन्तु उस बुद्धि के कर्ता सिद्ध होने पर कर्तृशक्तियुक्त उस बुद्धि के सब अर्थ को करने वाला अन्य करण की कल्पना करनी पड़ेगी। जिससे समर्थ होता हुआ भी कर्ता करण का ग्रहण करके ही क्रियाओं में प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है। ऐसा होने पर संज्ञामात्र में विवाद रहेगा, कोई वस्तु का भेद नहीं होगा, करण से व्यतिरिक्त कर्तृत्व के अभ्युपगम से ऐसा ही होगा ॥ ३८ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

योग्ययमोपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजन समाधिरूपदिष्टो वेदान्तेषु—
‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य सोऽन्वेष्टव्य स
विजिज्ञासितव्य’ (वृ० २।४।५), ‘ओमित्येव ध्यायथ आत्मानम्’ (मुण्ड०
२।२।६) इत्येवलक्षण, सोऽप्यसत्यात्मन कर्तृत्वे नोपपद्येत, तस्मादप्यस्य
कर्तृत्वसिद्धि ॥ ३९ ॥

और वेदान्तो में उपनिषद् से ज्ञातव्य आत्मा की प्रतिपत्ति (ज्ञान) रूप प्रयोजन
(फल) वाले समाधि आदि ज्ञान के साधन उपदिष्ट हैं कि (अरे मैंनेयि ! आत्मादर्शन
के योग्य है, और दर्शन के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन कर्तव्य है । श्रवणादि
द्वारा वह अन्वेष्टव्य के योग्य है, जिज्ञासा के योग्य है) (उस आत्मा को ओंकार द्वारा
ध्यान चिन्तन करो) इस प्रकार के समाधि आदि उपदिष्ट हैं । सो आत्मा के अकर्ता
होने पर (उपपन्न नहीं होंगे) । अर्थात् शास्त्र से विहित कर्मादि का फल कर्ता को
मिलता है, यह शास्त्र का अटल सिद्धान्त है, इसमें बुद्धि कर्त्री हो, और पुरुष फल
भोक्ता हो, ऐसा नहीं हो सकता है । और बुद्धि के जड़ होने से उसको फल भोक्तृत्व
का असम्भव है । इससे चेतनात्मा फल भोक्ता है जिससे कर्ता भी वही है, इस प्रकार
मुक्ति फल का भोक्ता इस जीवात्मा को कर्तृत्व की सिद्धि होती है ॥ ३९ ॥

तक्षाधिकरण (१५)

कर्तृत्व वास्तव किं वा कल्पित वास्तव भवेत् ।

यजेतेत्यादिशास्त्रेण सिद्धस्याबाधितत्वत् ॥

असङ्गो हीति तद्वाधात्स्फटिके रक्तत्वे तत् ।

अध्यस्त धीचक्षुरादिकरणोपाधिसविधे ॥

वैसे तक्षा (बड़ही) तक्षण क्रिया के साधनों से युक्त रहने पर तक्षण क्रिया का
कर्ता होता है, साधन रहित होने पर कर्ता नहीं होता है । वैसे ही जीवात्मा भी अज्ञान
दशा में बुद्धि आदि साधन सहित रहने पर कर्ता होता है, मोक्षदशा में अकर्ता होता है,
इससे इसका औपाधिक कर्तृत्व है । सशय है कि जीव के कर्तृत्व वास्तविक है अथवा
कल्पित है । पूर्वपक्ष है कि, यजेत, यज्ञ करे, इत्यादि शास्त्र से सिद्ध यज्ञादि कर्तृत्व को
अबाधित होने से कर्तृत्व वास्तविक है । सिद्धान्त है कि (असङ्गो ह्ययं पुरुष)
इत्यादि श्रुति से वास्तविक कर्तृत्व के बाधित होने से स्फटिक में रक्तता के समान बुद्धि
आदि की समीपता से वह अध्यस्त कर्तृत्व है ॥ १-२ ॥

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

एव तावच्छास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः कर्तृत्व शारीरस्य प्रदर्शित, तत्पुन-
स्वाभाविक वा स्यादुपाधिनिमित्त वेति चिन्त्यते । तत्रैतरेव शास्त्रार्थवत्त्वादि-
भिर्हेतुभिः स्वाभाविक कर्तृत्वमपवादहेत्वभावादिति । एव प्राप्ते धूमः । न

स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिमोक्षप्रसङ्गात् । कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः संभवति, अग्नेरिवौष्ण्यात् । न च कर्तृत्वादनि-
र्मुक्तस्यास्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात् । ननु स्थितायामपि
कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्यपरिहारात्पुरुषार्थः सेत्स्यति, तत्परिहारश्च निमित्त-
परिहारात्, यथाग्नेर्दहनशक्तियुक्तस्यापि काष्ठवियोगाद्दहनकार्याभावस्तद्वत् । न
निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन सम्बद्धानामत्यन्तपरिहारासम्भवात् ।
ननु मोक्षसाधनविधानान्मोक्षः सेत्स्यति । न । साधनायत्तस्यानित्यत्वात् ।
अपि च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मप्रतिपादनान्मोक्षसिद्धिरभिमतता । तादृगात्म-
प्रतिपादनं च न स्वाभाविके कर्तृत्वेऽवकल्पेत, तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनैवात्मनः
कर्तृत्वं न स्वाभाविकम् । तथा च श्रुतिः—‘ध्यायतीव लेलायतीव’ (वृ० ४।३।७)
इति । ‘आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तव्याहुर्मनीषिणः’ (कण्ठ० ३।४) इति चोपाधि-
संपृक्तस्यैवात्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति । नहि विवेकिनां परस्मादन्यो
जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते । ‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ (वृ० ४।३।२३)
इत्यादिश्रवणात् । पर एव तर्हि संसारी कर्ता भोक्ता च प्रसज्येत, परस्मादन्य-
श्चेच्चित्तिमाञ्जोवः कर्ता बुद्ध्यादिसङ्घातव्यतिरिक्तो न स्यात् । न । अविद्या-
प्रत्युपस्थापितत्वात्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः ।

इस पूर्व वर्णित रीति से प्रथम शास्त्र के अर्थवत्त्वादिरूप हेतुओं द्वारा जीव के
कर्तृत्व को प्रदर्शित कराया गया है । जिससे सांख्य के बुद्धिकर्तृत्ववाद का निषेध सिद्ध
हुआ है । अब आत्मा के असंगता आदि के बोधक श्रुतियों को स्तावकमात्र मान कर
आत्मा के वास्तव कर्तृत्ववाद का निरास के लिए चिन्तन किया जाता है कि वह प्रद-
र्शित कर्तृत्व स्वाभाविक हो सकता है अथवा उपाधि निमित्तक है । यहाँ पूर्वपक्ष है कि
पूर्वोक्त उस शास्त्र के अर्थवत्त्वादिरूप हेतुओं से ही और अपवाद के हेतु के अभाव से
स्वाभाविक कर्तृत्व है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि अनिमोक्ष की प्राप्ति से आत्मा
के स्वाभाविक कर्तृत्व का सम्भव नहीं है । जिससे आत्मा के कर्तृत्व स्वभाव होने पर,
उष्णता से अग्नि के समान आत्मा को कर्तृता से निर्मोक्ष का सम्भव नहीं है । यही
स्वाभाविक कर्तृता का बाधक है, और कर्तृत्व से अनिर्मुक्त को कर्तृत्व की दुःखरूपता
से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं है । यदि कहा जाय कि कर्तृत्व शक्ति (क्रिया शक्ति) के रहते
भी कर्तृशक्ति के कार्य की निवृत्ति से पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकेगी, उसकी निवृत्ति
अज्ञानजन्य धर्माधर्मादि के त्याग और निवृत्ति से होगी । जैसे दहनशक्तियुक्त अग्नि के
भी काष्ठ के वियोग से दहनरूप कार्य का अभाव होता है, उसी के समान समझना
चाहिए । यह कहना ठीक नहीं, शक्ति के रहने पर शक्तिरूप सम्बन्ध से सम्बन्ध वाले
निमित्तों की अत्यन्त निवृत्ति असम्भव है । शक्तिरूप सम्बन्ध से निमित्त के रहने पर
अन्य कार्य भी अनिवार्य हैं । यदि कहो कि कर्तृत्व शक्ति रहते भी मोक्ष के साधनों के
विधान से मोक्ष की सिद्धि होगी, जैसे देवत्वादि की सिद्धि मनुष्य को होती है । तो

साधनाधीन सिद्ध वस्तु की अनित्यता से नित्य मोक्ष की इस प्रकार भी सिद्धि नहीं हो सकती है । दूसरी बात है कि नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त आत्मा के प्रतिपादन (प्रशोधन-प्रतिपत्ति) से मोक्ष की सिद्धि अभिमत है । ऐसे मोक्ष के प्रतिपादक अनेकों श्रुतियाँ स्तावक नहीं हो सकती हैं । उस नित्यशुद्धत्वादि स्वरूप वाला आत्मा का प्रतिपादन कर्तृत्व के स्वामाविक रहने पर नहीं सिद्धि हो सकता है । उससे उपाधि के धर्म के अध्यास द्वारा ही आत्मा को कर्तृत्व है, स्वामाविक कर्तृत्व नहीं है । (मानो ध्यान करता है, या क्रियायुक्त दोष सा होता है) यह श्रुति इसी प्रकार औपाधिक कर्तृत्व को कहती है । (शरीर, इन्द्रिय और मन में युक्त को विद्वान् लोग मोक्ष इस शब्द से कहते हैं) यह भी उपाधिसयुक्त ही आत्मा के मोक्षत्वादि विशेष लक्ष्म को दर्शाती है । अर्थात् दोनों श्रुति आत्मा के ससारित्व को औपाधिक कहती हैं । और विवेकियों की दृष्टि में परमात्मा से अन्य कर्ता-भोक्ता प्रसिद्ध जीव नहीं है, क्योंकि (इस परमात्मा से अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि सुना जाता है । यहाँ शंका होती है कि बुद्धि आदि सघात से भिन्न परमात्मा से अन्य चेतनावाला कर्ता जीव यदि नहीं होगा तो परमात्मा ही ससारी और कर्ता-भोक्ता प्राप्त सिद्ध होगा । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि ऐसा दोष नहीं है । कर्तृत्व-भोक्षत्वं के अविद्या में जन्य होने से अविद्यारहित शुद्ध परमात्मा में कर्तृत्व-भोक्षत्वं की प्राप्ति नहीं हो सकती है । किन्तु अविद्या उपाधि में प्रतिविम्बित बुद्धि आदि सघात से भिन्न परमात्मा से अभिन्न होते भी भिन्न जीवभाव के प्राप्त की ही बन्ध-मोक्षादि होते हैं ।

तथा च शास्त्रम्—‘यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति’ (वृ० २।४।१४) इत्यविद्यावस्थाया कर्तृत्वभोक्षत्वे दर्शयित्वा विद्यावस्थाया ते एव कर्तृत्वभोक्षत्वे निवारयति—‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्वेन कं पश्येत्’ (वृ० २।४।१४) इति । तथा स्वप्नजागरितयोरात्मन उपाधिसम्पर्ककृत श्रम इत्येन-स्येवाकाशे विपरिपन्त श्रावयित्वा तदभाव सुषुप्ती प्राज्ञेनात्मना मपरिप्यक्तस्य श्रावयति—‘तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकाम रूप शोक्नान्तरम्’ (वृ० ४।३।२१) इत्यारभ्य ‘एषाम्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोज्य परमो लोक एषोज्य परम आनन्द’ (वृ० ४।३।३२) इत्युपसहारात् । तदेतदाहाचार्य—यथा च तक्षोभयथा—इति । त्वर्थे चाप्य च पठित । नेव मन्तव्य—स्वामाविक-मेवात्मन कर्तृत्वमग्नेरिवोप्यम्—इति । यथा तु तक्षा लोके वाम्यादिकरणहस्त कर्ता दुःखी भवति स एव म्वगृह प्राप्नो विमुक्तवास्यादिकरण स्वस्थो निर्वृत्तो निर्व्यापार सुखी भवत्येवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतमपृच्छ आत्मा स्वप्नजागरिता-वस्थयो. कर्ता दुःखी भवति, स तच्छ्रमापनुत्तये स्वमात्मान पर ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसङ्घातोऽन्तर्ता सुखी भवति सम्प्रनादावस्थायाम् । तथा मुक्त्य-वस्थायामप्यविद्याध्वान्त विद्याप्रदीपेन विद्ययात्मैव केवलो निर्वृत्त सुखी भवति । तक्षदृष्टान्तश्चेतावताऽनेन द्रष्टव्य । तक्षा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति, स्वशरीरेण त्वकर्त्तैव । एवमय-

मात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मन आदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तृ-
वेति, न त्वात्मनस्तद्व्यवस्था इवावयवाः सन्ति यैर्हस्तादिभिरिव वास्यादीनि तक्षा
मन आदीनि करणान्यात्मोपाददीत न्यस्येद्वा ।

इसी प्रकार शास्त्र कहता है कि (जिस काल में द्वैत के समान जिससे होता है, उससे उस काल में इतर-इतर को देखता है) इस प्रकार अविद्या अवस्था में कर्तृत्व-
भोक्तृत्व को दिखाकर, विद्या अवस्था में उसी कर्तृत्व-भोक्तृत्व का शास्त्र निवारण करता है कि (जिस काल में इस ज्ञानी के सब आत्मा हो गया उस काल में किससे किसको देखे), इसी प्रकार आकाश में उड़ने वाला श्येन पक्षी के श्रम के समान स्वप्न और जागरित काल में उपाधि के सम्बन्ध से कृत (जन्म) आत्मा के श्रम को सुना कर सुषुप्ति में प्राज्ञात्मा के साथ सम्पृक्त सम्बद्ध के उस श्रम के अभाव को श्रुति दिखाती है कि (उस ज्योतिस्वरूप का यह आसकाम आत्मकाम अतएव अकाम शोकशून्य स्वरूप है) ऐसा आरम्भ करके (यह परम अद्वैत है इसकी परम गति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यही इसका परम लोक है और यही इसका परम आनन्द है) इस उपसंहार से उक्त श्रमाभाव को ही श्रुति दिखाती है । उस औपाधिक श्रम, संसार और उपाधि के बिना श्रम के अभाव को यह आचार्य कहते हैं कि (यथा च तक्षोमयथा) इति । यह सूत्रगत च शब्द तु शब्द के अर्थ में पठित है । अर्थ है कि—अग्नि की उष्णता के समान आत्मा का कर्तृत्व स्वभाविक ही है ऐसा नहीं मानना चाहिये किन्तु लोक में जैसे बड़ई वसुला आदि साधनयुक्त हाथ वाला होने पर वह क्रिया का कर्ता और श्रान्त दुःखी होता है और वही अपने गृह में प्राप्त होकर, वसुला आदि साधनों से वियुक्त होकर, स्वस्थ निर्व्यापार सुखी सिद्ध होता है । इसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्रकटित) द्वैत से अविधिवत् आत्मा स्वप्न और जागरित अवस्था में कर्ता दुःखी होता है, वही सुषुप्ति अवस्था में उस श्रम की निवृत्ति के लिए स्वात्मारूप परब्रह्म में प्रवेश करके कार्य-करण रूप संघात से रहित होकर अकर्ता सुखी होता है । इसी प्रकार विद्यारूप प्रदीप से अविद्यारूप अन्धकार को निवृत्त करके मोक्ष अवस्था में केवल आत्मा ही सुखी सिद्ध होता है । यद्यपि तक्षा (बड़ई) को हस्तादि करण साधन रहता है, और आत्मा को कोई करण नहीं माना जाता है इससे दृष्टान्त विषम है तथापि तक्षा का दृष्टान्त इतना ही अंश में समझना चाहिये कि तक्षा विशिष्ट (भिन्न) तक्षण (छिलना) आदि रूप व्यापारों में प्रतिनियत वसुला आदि साधनों की अपेक्षा (ग्रहण) करके ही कर्ता होता है, अपने शरीरमात्र से तो उस कर्म का अकर्ता ही रहता है । इसी प्रकार यह आत्मा भी सब व्यापारों में मन आदि करणों की अपेक्षा करके ही कर्ता होता है, स्वरूप से तो अकर्ता ही रहता है, आत्मा के तक्षा के समान अवयव नहीं हैं कि जिनके द्वारा वह मन आदि करणों का ग्रहण करेगा वा त्याग करेगा, जैसे कि बड़ई हाथ आदि के द्वारा वसुला आदि का ग्रहण करता है । इससे इस अंश में दृष्टान्त नहीं है ।

यत्तु—शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वम्—इति । तन्न । विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति । न च स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्यबोचाम । तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते । 'कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष' इत्येवजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद्यथाप्राप्तमेवाविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति । एतेन विहारोपादाने परिहृते, तयोरप्यनुवादरूपत्वात् । ननु सव्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते इति विहार उपदिश्यमानं केवलस्यात्मनः कर्तृत्वमावहति । तयोपादानेऽपि 'तदेवा प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' इति करणेषु कर्मकरणविभक्ती श्रूयमाणे केवलस्यात्मनः कर्तृत्वं गमयत इति । अत्रोच्यते । न तावत्सव्ये स्थानेऽप्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति, 'सधी स्वप्नो भूत्वेम लोकमतिक्रामति' (वृ० ४।३।७) इति तत्रापि धोसम्बन्धश्रवणात् ।

जो यह कहता था कि शास्त्रार्थवत्त्वादि हेतुओं से आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व है, वह ठीक नहीं है जिससे विधिशास्त्र लोक-व्यवहारादि द्वारा जंसा कर्तृत्व प्राप्त रहता है । उसी कर्तृत्व का ग्रहण करके कर्तव्यविशेषमात्र का उपदेश करता है, आत्मा के कर्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करता है । इस आत्मा को स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है । ब्रह्मरूपता के उपदेश से स्वाभाविक कर्तृत्व का अभाव है, वह कहा जा चुका है । इससे अविद्याकृत कर्तृत्व का ग्रहण करके विधिशास्त्र प्रवृत्त होगा, इससे विधिशास्त्र से स्वाभाविक कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है । (विज्ञानात्मा पुरुष कर्ता है) इस प्रकार का शास्त्र भी अनुवादरूप होने से यथाप्राप्त अविद्याकृत कर्तृत्व का ही अनुवाद करेगा । इसी से स्वाभाविक विहार और उपादान भी परिहृत-निवारित हो गये, जिसमें उन दोनों को भी अनुवादरूपत्व है । यहाँ शका होती है कि स्वप्न में करणों के प्रसुप्त-लीन होने पर अपने शरीर में यथेष्ट परितः वर्तमान रहता है । इस प्रकार उपदिश्यमान उपदिष्ट विहार केवल आत्मा के कर्तृत्व की सिद्धि करता है । इसी प्रकार उपादान में भी (वह इन्द्रियों के विज्ञान शक्ति का बुद्धि से ग्रहण करके सोता है) इस प्रकार करणों में सुप्तों गर्व कर्म और करण विभक्ति केवल आत्मा के कर्तृत्व का बोध कराते हैं कि बुद्धि आदि से भिन्न आत्मा बुद्धि द्वारा इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति का ग्रहण करता है । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि प्रथम स्वप्न में ही आत्मा के करणों का विराम-विलय अत्यन्त नहीं होता है, जिसमें (बुद्धिमहित स्वप्न होकर इस लोक का अतिव्रमण करता है) इस प्रकार उस स्वप्न में भी बुद्धि का सम्बन्ध सुना जाता है ।

तथा च स्मरन्ति—

इन्द्रियाणामुपरमे मनोज्ञुपरते यदि ।

सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्नदर्शनम् ॥ इति ।

‘कामादयश्च मनसो वृत्तयः’ इति श्रुतिः, ताश्च स्वप्ने दृश्यन्ते, तस्मात्समना एव स्वप्ने विहरति । विहारोऽपि च तत्रत्यो वासनामय एव न तु पारमार्थिकोऽस्ति । तथा च श्रुतिरिवाकारानुबद्धमेव स्वप्नव्यापारं वर्णयति—‘उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्’ (वृ० ४।३।१३) इति । लौकिका अपि तथैव स्वप्नं कथयन्ति—आरुरुक्षमिव गिरिशृङ्गमद्राक्षमिव वनराजिम्—इति । तथोपादानेऽपि यद्यपि करणेषु कर्मकरणविभक्तिनिर्देशस्तथापि तत्संपृक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं द्रष्टव्यम्, केवले कर्तृत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात् । भवन्ति च लोकेऽनेकप्रकारा विवक्षा—योधा युध्यन्ते यौधै राजा युध्यते—इति । अपि चास्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते न स्वातन्त्र्यं कस्यचिदबुद्धिपूर्वकस्यापि स्वापे करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वात् । यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः ‘विज्ञानं यज्ञं तनुते’ इति, स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति, विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात् मनोऽनन्तरं पाठाच्च । ‘तस्य श्रद्धैव शिरः’ (तै० २।४) इति च विज्ञानमयस्यात्मनः श्रद्धाद्यवयवत्वसङ्कीर्तनात्, श्रद्धादीनां च बुद्धिधर्मत्वप्रसिद्धेः, विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते’ (तै० २।५।१) इति च वाक्यशेषात् ज्येष्ठत्वस्य च प्रथमजत्वस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वात् । ‘स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः’ इति च श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिसाध्यत्वावधारणात् । न च बुद्धेः शक्तिविपर्ययः करणानां कर्तृत्वाभ्युपगमे भवति । सर्वकारकाणामिव स्वस्वव्यापारेषु कर्तृत्वस्यावश्यंभावित्वात् । उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वं, सा चात्मनः । न च तस्यामप्यस्य कर्तृत्वमस्ति, नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात् । अहङ्कारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति, अहङ्कारस्याप्युपलभ्यमानत्वात् । नचैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः, बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात् । समाध्यभावस्तु शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतः ‘यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वमुपादाय समाधिबिधानात् । तस्मात्कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम् ॥

इसी प्रकार स्मृतिकर्त्ता भी कहते हैं कि (इन्द्रियों के उपरत होने पर भी यदि मन उपरत-निवृत्त न हो, और मन द्वारा विषयों का ही सेवन करे तो उसको स्वप्नदर्शन समझना-चाहिये) और (कामादि मन की वृत्तियाँ हैं) इस प्रकार श्रुति कहती है । वह कामादि स्वप्न में दीखते हैं, जिससे मनसहित ही स्वप्न में विहार करता है, केवल नहीं । स्वप्न में होने वाला विहार भी वासनामय ही होता है । पारमार्थिक (सत्य) तो वह है नहीं । इसी प्रकार इनकार (सादृश्य) से अनुबद्ध (युक्त) ही स्वप्न के व्यापार को श्रुति वर्णन करती है कि (स्त्रियों के साथ भी रमण-आनन्द करता हुआ के समान, मित्रों के साथ हँसता के समान, भयों को देखता हुआ के समान रूप को करता है) लौकिक मनुष्य भी स्वप्न को इसी प्रकार कहते हैं । (मैं गिरिशिखर पर मानो चढ़ा था । वनपंक्ति को मानों देखता था) । इसी प्रकार उपादान में भी यद्यपि कारणों में कर्म और कारण विभक्तिका निर्देश है, तथापि उन कारणों से युक्त आत्मा के ही कर्तृत्व

को समझना चाहिये, जिससे केवल आत्मा में कर्तृत्व के असम्भव को दक्षित कराया जा चुका है। यदि कहो कि करणसहित ही आत्मा में यदि कर्तृत्व होता है, तो करणों में भी कर्तृत्व होना चाहिए, तो कहा जाता है कि विवक्षा लोक में अनेक प्रकार की होती है। मोढ़ा युद्ध करते हैं। मोढ़ाओ द्वारा राजा युद्ध करता है, इत्यादि, इससे कहीं करणों में भी कर्तृत्व होता ही है। और दूसरी बात है कि इस उपादान में कारण के व्यापारों का उपरम (निवृत्ति) मात्र विवक्षित होता है, किसी की स्वतन्त्रता नहीं विवक्षित होती है। क्योंकि स्वप्न में अबुद्धिपूर्वक (ज्ञान इच्छा के बिना) भी करण (इन्द्रिय) के व्यापारों का उपरम (निवृत्ति) देखा जाता है। ज्ञानादि के बिना भी स्वप्न-निद्रादि होते हैं। जो यह व्यपदेश (व्यवहार) दिखाया था कि (विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है) इससे आत्मा कर्ता है इत्यादि, यहाँ भी वह निदेश बुद्धि के ही कर्तृत्व का ज्ञापन (बोध) कराता है। अर्थात् उससे बुद्धि उपाधि वाला व्यावहारिक जीव में कर्तृत्व का बोध होता है, शुद्धात्मा का नहीं। क्योंकि विज्ञान शब्द की बुद्धि अर्थ में प्रसिद्धि है। यहाँ इस वचन का मन के अनन्तर पाठ है तथा (उस विज्ञानमय का श्रद्धा ही शिर है) विज्ञानमय रूप आत्मा के श्रद्धा आदि रूप अवयवों के सकीर्तन से, और श्रद्धादिकों में बुद्धि के धर्मत्व की प्रसिद्धि से और (देव मय विज्ञान की ज्येष्ठब्रह्म रूप से उपासना करते हैं) इस वाक्य शेष से और ज्येष्ठत्वं प्रथमजत्व को बुद्धि में प्रसिद्धि से—अर्थात् (महद् यक्ष प्रथमजम्) इस श्रुति में महापूज्य हिरण्यगर्भ की बुद्धि है, वह इन्द्रियरूप देवों से उपास्य है। इत्यादि हेतुओं से विज्ञान-शब्दार्थ बुद्धि ही है। (वाक् तथा चित्त बुद्धि का जो उत्तर-उत्तर उपक्रम गति है वही यह यज्ञ है) अर्थात् चित्तसे ध्यान करके वाक् से मन्त्रोच्चारण द्वारा यज्ञ सिद्ध होता है। इससे चित्त और वाक् का पूर्वोत्तरभाव-रूप यज्ञ है। इस प्रकार अन्य श्रुति में यज्ञ को वाक् और बुद्धि-साध्यत्व के अवधारण से भी (विज्ञानं यज्ञ तमुते) इस श्रुति में यज्ञन्तारूप बुद्धि ही सिद्ध होती है। करणों के कर्तृत्व का स्वीकार करनेसे बुद्धि की करण शक्ति का विपर्यय नहीं होता है क्योंकि सभी करणों को अपने-अपने व्यापारों में कर्तृत्व अवश्यमावो है। जिससे काष्ठ ज्वलित होता है। इत्यादि प्रयोग देखा जाता है। इस प्रकार बुद्धि और इन्द्रियों को भी अपने-अपने व्यापारों में कर्ता होते भी विषयोंकी उपलब्धि की अपेक्षा से इन बुद्धि इन्द्रियरूप करणों को करणत्व है, जैसे कि काष्ठों को अपने व्यापार में कर्ता होते भी पाक में करणत्व है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। जिस उपलब्धि के बुद्धि और इन्द्रिय करण हैं, वह उपलब्धि जीवात्मा का व्यापार है। उस उपलब्धि में भी इस शुद्धात्मा को कर्तृत्व नहीं है, अर्थात् उपलब्धि का भी स्वामाधिक कर्तृत्व आत्मा को नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा नित्य उपलब्धि (ज्ञान) स्वरूप है। इससे व्यावहारिक जीवात्मा चित्प्रतिभासित वृत्ति-रूप उपलब्धि का कर्ता है। इसी प्रकार अहङ्कारपूर्वक कर्तृत्व भी व्यावहारिक आत्मा को ही है। शुद्ध उपपत्त्या (आत्मा) को अहङ्कारपूर्वक कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि अहङ्कार भी उपलब्ध्यमान (दृश्य) है। उसमें स्वयं प्रकाश साक्षी स्वरूपत्व नहीं हो सकता है।

ऐसा होने पर, अर्थात् बुद्धि को विज्ञान-शब्दार्थं कर्तारूप होने पर करणान्तर की कल्पना रूप दोष का प्रसंग भी नहीं है, क्योंकि अहंबुद्धि का विषय बुद्धिविशिष्ट व्यावहारिकात्मा विज्ञान-शब्दार्थरूप कर्ता है। उसमें विशेषणरूप बुद्धिमात्र को करण मानने से करणान्तर की कल्पना का प्रसङ्ग नहीं होता है केवल बुद्धि के सांख्य रीति से कर्त्री मानने पर करणान्तर का प्रसंग अवश्य होगा। समाधि के अभाव तो शास्त्र के अर्थवत्त्व से ही परिहृत हो चुका है। प्रथाप्राप्त (लोकसिद्ध) कर्तृत्व का ग्रहण करके समाधि के विधान से दोष परिहृत होता है। इससे आत्मा का कर्तृत्व धर्म भी उपाधि-निमित्तक ही है। यह स्थित (निश्चित) हुआ ॥ ४० ॥

परायत्ताधिकरण (१६)

प्रवर्तकोऽस्य रागादिरीशो वा रागतः कृषी ।

दृष्टा प्रवृत्तिवैषम्यमीशस्य प्रेरणे भवेत् ॥ १ ॥

सस्येषु वृष्टिवज्जीवेष्वीशस्याविषयत्वतः ।

रागोन्तर्याम्यधीनोऽत ईश्वरोऽस्य प्रवर्तकः ॥ २ ॥

वह जीवकर्तृत्व श्रुती से परमात्मनिमित्तक है, स्वतन्त्र नहीं है। वहाँ संशय है की इस जीव का प्रवर्तक रागादि है वा ईश्वर है। पूर्वपक्ष है कि कृषि में राग से प्रवृत्ति दे गयी है, इससे राग ही प्रवर्तक है, ईश्वर की प्रेरणा होने पर ईश्वर में विषमता कीप्राप्ति होगी। सिद्धान्त है कि सस्यों में वृष्टि जैसे साधारण कारण होता है, वह विषमता का हेतु नहीं होता किन्तु बीजादि विषमता के हेतु हैं, वैसे ही जीवों में ईश्वर को अविषमता है, कर्म वासनादि के अनुसार विषमफल होते हैं, और ईश्वर साधारण कारण है। रागादि भी अन्तर्यामी ईश्वर के अधीन प्रवर्तक होते हैं। इससे ईश्वर इस व्यावहारिक जीव का प्रवर्तक है ॥ १-२ ॥

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याभिहितं. तत्किम-
नपेक्ष्येश्वरं भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा। तत्र प्राप्तं तावन्ने
श्वरमपेक्षते जीवः कर्तृत्व इति। कस्मात्? अपेक्षाप्रयोजनाभावात्। अयं हि
जीवः स्वयमेव रागद्वेषादिदोषप्रयुक्तः कारकान्तरसामग्रीसम्पन्नः कर्तृत्वमनुभवितुं
शक्नोति। तस्य किमीश्वरः करिष्यति। न च लोके प्रसिद्धिरस्ति कृष्यादि-
कासु क्रियास्वनडुहादिवदीश्वरोऽपेक्षितव्य इति। क्लेशात्मकेन च कर्तृत्वेन
जन्तून्संसृजत ईश्वरस्य नैर्घृण्यं प्रसज्येत। विषमफलं चैषां कर्तृत्वं विदधतो
वैषम्यम्। ननु 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (ब्र० १।४।१७) इत्युक्तम्।
सत्यमुक्तं सति त्वीश्वरस्य सापेक्षत्वसम्भवे। सापेक्षत्वं चेश्वरस्य सम्भवति
सतोर्जन्तूनां धर्माधर्मयोः, तयोश्च सद्भावः सति जीवस्य कर्तृत्वे। तदेव चेत्कर्तृ-
त्वमीश्वरापेक्षं स्यात्किंविषयमीश्वरस्य सापेक्षत्वमुच्येत। अकृताभ्यागमश्चैवं
जीवस्य प्रसज्येत। तस्मात्स्वत एवास्य कर्तृत्वमिति। एतां प्राप्तिं तुशब्देन

व्यावर्त्य प्रतिजानीते—‘परात्’ इति । अविद्यावस्थाया कार्यकरणसङ्घाताविवेक-
दर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सत्. परमादात्मनः कर्माध्यक्षात्सर्वभूता-
धिवासात्साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य ससारस्य
सिद्धि, तदनुग्रहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति । कुत ?
तच्छ्रुते । यद्यपि रागादिदोषप्रयुक्तं सामग्रीसंपन्नश्च जीव, यद्यपि च लोके
कृप्यादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्व प्रसिद्ध, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो
हेतुकर्तेति श्रुतेरवसीयते । तथाहि श्रुतिर्भवति—‘एष ह्येव साधु कर्म कारयति
त यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपते, एष ह्येवासाधु कर्म कारयति त यमधो निनीपते’
(कौपी० ३।८) इति, ‘य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति’ इति चैव-
जातीयका ॥ ४१ ॥

अविद्यावस्था मे जो यह उपाधिनिमित्तक जीव के कर्तृत्व का कथन किया गया
है, वह कर्तृत्व क्या ईश्वर की अपेक्षा के बिना होता है । अथवा ईश्वर की अपेक्षा-
पूर्वक होता है । यह विचारणा (चर्चा) जिज्ञासामूलक होती है । वहाँ प्रथम प्राप्ति
होता है कि जीव अपने कर्तृत्व मे ईश्वर की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि ईश्वर की
अपेक्षा के प्रयोजन का अभाव है । जिससे यह जीव स्वयं ही राग-द्वेषादि दोषो से
प्रेरित होकर और कारकान्तररूप सामग्री से सम्पन्न होता हुआ कर्तृत्व का अनुभव कर
सकता है फिर ईश्वर उसका क्या करेगा । लोक मे कृपि आदि क्रियाओ मे बल आदि
के समान ईश्वर भी अपेक्षितव्य (प्राप्तिव्य) है, ऐसी प्रसिद्धि नहीं है । यदि ईश्वर कर्तृत्व
का हेतु होगा भी तो क्लेशात्मक कर्तृत्व के साथ जन्तुओ-प्राणियों के ससर्ग (सम्बन्ध)
को रचने वाले ईश्वर को निष्पृणता (क्रूरता) की प्राप्ति होगी । इन जन्तुओ के विषम
फल वाले कर्तृत्व को सिद्ध करने वाले ईश्वर को विषमता की प्राप्ति होगी । यद्यपि जीव
के धर्माधर्म-सापेक्ष ईश्वर वर्त्ता है, इससे विषमता निष्पृणता ईश्वर मे नहीं है, यह
प्रथम कहा गया है, वह सत्य ही कहा गया है, कि यदि ईश्वर को सापेक्षत्व सिद्ध हो । वह
सापेक्षत्व ही नहीं सिद्ध होता है यहाँ यह तात्पर्य है, क्योंकि प्राणियों के धर्माधर्म
रहने पर ईश्वर को सापेक्षत्व सिद्ध होगा । उस धर्माधर्म का सङ्घाव जीव के कर्तृत्व
रहने पर होगा । वह कर्तृत्व ही यदि ईश्वराधीन होगा, तो किस विषयक ईश्वर का
सापेक्षत्व कहा जायगा । अर्थात् ईश्वराधीन कर्तृत्व की सिद्धि से धर्माधर्म की सिद्धि
होगी, धर्माधर्म के सिद्ध होने पर धर्माधर्म-सापेक्ष ईश्वर के प्रवर्तकत्व की सिद्धि होगी,
फिर प्रवर्तकत्व से कर्तृत्व की सिद्धि होगी तो इस प्रकार चक्र दोष से एव भी नहीं
सिद्ध होगा । इस प्रकार कर्मान्पेक्ष प्रवर्तक होने पर जीव को अदृताभ्यागम की प्राप्ति
होगी, ईश्वर अपनी इच्छा के अनुसार कर्मों के दिना भी जीवों के सुख-दुःख का हेतु
होगा । इससे इस जीव को स्वतः कर्तृत्व है । इस तरह प्राप्त पूर्वपक्ष का सुघट्टसे निवारण
करके सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं कि (परात्) इति, अविद्यावस्था मे कार्य-करण के

संघात से अपने को अमिन्न-अपृथक् समझने वाला अविद्यारूप अन्धकार से अन्ध होता हुआ जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप संसार की सिद्धि कर्माध्यक्ष (कर्मद्रष्टा) सर्वभूतों का अधिष्ठान सर्वनिवासी अन्तर्यामी चेतयिता सर्वज्ञ साक्षी ईश्वररूप परमात्मा से और उसकी अनुज्ञा (अनुमति) से होती है । उस परमात्मा के अनुग्रहरूप हेतु से जन्य विज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि होने के योग्य है, क्योंकि वैसा ही श्रुति से सिद्ध होता है । यद्यपि रागादि दोषों से प्रेरित और सामग्रियों से सम्पन्न जीव है, और यद्यपि लोक में कृषि आदि कर्मों में ईश्वर की कारणता प्रसिद्ध नहीं है । तथापि सभी प्रवृत्तियों में ईश्वर हेतु-प्रयोजक स्वरूप कर्ता है, यह श्रुति से निश्चय किया जाता है । जिससे इसी प्रकार की श्रुति है कि (वह परमात्मा ही उससे पुण्य कर्म करवाता है कि जिसको इन नीचे के लोकों से ऊपर उत्तम लोक में ले जाना चाहता है । वही उससे पाप करवाता है कि जिसको इन लोकों से नीचे ले जाना चाहता है) (जो आत्मा में रहकर अन्तरात्मरूप से आत्मा का नियन्त्रण करता है) इस प्रकार की श्रुति सब क्रिया को ईश्वराधीन दिखाती है । इससे श्रुति-बल से जीव का कर्तृत्व ईश्वराधीन सिद्ध होता है ॥ ४१ ॥

नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे सति वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामकृताभ्यागमश्च जीव-
स्येति, नेत्युच्यते—

यहाँ शंका होती है कि ईश्वर के कारयिता (प्रेरक) होने पर विषमता निर्धूणता होगी । जीव को अकृताभ्यागम होगा । तो कहा जाता है कि ये सब दोष नहीं हैं, तथाहि—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

तुशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः । कृतो यः प्रयत्नो जीवस्य धर्माधर्मलक्षण-
स्तदपेक्ष एवैनमीश्वरः कारयति । ततश्चैते चोदिता दोषा न प्रसज्यन्ते । जीव-
कृतधर्माधर्मवैषम्यापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषमं विभजते पर्जन्यवदीश्वरो
निमित्तत्वमात्रेण । यथा लोके नानाविधानां गुच्छगुल्मादीनां ब्रीहियवादीनां
चासाधारणेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो जायमानानां साधारणं निमित्तं भवति पर्जन्यः,
न ह्यसति पर्जन्ये रसपुष्पपलाशादिवैषम्यं तेषां जायते, नाप्यसत्सु स्वस्वबीजेषु,
एवं जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्तेषां शुभाशुभं विदध्यादिति शिलष्यते । ननु
कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे नोपपद्यते । नैष दोषः । परायत्तेऽपि
हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः, कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति । अपि च पूर्वप्रयत्न-
मपेक्ष्येदानीं कारयति पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात्संसारस्ये-
त्यनवद्यम् । कथं पुनरवगम्यते कृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वर इति ? विहितप्रतिषिद्धा-
वैयर्थ्यादिभ्य इत्याह । एवं हि 'स्वर्गकामो यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'

इत्येवजातीयकस्य विहितस्य प्रतिपिद्धस्य चावेयर्थं भवति, अन्यथा तदनर्थक स्यात्, ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोनियुज्येत, अत्यन्तपरतन्त्रत्वाज्जीवस्य । तथा विहितकारिणमप्यनर्थेन ससृजेत्प्रतिपिद्धकारिणमप्यर्थेन, ततश्च प्रामाण्य वेदस्यास्तमियात् । ईश्वरस्य चात्यन्तानपेक्षत्वे लौकिकस्यापि पुरुषकारस्य वैयर्थ्यं, तथा देशकालनिमित्तानां, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गश्चेत्येवजातीयक दोषजातमादिग्रहणेन दर्शयति ॥ ४२ ॥

तु शब्द आशयित उक्त दोषो की व्यावृत्ति के लिये है । कि जीव का जो धर्माधर्म स्वरूप यत्न किया हुआ रहता है, उसकी अपेक्षापूर्वक ही ईश्वर इस जीव को करवाता है, प्रेरणा करता है इत्यादि । इससे ये श्रुत उक्त दोष नहीं प्राप्त होते हैं । जीव के कृत (पूर्वोपाजित) धर्म और अधर्म की अपेक्षा वाला ही ईश्वर निमित्तत्व मात्र रूप से पर्जन्य के समान तत्त्व फलों का विषम विभाग करता है । अर्थात् जैसे बीजदि विशेष कारण के रहते भी सामान्य कारण पर्जन्य की अपेक्षा होती है । इसी प्रकार राग-द्वेषादि के रहते भी कर्तृत्वादि में सामान्य कारणरूप ईश्वर की अपेक्षा होती है । इससे जैसे लोक में साधारण (विशेष) अपने-अपने बीजों से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के गुच्छ-गुल्मादिका का और ब्रौहि-यवादिकों का साधारण निमित्त कारण पर्जन्य होता है । जिससे पर्जन्य (वृष्टि) के नहीं होने पर उन गुच्छादि ब्रौहि आदि के रस पुष्प-पत्तों के वैषम्य नहीं होते हैं, न अपने-अपने बीजों की असत्ता में होते हैं । इससे पर्जन्य और बीज दोनों कारण हैं । इसी प्रकार पर्जन्य के समान ईश्वर जीवकृत प्रयत्न की अपेक्षापूर्वक उन जीवों के शुभाशुभ का विधान संपादन करेगा यह युक्त होता है । यदि कहो कि जीव के पराधीन कर्तृत्व होने पर ईश्वर को कृतप्रयत्नापेक्षत्व ही नहीं सिद्ध होता है । तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है । जिससे पराधीन कर्तृत्व के होने पर भी जीव करता ही है, और करते हुए ही जीव को ईश्वर करवाता है, प्रेरणा करता है । दूसरी बात है कि पूर्व के प्रयत्न की अपेक्षा करके इस समय करवाता है, और उससे पूर्वकृत पूर्वतर प्रयत्न की अपेक्षा करके पूर्वकाल में करवाया था । इस प्रकार ससार की अनादिता से जीव के कर्तृत्व और ईश्वर के प्रेरकत्व बीजाङ्कुर न्याय से अनवद्य (निर्दोष) है । यदि कहो कि कैसे समझा जाता है कि ईश्वरकृत प्रयत्नापेक्ष कारक होता है, कहा जाता है, कि (विहित प्रतिपिद्ध के अव्यर्थता आदि से समझा जाता है) जिससे इस प्रकार ईश्वर के सापेक्ष होने ही से (स्वर्ग की इच्छा वाला यत्न से स्वर्ग को प्राप्त करे) (ब्राह्मण हतव्य नहीं है, इससे ब्राह्मण का हनन नहीं करे) इस प्रकार के विहित और प्रतिपिद्ध की अव्यर्थता होती है । अन्यथा ईश्वर के निरपेक्ष होने पर कर्म अनर्थक होगा । और विधि-प्रतिषेध (पुण्य-माप) के स्थान में ईश्वर ही नियुक्त होगा । जीव के अत्यन्त परतन्त्रता से पुण्य-माप कार्य को ईश्वर ही करेगा । ऐसा होने से निरपेक्ष ईश्वर के अधीन जीव के होने से शास्त्र अनर्थक होगा ।

अनर्थकता ही नहीं किन्तु विपरीतता की प्राप्ति होगी कि विहित करने वाले को भी अनर्थ के साथ सम्बन्ध करावेगा, और प्रतिपिद्ध करने वाले को भी अर्थ के साथ सम्बन्ध करावेगा । इससे वेद की प्रामाण्यता अस्त नष्ट हो जायगी । ईश्वर के अत्यन्त अनपेक्ष होने पर लौकिक व्यापार पुरुषकार (प्रयत्न) भी अनर्थक होगा, इसी प्रकार देश, काल और निमित्तों की अनर्थकता होगी । और पूर्वोक्त अकृत्याभ्यागम दोष की प्राप्ति होगी । इस प्रकार के दोषसमूह को सूत्र में आदिग्रहण से सूत्रकार दिखाते हैं ॥ ४२ ॥

अंशाधिकरण (१७)

किं जीवेश्वरसांकर्ये व्यवस्था वा श्रुतिद्वयात् ।

अभेदभेदविषयात्सांकर्यं न निवारयते ॥ १ ॥

अंशोऽवच्छिन्न आभास इत्योपाधिककल्पनैः ।

जीवेश्वरयोर्व्यवस्था स्याज्जीवानां च परस्परम् ॥

श्रुति में कहीं जीव का ईश्वर से नाना (भेद) का व्यपदेश से और कहीं दासकित्वादिरूपता का भी ब्रह्म अध्ययन करते हैं । इससे एक के मत से अन्यथा (ईश्वर से अभिन्न) भी जीव है, वहाँ भेदाभेद के विरुद्ध होने से वास्तव में अभेद और कल्पित भेद वाला अंशतुल्य जीव सिद्ध होता है । वहाँ संशय है कि अभेद और भेद विषयक दो श्रुति के सुनने से जीव और ईश्वर का सांकर्य है । अव्यवस्थित स्वरूप है वा कोई व्यवस्था है । पूर्वपक्ष है कि दो प्रकार की श्रुति से जो सांकर्य है, वह निवारण नहीं किया जा सकता है । सिद्धान्त है कि औपाधिक कल्पनाओं से अंश अवच्छिन्न आभास इत्यादि भेद का कथन होता है । स्वरूप से एक कहा जाता है इससे जीव और ईश्वर की व्यवस्था है । तथा जीवों की परस्पर व्यवस्था असांकर्य है, औपाधिकरूप से सब जीव भिन्न-भिन्न हैं, पारमार्थिक स्वरूप से एक अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप है ॥ १-२ ॥

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकित्वा-

वादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः । स च सम्बद्धयोरेव लोके दृष्टो यथा स्वामिभृत्ययोर्यथा वाग्निविस्फुलिङ्गयोः ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकारकभावाभ्युपगमार्त्तिक स्वामिभृत्यवत्सम्बन्ध आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा प्राप्नोति । अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेणैवेति शिरीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव सम्बन्ध इति प्राप्नोति । अतो ब्रवीत्यंश इति । जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गः । अंश इवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योऽंशः सम्भवति । कस्मात्पुनर्निरवयवत्वात् एव न भवति ? नानाव्यपदेशात् । सोऽन्वेष्टव्यः विजिज्ञासितव्यः' (छं ८।८।१) 'मृतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैव-जातीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते । ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये युज्यत इत्यत आह—अन्यथा चापीति । न च नाना-

व्यपदेशादेव केवलादशत्वप्रतिपत्तिः । किं तर्ह्यन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्य-
नानात्वस्य प्रतिपादकः । तथाहि एके शाखिनो दाशकित्वादिभावः ब्रह्मण
आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—‘ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवा’ इत्या-
दिना । दाशा य एते कैवर्ता प्रसिद्धा, ये चाभी दासा स्वामिष्वात्मानमुपक्षि-
पन्ति, ये चान्ये कितवा द्यूतकृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव
नामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह । तथाऽन्यत्रापि
ब्रह्मप्रक्रियायामेवायमर्थः प्रपञ्च्यते—

त्व स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी ।

त्व जीर्णो दण्डेन वधसि त्व जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

(श्वे० ४।३) इति ।

सर्वाणि रूपाणि विचित्राणि धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते । इति च ।
‘नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा’ (वृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चास्यार्थस्य मिद्धि ।
चेतन्य चाविशिष्ट जीवेश्वरयोर्मयाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम् । अतो भेदाभेदा-
वगमाभ्यामशत्त्वावगमः ॥ ४३ ॥

जीव और ईश्वर का परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव प्रथम कहा गया है कि जीव
उपकार का पात्र है । ईश्वर उसका पर्जन्य के समान उपकारक है । वह उपकार्य-उप-
कारक भाव लोक में सम्बन्ध वालों में ही देखा गया है । जैसे कि स्वामी और सेवक
का उपकार्य-उपकारक भाव देखा गया है या जैसे अग्नि और स्फुलिङ्गों (चिनगियों) का
देखा गया है, इससे जीव और ईश्वर का भी उपकार्य-उपकारक भाव के स्वीकार से
संशय होता है कि इनको स्वामी-सेवक के समान सम्बन्ध है । अथवा अग्निविस्फुलिङ्ग
के समान है । इस संशय के होने पर या तो अनियम प्राप्त होता है, अनेक प्रकार की
श्रुति से कोई निश्चय नहीं होता है अथवा स्वामी और सेवक सदृशों में ही ईशिता-
ईशितव्य (नियन्ता-नियम्य) भाव के प्रसिद्ध होने से स्वामी-भृत्य के समान ही सम्बन्ध
प्राप्त होता है । इससे कहते हैं कि (अश इत्यादि) जैसे अग्नि का विस्फुलिङ्ग
अश है वैसे ईश्वर का अश जीव होने योग्य है । परन्तु वह भी अश के समान
होने से अश कहा जाता है । जिससे निरवयव ईश्वर के मुख्य अवयव का सम्भव
नहीं है । यदि कहा जाय कि निरवयव होने से यदि ईश्वर मुख्य अवयव अश जीव
नहीं हो सकता है, तो वह ईश्वर ही जीव क्यों नहीं होता है अर्थात् निरवयव होने से
अभेदबोधक श्रुति के अनुसार ईश्वररूप ही जीव को क्यों नहीं माना जाता है । अश
तुल्य क्यों कहते हैं । तब कहा जाता है कि नाना (भेद) का भी निर्देश से ईश्वर
स्वरूप ही नहीं कह कर अशतुल्य कहते हैं । (वह अन्वेषण करने योग्य है, जिज्ञासा
करने योग्य है । इसीको जानकर मुनि होता है । जो आत्मा में रहता हुआ अन्तरा-
त्मारूप होकर आत्मा का नियन्त्रण करता है) इस प्रकार का भेदनिर्देश
भेद के नहीं रहने पर नहीं युक्त हो सकता है । यका होती है कि यदि भेद के

व्यपदेश से अंश माना जाता है । तो यह नाना व्यपदेश स्वामी-भूत्यरूपता में अत्यन्त युक्त होगा, अधिक उचित होगा, इससे कहते हैं कि (अन्यथा चापि) इत्यादि । केवल नाना व्यपदेश से ही अंशत्व की प्रतीति नहीं होती है । किन्तु अनानात्व (अभेद) का प्रतिपादक अन्यथा भी व्यपदेश (कथन) होता है, जिससे एक अथर्वण शाखा वाले ब्रह्म के दाशकितव आदि भाव को भी ब्रह्मसूक्त में पढ़ते हैं, कि (ब्रह्म ही दाश हैं, ब्रह्म ही दास हैं, और ब्रह्म ही ये कितव हैं) इत्यादि वचनों से अन्यथा व्यपदेश है । जो ये प्रसिद्ध कवर्त हैं वह दास कहाते हैं । जो ये अपनी आत्मा (शरीर) को स्वामी की सेवा में अर्पण करते हैं, वह दास हैं । जो ये उनमें अन्य द्यूतकृत (जुआरी) हैं, वे सभी ब्रह्म ही हैं । इस प्रकार हीन प्राणियों के उदाहरण द्वारा, नाम और रूप से किये गये कार्य (शरीर) और करणों (इन्द्रियों) के संघातों में प्रविष्ट सभी जीवों के ब्रह्मत्व को कहते हैं कि सब ब्रह्म हैं । इसी प्रकार अन्यत्र भी ब्रह्म के प्रकरण में ही इस अर्थ का विस्तार से वर्णन किया जाता है कि (तुम आनन्दात्मा ब्रह्म ही स्त्री और पुरुष बुद्धि का विषय होते हो तुम ही कुमार अथवा कुमारी होते हो । वृद्ध होकर तुम ही दण्ड के सहारा लेकर गमन करते हो । जात उत्पन्न होकर सब तरफ मुँह वाला होते हो) (सब रूपों-कार्यों को रच कर, नामों को सिद्ध करके उनका कथन करता हुआ जो वर्तमान है, उसको जानने वाला धीर (विद्वान्) अमृत होता है) इत्यादि श्रुतियों से भी इस अभेदरूप अर्थ की सिद्धि होती है । जैसे अग्नि और स्फुलिग में उष्णता तुल्य है, वैसे ही जीव और ईश्वर में चेतनता तुल्य है इससे औपाधिक भेद और स्वरूप से अभेद के ज्ञान से अंशत्व का अवगम (ज्ञान) होता है ॥ ४३ ॥

कुतश्चांशत्वावगमः—

मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां० ३।१।२।६) इति । अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्यावरजङ्गमानि निर्दिशति 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः इति प्रयोगात् । अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम् । तस्मादप्यंशत्वावगमः ॥ ४४ ॥

कुतश्चांशत्वावगमः—

किस हेतु से जीव में अंशत्व का अवगम होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि—

मन्त्रवर्ण भी इस अर्थ का अवगम कराता है कि (इस सहस्र सिर वाले पुरुष की तावान्—प्रपञ्चमात्र महिमा विभूति है, पुरुष उस प्रपञ्च से बहुत बड़ा है । सब प्राणी उसका एक पाद भाग स्वरूप हैं, इसके अमृत तीन पाद स्वयंप्रकाश स्वरूप में

वर्तमान है) यहाँ भूत शब्द से जीव जिसमें प्रधान है, ऐसे स्थावर जगमों का श्रुति निर्देश करती है । (सीधों से अन्यत्र सप्त भूतों की हिंसा नहीं करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है) इस प्रयोग से भूत शब्द से प्राणी का ग्रहण होता है क्योंकि प्राणी की ही हिंसा का समव है कि जिसका निषेध हो सकता है, पृथिवी आदि की हिंसा का सम्भव नहीं है । अश्व, पाद, भाग, ये शब्द एकार्थक हैं । इससे भी अशत्व का अवगम होता है ॥ ४४ ॥

और किस हेतु से अशत्व का अवगम होता है, कि—

अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥

ईश्वरगीतास्वपि चेश्वराशत्व जीवस्य स्मर्यते—‘ममेवाशो जीवलोकं जीव-भूतं सनातनं’ (१५।७) इति । तस्मादप्यशत्वावगमः । यत्तु—स्वामिभू-त्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्धः—इति, यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धि-स्तथापि शास्त्रात्त्वयाशाशित्वमीशित्रीशितव्यभावश्च निश्चीयते । निरतिशयोपा-धिसम्पन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नाञ्जीवान्प्रशास्तीति न किञ्चिद्विप्रतिपि-ध्यते ॥ ४५ ॥

ईश्वर-गीता (भगवद्गीता) में भी जीव के ईश्वराशत्व का स्मरण किया जाता है कि (जीवलोक-ससार में सनातन जीव स्वरूप मेरा ही अश्व है) इससे भी अशत्व का अवगम होता है । जो यह कहा है कि स्वामी-भूतय आदि में ईशिता-ईशितव्य भाव लोक में प्रसिद्ध है, वहाँ कहा जाता है कि यद्यपि लोक में यह प्रसिद्धि है, तथापि शास्त्र से तो अश-अशित्व और ईशिता-ईशितव्य भाव निश्चय किया जाता है । निरतिशय (सर्वो-त्तम) उपाधि से सम्पन्न-युक्त ईश्वर, निहीन (अत्यन्त हीन) शरीरादि उपाधि वाले जीवों का प्रशासन करता है इससे कुछ विरुद्ध नहीं होता है ॥ ४५ ॥

अत्राह—ननु जीवस्येश्वराशत्वाभ्युपगमे तदीयेन ससारदुःखोपभोगेना-शिन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात्, यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेना-ङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं तद्वत्, तत्तद्वत् तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्, अतो चरं पूर्वावस्थं मनार एवास्त्विति सम्पददर्शनानयं कथं प्रसङ्गः स्यादिति । अत्रोच्यते—

यहाँ कोई कहता है कि जीव और ईश्वर के अश्व अशोभाव के स्वीकार करने पर जैसे लोक में हाथ, पैर आदि किसी एक अश्वगत दुःख से अङ्गवाले देवदत्त को दुःखित्व होता है । वैसे उस अश्वरूप जीव के ससार-मन्वन्थी दुःख के उपभोग से अश्वरूप ईश्वर को भी दुःखित्व होगा, और इससे उसको ज्ञान, भक्ति आदि द्वारा प्राप्त प्राणियों को अति महान् दुःख प्राप्त होगा, इससे पूर्वावस्था वाला ससार ही श्रेष्ठ है वही रहे, इस प्रकार सम्पददर्शन को अनर्थकता का प्रसंग होगा, यह किसी का कथन है, यहाँ कहा जाता है कि—

प्रकाशादिवन्नवं परः ॥ ४६ ॥

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे । जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्या कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते, नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वास्ति । जीवस्याप्यविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकोऽस्ति । यथा च स्वदेहगतदाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवति तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः । ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते—मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति । व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते । तथाहि—पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्सम्बन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्धोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते नाभिमानहीनानां परिव्राजकादीनाम् । अतश्च लौकिकस्यापि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टं, किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति । तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः । प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यासः । यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते । यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात्तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेषु न तद्वान्सूर्यः कम्पते—एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येऽंशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते । जीवस्यापि तु दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम् । तथा चाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः, तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥ ४६ ॥

जैसे जीव संसार दुःख का अनुभव करता है, इस प्रकार पर-ईश्वर नहीं अनुभव करता है । यह प्रतिज्ञा करते हैं । जिससे अविद्या के आवेश के वश से देहादि में आत्मभाव के समान प्राप्त होकर, अविद्या कर्मादिवश देहादि में आत्मता के अभिमान, मोह, ममतादि करके, उस देहकृत दुःख से मैं दुःखी हूँ ऐसा अभिमान करके अविद्या से कृत दुःख के उपभोग को जीव मानता है—समझता है । ईश्वर को इस प्रकार देहादि में आत्मभाव वा दुःख का अभिमान नहीं है । जीव को भी अविद्याकृत नामरूप से निर्वृत्त (सिद्ध) देह इन्द्रिय आदि रूप उपाधि के अविवेकजन्य-भ्रमनिमित्तक ही दुःखाभिमान है, पारमार्थिक नहीं है, और जैसे स्वदेहगत दाह-छेदनादिनिमित्तक

दुःख का उस देह में अभिमानरूप भ्रान्ति से ही अनुभव करता है, इसी प्रकार पुत्र-मित्रादिवत् दुःख को भी उनमें अभिमानरूप भ्रान्ति से ही अनुभव करता है, कि मैं ही पुत्र हूँ, मैं ही मित्र हूँ इस प्रकार स्नेहवश से पुत्र मित्र में अभिनिवेश (अभिमान) करता हुआ दुःख का अनुभव करता है, उनके दुःखों से स्वयं भी दुःखी होता है। इससे यह निश्चित समझा जाता है कि मिथ्याभिमान भ्रमनिमित्तक ही दुःखानुभव होता है। अभिमान भ्रान्ति के व्यतिरेक (अभाव) रहते दुःख के व्यतिरेक (अभाव) देखने से भी ऐसा समझा जाता है कि अभिमान भ्रममूलक दुःख है। जिससे जहाँ बहुत पुत्र-मित्रादि वाले बँटे हो, कि जिनमें उन पुत्र-मित्रादि के सम्बन्ध के अभिमानों भी हो, उनसे इतर अभिमानशून्य लोग भी बँटे हो, वहाँ यदि कोई उद्योपणा करे—कहे कि पुत्र मर गया, मित्र मर गया, तो ऐसी उद्योपणा होने पर, जिनको पुत्र-मित्रादिमत्त्व का अभिमान रहता है, उनको ही उस मरण-श्रवणनिमित्तक, दुःख होता है, अभिमानरहित सन्यासी आदि को दुःख नहीं होता है। इससे लौकिक (तत्त्वज्ञान शून्य) पुरुष के भी सम्यग्दर्शन (विवेकज्ञान) की अर्थवत्ता देखी गई है, फिर विषय-शून्य (अविषयस्वरूप) आत्मा से अन्य वस्तुवन्तर को नहीं देखते हुए नित्य चैतन्यमात्र स्वरूप के सम्यग्दर्शन की अर्थवत्ता में तो वस्तुव्य ही क्या है। इससे सम्यग्दर्शन में अनर्थकता की प्राप्ति नहीं है। प्रकाशादिवत्, यह सूत्र में निदर्शन (दृष्टान्त) का कथन है कि जैसे सूर्य वा चन्द्रमा का प्रकाश आकाश को व्याप्त करके स्थिर होता हुआ भी अङ्गुली आदि उपाधियों के सम्बन्ध से उनके ऋजु-वक्रादि भाव के प्राप्त होने पर, वह प्रकाश भी तत्तत् भाव को प्राप्त होता हुआ के समान होने पर भी परमार्थ से तत्तत् ऋजु-वक्रादि भाव को नहीं प्राप्त होता है। जैसे घटादि के चलने पर तद्वत् आकाश भी चलता हुआ के समान प्रतीत होने पर भी परमार्थ से नहीं चलता है। जैसे उदकयुक्त घरावादि के काँपने से तद्वत् सूर्य के प्रतिबिम्ब के काँपने पर भी उस प्रतिबिम्ब वाला सूर्य नहीं काँपता है। इसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्राप्त) बुद्धि आदि उपाधि वाला जीवनामक अश के दुःखी होने पर भी उस अशवाला ईश्वर दुःखी नहीं होता है। अर्थात् जीव में स्वदुःख का अनुभव होने पर भी ईश्वर अपने दुःख का अनुभव नहीं करता है। वस्तुतः जीव को भी दुःख की प्राप्ति अविद्या निमित्तक ही है, यह कहा जा चुका है, ऐसा होने ही से (तत्त्वमसि) इत्यादि वेदान्त अविद्यानिमित्तक जीव भाव के व्युदास (निषेध) द्वारा जीव के ब्रह्मभाव का ही प्रतिपादन करते हैं। इससे जीव-सम्बन्धी दुःख से परमात्मा को दुःखित्व प्रसंग नहीं है ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति ।

तत्र य परमात्मा हि न नित्यो निर्गुण स्मृतः ।

न लिप्यते फलैश्चापि पक्षपत्रमिवाम्भसा ॥

कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षवन्धैः स युज्यते ।

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥ इति ।

चशब्दात्समामनन्ति चेति वाक्यशेषः । 'तथोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (श्वे० ४।६) इति 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (कठ० ५।११) इति च ।

जिस प्रकार जीव के दुःख से परमात्मा निजदुःख का अनुभव नहीं करता है, वह व्यासादि स्मरण करते हैं कि (उस जीव और परमात्मा में जो परमात्मा है, वह नित्य निगुण कहा गया है । वह कर्मफलों से लिस नहीं होता है, जैसे कमलपत्र जल से लिस नहीं होता है । उससे अन्य जो वह कर्मात्मा कर्माश्रय जीव है, वह मोक्ष और बन्धनों से युक्त होता है । वही एकादश इन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि रूप सप्तदश के राशि (समूह) से भी युक्त होता है ।) सूत्र में च शब्द से (समामनन्ति) श्रुतियाँ कहती हैं ऐसा वाक्य शेष समझना चाहिए । (जीव ईश्वर दोनों में से अन्य एक जीव स्वादु कर्मफल को भोगता है । एक ईश्वर भोगे बिना प्रकाश करता है । जैसे सूर्य प्रकाश्य दोषों से लिस नहीं होता है । इसी प्रकार सब भूत का एक अन्तरात्मा लोकों के दुःखों से लिस नहीं होता है, क्योंकि वह सबसे बाह्य असंग है ।)

अत्राह—तदि तर्ह्येक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात्कथमनुज्ञापरिहारी स्यातां लौकिकौ वैदिकौ चेति । ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तम्, तद्धेदाच्चाणुज्ञापरिहारी तदाश्रयावव्यतिकीर्णानुपपद्येते किमत्र चोद्यत इति । उच्यते—नैतदेवम् । अनंशत्वमपि हि जीवस्याभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (वृ० ३।७।२३), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (वृ० ४।४।१९), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (वृ० १।४।१०) इत्येवंजातीयकाः । ननु भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वं सिद्धयतीत्युक्तम् । स्यादेतदेवं यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम्, अभेद एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितो ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ पुरुषार्थसिद्धेः स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते । न च निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योऽंशो जीवः संभवतीत्युक्तम् । तस्मात्पर एवैकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनावस्थित इत्यतो वक्तव्याऽनुज्ञापरिहारोपपत्तिः ॥ ४७ ॥

यहाँ प्रतिवादी कहता है कि यदि सब प्राणी का अन्तरात्मा एक ही हो, तो लौकिक और वैदिक अनुज्ञा (स्वीकृति विधि) और परिहार (त्याग) कैसे हो सकते हैं । यदि कहा जाय कि जीव ईश्वर का अंश है । यह कहा जा चुका है, उस अंश के भेद से उसके आश्रित अव्यतिकीर्ण (सांकर्य रहित) अनुज्ञा और परिहार होंगे । यहाँ संशय क्या किया जा सकता है । यो कहा जाता है कि यह इस प्रकार नहीं सिद्ध हो

सकता है । जिससे जीव और ईश्वर का अभेद को कहने वाली श्रुतियाँ ईश्वर के अनशत्व (अशमिन्नत्व) का भी प्रतिपादन करती हैं कि (वह ब्रह्मात्मा उस जगत् को रचकर उसमें प्रवेश किया । उससे अन्य द्रष्टा नहीं है । वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस में नाना के समान देखता है । तुम उस ब्रह्मस्वरूप हो । मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार की श्रुतियाँ अनशत्व का प्रतिपादन करती हैं । यदि कहा जाय कि भेद और अभेद के अवगम से अशत्व की सिद्धि होती है, यह कहा जा चुका है । वहाँ कहा जाता है कि यह इस प्रकार हो सकता है कि यदि भेद और अभेद दोनों प्रतिपादन की इच्छा के विषय होते । परन्तु यहाँ तो ब्रह्मात्मत्व के ज्ञान होने पर पुष्पार्थ (मोक्ष) की सिद्धि से अभेद ही प्रतिपादन की इच्छा का विषय है, निगुण एकात्मा में अविद्या रूप स्वभाव से प्राप्त भेद का तो श्रुति से अनुवाद किया जाता है । निरवयव निगुण ब्रह्म का मुख्य अंश हो नहीं सकता है । उससे सब भूतों के अन्तरात्मा स्वरूप एक परमात्मा ही जीवरूप से अवस्थित वर्तमान है । इससे अनुज्ञा और परिहार की उत्पत्ति (सिद्धि) वक्तव्य है ॥ ४७ ॥

ता ब्रूम —

अनुज्ञापरिहारो देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ५८ ॥

‘ऋतौ भायामुपेयात्’ इत्यनुज्ञा । ‘गुर्वङ्गना नोपगच्छेत्’ इति परिहार । तथा ‘अग्नीपोमीय पशु सज्ञपयेत्’ इत्यनुज्ञा । ‘मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि’ इति परिहार । एव लोकेऽपि ‘मित्रमुपसेवितव्यमि’त्यनुज्ञा । ‘शत्रु परिहर्तव्य’ इति परिहार । एव प्रकारवानुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनो देहसम्बन्धात्स्यात्ताम् । देहै सम्बन्धो देहसम्बन्ध । क. पुनर्देहसम्बन्ध ? देहादिरय सधातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्ति । दृष्टा च सा सर्वप्राणिनामह गच्छाम्यहमागच्छाम्यहमन्धोऽहमन्धोऽह मूढोऽहममूढ इतीत्येवमात्मिका । नह्यस्या सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकमस्ति । प्राक्तु सम्यग्दर्शनात्प्रततेषा भ्रान्ति सर्वजन्तुषु । तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसम्बन्धकृताद्विशेषादेकात्म्याभ्युपगमेऽप्यनुज्ञापरिहारावकल्प्येते । सम्यग्दर्शिनस्तत्त्वानुज्ञापरिहारानर्थक्य प्राप्तम् । न । तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्ते । हेयोपादेययोहि नियोज्यो नियोज्यत्वमिति स्यात् । आत्मनस्त्वतिरिक्त हेयमुपादेय वा वस्त्वपश्यन्कथं नियुज्येत । न चात्मात्मन्येव नियोज्य स्यात् । शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेत् । न । तत्सहन्त्वाभिमानात् । सत्य व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्व तथापि त्वामादिवद्देहाद्यमहत्तत्त्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमान । नहि देहाद्यसहन्त्वदर्शिन कस्यचिदपि नियोगो दृष्टः । किमुत्तेवात्म्यदर्शिन । न च नियोगाभावात्मस्यग्दर्शना यथेष्टचेष्टाप्रसङ्गः । सर्वत्राभिमानस्यैव ध्वस्तकत्वादभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिन । तस्माद्देहसम्बन्धादेवानुज्ञापरिहारो ज्योतिरा-

दिवत् । यथा ज्योतिष एकत्वेऽप्यग्निः क्रव्यात्परिह्रियते नेतरः । यथा च प्रकाश एकस्यापि सवितुरमेध्यदेशसम्बद्धः परिह्रियते नेतरः शुचिभ्यिष्ठः । यथा भीमाः प्रदेशा वज्रवैडूर्यादय उपादीयन्ते, भीमा अपि सन्तो नरकलेवरादयः परिह्रियन्ते । यथा मूत्रपुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते तद्वत् ॥ ४८ ॥

उस उपपत्ति को कहते हैं कि

(ऋतुकाल में स्वमार्या के प्रति गमन करे ।) यह अनुज्ञा है (गृहमार्या के प्रति गमन नहीं करे) यह परिहार है (अग्नि सोम देवता को पशु का संज्ञयन देवार्पण करे) यह अनुज्ञा है । (सब प्राणी की हिंसा को त्यागे) यह परिहार है । इसी प्रकार लोक में भी (मित्र उपसेवन योग्य है) यह अनुज्ञा है (शत्रु त्याग योग्य है) यह परिहार है । इस प्रकार के अनुज्ञा और परिहार आत्मा के एकत्व होते भी देह सम्बन्ध से हो सकते हैं । देहों के साथ सम्बन्ध देहसम्बन्ध है । परन्तु कूटस्थ परिणाम रहित नित्य आत्मा का देह के साथ संयोग समवायादि सम्बन्ध हो नहीं सकता । इससे प्रश्न होता है कि आत्मा को देहों के साथ सम्बन्ध क्या है । उत्तर है कि सत्य सम्बन्ध कोई नहीं है किन्तु देहादिरूप यह संघात में ही है इस प्रकार की आत्मविषयक विपरीतज्ञान की उत्पत्ति ही सम्बन्ध है । अर्थात् इस बुद्धि का विषय कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध देहों के साथ आत्मा का है । वह प्रतीति, मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं अन्ध हूँ, मैं अनन्ध हूँ, मैं मूढ़ हूँ, मैं अमूढ़ हूँ, इत्यादि रूप से सब प्राणियों की देखी गयी है । अर्थात् शरीर के गमनादि का इन्द्रिय के अन्धत्वादि का बुद्धि के मूढ़त्वादि का आत्मा में भ्रमादि मूलक सम्बन्ध सब प्राणी में भासते हैं । सम्यग् दर्शन से अन्य इस भ्रान्ति का निवारक कोई नहीं है, इसीसे तो यह भ्रान्ति सम्यग् दर्शन से पूर्वकाल में सब प्राणियों में प्रवृत्त (संतत) रहती है । इससे एकात्मता से स्वीकार करने पर भी इस प्रकार अविद्या-निमित्तक देहादि उपाधि के सम्बन्धकृत विशेष (भेद) से अनुज्ञा और परिहार सिद्ध होते हैं । शंका होती है कि अज्ञान जन्य देहसम्बन्धकृत अनुज्ञा परिहार है तो सम्यग्दर्शी ज्ञानी के प्रति अनुज्ञापरिहार अनर्थक प्राप्त (सिद्ध) होते हैं । तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, ज्ञानी के लिये अनुज्ञा परिहार को अनर्थक होना इष्ट ही है कृतार्थ होने से उस ज्ञानी को नियोज्यत्व (विधिनिषेध विषयत्व) अनुपपन्न है । जिसके हेय वा उपादेय वस्तु में ही नियोज्य (दास-भृत्य) भी नियोक्तव्य (आज्ञा का विषय होता है) तो आत्मा से भिन्न हेय वा उपादेय वस्तु को नहीं देखने वाला अद्वैतात्मा को देखता हुआ कैसे नियोज्य (प्रेर्य) होगा । आत्मा ही में नियोज्य हो, ऐसा नहीं हो सकता है ! जिससे भिन्न हेय उपादेय विषयक ही प्रवृत्ति के लिए नियोक्ता से नियोज्य प्रेरित होता है । यदि कहो कि शरीर से भिन्न आत्मदर्शी विवेकी को ही पारलौकिक फलायं कर्मों में नियोज्यत्व होता है । इसी प्रकार आत्मज्ञ को भी नियोज्य होना चाहिये, तो वह

कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म में नियोज्य पुरुष शरीर से मित आत्मा को परोक्ष रूप से जानता है, और इस देहादि सहत्व का अमिमान इसीसे उसको बना रहता है, कि जिससे वर्णाश्रमादि के अमिमान पूर्वक वह कर्मों में प्रवृत्त होता है। इससे व्यतिरेक (शरीर में आत्मत्व का भेद) दर्शों को नियोज्यत्व यद्यपि सत्य है। तथापि आकाश के समान देहादि से असहृत (असंग) आत्मा को नहीं जानने वाला देहाभिमानी भ्रान्त को ही आत्मा के नियोज्यत्व का अमिमान होता है। क्योंकि परोक्ष व्यतिरेक ज्ञान अपरोक्ष भ्रम का निवारण नहीं करता है। देहादि असहृतत्वदर्शी (सहृतत्वदर्शन रहित-भेदबुद्धिरहित सुषुप्त) किसी का भी नियोग नहीं देखा गया है। फिर एकात्मतादर्शी के अनियोग में कहना ही क्या है ? नियोग (विधि) के अभाव होने से सम्यग्दर्शों को यथेष्टाचार प्राप्त होगा ऐसा कुतर्क नहीं करता चाहिये, क्योंकि अमिमान के ही सर्वत्र प्रवर्तक होने से और सम्यग्दर्शों को अमिमान के अभाव से यथेष्टाचार में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु ज्ञानार्थक अम्पस्त विरागादि से रागादि रहित ज्ञानी की प्रारब्धा-नुसारसंग आसक्ति रहित प्रवृत्ति होती है, आसक्ति आदि से अज्ञ का यथेष्टाचार होता है। इससे देह सम्बन्ध से ही अनुज्ञा और परिहार ज्योति आदि के समान होता है। ज्योति (तेज) के एक होते भी ब्रह्माद (भासाशी) श्मशानानि को त्यागा जाता है। अन्य को नहीं। एक ही सूर्य का अपवित्र देश सम्बन्धी प्रकाश त्यागा जाता है। शुचिभूमि में वर्तमान अन्य नहीं। जैसे भूमि के ही अवयव हीरा वंङ्गमणि आदि गृहीत होते हैं, भूमि के अवयव होते भी मृतमानव देहादि नहीं गृहीत होते हैं। उल्टे त्यागे जाते हैं। जैसे गौ के मुत्रपुरीष पवित्रता से परिगृहीत होते हैं, अन्य जाति में वही त्यागे जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

स्याता नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात्। यस्त्वय कर्मफलसम्बन्ध स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्षेत स्वाम्यैकत्वादिति चेत्। न तदेवम्। असन्तते। नहि कर्तुर्भोक्तृश्चात्मन सन्ततः सर्वे शरीरे सम्बन्धोऽस्ति। उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्। उपाध्यमन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तान। ततश्च कर्मव्यतिकर फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥ ४९ ॥

सका होती है कि देहविशेष के योग (सम्बन्ध) से, आत्मा के एक होते भी उस सम्बन्ध के भेद से ही अनुज्ञा परिहार हो सकते हैं, स्थूलदेह के धर्मों का आत्मा में अध्यास से विधि निषेध का विषय आत्मा मास सकता है। तो भी जो वह कर्मफल का सम्बन्ध रूप भोग है, वह आत्मा के एक होने पर व्यतिकीर्ण (सकीर्ण) हो जायगा, क्योंकि स्वामी रूप शरीर आदि से आविष्ट आत्मा एक है, उसीकी भोग होना है। इससे भोक्ता का भेद मानना चाहिये। ऐसी शका होने पर कहते हैं, कि सर्वथा बुद्धात्मा कदा भोक्ता नहीं है, स्थूल से मित सूक्ष्म पुष्टि आदि विविध ही आत्मा कदा

भोक्ता है, और उस आत्मा की असन्तति (सब शरीर में अव्याप्ति) से प्रत्येक शरीर में भिन्नता से इस प्रकार का यह भोग का सांकर्य रूप दोष नहीं है । कर्ता भोक्ता आत्मा का सब शरीरों के साथ सन्तत (नित्य-निरन्तर) सम्बन्ध नहीं है । जिससे उपाधि के अधीन कर्ता भोक्ता जीव है, यह कहा जा चुका है । उपाधि के असन्तान (असन्तति विच्छेद) से सर्वत्र जीव का संतान (सम्बन्ध) नहीं है । उससे कर्म का व्यतिकर वा फल का व्यतिकर (सांकर्य) नहीं होगा ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५० ॥

आभास एव चैव जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः । न स एव साक्षात् । नापि वस्त्वन्तरम् । अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः । एवमप्यव्यतिकर एव कर्मफलयोः । आभासस्य चाविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति, तदव्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः । येषां तु बहव आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैव व्यतिकरः प्राप्नोति । कथम् ? बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगोपवर्गसिद्धिरिति सांख्याः । सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाणूनि मनांस्यचेतनानि । तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगान्नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते । ते चाव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति स संसारः । तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः । तत्र सांख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात्सर्वात्मनां संनिधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसंबन्धः प्राप्नोति । स्यादेतत् । प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वाद् व्यवस्था भविष्यति । अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात् । तथा चानिमोक्षः प्रसज्येतेति । नैतत्सारम् । नह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्, उपपत्त्या तु कयाचिद् व्यवस्थोच्येत । असत्यां पुनरुपपत्तौ कामं मा भूदभिलषितं पुरुषकैवल्यं, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद् व्यतिकरः । काणादानामपि यदैकेनात्मना मनः संयुज्यते तदात्मान्तरैरपि नान्तरीयकः संयोगः स्यात्संनिधानाद्यविशेषात् । ततश्च हेत्वविशेषात्फलाविशेष इत्येकस्यात्मनः सुखदुःखयोगे सर्वात्मनामपि समानं सुखदुःखित्वं प्रसज्येत ॥ ५० ॥

वस्तुतः (रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव) इत्यादि श्रुति के अनुसार, जलगत्, सूर्य के प्रतिबिम्बादि के समान परमात्मा का बुद्धि आदि में आभास (द्रोष परमात्मा की

अभिव्यक्ति) रूप प्रतिबिम्ब ही जीव समझने योग्य है। अनुपहित साक्षात् वह परमात्मा ही व्यावहारिक जीव नहीं है। न सर्वथा उससे भिन्न वस्त्वन्तर रूप जीव है। इससे जैसे एक जलगत सूर्य के प्रतिबिम्बित के कापने से, दूसरा जलगत सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं कापता है, इसी प्रकार एक जीव के कर्मफल सम्बन्धी होने से अन्य जीव को उसी फल का सम्बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार भी कर्म और फल का व्यतिकर ही है। आमास के अविद्याकृत (औपाधिक) होने से तदाश्रित ससार को भी अविद्याकृतत्व की उपपत्ति (सिद्ध) है। इसमें उस अविद्या के विशेष द्वारा पारमार्थिक ब्रह्मात्मभाव का उपदेश की उपपत्ति होती है जिनके मत में बहुत आत्मा है। सब आत्मा सर्वगत है। उनके ही मत में यह कर्म और फल का व्यतिकर प्राप्त होता है। क्योंकि विभु-चैतन्यमात्र स्वरूप वाले निर्गुण निरतिशय बहुत आत्माएँ हैं। उन सब के लिए प्रधान साधारण है। उस प्रधान निमित्तक ही उन आत्मा के भोग और अपवर्ग की सिद्धि होती है। इस प्रकार सांख्यवादी मानते हैं। बहुत्व विभुत्व के होते भी घट कुड्य आदि के समान (जड़) द्रव्यमात्र स्वरूप वाले स्वत (स्वरूप से) अचेतन आत्माएँ हैं। उनके उपकरण (साधन) अणुस्वरूप अचेतन मन हैं। वहाँ आत्मस्वरूप द्रव्यों के और मन स्वरूप द्रव्यों के संयोग से, इच्छा, वृद्धि, मुख, दुःख, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना (संस्कार) रूप नवसंरूपक इच्छादि आत्मा विशेष (असाधारण-) गुण उत्पन्न होते हैं, और वे गुण अव्यतिकर (असाकर्य) पूर्वक प्रत्येक आत्माओं में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, वही संस्कार है। उन नवों आत्मगुणों की अत्यन्त अनुत्पत्ति मोक्ष है। इस प्रकार कणादश्रुति के अनुयायी कहते हैं। तहाँ प्रथम सांख्यों के मत में सब आत्माओं के चैतन्य स्वरूपत्व से और सन्निधानादि के अविशेष से एक के सुख-दुःख सम्बन्ध होने पर सबको सुख-दुःख का सम्बन्ध प्राप्त होता है सांख्यवादी शका करते हैं कि यह महापुरुषों को प्रधानादि के साथ सन्नित्य आदि के अविशेष हो, तो भी प्रधान की प्रवृत्ति के पुरुष के कैवल्यार्थक होने से व्यवस्था होगी। अर्थात् प्रधान ही नियम पूर्वक तत्तत् पुरुषों को भोग देकर मुक्त करेगा इससे व्यतिकर नहीं होगा। अन्यथा (ऐसा नियम नहीं करने पर) अपनी विभूति के व्यापनार्थक प्रधान की प्रवृत्ति सिद्ध होगी, और इस प्रकार अनिमोक्ष की प्राप्ति होगी। परन्तु यह सांख्यों का कथन सार (सत्त्व) नहीं है। क्योंकि जड़ प्रधान की अचेतनता आदि होते भी अपने अभिलषित की सिद्धि निमित्तक व्यवस्था नहीं समझी जा सकती है, किसी उपपत्ति (वृत्ति) से तो कहता चाहिये, और वही जा सकती है। उपपत्ति के नहीं रहने पर अभिलषित पुरुष का कैवल्य यथेष्ट नहीं हो सकता है। व्यवस्था के हेतु के अभाव से व्यतिकर भी प्राप्त होता है। वाणादों के मत में भी जब एक आत्मा के साथ एक मन संयुक्त होता है, तब आत्मन्तरो के साथ भी उस मन का नान्तरीयक (अवस्थ) संयोग होगा। क्योंकि सन्निधानादि सब के साथ तुल्य है। इससे मन के संयोग रूप हेतु के अविशेष होने से सुख दुःखादि रूप फल भी सब आत्माओं को अविशेष (तुल्य) ही होगा। इस

प्रकार एक आत्मा के साथ सुख-दुःख के योग (सम्बन्ध) होने पर सब आत्माओं को भी तुल्य ही सुखित्व दुःखित्व प्राप्त होगा ॥ ५० ॥

स्यादेतत्, अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति, नेत्याह—

शङ्का होती है कि यह मन का संयोग सर्वात्म साधारण हो, परन्तु अदृष्ट निमित्तक सुख दुःखादि का नियम होगा । वहाँ कहते हैं कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि—

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कार्यैर्धर्मधर्मलक्षणमदृष्टमुपाज्यते । सांख्यानां तावत्तदनात्मसमवायि-प्रधानवर्तिप्रधानसाधारण्यान् प्रत्यात्मं सुखदुःखोपभोगस्य नियामकमुपपद्यते । काणादानामपि पूर्ववत्साधारणेनात्ममनःसंयोगेन निर्वर्तितस्यादृष्टस्याप्यस्यैवात्मन इदमदृष्टमिति नियमे हेतुभावादेव एव दोषः ॥ ५१ ॥

आकाश के सम सर्वगत बहुत आत्माओं के प्रत्येक शरीर में बाहर भीतर भेद के बिना तुल्य रूप से सन्निहित (संबद्ध) रहते मन वाक् और शरीर द्वारा अदृष्ट (धर्मा-धर्म) उपाजित होता है । धर्माधर्म स्वरूप अदृष्ट सब आत्माओं की तुल्य वर्तमानता रहते ही उपाजित किया जाता है । सांख्यों के मत में वह अदृष्ट आत्मा में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है, इससे अनात्मा में समवायि है । अर्थात् प्रधान के कार्य रूप बुद्धि में वर्तमान होने से वह अदृष्ट प्रधानवर्ति (प्रधान में रहने वाला) होता है । प्रधान की सब आत्माओं के प्रति साधारणता से प्रत्येक आत्माओं के सुख दुःख के उपभोग का वह नियामक नहीं उपपन्न हो सकता है । काणादो के मत में भी पूर्ववर्णित मन का संयोग के समान साधारण आत्मा और मन के संयोग से सिद्ध अदृष्ट के विषय में भी यह इसी आत्मा का अदृष्ट है इस प्रकार के नियम में हेतु के अभाव से व्यवस्था का अभाव रूप यह दोष है ही ॥ ५१ ॥

स्यादेतत्, अहमिदं फलं प्राप्तवानीदं परिहराणीत्थं प्रयत्नं इत्थं करवाणीत्येवंविधा अभिसंध्यादयः प्रत्यात्मं प्रवर्तमाना अदृष्टस्यात्मनां च स्वस्वामिभावं नियमस्यन्तीति, नेत्याह—

शंका होती है कि यह अदृष्ट साधारण हो, परन्तु रागद्वेषादि से नियम होगा, क्योंकि मैं इस फल को प्राप्त करूँगा ! इस अनिष्ट का परिहार त्याग नाश करूँगा । (इत्थं प्रयते) इस प्रकार प्रयत्न करूँगा, इस प्रकार करूँगा । इस प्रकार के जो अभिसन्धि (चिन्तन संकल्प) आदि प्रत्येक आत्मा में वर्तमान हैं, वे ही अदृष्ट आत्माओं के स्वस्वामीभाव का नियम करेंगे । वहाँ कहते हैं कि ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि—

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

अभिसन्ध्यादीनामपि साधारणेनैवात्ममनःसंयोगेन सर्वात्मसन्निधौ क्रियमाणानां नियमहेतुत्वानुपपत्तेरकदोषानुपपन्न एव ॥ ५२ ॥

साधारण आत्ममनःसंयोग से ही सब आत्माओं के सन्निधि में किये गये अभिसन्धि आदि को भी नियम हेतुत्व की अनुपपत्ति से उक्त अनियम रूप दोष का अनुपपन्न (सम्बन्ध) है ही ॥ ५२ ॥

अभिसन्ध्यादिव्यपि चैवम् ॥ ५२ ॥

अथोच्येत—विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसा संयोगः शरीरावच्छिन्न एवात्मप्रदेशो भविष्यति, अतः प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसन्ध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःखयोश्च भविष्यतीति । तदपि नोपपद्यते । कस्मात् ? अन्तर्भावात् विभुत्वाविशेषाद्धि सर्व एवात्मानः सर्वशरीरेष्वन्तर्भवन्ति । तत्र न वैशेषिकैः शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः वर्तयितुं शक्यः । कल्प्यमानोऽप्ययं निष्प्रदेशस्यात्मनः प्रदेशः । काल्पनिकत्वादेव न पारमार्थिकं कार्यं नियन्तुं शक्नोति । शरीरमपि सर्वात्मसन्निधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति न नियन्तुं शक्यम् । प्रदेशविशेषाभ्युपगमेऽपि च द्वयोरात्मनो समानसुखदुःखभाजो कदाचिदेकेनैव तावच्छरीरेणोपभोगसिद्धिः स्यात् । समानप्रदेशस्यापि द्वयोरात्मनोरदृष्टस्य सम्भवात् । तथाहि—देवदत्तो यस्मिन्प्रदेशे सुखदुःखमन्वभूतस्मात्प्रदेशादपक्रान्ते तच्छरीरे यज्ञदत्तशरीरे च तत्प्रदेशमनुप्राप्ते तस्यापीतरेण समानः सुखदुःखानुभवो दृश्यते स न स्याद्यदि देवदत्तयज्ञदत्तयोः समानप्रदेशमदृष्टं न स्यात् । स्वर्गाद्यनुपभोगप्रसङ्गश्च प्रदेशवादिना स्यात् । ब्राह्मणादिशरीरप्रदेशेष्वदृष्टनिष्पत्तेः प्रदेशान्तरवर्तित्वाच्च स्वर्गाद्युपभोगस्य । सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहूनामात्मना, दृष्टान्ताभावात् । वदतावत्त्व के बहवः समानप्रदेशाश्चेति । रूपादय इति चेत् । न । तेषामपि धर्म्यशोभाभेदाल्लक्षणभेदाच्च । न तु बहूनामात्मना लक्षणभेदोऽस्ति । अन्त्यविशेषवशाद् भेदोपपत्तिरिति चेत् । न । भेदकल्पनाया अन्त्यविशेषकल्पनायाश्चैतरेतराश्रयत्वात् । आकाशादीनामपि विभुत्वं ब्रह्मवादिनोऽसिद्धं कार्यत्वाभ्युपगमात् । तस्मादात्मैकत्वपक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादवृत्ती श्रीशारी-

रकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

— यदि विभु अन्त आत्मवादी बहे कि आत्मा से विभुत्व होते भी शरीर में प्रतिष्ठित स्फिर मन के साथ शरीरावच्छिन्न (शरीरमात्रवृत्ति) आत्मप्रदेश में ही आत्मा का संयोग होगा । इससे प्रदेश वृत्त, अभिसन्ध्यादि की बहृष्ट की और मुख दुःख की

व्यवस्था होगी । मन के संयोग युक्त तत्तत् प्रदेशों के अमिसन्धि आदि तत्तदात्माओं के कहायेंगे तो वह भी कहना उपपन्न नहीं हो सकता है । क्योंकि सब आत्माओं का सब शरीरों के अन्तर (मध्य प्रदेश) में भाव (सत्ता) है । जिससे विभुत्व की विद्योपता (तुल्यता) से सब आत्मा सब शरीर के अन्तर में रहते हैं । सब आत्माओं के सब शरीरों में एक रस रहने से जिस निष्प्रदेश (निरवयव) आत्मा में वैशेषिकों से शरीरावच्छिन्न (शरीरपरिमित) आत्मा के प्रदेशों की कल्पना नहीं की जा सकती है । निष्प्रदेश आत्मा के कल्प्यमान (कल्पित) भी प्रदेश काल्पनिकत्व से (मिथ्यात्व से) ही पारमाथिक कार्य का नियम नहीं कर सकता है । सब आत्माओं के सन्निधि में उत्पन्न होने वाला शरीर भी इस आत्मा ही का है अन्य का नहीं है, इस नियम का विषय नहीं किया जा सकता है, इससे शरीर द्वारा भी भोगादि की व्यवस्था नहीं हो सकती है । प्रदेश विशेष को मानने पर भी समान सुख दुःख के भोक्ता दो आत्मा को भी कभी एक शरीर से ही उपभोग की सिद्धि होगी । क्योंकि समान प्रदेश वाला भी दो आत्माओं के अदृष्टों का सम्भव है । जैसे कि जिस प्रदेश में देवदत्त ने सुख और दुःख का अनुभव किया, उस प्रदेश से उसके शरीर के हट जाने पर और यज्ञदत्त के शरीर के उसी देश में पीछे प्राप्त होने पर उस यज्ञदत्त को भी इतर (देवदत्त) के समान सुख दुःख का अनुभव देखा जाता है वह सुख दुःख का अनुभव नहीं होता, यदि देवदत्त और यज्ञदत्त का समान देश वाला अदृष्ट नहीं होता । इससे आत्मा के भेद से प्रदेश के भेद मानने पर भी प्रदेशों के एक देह में अन्तर्भाव होने से साङ्कर्य की प्राप्ति है । सावयव आत्मवाद की प्राप्ति होती है । आत्मा के प्रदेशवादियों को स्वर्गादि के अनुपभोग की प्राप्ति होती है, क्योंकि ब्राह्मणादि शरीर सम्बन्धी प्रदेश में अदृष्ट की उत्पत्ति है और वह अदृष्ट उसी प्रदेश में अवलम्बित रहता है । स्वर्गादि के उपभोग को उससे प्रदेशान्तरवर्तित्व होता है । इससे प्रदेश का भेद व्यवस्था का हेतु नहीं है । दृष्टान्त के अभाव से बहुत आत्माओं के सर्वगतत्व की अनुपपत्ति है । प्रथम तुम ही तो कहो कि कौन बहुत पदार्थ समान प्रदेश वाले हैं । यदि कहो कि अनेक रूप रस गन्धादि फलादि में समान देश वाले हैं । तो कहना असत्य है, क्योंकि वे भी समान देशवाले नहीं हैं, क्योंकि फलादि में तेज जल भूमि आदि के अंश हैं । वहाँ उन रूपादिकों को भी अपने धर्मों अंशों के साथ अभेद है । अर्थात् रूप तेजोमात्र स्वरूप है । रस जलमात्र है, और गन्ध भूमिमात्र स्वरूप है । तेज आदि तत्त्व स्वरूप ही फलादि हैं । रूपादि के लक्षणों का भी भेद है । जिससे उनका भेद सिद्ध होता है । बहुत आत्माओं के लक्षण का भेद नहीं है । आत्मता मात्र एक स्वरूप है । इससे आत्मा का भेद असिद्ध है । यदि कहो कि स्वयं व्यावृत्त नित्य द्रव्यमात्र वृत्ति वैशेषिकों से स्वीकृत अन्त्य विशेष पदार्थ के वश से आत्मा के भेद की उपपत्ति होती है इससे भेद के लिए अन्य लक्षण भेद की आवश्यकता नहीं है । विशेषरूप लक्षणभेद से ही आत्मा का भेद सिद्ध होता है । तो वह कहना भी नहीं बन सकता है; क्योंकि भेदकल्पना और विशेषकल्पना को अन्योन्याश्रय प्राप्त होता है । क्योंकि

अनात्मा से भेद ज्ञान के लिए तो अन्त्यविशेष की कल्पना नहीं हो सकती है, आत्मत्व से ही अनात्म भेद सिद्ध है, आत्माओं के परस्पर भेद ज्ञान के लिए भी उसकी कल्पना नहीं हो सकती जिससे आत्मा के भेद असिद्ध है। अभी सर्वसम्मत आत्मभेद नहीं है, इससे आत्मभेद के ज्ञान होने पर आत्माओं में विशेष भेद की सिद्धि होगी। विशेष भेद की सिद्धि होने पर आत्मा में भेद का ज्ञान होगा। यह अन्योन्याश्रय है। यदि आकाश काल दिशा के दृष्टान्त से बहुत विभु आत्मा के समवेश वृत्तित्व विभुत्व कहो, तो आकाशादि के कायत्व के अभ्युपगम से ब्रह्मवादी के प्रति आकाशादि के भी विभुत्व असिद्ध है। इससे आत्मा के एकत्व पक्ष में ही सब दोषों का अभाव है। यह सिद्ध हुआ ॥ ५३ ॥

अद्वैतानन्दबोधाय निगुणाय निजात्मने ।

सत्याय सर्वरूपाय ह्यरूपाय नमोनम ॥ १ ॥

शारीरकमीमांसामाष्य के द्वितीय अध्याय का तृतीय पाद समाप्त ॥



द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र पादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः]

प्राणोत्पत्त्यधिकरण (१)

किमिन्द्रियाण्यनादीनि सृज्यन्ते वा परात्मना ।

सृष्टः प्रागृषिनाम्नैषां सद्भावोक्तेरनादिता ॥

एकबुद्ध्या सर्वबुद्धेर्भौतिकत्वाज्जनिश्रुतेः ।

उत्पद्यन्तेऽथ सद्भावः प्रागवान्तरसृष्टितः ॥ २ ॥

आकाशादि के समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं । क्योंकि (एतस्माज्जायते प्राणः) इस परमात्मा से प्राण भी उत्पन्न होता है । इत्यादि श्रुतियाँ साक्षाद् उत्पत्ति को कहने वाली हैं ॥ तो भी तैत्तिरीय श्रुति में सृष्टि से प्रथम प्राणों की सत्ता सुनने से सशय होता है कि इन्द्रियाँ अनादि हैं, अथवा परमात्मा से रची जाती हैं । पूर्वपक्ष है कि सृष्टि से पूर्वकाल में इन इन्द्रियों का ऋषि नाम से सद्भाव (वर्तमानता) कहा गया है, इससे इन्द्रियों को अनादिता है । सिद्धान्त है कि एक ब्रह्म के ज्ञान से सब के ज्ञान का श्रवण से, तथा इन्द्रियों में भौतिकत्व (भूत कार्यत्व) के श्रवण से, और जन्म के श्रवण से, इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं । और सृष्टि से पूर्वकाल में जो इन्द्रियों के सद्भाव का श्रवण है, वह अवान्तर सृष्टि से पूर्वकालिक सद्भाव विषयक है ॥ १-२ ॥

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

वियदादिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधस्तृतीयेन पादेन परिहृतः । चतुर्थेनेदानीं प्राणविषयः परिह्रियते । तत्र तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' (छान्दो० ६।२।३) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तैत्ति० २।१।१) इति चैवमादिपूत्यत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्तिर्नाम्नायते । क्वचिच्चानुत्पत्तिरेवैषामाम्नायते 'असद्वा इदमग्र आसीत् (तै० २।७) 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेजोऽसदासीत्, तदाहुः के ते ऋषय इति, 'प्राणा वाव ऋषयः' इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणात् । अन्यत्र तु प्राणानामप्युत्पत्तिः पठ्यते— 'यथाग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इति, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मु० २।९।८) इति, 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' (प्र० ६।४) इति चैवमादिप्रदेशेषु । तत्र तत्र श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणानिरूपणाच्च प्रतिपत्तिः प्राप्नोति । अथवा प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति प्राप्नोति । अत उत्तरमिदं पठति—'तथा प्राणाः' इति ।

आकाशादिविषयक जो श्रुतियों का विरोध था, वह तृतीय पाद से परिहृत (निवारित) हो चुका है । इस समय चतुर्थ पाद से प्राणविषयक श्रुति विरोध का परिहार किया जाता है । इन्द्रियो की उत्पत्ति, सख्या, स्वरूप विषयक श्रुति का जो परस्पर विरोध भासता है, उसका निवारण किया जाता है । वहाँ प्रयत्न श्रुति कहती है कि (वह सत् ब्रह्म तेज को रचा) (उस ब्रह्मात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि उत्पत्ति प्रकरणों में प्राणों की उत्पत्ति नहीं कही गई है और कही प्राणों की अनुत्पत्ति ही कही जाती है कि (यह जगत् प्रथम असत्-अव्यावृत्त नाम रूप वाला) ही था । वहाँ कोई कहते हैं कि (वह असत् किस स्वरूप का था) उत्तर है कि वे ऋषि उस असत् स्वरूप थे । वहाँ कहते हैं कि ऋषि कौन हैं । उत्तर है कि प्राण ही ऋषि हैं । इस स्थान में उत्पत्ति से प्रथम प्राणों के सद्भाव श्रवण से उत्पत्ति श्रुति के साथ विरोध है, क्योंकि अन्यत्र प्राणों की उत्पत्ति पढ़ी जाती है कि (जेमे प्रज्वलित अग्नि से तुच्छ स्फुल्लिग निकलते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण होते हैं । इस आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, मन उत्पन्न होता है, सब इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं । उस आत्मा से पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक् तथा मन रूप सात इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं । वह प्राण को रचा प्राण से श्रद्धा आकाश वायु तेज जल पृथिवी इन्द्रिय मन अन्न को रचा) इत्यादि प्रदेशों में उत्पत्ति पढ़ी जाती है । इस प्रकार तत्तत् स्थानों में श्रुतियों के विरोध से, और इन में से अन्यतर (एक पक्ष) के निर्धारण के कारण का अनिरूपण (अदर्शन) से अप्रतिपत्ति (अनिश्चय) प्राप्त होता है । अथवा जगत् की उत्पत्ति से पूर्वकाल में प्राणों के सद्भाव के श्रवण से गोणी प्राणों की उत्पत्ति श्रुति है ऐसा प्राप्त होता है ॥ इससे यह उत्तर पढ़ते हैं कि (तथा प्राणा) इति ।

कथं पुनरत्र तथेत्यक्षरानुलोम्यम्, प्रकृतोपमानाभावात् । सर्वगतात्म-
बहुत्ववादिदूषणमतीतान्तरपादान्ते प्रकृत तत्तावन्नोपमानं सभावति, सादृश्या-
भावात् । सादृश्ये हि सत्पुमान् स्यात्—यथा सिंहस्तथा बलवर्मेति । अदृष्ट-
साम्यप्रतिपादनार्थमिति यद्युच्येत, यथाऽदृष्टस्य सर्वात्मसन्निधानुत्पद्यमान-
स्यानियतत्वमेव प्राणानामपि सर्वात्मनः प्रत्यानियतत्वमिति । तदपि देहानियमे-
नैवोक्तत्वात्पुनरुक्तं भवेत् । न च जीवेन प्राणा उपमीयेरन्तिद्वान्तविरोधात् ।
जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता, प्राणानां तुत्पत्तिर्व्याचिख्यासिता । तस्मात्तथेत्य-
सवदमिव प्रतिभाति । न । उदाहरणोपात्तेनाप्युपमानेन सम्बन्धो-
पपत्तेः । अत्र प्राणोत्पत्तिवादिवाक्यजातमुदाहरणम्—‘एतस्मादात्मन सर्वे
प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवास्सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति’ (वृ० २।१।२०)
इत्येवजातीयकम् । तत्र यथा लोकादयः परस्माद् ब्रह्मण उत्पद्यन्ते तथा प्राणा
अपीत्यर्थः । तथा—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

स वायुर्जोतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ (मुण्ड० २।१।३)

इत्येवमादिष्वपि खादिवत्प्राणानामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (जै० अ० ३।४।१५) इत्येवमादिषु व्यवहितोपमानसम्बन्धस्याप्याश्रितत्वात् । यथाज्जीतानन्तरपादाद्युक्ता वियदादयः परस्य ब्रह्माणो विकाराः समधिगतास्तथा प्राणा अपि परस्य ब्रह्माणो विकारा इति योजयितव्यम् । कः पुनः प्राणानां विकारत्वे हेतुः ? श्रुतत्वमेव । ननु केपु चित्प्रदेशेषु न प्राणानामुत्पत्तिः श्रूयत इत्युक्तम् । तदयुक्तम् । प्रदेशान्तरेषु श्रवणात्, । नहि कचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं निवारयितुमुत्सहते । तस्माच्छ्रुतत्वाविशेषादाकाशादिवत्प्राणा अप्युत्पद्यन्त इति सूक्तम् ॥ १ ॥

यहाँ शंका होती है कि सूत्रगत तथा अक्षर शब्द का आनुलोम्य (आज्ञस्य) उपमेय बोधकत्व कैसे हो सकता है, क्योंकि कोई प्रकृत उपमान नहीं है कि जिसके सदृश उपमेय प्राण का बोध हो सके । भूत अनन्तर पूर्वपाद के अन्त में सर्वगत आत्मबहुत्ववादी का दूषण प्रकृत है, वह प्रथम उपमान नहीं हो सकता है, क्योंकि सदृशता का अभाव है । सादृश्य के रहते ही उपमान होता है कि जैसा सिंह होता है वैसा बलवर्मा है । यदि अदृष्ट के साथ साम्य (सादृश्य) का प्रतिपादन के लिए तथा शब्द को कहो कि जैसे सब आत्माओं के सन्निधि में उत्पन्न होने वाला अदृष्ट को अनियतत्व रहता है, इसी प्रकार प्राणों को भी सब आत्माओं के प्रति अनियतत्व है, तो वह प्राण का अनियतत्व वेह के अनियम से ही उक्त होने से पुनरुक्त होगा । सिद्धान्त के विरोध से जीव के साथ प्राण उपमित (सदृश) नहीं हो सकते हैं, जिससे जीव की अनुत्पत्ति कही जा चुकी है और प्राणों की तो उत्पत्ति व्याख्यान की इच्छा का विषय है । जिससे तथा यह पद असंबद्ध के समान प्रतीत होता है । उत्तर है कि असंबद्ध नहीं है । उदाहरण वाक्य में उपात्त (गृहीत) उपमान के साथ सम्बन्ध की उपपत्ति से यह पद सम्बद्ध हो जाता है । प्राण की उत्पत्ति को कहने वाले वाक्य समूह यहाँ उदाहरण हैं । वह वाक्य (इस आत्मा से सब प्राण सब लोक सब देव सब भूत प्रकट होते हैं) इस प्रकार के हैं, वहाँ जैसे लोकादि परब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राण भी उत्पन्न होता है, यह अर्थ है । इसी प्रकार (इस आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, और मन सब इन्द्रियाँ, तथा आकाश वायु तेज जल विश्व को धारण करने वाली भूमि सब आत्मा से उत्पन्न होते हैं) इत्यादि वाक्यों में भी आकाशादि के समान प्राणों की उत्पत्ति होती है, यह समझना चाहिये । दार्ष्टान्तिक के पास में दृष्टान्त कहना चाहिए, इस नियम को स्वीकार करके उदाहरणगत दृष्टान्त कहे गये हैं । उस नियम को नहीं मानने पर कहते हैं कि (पान व्यापच्च तद्वत्) इत्यादि स्थानों में व्यवहित उपमान के साथ

१. यहाँ भाव है कि (वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वरुणादचक्षुष्कपालान्निर्वपेत्) इस श्रुति से यद्यपि प्रतीत होता है कि जो अश्व का दाज लेता है उसको वरुण (जलोदर) रोग होता है, इससे अश्व को

सम्बन्ध को भी आश्रितत्व (स्वीकृत) होने से, जैसे अतीत अनन्तर पाद के आदि में कहे गये आकाशादि परब्रह्म के विकार समधिगत (ज्ञात स्वीकृत) हैं, इसी प्रकार प्राण भी ब्रह्म के विकार हैं। इस प्रकार सूत्र की योजना कर्तव्य है। यदि फिर भी जिज्ञासा हो कि प्राणों के विकारत्व के ज्ञान में क्या हेतु है, तो कहा जाता है कि विकार रूप से श्रुतत्व ही हेतु है। यदि कहो कि कितने प्रदेशों में प्राणों की उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है, उन प्रदेशों के अनुसार अनुत्पत्ति क्यों नहीं मानो जाय, तो सो कथन अयुक्त है, गुणोपसंहार न्याय से श्रुत के अनुसार अश्रुत का नयन होता है। प्रदेशान्तर में प्राणों की उत्पत्ति का श्रवण है। कहीं का अश्रवण अन्यत्र श्रुत का निवारण करने के लिए उत्साह नहीं कर सकता है, इससे श्रुतत्व की तुल्यता से आकाशादि के समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं यह सुन्दर कहा गया है ॥ १ ॥

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

यत्पुनरुक्त—प्रागुत्पत्ते सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुति—इति। तत्प्रत्याह—गौण्यसम्भवमिति। गौण्या अमम्भवो गौण्यसम्भव। नहि प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सम्भवति, प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात्। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।३) इति ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्साधनायेदमाप्नोत्यते—'एतस्माज्जायते प्राण' (मुण्ड० २।१।३) इत्यादि। ना च प्रतिज्ञा प्राणादे समस्तस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वे सति प्रकृतिय्यतिरेकेण विकाराभावात्सिद्धयति। गौण्या तु प्राणानामुत्पत्ति-

प्रतिग्रह लेने पर जितने अश्व का प्रतिग्रह ले, उतने क्षतुष्कपाल में सिद्ध हविष का अग्नि में अर्पण करे, परन्तु वरुणदेव को उद्देश्य करके हविष का अर्पण करे। वहाँ पूर्वमीमांसा में फिर विचार किया गया है कि यह वारुणी दृष्टि (याग) दाता को करना चाहिए या ग्रहीता को करना चाहिये, वहाँ ग्रहीता को करना चाहिये यथाश्रुत वचन के अनुसार पूर्वपक्ष करके, आरम्भ में दाता के कीर्तन से दाता को करना चाहिये यह सिद्धान्त होने पर फिर विचार है कि लौकिक अश्वदान जन्य दोष की निवृत्ति के लिये यह इष्टि है, या वैदिक दानजन्य दोष की निवृत्ति के लिये है, वहाँ पूर्वपक्ष है कि लौकिक के लिये है, सिद्धान्त है कि वैदिक के लिये है। इस विचार को करके कहा गया है कि (पानव्यापच्चतुद्वत्) सोम पान करने पर यदि, व्यापत्, वमन हो जाय तो (एत सौमेनश्यामकं चरुं निर्वपेत्) इस वचन से इष्टि विहित है, वहाँ भी विचार है कि लौकिक सोमपान में इष्टि कर्तव्य है या वैदिक सोमपान में कर्तव्य है। पूर्वपक्ष रूप उक्त सूत्र है कि तद्वत् अश्व प्रतिग्रह इष्टि के पूर्वपक्ष के समान लौकिक सोमपान के वपन में इष्टि कर्तव्य है। वहाँ प्रतिग्रहेष्टि के पूर्वपक्षवत्सूत्रों से व्यवहिन है, उनका जैसे तद्वत् शब्द के साथ में सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार तथा शब्द को व्यवहृत विषदादि के साथ सम्बन्ध होगा, इति संक्षेपः।

श्रुतौ प्रजेयं हीयेत । तथा च प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—‘पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्’ (मुण्ड० २।१।१०) इति, ‘ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्’ (मुण्ड० २।२।११) इति च ! तथा ‘आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्’ इत्येवंजातीयकासु श्रुतिष्वेवैव प्रतिज्ञा योजयितव्या । कथं पुनः प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणम् । नैतन्मूलप्रकृतिविषयम् । ‘अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यधरात्परतः परः’ (मुण्ड० २।१।२) इति मूलप्रकृतेः प्राणादि-समस्तविशेषरहितत्वावधारणात् । अवान्तरप्रकृतिविषयं त्वेतत्स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भाववधारणमिति द्रष्टव्यम् । व्याकृतविषयाणामपि भूयसीनामवस्थानां श्रुतिस्मृत्योः प्रकृतिविकारभावप्रसिद्धेः । विषयधिकरणे हि ‘गौण्यसम्भवात्’ इति पूर्वपक्षसूत्रत्वाद् गौणी जन्मश्रुतिरसम्भवमिति व्याख्यातम् । प्रतिज्ञाहान्या च तत्र सिद्धान्तोऽभिहितः । इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद्गौण्या जन्म-श्रुतेरसम्भवादिति व्याख्यातम् । तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसम्भ-वादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरूपेक्षिता स्यात् ॥ २ ॥

जो यह कहा था कि उत्पत्ति से पूर्वकाल में प्राण की सत्ता के श्रवण से प्राणों की गौणी उत्पत्ति श्रुति है, उसके प्रति कहते हैं कि (गौणी उत्पत्ति के असम्भव से आका-शादि के समान प्राणों की मुख्य ही उत्पत्ति होती है । गौणी के असम्भव को गौण्य-सम्भव कहते हैं । प्राणों की गौणी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि गौणी उत्पत्ति होने पर प्रतिज्ञा की हानि का प्रसंग होगा (हे भगवन् ! किसके विज्ञात होने से यह सब जगत् विज्ञात होता है) । इस प्रकार एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए यह कहा जाता है कि (इससे प्राण उत्पन्न होता है) । वहाँ प्राणादि समस्त जगत् के ब्रह्मविकारत्व होने पर प्रकृति से भिन्नत्व रूप से विकारों के अभाव से वह प्रतिज्ञा सिद्ध होती है । प्राणों की गौणी उत्पत्ति श्रुति होने पर यह प्रतिज्ञा नष्ट हो जायगी । प्रतिज्ञा के अनुसार ही श्रुति प्रतिज्ञात अर्थ का उपसंहार करती है कि (पुरुष इस सब कर्म, तप, ब्रह्म और पर अमृत है । यह सब वरिष्ठ ब्रह्म ही है) । इसी प्रकार (अरे मैत्रेय ! आत्मा ही के दर्शन श्रवण मनन विज्ञान से यह सब विदित होता है) इस प्रकार की श्रुतियों में यही प्रतिज्ञा योजना के योग्य है, इससे प्रतिज्ञा विषयक गौणत्व की शंका नहीं हो सकती क्योंकि उपक्रमोपसंहारादि से प्रतिज्ञा मुख्य है, इससे प्राणोत्पत्ति भी मुख्य है । यदि कहो कि ऐसा होने पर उत्पत्ति से पूर्वकाल में प्राणों के सद्भावका श्रवण कैसे है, तो कहा जाता है कि यह श्रवण मूलप्रकृति विषयक महाप्रलय कालिक ही है क्योंकि (परसे भी पर-ब्रह्मात्मा प्राण मन से रहित शुद्ध है) इस प्रकार मूलप्रकृति को प्राणादि समस्त विशेषों से रहितत्व का अवधारण किया गया है । इससे उत्पत्ति से पूर्वकालिक इस प्राणों के सद्भाव का अवधारण को स्वविकारापेक्ष पूर्वावृत्ति विषयक और अनन्तर प्रकृति विषयक समझना चाहिये । अर्थात् अवान्तर प्रलयकालिक हिरण्यगर्भ

नामक अवान्तर प्रकृतिरूप प्राण के सद्भाव विषयक वह श्रुति है। जिससे व्यावृत्त विषय वाले भी बहुत अवस्थाओं के प्रकृति विकारभाव की प्रसिद्धि (हिरण्यगर्भ सम वर्तताप्रे। आदिकर्ता स भूतानाम्) इत्यादि श्रुति स्मृति में वर्तमान है। इससे अवान्तर प्रकृति विषयक श्रुति हो सकती है। विषय अधिकरण में (गोप्यसम्भवात्) इस प्रकार के पूर्वपक्ष रूप सूत्र होने से उसका व्याख्यान किया गया है कि मुख्य जन्म के असम्भव से आकाश की जन्मश्रुति गौणी है। प्रतिज्ञा की हानि द्वारा वहाँ सिद्धांत कहा गया है। यहाँ तो सिद्धान्त सूत्रत्व के कारण, गौणी जन्मश्रुति के असम्भव से मुख्य जन्म है ऐसा व्याख्यान किया गया है। उसके अनुसार से यहाँ भी (गौणी जन्म श्रुति है, असम्भव से) इस प्रकार व्याख्यान करने वालों से प्रतिज्ञा हानि उपेक्षित होगी। अर्थात् प्रतिज्ञा हानि का निवारण नहीं किया जा सकेगा। इससे यहाँ वैसा व्याख्यान उचित नहीं है ॥ २ ॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

इतश्चाकाशादीनामिव प्राणानामपि मुख्यैव जन्मश्रुति। यज्जायत इत्येकं जन्मवाचिपद प्राणेषु प्राक्श्रुत सदुत्तरेष्वप्याकाशादिष्वनुवर्तते। 'एतस्माज्जायते प्राण' (मु० २।१।३) इत्यत्राकाशादिषु मुख्य जन्मेति प्रतिष्ठापित तत्सामान्यात्प्राणेष्वपि मुख्यमेव जन्म भवितुमर्हति। नह्येकस्मिन्प्रकरण एकस्मिंश्च वाक्य एक शब्द सकृदुच्चरितो बहुभि मन्वध्यमान क्वचिन्मुख्य क्वचिद्गौण इत्यध्यवसातु शक्यम्। वैरूप्यप्रसङ्गात्। तथा 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्रश्न० ६।४) इत्यापि प्राणेषु श्रुत सृजति परेष्वप्युत्पत्तिमत्सु श्रद्धादिष्वनुपज्यते। यत्रापि पश्चाच्छ्रुत उत्पत्तिवचन शब्द पूर्व सम्बध्यते तत्राप्येव एव न्यायः। यथा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' इत्ययमन्ते पठितो व्युच्चरन्तिशब्द पूर्वैरपि प्राणादिभि सम्बध्यते ॥ ३ ॥

— इस वक्ष्यमाण हेतु में भी आकाशादि के समान प्राणादिका भी मुख्य ही जन्मश्रुति है कि जिससे जायते (उत्पन्न होता है) यह एकही जन्म वाचक पद प्राणादि विषयक पूर्व सुना गया हुआ, उत्तर आकाशादि में वही पद अनुवृत्त (सम्बद्ध) होता है। (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इस श्रुति में आकाशादि विषयक जन्म श्रवण को मुख्य जन्मविषयकत्व निश्चित किया जा चुका है, जिसकी समानता से प्राणों में भी मुख्य ही जन्म होने योग्य है। एक प्रकरण में एक वाक्य में एक बार पठित एक शब्द बहुतों के साथ सम्बन्ध वाला होता हुआ कहीं मुख्य और कहीं गौण होता है ऐसा निश्चय नहीं कर सकते हैं क्योंकि इस प्रकार विरूपता (विरुद्ध स्वरूपता) का प्रसंग होता है। इसी प्रकार (वह प्राण को सिरजा, प्राण से श्रद्धा को सिरजा) यहाँ प्राणों में श्रुत सृजति पद उत्तर के भी उत्पत्ति वाले श्रद्धा आदिकों में सम्बन्ध वाला होता है। जहाँ परचात् श्रुत भी उत्पत्ति वाचक शब्द पूर्व पठितों के साथ सम्बद्ध होता है, वहाँ भी यही ध्याय

है। जैसे (सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति) सब प्राणी व्यक्त होते हैं। यहाँ यह अन्त में पढ़ा हुआ व्युच्चरन्ति शब्द पूर्वगठित प्रणाली के साथ भी सम्बन्ध वाला होता है ॥३॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत्' (छा० ६।२।३) इत्येतस्मिन्प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिर्न पठ्यते, तेजोवन्नानामेव च त्रयाणां भूतानामुत्पत्तिश्च वणात्। तथापि ब्रह्मप्रकृतिकतेजोवन्नपूर्वकत्वाभिधानाद्वाक्प्राणमनसां तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानां ब्रह्मप्रभवत्वं सिद्धं भवति। तथाहि—अस्मिन्नेव प्रकरणे तेजोवन्न-पूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामान्नायते--'अन्नमयं हि 'सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति। तत्र यदि तावन्मुख्यमेवैषामन्नादिमयत्वं ततो वर्तते एव ब्रह्मप्रभवत्वम्। अथ भाक्तं तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रियायां श्रवणात् 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इति चोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इति चोपसंहाराच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धे च ब्रह्मकार्यत्वप्रपञ्चनार्थमेव मन आदीनामन्नादिमयत्ववचनमिति गम्यते। तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः ॥४॥

यद्यपि (उस सत् ब्रह्म ने तेज की सृष्टि की) इस प्रकरण में तेज, जल और अन्न इन तीन भूतों की ही उत्पत्ति के श्रवण से प्राणों की उत्पत्ति नहीं पढ़ी गई है, ऐसी प्रतीति होती है। तथापि वाक्, प्राण और मन को ब्रह्मप्रकृतिक (ब्रह्मजन्य) तेज, जल, अन्न-पूर्वकत्व (तेज, जल, अन्न जन्यत्व) के कथन से और अन्य इन्द्रियों में इन्द्रियत्वरूप से वाक् आदि के साथ समानता से सभी प्राणों (इन्द्रियों) को ब्रह्मप्रभवत्व (ब्रह्मजन्यत्व) सिद्ध होता है (अर्थात् सूत्रगत वाक् शब्द प्राण और मन का भी उपलक्षणरूप से बोधक है, इससे वाक् प्राण और मन के तेज आदि जन्यत्व का कथन ही करणत्व रूप सामान्यता से सब इन्द्रियों के ब्रह्मजन्यत्व का बोधक है। जैसे कि इसी तेज आदि की सृष्टि प्रकरण में तेज, जल और अन्नपूर्वकत्व (जन्यत्व) वाक्, प्राण और मन का श्रुति में कहा जाता है कि (हे सोम्य अन्नमय ही मन है, जलमय प्राण है, तेजोमयी वाक् है।) वहाँ यदि ये अन्नादिमयत्व मुख्य हैं, अर्थात् विकारार्थक मयट् प्रत्यय यदि मुख्यार्थक है, तब तो मन आदि सब इन्द्रियों और प्राणों में ब्रह्मजन्यत्व है ही। क्योंकि तेज आदि ब्रह्मजन्य हैं, और तेज आदि से इन्द्रियजन्य है, इससे परम्परा से ब्रह्मजन्य है ही। यदि वायुरूप प्राण को जलविकारत्व की अयुक्तता से जल के अधीन प्राण की शरीर में स्थितिमात्र से (आपोमयः प्राणः) जलमय प्राण है इत्यादि भाक्त (गौण) पद हों, तो भी ब्रह्मकर्तृक (ब्रह्मजन्य) नामरूप से व्याकरण (सृष्टि) के प्रकरण में आपोमयादि के श्रवण से, और (जिसके सुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है) इस उपक्रम से, और (यह सब जगत् इस ब्रह्म का स्वरूप है) इस उपसंहार से, तथा (स प्राणमसृजत्) उसने प्राण को रचा, इस प्रकार

दूसरी श्रुति में स्पष्ट प्राणोत्पत्ति की प्रसिद्धि से, समझा जाता है कि ब्रह्म कार्य को विस्तारपूर्वक समझाने ही के लिए मन आदि के अन्नमयत्वादि का कथन है, इससे भी प्राणों के ब्रह्मविकारत्व की सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

सप्तगत्यधिकरण (२)

सप्तैकादश वाङ्माणि सप्त प्राणा इति श्रुते ।

सप्त स्युर्मूर्धनिष्ठेषु छिद्रेषु च विशेषणात् ।

अशीर्षण्यस्य हस्तादेरपि वेदे समीरणात् ।

जेयान्येकादशाक्षाणि तत्तत्कार्यानुसारतः ॥

(सप्त वै शीर्षण्या) इस प्रकार विशेषितत्व (विशेष कथितत्व) से सात इन्द्रियों की गति (अवगति ज्ञान) होता है इससे इन्द्रियां सात ही हैं, यह पूर्वपक्ष रूप सूत्र है । सशय है कि अक्ष (इन्द्रिय) सात हैं वा ग्यारह हैं । पूर्वपक्ष है कि (सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात्) उस ब्रह्म से सात प्राण होते हैं । इस श्रुति से और शिर में रहने वाले गोलकों में विशेषण (वृत्तित्व कथन) से सात इन्द्रियां होंगी । शिर में नहीं रहने वाले हाथ आदि का भी वेद में कथन से और ग्रहण, गमनादि तथा दर्शन, अव-णादि तत्तत् कार्यों के अनुसार ग्यारह इन्द्रियां समझनी चाहिए ॥ १-२ ॥

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

उत्पत्तिविषय श्रुतिविप्रतिषेध प्राणानां परिहृत । सस्याविषय इदानीं परिह्रियते । तत्र मुख्य प्राणमुपरिष्ठाद्वक्ष्यति । सप्रति तु कतीतरे प्राणा इति मप्रधारयति । श्रुतिविप्रतिपत्तेश्चात्र विशय । क्वचित्सप्त प्राणा सङ्कीर्त्यन्ते—‘सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात्’ (मुण्ड० २।१।८) इति । क्वचिच्चाष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन सङ्कीर्त्यन्ते—‘अष्टौ ग्रहा अप्टावतिग्रहा’ (वृ० ३।२।१) इति । क्वचिन्नव—‘सप्त वै शीर्षण्या प्राणा द्वाववाञ्चौ’ (तै० सं० ५।१।७।१) इति । क्वचिद्दश—नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी’ इति । क्वचिदेकादश—‘दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश’ (वृ० ३।१।४) इति । क्वचिद् द्वादश—‘सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्’ (वृ० २।४।११) इत्यत्र । क्वचित्त्रयोदश—‘चक्षुश्च द्रष्टव्य च’ (वृ० ४।८) इत्यत्र । एव हि विप्रतिपत्ता प्राणेत्या प्रति श्रुतयः । किं तावत्प्राप्तम् ? सप्तैव प्राणा इति । कुत ? गते । यतस्तावन्तोऽवगम्यन्ते—‘सप्त प्राणा प्रभवन्ति तस्मात्’ (मुण्ड० २।१।८) इत्येवविधासु श्रुतिषु । विशेषिताश्चेते ‘सप्त वै शीर्षण्या प्राणा’ इत्यत्र । ननु ‘प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्त’ (मुण्ड० २।१।८) इति बीष्मा श्रूयते, सा सप्तभ्योऽतिरिक्तान्प्राणान्गमयतीति । नेप दोष । पुरुषभेदाभिप्रायेय बीष्मा प्रनिपुरुष सप्त सप्त प्राणा इति । न तत्त्वभेदाभिप्राया सप्त सप्तान्येज्ये प्राणा इति । नन्वष्टत्वादिकापि सख्या प्राणेषूदाहृता कथं सप्तैव स्युः । सत्यमुदाहृता । विरोधात्तस्यतमा सख्या-

व्यवसातव्या । तत्र स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तसंख्याव्यवसानम् । वृत्तिभेदापेक्षं च संख्यान्तरश्रवणमिति मन्यते ॥ ५ ॥

प्राणों की उत्पत्तिविषयक श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है । संख्या विषयक विरोध का इस समय परिहार किया जाता है । उनमें मुख्य प्राण को सूत्रकार आगे कहेंगे । इस समय मुख्य प्राण से अन्य प्राण (इन्द्रियाँ) कितने हैं, इस अर्थ का संप्रधारण (निश्चय-निर्णय) करते हैं । श्रुति के विरोध से यहाँ विशय (संशय) है । कहीं सात प्राण कहे जाते हैं कि (उस पुरुष से सात प्राण होते हैं) और कहीं आठ प्राण ग्रहत्व (वन्धकत्व) गुण युक्त कहे जाते हैं कि (आठ इन्द्रिय ग्रह हैं, और उनके आठ विषय, आठ अतिग्रह हैं) और कहीं नव कहे जाते हैं कि (सात सिर में रहने वाले प्राण हैं, और दो नीचे के हैं) और कहीं दश कहे जाते हैं कि (दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिका और वाक् ये सात शिर वाले और गुदा, लिङ्ग ये नव पुरुष में प्राण हैं, और नामि दशमी है) कहीं ग्यारह कहे जाते हैं कि (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय रूप से दश पुरुष में प्राण हैं और आत्मा (मन) ग्यारवां है ।) कहीं बारह कहे जाते हैं (सब स्पर्शों का त्वक् एक आश्रय है) इस स्थान में बुद्धिसहित उक्त ग्यारह को प्राण (इन्द्रिय) कहे गये हैं । कहीं तेरह कहे गये हैं । (चक्षुश्च द्रष्टव्यं च) इस स्थान में अहं-कार सहित उक्त द्वादश को इन्द्रिय कहा गया है । इस प्रकार से प्राणों की इयत्ता (संख्याकृत परिमाण) के प्रति श्रुतियाँ विप्रतिपन्न (परस्पर विरुद्ध) हैं । यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसा परामर्श होने पर पूर्वपक्ष होता है कि सात ही प्राण हैं, ऐसा प्राप्त होता है । क्योंकि सबसे प्रथम श्रुति में सात संख्या की गति (अवगति) होती है । जिससे (उस पुरुष में सात प्राण होते हैं) इस प्रकार की श्रुतियों में तावान् (सात) प्राण अवगत (प्रतीत) होते हैं । (सात शीर्षण्य प्राण हैं) इस श्रुति में ये सात प्राण विशेषित हैं कि जो शीर्षण्य सात हैं, वही प्राण है । इससे अवगति और विशेषितत्व रूप हेतु से शिरवृत्ति ही सात प्राण हैं, जो शिरवृत्ति नहीं हैं, वे प्राण नहीं हैं । यद्यपि (सब प्राणी के शरीर वा हृदयरूप गुहा में सुषुप्तिकाल में शयन करने वाले अपने-अपने स्थानों में निहित (स्थापित) प्राण सात-सात हैं । इस वोप्सा की श्रुति होती है, और वह वोप्सा सात से अतिरिक्त (अधिक) प्राण का बोध कराती है । तथापि यह दोष नहीं है, जिससे पुरुषभेद के अमिप्राय से यह वोप्सा है कि प्रत्येक पुरुष (प्राणी) में सात-सात प्राण हैं । तत्त्व (वस्तु) के भेद के अमिप्राय से वोप्सा नहीं है कि सात-सात अन्य अन्य-अन्य प्राण हैं । शंका होती है कि प्राणवृत्ति अष्टत्व आदि संख्या भी उदाहृत (कथित) हो चुकी है, फिर सप्त ही संख्या कैसे निश्चित हो सकती है । तो उत्तर है कि अष्टत्वादि संख्या उदाहृत हुई है, यह बात सत्य है, तथापि परस्पर विरोध से इनमें से अन्यतम (कोई एक) संख्या निश्चित कर्तव्य है, यहाँ स्तोक (अल्प) कल्पना के अनुसार से सात संख्या का निश्चय है । सात की ही वृत्तिभेद की

अपेक्षा से उक्त तेरह सख्या तक का श्रवण है, तथा चित्तरूप वृत्तिभेद से चौदह भी मानने योग्य है । इस प्रकार पूर्वपक्षी मानता है ॥ ५ ॥

अत्रोच्यते—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ता प्राणा श्रूयन्ते—‘हस्तौ वे ग्रह स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्या हि कर्म करोति’ (वृ० ३।२।८) इत्येवमाद्यासु श्रुतिषु । स्थिते च सप्तत्वातिरेके सप्तत्वमन्तर्भावाच्छ्रव्यते सम्भावयितुम् । हीनाधिकसख्याविप्रतिपत्तौ ह्याधिका सख्या सग्राह्या भवति तस्या हीनान्तर्भवति ननु हीनायामधिका । अतश्च नैव मन्तव्यं स्तोककल्पनानुरोधात्ममेव प्राणा स्युरिति । उत्तरमस्यानुरोधात्वेकादशमेव ते प्राणा स्युः । तथा चोदाहृता श्रुति—‘दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश’ (वृ० ३।१।४) इति । आत्मशब्देन चात्रान्तकरण परिगृह्यते, करणाधिकारात् । नन्वेकादशत्वादप्यधिके द्वादशत्रयोदशत्वे उदाहृते । सत्यमुदाहृते नत्वेकादशस्य कार्यजातेभ्योर्ग्रहक कार्यजानमस्ति यदर्थमधिक करण कल्प्येत । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषया पञ्च बुद्धिभेदास्तदर्थानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वचनादानविहरणोत्सर्गनिन्दा पञ्च कर्मभेदास्तदर्थानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । सर्वार्थविषय त्रेकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम् । तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद्विन्नवद्वयपदिश्यते—‘मनो बुद्धिरहकारश्च’ इति । तथा च श्रुति कामाद्या नानाविधा वृत्तोरनुक्रमग्रह—‘एतत्सर्वं मन एव’ (वृ० ३।१।३) इति ।

यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि—

हस्त (कर) आदिक भी सात से अन्य अतिरिक्त (अधिक) प्राण सुने जाते हैं । कि (हस्त ही ग्रह है, वह आदान (ग्रहण) रूप कर्मात्मक अतिग्रह से गृहीत है, जिससे हाथों से कर्म करता है) इत्यादि श्रुतियों में अधिक प्राण सुने जाते हैं । सत्त्व से अतिरेक (अधिक) सख्या के स्थिर होने पर, उस अधिक सख्या में अल्प के अन्तर्भाव रूप से सत्त्व की सम्भावना कर सकते हैं । न्यून और अधिक सख्या के विरोध होने पर, अधिक सख्या ही सग्राह्य होती है, और न्यून सख्या अन्तर्गत होती है । न्यून में अधिक अन्तर्भूत नहीं हो सकती है । इसी से ऐसा नहीं मानना चाहिये कि अल्पकल्पना के अनुसार से सात ही प्राण हो सकते हैं । किन्तु उत्तर की सख्या के अनुसार ग्यारह ही वे प्राण हो सकते हैं । इसी प्रकार श्रुति उदाहृत हो चुकी है कि (पुरुष में ये दश प्राण हैं और ग्यारहवाँ आत्मा है) यहाँ करण के प्रकरणसे आत्म शब्द से मन परिगृहीत होता है । यद्यपि एकादशत्व से भी अधिक द्वादशत्व, त्रयोदशत्व (चारह तेरह) सख्या उदाहृत हुई है, वह सत्य ही उदाहृत हुई है । तथापि बुद्धि, अहकार और चित्त एक अन्त करण के अवस्थानविशेष, वृत्तिविशेष रूप हैं ।

श्रवणादि ग्यारह कार्यसमूह (इन्द्रियों के व्यापार समूह) से अधिक कोई कार्य समूह नहीं हैं कि जिनके लिए अधिक करण (इन्द्रिय) की कल्पना की जाय । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनको विषय करने वाले (प्रकाशने वाले) पाँच प्रकार के ज्ञान होते हैं, इससे शब्दादिविषयक पाँच ज्ञान के भेद हैं । उनके लिए पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं । वचन (कथन), आदान (ग्रहण), विहरण (गमन), उत्सर्ग (मल का त्याग), आनन्द, ये पाँच कर्मों के भेद हैं । उनके लिये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं । सर्वार्थविषयक (बाह्य-भीतर सब पदार्थ को विषय करने वाला) तथा त्रैकालिक वस्तु को अनुमानादि द्वारा विषय करने से त्रैकालिक वस्तुविषयक वृत्ति वाला और अनेक वृत्ति वाला एक मन है । वह मन ही वृत्ति के भेद से कहीं भिन्न के समान कहा जाता है, जैसे कि (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, इस चार रूप से एकही मन कहा जाता है । इसी प्रकार श्रुति भी कामादि नाना प्रकार की वृत्तियों का अनुक्रमण (क्रम से कथन) करके कहती है कि ये कामादि सब मन स्वरूप ही हैं ।

अपिच सप्तैव शीर्षण्यान्प्राणानभिमान्यमानस्य चत्वार एव प्राणा अभि-
मताः स्युः । स्थानभेदाद्व्येते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे
नासिके एका वाक् इति । नच तावतामेव वृत्तिभेदा इतरे प्राणा इति शक्यते
वक्तुम्, हस्तादिवृत्तीनामत्यन्तविजातीयत्वात् । तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा
नाभिर्दशमी' इत्यत्रापि देहच्छिद्रभेदाभिप्रायेणैव दश प्राणा उच्यन्ते न
प्राणतत्त्वभेदाभिप्रायेण । नाभिर्दशमोति वचनात् । नहि नाभिर्नाम कश्चि-
त्प्राणः प्रसिद्धोऽस्ति । मुख्यस्य तु प्राणस्य भवति नाभिरप्येकं विशेषा-
यतनमित्यतो नाभिर्दशमीत्युच्यते । क्वचिदुपासनार्थं कतिचित्प्राणा गण्य-
न्ते क्वचित्प्रदर्शनार्थम् । तदेवं विचित्रे प्राणेत्याम्नाने सति क्व किं परमा-
म्नानमिति विवेक्तव्यम् । कार्यजातवशात्त्वेकादशत्वाम्नानं प्राणविषयं प्रमाण-
मिति स्थितम् ।

इयमपरा सूत्रद्वययोजना । सप्तैव प्राणाः स्युर्यतः सप्तानामेव गतिः श्रूयते—
'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'
(वृ० ४।४।२) । इत्यत्र । ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र पठ्यते, तत्कथं सप्तानामेव
गतिः प्रतिज्ञायत इति । विशेषितत्वादित्याह । सप्तैव हि प्राणाश्चक्षुरादय-
स्त्वक्पर्यन्ता विशेषिता इह प्रकृताः 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्तते
ऽथारूपजो भवति' (वृ० ४।४।१) 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' (वृ० ४।४।२)
इत्येवमादिनानुक्रमेण । प्रकृतगामी च सर्वशब्दो भवति यथा सर्वे ब्राह्मणा
भोजयितव्या इति ये निमन्त्रिताः प्रकृता ब्राह्मणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते
नान्ये । एवमिहापि ये प्रकृताः सप्त प्राणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नान्य
इति । नन्वत्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तं, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम् । नैष

दोष । मनोविज्ञानयोस्तत्त्वाभेदाद् वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः । तस्मात्सप्तैव प्राणा इति ।

दूसरी बात है कि शिरवृत्ति सात प्राण को ही मानने वालों के चार ही प्राण अभिमत (स्वीकृत) होंगे । स्थान के भेद से ये चार ही प्राण सात-सात गिने जाते हैं कि (दो श्रोत्र हैं, दो नेत्र हैं, दो नासिका हैं, एक वाक् है) कान, नेत्र, नासिका दो-दो गोलको में इन्द्रिय एक-एक ही है, इनका विचार विशेषरूप से न्यायसूत्र और भाष्य आदि में देखने योग्य है, यहाँ इतना ही समझना चाहिये कि विषयादि के भेद से इन्द्रियो के भेद की सिद्धि होती है तथा श्रुति से होती है । यहाँ विषय शब्द एक है, उसके ज्ञान के लिये श्रोत्र इन्द्रिय भी एक है, सावयव है, दोनों स्थान में रहता है । इसी प्रकार नेत्र, नासिका को भी समझना चाहिये । तावत् सात शिरवृत्ति प्राणों के ही वृत्तिभेद रूप अन्य सब प्राण हैं, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि हस्तादि की वृत्तियाँ (व्यापार) अत्यन्त विजातीय हैं, साजात्य में वृत्ति-वृत्तिमदभाव होता है । इसी प्रकार (पुरुष में नव ही प्राण हैं, नामि दशमी है) यहाँ भी देह के छिद्रभेद के अभिप्राय से ही दश प्राण कहे गये हैं प्राणवस्तु के भेद के अभिप्राय से नहीं कहे गये हैं, वह नामि दशमी इस वचन से समझना चाहिये, जिससे नामिनामक कोई प्राण प्रसिद्ध नहीं है । मुख्य प्राण का तो नामि भी एक विशेष स्थान है, इससे नामि दशमी इस प्रकार कही जाती है । कही उपासना के लिये कितने प्राण गिने जाते हैं, और कही प्रदर्शनार्थक गिनते हैं (सप्त प्राणाः प्रमचन्ति तस्मात्) यहाँ उपासना के लिए गणना है । (अष्टौ ग्रहाः) यहाँ प्रदर्शनार्थ (उपलक्षणाार्थक) आठ का ग्रहण है । पूर्व कही रीति से इस प्रकार प्राण की इयत्ताविषयक श्रुति के विचित्र होने से कहाँ किस अर्थपरव श्रुति है, यह विवेक करने योग्य है । कायंसमूह के वश से तो प्राण विषयक एकादशत्व की श्रुति प्रमाण है यह स्थित हुआ ।

एव प्राप्ते ब्रूम — हस्तादयस्त्वपरे सप्तम्योऽतिरिक्ता प्राणाः प्रतीयन्ते—‘हस्तौ वै ग्रहः’ (वृ० ३।२।८) इत्यादिश्रुतिषु । ग्रहत्व च बन्धनभावो गृह्यते, बध्यते क्षेत्रज्ञोऽनेन ग्रहसङ्गकेन बन्धनेनेति । न च क्षेत्रज्ञो नैकस्मिन्नेव शरीरे बध्यते, शरीरान्तरेष्वपि तुल्यत्वाद्बन्धनस्य । तस्माच्छरीरान्तरसंचारीद ग्रहसङ्गक बन्धनमित्यर्थादुक्तं भवति । तथा च स्मृति —

पुण्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते ।

तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च ॥

इति प्राङ्मोक्षाद् ग्रहसङ्गकेनानेन बन्धनेनाविवोगः दर्शयति । आयवर्णे च विषयेन्द्रियानुक्रमणे ‘चक्षुश्च द्रष्टव्यं च’ इत्यत्र तुल्यबद्धस्तादीनीन्द्रियाणि सविषयाप्यनुक्रामति—‘हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयिनव्यं च पादौ च गन्तव्यं च’ (प्र० ४।८) इति । पायुश्च विमर्जयिनव्यं च तथा ‘दशमे पुरो प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति’ (वृ०

३।९।४) इत्येकादशानां प्राणानामुत्क्रान्तिं दर्शयति । सर्वशब्दोऽपि च प्राण-
शब्देन सम्बध्यमानोऽशेषान्प्राणानभिदधानो न प्रकरणवशेन सप्तस्वेवावस्था-
पयितुं शक्यते, प्रकरणाच्छब्दस्य बलीयस्त्वात् । सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या
इत्यत्रापि सर्वपामेवावनिवर्तिनां ब्राह्मणानां ग्रहणं न्याय्यं, सर्वशब्दसामर्थ्यात् ।
सर्वभोजनासम्भवात् तत्र निमन्त्रितमात्रविषया सर्वशब्दस्य वृत्तिराश्रिता ।
इह तु न किञ्च सर्वशब्दार्थसंकोचने कारणमस्ति । तस्मात्सर्वशब्देनात्राशेषाणां
ब्राह्मणानां परिग्रहः । प्रदर्शनार्थं च सप्तानामनुक्रमणमित्यनवद्यम् । तस्मादेका-
दशैव प्राणाः शब्दतः कार्यतश्चेति सिद्धम् ॥ ६ ॥

प्रथम के व्याख्यान में यह अखि है कि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्-मन में सप्तत्व
की अवगति है, और शिरवृत्ति चार को ही विशेषितत्व है, इससे हेतु में व्यधिकरणता
है । शिरवृत्ति प्राण की सात संख्या में दोष है, क्योंकि वहाँ सात संख्या है नहीं ।
इससे भाष्यकार कहते हैं कि उक्त दोनों सूत्रों की यह अन्य योजना (पदान्वय-व्या-
ख्यान) है कि सात ही प्राण सिद्ध होंगे, जिससे मरणकाल में जीव के साथ, चक्षु,
नासिका, रसना, वाक्, श्रोत्र मन और त्वक्—इन सात की ही गति (उत्क्रान्ति)
सुनी जाती है कि (उस जीव के उत्क्रमण करते समय पीछे प्राण भी उत्क्रमण करता
है, और प्राण के उत्क्रमण, ऊर्ध्वगमन करने पर सब प्राण, इन्द्रियाँ, ऊर्ध्वगमन करते
हैं) यहाँ उन चक्षु आदि सातों की गति सुनी जाती है । यदि कहा जाय कि सर्व शब्द
भी यहाँ पड़ा जाता है, तो सात की ही गति की प्रतिज्ञा कैसे की जा सकती है । तो
कहते हैं कि विशेषितत्व से सात की गति की प्रतिज्ञा होती है । जिससे सात ही चक्षु
आदि और त्वक् प्राण यहाँ विशेषित (विशेषता युक्त) प्रकृति हैं कि (वह यह चक्षु
में रहने वाला सूर्य का अंशरूप पुरुष जिस काल में बाहर देश से निवृत्ति होती है,
तब यह जीव ज्ञान से रहित हो जाता है) देवांश के देव से प्रविष्ट होने पर लिंगशरीर
के अंशरूप चक्षु हृदय में मन के साथ एक हो जाता है । उस समय पास के लोग
कहते हैं कि अब यह नहीं देखता है) इत्यादि अनुक्रमण (अनुकथन रीति) से सात
ही विशेषित हैं । सर्व शब्द प्रकृतगामी (बोधक) होता है । जैसे कि सब ब्राह्मण
भोजयितव्य (भोजन कराने योग्य) हैं, ऐसा कहने पर जो निमन्त्रित प्रकृत ब्राह्मण
रहते हैं, वे ही सर्व शब्द से कहे जाते हैं, अन्य नहीं । इसी प्रकार यहाँ भी जो प्रकृत
सात प्राण हैं वे ही सर्व शब्द से कहे जाते हैं अन्य नहीं । शका होती है कि अष्टम
विज्ञान (बुद्धि) भी यहाँ समनुक्रान्त (सहगामी रूप से पठित) है फिर सात ही का
अनुक्रमण (अनुगमन) कैसे है । उत्तर है कि मन और विज्ञान में तत्त्व (वस्तु) के
अभेद होने से यह दोष नहीं है । एक अन्तःकरण के मन-बुद्धिरूप वृत्ति के भेद रहते
भी वस्तुदृष्टि से सप्तत्व को उपपत्ति होती है । इससे सात ही प्राण हैं ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि हाथ आदिक भी सात से अधिक अन्य

प्राण (हस्तो च ग्रह) हाथ निश्चित बन्धन का हेतु है । इत्यादि श्रुतियों में प्रतीत होते हैं उनमें ग्रहत्व, बन्धनत्व रूप समझा जाता है । क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इस ग्रह नामक बन्धन से बाँधा जाता है, इससे यह ग्रह है । वह क्षेत्रज्ञ एक ही शरीर में नहीं बाँधा जाता है, जिससे दूसरे शरीरों में भी बन्धन की तुल्यता है । इससे सर्वत्र बाँधा जाता है । इससे उक्त सात चक्षु आदि के समान हाथ आदि भी जीव के साथ शरीरान्तर में संचारी (गमनशील) ये ग्रहसंज्ञक बन्धन हैं, यह अर्थात् उक्त होता है । इसी प्रकार स्मृति कहती है कि (वह जीवात्मा प्राणादिस्वरूप पुण्ड्रक नामक लिङ्ग सूक्ष्म शरीर से युक्त होता है । उस लिङ्ग से बद्ध को ससार बन्धन है, उससे मुक्त को ससार से मुक्ति है) यह स्मृति मोक्ष से पूर्व काल में ग्रह नामक इस बन्धन से अवियोग दर्शाती है । आथर्वण वचन में विषय और इन्द्रियों के अनुक्रमण (अनुगमन) प्रकरण में (चक्षु और द्रष्टव्य स्वापकाल में आत्मा में गमन करते हैं) इस स्थान में चक्षुआदि के साथ तुल्यता वाले विषय सहित हस्तादि इन्द्रियों का अनुक्रमण (अनुबन्धन) श्रुति करती है कि (हाथ और आदातव्य वस्तु उपस्थ और आनन्दयितव्य वस्तु, पायु (गुदा) और विसर्जयितव्य वस्तु, पाद और गन्तव्य सब स्वापकाल में आत्मगत हो जाते हैं) । इसी प्रकार (पुरुष में ये दश प्राण हैं आत्मा एकादश है । वे जब इस मर्त्य शरीर में उत्क्रमण करते हैं, तब इसके सम्बन्धियों को रूलाते हैं, इससे शब्द कहाते हैं) यह श्रुति ग्यारहों प्राणों की उल्लान्ति दर्शाती है । प्राण शब्द के साथ सम्बन्धित (सम्बन्धयुक्त) सर्व शब्द भी अशेष (सम्पूर्ण) प्राण को कहता हुआ, प्रकरणवश से सात में ही अवस्थापन (स्थिर) नहीं किया जा सकता है । जिससे प्रकरण से शब्द (श्रुति) को अतिवलत्व होता है (सब ब्राह्मण भोजयितव्य हैं) इस वाक्य में भी भूमिवर्ती सब ब्राह्मणों का ग्रहण ही सर्वशब्द के सामर्थ्य से व्यापयुक्त है । किन्तु सबके भोजन के असम्भव से वहाँ निमग्नित मात्र विषयक सर्व शब्द की वृत्ति आश्रित होती है, मानी जाती है यहाँ तो सर्व शब्दार्थ के सकोचन में कोई कोई कारण नहीं है । इससे सर्व शब्द से यहाँ अशेष प्राणों का परिग्रह होता है । प्रदर्शन के लिए सात का अनुक्रमण है इससे निर्दोष है । इससे शब्द द्वारा और कार्य द्वारा ग्यारह प्राण हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

प्राणानुत्वाधिकरण (३)

व्यापीन्यणूनि वाञ्छाणि सारत्या व्यापित्वमृचिरे ।

वृत्तिलामस्तत्र तत्र देहे कर्मवशाद्भवेत् ।

देहस्थवृत्तिमद्भागेष्वेवाक्षत्व समाप्यताम् ।

उत्क्रान्त्यादिश्रुतेस्तानि ह्यणूनि स्युरदर्शनात् ॥

उक्त इन्द्रियां अणु (सूक्ष्म परिच्छिन्न) हैं । यहाँ मतभेद से संशय है कि इन्द्रियां, व्यापक हैं, वा अणु हैं । पूर्वपक्ष है कि साख्यवादी अह्वार के कार्यरूप इन्द्रियों को ससार मंडल में व्यापक कहते हैं । तत्तत् देहों में कर्मवश से परिच्छिन्न वृत्ति का लाम

होता है । सिद्धान्त है कि देहस्थ वृत्तिवाले भागों में ही इन्द्रियत्व समाप्त होता हो तो हो, क्योंकि उत्क्रान्ति आदि के श्रवण से और उत्क्रमण काल में अदर्शन से वे इन्द्रियां अणु ही हैं ॥ १-२ ॥

अणवश्च ॥ ७ ॥

अधुना प्राणानामेव स्वभावान्तरमभ्युच्चिनोति । अणवश्चैते प्रकृताः प्राणाः प्रतिपत्तव्याः । अणुत्वं चैषां सूक्ष्मपरिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वं, कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसङ्गात् । सूक्ष्मा एते प्राणाः स्थूलाश्चेत्स्युर्मरणकाले शरीरान्निर्गच्छन्तो विलादहिरिवोपलभ्येरन्म्रयमाणस्य पार्श्वस्थैः परिच्छिन्नाश्चैते प्राणाः सर्वगताश्चेत्स्युत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपः स्यात् । तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिध्येत् । सर्वगतानामपि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेत् । न वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः । यदेव ह्युपलब्धसाधनं वृत्तिरन्यद्वा तस्यैव नः करणत्वं संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका । तस्मात्सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्च प्राणा इत्यध्यवस्यामः ॥ ७ ॥

अब इस समय प्राणों के अन्य स्वभाव का प्रासङ्गिक कथन सूत्रकार करते हैं । कि ये प्रकृत इन्द्रियरूप प्राण अणु समझने योग्य हैं । इनके अणुत्व, सूक्ष्मत्व (उद्भूत-रूप स्पर्शरहितत्व) और परिच्छेद (अल्पत्व) स्वरूप है, परमाणुतुल्यत्व रूप अणुत्व नहीं है । परमाणुतुल्यता होने पर त्वक् इन्द्रिय से सम्पूर्ण देहव्यापि कार्य की अनुपपत्ति का प्रसङ्ग होगा । इससे इन्द्रियां परमाणुतुल्य नहीं हैं । ये प्राण सूक्ष्म हैं । यदि स्थूल होते तो मरणकाल में विल से निकलते हुए सपों के समान शरीर से निकलते हुए मरते हुए के पार्श्ववर्ती से उपलब्ध होते, देखे जाते । ये परिच्छिन्न हैं । यदि सर्वगत हों तो उत्क्रान्ति गति और आगति श्रुति का विरोध बाध होगा । जीव के तद्गुणसारत्व (बुद्धि आदि उपाधिकृत अल्पत्वादि) की सिद्धि नहीं होगी । यदि (प्राणाः सर्वेऽनन्ताः) इस वचन के बल से प्राणों को सर्वगत मानकर कहा जाय कि सर्वगत भी इन प्राणों का वृत्तिलाभ शरीर देश में होगा, जिससे तद्गुणसारत्व आदि की सिद्धि होगी, तो वृत्तिमात्र के करणत्व की उपपत्ति से वह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि वृत्ति वा वृत्ति से अन्य जो ही ज्ञानादि का साधन है, उसी का करणत्व हमें इष्ट है । संज्ञामात्र में विवाद है । इससे करण की व्यापित्व कल्पना निरर्थक है । इससे सूक्ष्म और परिच्छिन्न प्राण हैं, ऐसा अध्यवसाय करते हैं । अनन्तता की श्रुति उपासनार्थक है, इससे उत्क्रान्ति आदि श्रुति के साथ विरोध नहीं है । यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

प्राणश्रेष्ठ्याधिकरण ॥ ४ ॥

मुख्यः प्राणः स्यादनादिर्जायते वा न जायते ।
आनीदिति प्राणचेष्टा द्राक्सृष्टेः श्रूयते यतः ।
आनीदिति ब्रह्मतत्त्वं प्रोक्तं वातनिषेधनात् ।
एतस्माज्जायते प्राण इत्युक्तेरेष जायते ॥

श्रेष्ठ (मुख्य) प्राण भी अन्य प्राणों के ही समान उत्पन्न होते हैं, और अणु हैं । यहाँ सशय होता है कि मुख्य प्राण अनादि है, अथवा उत्पन्न होते हैं । पूर्वपक्ष है ऋग्वेद में सृष्टि से पूर्वकाल में (एक ब्रह्म आनीत्) (एक ब्रह्म प्राणयुक्त या) इस कथन से जिससे प्राण की चेष्टा 'व्यापार' सुनी जाती है उससे प्राण नहीं उत्पन्न होता है । क्योंकि 'आनीत्' यह '०त् प्राणने' इस धातु का रूप है । सिद्धान्त है कि आनीत् के साथ ही 'अवात' पडा हुआ है, इससे आनीत् इसका प्राण क्रिया युक्त अर्थ नहीं है किन्तु आनीत् का आसीत् अर्थ है, इससे आनीद यह ब्रह्मत्व कहा गया है । वायु के निषेध से तथा (इससे प्राण उत्पन्न होता है), इस उक्ति से सिद्ध होता है कि यह प्राण उत्पन्न होता है ॥ १-२ ॥

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद्ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति । तच्चाविशेषणैव सर्वप्राणानां ब्रह्मविकारत्वमाख्यातम् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति सेन्द्रियमनोव्यतिरेकेण प्राणस्योत्पत्तिश्रवणात् । 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।८) इत्यादिश्रवणेभ्यश्च । किमर्थं पुनरतिदेश ? अधिका-
शङ्कापाकरणार्थं । नासदानीये हि ब्रह्मप्रधाने सूक्ते मन्त्रवर्णो भवति 'न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्नु आसीत्प्रकेन । आनीदवात स्वधया तदेक तस्माद्ब्रह्मन् पर किञ्चनास' (ऋ० स० ८।७।१७) इति । आनीदिति प्राणकर्मोपादानात्प्रागुत्पत्ते सन्तमिव प्राण सूचयति । तस्मादज प्राण इति जायते कस्यचिन्मति । तामतिदेशेनापनुदति आनीच्छद्दोऽपि न प्रागुत्पत्ते प्राण-
सद्भाव सूचयति । अवातमिति विशेषणात् । 'अप्राणो ह्यमना' शुभ्र' इति च मूलप्रकृते प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य दशितत्वात् । तस्मात्कारणमद्भाव-
प्रदर्शनार्थं एवायमानीच्छद् इति । श्रेष्ठ इति च मुख्य प्राणमभिधेयमिति—'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) इति श्रुतिनिर्देशात् । ज्येष्ठश्च प्राणः शुक्रनिषेक-
कालादारभ्य तस्य वृत्तिलाभात् । न चेत्तस्य तदानीं वृत्तिलाभः स्यादानीं निषेक-
शुक्रं पूयेत न सम्भवेद्वा । श्रौत्रादीनां तु कर्णशष्पकृत्यादिस्थानविभागनिष्पत्तौ वृत्तिलाभान्न ज्येष्ठत्वम् । श्रेष्ठश्च प्राणो गुणाधिक्यात्, 'न वै शय्यामस्वदृते जीवितुम्' (वृ० ६।१।३) इति श्रुते ॥ ८ ॥

मुख्य प्राण भी अन्य प्राण के समान ब्रह्म का विकार है, इस प्रकार अतिदेश करते हैं । वह ब्रह्मविकारत्व सब गौण-मुख्य प्राणों का अविशेष रूप से ही श्रुति से आख्यात (कथित) है, कि (इस ब्रह्म से प्राण उत्पन्न होता है, मन उत्पन्न होता है और इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं) इस प्रकार मन सहित इन्द्रियो से भिन्न प्राण की उत्पत्ति

मुनने से अन्य के तुल्य ही प्राण की उत्पत्ति सिद्ध होती है । (उसने प्राण को सिरजा) इत्यादि श्रवण से भी प्राण की उत्पत्ति सिद्ध होती है । शंका होती है कि इन्द्रियों के साथ तुल्य उत्पत्ति के श्रवणादि से प्राण की उत्पत्ति के निश्चित होते फिर अतिदेश किस प्रयोजन के लिये है । उत्तर है कि अधिक शंका के निवारण के लिये अतिदेश है । वह शंका यह है कि (नासदासीन्न सदासीत्) न कार्यं था, न कारण था । इस प्रकार आरम्भ करके पठित ब्रह्मप्रधान सूक्त से मन्त्रवर्ण है कि (न मृत्यु था, न देवताओं का भोग्य अमृत था, न उस समय रात्रि और दिन के प्रकेत (चिह्न) स्वरूप चन्द्र-सूर्य ही थे, किन्तु माया रूप स्वधासहित वायुरहित वह एक ब्रह्म था, उससे अन्य पर कुछ नहीं था) इस मन्त्र में आनीत् इस पद से प्राण से कर्म के ग्रहण से जगत् की उत्पत्ति से पूर्व काल में प्राण को विद्यमान के समान मन्त्र सूचित करता है । इससे प्राण अज है, ऐसी किसी की बुद्धि होती है, उस बुद्धि को अतिदेश से निवारण करते हैं कि आनीत् शब्द भी उत्पत्ति से पूर्वकाल में प्राण के सद्भाव की सूचना नहीं करता है । क्योंकि 'अवातम्' इस ब्रह्म के विशेषण से और (ब्रह्मात्मा मन और प्राण से रहित शुभ्र है) इस श्रुति से मूलप्रकृति की प्राणादि समस्त विकार से रहितता के प्रदर्शित होने से प्राणसत्ता की सूचना नहीं हो सकती है । इससे कारण की सत्ता का प्रदर्शनार्थक ही यह आनीत् शब्द है । श्रेष्ठ यह शब्द मुख्य प्राण को कहता है । जिससे (प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है) इस प्रकार श्रुति में निर्देश है । शुक्र (वीर्य) का निपेक (गर्भाधान) काल से ही इस प्राण की वृत्ति के लाभ (प्राप्ति) से प्राण ज्येष्ठ है । यदि उस समय प्राण का वृत्तिलाभ नहीं हो, तो योनि (गर्भाशय) में निपिक्त (प्राप्त) भी वीर्य विनष्ट दूषित हो जाय या गर्भ का सम्भव न हो सकता है । श्रोत्रादि का तो कर्णशङ्कुली (कर्णगोलक) आदि स्थान विभागों की सिद्धि होने पर वृत्तिलाभ होने से, उन्हें ज्येष्ठत्व नहीं है । (तेरे बिना जीवित नहीं रह सकते हैं) इस श्रुति से प्राण में गुण की अधिकता की सिद्धि से प्राण श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

वायुक्रियाधिकरण (५)

वायुर्वाक्षक्रिया वान्यो वा प्राणः श्रुतितोऽनिलः ।

सामान्येन्द्रियवृत्तिर्वा सांख्यैरेवमुदीरणात् ॥

भाति प्राणो वायुनेति भेदोक्तेरेकताश्रुतिः ।

वायुजत्वेन सामान्यवृत्तिर्नाक्षेण्वतोऽन्यता ॥

मुख्य प्राण चलनादि क्रिया वाला वायु के समान और वायु के कार्य होते भी भूतात्मक वायु रूप ही नहीं है, न अन्य प्राणों के व्यापार रूप है, जिससे वायु और व्यापारों से पृथक् प्राण का उपदेश है । इससे प्राण उनसे भिन्न है । यहाँ संशय होता है कि (यः प्राणः स वायुः) इस श्रुति के अनुसार, प्राण वायु स्वरूप है । वा (सामान्या करणवृत्तिः) इत्यादि सांख्यकारिका के अनुसार इन्द्रियों की क्रियारूप प्राण है । अथवा इन दोनों से अन्य है । पूर्वपक्ष है कि श्रुति से वायुरूप प्राण है ।

अथवा सामान्य इन्द्रियों की वृत्ति जीवन रूप ही प्राण है । सिद्धान्त है कि वायु से प्राण मासता है, इस प्रकार भेद के कथन से और इन्द्रियों में सामान्य वृत्ति में अभाव से, प्राण में अन्यता है, और प्राण के वायुजन्य होने से वायु के साथ प्राण की एकता की श्रुति है ॥ १-२ ॥

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

स पुनर्मुख्य प्राण किंस्वरूप इतोदानी जिज्ञान्यते । तत्र प्राप्त तावच्छ्रुते-
वायु प्राण इति । एव हि श्रूयते—‘य प्राण स वायुः स एष वायु पञ्चविध
प्राणोऽपानो व्यान उदान समान’ इति । अथवा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात्समस्त-
करणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम् । एव हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—‘सामान्या
करणवृत्तिः प्राणाद्या वायव पञ्चेति’ ।

अत्रोच्यते—वायुः प्राणो नापि करणव्यापारः । कुत ? पृथगुपदेशात् ।
वायोस्तावत्प्राणस्य पृथगुपदेशो भवति—‘प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स
वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च, (छान्दो० ३।१।८।४) इति । नहि वायुरेव
सन् वायोः पृथगुपदिश्यते । तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति, वागादीनि
करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक्प्राणस्यानुक्रमणात् । वृत्तिवृत्तिमतोश्चाभेदात् ।
नहि करणव्यापार एव सन् करणेभ्यः पृथगुपदिश्यते । तथा ‘एतस्माज्जायते
प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । स वायुः’ (मु० २।१।३) इत्येवमादयोऽपि
वायो-करणेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशा अनुमर्तव्याः । न च समस्तानां
करणानामेका वृत्तिः सम्भवति, प्रत्येकमेकैकवृत्तित्वात्समुदायस्य चाकार-
कत्वात् ।

वह मुख्य प्राण किस स्वरूप वाला है, यह जिज्ञासा फिर की जाती है । यहाँ
श्रुति से प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि वायु स्वरूप प्राण है । जिससे ऐसा सुना
जाता है कि (जो प्राण है वह वायु है, और वह प्राणरूप वायु पाँच प्रकार का है,
प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच प्रकार हैं) अथवा शास्त्रान्तर के अभिप्राय
से समस्तकरण की वृत्ति रूप प्राण है, ऐसा प्राप्त होता है । जिससे शास्त्रान्तर के
अध्ययन वाले ऐसा कहते हैं कि (प्राण आदि पाँचों वायु करणों की सामान्य वृत्ति
(व्यापार) रूप हैं) ।

यहाँ कहा जाता है कि प्राण न वायु है, न करणों का व्यापार रूप है । क्योंकि
प्राण का पृथक् उपदेश है । प्रथम वायु प्राण का पृथक् उपदेश है कि (वाक्,
चक्षुः, श्रोत्र की अपेक्षा मनरूप ब्रह्म के प्राण चतुर्थपाद है । वह वायुरूप ज्योति अधिदैव
से मासता है, व्यक्त होता है, और व्यक्त होकर तपता है कार्य के लिए समर्थ होता
है) यदि प्राण वायु होता तो वायुरूप ही होता हुआ वायु से पृथक् उपदेश का विषय
नहीं होता । इसी प्रकार करणों की वृत्ति से भी प्राण का पृथक् उपदेश होता है,

वाक् आदि इन्द्रियों का अनुक्रमण (क्रम से कथन) करके तत्तत् स्थानों में प्राण का पृथक् अनुक्रमण हो वृत्ति से भिन्न प्राण का उपदेश सिद्ध होता है। क्योंकि वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद से वृत्तिमान् के उपदेश से ही वृत्ति का उपदेश सिद्ध हो जाता है। इससे करणों का व्यापार होता हुआ प्राण करणों से पृथक् नहीं उपदिष्ट हो सकता है। इसी प्रकार (इस पुरुष से प्राप्त मन सब इन्द्रिय और आकाश वायु सब उत्पन्न होते हैं) इत्यादि भी वायु और करणों से प्राण के पृथक् उपदेश अनुसर्तव्य (स्वीकार्य) हैं। समस्त करणों की एक वृत्ति का सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक करणों की एक-एक वृत्तिमत्त्व है। समुदाय को करणरूप कारकत्व भी नहीं है कि जिससे व्यापार हो ॥

ननु पञ्जरचालनन्यायेनैतद्भविष्यति, यथैकपञ्जरवर्तिन एकादशपक्षिणः प्रत्येकं प्रतिनियतव्यापाराः सन्तः संभूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिन एकादश प्राणाः प्रत्येकं प्रतिनियतवृत्तयः सन्तः संभूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति। नेत्युच्यते। युक्तं तत्र प्रत्येकवृत्तिभिरवान्तरव्यापारैः पञ्जरचालनानुरूपैरेवोपेताः पक्षिणः संभूयैकं पञ्जरं चालयेयुरिति, तथा दृष्टत्वात्। इह तु श्रवणाद्यवान्तरव्यापारोपेताः प्राणा न संभूय प्राण्युरिति युक्तम्, प्रमाणाभावात्। अत्यन्तविजातीयत्वाच्च श्रवणादिभ्यः प्राणनस्य। तथा प्राणस्य श्रेष्ठत्वाद्युद्धोपणं गुणभावोपगमश्च तं प्रति वागादीनां, न करणवृत्तिमात्रे प्राणेष्वकल्पते, तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः। कथं तर्हीयं श्रुतिः 'यः प्राणः स वायुः' इति। उच्यते—वायुरेवायमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनावतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम् अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्येते ॥९॥

शंका होती है कि पञ्जर-चालन न्याय से प्रत्येक वृत्तिवृत्त भी यह समुदायवृत्ति भी हो सकती है। जैसे कि एक पिंजड़ा में रहने वाले ग्यारह पक्षी हों तो प्रत्येक प्रतिनियत भिन्न-भिन्न व्यापार वाले होते हुए भी साथ होकर एक पिंजड़े को चलाते, हिलाते हैं। इसी प्रकार एक शरीर में रहने वाली ग्यारह इन्द्रियाँ प्रत्येक दर्शन-श्रवणादि रूप प्रतिनियत-वृत्तिवाली होती हुई भी साथ होकर एक प्राणनामक वृत्ति का प्रतिलाम करेगी। उत्तर कहा जाता है कि ऐसा हो नहीं सकता है। उस दृष्टान्त में तो युक्त है कि प्रत्येक पक्षिवृत्ति पञ्जरचालनानुकूल-अवान्तर व्यापारों से युक्त पक्षी सब मिल कर एक पिंजड़ा को चलावें क्योंकि वैसे देखा जाता है, और प्रत्यक्षदृष्टत्व से युक्त है। यहाँ दार्ष्टान्तिक में तो श्रवणादिरूप अवान्तर व्यापारों से युक्त इन्द्रियाँ मिल कर प्राणन (जीवन) व्यापार करें, यह युक्त नहीं है। जिससे इस में प्रमाण का अभाव है। श्रवणादिरूप इन्द्रियों का व्यापार अपरिस्पन्द (अलचन) रूप है। प्राण का व्यापार परिस्पन्दरूप है। इससे श्रवणादि से प्राणन को अत्यन्त विजातीयत्व है,

इससे भी इन्द्रियो का प्राणन व्यापार नहीं हो सकता है। इसी प्रकार प्राण के श्रेष्ठत्वादि का कथन और वागादिरूप प्राणों का उस मुख्य प्राण के प्रति गुणभाव (अधीनत्व) का स्वीकार, करणों के वृत्तिमात्ररूप प्राण में नहीं सिद्ध हो सकता है। इससे वायु और क्रिया (करण वृत्ति) से प्राण अन्य है। यदि कहो कि (जो प्राण है वह वायु है) यह श्रुति कैसे युक्त होगी। तो कहा जाता है कि यह वायु ही अध्यात्म (सूक्ष्म शरीरगत) होकर फिर स्थूल देह को प्राप्त होकर, पाँच आकार वाला होकर विशेष स्वरूप से स्थिर होता हुआ प्राण नाम से कहा जा सकता है। इससे न तत्त्वांतर है, न वायुमात्र प्राण है, इससे वायु से प्राण का भेद और अभेद विषयक श्रुतिविरोध नहीं है ॥ ९ ॥

स्यादेतत् । प्राणोऽपि तर्हि जीववदस्मिञ्शरीरे स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति, श्रेष्ठत्वाद् गुणभावोपगमाच्च तं प्रति वागादीनामिन्द्रियाणाम् । तथाह्यनेकविधा विभूतिं प्राणस्य श्राव्यते—‘सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको हि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽन्नास प्राण सवर्गो वागादीन्संवृक्तं प्राण इतरान्प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्’ इति । तस्मात्प्राणस्यापि जीववत्स्वातन्त्र्यप्रसंगः । तं परिहरति—

यहाँ शका होती है कि प्राण करणों की वृत्तिरूप नहीं हो, परन्तु ऐसा होने पर तो प्राण भी इस शरीर में जीव के समान स्वतन्त्रता को प्राप्त होता है। श्रेष्ठत्व से तथा वागादि इन्द्रियो का उसके प्रति गुणभाव (दासत्व जगत्व) के स्वीकार से भी प्राण की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इसी प्रकार अनेक प्रकार की प्राण की विभूति सुनाई जाती है कि (वागादि से सुप्त लीन होने पर भी शरीर में एक प्राण जागता रहता है। एक प्राण ही मृत्यु से प्राप्त नहीं किया जाता है। प्राण सवर्गसंहरणकर्ता है, इससे वागादि का संवरण संहरण करता है) (माता जैसे पुत्रों की रक्षा करती है, वैसे प्राण अन्य प्राणों की रक्षा करता है) इससे जीव के समान प्राण की स्वतन्त्रता का प्रसंग है। इस प्रसंग का परिहार (निवारण) सूत्रकार करते हैं कि—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

तुशब्द प्राणस्य जीववत्स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति । यथा चक्षुरादीनि राज-प्रकृतिवज्जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रत्युपकरणानि न स्वतन्त्राणि, तथा मुख्योऽपि प्राणो राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्यकरत्वेनोपकरणभूतो न स्वतन्त्रः । कुत ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । तैश्चक्षुरादिभिः सहैव प्राणं शिष्यते प्राणसंवादादिषु, समानधर्माणां च महः शासनं युक्तं बृहद्रथन्तरादिवत् । आदिशब्देन सहतत्त्वाचेतनत्वादोन्प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणहेतुर्नृन्दर्शयति ॥ १० ॥

सूत्रगत तु शब्द जीवतुल्य प्राण की स्वतन्त्रता की व्यावृत्ति करता है कि जैसे चक्षु आदि राजा की प्रकृति (प्रजा, पुरवासी, सेवक) के समान जीव के कर्तृत्व और मोक्षतृत्व के प्रति उपकरण (साधन) रूप है । स्वतन्त्र नहीं है, उसी प्रकार मुख्य प्राण भी राजमन्त्री के समान जीव के सर्वार्थ के कारक (साधक) रूप से उपकरण स्वरूप हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं । ऐसा क्यों है कि उन नेत्रादिकों के साथ उपदेशादि से प्राण उपकरण ही है । उन प्राणादिकों के साथ ही प्राण संवादादि में प्राण उपदिष्ट होता है । समान धर्म वालों का साथ शासन (उपदेश) युक्त होता है । जैसे कि बृहत् साम और रथन्तर साम, सामवेद के भागविशेष है । वे सामत्वादि से तुल्य धर्म वाले होने से सर्वत्र साथ पढ़े जाते हैं, वैसे यहाँ समझना चाहिये । सूत्रगत आदि शब्द से संहतत्व अचेतनत्वादि रूप प्राण की स्वतन्त्रता के निराकरण के हेतुओं को दर्शाते हैं ॥ १० ॥

स्यादेतत् । यदि चक्षुरादिवत्प्राणस्य जीवं प्रति करणभावोऽभ्युपगम्यते, विषयान्तरं रूपादिवत्प्रसज्येत, रूपाद्यालोचनादिभिर्वृत्तिभिर्यथास्वं चक्षुरादीनां जीवं प्रति करणभावो भवति । अपि चैकादशैव कार्यजातानि रूपालोचनादीनि परिगणितानि यदर्थमेकादश प्राणाः संगृहीताः नतु द्वादशमपरं कार्यजातमधिगम्यते यदर्थमयं द्वादशः प्राणः प्रतिज्ञायतेति अत उत्तरं पठति—

फिर शंका होती है कि यह जीव के प्रति प्राण को उपकरणत्व रहे परन्तु यदि चक्षु आदि के समान जीव के प्रति प्राण को करणत्व माना जाता है, तो चक्षु आदि के रूपादि विषय के तुल्य प्राण का भी विषयान्तर प्राप्त होता है, कि जिसके द्वारा प्राण जीव का उपकार कर सकेगा । जैसे कि रूपादि के प्रदर्शन द्वारा नेत्रादि जीव का उपकार करते हैं । इससे रूपादि के आलोचन (दर्शन) आदि वृत्ति द्वारा ही चक्षु आदि को जीव के प्रति (यथास्वं) अपने-अपने विषयों के अनुसार करणभाव होता है । दूसरी बात है कि रूपादि के आलोचन आदि रूप ग्यारह ही कार्यसमूह परिगणित हैं, कि जिनके लिए ग्यारह प्राण संगृहीत (स्वीकृत) है । बारहवाँ अन्य कार्यसमूह नहीं अधिगत (अनुभूत) होते हैं कि जिनके लिए यह बारहवाँ प्राण प्रतिज्ञात (स्वीकृत) हो । अतः उत्तर पढ़ते हैं कि—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ॥ ११ ॥

न तावद्विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः, अकरणत्वात्प्राणस्य । नहि चक्षुरादिवत्प्राणस्य विषयपरिच्छेदेन करणत्वमभ्युपगम्यते । न चास्यैतावता कार्याभाव एव । कस्मात् ? तथाहि श्रुतिः प्राणान्तरेष्वसंभाव्यमानं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयति प्राणसंवादादिषु—‘अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे’ इत्युपक्रम्य ‘यस्मिन्व उक्तान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स ब्रः श्रेष्ठः’ (छां०

५।१६।७) इति चोपन्यम्य प्रत्येक वागाद्युत्क्रमणेन तदवृत्तिमात्रहीन यथापूर्वं जीवन दर्शयित्वा प्राणोच्छिक्रमिपाया वागादिशैथिल्यार्पित शरीरपातप्रसङ्ग च दर्शयन्ती श्रुति प्राणनिमित्ता शरीरेन्द्रियस्थिति दर्शयति—‘तान्वरिष्ठ प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टम्य विधारयामि’ इति च । तमेवार्थं श्रुतिराह—‘प्राणेन रक्षन्नवरकुलायम्’ (वृ० ४।३।१२) इति च सुषेपु चक्षुरादिषु प्राणनिमित्ता शरीररक्षा दर्शयति । ‘यस्मात्कस्माच्चान्नात्प्राण उत्क्रामति तदैव तच्छृष्यति’ (वृ० १।३।१९) । ‘तेन यदश्नाति यत्स्पिषति तेनेतरान्प्राणानवति’ इति च प्राणनिमित्ता शरीरेन्द्रियपुष्टि दर्शयति । ‘कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि’ इति, ‘स प्राणमसृजत’ इति च प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति ॥ ११ ॥

प्राण का विषयान्तर की प्राप्ति रूप दीप तो, प्राण की अकरणता से नहीं है । जिससे विषयो के परिच्छेद (व्यावृत्ति दर्शनादि ग्रहणादि) से चक्षु आदि को करण (व्यापार वाला असाधारण कारण) मानते हैं । वैसे विषय के परिच्छेद से प्राण के करणत्व नहीं माना जाता है । परन्तु ऐसा करणत्वामात्र होने से इस प्राण के कार्य का ही अभाव नष्ट है । क्योंकि इसी प्रकार प्राण के सवादादि में अन्य प्राणों में असम्भव मुख्य प्राण के विशेषतायुक्त श्रेष्ठ कार्य को श्रुति दर्शाती है कि (गुणयुक्त होने पर प्राण सब अपनी श्रेष्ठता के लिये विवाद करने लगे) इस प्रकार उपक्रम करके (तुम सब में जिसके उत्क्रान्त होने से यह शरीर अत्यन्त पापरूप के समान दीप्त पड़े वह तुम में श्रेष्ठ है) इस प्रकार कह कर, प्रत्येक वाक् आदि के उत्क्रमण से तत्तत् वृत्ति-मात्र से रहित मूक आदि रूप से पूर्व के समान जीवन को दर्शा कर, प्राण के उत्क्रमण की इच्छामात्र से वाक् आदि की शिथिलता की प्राप्ति और शरीरपात के प्रसंग को दर्शाती हुई श्रुति, प्राण, निमित्तक शरीर और इन्द्रियों की स्थिति को दर्शाती है कि (उन वाक् आदिकों के प्रति वरिष्ठ अत्यन्त उर (बड़ा) प्राण ने कहा कि मोह को नहीं प्राप्त हो, मैं ही इस आत्मा को पाँच रूप से प्रविभक्त करके इस कार्य-कारणात्मक शरीर को पकड़ कर धारण करता हूँ) और इसी अर्थ को श्रुति कहती है कि (यह जीव प्राण द्वारा इस अवर नीच निरुष्ट कुलाय देह नामक गृह की रक्षा करता हुआ सोता है) इस प्रकार चक्षु आदि के मुप्त लीन होने पर भी प्राणनिमित्तक शरीर की रक्षा को श्रुति दर्शाती है । (जब जिस किसी अंग से प्राण उत्क्रमण करता है, तभी वह अंग सूख जाता है) और (उस प्राण द्वारा जो जीव खाता है, जो पीता है उससे इतर प्राणों की रक्षा करता है) इस प्रकार भी प्राणनिमित्तक शरीर और इन्द्रियों की पुष्टि को श्रुति दर्शाती है । (किन्के उत्क्रान्त होने से मैं उत्क्रान्त होऊँगा वा किसके शरीर में प्रतिष्ठित रहने से प्रतिष्ठित रहूँगा, ऐसा सोच कर उस जीवात्मा ने प्राण को रचा) यह श्रुति भी प्राणनिमित्तक जीव की उत्क्रान्ति और स्थिति को दर्शाती है ॥ ११ ॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

इतश्चास्ति मुख्यस्य प्राणस्य वैशेषिकं कार्यं, यत्कारणं पञ्चवृत्तिरयं व्यपदिश्यते श्रुतिषु 'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' (वृ० १।५।३) इति । वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदापेक्षः । प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा । अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा । व्यानस्तयोः संधी वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुः । उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः । समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्तरसान्नयतीति । एवं पञ्चवृत्तिः प्राणो मनोवत्, यथा मनसः पञ्चवृत्तयः एवं प्राणस्यापीत्यर्थः । श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषया मनसः पञ्च वृत्तयः प्रसिद्धाः, नतु कामः संकल्प इत्याद्याः परिपठिताः परिगृह्येरन्, पञ्चसंख्यातिरेकात् । नन्वत्रापि श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदादिविषयाऽपरा मनसो वृत्तिरस्तीति समानः पञ्चसंख्यातिरेकः । एवं तर्हि 'परमतमप्रतिपिद्धमनुमतं भवति' इति न्यायादिहापि योगशास्त्रप्रसिद्धा मनसः पञ्चवृत्तयः परिगृह्यन्ते 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा-स्मृतयः' (पात० योग० सू० १।१।६) नाम । बहुवृत्तित्वमात्रेण वा मनः प्राणस्य निदर्शनमिति द्रष्टव्यम् । जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य पञ्चवृत्तित्वान्मनोवदिति योजयितव्यम् ॥ १२ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी मुख्य प्राण का विशेषतायुक्त कार्य है, कि जिस कारण से पाँच वृत्ति वाला यह प्राण श्रुतियों में कहा जाता है, कि (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) ये सब प्राण के व्यापार रूप और प्राण ही हैं । ये वृत्तियों के भेद कार्यभेद की अपेक्षा से हैं । नासिकादि द्वारा आगे की तरफ वृत्ति वाला ऊर्ध्व श्वासादि क्रिया वाला प्राण है । नीचे की तरफ वृत्ति वाला निश्वासादि क्रिया वाला अपान है । उन दोनों की सन्धि (सन्धान मध्य) में वर्तमान सामर्थ्य वाला कर्म का हेतु व्यान है । ऊर्ध्ववृत्ति वाला उत्क्रान्ति आदि का हेतु उदान है । जो सब अङ्गों में समतापूर्वक अन्न के रसों को ययायोग्य प्राप्त कराता है सो समान है । इस प्रकार मन के समान पाँच वृत्ति (अवस्था) वाला प्राण है । इससे जैसे मन की पाँच वृत्तियाँ हैं, इसी प्रकार प्राण को भी हैं यह अर्थ है । श्रोत्रादि निमित्तक शब्दादि विषयक मन की पाँच वृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं । पाँच संख्या से अधिक होने से (कामः संकल्प) इत्यादि श्रुति में परिपठित कामादिक पाँच वृत्तियाँ शब्द से नहीं गृहीत हो सकती हैं । यहाँ शंका होती है कि कामादि रूप श्रुति प्रसिद्ध मनोवृत्ति को नहीं मानने पर भी लोक में प्रसिद्ध भी वर्तमान काल मात्र ग्राही श्रोत्रादिजन्य ज्ञान रूप पाँच ही वृत्तियाँ नहीं हैं; किन्तु लोक में भी प्रसिद्ध ज्ञान श्रोत्रादि निरपेक्ष अतएव भूत भविष्यदादि विषयक अनुमानादिजन्य अपर (पाँच से अन्य) भी मन की वृत्ति रूप है । इससे ज्ञान में भी पाँच से अतिरेक (अधिकता) तुल्य है । ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि यदि ऐसा है तो (अप्रतिपिद्ध परमत भी अनुमत स्वीकृत होता है । इस न्याय से इस सूत्र में भी योगशास्त्र में प्रसिद्ध

मन की पाँच वृत्तियाँ परिगृहीत होंगी, जो (प्रमाण (प्रमिति) विपर्यय (भ्रम) विकल्प (असत् की कल्पना) तामसी वृत्तिरूप निद्रा और स्मृति नाम वाली वृत्तियाँ हैं) अथवा बहुत वृत्ति वाला होने मात्र से मन प्राण का दृष्टान्त है, मन की पाँच वृत्ति का नियम नहीं है ऐसा समझना चाहिये । मन के समान पाँच वृत्ति वाला होने से प्राण को जीव के प्रति उपकरणत्व भी है, इस प्रकार सूत्र योजना के योग्य है ॥१२॥

श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण (६)

प्राणोऽयं विभुरल्पो वा विभु स्यात्प्लुप्युपक्रमे ।

हिरण्यगर्भपर्यन्ते सर्वदेहे समोक्तित्वात् ॥ १ ॥

समष्टिव्यष्टिरूपेण विभुरेवाधिदैविक ।

आध्यात्मिकोऽयं प्राण स्याददृश्यश्च यथेन्द्रियम् ॥ २ ॥

मुख्य प्राण भी अणु (परिच्छिन्न) और सूक्ष्म है । यहाँ सशय है कि यह प्रसिद्ध प्राण विभु है अथवा अल्प (परिच्छिन्न) है । पूर्वपक्ष है कि प्लुपो (पुत्तिका पतगा) से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सब देहों में (सम प्लुपिणा) इस श्रुति में सम प्राण के कथन से प्राण विभु होगा । सिद्धान्त है कि समष्टि व्यष्टि रूप से वर्तमान आधिदैविक श्रुति कथित प्राण ही विभु है । आध्यात्मिक प्राण अल्प होगा और इन्द्रिय के समान अदृश्य होगा, और है ॥ १—२ ॥

अणुश्च ॥ १३ ॥

अणुश्चायं मुख्य प्राणः प्रत्येतव्य इतरप्राणवत् । अणुत्व चेहापि सौक्ष्म्य-परिच्छेदो न परमाणुतुल्यत्वम् । पञ्चभिवृत्तिभिः कृत्स्नशरीरव्यापित्वात् । सूक्ष्म प्राण उत्क्रान्तौ पार्श्वस्थेनानुपलभ्यमानत्वात्, परिच्छिन्नश्चोत्क्रान्ति-गत्यागतिश्रुतिभ्यः । ननु विभुत्वमपि प्राणस्य सामान्यायते—‘सम प्लुपिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिर्हि भिल्लोके नमोजेन सर्वेण’ (वृ० १।१२२) इत्येवमादिप्रदेशेषु । तदुच्यते—आधिदैविकेन समष्टिव्यष्टिरूपेण हिरण्यगर्भेण प्राणात्मनेवैतद्विभुत्वमाप्नायते नाध्यात्मिकेन । अपि च सम प्लुपिणेत्यादिना साम्प्रवचनेन प्रतिप्राणिवर्तिन प्राणस्य परिच्छेद एव प्रदर्श्यते तस्माद-दोषः ॥ १३ ॥

यह मुख्य प्राण अन्य प्राणों के समान अणु समझने योग्य है । यहाँ भी सूक्ष्मता और परिच्छेद रूप ही अणुत्व है । परमाणुतुल्यत्व रूप अणुत्व नहीं है, जिसमें पाँच वृत्तियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्यापित्व होने से अणु तुल्यत्व का सम्भव नहीं है । मरण काल में शरीर से उत्क्रान्त प्राण पार्श्वस्थ से अनुपलभ्यमान होने से सूक्ष्म है । उत्क्रान्ति गति आगति की श्रुति से परिच्छिन्न भी है । सका होती है कि (प्राण प्लुपि के सम है, मशक के सम है, हाथी के सम है, इस तीन लोक के सम है, इस सबके साथ सम तुल्य है) इत्यादि प्रदेशों में प्राण की विभुता भी श्रुति में कही जाती है, फिर अणुता का निश्चय कैसे हो सकता है, उसका उत्तर कहा जाता है कि हिरण्यगर्भ मध्यस्थ आधिदैविक समष्टि प्राण स्वरूप से यह विभुत्व कहा जाता है, आध्यात्मिक रूप से

विभुत्व नहीं कहा जाता है । दूसरी बात है कि 'प्लुपि के समान है' इत्यादि समता के वचन से प्रत्येक प्राणी में रहने वाला प्राण का परिच्छेद ही प्रदर्शित होता है । तीन लोक की तुल्यता विराट् दृष्टि से कही गई है, इस सबसे तुल्यता हिरण्यगर्भं दृष्टि से है जिससे दोष नहीं है ॥ १३ ॥

ज्योतिराद्यधिकरण (७)

स्वतन्त्रा देवतन्त्रा वा वागाद्याः स्युः स्वतन्त्रता ।

नोचेद्वागादिजो भोगो देवानां स्यान्न चात्मनः ॥ १ ॥

श्रुतमग्न्यादितन्त्रत्वं भोगोऽग्न्यादेस्तु नोचितः ।

देवदेहेषु सिद्धत्वाज्जीवो भुङ्क्ते स्वकर्मणा ॥ २ ॥

वाक् आदि इन्द्रियों में अग्नि आदि देव के अंश भी अधिष्ठान (अधिष्ठाता) रूप से वर्तमान रहते हैं । जिससे (अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्) इत्यादि श्रुति देवरूप अधिष्ठान का आसनन करती है कथन करती है, इससे अधिष्ठातृ देव सिद्ध होता है । संशय है कि वाक् आदि अपने कार्य के लिए स्वतन्त्र हैं । अथवा देव के अधीन कार्य के लिए समर्थ हो सकते हैं । यहाँ पूर्वपक्ष है कि स्वतन्त्र है क्योंकि (वाचा हि नामान्य-मिवदति) इत्यादि श्रुति से वाक् आदि मात्र में तत्सत् क्रियाओं का करणत्व सुना जाता है । (अग्नि वाक् होकर मुख में पैठा) यह कथन जड़ अग्नि में वाक् की उपादानता दृष्टि से है । चेतन जीव के अधिष्ठाता रहते अन्य अधिष्ठाता का कोई फल भी नहीं है । यदि ऐसा नहीं होगा तो वाक् आदि जन्य भोग देवों को होगा, जीवात्मा को नहीं होगा इत्यादि । सिद्धान्त है कि दूरस्थ सूर्य मण्डलादि नेत्रादि के उपादान नहीं हो सकते हैं, इससे मुखादि में प्रवेश श्रुति अधिष्ठातृ दृष्टि से ही है । जीव अनिष्ट का भी दर्शनादि कर्ता है इससे यह अधिष्ठाता नहीं है किन्तु अग्नि के अधीनत्व सुना गया है यह उचित है । अधिष्ठेय वागादि से देव को भोग होना उचित नहीं है, उनके देव देहों में भोग के साधन वागादि स्वयं पृथक् है जिनसे देव देह में उत्तम भोग के सिद्ध होने से तुच्छ भोगों की अपेक्षा नहीं है । साधारण जीव अपने कर्मों द्वारा तुच्छ भोगों को भोगता है ॥ १-२ ॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥

ते पुनः प्रकृताः प्राणाः किं स्वमहिम्नैव स्वस्मै स्वस्मै कार्याय प्रभवन्त्याहो-स्विदैवताधिष्ठिताः प्रभवन्तीति विचार्यते । तत्र प्राप्तं तावद्यथास्वं कार्यशक्तियो-गात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तन्त्रिति । अपि च देवताधिष्ठितानां प्राणानां प्रवृत्तावभ्युपगम्यमानायां तासामेवाधिष्ठात्रीणां देवतानां भोक्तृत्वप्रसङ्गाच्छा-रीरस्य भोक्तृत्वं प्रलीयेत, अतः स्वमहिम्नैवैषां प्रवृत्तिरिति ।

फिर विचार किया जाता है कि वे प्रकृत गौण मुख्य प्राण क्या अपनी-अपनी महिमा सामर्थ्य मात्र से अपने अपने कार्यों के लिए प्रभु (समर्थ) होते हैं अथवा अधिदेव के आश्रित होकर कार्यों के लिए समर्थ होते हैं । यहाँ प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता

है कि अपने-अपने विषयों कायों के अनुसार कार्य शक्ति के सम्बन्ध से अपनी अपनी महिमाओं से ही प्राण सब प्रवृत्त होंगे । दूसरी बात है कि देवताओं से अधिष्ठित प्राणों की प्रवृत्ति मानने पर, उन अधिष्ठातृ देवों को ही मोक्षतृत्व की प्राप्ति से, शरीर (जीवात्मा) को मोक्षतृत्व प्रलीन हो जायगा (नहीं रहेगा) अतः स्वमहिमा से ही इन प्राणों की प्रवृत्ति होती है ।

एव प्राप्त इदमुच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठान तु इति । तद्वदेन पूर्वपक्षी व्यावर्त्यते । ज्योतिरादिभिरन्याद्यभिमानिनीभिर्देवताभिरधिष्ठित वागादिकरण-जात स्वकार्येषु प्रवर्तत इति प्रतिजानीते । हेतु व्याचष्टे—तदामननादिति । तथा ह्यामनन्ति—‘अग्निवग्निभूत्वा मुख प्राविशत्’ (ऐत० २।४) इत्यादि । अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्मनाधिष्ठातृत्वमङ्गीकृत्योच्यते । नहि देवतासम्बन्ध प्रत्याख्यायान्नेर्वाग्नि मुखे वा कश्चिद्विशेषसम्बन्धो दृश्यते । तथा ‘वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्’ (ऐत० २।४) इत्येवमाद्यपि योजयितव्यम् । तथान्यत्रापि ‘वागेव ब्रह्माश्चतुर्थः पाद सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च’ (छा० १।८।३) इत्येवमादिना वागादीनामग्न्यादिज्योतिष्ववचनेनैतमेवार्थं द्रव्यति । ‘स वे वाचमेव प्रथमामत्यवहत्मा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्’ (बृ० १।३।१२) इति चैवमादिना वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेनैतमेवार्थं द्योतयति । सर्वत्र चाध्यात्माधिर्देवतविभागेन वागाद्यग्न्याद्यनुक्रमणमनयेव प्रत्यासत्त्या भवति ।

ऐसा प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि (ज्योतिराद्यधिष्ठान तु) इति । तु शब्द से पूर्वपक्ष व्यावृत्त किया जाता है । ज्योति आदि रूप अग्नि आदि के अभिमानों देवताओं से अधिष्ठित वाक् आदि करण समूह अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं । यह प्रतिज्ञा करते हैं । हेतु का व्याख्यान (कथन) करते हैं कि—(तदामननात्) इति । जिससे श्रुतियाँ इसी प्रकार कहती हैं कि (अग्नि वाक् होकर मुख में पैठ गई) इत्यादि । अग्नि का यह वाग्भाव (वाक् रूपत्व) और मुख में प्रवेश, देवतारूप से अधिष्ठातृत्व का अङ्गीकार करके ही कहा जाता है जिससे देवताभाव में सम्बन्ध को त्याग कर अग्नि का वाक् में वा मुख में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं दीखता है । इसी प्रकार (वायु प्राण होकर नासिकाओं में पैठा) इत्यादि वचन भी योजना के योग्य हैं । इसी प्रकार अन्य स्थान में भी (वाक् ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, सो अग्निरूप ज्योति से दीप्त होता भासता है, तपता है, स्वकार्य करता है) इत्यादि वाक् आदि के अग्निज्यातिष्टव (अग्नि से प्रकाश्यत्व) आदि वचन से भी इस अधिष्ठातृत्व अर्थ की ही श्रुति दृढ़ करती है । (वह प्राण उद्गीय रूप कर्म में प्रथमा-प्रधान-वाक् को अनुतादि मृत्यु से मुक्त करके दूर ले गया । वाक् जब मृत्यु से मुक्त हुई तब वह अग्नि स्वरूप हो गई) इत्यादि श्रुति भी वाक् आदि की अग्निरूपता की प्राप्ति के कथन द्वारा इस अर्थ का ही

द्योतन प्रकाशन करती है । (मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः, चक्षुरादित्यम्) । मृत प्राणी की वाक् अग्नि में लीन होती है । प्राण वायु में लीन होता है, नेत्र सूर्य में लीन होता है) इत्यादि सभी स्थानों में अध्यात्म और अधिदैवत के विभाग द्वारा वाक् आदि का और अग्नि आदि का अनुक्रमण (क्रमपूर्वक कथन) इसी अधिष्ठातृ-अधिष्ठेय-भावरूप प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से होता है ।

स्मृतावपि— वागध्यात्ममिति प्राहुर्वाह्यणास्तत्त्वदर्शिनः ।

वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥

इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं सप्रपञ्चं दर्शितम् । यदुक्तं स्वकार्यशक्तियोगात् स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्ततेरन्निति । तदयुक्तम् । शक्तानामपि शकटादीनामनडुहाद्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिदर्शनात् । उभयथोपपत्तौ चागमाद्देवताधिष्ठितत्वमेव निश्चीयते ॥ १४ ॥

स्मृति में भी (तत्त्वदर्शी वाह्यण वाक् को अध्यात्म इस शब्द से कहते हैं, और वक्तव्य वस्तु को अधिभूत कहते हैं, और वहाँ अग्नि अधिदैवत है) इत्यादि वचनों द्वारा वाक् आदि को अग्नि आदि देवताओं से अधिष्ठितत्व को विस्तार पूर्वक दर्शित कराया गया है जो यह कहा है कि इन्द्रियों को स्वकार्य में शक्ति के योग से इन्द्रियाँ अपनी महिमा से ही प्रवृत्त होंगी, यह कथन अयुक्त है, क्योंकि शक्तियुक्त भी शकट (गाड़ी) आदि की बेल आदि से अधिष्ठित होने पर प्रवृत्ति देखी जाती है । यद्यपि शकटादि की प्रवृत्ति अधिष्ठित होने पर होती है, क्षीरादि को दधि आदि रूप से प्रवृत्ति अधिष्ठाता के बिना भी देखी जाती है, इससे वाक् आदि की प्रवृत्ति की उभयथा उपपत्ति हो सकती है । तथापि आगमन से देवता से अधिष्ठितत्व ही का निश्चय किया जाता है ॥ १४ ॥

यदप्युक्तं देवतानामेवाधिष्ठात्रीणां भोक्तृत्वप्रसङ्गे न शारीरस्येति तत्परिह्रियते—

प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥

सतीष्वपि प्राणानामधिष्ठात्रीषु देवतासु प्राणवता वार्यकरणसंघातस्वामिना शारीरेणैवैषां प्राणानां सम्बन्धः श्रुतेरवगम्यते । तथाहि श्रुतिः—'अथ यत्रैतदाकाशमनु विषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' (छा० ८।१२।१४) इत्येवजातीयका शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धं श्रावयति । अपि चानेकत्वात्प्रातकरणमधिष्ठात्राणां देवतानां न भोक्तृत्वमस्मिञ्शरीरेऽवकल्पते । एको ह्येवमस्मिञ्शरीरे शारीरो भोक्ता प्रतिसधानादिसंभवादवगम्यते ॥ १५ ॥

जो यह कहा था कि अधिष्ठात्री देवताओं को ही भोग की प्राप्ति होगी शरीर (जीवात्मा) को भोग नहीं होगा, उसका परिहार किया जाता है कि—

प्राणों के अधिष्ठात्री देवताओं के रहते भी प्राणवाला कार्यकरणरूप सघात का स्वामी शरीर (जीव) के साथ ही इन प्राणों का स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध श्रुति से अवगत होता है । जिससे इस प्रकार की श्रुति है कि (देह में प्राण के प्रवेश के बाद में जिस गोलक में यह आकाश छिन्न मध्यभाग में है, उसमें अनुविपण्ण (प्रविष्ट) चक्षु इन्द्रिय होता है । उस चक्षु में वह चाक्षुष पुरुष आत्मा रहता है, और उसी के रूप के ज्ञान के लिये चक्षु है । जो यह समझता है कि यह सूक्ष्म है वह आत्मा है, गन्ध के ज्ञान के लिए नासिका है । इस प्रकार की श्रुतियाँ शरीर के साथ ही प्राणों के सम्बन्ध का श्रवण कराती हैं । दूसरी बात है कि प्रत्येक करण में अधिष्ठातृदेव के भिन्न होने के कारण अधिष्ठात्री देवताओं की अनेकता से उन अधिष्ठात्री देवताओं को इस अधिष्ठेय शरीर में भोक्तृत्व नहीं सिद्ध हो सकता है । जो मीने रूप को देखा पा, वह अब मैं शब्द सुनता हूँ इत्यादि प्रतिरूधानादि के सम्भव से इस शरीर में एक ही शरीर भोक्ता अवगत होता है ॥ १५ ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

तस्य च शरीरस्यास्मिन्शरीर भोक्तृत्वेन नित्यत्व पुण्यपापोपलेपसम्भवात्सुखदुःखोपभोगसम्भवाच्च न देवतानाम् । ता हि परस्मिन्नेश्वर्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीनेऽस्मिन्शरीरे भोक्तृत्व प्रतिलब्धुमर्हन्ति श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामु गच्छति न ह वै देवान्पाप गच्छति' (वृ० १।५।३) इति । शारीरेणैव च नित्य प्राणानां सवन्ध, उत्क्रान्त्यादिषु तदनुवृत्तिदर्शनात् । 'तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनूत्क्रामन्ति प्राणमनूत्क्रामन्त सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (वृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात्सतीध्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शरीरस्य भोक्तृत्वमपगच्छति । करणपक्षस्यैव हि देवता न भोक्तृत्वपक्षस्येति ॥ १६ ॥

देवताओं के शरीर में रहते भी उन्हें इस अधिष्ठेय शरीर से कमी भोक्तृत्व नहीं होता है, जिससे पुण्यपाप के उपलेप (सम्बन्ध) के सम्भव से, और इसी कारण से सुखदुःखों के उपभोग के सम्भव से उस प्राणवाले शरीर को ही इस शरीर में भोक्तृरूप से प्रारब्ध योग पर्यन्त नित्यत्व (भोक्तृरूप से सदा वर्तमानत्व) रहता है, देवताओं की ऐसी वर्तमानता नहीं रहती है । देवता जिससे उत्तम ऐश्वर्य पद में रहने वाली है । इससे हीन इस शरीर में भोक्तृत्व को प्राप्त करने योग्य नहीं है । श्रुति भी है कि, (प्राजापत्य पद में वर्तमान इस उपासक को पुण्य सुख ही प्राप्त होता है, देवों को पाप का फल नहीं प्राप्त होता है) और उत्क्रान्ति आदि शरीर आत्मा के साथ प्राणों की अनुवृत्ति (अनुगम) देखने से प्राणों का शरीर के साथ ही नित्य सम्बन्ध है । वह (उस जीव के उत्क्रमण करते ही प्राण पीछे उत्क्रमण करता है । प्राण के उत्क्रमण करते ही फिर सब प्राण (इन्द्रियाँ) उत्क्रमण करते हैं । इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है । इससे कारणों के नियन्त्री, देवताओं के रहते भी शरीर का भोक्तृत्व

अवगत (निवृत्त) नहीं होता है । इससे प्रदीपादि के समान करणों के उपकारक होने से कारण पक्ष के ही देव हैं, मोक्षपक्ष के नहीं हैं ॥ १५ ॥

इन्द्रियाधिकरण (८)

प्राणस्य वृत्तयोऽक्षाणि प्राणात्तत्त्वान्तराणि वा ।

तद्रूपत्वश्रुतेः प्राणनाम्नोक्तत्वाच्च वृत्तयः ॥ १ ॥

श्रमाश्रमादिभेदोक्तैर्गोणे तद्रूपनामनी ।

आलोचकत्वेनान्यानि प्राणो नेताऽक्षदेहयोः ॥ २ ॥

श्रेष्ठ प्राण से अन्य वे वागादि प्राण से भिन्न और इन्द्रिय हैं, श्रेष्ठ प्राण के वृत्तिमात्र नहीं हैं, क्योंकि श्रुति में इस इन्द्रिय नाम से व्यवहार है । यहाँ संशय है कि मुख्य प्राण की वृत्ति (अवस्था) रूप अन्य इन्द्रियाँ हैं वा प्राण से तत्त्वान्तर है । पूर्वपक्ष है कि (हन्तास्यैव सर्वे रूपमसाम) इस श्रुति से प्राणों की मुख्य प्राणरूपता के श्रवण से तथा प्राण नाम द्वारा सब के व्यवहार से मुख्य प्राण की वृत्तिरूप ही वागादि हैं । सिद्धान्त है कि श्रुति में श्रम और श्रम के अभावादि के कथन से, अर्थात् मुख्य प्राण में श्रमादि के अभावादि के अन्य में श्रमादि के भावादि के कथन से भेद का कथन है, इससे तद्रूपता और प्राण नाम गौण है । विषयों को आलोचकत्व (प्रदर्शकत्व) रूप से इन्द्रियाँ अन्य हैं । देह और इन्द्रियों का नेता प्राण है ॥ १-२ ॥

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥

मुख्यश्चैक इतरे चैकादश प्राणा अनुक्रान्ताः । तत्रेदमपरं संदिह्यते किं मुख्यस्यैव प्राणस्य वृत्तिभेदा इतरे प्राणा आहोस्वित्तत्त्वान्तराणीति । किं तावत्प्राप्तं, मुख्यस्यैवेतरे वृत्तिभेदा इति । कुतः ? श्रुतेः । तथाहि श्रुतिमुख्यमितरांश्च प्राणान्संनिधाप्य मुख्यात्मतामितरेषां ख्यापयति—‘हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्’ (वृ० १।५।२१) इति । प्राणैकशब्दत्वाच्चेकत्वाध्यवसायः । इतरथा ह्यन्याय्यमनेकार्थत्वं प्राणशब्दस्य प्रसज्येत । एकत्र वा मुख्यत्वमितरत्र वा लाक्षणिकत्वमापद्येत । तस्माद्यथैकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्च वृत्तय एव वागाद्या अप्येकादशेति ।

एक मुख्य प्राण और ग्यारह अन्य प्राण अनुक्रान्त (अनुक्रम से पठित) हैं । वहाँ यह अन्य कुछ संशय का विषय होता है कि मुख्य ही प्राण के वृत्तिभेद (अवस्थाभेद) रूप अन्य प्राण हैं, अथवा तत्त्वान्तर हैं । विमर्श होता है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है, पूर्वपक्ष है कि मुख्य प्राण के ही वृत्तिभेद रूप अन्य प्राण हैं । क्योंकि श्रुति से ऐसा ही सिद्ध होता है । जिससे मुख्य प्राण और इतर प्राणों की सन्निधि (पास) में स्थिर करके इतर प्राणों की मुख्य प्राणरूपता का श्रुति इस प्रकार ख्यापन (कथन) करती है कि—(वागादि कहते हैं कि हन्त इस समय हम इस मुख्य प्राण के स्वरूप हो जायें, और ऐसा संकल्प करके वे सब इस प्राण के स्वरूप हो गये) और एक

प्राण शब्दवाली सब इन्द्रियो के होने से, अर्थात् प्राण शब्द का वाच्यत्व होने से भी सब में एक प्राणरूपत्व का अध्यवसाय (निश्चय) होता है । अन्यथा ऐसा नहीं मानते पर अन्याग्यरूप अनेकार्थत्व प्राणशब्द को प्राप्त होगा । अथवा एक में मुख्यत्व, और अन्य अर्थों में लाक्षणिकत्व को प्राण शब्द प्राप्त होगा । उससे जैसे एक प्राण की प्राण अपान आदि पांच वृत्तियाँ हैं । इसी प्रकार वाक् आदि भी ग्यारह वृत्तियाँ हैं ।

एव प्राप्ते ब्रूम - तत्त्वान्तराण्येव प्राणाद्वागादीनीति । कुत व्यपदेशभेदात् । कोऽय व्यपदेशभेद ? ते प्रकृता प्राणा श्रेष्ठ वर्जयित्वावशिष्टा एकादशेन्द्रियाणीत्युच्यन्ते श्रुतावेव व्यपदेशदर्शनात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च' (मु० २।१।३) इति ह्येवजातार्थकेषु प्रदेशेषु पृथक्प्राणो व्यपदिश्यते पृथक्चेन्द्रियाणि । ननु मनसोऽप्येवसति वर्जनमिन्द्रियत्वेन प्राणवत्स्यात्, 'मन सर्वेन्द्रियाणि च' इति पृथग्व्यपदेशदर्शनात् । सत्यमेतत् । स्मृती त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत्संगृह्यते, प्राणस्य त्विन्द्रियत्व न श्रुतौ स्मृती वा प्रसिद्धमस्ति । व्यपदेशभेदश्चायं तत्त्वभेदपक्ष उपपद्यते तत्त्वैकत्वे तु 'स एवैक सन्प्राण इन्द्रियव्यपदेश लभते न लभते चे'ति विप्रतिपिद्धम् । तस्मात्तत्त्वान्तरभूता मुष्यादितरे ॥ १७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्राण से तत्त्वान्तर रूप ही वागादि हैं, क्योंकि व्यपदेशभेद से ऐसा ही सिद्ध होता है । यह व्यपदेशभेद क्या है, ऐसा प्रश्न का उत्तर है कि श्रेष्ठ के बिना उसे छोड़कर जो वे प्रकृत अवशिष्ट प्राण हैं वे एकादश इन्द्रिय इस शब्द से कहे जाते हैं । यही व्यपदेशभेद है । श्रुति में ऐसा व्यपदेश देखने से अन्यत्र भी व्यपदेश होता है । (इस पुरुष से प्राण उत्पन्न होता है, मन उत्पन्न होता है और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं) इस प्रकार के प्रदेशों में पृथक् प्राण व्यपदिष्ट होता है और पृथक् इन्द्रियाँ व्यपदिष्ट होती हैं । शका होती है कि इन्द्रियों से पृथक् प्राण के समान मन भी इन्द्रियो से पृथक् निदिष्ट है, इससे ऐसा होने पर प्राण के समान मन को भी इन्द्रियत्व धर्म से वर्जन (रहित होना) होगा । मन को भी इन्द्रियो से भेद होगा जिससे (मनः सर्वेन्द्रियाणि च) यह पृथक् निर्देश का दर्शन है । उत्तर है कि यह इन्द्रिय से मन का भेद निर्देशादि सत्य ही है, तो भी स्मृति में (एकादशेन्द्रियाणि) इस वचन में मन भी श्रोत्रादि के समान इन्द्रिय रूप से संगृहीत किया जाता है । प्राण का इन्द्रियत्व तो श्रुति वा स्मृति में प्रसिद्ध नहीं है । तत्त्वभेद पक्ष में यह व्यपदेश का भेद उपपन्न होता है । और तत्त्व के एकत्व होने पर वही एक प्राण अनेक अवस्था वाला होता हुआ वाक् आदि अवस्था में इन्द्रिय व्यपदेश का लाभ करता है, प्राण, अपान आदि अवस्था में इन्द्रिय व्यपदेश का नहीं लाभ करता है यह विरुद्ध होगा, जिससे मुख्य प्राण से अन्य प्राण तत्त्वान्तर स्वरूप हैं । तथा (एतस्माज्जायते प्राण) इत्यादि रूप एक वाक्य में एक प्राण पक्ष में वही प्राण शब्द से कहा जाय, वही प्राण शब्द से नहीं कहा जाय किन्तु इन्द्रिय से कहा जाय यह विरुद्ध है इत्यादि जिससे तत्त्वभेद है ॥ १७ ॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः मुख्यादितरे—

और किस हेतु से मुख्य से अन्य तत्त्वान्तर स्वरूप हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि—

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते—‘ते ह वाचमूचुः’ (वृ० १।३।२) इत्युपक्रम्य वागादीनसुरपाप्माविध्वस्तानुपन्यस्योपसंहृत्य वागादिप्रकरणम् ‘अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः’ इत्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथगुपक्रमात् । तथा ‘मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत’ इत्येवमाद्या अपि भेदश्रुतय उदाहर्तव्याः । तस्मादपि तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥ १८ ॥

वाक् आदि से भेदयुक्त सर्वत्र प्राण सुना जाता है (उन देवो ने वाक् से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस प्रकार आरम्भ करके । असुर रूप पापों से विध्वस्त वाक् आदि का उपन्यास करके वाक् आदि के प्रकरण का उपसंहार (समाप्ति) करके (उसके अनन्तर काल में आस्य मुख में रहने वाले प्राण को सब देवों ने कहा) इस प्रकार असुरों का विध्वंस करने वाला प्राण के पृथक् उपक्रमण से मुख्य से तत्त्वान्तर स्वरूप इन्द्रियां हैं । इसी प्रकार (मन, वाक् और प्राण उन तीनों को प्रजापति ने अपने लिए किया) इत्यादि भेदश्रुति भी उदाहरण के योग्य है । जिससे भी मुख्य से अन्य तत्त्वान्तर स्वरूप है ॥ १८ ॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः मुख्यादितरे—

और किस हेतु से अन्य प्राण तत्त्वान्तर स्वरूप हैं—

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

वैलक्षण्यं च भवति मुख्यस्येतरेषां च । सुषुप्तेषु वागादिषु मुख्य एको जागर्ति स एव चैको मृत्युनाऽनाप्त आप्तास्त्वितरे । तस्यैव च स्थित्युत्क्रान्तिभ्यां देहधारणपतनहेतुत्वं चेन्द्रियाणाम्, विषयालोचनहेतुत्वं चेन्द्रियाणां न प्राणस्येत्येवंजातीयको भूयांल्लक्षणभेदः प्राणेन्द्रियाणाम् । तस्मादप्येषां तत्त्वान्तरभावसिद्धिः । यदुक्तम्—‘त एतस्यैव सर्वं रूपमभवन’ (वृ० १।५।२१) इति श्रुतेः प्राण एवेन्द्रियाणि—इति, तदयुक्तम् । तत्रापि पौर्वापर्यालोचनाद्भेदप्रतीतिः । तथाहि—‘वदिव्याम्येवाहमिति वाग्दध्ने’ (वृ० १।५।२१) इतिवागादीनीन्द्रियाण्यनुक्रम्य ‘तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्’ इति च श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं वागादीनामभिधाय ‘अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः’ (वृ० १।५।२१) इति पृथक्प्राणं मृत्युनानभिभूतं तमनुक्रामति । ‘अयं वै नः श्रेष्ठः’ (वृ० १।५।२१) इति च श्रेष्ठतामस्यावधारयति । तस्मात्तदविरोधेन वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायतत्वं तद्रूपभवनं वागादीनामिति मन्तव्यं न तादात्म्यम् । अत एव च प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वसिद्धिः ।

तथा च श्रुति — 'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्, तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा' (२।५।२१) इति मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकी वृत्तिर्दशयति । तस्मात्तत्त्वान्तराणि प्राणादीन्द्रियाणीति ॥ १९ ॥

मुख्य प्राण और इतर प्राण को परस्पर विलक्षणता है । वाक् आदि के सोने पर एक मुख्य प्राण जागता है । वही एक मुख्य प्राण मृत्यु से अगृहीत है, अन्य गृहीत हैं । उसी को स्थिति और उन्नान्ति द्वारा देह के धारण और पतन का हेतुत्व है । इन्द्रियो को देह धारणादि का हेतुत्व नहीं है । और विषयो के आलोचन (ज्ञान) का हेतुत्व इन्द्रियो को है, प्राण को नहीं, इस प्रकार का प्राण और इन्द्रियो के लक्षण का भेद बहुत है । उससे भी इन इन्द्रियो के तत्त्वान्तरभाव भेद की सिद्धि होती है । जो यह कहा था कि (वे सब इन्द्रियाँ इस मुख्य प्राण के स्वरूप हो गयीं) इस श्रुति से प्राण ही रूप इन्द्रियाँ हैं यह कथन अमुक्त है क्योंकि वहाँ भी पूर्वापर के आलोचन (विचार दर्शन) से भेद की प्रतीति होती है, वह इस प्रकार है कि (वाक् ने व्रत का निश्चय किया कि मैं बोलूंगी ही, मैं अपने व्यापार से उपरत नहीं हो सकती) इस प्रकार वाक् आदि इन्द्रियो का अनुक्रमण करके (उनको मृत्यु श्रम रूप होकर ग्रहण किया जिससे वाक् श्रान्त होती ही है) इस प्रकार श्रम रूप से मृत्युद्वारा वाक् आदि के ग्रस्तत्व का कथन करके (फिर इसी को मृत्यु नहीं प्राप्त हुआ कि जो यह मध्यम प्राण है) इस प्रकार मृत्यु से अनभिभूत पृथक् उस प्राण का अनुक्रमण श्रुति करती है कि (यह हम सब में श्रेष्ठ है) और इससे श्रेष्ठता का अवधारण कराती है जिससे उस श्रेष्ठता के साथ अविरोधपूर्वक वाक् आदि में परिस्पन्द लाभ को प्राणाधीनत्व वाक् आदि का उस प्राणरूप होना है, ऐसा मानना चाहिए, सादात्म्य (अभेद) नहीं मानना चाहिये । इस प्राणाधीनता से ही प्राण शब्द को इन्द्रियो में लाक्षणिकत्व की सिद्धि होती है और इस प्रकार श्रुति कहती है कि (वे वाक् आदि सब इस मुख्य प्राण के रूप हो गये जिससे वे वाक् आदि इस प्राण से वाचक शब्द से कहे जाते हैं) इस प्रकार यह श्रुति मुख्य प्राणविषयक ही प्राण शब्द की वाक् आदि में लाक्षणिकी वृत्ति को दर्शाती है, जिससे प्राण से इन्द्रियाँ तत्त्वान्तर हैं ॥ १९ ॥

सत्तामूर्तिबलपुन्यधिकरण (९)

नामरूपव्याकरणो जीव कर्ताय वेश्वर ।

अनेन जीवेनेत्युक्तं व्यकिर्ता जीव इष्यते ॥ १ ॥

जीवान्वय प्रवेशेन सन्निधे सर्वसर्जने ।

जीवोऽशक्त शक्त ईश उत्तमोक्तिस्तथेति तु ॥ २ ॥

उत्पत्ति और उत्पादना दो प्रकार का व्यापार होता है । उत्पात्त रूप व्यापार कार्य में रहता है । उत्पादना कर्ता में रहता है, इसी को मोमासक आर्षीभावना कहते हैं । वहाँ जगत् की उत्पत्ति विषयक श्रुति के विरोधी का परिहार अतीत दो पाद से किया गया है । इस समय उत्पादनाविषयक श्रुति विरोध का परिहार करते हैं । वहाँ भी सूक्ष्म मूर्तों की उत्पादना शक्ति के व्यापार रूप श्रुतियों में अति प्रसिद्ध है । स्थूल मूर्तों की

उत्पादना में विरोध है जिसके निवारण के लिए सूत्रकार कहते हैं कि यद्यपि (जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि) इससे प्रतीत होता है कि स्थूल नामरूप का व्याकर विस्तारकर्ता जीव है, परन्तु वहाँ भी (अहं करवाणि) मैं करूँगा इस कथन से तथा अन्य उपदेश से त्रिवृत कर्ता ईश्वर का नाम और रूप की क्लृप्ति (उत्पादना) रूप व्यापार है, जीव का नहीं है। संशय है कि नाम और रूप के व्याकरण में जीव कर्ता है, अथवा ईश्वर कर्ता है। पूर्वपक्ष है कि (अनेन जीवेन) इस कथन से नाम रूप का विस्तारकर्ता जीव इष्ट है। सिद्धान्त है कि जीव का अन्वय (सम्बन्ध) केवल प्रवेश क्रिया के साथ समीपता से है, व्याकरण क्रिया के साथ नहीं है, क्योंकि वहाँ उत्तम पुरुष की उक्ति है कि मैं करूँगा। दूसरी बात है कि सबके सर्जन (उत्पादन) में जीव असमर्थ है, ईश्वर ही समर्थ है ॥ १-२ ॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

सत्प्रक्रियायां तेजोवन्नानां सृष्टिमभिधायोपदिश्यते—‘सैयं देवतैक्षत हन्ता-हमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति’ (छा० ६।३।२)। तत्र संशयः—किं जीवक ‘कमिदं’ नामरूपव्याकरणमाहोस्वित्परमेस्वरकर्तृकमिति। तत्र प्राप्तं तावज्जीवक ‘कमेवेदं’ नामरूपव्याकरणमिति। कुतः? ‘अनेन जीवेनात्मना’ इति विशेषणात्। यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानीत्येवं-जातीयके प्रयोगे चारकर्तृकमेव सत्सैन्यसंकलनं हेतुकर्तृत्वाद्वाजात्मन्यध्यारोपयति संकलयानीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण, एवं जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वाद्देवतात्मन्यध्यारोपयति व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण। अपि च इत्थङ-वि-थादिषु नामसु घटशरावादिषु च रूपेषु जीवस्यैव व्याकर्तृत्वं दृष्टम्। तस्माज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणम्।

सत् ब्रह्म के निरूपण की प्रक्रिया (प्रकरण) में तेज, जल और अन्न (भूमि) की सृष्टि का कथन करके उपदेश दिया गया है कि (सो यह सदात्मा रूप देव ने आलोचन विचार किया कि अब इस समय मैं इन तीनों देवताओं में इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नाम रूप का विस्तार करूँगा। उन तीनों देवों में से एक एक को विभागपूर्वक संमिश्रण द्वारा तीन तीन रूपों से युक्त करूँगा) वहाँ संशय है कि यह नाम रूप का व्याकरण जीवकर्तृक है, अर्थात् नाम रूप व्याकरण का जीव कर्ता है, अथवा यह व्याकरण ईश्वर कर्तृक है, अर्थात् ईश्वर इसका कर्ता है। वहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि यह नाम और रूप का व्याकरण जीवकर्तृक (जीवकृत) है। क्योंकि (इस जीवात्मा द्वारा नाम रूप का व्याकरण करूँगा) ऐसा सम्बन्ध होने से जीवात्मत्व कर्ता का विशेषण रूप है। इससे जैसे लोक में कोई राजा कहता है कि, चार (गूढ़ पुरुष) द्वारा

में पर (शत्रु) की सेना सघ में प्रवेश करने शत्रु की सेना सघ का सकलन (परिगणन) कहेंगा । वहा इस प्रकार के प्रयोग में चार कर्तृक ही परसेनासमूह का सकलन होता हुआ भी हेतु (प्रयोजक) रूप कर्ता होने से राजा अपने आत्मा में कर्तृत्व का अध्यारोप करता है, उत्तम पुरुष के प्रयोग से कहता है कि मैं सकलन कहूँगा, यह अध्यारोप है । इसी प्रकार नाम रूप व्याकरण के जीवकर्तृक ही होते भी, हेतु रूप कर्ता होने से व्याकरण कहेंगा इस प्रकार उत्तम पुरुष के प्रयोग द्वारा सत्यात्मा रूप देवता अपने आत्मा में कर्तृत्व का अध्यारोप करता है । इत्थं द्रवित्य आधुनिक नामो में और घट, शराव आदि रूपों में जीव का ही कर्तृत्व दृष्ट (प्रत्यक्ष) है । इन नाम रूपों को कर्ता हुआ जीव प्रत्यक्ष देखा जाता है, जिससे नाम रूप का यह स्पष्ट विस्तार जीव ही का किया हुआ है ।

इत्येव प्राप्तेर्जम्भते—‘सज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु’ इति । तुशब्देन पक्ष व्यावर्तयति । सज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति नामरूपव्याक्रियेत्यतत् त्रिवृत्कुर्वत इति परमेश्वर लक्षयति, त्रिवृत्करणे तस्य निरपवादकर्तृत्वनिर्देशात् । येय सज्ञाक्लृप्तिर्मूर्तिक्लृप्तिश्चाग्निरादित्यश्चन्द्रमा ि च्छदिति तथा कुशकाशपलाशादिषु पशुमृगमनुष्यादिषु च प्रत्याकृति प्रतिव्यक्ति चानेकप्रकारा, सा खलु परमेश्वरस्यैव तेजोवन्नाना निर्मातु कृतिर्भवेत्तुमर्हति । कुत ? उपदेशात् । तथाहि—‘स्य देवतैश्चत’ इत्युपक्रम्य ‘व्याकरवाणि’ इत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वमिहोपदिश्यते ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (सज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु) इति । वहाँ तु शब्द से पूर्व की व्यावृत्ति करते हैं । सज्ञामूर्तिक्लृप्ति शब्द का नामरूप का व्याकरण अर्थ है । त्रिवृत् कुर्वत, यह शब्द परमेश्वर का लक्ष (बोध) कराता है, क्योंकि त्रिवृत् करने में उस परमेश्वर के ही निरपवाद (बाधरहित) कर्तृत्व का श्रुति में निर्देश है । इस से अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा, विशुत्, इस प्रकार की, तथा कुश, काश, पलाश आदि में और पशु मृग, मनुष्य आदि में जो प्रत्येक आकृति (जाति) में और प्रत्येक व्यक्ति में नाना प्रकार की सज्ञा की क्लृप्ति (अभिव्यक्ति सिद्धि) है । मूर्ति की क्लृप्ति है । इसलिए सब क्लृप्ति तेज जल और अन्न का निर्माता परमेश्वर ही की कीर्ति होने योग्य है । क्योंकि उपदेश से ऐसा ही सिद्ध होता है । इसी प्रकार का उपदेश है कि (उस देवता ने विचार किया) इस प्रकार उपक्रम करके (व्याकरण कहेंगा) इस प्रकार उत्तम पुरुष के प्रयोग से परब्रह्म का ही यहाँ व्याकरण का कर्तारूप से उपदेश दिया जाता है ।

ननु जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं व्याकरणस्याध्यवसितम् । नैतदेवम्, जीवेनेत्यतदनुप्रविश्येत्यनेन सवध्यते । आनन्तर्यात्, न व्याकरवाणीत्यनेन,

तेन हि सम्बन्धे व्याकरवाणीत्ययं देवताविषय उत्तमपुरुष औपचारिकः कल्प्येत, नच गिरिनदीसमुद्रादिषु नानाविधेषु नानारूपेष्वनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरण-सामर्थ्यमस्ति, येष्वपि चास्ति सामर्थ्यं तेष्वपि परमेश्वरायत्तमेव तत् । न च जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नश्चार इव राजः, आत्मनेति विशेषणात्, उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य । तेन तत्कृतमपि नामरूपव्याकरण परमेश्वरकृतमेव भवति, परमेश्वर एव च नामरूपयोर्व्याकर्ततेति सर्वोपनिपत्तिद्वान्तः 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८ १४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मात्परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्कुर्वतः कर्मनामरूपयोर्व्याकरणम्, त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदमिह नामरूपव्याकरणं विवक्ष्यते, प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोवन्तो-त्पत्तिवचनेनैवोक्तत्वात् ।

शंका होती है कि जीवेन, इस विशेषण से व्याकरण की कर्तृता जीव को निश्चित हुई है । यहाँ उत्तर है कि यह कर्तृत्व इस प्रकार जीव को नहीं है । अनन्तरता से जीवेन यह पद अनुप्रविश्य इसी क्रिया के साथ सम्बद्ध होता है, व्याकरवाणि, इसके साथ नहीं सम्बद्ध होता है, क्योंकि जीवेन इसको व्याकरवाणि इसके साथ सम्बन्ध होने पर, देवता विषयक उपकरवाणि यह इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग गौण कल्पित (सिद्ध) होगा । देवता गौणकर्ता हो, जीव ही मुख्य कर्ता हो ऐसा हो नहीं सकता है, क्योंकि गिरि (पर्वत), नदी, समुद्रादि नाना प्रकार के नामरूपों के व्याकरण में अनीश्वर जीव को व्याकरणक्रिया की शक्ति नहीं है । जिसमें शक्ति है भी उसमें भी वह सामर्थ्य ईश्वराधीन ही है । शंका होती है कि (अनुप्रविश्य करवाणि) पैठकर करता हूँ । इस प्रकार एक कर्ता के रहते पूर्वकालिक क्रिया अर्थ में क्त्वा प्रत्यय होता है, यदि प्रवेश का कर्ता जीव है, व्याकरण का कर्ता देव है, तो क्त्वा नहीं होना चाहिये । इससे उत्तर है कि जैसे राजा से चार अत्यन्त मिन्न होता है, वैसे परमेश्वर से अत्यन्तमिन्न जीव नामवाला नहीं है, इसलिए आत्मना इस विशेषण से सिद्ध होता है । उपाधि मात्र निमित्तक परमेश्वर में ही जीवभाव के होने से भी जीव परमेश्वर से मिन्न नहीं है । इससे उस जीव से किया गया भी नाम रूप का व्याकरण परमेश्वर कृत ही होता है । परमेश्वर ही नाम और रूप का व्याकरण (अमिन्व्यक्ति) कर्ता है, यह सब उपनिषदों का सिद्धान्त है । अतः (आकाश—विभु ब्रह्मात्मा ही नाम और रूप का निर्वहिता—निर्वाहसिद्धि कर्ता है) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है । इससे त्रिवृत् करने वाले परमेश्वर के ही नाम और रूप का व्याकरण रूप कर्म (व्यापार) है । परमेश्वर से अमिन्न होते भी औपाधिक भेदवाले जीव का यह कर्म नहीं हो सकता है । तेज, जल, अन्न की उत्पत्ति के कथन से ही प्रत्येक नाम रूप के उक्त होने से, सूक्ष्म महाभूत सृष्टि के कथित होने से, यहाँ इस व्याकरण वाक्य में त्रिवृत्करणपूर्वक यह भौतिक ही नाम और रूप का व्याकरण विवक्षित होता है ।

तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुतिर्दशयति—‘यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपा यत्कृष्णं तदन्नम्य’ (छा० ६।४।१) इत्यादिना । तत्राग्निरितीदं रूपं व्याक्रियते । सति च रूपव्याकरणे विषयप्रतिलम्भादग्निरितीदं नाम व्याक्रियते । एवमेवादित्यचन्द्रविद्युत्स्वपि द्रष्टव्यम् । अनेन चाग्न्याद्युदाहरणेन भीमाम्भसतैजसेषु त्रिष्वपि द्रव्येष्वविशेषेण त्रिवृत्करणमुक्तं भवति, उपक्रमोपसंहारयोः साधारणत्वात् । तथाह्यविशेषेणैवोपक्रम—‘इमास्तिष्ठो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति’ (छा० ५।३।४) इति । अविशेषेणैव चोपसंहार—‘यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपम्’ इत्येवमादि, ‘यदविज्ञानमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति’ (छा० ६।४।६।७) एवमन्त ॥ २० ॥

उस त्रिवृत्करण की अग्नि, आदित्य, चन्द्र और विद्युत् में श्रुति दर्शाती है कि (जो अग्नि का रोहित—रक्त रूप है, वह रूप तेज का माग स्वरूप है, जो अग्नि का शुक्ल रूप है, वह जल का है । जो कृष्ण रूप है वह अन्न (भूमि) का है इत्यादि वचनों से श्रुति दर्शाती है । यहाँ अग्नि इस प्रकार यह अग्नि रूप वस्तु व्यावृत्त किया जाता है । फिर रूप व्याकरण के होने पर विषय के प्रतिलाम (प्राप्ति) से अग्नि इस प्रकार नाम व्यावृत्त किया जाता है । इसी प्रकार आदित्य चन्द्र और विद्युत् में भी नाम और रूप का व्याकरण समझना चाहिये । इस अग्नि आदि उदाहरण से ही पायिव, जलीय और तैजस तीनों द्रव्यों में अविशेष (तुल्य) रूप से त्रिवृत्करण उक्त होता है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहार में साधारणता है, तीनों के त्रिवृत्करण की चर्चा उपक्रम और उपसंहार में है । इस प्रकार अविशेष रूप से उपक्रम है कि (इन तीनों देवताओं में एक-एक त्रिवृत्-त्रिवृत् होती है ।) अविशेष रूप से ही उपसंहार है कि (विशेष रूप से अगृहीत होने से जो रोहित के समान हुआ विद्वानों का रक्त सा प्रतीत हुआ । वह तेज का रूप है) इत्यादि । जो सर्वथा अविज्ञात अदृष्ट के समान हुआ वह भी इन तीनों देवताओं का ही समास (समूह) रूप है । यहाँ तक अविशेष रूप से उपसंहार है ।

तामा तिसृणां देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानां मतीनामध्यात्ममपर त्रिवृत्करणमुक्तम्—‘इमास्तिष्ठो देवता पुरुष प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति’ (छा० ६।४।७) इति । तदिदानीमाचार्यो यथाश्रुत्येवापदशयत्याशङ्कित कश्चिद्दोषं परिहरिष्यन्—

बाहर त्रिवृत्कृत रूप में वर्तमान उन तीनों देवताओं का शरीर सम्बन्धी अन्य त्रिवृत्करण कहा हुआ है कि (ये तीनों देवता पुरुष (शरीर) को प्राप्त होकर एक-एक त्रिवृत्-त्रिवृत् होती हैं) आशङ्कित किसी दोष का आगे परिहार करने वाले आचार्य उस शरीर सम्बन्धी त्रिवृत्करण की श्रुति के अनुसार ही उपदर्शित हैं कि—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेणोपभुज्यमानाया मांसादिकार्यं यथाशब्दं निष्पद्यते । तथाहि श्रुतिः—‘अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः’ (छा० ६।५।१) इति । त्रिवृता भूमिरेवैषा ब्रीहियवाद्यन्नरूपेणाद्यत इत्यभिप्रायः । तस्याश्च स्थविष्ठं रूपं पुरीष-भावेन बहिर्निर्गच्छति । मध्यममध्यात्मं मांसं वर्धयति । अणिष्ठं तु मनः । एवमितरयोरेतेजसोर्यथाशब्दं कार्यमवगन्तव्यम् । एवं मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम् । अस्थि मज्जा वाक्तेजस इति ॥ २१ ॥

पुरुष (शरीर) से उपभुज्यमान उपभुक्त अन्न आदि रूप त्रिवृत्कृत भूमि के मांसादि रूप कार्यं शास्त्र के अनुसार सिद्ध होते जिससे इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (उपभुक्त अन्न तीन प्रकार से विभक्त होता है, उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है वह पुरीष-मल, होता है, मध्यम भाग होता है वह मांस होता है, जो अत्यन्त अणु सूक्ष्म धातु (भाग पदार्थ) होता है, वह मन होता है । अभिप्राय है कि त्रिवृत्कृत यह भूमि ही ब्रीहियवादि अन्न रूप से सिद्ध होने पर खाई जाती है, और उसका अति स्थूल रूप विष्ठा रूप से बाहर निकलता है । मध्यम रूप शरीर के मांस को बढ़ाता है । सूक्ष्म रूप मन को बढ़ाता है । इसी प्रकार भूमि से अन्य जल और तेज का भी शब्द (श्रुति) के अनुसार कार्य समझना चाहिए कि इसी प्रकार मूत्र, रक्त—रुधिर और प्राण जल के कार्य हैं । हाड़, मज्जा और वाक् तेज के कार्य हैं ॥ २१ ॥

अत्राह—यदि सर्वमेव त्रिवृत्कृतं भूतभौतिकमविशेषश्रुतेः ‘तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेवैकामकरोत्’ इति, किंकृतस्तर्ह्ययं विशेषव्यपदेशः ‘इदं तेज इमा आप इतमन्नम्’ इति । तथा ‘अध्यात्ममिदमन्नस्याशितस्य कार्यं मांसादि इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि इदं तेजसोऽशितस्य कार्यमस्थ्यादि’ इति अत्रोच्यते—

यहाँ कोई कहते हैं (उन देवताओं में से एक एक को त्रिवृत्-त्रिवृत् किया) इस अविशेष (सामान्य) श्रुति से यदि सभी भूत भौतिक वस्तु त्रिवृत्कृत हैं तो यह तेज है, यह जल है, यह अन्न है । यह विशेष भेद का व्यपदेश (व्यवहार) किस हेतु से होता है । इसी प्रकार शरीर सम्बन्धी ये मांसादि भुक्त अन्न के कार्य हैं । ये लोहितादि पीये गये जल के कार्य हैं । ये हाड़ आदि भुक्त घृतादि रूप तेज कार्य हैं, यह भी विशेष व्यपदेश किंकृत (किस हेतुजन्य) होता है । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

तु शब्देन चोदितं दोषमपनुदति । विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, भूयस्त्वा मिति यावत् । सत्यपि त्रिवृत्करणे क्वचित्कस्यचिद्भूतधातोर्भूयस्त्वमुपलभ्यते

‘अग्नेस्तेजोभूयस्त्वमुदकस्याभूयस्त्व पृथिव्या अन्नभूयस्त्वम्’ इति । व्यवहार-
प्रसिद्धयर्थं चेद त्रिवृत्करणम् । व्यवहारश्च त्रिवृत्कृतरज्जुवेदकत्वापत्तौ सत्या न
भेदेन भूतत्रयगोचरो लोकस्य प्रसिद्धयेत् तस्मात्सत्यपि त्रिवृत्करणे वैशेष्या-
देव तेजोवन्नविशेषवादो भूतभौतिकविषय उपपद्यते । तद्वादस्तद्वाद इति पदा-
भ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थं पाद ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्येऽविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ॥



तु शब्द से शक्ति दोष का निवारण करते हैं । विशेष के भाव को वैशेष्य कहते
हैं । अर्थात् भूयस्त्व (आधिक्य) रूप विशेष भाव और वैशेष्य है । त्रिवृत् करण के
होने पर भी कही किमी मूतरूप घातु (पदार्थ) का भूयस्त्व (आधिक्य) उपलब्ध
होता है । जैसे कि अग्नि का तेज आधिक्य, उदक का अबाधिक्य, पृथिवी का अन्नाधिक्य
उपलब्ध होता है । त्रिवृत्करण पर भी स्वस्वभाव की विशेषता की गई है, वह इसलिए
की गई है कि व्यवहार की प्रसिद्धि के लिये यह त्रिवृत्करण होता है । त्रिवृत्कर्त्तृ रज्जु
(रस्सी डोरी) के समान तीनों भूतों के एकत्व की प्राप्ति होने पर तीन भूतविषयक
भेदपूर्वक लोक का व्यवहार नहीं सिद्ध होगा । इससे त्रिवृत्करण के होने पर भी वैशेष्य
से ही तेज, जल और अन्न यह विशेषवाद (भेदव्यवहार) भूतभौतिक पदार्थ विषयक
उपपन्न (सिद्ध) होता है (तद्वाद) इस पद का अभ्यास दो बार पाठ अध्याय की
परिसमाप्ति का द्योतन करता है ॥ २२ ॥

नमामि सच्चिदानन्द सर्वात्मानमखण्डितम् । कुर्वाण स्वप्नवद्विदमसङ्ग सर्वदा स्थितम् ॥१॥
सामान्येन विशेषेण समन्वयो यथाविधि । आद्याध्याये ह्यशेषेण वेदान्तना निरूपित ॥२॥
द्वितीयाध्याय उक्ता ये पूर्वपक्षास्तथैव च । एकदेशिमत् तद्वि सर्वमन्वयबाधकम् ॥३॥
सिद्धान्तस्तु पुनस्तत्र समन्वयस्य साधक । इति सक्षेपतश्चात्र सङ्गतिर्बुधसम्मता ॥४॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्येऽविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ।



॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१२४

॥ श्रीः ॥

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

‘ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी’ हिन्दीव्याख्योपेतम्

(द्वितीयो भागः)

व्याख्याकारः

स्वामी श्रीहनुमानदासजी/षट्शास्त्री



चौरवम्बा विद्याभवन

वा रा ण सी

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय सस्कृति एव साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

घोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स नं० ६६

वाराणसी २२१००१

सर्वाधिकार सुरक्षित

द्वितीय संस्करण १९८१

मूल्य {	सम्पूर्ण	६०-००
	१-२ अध्याय	३५-००
	३-४ अध्याय	२५-००

अन्य प्राप्तिसूचना—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय सस्कृति एव साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२६

वाराणसी २२१००१

मुद्रक—

श्रीजो मुद्रणालय

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

124



THE
BRAHMASŪTRA ŚĀṆKARABHĀṢYAM
OF
ŚRĪ ŚĀṆKARĀCHĀRYA

Edited with
THE BRAHMATATTVAVIMARŚINĪ
HINDĪ COMMENTARY

By
Swami Hanumandas Shatshastri

PART II



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No 69
VARANASI 221001

•

Second Edition

1981

Price Rs	{ Complete	60-00
	{ Chapter 1-2	35-00
	{ Chapter 3-4	25-00

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
K 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No 129
VARANASI 221001

अथ तृतीयोऽध्यायः

[तृतीये साधनाख्याध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्ता-वैराग्यनिरूपणविचारश्च]

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण (१)

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान् व्रजेत् । भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥१॥
बीजानां सुलभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः । पञ्चमाहुतिपुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥२॥

अव्यवहित पूर्वपाद के अन्त मे शरीर की चर्चा हुई है, इससे इस सूत्र में तत्त्वशब्द से शरीर का बोध होता है । रहि धातु गति अर्थ में है, और प्रतिपत्तिशब्द का प्राप्ति अर्थ है, सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ में है । इससे सूत्र का अर्थ है कि एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये यह जीव भूतों के सूक्ष्मांशयुक्त भूतसूक्ष्मांशमय सूक्ष्म शरीर से वेष्टित ही गमन करता है, यह पञ्चाग्निसम्बन्धी प्रश्न और प्रतिवचन से सिद्ध और अवगत होता है । यहाँ प्रश्न है कि भूतों के सूक्ष्मांश से अवेष्टित अथवा वेष्टित पुमान् (पुरुष-जीवात्मा) गमन कर सकता है । पूर्वपक्ष है कि शरीर के कारण-रूप भूतों के सब लोकादि मे सुलभ होने से भूतों से अवेष्टित ही जीव जाता है । सिद्धान्त है कि साधारण भूतों के सर्वत्र होते भी तत्तत्संस्कारादियुक्त अतएव बीज-तुल्य भूतों के सर्वत्र दुर्लभ होने से, तथा निराधार इन्द्रियो की गति के दुर्लभ होने से, असम्भव होने से, तथा पञ्चमाहुतिविषयक श्रुतिगत युक्ति के सूक्ष्मभूत के बिना दुर्लभत्व से भूतसूक्ष्मों से वेष्टित हो जाता है ॥ १-२ ॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न-

निरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः । परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम् । श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः । तत्र च जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम् । अथेदानोमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि ब्रह्म-सत्त्वं विद्याभेदाभेदो गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत् । तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चा-ग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः, 'तस्माज्जुगु-प्सेत' इति चान्ते श्रवणात् । जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्को-ऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवगतम्,

‘अर्थेनमेने प्राणा अभिममायन्ति’ इत्येवमादे ‘अन्यन्नवतर कल्याणतर रूप कुरुते’ (वृ० ४।४।१।४) इत्येवमन्तात्मसारप्रकरणम्याच्छब्दात्, धर्माधर्म-फलोपभोगमभवाच्च । स किं देह बीजैर्भूतमूढमैरमपरिष्वक्तो गच्छत्याहोम्वि-त्मपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? अमपरिष्वक्त इति । कुत ? करणोपादानवद्भूतोपादानम्याश्रुतत्वात् । ‘स एतास्नेजोमात्रा समभ्याददान’ (वृ० ४।४।१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्दन करणानामुपादान मकीर्तयति, वाय्वग्नेये चक्षुरादिसकीर्तनात् । नैव भूतमात्रोपादानमकीर्तनमस्ति, मुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्रा, यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति ततश्च तामा नयन निष्प्रयोजनम्, तस्मादमपरिष्वक्तो यातीति ।

वेदान्तो मे विहित ब्रह्मदर्शनविषयक स्मृति और न्याय का विरोध द्वितीय अध्याय में परिहृत (निवारित) किया गया है और परपक्षों के अनपेक्षत्व (अग्राह्यत्व) का विस्तार में वर्णन किया गया है । तथा श्रुतियों के विरोधों का परिहार किया गया है । और उस द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि जीव में भिन्न जीव के उपकरण (भोगादिमायन) रूप तत्त्व ब्रह्म में उत्पन्न होते हैं । उसके अनंतर अब इस समय उक्त उपकरण उपहित (उपरुग्णा से युक्त) जीव की समारगति का प्रकार उस जीव की अन्य अस्म्याएँ, ब्रह्म का तात्त्विक स्वरूप, विद्या का भेद और अभेद, गुणों का उप-सहार और अनुपसहार, सम्यग्दर्शन से पुत्पार्थ की मिद्धि, सम्यग्दर्शन के उपायों की विधियों का प्रभेद और मुक्तिरूप फल या अनियम इत्यादि जयसमूह का निरूपण तृतीय अध्याय में किया जायगा और प्रसंग में प्राप्त अन्य देहात्म-रूपणादि भी कुछ कहा जायगा । यहाँ सबसे आदि में प्रथम पाद में वैराग्य का हेतु होने में पञ्चाग्निविद्या का आश्रयण करके समारगति का प्रभेद प्रदर्शित करवा जाता है । पञ्चाग्निविद्या-प्रदर्शन में समारगति-प्रदर्शन में (तस्माज्जुगुप्तेन) इस प्रकार जल में श्रवण में वैराग्य की स्वर्गेत्युता की प्रतीति होती है (जिसने कर्म का पररूप स्वर्ग गमनागमन-रूप अनर्थान्मक है) इसमें कर्मफल में विद्वान् पुरुष जुगुप्सा (घृणा) करे यह अर्थ है । मुख्यप्राण इन्द्रिय और मन सहित तथा अविद्या, कर्म (धर्माधर्म) पूर्वप्रज्ञा (जन्मान्तर के सम्कार) रूप परिग्रह (परिवार) वाला जीव पूर्व देह को त्याग कर अन्य देह में प्राप्त होता है, यह अर्थतत्त्व अवगत होता है । जिसमें (इसमें मरणकाल में य चाक्ष आदि प्राण इस जीवात्मा में हृदय में सम्मिलित होते हैं) यहाँ में आग्नि करके (जल जति तवीन व्याणतः सुन्दर रूप शरीर करता है) यहाँ तक ससार के प्रकरण में स्थित शब्दों में उक्त अर्थ अवगत होता है तथा अविद्यादिमहित का ही कर्म-फल के उपनोग का सम्भव भी है, इसमें भी उक्त अर्थ अवगत होता है । यहाँ क्या देहान्तर के बीजरूप भूतों के मूढमात्रों से असमिलित, असंवेष्टित जीव मरण-शून्य में गमन करता है, अथवा मूढम भूतों में सम्मिश्रित होकर गमन करता है, यह चिन्ता-

विचार किया जाता है। यहाँ प्रथम क्या होता है, ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि असंमिलित जीव जाता है। क्योंकि गमनकाल में कर्णों के उपादान (ग्रहण) के समान भूतों के उपादान के अश्रुतत्व से असंमिलित का गमन सिद्ध होता है। (वह जीवात्मा मरणकाल में इन तेजोमात्राओं, ज्ञानवृत्तियों का सम्यग् ग्रहण करके गमन करता है) यहाँ तेजोमात्रा शब्द ने कर्णों का ग्रहण संकीर्तित होता है, वह वाक्यशेष में चक्षुआदि के संकीर्तन से समझा जाता है। इस प्रकार भूत-मात्राओं के उपादान का संकीर्तन नहीं है। भूतमात्रा सर्वत्र मुलभ भी हैं, जहाँ ही देह का आगम होना है वहाँ ही भूतमात्रा वर्तमान हैं। इससे उन भूतमात्राओं को वहाँ ले जाना निष्प्रयोजन है, इसीलिये भूतमात्राओं से असम्बद्ध जीव अन्य द्वापर के लिये गमन करता है।

एवं प्राप्ते पठन्याचार्यः—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहात् देहान्तरप्रतिपत्तौ देहवीजैर्भूतमूर्ध्मः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम्। कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। तथाहि प्रश्नः—‘वैत्थ यथा पञ्चम्यानाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ (छा० ५।३।३) इति। निरूपणं च प्रतिवचनं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोपित्मु पञ्चन्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतो-रूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा ‘इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ (छा० ५।९।१) इति। तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते। नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्सुर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति—‘तद्यथा तृणजलायुका’ (वृ० ४।४।३) इति। तत्राप्यपरिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापितप्रतिपत्त्यदेहविषयभावनादीर्घाभावमात्रं जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः। एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषसत्तिप्रभवाः कल्पनाः—व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद् वृत्तिलाभस्तत्र भवति, केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति, इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते, सन एव वा केवलं भोगस्थान-मभिप्रतिष्ठेत्, जीव एव वोत्प्लूह्य देहाद् देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक्र इव वृक्षाद् वृक्षान्तरम्—इत्येवमाद्याः सर्वा एवानाद्वर्तव्याः श्रुतिविरोधात् ॥ १ ॥

इन प्रकार प्राप्त होने पर आचार्य पढ़ते (कहते) हैं कि (तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः इति) तदन्तर की प्रतिपत्ति में अर्थात् गृहीत देह से देहान्तर की प्राप्ति में देह के बीजभूतों के मूर्ध्मांगों से समिलित जीव गमन करता है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि प्रश्न और प्रतिवचन से ऐसा ही सिद्ध होता है। जिससे प्रश्न इन प्रकार है कि (क्या जानते हो कि जिस प्रकार पञ्चमी आहुति के पूर्ण होने पर हवन के साधनरूप जल ही पुरुष शब्द के वाच्य पुरुषरूप हो जाते हैं) और निरूपण (प्रतिवचन) है कि स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, स्त्रीरूप कल्पित पाँच अग्नियों से श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्यरूप पाँच आहुति (हवनसाधन) को दिखा कर (इस प्रकार पञ्चमी आहुति में

आप — जल पुष्प शब्द के वाच्य होते हैं) जिसमें जल से परिवेष्टित जीव गमन करता है यह समझा जाता है । भाव है कि श्वेतकेतु पाचालो की समा में गया, तो प्रवाहण ने उसने उक्त प्रश्न किया । श्वेतकेतु उत्तर नहीं दे सका तो पिता के पास गया । वे भी उस तत्त्व का नहीं जानते थे, इसमें श्वेतकेतु के पिता ने ही प्रवाहण के पास में जाकर इस प्रश्न का उत्तर उमीमे पूछा तो उमन श्रद्धार्थक, दधि, घृत, दूध आदि जलमय पदार्थ स्वर्ग के लिये अग्नि में हवन किय जात है, उन जल आदि को श्रद्धा शब्द से कह कर उनका स्वर्गार्पण अग्नि में हवन बताया । क्योंकि वे संस्कृत जल यजमान के साथ स्वर्ग में जाते हैं । वे ही क्रम से साम, वृष्टि, अन्न, वीर्यरूप होकर फिर शरीररूप होते हैं, यह विषय विस्तारपूर्वक छान्दाय्य में द्रष्टव्य है । यहाँ शका होती है कि (जैसा तृणजलायुका दूसरे तृण को पकड़कर गृहीत देह को त्यागता है, इसी प्रकार जीव भी दूसरी देह का पकड़कर गृहीत देह का त्यागता है) इसी प्रकार की दूसरी श्रुति तृण-जलायुका के समान जब तक देहान्तर में नहीं प्राप्त होता है तब तक पूर्व देह को नहीं त्यागता है, इस अर्थ का दियाती है । इसमें श्रुति में विरोध प्रतीत होता है । उत्तर है कि वहाँ भी जलादि से परिवेष्टित ही जीव के कर्म से उपस्थापित (सिद्ध) प्राप्त करने योग्य देहविषयक वासना का दीर्घमात्र (विस्तार-सम्बन्ध) मात्र ही जलायुका द्वारा उपमित (उपमा में बोधित) होता है, इसमें विरोध नहीं है । इस प्रकार श्रुति में उक्त देहान्तर की प्राप्ति के प्रकार के होने पर, जो पुरुषा की मति से अन्य कल्पनाएँ हैं वह मत्र ही श्रुतिविरोध से अनादर्तव्य है । सांख्यो की कल्पना है कि व्यापक करण और आत्मा का देहान्तर की प्राप्ति में कर्मवश उस देहान्तर में वृत्तिलाम होता है । आत्मा वा इन्द्रिय की गति नहीं होती है । भुग्नमन की कल्पना है कि केवल आत्मा ही का इस देहान्तर में वृत्तिलाम होता है, इन्द्रिया तो देह के समान तत्त्वों में स्थानों में सर्वथा नूनन ही उत्पन्न होती हैं, काणादमत की कल्पना है कि केवल मन ही माग स्थान में जायगा, इन्द्रियाँ नवीन ही उत्पन्न होंगी । दिगम्बर कहते हैं कि एक वृक्ष में दूसरे वृक्ष पर शुक के समान जीव हो एक देह से उछल (कूद) कर दूसरे देह को प्राप्त करता है इत्यादि ॥ १ ॥

ननुदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरिन्द्रो सपरिष्वक्ता रहतीति प्राप्नोति, अपशब्दश्रवणमामर्थ्यात् । तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतभूदमै सपरिष्वक्ता रहतीति । अत उत्तर पठति—

उक्तार्थ में शका होती है कि उदाहृत प्रश्न और प्रतिवचन से केवल जल से परिवेष्टित जीव गमन करता है, यह प्राप्त होता है । क्योंकि प्रश्न और प्रतिवचन दोनों में अपशब्द के श्रवण के सामर्थ्य से अपमात्र में ही परिवेष्टित का गमन सिद्ध होता है । फिर भी उस अर्थ विषयक सामान्य से कौन प्रतिज्ञा ही जाती है कि सब ही भूता के सूक्ष्म भागों में संवेष्टित जीव गमन करता है । अत उत्तर पढ़ते हैं कि—

आत्मकत्वात् भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

तुगवदेन चोदितामागङ्गामुच्छिनन्ति । आत्मिका ह्यापस्त्रिवृत्करणश्रुतेः । नास्वारम्भिकास्वभ्युपगताम्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति । आत्मकश्च देहस्त्रयाणामपि तेजोवन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः, पुनश्च आत्मक-स्त्रिधातुत्वात् त्रिभिर्वातिपित्तश्लेष्मभिः । न भूतान्तराणि स प्रत्याख्याय केवला-भिराद्भिरारब्धुं शक्यते । तस्माद् भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति । प्रश्नप्रतिवचनयोरप्यवदो न केवल्यापेक्षः, सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्य-भूयस्त्वं दृश्यते । ननु पार्थिवो धातुर्भूमिष्ठो देहेषूपलब्धते । नैप दोषः । इतरा-पेक्षवाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति । दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम् । कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे । कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि । कर्मसमवायिन्यश्चापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्ते इति ब्रूयन्ति, तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः । बाहुल्याच्चाप्यवदेन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥ २ ॥

तु शब्द से प्रश्नात्मक शंका का उच्छेद करते हैं कि—त्रिवृत्करण श्रुति से जल तीनभूत स्वरूप है इससे यहाँ शंका का विषय नहीं है । आरम्भक (कारण) रूप से स्वीकृत उस जल में इतर भूमि-तेजरूप भी दो भूत अवश्य अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) होते हैं । तेज, जल और अन्न इन तीनों के कार्य की इस देह में उपलब्धि से देह तीन भूतात्मक है । पाक, स्वेद, गन्धरूप तीनों भूतों के कार्य देह में उपलब्ध होते हैं । यदि कहो कि प्राण और अवकाश की सभी देह में उपलब्धि से पञ्चात्मदेह को कहना उचित है, तो फिर भी वात, पित्त और श्लेष्मारूप तीन धातुओं से तीन धातुस्वरूप देह है । वह देह भूतान्तर को त्याग कर केवल जल से रचा नहीं जा सकता है । इससे अधिकता की अपेक्षा से (जल—पुरुष वचन वाला होता है) यह कहा गया है । प्रश्न और प्रतिवचन में अप्शब्द केवलता की अपेक्षा से नहीं है । जिससे सब देहों में रस-लोहितादि द्रव (स्पन्दन युक्त) द्रव्य की अधिकता देखी जाती है, इससे अधिकता-दृष्टि से ही प्रश्न-प्रतिवचन में अप्शब्द है । शंका होती है कि पार्थिव धातु (पदार्थ) मांसादि शरीरों में अधिक उपलब्ध (दृष्ट) होते हैं, उत्तर है कि यह दोष नहीं है, पृथिवी से अन्य तेज-वायु की अपेक्षा से जल की बहुलता होगी । देह के आरम्भ में कर्म निमित्त कारण होता है । अग्निहोत्रादिरूप सब कर्म सोमरस, घृत, पय आदि द्रव द्रव्य के आश्रित सिद्ध होते हैं । श्रद्धा शब्द से कथिन कर्म-सम्बन्धी जल कर्मों के साथ द्युलोक नामक अग्नि में हुत—प्रक्षिप्त होते हैं । यह आगे कहेंगे । इससे भी जलों की बहुलता की सिद्धि होती है । बहुलता से अप् शब्द द्वारा सभी देह के बीजरूप भूतों के सूक्ष्मांश का ग्रहण है इससे निर्दोष है ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिं श्राव्यते—‘तमुत्क्रामन्त प्राणोज्ज्वला-
मपि प्राणमनूत्क्रामन्त सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति’ (वृ० ४।४।२) इत्यादि-
श्रुतिभिः । सा च प्राणानां गतिर्नाश्रयमन्तरेण भवतीत्यतः प्राणगतिप्रयुक्ता
तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गतिरवगम्यते । नहि निराश्रया
प्राणा कचिद् गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा—जीवतो दर्शनात् ॥ ३ ॥

‘उम जीव के उत्क्रमण करते ही प्राण अनुत्क्रमण करता है, प्राण के अनुत्क्रमण
करते ही सब प्राण अनुत्क्रमण करते हैं, इत्यादि श्रुतियों से देहान्तर की प्राप्ति में
प्राणों की भी गति मुताबिक जाती है । वह प्राणों की गति आश्रय के बिना हो नहीं
सकती है । अतः प्राणगतिनिमित्तम् उस प्राणों के आश्रयरूप अन्यभूता से सम्मिलित
जला की गति अवगत होती है (समझी जाती है) । जीवित पुरुष के प्राणों को
निराश्रय गति के अदर्शन से समझा जाता है कि निराश्रय प्राण कहीं नहीं जाते हैं
वा कहीं स्थिर नहीं होते हैं । इससे मरणकाल में भूत-मूढमादि आश्रयसहित ही गमन
करते हैं ॥ ३ ॥

अन्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

न्यादेतत्, नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति अन्यादि-
गतिश्रुते । तथाहि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अन्यादीन्देवान्गच्छन्तीति
दर्शयन्ति—‘यत्रान्य पुरुषस्य मृतम्याग्निं वागप्येति वातः प्राणः’ (वृ० ३।२।१३)
इत्यादिनेति चेत् । न । भाक्तत्वात् । वागादीनामन्यादिगतिश्रुतिर्गौणो लोमसु
केचिदुपचादर्शनात् । ‘ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः’ (वृ० ३।२।१३) इति
हि तन्नाम्नायते । नहि लोमानि वेशाश्चोष्णव्योषधोर्वनस्पतीश्च गच्छन्तीति
भवति । नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्यानं गमनमवकल्प्यते । नापि
प्राणविना देहान्तर उपभोग उपपद्यते, विस्पष्टं च प्राणानां मह जीवेन गमन-
मन्यत्र श्रावितम्, अतो वागाद्यधिष्ठात्रीणामन्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां
मरणकाल उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽन्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥ ४ ॥

शका होती है कि प्राणों की निराश्रय गति नहीं होती है । यह ऐसा हा, परन्तु
मरणकाल में वाक् आदि रूप प्राणों की अग्नि आदि में गति के मुक्त से सिद्ध होता है
कि देहान्तर की प्राप्ति-काल में जीव के साथ प्राण नहीं गमन करते हैं । जिससे मरण-
काल में वात् आदि रूप प्राण, अग्नि आदि देव को प्राप्त होते हैं, उसको श्रुति इस प्रकार
दिशती है कि (जहाँ इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन होती है, प्राण वायु में लीन
होते हैं, इत्यादि, उम समय पुष्प कहाँ रहता है ।) यह प्रश्न है, इससे मरण के बाद
वागादिरहित पुष्प मिट्ट होना है, यदि इस प्रकार कोई कहे, तो यह कहना ठीक

नहीं है, जिससे अग्नि आदि में वाक् आदि की गमन-श्रुति भाक्त है (ओपधियों में मृत पुरुष के लोम प्राप्त होते हैं, वनस्पतियों में केश प्राप्त होते हैं) इस प्रकार भी श्रुति कहती है, परन्तु लोम और केश में ओपधि-वनस्पतिविषयक गमन के नहीं देखने से श्रुति गोणी है। लोम और केश उछल-कूद कर ओपधि और वनस्पति में जाते हैं, यह सम्भव नहीं है और प्राणरूप उपाधि के प्रत्याख्यान-परित्याग करने पर जीव का गमन नहीं सिद्ध हो सकता है, उपाधिरहित जीव का स्वरूप निष्क्रिय है, इसीसे प्राणों के बिना देहान्तर में उपमोग भी नहीं सिद्ध हो सकता है। अन्य स्थानों में प्राणों का जीव के साथ गमन विस्पष्ट सुनाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि मरणकाल में वाक् आदि की अधिष्ठात्री वाक् आदि के उपकारक अग्नि आदि देवताओं के उपकार की निवृत्तिमात्र की अपेक्षा करके वाक् आदि अग्नि में गमन करते हैं, यह उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

स्यादेतत् । कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते, यावता नैव प्रथमेऽग्नावापां श्रवणमस्ति । इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५।४।१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५।४।२) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता । न तत्रापि हौम्यद्रव्यतया श्रुताः । यदि नाम पर्जन्यादिपूतरेषु चतुर्ष्वग्निष्वपां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत परिकल्प्यतां नाम । तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामव्वहुलत्वोपपत्तेः । प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत् । श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः प्रसिद्धिसामर्थ्यात् । तस्मादयुक्तः पञ्चम्यामाहुतावापां पुरुषभाव इति चेत् । नैव दोषः । हि यतस्तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते । कुनः ? उपपत्तेः । एवं ह्यादिमध्यावसानसंगादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते, इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावापां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्ठे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो हौम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात् ।

प्रथमे-अश्रवणात्-इति-चेत्-न-ता-एव-हि एव-उपपत्तेः । ये नव पद मूत्र में हैं । सक्षिप्तार्थ है कि (द्वितीयाद्याग्निषु सोमवृष्ट्यादीनां जलरूपाणां श्रवणेऽपि प्रथमे द्युलोकात्मकेऽग्नौ श्रद्धाया होतव्यत्वेन श्रवणादपामश्रवणादपां पञ्चम्यामाहुती पुरुषवचस्त्वमयुक्तमिति चेन्न यत् उपपत्तेस्ता आप एव श्रद्धाशब्देन गृह्यन्ते) द्वितीय आदि अग्नियो ये हवनयोग्य सोम वृष्टि जलरूप द्रव्य का श्रवण ही तो भी प्रथम स्वर्गलोक रूप अग्नि में हवन के द्रव्यरूप से श्रद्धा के सुनने से जल का अश्रवण है, इससे पञ्चमी आहुति में जल का पुरुष

वाच्यत्व युक्त नहीं है। इस शका का उत्तर है कि पञ्चमी आहुति में जल की पुरप-
वाच्यता अयुक्त नहीं है, जिसमें श्रद्धा का हवन अनुपपन्न है, जल का ही हवन
उपपन्न हो सकता है, इससे वह जल ही श्रद्धा शब्द में गृहीत होता है। शका होनी
है कि यह गमन श्रुति गौणी हो। फिर भी (पञ्चमी आहुति में अप् पुष्प
शब्द का वाच्य हो जाने हैं) यह निर्धारण कैसे पूर्ण किया जा सकता है, जब कि
प्रथम अग्नि में जल का श्रवण सर्वथा नहीं है। जिससे यहाँ छुल्लोकादि पाच
अग्नियों पाँच आहुति के आधार रूप से पड़ी गयी है। उनमें से प्रमुग (प्रथम) में
(हे गौतम ! वह स्वर्गलोक ही जग्नि है) इस प्रकार उपन्यास करके (इस स्वर्गरूप
इस अग्नि में देव सब श्रद्धा का हवन करते हैं) इस वचन से श्रद्धा होम के लिये द्रव्य-
रूप से आवेदित (उक्त) हुई है, वहाँ होम के लिए द्रव्यरूप से जल नहीं सुना गया
है। यद्यपि उत्तरवर्ती पर्जन्यादिरूप चार अग्नियों में भी होनव्य द्रव्य जल नहीं है
तथापि उनमें होतव्य सोम आदि के जल आधिक्य की उपपत्ति में यदि उन अग्नियों में
होतव्यरूप में जल की कल्पना की जाय तो यथेष्ट कल्पना की जा सकती है। परन्तु
प्रथम अग्नि में तो श्रुतश्रद्धा का परित्याग करके अश्रुत अप् परिकल्पित होने है, यह
साहस है। श्रद्धानामक वस्तु प्रसिद्धि के सामर्थ्य से ज्ञानविरोध (विश्वास) रूप है,
इसमें पञ्चमी आहुति में अप् का पुरपमाव (पुष्पत्व) अयुक्त है। उत्तर है कि यह
दोष नहीं है जिसमें इस प्रथमाग्नि में भी वे जल ही श्रद्धा शब्द द्वारा अभिप्रेत होने हैं।
क्योंकि उपपत्ति (युक्ति) से ऐसा ही मिद होता है। जिसमें इसी प्रकार आदि, मध्य
और अन्न का सगान (सवाद-सुल्पाथं) ही से आकुलतारहित एकवाक्य यह सिद्ध होना
है अन्यथा श्रद्धा शब्द से जल के नहीं अभिप्रेत होने पर, पञ्चमी आहुति में जल के पुरप-
शब्द वाच्यत्व के प्रकार के पूछने पर फिर प्रतिवचन के अवसर में प्रथम आहुति के
म्यान में यदि जल में भिन्न श्रद्धानामक होनव्य द्रव्य को उत्तरदाता अवतरण (मिद
प्राप्ति) करे, तो प्रस्त अन्यथा सिद्ध होगा, और प्रतिवचन उससे अन्यथा मिद होगा,
इसमें एकवाक्यता नहीं होगी।

‘इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप पुरपवचमो भवन्ति’ इति चोपमहरन्नेतदेव
दर्शयन्ति। श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादिस्थूलीभवदव्यहूल लक्ष्यते। सा च
श्रद्धाया अप्वे युक्तिः। कारणानुरूपं हि कार्यं भवति। नच श्रद्धाव्य प्रत्ययो
मनसो जीवस्य वा धर्मं सन्धर्मिणो निष्कृष्य होमाद्योपादातु शक्यते पश्चादिभ्य
इव हृदयादीनीत्याप एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः। श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिक-
प्रयोगदर्शनात् ‘श्रद्धा वा आप’ इति। तनुत्वं च श्रद्धामास्य गच्छन्त्य आपो
देह्वीजमृता इत्यतः श्रद्धाशब्दा स्युः, यथा मिहपराक्रमो नर मिहशब्दो
भवति। श्रद्धापूर्वकर्मममवायाज्ञाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते, मन्त्रशब्द इव
पुष्पेषु। श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः ‘अपो हाम्भे श्रद्धा सतमन्ते पुण्याय
कर्मणे’ इति श्रुते ॥ ५ ॥

इस प्रकार पञ्चमी आहुति में आपः पुरुष शब्द के वाच्य होते हैं। इस प्रकार उपसंहार करता हुआ उत्तरदाता इस एकवाक्यत्व को ही दिखाता है तथा इस एकवाक्यता के लिये श्रद्धा शब्द के जलार्थकत्व को दिवाता है। इस श्रद्धा-रूप आहुति से सोम होता है, इत्यादि वचन के अनुसार श्रद्धा के कार्यरूप नोमवृष्टि आदि स्थूल होते हुए जल की अधिकतायुक्त देखे जाते हैं। सोम आदि में उत्तरोत्तर जल की अधिकता दीखती है। वही श्रद्धा को जलरूपता में युक्ति है, जिससे कारण के अनुरूप (सदृश) कार्य होता है। जैसे पशु आदि में से हृदयादि का ग्रहण करके उनका हवन करते हैं, वैसे मन का वा जीव का धर्मरूप से वर्तमान श्रद्धा-विश्वास नामक ज्ञान को धर्मी मन वा जीव से निकाल कर होम के लिये ग्रहण नहीं कर सकते हैं, इस हेतु से जल ही श्रद्धा शब्दार्थ होंगे। श्रद्धा शब्द जल अर्थ में उपपन्न (सिद्ध) होता है। (श्रद्धा निश्चित जल है) ऐसा वैदिक प्रयोग देखने से, श्रद्धा शब्द को जलार्थत्व सिद्ध होता है। देह के वीजरूप जल तनुता (मृक्षता) रूप श्रद्धासारूप्य (तुल्यता) का प्राप्त करते हैं। इससे श्रद्धा शब्दार्थ होंगे। जैसे कि सिंहतुल्य पराक्रम वाला मनुष्य सिंह-शब्दार्थ होता है और श्रद्धापूर्वक कर्म में जल का सम्बन्ध होने से भी जल अर्थ में श्रद्धा शब्द उपपन्न होता है। अर्थात् श्रद्धा को जल द्वारा कर्मसम्बन्धित्व वा कर्महेतुत्व होता है। इससे जल अर्थ में श्रद्धा शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसे कि मञ्च शब्द का मञ्चस्थ पुरुष में सम्बन्धनिमित्तक लाक्षणिक प्रयोग होता है। जल को श्रद्धा का हेतु होने से भी जलार्थ में श्रद्धाशब्द की उपपत्ति होती है। (स्नानादि कर्म के लिये जो जल होते हैं, वे दर्शनमात्र से प्रथम इस पुरुष के हित के लिए श्रद्धा को उत्पन्न करते हैं, वह श्रद्धा फिर पुण्य कर्म के लिए होती है) इस श्रुति से जल में श्रद्धा के हेतुत्व की सिद्धि होती है ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

अथापि स्यात्प्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुनौ पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन्, ननु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रहैयुः, अश्रुतत्वात्। न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्युक्तमिति चेत्। नैष दोषः। कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५।१।०६) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयानेन पथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेव सोमो राजा' (छा० ५।१।०४) इति, त एवेहापि प्रतीयन्ते तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वन्ति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५।४।२) श्रुतिसामान्यात्। तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधन-भूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात्प्रत्यक्षमेवापः सन्ति। ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुतयोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च

शरीरं नैवनेन विधानेनान्त्येऽग्नावृत्तिर्जो जुह्वति 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' इति । तन्मत्ता श्रद्धापूर्वककर्मममवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपा सत्य-
न्तानिष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्टयामु लोक फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाऽभिधीयते—'श्रद्धा जुह्वति' (वृ० ६।२।९) इति । तथा चाग्निहोत्रे पट्प्रदानीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामन्' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्यो फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिं प्रदर्शिता । त-
न्मादाहुतीमयीभिरङ्घ्रि सपरिष्वक्ता जीवा रूहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति न्निष्पद्यते ॥ ६ ॥

फिर भी शका होती है कि प्रश्न और प्रतिवचन से प्रसिद्ध जल ही श्रद्धादिब्रह्म द्वारा पञ्चमी आहुति में पुरपाकार को प्राप्त करें, यह बात हो सकती है । परन्तु वहाँ अश्रुनत्व में, उनसे परिवेष्टित जीव गमन करें, यह बात नहीं सिद्ध हो सकती है । जिससे यहाँ जला के समान जीवों को सुनाने वाला कोई शब्द नहीं है । इससे भूतभूयो से वेष्टित होकर जीव जाता है, यह प्रथम सूत्रगत प्रतिज्ञा अपुक्त है । यदि ऐसी शका हो तो कहा जाता है कि यह अयुक्ततात्पर्य दोष नहीं है । क्योंकि इष्ट आदि कर्म करने वाले गमनकर्ता जीवा की प्रतीति वाच्यरीप में होती है कि (फिर जो ये गृहस्थ ग्राम में 'इष्ट' वैदिक 'पूर्त' स्मार्त और 'दत्त' उचितदानरूप कर्म की उपासना-सेवन करने ह । इसी प्रकार अन्य भी परिचर्या, सेवा आदि करते हैं । वे ज्ञान-गहिरा होने से धूमाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार उपब्रह्म करके इष्टादि कर्म करने वालों की धूमादिरूप पितृपान-मार्ग से चन्द्रलोक की प्राप्ति को श्रुति कहती है कि (आकाश में चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं । जो यह सोम-चन्द्रमा है वह राजा है (वे ही इष्टादि करने वाले यहाँ भी प्रतीत होते हैं, जिससे (उस धुलोरूप इस अग्नि में श्रद्धात्प सूक्ष्म जल का हवन देव करने हैं, इस आहुति से सोम राजा होता है) इस प्रकार श्रुति की समानता है, इससे यहाँ भी इष्टादिकारी प्रतीत होते हैं । उन इष्टादि कर्ताओं के अग्निहोत्र दर्श और पूर्णमासादि कर्मों के माघनस्वरूप, दधि, पत्र आदि द्रव द्रव्य की अधिकता से प्रत्यक्ष ही जलस्वरूप हैं । आहवनीय नामक अग्नि में हुत (प्रक्षिप्त) वे सूक्ष्म आहुतियाँ अट्टरूप होकर उन इष्टादि-कारियों को आवरण करती हैं । उनके शरीर की निधन (मरण) सम्बन्धी, मरणानिमित्तक अन्त्येष्टिविधान से ऋत्विक् लोग अन्त्य अग्नि में हवन करते हैं, मन्त्र पढ़ते हैं कि (यह यजमान स्वर्गलोक के लिए गमन करे) । फिर वे श्रद्धापूर्वक किये गये कर्मसम्पन्नी आहुतिमय जल अपूर्वरूप होकर, उन इष्टादिकारियों का परिवेष्टित करके उस स्वर्ग लोक में फलदान के लिये प्राप्त करते हैं । इस प्रकार जो अर्थ कहा गया है वही यहाँ जुहोति (हु धातु) में कहा जाता है कि (देव श्रद्धा का हवन करते हैं) । इसी प्रकार अग्निहोत्रविषयक, उत्क्रान्ति आदि छ प्रदनों का

समूह के निर्वचनरूप (वे दोनों सायं-प्रातःकालिक ये आहुति हुत होने पर उत्क्रमण करते हैं) इत्यादि वाक्यशेष द्वारा अग्निहोत्र आहुतियों की फलारम्भ के लिये लोकान्तर में प्राप्ति प्रदर्शित कर्गई गई है । इससे आहुतिमय जलों से परिवेष्टित जीव अपने कर्मफल भोग के लिए गमन करते हैं । यह प्रतिज्ञा युक्त होती है ॥ ६ ॥

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते, यावन्ना तेषां धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति— 'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५।१०।४) इति । 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षी-यस्वेत्येवमेतांस्तत्र भक्षयन्ति' (वृ० ६।२।१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम् । नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति । अत उत्तरं पठति ।

फिर शंका होती है कि इष्टाधिकारी का स्वकर्मफलोपभोग के लिए यह गमन होता है, यह प्रतिज्ञा कैसे की जाती है, जब कि धूमरूप अङ्गवाले मार्ग द्वारा चन्द्रलोक में अधिरूढ़ (प्राप्त) उन कर्मकर्ताओं के अन्नभाव (अन्नरूपता) को श्रुति दिखाती है कि (यह सोम राजा होता है, वह देवों का अन्नरूप होता है, उसको देव भक्षण करते हैं) यहाँ यदि कहा जाय कि सोम अन्न होता है, इष्टाधिकारी नहीं होता है, तो दूसरी श्रुति स्पष्ट ही कहती है कि (इस चन्द्र को प्राप्त होकर अन्न होते हैं, और वहाँ इन इष्टाधिकारियों को देव इस प्रकार भक्षण करते हैं कि जैसे यज्ञ में सोमलतानामक राजा को पुनः-पुनः बढ़ाकर ओर क्षय करके ऋत्विक् पीते-भक्षण करते हैं) यह श्रुति प्रथम श्रुति के तुल्य विषयवाली है । व्याघ्रादि से भक्ष्यमाण (भक्षित) के समान देवों से भक्ष्यमाणों को उपभोग का सम्भव नहीं है । ऐसी शंका हो सकती है, इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

वागवदश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः । भाक्तमेपामन्नत्वं न मुख्यम्, मुख्ये ह्यन्नत्वे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत । चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः । अन्नगवदश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते, यथा विगोऽन्नं राजां पगवोऽन्नं विशामिति । तस्मादिष्टादीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रतं न न दकादिवच्चर्वणं निगरणं वा । 'न ह वै देवा अग्नन्ति न पिवन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३।६।१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति । तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजो-

पञ्जीविनामिव परिजनानाम्, जनात्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणा देवोपभोग्यभाव उपपद्यते । तथाहि श्रुतिरनात्मविदा देवोपभोग्यता दर्शयन्ति—‘अथ योज्या देवनामुपान्तेज्योऽमावन्त्योऽहमस्मीति न म वेद यथा ऽपशुरेव म देवानाम्’ (वृ० १।४।१०) इति । म चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशु-वद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्ट फलमुपभुञ्जान पशुवद् देवानामुपकरोतीति गम्यते ।

वा शब्द आशक्ति उक्त दोष की व्यावृत्ति के लिये है कि भाक्त ही अन्नत्व का वयन है, मुख्य नहीं है । जिसमें मुख्य अन्नत्व होने पर (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इस प्रकार के अधिकार श्रुति (फलमम्बन्धव्योपश्रुति) उपरद्व (निन्द-वाधित) हो जायगी । चन्द्रमण्डल (विम्ब-देश) में यदि इष्टादि करने वालों को उपभोग न हो, तो कर्म के अधिकारी ग्रीष्म अति परिश्रम से साध्य इष्टादि कर्म किस प्रयोजन के लिए करें । अन्न शब्द तो अन्न में भिन्न अर्थ में भी उपभोग के हतुस्वरूप समाना में उपचार (गौण व्यवहार) का विषय देखा जाता है । जैसे कि विद्वा (वैश्य) राजाओं के अन्न हैं । वैश्यों के पशु अन्न हैं इस प्रकार गौण व्यवहार होता है । इसमें इष्ट (प्रिय) स्त्री, पुत्र, मित्र, भृत्यादि के समान गुणभाव (अङ्ग-विशेषण-भाव) को प्राप्त इष्टादिकारियों के साथ जो देवों का मुखपूर्वक विहरण है, उनके द्वारा जो विहरण (विहार) है, वही उनका भक्षण अभिप्रेत है, मोदक (लड्डू) आदि के समान चूर्ण वा निगण (चवाना वा निगलना) नहीं अभिप्रेत है । (प्रमिद्व है कि देव न खाते हैं, न पीते हैं किन्तु इस सूर्यमण्डल में रोहितरूपात्मक अमृत को ही देखकर तृप्त होते हैं) इत्यादि श्रुति देवों के चर्बणादि रूप व्यापार का वारण करती है । देवों के प्रति गुणभाव को प्राप्त उन इष्टादि कर्मकारियों को भी उपभोग उपपन्न (मिद्व) होता है । जैसे राजा के उपजीवी (आश्रित) राजा के परिजनो को उपभोग होता है । आत्मज्ञान में गहिर होने के कारण इष्टादिकारियों को देवों के प्रति उपभोग्य भाव उपपन्न (युक्त) होता है । इससे इसी प्रकार अनात्मज्ञो की देवों के प्रति उपभोग्यता को श्रुति दर्शानो है कि (जो अन्न आत्मा में अन्य देवता का भवन करता है और समजता है कि वह देव अन्य है और मैं उसमें अन्य हूँ, वह सत्य को नहीं समजता है, वह तो लोक में जमे पशु मनुष्यों का उपभोग्य, दोहन, वाहनादि द्वारा होता है, वैसे ही देवा का पशु, उपभोग्य है) । वह इस लोक में भी इष्टादि कर्मों के द्वारा देवों को प्रमद, तृप्त करता हुआ पशु के समान देवों का उपकार करता है । परलोक में भी उनका उपजीवी होकर उनमें आदिष्ट (उपदर्शित, आश्रित) फल का उपभोग करता हुआ पशुतुल्य ही उनका उपकार करता है, यह श्रुति में समझा जाता है ।

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयन्तीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्यने केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मममुच्चयानुष्ठायिन । पञ्चाग्निविद्या-

मिहात्मविद्येत्युपचरन्ति प्रकरणात्, पञ्चाग्निविज्ञानविहीनत्वाच्चेदनिष्ठादि-
कारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रगमाय । पञ्चाग्निविद्या हीह
विधित्सिता, वाक्यतात्पर्यावगमात् । तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगमद्भावं
दर्शयति—‘म सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते’ (प्र० ५।४) इति ।
तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् । ‘अथ ये अतं पितृणां जिनलोकानामानन्दाः स एकः
कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते’ (वृ० ४।३।३३) इतीष्ठादि-
कारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति । एवं भाक्तत्वादन्नभाववच-
नस्येष्ठादिकारिणोऽत्र जीवा रंन्तीति प्रतीयते ! तस्माद्रंहनि संपरिष्वक्त इति
युक्तमेवोक्तम् ॥ ७ ॥

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति, इस सूत्रांग का दूसरा व्याख्यान है कि इष्ठादि
करने वाले केवल कर्मों जो हैं, वे ही यहाँ अनात्मवित् हैं । ज्ञानकर्मसमुच्चय (साथ)
अनुष्ठान करने वाले; अर्थात् उपासनासहित कर्म करने वाले अनात्मवित् नहीं हैं ।
प्रकरण से पञ्चाग्निविद्या का आत्मविद्या से उपचार (गौण-व्यवहार) करते हैं ।
पञ्चाग्निविद्या की प्रशंसा के लिये पञ्चाग्निविज्ञान से विहीनता के कारण गुणवाद
के द्वारा इष्ठादिकारियों का यह अन्नत्व (उपनोग्यत्व) उद्भावित (प्रकट, व्यक्त) किया
जाता है । जिससे यहाँ पञ्चाग्निविद्या विधित्सित (विधान की इच्छा का विषय) है ।
वह वाक्य के तात्पर्य के अवगम से समझी जाती है । इसी प्रकार दूसरी श्रुति चन्द्रमण्डल
में भोग की सत्ता को दिखाती है कि (वह चन्द्रलोक में विभूति का अनुभव करके फिर
यहाँ लौटता है । इसी प्रकार अन्य भी श्रुत्यन्तर (श्रुतिभेद) है कि (कर्म से जिनका
लोक जित है उनका जो सौगुना आनन्द है, गन्धर्वलोक में एक आनन्द है, गन्धर्वलोक का
सौगुना आनन्द कर्मदेवों का एक आनन्द है । जो कर्म से देवत्व को प्राप्त होते हैं वह
कर्मदेव कहाते हैं) यह श्रुति देवों के साथ वसने वाले इष्ठादिकारियों के भोग की प्राप्ति
को दिखाती है । इस प्रकार अन्नभावबोधक वचन के भाक्त होने से यहाँ इष्ठादि करने
वाले जीव भोग के लिये गमन करते हैं यह प्रतीत होता है । इससे सूक्ष्मभूतों से संपरिष्वक्त
होकर गमन करता है, यह युक्त ही कहा है ॥ ७ ॥

कृतात्ययाधिकरण (२)

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽयथा । यावत्संपातवचनात् क्षीणानुशय इष्यते ॥१॥
जातमात्रस्य भोगित्वादैकभव्ये विरोधतः । चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम् ॥२॥

स्वर्गार्थं कृत कर्मजन्य अदृष्ट के स्वर्गसुखभोग से अत्यय (विनष्ट) होने पर भी
कर्मान्तरजन्य संचित अदृष्टरूप अनुशय (कर्माशय, वासना) सहित ही जीव स्वर्ग से
स्वर्गान्त में लौटता है, यह श्रुति-स्मृति से सिद्ध होता है । लौटते समय कही तो

जिम मार्ग से जाना है, उसी से जाना है, कही उससे विपरीत भिन्न मार्ग द्वारा भी लौटना है। यहाँ सशय होता है कि स्वर्ग से अवरोहण (नीचे आगमन) वाला कर्माशयरूप अनुशय के सर्वथा क्षीण होने पर स्वर्गावरोही होता है अथवा अनुशय-महित अवरोही होता है। पूर्वपक्ष है कि (सम्पत्त्यनेनेति संपात) स्वर्गादि में जिससे गमन करता है, उस कर्म का संपात कहत हैं। श्रुति कहती है कि जत्रतक संपात कर्म रहता है तत्र तत्र स्वर्ग में रहकर लाटना है। इससे क्षीण अनुशय वाला स्वर्गावरोही माना जाता है। सिद्धान्त है कि जातमान प्राणी का वर्तमान कर्मादि के विना मुक्त-दुःख के मागित्व होने से, एक ही भव (जन्म) सब कर्म का फलरूप एवमवना (एक भविष्यता) ने विरोध होने से, विरुद्ध कर्मों का एक किसी जन्म में भोग नहीं हो सकने से और चरण श्रुति से भी यह अनुशय सहित ही लौटना है ॥१-२॥

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्या यथेतमनेव च ॥ ८ ॥

इष्टादिकारिणा धूमादिना वर्तमाना चन्द्रमण्डलमधिगृह्णाना भुक्तभोगाना तत्र प्रत्यवरोह आम्नायते—‘तस्मिन्वावत्संपातमुपित्वायैतमेवाज्जान पुनर्नि-वर्तन्ते यथेतम्’ (छा० ५।१०।५) इत्यारभ्य यावत् ‘रमणीयचरणा ब्राह्मणादि-योनिमापन्नन्ते कपूयचरणा आदियोनिम्’ इति। तत्रेदं विचार्यते—किं निरनु-शया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्यानुशया इति। किं तावत्प्राप्तम्? निरनुशया इति। कुत? यावत्संपातमिति विशेषणात्। संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—संपत्त्यनेनेनाम्नालोकादमु लोक फलोपभोगायेति, यावत्स-ंपातमुपित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य नश्येव भुक्तना दर्शयति। ‘तेषां यदा तत्पर्यवेति’ (वृ० ६।२।१६) इति श्रुत्यन्तरेणैव एवार्थं प्रदर्शयति। स्यादेतन्, यावदमर्गिमल्लोक उपभोक्तव्य कर्म तावदुपभुक्त इति कल्पयिष्यामीति। नैव कल्पयितुं शक्यते यत्किञ्चेत्यन्यत्र परामर्शात्। ‘प्राप्तान्त कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोम्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मि लोकाय कर्मणे’ (वृ० ४।१।६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यात्किञ्चेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयिता दर्शयति। अपिच प्रायणमारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्, प्राप्तप्रायणादा-रब्धफलं कर्मणा प्रनिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः। तच्चाविशपात्रावर्त्तिचिदना-रब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम् नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमाधारण भवितुमर्हति। न ह्यविशिष्टे प्रदीपमग्निघो घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते। तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीति।

धूमादि मार्ग से चन्द्रलाक में आच्छ (प्राप्त) इष्टादिकारिणा को वहाँ के भोगों का भोग लेने पर फिर उन भुक्तभोगवाला का इस चन्द्रलाक से प्रत्यवरोह (नीचे अवतरण) श्रुति में कहा जाना है कि (उस चन्द्रलाक में कर्म के भोगकाल तक बस कर फिर जिस मार्ग से गया रहता है, उसी मार्ग से निवृत्त होता (लौटता) है।

यहाँ से आरम्भ करके (सुन्दर आचरणशील वाले ब्राह्मणादि योनि को प्राप्त करते हैं, निन्दित पापरूप आचरण वाले कुत्ता आदि योनि को प्राप्त करते हैं) जब तक यह वचन श्रुति में आया है, तब तक अवतरण की क्या है । यहाँ यह विचार किया जाता है कि क्या अनुशयरूप कर्माशयरहित सब कर्मों को भोग लेने वाले स्वर्ग से उतरते हैं अथवा अवशिष्ट कर्माशयादिसहित उतरते हैं । विमर्श होता है कि प्रथम क्या प्राप्त होता है । पूर्वपक्ष है कि अनुशयरहित उतरता है । क्योंकि 'यावत्संपातम्' जब तक कर्म रहता है, इस विशेषण से निरनुशय की आवृत्ति सिद्ध होती है । संपात शब्द से यहाँ कर्माशय कहा जाता है कि, इस लोक से फल के उपभोग के लिये स्वर्गलोक में जिस कर्म द्वारा प्राप्त होता है, उसको संपात कहते हैं । (जब तक संपात रहता है तब तक स्वर्ग में बस कर लौटता है) यह श्रुति सम्पूर्ण किये हुये उस कर्म की भोग द्वारा उस स्वर्ग में ही समाप्ति दिखाती है । (उन इष्टादिकारियों का वह कर्म जब पर्यवर्ति, क्षीण होता है तब फिर वे लौटते हैं) इस श्रुत्यन्तर से भी यही अर्थ प्रदर्शित कराया जाता है । वहाँ शंका होती है कि, जब तक स्वर्ग में उपभोग के योग्य कर्म रहता है, तब तक स्वर्गमुख का उपभोग करता है । इस प्रकार उक्त श्रुति के अर्थ की कल्पना करूँगा । यहाँ कहा जाता है कि इस प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती है, जिससे यत्किञ्च, इस प्रकार अन्य श्रुति में परामर्श (स्मरण) है; कि (यह मनुष्य जो कुछ इस लोक में कर्म करता है, उस कर्म का अन्त फल को उपभोग से प्राप्त करके फिर उस लोक से इस लोक की प्राप्ति और कर्म के लिए आता है) यह अन्य श्रुति यत्किञ्च, जो कुछ इस अविशेष सामान्य, परामर्श के द्वारा यहाँ किये गये सम्पूर्ण कर्म की उस स्वर्ग में विनाशिता दिखाती है । दूसरी बात है कि अनारब्धफल (फलारम्भरहित) सच्चितादि कर्मों के फलारम्भ का प्रायण (मरण) अभिव्यञ्जक है, मरण से प्रथम आरब्ध फलवाले कर्म से प्रतिबद्ध अन्य कर्म की अभिव्यक्ति की अनुपपत्ति से मरणकाल में आरब्ध फलवाले कर्मों के अभाव से प्रतिबन्धकाभाव-सहित मरण सब कर्मों को अभिव्यक्त कर देता है । क्योंकि वह मरण अविशेषता के कारण जो कुछ अनारब्ध फलवाला (फलारम्भरहित) कर्म हैं, उन सबका अभिव्यञ्जक है । जिससे निमित्त कारण के साधारण (सामान्य) रहते नैमित्तिक कार्य असाधारण (विशेष) नहीं होने योग्य है । जिससे प्रदीप की तुल्य समीपता रहते घट अभिव्यक्त—प्रकाशित हो, पर नहीं अभिव्यक्त हो यह नहीं उपपन्न होता है । इस कारण से मरण से अभिव्यक्त सम्पूर्ण कर्मों को स्वर्ग में भोग कर अनुशयरहित जीव स्वर्ग से उतरते हैं ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति । येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां तदम्मयं शरीरं चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनगोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः । हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम् । ततः

कृतान्यये कृतस्येष्टादे कर्मण फलोपभोगेनोपक्षये मति सानुशया एवेममवरोहन्ति । केन हेतुना ? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह । तथाहि प्रत्यक्षा श्रुति सानुशयानामवरोह दर्शयति—‘यद्य इह रमणीयचरणा अभ्यागो ह यत्ते रमणीया योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्यागो ह यत्ते कपूया यानिमापद्येरञ्चयोनि वा मूकरयोनि वा चण्डालयोनि वा (छा० ५।१०।७) इति । चरणशब्देनानुशय सूच्यत इति वर्णयिष्यति । दृष्टश्चाय जन्मनैव प्रतिप्राप्युच्चावचरूप उपभोग प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वामम्भवादनुशयमद्भावात् सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययो मुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात् । स्मृतिरपि ‘वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठा प्रेत्य कर्मफलमनुभूय तत शेषेण विशिष्टदेशजाति-कुलरूपाय श्रुतवृत्तवित्तसुगममेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते’ इति सानुशयानामेवावरोह दर्शयति । क पुनरनुशयो नामेति ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (कृतान्ययेऽनुशयवात् इति) । जिस कर्मसमूह से फल के भोग के लिए जीव चन्द्रलोक में प्राप्त होते हैं, उस कर्म के उपभोग से क्षीण, नष्ट होने पर, जो उन जीवों के जलमय शरीर उपभोग के लिये चन्द्रलोक में आरुध्य (उत्पादित) रहते हैं, वह उपभोग के अथ (विनाश) के दर्शनजन्य शोकरूप अग्नि के सम्पर्क (सम्बन्ध) से विलीन हो जाते हैं । यह इस प्रकार विलीन होते हैं कि जैसे सूर्य की किरणों के सम्बन्ध से हिम और करका (ओला, बमोरी) विलीन होते हैं और अग्नि की ज्वाला के सम्बन्ध में जैसे घृत की कठिनता विलीन होती है । उस शरीर का विलय के कारण, वृत्त कर्म के अन्त्यय (विनाश) होने पर, अर्थात् किए हुए इष्टादि कर्मों के फलों के उपभोग से उपस्रव्य, विनष्ट होने पर अन्य सचित्त कर्मरूप अनुशय (कर्माशय) सहित ही जीव इस लोक में उतरते, आते हैं । किस हेतु से ऐसा समझा और माना जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर भाष्यकार कहते हैं कि दृष्ट और स्मृतिरूप हेतु से ऐसा माना जाता है, यह सूत्रकार कहते हैं । सूत्रगत दृष्ट शब्द का प्रत्यक्ष उपलब्ध श्रुति अर्थ है, अनुमित नहीं । प्रत्यक्ष श्रुति इस उक्त गति से ही अनुशय सहित का अवरोह (आगमन) दिखाती है कि (तत्-तित्तिन आनेवाले जीवों में जो इस लोक में रमणीय, सुन्दर आचार वाले अवशिष्ट पुण्य कर्मवाले रहते हैं, वह, ‘अभ्यागो ह’ अवश्य ही रमणीय योनिरूप ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि को प्राप्त करेंगे और करते हैं । जो यहाँ पापकर्म वाले रहते हैं वह अवश्य ही पापयोनिरूप इवान-योनि, मूकरयोनि वा चण्डालयोनि का प्राप्त करते हैं) इस श्रुतिगत चरण शब्द से अनुशय सूचित किया जाता है । यह आगे सूत्रकार वर्णन करेंगे । सूत्रगत दृष्ट शब्द का प्रत्यक्ष श्रुति अर्थ किया गया है, दूसरा उसका अर्थ है कि प्रत्येक प्राणी में जन्म से ही न्यून अधिक भेद से नाना प्रकार का प्रविभक्त यह दृष्ट उपभोग, आकस्मिकत्व

(निर्हेतुत्व) के असम्भव से अनुगय की सत्ता का सूचन करता है, जिससे अम्युदय (स्वर्गमुखादि) का और प्रत्यवाय (नरकदुःखादि) का मुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) क्रम से हेतु हैं । पर हेतुत्व वास्व द्वारा सामान्यरूप से अवगमित (बोधित) होता है, जिससे अनुगय सिद्ध होता है । (अपने कर्मों के आचरण में वर्तमान वर्ण और आश्रम वाले मनुज स्वर्गादि में जाकर कर्म फल का अनुभव उपभोग करके फिर अवशिष्ट कर्म द्वारा विविध (अनुगयानुसार विविध) देव, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, वृत्त, वित्त, मृत्यु, और मेधा (बुद्धि) वाले होते हुए जन्म प्राप्त करते हैं ।) यह स्मृति भी अनुगय सहित के ही अवरोह को दर्शाती है । फिर प्रश्न है कि अनुगय नामक पदार्थ क्या है ।

केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुगयो नाम भाण्डानुसारिस्नेहवत् । यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहगेपोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽपीति । ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम् । नायं दोषः । नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्व कर्मणः प्रतिजानीमहे । ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमाहूढः । वाढम् । तथापि स्वल्पकर्मविशेषमात्रेण तत्रास्थानं न लभ्यते । यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणं राजकुलमुपसृप्तश्चिरप्रवासात्परिक्षीणवहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति, एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति । नचैतद्युक्तमिव, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम् । नन्वेतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यति—इति । तदेतदपेशलम् । स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति, न गद्गदप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते । स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते । तथा सेवकस्योपकरणलेगानुवृत्तिश्च दृश्यते, नत्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेगानुवृत्तिर्दृश्यते । नापि कल्पयितुं शक्यते स्वर्गफलत्वान्त्रविरोधात् ।

कोई प्रथम कहते हैं कि जिसके फल का भोग हो गया हो, ऐसे स्वर्गार्थक कर्म का कोई अवशेष भाग अनुगय है, भी भाण्डानुसारी स्नेह (घृतादि) के अनुसार (सदृश) है । जैसे कि घृतादि के भाण्ड (पात्र) को रिच्यमान (स्नेहरहित, खाली) करने पर भी छोटे-बड़े पात्र के अनुसार कुछ स्नेह का अवशेष उसमें रहता ही है इससे सर्वथा स्नेहरहित मृत्तिका रचित पात्र नहीं होता है । इसी प्रकार भोग के बाद अनुशय भी रहता है । यहाँ शंका होती है कि अदृष्ट (धर्माधर्म) को कार्यरूप फलभोग के साथ विरोधिता से जिस अदृष्ट का फल भोगा गया, उसके अवशेष का अवस्थान (स्थिति) रहना न्याययुक्त नहीं है । एकदेशी का उत्तर है कि यह दोष नहीं है, जिससे कर्म का

फल मर्दान्मना (निरवशेष) भुक्त होत (भोगे जाने) है । ऐसी प्रतिज्ञा हम नहीं करते हैं । अर्थात् स्वर्ग में निरवशेष कर्म का फल नहीं उपभुक्त होना है जिससे अदृष्ट का सर्वथा नाश हो, सावशेष फल के भोग से अदृष्टावशेष रह जाता है । फिर शका हानी है कि निरवशेष कर्मफल के भोग के लिये जीव चन्द्रमण्डल में आगूँठ होता है । वहाँ निरवशेष फल का भाग नहीं होना अयुक्त है । उत्तर है कि निरवशेषफल भोग के लिए स्वर्गागूँठ होना है, यह बात सत्य है, तो भी स्वल्प कर्म के अवशेष मात्र से जीव उस स्वर्ग में ठहरने नहीं पाता है । जैसे कोई सेवक राजा की सेवा के योग्य सब उपकरण (साधन) सहित राजकुल में जाकर प्राप्त हो और राजा की सेवा करे, परन्तु चिर-काल के प्रवास (गृहत्यागपूर्वक वास) से सेवा योग्य बहुत साधन उसके परिक्षीण (नष्ट) हो जायें, और केवल छत्र, पादुका आदि मात्र अवशेष रह जायें तो वह राजकुल में ठहर नहीं सकता है, इसी प्रकार अनुशयमात्र परिग्रह (मूल साधन) वाला चन्द्रमण्डल में ठहर नहीं सकता है । सिद्धान्ती कहते हैं कि यह उत्तर युक्त सा नहीं है, अर्थात् यह एकदेशी का उत्तर अयुक्त ही है, जिससे कहा जा चुका है कि कार्य के साथ विरोधिता से जिस कर्म का फल भोगा गया हो, उस स्वर्गायुक्त कर्म के अवशेष की अनुवृत्ति (पश्चात् स्थिति) उपपन्न नहीं हो सकती है । एकदेशी का कथन है कि यह भी तो कहा जा चुका है कि स्वर्गफल वाला निखिल (निरवशेष) कर्म को स्वर्ग में भुक्तकद-वत्त्व नहीं हो सकता है । सिद्धान्ती का कथन है कि यह कथन अपेशल है (चार, सुन्दर नहीं है) कि (स्वर्ग ही के लिये दिया गया कर्म स्वर्गस्थ ही के सम्पूर्ण स्वर्गफल को नहीं उत्पन्न करता है, स्वर्ग से च्युत के भी कुछ फललेश को उत्पन्न करता है) परन्तु ऐसी कल्पना शब्द (श्रुति) प्रमाण वालों की नहीं सिद्ध हो सकती है । स्नेह माण्ड में तो स्नेह लेश की अनुवृत्ति दृष्ट होने से उपपन्न होती है । इसी प्रकार सेवक के उपकरण लेश की अनुवृत्ति भी देखी जाती है । परन्तु यहाँ स्वर्गफल वाले कर्म के लेश की अनुवृत्ति उस प्रकार से नहीं देखी जाती है । स्वर्गफल हेतुस्वभावक शास्त्र के साथ विरोध से अवशेष की कल्पना भी नहीं की जा सकती है ।

अवश्य चैतदेव विज्ञेयम्—न स्वर्गफलस्येष्टादे कर्मणो भाण्डानुमारि-
स्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय-इति । यदि हि येन मुकृतेन कर्मणोऽष्टादिना
स्वर्गमन्वभवस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशय कल्प्येन ततो रमणीय एवैकोऽनुशय
स्यान्न विपरीत । तत्रैवमनुशयविभागश्रुतिरूपरूपेण—‘तद्य इह रमणीयचरणा,
अथ य इह कपूयचरणा’ (छा० ५।१०।७) इति । तस्मादामुष्मिकफले कर्म-
जान उपभुक्तेष्वभिष्टमेहिफल कर्मान्तरजानमनुशयमन्वन्तोऽवरोहन्तीनि ।
यदुक्त—यत्किंचैत्यविशेषपरामर्शात्मवस्येह कृतस्य कर्मण फलोपभोगेनान्न
प्राप्य निरनुशया अवरोहन्ति-इति । नैतदेवम् । अनुशयमन्वन्नावस्यानगमिन-
त्वान्, यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफल कर्मारब्धभोग तत्सर्व फलोपभोगेन
क्षपयित्वैतं गम्यते ।

इस तत्त्व को इस वक्ष्यमाण रीति से अवश्य समझना चाहिये कि, स्वर्ग जिसका फल है, ऐसा जो इष्टादि कर्म है, उसका भाण्डानुमारी स्नेह के समान अनुवर्तमान एक-देगरूप अनुगम्य नहीं है। क्योंकि जिस मुकृत (पुण्य) रूप इष्टादि कर्म द्वारा जीवो ने स्वर्ग का अनुभव (उपभोग) किया है, यदि उसी कर्म का कोई एकदंग (भाग विग्रीय) अनुगम्य कल्पित हो (सिद्ध स्वीकृत हो) तब तो एक रमणीय (सुन्दर पुण्य) ही अनुगम्य होगा, उससे विपरीत नहीं होगा। ऐसा सिद्ध होने पर (उनमें जो यहाँ रमणीय आचरण वाले हैं, जो यहाँ पापाचरण वाले हैं) यह अनुशय की विभागविपयक श्रुति है वह उपरुद्ध निरुद्ध वाधित हो जायगी। जिससे पारलौकिक फल वाले कर्म समूह के उपभुक्त (भोग द्वारा समाप्त) होने पर, अवशिष्ट इस लोक में फल देने वाला कर्मान्तरों का समूह अनुशय कहा जाता है उस अनुशय वाले चन्द्रलोक से नीचे आते हैं। जो यह कहा था कि यत्किञ्च, इस सामान्य परामर्श से इस लोक में किये गये सब कर्मों के फलों के उपभोग द्वारा उन कर्मों के अन्त को प्राप्त करके अनुशयरहित जीव नीचे आते हैं। वहाँ कहा जाता है कि दूसरी श्रुति से अनुशय के सद्भाव (सत्ता) के अवगमित (बोधित) होने से, एतन् (यत्किञ्च) यह पद इस प्रकार का नहीं है, अर्थात् सब कर्म का बोधक नहीं है। किन्तु पारलौकिक फल वाला जो कुछ कर्म यहाँ किया रहता है, परलोक में आरब्ध (उत्पादित) फल वाले उस सब कर्म को भोग द्वारा क्षय करके इस लोक में फिर कर्म के लिये आता है ऐसा प्रतीत होता है।

यदप्युक्तं—प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यक्तं, तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न सम्भवति—इति। तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपि च केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायते इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिवदस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपगमात्प्रायणकाले वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्यते। तत्र वक्तव्यम्। यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिवदस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेऽपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासम्भवाद्वलवता प्रतिवदस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरिति। न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन्प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं। प्रतिनियतफलत्वविरोधात्। नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणोऽभिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम्। ऐकान्तिकफलत्वविरोधान्। नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते।

जो यह भी कहा था कि अविशेषता से अनारब्ध फल वाले सभी कर्मों को मरण कार्य के लिए अभिव्यक्त करता है। यहाँ किसी कर्म से परलोक में फल का आरम्भ किया जाय, किसी से इस लोक में फल का आरम्भ हो। इस विभाग का सम्भव नहीं है।

इससे परलोक में ही सब कर्मफलों को भाग कर अनुग्राह्यहित जीव लौटता है। वह कथन भी जनुग्रह की सत्ता के प्रतिपादन में ही प्रत्युक्त निगूह्य हो गया। दूसरी बात है कि जिस हेतु में प्रतिज्ञा करने हो कि मरण अनारब्ध कर्म का अभिव्यञ्जक है। यह कहना चाहिए। यदि कहो कि आरब्ध फल वाले कर्म में प्रतिबद्ध अन्य कर्म की मरण में पूर्वकाल में वृत्ति (ध्यापार) की अनुपपत्ति से, उस प्राग्बन्धकमन्त्र प्रतिबन्धक की निवृत्ति से मरण काल में सब कर्मों की वृत्ति का उद्भव (जन्म) होता है। तो वहाँ यह वक्तव्य (कहना) है कि जिस प्रकार मरण में पूर्वकाल में आरब्ध फल वाले आरब्ध कर्म में प्रतिबद्ध इतर कर्म की वृत्ति के उद्भव की अनुपपत्ति होती है, उसी प्रकार मरण काल में भी विरुद्ध फल वाले अनेक कर्मों के एक काल में फल के आरम्भ के अमम्भ से बलवान् (प्रबल) कर्म से प्रतिबद्ध अन्य कर्म की वृत्ति के उद्भव की अनुपपत्ति है। कर्मों की प्रतिनिधित्व फलता के विरोध से ऐसा नहीं कह सकते हैं कि अनारब्ध फलस्वरूप समता से जान्यन्तर (अनेक जन्म) में उपमाय फल वाले अनेक भी कर्म एक ही मरण में, एक ही काल में अभिव्यक्त होकर एक जाति (जन्म) का आरम्भ करते हैं। (नामुक्त क्षीयते कर्म) अमुक्त कर्म नष्ट नहीं होता है, इत्यादि शास्त्र से कर्म के ऐकान्तिक (प्रायश्चित्त ज्ञानादि के बिना निश्चित) फलत्व के विरोध से, यह भी नहीं कह सकते हैं कि किसी प्रबल कर्म की मरणकाल में फल के लिए अभिव्यक्ति होती है और किसी दुर्बल कर्म का मरणमात्र से उच्छेद (नाश) हो जाना है जिसमें प्रायश्चित्तदिग्दर्शन हेतुओं के बिना कर्मों के उच्छेद की सम्भावना नहीं की जा सकती है।

स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिवद्व्यस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—

कदाचित्तुमुकृत कर्म कृतमथमिह तिष्ठति ।

मज्जमानस्य समारे यावद् दृग्माद्विमुच्यते ॥

—इत्येवजानीयका। यदि च कृत्स्नमनारब्धफल कर्मत्रस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्त सदेका जातिमारभेत तत्र स्वर्गान्तरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवगमाद्धर्माधर्मानुपपत्तौ निमित्ताभावात्तोत्तरा जानित्यपद्येत। ब्रह्मादयोदीना चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपस्थेयम्। न च धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिममधिगमे शास्त्रादतिरिक्त कारण शक्य सम्भावयितुम्। न च दृष्टफलस्य कर्मण कारीयादि प्रायणमभिव्यञ्जक मम्भवनान्यव्यापिकाऽपि प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना। प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलावलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः। स्थूलसूक्ष्मरूपाभिन्नकथनमभिव्यक्तिवच्चेद द्रष्टव्यम्। यथाहि प्रदीप समानेऽपि मतिदाने स्थूल रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम्, एव प्रायण समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजानस्य प्राप्तावसरत्वे बलवत् कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति न दुर्बलस्येति। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादतिरिक्तोऽयमपेक्षकमभिव्यक्त्य-

भ्युपगमः । गेपकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः, सम्यग्दर्शनादगपकर्मक्षयश्रुतेः, तस्मात्स्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति । ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति । यथेतमिति यथागतमित्यर्थः । अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः । धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्युपात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्येतंगवदाच्च यथागतमिति प्रतीयते । रात्र्याद्यसंकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते ॥ ८ ॥

स्मृति भी विरुद्ध फल वाले कर्म से प्रतिबद्ध कर्मान्तर के चिन्काल तक अवस्थान को दर्शाती है कि (संसारसागर में निमग्न जीव का सुकृत कर्म कभी यहाँ तबतक कूटस्थ (व्यापाररहित) रहता है जबतक वह दुःख से विमुक्त होता है ।) इस प्रकार की अन्य भी स्मृति है । यदि सम्पूर्ण अनारब्ध फल वाला कर्म एक मरण में ही अभिव्यक्त होकर एक जाति का आरम्भ करे, तो स्वर्ग, नरक, तिर्यग् योनियों में कर्मादि के अधिकारों के अन्वगम (अप्राप्ति) से उन योनियों में प्राप्त जीवों के धर्माधर्म की अनुत्पत्ति के कारण धर्मादिरूप निमित्त के अभाव से उन जीवों को आगे की जाति (जन्म) नहीं उपपन्न होगी, किन्तु पूर्व के सर्व कर्मों को देवादि योनियों में भोग लेने पर भी ज्ञान के बिना न मुक्त ही होंगे, न जन्मान्तर को पाएँगे, फिर उनकी अजब अवस्था प्राप्त होगी । ब्रह्महत्या आदि रूप महापापों में से एक-एक पाप कर्म को अनेक जन्म के निमित्तत्व का जो स्मृति से कथन है, वह वाधित होगा । धर्माधर्म के स्वरूप, फल, और साधन आदि के अधिगम (ज्ञान) में शास्त्र से अतिरिक्त कारण की सम्भावना नहीं कर सकते हैं । इससे शास्त्र के अनुसार कर्मफलरूप जन्मादि को समझना चाहिये । दृष्ट फल वाले वर्तमान जन्म में फल के हेतुकारी आदि कर्मों का अभिव्यञ्जक मरण नहीं हो सकता है, इससे मरणसम्बन्धी सर्वकर्मभिव्यञ्जकत्व की यह कल्पना अव्यापक भी है । प्रदीप का दृष्टान्त भी कर्म के बलाबल के प्रदर्शन से ही प्रत्याख्यात हो चुका है । स्थूल तथा सूक्ष्मरूप वाले पदार्थों की दीप से अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति के समान इस मरण से कर्माभिव्यक्ति को समझना चाहिये । कि जैसे तुल्य सन्निधान रहते भी स्थूलरूप वाले को प्रदीप अभिव्यक्त करता है, सूक्ष्म को नहीं अभिव्यक्त करता है । इसी प्रकार अनारब्ध फल वाले कर्मसमूह की अभिव्यक्ति के अवसर काल के तुल्य प्राप्त होने पर भी बली कर्म की वृत्ति को मरण उद्भव करता है, दुर्बल की वृत्ति को उद्भव नहीं करता है जिससे श्रुति, स्मृति और न्याय (युक्ति) से विरुद्ध होने के कारण यह अगेप कर्मों की अभिव्यक्ति का अभ्युपगम (स्वीकार) अयुक्त है । एक भविक को नहीं मानने पर गेप कर्म की स्थिति रहने में अनिमोक्ष का प्रसङ्ग होगा, यह भी संभ्रम (संवेग वा भय) अस्थाने (अयुक्त) है । सम्यग् दर्शन से अगेप कर्मों की क्षय की श्रुति से भय वा अनिमोक्ष का प्रसंग ही नहीं है, जिससे यही स्थित निश्चित हुआ कि अनुश्रययुक्त जीव स्वर्ग से आते हैं, और वे चन्द्रलोकरूप स्वर्ग से आने वाले आते समय कही तो जिस मार्ग से गये रहते हैं,

उसी मार्ग से लौटने समय आते हैं, और कही अनेक (गमन से भिन्न) मार्ग द्वारा भी जाने हैं । यथेतम्, इस पद के यथागतम् (जिस प्रकार, जिस मार्ग द्वारा जाने हैं) यह अर्थ है । अनेक का अर्थ है कि गमन की अपेक्षा विपरीत मार्ग द्वारा भी जाने ह । यहाँ पितृयान (दक्षिणायन) मार्ग से गृहीत धूम और आगमन के आगमन में भी कीर्तन (कथन) में, यथेत शब्द से यथागतम् यह प्रतीत होता है । पितृयान मार्ग वर्णित्र रात्रि आदि के आगमन में अस्तकीर्तन से तथा अधिक अधादि के कथन में जनेव (विपर्यय) भी प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्ण्णजिनिः ॥ ९ ॥

अथापि स्यात्—या श्रुतिरनुगमसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—‘तत्र दृष्ट रमणीयचरणा’ (ता० ५।१०।७) इति—मा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति नानुगमयात् । अन्यच्चरणमन्योज्जुगय, चरण चारित्र्यमाचार शीलमित्यनर्थान्तरम् । अनुगम्यन्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्त कर्माभिप्रतम् । श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—‘यथाकारी यथाचारी तथा भवति’ (बृ० ४।४।५) इति, ‘यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि’ (तै० १।१।१२) इति च । नस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्चुनेनानुगममिदिरिति चेत् । नैव दोषः । यतोऽनुगमयोपलक्षणार्थवैवा चरणश्रुतिरिति काष्ण्णजिनिराचार्यो मन्यते ॥ ९ ॥

पूर्वोक्तं रीति से अनुसय सहित का अवगोहण सिद्ध होने पर भी यदि शका हो कि अनुसय की सत्ता के प्रतिपादन के लिए जो श्रुति उदाहृत हुई है, प्रमाणरूप कही गई है कि (उनमें जो यहाँ रमणीय आचरण वाले होने हैं) इत्यादि । यह श्रुति चरण से योनि की प्राप्ति को दर्शाती है, अनुगम से नहीं । चरण और अनुगम दोनों शब्द एकार्थक नहीं हैं । चरण शब्दार्थरूप वस्तु अन्य है, अनुसय शब्दार्थ उससे अन्य है । चरण, चारित्र्य, आचार और शील ये शब्द अनर्थान्तर (एकार्थक) हैं । (जद्रोह सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च ज्ञान च शीलमेतद्विदुर्वुधा) इस स्मृति के अनुसार तन, मन, वचन द्वारा सर्व प्राणि विषयक द्रोह का अभाव, अनुग्रह और साम्प्रार्थ का ज्ञान शील कहलाता है । अनुसय तो मुक्त फल वाले कर्म से अतिरिक्त कर्म अभिप्रेत है । श्रुति भी कर्म और चरण को भेदपूर्वक कथन करती है कि—(जैसा कर्म करता है, जैसा आचार करता है, वैसा होना है तथा जो अनिन्दित कर्म हैं वे तुम्हें सेवन के योग्य कर्तव्य हैं । अन्य नहीं । जो हमारे (आचार्यों के) सुचरित्र हैं वे ही तुम्हें सेवनीय हैं) हमसे चरण से योनि की प्राप्ति की श्रुति से अनुसय की सिद्धि नहीं हो सकती है । यदि ऐसी शका हो तो काष्ण्णजिनि आचार्य मानते हैं कि यह अनुगम की अनिद्विरूप दोष नहीं है जिससे यह चरणश्रुति अनुगम की उपलक्षणार्थक है । अर्थात् सदाचाररूप शील सब सत् कर्मों का अंग है, वह लक्षण द्वारा अन्ती कर्म का ही

बोधक है, इससे कर्मरूप अनुशय की सिद्धि होती है, यह काष्ण्णजिनि आचार्य का मत है ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

स्यादेतत्, कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकोऽनुशयः प्रत्याख्यते। ननु शीलस्यैव तु श्रौतस्य विहितप्रतिपिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य गुणागुभयोऽन्यापत्तिः फलं भविष्यति, अवश्यं च शीलस्यापि किञ्चित्फलमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा ह्यनर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येतेति चेत्। नैप दोषः। कुनः ? तदपेक्षत्वात्। इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम्। नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस्मृतिभ्यः। पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम्। इष्टादी हि कर्मजाते फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिगम्यमाप्स्यते। कर्म च सर्वार्थकारीति श्रुतिस्मृतिप्रामिद्धिः, नस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति काष्ण्णजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि सम्भवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पदभ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ॥ १० ॥

यहाँ गंका होती है कि यहाँ यह प्रश्न वचन उपयुक्त हो सकता है कि, चरण शब्द से श्रुति द्वारा शक्ति वृत्ति से बोधित शील को त्यागकर लाक्षणिक (लक्षणा से बोध्य) अनुशय का प्रत्यय (ज्ञान) किस कारण से होता है और किया जाता है। ननु (मोः) श्रुति से ज्ञात विहित और प्रतिपिद्धरूप साधु (चारु) असाधु (अचार) शील का ही शुभ और अशुभ योनि की प्राप्तिरूप फल होगा। शील का भी अवश्य कोई फल अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) है। अन्यथा शील को अनर्थकता की ही प्राप्ति होगी। उत्तर है कि यह अनर्थकता की प्राप्ति रूप दोष लक्षण से अनुशय का बोध होने पर नहीं है। क्योंकि इष्टादि कर्मफल की उत्पत्ति में सदाचारशील की अपेक्षापूर्वक फल को उत्पन्न करते हैं जिससे (वेदास्तदर्थकर्मणिप्याचारं विना न फलन्ति) वेद और उसके अर्थरूप कर्म सदाचार के विना सफल नहीं होते हैं। इससे इष्टादि कर्मसमूह अवश्य चरण (आचार) की अपेक्षा वाले है। सदाचाररहित कोई इष्टादि कर्म का अधिकारी नहीं हो सकता है, सो (आचारहीन को वेद पवित्र नहीं करते हैं) इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है। यदि आचार यज्ञार्थक अदृष्टार्थक नहीं माना जाय, स्नानादि के समान पुरुष के संस्कारार्थकरूप से पुरुषार्थक माना जाय, तो आचार के पुरुषार्थकत्व होने पर भी उसकी अनर्थकता नहीं है जिससे इष्टादि कर्मसमूह के फल के आरम्भकाल में, उन इष्टादिकों की अपेक्षापूर्वक ही आचार भी उसी फल में कोई अतिशय (दृढता, उत्कर्ष) को आरम्भ करेगा। स्वतन्त्र आचार ही फलारम्भ नहीं कर सकता, जिससे कर्म सर्वार्थकारी है, इस प्रकार श्रुति और स्मृति में प्रसिद्धि है, इससे शील से उपलक्षित (युक्त) कर्म ही अनुशयस्वरूप होकर योनि में प्राप्ति का कारण है। यह काष्ण्णजिनि

का मत है। कर्म के सम्भव रहते शील से मोनि की प्राप्ति युक्त नहीं है जिससे पैगों से भागने में पाप्यमाण (समर्थ) होने जानुओं, घुटना से गमन के लिये योग्य नहीं होता है ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु वादरिः ॥ ११ ॥

वादरिस्त्वाचार्य सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याख्येते इति मन्यते। चरणमनुष्ठान कर्मेत्यनर्थान्तरम्। तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरति प्रयुज्यमानो दृश्यते। यो हीष्टादिलक्षण पुण्य कर्म करोति न लौकिका आचक्षते यमं चरत्येव महात्मेति। आचारोऽपि च धर्मविशेष एव। भेदव्यपदेशस्तु कर्म-चरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते। तस्माद्रमणीयचरणा प्रशान्त-कर्माणि, कपूयचरणा निन्दितकर्माणि इति निर्णय ॥ ११ ॥

यद्यपि क्षमा, अक्रोध, अद्रोह, दया, दान और ज्ञानादि विहित साधु (मुन्दर) शील हैं, वह भ्रात्राग्न धर्मरूप हैं, और विशेषरूप वाले कर्मा से भिन्न भी हैं। इसी प्रकार क्रूरता, क्रोध, द्राह और अनृतादि अविहित असाधुशील हैं। तथापि चरण और आचार शब्द कर्म के ही वाचक हैं, शील के नहीं, इस आशय से कहते हैं कि वादरि आचार्य तो सुकृत और दुष्कृत ही चरण शब्द से बोधित किये (समझाये) जाते हैं, इस प्रकार मानते हैं। चरण, अनुष्ठान, और कर्म ये शब्द अनर्थान्तर (भिन्नार्थक नहीं) हैं, पर्याय वाचक हैं जिसमें इसी प्रकार अविशेषरूप से कर्ममात्र में चरति (चर धातु) प्रयुज्यमान (प्रयुक्त, पठित) देखा जाता है, कि जो कोई दृष्टान्तिपुण्य कर्म को करता है, लौकिक पुरुष उसको कहते हैं कि यह महात्मा धर्म करता है (धर्माचार करता है)। आचार भी धर्मविशेष ही है। (यथाचारी यथाचारी) इत्यादि स्थान में कर्म और आचरण में भेद का व्यवहार तो ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से भी उपपन्न हो सकता है। अर्थात् सामान्यविशेषरूप से भेद का व्यवहार होता है। इसमें रमणीयचरण प्रशस्त कर्म वाले कहलाते हैं, और कपूय चरण निन्दित कर्म वाले कहलाते हैं, यह निर्णय है ॥ ११ ॥

अनिष्टाधिकार्यधिकरण (३)

चन्द्र याति न वा पापी ते सर्व इति वाक्यतः। पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेऽपि यात्यसौ ॥१॥

भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्द्व्यभिचारिणो। सर्वश्रुति सुकृतिना यात्ये पापि गति श्रुता ॥२॥

दृष्टादि कर्म नहीं करने वालों की भी चन्द्रलोक में गति होती है। क्योंकि कौपीनकी श्रुति में मरण काल में सामान्यरूप से चन्द्रलोक में गमन मुता गया है। यह हम पूर्वपक्ष सूत्र का अर्थ है। सशय है कि पापी चन्द्र का प्राप्त करता है, वा नहीं। पूर्व-पक्ष है कि (वे सब जाते हैं) इस वाक्य से और पञ्चमी आहुति में पुण्यप्राप्ति की प्राप्ति के लिये, पुण्य के अभाव से भोग नहीं मिलने पर भी पापी भी स्वर्ग में जाते हैं। सिद्धान्त है कि चन्द्रलोक में भोग के ही लिए गमन होता है। पञ्चमी आहुति में ही

अगीर होने का नियम नहीं है, इससे शरीर लाभ में आहुति व्यभिचारिणी (अनियत) है, और श्रुति में सर्व पद मुक्तियों के तात्पर्य से है । पापियों की यमलोक में गति मुनी गई है, इससे उनकी चन्द्रलोक में गति नहीं होती है ॥ १-२ ॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रममं गच्छन्तीत्युक्तम् । ये त्वितरेजनिष्टादिकारिण-
स्तेऽपि किं चन्द्रममं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते । तत्र नावदाहुः—
इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतन्न । कस्मात् ? यतोऽनिष्टादिकारिणा-
मपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम् । तथा ह्यविशेषेण कौपीतकिनः समाम-
नन्ति—‘ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति’ (कौपी०
१।२) इति । देहार्म्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते,
पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानिग्रमात् । तस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयः ।
इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत् । न । इतरेषां
चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥ १२ ॥

इष्टादि कर्म करने वाले चन्द्रलोक में जाते हैं, यह कहा गया है । उनसे अन्य जा
इष्टादि कर्म नहीं करने वाले हैं, वे भी क्या चन्द्रलोक में जाते हैं अथवा नहीं
जाते हैं, यह विचार अब किया जाता है । यहाँ प्रथम कोई कहते हैं कि इष्टादि करने ही
वाले चन्द्रलोक में जाते हैं, ऐसे नियम का कोई हेतु नहीं है, क्योंकि जिससे इष्टादि
नहीं करने वालों के भी गन्तव्यरूप से चन्द्रमण्डल मुना गया है, जिससे कौपीतकी
शाखा वाले इसी प्रकार समानरूप से कहते हैं कि (मरण काल में जो कोई इस लोक
से यात्रा करते हैं वे सब चन्द्रलोक में ही जाते हैं) और फिर जन्मने वालों की
देहोत्पत्ति भी चन्द्र प्राप्ति के बिना नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योंकि देह की प्राप्ति में
पञ्चमी आहुति में पुरुष नाम वाला अरीर होता है, यह नियम है, और चन्द्रादि स्थानों
में प्राप्ति के बिना पञ्चमी आहुति नहीं सिद्ध हो सकती है । इससे सभी प्रयाण करने
वाले चन्द्रलोक में जायेंगे, और जाते हैं । यदि कहा जाय कि इष्टादिकारी और अन्य
का समान गतित्व युक्त नहीं है, अन्यथा कर्म की निष्फलता की प्राप्ति होगी, तो कहा
जाता है कि अन्य को चन्द्रमण्डल में भोग के अभाव से, भोगप्रद कर्म की निष्फलता
नहीं है ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

संयमने-नु-अनुभूय-इतरेषाम्-आरोहावरोहौ-तद्गतिदर्शनात् ये छः पद सूत्र में है ।
संक्षिप्तार्थ है कि (संयम्यन्ते जना यत्र तत्संयमनं तत्र इतरेषामारोहो भवति ततश्च
यातना अनुभूयाऽवरोहो भवति मनुष्यलोके तेपामेतादृशी गमनागमने भवतो न चन्द्रलोके,
यतस्तेषां यमलोक एव श्रुती गतिदर्शनादेवं निश्चीयते) जहाँ पापी जन संयत यातना
दण्डयुक्त किए जाते हैं, वह संयमन यमालय है । इतर लोग वहाँ जाते हैं, वहाँ से आते

है। उनके इस प्रकार के गमनागमन होते हैं, और जिससे उनकी गति की चर्चा श्रुति में देखी जाती है, इससे इस प्रकार निश्चय किया जाता है। अथर्ववेद का मन्त्र है कि (यो ममार प्रथमो मर्त्यानां य प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् । वैवस्वतः सङ्गमन जनानां यम राजान हविषा सपर्यंत) मनुष्यों में जो प्रथम मरा, और वैवस्वत-जना के सगन्तव्य इस लोक में पहुँचा, उसने यम राजा की हवि से सपर्या, पूजा की।

तुल्यद पक्ष व्यावर्तयति। नैतदस्ति सवे चन्द्रमस गच्छन्तीति। एतत् कस्मात्। यतो भोगायैव चन्द्ररोहणं न निष्प्रयोजनम्। नापि प्रत्यवरोहायैव, यथा कश्चिद्वृक्षमारोहति पुष्पफलोपादानायैव न निष्प्रयोजनं नापि पतनायैव। भोगश्चानिष्टादिकारिणा चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम्, तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रममारोहन्ति नेतरे। ते तु सयमनं यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपं यामीर्यानिना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति। एवभूतो तेपामारोहावरोहौ भवन। कुत? तदगतिदर्शनात्। तथाहि यमवचनस्वरूपा श्रुतिः प्रयत्ना-मनिष्टादिकारिणा यमवश्यता दर्शयति—

न नापराधं प्रति भाति बाल प्रमाद्यन् वित्तमोहेन मूढम्।

अयं लोको नास्ति पर इति भानी पुन पुनर्वशमापद्यते मे॥

(कठ० २।६) इति 'वैवस्वत मगमन जनानाम्' इत्येवजातीयक च बह्वच यमवश्यताप्राप्तिर्लिङ्गं भवति ॥ १३ ॥

मृगगतं तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि सब चन्द्रलोक में जाते हैं, यह कथन सत्य नहीं है। यह किस हेतु से समझा जाता है कि यह सत्य नहीं है, जबकि श्रुति सब की गति कह रही है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि जिससे भोग के लिए ही चन्द्रलोक में आरोहण होता है, निष्प्रयोजन नहीं होता है, केवल प्रत्यवरोह (उलटे लौटने) के लिए भी आरोहण नहीं होता है। जैसे कोई पुष्प फल के गृहण के ही लिए वृक्ष पर चढ़ता है, निष्प्रयोजन नहीं चढ़ता है, न केवल पतन के लिए चढ़ता है। इष्टादि नहीं करने वालों को चन्द्रलोक में भोग नहीं मिलता है, यह कहा जा चुका है। इससे इष्टादि करने ही वाले चन्द्रलोक में जाते हैं अयं नहीं जाने है, इससे उनके चन्द्रलोक में गमन का कथन असत्य है। वे इतर लोग यमालय (यम के गृह रूप) सयमन में प्राप्ति प्रवेश करके और अपने दुष्कृत पापों के अनुसार यमदण्ड यानना (तीव्र दुःख) का अनुभव (भोग) करके फिर इस लोक के प्रति अवरोह (अवतरण, गमन) करते हैं। इस प्रकार के उनके आरोह-अवरोह होते हैं। क्योंकि वैसी गति देखने से ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकार मर कर जाने वाले इष्टादि कर्मों को नहीं करने वालों की यमवश्यता (यमाधीनता) को यम के वचनरूप श्रुति दर्शानी है कि (धन के मोह से मूढ़ विवेकरहित प्रमाद करने वाले बाल अशों के प्रति सापराध, मरने पर सम्यक् प्राप्त करने योग्य सपराधरूप परलोक का साधन नहीं

मानता है, इससे यह स्त्री, पुत्र, वित्तादिरूप लोक ही है, परलोक नहीं है, इस प्रकार माननेवाले मूढ़ बार-बार मेरे (यम के) वश में प्राप्त होते हैं) और (जनों का वैवस्वत संगमन गन्तव्य स्थान है) और भी इस प्रकार के बहुत ही यमवश्यता प्राप्ति के लिए लिंग हैं ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

अपिच मनुव्यानप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरं यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं
स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु ॥ १४ ॥

और भी मनु, व्यासादि शिष्ट लोग नाचिकेतोपाख्यानादि में, संयमनपुर में पाप कर्म के फल को यमाधीन स्मरण करते हैं। अर्थात् वहाँ यम के अधीन यमयातनारूप पाप के फल को कहते हैं। इससे इष्टादि के बिना यमलोक गति ही सिद्ध होती है ॥ १४ ॥

अपिच सप्त ॥ १५ ॥

अपिच सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते
पौराणिकः, ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति। कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुरित्य-
भिप्रायः ॥ १५ ॥

और भी रौरव, महारौरव आदि सात नरकों का पाप के फलों के उपयोग के लिए स्थानरूप से पौराणिक वर्णन करते हैं। इष्टादि नहीं करने वाले उन नरकों को पाते हैं। उनमें प्राप्त होते हैं। फिर वे चन्द्रलोक को कैसे प्राप्त कर सकते हैं। यह अभिप्राय है ॥ १५ ॥

ननु विरुद्धमिदं-यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्ति-इति।
यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्त इति।
नेत्याह—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादवि-
रोधः। यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥ १६ ॥

वांका है कि पाप कर्म वाले यम के अधीन यातना का अनुभव करते हैं, यह कथन विरुद्ध है। जबकि उन रौरवादिकों में चित्रगुप्त आदि अन्य भी नाना अधिष्ठाता स्मृति में कहे जाते हैं, तो सब को यम की अधीनता का कथन नहीं बन सकता है। सूत्रकार कहते हैं कि विरोध नहीं है, क्योंकि—

उन सात नरकों को भी उस यम के ही अधिष्ठानरूप व्यापार के अभ्युपगम से विरोध नहीं है जिससे यम से प्रयुक्त (नियुक्त किये गये) चित्रगुप्त आदि अधिष्ठाता स्मृति में कहे गये हैं ॥ १६ ॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्य यथासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।३।३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—अथैतयो पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यमृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायन्ते तृतीय स्थान तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) । इति तत्रैतयो पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत् । कस्मात् ? प्रकृतत्वात् । विद्याकर्मणो हि देवयानपितृयाणयो प्रतिपत्तौ पथो, प्रकृते 'तद्य इत्य विदुः' इति विद्या तया प्रतिपत्तव्यो देवयान पन्था प्रकीर्तितः । 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (छा० ५।१०।१,२) इति कर्म तेन प्रतिपत्तव्य पितृयाण पन्था प्रकीर्तितः । तत्प्रक्रियायाम्—'अथैतयो पथोर्न कतरेण च न' इति श्रुतम् ।

पञ्चाग्निविद्या प्रकरण मे प्रश्न है कि (जिस कारण से वह स्वर्गलोक नहीं सम्पूर्ण होता है (नहीं भरता है) उस कारण को क्या तुम जानते हो ? इस प्रश्न के प्रतिवचन (उत्तर) के अवसर पे मुना जाता है कि (उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों मार्गों के साधनरूप इन विद्या और कर्मरूप दोनों मार्गों मे से किसी एक मार्ग विद्या वा कर्म से जो मनुष्य युक्त नहीं है, वे ही ये क्षुद्र, तुच्छ, बार-बार जन्मने-मरने वाले कीट पतंगादि प्राणी होते हैं, बार-बार जन्मते-मरते हैं, और यही तृतीय स्थान है, इसी में वह स्वर्गलोक नहीं पूर्ण होता है, अर्थात् पापी चन्द्रलोक में नहीं जाने हैं इसीसे चन्द्रलोक संपूर्ण नहीं होता है । यहाँ श्रुति में एतयो, पथो, (इन दोनों मार्गों मे) इस कथन से विद्या (उपासना) और कर्म इस अर्थ का ग्रहण होता है । क्योंकि विद्या और कर्म को ही प्रकृतत्व है । जिसमे देवयान (उत्तरायण) और पितृयाण (दक्षिणायन) दोनों मार्गों की प्राप्ति में साधनात्मक मार्गरूप विद्या और कर्म प्रकृत हैं । (इनमे जो इस प्रकार जानते हैं) इस वचन से विद्या प्रकृत है और उसमे प्राप्त करने योग्य देवयान मार्ग कहा गया है । (इष्ट पूर्तं दत्त) इस वचन से कर्म प्रकृत है और उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य पितृयाण मार्ग कहा गया है । उन दोनों की प्रक्रिया (प्रकरण) में (इन दोनों में से जो किसी में युक्त नहीं है) यह मुना गया है ।

एतदुक्तं भवति—ये च न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता नापि कर्मणा पितृयाणे तेषामेव क्षुद्रजन्तुः क्षणोऽमृदावर्ती तृतीय पन्था भवतीति । तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमा प्राप्यते । स्यादेतत्, तस्य चन्द्रविम्ब-मारुह्य तनोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्व प्रतिपत्स्यन्त इति । तदपि नास्ति । आरोहानर्थक्यात् । अपिच सर्वेषु प्रयत्नसु चन्द्रलोक प्राप्नुवत्त्वमौ लोक प्रयत्नसंपूर्यतेत्यतः प्रश्नविच्छेद प्रतिवचन प्रसज्येन । तथाहि प्रतिवचन दानव्य यथाज्ञौ लोको न संपूर्यते । अवरोहाम्बुपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत् । न अश्रुतत्वात् । सव्यमवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते । श्रुतिस्तु तृतीयस्थानमवर्तिनेनासंपूर्ण

दर्शयति—‘एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते’ (छा० ५।१।०।८) इति । तेनानारोहादेवासंपूरणमिति युक्तम् । अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । तुगव्दस्तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामगेपगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति, एवं सत्यधिकृतापेक्षः शाखान्तरीये वाक्ये सर्वगव्दोऽवतिष्ठते—ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति—इति ॥ १७ ॥

इससे यह रहस्य उक्त होता है कि जो मनुष्य विद्यारूप साधन द्वारा देवयान मार्ग के लिए अधिकारी नहीं हुए, न कर्म द्वारा पितृयान मार्ग के ही लिए अधिकारी हो सके, उनका यह क्षुद्रजन्तुरूप बार-बार आवृत्ति वाला तीसरा मार्ग होता है । इससे भी इष्टादि नहीं करने वालों से चन्द्रलोक नहीं प्राप्त किया जाता है । शंका होती है कि विद्या और कर्म के बिना यह क्षुद्र जन्तुत्व हो, परन्तु वे भी चन्द्रविम्ब में आरुढ़, प्राप्त होकर और वहाँ से उतर कर क्षुद्रजन्तुत्व को प्राप्त करेंगे । उत्तर है कि विद्यारहित, कर्मरहित के केवल आरोहण-अवरोहण भी नहीं होते हैं जिससे आरोहण में अनर्थकता की प्राप्ति होती है । दूसरी बात यह है कि मरकर जानेवाले सभी यदि चन्द्रलोक में जायेंगे, तो वह लोक जानेवालों से सम्पूर्ण (व्याप्त) होगा । इससे प्रश्न से विरुद्ध प्रतिवचन प्राप्त होगा । प्रश्न के अनुसार इस प्रकार का प्रतिवचन (उत्तर) देना चाहिए कि जिस प्रकार से वह लोक संपूर्ण नहीं सिद्ध हो । यदि कहो कि अवरोह के अम्युपगम से असंपूर्ण की उपपत्ति होगी, तो अश्रुतत्व से वह कथन युक्त नहीं है । अवरोह से भी असम्पूर्ण उपपन्न होता है, यह कथन सत्य है । परन्तु श्रुति तो तृतीय स्थान के संकीर्तन द्वारा असम्पूर्ण दर्शाती है कि (यह तृतीय स्थान है इससे वह लोक नहीं सम्पूर्ण होता है) इससे इतर के अनारोह से ही असम्पूर्ण होता है । यह युक्त है । यदि अवरोह से ही अपूर्ति हो तो इष्टादिकारी के अवरोह की अविशेषता से तृतीय स्थान कथन की अनर्थकता प्राप्त होगी । अर्थात् इसी यथागत मार्ग से फिर लौटते हैं, इस प्रकार की आवृत्ति का कथन इष्टकारी में है उसी से अनिष्टकारी की आवृत्ति सिद्ध होते तृतीय स्थान का कथन अनर्थक होगा, इससे तृतीय स्थान शब्द तृतीय मार्ग का बोधक है । इससे तृतीय मार्ग वाले चन्द्रलोक में नहीं जाते हैं । इससे सूत्रगत तु शब्द शाखान्तर के वाक्य से जन्य अशेष (सब) के गमन की आशंका का उच्छेद करता है । ऐसा सिद्ध होने पर शाखान्तरगत वाक्य में अधिकारी की अपेक्षा वाला सर्व शब्द अवस्थित निश्चित होता है कि जो कोई इष्टादि के अधिकार द्वारा स्वर्ग के अधिकारी होकर इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोक में ही जाते हैं ॥ १७ ॥

यत्पुनरुक्तं—देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्—इति, तत्प्रत्युच्यते—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चम्यानियम आहुतीनामादत्तव्य ।
 कुन ? तथोपलब्धे । तथा ह्यन्तरेणैवाहुतिमस्यानियम वर्णितेन प्रकारेण
 तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'आयस्य त्रियम्वेत्येतत्तृतीय स्थानम्' (छा०
 ५।१०।८) इति । अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति' (छा०
 ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिमस्या मकीर्यते न कीटपतङ्गादिशरीर-
 हेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात् । अपिच पञ्चम्यामाहुतावाप
 पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते नापञ्चम्यामाहुती पुरुषवचस्त्व प्रतिपिध्यते, वाक्यस्य
 द्वयर्थतादोषात् । तत्र येषामारोहावरोही सम्भवनस्तेषां पञ्चम्यामाहुती देह
 उद्भविष्यन्ति, अन्येषां तु विनेवाहुतिमस्या भूतान्तरोपमृष्टाभिरद्भिर्देह
 आरप्स्यते ॥ १८ ॥

जो यह कहा था कि पञ्चमी आहुति में पुरुष वचन होता है । इस प्रकार आहुति
 सभ्या के नियम से देहलाभ की उपपत्ति के लिए सब चन्द्रलोक में जाने के योग्य हैं,
 उससे प्रति उत्तर कहा जाता है कि—

तृतीय स्थान में देह के लाभ के लिए आहुति की पाँच सभ्या का नियम आदर
 (स्वीकार) के योग्य नहीं है, क्योंकि उस स्थान में इसी प्रकार अनियम की उपलब्धि
 होती है, जिसमें इसी प्रकार आहुति सभ्या के नियम बिना ही वर्णित रीति से तृतीय
 स्थान की प्राप्ति उपलब्ध होती है, कि (बार-बार जन्मो-मरो यही तृतीय स्थान है) ।
 दूसरी बात है कि पुरुष शब्द के मनुष्य जाति वाचकत्व होने में (पञ्चमी आहुति में
 जल पुरुष शब्द का वाच्य होना है । यह मनुष्य शरीर के हेतुस्वरूप से आहुति की सभ्या
 नहीं जानी है, कीट-पतङ्गादि के शरीर के हेतुस्वरूप से नहीं नहीं जानी है । यह बात
 भी है कि पञ्चमी आहुति में जल के पुरुषशब्दवाच्यता का उपदेश दिया जाता है,
 परन्तु मनुष्य में भी पञ्चमी आहुति के बिना अपञ्चमी आहुति में पुरुषशब्दवाच्यता का
 प्रतिषेध ही किया जाता है । क्योंकि ऐसा करने से वाक्य की उस अर्थबोधकता दोष
 होगा, अर्थात् विधि और निषेधरूप दो अर्थ वाक्य के होने पर वाक्यभेद की प्राप्ति
 होगी । इस प्रकार पञ्चमी आहुति का नियम देहागण के लिए नहीं होने पर, जिनके
 आरोग्य-अवरोह का सम्भव है । पञ्चमी आहुति में उनकी देह का उद्भव (जन्म)
 होगा । अन्य की देह तो आहुतिसभ्या के नियम के बिना ही भूतान्त से मिश्रित जल के
 द्वारा आरब्ध (उत्पन्न) होगा ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

अपिच स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां मीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायो-
 निजत्वम् । तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति । धृष्टद्युम्नादीनां तु
 योषित्पुरुषविषये द्वे अघ्राहुती न स्त । यथा च तत्राहुतिसंस्थानादरो

भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति । बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्त इति लोकहृदिः ॥ १९ ॥

और भी यह बात है कि लोक (महाभारतादि) में, भरद्वाज ऋषि के वीर्य से द्रोण में उत्पन्न होने वाले द्रोणाचार्य, अग्नि से उत्पन्न होने वाले वृष्टद्युम्नादि के, और इसी प्रकार भूमि और अग्नि से उत्पन्न होनेवाली सीता और द्रौपदी आदि के अयोनि-जत्व का स्मरण किया जाता है । यहाँ द्रोणादिसम्बन्धी एक स्त्रीविषयक आहुति नहीं स्मृत है । वृष्टद्युम्न आदि सम्बन्धी तो पुरुष और स्त्री दोनों विषयक आहुति नहीं स्मृत (कथित) है । जैसे उन द्रोणाचार्यादि में आहुति की संख्या का आदर नहीं होता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी संख्या का आदर नहीं होगा । बलाका भी रेतःमेक (वीर्यसेचन) बिना ही गर्भ का धारण करती है ऐसी लोक में हृदि (प्रसिद्धि) है ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

अपि च चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्ज-योरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति । एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥ २० ॥

और भी यह बात है कि जरायु (गर्भवेष्टन चर्म) द्वारा जन्मने वाले जरायुज मनुष्य, पशु आदि, अण्डों द्वारा जन्मने वाले अण्डज, पक्षी आदि, स्वेद से जन्मने वाले स्वेदज, खटमल, यूका आदि और भूमि का उद्भेदन करके जन्मने वाले उद्भिज्जरूप, वृक्षादिरूप चार प्रकार के भूतग्राम (प्राणी के समूह) में स्वेदज और उद्भिज्ज की ग्राम्यधर्म (स्त्रीसंग) के बिना ही उत्पत्ति के देखने से आहुति की संख्या का अनादर होता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी आहुति की संख्या का अनादर होगा । अर्थात् इष्टादि नहीं करने वालों के लिये पञ्चमी आहुति में शरीर-धारण का नियम नहीं रहेगा ॥ २० ॥

ननु 'तेपां खल्वेपां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इति अत्र त्रिविव एव भूतग्रामः श्रूयते कथं चतुर्विधत्वं भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति । अत्रोच्यते—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येत्यर्थः । उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात् । स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥ २१ ॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि (उन जीवों से आविष्ट इन पक्षी आदि रूप भूतों के

तीन ही बीज, कारण होने हैं। वे कौन हैं कि जण्डज-जण्डज, जीवज-जरायुज और उद्भिज्ज है) अर्थात् पूर्व-युव के जण्डजादि न उत्पत्ता के जण्डजादि होने हैं, इसमें जीवयुक्त दहों के तीन कारण हैं, इस श्रुति में तीन प्रकार में ही भूतग्राम मुने जान हैं। फिर चार प्रकार के भूतग्राम की प्रतिज्ञा वंशों की गई है। भूतग्राम का चतुर्विधत्व प्रतिज्ञात वंश हुआ है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

ऐतरेय श्रुति में (जण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च) इस प्रकार में चतुर्विध भूतग्राम के स्वीकार में छान्दास्य में भी चतुर्विधता का स्वीकार है, परन्तु (जण्डज, जीवजम्, उद्भिज्जम्) इस वाक्य में तृतीय उद्भिज्ज शब्द से ही स्वेदज का उपमग्रह किया हुआ समझना चाहिये, क्योंकि स्वेदज, उद्भिज्ज दोनों को भूमि और उदक के उद्भेदनजन्यत्व की तुल्यता है। इसमें उद्भिज्ज में दोनों का अवगोच (ग्रह) किया गया है। स्वावर्ग-वृक्षादिवृत्त उद्भेदन की अपेक्षा में जन्ममय उद्भेदन विलक्षण है। इस तात्पर्य से अन्यत्र श्रुति आदि में स्वेदज और उद्भिज्जविषयक भेदवाद है। मूल में सशोक शब्द स्वेद अर्थ में है। शोक से भी स्वेद होता है। इसमें कार्य में कारणवाचक शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ २१ ॥

साभाव्यापत्त्यधिकरण ॥ ४ ॥

प्रियादादिस्वरूपत्व तत्साम्यं वावरोहिणः । वायुर्भूत्वेत्यादि वाक्यात् तत्तद्भावं प्रपद्यते ॥ १ ॥
खवत्मूदमौ वायुवशो युक्तौ घूमादिभिर्भवेत् । अन्यस्यान्यस्वरूपत्व न मुख्यमुपपद्यते ॥ २ ॥

स्वर्ग में अवरोह काल में यद्यपि जीव की आकाश वायु आदि रूपता की प्राप्ति श्रुति अस्य के अनुसार प्रतीत होती है, तथापि उपपत्ति में समानस्वभावता की प्राप्ति सिद्ध होती है। सशय है कि अनरोह करने वाले की मार्ग में आकाशादि स्वरूपता की प्राप्ति होती है। अथवा आकाशादितुल्यता की प्राप्ति होती है। पूर्वपक्ष है कि (वायु होकर घूम होता है) इत्यादि वाक्य से सिद्ध होता है कि तत्तत्स्वरूपता की प्राप्ति होता है। सिद्धान्त है कि अन्य चेन्न जीवात्मा की अन्य आकाशादि स्वरूपत्व मुख्य नहीं उपपन्न हो सकता है, इसमें शोकानि से जन्मय स्वर्गीय देह के विलीन हो जाने से आकाश के समान मूल हो जाने हैं। फिर अत्यन्त मूदम लिङ्गशरीरयुक्त जीव वायु के वश में होते हैं, फिर वायु के तुल्य होकर घूम आदि में युक्त और घूमादि के सहस्र होते हैं, फिर मेघादि तुल्य होकर वृष्टि द्वारा भूमि में आते हैं इत्यादि ॥ १-२ ॥

साभाव्यापत्तिरूपपत्तेः ॥ २२ ॥

इष्टादिकाणिश्चन्द्रमममाह नन्मिन्यावत्तमपानमुपित्वा तन सानुगथा अवरोहन्तीत्युक्तेम् । अथावरोहप्रकारं परीक्ष्यते । तत्रैयमवरोहश्रुतिर्भवेति—
'अथैतमेवाध्वान पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायु वायुर्भूत्वा घूमो भूत्वा मेघो भवति मेघा भूत्वा प्रवर्पति' (छा० ५।१०।५) इति । तत्र सशय—

किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किंवाऽऽकाशादि साम्यमिति । तत्र प्राप्तं तावदाकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति । कुतः ? एवं हि श्रुतिर्भवति । इतरथा लक्षणा न्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिन्याय्या न लक्षणा । तथा च वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्येवनादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते । तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति । एवं प्राप्ते धूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति । चन्द्रमण्डले यदस्मयं गरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशममं भवति ततो वायोर्वगमेति ततो धूमादिभिः संपृच्यत इति । तदेतदुच्यते 'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा० ५।१०।५) इत्येवमादिना । कुतः ? एतदुपपत्तेः । एवं ह्येतदुपपद्यते । नह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते । आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते । विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसम्बन्धवत्त्वान्न तन्मादृश्यापत्तेरन्यस्मत्सम्बन्धो घटते । श्रुत्यसम्भवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव । अत आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते ॥ २२ ॥

इष्टादि कर्म करने वाले चन्द्रलोक में प्राप्त होकर कर्मफल के भोगकाल तक उस लोक में निवास करके फिर अनुगम्य सहित अवतरते, लौटते हैं । यह कहा जा चुका है । अब इसके आगे अवरोह के प्रकार (भेदरीति) की परीक्षा (युक्तायुक्त का विचार) की जाती है । यहाँ यह अवरोहविषयक श्रुति है कि (भोग की समाप्ति होने पर इसी मार्ग को पकड़कर अनुगम्ययुक्त जीव फिर लौटते हैं, जिस मार्ग से गये हुए रहते हैं ।) इससे प्रथम आकाश में आते हैं । अर्थात् आकाशतुल्यता को प्राप्त करते हैं, आकाश से वायु में प्राप्त होते हैं । वायुतुल्य होकर धूमतुल्य होते हैं । धूम होकर अश्रुजल को ग्रहण करने वाले मेघतुल्य होते हैं । फिर वर्षने वाले मेघतुल्य होते हैं, मेघ होकर प्रसर्पते हैं । इत्यादि । वहाँ संशय होता है कि अवरोह करने वाले अर्थात् चन्द्रलोक से आनेवाले क्या आकाशादिस्वरूपता को ही प्राप्त होते हैं । अथवा आकाशादि की समता को प्राप्त करते हैं । वहाँ प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि आकाशादि स्वरूपता को ही प्राप्त करते हैं, क्योंकि ऐसी ही श्रुति है, अर्थात् श्रुत्यक्षर से तद्रूपता की प्राप्ति ही शक्ति वृत्ति द्वारा भासती है, अन्यथा सादृश्य पक्ष में लक्षणा वृत्ति होगी । श्रुति तथा लक्षणा के संशय में श्रुति न्याय्ययुक्त होती है, लक्षणा नहीं । इस प्रकार श्रुति के अनुसार ही वायु होकर धूम होता है, इत्यादि अक्षर (पद) तत्तत्स्वरूप की उपपत्ति में शीघ्रता से अनायास सम्बद्ध होते हैं । इससे सम्यक् उपपन्न होते हैं । इससे अवरोहियों को आकाशादिस्वरूपता की प्राप्ति होती है । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (समान भाव वाला समाव कहाता है, और समावता को सामाव्य कहते हैं । उसका तुल्यता—साम्य अर्थ होता है) इससे अवरोह करने वाले आकाशादि की समता को प्राप्त होते हैं, चन्द्रमण्डल में जलमय शरीर उपभोग के लिए

आरब्ध (उत्पादित) गृह्यता है, वह उपभोग के क्षय होने पर प्रवित्रीन होता हुआ आकाशतुल्य सूक्ष्म हो जाता है। फिर वायु के वन में प्राप्त होता है, फिर वायु द्वारा घमादि के साथ सम्पृक्त (सम्बद्ध) होता है, अतः यह समता सम्बन्धादिक ही (गन्त के समान आगमन में भी आकाश को प्राप्त करता है, आकाश से वायु को प्राप्त करता है) इत्यादि में कहा जाता है। क्योंकि उपपत्ति में यही सादृश्यादिक ही भवन (होना) है। इस प्रकार ही यह वायु आदि होना उपपन्न (युक्त) होता है। जिससे जन्म की गति अन्यभाव (अन्यस्वरूपता) मुख्य नहीं उपपन्न हो सकता है। यदि अवगोही को जागृत-स्वरूपता की प्राप्ति हो, तो वायु आदि क्रम से अवगोह नहीं सिद्ध होगा। आत्मा के विभु होने में, आकाश के साथ निम्न सम्बन्ध वाला अनुशयी अवगोही जीव रहता है, इसमें आकाशसदृशता की प्राप्ति में अन्य आकाश के साथ सम्बन्ध संयोगादि नहीं सघटित हो सकता है कि जिससे आकाशरूपतापत्ति की आत्मा सम्बन्ध में लक्षणा हो सके। इसमें सादृश्यार्थ में लक्षणा है। श्रुति के असम्भव होने पर लक्षणा का आश्रय न्याययुक्त ही है। इसमें आकाशादि की तुल्यता की प्राप्ति ही यहाँ आकाशादि भाव उपचरित गौण व्यवहृत होता है, कहा जाता है ॥ २२ ॥

नातिचिराधिकरण (५)

ब्रीह्यादे प्राग्विलम्बेन त्वरया वाञ्छरोहति । तत्राभिनय एव स्यान्नियामनविजर्जनात् ॥१॥
दु ख ब्रीह्यादिनिर्माणमिति तत्र विशेषित । विलम्बस्तेन पूर्वप्र स्वरार्थादवसीयते ॥२॥

स्वर्ग में अवतरण में आकाशादि-सदृशता में अन्य-जन्म के सदृश होने के समय अतिचिरकाल के द्वारा जीव अन्य-जन्म के सदृश नहीं होते हैं किन्तु शीघ्र २ रूपान्तर को प्राप्त होते हैं, अतः (अतो वै सद्गु दुनिष्प्रतरम्) इस विशेष वचन से सिद्ध होता है कि ब्रीहि में प्राप्त होने पर उसमें निकलना कठिन होता है, प्रयत्न नहीं। यहाँ सशय है कि ब्रीहि आदि में पूर्व में विदग्ध में अनुशयी जीव उतरना है अथवा शीघ्र उतरता है। पूर्वपक्ष है कि नियामक हेतु के अभाव से अवगोह में विदग्ध स्वर्ग का अनियम ही है। सिद्धान्त है कि ब्रीहि में निर्माण (नि सरण) दु गतरूप कष्टसाध्य है, इस प्रकार वहाँ विशेषित (विशेष भेदयुक्त) ब्रीहि आदि भाव है, इस हेतु से उस ब्रीहि आदि भाव में विलम्ब होता है, अर्थात् उससे पूर्व में स्वर्ग (शीघ्रता) का निश्चय किया जाता है ॥ १-२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्ब्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विशय-किं दीर्घं दीर्घं काल पूर्वपूर्वमादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरमादृश्य गच्छन्त्युत्तान्त्वमन्यमिति । तत्रा-नियमो नियमकारिण शास्त्रस्याभावादिति । एव प्राप्त इदमाह—नातिचिरे-णेति । अल्पमन्य कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षादाराभि सहैमा भुवमा-पन्ति । कुत एतत् ? विशेषदर्शनात् । तथाहि ब्रीह्यादिभावापत्तेर्गन्तरं

विगिनष्टि—‘अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्’ (छा० ५।१०।६) इति । तकार एकच्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः दुर्निष्क्रमतरं दुर्निष्प्रपतरं दुःखतर-मस्माद्ब्रीह्यादिभावान्निसरणं भवतीत्यर्थः । तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति । सुखदुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः । तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगामम्भवान् । तस्माद्ब्रीह्यादिभावपत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति ॥ २३ ॥

ब्रीहि आदि की प्राप्ति से प्रथम उस आकाशादि का प्राप्तिविषयक संशय होता है कि दीर्घ-दीर्घं कालपर्यन्त, पूर्व-पूर्वसदृशतापूर्वकं स्थिर हो-होकर, उत्तर-उत्तर सदृशता को अनुगयी प्राप्त होते हैं अथवा अल्प-अल्प काल तक स्थिर होकर प्राप्त होते हैं । पूर्वपक्ष है कि उसमें नियमकारक शास्त्र के अभाव से अनियम है, त्रिं से कमी प्राप्त होता है, कमी शीघ्र प्राप्त होता है । इस प्रकार प्राप्त होने पर सूत्रकार यह कहते हैं कि नातिचिरेणेति, अल्प-अल्प काल तक आकाशादि सदृशरूप में स्थिर होकर वर्षा की धाराओं के साथ इस भूमि से प्राप्त होते, गिरते हैं । यह अल्प काल का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है कि विशेष का दर्शन से ज्ञान होता है । जिससे ब्रीहि आदि भाव की प्राप्ति के अनन्तर श्रुति इस प्रकार विशेष का कथन करती है कि (इस ब्रीहि आदि भाव से निर्गमन कठिन हो जाता है) दुर्निष्प्रपतरम्, इस पद का एक तकार वैदिक प्रक्रिया में लुप्त हुआ समझना चाहिए । इससे दुर्निष्प्रपतरं, दुर्निष्क्रमतरं इस ब्रीहि आदि भाव से निसरण दुःखतर (अत्यन्त दुःखरूप) होता है, यह अर्थ है । इससे यहाँ दुःखरूप निष्प्रपतन (निसरण) को प्रदर्शन कराता हुआ, प्रवाहण राजा, पूर्वावस्थाओं में मुखरूप निष्प्रपतन को दिखाता है और निष्प्रपतन को जो यह सुखता और दुःखतारूप विशेष भेद है, वह काल के अल्पत्व और दीर्घत्वरूप निमित्तकृत है । जिससे उस अवधि (काल) में शरीर की असिद्धि से उपभोग के असम्भव से शरीर द्वारा उपभोगजन्य सुख-दुःख उस समय नहीं हो सकते हैं । इससे ब्रीहि आदि भाव की प्राप्ति से प्रथम अल्प काल द्वारा ही अवरोह होता है ॥ २३ ॥

अन्याधिष्ठिताधिकरण (६)

ब्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत् । जायन्त इति मुख्यत्वात्पशूहिंसादिपापतः ॥१॥
वैधान्न पापसंश्लेषः कर्मव्यापृत्यनुक्तिः । श्वविप्रादौ मुख्यजनौ चरणव्यापृतिः श्रुता ॥२॥

भोक्ता अन्य जीव से अधिष्ठित भोगाश्रयरूप से स्वीकृत ब्रीहि आदि में अनुगयी जीव की सामाव्यापत्ति कही जाती है । उस रूप से जन्म नहीं कहा जाता है । जिससे पूर्वकथित आकाशादि के समान ही कर्म व्यापार के बिना ब्रीहि आदि भाव का कथन है । संशय है कि उन अवरोहियों का ब्रीहि आदि में भोग के लिए जन्म होगा अथवा आगे प्राप्ति के लिए मार्गरूप ब्रीहि आदि में संश्लेष (सवन्ध) मात्र होगा । पूर्वपक्ष है कि श्रुति में ‘जायन्ते’ इस पद के मुख्यार्थक होने से और इत्यादि कर्म में पशूहिंसादि

रूप पाप के होने से (शरीरजं कर्मदोषैर्याति स्थावरना नर) इत्यादि स्मृति के अनुसार अनुश्रवियों का ब्रीहि आदि में जन्म होगा। सिद्धांत है कि यद्यपि अप-
घ्यानादिजन्य पुण्य ही पापमन्त्र्य में रहित होता है, अन्य-तपोवृत्त सब कर्म यद्यपि
पुण्य-पाप मिश्रित होने हैं, वह (नत्र ध्यानजमनाशयम्) इत्यादि शास्त्र में सिद्ध होता
है। तथापि बंध (कर्मविधिमन्त्र्यधी) हिमा कर्म से ऐसा पाप का सम्बन्ध नहीं होता
है कि जिसमें स्थावर भाव की प्राप्ति हो। किन्तु उस पाप का फल स्वर्ग में ही मृग
भोग के साथ समय-समय पर दुःख भोगना होता है, जैसे कि इन्द्रादि में भी शत्रुजन्य
भयादि का वर्णन है। दूसरी बात है ब्रीहिनाश के प्राप्तिफल में भोगप्रद कर्म
के व्यापार की श्रुति में अनुक्ति है। अर्थात् कर्मभोग के लिए वहाँ प्राप्ति का कथन
नहीं है, किन्तु आगे जाने के लिए प्राप्ति का कथन है। मार्ग के खतम होने पर
स्वान-विप्रादिरूप मुख्य जन्म में चरण की व्यापृति मुनी गई है, इसमें ब्रीहि आदि में
संश्लेषमान होता है ॥ १-२ ॥

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

तस्मिन्नेवावरोह प्रवर्षणानन्तर पट्यते—'त इह ब्रीहियता ओषधिवनस्प-
त्यन्तिलमापा इति जायन्ते' (छा० ५।१०।६) इति। तत्र मन्त्राय—किमस्मि-
न्नवधौ स्थावरजान्यापन्ना स्थावरमुपद्रुग्धभाजोऽनुश्रव्यिनो भवन्त्याहोम्वित्से-
त्रज्ञान्तरार्धाष्टितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमान गच्छन्तीति। न तावत्प्राप्तम् ?
स्थावरजान्यापन्नास्तन्मुग्धवभाजोऽनुश्रव्यिनो भविष्यन्तीति। कुत एतत् ?
जनेर्मुखायत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिरमृत्योरुपभोगस्यानत्वप्रसिद्धे।
पशुहिमादियोगाच्चेष्टादे कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः। तस्मान्मुख्यमेवेदमनु-
श्रव्यिना ब्रीह्यादिजन्म, इत्यादिजन्मवत्। यथा दमयोनि वा सूकरयोनि वा
चण्डालयोनि वेति मन्थमेवानुश्रव्यिना इत्यादिजन्म तन्मुग्धवत्पान्तिन भवति,
एव ब्रीह्यादिजन्मापीति।

उसी अवरोह में प्रवर्षण के अनन्तर पटा जाता है कि (वे अनुश्रव्यी जीव इस
भूमि में ब्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल और माप-उदद) रूप से उत्पन्न होते हैं।
यहाँ सशय होता है कि, क्या इस जनधि (वर्णान्तर काल) में अनुश्रव्यी जीव स्थावर
जानि को प्राप्त होकर स्थावरमन्त्र्यधी मुख-दुःख के मोक्ता होत हैं अथवा अन्य
क्षेत्र (जीव) से अधिष्ठित भोगाश्रयरूप में स्वोद्भूत स्थावर-शरीरों में संश्लेषमान
को प्राप्त करते हैं। यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, पूर्वपक्षी
कहते हैं कि स्थवर जानि को प्राप्त होकर स्थावरमन्त्र्यधी मुख-दुःख के मोक्ता
अनुश्रव्यी होते हैं। जिज्ञासा होती है कि यह मोक्षत्वं किस हेतु से निश्चय किया जाता
है। उत्तर है कि, जन धातु के मुख्याय की उपरान्त में और स्थावर भाव की श्रुति
और स्मृति में उपभोगस्यानत्व की प्रसिद्धि से मोक्षत्व का निश्चय किया जाता है।

इत्यादि कर्मसमूह को पशुहिंसादि के साथ सम्बन्ध से अनिट् ब्रीहि आदि जन्मरूप फल को उपपत्ति से उक्त निश्चय होता है। इससे अनुशयियों का यह ब्रीहि आदि रूप जन्म मुख्य ही होता है, जैसे कि श्वान आदि। जैसे, 'श्वयोर्नि वा, मूकरयोर्नि वा, चाण्डाल-योर्नि वा' इस वचन के अनुसार अनुशयियों का कुत्ते आदि सम्बन्धी मुख-दुःख से युक्त कुत्ते आदि जन्म मुख्य ही होते हैं। इसी प्रकार ब्रीहि आदि जन्म भी मुख्य होते हैं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु ब्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति, पूर्ववत्। यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संग्लेपमात्रम्, एवं ब्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संग्लेपमात्रम्। कुत एतत्? तद्वेदेहाप्यभिलापात्। कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः? कर्म-व्यापारमन्तरेण संकीर्तनम्, यथाकाशादिषु प्रवर्पणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृगत्येवं ब्रीह्यादिजन्मन्यपि। तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम्। यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति परामृगति तत्र कर्मव्यापारं रमणीयचरणा कपूयचरणा इति च। अपिच मुख्येऽनुशयिनां ब्रीह्यादिजन्मनि ब्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु भज्यमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः। यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रमिदम्। तत्र ब्रीह्यादिभावादेनः मिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलष्यत। अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु ब्रीह्यादिषु भवति। एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य। न च वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे। भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेदुपभोगस्थानम्। चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥ २४ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि अन्य जीवों से अधिष्ठित ब्रीहि आदि में अनुशयी जीव संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं और उसके सुख-दुःख के भागी नहीं होते हैं। पूर्व काल में आकाशादि के समान यहाँ भी सुखादि रहित रहते हैं। जैसे अनुशयी का वायु धूम आदि भाव उनके साथ सम्बन्धमात्र होता है, इसी प्रकार ब्रीहि आदि भाव भी जातिस्थावरों के साथ सम्बन्धमात्र होता है। यह सम्बन्धमात्र किस हेतु से समझा जाता है। उत्तर है कि आकाशादि के समान ही यहाँ भी अभिलाप (कथन) में समझा जाता है। इस अभिलाप को पूर्वाभिलाप के साथ तुल्यता क्या है, उत्तर है कि कर्म-व्यापार के बिना ब्रीहि आदि भाव संकीर्तन तुल्यता है। जैसे आकाशादि प्रवर्पण पर्यन्त में किसी कर्म-व्यापार का परामर्श (कथन) श्रुति नहीं करती है, इसी प्रकार ब्रीहि आदि जन्म में भी कर्म-व्यापार का कथन नहीं करती है। इससे इस ब्रीहि आदि भाव में अनुशयियों को सुख-दुःख मोक्षकृत्त्व नहीं है। श्रुति जहाँ सुख-दुःख मोक्षकृत्त्व का अमिप्राप्य रखती है, वहाँ कर्म के व्यापार का परामर्श करती है, कि रमणीयचरण वाले और कपूयचरणवाले। इत्यादि। दूसरी बात है कि अनुशयियों के ब्रीहि

आदि जन्म मुख्य होने पर, ग्रीहि आदि काटने, कूटने, पीसने, पकाने और भक्षण करने पर, उनके अभिमानों अनुशयी प्रवास करेंगे (उसे त्याग देंगे) जिसमें जो जीव जिस शरीर का अभिमानी होता है, वह उस शरीर के पीड़ित होने पर प्रवास करता है, यह प्रसिद्ध है । इस प्रकार प्रवास होने पर जो ग्रीहि आदि भाव से रेत सिग्माव (गर्माधानकारक पुरुषभाव) श्रुति में अनुशयियों का कहा गया है, वह नहीं कहा जाना । अतः अन्य से अधिष्ठित ग्रीहि आदि में अनुशयियों का ससर्गमात्र होता है । इस उक्त युक्ति में जन्मश्रुति के गौण होने में जन्म की मुख्यार्थता का और व्याघ्र भाव की उपयोगस्थानता का प्रतिषेध करना चाहिये । यदि कहा जाय कि (स्थाणु-मन्वेज्जुमयन्ति । शरीरजं कर्मदोषैर्याति स्यावरता नर) इमं श्रुति-स्मृति में स्यावर को भोगाश्रय माना गया है, उसका निषेध युक्त नहीं हो सकता । यहाँ कहते हैं कि हम स्यावरभाव के उपमागस्थानत्व की अवज्ञा, अनादर नहीं करते हैं । अपुण्य के सामर्थ्य में स्यावरभाव को प्राप्त अन्यप्राणी के उपभोग का स्थान यह स्यावर हो । किन्तु चन्द्र-लाम्ब में उत्तर्गने वाले अनुशयी स्यावरभाव का उपभोग नहीं करते हैं, यह हम कहते हैं ।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

इमं सूत्र का सक्षिप्तार्थ है कि पाप का फलरूप स्यावर भाव अशुद्ध है । इससे अन्य कर्म की अभिव्यक्ति में बिना पुण्यकर्मानुशयी की उसमें प्राप्ति उचित नहीं है, यदि ऐसी शका हो । अथवा ग्रीहि आदि में यदि अनुशयी जीव रहते हैं, तो उन्हें काटने आदि के समय कष्ट होना होगा, इसमें हिंसाजन्य अन्न अशुद्ध है । यदि ऐसी शका हो, तो युक्त नहीं है । क्योंकि शब्द से उसमें अभिमानरहित अनुशयी की प्राप्ति होती है । भोग के लिये उसमें पापी की प्राप्ति होती है, निरभिमानों अनुशयी उसमें आनाश के समान असंग रहता है, इसमें मुख-दुग्धादि का भागी नहीं होता है न उसमें हिंसा द्वारा अन्न अशुद्ध होना है इत्यादि अन्याय माध्याय से ज्ञेय है ॥

यत्पुनरुक्त—पशुहिमादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म तस्यानिष्टमपि फलम-
वरूपेण इत्यतो मुग्धमेवानुशयिना ग्रीह्यादिजन्मास्तु तत्र गौणी कल्पनान-
र्थिका—इति, तत्परिह्रियते न, शास्त्रहेतुत्वादधर्माधर्मविज्ञानस्य । अथ धर्मोऽ-
यमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम् अतीन्द्रियत्वात्तयो । अनियतदेश-
कालनिमित्तत्वाच्च, यन्मिन्देने काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव
देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति, तेन शास्त्रादृते धर्माधर्मविषय विज्ञान न
कस्यचिदस्ति । शास्त्राच्च हिसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्कामो धर्म इत्यवधारित
स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम् । ननु 'न हिंस्यात्मवा भूतानि' इति
शास्त्रमेव भूतविषया हिंसामधर्म इत्यवगमयति । वाढम् । उत्सर्गस्तु स ।
अयञ्चापवाद 'अग्नीषोमीय पशुमालभेन' इति । उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थि-
तनिषयत्वम् । तस्माद्विशुद्ध वैदिक कर्म, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनित्यमानत्वाच्च ।
तेन न तस्य प्रतिरूप फल जातिस्थावरत्वम् । नच श्वादिजन्मवदपि ग्रीह्या-

दिजन्म भवितुमर्हति । तद्धि कपूयचरणानधिकृत्योच्यते नैवमिह वंगेपिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति । अतश्चन्द्रमण्डलस्खलितानामनुगयिनां ब्रीह्यादिमंश्लेपमात्र तद्भाव इत्युपचर्यते ॥ २५ ॥

जो यह भी कहा था कि पशुहिसादि के सम्बन्ध से आध्वरिक (याज्ञिक) कर्म अशुद्ध है, उसका अनिष्ट फल भी सिद्ध होता है । इससे अनुश्रयियों का ब्रीहि आदि जन्म मुख्य ही हो सकता है, यहाँ गौणी कल्पना अनर्थक है । उसका परिहार किया जाता है कि याज्ञिक कर्म ब्रीहि आदि में प्राप्ति (जन्म का हेतु) योग्य अशुद्ध नहीं है, क्योंकि धर्माधर्म विज्ञान को शास्त्रहेतुत्व है । यह धर्म है, यह अधर्म है, इस विज्ञान में शास्त्र ही कारण है । उस धर्माधर्म के अतीन्द्रिय होने से शास्त्र के बिना उनका इन्द्रियों से विज्ञान नहीं हो सकता है और नियत (एक) देश, काल और निमित्त के नहीं होने से भी शास्त्र के बिना सामान्यतो दृष्टानुमान से भी उनका विज्ञान नहीं हो सकता है । जिस शुचि देश प्रातःकाल, सायंकाल और जीवनादि निमित्त के रहते जो अग्निहोत्रादि धर्म किया जाता है, वही अशुचि देश, अर्द्धरात्रिकाल मरणादि निमित्तान्तर में अधर्म हो जाता है, इससे शास्त्र के बिना धर्माधर्म-विषयक विज्ञान किसी को नहीं होता है और शास्त्र से तो हिंसा, अनुग्रहादि स्वरूप ज्योतिष्टोम धर्म हैं, इस प्रकार निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है यह कैसे कहा जा सकता है । गंका होती है कि (सब भूत की हिंसा नहीं करे) इस प्रकार का शास्त्र ही भूतविषयक हिंसा को अधर्मरूप समझाता है । क्योंकि शास्त्र से निषिद्ध क्रिया को ही अधर्म कहा जाता है । उत्तर है कि निषेध का विषय होने से हिंसा अधर्म है, यह बात सत्य है, परन्तु वह निषेध शास्त्र उत्सर्ग (सामान्य) है और (अग्निसोम-देवताक पशु का आलम्भ करे) यह विशेष शास्त्र होने से अपवाद (बाधक) है । उत्सर्ग तथा अपवाद को व्यवस्थित (भिन्न) विषयत्व है । इससे वैदिक कर्म विशुद्ध है । जिससे शिष्टों से अनुष्ठीयमान अनिन्द्यमान हैं, अर्थात् शिष्ट इस कर्म का आचरण करते हैं और इसकी निन्दा नहीं करते हैं, इससे भी यह विशुद्ध है । इस हेतु ने उसका जाति स्थावरत्व रूप प्रतिरूप (प्रतिकूल, अनिष्ट) फल नहीं होता है और ज्वान आदि जन्म के समान भी ब्रीहि आदि जन्म नहीं होने योग्य है । क्योंकि वह ब्रीहि आदि जन्म पापाचरण वालों का अधिकार करके कहा जाता है । उस प्रकार से यहाँ कोई विशेषाधिकार नहीं है । इससे चन्द्रमण्डल से पतित अनुश्रयियों का ब्रीहि आदि में सश्लेपमात्र ही तदभाव इस प्रकार उपचार किया जाता है । वस्तुतः बलवदनिष्ट का असम्बन्धी इष्टमात्र कृपि आदि के समान कामी के लिये विधि का विषय होता है । इससे मुख के साथ दुःख भी इष्टाधिकारी को भोगना पड़ता है, परन्तु वह इष्टादिसम्बन्धी हिंसादिरूप दोष ब्रीहि आदि जन्म का हेतु नहीं होता है, यह मूल और भाष्य का तात्पर्य है इत्यादि अन्यत्र ज्ञेय है ॥ २५ ॥

रेतःसिग्ध्योगोऽय ॥ २६ ॥

इतश्च ब्रीह्यादिमण्ड्येपमात्र तद्भावा यत्कारण ब्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुश्रवणात् रेतःसिग्धभाव आम्नायते— यो यो ह्यन्नमति या रेतः सिद्ध्यति तद्भूय एव भवति' (छा० ५।१०।६) इति । नचात्र मृग्यो रेतःसिग्धभाव सम्भवति । चिरजानो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्धवति । वयमिदानीमुपचरिततद्भावमन्ना-
नाह्नानुगतोऽनुश्रवो प्रतिपद्यते । तत्र तावदवश्य रेतःसिग्धो एव रेतःसिग्धा-
वोऽभ्युपगन्तव्यः । तद्वद्ब्रीह्यादिभावोऽपि ब्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

इमं कारणं से ब्रीहि आदि के साथ सम्बन्धमात्र ही ब्रीहि आदि भाव है कि—
जिम कारण में ब्रीहि भाव के अनन्तर अनुश्रविया का रेतःसिग्धाव श्रुति में पता
जाता है कि (जो-जो अन्न खाता है जो बीर्य को योनि में—गर्भाश्रय में सेचन करता
है अनुश्रवो जीव तद्रूपता को प्राप्त करता है । यहाँ मुख्य रेत सेवना रूपता नहीं हो
सकती है, मुख्यरेत सिग्धाव का असम्भव है । जिसमें चिरकाय के उत्पन्न यौवन
को प्राप्त पुत्र्य रेत का सेचनकर्ता होता है । यहाँ खाया गया अन्न में अनुगत अनुश्रवी
अनुपचरित (मुख्य) तद्भावा (तद्रूपता) किस प्रकार में प्रतिपन्न होगा । इसमें वहाँ
रेत सेवना के साथ सम्बन्ध ही रेतःसिग्धाव अवश्य मानना होगा, उसी के नमान
ब्रीहि आदि भाव भी ब्रीहि आदि के साथ सम्बन्ध ही है, इस प्रकार उपक्रम और
उपमहार की गवरूपता में उपक्रम उपमहार में विरोध नहीं है ।

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

अथ रेतःसिग्धावस्यानन्तर योनी निषिक्ते रेतसि योनेर्गर्भशरीरमनुश्रवणात्-
मनुश्रवणफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'यद्य इह रमणीयचरणा'
(छा० ५।१०।७) इत्यादि । तस्मादप्यजगम्यते नावरोहे ब्रीह्यादिभावान्नरे
तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति । तस्माद् ब्रीह्यादिमण्ड्येपमात्रमनुश्रवणात्
तज्जन्मेति सिद्धम् ॥ २७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतां

शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथम पादः ॥ १ ॥

फिर रेत सेवना भाव के अनन्तर योनि में बीर्य के निषेध (प्राप्ति) होने पर
अनुश्रव को फल के उपभोग के लिए योनि में जायत शरीर उत्पन्न होता है । यह
शास्त्र कहता है कि (यहाँ जो रमणीय आचरण करते हैं) इत्यादि । इसमें भी
यह समझा जाता है कि अवरोह में ब्रीहि आदि भाव के समय में सुख-दुःख-
वद् ब्रीहि आदि शरीर ही नहीं होता है, इसमें ब्रीहि आदि के साथ सम्बन्धमात्र ही
अनुश्रवो का ब्रीहि आदि जन्म होता है, यह सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथम पाद समाप्तः

तृतीयाध्याये द्वितीय पादः

[अत्र पादे तत्त्वंपदार्थपरिशोधनविचारः ।]

संध्याधिकरण (१)

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नश्रुतिः सत्या श्रुतीरणात् । जाग्रद्देशविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥ १ ॥
देवकालाद्यनीचित्याद्याधितत्वाच्च सा मृषा । अभावोक्तैर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥ २ ॥

(सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्) इस श्रुति के अनुसार जाग्रत् मुप्सि की अपेक्षा संध्यनामक तृतीय स्वप्न स्थान है, इस स्थान में रथादि की सृष्टि होती है । जिससे श्रुति वहाँ की सृष्टि को कहती है । यहाँ सशय होता है कि सृष्टि सत्य आकाशादि की सृष्टि के समान व्यावहारिक है अथवा रज्जु-सर्पादि के समान मिथ्या प्रातिभासिक है । पूर्वपक्ष है कि श्रुतिकथित होने से सत्य है तथा जाग्रत् काल के देश से स्वप्न का देश अविशिष्ट (तुल्य) है । इससे ईश्वर से ही निर्मित है । सिद्धान्त है कि देश, काल के अनीचित्य (व्यावहारिक सृष्टियोग्यता का अभाव) से और बाधितत्व से वह सृष्टि मिथ्या है और (न तत्र रथाः) इत्यादि श्रुति द्वारा व्यावहारिक रथादि के अभाव के कथन से तथा तात्कालिक द्वैत की समता से भी स्वप्न की सृष्टि मिथ्या है । (य एष मुक्षेपु जागर्ति) इस श्रुति में जीव का अनुवाद से ईश्वर स्वप्न का कर्ता नहीं है, किन्तु जीव ही वासना आदि द्वारा कर्ता है ॥ १-२ ॥

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चिनः । इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते । इदमामनन्ति—‘न यत्र प्रस्वपिति’ (वृ० ४।३।९) इत्युपक्रम्य ‘न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते’ (वृ० ४।३।१०) इत्यादि । तत्र संग्रहः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिका सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति । संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् ‘संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्’ (वृ० ४।३।९) इति । द्व्योर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रमादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम्, तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति । कुतः ? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह ‘अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते’ (वृ० ४।३।१०) इत्यादि । स हि कर्तेति चोपमंहारादेवमेवावगम्यते ॥ १ ॥

अतिक्रान्त (व्यतीत) पाद में पञ्चाग्निविद्या का उदाहरण (दृष्टान्त) देकर वैराग्य के लिए जीव की संसारगति का प्रभेद प्रपञ्चित (सविस्तर कथन) किया

गया है। अब इस समय उस जीव के ही अवस्थाभेद विवेक के लिए प्रपञ्चन किया जाता है, विस्तारपूर्वक कहा जाता है। प्रथम जाग्रदवस्थासम्बन्धी गति-अगति आदि का वर्णन हुआ है, स्वप्न के विषय में श्रुति यह कहती है कि (वह जान्मा जिम काल म प्रस्वाप करता-सोता है) यहाँ से आगम्य करके फिर कहा जाता है कि (उम स्वप्न मे रथ, रथ मे जुटने वाले घोटे, रथ के मार्ग नही रहते हैं। वह आत्मा रथ, घोटे और मार्ग की सृष्टि करता है) इत्यादि। यहाँ मग्य होता है कि जाग्रत् के समान स्वप्न में भी परमायं तत्त्वरूप परमात्मा से होने वाली अनएव पारमाथिक सृष्टि आकाशादि सृष्टि के समान है, अथवा मायावीकृत सृष्टि के समान माया (अविद्या) मयी है। यहाँ प्रथम पूर्वपक्षरूप में प्रतिपादन किया जाता है कि सन्ध्य में सत्यरूप सृष्टि होता है। मन्ध्य इस पद में स्वप्नस्यात्मा को कहते हैं और वेद में प्रयोग देखने में स्वप्न को सन्ध्य कहा गया है (सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थान है) यह वैदिक प्रयोग है। अर्थात् सुषुप्ति के इस लोभ और परलोक रूप स्थान की सन्धि में होता है अथवा जाग्रत् और सुषुप्तिरूप दो स्थान की सन्धि में होता है। इससे स्वप्न को सन्ध्य कहते हैं। इस सन्ध्य स्थान में सत्य स्वरूप ही सृष्टि होने योग्य है। ऐसा क्यों होने योग्य है कि जिसमें प्रमाणस्वरूप श्रुति इस प्रकार कहती है कि (आत्मा रथ, घोटे और मार्ग की सृष्टि करता है) और (वह आत्मा ही कर्ता है)। इस प्रकार के उपमहार में सत्त्वर्तुक्तर के ज्ञान द्वारा भी ऐसी ही सृष्टि समझी जानी है ॥ १ ॥

निर्मातार चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव सन्ध्ये स्थाने कामाना निर्मातारमात्मानमामनन्ति—‘य एष सुप्तेषु जागर्ति काम काम पुरपो निर्माणा’ (क० ५।८) इति। पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रयन्ते काम्यन्त इति। ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येन्। न। ‘शतायुष पुत्रपौत्रान्वृणीष्व’ (क० १।२३) इति प्रवृत्त्यान्ते ‘कामाना त्वा कामभाज करोमि’ (क० १।२४) इति प्रवृत्तेषु (१) तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात्। प्राज्ञ चैन निर्मातार प्रकरणवाक्यशेषाभ्या प्रतीम। प्राज्ञस्य हीद प्रकरणम् ‘अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्’ (क० २।१४) इत्यादि, तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—

पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति पूर्वक इस सूत्र का सन्निष्ठायां है कि (मन्ध्ये सृष्टिर्भवत्येव हि यत्—एके शाखिन स्वप्ने कामाना निर्मातारमाहुः पुत्रादयश्च तत्र निर्मातव्या भवतीति) सन्ध्य में सृष्टि होनी ही है, जिसमें एक शाखा वाले ईश्वर को निर्माता कहते हैं और पुत्रादि कहा निर्माण के योग्य होने हैं, इसमें ईश्वरचित जाग्रत्पुत्रादि की सृष्टि के समान स्वप्न सृष्टि सत्य ही होनी है, यह भाव है।

दूसरी बात है कि एक शाखा वाले इसी मन्ध्य स्थान में कामो का निर्माता आत्मा को कहते हैं कि (जो यह पुरुष करणों के सोने पर निर्वापार होने पर तत्तत् काम्य

वस्तुओं का निर्माण करता हुआ जागता है) यहाँ (काम्यन्त इति कामाः) जो इच्छा के विषय हों, वे काम कहते हैं—ऐसा काम पद का अर्थ होने से पुत्रादि कामरूप अभिप्रेत होते हैं । रूढ़ि के अभिप्राय से शंका होती है कि काम शब्द से इच्छाविशेष ही कहे जा सकते हैं, पुत्रादि नहीं । उत्तर है कि प्रकरण से यहाँ काम शब्द काम्य पदार्थ ही हो सकता है, इच्छा नहीं, जिससे (सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्ररूप वर माँगो) इस प्रकार आरम्भ करके अन्त में (कामा का कामभागी कामयोग्य मैं तुम्हें करूँ) इस प्रकार प्रकृत पुत्रादि में ही वहाँ कामशब्द के प्रयुक्त होने से पुत्रादिक ही काम शब्द के अर्थ हैं । प्रकरण तथा वाक्यशेष से इस निर्माता को प्राज्ञ (ईश्वर) समझते हैं । जिससे (धर्म से अन्य है, अधर्म से अन्य है) इत्यादि रूप यह प्राज्ञ का प्रकरण है । उस प्राज्ञविषयक ही वाक्यशेष है कि—

नदेव शुक्रं तद्ब्रह्मा तदेवामृतमुच्यते ।

नस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ (क० ५।८) इति ।

प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया तथा स्वप्नाश्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति । तथा च श्रुतिः—‘अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्पैप इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः’ (बृ० ४।३।१४) इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति । तस्मात्तथ्यरूपैव सन्ध्ये सृष्टिरिति ॥ २ ॥

वह निर्माता ही शुक्र स्वयंप्रकाश शुद्ध है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है, उसके आश्रित सब लोक हैं । उसका उल्लंघन कोई नहीं करता है । प्राज्ञ जिसका कर्त्ता है ऐसी जागरित के आश्रय वाली सृष्टि सत्यरूप वाली समझी गई है, इसी प्रकार स्वप्नाश्रय वाली सृष्टि भी होने योग्य है । इसी प्रकार श्रुति है कि (अन्य लोग भी कहते हैं कि इसका यह जागरित देश है जो स्वप्न है, जिससे जिसको जाग्रत् में देखता है उसी को स्वप्न में देखता है) इस प्रकार स्वप्न और जागरित की समान न्यायता (रेति) को श्रुति दिखाती है, सुनाती है, इससे स्वप्न में सत्य ही सृष्टि होती है ॥ २ ॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

तुगशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति यदुक्तं सन्ध्ये सृष्टिः पारमाथिकीति । मायैव सन्ध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति । कुतः ? कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । नहि कात्स्न्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः । किं पुनरत्र कात्स्न्यमभिप्रेतं देशकालनिमित्तसंपत्तिरवाधश्च । नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यवाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते । न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति । नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽवकाशं लभेरन् । स्यादेतन् । वहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति देशान्त-

ग्निद्रव्यग्रहणात् । दर्शयति च श्रुतिर्वहिर्देहात्मवन्—‘वहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा
म ईयतेऽमृतो यत्र कामम्’ (वृ० ८।३।१२) इति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च
नानिष्क्रान्ते जन्तो मामञ्जम्यमञ्जुवीतेति । नेत्युच्यते । नहि मुप्तम्य जन्तो
क्षणमात्रेण योजनयान्तरित देश पर्येतु विपर्येतु च नत सामर्थ्यं मभाष्यते ।

उस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याग्यान करते हैं, प्रत्युत्तर देते हैं कि मृगगत तु
गन्ध पूर्णत्व की व्याप्ति करता है कि सन्ध्य में सृष्टि पारमार्थिकी होती है । यह जो
कहा है, वह सत्य कथन नहीं है, सन्ध्य में जो सृष्टि होती है वह मायारूप अविद्यात्मक
अर्थात् प्रान्तिज्ञानरूप प्रानिभामिक सृष्टिमात्र होती है, उसमें परमाथ का गन्ध
(रस) भी नहीं रहता है । क्योंकि इन्द्रियस्वरूप से अनभिद्यक्त स्वरूप वाला होने से
परमार्थशून्यता का निश्चय होता है । जिसमें सम्पूर्णतायुक्त परमार्थ वस्तु के धर्म द्वारा
अभिद्यक्त स्वरूप वाला स्वप्न नहीं होता है, प्रश्न है कि यहाँ सत्स्मयं, सम्पूर्णता क्या
अभिप्रेत है । उत्तर है कि देश, काल और निमित्त की सम्पत्ति (सिद्धि, पूर्णता) और
अबाध-वृत्तनता अभिप्रेत है । परमार्थवस्तुविषयक देश, काल और निमित्त तथा
अबाध स्वप्न में सम्भावित नहीं हैं । अर्थात् पारमार्थिक वस्तु सम्बन्धी देशादि की और
अबाध की सम्भावना स्वप्न में नहीं की जा सकती है । प्रथम तो स्वप्न में रथादि के
उचित (योग्य) देश का सम्भव नहीं है, जिसमें सबूत (संकोण) देहदेश में रथादि
अवकाश नहीं पा सकते हैं । शवा होती है कि स्वप्न में रथादि को अवकाश मिल
सकता है । जिसमें देश में अन्तर्गत (व्यवहित) दूर वर्तमान द्रव्य का स्वप्न में ग्रहण
(ज्ञान) होता है, इससे देह से बाहर जाना रथादि के योग्य देश में स्वप्न देखेगा ।
श्रुति भी देश में बाहर स्वप्न को दिखाती है कि (शरीररूप कुलाय, नीड से बाहर स्वप्न
काल में वह अमृतात्मा विचरता है, और विचार कर वह अमृतात्मा यहाँ जाना है,
तहाँ जाने की इच्छा करता है) स्वप्न काल में जीव के देह से बाहर निष्क्रान्त
(निर्गन्त, प्राप्त) हुए बिना बाहर स्थिति और गति के प्रत्यय (ज्ञान) का भेद आज्ञम्य
(युक्तता) को नहीं प्राप्त होगा । अर्थात् ज्ञान का भेदयुक्त नहीं होगा । उत्तर है कि
स्वप्न काल में बाहर दूर नहीं जाता है यह कहा जाता है, जिसमें मुप्त जन्तु (जीव)
को क्षणमात्र में ही योजन में व्यवहित देश में जाने के और वहाँ में लौट आने के
सामर्थ्य की सम्भावना नहीं की जा सकती है ।

वचचिच्च प्रत्यागमनवर्जित स्वप्न श्रावयति “कुरुवह्मद्य शयानो निद्रयाञ्-
निप्लुन स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धञ्चे”ति देहाच्चैदपेयात्पञ्चा-
लेष्वेव प्रतिबुध्येत न तानमावभिगत इति कुरुव्रव तु प्रतिबुध्यते । येन चाय
देहेन देशान्तरमञ्जुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थ्या शयनदेश एव पश्यन्ति ।
यथाभूतानि चाय देशान्तराणि स्वप्ने पश्यन्ति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति ।
परिधावश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वस्तुभूतमर्थमाकलयन् । दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे
स्वप्नम्—‘म यत्रैतत्स्वप्नया चरति’ इत्युपक्रम्य ‘स्व शरीरं यथाकामं परिवर्त्तते’

(वृ० २।१।१८) इति । अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिगौणी व्याख्यातव्या वहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति । यो हि वस्त्रपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स वहिरिव शरीराद्भवतीति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवंसति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः । कालविसंवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजन्वां मुक्तो वामरं भारते वर्षे मन्यते । तथा मूर्हन्मात्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपू-
गाननिवाहयति । निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्ध्ये कर्मणे वोचितानि वि-
द्यन्ते । करणोपमंहाराद्वि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति । रथा-
दिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमपमात्रेण मामर्थ्य दारुणि वा । बाध्यन्ते
चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे । स्वप्न एव चैते सुलभवाधा भवन्ति,
आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात् । रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः
क्षणेन मनुष्यः संपद्यते, मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः । स्पष्टं चाभावं
रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्—‘न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानां
भवन्ति’ (वृ० ४।३।१०) इत्यादि । तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

कही स्वप्न से जागने पर स्वप्नद्रष्टा प्रत्यागमन (लौटना) रहित स्वप्न को
सुनाता है कि आज मैं इस कुरु देश में सोया हुआ निद्रा में व्याप्त होकर स्वप्न में
पंचाल देश में गया था और इस देश में यहाँ जाग गया हूँ । वह यदि देह से निकल
कर वहाँ गया होता तो आगमनरहित जागृति होने पर पंचाल देश में ही जागता,
वह पंचाल में नहीं गया था । इससे कुरु देश में ही जागता है और यह स्वप्नद्रष्टा
जिस देह द्वारा देह सहित अपने को स्वप्न में देशान्तर में प्राप्त समझता है । अन्य
पार्श्ववर्ती लोग उस देह को शयन देश में ही देखते हैं । यह स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार के
स्वरूप वाले देशान्तरों को स्वप्न में देखता है, वे देशान्तर उसी प्रकार के स्वरूप वाले
नहीं रहते हैं । यदि परिधावनु बाहर गमन करता हुआ स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में पदार्थों को
देखता, तो जाग्रत के समान वस्तु के सत्य स्वरूप को ही देखता, समझता । श्रुति देह
के अन्दर ही स्वप्न दिखाती, समझाती है कि (जिस काल में यह स्वप्न होता है, उस
समय वह आत्मा स्वप्नवृत्ति से रहता है) इस प्रकार से आरम्भ करके (अपने
शरीर में यथेष्ट विचरता है) इसी श्रुति और उपपत्ति से विरोध के कारण शरीर से
बाहर स्वप्नदर्शन को कहने वाली श्रुति गौणी कहाने योग्य है, कि (अमृतात्मा बाहर
के समान विचर कर यथेष्ट गमन करता है), जिससे जो शरीर में बसता हुआ भी उस
शरीर से प्रयोजन नहीं करता है, वह शरीर से बाहर के समान होता है । इस प्रकार
श्रुति और उपपत्ति (युक्ति) से स्वप्न के शरीर के भीतर में ही सिद्ध होने पर स्थिति
और गति विषयक स्वप्नकालिक ज्ञान भेद को भी विप्रलम्भ (विभ्रम) रूप ही
मानना चाहिए । स्वप्न में काल का भी विसंवाद (विप्रलम्भ) विभ्रम होता है । रात्रि
में सोया हुआ भारतवर्ष में दिन समझता है । इसी प्रकार मूर्हन्मात्र (दो घड़ी)

रहने वाला स्वप्न में कमी बहुत वर्षवृन्दो को बिताता है । ज्ञान वा कर्म के लिए स्वप्न में उचित निमित्त भी नहीं रहते हैं । जिससे इन्द्रियों के उपसंहार (विन्य) में इस स्वप्नद्रष्टा को रथादि को देखने के लिए, उन रथादिको के ज्ञान के लिए नेत्रादि नहीं रहते हैं । सत्यरथादि की सिद्धि रचना में भी इसको निमेषमात्र काल द्वारा कहाँ में सामर्थ्य वा लब्धियाँ हैं । अर्थात् निमेषमात्र में रथादि को रचने के लिए शक्ति और साधन नहीं हैं । स्वप्न में देखे गये ये रथादि प्रबोध (जाग्रत्) में बाधित होते हैं । स्वप्न में भी ये रथादि मुलम बाध वाले होते हैं । जिसमें आदि अन्त में उनका व्यभिचार (अभाव) देखा जाता है, यद्यपि आदि और अन्त में व्यभिचार बुद्धि जाग्रत् में भी होता है, तथापि यह विशेष है कि, स्वप्न में कमी यह रथ है उस प्रकार निर्धारित (निश्चित) ही क्षणमात्र में मनुष्य हो जाता है । यह मनुष्य है ऐसा निर्धारित क्षण में वृक्ष होता है । स्वप्न में रथादि के अभाव को शास्त्र स्पष्ट सुनाता है कि (वहाँ रथ, घोड़े और मार्ग नहीं हैं) । इसमें स्वप्नदर्शन मायामात्र है ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति । नेत्युच्यते । सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतो माध्वमाधुनो । तथाहि श्रूयत— 'यदा कर्मसु काम्येषु स्थिय स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५।२।१), तथा 'पुरुषं वृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एन हन्ति' इत्येवमादिभिः स्वप्नेरुचिरजीवित्वमावद्यते इति श्रावयति । आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः — 'कुजसारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि' इति । मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित्स्वप्नाः सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते । तथापि भवतु नाम सूच्यमानस्य वस्तुन सत्यत्व, सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यं बाध्यमानत्वादित्यभिप्रायः । तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् । यदुक्तम् 'आह हि' इति, तदेव सति भाक व्याख्यातव्यम् । यथा लाङ्गल गवादीनुद्ब्रूहीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते, नतु प्रत्यक्षमेव लाङ्गल गवादीनुद्ब्रूहीति, एव निमित्तमात्रत्वात्सुप्तो रथादीन्मृजते स हि कर्तेति चोच्यते, नतु प्रत्यक्षमेव सुप्तो रथादीन्मृजति । निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोदत्रामादिदर्शनात्तन्निमित्तभूतयो मुहृतदुष्कृतयो कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम् ।

मायामात्र होने में उस स्वप्न में परमार्थ की गन्ध भी नहीं है । यह जो कहा गया है, यहाँ पूर्व पक्ष है कि स्वप्न में परमार्थ का अभाव नहीं है, यह कहा जाता है कि जिसमें भावो शुभ और अशुभ का स्वप्न सूचक (बोधक) होता है इसमें स्वप्न सत्य है । इसी प्रकार सुना जाना है कि (जब सकल कर्म में स्वप्न काल में कर्मकर्ता स्त्री को देखता है, तो उस स्वप्नदर्शन के होने पर उनका फल की समृद्धि सिद्धि समझना चाहिए) इसी प्रकार (काले दाँत वाले, काले पुरुष को देखता है, तो वह

पुरुष इस द्रष्टा को मारता है) इत्यादि । इस प्रकार के स्वप्नदर्शनों से अचिरजीवित्व आवेदित, सूचित होता है, यह श्रुति सुनाती है । स्वप्नाध्याय ग्रन्थ को जाननेवाले कहते हैं कि (स्वप्न में हाथी पर चढ़ना आदि धन्य पुण्यमय शुभ) हैं और गदहा पर चढ़कर गमनादि अधन्य है । मन्त्र, देवता, द्रव्यविशेष निमित्तक, मन्त्रादिजन्य कोई स्वप्न सत्यार्थ के गन्ध (सम्बन्ध) वाले होते हैं, ऐसा कोई मानते हैं । इससे स्वप्न सत्य है । इस प्रकार इस सूत्र से पूर्वपक्ष होने पर इसी से निराकरण है कि सूचक होने से उस द्वारा सूच्यमान सूचित वस्तु को सत्यत्व वहाँ भी होता है कि जैसे मिथ्या शुक्ति रूप्य के दर्शन से सत्य हर्ष होता, मिथ्यारज्जु सर्प के दर्शन से सत्य भय होता है । परन्तु बाधित होने से स्त्री-दर्शनादि को मिथ्यात्व होता ही है, इससे श्रुति आदि से सूचक मात्र सिद्ध होता है । सत्य नहीं सिद्ध होता है यह अमिप्राय है । इससे स्वप्न को मायामात्रत्व उपपन्न हुआ । जो यह कहा है कि (श्रुति स्वप्न की सृष्टि को कहती है) वहाँ इस प्रकार स्वप्नसृष्टि को मायामात्र सिद्ध होने पर उस सुप्त के स्रष्टृत्वादि वचन भाक्त (गौण) व्याख्यान के योग्य है । जैसे कहा जाता है कि लांगल (हल) गौ आदि का उद्धहन (धारण, जीवन) करता है, वहाँ कृपि द्वारा गो आदि के जीवन की निमित्तमात्रता से हल इस प्रकार जीवनकर्ता कहा जाता है । हल प्रत्यक्ष ही गो आदि का उद्धहन नहीं करता है । इसी प्रकार अदृष्ट द्वारा निमित्त मात्रता से सुप्तपुरुष रथादि को रचता है । वही कर्ता है इस प्रकार कहा जाता है, सुप्तपुरुष प्रत्यक्ष ही रथादि को नहीं रचता है । परन्तु रथादि के प्रतिमान (प्रतीति) निमित्तक हर्ष-भयादि के दर्शन से उन हर्षादिकों के निमित्तस्वरूप पुण्य-पाप के कर्तृत्व द्वारा इस स्वप्नद्रष्टा के निमित्तत्व को कहना चाहिए ।

अपि च जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगादादित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्विवेचनमिति तद्विवचनाय स्वप्न उपन्यस्तः, यत्र यदि रथादिसृष्टिवचनं श्रुत्या नीयेत तदा स्वयंज्योतिष्ट्वं न निर्णीतं स्यात् । तस्माद्रथाद्यभाववचनं श्रुत्या रथादिसृष्टिवचनं तु भक्त्येति व्याख्येयम् । एतेन निर्माणश्रवणं व्याख्यातम् । यदप्युक्तम्—‘प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति’ इति । तदप्यसत् । श्रुत्यन्तरे ‘स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वन ज्योतिषा प्रस्वपिति’ (वृ० ४।३।९) इति जीवव्यापारश्रवणात् । इहापि ‘य एष सुप्तेषु जागर्ति’ (क० ५।८) इति प्रसिद्धानुवादाज्जीव एवायं कामानां निर्माता संकीर्त्यते । तस्य तु वाक्यशेषेण तदेव शुक्रं तद्वन्नहोति जीवभावं व्यावर्त्य प्रगृह्यभाव उपदिश्यते ‘तत्त्वमसि’ (छा० ६।९।४) इत्यादिवदिति न ब्रह्मप्रकरणं विरुध्यते । न चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिपिध्यते तस्य सर्वेश्वरत्वात्सर्वास्वप्यवस्थास्वविधातृत्वोपपत्तेः । पारमार्थिकस्तु नायं संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवदित्येतावत्प्रतिपाद्यते । नच वियदादिसर्गस्याप्यात्यन्तिकं सत्यत्व-

मस्ति, प्रतिपादित हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' (ब्र० सू० २।१।१४)
इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम् । प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वज्ञानाद्विषया-
दिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति । सध्याश्रयस्नु प्रपञ्च प्रतिदिन बाध्यत इति,
अतो वैशेषिकमिदं सध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ॥ ४ ॥

दूसरी बात है कि जागृति काग मे, विषय इन्द्रियो के मयोग की वर्तमानता में
और आन्त्यादिभ्य ज्योतियो के व्यतिरग (समिश्रण) में आत्मा की स्वय ज्योति-
स्वस्फुता का निवचन दुष्कर है, इस जाग्रत से उस आत्मा की स्वयज्योति स्वस्फुता
का निवचन के लिए श्रुति में स्वप्न उपन्यस्त (वर्णित) हुआ है । वहाँ यदि मृष्टि
आदि का बोधन वचन श्रुत्या (श्रुति का तात्पर्य का विषय रूप में) जागृति तुल्य
गमना जायगा, स्वीकृत होगा, तो आत्मा की स्वय ज्योति स्वस्फुता नहीं निर्णत
हाती । क्योंकि जाग्रत् के समान ही स्वप्न भी हो जायगा, इसमें ग्यादि का अभाव
वचन श्रुति में तात्पर्यविषय मुख्य वृत्ति से है । ग्यादि की मृष्टि का बोधन वचन
भक्ति गौणी वृत्ति से है इस प्रकार व्याख्यान करना चाहिए । इस भासन रूप में ही
निर्माण श्रुति भी व्याख्यान हो गई । जो यह भी कहा था कि इस स्वप्ननिर्माता का
श्रुतिरा प्राज्ञ कहली है) वह भी वचन असत् । जिसने दूसरी श्रुति में (स्वय अपने
जाग्रत् दृष्ट को निरुत्य निरुचष्ट करके स्वय वासनामय देह का निर्माण करके अपने मनो-
वृत्तिरूप प्रकाश में और निजजनन्य रूप में स्वप्न का अनुभव करना है) उस प्रकार
जीव के व्यापार के श्रवण में प्राज्ञ स्वप्न का निर्माता नहीं है । इस वद श्रुति में भी
(जो यह इन्द्रियो के सोने पर जागता है) उस प्रसिद्ध के अनुवाद से वामी का निर्माता
यह जीव ही कहा जाना है । (वही शुद्ध है वही ब्रह्म है) इस वाक्यगोप के द्वारा ता
उमी के जीवभाव को निवृत्त करके ब्रह्मभाव का उपदेश दिया जाता है । वह उपदेश
(तत्त्वमसि) श्रुत्यादि के समान है, हमने ब्रह्म प्रकरण-विच्छेद नहीं होना है । स्वप्न में
भी प्राज्ञ के व्यवहार (व्यापार) का प्रतिषेध हम नहीं करते हैं, क्योंकि सर्वेश्वरत्व
से सभी अवस्थाओं में प्राज्ञ के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि से उसका निषेध नहीं हो सकता
है । परन्तु सत्य रूप आश्रय वाला सर्ग (ससार मृष्टि) आकाश आदि के सर्ग के
समान पारमार्थिक नहीं है । इतना ही प्रतिपादन किया जाना है । विषयादि सर्ग
का भी आन्त्यनिष्ठ (मुख्य) गन्त्यन्व नहीं है । जिससे (तदनन्यत्वम्) इत्यादि सूत्र में
समस्त प्रपञ्च (ससार) का मायामात्रत्व प्रतिपादित हो चुका है । परन्तु ब्रह्मात्मत्व-
ज्ञान में पूर्वकाल में आकाश आदि रूप प्रपञ्च व्यवस्थित स्वस्फुता (बाध
रहित) रहता है और सध्यरूप आश्रयवाला प्रपञ्च प्रतिदिन बाधित होता है, हमने
विशेष रूप में यह सत्य की मायामात्रता कही गई है ॥ ४ ॥

पराभिधानास्तु तिरोहित ततो ह्यस्य यन्धविपर्ययो ॥ ५ ॥

अथापि स्यान्परम्येव तावदन्तर्माज्जो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्ग तत्रैव
मति यथाग्निविस्फुलिङ्गयो ममाने दहनप्रकाशनशक्ती भवत एव जीवस्वर-

योरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती, ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात्सांकल्पिकी स्वप्ने रथा-
दिमृष्टिर्भवविप्यतीति । अत्रोच्यते । सत्यपि जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव
जीवस्त्वेश्वरविपरीतधर्मत्वम् । किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव । न
नास्त्येव (?) । विद्यमानमपि तत्तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात् । तत्पुनस्ति-
रोहितं मत्वरमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरति-
रस्कृतेन दृक्शक्तिरौपधत्रीयादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति न
स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम् । कुतः ? ततो हीश्वराद्वतोरस्य जीवस्य
बन्धमोक्षौ भवतः । ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्वन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात् मोक्षः ।
तथा च श्रुतिः—

ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।

तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥

(ज्वे० १।११) इत्येवमाद्या ॥ ५ ॥

पूर्व कथित 'रीति से स्वप्न के मायामय सिद्ध होने पर भी यदि शंका हो कि पर-
मात्मा ही का उपाधिपरिच्छिन्न अंश जीव अग्नि का अंश विस्फुलिङ्ग के समान है । यहाँ
ऐसा होने पर जैसे अग्नि और विस्फुलिङ्ग में दहन और प्रकाशन शक्ति (जलाने
और प्रकाशने का सामर्थ्य) तुल्य रहती है । उसी प्रकार जीव और ईश्वर में भी
ज्ञान शक्ति और ऐश्वर्य शक्ति तुल्य होगी । जिससे जीव के ज्ञान ऐश्वर्य (ईश्वरता)
के वश (बलशक्ति) से स्वप्न में रथादि को सांकल्पिकी (सकल्पजन्य) सृष्टि सत्य
ही होगी, जैसे कि ईश्वर से संकल्प से सत्य सृष्टि होती है । यहाँ उत्तर कहा
जाता है कि जीव और ईश्वर को अश और अंशी मात्र (अंशांशी रूपता) के रहते
भी जीव को ईश्वर से विपरीतधर्मवत्त्व (असत्य संकल्पत्वादि) प्रत्यक्ष ही है । इससे
जीव के संकल्प से सृष्टि नहीं हो सकती है । शंका होती है कि विरुद्ध धर्म, वाला
होने से क्या जीव को ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व सर्वथा नहीं है । उत्तर है कि सर्वथा
ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व नहीं है, यह बात तो नहीं है, ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व है
भी, परन्तु वह विद्यमान (वर्तमान) भी तुल्य धर्मवत्त्व, अविद्या आदि रूप व्यवधान
(परदा) से तिरोहित (आच्छादित) है । (तिरोहित होता हुआ भी वह समान
धर्मवत्त्व, परमेश्वर का ध्यान करने वाले संयमादि यत्न करने वाले विनाशित ध्वान्त
(मोह, पाप) वाले संसिद्ध (शुद्ध अणिमादि युक्त) किसी प्राणी की ईश्वर की कृपा
से वह तिरोहित ज्ञानैश्वर्यशक्ति आविर्भूत (प्रकट) होती है, जैसे कि तिमिर (नेत्र-
रोग) से तिरस्कृत (आच्छादित) दृष्टिशक्ति ओपधि के बल से प्रकट होती है ।
स्वभाव से ही सब प्राणियों को ज्ञानैश्वर्यशक्ति नहीं प्रकट हो सकती है । क्योंकि
उस ईश्वररूप हेतु से ही इस जीव के बन्ध-मोक्ष होते हैं । ईश्वर के स्वरूप के
अपजिज्ञान (अविद्या) से बन्ध होता है । ईश्वर स्वरूप के परिज्ञान (अनुभव) से
मोक्ष होता है और इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (दिव्यात्मा को जान कर स्थिर

ज्ञानी के सब बन्धनों की निवृत्ति होती है, शीघ्र हुए बलेशो द्वारा जन्म-मरण की निवृत्ति होती है। उस देव के ध्यान से प्रारब्ध भोग के अन्त में दस देह के भेदन (नाश) होने पर वह ध्याना मार्ग दो से भिन्न तृतीय विश्वेश्वर्यं (सम्पूर्ण ऐश्वर्यं) स्वरूप परमात्मा का अनुभव करके अविद्यामय प्रपञ्च में रहित केवल आसक्त्यपूर्णानन्दस्वरूप हो जाता है। इस सूत्र का यह भी स्थूलायं हो भवता है कि (तदेव शुद्ध तद्ब्रह्म) इस श्रुति में कथित जीव का निज स्वरूप पर (अनात्म वस्तु) के ध्यान (चिन्तन) से जाग्रत् में तथा स्वप्न में तिरोहित रहता है, तथा ज्ञानेश्वर्यादि सामर्थ्यं तिरोहित रहता है। इसी से इसको निजस्वरूप में भी और स्वप्न में भी मिथ्यादि बन्ध और मोक्ष भी भासता है, ऐसे अन्य भी मायामय प्रतिभास होता है इत्यादि ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

कस्मात्पुनर्जीव परमात्माश्च एव मस्तिरस्कृतज्ञानेश्वर्यो भवति, युक्त तु ज्ञानेश्वर्ययोगतिरस्कृतत्व विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति। उच्यते मत्स्यमेवेतन्, सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानेश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद्देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद्भवति। अस्ति चान्नोपमा यथानेर्दहनप्रकाशनमम्पन्नस्याप्यारणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा वा भस्मच्छन्नस्य, एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगात्तदविवेकभ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानेश्वर्यतिरोभावः। वाशब्दो जीवेश्वरयोरन्यत्वाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु तिरस्कृतज्ञानेश्वर्यत्वात्किं देहयोगकल्पनया। नेत्युच्यते, नह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते 'सिय देवतैक्षत' (छा० ६।३।२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इत्यात्मशब्देन जीवपरामर्शात्। 'तत्सत्यं न आत्मा तत्त्वमसि श्वेनकेतो' (छा० ६।२।४) इति च जीवायोपदिशनीश्वरात्मत्वम्, अतोऽन्य एवेश्वरा जीव मन् देहयोगात्तिरोहितज्ञानेश्वर्यो भवति, अतश्च न साकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते। यदि च साकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्ट कश्चित्स्वप्न पश्येत्। नहि कश्चिदनिष्ट सकल्पयते। यत्पुनरुक्त—जागरितदेशश्रुति स्वप्नस्य मन्यवस्थापयनीति—इति, न तत्साम्यवचन मत्यत्वाभिप्रायं स्वयज्योतिष्प्रविशेत्तत्। श्रुत्येव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात्, जागरितप्रभववासनानिमित्तत्वात् स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत्। नन्मादुपपन्न स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥ ६ ॥

फिर शका होती है कि परमात्मा का अंश ही होता हुआ जीव तिरस्कृत ज्ञान और ऐश्वर्य वाला किस हेतु से होता है, इसके ज्ञान और ऐश्वर्य को तो निरस्कार रहित होना उचित है, जैसे विस्फुलिङ्ग के दहन और प्रकाशन अतिरस्कृत रहते हैं,

ऐसे जीव को ज्ञान और ऐश्वर्य होना चाहिये । उत्तर कहा जाता है कि अग्नि के दहन-प्रकाशन के समान सत्यतिरस्कार के अयोग्य यह ज्ञान और ऐश्वर्य है यह कथन सत्य है, तो भी जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य का वह प्रसिद्ध तिरोभाव भी देह के योग से होता है । अर्थात् सूत्रगत देह शब्द के उपलक्षण होने से देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना, आदि के योग से ज्ञान और ऐश्वर्य तिरस्कृत होते हैं । इस विद्यमान के तिरस्कार में उपमा (दृष्टान्त) है कि जैसे दहन-प्रकाशन से सम्पन्न (युक्त) भी काष्ठगत अग्नि के दहन-प्रकाशन व्यापार तिरोहित होते हैं, अथवा जैसे मस्म से आच्छादित के प्रकाशनादि तिरोहित होते हैं । इसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित (साधित) नाम और रूप से कृत देहादि रूप उपाधि के योग से उसके अविवेक और भ्रमकृत जीव के ज्ञानैश्वर्य का तिरोभाव है । सूत्रगत वा शब्द जीव और ईश्वर के भेद की आशंका की निवृत्ति के लिए है । शंका होती है कि तिरस्कृत ज्ञानैश्वर्य वाला होने से ईश्वर से अन्य ही जीव हो सकता है । देहादियोग की कल्पना का क्या फल है । उत्तर है कि ईश्वर से अन्य जीव नहीं हो सकता है, जिससे जीव का ईश्वर से अन्यत्व उपपन्न नहीं होता है सो (यह देवता ने विचार किया) ऐसा आरम्भ करके (इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके) इस प्रकार आत्म शब्द से जीव के परामर्श से ईश्वरस्वरूप जीव है । और (वह ब्रह्म सत्य है वह आत्मा है हे श्वेत-केतो ! तुम वही हो) इस प्रकार जीव के प्रति ईश्वरात्मता का उपदेश श्रुति करती है, इससे ईश्वर से अनन्य होता हुआ भी जीव देह के योग से तिरोहित ज्ञानैश्वर्य वाला होता है, अतः स्वप्न में जीव के संकल्प से जन्य रथादि की सृष्टि नहीं संघटित होती है । यदि जीव के संकल्प से जन्य स्वप्न में रथादि की सृष्टि हो, तो स्वप्न में कोई अनिष्ट नहीं देखे, जिससे कोई अनिष्ट का संकल्प नहीं करता है । जो यह कहा था कि जागरित देशविषयक श्रुति स्वप्न के सत्यत्व का स्थापन करती है, वहाँ कहा जाता है कि स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्व के साथ विरोध से वह जाग्रत् के साथ स्वप्न को तुल्यता का वचन स्वप्न की सत्यता के अभिप्राय से नहीं है । श्रुति से ही स्वप्न में रथादि के अभाव के दर्शितत्व से उक्त अभिप्राय का अभाव सिद्ध होता है । जागरित अवस्था में उत्पन्न वासना से निर्मित होने से स्वप्न को जागरिततुल्य निर्भाित्व के अभिप्राय से वह वचन है, जिससे स्वप्न को मायामयत्व उपपन्न हुआ । स्थूलार्थ हो सकता है कि अथवा जो बाह्यविरागादिमात्र से अनात्मा का ध्यान बाह्यवस्तु का चिन्तन नहीं करता है, सो भी अविवेक से देह के साथ तादात्म्य का अभिमान करता है, इससे भी बन्ध-मोक्ष भासते हैं इत्यादि ॥ ६ ॥

तदभावाधिकरण (२)

नाडीपुरीतद्ब्रह्मणि विकल्पन्ते सुषुप्तये । समुच्चित्तानि वैकार्याद्विकल्पन्ते यवादिवत् ॥१॥
समुच्चित्तानि नाडीभिरुपसृत्य पुरीतति । हृत्स्थे ब्रह्मणि यातैक्यं विकल्पे त्वष्टदोषता ॥२॥

मुपुसि का हेतु रूप से उस नाडी आदि के श्रवण से उन नाटिया में, और आत्मा में समुच्चितरूप वनमान में प्राप्त स्वप्न का अभावरूप मुपुसि होती है। मग्य है कि श्रुति में मुपुसि के लिए मुने गय स्थानरूप नाडी, पुरीतन् और ब्रह्म विकल्पित होते हैं, जहाँ कमी नाडी, कमी पुरीतन्, कमी ब्रह्म मुपुसि का स्थान होता है, अथवा तीनों मिल कर सम काल में मुपुसि का स्थान होते हैं। पूर्वपक्ष है कि जैसे, ब्रीहिर्मर्जित, यवैर्वा यजेत्, ब्रीहि से याग करे, अथवा यव से याग करे, इन दोनों वचना में एक याग के लिये ब्रीहि और यव का विधान होता है, वहाँ एकायना एकप्रयोजनता में विकल्प होता है, कमी ब्रीहि के पुरोडाश द्वारा यज्ञ होता है, तो कमी यव के पुरोडाश द्वारा होता है। इसी प्रकार यहाँ भी एक मुपुसि के लिए श्रुति में नाडी, पुरीतन् और ब्रह्म स्थानरूप से कहे गये हैं, इससे जीव कमी नाडी में, कमी पुरीतन् में, कमी ब्रह्म में मोवेगा ॥ सिद्धान्त है कि तीनों स्थान विकल्पित नहीं हैं, किन्तु समुच्चित (मिलित) है, तीनों सम काल में मुपुसि के हेतु हैं, जिससे नाडियों द्वारा गमन करके पुरीतन् के मध्य में हृदयस्थ ब्रह्म में जीव मुपुसि काल में एकता को प्राप्त करना है, इससे तीनों समुच्चित स्थान हो जाते हैं। विकल्प मानने पर अशदोपता की प्राप्ति होगी। भाव है कि विकल्प मानने पर तीनों प्रकार के वाक्यों को स्वतन्त्ररूप प्रमाणरूप मानना होगा। वहाँ एकवचन के अनुसार स्थान को मानने के काल में अन्य वचन के अनुसार प्राप्त स्थान का निषेध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह भी शास्त्र में प्राप्त है, किन्तु उस समय, दूसरे वचन में प्राप्त प्रमाणता की त्यागता होगा, और अप्राप्त अप्रमाणता का स्वीकार करके उसके अनुसार स्थान का स्वीकार नहीं करना होगा। इसी प्रकार उस दूसरे वचन के अनुसार गमन होने पर उस वाक्य की त्यक्तप्रमाणता का फिर स्वीकार करना होगा और गृहीत अप्रमाणता को त्यागता होगा, द्वितीय वाक्य के समान ये ही चारों दोष प्रथम वाक्य में भी प्राप्त होने से अष्ट दोषता होती है सो अन्यत्र प्रसिद्ध है, इससे समुच्चय युक्त है ॥ १-२ ॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

स्वप्नावस्था परोक्षिता मुपुस्तान्मधेदानीं परोक्षयते। तत्रैता मुपुसिविषया श्रुतयो भवन्ति। क्वचिच्छ्रूयते—‘तद्यत्रैतत्सुप्तं समस्तं न प्रमत्तं स्वप्नं न विजानात्यानु नरा नादीषु सृजो भवति’ (छा० ८।८।३) इति। अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—‘तामि प्रत्यक्षमप्य पुरीतनि येते’ (वृ० २।१।१९) इति। तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य ‘तामु तदा भवति यदा सुप्तं स्वप्नं न कचन पश्यत्ययाम्मित्राग एवैकधा भवति’ (वीपी० ८।१२) इति। तथान्यत्र ‘मता माम्य तदा सपन्नो भवति स्वप्नपीनो भवति’ (छा० ६।८।१) इति। तथा ‘प्राज्ञेनात्मना सम्परिप्रेक्षो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरम्’ (वृ० ८।३२१) इति च। तत्र सशय — किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि भिन्नानि मुपुसि-

स्थानान्याहोस्त्रिपरस्परापेक्षयैकं सुषुप्तिस्थानमिति । किं तावत्प्राप्तं भिन्नानीति । कुतः ? एकार्थत्वात् । नह्यकार्थानां क्वचित्परस्परापेक्षत्वं दृश्यते ब्रौह्मिवादीनाम् । नाड्यादीनां चैकार्थता सुषुप्ती दृश्यते—‘नाडीषु सृष्टो भवति’ (छा० ८।६।३) ‘पुरीतति गते’ (वृ० २।१।१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्यत्वात् । ननु नैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते—‘सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति’ (छा० ६।१।८।१) इति । नैव दोषः, तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात् । वाक्यशेषे हि ‘तत्रायतनैपी जीवः मदुपसर्पती’त्याह । ‘अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवाश्रयते’ (छा० ६।८।२) इति प्राणशब्देन च तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात् । आयतनं च सप्तम्यर्थः । सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—‘सति संपद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे’ (छा० ६।९।२) इति । सर्वत्र च विशेष-विज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विजिप्यते । तस्मादेकार्थत्वात्ताड्यादीनां विकल्पेन कदाचित्किञ्चित्स्थानं स्थापायोपनर्पणीति ।

स्वप्नावस्था परोक्षित हो चुकी, अब इस समय सुषुप्त अवस्था की परीक्षा की जानी है । यहाँ सुषुप्तिविषयक वे श्रुतियाँ हैं । कही सुना जाता है, कि (उस काल में जहाँ यह स्वप्नमय जीव सुप्त होता है, समस्त (लीनवृत्ति वाला) होता है, इत-एव बाह्य दोष से रहित संप्रसन्न होता है, स्वप्न नहीं देखता है, उस समय यह जीव सूर्य के तेज से पूर्ण उन नाडियों में प्रविष्ट, प्राप्त होता है । अन्यत्र नाड़ी का ही अनुक्रम (आरम्भ) करके सुना जाता है कि (उन नाडियों के द्वारा गमन करके पुरीतत् में सोता है) फिर नाडियों का ही अनुक्रम करके सुना जाता है कि (जिस समय मोघा हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है उस समय उन नाडियों में रहता है, फिर इस प्राण में हो एक हो जाता है) इसी प्रकार अन्यत्र है कि (जो यह हृदय के अन्तर आकाश में उममे सोता है) इसी प्रकार अन्यत्र है कि (हे सोम्य ! उस समय सत् के साथ मिल जाना है—अपने में लीन हो जाता है) इस प्रकार है कि (प्राज्ञ आत्मा के साथ मिल कर न बाहर की किसी वस्तु को जानता है न अन्तर की वस्तु को जानता है) इत्यादि । यहाँ संशय होता है कि क्या ये नाडी आदि परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र भिन्न रूप से सुषुप्ति के स्थान हैं । अथवा परस्पर की अपेक्षा द्वारा सब मिल कर एक स्थान है । जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है । पूर्व पक्ष है कि भिन्न स्वतन्त्र स्थान है । क्योंकि इन्हें एकार्थत्व (एक प्रयोजनवत्त्व) है । एकार्थवाले ब्रौह्मि-यव आदि को कही परस्पर सापेक्षत्व नहीं देखा जाता है । (नाडियों में प्रविष्ट होता है । पुरीतत् में सोता है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों में सप्तमी निर्देश की तुल्यता से निरपेक्षता है । शका होती है कि इस प्रकार सत् में तो सप्तमी निर्देश नहीं देखा जाता है । वहाँ (सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति) ऐसा निर्देश है । उत्तर है कि वहाँ भी सप्तमी के अर्थ के गम्यमान (प्राप्त) होने से यह दोष नहीं है जिससे वाक्य शेष में वहाँ यह कहते हैं कि आयतन को खोजनेवाला जीव सत् में जाता

है । (अन्यत्र आश्रय नहीं पाकर प्राण ही का आश्रयण करता है) प्राण शब्द से वहाँ प्रवृत्त सत् के ग्रहण में ससम्पर्क का लाभ होता है । आयतन सप्तमी का अर्थ है । वहाँ वाक्पक्षे में सप्तमी का निर्देश भी देखा जाता है कि (सत् में प्राप्त होकर नहीं जानते कि हम सत् में प्राप्त हैं) नाडी आदि सभी स्थानों में विशेष विज्ञान का उपगम (अभाव) स्वरूप सुषुप्ति-मिन्न नहीं होता है, जिससे नाडी आदि के एकार्यक होने से विकल्प द्वारा कभी किसी स्थान में जीव सुषुप्ति के लिए जाता है ।

एव प्राप्ते प्रतिपाद्यते—तदभावो नाडीप्रात्मनि चेति । तदभाव इति तस्य प्रवृत्तस्य स्वप्नदर्शनम्याभाव सुषुप्तिमित्यर्थः । नाडीप्रात्मनि चेति समुच्चये-
नानि नाड्यादीनि स्वापायोपेति न विकल्पेनेत्यर्थः । कुत ? तच्छ्रुते । तथाहि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते तच्च समुच्चये मगूहीतं भवति, विकल्पे ह्येषा पक्षे बाधः स्यात् । नन्वेकार्थत्वाद्वि-
कल्पो नाड्यादीनां ग्रीह्यवादिवदित्युक्तम् । नेत्युच्यते । नह्येकविभक्तिनिर्देश-
मात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापत्तिः । नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्श-
नात्प्राप्तादे श्चेते पर्यङ्के चेते इत्येवमादिषु, तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च
स्वपितृत्वेनदुपपद्यते समुच्चयः । तथा च श्रुतिः—‘तामु तदा भवति यदा सुप्त-
स्वप्न न कचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवेकधा भवति’ (कौपी० ४।१९) इति
समुच्चयः नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ श्रावयत्येकवाक्योपादानात् । प्राणस्य च
ब्रह्मत्वं समधिगतम्—‘प्राणस्तथानुगमात्’ (ब्र० सू० १।१।२८) इत्यत्र ।
यत्रापि निरपेक्षा इव नाडी सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—‘आमु तदा नाडीषु
मृप्तो भवति’ (छा० ८।६।३) इति, तत्रापि प्रदेशान्तरप्रतिषेधान्नाडीद्वारेणैव
ब्रह्मण्येवावतिष्ठति इति प्रतीयते । न चैवमपि नाडीषु सप्तमी विरह्यते, नाडी-
द्वारापि ब्रह्मोपमर्षन्मृष्ट एव नाडीषु भवति । यो हि गङ्गाया सागरं गच्छति
तत्र एव स गङ्गाया भवति । अपि चात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोक-
मार्गस्य विवक्षितत्वात्नाडीस्तुत्यर्थं सृष्टिसंकीर्तनम् । ‘नाडीषु सृष्टो भवति’
(छा० ८।६।३) इत्युक्त्वा ‘अतस्तं न कश्चन पाप्मा भूयति’ (छा० ८।६।३) ।
इति ब्रुवन्नाडीं प्रशमति । ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—‘तेजसा हि
तदा मपन्नो भवति’ (छा० ८।६।३) इति । तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्ये-
नाभिव्याहकणो न बाह्यान्विषयानीक्षत इत्यर्थः ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि उस स्वप्न का अभाव
नाडी, आत्मा और पुरीतन् में होता है, सूत्रगत च से पुरीतन् का ग्रहण होता है ।
तदभाव इस पद से उस प्रवृत्त स्वप्नदर्शन का अभावरूप सुषुप्ति अर्थ समझा जाता
है । नाडियों में और आत्मा में जाता है इससे इन नाडी आदि में समुच्चयद्वारा जीव
सत् के लिए जाता है, विकल्प से नहीं जाना है यह सूत्र का अर्थ है । ऐसा किस

प्रमाण से समझा जाता है। इस प्रश्न का उत्तर है कि उस समुच्चय का बोधक श्रुति से ऐसा समझा जाता है। जिससे इसी प्रकार नाड़ी आदि सभी को तत्तत् स्थानों में सुषुप्ति का स्थानत्व मुना जाता है, समुच्चय होने पर वह संगृहीत होता है। विकल्प में इनका पक्ष में बाध होगा। यदि कहो कि एकार्थकता से ब्रीहि-यव आदि के समान इन नाड़ी आदि का विकल्प कहा जा चुका है, वहाँ कहा जाता है कि यहाँ विकल्प नहीं है, जिससे एक विभक्ति के निर्देशमात्र से एकार्थत्व और विकल्प नहीं प्राप्त होता है। कोठे पर सोता है। पलंग पर सोता है। इत्यादि वाक्यों में नानार्थत्व और समुच्चय के रहते भी एक विभक्ति का निर्देश देखने से इसी प्रकार यहाँ भी नाड़ियों में पुरीतत् और ब्रह्म में सोता है। ऐसा समुच्चय उपपन्न होता है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (जिस समय सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है; उस समय उन नाड़ियों में रहता है और इस प्राण में एकरूपता को प्राप्त करता है) इस एक वाक्य में नाड़ी और प्राण के ग्रहण से नाड़ी और प्राण का सुषुप्ति में श्रुति समुच्चय दर्शाती है। 'प्राणस्तथाऽनुगमात्' इस सूत्र में प्राण का ब्रह्मत्व समधिगत हुआ है (समझा गया है) (इन नाड़ियों में उस समय प्रविष्ट होता है) इत्यादिस्थानों में जहाँ भी नाड़ियों को निरपेक्ष के समान सुषुप्ति का स्थान रूप से श्रुति सुनाती है। वहाँ भी प्रदेशान्तर (अन्य स्थान) में प्रसिद्ध ब्रह्म का अप्रतिषेध से नाड़ी द्वारा ही ब्रह्म ही मे जीव अवस्थित होता है ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार भी नाड़ी में सप्तमी विभक्ति विरुद्ध नहीं होती है, जिससे नाड़ियों द्वारा ब्रह्म में भी जाता हुआ नाड़ियों में जाता ही है। जिससे जो गङ्गा द्वारा समुद्र में जाता है, वह गङ्गा में प्रथम जाता ही है। दूसरी बात है कि इस वाक्य में रश्मियुक्त नाड़ीरूप द्वारात्मक ब्रह्मलोक के मार्ग के विवक्षित होने से नाड़ी की स्तुति के लिए उसमे गति का संकीर्तन है। (नाड़ियों में प्रविष्ट होता है) ऐसा कह कर (उस सत्-सम्पन्न को कोई पाप स्पर्श नहीं करता है) ऐसा कहता हुआ नाड़ी की प्रशंसा करता है। पाप के स्पर्शाभाव में हेतु कहता है कि (उस समय तेज से सम्पन्न होता है) अर्थ है कि नाड़ीगत पित्तनामक तेज से अभिव्यास करण (इन्द्रिय) वाला होने से बाहर के विषयों को नहीं देखता है।

अथवा तेजसेति ब्रह्माण एवायं निर्देशः श्रुत्यन्तरे—'ब्रह्मैव तेज एव' (वृ० ४।४७) इति तेजःशब्दस्य ब्रह्माणि प्रयुक्तत्वात्। ब्रह्माणि हि तदा सपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः। ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्म-स्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः—'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष

१. कोठा (प्रासाद) पलंग का आधार होता है, और पलंग शयनकर्ता का क्रिया का आधार होता है। इस प्रकार फल भेद रहते भी सप्तमी होती है। व्यवधान और अव्यवधान से शयन-साधनत्व का समुच्चय होता है। इसी प्रकार नाड़ी और पुरीतत् में जीव की गति द्वारा ब्रह्म में प्राप्ति होती है इस प्रकार समुच्चय है।

ब्रह्मशोक' (छा० ८।४२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवञ्च सति प्रदेशान्तरप्रमिद्वेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनानुगतो नाडीना समुच्चयः समधिगतो भवति । तथा पुरीततोऽपि ब्रह्मप्रक्रियायाः सकीर्णतात्तदनुगुणमेव मुप्तिस्थानत्वं विज्ञायते— 'य एषोज्ज्वलहृदय आकाशस्मिन्मिच्छते' (वृ० २।१।१७) इति हृदयाकाशे मुप्तिस्थाने प्रवृत्ते इदमुच्यते 'पुरीतति गते' (वृ० २।१।१९) इति । पुरीत-दिनि हृदयपरिवेष्टनमुच्यते । तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे गायान शक्यते पुरी-तनि चेत् इति वक्तुम् । प्राकारपरिधिस्तस्य हि पुनः वर्तमानः प्राकारे वर्तते इत्युच्यते । हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'दहर उत्तरेभ्यः' (वृ० सू० १।३।१४) इत्यत्र । तथा नाडीपुरीतत्वमुच्चयोऽपि—'ताभिः प्रत्यवमृष्य पुरीतति गते' (वृ० २।१।१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते । सत्प्राप्तयोश्च प्रमिद्वमेव ब्रह्मत्वमनामु श्रुतिषु 'त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि सकीर्णानि नाड्यः पुरीतद्रह्यं चेति' तत्रापि च द्वारमात्र नाड्यः पुरीतच्च ब्रह्मैव त्वेकं सुषुप्तिस्थानम् ।

अथवा दूसरी श्रुति में (ब्रह्म ही है, तेज ही है) इस प्रकार ब्रह्म अर्थ में तेज शब्द के प्रयुक्त होने से तेजसा इस शब्द में यह ब्रह्म ही का निदेश है । तब अर्थ होगा कि उस सुषुप्तिकाल में नाडियों द्वारा ब्रह्म ही में जीव सम्पन्न, प्राप्त हो जाता है अतः उसको कोई पाप स्पर्श नहीं करना है । ब्रह्म की प्राप्ति पाप के स्पर्शनाश में हेतु है, वह (भव पाप इसमें निवृत्त हो जाते हैं, जिससे यह ब्रह्मस्वरूप जीव अपहृत-पाप्मा, सब पापपरहित है) इत्यादि श्रुति-वचनों से समधिगत (अनुभूत) होना है । ऐसा होने पर प्रदेशान्तर में प्रसिद्ध सुषुप्ति का स्थानरूप ब्रह्म के साथ अनुगत (प्राप्त) नाडियों का समुच्चय समधिगत (सम्यक् अनुभूत) होता है (आश्रित होता है) । इसी प्रकार पुरीतत्वं का भी ब्रह्म के प्रकरण में सकीर्णता (कथन) में उस ब्रह्म के अनुकूल ही पुरीतत्वं का सुषुप्तिस्थानत्व समझा जाता है कि (जो यह हृदय में व्याप्य है उसमें संता है) इस प्रकार सुषुप्ति का स्थानरूप हृदयाकाश के प्रवृत्त रहने, यह कहा जाता है कि (पुरीतत्वं में सोता है) वहाँ पुरीतत्वं उस शब्द से हृदय का परिवेष्टन कहा जाता है । उस वेदन के अन्तर्वर्ती भी हृदयाकाश में सोया हुआ पुरीतत्वं में इस प्रकार कहा जा सकता है, जिससे प्राकार (कोट) में परिशित (आवृत, वेदिन) भी पुनः शरीर में वर्तमान पुष्प प्राकार में रहता है ऐसा कहा जाता है । (दहर उत्तरेभ्यः) इस सूत्र में दहराकाश का ब्रह्मत्व समधिगत हुआ है । इसी प्रकार नाडी और पुरी-तत्वं समुच्चय में (जिन नाडियों द्वारा जा कर पुरीतत्वं में सोता है) वहाँ एक वाक्य में ग्रहण से सम्पन्न होता है । सत् और प्राज्ञ का ब्रह्मत्व प्रसिद्ध ही है । इस प्रकार इन उक्त श्रुतियों में तीन ही सुषुप्ति, के स्थान सकीर्णित हैं, नाडी, पुरीतत्वं और ब्रह्म य तीन स्थान हैं । उनमें भी नाडी और पुरीतत्वं द्वारमात्र हैं, एक ब्रह्म ही सुषुप्ति का स्थान है ।

अपिच नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति तत्रास्य कारणानि वर्तन्त इति । नह्युपाधिसम्बन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याधारः कश्चित्सम्भवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात् । ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते ? कथं तर्हि तादात्म्याभिप्रायेण । यत आह— 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति । स्वशब्देनात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुषुप्तो भवतीत्यर्थः । अपि च न कदाचिज्जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति स्वरूपस्यानपायित्वात्, स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसंपर्कवशात्पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात्सुषुप्ते स्वरूपापत्तिविवक्ष्यते । अतश्च सुषुप्तावस्थायां कदाचित्सता संपद्यते कदाचिन्न सम्पद्यत इत्युक्तम् । अपिच स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत्सुषुप्तं न क्वचिद्विशिष्यते, तत्र सति सम्पन्नस्तावत्तदेकत्वान्न विजानातीति युक्तम् । 'तत्केन कं विजानीयात् ।' (वृ० २।४।१४) इति श्रुतेः । नाडीषु पुरीतति च गयान्तस्य न किंचिदविज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातु, भेदविषयत्वात्, 'यत्र वाज्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (वृ० ४।३।३१) इति श्रुतेः ।

यह बात है कि नाडी और पुरीतन् जीव के उपाधि सूक्ष्म शरीर के ही आधार होते हैं, उनमें इस जीव के करण रहते हैं । उपाधि सम्बन्ध के बिना जीव का स्वतः कोई आधार ही नहीं हो सकता है, क्योंकि जीव को ब्रह्म से अभेद होने के कारण इसको स्वमहिमा में प्रतिष्ठितत्व है । इस जीव को सुषुप्ति में ब्रह्माधारत्व (ब्रह्माश्रितत्व) भी आधाराधेय के भेद के अभिप्राय से नहीं कहा जाता है, तो कैसे कहा जाता है कि तादात्म्य के अभिप्राय से (अभेद की दृष्टि से) कहा जाता है । जिससे श्रुति कहती है कि (हे सोम्य ! उस समय सत् से एक हो जाता है अपने में लीन हो जाता है) स्वशब्द से आत्मा कहा जाता है, सुषुप्त (सोया हुआ जीव) अपने स्वरूप में प्राप्त होता है यह श्रुति का अर्थ है । दूसरी बात है कि जीव को ब्रह्म के साथ कभी संपत्ति (अभेद, तादात्म्य) नहीं है, यह बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इसका स्वरूप है और उस स्वरूप को अनपायित्व (अविनाशित्व) है । किन्तु स्वप्न और जागरित अवस्था में उपाधि (स्थूल-सूक्ष्म शरीर) के सम्बन्ध के बल से पर (भिन्न) औपाधिक स्वरूपापत्ति के समान होता है, उसकी अपेक्षा करके सुषुप्ति में उसके उपशम (निवृत्ति) से स्वरूपापत्ति विवक्षित होता है । इस कारण से भी सुषुप्ति अवस्था में कभी सत् से सम्पन्न होता है, कभी नहीं होता है, यह कथन (विकल्पवाद) अयुक्त है । और भी यह बात है कि सुषुप्ति के स्थान का विकल्प मानने पर भी विशेष विज्ञान का उपरमरूप सुषुप्ति तो कहीं भिन्न नहीं होता है, वहाँ सत् में सम्पन्न तो उस सत् के साथ एकत्व से कुछ नहीं जानता है, यह श्रुति का कथन युक्त है (वह किस कारण से किसको जाने) इस श्रुति के अनुसार भेदाभाव से विज्ञानाभाव सिद्ध

होता है। परन्तु (जहाँ अन्य के समान होता है। वहाँ अन्य-अन्य को देखता है) इस भ्रुति से नाडी पुरीतत् भेद का विषय (स्थान) है और इस भेदविषयत्व से नाडियो में और पुरीतत् में सोयं दृष्ट के अविज्ञान (विशेष विज्ञानाभाव) में कोई कारण नहीं समझा जा सकता है।

ननु भेदविषयस्याप्यतिदूरादि कारणमविज्ञाने स्यात्। वाढम् एव स्याद्यदि जीव स्वतः परिच्छिन्नोऽभ्युपगम्येत, यथा विष्णुमित्र प्रवासी स्वगृहं न पश्यतीति, ननु जीवम्योपाधिव्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते। उपाधिगत-मेवातिदूरादि कारणमविज्ञान इति यद्युच्येत तथाप्युपाधेरपशान्तत्वात्सत्यैव सम्पन्नो न विजानातीति युक्तम्। नच वयमिह तुल्यवन्नाड्यादिसमुच्चय प्रतिपादयाम। नहि नाड्य सुप्तिस्थान पुरीतत्वेत्यनेन विज्ञानेन किंचित्प्रयोजनमस्ति, नह्येनद्विज्ञानप्रतिबद्ध किंचित्फल श्रूयते। नाप्येतद्विज्ञान फलवत् कस्यचिदङ्ग-मुपदिश्यते। ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत्प्रतिपादयाम। तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारण स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्तत्वावधारण च। तस्मादात्मैव तु सुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

यदि कोई कह कि (अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियधातात्मनोजवस्यानात्। सोऽस्याद् व्यवधानादभिमवातसमानाभिहाराच्च) इस ध्वन के अनुभव के अनुसार से अतिदूरता, अतिसमीपता आदिरूप कारण भेदयुक्तविषय के अविज्ञान में भी होगा, तो वह कहना सत्य है, ऐसा होता यदि जीव स्वतः स्वस्व से परिच्छिन्न (एकदेशी) माना जाता। जैसे विष्णुमित्र प्रवासी होने पर परिच्छिन्नता से अपने घर को नहीं देखता है। परन्तु जीव को उपाधि के बिना उपाधि से भिन्न परिच्छेद भेद नहीं है। यदि उपाधिगत ही अतिदूरत्वादि अविज्ञान में कारण है ऐसा कहो, तो भी उपाधि के उपशान्त (निवृत्त) होने ही से सत्सम्पन्न जीव नहीं जानना है, ऐसा मानना युक्त है। अथवा अतिदूरादि को नहीं जानने पर भी किसी समीपस्थ के ज्ञान की प्राप्ति से सुषुप्ति का व्याघात होगा इत्यादि। हम यहाँ तुल्यतायुक्त नाडी आदि के समुच्चय का (समसमुच्चय का) प्रतिपादन नहीं करने हैं। जिससे नाडियाँ और पुरीतत् सुषुप्ति के स्थान है, इस ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं होता है, जिससे इस विज्ञान से सम्बन्ध वाला इससे सिद्ध होने वाला कोई फल नहीं सुना जाता है। यह विज्ञान किसी फलवाला कर्मादि का अङ्गत्वं भी नहीं उपदिष्ट होता है, इससे समप्रधानभाव से समुच्चय नहीं है न विकल्प है। ब्रह्म तो अनपायी नित्य सुषुप्ति का स्थान है, इससे इस ब्रह्म का प्रतिपादन करत हैं। ब्रह्मरूप सुषुप्ति स्थान के उस विज्ञान से तो, जीव के ब्रह्मात्मत्व का अवधारण, और स्वप्न तथा जागरित के व्यवहारों से विमुक्तत्व का अवधारण प्रयोजन होता है। उससे तो आत्मा ही सुषुप्ति का स्थान है ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—‘कुत एतदागात्’ (वृ० २।१।१६) इत्यस्य प्रवृत्तस्य प्रतिवचनावसरे ‘यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवंतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा’ (वृ० २।१।२०) इत्यादिना । ‘सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे’ (छा० ६।१०।२) इति च । विकल्पमानेषु तु सुप्तुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडोभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित्पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत् । तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥ ८ ॥

जिससे आत्मा ही सुपुसि का स्थान मुख्य है, इसी कारण से सदा ही इस आत्मा से ही स्वाप (शयन) प्रकरण में प्रबोध (जागरण) उपदिष्ट होता है कि (कहीं से यह आया) इस प्रश्न के प्रतिवचन के अवसर में (जैसे अग्नि से तुच्छ विस्फुलिङ्ग निकलते हैं । इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण उत्थित होते हैं) इत्यादि वचनों द्वारा आत्मा से प्रबोध का उपदेश होता है । (सत् से आकर सत् को नहीं जानते हैं कि हम सत् से आते हैं) यह भी उपदेश है । यदि विकल्पयुक्त सुपुसि के स्थान नाडी आदि अनेक होते, तो जीव कभी तो नाडियों से प्रतिबुद्ध होता (जागता) है, कभी पुरीतत् से जागता है, कभी आत्मा से जागता है, इस प्रकार से श्रुति उपदेश देती, परन्तु ऐसा उपदेश है नहीं, नित्य तुल्य आत्मा ही से प्रबोध का उपदेश है, उससे भी आत्मा ही सुपुसि का स्थान है ॥ ८ ॥

कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण (३)

यः कोप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा । उदविन्दुरिवाशक्तेनियन्तुं कोपि बुध्यते ॥१॥
कर्माविद्यापरिच्छेदादुदविन्दुवि क्षणः । स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपाधेः पुनर्भवात् ॥२॥

यद्यपि सुपुसि काल में सब जीव ब्रह्म में सम्पन्न होता है, ब्रह्म के साथ एक होता है, ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला वस्तुतः नहीं रहता है, तथापि मोक्षपर्यन्त कार्य कारणरूप से भेदक उपाधि के वर्तमान रहने से जो सोता है वही जागता है, जलाशय में क्षिप्त जलविन्दु के समान ब्रह्म में दुर्विवेक होकर अन्य के स्थान में अन्य भी नहीं जागता है, इसलिये जेप कर्मानुष्ठान, अनुस्मृति, शब्द (श्रुति) और विद्या कर्म की विधि से समझा जाता है । संशय है कि सुपुसि के बाद ब्रह्म में लीन अनन्त जीव में से जो कोई अनियमपूर्वक इस एक शरीर में जागता है, अथवा जो जिस शरीर में सोता है, वही उस शरीर में जागता है । पूर्वपक्ष है कि जलाशय में क्षिप्त विन्दु के समान ब्रह्म में लीन के जागने में नियम करने में अशक्ति से जो कोई जागता है । सिद्धान्त है कि कर्म अविद्यादि द्वारा परिच्छेद के सुपुसिकाल में भी रहने से, जलाशय में क्षिप्त जल-विन्दु से जीव का औपाधिक स्वरूप विलक्षण है । इससे जो सोता है वही जागता है । उसी की उपाधि से उसी को फिर संसार होने से ऐसा होता है ॥ १-२ ॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

तस्या पुन मत्पत्तं प्रतिबुध्यमानं किं य एव मत्पत्तं न एव प्रतिबुध्यते उत न वाज्यो वेति चिन्त्यते । तत्र प्राप्त तावदनियम इति । कुत ? यदा हि जलराशौ कश्चिज्जलविन्दुः प्रक्षिप्यते जलराशिरेव न तदा भवति पुनरुद्धारणे च न एव (१) जलविन्दुभवतीति दुःसमादयः, तद्वन्मुक्तः परेणैकत्वात्मापन्नं मत्प्रमोदतीति न न एव पुनरुत्थानुमहति, तस्मात्स एवेज्वरो वाज्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इति ।

मृत्प्राप्तिः काले ते होते वाले - म नमस्यति सदभाव की प्राप्ति में कि प्रामाण्य वाला क्या बनी जागता है, कि जो सत् में सम्पन्न (लीन, प्राप्त) हुआ रहता है, अथवा चाहे वह जागता है और अन्य भी जागता है । यह विचार किया जाता है । वहाँ प्रथम अनियम है यह प्राप्त होता है, क्योंकि जब जलराशि नदी-समुद्रादि में कोई एक जलविन्दु डाला जाता है तो वह जलविन्दु उस जलराशिरे ही हो जाता है, फिर कभी उस जलराशि में से जल निकालने पर वह प्रथम का टाटा हुआ निक्षिप्त जलविन्दु ही निकलता है, यह दुःसमादय (दुर्ज्ञेय, अमाध्य) है । इसी प्रकार सोचा हुआ जीव परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त करके सम्पन्न होता है । इसमें फिर वही उत्थान प्रतिबोध के योग्य नहीं है । इससे नियमग्रहित कभी वही जागता है, कभी अन्य जीव जागता है । कभी मृत्ति के आदिकाल में जीवभाव से अनुप्राप्ति के समान ईश्वर ही जागता है ।

एव प्राप्त इदमाह न एव तु जीवः मुक्तः स्वास्थ्यं गतः पुनर्गतिष्ठति नान्य । कस्मात् ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि । कर्मणोपानुष्ठानदर्शनास्तावन्म एवात्मानुमहति नान्य । तथाहि—पूर्वेष्वनुष्ठितस्य कर्मणोपरि शेषमनुतिष्ठन् दृश्यते, न चान्येन मामिदृशस्य कर्मणोऽप्यपेक्षितत्वाया प्रवर्तितुमर्हति, अनिप्रसङ्गात् । तस्मादेक एव पूर्वेष्वनुष्ठितस्य कर्मणः वर्तेति गम्यते । इत्येव न एवात्मा पुनर्गतिष्ठति यत्कारणमनिति ज्ञेयमहमदोऽज्ञातमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चान्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते, न ह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति । सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मानोत्थाने नावक्यते । शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते । तथाहि—‘पुन प्रतिन्यायं प्रतिन्यायद्रवति वृद्धान्तायैव’ (बृ० ८।३।१६) ‘इमा सर्वा प्राजा अहर्हर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति’ (छा० ८।३।२) ‘न इह व्याघ्रा वा सिंहो वा वृक्षो वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दशो वा मशको वा यत्रोद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति’ (छा० ६।१।३) इत्येवमादयः शब्दा स्वापप्रबोधोपधारेण पठिता नात्मानोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः । कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते । अन्यथा हि कर्मविद्याविवयोऽनर्थका स्युः ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि जो सोता है वही सोया हुआ जीव स्वास्थ्य (विश्राम) को प्राप्त करके प्रसन्न होकर भी फिर जागता है । क्योंकि कर्म, अनुस्मृति, गवद, और विधि से ऐसा ही निश्चय होता है । आगे हेतु को विभाग करके दर्शाता है कि कर्मशेष (अवशिष्ट कर्म) के अनुष्ठान (आचरण) के देखने से वही उत्थान के योग्य है अन्य नहीं । जिससे पहले दिन में अनुष्ठित (कृत) कर्म के शेष (बाकी) अंश को दूसरे दिन करता हुआ देखा जाता है । और अन्य से सामिकृत (अर्धकृत) यागादि कर्म की शेष (बाकी) क्रिया में, उससे अन्य कोई प्रवृत्ति के योग्य नहीं है । अन्यथा अतिप्रसंग होगा, एक-एक शास्त्रविहित कर्म के अनेकानेक कर्त्ता प्राप्त होंगे । इससे पूर्व के दिन में और उत्तर के अपर दिनों में एक कर्म का एक ही कर्त्ता प्रतीत होता है । और इस हेतु से भी वही सोने वाला उठता, जागता है कि जिस कारण से विगत दिन में मैंने इसको देखा था, इस प्रकार प्रथम के अनुभूत का पश्चात् स्मरण अन्य के उत्थान में नहीं उपपन्न हो सकता है, जिससे अन्य की दृष्ट वस्तु की अनुस्मृति अन्य नहीं कर सकता है । और मैं वही हूँ, इस प्रकार से अपनी आत्मा का अनुस्मरण भी आत्मान्तर के उत्थान में नहीं सिद्ध हो सकता है । श्रुतिरूप शब्दों से भी उस सोने वाले ही का उत्थान अवगत (अनुभूत) होता है । इसी प्रकार की श्रुति है कि (फिर स्वप्नमुपुसि के बाद में जागने ही के लिए पूर्वकालिक गति और स्थान के अनुसार ही जीव आता है । यह सब प्रजा सुपुसि काल में प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाती हुई भी इस ब्रह्मलोक को नहीं पाती है । ये सुपुसि काल में ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर भी सोने से प्रथम यहाँ जो व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कोट, पतङ्गादि रहते हैं । जागने पर फिर वही होते हैं) शयन और जागरण के प्रकरण में पड़े गये इस प्रकार के गवद सब अन्यात्मा के उत्थान में सामञ्जस्य (युक्तता, औचित्य) को नहीं प्राप्त होंगे । कर्म और विद्यासम्बन्धी विधि से भी ऐसा समझा जाता है कि जो सोता है वही जागता है । यदि ऐसा नहीं हो, तो कर्म और विद्या की विधि अनर्थक होगी । जिसने अन्य के उत्थानपक्ष में सोया पुरुष ब्रह्म में प्राप्त होने से सोनेमात्र से मुक्त हो जाता है, ऐसा प्राप्त होगा । और यदि ऐसा होगा तो कहो कि कालान्तर में फल वाले कर्म वा विद्या से क्या किया जायगा, कौन फल सिद्ध होगा ।

अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुख्यत इत्यापद्येत । एवं चेत्स्या द कि कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात् । अपि चान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठत्तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात् । अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेदल्पनानर्थक्यं स्यात् । यो हि यस्मिञ्शरीरे मुक्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरे सुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात् । अथ मुक्तं उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत । निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम् । एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्, नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात् ।

जकृताभ्यागमकृन्विप्रणायौ च दुर्निवागवन्त्योत्थानपक्षे स्याताम्, तस्मात्स एवोत्तिष्ठति नान्य इति । यत्पुनरुक्त—यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलविन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यते एव मति सम्पन्नो जीवो नोत्पतितुमर्हतीति, तत्परिह्रियते । युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलविन्दोरनुद्धरणम्, इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैपम्यम् । दृश्यते च दुर्विवेचनयोरप्यस्मज्जानीये क्षीणेदकयोः समसृष्टयोर्हमेव विवेचनम् । अपि च न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्वो विद्यते यो जलविन्दुरिव जलराशे भवति विविच्यते, मदेव तूपाधिमम्पक्वज्जीव इत्युपचर्यते इत्यमकृत्प्रपञ्चितम् । एव मति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्नावदेकजीवव्यवहारः, उपाध्यन्तरगताया तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः । स एवायमुपाधि स्वापप्रबोधयोर्वीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम् ॥ ९ ॥

और भी बात है कि अय के उत्थानपक्ष में यदि शरीरान्तर में व्यवहार करता हुआ जीव मुझ शरीर में उठेगा तो शरीरान्तर में होने वाले व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा । यदि शरीरान्तर में सोया हुआ इस दूसरे शरीर में उठेगा, तो बन्धना की अत्यवस्था होगी । जो जिस शरीर में सोया है, वह उसमें नहीं उठता है और अन्य शरीर में सोया हुआ किसी अन्य में उठता है इस कल्पना में क्या लाभ होगा । यदि मुक्त उठेगा, तो अन्तर्वाला अनित्य मोक्ष प्राप्त होगा और विनष्ट अविद्या वाले का फिर उत्थान अनुपपन्न है । इसीसे नित्य निवृत्त अविद्यावत्ता के कारण ईश्वर का उत्थान प्रत्युक्त निषिद्ध है । अय के उत्थान पक्ष में कृन् का अभ्यागम (प्राप्ति) और कृन् का विनाश दुर्निवार होगा । जिससे जो सोता है, वही उठता है, अय नहीं । जो यह कहा था कि जलराशि में निक्षिप्त जलविन्दु फिर निकाला नहीं जा सकता है, इसी प्रकार सत् में सम्पन्न जीव फिर उत्पन्न नहीं हो सकता है । उस शका का परिहार किया जाता है कि उक्त दृष्टान्त में प्रक्षिप्त जलविन्दु के विवेक के कारण के अभाव में जलविन्दु का अनुद्धरण (नहीं निकलना) युक्त है, यहाँ दार्ष्टान्तिक में तो कर्म और अविद्या विवेक का कारण है, इससे विपमता है । हम लोगों मनुष्यादि जाति वालों में दुर्विवेचनीय भी समृष्ट (मिलित) दूध और जल का विवेचन (पृथक्ता) इस में देखा जाता है इसी प्रकार ईश्वर से जीव का विवेचन किया जाता है । और दूसरी बात है कि जीवनाम वाग परमान्मा से अन्य कोई वस्तु नहीं है कि जो जलराशि से विन्दु के समान सत् से विच्छिन्न, पृथक् हो, किन्तु सत् ही उपाधि के सम्बन्ध से जीव इस शब्द से उपचरित (व्यवहृत) होता है यह अनेक और विस्तार से कहा जा चुका है । ऐसा होने पर जब तक एक उपाधिगत ससारवन्ध की अनुवृत्ति (प्रवाह) बनी रहती है, तब तक एक जीव का व्यवहार (कथन) होता है । उसी बन्ध की अनुवृत्ति के अन्य उपाधिगत होने पर जीवान्तर का व्यवहार होता है । सुपुंसि तथा जाग्रत् में मोक्षपर्यन्त वही उपाधि बीजाङ्कुर न्याय से कारणकार्य रूप से रहता है, अतः जो

जीव सोता है वही जागता है, इससे ब्रह्म की अज्ञानावस्था में प्राप्ति भी मोक्ष का साधन नहीं है, अतः ज्ञान के लिए यत्न कर्तव्य है इत्यादि युक्त कथन है ॥ ९ ॥

मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरणम् (४)

किं मूर्च्छां जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् । अन्यावस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिवृत्तिः । न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभावात् सुसता । मुखादिविकृतेस्तेनाऽवस्थान्या लोकसम्भवात् ॥

अन्यावस्था के लक्षण नहीं मिलने से और सुषुप्ति के आवे लक्षण मिलने से मूर्च्छा अवस्था में परिशेष से अर्धसम्पत्ति (सुषुप्ति) होती है । वहाँ संशय होता है कि मूर्च्छा क्या जाग्रत् आदि में ही कोई एक अवस्थारूप है, अथवा अवस्थान्तर होगी । पूर्वपक्ष है कि शास्त्र में मूर्च्छा नामक अन्य अवस्था जाग्रदादि के समान नहीं प्रसिद्ध है, इससे जाग्रत् आदि में ही किसी एक रूप होगी । सिद्धान्त है कि जाग्रत् और स्वप्न में द्वैतभाव रहता है, द्वैत की प्रतीति रहती है और मूर्च्छा में सुषुप्ति के समान ही द्वैतभाव और द्वैत की प्रतीति नहीं रहती है इससे जाग्रत् और स्वप्न में किसी एक रूप मूर्च्छा नहीं हो सकती है । और सुषुप्ति में मुख की विकृति आदि नहीं रहते हैं, मूर्च्छा में रहते हैं, इससे सर्वथा सुषुप्ति रूप भी मूर्च्छा नहीं है इससे लोकसम्मत अन्य अवस्था है ॥ १-२ ॥

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति, स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते—तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य प्रसिद्धाः—जागरितं स्वप्नः सुषुप्तमिति । चतुर्थी शरीरादपसृतिः, नतु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुती स्मृती वा प्रसिद्धास्ति । तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेति ।

मुग्ध नाम से प्रसिद्ध वह है कि जिसको लौकिक जन मूर्च्छित इस शब्द से कहते हैं, वह मूर्च्छित किस अवस्था वाला होता है, ऐसी परीक्षा (विचारणा—जिज्ञासा) के होने पर कहा जाता है कि शरीरस्थ जीव की तीन ही जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति रूप अवस्थाएँ हैं । चतुर्थी अवस्था शरीर से अपसृति (निर्गमन, मरण) है, जीव की पञ्चमी कोई अवस्था श्रुति वा स्मृति में प्रसिद्ध नहीं है । इससे इन चार अवस्थाओं में ही कोई एक अवस्था रूप मूर्च्छा है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति । न ह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते । स्यादेतत्, इपुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति । यथेपुकारो जाग्रदपीवामक्तमनस्तया नान्यान्विषयानीक्षत एवं मुग्धो मुसलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान्विषयानीक्षत इति । न । अचेतयमानत्वात् । इपुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीति—इपुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति । मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीत्यन्ये तमस्यहमेतावन्तं

काल प्रक्षिप्तोऽभूव, न किञ्चिन्मया चेत्तितमिति । जाग्रतश्चैकविषयविपत्त-
चेतसोऽपि देहो विधियते मुग्धस्य तु देहो धरण्या पतति । तस्मान्न
जागर्ति, नापि स्वप्नान्पश्यति निमज्ज(क)त्वात् । नापि मृत, प्राणोष्मणो-
र्भावात् । मुग्धे हि जन्तो मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति सङ्गयाना ऊष्मान्ति
नाम्नीनि हृदयदेशमालभन्ते, निश्चयार्थं प्राणोऽस्मि नास्तीति च नामिकादेशम् ।
यदि प्राणोष्मणोर्गस्तित्व नावगच्छन्ति, ततो मृतोऽयमित्यध्यवसाय दह-
नायारण्य नयन्ति । अथ तु प्राणमूष्माण वा प्रतिपद्यन्ते ततो नाय मृत
इत्यव्यवसाय मज्जालाभाय भिषज्यन्ति । पुनस्तथानाच्च न दिष्ट गत, नहि यम
गतो यमराष्ट्रात्प्रत्यागच्छति । अस्तु तर्हि सुपुप्त, नि सज्जत्वादमृतत्वाच्च । न ।
वैलक्षण्यात् । मुग्ध कदाचिच्चिरमपि नोच्छ्रवमिति, भवेपथुरस्य देहो भवति,
भयानकं च वदनं, विस्फारिते नेत्रे । सुपुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुत्यकाल पुन
पुनरुच्छ्रवसिति, निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः, न चास्य देहो वेपते ।
पाणिपेपणमात्रेण च सुपुप्तमुत्थापयन्ति, तनु मुग्ध मुदगरघातेनापि ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि मुग्ध प्राणी जाग्रत् अवस्थावाला नहीं हो
सकता है, जिससे यह इन्द्रियों द्वारा विषयों को नहीं जानता है । यदि कहो कि जाग्रत्
होते भी इन्द्रियों द्वारा विषयों को नहीं जानना यह हो सकता है । इपुकार (बाण
वनाने वाला) के न्याय (तुल्यता) युक्त मुग्ध हो सकता है कि जन्मे जागता हुआ भी
इपुकार इपुकी रचना में आसक्तमनवाला होने से अन्य विषयों को नहीं देखता है ।
इसी प्रकार मुसलादि के सपात (प्रहार) आदि से, अन्य दुःख के अनुभव से व्यग्र
(व्याकुल) मन वाला होने में जागता हुआ भी अन्य विषयों को नहीं देखता है । तो
यह कहना शका मुग्ध की अचेतयमानता (अचेतनता) में नहीं बन सकती है । जिनमें
व्यापारयुक्त मन वाला इपुकार पूछने पर कहता है कि इतने काल तक मैं बाण का
ही ज्ञान वाला था । मुग्ध तो सज्ञा (चेतना) का लाम (प्राप्ति) करने पर कहता है
कि मैं इतने कालतक अध तम में प्रक्षिप्त था, इतने कालतक मैंने कुछ नहीं समझा ।
और एक विषय में विशेष आसक्तियुक्त मन वाले भी जागते हुए प्राणी को देह
विध्न खड़ी वा बँठी रहनी है । मुग्ध की देह तो पृथिवी पर गिर जाती है, जिससे मुग्ध
जागता हुआ नहीं रहता है । और निमज्जक चेतनारहित ब्रह्महोश होने में स्वप्नों
को नहीं देखना है । प्राण तथा उष्णता (गरमी) के शरीर में रहने से वह मृतक भी
नहीं हो जाता है, जिससे मुग्ध प्राणी विषयक यह मर गया है, अथवा नहीं मरा है,
इस प्राण के सङ्ग करने वाले गरमी है या नहीं है इस निश्चय के लिए हृदय देश
का आलम्ब (स्पर्श) काम है । प्राण हुआ नहीं है इस निश्चय के लिए नासिका
देश का स्पर्श काम है । और यदि प्राण और गरमी की सत्ता को नहीं अवगत
(अनुभव) करते हैं, तो यह मर गया ऐसा निश्चय करके जलाने के लिए जगल
(श्मशान) में ले जाने हैं । यदि प्राण और गरमी को समझ पाते हैं, तो यह नहीं

मरा है ऐसा निश्चय करके चेतना की प्राप्ति के लिए भेषज चिकित्सा करते हैं। चिकित्सा आदि द्वारा फिर उत्थान से वह दिष्ट (मरण) को नहीं प्राप्त हुआ रहता है, क्योंकि मर कर यमराष्ट्र (यम के विषय) में प्राप्त फिर उस देह में नहीं आता है। यदि कहा जाय कि मुग्ध चेतनारहित वदहोश रहता है और मरा हुआ भी नहीं रहता है, तो वह सुपुस हो सकता है, उत्तर है कि विलक्षणता से वह सुपुस भी नहीं है। मुग्ध कभी चिर काल तक उच्छ्वास (श्वास-प्रश्वास) रहित रहता है, इसकी देह कम्पसहित रहती है और मुख भयानक रहता है, नेत्र विस्फारित (अधिक खुले) रहते हैं। सुपुस तो प्रसन्न मुखवाला रहता है, परिमित समय में बार-बार श्वास-प्रश्वास लेता है, इसके नेत्र बन्द रहते हैं, इसकी देह नहीं काँपती है। हाथ संघर्षण स्पर्शमात्र से सुपुस को लीज उठाते हैं। मुग्ध को तो मुद्गर के घात (चोट) से भी नहीं उठा सकते। मोह (मूर्च्छा) और सुपुस के निमित्त कारण में भी भेद होता है। मोह को मुसलघातादिनिमित्तकत्व है, अर्थात् मुसलघातादि से मूर्च्छा होती है। सुपुस को श्रमादिनिमित्तकत्व है, श्रमादि से सुपुस होती है और लोक में प्रसिद्धि नहीं है कि मुग्ध सोया है। इसलिए परिशेष से अर्द्धसम्पत्ति मुग्धता है, ऐसा समझते हैं। निःसज्जता (वदहोशी) से सम्पन्न है (प्राप्त है) और अन्य विलक्षणता से असम्पन्न है। यहाँ शंका होती है कि मुग्धता अर्धसम्पत्ति है, यह कैसे कह सकते हैं। जब कि सुप्त के प्रति श्रुति ने कहा है कि—(हे सोम्य ! उस सुपुस में जीव सत् के साथ सम्पन्न हो जाता (मिल जाता) है। उस अवस्था में चोर, चोर नहीं रहता है। इस सेतुविधारक आत्मा को दिन और रात नहीं व्याप्त होते हैं। अर्थात् आत्मा काल से परिच्छिन्न नहीं होता है। इसीसे इस आत्मा को जरा, मरण, पुण्य और पाप नहीं प्राप्त होते हैं।) जिससे सुखित्व-दुःखित्व ज्ञान के उत्पादन (जनन) द्वारा जीव में पुण्य-पाप की प्राप्ति होती है। सुप्त प्राणी में सुखित्व का ज्ञान वा दुःखित्व का ज्ञान नहीं होता है। और मुग्ध में भी वे सुखित्व-दुःखित्व के ज्ञान नहीं होते हैं। इससे उपाधि के उपशम (निवृत्ति) से सुपुस के समान मुग्ध में भी पूर्ण सम्पत्ति होने योग्य है, अर्धसम्पत्ति नहीं। ऐसी शंका होने पर यहाँ कहा जाता है कि मुग्धावस्था में जीव को ब्रह्म के साथ सम्पत्ति (अभेद) हो जाता है, ऐसा हम नहीं कहते हैं। तो क्या कहते हैं कि मुग्धावस्था में मुग्धत्व अर्द्धांश से सुपुस पक्ष का (सुपुसतुल्य) होता है, और अर्द्धांश से अवस्थान्तर पक्ष का होता है। यह हम कहते हैं। स्वाप के साथ मोह की कुछ अंश में समता और कुछ अंश में विषमता दर्शाई जा चुकी है। यह मुग्धत्व मरण का द्वाररूप है। जब इस जीव के प्रारब्ध कर्म सावशेष (पूर्णभुक्त नहीं) रहते हैं, तो वाक् और मन लौट आते हैं, व्यक्त होते हैं। जब निरवशेष (पूर्णभुक्त) कर्म रहते हैं, तो प्राण और गरमी भी चले जाते हैं। इससे ब्रह्मवेत्ता लोग मुग्धता को अर्द्धसम्पत्ति उचित समझते हैं। जो यह कहा था कि पञ्चमी कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं है, सो यह अप्रसिद्ध दोष नहीं है। यह

अवस्था कभी देवयोग से होनी ह, इससे प्रसिद्ध नहीं हो ऐसा हो सकता है। वस्तुतः यह लोक और आयुर्वेद में प्रसिद्ध है। अर्द्धं सम्पत्ति के स्वीकार से पञ्चमी नहीं गिनी जाती है, इससे अनवद्य (निर्दोष) ह ॥ १० ॥

निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयो । मुसलसपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य । न च लोकेऽस्ति प्रमिद्धि मुग्ध सुप्त इति । परिपोषादर्धसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छाम । नि मज्जत्वात्मपन्न इतरस्माच्च बेलक्षण्यादमपन्न इति । कथ पुनर्धसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते वक्तुम्, यावता सुप्त प्रति तावदुक्त श्रुत्या—‘सता गोम्य तदा सपन्नो भवति’ (छा० ६।८।१) इति, ‘अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति’ (वृ० ४।३।२२) ‘नैन सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृत न दुष्कृतम्’ (छा० ८।४।१) इत्यादि । जीवे हि सुवृत्तदुष्कृतयो प्राप्ति सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति । न च सुखित्वप्रत्ययो दुःखित्वप्रत्ययो वा सुपुल्लं विद्यते, मुग्धेऽपि तो प्रत्ययो नैव विद्यते । तस्मादुपाध्युपशमात्सुपुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति, नार्धनसंपत्तिरिति । अत्रोच्यते । न ब्रूमो मुखेऽर्धसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति । किं तर्ह्येवं सुपुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूम । दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यद्वेष्ये । द्वार चेतनगरणस्य । यदास्य भावशेषं कर्म भवति तदा वाट्मनसे प्रत्यागच्छत, यदा तु निरवशेऽपि कर्म भवति तदा प्राणोष्माणावपगच्छत, तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति । यत्क—न पञ्चमी काचिदवस्था प्रमिद्धान्ति—इति । नैप दोष । कादाचित्कीयमवश्येति न प्रमिद्धा स्यात् । प्रमिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयो । अर्धनसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

उभयलिङ्गाधिकरण (५)

ब्रह्म किं रूपि वा रूपि भवेन्नोरूपमेव वा । द्विविधश्रुतिमद्भावाद् ब्रह्म स्थावुरभयात्मकम् ॥ १ ॥ नीरूपमेव वेदान्ते प्रतिपाद्यमपूर्वत । रूपं त्वनूद्यते भ्रातृमुभयत्व विदध्यते ॥ २ ॥

परमात्मा को स्थान से (उपाधिसम्बन्ध से) अपि वा स्वन स्वरूप से वस्तुतः उभय (द्वैत-भेद) का कोई लिङ्ग हेतु नहीं ह । जिसमें सब अवस्था देत काठ श्रुति में भेदरहित ही परमात्मा सिद्ध है, जीव के समान अवस्थादिद्वित परमात्मा में वस्तुतः व्यावहारिक भेद भी नहीं ह । सद्यः है कि ब्रह्म रूपवाला और अरूपवाला अद्वया आदि के भेद से उभयस्वरूप होगा । अथवा सर्वथा नीरूप ही होगा । पूर्वपक्ष है कि दोनों प्रकार की श्रुति की सत्ता में ब्रह्म उभयान्वय होगा । सिद्धान्त है कि उपपूर्वता (अय प्रमाण की अविषयता) से नीरूप ही ब्रह्म वेदान्तों से प्रतिपाद्य है । त्रमसिद्ध रूप तो श्रुति से उपासगादि के लिए अनुवाहित होता है । वह वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय नहीं है । विरोध से चाम्पविक उभयान्वयत्व तो हो ही नहीं सकता है इससे नीरूप ही ब्रह्म है ॥ १-२ ॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

येन ब्रह्मणा मुपुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात्संपद्यते तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते । सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१।४।२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः, 'अस्यूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (वृ० ३।८।८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः । किमासु श्रुतिपूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम् । यदाप्यन्यतरलिङ्गं नदापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति नीमांस्यते । तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेति ।

मुपुप्ति समाधि आदि काल मे उपाधि के उपशम-निवृत्ति से जीव जिस ब्रह्म के साथ सम्पन्न, एक होता है, श्रुतिवश से उस ब्रह्म के स्वरूप का इस समय निर्धारण, निणय किया जाता है । सविशेषत्व और निर्विशेषत्व उभय (दोनों) की लिङ्ग (बोधक) श्रुतियाँ ब्रह्मविषयक हैं कि (सब विश्व जिसका कर्म, कार्य हैं । दोपरहित जिसके सब काम (इच्छा) हैं, जो सर्व मुखप्रद गन्धरूप हैं । पुण्य रसमय हैं वह परमात्मा हैं) । इत्यादि श्रुतियाँ सविशेष ब्रह्म की बोधक हैं । और (वह सूक्ष्म, अणु, ह्रस्व और दीर्घ नहीं है) इत्यादि निर्विशेष की बोधक हैं । क्या इन श्रुतियों में दोनों सविशेषत्व-निर्विशेषत्वरूप लिङ्गवाला ब्रह्म को समझना चाहिये वा दोनों में से किसी एक लिङ्गवाला समझना चाहिये । जब एक रूपलिङ्गवाला समझा जाय तो भी ब्रह्म सविशेष है, अथवा निर्विशेष है, यह विचार किया जाता है । यहाँ मुपुप्ति, मरण उभयरूप मुग्धता के समान उभय (दोनों) के बोधक श्रुति के बल से दोनों लिङ्गवाला ही ब्रह्म है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते । नह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात् । अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति । तदपि नोपपद्यते । नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोज्यादृशः स्वभावः संभवति । नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोज्ज्वलकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वावच्छताभिनिवेगस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् । अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम् । सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अगवदमस्पर्गमरूपमव्ययम्' (क० ३।१।५। मुक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि परब्रह्म को स्वतः स्वरूप से ही उभयलिङ्गत्व (उभयस्वरूपत्व) उपपन्न नहीं हो सकता है । जिससे विरोध होने के कारण एक ही वस्तु स्वतः स्वरूप से रूपादिविशेषयुक्त है । और उससे विपरीत है, ऐसा

अवधारण नहीं किया जा सकता है। यदि कहो कि स्वतः नहीं हो सकता हो तो म्यान (उपाधि) में, पृथिवी आदि उपाधि के सम्बन्ध से उभयलिङ्गत्व हो सकता है, तो वह भी नहीं उपपन्न हो सकता है। जिसमें उपाधि के सम्बन्ध से भी अन्य प्रकार की वस्तु को अन्य प्रकार का स्वभाव नहीं हो सकता है। स्फटिक स्वच्छ होता हुआ अलक्तक (लाशा, महावर) आदि उपाधि के सम्बन्ध से वस्तुतः अस्वच्छ नहीं होता है। स्फटिक में अस्वच्छता के अमिनिवेश को (सम्बन्ध को) भ्रममात्र होना से अस्वच्छता नहीं होती है। और स्फटिक में तो उसके समान सत्तावाला उपाधि-सम्बन्ध है भी ब्रह्म में उपाधियों के माया अविद्या में प्रत्युपस्थापितत्व (जन्यत्व) होने में उपाधिजन्य विशेष सत्य नहीं हो सकता है। अतः अन्यतर (किसी एक) लिङ्ग का परिग्रहण कर्तव्य है, उस एकलिङ्ग के परिग्रहण में भी समस्त विशेषों (भेदों) में रहित निर्विकल्पक (निर्गुण) ही ब्रह्म भगवन्ने योग्य है, उससे विपरीत नहीं। जिसमें ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादनपरक (शब्द, स्पर्श, स्पर्शरहित निर्विकार नित्य ब्रह्म है) इत्यादि सभी वाक्यों में निरस्त समस्त विशेषवाला सब विशेषों से रहित ही ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

अथापि म्याद्युक्त निर्विकल्पमेव ब्रह्म नास्य स्वतः स्थानतो बोधयलिङ्गत्वमिति। तन्नोपपद्यते। कस्मात्? भेदात्। भिन्ना हि प्रतिविद्य ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते। चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकल ब्रह्म वामनीत्वादिलक्षण ब्रह्म त्रैलोक्यगरीखंस्वानरशब्दोदित ब्रह्मेत्येवजातीयया, तस्मात्प्रविशेपत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्। ननुक्तं नोभयलिङ्गत्व ब्रह्मणः सम्भवतीति। अवयवविरोधः। उपाधिरूपत्वादाकारभेदस्य। अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशास्त्रं प्रमज्येनेति चेत्। नेति शून्यम्। वस्मात्? प्रत्येकमतद्वचनात्। प्रत्युपाधि-भेद ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्—‘यश्चायमस्या पृथिव्या तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमव्यात्म शरीरस्तैजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योज्यमात्मा’ (बृ० २।५।१) इत्यादि। अतश्च न भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम्। भेदस्योपाभनार्थत्वादभेदे तात्पर्यात् ॥ १२ ॥

पूर्वोक्त रीति में धृतिधा द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का निर्णय होने पर भी यदि शङ्का होनी हो कि, जो कहा गया है कि निर्विकल्प ही ब्रह्म है, उस ब्रह्म को स्वतः का स्थान से उभयलिङ्गत्व (उभयस्वरूपत्व) नहीं है, वह नहीं उपपन्न होता है। क्यों नहीं उपपन्न होता है? तो भेद (विशेष) से निर्विशेष नहीं उपपन्न होता है। जिसमें प्रत्येक विद्या में ब्रह्म के आकार भिन्न (विशेषयुक्त) उपदिष्ट होने (कहे जाते) हैं कि (चार पाद वाला ब्रह्म है, षोडशकला वाला ब्रह्म है, वामनीत्वादिलक्षण वाला ब्रह्म है। तीनों लोकस्वरूप शरीर वाला वैश्वानर शब्द से कहा गया ब्रह्म है)

इस प्रकार के भिन्न ब्रह्म के उपदेश हैं, इससे ब्रह्म का निर्विशेषत्व के समान सवि-
शेषत्व भेद भी स्वीकार के योग्य है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म का उभयलिङ्गत्व
सम्भव नहीं है, यह कहा जा चुका है तो कहा जाता है कि यह भी विरोध नहीं
है, आकार के उपाधिकृत होने से अविरोध है। अन्यथा (यदि ऐसा नहीं माना
जायगा तो) भेद का बोध करानेवाले शास्त्र निर्विषय (अनर्थक) ही प्राप्त होंगे।
यदि ऐसी शंका कोई करे तो कहते हैं ऐसा नहीं हो सकता, उपाधि से भी सत्य भेद
ब्रह्म में नहीं होता है, क्यों सत्य भेद नहीं होता है? तो कहते हैं कि प्रत्येक सविशेष
उपदेश में भी (अतद्वचन) भेद के अभाव के कथन से भेद नहीं सिद्ध होता है, तत्
शब्द मूल में भेद का बोधक है। अतद्वचन (भेदाभाव) का बोधक है। प्रत्येक
उपाधि के भेदों में भेद के उपदेशों में भी शास्त्र ब्रह्म के अभेद को ही सुनाता है
कि (जो इस पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, जो यह अध्यात्म शरीर में रहने
वाला तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वह यही है जो यह आत्मा है) इत्यादि। इससे ब्रह्म
का भिन्न आकार के साथ सम्बन्ध को शास्त्र से सिद्ध नहीं कह सकते हैं। भेद के
उपासनार्थक होने से और अभेद में शास्त्र का तात्पर्य होने से, शास्त्र से भेद नहीं सिद्ध
होता है ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

अपि चैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समामनन्ति—
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ (क० ४।११) इति ।

तथान्येपि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत्'—
(श्वे० १।१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैक-
स्वभावतामधीयते ॥ १३ ॥

इसी प्रकार भेददर्शन (ज्ञान) की निन्दापूर्वक अभेददर्शन का ही एक
शाखावाले कथन भी करते हैं कि (यह ब्रह्म शुद्ध मन से समझने, प्राप्त करने योग्य
है इसमें भेद कुछ नहीं है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है कि जो इस ब्रह्म में
नाना सा देखता है ।) इसी प्रकार अन्य भी कहते हैं कि (भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता
जीव जगत् और अंतर्धामी ईश्वर को विचार कर जो कुछ मुझसे कहा गया है, उन
सबको त्रिविध ब्रह्म ही समझे) इस प्रकार भोग्य, भोक्ता और नियन्ता रूप समस्त
प्रपञ्च की ब्रह्म के साथ एकस्वभावता का अध्ययन एक शाखावाले करते हैं ॥ १३ ॥

कथं पुनराकारवदुपदेगिनीप्त्रनाकारोपदेगिनीपु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिपु
स तीप्त्रनाकारमेव ब्रह्मावधारयन् न पुनर्विपरीतमिति । अत उत्तरं पठति—

फिर भी शङ्का होती है कि साकार ब्रह्म का उपदेश देने वाली और निराकार
का उपदेश देने वाली ब्रह्मविषयक दोनों प्रकार की श्रुतियों के रहते भी निराकार

ही ब्रह्म वसे अवधारित, निश्चित होता है। विपरीत भी क्यों नहीं अवधारित होता है। ऐसी गवा होने पर उत्तर पढ़ते हैं कि—

अहंपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

स्वाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न रूपादिमत् । कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात् । ‘अस्थूलमनण्डलस्वमदीर्घम्’ (वृ० ३।८।८) ‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्’ (कठ० ३।१५। मुक्ति० २।७२) ‘आकाशो वै नाम नामाग्न्योर्निर्वहिता न यदन्तरा तद् ब्रह्म’ (छा० ८।१४।१) ‘दिव्यो ह्यमूर्त पुरुष स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज’ (मुण्ड० २।१।२), ‘तदेनद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू’ (वृ० २।५।१९) इत्येवमादीनि वाक्यानि निप्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानात्येनत्प्रतिष्ठापित ‘तत्तु समन्वयात्’ (ब्र० सू० १।१।८) इत्यत्र । तस्मादेवजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुत निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम् । इतराणि त्वाकारवद् ब्रह्माविषयाणि वाक्यानि न तत्प्रधानानि । उपासनाविधिप्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम् । सति तु विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो वलीयासि भवन्तीति । एष विनियमनाया हेतु, येनोभयौष्वपि श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमिति ॥ १४ ॥

रूपादि आकार से रहित ही ब्रह्म अवधारण के योग्य है। रूपादि वाला नहीं, क्योंकि श्रुतियों में उस निराकार को ही प्रधानत्व है। (ब्रह्म स्थूल, अणु, सूक्ष्म, दीर्घ नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप रहित अव्यय है। आकाश ब्रह्म-नाम और रूप का निर्वाहक है, नाम और रूप जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है। दिव्य, स्वयंप्रकाश-मूर्ति आकार रहित बाहर-भीतर भेदरहित ही अज पुरुष है। यह ब्रह्म कारण तथा कार्य नहीं है। अन्तर बाह्य भेदरहित है, यह आत्मा ब्रह्म है, सर्वज्ञ है) इत्यादि वाक्यों में निप्रपञ्च (शुद्ध) ब्रह्मात्म तत्त्व प्रधानरूप से वर्तमान है। इन में अर्थान्तर प्रधान नहीं है। यह अर्थ, ‘तत्तु समन्वयात्’ इस सूत्र में प्रतिष्ठापित (निश्चित रूप में स्थापित) किया गया है। इससे इस प्रकार के वाक्यों में यथाश्रुत (श्रुति के अनुसार) निराकार ही ब्रह्म अवधारण के योग्य है। अन्य जो सामान्य ब्रह्म विषयक वाक्य हैं वह सामान्यप्रधानवाले नहीं हैं, किन्तु उपासनाविधिप्रधानवाले के वाक्य हैं। उनमें विरोध के नहीं रहने पर वे यथाश्रुत आश्रयण के योग्य हैं। विरोध होने पर, स्वार्थप्रधानवाले वाक्य अन्याश्रयप्रधानवाले वाक्यों से वलीयान्—अतिप्रती होने हैं और यही विनियमना में (दोनों में से एक के ग्रहण में) हेतु है। जिस से दोनों प्रकार की श्रुतियों के रहते भी निराकार ही ब्रह्म अवधारित होता है, विपरीत नहीं ॥ १४ ॥

का तद्वाकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

शंका होती है कि तब साकारविषयक श्रुतियों की क्या गति (आशय) है । इससे कहते हैं कि—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा विद्यद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽद्भुत्याद्युपाधि-
सम्बन्धात्तज्जुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि
पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकार-
विशेषोपदेग उपासनार्थो न विरुध्यते । एवमवैयर्थ्यमाकारवद्ब्रह्मविषयाणामपि
वाक्यानां भविष्यति, नहि वेदवाक्यानां कस्यचिदर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्व-
मिति युक्तं प्रतिपत्तुं प्रमाणत्वाविशेषात् । नन्वेवमपि यत्पुरस्तात्प्रतिज्ञातं—
नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति—तद्विरुध्यते, नेति ब्रूमः । उपा-
धिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः । उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् ।
सत्यामेव च नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र
तत्रावोचाम ॥ १५ ॥

जैसे सूर्य वा चन्द्रमा का प्रकाश आकाश में व्याप्त होकर वर्तमान होता हुआ भी
अद्भुली आदि उपाधियों के सम्बन्ध से उन उपाधियों के सीधे-पेढ़े आदि रूपता के प्राप्त
होने पर वह प्रकाश भी उनके ही समान सीधा-पेढ़ा आदि भासता है । इसी प्रकार ब्रह्म
भी पृथिवी आदि उपाधियों के सम्बन्ध से तदाकारता को प्राप्त के समान भासता है,
मानो उन आकारों को प्राप्त कर लेता है और उन कल्पित आकारों का आश्रयण करके
उसी के आश्रित उपासना के लिए ब्रह्मा के आकार विशेष का उपदेश विरुद्ध नहीं होता
है । इस प्रकार साकार ब्रह्मविषयक वाक्यों की अव्यर्थता (सार्थकता) होगी । वेद-
वाक्यों में किसी वाक्य को सार्थकता है, किसी वाक्य को निरर्थकता है, ऐसा समझना
युक्त नहीं है । क्योंकि सब वेदवाक्यों में प्रमाणत्व अविशेष (तुल्य) है । इससे साकार-
विषयक वेदवाक्यों की भी उक्त रीति से सार्थकता है ही । शंका होती है कि इस प्रकार
से वेदवचनों की व्यवस्था होने पर भी प्रथम जो प्रतिज्ञा की गई है कि उपाधि के
सम्बन्ध से भी ब्रह्म को उभयलिङ्गवत्त्व (साकारत्व-निराकारत्व) नहीं है, किन्तु
केवल निराकारत्व ही है । उपासनार्थक भी आकार मानने पर उस प्रतिज्ञा से विरोध
होगा । उत्तर है कि विरोध नहीं है, ऐसा हम कहते हैं, जिससे उपाधिनिमित्तक
साकारत्व धर्म को उपासनार्थक कल्पित होते भी वस्तुस्वरूप निराकार ब्रह्म के धर्मत्व
की साकारत्व में अनुपपत्ति है और उपाधियों के अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्रापित)
होने से विरोध नहीं है । अर्थात् प्रथम भी औपाधिक रूप के कल्पित होने से उभय-
रूपत्व सत्य नहीं है यह कहा गया था । अब भी निर्विशेषत्व सत्य है और
सविशेषत्व मिथ्या (मायिक) है यह कहा जाता है, इससे पूर्वापर-विरोध नहीं है,

और स्वभाविक अविद्या के रहते ही लोक के और वेद के व्यवहारों का अवतार (जन्म) होता है, यह तत्तत् स्थानों में कहा जा चुका है ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—‘म यथा सैन्धवघनोऽन्तरोऽवाह्य कृत्स्नो रसघन एव वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽवाह्य कृत्स्नं प्रज्ञानघन एव’ (बृ० ४।५।१३) इति । एतदुक्तं भवति । नान्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम्, यथा सैन्धवघनस्यान्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति न रसान्तरं तथैवेति ॥ १६ ॥

चैतन्यमात्रं विलक्षण रूपान्तर से रहित निर्विशेष ब्रह्म को श्रुति कहती भी है कि (अरे मंत्रेयि ! जैसे सैन्धव घन लवणपिण्ड बाह्य-भीतर पदार्थान्तर, रसान्तर में रहित सम्पूर्ण रसघन एकरस लवणमात्र रहता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी अन्दर और बाहर रूपभेद अन्तराय रहित सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है) इसमें यह उक्त (वर्णित) होता है कि इस आत्मा के अन्दर वा बाहर में चैतन्य से अन्य रूप नहीं है, निरन्तर चैतन्य ही इस आत्मा का स्वरूप है । जैसे लवण के घन (पिण्ड, मूर्ति) के अन्दर और बाहर में लवण रस ही निरन्तर रहता है, रसान्तर नहीं रहता है । इसी प्रकार यह आत्मा है ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

दर्शयति च श्रुति पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म निर्विशेषत्वात्—‘अथात आदेशो नेति नेति’ (बृ० २।३।६) इति, ‘अन्यदेव तद्विदितादर्थो अविदितादर्थ’ (के० १।३) इति, ‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ (तै० २।४।१) इत्येवमाद्या । वाष्कलिना च बाध्व पृष्ठं सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—‘म होवाचाधीहि भगवो ब्रह्म उति म तूष्णीमभूव त ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूम खलु त्वं तु न विजानामि, उपशान्तोऽयमात्मा’ इति । तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषेधेनैवोपदिश्यते—

अथ यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्जात्वाऽमृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नामदुच्यते । (१३।१२) इत्येवमाद्याम् । तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मा पश्यसि नारद । ।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैव मा ज्ञातुमर्हमि । इति ॥ १७ ॥

निर्विशेषता के कारण पर (अनात्म) रूप के प्रतिषेध द्वारा ही श्रुति ब्रह्म को दर्शाने के लिए (अथात आदेशो नेति नेति) मध्य स्वरूप के निर्देश के बाद जिसमें आत्मा सत्यो का सत्य है, इसमें उसका निर्देश है कि वह मूर्त अमूर्त (कार्य-कारण)

स्वरूप नहीं है और (वह विदित अविदित, व्यक्त अव्यक्त से अन्य है । मन सहित वाक् जिस में नहीं पहुँच कर निवृत्त होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ अनात्मा के प्रतिषेध द्वारा ब्रह्म को दर्शाती हैं । वाष्कलि नामक शिष्य ने वाध्व नामक गुरु से ब्रह्म पूछा (ब्रह्म-विषयक प्रश्न किया) तो पूछे गये वाध्व ने मीन द्वारा ब्रह्म का कथन किया—उपदेश दिया यह मुना जाता है । फिर (उस वाष्कलि ने कहा कि हे भगवन् वाध्व ! मेरे लिए ब्रह्म का उपदेश करो, परन्तु वह गुरु मीन ही रहा, फिर दूसरी वा तीसरी बार पूछने पर मीन को त्याग कर कहा कि हम तो ब्रह्म का उपदेश करते हैं, तुम तो नहीं समझते हो, यह आत्मा उपशान्त (द्वैतरहित) है, इससे इसका मीन ही उत्तर है) सूत्रगत अथ शब्द तथा अर्थ में है, वैसे ही स्मृतियों में भी अनात्मा के प्रतिषेध द्वारा ही ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है कि (जिसको जान कर जीव अमृत को प्राप्त करता है, ऐसा जो जेय ब्रह्म है, उस क्षेत्रज्ञामिन्न ब्रह्म को मैं अच्छी तरह कहूँगा कि वह आदि वाला नहीं है । सत् इन्द्रियों का विषय, वा असत् परोक्ष पर ब्रह्म नहीं कहा जाता है, अर्थात् स्वयंप्रकाश परब्रह्म है) इत्यादि स्मृतियों में पर का निषेध द्वारा उपदेश है । इसी प्रकार विश्वरूपधारी नारायण ने नारद के प्रति कहा है ऐसा स्मृति में कहा गया है कि—(हे नारद ! सर्व दिव्य गुणों से युक्त जो मुझे देख रहे हो, यह मुझसे माया रची गई है, आप मुझे इसी प्रकार जानने योग्य नहीं हो) ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परमप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा त्रिवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।

उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥ इति ।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूतं व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (ब्र० वि० १२) इत्येवमादिषु ॥ १८ ॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

जिससे चैतन्यरूप यह आत्मा निर्विशेष वाक् और मन का अविषय और अनात्मा के प्रतिषेध ही द्वारा उपदेश के योग्य है, इसीसे इस आत्मा के उपाधिनिमित्तक अपारमार्थिक (मायिक) विशेषवत्ता को मानकर मोक्षशास्त्रों में (जल सूर्यकादिवत्, जल में कल्पित सूर्य के समान ब्रह्म का विशेष स्वरूप है) इस प्रकार उपमा का ग्रहण किया जाता है कि (जैसे स्वयं ज्योतिःस्वरूप यह सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलों में प्रतिबिम्ब रूप से अनुगत (प्राप्त) हुआ बहुत प्रकार का अनेक

किया जाता है । इसी प्रकार अज एक भी यह आत्म देव क्षेत्रो, देहो मे बुद्धि आदि उपाधि द्वारा भेदयुक्तस्वरूपा किया जाता है) । इति । (सत्र प्राणी का एक ही आत्मा तत्तत् भूतो मे विभो (मित्) रूप से अवस्थित है और आकाश मे स्थिर चन्द्र और जलगत चन्द्रप्रतिबिम्ब के समान आत्मा एक स्वरूपवाला और बहुत स्वरूपवाला दीखता (मानता) है । इत्यादि शास्त्रा मे उपमा गृहीत है ॥ १८ ॥

यहाँ उक्तार्थविषयक शङ्का की जाती है कि—

अम्बुददग्रहणात् न तथात्वम् ॥ १९ ॥

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते नददग्रहणात् । सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्य पृथग्भूत विप्रकृष्टदेग मूर्तं जल गृह्यते तत्र युक्तं सूर्यादिप्रतिबिम्बोदय । न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्रोपाधय , सर्वगतत्वात्मवर्तनान्यत्वान्त्व । तस्मादमुक्तोऽय दृष्टान्त इति ॥ १९ ॥

अत्र प्रतिविधीयते—

यहाँ बुद्धि आदि मे आत्मा का जलसूर्यकादितुल्यत्व उपपन्न नहीं होता है, जिसमे दृष्टान्त मे जल के समान यह बुद्धि आदि का आत्मा से पृथक् ग्रहण नहीं होता है । दृष्टान्त मे मूर्तिमान् सूर्यादि से पृथक् स्वरूपवाला दूरदेशवाला मूर्त साकार जल गृहीत होता है, उस जल मे सूर्यादि के प्रतिबिम्बो का उदय, प्रकट होना युक्त है । आत्मा तो मूर्त नहीं है, और न इनसे पृथक् स्वरूपवाले दूरदेशवर्ती उपाधि सब हैं । क्योंकि आत्मा को सर्वगतत्व और सब से अनन्यत्व (अमिन्नत्व) है । इससे यह दृष्टान्त अयुक्त है ॥ १९ ॥

यहाँ समाधान कहा जाता है कि—

वृद्धिहासभावत्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

युक्त एव त्वय दृष्टान्तो विवक्षिताशमभवात्, नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो कचिन्कचिद्विवक्षिताश मुक्त्वा सर्वसारूप्य केनचिद्दर्शयितुं शक्यते । सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात् । नचेद स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम् । शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते । किं पुनरत्र विवक्षित सारूप्यमिति । नदुच्यते । वृद्धिहासभावत्वमिति । जलगत हि सूर्यप्रतिबिम्ब जलवृद्धी वर्धते जल से ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यते इत्येव जलधर्मानुयायि भवति, नतु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति । एष परमार्थतोऽविकृतमेकस्वरूपमपि सद् ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भूजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धिहासादीन्, एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो सामञ्जस्यादविरोध ॥ २० ॥

विवक्षिताश के सम्भव होने से यह दृष्टान्त युक्त ही है । दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक मे कही किसी विवक्षित अश को छोड़ कर सर्वांश मे सरूपता किसी से दिखाई नहीं जा सकती है । और सर्वांश मे सरूपता होने पर दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव का उच्छेद ही

होगा । अपनी वृद्धि से वह जलसूर्यकादि दृष्टान्त का प्रणयन (निर्माण) नहीं किया गया है, किन्तु शास्त्र से प्रणीत (निर्मित, प्राप्त) इस दृष्टान्त के प्रयोजनमात्र का उपन्यास (कथन) किया जाता है । फिर भी यहाँ विवक्षित सारूप्य क्या है ? वह कहा जाता है कि (वृद्धिहासमागित्व होना ही सादृश्य है) जिससे जलगत सूर्य का प्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है, जल के न्यून, क्षीण होने पर न्यून, क्षीण होता है, जल के चलने से चलता है, जल के भेद होने पर भिन्न होता है । इस प्रकार जल के धर्मानुगामी, उसके अनुसार भासने वाला प्रतिबिम्ब होता है । परन्तु उससे सूर्य को तथ्यात्व (वृद्धि आदि धर्मवत्त्व) परमायं से नहीं है । इसी प्रकार परमार्थ स्वरूप से विकाररहित एकस्वरूप भी सत् ब्रह्म देहादि रूप उपाधि के अन्तर्भाव से उपाधि के धर्म वृद्धि-हासादि को मानो मजता है (प्राप्त होता है) इस प्रकार दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक दोनों के सामञ्जस्य (संमेलन) से विरोध (वैषम्य) नहीं है ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिपूपाधिष्वन्तरनुप्रवेगम्—
पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रं चतुष्पदः ।

पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविगत् ॥ (वृ० २।५।१८) इति ।

‘अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य’ (छा० ६।३।२) इति च । तस्माद्युक्तमेतत्—‘अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्’ (ब्र० सू० ३।२।१८) इति । तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम् । अत्र केचिद् द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति । प्रथमं तावत्—किं प्रत्यस्तमित्तार्शेपप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्मोत्त प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतमिति । द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमित्तप्रपञ्चत्वे किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत्त बोधलक्षणमुत्तोभयलक्षणमिति । अत्र वयं वदामः—सर्वथाप्यानर्थवयमधिकरणान्तरारम्भस्येति । यदि तावदनेकलिङ्गत्वं पश्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं प्रयासस्तत्पूर्वेणैव ‘न स्थानतोऽपि’ इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरमधिकरणं ‘प्रकाशवच्च’ एतद् व्यर्थमेव भवेत् । न च सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोधलक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, विज्ञानघन एवेत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कथं वा निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत । नापि बोधलक्षणमेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्यं वक्तुम् ‘अस्तीत्येवोपलब्धव्यः’ (फ० ६।१३) इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कथं वा निरस्तसत्ताको बोधोऽभ्युपगम्येत । नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मोत्ति शक्यं वक्तुम्, पूर्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात् । सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तायापेनं ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिपिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत । श्रुतत्वाददोष इति चेत् । न । एकस्यानेकस्वभावत्वानुपपत्तः । अथ—सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति—

यद्युच्येन, तथापि किं मल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्यत्र
विकल्पो निरालम्बन एव म्यात् । सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नी-
तानि । अपि च ब्रह्मविषयासु श्रुतिप्राकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्ना-
म्यनाकारे ब्रह्माणि परिगृहीतेऽप्यत्र वक्तव्येतराणां श्रुतीनां गतिः । तादर्थ्येन
प्रकाशवन्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवत्तराणि सपद्यन्ते । यदप्याहुराकारवादिन्योऽपि
श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुत्पेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एन न पृथार्था इति, तदपि न
समीचीनमिव लक्ष्यते । कथम् ? ये हि परविद्याधिकारे केचित्प्रपञ्चा
उच्यन्ते यथा 'युक्ता ह्यस्य हृद्यः शता दशेत्यय वै हरयोऽय वै दश च मह-
स्त्राणि बहूनि चानन्तानि च' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रवि-
लयार्था 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इत्युपमहा-
रात् । ये पुनरुपागनाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा 'मनोमय प्राणशरीरो
भास्य' (छा० ३।१।१२) इत्येवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम् ।
'स क्रत् कुर्वीत' (छा० ३।१।४१) इत्येवजातीयकेन प्रकृतेर्नैवोपासनविधिना
तेषां संवन्धात् । श्रुत्या चैवजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने
न लक्षणया प्रविलयार्थत्वमवकल्पते । सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति
'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (बृ० सू० ३।२।१४) इति विनिगमनकारणव-
चनमनवकाशः स्यात् । फलमप्येषा यथोपदेशः कचिद् दुरितक्षयः कचिदध्व-
प्राप्तिः कचित्क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थग्यमेवोपासनावाक्यानां
ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैववाक्यत्वम् । कथं चैषामेकवाक्यनोत्प्रेक्ष्यत इति
वक्तव्यम् । एकनियोगप्रतीतिः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत् । न ।
ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात् । वस्तुमात्रपर्यवसायोनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियो-
गोपदेशीनीत्येनद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (बृ० सू० १।१।४)
इत्यत्र । विविचयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम् । पुरुषो हि नियु-
ज्यमानः कुर्वति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते । ननु द्वैतप्रपञ्चप्रविलयो न
योगविषयो भविष्यति । अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चं ब्रह्मतत्त्वबिबोधो न
भवत्यतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्य, यथा स्वर्गका-
मस्य यागोऽनुष्ठानव्य उपदिश्यत एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः, यथा च
तममि व्यवस्थितं घटादिनत्त्वमवबुद्धमस्मानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमं प्रवि-
लाप्यते, एव ब्रह्मतत्त्वमवबुद्धमस्मानेन तत्प्रत्यनीकभूतं प्रपञ्चं प्रविलाप-
यितव्यम् । ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावः ब्रह्म, तेन नामरूपप्र-
पञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति । अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं
प्रपञ्चप्रविलयो नाम । किमग्निप्रनापमपर्काद् धृतवाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्च-
प्रविलयः कर्तव्यः आहोस्मिदेकास्मिश्चन्द्रा तिमिरवृत्तानेकचन्द्रप्रपञ्चवदविद्या-
वृत्तो ब्रह्माणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति । तत्र यदि ताव-

द्विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्यते स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात् । एकेन चादिमुक्तन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिगूढं जगदभविष्यत् । अथाविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविलाप्य इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति । तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते तथा चाविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्प्रविलीयते । अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते, न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायते । नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चविलयविषयो वा नियोगः स्यात् । न । निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्ववदनैवोभयसिद्धः । रज्जुस्वरूपप्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति । नच कृतमेव पुनः क्रियते । नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद् ब्रह्मपक्षस्यैव वा । प्रथमे विकल्पे निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात्कस्य प्रपञ्चप्रविलये नियोग उच्येत कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत । द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावान्नियोगाभाव एव । द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिका-
रपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना भवन्ति । लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्वति । ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन । तस्मिन्दर्शिते स्वयमेव यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते । न च प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते । यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथाज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं किं तर्हि मानसी सा क्रिया स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत भ्रान्तिरेव स्यात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते । न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते । नहि तत्पुरुषतन्त्रं, वस्तुतन्त्रमेव हि तत् । अतोऽपि नियोगाभावः, किंचान्यन्नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं जीवस्य तदप्रमाणकमेव स्यात् । अथ शास्त्रमेवानियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्याचक्षीत तदवबोधे च पुरुषं नियुज्जीत ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य द्वयर्थपरता विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम् । नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना

कर्मफलवन्मोक्षफलस्यादृष्टफलस्यादृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्त्येवमादयो दोषा न केनचित्परिहृतुं शक्याः । तस्मादवगतिनिष्ठान्धेव ब्रह्मवाक्यानि न नियोगनिष्ठानि । अतश्चैकनियोगप्रतीतेरेकवाक्यतेत्युक्तम् । अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु नियोगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपञ्चोपदेशेषु सप्रपञ्चोपदेशेषु चासिद्धम् । नहि शब्दान्तरादिभिः प्रमाणैर्नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम् । प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येषु त्वधिकाराशेनाभेदाद्युक्तनेकत्वम्, नत्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु काश्चिदेकत्वाधिकाराशोऽस्ति । नहि भारूपत्वादयो गुणा प्रपञ्चप्रविलयोपकारिणः, नापि प्रपञ्चप्रविलयो भारूपत्वादिगुणोपकारी, परस्परविरोधित्वात् । नहि कृत्स्नप्रपञ्चप्रविलापन प्रपञ्चनिरुद्देशापेक्षया चैकस्मिन्धर्मिणि युक्तं नमावेशयितुम् । तस्मादस्मदुक्त एव विभाग आकारवदनाकारोपदेष्टानां युक्ततर इति ॥ २१ ॥

परब्रह्म ही का देहादिरूप उपाधियों के अन्तर में अनुप्रवेश को श्रुति दर्शाने है कि (परमात्मा ने दो पैरवाले मनुष्यादिशरीररूप पुरुषों को बनाया और चार पैर वाले पशु आदि शरीररूप पुरुषों को बनाया । नेत्रादि की अभिव्यक्ति से प्रथम ही पक्षी (लिङ्ग-शरीरवाला) होकर उम परमात्मा ने ही पुरुष रूप पुरुष में प्रवेश किया तथा प्रविष्ट होने पर भी स्वरूप से पुरुष (पूर्ण ही) रहा । (इस जीवात्मा रूप में अनुप्रवेश कर्मके नाम-रूप को व्यक्त कहें) इत्यादि । उसमें (अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्) यह बधन युक्त है । जिससे निर्विनिरूपक (निर्गुण) एकलिङ्ग (लक्षण) वाला हो ब्रह्म है । उभय लिङ्गवाला और विपरीत (विशेष) लिङ्ग वाला नहीं है, यह सिद्ध हुआ । यहाँ कोई दो अधिकारण की बन्धना करते हैं, (न स्यान्ततोपि) इत्यादि से प्रथम की बन्धना करने हैं कि क्या निरस्तसमस्तप्रपञ्च वाला एक आकारवाला ब्रह्म है अथवा प्रपञ्च के समान अनेक आकार से युक्त ब्रह्म है । उस प्रथम अधिकरण में निरस्त प्रपञ्चवाला, प्रपञ्चशून्य ब्रह्म के स्थिर होने पर (प्रकाशवच्च) इत्यादि से द्वितीय की बन्धना करते हैं कि क्या ब्रह्म केवल सत्स्वरूप है, अथवा केवल बोधस्वरूप है, यद्वा उभयस्वरूप है । वहाँ सच्चिदुभयरूपता को पूर्वेष्ट करके (आह च तमात्रम्) इस सूत्र से सत्तामात्र सिद्धान्त सिद्ध करते हैं । यहाँ द्वितीय अधिकरण की व्युत्पत्ति को भाष्यकार दर्शाने हैं, कि हम यहाँ कहते हैं कि अय अधिकरण के आरम्भ की सर्वथा अनर्थकता है । यदि द्वितीय अधिकरण में ब्रह्म का अनेकलिङ्गत्व-निराकरण करना है इसके लिए यह अधिकरण की रचना रूप प्रयाग हो, तो (न स्यान्ततोपि) इस पूर्व अधिकरण में ही अनेकलिङ्गत्व निराकृत हो चुका है । इससे (प्रकाशवच्च) इत्यादि उत्तर अधिकरण व्यर्थ ही होगा । ब्रह्म सत्स्वरूप ही है । बोध (ज्ञान) स्वरूप नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं । जिससे बोधरूप नहीं मानने पर (विज्ञानघन ही ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियाँ की व्यर्थता की प्राप्ति होगी । चेतनतारहित ब्रह्म का चेतन जीव के आत्मारूप में कैसे उपदेश हो सकता है । ब्रह्मबोध ही स्वरूप है,

सत् स्वरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते हैं। ऐसा मानने से (आत्मा है ऐसा ही समझना चाहिये) इत्यादि श्रुतियों की व्यर्थता की प्राप्ति होगी अथवा सत्तारहित बोध को कोई किस प्रकार समझेगा। उभय (पृथक् दो) स्वरूपवाला ही ब्रह्म है, यह भी नहीं कह सकते हैं। जिससे ऐसा मानने पर पूर्व के स्वाभ्युपगम (स्वीकृति) से विरोध की प्राप्ति होगी। सत्ता से व्यावृत्त (भिन्न) बोध और बोध से व्यावृत्त सत्ता, इन दोनों से युक्त ब्रह्म की प्रतिज्ञा करने वाले को पूर्व अधिकरण में जिसका प्रतिषेध किया है, उसी ब्रह्म की सप्रपञ्चता की प्राप्ति होगी। अपर्याप्त निष्प्रपञ्च एकरूपत्व पूर्व सिद्धान्त के विरोध से भिन्नाभयरूपत्वविषयक पूर्वपक्ष भी नहीं हो सकता है। श्रुति में सत्स्वरूप और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सुना गया है। इससे दोष नहीं है, अर्थात् पूर्वपक्ष का असम्भव नहीं है, श्रुतिबल से पूर्वपक्ष हो सकता है। यदि ऐसा कहो तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिबल से एक वस्तु को विरुद्ध अनेकस्वभावत्व की अनुपपत्ति होगी, अर्थात् श्रुति भी विरुद्ध अर्थ को नहीं कह सकती है। यदि कहो कि सत्ता ही बोध है, बोध ही सत्ता है, सत्ता और बोध इन दोनों को परस्पर व्यावृत्ति (भेद) नहीं है। दोनों अखण्ड स्वरूप हैं। तो भी ब्रह्म क्या सत् स्वरूप है अथवा बोध स्वरूप है, अथवा उभयस्वरूप है। इस प्रकार अखण्डवस्तुविषयक विकल्प (संशय) निरालम्बन (निराश्रय, निर्विषय) ही होगा। इससे दूसरा अधिकरण अयुक्त है। हमने तो एक अधिकरणरूप से भी सूत्रों की संगति, योजना की है। दूसरी बात है कि साकार और निराकार ब्रह्म का प्रतिपादन द्वारा परस्पर विरोधयुक्त श्रुतियों के रहते निराकार ब्रह्म को स्वीकार करने पर अन्य श्रुतियों की गति (विषय, आश्रय) अवश्य कहना चाहिए। इससे उस गति को कहने, प्रदर्शन कराने के लिए, 'प्रकाशवच्च' इत्यादि सूत्र अत्यन्त सार्थक सिद्ध होते हैं। इससे अधिकरण का भेद नहीं है और जो कोई यह कहते हैं कि (मनोमयः प्राणशरीरः सत्यकामः) इत्यादि ब्रह्म के आकारो को कहने वाली भी श्रुतियाँ (ब्रह्म मनोमय हैं। परन्तु अन्य उपाधि रहित है। प्राण शरीरवाला है अन्य शरीररहित है, सत्य कामवाला है अन्य काम रहित है) इस प्रकार से प्रपञ्च का क्रमशः विलय द्वारा निराकार के ज्ञानार्थ नहीं हैं। पृथक् उपासना आदि प्रयोजन के लिए नहीं है। वह कथन समीचीन (उचित) सा नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि पर विद्या के प्रकरण में जो कोई प्रपञ्च कहे जाते हैं। जैसे कि (रथ में युक्त, लगे घोड़ों के समान इस आत्मा के हरणशील हरि, घोड़े इन्द्रियाँ सी हैं दश है, यह आत्मा ही हरि है। यही दश इन्द्रिय रूप है, और प्राणिभेद से कितने सहस्र और बहुत और अनन्त है) इत्यादि प्रपञ्च है। वे प्रविलयार्थक हैं। यह प्रविलयार्थत्व (सो यह ब्रह्मात्मा कार्य-कारण रहित और बाह्य-अन्तर रहित है) इस उपसंहार से सिद्ध और प्रतीत होता है। और जो उपासना प्रकरण में प्रपञ्च कहे जाते हैं, जैसे कि (आत्मा मनोमय और प्राणरूप शरीरवाला ज्ञानस्वरूप है) इत्यादि। उनका प्रविलयार्थत्व न्याययुक्त नहीं है, क्योंकि (वह

उपासक व्रतु सकल्प, चिन्तन करे) इस प्रकार की प्रवृत्त उपासनाविधि के साथ उनको सम्बन्ध है । और इस प्रकार के मनोमयत्वादि गुणों को श्रुति की शक्तिवृत्ति से उपास-
नार्थकत्व के अवकल्पित, सिद्ध होते, लक्षणा द्वारा प्रविलयार्थकत्व नहीं सिद्ध हो सकता
है । और साकार निराकार श्रुति के विरोध होने ब्रह्म निराकार ही है, इसमें नियामक
क्या है, ऐसी शका होने पर, अम्यूलादि श्रुति का तात्पर्य नियामक है, इस अर्थ को
कहने के लिए 'अरूपवदेव' इत्यादि सूत्र है, और सत्र प्रपञ्चों के साधारण रूप से
विलयार्थक निराकार विषय के होने पर शका के अभाव से (अरूपवदेव) इत्यादि
नियामक कारण का कथन अनवसास (व्यर्थ) होगा । और यदि कहो कि निष्प्रपञ्च
वाक्य फलवाले है, इससे निष्फल सप्रपञ्च वाक्य उनके ही अंग हैं तो सो कहना
ठीक नहीं । इन सप्रपञ्च वाक्यजन्य उपासनाया का फल भी उपदेश के अनुसार कहीं
पाप का नाश, वही ऐश्वर्य की प्राप्ति, वही ब्रह्मभुक्ति ये अग्रतः (अनुभूत) होत ही हैं,
इससे उपासनावक्य और ब्रह्मवाक्यों की पृथगर्थता ही न्याययुक्त है । प्रविलयार्थता
रूप एकवाक्यता (एकार्थता) युक्त नहीं है । और इनकी एकवाक्यता वैसे उल्लेखित
(कल्पित, सिद्ध) होती है सो कहना चाहिए । यदि कहो कि अग रूप प्रयाज याग
और प्रधान स्वरूप दश-पूर्णमास के बोधक वाक्यों की एकवाक्यता जैसे एक प्रधाना-
पूर्वरूप नियोग (फल) से होता है । इसी प्रकार यहाँ भी एक प्रपञ्चविषयक एक
अपूर्व अनुमवादि रूप एक नियोग की प्रतीति से एकवाक्यता सिद्ध होती है (नियुज्यते
सम्बध्यतेऽनेनेति नियोग) जिससे सम्बन्ध हो उसको नियोग कहते हैं । फल पुरुष
की प्रेरणा करता है । या विधि प्रेरणा करती है । तत्र पुरुष किसी काम में फल के
श्रवण से विधि के अनुसार प्रवृत्त होता है । विधि को भी नियोग कहते हैं । दश-पूर्ण-
मास के समान ब्रह्मवाक्या में दशपूर्णमासादि के समान नियोग अपूर्व वा विधि के
अभाव से उसके समान एकवाक्यता नहीं हो सकती है । जिससे वस्तुमात्र में
ब्रह्मवाक्यों का पर्यवसान (तात्पर्य, अन्तिम स्थिति) है । इससे ब्रह्मवाक्य
नियोग (अपूर्वादिक) का उपदेश देने वाले नहीं हैं । यह अर्थ विस्तारपूर्वक (तत्तु
समन्वयात्) इस सूत्र में प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित) किया गया है । यहाँ किस
विषयक नियोग विधि अभिप्रेत है, सो विषय कहना चाहिए । जिससे करो इस प्रकार
नियुज्यमान (नियुक्त, प्रेरित) पुरुष अपने किसी व्यापार में नियुक्त किया जाता है ।
ब्रह्मवाक्य में व्यापार का अभाव है । यहाँ प्रपञ्च प्रविलयवादी कहता है कि द्वैत
प्रपञ्च का प्रविलय नियोग (विधि) का विषय होगा । जिससे द्वैतप्रपञ्च को प्रवि-
लापित (नष्ट) किये बिना ब्रह्म तत्त्व का अवबोध (अनुभव) नहीं होता है । अन
ब्रह्मतत्त्व के अवबोध का विरोधी प्रतिबन्धक रूप द्वैत प्रपञ्च का प्रविशय कर्तव्य
है । जैसे स्वर्ग की इच्छा वाला के प्रति अनुष्ठान के योग्य (कर्तव्य) याग का
उपदेश दिया जाता है । इसी प्रकार अपवर्ग की इच्छावाले मुमुक्षुओं के प्रति प्रपञ्च
प्रविशय का उपदेश दिया जाता है । जैसे अन्धकार में वर्तमान घटादि वस्तु को

समझने की इच्छा वालों से उस ज्ञान के विरोधी अन्धकार का प्रविलय किया जाता है । इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व को जानने की इच्छा वालों से उस ज्ञान के विरोधी प्रपञ्च का प्रविलय कर्तव्य है । यदि कहा जाय कि प्रपञ्च रूपता को ब्रह्म ने ही धारण किया है । इससे प्रपञ्च के प्रविलय से ब्रह्म का प्रविलय प्राप्त होगा । वहाँ कहा जाता है कि ब्रह्मस्वभाव वाला (ब्रह्म की सत्ता से सत्ता वाला) प्रपञ्च है । प्रपञ्चस्वभाव वाला ब्रह्म नहीं है स्वतः सत्य स्वरूप है । कार्य रूप कारण की सत्ता नहीं होती है, कारण रूप कार्य की सत्ता होती है, इससे कार्य के प्रविलय से कारण मात्र अवशेष रहेगा उसका प्रविलय नहीं होगा । जिससे नामरूपात्मक प्रपञ्च के प्रविलायन के द्वारा ब्रह्म तत्त्व का अवबोध (अनुभव) होता है । ऐसी शंका होने पर भाष्यकार कहते हैं कि हम यहाँ पूछते हैं कि यह प्रपञ्च का प्रविलय नाम कौन पदार्थ है । क्या अग्नि के प्रताप (तेज) के सम्बन्ध से घृत की कठिनता के प्रविलय के समान प्रपञ्च का प्रविलय कर्तव्य है । अथवा एक चन्द्र में तिमिररूप नेत्र के दोष से किये गये (भासित) अनेक चन्द्र प्रपञ्च के समान ब्रह्म में अविद्या कृत नामरूप का प्रपञ्च विद्या से प्रविलय करने योग्य है । वहाँ यदि देहादिरूप आध्यात्मिक और पृथिवी आदि रूप बाह्य विद्यमान यह प्रपञ्च प्रविलय करने योग्य है, यह कहा जाता है, तो वह विद्यमान सत्य प्रपञ्च पुरुष मात्र से प्रविलायन (नाशन) के लिए अशक्य है, इससे उस प्रपञ्च का प्रविलय विषयक उपदेश अशक्य विषयक ही होगा । और एक आदि मुक्त से पृथिवी आदि का प्रविलय किया जा चुका है । इससे इस समय पृथिवी आदि से शून्य जगत् को होना चाहिए; अर्थात् एक के मुक्त होते ही जगत् का अभाव हो गया होता यदि कहे कि एक ब्रह्म में अविद्या से अद्यस्त (कल्पित) यह प्रपञ्च विद्या से प्रविलीन किया जाता है । तब तो अविद्या से अद्यस्त प्रपञ्च का प्रत्याख्यान (निषेध) के द्वारा ब्रह्म ही आवेदन (उपदेश) के योग्य है कि (एक द्वैत रहित ब्रह्म है । वह सबका कारण परम सूक्ष्म सत् स्वरूप जो वस्तु है वह सत्य है । वह आत्मा है, वही तुम हो) उस ब्रह्म के आवेदित (उपदिष्ट) होने पर अधिकारी में विद्या स्वयं ही उत्पन्न होती है, प्रपञ्च विलय से नहीं उत्पन्न होती है, और उस विद्या से अविद्या बाधित होती है (मिथ्या निश्चित होती है निवृत्त होती है) तब कारण के अभाव से अविद्या से अद्यस्त सम्पूर्ण यह नामरूप का प्रपञ्च स्वप्नप्रपञ्च के समान प्रविलीन होता है । ब्रह्म के अनावेदित (अनुपदिष्ट) होते तो, ब्रह्मविज्ञान करो, और प्रपञ्च का प्रविलय करो इस प्रकार सी बार कहने पर भी, न ब्रह्मविज्ञान उत्पन्न होता है, न प्रपञ्च का प्रविलय उत्पन्न होता है । शंका होती है कि ब्रह्म के आवेदित (उपदिष्ट) होने पर ब्रह्मविज्ञान-विषयक वा प्रपञ्चविलयविषयक नियोग (विधि) होगा । वहाँ कहा जाता है कि ब्रह्मतत्त्व के आवेदन से ही विज्ञान और प्रविलय दोनों के सिद्ध होने से विधि की जरूरत नहीं है, उपदेश से सिद्ध फल के लिए विधि निरर्थक है । रज्जु के स्वरूप के प्रकाशन से ही उसके स्वरूप का विज्ञान, और अविद्या से अद्यस्त सर्पादि का प्रविलय होता है,

विधि से नहीं। किया हुआ सिद्ध कार्य ही फिर नहीं किया जाता है। नियोग का विषय नियोज्य (प्रवन्ध) के अभाव से भी यहाँ नियोग नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रपञ्चावस्था में जो जीव नाम वाला नियोज्य भी अवगत (ज्ञात) होता है, वह या तो प्रपञ्च पक्ष का (प्रपञ्च के अन्तर्गत) होगा, या तो ब्रह्म पक्ष का होगा। वहाँ प्रथम विकल्प में प्रपञ्च पक्ष के जीव के होने पर निष्प्रपञ्च ब्रह्मातत्त्व के प्रतिपान द्वारा पृथिवी आदि के समान जीव के प्रविलापित (वाधित) होने में किस को प्रपञ्च के प्रविलम्ब में नियोग कहा जायगा। वा नियोग में निष्कृता (स्म्यन्ता) में प्राप्त होने योग्य मोक्ष किसका कहा जायगा। दूसरे विकल्प में भी अनियोज्य स्वभाव वाला ब्रह्म ही जीव का स्वरूप है। उसमें जीवत्व अविद्यावृत्त ही है, इस प्रकार ब्रह्म के प्रतिपादित उपदिष्ट होने पर नियोज्य के अभाव से नियोग का अभाव ही सिद्ध होता है। यदि कहो कि (आत्मा द्रष्टव्य) इत्यादि विधि वाक्या की क्या गति होगी कि यदि नियोग का अभाव है, तो कहा जाता है कि पर्यायवाचकप्रकरण में पठित द्रष्टव्यादि शब्द भी, तत्त्व के अभिमुखकरणप्रधान वाले हैं, अर्थात् तत्त्व के अभिमुख करने में उनका तात्पर्य है, तत्त्व के अभिमुख को तत्त्व के अभिमुख करना ही जिनका प्रधान कार्य है, ऐसे वे शब्द हैं तत्त्वबोध का विधानरूप प्रधान (तात्पर्य) वाले नहीं हैं, लोक में भी इसको दबो, इसको सुनो, इस प्रकार के निर्देशों (विधियाँ, आज्ञायाँ) में प्रधान (चित्त साधन) मात्र करो यह कहा जाता है। साधारण ज्ञान ही करो, ऐसा नहीं कहा जाता है। ज्ञेय के अभिमुख को भी वही ज्ञान होता है, वही नहीं होता है, इसमें उस ज्ञेयाभिमुख के प्रति, अर्थात् साधन ज्ञानागु के प्रति उसे समझने की इच्छावाटे गुण द्वारा ज्ञान का विषय ही उपदेश से दर्शाने भाग्य होता है और उस ज्ञान के विषय के दर्शित (उपदिष्ट) आदि होने पर विषय और प्रमाण के अनुसार ज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है। प्रमाणान्तर से अन्यथा (अयत्न्य में) प्रसिद्ध अर्थ विषयक नियुक्त को भी अन्यथा ज्ञान (प्रसिद्धि से विपरीत ज्ञान) नहीं उत्पन्न होता है और स्त्री आदि को अग्नि में भिन्न समझने हुए भी उपासक यदि समझता है कि मैं इन्हें अग्नि रूप से चिन्तन के लिए शास्त्रादि से नियुक्त (आज्ञप्त) हूँ, और ऐसा समय कर अन्यथा ज्ञान (अग्नि ज्ञान) करता है। शालग्राम में चतुर्भुजादि ज्ञान करता है, तो वस्तुतः वह ज्ञान नहीं है, किन्तु आज्ञाजन्य वह मानसी क्रिया है। नियोग के चिन्ता स्वयं यदि, अन्यथा ज्ञान उत्पन्न हो तो वह भ्रांति ही होगी। ज्ञान तो प्रमाणजन्य और जैसा विषय रहता है वैसा ही होता है। प्रमाण और विषय के प्रमाण सैकड़ों नियोगों से ज्ञान कराया नहीं जा सकता है। प्रमाण तथा विषय के उपस्थित रहने सैकड़ों निषेधों से ज्ञान का वारण नहीं किया जा सकता है, जिससे वह ज्ञान पुष्प के अधीन नहीं है, किन्तु वस्तु के अधीन ही वह ज्ञान है, इससे भी नियोग का अभाव है। दूसरी बात है कि नियोग (विधि) निष्कृता रूप से ही आम्नाय (वेदान्त) के पर्यवसन्न (निश्चित) होने पर, अदियोज्य ब्रह्मान्मता जो जीव को माना गया है, वह प्रमाणरहित हो होगा।

यदि शास्त्र ही जीव की अनियोज्य ब्रह्मात्मता को भी कहे, और उसके ज्ञान में पुरुष को नियुक्त भी करे, तो एक ही ब्रह्मविषयक शास्त्र को दो अर्थ की प्रतिपादकता और विरुद्धार्थ प्रतिपादकता प्राप्त होगी। वेदान्त की नियोगपरता (नियोग में तात्पर्य) को मानने पर श्रुत ब्रह्मार्थ की हानि (त्याग) होगी और अश्रुत विधि की कल्पना होगी। विधि की कल्पना होने पर, कर्मफल के समान मोक्षरूप फल को भी अदृष्ट (धर्म) जन्यत्व और अनित्यादि रूप दोष किसी से निवारण नहीं किये जा सकेंगे। इससे ज्ञान में निष्ठा (स्थिति) वाले ही ब्रह्म वाक्य हैं, नियोगनिष्ठ नहीं हैं, यह सिद्ध होता है। इससे एक नियोग की प्रतीति से साकार निराकार वाक्यों की एकवाक्यता है यह कथन अयुक्त है। ब्रह्मबोधक वाक्यों में नियोग की सत्ता को मानने पर भी, निष्प्रपञ्च ब्रह्म के उपदेशों और सप्रपञ्च ब्रह्म के उपदेशों में उस नियोग का एकत्व असिद्ध है, क्योंकि यजति, ददाति, इत्यादि शब्दभेद, प्रकरणभेदादि रूप प्रमाणों से नियोग के भेद के अवगत होते, सर्वत्र एक नियोग है, ऐसा आश्रयण स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यहाँ वेद, उपासीत, इत्यादि शब्दभेद प्रकरणभेदादि हैं और प्रयाज-दर्शपूर्णमास वाक्यों में तो अधिकारांश द्वारा अभेद होने से, अर्थात् अङ्गयुक्त प्रधानयान में एक स्वर्गेच्छु का अधिकार होने से, साङ्गयज से साध्य फलार्थक अपूर्व (अदृष्ट) के एक होने से वह नियोग की एकता युक्त है। यहाँ सगुण-निर्गुण विधियों में कोई अधिकारांश एकत्व को सिद्ध करनेवाला नहीं है, अर्थात् एकत्व को नियोग में सिद्ध करने वाला फलादि वा अधिकारी का कोई विशेषण नहीं है। मुमुक्षु और अम्युदयेच्छु अधिकारी के भेद से निर्गुण-सगुण विद्याओं में अङ्गाङ्गिभाव नहीं है, इससे नियोग की एकता नहीं है। अङ्गाङ्गिभाव नहीं होने से ही उपकार्य-उपकारक भाव नहीं है। रूपत्वादि गुण प्रपञ्च प्रविलय के उपकारक नहीं हैं, न प्रपञ्च प्रविलय ही भारूपत्वादि गुणों का उपकारक है, क्योंकि इन्हें परस्पर विरोधित्व है। जिससे एकधर्मी (ब्रह्म) में सम्पूर्ण प्रपञ्च का प्रविलापन और भारूपत्व सत्यकामत्व मनोमयत्वादि रूप प्रपञ्च के एकदेश का अपेक्षण (स्थापन) का समावेश करना युक्त नहीं हो सकता है, इससे भाष्यकार कहते हैं कि हम से कहा गया हुआ ही साकार-निराकार उपदेशों का विभाग युक्ततर है (अत्यन्त युक्त है) ॥ २१ ॥

प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण (६)

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा नहि । द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्येते उभे अपि ॥
वोप्सेयमितिशब्दोक्ता सर्वदृश्यनिषिद्धये । अनिदं सत्यसत्यं च ब्रह्मैकं शिष्यतेऽवधिः ॥

‘नेति-नेति’ यह श्रुति, पूर्व में प्रधानरूप से प्रकृत ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त स्वरूप मात्र एतावत्त्व (परिच्छिन्नत्व) का प्रतिषेध करती है, ब्रह्म मूर्तामूर्त के विशेषण होने से अप्रधान है, उसको निषेध के साथ सम्बन्ध नहीं है। यह कैसे समझा जाता है, तो जिससे उस निषेध के अनन्तर फिर ब्रह्म का ही कथन उपदेश श्रुति करती है।

यहाँ मशय होता है कि पूर्वनिर्दिष्ट सब वस्तु की इति शब्द से उपस्थिति द्वारा ब्रह्म भी नेति नेति शब्द से निषिद्ध होता है अथवा ब्रह्म नहीं निषिद्ध होता है । पूर्वपक्ष है कि द्विवार के कथन द्वारा शून्यवाद के अभिप्राय से ब्रह्म और मूर्तामूर्तान्मिक जगत् दोनों का निषेध किया जाता है । मिद्धान्त है कि इति शब्द इदन्ता विषयम्प से जैसे वस्तु का बोधक है, इससे मूर्तामूर्त से उपलक्षित अनान्ममात्र सब दृश्य का निषेध के लिये यह इति शब्द से कही गई बोधा इच्छा विषय व्याप्ति है । इस व्याप्ति से युक्त न शब्द सभी इद का ही निषेध करता है, इससे सत्य का सत्य अनिदम्प एकब्रह्म निषेध का अबधिम्प से शेष रहता है उसका निषेध नहीं हो सकता है ॥ १-२ ॥

प्रकृततावत्त्वे हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

‘द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च’ मर्त्यं चामर्त्यं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च (वृ० २।३।१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराद्येन पविमज्ज्या-मूर्तरमस्य च पुरुषगव्दोदितस्य माह्वारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा पुन पठ्यते—‘अथान आदेशो नेति नेति नह्येनस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति’ (वृ० २।३।६) इति । तत्र कोऽप्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे । नह्यनद तदिति विरोधित किञ्चित्प्रतिषेध्यमुपलभ्यते । इतिशब्देन त्वन प्रतिषेध्य किमपि समर्थ्यते नेति नेतीतिपरस्त्वान्नञ्प्रयोगस्य इतिशब्दश्चाय सनिहितालम्बन एवशब्दममानवृत्ति प्रयुज्यमानो दृश्यते ‘इति ह स्मोपाध्याय कथयति’ इत्येवमादिषु । सनिहितं चान प्रकरणमामर्त्याद्रूपद्वय सप्रपञ्च ब्रह्मण, तच्च ब्रह्म यस्य ते द्वे रूपे, तत्र न मशय उपजायते—किमय प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभय-मपि प्रतिषेधत्याहोस्विदेकनरम् । यदाप्येकनर तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति रूपे परिशिनष्ट्याहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति ब्रह्म परिशिनष्टीति । तत्र प्रकृतत्वाविशेषा-दुभयमपि प्रतिषेधनीत्याशङ्कामहे । द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ द्विनेतिशब्दप्रयोगात् । तयोरेकेन सप्रपञ्च ब्रह्मणो रूप प्रतिषिध्यतेऽपरेण रूपवद्ब्रह्मेति भवति मति । अथवा ब्रह्मैव रूपवत्प्रतिषिध्यते तद्धि बाङ्मनसातीतत्वादसभाव्यमानसद्भाव प्रतिषेधार्हम्, नतु रूपप्रपञ्च प्रत्यक्षादिगोचरत्वान्प्रतिषेधार्ह । अभ्यामस्त्वा-दरार्थ इति ।

ब्रह्म के दो ही रूप हैं, एक मूर्त ही है, जो नेत्र, जग, भूमिम्प है और एक अमूर्त ही है जो वायु, आकाशरूप है यहाँ मूर्त ही मर्त्य (मरणशील), स्थित (पगिच्छित) और सत् (विशेष प्रत्यक्ष धर्म वाला) है । अमूर्त ही अमर्त्य, यत् और त्यत् है । इस प्रकार उपक्रम काके पाँच महाभूतों का उक्त गीति से दो गति (पुञ्ज) रूप से विनाश काके और अमूर्त का रस (सार) रूप पुरुष शब्द से कथित द्विरप्यगर्भ सूक्ष्म गरीर के महाजन (हृद्दी में रेंगा हुआ वस्त्र) आदि तुल्य विचित्र रूपों को दर्शा कर फिर

पढ़ा जाता है कि (मूर्तामूर्त के निर्देश के अनन्तर जिससे अवशिष्ट उपदेश योग्य मूर्तामूर्त रहित ब्रह्म ही है, इससे अब नेति-नेति यह ब्रह्म का आदेश (उपदेश) है, नेति-नेति इससे अन्य पर (उत्तम) निर्देशन (उपदेश) नहीं है । यहाँ जिज्ञासा करते हैं, जानना चाहते हैं कि इस निषेध का विषय क्या है, जिससे यहाँ प्रतिषेध के योग्य विशेष रूप निर्दिष्ट नहीं उपलब्ध होता है कि वह निषेधाहं यह है । इति शब्द से तो यहाँ कोई प्रतिषेध योग्य सामान्य रूप में समर्पित (प्राप्त) होता है, जिससे नेति-नेति यहाँ इति शब्द जिससे परे है ऐसा नब् (न) शब्द का प्रयोग है, इससे सामान्य अर्थ समर्पित होता है । सामान्य अर्थ को कहने वाला भी यह इति शब्द एव शब्द के समान वृत्ति (गति) वाला होने से सन्निहित आलम्बन (विषय) में ही प्रयुज्यमान प्रयुक्त उच्चारित देखा जाता है, जैसा कि (यह उपाध्याय ने कहा) इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त होता है । यहाँ प्रकरण के सामर्थ्य से ब्रह्म के सप्रपञ्च (विस्तारयुक्त) दो रूप सन्निहित (प्राप्त में) हैं । ब्रह्म वह है जिसके दो रूप हैं । यहाँ हमें संशय होता है कि क्या यह प्रतिषेध दोनों रूप और रूप वाला दोनों का प्रतिषेध करता है, अथवा दोनों में से एक का प्रतिषेध करता है, और जब एक का प्रतिषेध करता है, तब भी क्या ब्रह्म का प्रतिषेध करता है, और दो रूपों को परिशेष रखता है, अथवा दोनों रूपों का प्रतिषेध करता है, और ब्रह्म को परिशेष रखता है । यहाँ प्रकृतत्वं के अविशेष (तुल्य) होने से रूप और ब्रह्म दोनों का ही प्रतिषेध करता है इस प्रकार पूर्वपक्षीरूप से आगच्छा कर सकते हैं । दो वाग नेति शब्द के प्रयोग में ये दो प्रतिषेध हैं । उन दोनों में से एक नेति के द्वारा सप्रपञ्च ब्रह्म का रूप प्रतिषिद्ध होता है और दूसरे द्वारा रूप वाला ब्रह्म प्रतिषिद्ध होता है, ऐसी मति (प्रतीति) होती है । अथवा रूप वाले ब्रह्म का ही प्रतिषेध किया जाता है, मन, वाणी का अविषय होने से असम्भावित सत्ता वाला वह ब्रह्म प्रतिषेध के योग्य है और प्रत्यक्षादि का विषय होने से रूप प्रपञ्च प्रतिषेध के योग्य नहीं है । नेति का अभ्यास तो आदर के लिए है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात् । किञ्चिद्विपरमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः । तच्च परिशिष्यमाणे कस्मिंश्चिद्भावेऽत्रकल्प्यते । कृत्स्नप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत । अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन्य इतरः प्रतिषेधुमारभ्यते प्रतिषेधुमगम्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तः प्रतिषेधानुपपत्तिः । नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (वृ० २।१।१) इत्याद्युपक्रमविरोधात् । 'असन्नेव स भवति, अमद्ब्रह्मेति वेद चेत्' (तैत्ति० २।६।१) इत्यादिनिन्दाविरोधात्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ० ६।१।३) इत्यवधारणविरोधान्, सर्वत्रेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च । वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते, नहि महता परिकरवन्धेन 'ब्रह्मविदोऽप्येति परम्' (तै० २।६।१)

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ (तै० २।१।१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्यं तस्यैव पुनरभावोऽभिलष्येत । ‘प्रक्षालनाद्वि पङ्कन्य दूरादस्पर्शनं वरम्’ इति हि न्यायः ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि शून्यवाद की प्राप्ति से दोनों का निषेध तो उपपन्न नहीं हो सकता है । किसी परमार्थ (सत्य) का अवलम्ब लेकर असत्य का प्रतिषेध किया जाता है । जैसे कि रज्जु आदि में सर्पादि का प्रतिषेध किया जाता है । वह परमार्थ का अवलम्बन और प्रतिषेधन किसी भाव वस्तु के परिशेष रहने ही सिद्ध होता है । सब का प्रतिषेध करने पर तो अन्य भाव कौन परिशेष रहगा कि जिसने अवलम्बन से प्रतिषेध होगा । निरधिष्ठान प्रतिषेध का असम्भव है, अधिष्ठान की प्रमा से ही कल्पित की निवृत्ति के लिए उपदेश होता है । अन्य भाव के परिशेष रहने पर, जिन इतर पदार्थ का प्रतिषेध आरम्भ किया जाता है, अधिष्ठान प्रमा के विना उमी का प्रतिषेध के असम्भव होने से उमी को परमार्थत्व (सत्यत्व) की प्राप्ति से प्रतिषेध की अनुपपत्ति होगी । ब्रह्म का प्रतिषेध भी उपपन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म के निषेध पक्ष में (तारे लिए ब्रह्म कहेंगे) इत्यादि उपक्रम से विरोध होगा । (ब्रह्म असः है ऐसा जो जानता है वह स्वयं असत् होता है) इत्यादि निन्दा विरोध से, और (ब्रह्म है, आत्मा है, ऐसा ही समझना चाहिए) इस अवधारण के विरोध में, और सब वेदान्त का वाधविरोध की प्राप्ति से ब्रह्म का निषेध नहीं हो सकता है । ब्रह्म के वाक् और मन का अविषयत्व भी ब्रह्म के अभाव के अभिप्राय से नहीं कहा जाता है, जिससे (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होता है । सत्य ज्ञान अनन्त स्वप्न ब्रह्म) इत्यादि महात्मा परिकर (प्रयत्न) के प्रबन्ध द्वारा वेदान्तों में ब्रह्म का प्रतिपादन करके फिर उसी का अभाव नहीं कहा जा सकता है । लौकिक न्याय है कि (पङ्क देह में लगा कर उसे धोने की अपेक्षा दूर स्थिति से उसका स्पर्श नहीं करना श्रेष्ठ है) ।

प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेन ‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ (तै० २।४।१) इति । एतदुक्तं भवति—वाङ्मनसातीतमविषयान्तपातिप्रत्यगात्मभूतं निन्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति । तस्माद्ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधनि पश्चिनिष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम् । तदेतदुच्यते प्रकृततावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति । प्रकृतं यदेतावदियत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेव शब्दं प्रतिषेधति । तद्वि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन्नन्येऽविदेवनमध्यात्मं च, तज्जनितमेव च वामनालक्षणमपरं रूपममूर्तरमभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं माह्वरजनाद्युपमाभिर्देशितम् । अमूर्तरस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेः । तदेतत्प्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं मनिरिन्तालम्बनेनेनिकरणेन प्रतिषेधकनञ्च प्रत्युपनीयत इति गम्यते । ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन पृथग्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन्नन्ये न स्वप्रधानत्वेन । प्रपञ्चितं च

तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम् 'अथात आदेशो नेति नेति' (वृ० २।३।६) इति । तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपवेदनमिदमिति निर्णीयते ।

(मन सहित वाक् जिस में नहीं पहुँच कर लौटता है) यह तो ब्रह्म को प्रतिपादन करने की प्रक्रिया (प्रकार) है । इससे यह उक्त (वर्णित) होता है कि ब्रह्म मन वाक् का अविषय है, अत एव विषयों के अन्तःपाती (मध्यवर्ती) नहीं है, इससे सबका प्रत्यगात्मा (अन्तर्गत्मा) स्वरूप और नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाव है । अर्थात् अन्तरात्मा होते भी कर्ता-भोक्ता आदि स्वरूप नहीं किन्तु साक्षिनात्र ब्रह्म है । इसी से नेति-नेति यह श्रुति ब्रह्म के मायामय रूप प्रपञ्च का प्रतिषेध करती है और ब्रह्म को परिशेष रखती है । ऐसा अभ्युपगम (स्वीकार, अनुभव) करना चाहिए । इससे यह कहा जाता है कि (प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति) इति । प्रकृत (प्रकरण मे प्राप्त) जो एतावत् इयत्ता से परिच्छिन्न (परिमित) मूर्त और अमूर्त स्वरूप ब्रह्म का रूप है उसका नेति-नेति यह शब्द प्रतिषेध करता है, जिससे वही अधिदैवत और अव्यात्म ब्रह्म का रूप पूर्वग्रन्थ में प्रकृत है—प्रपञ्चित (विस्तार से वर्णित) है । उसी से उत्पन्न हुआ ही वामना स्वरूप ब्रह्म का अन्य रूप है । जो अमूर्त का रस स्वरूप, पुरुष शब्द से वर्णित, लिङ्गात्मा (हिरण्यगर्भ) आश्रित, और महारजनादि उपमाओं के द्वारा दर्शित है । जिससे अमूर्त के रस (सार) रूप पुरुष को चक्षु से ग्रहण योग्य रूप के योगित्व (सवन्धित्व) की अनुपपत्ति है । इससे वह वासनामय रूपों से उपमित होता है । प्रसिद्ध रूप वाला नहीं होता है । इससे यह विस्तारयुक्त ब्रह्म का रूप सन्निहित विषयक इति शब्दरूप करण (साधन) के द्वारा प्रतिषेधक नन् (न) शब्द के प्रति प्रतियोगी (निषेध्य) रूप से उपनीत (प्राप्त, समर्पित) किया जाता है । ऐसी प्रतीति होती है । यद्यपि ब्रह्म अर्थ स्वरूप से प्रधान है, उसका सम्बन्ध होना चाहिये, तथापि शब्दार्थ रूप से, रूप के विशेषण रूप से पण्ठी विभक्ति द्वारा पूर्वग्रन्थ में ब्रह्म निर्दिष्ट है, स्वयं प्रधानरूप से नहीं निर्दिष्ट है, इससे ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं हो सकता है । उस ब्रह्म के मूर्तामूर्त दो रूप के प्रपञ्चित (सविस्तर निरूपित) होने पर, उससे रूप वाले ब्रह्म की जिज्ञासा (ज्ञानेच्छा) होने पर, यह उपक्रान्त (आरब्ध) हुआ है कि (रूप के निर्देश के अनन्तर नेति-नेति यह उपदेश है) यहाँ कल्पित रूपों के प्रत्याख्यान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का यह आवेदन (उपदेश) है, ऐसा निर्णय होता है ।

तदास्पद हीदं समस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम् । युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽस्तत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं नतु ब्रह्मणः, सर्वकल्पनामूलत्वात् । न चात्रैयमाशङ्का कर्तव्या—कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—'प्रक्षालनाद्वि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति, यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन

ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कथितं परामु-
च्यति प्रतिषेधश्चायम् शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवयवम् । द्वौ चेनौ
प्रतिषेधौ यथामन्वयन्यायेन द्वे अपि भूतांभूते प्रतिषेधतः । यद्वा पूर्वं प्रति-
षेधो भूतराजि प्रतिषेधत्युत्तरो वामनाराजिम् प्रतिषेधति । अथवा 'नेति नेति'
(वृ० २।३।६) इति वीक्ष्यमितीति यावत्किञ्चिदुत्प्रेक्ष्यते तन्मूलं न भवतीत्यर्थः ।

ब्रह्म जिम वा आत्मद (प्रतिष्ठा, आश्रय) = ऐसा यह सम्पूर्ण कार्यं नेति-नेति
इसमें प्रतिषिद्ध होता है । कार्यं वा (वाचाग्म्येण विभागो नामप्रेषम्) इत्यादि
वाचाग्म्येण श्रुति आदि में अस्तित्व (मिथ्यात्व) है, इसमें नेति-नेति इसमें उस शक्ति
का प्रतिषेधन युक्त है । सब कल्पना के मूल सर्वाधिष्ठान होने से ब्रह्म का निषेध युक्त
नहीं है । यहा यह भी जायका नहीं करने योग्य है कि, ब्रह्म के दो रूपा का स्वयं ही
दर्शा कर फिर शास्त्र स्वयं ही प्रतिषेध बंसे करता है (एक लगा कर दोनों को
अपेक्षा दूर स्थिति से एक का स्पर्श नहीं करना श्रेष्ठ है) अर्थात् जिसका निषेध करना
हो उसका निषेध ही नहीं करना श्रेष्ठ है । जिसमें यह शास्त्र ब्रह्म के दो रूपा का
प्रतिपादन योग्य रूप से निर्देश नहीं करता है, किन्तु लोक में प्रसिद्ध ब्रह्म में कल्पित
इन दोनों रूपों की प्रतिषेध्यता और शुद्ध ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन के लिए रूपों का
निर्देश शास्त्र करता है, अर्थात् रूपों के प्रतिषेध द्वारा शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान के लिए रूप
का निर्देश है, इसमें निर्दोष है । नेति-नेति ये दो प्रतिषेध हैं, यह (यथासम्बन्धमनुदेशं नमाना-
नाम्) उद्देश्य विषेय अर्थ के सप्त सम्बन्ध होने पर क्रम के अनुसार सम्बन्ध जाना है ।
इस यथासम्बन्ध न्याय से भूतं और अमूर्त दोनों ही का प्रतिषेध करते हैं । अथवा पूर्व
प्रतिषेध भूतसमूह का प्रतिषेध करता है, उत्तर प्रतिषेध वासनाबुद्ध का प्रतिषेध करना
है । अथवा नेति-नेति यह वीक्षा (व्याप्तिप्राधन्य) है । इसमें जो कुछ अनात्म वस्तु
उत्प्रेक्षित (कथित) होती है, वह ब्रह्म नहीं है यह अर्थ है ।

परिगणितप्रतिषेधे हि त्रिरुपाणि विमन्यद्ब्रह्म भवे-
दिति जिज्ञासा स्यात्, वीक्ष्याया तु सत्या समन्वय विषयज्ञानस्य प्रतिषे-
धादविषय प्रत्यगात्मा ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते । तस्मान्प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि
कल्पितं प्रतिषेधति परिगणितं ब्रह्मेति निर्णयः । इतश्चैव एव निर्णयः । यत्त-
न्मतं प्रतिषेधाद् भूयो ब्रवीति 'अन्यत्परमस्मिन्' (वृ० २।३।६) इति । अमा-
वाचनाने हि प्रतिषेधे त्रिरुपाणि विमन्यन्तरमस्तीति ब्रूयात् । तत्रैषां त्रयो-
जना—नेति नेतीति ब्रह्मादिव्य तमेवादेशं पुनर्निवर्तति, नेति नेतीत्यस्य कोट्यं,
नह्येनमाद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यनो नेति नेतीत्युच्यते न पुनः स्वयमेव
नास्तीत्यर्थः । नन्वेव दर्शयति 'अन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्तीति' । यदा पुनः
रेवमज्ञागमि योग्यत्वे नह्येनमादिति नेति नेति, नहि प्रपञ्चप्रतिषेधरूपादाद-
नादादन्वयमादेनान् ब्रह्मणोऽस्तीति । नदा ततो ब्रवीति च भूय इत्येवमात्म-

धेयविषयं योजयितव्यम् । अथ नामधेयम्—‘सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम् इति हि ब्रवीति’ (वृ० २।१।२०) इति । तच्च ब्रह्मा वसाने प्रतिपेधे समञ्जसं भवति, अभाववसाने तु प्रतिपेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत । तस्माद् ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिपेधो नाभाववसान इत्यव्यव-
स्यामः ॥ २२ ॥

जिससे परिगणित का प्रतिपेध करने पर, यदि यह प्रतिपिद्ध मूर्त-अमूर्त ब्रह्म नहीं है, तो कोई अन्य ब्रह्म होगा, ऐसी जिज्ञासा हो सकती है । वीप्सा के होने पर तो समस्त विषय समूह का प्रतिपेध होने से अविषयरूप अन्तरात्मा ब्रह्म है ऐसा निश्चय होने से जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है । इससे ब्रह्म में कल्पित प्रपञ्च का ही श्रुति प्रतिपेध करती है । ब्रह्म को परिशेष सिद्ध करती है यह निर्णय है । इससे भी यही निर्णय है कि जिससे उस प्रतिपेध के बाद फिर श्रुति कहती है कि (अन्य परब्रह्म है) अभावरूप अवसान (समाप्ति) वाला निषेध के करने पर अन्य पर है इस प्रकार किस को कहेगी । यहाँ इस प्रकार अक्षर (पद) की योजना (अन्वय) है कि नेति-नेति इस प्रकार ब्रह्म का आदेश (निर्वचन) करके, उसी आदेश का फिर निर्वचन करती है कि, नेति-नेति इसका क्या अर्थ है कि इस ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, इससे नेति-नेति ब्रह्म कहा जाता है और स्वयं ब्रह्म ही नहीं है, ऐसा अर्थ नहीं है । वही दर्शाती है कि (मूर्तामूर्तादि से अन्य अप्रतिपिद्ध परब्रह्म है) जब इस प्रकार अक्षर योजित (अन्वित) होते हैं कि (न हि एतस्मात् नेति नेति) प्रपञ्च का निषेधरूप ब्रह्म का आदेशन (उपदेश) से अन्य परमादेशन ब्रह्म का नहीं है । तब (ततो ब्रवीति च भूयः) इस सूत्रभाग की नामधेय विषयक योजना कर्त्तनी चाहिये (अनन्तर में उस ब्रह्म का नामधेय-नाम-सत्य का सत्य वह है जिससे प्राण सत्य है; उनका भी सत्य स्वरूप ब्रह्म है, इससे ब्रह्म का, सत्य का, सत्य नाम है इस प्रकार श्रुति कहती है । वह कथन ब्रह्मावसान वाला प्रतिपेध के होने पर युक्त होगा । अभाव-वसान वाला प्रतिपेध के होने पर तो सत्य का सत्य इससे क्या कहा जायगा इससे ब्रह्मा-वसान यह प्रतिपेध है, अभाववसान नहीं है । ऐसा निश्चय करते हैं ॥ २२ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

यत्प्रतिपिद्धात्प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत्कस्मान्न गृह्यत इति । उच्यते—तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात्, आह ह्येवं श्रुतिः—‘न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यर्देवैस्तपसा कर्मणा वा’ (मुण्ड० ३।१।८) ‘स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते’ (वृ० ३।१।२६) ‘यत्तददेश्यमग्राह्यम्’ (मुण्ड० १।१।६) ‘यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तऽनिलयने’ (तै० २।७।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—‘अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमच्युते’ (भ० गी० २।२५) इत्याद्या ॥ २३ ॥

सका होती है प्रतिपिद्ध प्रपञ्च से अन्य जो पर ब्रह्म है, वह यदि वर्तमान है, तो तब सबसे गृहीत ज्ञात क्यों नहीं होता है। उत्तर कहा जाता है कि सर्वदृश्य के साक्षिन्व से वह अव्यक्त (रूपादि रहित) है, अत एव इन्द्रियो से ग्रहण के योग्य नहीं है। जिससे इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (ब्रह्मात्मा तत्त्व से गृहीत, ज्ञात नहीं होता है, न वाक् से गृहीत (कथित) होता है, न अन्य देव इन्द्रिया से गृहीत होता है, न तप वा कर्म से गृहीत होता है)। अत यह आत्मा नेति-नेति निर्दिष्ट है, इन्द्रिया से ग्रहण के अयोग्य है, इससे इन्द्रियो से गृहीत नहीं होता है। जो ज्ञान इन्द्रिया से जहृश्य और कर्मेन्द्रियो से अप्राप्त है वह ब्रह्म है। जब यह साधक अदृश्य, अक्षरी, अवाच्य, निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति का लाभ करता है, तब वह अभय को प्राप्त होता है। इत्यादि श्रुति है। (यह आत्मा अव्यक्त-इन्द्रियो का अविषय-अचिन्त्य-अनुमान का अविषय और विकार के अयोग्य निरवयव असंग कहा जाता है) इत्यादि स्मृति भी कहती है ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपि चैतमात्मानं निरस्तममन्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः ।
संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् । कथं पुनरवगम्यते संराधनवाग्ने
पश्यन्तीति । प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथाहि श्रुति —

‘पराञ्चिन् नानि व्यतृणत्स्वयभृन्तस्मान्पराङ्पश्यन्ति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्धीरं प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्’ ॥ (क० ४११) इति ।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धमह्यस्तनस्तु तं पश्यने निष्कलं ध्यायमानं (मु० ३।१।८) इति चैवमाद्याः । स्मृतिरपि—

यं विनिद्रा जितधासां सनुष्ठा मयतेन्द्रियाः ।

ज्योतिं पश्यन्ति मुञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ इति चैवमाद्याः ॥ २४ ॥

इन्द्रियादि से अप्राप्त भी निरस्त समस्त प्रपञ्च वाले अव्यक्त इस आत्मा का योगी लोग संराधन काल में दर्शन करते हैं। भक्ति, ध्यान और प्रणिधान (समाधि) आदि संराधन (सम्यग्-संराधन) कहा जाता है। भक्ति और ध्यान से प्रत्यगात्मा के पूर्णरीति से चित्त में निधान (स्थापन) को प्रणिधान कहते हैं वह समाधि रूप है। भक्ति और ध्यान से प्रणिधान होता है। सका होती है कि योगी लोग संराधन काल में दर्शन करते हैं, यह वैसे समझा जाता है। उत्तर है कि प्रयत्न और अनुमान से, अर्थात् श्रुति और स्मृति से समझा जाता है, मूलतः प्रत्यक्ष अनुमान तत्त्व का श्रुति स्मृति अर्थ है। वैसे ही श्रुति है कि (जिससे इन्द्रियो बाह्य विषयो में ही गमन करती हैं, इससे परमात्मा ने उनका हनन किया है। इसीसे जीव बाह्य विषय को देवता है अन्तरात्मा को नहीं देवता है, कोई धीर विवेकी असृजतत्व की दृष्टि

करता हुआ इन्द्रियो का निरोधयुक्त होकर प्रत्यगात्मा को देखता है । कर्मादि से विशुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञान की स्वच्छतापूर्वक उस निरवयव का ध्यान करता हुआ उसका दर्शन करता है) । इत्यादि श्रुति का कथन है और (निद्रा प्रमादरहित, श्वास को जीतने वाले, सन्तुष्ट, सयतइन्द्रिय वाले युंजान-ध्यानशील योगी जिस ज्योतिस्वरूप आत्मा को देखते हैं । उस योग से लामयोग्य आत्म के प्रति हृन्मस्कार है ! सनातन उस भगवान् को योगी प्रत्यक्ष देखते हैं) इत्यादि स्मृति भी है ॥ २४ ॥

ननु संराध्यसंराधकभावाद्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति, नेत्युच्यते—

प्रकाशादिवच्चाद्वैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते, नच स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वतस्त्वैकात्म्यमेव । तथाहि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ॥ २५ ॥

जैसे प्रकाश, आकाश, सूर्य आदि, अङ्गुलि, कमण्डलु, जल आदि उपाधिस्वरूप कर्मों में सविशेष (मित्र) के समान अवभासते प्रतीत होते हैं, परन्तु अपनी स्वामाविक अविशेषात्मता (अमित्रता) को नहीं त्यागते हैं । इसी प्रकार प्रकाश (चिदात्मा) भी ध्यानादि के कर्मरूप उपाधि में मित्र के समान भासता है, इससे उपाधिनिमित्तक ही यह आत्मा का भेद है । स्वतः तो इस आत्म को एकात्मता रूप अविशेषता ही है । जिससे इसी प्रकार वेदान्तों में, तत्त्वमसि, इत्यादि के अभ्यास द्वारा बार-बार जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया जाता है । वह अभेद भी पूर्वोक्त संराधन कर्म विषयक अभ्यास श्रवण-मननपूर्वक निदिध्यासन के द्वारा शुद्ध प्रकाश ज्ञानरूप से समझा जाता है । इससे अव्यक्त के ज्ञान के लिये संराधन का अभ्यास कर्तव्य है, इत्यादि ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

अतश्च स्वाभाविकत्वादभेदस्याविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीवः परेणानन्तेन प्राज्ञेनात्मनैकतां गच्छति । तथाहि लिङ्गम्—‘स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ (मु० ३।२।९) ‘ब्रह्मैव सन्नब्रह्माप्येति’ (वृ० ४।४।६) इत्यादि ॥ २६ ॥

इस अभेद की स्वाभाविकता से तथा भेद के अविद्यादि कृत औपाधिक होने से विद्या से अविद्या को नष्ट करने पर अनन्त प्रज्ञात्मा के साथ एकता को प्राप्त करता है तथा इस अभ्यास से एकता का अनुभव करता है । ऐसा ही लिङ्ग (हेतु-प्रमाण) है कि (अतः जो कोई परब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही होता है । ज्ञानी

जीवनकाल में ही ब्रह्मस्वरूप होना हुआ फिर विदेहकाल में ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त करता है) इत्यादि ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेव सराध्यमराधकभावे मनान्तरमुपन्यस्यति स्वमनविशुद्धये । यच्चिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदो व्यपदिश्यते 'ततस्तु न पश्यते निष्कल ध्यायमान' (मुण्ड० ३।१।८) इति ध्यातृध्यानव्यवत्वेन द्रष्टृद्रष्टव्यवत्वेन च, 'परात्पर पुण्यमुपैति दिव्यम्' (मु० ३।२।८) इति गन्तृगन्तव्यवत्वेन, 'य सर्वाणि भूतान्यन्नरो यमयति' इति नियन्तृनियन्तव्यवत्वेन च । क्वचित्तु तयोरेवाभेदो व्यपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।८।१०) 'एष न आत्मा सर्वान्तर' (बृ० ३।४।१) 'एष न आत्मान्तर्याम्यमृत' (बृ० ३।७।३) इति । तत्रैवमुभयव्यपदेश मति यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्यते भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्, अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्व भवितुमर्हति, यथाहिग्नित्वभेद कुण्डलाभोगप्राप्तत्वादीनीति तु भेद एवमिहापीति ॥ २७ ॥

उक्त उस सराध्य-सराधक (उपास्य-उपासक) भाव में स्वमन की विशुद्धि के लिए सूत्रकार मनान्तर का उपन्यास करते हैं । कहीं जीव और प्राज्ञ (ईश्वर) के भेदों का ध्याता और ध्यानव्य (ध्येय) रूप में, द्रष्टा और द्रष्टव्य (हृदय) रूप में व्यपदेश (कथन) किया जाता है कि (उस विशुद्धि के बाद उग आत्मा का ध्यान करता हुआ अधिकारी निग्नयव आत्मा को देवता है) और कहीं गन्ता और गन्तव्य रूप में भेद का निर्देश किया जाता है कि (पर में पर दिव्य पुण्य को प्राप्त करता है) कहीं नियन्ता और नियन्तव्य रूप में भेद कहा जाता है कि (जो सब भूतों के अन्दर वर्तमान रहकर सबका नियमन, शासन करता है) और कहीं ज्यो जीव और प्राज्ञ के अभेद का व्यपदेश किया जाता है कि (तुम उग मत् ब्रह्म स्वरूप हो । मैं ब्रह्म हूँ । यह तेरा ही आत्मा सब के अन्दर वर्तमान है । यह तेरा ही आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है) इस प्रकार भेद और अभेद दोनों व्यपदेशों के रहन, वहाँ यदि अभेद ही निश्चित रूप में गृहीत (स्वीकृत) किया जाय तो भेद का व्यपदेश निराश्रय निर्विषय हो जायगा । इसमें दोनों व्यपदेशों को देखने में अहि (सर्प) और उग सर्प के कुण्डलाकार के समान यहा तत्त्व (वस्तु) होने योग्य है । जन्म विमर्ष का मर्ष रूप में अभेद है और कुण्डलाकार, वक्रता-गुणताकार, दीर्घाकारता आदि रूप में भेद है । इसी प्रकार यहाँ भी जीवरूप में भेद है, ब्रह्मरूप में जीव का अभेद है । इसी प्रकार ज्ञानरूपता और ज्ञानाश्रयता का व्यपदेश भी अहि-कुण्डल तुल्य है । ऐसा कार्य कहने हैं ॥ २७ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम् । यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नान्त्यन्तभिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् । अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवन एवमिहापीति ॥ २८ ॥

अथवा सूर्यादि का प्रकाश, और प्रकाश का आश्रय सूर्यादि के समान इस भेदाभेद को समझना चाहिए कि जैसे सूर्य का प्रकाश और उस प्रकाश का आश्रय सूर्य दोनों के तेजरूप स्वभाव होने से दोनों अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, इससे तेजरूप से ही भिन्न-अभिन्न है, और भेद व्यपदेश (व्यवहार) के मागी (आश्रय) होते हैं । इसी प्रकार यहाँ भी एक आत्मत्वधर्म से ही श्रुति में भेदाभेद का व्यवहार होता है ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति तथैवैतद्भूवितुमर्हति । तथाह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्याया मोक्ष उपपद्यते । यदि पुनः परमार्थत एव वद्वः कश्चिदात्माऽहिकुण्डलन्यायेन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रय-न्यायेन चैकदेगभूतोऽभ्युपगम्येत ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुम-शक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत, नचात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तु-ल्यवद्व्यपदिशति । अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति भेदं तु पूर्वप्रसि-द्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया । तस्मात्प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येव सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

सिद्धान्त है, अथवा जैसे प्रथम प्रकाश आदि के समान जीव ईश्वर में अविज्ञे-पता अभेद कहा गया है । उसी के समान यहाँ भी होने के योग्य है । जिससे इसी प्रकार अविद्याकृत बन्ध होने से विद्या से मोक्ष उत्पन्न होता है और यदि परमार्थरूप से ही अहि-कुण्डल न्याय से कोई वद्व आत्मा परमात्मा का संस्थान (सन्निवेश, आकार) स्वरूप माना जाय और प्रकाशाश्रय न्याय से परमात्मा का एकदेश स्वरूप माना जाय तो, पारमार्थिक बन्ध का तिरस्कार (नाश) करना अशक्य होने से मोक्ष विधायक शास्त्र की व्यर्थता प्राप्त होगी । यहाँ भेद और अभेद के व्यपदेश को श्रुति तुल्यरूप से नहीं करती है । किन्तु अभेद का ही प्रतिपादनीयरूप से निर्देश करती है । पूर्वसिद्ध ही भेद का तो अर्थान्तर (उपासनादि) की विवक्षा से अनुवाद करती है । इससे प्रकाशादि के समान अविज्ञेपता (अभेद) है, यही सिद्धान्त है ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

इतश्चैव एव सिद्धान्तः । यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यच्चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—‘नान्योऽनोऽस्ति द्रष्टा’ (वृ० ३ । २ । २३) इत्येवमादि । ‘अथात

आदेशो नेति नेति' (वृ० २। ३। ६) 'तदेतद्ब्रह्मात्त्वं मनपरमन्तरमवाह्यम्' (वृ० २। ५। १९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद् ब्रह्ममात्रपरि-
शेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते ॥ ३० ॥

इसमें भी यही सिद्धान्त है कि जिस धारण में परमात्मा में अन्य चेतन का शास्त्र
प्रतिषेध करता है, कि (इसमें अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि । (इनके बाद उपदेश है
नेति-नेति) अतः यह ब्रह्म अपूर्व अतपर अतन्तर अवाह्य है । इस ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च
का निराकरण और ब्रह्ममात्र के परिशेष में यही सिद्धान्त है यह समझा जाता है ॥ ३० ॥

पराधिकरण (७)

अस्त्यन्यद्ब्रह्मणो मो वा विद्यते ब्रह्मणोऽधिकम् । सेतुत्वोन्मानवत्वाच्च सम्बन्धाद्भेदवत्त्वं ॥
धारणात्सेतुतोन्मानमुपास्थे भेदसंज्ञति । उपाध्युद्भवनादाभ्या नान्यदन्वयनिषेधतः ॥ २ ॥

(सेतुविधृति) इसमें सेतु का व्यपदेश और चतुष्पादत्वादि उन्मान का व्यपदेश
और सम्बन्ध तथा भेद के व्यपदेशों से सिद्ध है कि इस ब्रह्म में अन्य सत्य भी वस्तु है ।
यह पूर्वपक्षरूप सूत्र है । मशय है कि ब्रह्म में अन्य भी सत्य वस्तु है, अथवा नहीं है ।
पूर्वपक्ष है कि सेतुत्व उन्मानत्व सम्बन्ध और भेदवत्ता से अन्य वस्तु है, अन्य की गता
के बिना सेतुत्वादि के असम्भव में अन्य की सत्ता सिद्ध होती है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि
मुख्य सेतुत्व का ब्रह्म में असम्भव है, इससे कल्पित के धारण में गौणो सेतुता है, वह
द्युभ्यादि अधिकरण में भी कहा गया है और उपासना प्रकरण में पठित होने में
उन्मान वचन उपासना के लिए है और उपाधि के उद्भव तथा नाश में भेद और
सङ्गति (सम्बन्ध) का व्यवहार कथन होता है । अर्थात् उपाधि की उत्पत्ति में औपा-
धिक भेद होता है, और उपाधि के नाश से अभेदात्मक तादात्म्य सम्बन्ध होता है, अथ
के निषेध में अथ वस्तु नहीं है ॥ २ ॥

परमतः सेतुन्मानसवन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३? ॥

यदेतन्निरस्तमस्तप्रपञ्च ब्रह्म निर्धारितमस्मात्परमन्यत्तत्त्वमस्मि नास्तीति
श्रुतिविप्रतिपत्त सगम । कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि
ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्तत्त्व प्रतिपादयन्तीति । तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रम
क्रियते । परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्व भवितुमर्हति । कुत ? सेतुव्यपदेशादुन्मान-
व्यपदेशात्मवन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्चैति । सेतुव्यपदेशस्तावत्—'अथ य
जात्मा स सेतुविधृति' (छा० ८। ४। १) इत्यात्मगद्वाभिहितस्य ब्रह्मणो
सेतुत्व सकीर्तयति । सेतुगन्धश्च हि लोके जलग्नानविच्छेदकरे मृदावर्षादि-
प्रचये प्रसिद्धः । इह तु सेतुगन्ध आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकमेतोरिवा-
त्ममेतोरन्यस्य वस्तुनोऽस्मिन्त्व गमयति । 'सेतु तीर्त्वा' (छा० ८। ४। २)
इति च तरनिगन्धप्रयोगान् । यथा लौकिक सेतु तीर्त्वा जाह्नव-

मसेतुं प्राप्नोतीत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाज्जात्मानमसेतुं प्राप्नोतीति गम्यते ।

जो यह समस्त प्रपञ्च से रहित ब्रह्म निर्धारित हुआ है, उससे भिन्न अन्य तत्त्व (वस्तु) है वा नहीं है, श्रुतियों की विप्रतिपत्ति (विरोध) से यह संशय होता है । जिससे कितने कोई-कोई वाक्य आपात से, श्रवण मात्र से, पूर्ण विचार किये बिना ही ब्रह्म से भी भिन्न अन्यतत्त्व को प्रतिपादन करते हुए के समान प्रतिभासमान (प्रतीत) होते हैं । उन ही के परिहार को कहने के लिए यह उपक्रम (आरम्भ) किया जाता है । यहाँ पूर्वपक्ष है कि—इस ब्रह्म से पर, भिन्न अन्य तत्त्व होने के योग्य है, क्योंकि सेतु का व्यपदेश, उन्मान का व्यपदेश, सम्बन्ध का व्यपदेश और भेद के व्यपदेश से पर-वस्तु की सिद्धि होती है । प्रथम सेतु का व्यपदेश है कि (जो यह अमृतत्वादि लक्षण वाला आत्मा है वह सेतु के समान विधारण कर्ता है) यह श्रुति आत्म शब्द से कथित ब्रह्म के सेतुत्व धर्म का संकीर्तन करती है । लोक से जलसंतान का (प्रवाह का) विच्छेदकारक, मिट्टी-लकड़ी आदि का प्रचय (रचनाविशेष) में सेतु शब्द प्रसिद्ध है । यहाँ तो सेतु शब्द आत्मा में प्रयुक्त (प्रयोग वाला) हुआ है । इससे लौकिक सेतु के समान आत्मारूप सेतु से भी अन्य वस्तु की अस्तित्ता (सत्ता) को सेतु शब्द अवगम (बोध) कराता है । (इस आत्मसेतु को तर कर अन्ध भी अन्धतारहित होता है) इस प्रकार तरति शब्द के प्रयोग से, जैसे लौकिक सेतु को तर कर जंगल के स्थानविशेषरूप असेतु (सेतु से भिन्न) स्थान को मनुष्य प्राप्त करता है, इसी प्रकार आत्मारूप सेतु को तर कर अनात्मारूप असेतु को प्राप्त करता है । ऐसी प्रतीति होती है ।

उन्मानव्यपदेशश्च भवति 'तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमि'ति । यच्च लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्पापणादि ततोऽन्यद्वस्त्वस्तीति प्रसिद्धम्, तथा ब्रह्माण्डोऽप्युन्मानात्ततोऽन्येन वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते । तथा सम्बन्धव्यपदेशोऽपि भवति—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, 'शारीर आत्मा' (तै० २।३।१) 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' (बृ० ४।३।२) इति च । मितानां च मितेन संबन्धो दृष्टो यथा नराणां नगरेण । जीवानां च ब्रह्मणा सम्बन्ध व्यपदिशति सुपुंसो । अतस्ततः परमन्यदमितमस्तीति गम्यते । भेदव्यपदेशश्चैतमेवार्थं गमयति । तथाहि—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्षयाधारमीश्वरं व्यपदिशति—'अथ य एषोऽन्तराक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १।७।५) इति । अतिदेशं चास्यामुना रूपादिपु करोति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गैष्णौ तौ गैष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १।७।५) इति । सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—'ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १।६।८) इत्येकस्य,

‘ये चैतस्मादवाक्ष्यो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च’ (छा० १।७।३)
इत्येकम्य । यदेदं मागवस्य राज्यमिदं वंदेहस्येति ॥ ३१ ॥

उन्मान का व्यपदेश भी है कि (अनं यह ब्रह्म चार पाद वाला, आठ सूर
वाला, सोलह अवयव वाला है) चार दिशाएँ, ब्रह्म का प्रकाशवान नाम वाला
एक पाद है । पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और समुद्र जनन्तवान् नाम वाला दूसरा
पाद है । अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् ज्योतिष्मान् नाम वाला तीसरा पाद है । वायु,
श्रोत्र, वाक् और मन आयतनवान् नाम वाला चौथा पाद है । इन पादों के
अर्द्धांश आठ दाफ (सुर) हैं । चारों पादों में चार-चार अवयव हैं अनं सोलह अवयव
हैं । लोक में जो उन्मित अर्थात् यह वस्तु इतना है इस प्रकार परिच्छिन्न कार्पाप्य
(सोलह पैसे मरता मा) आदि है । उसमें अन्य वस्तु है, यह प्रसिद्ध है । इसी प्रकार
ब्रह्म का भी उन्मान है, इसमें उस ब्रह्म से अन्य वस्तु होनी चाहिए, ऐसी प्रतीति
होनी है । इसी प्रकार सम्बन्ध का व्यपदेश भी होता है कि (हे सोम्य ! मुपुंसि मे
जीवान्मा सन् ब्रह्म के साथ सम्पन्न एक होता है । अन्नमयरूप शरीर में रहने वाला
यह आत्मा है । मुपुंसि मे प्राज्ञ आत्मा के साथ समिलित जीव बाह्य-भीतर को नहीं
जानता है) इत्यादि । परिमित पदार्थों का परिमित पदार्थों के साथ सम्बन्ध देखा गया
है । जैसे मनुष्यों का नगर के साथ सम्बन्ध देखा गया है । जीवों का मुपुंसि में ब्रह्म
के साथ सम्बन्ध की श्रुति कहती है । इससे उस ब्रह्म से भिन्न अन्य अपरिमित वस्तु
है, यह समझा जाता है । भेद का व्यपदेश भी इसी अर्थ का बोध अवगम कराता
है । जिसमें इसी प्रकार की श्रुति है कि (जो यह आदित्य के अन्दर हिग्न्य,
ज्योतिर्मय पुण्य दीवता है) इस प्रकार आदित्य में रहने वाले ईश्वर का कथन
करके, उसमें भेदपूर्वक भिन्न रूप से आत्मा में रहने वाले ईश्वर का श्रुति कथन
करती है कि (जो यह आत्मा में पुण्य दीवता है) और इस आत्मा में रहने वाले
पुण्य का उस आदित्य में रहने वाले पुण्य के साथ रूपादि के विषय में श्रुति अति-
देश करती है (सादृश्यादि बोध कराती है) कि (जिस इस आत्मा में स्थिर पुण्य
का वही रूप है कि जो उस आदित्यस्य पुण्य का रूप है । जो उसने पर्व है,
जो उसका नाम है सो इसका नाम है) दोनों के सावधिक (परिच्छिन्न)
ऐश्वर्य का व्यपदेश करती है कि (आदित्य लोक में जो परे लोक है उनका और
देवों के कामों का वह आदित्य पुण्य नियन्ता है) यह एक का ईश्वरत्व है ।
(जो इसमें नीचे लोह है उनका और मनुष्यों के कामों का नियन्ता अग्निय पुण्य
है) यह एक का ईश्वरत्व है । इसमें जैसे यह मगध का राज्य है, यह वंदेह का है,
यहाँ परिच्छिन्न ईश्वरत्व बोधित होता है, वैसे ही श्रुति बोध करती है ॥ ३१ ॥

एवमेनेम्य भेत्वादिव्यपदेशोभ्यो ब्रह्मण परमस्मीत्येव प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

इन मनु आदि व्यपदेशों से इस प्रकार ब्रह्म में पर वस्तु है । ऐसा प्राप्त होने
पर प्रतिपादन किया जाता है कि—

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि । न ब्रह्मणोऽन्यत्किञ्चिद्भूवितुमर्हति प्रमाणाभावात् । न ह्यन्यस्यास्तित्वे किञ्चित्प्रमाणमुपलभामहे । सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम्, अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य । नच ब्रह्मव्यतिरिक्तं किञ्चिदजं संभवति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यवधारणात् । एकविज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान्न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वमवकल्पते । ननु सेत्वादिव्यपदेशाः ब्रह्मव्यतिरिक्तं सत्त्वं सूचयन्तीत्युक्तम् । नेत्युच्यते । सेतुव्यपदेशस्तावन्न ब्रह्मणो बाह्यस्य सद्भावं प्रतिपादयितुं क्षमते 'सेतुरात्मेति ह्याह न पुनस्ततः परमस्तीति । तत्र परस्मिन्नसति सेतुत्वं नावकल्पत इति परं किमपि कल्प्येत, नचैतन्न्याय्यं हठे ह्यप्रसिद्धकल्पना । अपि च सेतुव्यपदेशादात्मनो लौकिकसेतुनिदर्शनेन सेतुबाह्यवस्तुतां प्रसञ्ज्यता मूढारुमयतापि प्रासङ्ग्येत् । नचैतन्न्याय्यम्, अजत्वादिश्रुतिविरोधात् । सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति श्लिष्यते, जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः, अतः सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते । सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतेरतिक्रमासम्भवात्प्राप्नोत्यर्थं एव वर्तते, यथा व्याकरणं तीर्णं इति प्राप्त इत्युच्यते नातिक्रान्तस्तद्वत् ॥ ३२ ॥

मृगगत तुशब्द से प्रदर्शित प्राप्ति का निरोध करते हैं कि प्रमाण के अभाव से ब्रह्म से अन्य होने योग्य कुछ नहीं है । जिससे अन्य के अस्तित्व (सत्ता) में किसी प्रमाण का उपलम्भ अनुभव नहीं कर रहे हैं । जन्म वाले सभी वस्तु समूह के जन्मादि ब्रह्म से होते हैं, यह निर्धारित हो चुका है, और कारण से कार्य के अनन्यत्व (अभेद) का भी निर्धारण हो चुका है और (हे सोम्य ! यह जगत् प्रथम सत् ही एक अद्वितीय ही था) इस अवधारण से ब्रह्म से अन्य किसी अज (अजन्मा, नित्य) का सम्भव नहीं है, और एक के विज्ञान से सबका विज्ञान की प्रतिज्ञा से भी ब्रह्म से भिन्न वस्तु का अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकता है । यदि कहो कि सेतु आदि के व्यपदेश ही ब्रह्म से भिन्न तत्त्व (वस्तु) की सूचना करते हैं, यह कहा जा चुका है । तो वहाँ कहा जाता है कि सेतु के व्यपदेशादि अतिरिक्त तत्त्व की सूचना नहीं कर सकते हैं । प्रथम सेतु का व्यपदेश ब्रह्म से बाह्य (अन्य) के सद्भाव को प्रतिपादन करने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि वह व्यपदेश आत्मा सेतु है यही कहता है, फिर यह नहीं कहता है कि उससे पर (भिन्न) वस्तु है । वहाँ पर के नहीं रहने पर सेतुत्व नहीं सिद्ध होता है इससे किसी भी पर की कल्पना कोई करेगा । परन्तु यह न्याय युक्त नहीं होगा, अप्रसिद्ध की कल्पना हठ (दुराग्रह) रूप ही होगा और दूसरी बात है कि आत्मा के सेतु व्यपदेश से लौकिकसेतु के दृष्टान्त द्वारा सेतु रूप आत्मा से भिन्न पदार्थ की वस्तुता (सत्ता) का प्रसंग करने वाला से आत्मा में मिट्टी लकड़ी रूपता

को भी प्रसक्ति प्राप्ति की जायगी। परन्तु अजत्वादि श्रुति के साथ विरोध से यह न्याययुक्त नहीं होगा, और सेतु की समानता में सेतु शब्द आत्मा में प्रयुक्त (उच्चारित) हुआ है, यह मगत होता है। जगत् और उसकी मर्यादाओं का विभागबन्ध ही आत्मा की सेतु के साथ तुल्यता है। इसमें सेतु के समान सेतु है इस प्रकार आत्मा की स्तुति की जाती है और (सेतु तोत्वा) इस वाक्य में भी आत्मारूप सेतु को उर कर (उल्लघन करके) इस प्रकार तृष्णातु के अर्थ के असम्भव में, उसका प्राप्ति ही अर्थ है। जैसे यह बट्ट व्याकरण नीणं है, इस वाक्य में व्याकरण को प्राप्त कर चुका है, यह कहा जाता है। व्याकरण का अतिव्रमण किया है, ऐसा नहीं कहा जाना, उसी के समान यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

बुद्धयर्थ पादवत् ॥ ३३ ॥

यदप्युक्तमुन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति, तथाभिधीयते—उन्मानव्यपदेशोऽपि न ब्रह्मव्यनिरिक्तवस्त्वस्तिवत्प्रतिपत्त्यर्थः। किमर्थमनहि बुद्धयर्थं, उपासनाय इति यावत्। चतुष्पादघ्राणफ पाण्डनकल्मसित्येवस्था बुद्धि कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादिति विचारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनेन क्रियते। नह्यविचारेऽन्ते ब्रह्मणि सर्वे पथि शक्या बुद्धि स्थापयितु मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात्पुनरिति। पादवत्। यथा मन-आकाशयोर्गव्यात्ममधिदेवत च ब्रह्मप्रतीकयोरास्मानयोश्चत्वारो वागादयो मन मयन्विन पादा कल्प्यन्ते, चत्वारश्चाग्न्यादय आकाशमयन्विन आव्यानाय तद्वत्। अथवा पादवदिनि, यथा कार्पाषणे पादविभागो व्यवहारश्चाचुर्पाय कल्प्यते, नहि सकलेनैव कार्पाषणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीक्षते क्रयविक्रये परिमाणानियमान दित्यर्थः ॥ ३३ ॥

और जो यह भी कहा था कि उन्मान के व्यपदेश में ब्रह्म से परे, उस विषय में कहा जाता है कि उन्मान का व्यपदेश भी ब्रह्म में मिले वस्तु के ज्ञान के लिए नहीं है, तो किमर्थ लिए है, ऐसी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए कहा जाता है कि बुद्धि (ज्ञान) के लिए है, अर्थात् उपासना के लिए है। चार पाद वाला, आठ गुर वाला, सोलह अक्षय वाला ब्रह्म है, इस रूप-आकार वाली बुद्धि किसी प्रकार भी ब्रह्म में स्थिर हो, इस दृष्टि से विकारों के द्वारा ब्रह्म में उन्मान की कल्पना ही की जाती है, उसमें वस्तुतः उन्मान का प्रतिपादन नहीं किया जाता है कि जिसमें श्रव की सत्ता निष्ठ हो और पुरुषों के मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धि वाले होने में मनो पुरुषों में निर्विकार अतन्त्र ब्रह्म में बुद्धि को स्थिर नहीं किया जा सकता है, इसमें विकार द्वारा ब्रह्म में बुद्धि की स्थिति रूप उपासना के लिए उन्मान की कल्पना पाद कल्पना के समान है। जैसे सर्वात्मक ब्रह्म के प्रतीक (एकदेश) रूप में कथित मन आकाश के अघ्यात्म और अधिदेवतत्त्व, वाक् प्राण चक्षु और श्रोत्र रूप मन सम्बन्धी वाक् आदि नामक चार पाद कल्पित होने हैं। तथा अग्नि वायु आदिरथ और दिग्ग-

रूप आकाश सम्बन्धी अग्नि आदि नामक चार पाद कल्पित होते हैं, वह केवल आव्यात (उप.सना) के लिए कल्पित होते हैं, उसी प्रकार उन्मान कल्पना और सेतु कल्पना को भी समझना चाहिए। अथवा पादवत् इसका यह अर्थ है कि जैसे कार्पाषण में व्यवहार की अधिकता के लिए पाद का विभाग कल्पित होता है, जिससे क्रय और विक्रय (खरीदना और बेचना) में परिमाण के अनियम से सम्पूर्ण कार्पाषण द्वारा ही सदा सब जन व्यवहार नहीं कर सकते हैं, उसी के समान यहाँ समझना चाहिए कि सब जन निर्विकार ब्रह्म में बुद्धि को स्थिर नहीं कर सकते हैं, इससे उन्मान की कल्पना की गई है ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

इह सूत्रे द्वयोरपि सम्बन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते। यदप्युक्त-
सम्बन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यात्—इति, तदप्यसत्। यत्
एकस्यापि स्थानविशेषोपापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते। सम्बन्धव्यपदेशे तावद-
यमर्थः बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगाददभुतस्य विशेषविज्ञानस्यापाध्युपशमे
य उपगमः स परमात्मना सम्बन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते न परिमितत्वा-
पेक्षया। तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयोपचर्यते न स्वरूप-
भेदापेक्षया। प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम्। यथैकस्य प्रकाशस्य सूर्यस्य
चान्द्रमसस्य वोपाधियोगादुपजातविशेषस्योपाध्युपगमात्सम्बन्धव्यपदेशो भव-
त्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः। यथा वा सूचीपाशाकाशादिपूपाध्यपेक्षयैतौ
सम्बन्धभेदव्यपदेशौ भवतस्तद्वत् ॥ ३४ ॥

इस सूत्र में सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश दोनों ही का परिहार किया जाता है कि जो यह भी कहा था कि सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश से इस ब्रह्म से निम्न वस्तु भी सिद्ध होगा, वह कथन असत् है, जिससे एक वस्तु के भी स्थान (उपाधि) विशेष की अपेक्षा से ये दोनों व्यपदेश उपपन्न (सिद्ध) होते हैं। प्रथम भेद व्यपदेश में यह अर्थ है कि बुद्धि आदि उपाधि रूप स्थान विशेष के सम्बन्ध से उद्भूत (प्रकट) हुआ विशेष विज्ञान का जो उपाधि के उपशम (निवृत्ति) होने पर उपगम होता है, वही उपाधि के उपशम की अपेक्षा से ही परमात्मा के साथ सम्बन्ध इस शब्द से उपचरित (व्यवहृत) होता है। परिमितत्व की अपेक्षा से सम्बन्ध का व्यवहार नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म का भेद व्यपदेश भी उपाधि के भेद की अपेक्षा से उपचरित (गौण) होता है, स्वरूप भेद की अपेक्षा से नहीं। इस सूत्र में प्रकाशादिवत् उपमा का ग्रहण है, जैसे एक मूर्य वा चन्द्रमा के प्रकाश को उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न विशेष का उपाधि के उपशम से सम्बन्ध का व्यपदेश होता है और उपाधि के भेद से भेद का व्यपदेश होता है। अथवा जैसे मुई के पाशा के आकाश आदि में उपाधि की अपेक्षा से ही ये सम्बन्ध और भेद के व्यपदेश होते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

उपपत्तोश्च ॥ ३५ ॥

उपपद्यते चात्रेदृश एव सम्बन्धो नान्यादृश । यथा 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति हि स्वरूपसम्बन्धमेवमामनन्ति, स्वरूपस्य चानपायिन्वात् । न नरनगरन्यायेन सम्बन्धो घटते, उपाधिकृतस्वरूपतिरोभावात्— 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इत्युपपद्यते । तथा भेदोऽपि नान्यादृश सम्भवति । बहुतरश्रुतिप्रमिद्वैकेऽवश्वविरोधात् । तथा च श्रुतिरेकस्याप्याकाशस्य स्थानकृत भेदव्यपदेशमुपपादयति— 'योज्य वहिर्धा पुरपादाकाश' (छा० ३।१२।७), 'योज्यमन्त पुरुष आकाश' (छा० ३।१२।८), 'योज्यमन्तर्हृदय आकाश' (छा० ३।१२।९) इति च ॥ ३५ ॥

और यहाँ ऐसा ही (उपाधिक भेद की निवृत्ति रूप ही) सम्बन्ध उपपन्न होता है । अय प्रकार का नहीं । जमे कि (स्वस्वरूप को प्राप्त होता है) इस प्रकार की श्रुतियाँ स्वरूप सम्बन्ध का ही बयन करती है और स्वरूप के अनपायी (नित्य) होने में नगर के साथ नरों के सम्बन्ध के न्याय (रीति) से स्वरूप सम्बन्ध सघटित नहीं हो सकता है, किन्तु उपाधिकृत स्वरूप के तिरोभाव (छीन) होने में (स्वस्वरूप को प्राप्त होता है) यह उपपन्न होता है और इसी प्रकार बहुत अधिक श्रुतियों में प्रमिद्वैकेश्वरत्व के साथ विराय में, उपाधिक भेद से अय प्रकार के भेद का भी सम्भव नहीं है और इसी प्रकार एक ही आकाश के स्थानकृत भेद व्यपदेश का उपपादन श्रुति करती है कि (जो यह पुरुष से बाहर भौतिक आकाश है । जो यह पुरुष-शरीर के अन्तर में आकाश है । जो यह हृदय के अन्तर में आकाश है) इत्यादि ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

एव मेत्वादिव्यपदेशान्तरपक्षहेतूनुन्मथ्य सम्प्रति स्वपक्ष हेत्वन्तरेणोपलहरति । तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मण परवस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते । तथाहि— 'न एवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२) 'अहमेवाधस्तात्' (छा० ७।२५।१), 'आत्मैवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२), 'सर्वं त परादाद्योज्यमात्मन सर्वं वेद' (वृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेद सर्वम्' 'आत्मैवेद सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (वृ० ४।४।१९), 'यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चित्' (छे० ३।२), 'तदेतद्ब्रह्मा पूर्वमनपरमन्तरमवाह्यम्' (वृ० २।५।१९), इत्येवमादिवाक्यानि स्वप्रवर्णनस्यान्यन्वार्थत्वेन परिणेतुमशक्यानि ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्तुनर वारयन्ति । सर्वान्तरश्रुतेरपि न परमात्मनोऽन्योऽन्यसत्तास्तीत्यवधार्यते ॥ ३६ ॥

इस पूर्व वर्णित रीति में पर पक्ष के हेतु रूप में आदि व्यपदेश का उभयपक्ष (निर्देश) करके, अग्रे इस समय हेत्वन्तर (जय हेतु) के द्वारा अपने पक्ष का उपसंहार करते हैं कि इसी प्रकार ब्रह्म में मिलि वस्तु के प्रतिषेध से भी ब्रह्म में निरा अन्य वस्तु नहीं है, यह समझा जाता है, वह प्रतिषेध इस प्रकार है कि (वह भूमा विस्तु

ब्रह्म ही नीचे है। मैं ही नीचे हूँ। आत्मा ही नीचे है। उसका सब परामत्र त्याग करता है जो आत्मा से अन्य सबको जानता है। यह सब ब्रह्म ही है। यह सब आत्मा ही है। इस आत्मा में नाना कुछ नहीं है। जिस पुरुष से पर श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। वह यह ब्रह्म कारण कार्य रहित और अन्तर बाहर भेद रहित है) इत्यादि वाक्य, स्व (ब्रह्मात्म) प्रकरणस्थ और अन्यार्थकत्व रूप से परिणयन (प्रापण) करने में अशक्य है, वह ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु का वारण करता है। ब्रह्मात्म विषयक सर्वान्तर श्रुति से परमात्मा से अन्य अन्तरात्मा नहीं है, यह अवधारण (निश्चय) किया जाता है। (तस्माद्ब्रह्म परः किञ्चनास । ऋग् । पुरुषान्न परं किञ्चित्) ॥ ३६ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति । अन्यथा हि तन्न सिद्ध्येत् । सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणेषु परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत, सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात् । तथान्यप्रतिषेधेऽप्यसति वस्तु वस्त्वन्तराद्यावर्तत इति परिच्छेद एवात्मनः प्रसज्येत । सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्यो विजायते । आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः, 'यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदये आकाशः' (छा० ८।१।३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान्दिवः' (छा० ३।१।४।३) 'ज्यायानाकाशात्' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (भ. गी. २।२४) इत्येवमादयो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः सर्वगतत्वमात्मनोऽवबोधयन्ति ॥ ३७ ॥

इस सेतु आदि व्यपदेशों के निराकरण से और अन्य के प्रतिषेध के समाश्रयण से आत्मा के सर्वगतत्व विभुत्व की भी सिद्धि होती है, अन्यथा वह सर्वगतत्व नहीं सिद्ध होगा। जिससे सेतु आदि व्यपदेशों को मुख्य स्वीकार करने पर आत्मा का परिच्छेद प्राप्त होगा, क्योंकि सेतु आदि को एवमात्मत्व (परिच्छिन्न स्वरूपत्व) है। इसी प्रकार अन्य के प्रतिषेध नहीं होने पर भी एक वस्तु अन्य वस्तु से व्यावृत्त (भिन्न) होती है, इस प्रकार आत्मा का परिच्छेद ही प्राप्त होगा और आयाम शब्दादि से इस आत्मा का जहाँ सर्वगतत्व समझा जाता है, वहाँ आयाम शब्द व्याप्तिवाचक शब्द है। जितना परिमाण वाला यह ब्रह्म आकाश है, उतना ही परिमाण वाला यह हृदयान्तर्बर्ती आकाश आत्मा है। आत्मा आकाश के समान सर्वगत और नित्य है। स्वर्ग से बहुत बड़ा है, आकाश से बहुत बड़ा है, यह नित्य है, सर्वगत है स्थाणु-स्थिर-अचल और सनातन (अनादि) है। इत्यादि श्रुति, स्मृति और न्याय आत्मा के सर्वगतत्व का अवबोध कराते हैं ॥ ३७ ॥

फलाधिकरण (८)

कर्मैव फलदं यद्वा कर्माराधित ईश्वरः । अपूर्वावात्तरद्वारा कर्मणः फलदातृता ॥ १ ॥

अचेतनात्फलासूतेः शास्त्रीयात्पूजितेश्वरात् । कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥ २ ॥

ओपाधिर्भेद बाले इह सर्वगत मत्स्य ईश्वर से ही व्यावहारिक जीव को कर्मादि के अनुसार इष्टानिष्ट फल की प्राप्ति होती है, सो उपपत्ति से (युक्ति से) सिद्ध होता है । वहाँ संशय है कि कर्म ही फल देने वाला है, अथवा कर्म द्वारा आराधित (सवित) ईश्वर फल देने वाला है । पूर्वपक्ष है कि यद्यपि यह कर्म क्षणमगुर है वह कालान्तरभावी फल को साक्षान् नहीं दे सकता है, तथापि जैसे वृक्ष में सेचित जल साक्षान् फल नहीं देकर रसादि रूप अवान्तर (मध्यगत) व्यापार द्वारा फल देता है, उसी प्रकार कर्म को भी अपूर्व (धर्माधर्म, अदृष्ट) रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा दानृत्वं हो सकता है ॥ १ ॥

सिद्धांत है कि स्वतन्त्र प्रकृति के समान स्वतन्त्र अचेतन कर्म से वा उनके व्यापार अदृष्ट में भी नियमित फल की यथा योग्य उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इससे शास्त्र से सिद्ध प्रजित ईश्वर से फल की उत्पत्ति होने से स्वतन्त्र अपूर्व की कल्पना नहीं करनी पड़ती है । ईश्वराधीन फलप्रद कर्म और उसकी वासना मूढमाशादि रूप अदृष्ट तो पञ्चानि विद्या और (कर्मणा मृत्युमृत्यो निषेदु । कर्मणा बध्यते जन्तु) इत्यादि शास्त्र से सिद्ध ही है ॥ २ ॥

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीधित्रीणितव्यविभागावस्थायामयमन्य स्वभावो धर्म्ये । यदेनदिष्टव्यामिश्रलक्षण कर्मफल समारगोचर त्रिविध प्रसिद्ध जन्तूना किमेतत्कर्मणो भवत्ताहोस्ति ईश्वरगदिति भवति विचारणा । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वरादभवितुमर्हति । कुत ? उपपत्तेः । स हि सर्वाध्यक्ष मृष्टिस्थितिमहारासन्विचित्रान्विदधदेशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणा कर्मानुरूप फल सम्पादयतीत्युपपद्यते, कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिन कालान्तरभावि फल भवतीत्यनुपपन्नम्, अभावादभावानुत्पत्तेः । म्यादेतत् कर्म विनश्यत्स्वकालमेव स्वाधुरूप फल जनयित्वा विनश्यति तत्फल कालान्तरित कर्त्रा भोक्ष्यत इति । तदपि न परिगृह्यति, प्राग्भोक्तृमम्यन्वात्फलत्वानुपपत्तेः । यत्काल हि यत्सुख दुःख वात्मना भुज्येन तस्यैव लोके फलत्व प्रसिद्धम् । न ह्यमग्नद्वयात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्व प्रतिपद्यन्ति लौकिका । अथाच्यते—मा भूत्कर्मन्तर फलोत्पाद, कर्मकार्यादपूर्वात्फलमुत्पत्त्यतः—इति । तदपि नोपपद्यते । अमूर्तस्याचेतनस्य काष्ठश्लेष्मस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तः । तदस्ति च प्रमाणाभावात् । अथापत्ति प्रमाणमिति चेत् । न । ईश्वरसिद्धेरथापत्तिशयान् ॥ ३८ ॥

जिस पूर्व वर्णित ईश्वर की ही ईशितृ (ईशिता) ईशितव्य (निदम्य) रूप व्यावहारिक विभाग अवस्था में, उसके यह अपर स्वभाव रूप फल हृत्त्व वा यज्ञेन विद्या जाता है । कि जन्तुआ वा जो यह ईष्ट (सुख) अनिष्ट (दुःख) और सुख दुःख का

मिश्रण रूप तीन प्रकार के कर्म फल सांसारिक अवस्था में प्रसिद्ध हैं, वे क्या कर्म से प्राप्त होते हैं, अथवा ईश्वर से प्राप्त होते हैं, ऐसी विचारणा (चर्चा) होती है। वहाँ प्रथम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है कि इस ईश्वर से फल होने योग्य है, क्योंकि उपपत्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है। जिससे सबका अध्यक्ष रूप वह ईश्वर, देश काल विशेष की अभिज्ञता से विचित्र सृष्टि स्थिति और संहार का विधान (विधि निश्चि) करता हुआ, कर्मियों के कर्मानुसार फल का सम्पादन (सिद्धि) करता है, उपपन्न (युक्ति सिद्ध) होता है। अनुक्षण विनाशी कर्म से कालान्तर में होने वाला फल होता है, यह तो अभाव से भाव को अनुपपत्ति से अनुपपन्न है। यहाँ शङ्का होती है कि कर्म से भी यह फल हो सकता है, क्योंकि विनाश को प्राप्त होने वाला विनाश की उन्मुखता काल में अपनी वर्तमानता युक्त काल में ही कर्म अपने अनुसार फल को उत्पन्न करके नष्ट होता है और होगा, और वह फलान्तर में कर्मकर्ता से भोगा जायगा। उत्तर है कि यह कर्म का फल दातृत्व भी परिशुद्ध निर्दुष्ट नहीं सिद्ध होता है, जिससे मोक्षा के साथ सम्बन्ध से पूर्व काल में फल के फलत्व की ही अनुपपत्ति है। जिस काल सम्बन्धी जो सुख वा दुःख जीवात्मा से भोगा जायगा, या भोगा जाता है, उसी को लोक में फलरूपत्व प्रसिद्ध है। आत्मा से सम्बन्ध रहित सुख वा दुःख के फल रूपत्व को लौकिक जन नहीं समझते हैं। यदि कहा जाय कि कर्म के अनन्तर काल में फल की उत्पत्ति नहीं हो, किन्तु कर्म के कार्य रूप अदृष्ट धर्माधर्म से फल उत्पन्न होगा, तो कहा जाता है कि वह फल देने वाला स्वतन्त्र अपूर्व भी नहीं उपपन्न सिद्ध हो सकता है। जिससे काठ ढेल के समान अचेतन और चेतन से अप्रेरित अपूर्व की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है और उस स्वतन्त्र फल दाता अपूर्व के अस्तित्व (सत्ता) में प्रमाण का अभाव है। यदि कहे कि अर्थापत्ति (अपूर्व के विना फल की असिद्धि) प्रमाण है, तो कहा जाता है कि अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है। जिससे फलप्रद स्थायी ईश्वर की सिद्धि से क्षणिक कर्म से फल की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के उपक्षय से स्वतन्त्र अपूर्व में प्रमाण का अभाव ही है ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

न केवलमुपपत्तेरेवेश्वर फलहेतुं कल्पयामः, किं तर्हि ? श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे। तथा च श्रुतिर्भवति—‘स वा एष महानज आत्मानादो वसु-दानः’ (वृ० ४।४।२४) इत्येवंजातीयका ॥ ३९ ॥

केवल उपपत्ति से ही फल का हेतु रूप ईश्वर की कल्पना (अनुमिति) नहीं करते हैं, किन्तु श्रुति से श्रुत होने से भी ईश्वर को ही फल का हेतु मानते हैं। इसी प्रकार की श्रुति है कि (वह यह महात्मा सब प्राणियों को सर्वत्र अन्न देने वाला है और धन देने वाला है) अर्थात् जड़ कर्म अपूर्व फल नहीं देता है किन्तु कर्मादि के अनुसार

सर्वज्ञ सर्वशक्ति वाला स्वतन्त्र ईश्वर ही फल देता है, अल्पज्ञता आदि से कोई जीव भी धर्म फल दाता वा स्वयं भोक्ता नहीं हो सकता है ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलम्य दातार मन्यते । अन एव हेतो श्रुतेरप-
पत्तश्च । श्रूयते तावदयमर्थ 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु । तत्र च
विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्याग स्वर्गम्योत्पादक इति गम्यते, अन्यथा ह्यन-
नुष्ठातृको याग आपद्येत तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात् । नन्वनुक्षणविनागिन
कर्मण फल नोपपद्यत इति परित्यक्तोऽय पक्ष । नेप दोष, श्रुतिप्रामाण्यात् ।
श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथाऽय कर्मफलमन्वन्ध श्रुत उपपद्यते तथा कल्पयितव्य,
नचानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरित फल दातुं शक्नोति । अन
कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्मीति
तर्क्यते । उपपद्यते चायमर्थ उक्तं प्रकारेण । ईश्वरस्तु फल ददातीत्यनुपप-
त्तम् । अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्यानुपपत्तेर्वैयर्थ्यमनैर्घृण्यप्रमद्भानुष्ठान-
वैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्वर्मादेव फलमिति ॥ ४० ॥

जैमिनि आचार्य तो धर्म (अदृष्ट) को इसी श्रुति और उपपत्ति रूप हेतु से
फल का दाता मानते हैं, कहते हैं कि यह कर्म को फलदातृत्व रूप अर्थ (स्वर्ग की इच्छा
वाला मनुष्य याग से इष्ट का सम्पादन करे) इत्यादि वाक्यों में सुना जाता है और
उस वाक्य में विधि रूप श्रुति (लिङ्गकार का अर्थ रूप प्रेरणा) का विषय भाव के
उपगम (प्राप्ति) से याग स्वर्ग का उत्पादक (हेतु) है ऐसा प्रतीति होती है । अर्थात्
स्वर्ग रूप इष्ट को सिद्ध करना विधि (लिङ्) का अर्थ है और याग उसमें कर्मण रूप
से अन्वित होता है । इससे याग में स्वर्ग की हेतुता सिद्ध होती है । अन्यथा यदि याग
इष्ट का हेतु नहीं हो, तो अनुष्ठाता रहित याग प्राप्त होगा, निष्कृत याग का अनुष्ठान
कौन करेगा और ऐसा होने पर इस याग के उपदेश की व्यर्थता होगी । यदि कहा
जाय कि अनुक्षण विनाश्वर यागादि कर्म में फल नहीं उत्पन्न होता है, इसमें इस पक्ष
का त्याग किया गया है, तो कहा जाता है कि श्रुति की प्रमाणता से यह दोष नहीं है ।
अर्थात् श्रुति यदि इस अर्थ में प्रमाण है, तो जिस प्रकार यह श्रुति में सुना गया हुआ
कर्म फल का सम्बन्ध उपपन्न हो सके, वैसा उपाय कल्पना के योग्य है और किसी भी
अपूर्व (अदृष्ट) को नहीं उत्पन्न करके विनष्ट होना हुआ कर्म कालान्तर में होने वाले
फल को नहीं दे सकता है । इसमें कर्म की कोई सूक्ष्म उत्तरावस्था व्यापार या फल
की कोई पूर्वावस्था रूप अपूर्व नाम वाली वस्तु है ऐसा तर्क अनुमान किया जाना है और
उक्त रीति में यह अर्थ उपपन्न भी होता है, इसमें श्रुति और उपपत्ति से कर्म ही फल
का हेतु रूप सिद्ध होता है और ईश्वर फल देता है, यह कथन तो अनुपपन्न है । क्योंकि
यदि कर्म की अपेक्षा के बिना ईश्वर फल दाता हो, तो अविचित्र एक कारण में विचित्र

फल रूप कार्य की अनुपपत्ति है और ईश्वर में विषमता क्रूरता की प्राप्ति रूप दोष होगा । तथा ईश्वर से ही फल होने पर कर्मानुष्ठान की व्यर्थता की आपत्ति होती है, इससे ईश्वर फल का हेतु नहीं है और यदि धर्म सापेक्ष ईश्वर फल दाता हो, तो भी उस धर्म से ही स्वभाव विशेष से फल होता है । ईश्वर से नहीं, यह जैमिनि आचार्य का मत है ॥ ४० ॥

पूर्वं तु वादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

वादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते । केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा केवलात्फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते । कमपिक्षादपूर्वपिक्षाद्वा यथा तथास्त्वीश्वरात्फलमिति सिद्धान्तः । कुतः ? हेतुव्यपदेशात् । धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुव्यपदिष्यते फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तु यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमवो निनीषते' इति । स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥ (७।२१) इति ।

सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एवं सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते । तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मनिरूपाः प्रजाः सृजतीति (१) । विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते ॥ ४१ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥



वादरायण आचार्य तो पूर्व वर्णित ईश्वर को ही फल का हेतु मानते हैं । केवल कर्म से वा केवल अपूर्व से फल होता है, इस पक्ष की सूत्र गत तुशब्द से व्यावृत्ति (निवारण) की जाती है कि केवल अचेतन से देश कालादि के अनुसार योग्य फल नहीं हो सकता है । इससे कर्म की अपेक्षा युक्त अथवा अदृष्ट की अपेक्षा युक्त ईश्वर से जिस प्रकार हो सके उस प्रकार ही फल हो सकता है यह सिद्धान्त है, अर्थात् कर्मादि सापेक्ष ईश्वर के हेतु होने से वैषम्यादि किसी दोष की सम्भावना नहीं है । कर्मादि सापेक्ष ईश्वर ही फल का हेतु है, यह कैसे समझा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि श्रुति में ईश्वर का हेतु रूप से व्यपदेश से समझा जाता है । जिससे धर्म और अधर्म का भी कारयिता (करवाने वाला) हेतु रूप से और फल का दाता रूप से ईश्वर व्यपदिष्ट (कथित, उपदिष्ट) होता है कि (यह ईश्वर ही जीव के वासना

आदि के अनुसार उस जीव से पुण्य कर्म करवाता है कि जिसको ऊपर ले जाना चाहता है और वही उससे पाप कर्म करवाता है कि जिसको नीचे ले जाना चाहता है) । भगवद्-गीता में भी यह अर्थ स्मृत होता है (कहा जाता है) कि (जो-जो कामी जीव जिस-जिस देव शरीर को थढ़ा युक्त भक्त होकर पूजना चाहता है, उस जीव की उसी थढ़ा को मैं स्थिर करता हूँ और वह उस थढ़ा से युक्त होकर उस देव शरीर का आराधन करता है, फिर उससे मुझ ईश्वर से ही विहित निमित्त उन कामों भोगों को अवश्य ही प्राप्त करता है) । सभी वेदात्तो में ईश्वर रूप हनु जन्म ही मृष्टियाँ कही जाती हैं और वही ईश्वर को फल हनुत्व है कि जो स्व-स्व कर्मों के अनुसार प्रजा की मृष्टि ईश्वर करता है । जीव के वृत्त प्रयत्न (कर्म) की अपेक्षा पूर्वक उसके अनुसार मृष्टि आदि करने में ही विचित्र कार्य की अनुपपत्ति आदि दोष भी ईश्वर को नहीं प्राप्त होते हैं । अर्थात् वृत्त-प्रयत्नापक्षेण ईश्वर के होने में दोषों का अभाव है ॥ ४१ ॥

जीवेशया स्वरूपोज्ञ सविद्यो निरूपित ।

दिवेकाय च धर्माय भक्त्या शुद्धस्य लब्धये ॥ १ ॥

सर्वावस्थामु यो जीवान् पाति भोगप्रदानत ।

अन्ने ददाति मोक्ष च भक्त्या तस्मै नमाम्यहम् ॥ २ ॥

विश्वम्भर विश्वकर मलारि, विश्वेश्वर विश्वपर च विश्वम् ।

विश्वामवाम जगता निवाम, राम गुरु जन्महर नमामि ॥ ३ ॥

विश्वोद्भवे विश्वलये स्थितौ वा सदाऽऽहायार्जि करोति सर्वम् ।

यो विश्वनाथोऽखिलशक्तिमुक्तस्त सादर जन्महर नमामि ॥ ४ ॥

माया यदीयाऽखिलकार्यशक्ता स्वयं मदा साक्षितया विरक्त ।

सक्तो न च क्वापि न वा विरक्तस्त सादर जन्महर स्मरामि ॥ ५ ॥

मन्त्राज्मय भौतिकर खलानामात्मानमेव ह्यजमद्वितीयम् ।

सर्वं स्वभासा किल कार्यन्त हेतुत्वमुक्त हृदि सस्मरामि ॥ ६ ॥

मदात्मना विश्वमिदं विमात सत्यं तदासीदधुना च सत्यम् ।

मृदात्मना पिण्डघटादि यद्वत्त व्यापक सर्वमयं नमामि ॥ ७ ॥

भीतो यदीयं भयेन सर्वो बलधादिदेव कुर्वते स्वकर्म ।

यत्र म्रियते वा उदितश्च यस्मात्त देवदेव मनसा नमामि ॥ ८ ॥

आत्मा विमृत्सुविजगो विपाप्मा विशावसन्त्य खलु सत्यकाम ।

कामान् समस्तान् विमृजन्कामो यो नित्यमान्ते ननु तं नमाम ॥ ९ ॥

य आविराम्ने हृदि सर्वजतोऽहं नूतनो मानसपुष्पभृद्ग ।

लिङ्गं विमुक्तं परं परं न नमामि राम स्वगुरु विशुद्धम् ॥ १० ॥

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

[अथ परापराब्रह्मविद्यागुणोपसंहारविवरणम्]

सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण (१)

सर्ववेदेष्वनेकत्वमुपास्तेरथैकता । अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ॥ ॥

विधिरूपफलैकत्वादेकत्वं नाम न श्रुतम् । शिरोव्रताख्यधर्मस्तु स्वाध्याये स्यान्न वेदने ॥२॥

(सर्वेषु वेदान्तेषु प्रत्ययः प्रतीतिर्ज्ञानं विधिर्यस्य तत्सर्वं वेदान्तप्रत्ययं ब्रह्मोपासनमेकं परस्परभेदरहितमिति मन्तव्यम्, विधिफलरूपादिषु, विशेषोपाभावात्) सब वेदान्त में जिसका ज्ञान होता है वह विधि है, ऐसी जो ब्रह्म की उपासना है, सो एक है, ऐसा मानना चाहिये, उस एकता में विधिरूप फलादि का अभेद हेतु है । इसीसे विधि आदि जिन के भेद रहित हैं, सो किसी वेदान्त में हो उन्हें एक समझना चाहिये और विधि फल रूपादि के भेद से भिन्न समझना चाहिये । यह सूत्र का अर्थ है । यहाँ संशय होता है कि सब वेदों में उपासना की अनेकता है अथवा एकता है । पूर्वपक्ष है कि पूर्वमीमांसा में, शाखान्तराधिकरण में, नाम, रूप, और धर्मादि के भेद से कर्म का भेद कहा गया है । वैसे ही कठ, कौथुम, वाजसनेय, आदि वेद के भेद से नामों के भेद होने से, और शिरोव्रतादि धर्मों के भेद से उपासना में अनेकता होनी चाहिये । सिद्धान्त है कि (एक वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्) अर्थ (फल) का संयोग, द्रव्य देवतात्मक रूप, विधि रूप चोदना और आख्या की अविशेषता से कर्म एक होता है । इस सिद्धान्त सूत्र के अनुसार यहाँ भी विधि रूप और फल की एकता से विद्या में एकता है और कठकौथुमादि जो नाम हैं, वे ज्योतिष्टोमादि कर्म भेदक नामों के समान श्रुति में नहीं सुने गये हैं । ये अव्यापनादि निमित्तक नाम हैं, ये उपासना के भेदक नहीं हो सकते हैं, और इसी प्रकार शिरोव्रत नामक जो धर्म है वह (नैतदचीर्णव्रतोधीते) इस श्रुति के अनुसार अध्ययन का धर्म है उपासना का धर्म नहीं है ॥ १-२ ॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम् । इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि भिद्यन्ते न वेति विचार्यते । ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितमेकरसं सैन्धवधनवदवधारितं, तत्र कुतो विज्ञानभेदाभेदचिन्तावतारः । नहि कर्मवहुत्ववद्ब्रह्मवहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपादयिषितमिति शक्यं वक्तुम्, ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च । न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि विज्ञानानि सम्भवन्ति, नह्यन्यथार्थोज्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति । यदि पुनरेकस्मिन्ब्रह्मणि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि तेषामेकमभ्रान्तं भ्रान्तानीत-

राणीत्यनाश्वासप्रसङ्गो वेदान्तेषु । तस्मान्न तावत्प्रतिवेदान्तं ब्रह्मविज्ञानभेद आशङ्कितुं शक्यते । नाप्यस्य चोदनाद्यविशेषादभेद उच्यते, ब्रह्मविज्ञानस्या-
चोदनालक्षणत्वात् । अविधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्मवाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं
जन्यत इत्यवोचदाचार्यं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र । तत्त्व-
थमिमा भेदाभेदचिन्तामारभत इति ।

विज्ञेय (मुमुक्षु मे अवश्य ज्ञातव्य) ब्रह्म का तत्त्व (स्वरूप) व्याख्यात (निरूपित) हो चुका है । अब इस समय तो प्रत्येक वेदान्त में विज्ञान भिन्न होने हैं, या नहीं, यह विचार किया जाता है । यहाँ शका होती है कि पूर्व अपर आदि भेदों में रहित सैन्यवधन (लवणपिण्ड) के समान एक रस विज्ञेय ब्रह्म अवधारित (निश्चित) हो चुका है । उसमें विज्ञान के भेद और अभेद की चिन्ता (विचार) का अवतार (जन्म) किसी से हो सकता है । अर्थात् वेद्य वस्तु के भेद से विद्या का भेद हो सकता है । एक रस एक वस्तु विषयक विद्या का भेद भ्रम रूप ही होगा । क्योंकि कर्म के बटुव के समान ब्रह्म के बटुत्व भी वेदान्तों में प्रतिपादन की इच्छा का विषय है । इस प्रकार ब्रह्म के एकत्व और एक रसत्व में कहा नहीं जा सकता है और एक स्वरूप ब्रह्म में अनेक रूप वाले विज्ञानों का सम्भव नहीं है । जिसमें अन्यथा अर्थ हो, और उसमें अन्य प्रकार का ज्ञान हो तो इस अवस्था में वह ज्ञान अभ्रान्त (भ्रमभिल) नहीं होता है और यदि एक ब्रह्म विषयक बहुत विज्ञान वेदान्तों में प्रतिपादन की इच्छा के विषय हों, तो उनमें से वस्तु के अनुसार होने वाला एक विज्ञान अभ्रान्त होगा, और अन्य सब विज्ञान भ्रान्त होंगे, फिर इस अवस्था में वेदान्तों में ब्रह्म विज्ञान के भेदों की आशंका ही नहीं की जा सकती है । इसी प्रकार अभेद भी नहीं कहा जा सकता है । जिसमें ब्रह्म विज्ञान को अचोदनालक्षणत्व (अचोदना स्वरूपत्व, चोदना से अजन्यत्व) है । आचार्य ने (तत्तु समन्वयात्) इस सूत्र में कहा है कि अविधि प्रधान (विधि प्रधानता में रहित) वस्तु मात्र में पर्यवसान (तात्पर्य वाले) ब्रह्म शेषक वाक्यों में ब्रह्म का विज्ञान उत्पन्न होता है । वहाँ फिर यह भेदाभेद की चिन्ता (विचार) का आरम्भ आचार्य कैसे करते हैं ।

तदुच्यते—मगुणब्रह्मविषया प्राणादिविषया चैव विज्ञानभेदचिन्तेत्य-
दोषः । अत्र हि कर्मवदुपाननाना भेदाभेदो सम्भवत कर्मवदेव चोपामनानि
दृष्टफलाद्यदृष्टफलानि चोच्यन्ते, क्रममुक्तिफलानि च कानिचित्प्रमाणानो-
त्पत्तिद्वारेण । तेष्वेवा चिन्ता सम्भवति—'किं प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद आहो-
म्वित्' इति । तत्र पूर्वपक्षहेतवस्तावदुपन्यस्यन्ते । नाम्नास्तावदभेदप्रतिपत्ति-
हेतुत्व प्रसिद्धं ज्योतिरादिषु । अस्मि चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्य-
दन्यग्राम तैत्तिरीयक वाजमनेयक कौषुमिक शांखायनकमित्येवमादि । तथा
रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादनं प्रसिद्धं 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिन्यो
वाजिनम्' इत्येवमादिषु । अस्ति चात्र रूपभेद, तथा—कैचिच्छाग्नि-

पञ्चाग्निविद्यायां पष्ठमपरमग्निमामनन्त्यपरे पुनः पञ्चैव पठन्ति तथा प्राण-
संवादादिषु केचिद्वृत्तान्वागादीनामनन्ति केचिदधिकान् । तथा धर्मविशेषोऽपि
कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु । अस्ति चात्र धर्मविशेषः,
यथाऽऽथर्वणिकानां शिरोव्रतमिति । एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि भेदहेतवो
यथासम्भवं वेदान्तान्तरेषु योजयितव्याः । तस्मात्प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति ।

वहाँ उत्तर कहा जाता है कि सगुण ब्रह्म विषयक और प्राणादि विषयक यह
विज्ञान भेद की चिन्ता है इससे दोष नहीं है । इस वेदान्त में कर्मों के समान उपा-
सनाओं के भेद और अभेद का सम्भव है और कर्म ही के समान उपासना भी दृष्ट
फल वाली और अदृष्ट फल वाली कही जाती है और कोई उपासना सम्यग् ज्ञान की
उत्पत्ति द्वारा क्रममुक्ति फल वाली होती है । उस उपासना रूप विज्ञान विषयक इस
चिन्ता का सम्भव है कि प्रत्येक वेदान्त में विज्ञान का भेद है, अथवा भेद नहीं है ।
जहाँ प्रथम पूर्वपक्ष के हेतु कहे जाते हैं वहाँ प्रथम ज्योति आध्वर्यव-हीन, आदि
वाक्यों में नाम को भेद प्रतीति का जनकत्व प्रसिद्ध है । अर्थात् ज्योतिष्टोम नामक याग
के प्रकरण में (अथैष ज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत) यह वाक्य
पढ़ा हुआ है । वहाँ ज्योति शब्द से ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके उसमें सहस्र दक्षिणा
रूप गुण का विधान है । इस प्रकार पूर्वपक्ष है और सिद्धान्त है कि वाक्य गत अथ-
शब्द से ज्योतिष्टोम के प्रकरण का विच्छेद हो चुका है, और अपूर्व ज्योति यह नाम
है । इस नाम भेद से यह ज्योतिष्टोम से भिन्न ज्योति नाम वाला कर्म है इत्यादि ।
इसी प्रकार यहाँ भी अन्य वेदान्ता में विहित विज्ञान विषयक अन्य-अन्य नाम, तैत्ति-
रीयक, वाजसनेयक, कौथुम, शाटघायनक इत्यादि हैं । इससे विज्ञान में भेद भास
सकता है । इसी प्रकार कर्म के भेद का प्रतिपादक रूप भेद भी प्रसिद्ध है कि (वैश्वदेव्या-
मिक्षा वाजिम्यो वाजिनम् । ऐन्द्रं दधि ऐन्द्रं पयः) इत्यादि में रूप भेद से कर्म का भेद है ।
अर्थात् (विश्वेदेवा देवता यस्याः सा वैश्वदेवी आमिक्षा) विश्वेदेव नामक जिसका
देव है सो आमिक्षा है और वाजियों (देव) के लिए वाजिन है । इन्द्र देवता वाला
दधि है । इन्द्र देवता वाला पय है । ये चार कर्म हैं, क्योंकि द्रव्य और देवता याग रूप
कर्म के रूप होते हैं । वहाँ प्रथम कर्म के आमिक्षा और विश्वेदेव रूप हैं । दूसरे के
वाजि और वाजिन रूप हैं । तीसरे के इन्द्र और दधिरूप हैं, चाँये के इन्द्र और पय रूप
हैं । वहाँ (तप्ते पयसि दधानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिम्यो वाजिनम्) इस
वचन के अनुसार गरम दूध में दही देने से फट कर जो कठिनांश होता है, उसको
आमिक्षा कहते हैं, और उसके पानी भाग को वाजिन कहते हैं । मीमांसा में विचार
है कि वाजि शब्द से विश्वेदेव का ही अनुवाद करके वैश्वदेव याग में ही वाजिन
गुण का विधान होना चाहिये । ऐसी शंका करके उत्तर है कि कर्म के स्वरूप की
बोधक विधि को उत्पत्ति विधि कहते हैं और उत्पत्ति विधि में उपदिष्ट आमिक्षा से

ही उस याग में द्रव्य की आकाशा शान्त हो गई है। इससे वाजि नामक देव और वाजिन रूप द्रव्यात्मक रूप के भेद से यह वैश्वदेव याग में भिन्न कर्म का विधान है। इसी प्रकार यहाँ वेदान्त में भी विज्ञान का रूप भेद है। वह इस प्रकार है कि कोई शाखा वाले पञ्चाग्नि विद्या में पष्ठ अन्य अग्नि का भी कथन करते हैं और अथ कोई पाँच ही का पढ़ते हैं। इसी प्रकार प्राणों के सवादादि में कोई न्यून वाक् आदि कथन करते हैं और कोई अधिक का कथन करते हैं। इसी प्रकार कारीरि आदि में कर्म भेद का प्रतिपादक धर्म विशेष भी आशङ्कित है कि कारीरी वाक्यों को पढ़ने वाले कोई भूमि में भोजन करते हैं, कोई ऐसा नहीं करते हैं, जहाँ कर्म भेद है अथवा नहीं है इत्यादि। और यहाँ धर्म विशेष है। जैसे कि आयर्वर्णिको का शिरोव्रत है। इसी प्रकार (समिधो यजति, तनूनपात यजति) इत्यादि वाक्यों में यजति पद की पुनरुक्ति (अम्यास) से पाँच प्रयाजों का भेद कहा गया है। जैसे ही शाखान्तर में अम्यास में विद्या का भेद प्राप्त होता है। इस प्रकार पुनरुक्ति आदि भी भेद के हेतु हैं, सो यथा-सम्भव अथ वेदान्त में भी योजना (सम्बन्ध) के योग्य हैं। जिससे प्रत्येक वेदान्त में विज्ञान का भेद है। अर्थात् (नाम-रूप-धर्म-विशेष-पुनरुक्ति-निन्दा-सक्ति-समाप्तिवचन-प्रायश्चित्तान्यायदर्शनान्छात्वान्तरे कर्मभेद स्यात्) निन्दा, अशक्ति, समाप्तिवचन में भेद, प्रायश्चित्त और अन्यायदर्शन (अर्थवाद) इन सबसे कर्म भेद की राका होती वहाँ अग्निहोत्र के प्रसंग में निन्दा और प्रायश्चित्त में अग्निहोत्र का भेद होता है। इन हेतुओं में निन्दा का प्रसंग वेदान्त में नहीं आता है। अन्य सब का प्रसंग आता है।

एव प्राप्ते भूम—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिन्तस्मिन्वेदशान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति। कुत ? चोदनाद्यविशेषात्। आदिग्रहणेन शाखान्तराधिकारणसिद्धान्तमूत्रोदिता अभेदेहेनव इहाकृष्यन्ते, सयोगरूपचोदनाभ्याविशेषादित्यर्थः। यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदोऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते जुहुयादिति। एव 'यो ह वै ज्येष्ठश्च श्रष्टश्च वेद' (वृ० ६।१।१ छा० ५।१।१) इति वाजमनेयिना छन्दोगानां च तादृश्येव चोदना। प्रयोजन-सयोगोऽप्यविशिष्ट एव 'ज्येष्ठश्च श्रष्टश्च स्वानां भवति' (वृ० ६।१।१) इति। रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य यदुत ज्येष्ठश्रष्टादिगुणप्रशोषान्वित प्राणनस्त्वम्। यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपमेव विज्ञेयरूप विज्ञानस्य तेन हि तद्रूप्यते। समाम्यार्जप मैत्र प्राणविद्येति। तस्मात्सर्ववेदान्तप्रत्ययान्व विज्ञानानाम्। एव पञ्चाग्निविद्यावैश्वानरविद्याशाण्डिल्यविद्येन्येयमादिषु योजयितव्यम्। ये तु नाम-रूपादयो भेदेहेत्वाभागान्ते प्रथम एव वाण्डे 'न नाम्ना म्यादचोदनाभिधान-त्वात्' इत्यारभ्य परिहृता ॥ १ ॥

इस प्रकार पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि (सर्ववेदान्त प्रतीयन् इति सर्ववेदान्तप्रत्ययानि) सब वेदांतों से जो समझे जाते हैं जिनमें सब वेदान्त प्रमाण

हैं। ऐसे विज्ञान तत्त्व वेदान्तों में वे ही होने योग्य हैं। यह किस प्रमाण से समझा जाय कि सब वेदान्त में वे ही विज्ञान हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि चोदना (विधि) आदि की अविशेषता से समझा जाता है। यहाँ सूत्रगत आदि शब्द से पूर्व-मीमांसा के शाखान्तराधिकरण के सिद्धान्त सूत्र में कथित अभेद के साधक हेतु आकृष्ट होते हैं कि फल का संयोग, रूप, चोदना और आख्या (नाम) की अविशेषता से विज्ञानों का भेद नहीं है यह सूत्र का अर्थ है। जैसे एक अग्निहोत्र में शाखा के भेद होने पर (जुहुयात्) हवन से इष्ट का सम्पादन करे। इस वचन से पुरुष प्रयत्न वैसा ही विहित होता है कि जैसा एक शाखा में विहित होता है। इसी प्रकार (जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जाने) यह वाजसनेयी और छन्दोगों की सदृश ही विधि है और प्रयोजन (फल) का संयोग भी तुल्य ही है कि (अपने सम्बन्धियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है और ज्येष्ठ श्रेष्ठ आदि गुण विशेषण से युक्त जो प्राणतत्त्व है। वही दोनों शाखा में विज्ञान का रूप है। जैसे याग के द्रव्य और देवता रूप होते हैं। इसी प्रकार विज्ञान का विज्ञेय विषय रूप होता है। जिससे जिस विषय द्वारा ही विज्ञान विशेष रूप वाला किया जाता है, निरूपित होता है। प्राणविद्या यह समाख्या (यौगिक नाम) भी दोनों शाखा में वही एक ही है। जिससे विज्ञानों को सब वेदान्तों से प्रत्ययत्व (ज्ञेयत्व) है। इसी प्रकार पञ्चाग्निविद्या, वैश्वानरविद्या, और शाण्डिल्यविद्या इत्यादि में विधि रूपादि की योजना करनी चाहिये। जो काठक कौयुम आदि नाम और रूपादि भेद के हेतु के समान भासते हैं उनका प्रथम काण्ड (पूर्वमीमांसा) में ही (न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वान्) इस प्रकार आरम्भ करके परिहार (निवारण) किया गया है कि काठकादि नामों से कर्म का भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि काठकादि शब्द ग्रन्थ के नाम हैं, चोदना (विहित कर्म) के वाचक नहीं है। कर्म वाचक नाम के भेद से कर्म का भेद होता है। इससे भिन्न नाम वाले शाखा ग्रन्थ के भेद रहते भी उससे विहित कर्म एक ही होता है। अल्प रूप के भेद से कर्म भिन्न नहीं होता है। धर्म विशेष अव्ययन का अङ्ग है कर्म का नहीं है इत्यादि ॥ १ ॥

इहापि कञ्चिद्विशेषमाशङ्क्य परिहरति—

यहाँ भी किसी विशेष की आशंका करके परिहार करते हैं—

भेदाच्चेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

स्यादतत् । सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानां गुणभेदान्नोपपद्यते । तथाहि वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य पृष्ठमपरमग्निमामनन्ति—‘तस्याग्निरेवाग्निर्भवति’ (वृ० ६।२।१४) इत्यादिना । छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पञ्चसंख्ययैव च त उपसंहरन्ति ‘अथ ह य एतानेव पञ्चाग्नीन्वेद’ (छा० ५।१०।१०) इति । येषां च स गुणोऽस्ति येषां च नास्ति कथमुभयेपामेका विद्योपपद्येत ।

नचात्र गुणोपमहार शक्यते प्रत्येतु, पञ्चमङ्ग्याविरोधात् । तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्याश्चतुर प्राणान्वाक्चक्षु श्रोत्रमनासि छन्दोगा आमनन्ति । वाजसनेयिनस्तु पञ्चममप्यामनन्ति 'रेतो वै प्रजापति प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एव वेद' (बृ० ६।१।६) इति । आवापोद्वापभेदाच्च वेद्यभेदो भवति । वेद्यभेदाच्च विद्याभेदो द्रव्यदेवताभेदादिव यागस्येति चेत् ।

चोदना आदि के अविलोप होने पर यह विज्ञान का एकत्व हो सकता है । परन्तु गुणों के भेद में विज्ञानों को सर्व वेदान्त प्रत्ययत्व उपपन्न नहीं होता है । जिससे पञ्चाग्नि विद्या को प्रस्तुत करके वाजसनेयी अन्य पक्षी अग्नि का इस प्रकार कथन करते हैं कि (उस मृतक पुरुष के दाह रूप आहुति के लिये प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है) इत्यादि से कल्पना करते हैं । इसलिये छन्दोग लोग उसका कथन नहीं करते हैं किन्तु पाँच सध्या से हो वे लोग पञ्चाग्नि विद्या का उपसंहार (समाप्ति) करते हैं (फिर जो कोई इन पाँचों अग्नियों को जानता है वह महापापिया के साथ व्यवहार करता हुआ भी पाप में लिप्त नहीं होता है) इत्यादि । जिस वाजसनेयी को वह पञ्चाग्नि रूप गुण है । जिस छन्दोग को वह गुण नहीं है । उन दोनों की विद्या एक वैसे उपपन्न हो सकती है । यदि कहा जाय कि मृतक दाह के लिए जो वाजसनेयी शाखा में प्रसिद्धाग्नि है, उसका छन्दोग्य में उपसंहार (प्राप्ति, स्वीकार) करने में रूप का भेद नहीं रहेगा । जहाँ कहा जाता है कि इस छन्दोग्य में से गुण का उपसंहार (ग्रहण) नहीं सम्भवा जा सकता है । क्योंकि ऐसा करने से पाँच सध्या से विरोध होगा । इसी प्रकार प्राणसंवाद में छन्दोग लोग श्रेष्ठ प्राण में अन्य वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनरूप चार प्राणों का कथन करते हैं । वाजसनेयी तो पञ्चम प्राण का भी कथन करते हैं कि रेत (वीर्य) प्रजनन शक्तियुक्त इन्द्रिय ही प्रजापति है । (ऐसा जो सम्भवा है वह प्रजा और पशु से सम्पन्न होता है) इत्यादि । अधिक गुणादि के आवाप (पश्चिपे, प्राप्ति) और उद्वाप (उद्धरण, निष्कासन) से भी वेद्य (ज्ञेय) पदार्थों का भेद होता है । द्रव्य देवता के भेद से याग भेद के समान वेद्य के भेद से विद्या का भेद होता है । इससे उक्त स्थानों में विद्या का भेद है ।

नैव दोष । यत्त एकस्यामपि विद्यायामेवजानीयको गुणभेद उपपद्यते । पष्ठम्याग्नेरुपमहारो न सम्भवति तथापि द्युप्रभूर्नाना पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् विद्याभेदो भवितुमर्हति, नहि षोडशग्रहणाग्रहणयोर- रतिराभिद्यते । पठ्यतेऽपि च पष्ठोऽग्निश्छन्दोगे — 'तं ग्रन्तं दिष्टमितीज्जन्त एव हरन्ति' (छा० ५।१।२) इति । वाजसनेयिनस्तु मापादिवेषु पञ्चम्वग्नि- प्वनुवृत्तायाः समिद्धमादिवत्पनाया निवृत्तये 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्य- मित्' (बृ० ६।२।१४) इत्यादि समामनन्ति न नित्यानुवादः । अध्याप्याग्नि- नार्य एव वादन्त्यापि न गुण शक्यते छन्दोगैरप्युपमहर्तुम् । न चात्र पञ्च- सत्स्याविरोध आशङ्क्य, माभ्यादिकाग्न्याभिप्राया ह्येषा पञ्चमद्रव्या नित्यानुवा-

दभूता न विधिसमवायिनीत्यदोषः । एवं प्राणसंवादादिष्वप्यधिकस्य गुणस्ये-
तरत्रोपसंहारो न विरुध्यते । नचावापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाशङ्क्यः,
कस्यचिद्वेद्यांशस्यावापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात् । तस्मादैक-
विद्यमेव ॥ २ ॥

यदि ऐसी शङ्का हो तो कहते हैं कि यह विद्या का भेद रूप दोष नहीं है । जिससे
एक विद्या में भी इस प्रकार के गुण का भेद उपपन्न होता है । यद्यपि छान्दोग्य में पृष्ठ
(छठी) अग्नि का उपसंहार नहीं हो सकता, तथापि स्वर्गादि पाँच अग्नियों की दोनों
शाखाओं में प्रत्यभिज्ञा होती है । इससे पाँच अग्नियों को दोनों स्थानों में प्रत्यभिज्ञाय-
मानत्व (प्रत्यभिज्ञाविषयत्व) है । इससे विद्या का भेद होने योग्य नहीं है । षोडश
पात्र के ग्रहण और अग्रहण मात्र से अतिरात्र याग का भेद नहीं होता है । अर्थात् अल्प
गुणादि के भेद से जैसे कर्म में भेद नहीं होता वैसे अल्पवेद्य के भेद से विद्या का भेद
नहीं हो सकता । छन्दोगों से पृष्ठी अग्नि पढ़ी भी जाती है कि (पारलौकिक कर्म में
वर्तमान के उस मृतक देह को इस ग्राम में अग्नि के लिए लोग ले जाते हैं) । यदि कहों
कि छान्दोग्य में अग्निमात्र सुना गया है । अन्यत्र समित् आदि अधिक पढ़े जाते हैं । इससे
विद्या का भेद है तो कहा जाता है कि वाजसनेयी भी साम्पादिक (कल्पित) पाँच
अग्नियों में अनुवृत्त (सम्बद्ध) समित् धूमादि कल्पना की निवृत्ति के लिए (उस मृतक
के दाह अन्त्येष्टि के लिए प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है, प्रसिद्ध समित् ही समित् है) इत्यादि
पढ़ते हैं, सो नित्यानुवाद (प्रसिद्धानुवाद) रूप है । यदि यह उपासना के लिए अनुवाद
है, तो भी वह गुण छन्दोगों से उपसंहार किया जा सकता है । उपसंहार करने पर पाँच
संख्या के साथ विरोध की शंका भी यहाँ करने योग्य नहीं है, क्योंकि सम्पत्तिविधिसिद्ध
अग्नि के अभिप्राय से ही यह पञ्चत्व रूप संख्या नित्यानुवाद रूप है विधि के साथ
सम्बन्ध वाली ध्येय नहीं है, इससे दोष नहीं है । इसी प्रकार प्राणसंवाद आदि में भी
अधिक गुण का अन्यत्र उपसंहार विरुद्ध नहीं होता है । आवाप-उद्वाप के भेद से वेद्य के
भेद और विद्या के भेद की आशंका भी करने योग्य नहीं है । क्योंकि किसी वेद्यांश के
आवाप और उद्वाप (वृद्धि और ह्रास) होने पर भी भूयः (बहुत) वेद्यराशि के
अभेद के अवगम से भेद शङ्का का कोई हेतु नहीं है । जिससे सब वेदान्त में एक विद्यात्व
ही है ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च

सर्ववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

यदप्युक्तम्—आथर्वणिकानां विद्यां प्रति गिरोब्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तद-
नपेक्षणाद्विद्याभेद—इति, तत्प्रत्युच्यते । स्वाध्यायस्यैव धर्मो न विद्यायाः ।

कथमिदमवगम्यते ? यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति समामनन्ति । 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीत' (मु० ३।२।११) इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादयं यनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैव इति निर्धार्यते ।

जो यह भी कहा था कि अथर्वशाखा वालों की विद्या के प्रति (विद्या की प्राप्ति में) शिरोव्रतादि की अपेक्षा की जाती है और अन्य की विद्या की प्राप्ति में शिरोव्रतादि की अपेक्षा नहीं की जाती, इससे धर्मभेद में विद्या का भेद है । उसका प्रत्युत्तर कहा जाता है कि शिरोव्रतादि स्वाध्याय का धर्म है । अर्थात् स्वशब्द का अर्थ मुण्डक उपनिषद् है । अध्ययन को अध्याय कहते हैं । इससे मुण्डक के अध्ययन का यह धर्म है, विद्या का धर्म नहीं है । यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है कि यह स्वाध्याय का ही धर्म है, तो कहा जाता है कि जिससे आथर्वणिक लोग कहते-पढ़ते हैं कि तथात्वरूप से अर्थात् स्वान्याय के धर्मत्वरूप में व्रतों के उपदेशपरक समाचार (सम्प्रगाचार) रूप अर्थात् सदाचार के प्रतिपादक ग्रन्थ में, यह शिरोव्रतादि भी वेदव्रतरूप में अर्थात् वेदाध्ययन व्रत (धर्म) रूप से व्याख्यात (कथित) है । इस कथन से स्वाध्याय धर्म जाना जाता है । (एतत् इस मुण्डक का अध्ययन वह नहीं करता है कि जिसने शिरोव्रत नहीं किया है) इस वचन में अधिकृतविषयक एतत् शब्द और अध्ययन शब्द से भी अपनी उपनिषद् के अध्ययन का ही यह धर्म है ऐसा निर्धारण (निश्चय) किया जाता है ।

ननु च 'तेषामेवेता ब्रह्मविद्या वेदेच्छिरोव्रत विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' (मु० ३।२।१०) इति ब्रह्मविद्यामयोगश्रवणादेकैव सर्वत्र ब्रह्मविद्येति संकीर्त्येतेषां धर्मः । न । तत्राप्येतामिति प्रकृतपरामर्शात् । प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्यायां ग्रन्थविशेषापेक्षमिति ग्रन्थविशेषमयोग्येतेषां धर्मः । सर्ववच्च तद्विषय इति निदर्शननिर्देशः । यथा च सवा मत्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितव्रैताग्न्यनभिगम्यन्धादाथर्वणोदितैकाग्र्यभिसम्बन्धाच्चाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते तथैवायमपि धर्मः स्वाध्यायविशेषसम्बन्धात्तत्रैव नियम्यते । तस्मादप्यनवय विद्यैकत्वम् ॥३॥

शका होती है कि (जिन्होंने शिरोव्रत का विधियुक्त अनुष्ठान किया है, उनके ही प्रति यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये) इस प्रकार ब्रह्मविद्या के साथ व्रत के समान के श्रवण में और सर्वत्र ब्रह्मविद्या के एक ही होने से यह धर्म सर्वत्र सर्वांग (सम्बद्ध) होगा और यदि नहीं सम्बद्ध होता है, तो सर्वत्र ब्रह्मविद्या एक नहीं है, विद्या का भेद है । उत्तर है कि इस धर्म का सर्वत्र सम्बन्ध नहीं होता है न वस्तुन विद्या का भेद है, जिसमें उस वचन में भी (एताम्) इस पद में प्रकृत का परामर्श (स्मरण) होने न ब्रह्म के बोधक श्रवण का ही वाचक ब्रह्मविद्या शब्द है । अर्थात् एताम्, इसमें प्रकृत का परामर्श होता है । ब्रह्मविद्या को प्रकृतत्व श्रवणविशेष की ओरशा से है, इसमें ग्रन्थविशेष का

सम्बन्धी यह धर्म है। (सववच्च तन्नियमः) सूत्र में यह निदर्शन (दृष्टान्त) का निर्देश (कथन) है। सव शब्द होम, यज्ञविशेष का वाचक है। यहाँ जैसे शतौदन-पर्यन्त सीर्यादि नाम वाले सात होम, वेदान्तर (अन्य वेद) में कथित आहवनीय आदि त्रेताग्नि (तीन अग्नि) के साथ सम्बन्धाभाव, और आथर्वण में कथित एकपि नामक एक अग्नि के साथ सम्बन्ध के कारण आथर्वणिकों के ही लिए नियमित होते हैं, कि आथर्वणिकों को उस एक अग्नि में ही उक्त सातों होम करना चाहिए अन्य में नहीं। इसी प्रकार यह भी शिरोव्रतादि धर्म स्वाध्यायविशेष के साथ सम्बन्ध से उस स्वाध्याय (अध्ययन) में ही नियमित होता है इससे भी विद्या की एकता दोष रहित है ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु वैद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० २।१५) इति, तथा 'एतमेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' इति च। तथा 'महद्भ्यं वज्रमुद्यतम्' (क० ६।२) इति काठके उक्तस्येश्वरगुणस्य भयहेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शन-निन्दायै परामर्शो दृश्यते 'यदा हंवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (त० २।७।१) इति। तथा वाजसनेयके प्रादेशमात्रसंपादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम् 'यस्त्वेतमेव प्रादेश-मात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५।१८।१) इति। तथा सर्व-वेदान्तप्रत्ययत्वेनाज्यत्र विहितानामुक्थादीनामन्यत्रोपासनविधानाद्योपादानात्प्राय-दर्शनन्यायेनोपासनानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥ ४ ॥

वेद्यब्रह्म की एकता के उपदेश से निर्गुण ब्रह्मविद्या की एकता को वेद भी सब वेदान्तों में दर्शाता है तथा उसके सन्निधिपाठादि से सगुण विद्याओं की भी एकता दर्शाता है कि (सब वेद जिस प्रासव्य वस्तु का प्रतिपादन करते हैं) इति। इसी प्रकार (इसी ब्रह्मात्मा को बह्वृच, ऋग्वेदी महान् उक्थ में विचार करते हैं, इसी को अग्नि में अध्वर्यु होम द्वारा पूजते हैं, छन्दोग महाव्रत में इसका ध्यान करते हैं) यह वचन भी सगुण की एकता को दर्शाता है। इसी प्रकार (जगत् का कारणरूप ब्रह्म महामय का हेतु है, उद्यत वज्र के समान है) इस कठसम्बन्धी वचन में कहा गया भयहेतुत्वरूप ईश्वर के गुण का भेददर्शन की निन्दा के लिए तैत्तिरीयक में परामर्श देखा जाता है कि (जब यह अज्ञ जीव इस अद्वैत ब्रह्म में परम् उत् अल्प भी अन्तर, भेद देखता-समझता है, तब उसको भय होता है। जिससे ब्रह्म के मनन विचारादि से रहित विद्वान् के लिए भी वह ब्रह्म ही भय का हेतु होता है) यह परामर्श दर्शन एकता को सिद्ध करता है। इसी प्रकार वाजसनेयक में प्रादेशमात्ररूप से सम्पादित (कल्पित) वैश्वानर का छान्दोग्य में सिद्ध वस्तु के समान उपादान (ग्रहण) भी वैश्वानरविद्या की

प्रकृता को दर्शाना है कि (जो कोई इस वैदिकार को यथोक्त रीति से सुमूर्धादि रूप प्रदत्ता ने युक्त प्रादेशमात्र अग्निविमान, प्रत्यगात्मक रूप से ज्ञायमान आत्मारूप में उपासना करता है वह सर्वत्र अन्त ग्राता है) इति । जैमे निर्गुण और समुण ब्रह्म को एकता है, उसकी विद्या निम्न नहीं होनी है, इसी प्रकार अन्यत्र विहित (उक्त) उक्त्वादि (वेदाद्य आदि) के अन्य स्थान में उपासना विधान के लिये ग्रहण से सर्व-वेदान्तों में उक्त्वादि के प्रत्ययत्व (प्रतीयमानत्व) प्रतीतिविषयत्व द्वारा प्रायदर्शन न्याय से बाह्यरूप से उपासनाया की सर्ववेदान्त-प्रत्ययसिद्धि (सब वेदान्त में एकता ज्ञान की सिद्धि) होनी है ॥ ४ ॥

उपसहाराधिकरण (२)

एकैवास्तावनाहार्या आहार्या वा गुणं श्रुती । अनुक्तवादानाहार्या उपहारः श्रुतेषु ॥१॥
श्रुतत्वाद्यज्ञात्वापामाहार्या अग्निहोत्रवत् । विशिष्टविशेषकारः स्वशास्त्रोक्तगुणैः समः ॥२॥

समान (अनेक शास्त्रों में वर्णित एक) विज्ञान-उपासना में वही श्रुत गुण का अन्यत्र अश्रुत गुण के स्थान में अर्थ के अभेद से (प्रयोजन की अवशिष्टता-तुल्यता से) उपसहार (सग्रह, सम्बन्ध) समझना चाहिये, कि जैमे अग्निहोत्र में अन्यत्र उक्त धर्म का अन्यत्र सग्रह होता है, वैसे ही यहाँ भी होता है । यहाँ मशय है कि एक उपासना में अन्यत्र श्रुत गुण आहरण (सग्रह) के योग्य हैं, अथवा अन्य श्रुति में आहरण योग्य नहीं हैं । पूर्वपक्ष है कि जो गुण जिस श्रुति में अनुक्त है सो अनुक्त होने ही में अन्यत्र में उपसहार के अयोग्य है । यदि कहा जाय कि गुण से उपासना में उपकार (विशेष फल) होता है, इसलिए उपसहार करना चाहिए तो कहा जाता है कि श्रुत गुणों से ही उपकार होगा, अन्य गुण का ग्रहण निरर्थक है । सिद्धान्त है कि एक शास्त्र में नहीं श्रुत होने पर अन्य शास्त्रों में श्रुत होने से अग्निहोत्र कर्म के समान विद्या में भी गुण का उपसहार करना चाहिए, क्योंकि उपसहार करने से अपनी शास्त्रों में उक्त गुणों से अन्य उपकार के समान उन उपमहृत गुणों से विशिष्ट (अधिक) विद्या में उपकार होगा अधिक गुण का अधिक फल होगा इत्यादि ॥ १-२ ॥

उपसहारोऽर्थभेदाद्विशेषयत्समाने च ॥ ५ ॥

इदं प्रयोजनमुत्तमम् । स्थिते चैव सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रा-
दिनां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसहारो भवति, अर्थभेदात् ।
य एव हि तेषां गुणानामेकत्रायो विशिष्टविज्ञानोपकारकं स एवान्यत्रापि, उभय-
त्रापि हि तदेवैकं विज्ञानं तस्मादुपसहार विविशेषवत्, यथा हि विधिभेदाणां-
मग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रैतदर्थभेदादुपसहार एक-
मिहापि । यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनिवृद्धत्वाद् गुणानां प्रवृत्ति-
विहितभावाच्च न स्यादुपसहारः । विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति, अथैव तु प्रयोजन-
सूत्रस्य प्रपञ्च सर्वभेदादित्यारम्भ भविष्यति ॥ ५ ॥

भाष्यकार कहते हैं कि विद्या की एकता साधन के प्रयोजन को कहने वाला यह मूत्र है । क्योंकि इस पूर्व कही रीति से सर्ववेदान्त-प्रत्ययत्व (सब वेदान्त से ज्ञेयत्व) के सब विज्ञान के सिद्ध होने पर स्थिर होने पर, अन्यत्र कथित विज्ञान के गुणों का कही अन्यत्र भी समान विज्ञान में अर्थ के अभेद से उपसंहार होता है । जिससे उन गुणों का विशिष्ट विज्ञान का उपकारक जो ही अर्थ (फल, प्रयोजन) एक स्थान में है वही अर्थ उपसंहार करने पर अन्यत्र भी होगा । जिससे दोनों स्थान में एक वही विज्ञान है । इससे उपकार की तुल्यता से विधि शेष (अंग) के समान उपसंहार होता है । जैसे कि विधि के शेषों (अङ्गों) अग्निहोत्रादि के धर्मों का वही एक अग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्र है इस बुद्धि से और अर्थ के अभेद से उपसंहार होता है । इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए । यदि विज्ञान का भेद हो, तब तो गुणों को विज्ञानान्तर में निबद्ध होने से तथा प्रकृति-विकृतिभाव के अभाव से उपसंहार नहीं हो । परन्तु विज्ञान का एकत्व होने पर तो इस प्रकार गुण का अनुपसंहार नहीं होता है । अर्थात् कर्मों में भेद रहते गुण का उपसंहार नहीं होता है । परन्तु प्रकृति-विकृतिभाव के रहने पर प्रकृति कर्म के गुण का विकृति कर्म में (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) प्रकृति के समान विकृति करना चाहिए, इस वचन के अनुसार सम्बन्ध होता है । जिसमें अन्य से गुण की प्राप्ति नहीं हो उसको प्रकृति कहते हैं । अन्य को विकृति कहते हैं । विज्ञान में प्रकृति-विकृतिभाव नहीं होने से भेद रहने पर अन्य के गुण का अन्य में सम्बन्ध नहीं हो सकता है । परन्तु अभेद रहने पर तो सम्बन्ध होता ही है । इसी प्रयोजनमूत्र का सर्वाभेदात् यहाँ से आरम्भ करके विस्तार किया जायगा, पुनरुक्ति नहीं है ॥ ५ ॥

अन्यथात्वाधिकरण (३)

ए० अभिज्ञायादगीथविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः । एका स्यान्नामसानान्यात्संग्रामादिसमत्वतः ॥ १ ॥

उद्गीथावयवोक्कार उद्गातेत्युभयोर्भिदा । वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमन्त्राऽयोजकम् ॥ २ ॥

छान्दोग्य और बृहदारण्यक में उद्गीथ विद्या पढ़ी गई है, वहाँ छान्दोग्य में उद्गीथ के अवयव ओकार की प्राणरूप से उपासना कही गई है । बृहदारण्यक में सम्पूर्ण उद्गीथ के कर्ता उद्गातारूप से प्राण की उपासना कही गई है । इस शब्द भेद से उपासना में अन्यथात्व है, भेद है । ऐसा यदि कोई कहे, तो पूर्वपक्षी कहता है कि इस अल्प भेद से विद्या का भेद नहीं हो सकता है, नामादि बहुत की तुल्यता से विद्या की एकता है । यह मूत्रार्थ है । संदेह है कि छान्दोग्य और काण्व की उद्गीथविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है । पूर्वपक्ष है कि नाम की समानता से तथा सात्त्विक-तामस इन्द्रिय-वृत्तिरूप देवासुर के संग्रामादि की तुल्यता से एक विद्या होनी चाहिए । सिद्धान्त है कि छान्दोग्य में उद्गीथ का अवयव ओकार उपास्य है । अन्यत्र उद्गातारूप प्राण उपास्य है । विज्ञान का वेद्य के भेद से भेद होता है इससे विद्या का भेद है, वेद्य के भेद रहते अर्थवादादि की तुल्यता इस विद्या में अभेद का प्रयोजक (हेतु) नहीं हो सकती है ॥ १-२ ॥

अन्यथात्व शब्दादिति चेन्नाविशोपात् ॥ ६ ॥

वाजमनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तामुरान्यज्ञ उद्गीयेनात्ययामेति' (वृ० १।३।१) 'ते ह वाचमूचुस्त्व न उद्गायेति तथा' (वृ० १।३।२) इति प्रक्रम्य वागादीन्प्राणानमुरपाप्मविद्वत्त्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणपरिग्रहं पठ्यते—अथ हेममामन् प्राणमूचुस्त्व न उद्गायेति तथेति तेभ्य एव प्राण उद्गायन्' (वृ० १।३।३) इति तथा छान्दाग्येपि—'तद्ध देवा उद्गीथमाजह्मरनेनेनानभिभविष्याम' (छा० १।२।१) इति प्रक्रम्येतरान्प्राणानमुरपाप्मविद्वत्त्वेन निन्दित्वा तथैव मुख्यप्राणपरिग्रहं पठ्यते—'अथ ह य एवाय मुख्य प्राणस्तमुद्गीथमुपा-माचक्रिरे' (छा० १।२।३) इति । उभयत्रापि च प्राणप्रशमया प्राणविद्याविधि-रध्ययनीयते । तत्र मशयः—किमत्र विद्याभेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति । किं तावत्प्राप्तः ? पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति ।

वाजसनेयक (बृहदारण्यक) में वर्णन है कि (अमुरा से—तामस वृत्तिया से परा-जिन वे देव कहने लगे कि इस उद्गीथ के कर्तृत्वरूप से इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में अमुरों को जीत कर अपने देवमात्र को प्राप्त करें । ऐसा निश्चय करके उन देवों ने वार्त् के अभिमानी देव में कहा कि तुम हम सब के लिए उद्गान कर्म करो, तथास्तु ऐसा कह-कर वार्त् ने उद्गान किया) इस प्रकार से आरम्भ करके और वाक् आदि प्राणा की अनु-सम्बन्धी पापों से विद्वत्त्व (व्यासत्त्व) द्वारा निन्दा करके मुख्य प्राण का उद्गानात्म्य से परिग्रह पड़ा जाता है कि (आस्य, मुख में रहने वाले प्राण ने देव सब कहने लगे कि तुम हमारे लिए उद्गान करो, तथास्तु इस प्रकार स्वीकार करके इस प्राण ने उनके लिए उद्गान किया) इत्यादि । इसी प्रकार छान्दोग्य में भी है कि (उन प्रवृत्त देवामुर सग्राम में देव सब ने उद्गीथ कर्म को प्राप्त किया कि इस कर्म से अमुरों का पराजय करेंगे) इस प्रकार से आरम्भ करके अन्य प्राणों की पापविद्वत्त्व से निन्दा करके, उक्त रीति से ही मुख्य प्राण का परिग्रह पड़ा जाता है कि (फिर जा ही यह प्रतिष्ठ मुख में रहने वाला प्राण है उसकी उद्गीथम्य में उपासना देवों ने की) दोनों उपनिषद् में ही प्राण की प्रशंसा से प्राणविद्या की विधि का निश्चय किया जाता है ।

ननु न युक्त विद्यैकत्वं प्रक्रमभेदान्, अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजमनेयिनोऽ-न्यथा छन्दोगा 'त्व न उद्गाय' (वृ० १।३।२) इति वाजमनेयिण उद्गीथम्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति, छन्दोगान्मुद्गीथत्वेन 'तमुद्गीथमुपामाचक्रिरे' (छा० १।२।३) इति, तत्तत्र विद्यैकत्वं स्यादिति चेत् । नैव दात । न ह्यनासना विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति अविशेषस्यापि बहुतरम्य प्रतीयमानवार्त् । तथाहि—देवासुरमग्रामोपक्रमन्वममुरात्ययामिप्राय उद्गीथोपन्यामो वागादिन-कीर्तनं तन्निन्दया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्दीर्घाह्मासुरनिज्वगनमममूलश्रीधनिदग-नेनेत्येव बह्वोर्था उभयत्राप्यविशिष्टा प्रतीयन्ते । वाजमनेयस्येपि चोद्गीथ-

सामानाधिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम्—‘एष उ वा उद्गीथः’ (वृ० १।३।२३) इति । तस्मान्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं लक्षयितव्यम् । तस्मान्न विद्यैकत्वमिति ॥ ६ ॥

यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ विद्या का भेद होगा, अथवा विद्या की एकता है । प्रथम क्या प्राप्त है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि पूर्व न्याय से विद्या का एकत्व प्राप्त होता है । पूर्वपक्ष में शंका होती है कि प्रक्रम (उपक्रम) के भेद से विद्या का एकत्व (अभेद) युक्त नहीं है । जिससे वाजसनेयी अन्य प्रकार से आरम्भ करते हैं । छन्दोग उससे अन्य प्रकार से आरम्भ करते हैं (तुम हमारे लिए उद्गीत करो) इस प्रकार वाजसनेयी उद्गीथ (उद्गीत) के कर्तृत्वरूप से प्राण का कथन करते हैं । छान्दोग्य तो उद्गीथत्व (ओकारत्व) रूप से प्राण का कथन करते हैं कि (उस मुख्य प्राण की उद्गीथरूप से देवों ने उपासना की) इस प्रकार का भेद होते वह विद्या का एकत्व कैसे होगा । पूर्वपक्षी कहता है कि यह दोष नहीं है, जिससे इतने विशेष भेद से विद्या की एकता नष्ट नहीं होती है, क्योंकि बहुततर (अति अधिक) अविशेष (अभेद) के भी प्रतीयमान (प्रतीत) होने से विद्या की एकता सिद्ध होती है । क्रमत्व विशेष से अधिक अविशेष ही इस प्रकार है कि देवासुर-संग्रामीय क्रमत्व, असुरों के अत्यय का अभिप्राय (असुरजयार्थक संवाद) उद्गीथ का उपन्यास, वाक् आदि का संकीर्तन, उनकी निन्दा से मुख्य प्राण का आश्रयण और उस प्राण के वीर्य, प्रभाव से असुरों का नाश उसके लिये पत्थर-मृत्तिका के लोष्ट (ढेले) का दृष्टान्तरूप से कथन कि जैसे पत्थर को प्राप्त होकर लोष्ट नष्ट होता है, इसी प्रकार प्राण को हनन के लिए प्राप्त होकर असुर पाप स्वयं नष्ट होते हैं । इस प्रकार के बहुत अर्थ दोनों स्थान में तुल्य प्रतीत होते हैं । वाजसनेयक में भी उद्गीथ की सामानाधिकरणता (उद्गीथरूपता) प्राण की छान्दोग्य के समान सुनी जाती है कि (यह प्राण अवश्य उद्गीथ है) इस प्रकार उद्गीथरूपता के दोनों में तुल्य होने पर इसी से छान्दोग्य में भी उद्गीथ कर्तृत्व प्राण में लक्षणा से समग्रता चाहिए । इस प्रकार अल्प भेद के भी नहीं रहने से विद्या की एकता है ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

न वा विद्यैकत्वमत्र न्याय्यं विद्याभेद एवात्र न्याय्यः । कस्मात् ? प्रकरण-भेदादिति । प्रक्रमभेदादित्यर्थः । तथाहि—इह प्रक्रमभेदो दृश्यते छान्दोग्ये तावत् ‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) इत्येवमुद्गीथावयवस्यो-कारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपन्याख्यानं च तत्र कृत्वा ‘अथ खल्वेत-स्यैवाक्षरस्योपन्याख्यानं भवति’ (छा० १।१।१०) इति, पुनरपि तमेवोद्गीथा-वयवमोकारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण ‘तं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे’ (छा० १।२।२) इत्याह । तत्र यदुद्गीथशब्देन सकला भक्तिरभिप्रेयत तस्याश्च कर्तोद्गीतात्त्विकत उपक्रमश्चोपरुध्येत, लक्षणा च प्रसज्येत । उपक्रमानुरोधेन

चैकस्मिन्वाक्ये उपसंहारेण भवितव्यम् । तस्मादन नावदुर्गाथावयवे ओङ्कारे प्राणदृष्टिरपदिश्यते ।

यहाँ विद्या का एकत्व न्याययुक्त किसी प्रकार नहीं है, विद्या का भेद ही यहाँ न्याययुक्त है, क्योंकि प्रकरण भेद (प्रक्रमभेद) से यही सिद्ध होता है । सूत्रगत प्रकरण शब्द का प्रक्रम अर्थ है । यहाँ इस प्रकार प्रक्रम (उपक्रम) भेद देखा जाना है कि छान्दोग्य में तो (ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) इस प्रकार उद्गीथ के अवयव ओङ्कार के उपास्यत्व का प्रस्ताव (आगम्य) और पृथिवी जादि रसा का भी रसतम (उत्तम रस) आकार है, इत्यादि गुणा का उसमें उपन्यायान (वयन) करके (अथ इसी प्रवृत्त उद्गीथ के अवयवरूप आकार अक्षर का उपन्यास्यत्व है) इस प्रकार फिर भी देवामुर की आभ्यासिका द्वारा उसी उद्गीथ के अवयव ओङ्कार की अनुवृत्ति करके (उन देवा ने प्राणरूप से उस उद्गीथ के अवयव ओङ्कार की उपासना की) यह श्रुति कहती है ।

वाजसनेयके तूद्गीथगव्येनावयवग्रहणे कारणाभावात्मकत्वेन भक्तिराविश्रते, 'त्व न उद्गाय' (वृ० १।३।२) इत्यपि तस्या कर्त्ताद्गातन्विकप्राणत्वेन निष्पन्न इति प्रस्थानान्तरम् । यदपि तत्रोद्गीथसामानाधिकरण्य प्राणस्य तदप्युद्गानृत्वेनैव दिदग्मिपिनस्य प्राणस्य सर्वान्मन्त्रप्रतिपादनायमिति न विद्यैवत्वमावहति, मरुतभक्तिविषय एव च तत्राप्युद्गीथगव्य इति वैपम्यम् । नच प्राणस्योद्गानृत्वममभवेन हेतुना परित्यज्येत उद्गीथभाववदुद्गानृत्वमप्युपाननार्थत्वेनोपदिश्यमानत्वात् । प्राणवीर्येणैव चोद्गानाद्गात्र कर्म करोतीति नाम्न्यमभवत् । तथा च तत्रैव श्रावितम्—'वाचा च ह्येव म प्राणेन चोद्गायत्' (वृ० १।३।२८) इति ।

यहाँ यदि वाजसनेय के साथ एकता के लिए उद्गीथ शब्द में सम्पूर्ण उद्गीथ नाम अभिप्रेत (स्वीकृत, गृहीत) किया जाय, और (प्राणनुद्गीथम्) यहाँ उस उद्गीथ भाग का कर्त्ता उद्गाता ऋत्विक् रूप उपास्य प्राण अभिप्रेत किया जाय, तो उपक्रम उपर्युक्त (बाधित) हो जायगा, अर्थात् ओङ्कार की उपासनारूप उपक्रम का भग होगा, और उद्गीथ पद की उद्गीथकर्त्ता अर्थ में लक्षणा का प्राप्ति होगी । यदि कहा जाय कि उद्गीथ पद की उद्गीथ के अवयव में लक्षणा करनी ही पड़ती है । उससे स्पष्ट है कि श्रुत्यन्तर के अनुसार से तथा उपसंहार में कर्त्तारूप प्राण की उपासना के निश्चय में उपक्रम में भी कर्त्ता प्राण का निश्चय किया जाय, तो कहा जाता है कि एक वाक्य में असद्विध्य उपक्रम के अनुसार उपसंहार को होना चाहिए, उपक्रम सन्दिग्ध हो कर्त्ता भले ही उपसंहार के अनुसार उसका निश्चय किया जाता है, यहाँ तो आह्वय्य अक्षर की उपक्रम में उपास्यत्व निश्चित है । इसमें उसके माय एक विमर्शित्युक्त उद्गीथपद की लक्षणा भी निश्चित है । इससे उपसंहार को उपक्रम के अनुसार

कर्तव्य है। जिससे यहाँ उद्गीथ के अवयव ओंकार में ही प्राणदृष्टि का उपदेश दिया जाता है, उद्गीथ भाग में नहीं। वाजसनेयक में तो उद्गीथ शब्द से अवयव के ग्रहण में कारण के अभाव से सम्पूर्ण उद्गीथ भाग ही उद्गीथ शब्द से आवेदित (बोधित) होता है। (तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस वचन से भी उस उद्गीथ भाग का गानकर्ता ऋत्विक् उद्गाता ही प्राणरूप से निरूपित होता है, इससे यह प्रस्थानान्तर है (छान्दोग्य से अन्य प्रकार का उपक्रम है)। उस वाजसनेयक में जो भी प्राण को उद्गीथ के साथ समानाधिकरणता (एकविभक्तिवाच्यता) है, वह भी उद्गातृत्वरूप से ही दर्शानि की इच्छा के विषय प्राण की सर्वात्मता के प्रतिपादन के लिए है, इससे वह विद्या की एकता को नहीं सिद्ध करता है। वहाँ भी उद्गीथ शब्द सम्पूर्ण उद्गीथ भागविषयक ही है, यह विषमता है। जड़ता से प्राण के उद्गातृत्व के असंभव रूप हेतु से भी प्राण का उद्गातृत्व त्यागा नहीं जा सकता है। क्योंकि उद्गीथरूपता के समान ही उद्गातृरूपता का भी उपासना के लिए उपदेश है प्राण के वीर्य (बल, प्रभाव) से ही उद्गाता औद्गात्र (उद्गान) कर्म करता है, इससे प्राण के उद्गातृत्व का असम्भव नहीं है। इसी प्रकार वहाँ ही मुनाया गया है कि (प्राणप्रधान वाक् द्वारा आत्मस्वरूप प्राण से उस उद्गाता ने उद्गान किया)।

नच विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छायानुकारमात्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम्, तथा ह्यभ्युदयवाक्ये पशुकामवाक्ये च—‘त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टकपालं कुर्यात्’ इत्यादिनिर्देशसाम्येऽप्युपक्रमभेदादभ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः, तथेहाप्युपक्रमभेदाद्विद्याभदः, परोवरीयस्त्वादिवत्। यथा परमात्मदृष्ट्यव्याससाम्येऽपि ‘आकाशो ह्येवंभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्’ (छा० १।९।१) ‘स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः’ (छा० १।२।९) इति परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टमुद्गीथोपासनमध्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वाद्विगुणविशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिन्नम्, नचेतरेतरगुणोपसंहार एकस्यामपि शाखायां तद्वच्छास्त्रान्नरस्येष्वप्येवंजातीयकेषूपपासनेष्विति ॥ ७ ॥

विवक्षित अर्थ उपास्य ओंकार और प्राण के भेद के अवगम्यमान (अनुभूत) होते वाक्यच्छाया (वाक्य-प्रतिबिम्ब) के अनुकरण (तुल्यता) मात्र से समानार्थत्व का निश्चय करना युक्त नहीं है। वह इस प्रकार से युक्त नहीं है कि जैसे अभ्युदय वाक्य (दर्शयाग में चन्द्रमा के अभ्युदयनिमित्तक कर्मबोधक वाक्य) और पशुकाम वाक्य में (तण्डुलों का त्रिधा विभाग करे, उनमें जो मध्यम तण्डुल हों उनका दाता अग्नि के लिये आठ कपाल में पुरोडाश करे) इत्यादि निर्देश के तुल्य होते भी उपक्रम के भेद से अभ्युदय वाक्य में देवता का अपनय (त्याग) अध्यवसित (निश्चित) होता है, कर्म वही रहता है। पशुकाम वाक्य में तो अन्य याग का विधान होता है, उसी प्रकार से यहाँ भी परोवरीयस्त्वादिके समान विद्या का भेद उपक्रम के भेद से होता है। अर्थात् (वि वा एतं

प्रजया पशुभिरद्वयति वद्वयत्यस्य भ्रातृव्य यस्य हविर्निष्पत्त पुरस्ताच्चन्द्रमा अम्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमास्तानग्नये दाथे पुरोडाशमष्टाकपाल कुर्याद् ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदाथे दधेश्चर येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे विशिष्टाय श्रुते चरम्) चतुर्दशी मे ही अमावास्या के भ्रम मे जिम यज्ञकर्ता को अमावास्या मे दर्शयाग के लिए प्रवृत्त होना चाहिए वह चतुर्दशी मे ही प्रवृत्त हो और दर्श के देवता अग्नि आदि के लिए तण्डुल दधिपयस्वरूप हवि प्रथम ही निष्पत्त सकल्पित हो जाय, उसके बाद यदि च द्रमा अम्युदिन हो तो उस यज्ञकर्ता को काल के विपर्ययरूप अपराध से, वही सकल्पित हवि इसको प्रजा आदि मे विमुक्त करता है, उसके शत्रु को बढाता है इसलिये काल की भ्रांति बाला यजमान, दधि आदि महित जो तीन प्रकार के सकल्पित तण्डुल हैं, उनको अग्नि आदि देवों मे विभजेत् (विभक्त करे) और दातृप्रदातृ, शिपिविष्ट (महेश्वरत्व)स्य गुण वाले देवा के प्रति उसी कर्म मे अष्टाकपाल पुरोडाश चर का अर्पण करे । इस प्रकार देवता का अपनयमान् अध्यवसित होना है । पशुकाम वाक्य मे यद्यपि (ये स्थविष्ठास्तानग्नये प्रणीयते) इत्यादि निर्देश अम्युदय वाक्य के तुल्य है तथापि अमावास्या मे नियम दर्शकर्म की समाप्ति के बाद फिर मोदोहन के लिए वरसापाकरणादि का उपक्रम है इससे यागांतर की विधि है, अम्युदय वाक्य के साथ पशुकाम वाक्य को एकार्यता नहीं है, इसी प्रकार यहाँ भी कुछ अश मे निर्देश की समता विद्या की एकता का हेतु नहीं है, किन्तु परोक्षगीयस्त्वादिके समान विद्या का भेद है जैसे परमात्मदृष्टि का अध्यास के तुल्य होने भी (आकाश परमात्मा ही इन सब भूतों से अति महान् है और आकाश ही सत्त्वा परम आश्रय है । वही परमात्मा पर से पर और वर से वर परोक्षरीयान् ही उद्गीय है, और सो यह उद्गीय अतत्त है) इस प्रकार की परोक्षरीयस्त्वादिके गुणविशिष्ट उद्गीय की उपासना, नेत्रसूत्रादिगन हिरण्यस्मश्रुत्वादिके गुणविशिष्ट उद्गीय उपासना से भिन्न है । भिन्न होने से एक शास्त्रा मे भी परस्पर गुणों का उपसहार भी नहीं होता है । इसी प्रकार शास्त्रान्तर मे स्थित इस प्रकार की उपासनाओं मे गुणोपसहार नहीं होता है ॥ ७ ॥

सजातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

अथोच्यत नैकैकत्वाद्विद्यैकत्वमत्र न्याय्यमुद्गीयविद्येति ह्युभयत्राप्येकान्तेति । तदपि नापपद्यते । उक्तं ह्येनम्—‘न वा प्रकरणभेदात्परोक्षरीयस्त्वादिवत्’ (ब्र० म० ३।२।७) इति । तदेव चात्र न्याय्यतर श्रुत्यक्षरानुगत हि तन्मनैकत्व तु श्रुत्यक्षरवाह्यमुद्गीयगन्धमात्रप्रयोगाद्धीविकेर्व्यवहर्तुर्निरूप्यते । अस्मिन्नैकत्वमनैकत्व प्रमिद्धभेदेऽपि परोक्षरीयस्त्वाद्युपासनेऽप्युद्गीयविद्येति । तथा प्रमिद्धभेदानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां काठकैवग्रन्थपरिपठितानां काठान्तैकत्व दृश्यते तथेहापि भविष्यति । यत्र तु नाम्नि कश्चिदेवजानीयसो भेदहेतुस्तत्र भवतु नैकैकत्वाद्विद्यैकत्व यथा स्वर्गविद्यादिषु ॥ ८ ॥

यदि पूर्वपक्षी कहे कि संज्ञा की एकता से विद्या का एकत्व यहाँ न्याययुक्त है । उद्गीथ विद्या यह संज्ञा दोनों स्थानों में एक ही है, तो वह कहना उपपन्न नहीं हो सकता, जिससे यह कहा जा चुका है कि (न वा प्रकरणभेदात्) इत्यादि, और वही यहाँ अत्यन्त न्याययुक्त है, जिससे वह श्रुति के अक्षरो से अनुगत (प्राप्त) है । संज्ञा की एकता तो श्रुति के अक्षरों से बाहर है, उद्गीथ शब्दमात्र के प्रयोग से लौकिक व्यवहार करने वालों से उपचार, व्यवहार किया जाता है । प्रसिद्ध भेदवाले परोवरी-यस्त्वाद्विउपासनाओं में भी उद्गीथविद्या, यह संज्ञा की एकता है, इसी प्रकार प्रसिद्ध भेद वाले, काठक नामक एक ग्रन्थ में पठित अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि को भी काठक एक संज्ञावत्त्व देखा जाता है । उसी प्रकार यहाँ भी होगा । परन्तु जहाँ इस प्रकार का कोई भेद का हेतु नहीं है, वहाँ संज्ञा की एकता से विद्या की एकता होगी, जैसे कि संबर्ग विद्या की सब शाखा में संज्ञा की एकता से एकता होती है ॥ ८ ॥

व्याप्त्यधिकरण (४)

किमव्यासोऽथवा बाध ऐक्यं वाय विशेष्यता । अक्षरस्यात्र नास्त्यैक्यं नियतं हेत्वभावात् ॥ वेदेषु व्यास ओंकार उद्गीथेन विशिष्यते । अध्यासादौ फलं कल्प्यं संनिष्ठांशलक्षणा ॥

(ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत) यहाँ संशय होता है कि इस वचन से ओंकार अक्षर की उपासना विहित है, यहाँ उद्गीथ पद का क्या फल है, उद्गीथ का उच्चारण असमञ्जस (अयुक्त) प्रतीत होता है । उत्तर है कि ओंकार की सब वेद में व्याप्ति से (ओमित्येतदक्षरमुपासीत) इतना ही कहने पर संशय हो सकता था कि किस ओंकार की उपासना की जाय और उद्गीथ पद के रहने से लक्षणा द्वारा निःसंशय बोध होता है कि उद्गीथ के अवयवरूप ओंकार की उपासना करे इससे समञ्जस (युक्त) उद्गीथ पद है । फिर भी शंका होती है कि यदि ओंकार व्यापक है, तो उद्गीथ का अवयव ओंकार अन्य स्थान में पठित से भिन्न नहीं है कि फिर भी विशेषण असमञ्जस व्यर्थ है । उत्तर है कि परमात्मा की व्याप्ति के समान होने से समञ्जस है । अर्थात् परमात्मा की व्याप्ति रहते भी औपाधिक भेद से हृदयादि में भेद माना जाता है । इसी प्रकार सब वेद में व्यापक एक ओंकार के पाठादि कृत औपाधिक भेद से भेद समझा जाता है इत्यादि सूत्रार्थ हैं ॥

यहाँ समानाधिकरणविषयक संग्रह है 'किं नाम ब्रह्मेत्युपासीत', इसके समान यह अध्यासमूलक उपदेश है । अथवा 'चक्षुरः स स्थाणुः' जो चोर था वह ठूँठ है । इसके समान बाध दृष्टि से है, या 'अहं ब्रह्म' इत्यादि के समान एकता दृष्टि से है, अथवा 'नीलो घटः' इत्यादि के समान विशेषण विशेष्यभाव से है । पूर्वपक्ष है कि हेतुविशेष के अभाव से यहाँ श्रुति के अक्षर का नियत (निश्चित) ऐक्य (एकार्थबोधकत्व) नहीं है । उत्तर है कि वेदों में व्यास ओंकार उद्गीथ द्वारा विशेषित किया जाता है । अध्यासादि में नामोपासनादि के समान फल की कल्पना करनी पड़ेगी, विशेषण पक्ष में इतर की

व्यावृत्ति फल होता है, और सन्निकृष्ट अवयव में लक्षणा होती है, अन्यथा विप्रकृष्ट लक्षणा की प्राप्ति होगी ॥ १-२ ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्ये श्रूयमाणेऽध्यामापवादेकत्वाविशेषणपक्षाणां प्रतिभामनात्कनमोज्ञ पक्षो न्याय्य स्यादिति विचारः । तत्राध्यामो नाम द्वयोर्वस्तुनोरनिवृत्तिताया-
मेवान्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यते, यस्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिन्सद्वुद्धिरध्यस्यतेनरबुद्धावपि । यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धावध्यस्यमानायामप्यनु-
वर्तते एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्ध्या निवर्तते । यथा वा प्रणिमादिषु विष्णवादि-
बुद्धयस्याम । एवमिहाप्यक्षरे उद्गीथबुद्धिरध्यस्येत उद्गीथे वाक्षरबुद्धिरिति ।

(उद्गीथ के अवयव ओम् इस अक्षर की उपासना करे) यहाँ इस वाक्य में अक्षर और उद्गीथ शब्द की सामानाधिकरण्यता के सुनने पर, अत्र्यास, अपवाद, एकत्व और विशेषण इन चारों पक्षों की प्रतीति होने में इन चारों में से कौन पक्ष यहाँ न्याययुक्त है, यह विचार उपस्थित होता है । यहाँ अत्र्यास यह कहा जाता है कि जहाँ दो वस्तुओं में से एक वस्तु की बुद्धि की निवृत्ति हुए बिना ही अन्य दूसरी वस्तु की बुद्धि कल्पित होती है, जिसमें अन्य की बुद्धि कल्पित होती है, उसमें कल्पित अन्य की बुद्धि होने की उम वस्तु की अपनी बुद्धि भी वर्तमान ही रहती है । जैसे कि (नाम ब्रह्मो-
पासीत) इस वचन के शब्द से नाम में ब्रह्मबुद्धि-कल्पना (सिद्धि) करने पर भी नाम बुद्धि भी अनुवर्तमान ही रहती है, ब्रह्मबुद्धि में नामबुद्धि निवृत्त नहीं होती है । अथवा जैसे प्रणिमा आदि में विष्णु आदि बुद्धि का अध्यास विधि बलादि से होता है परन्तु प्रतिमा आदि बुद्धि निवृत्त नहीं होती है । इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर में उद्गीथ बुद्धि कल्पित होती है, अथवा उद्गीथ में अक्षर बुद्धि अध्यस्त होती है । एक यह पक्ष है ।

अपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धौ निश्चिताया पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धि पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धौ निवर्तिका भवति, यथा देहेन्द्रियमघाते आत्मबुद्धिरात्मन्येवान्मबुद्ध्या पश्चाद्वाविन्या ‘तत्त्वमसि’ (छा० ६।८.७) इत्यनया यथार्थबुद्ध्या निवर्तते, यथा वा दिग्भ्रान्तिबुद्धिरि-
ग्यायात्म्यबुद्ध्या निवर्त्यते, एवमिहाप्यक्षरबुद्ध्या उद्गीथबुद्धिर्निवर्त्यते उद्गीथबुद्ध्या वाक्षरबुद्धिरिति । एतच्च त्रयक्षरोद्गीथशब्दयोगनिरुक्तार्थवृत्तित्वम्, यथा द्विजा-
त्तमां ब्राह्मणो भूमिदेव इति । विशेषण पुन सर्ववदव्यापिन ओमित्येनस्या-
क्षरस्य ग्रहणप्रसङ्गे औद्गात्रविषयस्य समर्पणम्, यथा नीलं यदुत्पन्नं नदानयेति । एवमिहाप्युद्गीथो य अक्षरस्तमुपासीतेति । एवमेतस्मिन्सामानाधिकरण्यस्याप्ये-
वमिदं पक्षां प्रतिभान्ति । तत्रान्यतमनिर्धारणवारणाभावादनिर्धार-

णप्राप्ताविदमुच्यते—व्याप्तेश्च समञ्जसमिति । चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः । तदिह त्रयः पक्षाः सावद्या इति पर्युदस्यन्ते, विशेषणपक्ष एवैको निरवद्य इत्युपादीयते । ।

अपवाद वह कहा जाता है कि जहाँ किसी वस्तु में निश्चित (निश्चयात्मक) मिथ्या (भ्रान्ति) बुद्धि के पूर्वकाल में निविष्ट (उत्पन्न स्थिर) होते, पीछे उत्पन्न होने वाली यथार्थ बुद्धि उस पूर्वनिविष्ट मिथ्या बुद्धि को निवृत्त करने वाली होती है । जैसे कि देह इन्द्रिय आदि के संघात (सनूह) में प्रथम निविष्ट आत्मबुद्धि (तत्त्वमसि) इत्यादि उपदेशों से पीछे होने वाली आत्मविषयक ही आत्मबुद्धिरूप इस यथार्थ बुद्धि से निवृत्त होती है । अथवा जैसे दिग्भ्रमबुद्धि दिक् की यथार्थ बुद्धि से निवृत्त होती है, इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर बुद्धि से उद्गीथ बुद्धि निवृत्त होती है, वा उद्गीथबुद्धि से अक्षरबुद्धि निवृत्त होती है । यह दूसरा पक्ष है । अक्षर और उद्गीथ शब्द को अनतिरिक्तार्थवृत्तित्व (एकार्यंदाचकत्व) एकत्व है, जैसे द्विजोत्तम, ब्राह्मण और भूमिदेव इन शब्दों को एकत्व है । विशेषणरूप उद्गीथ शब्द तो सर्ववेद में व्यापक ओम् इस अक्षर के ग्रहण, प्राप्त होने पर औद्गात्र (उद्गान) के विषयरूप ओम् शब्द का समर्पण (बोध) कराता है, जैसे नील जो कमल है उसको लाओ, यह प्रयोग होता है । इसी प्रकार यहाँ भी उद्गीथ जो ओकार उसकी उपासना करो । यह प्रयोग होता है । इस प्रकार इस समानाधिकरणताबोधक वाक्य के विचार काल में ये चार पक्ष प्रतीत होते हैं । उनमें किसी एक पक्ष के निर्धारण के कारण के अभाव से अनिर्धारण की प्राप्तिरूप पूर्वपक्ष के होने पर यह कहा जाता है कि (व्याप्तेश्च समञ्जसम्) इति । सूत्रगत यह च शब्द तु शब्द के स्थान में निवेश (स्थिति) वाला है, वह प्रथम के तीन पक्ष की व्यावृत्तिरूप प्रयोजन वाला है । इससे यहाँ तीनों पक्ष सदोष हैं, इससे पर्युदस्त (निवारित) किये जाते हैं । एक विशेषण पक्ष ही दोषरहित है, इससे उसका उपादान (ग्रहण) किया जाता है ।

तत्राध्यासे तावद्या बुद्धिरितरत्राव्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत तत्फलं च कल्प्येत । श्रूयत एव फलम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादीति चेत् । न । तस्यान्यफलत्वात् । आप्यादिदृष्टिफलं हि तत्रोद्गीथाध्यासफलम् । अपत्रादेऽपि समानः फलाभावः । मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत् । न । पुरुषार्थोपयोगानवगमात् । नच कदाचिदप्योकारादोङ्कारबुद्धिनिवर्तते उद्गीथाद्दोद्गीथबुद्धिः । न चेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम्, उपासनविधिपरत्वात् । नाप्येकत्वपक्षः संगच्छते, निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात् एकेनैव विवक्षितार्थसमर्पणात् । नच हीत्रविषये वाध्वर्यवविषये वाऽक्षरे ओङ्कारशब्दवाच्ये उद्गीथशब्दप्रसिद्धिरस्ति । नापि सकलायां साम्नो द्वितीयायां भक्ताबुद्गीथशब्दवाच्यायामोङ्कारशब्दप्रसिद्धिर्येनानतिरिक्ता-

यन्ता स्यात् । परिशेषाद्विशेषणपक्ष परिगृह्यते, व्यासे सर्ववेदमाधारण्यात् । सर्वव्याप्यक्षरमिह मा प्रमञ्जीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षर विशेष्यते कथ नामो-
द्गीथावयवभूत ओकारो गृह्येतेति ।

यहाँ अध्यास पक्ष में जो बुद्धि अन्वय में कल्पित होगी, अर्थात् उद्गीथ की बुद्धि ओकार में कल्पित होगी, तो उस उद्गीथ के वाचक उद्गीथ शब्द की ओकार अर्थ में लक्षणावृत्ति की प्राप्ति होगी ओकार की उद्गीथरूप से प्रतीकोपासना के फल की कल्पना करनी पड़ेगी । यदि कहें कि (वह यज्ञमान के कामों को प्राप्त कराने वाला होता है) इत्यादि फल मुना हो जाता है, इससे फल की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, तो वह कहना युक्त नहीं है । जिससे उसको अन्य का फलत्व है, अर्थात् ओकार आसि है, समृद्धि है इम दृष्टि से जो ओकार की उपासना की जाती है उसका वह फल है उद्गीथ के अध्यास का वह फल नहीं है । अपवाद पक्ष में भी फल का अभाव अध्यास पक्ष के समान है, यदि कहें कि मित्याज्ञान की निवृत्ति फल है, तो वह नहीं कह सकते हो, क्योंकि आत्मज्ञान से मित्याज्ञान की निवृत्तिजन्य पुरुषार्थ के समान ओकार बुद्धि से उद्गीथ बुद्धि की वा उद्गीथ बुद्धि में ओकार बुद्धि की निवृत्तिजन्य कोई पुरुषार्थरूप उपयोग (फल) अवगत (ज्ञात) नहीं होता है । वस्तुतः ओकार से बन्नी ओकार बुद्धि नहीं निवृत्त होती है, न उद्गीथ से उद्गीथ बुद्धि निवृत्त होती है । इससे इस पक्ष का सम्भव भी नहीं है । अर्थात् भ्रमबुद्धि की यथायंबुद्धि से निवृत्ति होती है, यहाँ भ्रमबुद्धि नहीं है । वस्तुतत्त्व के प्रतिपादक वचन से तत्त्वज्ञान द्वारा भ्रान्ति की निवृत्ति होती है । यह वाक्य वस्तुतत्त्व का प्रतिपादनपक्ष नहीं है । क्योंकि इस वाक्य को उपासना विधि-परत्व है । एकत्वपक्ष भी सगत नहीं हो सकता है जिससे उस एकत्व पक्ष में ओकार और उद्गीथ दोनों शब्दों का उच्चारण निम्नप्रयोजन होगा । क्योंकि एकार्यन्ता से किसी एक शब्द से ही विवक्षित अर्थ का समर्पण (पूर्णबोध) हो सकता है । एकार्यन्तत्व हो भी नहीं सकता है जिससे हीनविषयक (हीनाहत कर्मविषयक) वा आध्वर्यव (अध्वर्यु-कर्म) विषयक ओकार शब्द के वाच्य अक्षररूप अर्थ में उद्गीथ शब्द की प्रसिद्धि नहीं है । इसी प्रकार उद्गीथ शब्द के वाच्य सामवेद के सम्पूर्ण द्वितीय भाग में भी ओकार शब्द की प्रसिद्धि नहीं है कि जिससे अनतिरिक्तायन्ता (एकार्यन्ता) हो । अन्य पक्षों में दोष होने से परिशेष से विशेषण पक्ष परिगृहीत होता है । सूत्रगत व्याप्ति पद का सर्ववेदसाधारणता अर्थ है । इससे सूत्र का भावार्थ है कि (ओमित्यक्षरमुपासीन) ओम् इम अक्षर की उपासना करे, ऐसा कहने से सब वेद में व्यापक ओकार इस उपासना में प्राप्त होगा, वह नहीं प्राप्त हो इसलिए उद्गीथ शब्द के द्वारा अक्षर को विशेषित (व्यापक से निम्न) किया जाता है कि किसी प्रकार से (लक्षणा से) उद्गीथ का अवयवरूप ओकार गृहीत हो । इसमें विशेषण समञ्जस है ।

नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणा, उद्गीथशब्दव्यावयवलक्षणार्थत्वात् । मत्त्यमेवमेतत्, लक्षणायामपि तु मन्त्रिकपविप्रकर्षो भवत एव, अध्यासनपत्रे

ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्यत इति विप्रकृष्टा लक्षणा, विशेषणपक्षे त्ववयव-
विवचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति सन्निकृष्टा लक्षणा । समुदायेषु हि
प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु । अतश्च व्याप्ते-
हेतूरोमित्येतदक्षरमित्येतत्स्योद्गीथमित्येतद्विशेषणमिति समञ्जसमेतन्निरवद्य-
मित्यर्थः ॥ ९ ॥

शंका होती है कि इस पक्ष में भी उद्गीथ शब्द के अवयवार्थ में लक्षणार्थकता से
लक्षणा पूर्व के समान ही है । उत्तर है कि लक्षणा की तुल्यता मत्त है परन्तु लक्षणा में
भी सन्निकर्ष और विप्रकर्ष होता ही है । अव्यासपक्ष में अर्थान्तर की बुद्धि किसी
अन्यार्थ में निक्षिप्त (प्राप्त) की जाती है, इससे वह विप्रकृष्ट (दूर) लक्षणा है ।
विशेषण पक्ष में तो अवयवी वाचक शब्द से उसी का अवयव बोधित समर्पित होता है
इससे सन्निकृष्ट लक्षणा है । जिससे समुदाय पर ग्रामादि में प्रवृत्त शब्द उनके अवयवों में
भी प्रवर्तमान देखे गये हैं, इससे और व्याप्तिरूप हेतु से (ओमित्येतदक्षरम्) इस भाग
का (उद्गीथम्) इतना भाग श्रुति में विशेषण है । इस प्रकार यह समञ्जस निर्दोष है
यह अर्थ है ॥ ९ ॥

सर्वाभेदाधिकरण (५)

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यमाहार्यं वैवमित्यतः । उक्तस्यैव परामर्शदनाहार्यमनुक्तिः ॥ १ ॥
प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादि नेतरत् । एवंशब्दपरामर्शयोन्यमाहार्यमिष्यते ॥ २ ॥

सर्वत्र प्राणविद्या का अभेद होने से कही सुने गये ये प्राण के गुण अन्यत्र (अश्रुत
स्थान) में भी उपसंहार के योग्य होते हैं, वेद्यवस्तु के एक होने से एकत्र सम्बन्ध वाले
गुण अन्यत्र उससे वियुक्त नहीं हो सकते हैं । यह प्राणविद्यादि सब के लिए तुल्य न्याय
है । यहाँ संशय है कि छान्दोग्य वृहदारण्यक में प्राणविद्या के प्रकरण में प्राण के
वसिष्ठत्वादि गुण पढ़ते हैं । तैत्तिरीयक कौपीतकी आदि में नहीं पढ़ते हैं, यहाँ अपठित
स्थान में वे गुण उपसंहार के योग्य हैं अथवा नहीं हैं । पूर्वपक्ष है कि उन स्थानों में
(च एवं वेद) जो ऐसा जानता है उपासना करता है । इस प्रकार एवं शब्द के पढ़ने से
उस शाखा में पठित का ही परामर्श होता है, इससे अनुक्ति के कारण उपसंहार के योग्य
नहीं हैं । सिद्धान्त है कि गुणी प्राण द्वारा बुद्धिस्थ वसिष्ठत्वादि गुण प्राण से इतरत्
(भिन्न) नहीं हैं, इससे एवं शब्द से प्राण के समान सर्वत्र परामर्श के योग्य हैं, इससे
उपसंहार के योग्य इष्ट है ॥ १-२ ॥

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

वाजसनेयिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपा-
स्यत्वमुक्तम्, वागादयोऽपि हि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः, ते च गुणाः
प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—‘यद्वा अहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि’ (वृ०

६।१।१४) इत्यादिना । अन्येषामपि तु शाखिना कौपीतकिप्रभृतीना प्राणस-
वादिषु 'अथातो नि श्रेयमादानम्', 'एता ह वै देवता अहश्चेयसे विवदमाना'
(कौ० २।१४) इत्येवजातीयकेषु प्राणस्य श्रेष्ठ्यमुक्तं न त्विमे वसिष्ठत्वाद-
योऽपि गुणा उक्ता । तत्र सशय — किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणा क्वचिदुक्ता
अन्यनाप्यस्येरन्तु नास्येरन्निति । तत्र प्राप्त तावन्नास्येरन्निति । कुत ? एवश-
ब्दस्योपात्तात् । 'अथो य एवैव विद्वान्प्राणे नि श्रेयसं विदित्वा' इति तत्रनैव-
शब्देन वेद्यं वस्तु निवेद्यते । एवशब्दश्च सनिहितावलम्बनो न शाखान्तरपरि-
पठितमेवजातीयकं गुणज्ञानं शक्नोति निवेदयितुम्, तस्मात्स्वप्रकरणस्यैव
गुणनिराकाङ्क्षत्वमिति ।

वाजसनेयी और छन्दोग के प्राण-सवाद में श्रेष्ठतादि गुणयुक्त प्राण की उपास्यता
कही गई है । वागादि भी वहाँ वसिष्ठत्वादि गुण वाले कहे गये हैं । वे वागादि के
वसिष्ठत्व (वासहेतुत्व) आदि गुण फिर प्राण में वागादि से प्रत्यर्पित किए गये हैं
कि (जो मैं वसिष्ठ हूँ सो तुम ही हो) इत्यादि । कौपीतकी आदि अन्य शाखा वाला के
प्राण-सवादों में भी (अब इसके बाद नि श्रेयस, श्रेष्ठता का आदान, निर्धारण प्रस्तुत होना
है । ये देव अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए इस शरीर से निकले) इस प्रकार
वाले सवादों में प्राण की श्रेष्ठता कही गई है । परन्तु ये वसिष्ठत्वादि गुण नहीं कहे गये
हैं । यहाँ सशय होना है कि क्या ये कही कहे गये वसिष्ठत्वादि गुण अन्यत्र भी आश्रित
प्राप्त होंगे अथवा नहीं प्राप्त होंगे । यहाँ प्रथम प्राप्त होना है कि नहीं प्राप्त होंगे,
क्यों नहीं होंगे, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि एव शब्दों के संयोग में नहीं
प्राप्त होंगे । (जिस प्रकार वागादि से प्राण की श्रेष्ठता है अथो उस प्रकार से इस
श्रेष्ठता गुण को जानने वाला जो इसी प्रकार में उपासना करता है वह प्राण में श्रेष्ठता
को जान कर ध्यान करके स्वयं श्रेष्ठ होता है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों में एव शब्द
में वेद्यं वस्तु निवेदित (प्रदर्शित) होनी है । सनिहित को अवलम्बन (वाच्यरूप में
ग्रहण) करने वाला एव शब्द, शाखान्तर में पठित इस प्रकार के वसिष्ठत्वादि गुण
समूह का निवेदन (ज्ञान) नहीं कर सकता है । इसमें स्वप्रकरणस्य गुणों से ही
विद्या को निराकाङ्क्षा होती है ।

एव प्राप्ते प्रत्याह—अस्येरन्तिमे गुणा क्वचिदुक्ता वसिष्ठत्वादयोजन्यापि ।
कुत ? सर्वभेदान् । सर्वत्रैव हि तदेवैकं प्राणविज्ञानमभिन्नं, प्रत्यभिज्ञायते ।
प्राणसंवादादिमारुप्यात् । अमेदे च विज्ञानस्य कथमिमे गुणा क्वचिदुक्ता
अन्यत्र नास्येरन् । नन्वेवशब्दन्तत्र तत्र भेदेनैवजातीयकं गुणज्ञानं वेद्यत्वाय
समर्पणीत्युक्तम् । अत्रोच्यते । यद्यपि कौपीतकिग्राह्यगतेनैवशब्देन वाजस-
नेयिग्राह्यगणनं गुणज्ञातममशब्दिनममनिहितत्वात्तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने
वाजसनेयिग्राह्यगतेनैवशब्देन तत्संशब्दितमिति न परशाखागतमप्यभिन्न-

विज्ञानावबद्धं गुणजातं स्वशाखागताद्विशिष्यते । नचैवं सति श्रुतहानिरश्रुत-
कल्पना वा भवति । एकस्यामपि हि शाखायां श्रुता गुणाः श्रुता एव सर्वत्र
भवन्ति गुणवतो भेदाभावात् । नहि देवदत्तः शौर्यादिगुणत्वेन स्वदेशे प्रसिद्धो
देशान्तरं गतस्तद्देश्यैरविभाविताशौर्यादिगुणोऽप्यतद्गुणो भवति । यथाच तत्र
परिचयविशेषाद्देशान्तरेऽपि देवदत्तगुणा विभाव्यन्ते, एवमभियोगविशेषाच्छा-
खान्तरेऽप्युपास्या गुणाः शाखान्तरेऽप्यस्थ्यन् । तस्मादेकप्रधानसंबद्धा धर्मा
एकत्राप्युच्यमानाः सर्वत्रैवोपसंहर्तव्या इति ॥ १० ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं कि कही भी कहे गये ये वसिष्ठत्वादि
गुण अन्यत्र भी आक्षिप्त, प्राप्त होंगे, क्योंकि सर्वत्र विद्या का अभेद है । जिससे सर्वत्र
ही वही एक अभिन्न प्राण विज्ञान प्रत्यभिज्ञात होता है । प्राण संवादादि की सरूपता
प्रत्यभिज्ञा में हेतु है, इससे प्रत्यभिज्ञा होती है । इस प्रकार विज्ञान के अभेद होते कही
भी कहे गये गुण अन्यत्र क्यों नहीं प्राप्त होंगे । यदि कहो कि इस प्रकार के गुण-समूह
को तत्तत् स्थान में भेदयुक्त ही वेद्यता के लिए एवं शब्द समर्पित (उपस्थित) करता
है, यह कहा जा चुका है ? तो यहाँ कहा जाता है कि यद्यपि कौपीतकी ब्राह्मण गत एवं
शब्द से वाजसनेयी ब्राह्मणगत गुणसमूह असन्निहितत्व के कारण अशब्दित (अकथित)
है । तथापि उसी विज्ञान में वाजसनेयीगत एवं शब्द से वह गुणसमूह संशब्दित है ।
इससे परशाखागत भी अभिन्न (एक) विज्ञान से सम्बन्धवाला गुणसमूह स्वशाखागत
से विशिष्ट (भिन्न) नहीं होता है । अर्थात् विज्ञान द्वारा सम्बन्ध हो जाने से वाजसनेय-
गत गुण कौपीतकिगत गुण से भिन्न नहीं समझा जाता है । ऐसा होने से श्रुत की हानि
वा अश्रुत की कल्पना भी नहीं होती है । जिससे गुणवाला विज्ञान के भेद के अभाव
से एक शाखा में सुने गये गुण सर्वत्र सुने ही हुए होते हैं । जैसे शौर्यादिगुणवत्ता से
अपने देश में प्रसिद्ध देवदत्त देशान्तर में प्राप्त होने पर उस देश के वासियों से अविज्ञात
शौर्यादिगुणवाला होते भी देवदत्त उन गुणों से रहित नहीं हो जाता है । जैसे उस
देशान्तर में भी परिचय विशेष से देवदत्त के गुण विज्ञात, प्रख्यात होते हैं । इसी प्रकार
सम्बन्ध विशेष से शाखान्तर में भी उपास्य गुण किसी अन्य शाखान्तर में भी प्राप्त
होंगे, उससे एक प्रधान के साथ सम्बन्धवाले धर्म एक स्थान में कहे गये हों तो भी
सर्वत्र उपसंहार कर्तव्य है ॥ १० ॥

आनन्दाद्यधिकरण (६)

नाहार्या उत वाहार्या आनन्दाद्या अनाहुतिः । वामनोत्पत्तिकामादेरिवैतेषां व्यवस्थितेः ॥
विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद्यथाविधि । प्रतिपत्तिफलानां तु सर्वशाखासु संहतिः ॥

प्रधान मुख्य ब्रह्म के जो आनन्दादि गुण के लिए उपदिष्ट हैं, वह एक ज्ञानार्थक
होने से सब सर्वत्र यथावृत्ति उपसंहार के योग्य हैं । यहाँ संशय होता है कि तैत्तिरीयक
में आनन्दादि गुण पढ़े गये हैं । ऐतरेयक आदि में नहीं पढ़े गये हैं, ऐतरेयक में प्रज्ञान
रूप गुण पढ़ा गया है, वहाँ गुणों का परस्पर उपसंहार करना चाहिए, अथवा नहीं ।

वहाँ पूर्वपक्ष है कि तत्तद् ब्रह्म की उपासनाओं में जैसे वामनी सत्यकामादि गुणों की व्यवस्था नियम है, वैसे ही आनन्दादि की तत्तद् शाखा में व्यवस्था है। सिद्धान्त है कि विधीयमान धर्मों की विधि के अनुसार व्यवस्था होगी। ज्ञानार्थक की तो सब शाखा में उपसंहृति होगी ॥ १-२ ॥

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिष्वानन्दरूपत्व विज्ञानघनत्व सर्वगतत्व सर्वात्मत्वमित्येवजातीयका ब्रह्मणो धर्मा क्वचित्क्वेचिच्छ्रूयन्ते। तेषु मग्य किमानन्दादयो ब्रह्मधर्मा यत्र यावन्त श्रूयन्ते तावन्त एव तत्र प्रतिपत्तव्या किंवा सर्वे सर्वत्रेति। तत्र यथाश्रुतिविभाग धर्मप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते— आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्मा सर्वे सर्वत्र प्रतिपत्तव्या। कस्मात्? सर्वाभिदादेव सर्वत्र हि तदेवैक प्रधान विशेष्य ब्रह्म न भिद्यते। तस्मात्सर्वत्रिकत्व ब्रह्मधर्माणां तेनैव पूर्वाधिकरणोदितेन देवदत्तशौर्यादिनिदर्शनेन ॥११॥

ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादनपरक श्रुतियों में, आनन्दरूपत्व, विज्ञानघनत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व इस प्रकार के ब्रह्म के धर्म कहीं कोई सुने जाते हैं। अर्थात् सब धर्म सर्वत्र नहीं सुने जाते हैं, किन्तु मित्र-मित्र स्थानों में सुने जाते हैं। उनके विषय में सशय होता है कि क्या आनन्दादि ब्रह्म के धर्म जहाँ जितने सुने जाते हैं वहाँ उतने ही समझने योग्य हैं, अथवा सब गुण सर्वत्र उपसंहार द्वारा समझने योग्य हैं। वहाँ श्रुतिविभाग के अनुसार धर्मप्रतिपत्ति (धर्मज्ञान) के प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि आनन्दादि रूप प्रधान (मुख्य) ब्रह्म के सब धर्म सर्वत्र उपसंहार से समझना चाहिये। अर्थात् सत्य आनन्दज्ञान सर्वगत सर्वात्मस्वरूप अवगुह्य एक ब्रह्म है, जैसे बि उष्ण, प्रकाशक, दाहक, शीतवारक स्वरूप एक अग्नि है। वहाँ सत्यत्वादि कल्पित धर्म असत्यत्वादि के वारणपूर्वक अवगुह्य ब्रह्म के बोध के लिए पढ़े जाते हैं, इससे जितने धर्मों के उच्चारण अध्ययनादि से विपरीत (असत्यत्वादि) बुद्धि के वारणपूर्वक सत्यादिस्वरूप अवगुह्य अद्वय एक ब्रह्म का बोध हो सके वे धर्म कहीं भी पढ़े हों उनका उपसंहार ब्रह्म के समानाधिकरणतापूर्वक उच्चारण-अध्ययन कर्तव्य है। ऐसा क्यों कर्तव्य है ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि सर्वाभिद रूप पूर्वोक्त हेतु ही में ऐसा कर्तव्य है। जिसने सर्वत्र वही एक प्रधान ब्रह्म विशेष्य है वह कहीं मित्र नहीं होगा है। उसने पूर्व अधि-करण में वर्णित देवदत्त के शौर्यादि रूप उस दृष्टान्त में ही ब्रह्म के धर्मों की सावयवत्व (सर्वत्र सम्बन्धित्व) सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

नन्वेव मति प्रियगिरिम्त्वादयोऽपि धर्मा सर्वे सर्वत्र मङ्गीर्यन्, तथाहि— नैतिरीयक आनन्दमयमात्मान प्रक्रम्याम्नायते—‘तस्य प्रियमेव गिरि, मोदो दक्षिण पक्ष, प्रमोद उत्तर पक्ष, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा’ (नै० २।५) इति। अत उत्तरं पठति—

पूर्वोक्त अर्थविषयक शंका होती है कि उक्त रीति से आनन्दादिरूप ब्रह्म के धर्मों का सर्वत्रोपसंहार मानने पर प्रियशिरस्त्वादि भी सब धर्म सर्वत्र संकीर्ण होंगे, अर्थात् सगुण उपासनाओं में भी सब धर्म सर्वत्र उपसंहृत होंगे, क्योंकि सगुण ब्रह्म भी तो सर्वत्र वस्तुतः अभिन्न ही है। तैत्तिरीयक में आनन्दमय आत्मा का प्रक्रम (उपक्रम) करके कहा जाता है कि—(उस आनन्दमय आत्मा का प्रिय इष्टदर्शनजन्य सुख ही शिर है, मोद-इष्ट की प्राप्तिजन्य सुख दक्षिण पक्ष है। प्रमोद, उपमोगादिजन्य सुख उत्तर पक्ष है। सामान्य आनन्द आत्मा है। ब्रह्मपुच्छ के समान प्रतिष्ठा आधार है) इत्यादि। अतः इस शंका का उत्तर सूत्रकार पढ़ते हैं कि—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरूपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आम्नातानां नास्त्यन्यत्र प्राप्तिः। यत्कारणं प्रियं मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परापेक्षया भोक्त्रन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा उपलभ्यन्ते। उपचयापचयौ च सति भेदे सम्भवतः। निर्भेदं तु ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। नचैते प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मधर्माः, कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्टमस्माभिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यत्र। अपि च परस्मिन्ब्रह्मणि चित्तावतारोपायमात्रत्वेनैते परिकल्प्यन्ते न द्रष्टव्यत्वेन।

तैत्तिरीयक में कहे गये प्रियशिरस्त्वादि धर्मों की अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती है, जिस कारण से प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द ये धर्म परस्पर की अपेक्षा से और अन्य भोक्ता जीव की अपेक्षा से भी उपचित (पुष्टियुक्त) और अपचित (अपुष्ट) रूपवाले उपलब्ध (अनुभूत) होते हैं। भेद के रहते उपचय और अपचय हो सकते हैं। ब्रह्म तो (एक ही अद्वितीय ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों से भेदरहित सिद्ध होता है। वस्तुतः ये प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्म के धर्म नहीं हैं, किन्तु आनन्दमय नामक कोश के धर्म हैं। इस प्रकार (आनन्दमयोऽभ्यासात्) इस सूत्र में भाष्यकार से उपदेश कहा जा चुका है। दूसरी बात है कि परब्रह्म में चित्त का अवतरण (प्रवृत्ति स्थिति) के उपाय (साधन) मात्र रूप से ये प्रियशिरस्त्वादि परिकल्पित होते हैं, द्रष्टव्य—जैय रूप से नहीं परिकल्पित होते हैं।

एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वादीनाम्। ब्रह्मधर्मास्त्वेनान्कृत्वा न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति। स च न्यायोऽन्येषु निश्चितेषु ब्रह्मधर्मेषूपसनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु सत्यकामादिषु च। तेषु हि सत्यप्युपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वे प्रक्रमभेदादुपासनाभेदे सति नान्योन्यधर्माणामन्योन्यत्र प्राप्तिः। यथा च द्वे नायविकं नृपतिमुपासाते छत्रेणैका चामरेणान्या तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवत्येवमिहापीति। उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मप्युप-

पद्यते न निर्गुणे परस्मिन्ब्रह्मणि । अतो न सत्यकामत्वादीना धर्माणा कचिच्छ्रु-
ताना सर्वत्र प्राप्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥

इस प्रकार अज्ञेय होने से भी प्रियशिरस्त्वादि की अन्यत्र ज्ञेय ब्रह्म में मुक्तता (अत्यन्त) अप्राप्ति है । इस प्रकार अप्राप्ति होते भी इन प्रियशिरस्त्वादि को ब्रह्म के धर्म मानान्तर के अनुसार मानकर आचार्य ने यह न्यायमात्र प्रदर्शित किया है कि इन्हें ब्रह्म के धर्म मानने पर भी इस रीति से प्रियशिरस्त्वादि की अप्राप्ति है । उस न्याय-प्रदर्शन का यह फल है कि उपासना के लिए उपदिश्यमान (उपदिष्ट) सयद्ब्रामादि और सत्यकामादि रूप निश्चित अन्य ब्रह्म के धर्मों में वह न्याय नेतव्य (प्राप्त करने योग्य) होना है । जिससे उन धर्मों में उपास्य ब्रह्म के एकत्व होने भी उपक्रम के भेद से उपासना का भेद होने पर परम्पर के धर्मों को परम्पर में प्राप्ति नहीं होती है । जैसे दो नारियाँ एक राजा की उपासना (सेवा) करती हैं । वहाँ एक छत्र द्वारा करती है, अन्य चामर द्वारा करती है तो वहाँ उपास्य की एकता होने भी उपासना का भेद और धर्म की व्यवस्था होती है । इसी प्रकार यहाँ भी धर्म की व्यवस्था होगी । जिसमें सगुण ब्रह्म में भेद-व्यवहार के रहते ही उपचित-अपचितगुणवत्त्व उपपन्न होता है, निर्गुण परब्रह्म में नहीं । इससे कही श्रुत सत्यकामत्वादि धर्मों को सर्वत्र प्राप्ति नहीं होती है यह अर्थ है ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

इतरे त्वानन्दादयो धर्मा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात्सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति दैपम्य, प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति ॥ १३ ॥

उपास्य धर्म से अतिरिक्त आनन्दादि धर्म तो ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादन के लिए ही कहे गये हैं, सो अर्थ की समानता से प्रतिपादनीय ब्रह्मरूप धर्मों की एकता से सब सर्वत्र प्रतीत उपसहृत होंगे । जिससे वे प्रतिपत्ति मात्र प्रयोजन वाले सत्यत्व ज्ञानत्व आनन्दत्व आत्मन्व ब्रह्मत्व पूर्णत्वादि धर्म हैं ॥ १३ ॥

आध्यानाधिकरण (७)

सर्वा परम्पराभादेर्ज्ञेया पुरुष एव वा । ज्ञेया सर्वाश्रुतत्वेन वाक्यानि स्युर्वह्मण्यपि ॥१॥
पुमर्थं पुरुषज्ञानं तत्र यत्नं श्रुतो महान् । तद्वोषाद्यश्रुतोऽज्ञादिवैद्य एव पुमांस्ततः ॥२॥

(इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था) इत्यादि श्रुति में इन्द्रियों से पर ज्ञेय, अर्थ से पर मन, मन से पर बुद्धि, व्यष्टि बुद्धि में पर समष्टि बुद्धिरूप महान् आत्मन्, उसमें पर अव्यक्त (प्रकृति, माया), अव्यक्त से पर (मूढम श्रेष्ठ) पुरुष है, इस प्रकार ब्रह्म में परत्व कहा गया है । वहाँ आध्यान के लिए पूर्वोक्त आनन्दादिवाला ब्रह्म ही यहाँ पुण्य शब्द में कहा गया है कि जिससे उसका ज्ञान हो, अन्य इन्द्रियादि की परता का वर्णन भी पुरुष के ज्ञान के ही लिए है । उनका प्रत्येक परत्व आध्यान के लिए नहीं है । जिसमें उसका कोई पद नहीं है । यहाँ सग्य है कि इन्द्रियादि के सभी परम्परा (ब्रह्म) ज्ञेय-ध्येय-प्रतिपाद्य हैं ।

अथवा पुरुष ही ज्ञेय है। पूर्वं पक्ष है कि सब परम्परा श्रुति से तुल्य ही श्रुत है। इससे श्रुतत्व के कारण सब परत्व ज्ञेय-ध्येयादि हैं। यदि कहा जाय कि अनेक परत्व की ध्येयता-ज्ञेयता के लिए अनेक के प्रतिपादन से वाक्यभेद होगा तो, तो कहा जाता है कि अनेक अर्थ के होने से वाक्य बहुत भी हों तो दोष नहीं है। सिद्धान्त है कि (निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते) उस आत्मा को जानकर मृत्युमुख, अविद्यादि से विमुक्त होता है। इस श्रुति रीति से पुरुष का ज्ञान पुरुषार्थरूप है। उसी के लिए वहाँ वाक्-मन आदि का निरोधादि रूप महान् यत्न सुना गया है, इससे उसके बोध के ही लिए इन्द्रियादि सुने गये हैं जिससे एक पुरुष ही वेद्य है ॥ १-२ ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

काठके हि पठ्यते—‘इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः’ (क० ३।१०) इत्यारभ्य ‘पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः’ (क० ३।११) इति। तत्र संशयः—किमिमे सर्व एवार्थादयस्ततस्ततः परत्वेन प्रतिपाद्यन्ते, उत पुरुष एवैभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत—इति। तत्र तावत्सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः। तथाहि श्रूयते—‘इदमस्मात्परमिदमस्मात्परम्’ इति। ननु बहुष्वर्थेषु परत्वेन प्रतिपादयिष्यतेषु वाक्यभेदः स्यात्। नैष दोषः। वाक्यबहुत्वोपपत्तः बहून्वेव ह्येतानि वाक्यानि प्रभवन्ति बहुविपयान्परत्वोपेतान्प्रतिपादयितुम्। तस्मात्प्रत्येकमेषां परत्व-प्रतिपादनमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पुरुष एव ह्येभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति न युक्तं प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनम्। कस्मात्? प्रयोजनाभावात्। नहीतरेषु परत्वेन प्रतिपन्नेषु किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा, पुरुषे त्विन्द्रियादिभ्यः परस्मिन्सर्वानर्थब्रातातीति प्रतिपन्ने दृश्यते प्रयोजनं मोक्षसिद्धिः। तथा च श्रुतिः—‘निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते’ (क० ३।१५) इति। अपि च परप्रतिपेधेन काष्ठाशब्देन च पुरुषविषयमादरं दर्शयन्पुरुषप्रतिपत्त्यर्थेव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयति—आध्यानायेति। आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनाथमेव हीहाध्यानमुपदिश्यते न त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम् ॥ १४ ॥

कठ उपनिषद मे पढ़ा जाता है कि (कार्यरूप इन्द्रियों से पर सूक्ष्म उनके कारण रूप अर्थ हैं; उनसे सूक्ष्म मन है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है) इस प्रकार धारम्म करके (पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह परत्व की काष्ठा, सीमा, पर्यवसानरूप है और परा गति (प्रकृष्ट आश्रय) है कि जिसको प्राप्त करके संसार से रहित हुआ जाता है) इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि क्या ये सब ही अर्थादि उस-उससे (इन्द्रियादि से) पररूप से प्रतिपादित होते हैं। अथवा इन सबसे पर एक पुरुष ही प्रतिपादित होता है। वहाँ इन सबका पररूप से प्रतिपादन है ऐसी मति (बुद्धि, ज्ञान) प्रथम होती है।

जिससे इसी प्रकार में सुना जाता है कि यह अर्थ इस इन्द्रिय से पर है, यह मन इस अर्थ से पर है इत्यादि । यदि कहा जाय कि बहुत अर्थों के पररूप से प्रतिपादन की इच्छा के विषय होने पर वाक्यभेद होगा, तो कहा जाता है कि वाक्य के बहुत्व की उपपत्ति से यह दोष नहीं है । जिससे परत्व से युक्त बहुत विषयों के प्रतिपादन के लिए ये बहुत ही वाक्य समर्थ हो सकते हैं । जिससे इनके प्रत्येक परत्व का प्रतिपादन है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि इन सबसे परपुरुष ही प्रतिपादित होता है । प्रत्येक इन सबके परत्व का प्रतिपादन युक्त नहीं है, वयो युक्त नहीं है तो कहा जाता है कि प्रयोजन के अभाव से युक्त नहीं है । जिसमें पुरुष से इतर के पररूप से प्रतिपन्न (निश्चित ज्ञान) होने पर कोई प्रयोजन (फल) देना वा सुना नहीं जाना है । सब अनर्थ-संग्रह से रहित इन्द्रियादि से पर पुरुष के प्रतिपन्न (अनुभूत) होने पर जो मोक्ष की सिद्धि रूप प्रयोजन देना जाता है । इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (उस आत्मा को जानकर मृत्यु के मुख से पृथक् हो जाना है) और दूसरी बात है कि (पुरुषात् पर किञ्चिन्ना चाष्टा) इस वचन से पुरुष से पर के प्रतिपन्न द्वारा और काष्ठा मन्त्र से पुरुषविषयक आदर की दर्शाता हुआ गुरु तथा वेद पुरुष के ज्ञान के लिए ही पूर्वापरप्रवाह (परत्व रूप) की उचित है उस अर्थ को दर्शाता है, वह आध्यान के लिए दर्शाता है, अर्थात् तत्तत्परत्व के आध्यान-चिन्तन पूर्वक सम्यग् दर्शन के लिए दर्शाता है यह अर्थ है । जिसमें सम्यक् दर्शन के लिए ही यहाँ आध्यान का उपदेश दिया जाता है, आध्यान ही स्वप्रधान नहीं है ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

इतच्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थेवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्ति । यत्कारणम्—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठ० ३।१२)—

इति प्रकृतं पुरुषात्मन्याह । अतश्चानात्मत्वमितरेषा विवक्षितमिति नम्यते । तन्मतेन च दुर्बिज्ञानना सम्मृत्तमनिगम्यना च दर्शयति । यद्विज्ञानायैव च 'यच्छेद्धात्मनसी प्राज्ञ' (कठ० ३।१३) इत्याख्यानं विदधाति । तद्व्याख्या-
नम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १।४।१) इत्यत्र । एवमनेकप्रकारं जागदानिगम्य श्रुते पुरुषे लक्ष्यते नेतरेषु । अपि च 'सोऽध्वन पारमान्जानि तद्विष्णो परम पदम्' (क० ३।९) इत्युक्ते किं तदध्वन पार विष्णो परम पदमित्यस्यामावाक्षायां मिन्द्रियाद्यनुक्रमणात्परमपदप्रतिपत्त्यर्थं एवायमायाम् इत्यवगोच्यते ॥ १५ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी पुरुष की प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिए ही यह इन्द्रियादि के प्रमाण (परम्परा) की उक्ति है कि जिस कारण से (सब जनों में वाच्छास्त्र यह पुरुष जानकर ही नहीं प्रकाशता है किन्तु अप्रप एकाग्रतायुक्त सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सूक्ष्म-

दर्शियों से तो देखा जाता है) यह श्रुति प्रकृत पुरुष को आत्मा इस शब्द से कहती है । इससे इतर का अनात्मत्व विवक्षित है । यह ज्ञात होता है । उसी की दुर्विज्ञानता (कष्ट-साध्य ज्ञानविषयता) को और संस्कृतमतिगम्यता (शुद्धबुद्धिजेयता) को श्रुति दर्शाती है । उसी के विज्ञान के लिए (विवेकी वाक् का मन में उपसंहार करे) इत्यादि वचन से आध्यान का विधान करती । सो (अनुमानिकमप्येकेषाम्) यहाँ व्याख्यात हो चुका है । इस प्रकार श्रुति के अनेक प्रकार वाले पुरुषविषयक आशय का अतिशय (औत्कर्ष्य) श्रुति से ही लक्षित होता है । इतर पदार्थविषयक आशय नहीं लक्षित होता है । (वह विद्वान् संसारगति के पाररूप पद को पाता है, और वही परमात्मा का परमस्वरूप है) ऐसा कहने पर, वह संसारमार्ग के पार रूप विष्णु का पर पद क्या है, इस आकांक्षा के होने पर इन्द्रियादि के अनुक्रमण (क्रमपूर्वक कथन) होने से परम पद की प्रतिपत्ति के लिए ही यह आयास (आरम्भ) है ऐसा निश्चय किया जाता है ॥ १५ ॥

आत्मगृहीत्यधिकरण (८)

आत्मा वा इदमित्यत्र विराट् स्यादयवेश्वरः । भूतासृष्टेर्नेधरः स्याद्गवाद्यानयनाद्विराट् ॥ १ ॥
भूतोपसंहृतेरीना । स्यादद्वैतावधारणात् । अर्थवादे गवाद्युक्तिर्नृणात्मत्वं विवक्षितम् ॥ २ ॥
द्वयोर्वस्त्वन्यदेकं वा काण्वछान्दोग्यदृष्टयोः । उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मभ्यामुपक्रमत् ॥ ३ ॥
साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः । वाक्यशेषोपादात्मवाची तस्माद्वस्त्वैकमेतयोः ॥

(आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्) इस ऐतरेयक वाक्य में तथा (सदेव सोम्येदमग्र आसीत्) इस छान्दोग्य वाक्य में तथा (अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चोनः । तमेव विद्वान्न विभाय मृत्योरात्मानं धीरममृतं युवानम् । अथर्व० १०।४।८।४४) इस वाक्य में आत्म शब्द से तथा मन शब्द से परमात्मा का ग्रहण है क्योंकि परमात्मा ही सबकी सृष्टि आदि में समर्थ है और परमात्मा ही पूर्ण काम सर्वाधार सर्वज्ञ अमृत स्वयम्भू आनन्द से तृप्त और किसी से न्यूनतारहित हो सकता है, तथा युवा समर्थ, परमात्मा को जान करके ही विद्वान् भयरहित होता है । अन्य को नहीं । इन सब स्थानों में परमात्मा को कैसे समझना चाहिये तो कहा जाता है कि (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः) इत्यादि इतर श्रुति के समान समझना चाहिए । तथा उन वचनों से उत्तर में पठित वचनों से समझना चाहिए । यह सूत्रार्थ है । यहाँ संशय है कि 'आत्मा वा इदम्' इस वाक्य में आत्मा शब्द का अर्थ विराट् होगा, अथवा ईश्वर होगा, पूर्व-पक्ष है कि भूतों की सृष्टि के अकथन से विराट् होगा, ईश्वर नहीं । तथा देवताओं के लिए गाय लाया, अश्व लाया, इन विशेष क्रियाओं से भी विराट् प्रतीत होता है । सिद्धान्त है कि (एक एवाग्र आसीत्) इस अवधारण से अद्वैत का बोध होता है, इससे आत्म शब्द का अर्थ ईश्वर ही होगा, और भूतों की सृष्टि के उपसंहार से ब्रह्मात्मत्व ही विवक्षित है । गवादि आनयन की उक्ति अर्थवाद रूप है, भाव है कि कोई क्रिया ईश्वर के बिना नहीं होती है, इनसे देवों के लिए गौ आदि का विराट् द्वारा ले आना वस्तुतः ईश्वर ही सिद्ध करता है ॥ १-२ ॥

काण्व और छान्दोग्य दोनों के पष्ठ अध्याय की प्रतिपाद्य वस्तु भिन्न है वा एक है यह सशय है। पूर्वपक्ष है कि छान्दोग्य में सन् शब्द में अध्याय का उपक्रम है, और काण्व में आत्म शब्द से उपक्रम है, इससे दोनों में भिन्न वस्तु है। सिद्धान्त है कि यद्यपि यह सन् शब्द साधारण है आत्मा-अनात्मा दोनों को कह सकता है, तथापि (स आत्मा तत्त्वमसि) इस वाक्यरूप से सन् शब्द आत्मा का वाचक सिद्ध होता है जिससे इन दोनों में एक वस्तु है ॥ ३-४ ॥

आत्मगृहीतिरितरवद्रुत्तरात् ॥ १६ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिपत्म् ईक्षत लोकान्नु सृजा' इति (ऐ० १।१) 'स इमाल्लोकान्सृजताम्भो मरीचीर्मरमाष' (ऐ० १।२) इत्यादि। तत्र मशय कि पर एवात्मेहात्मशब्देनाभिलष्यत उतान्य कश्चिदिति। किं तावत्प्राप्तं? न परमात्मेहात्मशब्दाभिलष्यो भवितुमर्हतीति। कस्मात्? वाक्यान्वयदर्शनात्। ननु वाक्यान्वय सुतरा परमात्मविषयो दृश्यते प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात्, ईक्षणपूर्वकमष्टवचनान्नाह। तेन्युच्यते। लोकसृष्टिवचनात्। परमात्मनि हि स्रष्टरि परिगृह्यमाणे महामूनमृष्टिरादौ वक्तव्या लोकसृष्टिस्त्विहादावुच्यते। लोकाश्च महामूनमनिवेशविशेषा। तथा चाम्भ प्रभृतील्लोकत्वेनैव निर्ब्रवीति—'अदोऽम्भ परेण दिवम्' (ऐ० १।३) इत्यादिना। लोकसृष्टिश्च परमेश्वराधिष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरपलभ्यते।

ऐतरेयक में सुना जाता है कि (सृष्टि से पूर्वकाल में यह सब जगत् एक आत्म रूप ही था, अन्य कुछ भी मिपत् क्रियायुक्त नहीं था। उस आत्मा ने विचार किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ। फिर उसने अम्म-स्वर्ग, मरीची-अन्तरिक्ष, मर-भूतल, आप-नानाल, इन लोकों को रचा) इत्यादि। वहाँ सशय होता है कि परमात्मा ही यहाँ आत्मशब्द से कहा जाता है, अथवा अन्य कोई कहा जाता है। वहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि यहाँ आत्मशब्द से परमात्मा नहीं कहाने योग्य है, बर्या नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वाक्य के अन्वय को देखने से परमात्मा की प्रतीति नहीं होती है। बका होती है कि उत्पत्ति से पहले आत्मा के एवत्त्व के अवधारण में और ईक्षणपूर्वक सृष्टिकर्तृत्व के कथन में परमात्मविषयक वाक्य का अन्वय सुन्दर स्पष्ट दीखता है। उत्तर है कि लोकों की सृष्टि के कथन में सुन्दर अन्वय नहीं दीखता है। जिससे सृष्टिकर्ता परमात्मा के परिग्रहण करने पर महामूनों की सृष्टि जादि में ब्रह्मा चाहिये और यहाँ तो लोकों की सृष्टि आदि में ब्रह्मा जानी है और लोक महामून नहीं है किन्तु लोक तो महामूनों के स्रष्टृत्वेन (रचनाकार्य) विशेष रूप मौनिक पदार्थ हैं। इसी प्रकार अम्म आदि का लोक रूप में ही श्रुति निर्वचन, व्याख्यान करनी है कि (दिन ने पर दिन में स्थिर चन्द्र जल स व्याप्त जो लोक है वह अम्म है)। लोक की सृष्टि परमेश्वर में

अधिष्ठित (परमेश्वराधीन) किसी अन्य ईश्वर से की जाती है । यह श्रुति-स्मृति में उपलब्ध होता है, ऐसा वर्णन देखा जाता है ।

तथाहि श्रुतिर्भवति—‘आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः’ (वृ० १।४।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।

आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥ इति ।

ऐतरेयिणोऽपि ‘अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवाः’ इत्यत्र पूर्वस्मिन् प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां विचित्रां सृष्टिमा मनन्ति । आत्मशब्दोऽपि तस्मिन् प्रयुज्यमानो दृश्यते । ‘आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः’ (वृ० १।४।१) इत्यत्र । एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते । ईक्षणमपि तस्य चेतनत्वाभ्युपगमादुपपन्नम् । अपि च ‘ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्नि’त्येवंजातीयको भूयान्व्यापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्ध इहानुगम्यते । तस्माद्विशेषवानेव कश्चिदिहात्मा स्यादिति ।

इसी प्रकार की श्रुति है कि (यह जगत् सृष्टि से प्रथम हिरण्यगर्भ रूप आत्मस्वरूप ही था और वह आत्मा पुरुषविध नराकार था) इत्यादि । स्मृति भी है कि (वह प्रथम शरीरी है, वही पुरुष कहा जाता है । वह चराचर भूतों का आदिकर्ता है । वह ब्रह्म सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ और था) और (अव रेत-कार्य की सृष्टि कही जाती है कि देव सब प्रजापति के कार्य हैं) इस पूर्व प्रकरण में ऐतरेय शाखा वाले भी प्रजापति जिसका कर्ता है ऐसी विचित्र सृष्टि का वर्णन करते हैं । और आत्मशब्द भी उसी प्रजापति में प्रयुज्यमान (उच्चार्यमाण) दीखता है (आत्मा ही यह नराकार था) । अपने कार्यों की उत्पत्ति से प्रथम अपने कार्यों की अपेक्षा से एकत्व का अवधारण भी उपपन्न होता है, तथा चेतनता के स्वीकार से ईक्षण (आलोचन, विचार) भी उपपन्न है । और दूसरी बात है कि (वह देवों के लिए गाय लाया, अश्व लाया, पुरुष लाया, फिर उन देवताओं को कहा) इस प्रकार के लौकिक विशेष (भेद) वाले आत्माओं में प्रसिद्ध बहुत व्यापारविशेष यहाँ अनुगम (अनुभूत) होते हैं उससे विवेक वाला ही कोई आत्मा यहाँ होगा ।

एवं प्राप्त ब्रूमः—पर एवात्मेहात्मशब्देन गृह्यत इतरवत् । यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः’ (तै० २।१।१) इत्येवमादिषु परस्यात्मनो ग्रहणम्, यथा चेतर्स्मिन्नलौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते तथेहापि भवितुमर्हति । यत्र तु ‘आत्मैवेदमग्र आसीत्’ (वृ० १।४।१) इत्येवमादौ ‘पुरुषविधः’ (वृ० १।४।१) इत्येवमादि विशेषणान्तरं श्रूयते भवेत्तत्र विशेषवत् आत्मनो ग्रहणम् । अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते ‘स ईक्षत लोकान्नु सृजै’ इति, (ऐ०

१११) 'म इमाँल्लोकानसृजत' (ऐ० ११२) इत्येवमादि । तस्मात्तस्मैव ग्रहण-
मिति न्याय्यम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहने हैं कि, इतर श्रुति के समान यहाँ आत्मशब्द से परमात्मा ही का ग्रहण किया जाता है । जिस प्रकार (उस इस आत्मा से वाक्य उत्पन्न हुआ) इत्यादि सृष्टिश्रवणों में परमात्मा का ग्रहण आत्म शब्द से होता है । जिस प्रकार इतर लौकिक आत्म शब्द के प्रयोग में मुख्य प्रत्यगात्मा ही आत्म शब्द से गृहीत होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होने योग्य है । क्योंकि आत्मशब्द की विदात्मा में मुख्य वृत्ति है, और मुख्य के ग्रहण में बाधक का अभाव है, तथा उत्तर के ईक्षणानि श्रवण भी अनुकूल है । जहाँ (आत्मा हो यह आगे था) इत्यादि वाक्य में (पुरुषाकार) इत्यादि विशेषणान्तर सुना जाता है, वहाँ बाधक के सद्भाव से विशेष वाले आत्मा ही का ग्रहण होगा । यहाँ तो परमात्मा के ग्रहण के अनुकूल ही उत्तर का विशेषण भी उपलब्ध (शात) होता है कि (वह विचारने लगा कि लोको को सृष्टि करे) और (उसने इन लोकों को रचा) इत्यादि । उससे महानूतों को सृष्टिपूर्वक लोकों को सृष्टि करने वाला उस परमात्मा का ही ग्रहण है, ऐसा मानना ही न्याय्यम् है ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

'वाक्यान्वयदर्शनात् परमात्मग्रहण'मिति पुनर्यदुक्तं तत्परिहृतं व्यमिति । अत्रोच्यते । स्यादवधारणादिति । भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम् । कस्मात् ? अवधारणात् । परमात्मग्रहणे हि प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणमात्रमवधारण्यते, अन्यथा ह्यनाञ्जम तत्परिहृत्येत । लोकसृष्टिवचनं तु श्रुत्यन्तरप्रमिद्धमहानूत-
सृष्टवनन्तरमिति योजयिष्यामि । यथा 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।१।३) इत्येव श्रुत्यन्तरप्रमिद्धवियद्वायुसृष्टवनन्तरमित्ययुजमेवमिहापि । श्रुत्यन्तर-
प्रसिद्धो हि समानविषयो विशेष श्रुत्यन्तरेपूपमहर्तव्यो भवति । योज्यव
व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येवमादि सोऽपि विवक्षितार्थाव-
धारणानुगुण्येनैव ग्रहीतव्यं । नह्ययं सकलं वथाप्रबन्धो विवक्षित इति
शक्यते वस्तु, तत्प्रतिपत्तो पुष्पार्थाभावात् । ब्रह्मात्मत्व त्विह विवक्षितम् ।
तथाह्यम्भ प्रनृतीना लोकाणां लोकपालानां चाग्नेयादीनां सृष्टिं शिष्टां करणानि
करणायननं च शरीरमुपदिश्य म एव यथा 'कथं न्विदं मदते स्यात्' (ऐ० ३।११)
इति वीक्ष्येदं शरीरं प्रविवेकेति दर्शयति—'म एनमेव सीमानं विदार्थेतया द्वारा
प्रापयन्' (ऐ० ३।१२) इति । पुनश्च 'यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणैर्नाभि-
प्राणितम्' (ऐ० ३।११) इत्येवमादिना करणव्यापारविवेचनपूर्वकम् 'अयं
कोऽहम्' (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्य 'स एतमेव पुरय ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐ० ३।१३)
इति ब्रह्मान्मत्वदर्शनमवधारयति । तथोपरिष्ठादपि 'एष ब्रह्मैव इन्द्र' (ऐ०
५।३) इत्यादिना समस्तमेदजातं महं महानूतैरनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेन'

प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५।३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति । तस्मादिहात्मगृहीतिरित्यनपवादम् ।

वाक्य के अन्वय के देखने से परमात्मा का ग्रहण नहीं है, यह जो प्रथम कहा जा चुका है, उसका परिहार तो फिर भी कर्तव्य है, यदि ऐसे कोई कहे तो यहाँ कहा जाता है कि अवधारण से परमात्मा का ग्रहण होगा । अर्थात् परमात्मा का ग्रहण उपपन्न होगा । किस हेतु से होगा, अवधारण से होगा । जिससे परमात्मा का ग्रहण करने ही पर उत्पत्ति से प्रथम एकत्व का अवधारण सर्वथा युक्त सिद्ध होता है । अन्यथा वह अवधारण अयुक्त, अमुख्य होगा । लोक के सृष्टिविषयक वचन को तो श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध भूतसृष्टि के अनन्तर परमात्मा ने लोकों को रचा, ऐसी योजना करेंगे । जैसे कि (उसने तेज को रचा) इस वचन की श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध आकाश और वायु की सृष्टि के अनन्तर परमात्मा ने तेज को रचा इस प्रकार योजना की गई है । उसी प्रकार यहाँ भी योजना की जायगी । जिससे श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध समान विषय वाला विशेष अन्य श्रुतियों में उपसंहार के योग्य होता है । और जो भी यह व्यवहार विशेष का अनुगम (सम्बन्ध, अनुभव) है, वह भी विवक्षितार्थ अवधारण के अनुसार से ग्रहण करने के योग्य है कि लोक की सृष्टि में भी हिरण्यगर्भ का व्यापार नहीं है किन्तु उनमें प्रविष्ट परमात्मा का ही वह भी व्यापार है । जिससे यह सम्पूर्ण कथा का प्रबन्ध विवक्षित है, ऐसा नहीं कह सकते हैं । क्योंकि उस प्रबन्ध की प्रतिपत्ति (ज्ञान) में पुरुषार्थ (फल) का अभाव है । यहाँ तो ब्रह्मात्मत्व (सर्वात्मभाव) ही विवक्षित है । सो इस प्रकार है कि अम्म (स्वर्ग) आदि लोको और अग्नि आदि लोकपालों की सृष्टि का उपदेश करके तथा करण (इन्द्रिय) और करणों के आश्रय शरीर का उपदेश करके, (मेरे बिना यह कैसे रहेगा) इस प्रकार उसी सृष्टिकर्ता ने विचार किया, और विचार कर शरीर में प्रवेश किया यह श्रुति दर्शाती है कि (वह परमेश्वर इसी शिर की सीमा को फाड़ कर उसी ब्रह्मरन्ध्र द्वारा लिङ्ग-शरीरसहित स्थूल शरीर में पैठा) और फिर भी विचार किया कि (मेरे बिना वाक् से व्याहृत, कथन हुआ, प्राण से श्वास लिया गया) इत्यादि वचनों से कारणों के व्यापारों का विवेचन पूर्वक (फिर मैं कौन हूँ) अर्थात् इन्द्रियाँ यदि अपना व्यापार आप ही करती हैं, तो मैं किसका स्वामी हूँ । इस प्रकार विचार कर (उसने इस शुद्ध ही व्यापक ब्रह्म पुरुष को निज स्वरूप समज्ञा) इस प्रकार श्रुति ब्रह्मात्मत्वदर्शन का अवधारण करती है । इसी प्रकार आगे भी ब्रह्मात्मत्व दर्शन का ही अवधारण करती है कि (यह ब्रह्म है यह इन्द्र है) इत्यादि वचनों से महाभूतों के सहित समस्त भेदसमूह का अनुक्रमण (क्रमशः कथन) करके (ये सब प्रज्ञान-चिदात्मा रूप नेतावाले चिदात्मा के आश्रित हैं, प्रज्ञान नेत्रवाला लोक है, सबकी प्रज्ञा प्रतिष्ठा है प्रज्ञान ब्रह्म है) इत्यादि । उससे यहाँ परमात्मा ही का ग्रहण है, यह अपवादरहित कथन है ॥

अपरा योजना—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् । वाजसनेयके 'क्तम आत्मेति

योऽयं विज्ञानमय प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिं पुरुष' (बृ० ४।३।७) इत्यात्म-
शब्देनोपक्रम्य तस्यैव सर्वसङ्गविनिर्मुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति ।
तथाह्युपसहरति—'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽमयो ब्रह्म'
(बृ० ४।४।२५) इति । छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-
द्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यन्तरेणैवात्मशब्दमुपक्रम्योदकं 'म आत्मा तत्त्व-
मसि' (छा० ६।८।७) इति तादात्म्यमुपदिशति । तत्र सशय —तुल्यायत्वं
किमनयोरात्मनयो स्यादतुल्यार्थत्वं वेति । अतुल्यार्थत्वमिति तावत्प्राप्तम-
तुल्यत्वादात्मनयो, नह्यात्मनवैषम्ये मत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुमात्मनतन्त्र-
त्वादर्थपरिग्रहस्य । वाजमनेयरे चान्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति
गम्यते । छान्दोग्ये त्वक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः । ननु छन्दोगानामप्य-
स्त्युदकं तादात्म्योपदेश इत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् । उपक्रमतन्त्रत्वादुपसंहारस्य
तादात्म्यमपत्तिं सेति मन्यते ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्—इस सूत्र की अपर योजना है कि वाजसनेयक में
(देहेन्द्रियादि में आत्मा कौन है, जो यह विज्ञानमय हृदय के अन्दर प्राणी में ज्योतिरूप
पुरुष है वह आत्मा है) इस प्रकार आत्म शब्द से उपक्रम करके, उसीकी सर्वसङ्ग-
विनिर्मुक्तता के प्रतिपादन के द्वारा उसकी ब्रह्मात्मता का अवधारण श्रुति करती है ।
जिससे उसी प्रकार ब्रह्मस्य से उपसंहार करती है कि (वही यह महान् अज आत्मा
अजर अमर अमृत अमय ब्रह्म है) इति । और छान्दोग्य में तो (ह सोम्य ! यह जगत्
उत्पत्ति से प्रथम एक ही अद्वितीय सन् स्वरूप ही था) इस प्रकार आत्म शब्द के बिना
ही उपक्रम करके उदकं (उपसंहार, उत्तर) में (वह आत्मा है वह तुम हो) इस
प्रकार तादात्म्य (अभेद) का उपदेश गुरु करते हैं । वहाँ सशय होना है कि क्या इन दोनों
श्रुतियों को तुल्यार्थवत्त्व होगा, अथवा अतुल्यार्थवत्त्व है । वहाँ श्रुतियों की अतुल्यता में
प्रथम अतुल्यार्थत्व प्राप्त होता है, जिससे श्रुति की विषमता रहते अर्थात्ज्ञान के श्रुति के
अधीन होने से अर्थ की समता समझना युक्त नहीं है । वाजसनेयक में आत्मशब्द से उप-
क्रम होने में आत्मतत्त्व का उपदेश है, यह समझा जाता है । छान्दोग्य में तो उपक्रम के
विपर्यय से (आत्मसम्बन्धरहित होने से) उपदेश का विपर्यय समझा जाता है । यदि
कहा जाय कि छन्दोगों के भी उपसंहार में तादात्म्य का उपदेश है, यह कहा जा चुका
है । तो कहा जाता है कि कहा जा चुका है वह मन्थ है । परन्तु उपसंहार के उपक्रम
के अधीन होने में वह तादात्म्य-सम्पत्ति (उपासनार्थक संपादनस्य) है ऐसा मानते हैं ।

तथा प्राप्तेऽभिधीयते आत्मगृहीति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा०
६।२।१) इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हतीतरवत् । यथा 'वनम आत्मा' (बृ०
४।३।७) इत्यत्र वाजमनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव । कस्मान् ? उत्तरात्तादा-
त्म्योपदेशात् । अन्वयादिनि चेत्, स्यादवधारणात् । यदुक्तम्—उपक्रमान्व-

यादुपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावान्नात्मगृहीतिः—इति तस्य कः परिहार इति चेत्, सोऽभिधीयते स्यादवधारणादिति । भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः अवधारणात् । तथाहि—‘येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्’ (छा० ६।१।१) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्संपिपादयिष्या ‘सदेव’ इत्याह । तच्चात्मगृहीतौ सत्यां संपद्यते, अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा स न विज्ञात इति नैव सर्वविज्ञानं संपद्येत, तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः, स्वापावस्थायां च तत्त्वभावसंपत्तिकथनं परिचोदनापूर्वकं च पुनः पुनः ‘तत्त्वमसि’ (छा० ६।८।७) इत्यवधारणमिति च सर्वमेतत्तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते न तादात्म्यसंपादनायाम् । नचान्नोपक्रमतन्त्रतोपन्यासो न्याय्यः । नह्युपक्रम आत्मत्वसंकीर्तनमनात्मत्वसंकीर्तनं वास्ति । सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते विशेषाकाङ्क्षित्वात्सामान्यस्य । सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽन्यः संभवत्यतोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः आम्नानवैपम्यमपि नावश्यमर्थवैपम्यमावहति, आहर पात्रं पात्रमाहरेत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि तद्दर्शनात् । तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्याथमिदं इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि (हे सोम्य ! यह प्रथम सत् ही था) छन्दोगों के भी इस वाक्य में इतर वाक्य के समान परमात्मा ही का ग्रहण होने योग्य है । अर्थात् (कौन आत्मा है) इस वाजसनेयी के वाक्य में जैसे आत्म शब्द से परमात्मा का ग्रहण होता है, वैसे ही छन्दोगों के वाक्य में सत् शब्द से परमात्मा का ग्रहण होना उचित है । क्यों ऐसा होना उचित है, तो कहा जाता है कि उत्तर (आगे) के तादात्म्य (अमेद) के उपदेश से ऐसा होना उचित है । फिर यदि कहो कि अन्वय से नहीं हो सकता है, तो कहा जाता है कि अवधारण से हो सकता है । अर्थात् यदि यह कहो कि उपक्रम के अन्वय से (उपक्रम के अधीन उपसंहार के होने से) और उपक्रम में आत्मशब्द के श्रवण के अभाव से उपक्रम के अनुसार से छान्दोग्य वाक्य में परमात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता है, यह जो प्रथम कहा जा चुका है उसका परिहार (उत्तर) है, तो वह परिहार कहा जाता है कि अवधारण से परमात्मा का ग्रहण होगा, अर्थात् यहाँ अवधारण से परमात्मा का ग्रहण उपपन्न (युक्त, सिद्ध) होगा । जिससे इस प्रकार का अवधारण है कि (जिस आदेश के सुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है, अमत भी मत होता है । अविज्ञात भी विज्ञात होता है) इस प्रकार एक के विज्ञान से सब के विज्ञान का अवधारण करके उसी के प्रतिपादन की इच्छा से (सदेव) सत्य ही था, इत्यादि कहते हैं । वह (सदेव) ऐसा अवधारण परमात्मा से सत्शब्द से ग्रहण करने पर उपपन्न होता है । अन्यथा (अन्य के ग्रहण करने पर) जो यह मुख्य आत्मा है वह यदि नहीं विज्ञात हुआ, तो सर्वविज्ञान सम्पन्न नहीं हो सकता है । इसी प्रकार उत्पत्ति के पूर्वकाल

मे (एकमेव) इस प्रकार एकत्व का अवधारण, और (अनेन जीवेनात्मना) इस प्रकार जीव का आत्मशब्द से परामर्श (कथन) और (सता सम्पन्नो भवति) इस प्रकार सुपुंति अवस्था में परमात्मस्वभाव की सम्पत्ति (प्राप्ति) का कथन, और बार-बार (भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु) फिर मुझे आप समझावें । इस प्रकार की प्रेरणा प्रदत्तपूर्वक (तत्त्वमसि) तुम वही हो । यह अवधारण, ये सब तादात्म्य के प्रतिपादन में युक्त सिद्ध होने हैं, तादात्म्य की संपादना (सम्पत्ति आरोप) में नहीं सिद्ध हो सकते हैं । उपक्रमतन्त्रता (अधोन्तता) का यहाँ उपन्यास (कथन) भी युक्त नहीं है, क्योंकि उपक्रम में आत्मत्व का सकीर्तन वा अनात्मत्व का सकीर्तन नहीं है किन्तु सामान्य रूप से सत् का सकीर्तन है । सामान्य रूप वाला उपक्रम वाक्य शेषगत विशेष से विरुद्ध नहीं होता है, क्योंकि सामान्य वाक्य विशेष वाक्य की आकांक्षा वाला होता है । वस्तुतः पर्यालोच्यमान (विचार्यमाण) सत् शब्द का अर्थ भी मुख्य आत्मा में अन्य नहीं मिश्र हो सकता है, क्योंकि इस मुख्य आत्मा से अन्य वस्तु-समूह को आरम्भणशब्दादि में अनृतत्व (मिथ्यात्व) की उपपत्ति से मुख्यात्मा ही सत् सिद्ध होता है । श्रुति पाठ की विषमता भी अर्थ की विषमता को अवश्य ही नहीं प्राप्त करती है, (लाओ पात्र, पात्र लाओ) इत्यादि वाक्यों में अर्थ की तुल्यता रहने भी पाठ की विषमता देखी जाती है । उसमें इस प्रकार के वाक्यों में प्रतिपादन की प्रतिस्मरणों के भेद रहने भी प्रतिपादन के विषय अर्थ का अभेद रहता है । अर्थात् बृहदारण्यक में त्वमर्थ (जीवात्मा) से आरम्भ करके शुद्ध तदर्थ (ईश्वरसाक्षी) का प्रतिपादन है । छांदोग्य में ईश्वर के स्वरूप से आरम्भ करके शुद्ध जीवात्मा का प्रतिपादन है, और जीवेश्वर का शुद्ध साक्षीग्वरूप आत्मा अभिन्न है यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

कार्यात्यानाधिकरण (९)

अनन्तबुद्ध्याचमने विधेये बुद्धिरेव वा । उभे अपि विधेये ते द्वयोरत्र श्रुतत्वत ॥१॥
स्मृतेराचमनं प्राप्तं प्रापत्यर्थमनूय तन् । अनन्ततामति प्राणविज्ञोऽपूर्वा विधीयते ॥२॥

पूर्व वही रीति से परमात्मा से मिश्र सब को आरम्भण शब्दादि से ब्रह्मकार्यन्त्र के आभ्यास से ब्रह्म ही (अपूर्वम्) इत्यादि श्रुति के अनुसार कारण रक्षित है । इसमें सत्य और आत्मा है । उस परमात्मा की अनुभूति का साधन शौच है, और (द्वित्रो नित्यमुपमृशन्) इत्यादि स्मृति से शौच के लिए उपसर्गादि विहित हैं । (सत्त्वगुडि-सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयान्मदशनयोग्यत्वानि च) इस योगमंत्र में अन्तःकरण की गुडि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों का विजय, आत्मदर्शन की योग्यता, ये शौच के आभ्यन्तर पञ्च योगदर्शन में दक्षिण गये हैं । प्रवृत्त में (अघिष्यन्त आचमन्ति) इत्यादि श्रुति से शुद्धि के लिए स्मृति में प्राप्त कर्तव्य रूप आचमन का आभ्यास अनुवादमान होने से आचमन का विधान नहीं किया जाता है, किन्तु अपूर्व (अप्राप्त) होने से अनन्तता के चिन्तन मात्र का प्राणविद्या में विधान किया जाता है । यहाँ सत्य है कि

श्रुति से अनग्नता का चिन्तन और आचमन दोनों विधेय हैं या आचमन के जल में वस्त्र बुद्धि करके और उसके द्वारा प्राण की अनग्नता की बुद्धिमात्र का विधान है। पूर्वपक्ष है कि दोनों के यहाँ श्रुत होने से दोनों का विधान है। सिद्धान्त है कि (विधिरत्यन्त-मप्राप्ता) इस वचन के अनुसार अत्यन्त अप्राप्ति रहते विधि होती है। इससे प्रयत्न का भावरूप प्रायत्य, बुद्धि के लिए प्राप्त उस आचमन का अनुवाद करके प्राणवेत्ता की अपूर्व अनग्नता मति विहित होती है ॥ १-२ ॥

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमाम्नायतस्यैवापो वास आमनन्ति । अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—‘तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्ठाञ्चाद्भिः परिदधति’ (छा० ५।२।२) इति । वाजसनेयिन-स्त्वामनन्ति—‘तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्ये-तमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते’ (वृ० ६।१।१४) ‘तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचा-मेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुर्वते’ इति । तत्र त्वाचमनमनग्नताचिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते । तत्किमुभयमपि विधीयत उताचमनमेवोतानग्नताचिन्तनमेवेति विचार्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? उभयमपि विधीयते इति । कुतः ? उभयस्याप्यवगम्यमानत्वात् । उभयमपि चैतदपूर्वत्वाद्विध्यहम् । अथवाऽऽचमनमेव विधीयते, विस्पष्टा हि तस्मान्विधिविभक्तिस्तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशिः । चाचामेदिति तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासंकीर्तनमिति ।

प्राणों के संवाद में (मे किमन्नं किं वासः) मेरा क्या अन्न होगा क्या वस्त्र होगा ? इस प्रकार प्राण के पूछने पर, इन्द्रियों ने कहा कि (यदिदं किञ्चाश्वम्य आकृमिम्य-स्तत्तेज्जमापो वासः) इस प्रकार छन्दोग और वाजसनेयी प्राण के संवाद में कुत्ते कृमि आदि पर्यन्त को प्राण का अन्न कहकर और उस प्राण का वस्त्र रूप जल को कहते हैं । उसके बाद में छन्दोग कहते हैं कि (जिससे जल प्राण का वस्त्र है इसीसे भोजन करने वाले विद्वान् यह करते हैं कि भोजन से प्रथम और भोजन के बाद में जलों से प्राण का परिधान आच्छादन करते हैं) और वाजसनेयी तो कहते हैं कि (यतः जल प्राण का वस्त्र है अतः श्रोत्रिय विद्वान् लोग भोजन करते समय प्रथम आचमन करते हैं । और भोजन करके आचमन करते हैं । इसी अन (प्राण) को उस आचमन से अनग्न करना मानते हैं, जिससे ऐसा जानने वाला विद्वान् भोजन करने से प्रथम आचमन करे और भोजन करके आचमन करे, उससे इसी प्राण को अनग्न करता है) इति, वहाँ दोनों श्रुतियों में आचमन और प्राण की अनग्नता का चिन्तन प्रतीत होता है, इससे क्या दोनों विहित हैं ? अथवा आचमन ही विहित होता है, यद्वा अनग्नता चिन्तन ही विहित होता है, यह विचार किया जाता है । वहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि दोनों प्राप्त होता है, क्योंकि दोनों का विधान किया

जाता है, दोनों का विधान किससे समझा जाता है ऐसी जिज्ञासा हो, तो कहा जाता है कि दोनों ही के अवगम्यमान (प्रतीत) होने से दोनों का विधान समझा जाता है । और अपूर्वता से ये दोनों ही विधि के योग्य भी हैं । अथवा आचमन का ही विधान किया जाना है, जिससे उस आचमन विषयक विषट विधायक विभक्ति है कि जिससे ऐसा विद्वान् भोजन से पहले आचमन करे और भोजन करके आचमन करे और आचमन की विधि होने पर उसी की स्तुति के लिए अनन्तता का सकीर्तन है, विधि नहीं है ।

एव प्राप्ते ब्रूम — नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते कार्माख्यानात् । प्राप्तेमेव हीद कार्यत्वेनाचमन प्रायत्यार्थ स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायेन । नन्विद्य श्रुतिस्तस्या स्मृतेर्मूल स्यात् । नेत्युच्यते, विषयनानात्वात् । सामान्यविषया हि स्मृति पुरुषमात्रसबद्ध प्रायत्यार्थमाचमन प्रापयति । श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमन विदधती विदध्यात् । नच भिन्नविषययो श्रुतिस्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्प्यते । नचैव श्रुति प्राणविद्यासयोग्यपूर्वमाचमन विधास्यतीति शक्यमाश्रयितुम्, पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । अत एव च नोभयविधानम् । उभयविधाने च वाक्य भिन्न, तस्मात्प्राप्तेमेवाशिशिपतामशितवता चोभयन आचमनमनूद्य 'एतमेव तदनमग्न कुर्वन्तो मन्यन्ते' (वृ० ६।१।१४) इति प्राणस्यानग्नताकरणमकल्पोऽनेन वाक्येनाचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यामवन्धित्वेनापूर्व उपदिश्यते । नचायमनग्नतावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम्, आचमनस्याविधेयत्वात्, स्वय चानग्नतामकल्पस्य विधेयत्वप्रतीति । नचैव मत्येकस्याचमनस्योभयार्थताभ्युपगता भवति प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेति, क्रियान्तरत्वाभ्युपगमात् । त्रियान्तरमेव ह्याचमन नाम प्रायत्यार्थं पुरुषस्याभ्युपगम्यते, तदीयाम् त्वप्सु वाममत्पन नाम क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम् । अपिच 'यदिद किंचाश्चभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतगेभ्यस्तत्तज्जम्' (वृ० ६।१।१४) इत्यत्र तावन्न सर्वाङ्गाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्य वक्तुम्, अशब्दत्वादशक्यत्वाच्च । सर्वं तु प्राणस्यान्नमिनीयमन्नदृष्टिशोद्यते । तत्माह्वर्याच्चापोवाग इत्यत्रापि नापामाचमन चोद्यते प्रमिद्धास्त्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिशोद्यत इति युक्तम् । नह्यर्धवेशस सम्भवति । अपि चाचामन्तीति वर्तमानापदेशित्वाभाय शब्दो विधिक्षम ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि कार्याख्यान से आचमन की विधेयत्व उपपन्न नहीं होता है । जिससे शुद्धि के लिए कर्तव्य रूप में प्राप्त स्मृति में प्रसिद्ध हो यह आचमन कहा जाता है । यदि कहो कि स्मृति सिद्ध का श्रुति नहीं अनुवाद कर सती है, किन्तु यह श्रुति ही उस स्मृति का मूल है, तो कहा जाता है कि विषय के नानात्व (भेद) से यह श्रुति उस स्मृति का मूल नहीं है, समान विषय में मूल-मूलोनाव होता है । और सामान्य विषयक स्मृति है सो पुरुष मात्र के साथ सम्बन्ध वाता शुद्धि

रूप प्रयोजन वाले आचमन को प्राप्त कराती है। प्राणविद्या के प्रकरण में पठित श्रुति तो आचमन का विधान करती हुई भी प्राणविद्या-विषयक ही आचमन का विधान करेगी। मित्र विषयवाली श्रुति-स्मृति को मूल-मूलि भाव नहीं सिद्ध हो सकता है। वस्तुतः यह श्रुति प्राणविद्या-सम्बन्धी अपूर्व आचमन का विधान करेगी ऐसा आश्रयण (स्वीकार) नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पुरुषमात्र के सम्बन्धी पूर्व के ही आचमन की यहाँ प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे वही यहाँ प्रत्यभिज्ञायमान (सम्बद्ध) है। इस विधि के अभाव से ही उभय (दोनों) का विधान भी नहीं है। उभय के विधान में वाक्य-भेद होगा। इससे भोजन की इच्छा वाले और भोजन कर चुकने वाले को प्राप्त भोजन से पूर्वपरकालिक आचमन का ही अनुवाद करके (इस प्राण को ही उस आचमन से अनग्न करते हुए समझते हैं) इस वाक्य से प्राण की अनग्नताकरण का संकल्प आचमनीय जलविषयक प्राणविद्या के सम्बन्धित्व रूप से अपूर्व उपदिष्ट होता है। आचमन की अविवेक्यता से तथा अनग्नताविषयक संकल्प के विवेक्यत्व की स्वयं प्रतीति से (यह अनग्नता का कथन आचमन की स्तुति के लिए है) यह पूर्वोक्त वचन न्याययुक्त नहीं है। इस प्रकार संकल्प के विवेक्यत्व की प्रतीति होने पर संकल्प में क्रियान्तरत्वं के अम्युपगम से एक आचमन की शुद्धचर्यता और परिधानार्थता रूप उभयार्थता स्वीकृत नहीं होती है, कि जिससे कहा जा सके कि शुद्धचर्यक आचमन को प्राण परिधानार्थकत्व विरुद्ध है, जिससे आचमन को आच्छानार्थकत्व असिद्ध है, परन्तु संकल्पमात्र कर्तव्य है। जिससे पुरुष की शुद्धि के लिए आचमन नामक क्रियान्तर माना जाता है। उस आचमन सम्बन्धी जलों में वस्त्र वा संकल्प नामक क्रियान्तर ही प्राणों के परिधानार्थक माना जाता है, इससे उभयार्थता आदि दोष नहीं है। दूसरी बात है कि (कुत्ता, कृमि, कीट-पतंगपर्यन्त जो कुछ है सो सब तेरा अन्न है) यह सब अन्न के भोजन का विधान किया जाता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा कोई शब्द श्रुति नहीं है, और ऐसा होना अशक्य भी है। इससे सब प्राण का अन्न है इस प्रकार की यह अन्नदृष्टि विहित होती है। उसके साहचर्य से जल वस्त्र है, यहाँ भी जल के आचमन का विधान नहीं किया जाता है, किन्तु प्रसिद्ध आचमनार्थक जलों में परिधान (वस्त्र) दृष्टि का विधान किया जाता है। ऐसा युक्त है। ऐसा नहीं मान कर अन्न वाक्य में दृष्टि-विधिरूप और आचमन वाक्य में क्रिया विधिरूप अर्धवैशस का सम्मन नहीं है। आचामन्ति, - इस वर्तमान के कथन से यह शब्द आचमन की विधि में समर्थ भी नहीं है।

ननु मन्यन्त इत्यत्रापि समानं वर्तमानापदेशित्वम्। सत्यमेव तत् अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन्वासः कार्याख्यानादपां वासःसंकल्पनमेवापूर्वं विधीयते नाचमनं पूर्ववद्वि तदित्युपपादितम्। यदप्युक्तं—विस्पष्टा चाचमने विधिविभक्तिः—इति, तदपि पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम्। अत एवाचम-

नस्याविधित्सितत्वादेतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते इत्यनेन काष्ठा पर्व
वस्यन्ति तस्मादेवविदित्यादि । तस्मान्माध्यदिनानामपि पाठे आचमनानुवा-
देनैववित्त्वमेव प्रकृतप्राणवासोवित्त्व विधीयते इति प्रतिपत्तव्यम् । योग्य-
यमभ्युपगम कचिदाचमन विधीयता कचिद्वासोविज्ञानमिति सोऽपि न माधु ।
आपो वास इत्यादिकाया वाक्यप्रवृत्ते सर्वत्रैकरूप्यात् । तस्माद्वासोविज्ञानमेव
विधीयते नाचमनमिति न्याय्यम् ॥ १८ ॥

यदि कहो कि (अनग्न मन्यन्ते) यहाँ भी तुल्य ही वर्तमानापदेशित्व (वर्तमान
वाचकत्व) है, तो यह कहना सत्य है, तो भी अन्यतर (दो मे मे एक) के अवल-
विषय होने पर कार्याख्यान रूप हेतु से जल का वस्त्ररूप अपूर्वसंकल्पन ही विहित
होना है, आचमन नहीं विहित होता है वह पूर्व सिद्ध है, यह उपपादित हो चुका है ।
जो यह कहा था कि आचमन मे विस्पष्ट विधि विभक्ति है, सो भी आचमन के पूर्व
सिद्धत्व से ही प्रत्युक्त (खण्डित) हो चुका । इस पूर्व सिद्ध होने के कारण आचमन
विधि के इष्ट नहीं होने से ही (इस प्राण को इससे अनग्न करना मानते हैं) यहाँ
काष्ठाशाखा वाले समाप्ति करते हैं । (तस्मान् एवविद्) इत्यादि नहीं पढ़ा है
जिसने माध्यन्दिनो के पाठ मे भी आचमन के अनुवाद द्वारा एववित्त्व ही क्या
प्रकृत प्राणवस्त्रवित्त्व विहित होता है, ऐसा समझना चाहिए । जो यह अभ्युपगम है
कि कचिच् (माध्यन्दिन) मे आचमन का विधान किया जाय, और वही अन्य-
वस्त्रविज्ञान का विधान किया जाय । सो अभ्युपगम भी साधु नहीं है । वनाकि
(आपो वास) इत्यादि वाक्य प्रवृत्ति की सर्वत्र एकरूपता है । जिससे यहाँ वस्त्रविज्ञान
का ही विधान किया जाता है, आचमन का नहीं, यह न्याययुक्त है ॥ १८ ॥

समानाधिकरण (१०)

शाण्डिल्यविद्याकाष्ठाया द्विविधैकविधाऽप्यथा । द्विरुन्नेरेकशाखायां द्वैविध्यमिति मन्यन्ते ॥
एषा मनोमयत्वादिप्रत्यभिज्ञानतो भवेत् । विद्याया विधिरेकत्र स्यादन्यत्र गुणो विधि ॥

जैसे मिल्न शाखा मे उपास्य के अभेद से विद्या की एकता और गुण का उपसहार
होता है, इसी प्रकार समान (एक) शाखा मे भी समझना चाहिए । यहाँ सदाय है
कि एक काष्ठाशाखा वाले के दो ग्रन्थ मे शाण्डिल्य विद्या पढ़ी हुई है सो दोनों स्थान
मे द्विविध (भिन्न) होगी, अथवा एवविध (अमिल्न) होगी । पूर्वपक्ष है कि मिल्न
शाखा मे अध्येता आदि के भेद मे पुनरुक्ति दोष नहीं होता है, इससे एक विद्या दो
शाखाओं मे पढ़ी जा सकती है, परन्तु एक शाखा मे एक विद्या के दो स्थानो मे पढ़ने
मे पुनरुक्ति होगी इससे द्विविधता की प्रतीति होती है । सिद्धान्त है कि मनामयत्वादि
द्वारा प्रत्यभिज्ञा होने मे विद्या एक है । एक स्थान मे विद्या की विधि है । अन्य स्थान
मे गुणविषयक विधि है, इससे पुनरुक्ति भी नहीं है ॥ १-२ ॥

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता, तत्र च गुणाः श्रूयन्ते—‘स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्’ इत्येवमादयः । तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते—मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा ब्रीहिर्वा यवो वा स एषां सर्वस्येगानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशस्ति यदिदं किंच’ (बृ० ५।६।१) इति । तत्र संशयः—किमियमेका विद्याग्निरहस्यबृहदारण्यकयोगुणोपसंहारश्चोत द्वे इमे विद्ये गुणानुपसंहारश्चेति । किं तावत्प्राप्तम् ? विद्याभेदो गुणव्यवस्था चेति । कुतः ? पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात्पौनरुक्त्यपरिहारमालोच्य विद्यैकत्वमध्यवसायैकत्रातिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंह्रियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम् । एकस्यां पुनः शाखायामध्येतृवेदितृभेदाभावादागव्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्यैका विद्या भवितुमर्हति । नचात्रैकमान्नानं विद्याविद्यानार्थमपरं गुणविद्यानार्थमिति विभागः संभवति । तदा ह्यतिरिक्ता एव गुणा इतरत्रेतरत्र चाम्नायेरन्नसमानाः, समाना अपि तुभयत्राम्नायन्ते मनोमयत्वादयः, तत्मान्नान्योन्यगुणोपसंहार इति ।

वाजसनेय शाखा में अग्निरहस्य प्रकरण में शाण्डिल्य से दृष्ट होने से शाण्डिल्य नाम से अङ्कित (चिह्नित) विद्या विज्ञात होती है । यहाँ (वह जिज्ञानु, मनोमय, प्राणरूप शरीर वाला प्रकाश स्वरूप आत्मा की उपासना करे) इत्यादि मनोमयत्वादिरूप गुण सुने जाते हैं । उसी शाखा में बृहदारण्यक ग्रन्थ में फिर पढ़ा जाता है कि (यह पुरुष मनोमय है, प्रकाश उसका सत्य स्वरूप है, अर्थात् वह मास्वर है । उस हृदय के अन्दर यव वा ब्रीहितुल्य परिमाण वाला योगियों से देखा जाता है । सो यह सब का ईशान स्वामी है, सबका स्वतन्त्र अधिपति है । जो कुछ यह जगत् है, उस सबका वह प्रशासन करता है) यहाँ संशय होता है कि अग्निरहस्य और बृहदारण्यक में क्या यह एक विद्या है और गुणों का उपसंहार होता है, अथवा ये दो विद्याएँ हैं, और गुणों का उपसंहार नहीं होता है । जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है । पूर्वपक्ष है कि विद्या का भेद और गुणों का अनुपसंहार प्राप्त होता है । क्योंकि एक विद्या होने पर पुनरुक्ति का प्रसङ्ग होगा । जिससे भिन्न शाखाओं में अध्ययनकर्ता और वेदिता (द्रष्टा) के भेद से पुनरुक्तता के परिहार को समझ कर विद्या की एकता को निश्चय करके, एक स्थान में पढ़े गये अधिक गुण अन्य स्थान में उपसंहृत किये जाते हैं, यह प्राण संवादादि में कहा जा चुका है । परन्तु एक शाखा में अध्येता वेदिता के भेद के अभाव से पुनरुक्तता दोष का परिहार नहीं हो सकने से, दूरदेशस्थ एकविद्या होने योग्य नहीं है । यहाँ एक श्रुति

विद्या के विधान के लिए है, अन्य गुण विधान के लिए है। ऐसा विभाग भी नहीं हो सकता है। जिससे ऐसी विभागावस्था में, अधिक ही गुण भिन्न-भिन्न श्रुतियों में कहे जाने, और समान (तुल्य एक) गुण दोनों श्रुतियों में नहीं कहे जाते, और मनोमयत्वादि समान गुण भी दोनों स्थानों में पड़े जाते हैं, जिससे परस्पर गुणों का उपसंहार नहीं होता है।

एव प्राप्ते ब्रूहे—यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैकत्व गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखाया भवितुमर्हति, उपास्याभेदात्। तदेव हि ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुभयत्राप्युपास्यमभिन्नं प्रत्यभिजानीमहे। उपास्य च रूपं विद्याया। न च विद्यमाने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातुं शक्नुमः। नापि विद्याभेदे गुणव्यवस्थानम्। ननु पौनरक्त्यप्रसङ्गाद्विद्याभेदोऽव्यवस्थितः। नेत्युच्यते अर्थविभागोपपत्तेः। एक ह्याम्नात विद्याविधानार्थमपरं गुणविद्या नार्थमिति न किञ्चिन्नोपपद्यते। नन्वेव सति यदपठितमग्निरहस्ये तदेव बृहदारण्यके पठितव्यम् 'स एष सर्वस्येशान' इत्यादि। यत्तु पठितमेव मनोमय इत्यादि तन्न पठितव्यम्। नैव दोषः। तद्वत्त्वेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्या प्रत्यभिज्ञानात्। समानगुणान्मानेन हि विप्रकृष्टदेशा शाङ्खित्यविद्या प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते। अन्यथा हि कथं तस्यामय गुणविधिरभिधीयते। अपि चाप्राप्तागोपदेशेनार्थवति वाक्ये सजाते प्राप्तासपरा-मर्शस्य नित्यानुवादनयाऽप्युपपद्यमानत्वाच्च तद्वत्त्वेन प्रत्यभिज्ञोपेक्षितुं शक्यते। तस्मादत्र समानायामपि शाखाया विद्यैकत्व गुणोपसंहारश्चैत्युपपन्नम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि उपास्य के अभेद में जैसे निम्न शाखाओं में विद्या की एकता होती है, और गुणों का उपसंहार होता है, उसी प्रकार एक शाखा में भी होने के योग्य है। जिसमें मनोमयत्वादि गुण वाला उसी अभिन्न उपास्य ब्रह्म की दोनों स्थानों में प्रत्यभिज्ञा करते हैं। विद्या (उपासना) का उपास्य रूप होता है। रूप का अभेद विद्यमान रहने विद्या के भेद का निश्चय नहीं कर सकते हैं और विद्या का अभेद होने गुण का व्यवस्थान (अनुपसंहार) भी नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि पुनरुक्तिता के प्रसंग से विद्या का भेद निश्चित विद्या गया है, तो कहा जाता है कि अर्थों के विभाग की उपपत्ति में पुनरुक्तिता की प्राप्ति नहीं है, एक वह श्रुति जिसमें अधिक गुण श्रुत हैं, वह विद्या के विधान के लिए प्रधान है। उसमें अन्य बृहदारण्यक श्रुति गुण विधान के लिए है। इसमें कुछ भी अनुपपन्न नहीं है। यदि कहा जाय कि ऐसी व्यवस्था होने पर अग्निरहस्य में जो अरुणित है, वही बृहदारण्यक में पटना चाहिए (वह सब का स्वामी है) इत्यादि। जो (मनोमय) इत्यादि अग्निरहस्य में पडा हो हुआ है, उसको बृहदारण्यक में नहीं पटना चाहिए। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि कुछ पठित गुण का

पाठरूप बल से ही प्रदेशान्तर में पठित विद्या की प्रत्यभिज्ञा होती है। समान गुण के कथन द्वारा ही दूरदेश वाली शाण्डिल्यविद्या की प्रत्यभिज्ञा कराकर उसमें ईशानत्वादि का उपदेश दिया जाता है, अन्यथा उसमें यह गुण विधि कैसे कही जायगी। अप्राप्त अंश के उपदेश से वाक्य के अर्थवाला (सार्थक) होने पर प्राप्तांश का परामर्श (कथन) के नित्यानुवादरूपता से भी उपपन्न होने से उसके बल से प्रत्यभिज्ञा की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अर्थात् विद्या का भेद नहीं माना जा सकता है। इससे यहाँ एक शाखा में भी विद्या का एकत्व और गुणों का उपसंहार होता है, यह उपपन्न होता है ॥ १९ ॥

सम्बन्धाधिकरण (११)

संहारः स्याद्वधवस्या वा नाम्नोरहरहं त्विति । विद्यैकत्वेन संहारः स्यादध्यात्माधिदैवयोः ॥
तस्योपनिषदित्येवंभिन्नस्थानत्वदर्शनात् । स्थितासीनगुरुपास्त्योरिव नाम्नोर्व्यवस्थितिः ॥

एक विद्या के साथ सम्बन्ध होने से शाण्डिल्यविद्या के समान अन्यत्र भी गुण का उपसंहार होगा। ब्रह्म के अधिदैवत और अध्यात्म भेद से अहर्, अहम् ये दो रहस्य नाम वृहदारण्यक में कहे गये हैं, वहाँ संशय होता है कि इन नामों का परस्पर उपसंहार होगा, अथवा व्यवस्था रहेगी। पूर्वपक्ष है कि विद्या की एकता से अध्यात्म अधिदैवत नामों का उपसंहार होगा। सिद्धान्त है कि यद्यपि ब्रह्म एक है उसकी विद्या एक है तथापि नेत्र और आदित्यरूप भिन्न स्थान मान कर औपाधिकभेदयुक्त ब्रह्म के तस्य उपनिषद्, अक्षिस्थ का उपनिषद् वा आदित्यस्थ का उपनिषद् इस प्रकार से भिन्न स्थानत्व के दर्शन से नामों की व्यवस्था होती है। जैसे गुरु के एक होते भी स्थित और आसीन गुरु की सेवा उपासना में व्यवस्था होती है ॥

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

वृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' (वृ० ५।३।१) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेश्चान्पुरुषः' (वृ० ५।५।३) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्माणोऽधिदैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य व्याहृति-शरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदावुपदिश्येते। तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्। तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्। तत्र संशयः—किमविभागेनैवोभे अप्युपनिषदा-वुभयत्रानुसंधातव्ये उत विभागेनैकाधिदैवतमेकाध्यात्ममिति। तत्र सूत्रेणैवोप-क्रमते। यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यवीतायां गुणोपसंहार उक्त एवमन्य-त्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति एकविद्याभिसम्बन्धात्। एका हीयं सत्य-विद्याधिदैवमध्यात्मं चाधीता उपक्रमाभेदाद् व्यतिषक्तपाठाच्च। कथं तस्या-मुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात्। यो ह्याचार्ये कश्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति। तस्मादुभयोरप्युपनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति ॥ २० ॥

वृहदारण्यक में (ब्रह्म सत्य है) ऐसा उपक्रम करके (वह सन् ब्रह्म क्या है, वह आदित्य पुरुष क्या है कि सो आदित्य है कि जो यह सूर्यमण्डल में पुरुष है यही सत्य ब्रह्म है । जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है वह ब्रह्म है) इस प्रकार उस उपक्रान्त ब्रह्म के ही अधिदेवत (सूर्यमण्डल) और अध्यात्म (नेत्र) आश्रय (आश्रय) विशेष का उपदेश करके और व्याहृति को उस ब्रह्म के शरीररूप स मपादन (सिद्ध) करके दो उपनिषदों (रहस्य नामों) का उपदेश दिया जाना है कि उस ब्रह्म का अधिदेवत (अहर्) यह नाम है । उसी का अध्यात्म (अहम्) यह नाम है । यहाँ मशय होता है कि एक ब्रह्म के दो नाम होने से विभाग के बिना ही दोनों नाम दोनों स्थानों में अनुसंधान, चिन्तन के योग्य हैं, अथवा विभागपूर्वक एक अधिदेवत उपनिषद् और एक अध्यात्म उपनिषद् अनुसंधान के योग्य हैं । इस प्रकार मशय होने पर वहाँ सूत्र द्वारा ही अधिकरण का आरम्भ करते हैं, पूर्वपक्ष करते हैं कि जैसे विभागपूर्वक पठित भी शाण्डिल्यविद्या में गुण का उपसंहार कहा गया है, इसी प्रकार एक विद्या के माय सम्बन्ध से इस प्रकार के विषय रहते अन्यत्र भी उपसंहार होने योग्य है । जिसमें अधिदेवत और अन्यामरूप से पठित भी यह विद्या (सत्य ब्रह्म) इत्यादि उपक्रम के अभेद से तथा व्यतिपक्ष (सदिलक्ष) पाठ से एक ही सत्यविद्या है । इस प्रकार से एक होने पर उसी में कथित धर्म उसी में नहीं हो, यह कैसे होगा । जिससे आचार्यविषयक जो कुछ अनुगमनादि सदाचार कहा गया है, वह सदाचार आचार्य के ग्राम में रहने वा जगत् में रहते सदृश ही होता है । वैसे ही ब्रह्म के अधिदेवत अध्यात्म स्थानभेद होने भी उपनिषद् का चिन्तन तुल्य होगा, इससे दोनों उपनिषदों की दोनों स्थानों में प्राप्ति होगी ॥ २० ॥

एव प्राप्ते प्रतिविद्यते—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

न बोभयोरभयत्र प्राप्ति । कस्मात् ? विशेषात्, उपामनस्यानविशेषोपनिषन्वादिन्यर्थ । कथं स्थानविशेषोपनिषन्ध इत्युच्यते—‘य एष एतन्मिन्मण्डले पुरुष’ (बृ० ५।५।३) इति ह्याधिदेविक पुरुष प्रकृत्य तस्योपनिषदहरिति श्रावयति, ‘योज्य दक्षिणेऽन्यपुरुष’ (बृ० ५।५।४) इति ह्याध्यात्मिक पुरुष प्रकृत्य तस्योपनिषदहमिति । तस्येति चैतन्मनिहितावस्थान सर्वनाम, तस्मादायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवेति उपनिषदावुपदिश्यते । कुत उभयोरभयत्र प्राप्ति । नन्वक एवायमधिदेवतमध्यात्म च पुरुष, एकस्यैव नत्यस्य ब्रह्मा आयतनद्वयप्रतिपादनात् । नत्यमेवमेतत् । एकस्यापि त्ववस्थाविशेषोनाशनेनैवोपनिषद्विशेषोपदेशात्तदवस्थस्यैव सा भवितुमर्हति । अस्ति चायं दृष्टान्त सत्यव्याचार्यस्वरूपानपापे यदाचार्यस्यामीनस्यानुवर्तनमुक्तं न तत्तिष्ठति भवति,

यच्च तिष्ठत उक्तं न तदासीनस्येति । ग्रामारण्ययोस्त्वाचार्यस्वरूपानपायात्-
त्स्वरूपानुवदस्य च धर्मस्य ग्रामारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र तुल्यवदभाव
इत्यदृष्टान्तः सः । तस्मादव्यवस्थाजनयोरुपनिषदोः ॥ २१ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं कि दोनों उपनिषदों की दोनों
स्थानों में प्राप्ति नहीं होती है । यदि कहो कि क्यों नहीं होती है, तो कहा जाता
है कि विशेष से नहीं होती है । अर्थात् उपासना के स्थानविशेष के साथ उपनिषदों
के उपनिबन्ध (कथन-सम्बन्ध) से अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती है । स्थानविशेष का
उपनिबन्ध किस प्रकार है, यह कहा जाता है कि (जो यह इस मण्डल में पुरुष है)
इस प्रकार आधिदैविक पुरुष को प्रकृत (प्रकरणस्थ) करके उसका उपनिषद्
(अहर्) है इस प्रकार श्रुति सुनाती है । (जो यह दक्षिण आंख में पुरुष है) इस
प्रकार अध्यात्म पुरुष को प्रकृत करके उसका उपनिषद् (अहम्) है इस प्रकार
सुनाती है । तस्य यह शब्द सन्निहित विषय वाला सर्वनाम है, इससे आयतन
(आश्रय) विशेष के आश्रयण सम्बन्ध द्वारा ही ये दोनों उपनिषद् उपदिष्ट होते हैं ।
फिर किस हेतु से दोनों की दोनों स्थानों में प्राप्ति हो सकती है । यदि कहा जाय
कि यह अधिदैवत और अध्यात्म पुरुष एक ही है, क्योंकि एक ही सत्य ब्रह्म के दो
आयतनों का प्रतिपादन किया गया है । इससे नाम की व्यवस्था नहीं हो सकती
है । यहाँ कहा जाता है कि एक ब्रह्म के दो स्थान हैं, यह सत्य ही है । किन्तु एक के
भी अवस्थाविशेष के उपादान (ग्रहण) द्वारा ही उपनिषदविशेष के उपदेश से
उस अवस्था वाले ही का वह उपनिषद् होने योग्य है । यह दृष्टान्त भी है कि
आचार्य के स्वरूप के अनपाय (वर्तमान) होते भी बैठे हुए आचार्य का जो अनुवर्तन
(सेवन) कहा गया है, सो खड़े का नहीं कहा गया है । जो खड़े का कहा गया है
वह बैठे का नहीं कहा गया है । अर्थात् आचार्य की अवस्थाभेद से अनुवृत्ति में भी
धर्मशास्त्र में भेद कहा गया है । ग्राम और जंगल में तो आचार्य के स्वरूप के अन-
पाय से और उस आचार्य के स्वरूप के साथ सम्बन्ध वाले धर्म को ग्राम और जंगल-
कृत भेद के अभाव से दोनों स्थानों में उस धर्म का तुल्य भाव रहता है । इससे वह
दृष्टान्त नहीं है, इससे इन दोनों उपनिषदों की व्यवस्था है । इस सूत्र में वा शब्द
एवकारार्थ में माना गया है ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थेति लिङ्गदर्शनं भवति—‘तस्यैतस्य
तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णी तौ गेष्णी यन्नाम तन्नाम’ (छा० १।७।५)
इति । कथमस्य लिङ्गत्वमिति तदुच्यते । अक्ष्यादित्यस्थानभेदभिन्नान्धर्मनिन्यो-
न्यस्मिन्ननुपसंहार्यान्वश्यन्निहातिदेशेनादित्यपुरुषगतानुरूपपादीनक्षिपुरुष उपसंह-
रति—‘तस्यैतस्य तदेव रूपम्’ (छा० १।७।५) इत्यादिना । तस्माद् व्यवस्थिते
एवैते उपनिषदाविति निर्णयः ॥ २२ ॥

इस प्रकार के धर्मों की व्यवस्था रहती है, परस्पर उपसहार नहीं होता है इस अर्थ को समझने के लिए लिङ्ग (हेतु) का दर्शन होता है कि (उस इस चक्षुष्य, पुरुष का वही रूप है कि जो आदित्यस्य उस पुरुष का रूप है । जो आदित्यस्य के दो पर्व हैं, वही इसके दो पर्व हैं, जो उसका नाम है सोई चाक्षुष का नाम ह) इस को लिङ्गत्व कैसे है वह कहा जाता है कि नेत्र आदित्यरूप स्थान के भेद से भिन्न धर्मों को परस्पर उपसहार के अयोग्य देखता हुआ यहाँ आदित्य पुष्पगन्त रूपादि का अतिदेश के द्वारा अक्षिस्य पुरुष में उपसहार करते हैं कि (तस्यैतस्य तदेव रूपम्) इत्यादि । अन्यथा विद्या की एकता से उपसहार सिद्ध ही था, अतिदेश व्यर्थ होगा, इससे एकविद्या में भी स्थान के भेद से कथित गुणों के अनुपसहार से ये उपनिषद् व्यवस्थित ही हैं, यह निर्णय है ॥ २२ ॥

संभृत्यधिकरण (१२)

आहार्या वा न वा तत्र सभृत्यादिविभूतयः । आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डित्यादावधारणात् ॥
असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञातान् नास्त्यतः । अनाहार्या ब्रह्ममात्रसम्बन्धोऽतिप्रसङ्गः ॥

उपास्य ब्रह्म के अभेद होने से सम्भृति द्युव्याप्ति गुण-विभूति का अन्यत्र उपसहार प्राप्त है, परन्तु इसी स्थानविशेष के सम्बन्ध से उपसहार नहीं होता है । यहाँ सद्यः है कि सभृति आदि ब्रह्म की विभूतियों का शाण्डिल्यादि विद्याओं में उपसहार होता है, अथवा नहीं होता है । पूर्वपक्ष है कि ब्रह्म के धर्म होने से शाण्डिल्यादि विद्याओं में वारण के अभाव से उपसहार होना चाहिये । सिद्धान्त है कि प्रथम जैसे कहा गया है कि मनोमयत्वादि असाधारण धर्मों के दोनों वाक्यों में रहने से उनके द्वारा प्रत्यभिज्ञापूर्वक शेष गुणों का उपसहार होता है । उस प्रकार से यहाँ असाधारण धर्मों की और धर्मों द्वारा विद्या की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है । इससे यहाँ उपसहार नहीं होता है । ब्रह्ममात्र का सम्बन्ध तो अतिव्याप्ति का हेतु है, अर्थात् ब्रह्म के सम्बन्ध-मात्र से गुणोपसहार मानने पर सब विद्याओं में सब गुणों का उपसहार होगा, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म ही उपाम्य है ॥ १-२ ॥

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या समृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठ दिवमान्तानि इत्येव राणायनी-
याना पिलेषु वीर्यमभृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्माणो विभूतयः पश्यन्ते । तेषा-
मेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्या पश्यन्ते । तासु ब्रह्मवि-
द्यासु ता ब्रह्मविभूतयः उपमहियेरन्न वेति विचारणाया ब्रह्मसम्बन्धादुपसहार-
प्राप्तावेव पठति—समृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः शाण्डिल्यविद्याप्र-
भृतिषु नोपमहर्तव्या, अत एव चायननविशेषयोगान् । तथाहि शाण्डिल्य-
विद्याया हृद्यायतनत्वं ब्रह्मण उक्तम्—‘एष म आत्मान्तर्हृदये’ (छा० ३।१।

४३) इति । तद्वदेव दहरविद्यायामपि 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति । उपकोशलविद्यायां त्वक्षयायतनत्वम् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इति । एवं तत्र तत्र तत्तदाध्यात्मिकमायतनमेतासु विद्यासु प्रतीयते । आधिदैविक्यस्त्वेता विभूतयः संभृतिद्युव्यासिप्रभृतयस्तासां कुत एतासु प्राप्तिः ।

ब्रह्म ही जिन के ज्येष्ठ (कारण) हैं, ऐसे (ब्रह्मज्येष्ठानि) ब्रह्म ज्येष्ठ वाले (वीर्याणि) वीर्यं, पराक्रम ब्रह्म से प्रथम संभृत (धृत) हुए । वही ज्येष्ठ ब्रह्म देवादि की उत्पत्ति से प्रथम ही स्वर्ग में व्याप्त हुए (ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनाहंति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः) भूतों का कारण रूप ब्रह्म प्रथम था, उस ब्रह्म के साथ स्पर्धा कौन कर सकता है । इस प्रकार राणायनीय नाम वालों के खिल (परिशिष्ट ग्रन्थ) में वीर्य का धारण स्वर्ग में निवेश व्यापकत्वादि ब्रह्म की विभूतियाँ पड़ी जाती हैं । उन राणायनीयों के ही उपनिषद् में शाण्डिल्यविद्या आदि ब्रह्मविद्याएँ पड़ी जाती हैं, उन ब्रह्मविद्याओं में वे ब्रह्म की विभूतियाँ उपसंहृत होंगी, अथवा नहीं होगी; ऐसी विचारणा (विचार) की उपस्थिति होने पर ब्रह्म के सम्बन्ध से उपसंहार की प्राप्ति होने पर, इस प्रकार पढ़ते—कहते हैं कि संभृतिद्युव्यासि आदि विभूतियाँ शाण्डिल्यविद्या आदि में उपसंहृत नहीं होने योग्य हैं, और नहीं सम्बन्ध होने में यह आयतन विशेष का सम्बन्ध ही हेतु है । जिससे इसी प्रकार शाण्डिल्यविद्या में ब्रह्म का हृदय आयतनत्व कहा हुआ है कि (यह मेरा आत्मा हृदय के अन्दर है) इसी प्रकार दहरविद्या में भी ब्रह्म का हृदय स्थान कहा हुआ है कि (अल्प हृदयकमल ब्रह्म का गृह उपलब्धिस्थान है इसमें दहर अल्प अन्तराकाश ब्रह्म रहता है) उपकोशल विद्या में तो नेत्र आयतनत्व (आश्रयत्व) कहा हुआ है कि (जो आँख में पुरुष दीखता है वह ब्रह्म है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों में तत्तत् आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी) आयतन इन विद्याओं में प्रतीत होता है । संभृति द्युव्यासि आदि ये विभूतियाँ तो आधिदैविकी हैं, फिर उन की इन विद्याओं में कैसे प्राप्ति होगी ।

नन्वेतास्वप्याधिदैविक्यो विभूतयः श्रूयन्ते—'ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।४) 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्धावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्येवमाद्याः । सन्ति चान्या आयतनविशेषहीना अपीह ब्रह्मविद्याः षोडशकलाद्याः । सत्यमेवमेतत् । तथाप्यत्र विद्यते विशेषः संभृत्याद्यनुपसंहारहेतुः । समानगुणाम्नानेन हि प्रत्युपस्थापितासु विप्रकृष्टदेशास्वपि विद्यासु विप्रकृष्टदेशा गुणा उपसंहितेरेन्निति युक्तम् । संभृत्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च मनोमयत्वादयो गुणाः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वान्न प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनक्षमाः । नच ब्रह्मसंबन्धमात्रेण प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनमित्युच्यते, विद्या-

भेदेऽपि तदुपपत्ते । एकमपि हि ब्रह्म विभूतिभेदरत्नेकधोपास्यत इति स्थितिः, परोवरीयस्त्वादिवद् भेददर्शनात् । तस्माद्वीर्यसमृत्त्यादीनां शाण्डिल्य विद्यादिष्वनुपसंहार इति ॥ २३ ॥

शका होती है कि इन शाण्डिल्यादिविद्याओं में भी आधिदैविकी विभूतियाँ मुनी जाती हैं कि (आकाशादि से आत्मा अत्यन्त बड़ा है । इन लोको से अति बड़ा है) । यह सब लोका में प्रकाश को प्राप्त कराने वाला है जिसमें सब लोको में यही प्रकाशता है । जितना बड़ा यह बाहर का आकाश है । उतना बड़ा यह अन्दर हृदयाकाश आत्मा है इसके अन्दर में ही स्वर्ग और भूमि दोनों स्थिर हैं) इत्यादि और अन्य आयतन-रहित भी षोडशकला आदि ब्रह्मविद्या इस प्रकरण में हैं, इससे आधिदैविक तुल्यता से तथा अप्यात्मगुण्यता से समृत्त्यादि की प्राप्ति है । उत्तर है कि यह विभूति का श्रवण सत्य ही है, तो भी समृति आदि के अनुपसंहार का हेतुरूप विशेष (भेद) यहाँ है । जिससे समान गुण के कथन द्वारा दूरदेश वाली विद्याओं के भी प्रत्युपस्थापित (प्रत्य-मिज्ञात) होने पर दूरदेश वाले गुण उनमें उपसहृत होने हैं यह युक्त है । यहाँ तो समृत्त्यादिष्वप्युपस्थापित गुण और शाण्डिल्यविद्यावाक्यगत मनोमयत्वादि गुण परस्पर व्यावृत्त स्वरूप वाले होने से दूरदेशवर्ती विद्या के प्रत्युपस्थान (प्रत्यमिज्ञा) में समर्थ नहीं हैं । ब्रह्म के सम्बन्ध मात्र से प्रदेशान्तरवर्ती विद्या का प्रत्युपस्थापन होता है, ऐसा नहीं कहा जाना है, जिससे विद्या के भेद रहने भी ब्रह्म सम्बन्ध की उपपत्ति होती है, एक ही ब्रह्म विभूति के भेदों द्वारा अनेक प्रकार से उपासित होता है ऐसी स्थिति (मर्यादा, निश्चय) है । पूर्वोक्त परोवरीयस्त्वादि गुणयुक्त उपासना का हिरण्यदमश्रुत्वादि उपासना से भेद देखने से ऐसा निश्चय होता है । इससे वीर्यसमृत्त्यादि का शाण्डिल्यविद्या आदि में उपसंहार नहीं होता है ॥ २३ ॥

पुरुषाद्यधिकरण (१३)

पुदिद्यैकस्यैवाभिन्ना तैत्तिरीयकताण्डिनो । मरणादभ्युत्पादिसाम्यादेवेति गम्यते ॥ १ ॥
बहुना रूपभेदेन त्रिचित्तात्म्यस्य बाधनात् । न विद्यैक्य तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनान् ॥ २ ॥

ताण्डोपेङ्गी की पुरुषविद्या में जैसे गुण हैं, वैसे इतर के विद्या में गुण के अन्वय से विद्या भिन्न है, इसीसे गुण का उपसंहार नहीं होता है । सशय है कि तैत्तिरीयक और ताण्डो की पुरुषविद्या एक है अथवा भिन्न है । पूर्वपक्ष है कि मरणरूप अव-यत्वादि के दोनों स्थानों में तुल्य होने से विद्या एक ही है ऐसी प्रतीति होती है । अधिक-रूप के भेद होने से अल्पगुण्यता का बाध होना है, इसमें विद्या की एकता नहीं है । ताण्डो शाखा में ही पुरुषविद्या है, तैत्तिरीयक में तो ब्रह्मविद्या की प्रशंसामात्र है स्वतन्त्र पुरुषविद्या नहीं है ॥ १-२ ॥

पुरुषविद्यायामिव चेतरेयामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

अस्ति ताण्डिना पेङ्गिना च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या । तत्र पुरो यज्ञ-

कल्पितः । तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम् । अशिशिपादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पितानि, अन्ये च धर्मास्तत्र समधिगताश्चाग्नीर्मन्त्रप्रयोगादयः । तैत्तिरीयका अपि कश्चित्पुरुषयज्ञं कल्पयन्ति—‘तस्यैव विदुषो यजस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी’ (नारा० ८०) इत्येतेनानुवाकेन । तत्र संशयः—किं ये इतरत्रोक्ताः पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेषूपसंहर्तव्याः किंवा नोपसंहर्तव्या इति । पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावाचक्ष्महे—नोपसंहर्तव्या इति । क्रम्मात् ? तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाभावात् । तदाहाचार्यः—पुरुषविद्यायामिवेति । यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाम्नातं नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणामाम्नातमस्ति । तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसंपादनं दृश्यते पत्नीयजमानवेदवेदिर्वह्न्यूर्पाज्यपश्वत्विगाद्यनुक्रमणात् । यदपि सवनसंपादनं तदपीतरविलक्षणमेव ‘यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायं च तानि सवनानि’ (नारा० ८०) इति ।

ताण्डी और पैङ्गी के रहस्य ब्राह्मण में पुरुषविद्या है । यहाँ पुरुष को यज्ञरूप से कल्पित (सिद्ध) किया गया है कि (पुरुष ही यज्ञ है) और उस पुरुष की आयु को तीन प्रकार से विभाग करके तीन सवन नामक कर्म विशेषस्नान रूप से कल्पित किया गया है कि (उस पुरुष का जो चौबीस वर्ष तक का जीवन है सो प्रातः सवन है, फिर चार अधिक चालीस वर्ष का जीवन मध्यदिन का सवन है, फिर आठ अधिक चालीस वर्ष का जीवन तृतीय सवन है । भोजन की इच्छा आदि दीक्षा आदि रूप से कल्पित हुए हैं कि (जो खाना चाहता है, जो पीना चाहता है, जो रमता नहीं है वह दीक्षा है) इत्यादि । (यावदायुः सन्तनुते) इससे आशीर्वाद (अक्षितमसि) इत्यादि मन्त्रप्रयोगादि अन्य भी धर्म वहाँ अधिगत (ज्ञात) होते हैं, यह छान्दोग्य अ० ३-१६।१-३ आदि में वर्णित है । तैत्तिरीयक भी कोई पुरुषयज्ञ की कल्पना करते हैं कि (इस प्रकार जानने वाला उसके यज्ञ का आत्मा यजमान है श्रद्धा पत्नी है) इस अनुवाक से यज्ञ की कल्पना होती है । यहाँ विद्वान् पुरुष ही यज्ञ है, ऐसी दृष्टि से संशय होता है कि जो अन्यत्र पुरुषरूप यज्ञ के धर्म कहे गये हैं, वे धर्म तैत्तिरीयक में उपसंहार के योग्य हैं, अथवा उपसंहार के योग्य नहीं हैं । पुरुषयज्ञत्व की अविशेषता (तुल्यता) से उपसंहार की प्राप्ति होने पर कहते हैं कि उपसंहार के योग्य नहीं हैं । क्योंकि तैत्तिरीयक में अन्यत्र कथित उस पुरुषयज्ञ के रूप की प्रत्यभिज्ञा का अभाव है । वही आचार्य (सूत्रकार) कहते हैं कि (पुरुषविद्यायामिव) । जिस प्रकार एक ताण्डी और पैङ्गी शाखा वालों की पुरुषविद्या में श्रुति कथन है, उससे अन्य तैत्तिरीयो की वैसी श्रुति कथन नहीं है । जिससे उन तैत्तिरीयों के यज्ञ का संपादन अन्य से विलक्षण ही देखा जाता है (श्रद्धा पत्नी, आत्मा यजमान, शिखा वेद (कुशमुष्टि) उत्तर वेदि, लोम वह्नि, हृदय यूप, काम आज्य, क्रोध पशु, वाक् होता, प्राण उदगाता, नेत्र अध्वर्यु, मन ब्रह्मा) इत्यादि अनुक्रमण से विलक्षणता है । जो सवन का सम्पादन

(कल्पन) है, वह भी इतर से विलक्षण ही है कि (जो प्रातःकाल, मध्यदिन और सायंकाल हैं, वे सवन हैं) ।

यदपि किञ्चिन्मरणावमृत्यत्वादिसाम्यं तदप्यल्पीयस्त्वाद् भूयसा वैलक्षण्येनाभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापनक्षमम् । नच तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्व श्रूयते । विदुषो यज्ञस्येति हि नचैते समानाधिकरणे पृष्ठयौ, विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति । नहि पुरुषस्य मुख्यं यज्ञत्वमस्ति । व्यधिकरणे त्वेते पृष्ठयौ विदुषो यो यज्ञस्तस्येति । भवति हि पुरुषस्य मुख्यो यज्ञसम्बन्धः । सत्यं च गतो मुख्य एवार्थं आश्रयितव्यो न भाक्तः । आत्मा यजमान इति च यजमानत्वं पुरुषस्य निर्ध्रुवन्वैयधिकरण्येनैवास्य यज्ञसम्बन्धं दर्शयति । अपिच तस्यैव विदुष इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्या पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च यजमानादिभावप्रतिपत्तिमानस्य वाक्यभेदः स्यात् । अपिच ससन्ध्यामामात्मविद्या पुरस्तादुपदिश्यानन्तरं तस्यैव विदुष इत्याद्यनुक्रमेण पश्यन्तः पूर्वशेष एवैव आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीतः । तथा चैकमेव फलमुभयोरप्यनुवाक्यारूपलभामहे 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' इति । इतरेषां त्वनन्यशेष पुरुषविद्याम्नायः । आयुरभिवृद्धिः फलो ह्यसौ 'एष ह पोडशवर्षशतं जीवति य एव वेद' (छा० ३।१६।७) इति ममभिव्याहारात् । तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणामासीमन्यादीनामप्राप्तिस्तैत्तिरीयके ॥ २४ ॥

जो मरण में अवभृथत्वं (अन्तिम स्नानत्वं) आदि कल्पना में कुछ सुलभता है, वह भी अति अल्पता के कारण अधिक विलक्षणता से अभिभूत होकर प्रत्यभिज्ञापन में असमर्थ है । यज्ञ वस्तुतः तैत्तिरीयके में पुरुष के यज्ञत्वेन नहीं सुना जाता है (विदुषो यज्ञस्य) यहाँ समानाधिकरण अभेदबोधक दो पृष्ठी विभक्ति नहीं हैं कि (जो विद्वान् ही यज्ञ है उसका आत्मा यजमान है) क्योंकि पुरुष को मुख्य यज्ञत्वं नहीं है, इससे ये दोनों पृष्ठी व्यधिकरण (भेद का बोधक) हैं कि (विद्वान् का जो यज्ञ जिसका आत्मा यजमान है) जिसमें पुरुष को यज्ञ के साथ मुख्य सम्बन्ध होता है । गति रहने मुख्य ही आश्रयण के योग्य होता है भाक्त (गौण) नहीं । आत्मा यजमान है इस प्रकार पुरुष के यजमानत्वं को कहता हुआ वाक्य व्यधिकरणता (भेद) से ही इस पुरुष के सम्बन्ध को यज्ञ के साथ दर्शाता है । दूसरी बात है कि उस इस प्रकार के विद्वान् के इस प्रकार सिद्ध यज्ञतुल्य अनुवाद श्रुति के रहते पुरुष के यज्ञभाव को और आत्मादि के यजमानादि भाव को प्रतिपादन की इच्छा वाले को वाक्यभेद होगा । विद्वान् के यज्ञ का अनुवाद करके विद्वान् के अङ्गों द्वारा यज्ञान् की सिद्धि संपादन-विधान में एकवाक्यता प्रतीत होती है । यह भेद भी है कि सन्ध्यासहित आत्मविद्या का प्रथम उपदेश करके उसके बाद (तस्यैव विदुषः) इत्यादि उपक्रमण (आरम्भ) को देखते हुए, समझते हैं कि पूर्वोक्त आत्मविद्या का शेष (अङ्ग)

रूप प्रशंसार्थक ही यह आम्नाय श्रुति है, स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार संन्यासादि विधायक और इस अङ्गविधायक इन दोनों ही अनुवाक के एक ही फल, उपलब्ध करते हैं कि (ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है। इतर पैङ्गी आदि के तो अनन्यशेष (स्वतन्त्र) पुरुषविद्या का कथन है। वह आयु की अमिवृद्धिरूप फल वाला है (जो ऐसा जानता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीता है) ऐसे कथन से उक्त फल प्रतीत होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शाखान्तर में पठित पुरुषविद्या के धर्म आशीप मन्त्रादि की तैत्तिरीयक में नहीं प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

वेधाद्यधिकरण (१४)

वेधमन्त्रप्रवर्ग्यादि विद्याङ्गमयवा न तु ।

विद्यासन्निधिपाठेन विद्याङ्गे मन्त्रकर्मणो ॥ १ ॥

लिङ्गेनान्यत्र मन्त्राणां वाक्येनापि च कर्मणाम् ।

विनियोगात् सन्निधिस्तु वाच्योऽतो नाङ्गता तयोः ॥ २ ॥

(सर्वं प्रविध्य) इत्यादि मन्त्र, और प्रवर्ग्यादि कर्मों का सन्निहित पठित विद्याओं में उपसंहार नहीं होता है। उसमें कारण है कि वेधादिरूप अर्थों का भेद है, अर्थात् विद्या में अनुपयुक्त मन्त्रों का अर्थ है, और कर्म भी विद्या में अनुपयुक्त हैं। यहाँ संशय है कि वेधादि के बोधक मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म विद्या के अङ्ग हैं। अथवा नहीं हैं। पूर्वपक्ष है कि समीप में पाठ से अङ्ग हैं। सिद्धान्त है कि अङ्ग और अङ्गी के सम्बन्ध बोधक विधि को विनियोग विधि कहते हैं, सो विधि भी, श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या, इन छः प्रमाणों के बल से अङ्ग अङ्गी के सम्बन्ध का बोध कराती है। इन प्रमाणों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पर-पर दुर्बल होते हैं। जैसे कि श्रुति की अपेक्षा लिङ्ग दुर्बल होता है। इन दोनों की जहाँ प्राप्ति होगी वहाँ श्रुति के अनुसार सम्बन्ध समझा जायगा, लिङ्ग के अनुसार नहीं। यहाँ निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहते हैं, उसके विधात्री, अमिधात्री, विनियोकत्री ये तीन भेद होते हैं, शब्द के सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं। एकसाथ पाठ को वाक्य कहते हैं, अङ्गाङ्गी दोनों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। देश की समानता को स्थान कहते हैं, सन्निधिपाठ भी एक प्रकार का स्थान है, वह लिङ्ग से बहुत दुर्बल है और वाक्य से भी दुर्बल है। इस लिङ्गरूप प्रमाण से मन्त्रों का अन्यत्र सम्बन्ध होता है, और वाक्य रूप प्रमाण से प्रवर्ग्यादि कर्मों का भी अन्यत्र सम्बन्ध होता है, लिङ्ग तथा वाक्य से सन्निधि पाठ का बाध होता है, अर्थात् उसके अनुसार सम्बन्ध अङ्गाङ्गिमाव नहीं होता है। इससे उक्त मन्त्र और कर्म को विद्या की अङ्गता नहीं है ॥ १-२ ॥

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाम्नायः—'सर्वं प्रविध्य हृदयं

प्रविध्य धमनी प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्त' इत्यादि' । म ताण्डि-
नाम्—'देव सविन प्रसुव यज्ञम्' इत्यादि । शाट्यायनिनाम्—'श्वेनाग्नौ
हरितनीलोऽग्नि' इत्यादि' । कठाना तैत्तिरीयकाणा च—'श नो मित्र श
वरुण' (तै० १।१।१) इत्यादि । वाजसनेयिना तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणे
पठ्यते—'देवा ह वै मत्र निषेदु' इत्यादि । कौपीतकिनामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्—
'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति
य एतदहत्पयन्ति' इति । किमिमे सर्वे 'प्रविध्य' इत्यादयो मन्त्रा प्रवर्ग्या-
दीनि च कर्माणि विद्यासूपसह्येरेरन्किवा नोपमह्येरेरन्निति मीमामाहे ।
किं तावन्न प्रतिभाति । उपमहार एवैषा विद्यास्त्विति । कुत ? विद्याप्रधा-
नानामुपनिषद्ग्रन्थाना समीपे पाठात् । नन्वेषा विद्यार्थतया विद्यान नोप-
भामहे । वाढम् । अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे सन्निधिमामर्थ्यात् ।
नहि सन्निधेरर्थवत्त्वे संभवत्यकस्मादसावनाश्रयितु युक्त ।

आथर्वणिको के उपनिषद् के आरम्भ मे मन्त्र का - पाठ है कि (हे देव ! मेरे शत्रु
के सब अंगों को विदीर्ण करो, हृदय का प्रवेधन करो, धमनी (शिरा) सब को तोड़
डालो, गिर को सर्वथा नष्ट करो, इस प्रकार मेरा शत्रु त्रिधा तीन प्रकार से विनष्ट हो
जाय) इत्यादि । ताण्डियों के उपनिषद् के आरम्भ मे मन्त्रपाठ है कि (हे सविता,
सर्वोत्सादक सूर्यदेव ! यज्ञ को यज्ञपति को सिद्ध, सम्पन्न करो) इत्यादि । शाट्यायनियों
के उपनिषद् के आरम्भ मे है कि (उच्चैः श्रवा नामक जिसके श्वेत अश्व हैं, वह तुम
नील इन्द्रमणि के समान हरित हो) इत्यादि । कठों और तैत्तिरीयकों के उपनिषद् के
आरम्भ मे मन्त्रपाठ है कि (मित्र, सूर्य, हमारे सुक्कारक हो । वरुण हमारे सुपकारक
हों) इत्यादि । वाजसनेयियों के उपनिषद् के आरम्भ मे प्रवर्ग्यब्राह्मण ग्रन्थ मे पढ़ा
जाता है कि (इन्द्रादि देव सब किसी समय यज्ञ को सिद्ध करने के लिए उपस्थित हुए)
कौपीतवियों के उपनिषद् के आरम्भ मे भी अग्निष्टोम ब्राह्मण पढ़ा जाता है कि (अग्नि-
ष्टोम यज्ञ ब्रह्म ही है और वह जिस दिन मे किया जाता है वह दिन भी ब्रह्म ही है, इसने
जो इस दिन मे साध्य कर्म का अनुष्ठान करता है, वह ब्रह्मरूप साधन से अपर ब्रह्म को
प्राप्त करता है, वह ब्रह्म से अमृतत्व को प्राप्त करता है) इति । प्रविध्य, इत्यादि ये सब
मन्त्र, और प्रवर्ग्यादि कर्म क्या विद्याओं मे उपमहृत होंगे अथवा नहीं उपमहृत होंगे ।
ऐसी मीमांसा (विचारणा) करते हैं, तो प्रथम हमें क्या प्रतीत होता है कि इन का
विद्याया मे उपसहार ही होता है । क्योंकि विद्याप्रधान उपनिषद् ग्रन्थों के समीप मे
इनका पाठ है । यदि कहा जाय कि विद्यार्थक (विद्या के हेतु) रूप से इनका ज्ञान
नहीं होता है, तो कहा जाता है कि इनमे विद्यार्थकता का अनुपलब्धि तो सत्य ही है,
परन्तु सन्निधि के सामर्थ्य मे अनुपलभ्यमान विद्यार्थकताओं का भी अनुमान करेंगे ।
सन्निधि का अर्थवत्त्व के सम्भव रहते वह आत्मिक निरर्थक है ऐसा मानना मुक्त
नहीं है ।

ननु नैपां मन्त्राणां विद्याविषयं किञ्चित्सामर्थ्यं पश्यामः, कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थत्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थत्वेनापि प्रतिपद्येमहीति । नैष दोषः । सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां विद्याविषयमपि किञ्चिच्छक्यं कल्पयितुं हृदयादिसंकीर्तनात् । हृदयादीनि हि प्रायेणोपासनेष्वायतनादिभावेनोपदिष्टानि तद्द्वारेण च हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपासनाङ्गत्वम् । दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनियोगः 'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' (छा० ३।१५।३) इत्येवमादिः । तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणामन्यत्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो वाजपेय इव बृहस्पतिसवस्येति ।

शंका होती है कि इन मन्त्रों का विद्याविषयक कुछ भी सामर्थ्य नहीं देखते हैं । प्रवर्ग्यादि कर्म के विनियोग विधि से अन्यायकत्व रूप से विनियुक्त (सम्बद्ध) होते विद्यार्थकत्व रूप से कैसे समझ सकते हैं । उत्तर है कि हृदयादि के संकीर्तन से मन्त्रों की विद्याविषयक भी कुछ सामर्थ्य कल्पना की जा सकती है । प्रायः उपासनाओं में हृदयादिक ही आश्रयरूप से उपदिष्ट हैं । उस हृदयादि के द्वारा (हृदयं प्रविध्य) इत्यादि प्रकार वाले मन्त्रों को विद्या उपासना का अङ्गत्व उपपन्न होता है । उपासनाओं में भी मन्त्र का विनियोग (सम्बन्ध) देखा गया है कि (अमुक नाम वाले पुत्र के साथ मैं इस भूलोक को प्राप्त करूँ) अर्थात् मुझे पुत्र का वियोग नहीं हो, पुत्र के दीर्घजीवित्व के लिए की गई उपासना में तीन बार पुत्र के नाम के ग्रहण पूर्वक इस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है । इत्यादि इसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त भी प्रवर्ग्यादि कर्मों के होते, विद्या में भी विनियोग अविरुद्ध है । जैसे कि (ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतिसवेन यजेत) ब्रह्मतेज की कामना वाला बृहस्पति सव से दृष्ट का सम्पादन करे । इस वाक्य से ब्रह्मवर्चस फल में विनियुक्त बृहस्पति सव का भी (वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत) इस वाजपेय प्रकरणस्य वाक्य से उस बृहस्पति सव का वाजपेय के उत्तर अङ्ग रूप से सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये । यदि दोनों स्थानों के बृहस्पति सव भिन्न कर्म हों तो भी नाम की तुल्यता से उदाहरण दिया है । तथा यज्ञक्रतु में विनियुक्त खादिरत्वादि का विद्या में विनियोग होता है सो उदाहरण है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नैपामुपसंहारो विद्यास्विति । कस्मात् ? वेधाद्यर्थभेदात् । हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां हि मन्त्राणां येषां हृदयवेधादयो भिन्नाः, अनभिसंवद्धास्त उपनिषदुदिताभिर्विद्याभिः, न तेषां ताभिः संगन्तुं सामर्थ्यमस्ति । ननु हृदयस्थोपासनेष्वप्युपयोगात्तद्द्वारक उपासनासम्बन्ध उपन्यस्तः । नेत्युच्यते, हृदयमात्रसंकीर्तनस्य ह्येवमुपयोगः कथंचिदुत्प्रेक्ष्येत, नच हृदयमात्रमत्र मन्त्रार्थः । हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्येत्येवंजातीयको हि न सकलो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसम्बध्यते, आभिचारिकविषयो ह्येषोऽर्थस्तस्मादाभिचारिकेण कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याभिसम्बन्धः । तथा 'देव सवितः

प्रसुव यज्ञम्' इत्यस्य यज्ञप्रसवलिङ्गत्वादयज्ञेन कर्मणाभिसम्बन्धः । तद्विशेष-
सम्बन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः । एवमन्येषामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन
केषांचिद्वचनेन केषांचित्प्रमाणान्तरेणेत्येवमर्थान्तरेषु विनियुक्तानां रहस्यपठि-
तानामपि सत्ता न मन्निधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः । दुर्बलो हि सन्निधि-
श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्यानसमाख्यानां समवाये
पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जे० सू० ३।३।१३) इत्यत्र । तथा कर्मणामपि
प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः, नह्येषां विद्याभि-
सहैकार्थं किंचिदस्ति । वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्ट विनियोगान्तरम्—
'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति । अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्य सकृदुत्पन्नी
बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि विनियोगमर्हति ।
अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेव स्यान्नतु बलवदवलवतो,
प्रमाणयोरगृह्यमाणविशेषता सम्भवति, बलवदवलवत्त्वविशेषादेव । तस्मादेव-
जातीयकानां मन्त्राणां कर्मणा वा न मन्निधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कित-
व्यम्, अरण्यानुवचनादिधर्ममामान्यात्तु मन्निधिपाठ इति सतोऽष्टव्यम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार अन्यत्र विनियुक्त मन्त्रों को विद्याङ्गत्व प्राप्त होने पर कहते हैं कि
इन मन्त्रों का विद्याओं में उपसंहार नहीं होता है । क्योंकि वेद्यादि अर्थों का भेद है,
जिससे (हृदय प्रविध्य) इस प्रकार के मन्त्रों के जो हृदय-वेधनादि निम्न अर्थ हैं, सो
उपनिषद् में कथित विद्याओं के साथ सम्बन्ध से रहित हैं, उन विद्याओं के साथ उन
मन्त्रों को संगत (सम्बद्ध) होने का सामर्थ्य नहीं है । यदि कहो कि हृदय का उपा-
सनाओं में भी उपयोग होने से उस हृदय द्वारा उपासना के साथ मन्त्र का सम्बन्ध
कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि विद्या में उपयोग नहीं है । क्योंकि इस कथित
रीति से भी मन्त्र में हृदयमात्र सकीर्तन का उपयोग कथंचित् उत्प्रेक्षित (कल्पित)
होगा, परन्तु यह हृदयमात्र ही सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ नहीं है (हृदय का भेदन करो,
धमनिया को तोड़ो) इस प्रकार का सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ विद्याओं के साथ साक्षात् सर्वथा
सम्बन्ध वाला नहीं होता है । बन्तुत आभिचारिक (मारक) कर्मविषयक यह
मन्त्रार्थ है, जिसमें आभिचारिक कर्म के साथ (सर्व प्रविध्य) इत्यादि मन्त्र का सर्वथा
सम्बन्ध है । इसी प्रकार (हे सविता देव ! यज्ञ को सिद्ध करो) इस मन्त्र का यज्ञ के
प्रसव रूप र्निग में यज्ञ कर्म के साथ सम्बन्ध है । किस मन्त्र का किस यज्ञ कर्म के
साथ सम्बन्ध है, इस प्रकार के विशेष सम्बन्ध प्रमाणान्तर से समझने योग्य हैं । इसी
प्रकार अन्य मन्त्रों में भी किसी का लिङ्ग में, किसी का वचन से, किसी का प्रकरणदि
रूप प्रमाणान्तर में अर्थान्तर में विनियोग है । इस प्रकार अर्थान्तरे में विनियोग
का रहस्य (उपनिषद् में) पट्टि होते भी सन्निधिमात्र में विद्या के शेषत्व (अङ्गत्व)
की उपपत्ति नहीं होती है । सन्निधि (म्यान) श्रुति और लिङ्गादि में दुर्बल है, इस

प्रकार पूर्व मीमांसा में कहा गया है कि श्रुति (निरपेक्ष विधि आदि) लिङ्ग (शब्द-सामर्थ्य) वाक्य (साथ पाठ) प्रकरण (अङ्गाङ्गी की आकांक्षा) स्थान (पाठ वा अनुष्ठानदेश की समानता) और यागिक शब्द रूप समाख्या इन के समवाय में (समान विषय में दो के विरोध में) पूर्व पूर्व से पर पर की दुर्वलता होती है क्योंकि पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर को अपने अर्थ के बोध कराने में विप्रकर्षता (दूरता) होती है । भाव है कि श्रुति अपने अर्थ को बोध कराने में किसी की अपेक्षा बिना बोध कराती है, लिङ्ग श्रुति की कल्पनापूर्वक अपने अर्थ को बोध कराता है इससे श्रुति और लिङ्ग का जहाँ विरोध हो वहाँ लिङ्ग जिस काल में श्रुति की कल्पना में प्रवृत्त होता है उसी काल में उसे बाध कर श्रुति स्वार्थ का बोध कराती है, श्रुति और लिङ्ग के विरोध के उदाहरण मन्त्रादि हैं कि (कदाचन स्तरोरसि नेन्द्र ! सथसि दाशुपे) ऐन्द्रया गाहंपत्यमुपतिष्ठते । हे इन्द्र ! कभी तुम घातक नहीं होते हो, किन्तु आहुति देने वाले यजमान के लिए प्रसन्न होते हो । इस मन्त्र में इन्द्र के प्रकाशन की शक्ति है, इससे इसके द्वारा इन्द्र के उपस्थान की प्राप्ति होती भी ऐन्द्री इन्द्रदेवताक मन्त्र द्वारा गाहंपत्य अग्नि का उपस्थान करना चाहिये । इस श्रुतिगत तृतीया विभक्ति रूप श्रुति से गाहंपत्याग्नि के उपस्थान-करणत्व के बोध हो जाने से उस मन्त्र से इन्द्र का उपस्थान बाधित होता है । इसी प्रकार लिङ्ग और वाक्य के विरोध में लिङ्ग से वाक्य बाधित होता है । सब के विरोध के उदाहरण अन्यत्र ज्ञेय हैं, श्रुति सब से प्रबल है, समाख्या सब से दुर्वल है । मध्य के पूर्व-पूर्व से पर-पर दुर्वल हैं पूर्व-पूर्व प्रबल हैं । प्रकृत में इतना ही उपयोग है कि 'सन्निधान लिङ्गादि से दुर्वल है' इससे लिङ्गादि से बाधित होता है, उससे लिङ्गादि द्वारा अन्यत्र विनियुक्त मन्त्रों का दुर्वल सन्निधि (स्थान) से विद्या में सम्बन्ध नहीं होता है । इसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त (सम्बद्ध) प्रवर्ग्यादि कर्मों को भी विद्या के शेषत्व (अङ्गत्व) की उपपत्ति नहीं हो सकती है, जिससे इन कर्मों को विद्या के साथ एकार्यता कुछ नहीं है । अर्थात् इन कर्मों के विद्या के उपकारकत्व में और विद्याओं के साथ एकफलवत्त्व में कोई प्रमाण नहीं है । वाजपेय में तो स्पष्ट ही वृहस्पतिसवको विनियोजक वचनान्तर है कि (वाजपेय से यजन करके वृहस्पति सव से यजन करे) और दूसरी बात है कि एक यह प्रवर्ग्यरूप कर्म एक बार उत्पन्न होने पर और श्रुति, लिङ्ग, वाक्य रूप प्रबल प्रमाणों से अन्यत्र विनियुक्त होने पर दुर्वल सन्निधिरूप प्रमाण से कहीं अन्यत्र भी विनियोग के योग्य नहीं है । जिससे प्रमाणों के अगृहीत विशेष (भेद) वत्ता होते, अर्थात् दुर्वलत्व-प्रबलत्व के ज्ञान नहीं रहते यह ऐसा हो सकता है कि एक प्रमाण से कहीं विनियुक्त का ही अन्य प्रमाण से अन्यत्र भी उसका विनियोग हो । परन्तु वली और दुर्वल प्रमाणों की अगृहीतविशेषता का सम्भव नहीं है, बलवत्त्व-अवलवत्त्व विशेष (भेद) से ही विशेषता गृहीत है । उससे उक्त प्रकार वाले मन्त्रों को वा कर्मों को सन्निधि पाठमात्र से विद्या के शेषत्व की आशंका नहीं करनी चाहिए । यदि कहो कि वेधादि वाक्यों के उपनिषदों के साथ पाठ की क्या गति है, तो कहा जाता है कि अरण्य में

अनुवचनादिरूप धर्म की समानता से सन्निधि पाठ है ऐसा समझ कर सन्तोष करना चाहिए ॥ २५ ॥

हान्यधिकरण (१५)

उपायनमनाहार्यं हानापाह्नियतेऽप्यवा । अश्रुतत्वादेनासेपाद्विद्याभेदाच्च नाहृतिः ॥ १ ॥
विद्याभेदेऽप्यवयवा आहार्ये । स्तुतिसाम्यत । हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेर्कविज्ञादिवादवत् ॥ २ ॥
विघ्नन चालनं स्यादान वा चालन भवेत् । बोध्यन्ते ध्वजाघातीत्यादौ चालनदर्शनात् ॥ ३ ॥
हानमेव भवेद्वाक्यशेषे योपायनश्रवात् । कर्ता न ह्यपरिपक्वमन्य स्वीकर्तुमर्हति ॥ ४ ॥

सगुण और निर्गुण विद्या प्रकरण में कही तो विद्वान् के पुण्य-पाप की निवृत्ति लिखी है । कही लिखा है कि विद्वान् के मित्र और शत्रु ब्रम में पुण्य और पाप का ग्रहण करते हैं । कहीं निवृत्ति और अन्य से ग्रहण दोनों लिखा है । जहाँ अन्य से ग्रहण मात्र लिखा है, वहाँ निवृत्ति अर्थात् सिद्ध होती है । किन्तु जहाँ केवल हानि-निवृत्ति लिखा है, वहाँ के लिए कहते हैं, कि केवल हानि के स्थान में उपायन ग्रहण का सम्बन्ध समझना चाहिए क्योंकि हानि का शेषत्व उपायन शब्द में एक स्थान में गृहीत हो चुका है । उसका अन्य स्थान में भी कुछा आदि के समान ग्रहण होगा, वह पूर्व मीमांसा में कहा गया है । एक प्रकार की यह सूत्राक्षर की योजना है, तु शब्द का केवल अर्थ है ॥ अथवा पापादि की निवृत्ति के स्थान में विघ्नन शब्द आया है उस का कम्पन अर्थ भी हो सकता है इससे कहते हैं कि हानि अर्थ में ही विघ्नन शब्द है क्योंकि वह उपायन शब्द का शेष है, और वह एकत्र पठित भी अन्य स्थान में निर्णय का हेतु कुछादि के समान होगा इत्यादि ॥ यह सशय है कि केवल हानि के स्थान में उपायन का उपसंहार करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए । पूर्वपक्ष है कि अश्रुत होवे से, और उपायन के बिना भी हानि (त्याग) के सम्भव से, आक्षेप के अभाव से, और विद्या के भेद से उपसंहार नहीं होता है । मिद्वान्त है कि उपायन का वाक्य अर्थवाद रूप है, इससे स्तुति की तुल्यता के कारण विद्या के भेद रहने भी उपसंहार के योग्य है, और प्रत्यभिज्ञा से हानि दोनों स्थान में एक सिद्ध होती है । उस की उपायन के साथ सम्बन्ध है, जैसे कि एकविज्ञादि अर्थवाद का अन्य अर्थवाद के साथ सम्बन्ध होता है । विघ्नन चालन (कम्पन) रूप होगा वा हानि (त्याग) होगा । यह सशय है । पूर्व पक्ष है कि ध्वजा के अग्रभाग बार-बार अन्यन्त बार रहे हैं ऐसा प्रयोग के देखने से चालन ही विघ्नन का अर्थ होगा । मिद्वान्त है कि वाक्यशेष में अन्य से ग्रहण के गुणने से उभयता त्याग ही अर्थ होगा, क्योंकि कर्ता से अपरिपक्व का अन्य स्वीकार (ग्रहण) नहीं कर सकता है ॥ १-४ ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषतस्तकुशाद्यन्दःस्तुतु-

पगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

अस्मि ताण्डिना थुनि — अश्व इव गोमाणि विनूय पापं चन्द्र इव

राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' (छा० ८।१३।१) इति । तथाथर्वणिकानाम् 'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुण्ड० ३।२।८) इति । तथा शास्त्रायनिनः पठन्ति 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्' इति । तथैव कौपीतकिनः 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रियाः जातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १।४) इति । तदिह क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानिं श्रूयते क्वचित्तयोरेव विभागेन प्रियैरप्रियैश्चोपायनं क्वचित्तूभयमपि हानमुपायनं च । तच्च त्रयोभयं श्रूयते तत्र तावन्न किंचिद्वक्तव्यमस्ति । यत्राप्युपायनमेव श्रूयते न हानं तत्राप्यथैव हानं सन्निपतति, अन्यैरात्मीययोः सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरवश्यकत्वात्तद्धानस्य । यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं तत्रोपायनं संनिपतेद्वा न वेति विचि-
कित्सायामथवणादसंनिपातः, विद्यान्तरगोचरत्वाच्च शास्त्रान्तरीयस्य श्रवण-
स्य । अपि चात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानिं परकर्तृकं तूपायनं तयोरस-
त्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाधिष्येत । तस्मादसंनिपातो हानावुपा-
यनस्येति ।

ताण्डियों की श्रुति है कि (जैसे घोड़ा धूलियुक्त अपने गेमों को त्याग कर, झार कर निर्मल होता है, वैसे मैं ज्ञान से पाप (धर्माधर्मादि) को त्याग कर निर्मल चित्त वाला होकर, और राहुग्रस्त चन्द्रमा जैसे राहु के मुख से मुक्त होकर प्रकाशित होता है, वैसे कृतात्मा कृतार्थ स्वरूप मैं शरीर को त्याग कर देहामिमान से रहित होकर अकृत नित्यं ब्रह्मात्मक लोक को प्राप्त करने वाला हूँ ।) इसी प्रकार आथर्वणिकों की श्रुति है कि (जैसे वहती हुई नदियाँ नाम-रूप को त्याग कर समुद्र में लीन होती है, वैसे ही विद्वान् भी अविद्याकृत नाम-रूप से विभक्त होकर पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है) और (विद्वान् जब स्वयं प्रकाशकर्ता ईश ब्रह्मयोनि पुरुष को देखता है, तब वह विद्वान् पाप-पुण्य को नष्ट करके और निरञ्जन, निर्लेप, क्लेशरहित होकर परम साम्य ब्रह्म को प्राप्त करता है) । इसी प्रकार शाट्यायनी पढ़ते हैं कि (उस मृत विद्वान् के पुत्र दान, धन लेते हैं, मित्र पुण्य लेते हैं, शत्रु पाप लेते हैं) इति । इसी प्रकार, कौपीतकी लोग पढ़ते हैं कि (जानी उस ज्ञान से सुकृत और दुष्कृत को त्यागता है, तो उसके प्रिय ज्ञाति सुकृत लेते हैं, और अप्रिय दुष्कृत लेते हैं) इत्यादि । इससे यहाँ कही तो सुकृत और दुष्कृत का हान मुना जाता है और कहीं उन दोनों का ही विभागपूर्वक प्रिय और अप्रिय से उपायन (ग्रहण) मुना जाता है, और कहीं हान और उपायन दोनों मुने जाते हैं । उनमें जहाँ दोनों सुने जाते हैं वहाँ तो कुछ वक्तव्य नहीं है, और जहाँ भी उपाय नहीं सुना जाता है, हान नहीं सुना जाता है, वहाँ भी अर्थात् (अर्थ से) ही हान प्राप्त होता है, जिससे जब अन्य से अपने सुकृत और दुष्कृत गृहीत होंगे, तब उनका त्याग आवश्यक है, अत्यक्त का दूसरों से ग्रहण नहीं हो सकता है । परन्तु जहाँ

हान ही सुना जाता है, उपायन नहीं सुना जाता है, वहाँ उपायन प्राप्त होगा वा नहीं प्राप्त होगा, ऐसा समय होने पर, पूर्वपक्ष होता है कि अथुत होने में नहीं प्राप्त होगा। शास्त्रान्तर के उपायन का श्रवण अन्य विद्याविषयक है इसमें भी उपाय ग्रहण नहीं होगा। यह भी बात है कि सुकृत-दुष्कृत का त्याग आत्मकर्तृक है, अपने में किया जाता है और उपायन तो अयत्नकृत है, हान और त्याग इन दोनों के आवश्यक भाव (नियत सम्बन्ध) नहीं रहने से हान में उपायन का आशय कैसे होगा, इसमें हानि में उपायन की प्राप्ति नहीं होती है ॥

अस्या प्राप्तां पठति—हानौ त्विति । हानौ त्वेनस्या केवलस्यापि श्रूयमाणायामुपायन सन्निपतितुमर्हति, तच्छेयत्वात् । हानशब्दशेषो ह्युपायनशब्द समधिगत कौपीतकिरहस्ये । तस्मादन्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः । यदुक्तम्—अथवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वादानावश्यकत्वाच्चासन्नपान-इति, तदुच्यते । भवेदेवा व्यवस्थोत्तिर्यद्यनुष्ठेय किञ्चिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र निनीष्येन नत्विह हानमुपायन वानुष्ठेयत्वेन सकीर्त्यते । विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयो सकीर्तनम्—इत्य महाभागा विद्या यत्नामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते नमाकारणभूते विद्युयेन, ते चास्य मुहुर्द्विपत्सु निविशेते इति । स्तुत्यर्थे चास्मिन् मकीर्तने हानानन्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वादस्यनापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिरिति मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय । प्रमिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षाऽर्थवादान्तरप्रवृत्तिर—‘एकविंशो वा इतोऽमावादित्य’ (छा० २।१०।५) इत्येवमादिषु । कथं ही हेतुविशतादित्यस्याभिधीयेताऽनपेक्षमाणेऽर्थवादान्तरे ‘छादश मासा पञ्च वस्त्रय इमे लोका अमावादित्य एकविंश’ इत्येनस्मिन् । तथा ‘त्रिष्टुभी भवत संन्द्रियन्वाय’ इत्येवमादिषु वादेष्वपि ‘इन्द्रिय वै त्रिष्टुप्’ इत्येवमाद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते । विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृत अन्यैरभ्युपयेन इति नानावाभिनिवेष्टव्यम् । उपायनशब्दशेषत्वादिति तु शब्दशब्द समुच्चारयन्मुन्यथामित्र हानावुपायनानुवृत्तिरुच्यते ।

इस प्राप्ति, पूर्वपक्ष के होने पर पढ़ते हैं कि हानौ तु इति । इस केवल हानि के भी श्रूयमाण होने (सुनने) पर उपायन प्राप्त होने के योग्य है । जिसमें उपायन हान का शेष है, इसमें शेषता में वह प्राप्त होता है । कौपीतकी रहस्य में हान का शेष रूप उपायन शब्द समधिगत (अनुभूत) हुआ है । इसमें शेषत्व अपेक्षित होने से अन्यत्र केवल हान शब्द के सुनने पर भी उपायन की अनुवृत्ति (सम्बन्ध) होता है, अदव-योग के दृष्टांत में त्यक्त पुण्य-भाष को अन्यत्र स्थिति की ओगा होने के अर्थ से उपायन कर्तव्य है । जो यह कहा था कि अथवण में, विद्यान्तरगोचर होने में और आवादनता में उपायन की अप्राप्ति होती है, वहाँ कहा जाता है कि इस प्रकार यह व्यवस्था की उक्ति हो सकती कि यदि अनुष्ठेय (अनुष्ठान के योग) अन्यत्र श्रुत किसी कर्म को अन्यत्र ले जाने की इच्छा की जाय । यहाँ तो हान का

उपायन अनुष्ठेय (कर्तव्य) रूप से नहीं कहा जाता है, किन्तु विद्या की स्तुति के लिए इन दोनों का कथन है कि ऐसी महाभाग्य वाली भाग्य देने वाली विद्या है कि जिसके सामर्थ्य से संसार के कारण रूप विद्वान् के पुण्य और पाप निवृत्त हो जाते हैं, और वे दोनों विद्वान् के मित्र और शत्रुओं में निविष्ट, प्रविष्ट होते हैं । इस संकीर्तन के स्तुति के लिए होने पर, हान के अनन्तरमावी (होने वाले) रूप से उपायन के कही श्रुतत्व से अन्यत्र भी हान के श्रवण होने पर स्तुति की प्रकर्षता के लाम के लिए उपायन की अनुवृत्ति को सूत्रकार मानते हैं । यदि कहो कि अर्थवाद का विधि के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है, दूसरे अर्थवाद के साथ नहीं, और यहाँ हान उपायन यदि दोनों अर्थवाद हैं, तो इनका सम्बन्ध कैसा ? तो कहा जाता है कि अर्थवादान्तर की अपेक्षा से किसी अन्य अर्थवाद की प्रवृत्ति प्रसिद्ध है, अपेक्षात्मक सम्बन्ध अर्थवाद का प्रसिद्ध है कि (इस लोक से वह आदित्य इक्कीसवाँ है) अर्थवाद में अन्य अर्थवाद की अपेक्षा है । दूसरे अर्थवाद की अपेक्षा नहीं करने पर यहाँ आदित्य की एकविंशता कैसे कही जायगी । (बारह मास, हेमन्त-शिशिर की एकता से पाँच ऋतु, तीन ये लोक और वह आदित्य इक्कीसवाँ है) इसकी अपेक्षा के बिना केवल आदित्य को एकविंश नहीं कहा जा सकता है । इसी प्रकार (पुरुषरूप से कल्पित यज्ञ के सेन्द्रियत्व के लिए दो त्रिष्टुभ होते हैं) अर्थवाद में त्रिष्टुभ छन्द सेन्द्रियता के लिए कैसे होगा ऐसी आकांक्षा होने पर (इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्) इत्यादि अन्य अर्थवाद की अपेक्षा आकांक्षा की निवृत्ति के लिए देखी जाती है । उपायनवाद के विद्या की स्तुति के लिए होने से अन्य के अमूर्त स्वरूप पुण्य और पाप अन्य लोगों से कैसे गृहीत होंगे, इस प्रकार अत्यन्त अभिनिवेश (आग्रह) नहीं करना चाहिए । अर्थात् ज्ञानी की सेवा और शत्रुता से पुण्य-पाप की उत्पत्ति में तात्पर्य है इत्यादि ॥ (उपायनशब्दशेषत्वात्) इस सूत्रांश में शब्द इस शब्द का उच्चारण करते हुए सूत्रकार हानि में उपायन की अनुवृत्ति को स्तुत्यर्थक सूचित करते हैं ।

गुणोपसंहारविवक्षायां ह्युपायनार्थस्यैव हानानुवृत्तिं ब्रूयात् । तस्माद् गुणोप-
संहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम् । कुशाच्छन्दःस्तुत्युप-
गानवदित्युपमोपादानम् । तद्यथा भाल्लविनाम्—‘कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मां
पात’ इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण वनस्पतियोनित्वेन श्रवणे शाट्याय-
निनामौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा आश्रीयन्ते । यथा च
क्वचिद्द्वेवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे ‘देवच्छन्दांसि पूर्वाणि’ इति
पैङ्ग्याम्नानात्प्रतीयते । यथा च षोडशस्तोत्रे केषांचित्कालाविशेषप्राप्ती
‘समयाध्युपिते सूर्ये’ इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषप्रतिपत्तिः । यथैव चाविशेषेणोप-
गानं केचित्समामनन्ति विशेषेण भाल्लविनः । यथैतेषु कुशादिषु श्रुत्यन्तरगत-
विशेषान्वय एवं हानावप्युपायनान्वय इत्यर्थः । श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं श्रुत्यन्त-
रेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव विकल्पः स्यात् । स चान्याव्यः सत्यां गतौ । तदुक्तं

द्वादशलक्षण्याम्—‘अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदास स्यान्प्रतिषेधे विकल्प-
स्यात्’ इति ।

उपायन की विवक्षा होने पर उपायन का उपसहार सूत्रकार कहते, और शब्द का उपसहार कहते हैं इससे स्तुति का सूचन करने हैं इससे गुण के उपसहार के प्रसंग से स्तुति के उपसहार के प्रदर्शन के लिए यह सूत्र है । शास्त्रान्तर में वर्तमान विशेष पदार्थ अन्य शास्त्रा में ग्राह्य होता है, इस अर्थ में कुशा, छन्द और उपगान, वत् । यह उपमा (हृद्यान्त) का उपादान (ग्रहण) सूत्रकार ने किया है । उद्गाता के स्तोत्र की गिनती के लिए लकड़ी की बनी हुई शलाका को कुशा कहते हैं । वह उपमान इस प्रकार है कि (हे कुशाओं ! तुम वनस्पतिजन्य हो, तुम मेरी रक्षा करो) इस भान्त्ववियों के निगम में कुशानामविशेष द्वारा और वनस्पतिमोनिव्व द्वारा कुशा के श्रवण होने पर, शाटघायनियों के (ओदुम्बरा कुशा) गूलर के कुश होने हैं, इस विशेष वचन से उदुम्बर काष्ठ से रचित कुशाओं का आश्रयण किया जाता है । जिन प्रकार देवछन्द और असुरछन्द होने हैं, वहाँ नवाक्षरान्त असुरछन्द होने हैं । दशाक्षरान्त वाले देव छन्द होने हैं । वहाँ (छन्दोमि स्तवते) छन्दा से स्तुति करते हैं । इत्यादि वचन से स्तुति में कही देव और असुरछन्दो के अविशेष रूप से पूर्वापर भाव के प्राप्त होने पर (देवछन्द पूर्वं होते हैं) इस पंङ्गी वचन से विशेष प्रतीति होता है । जैसे षोडशी गृह के स्तोत्र में किसी को काल की अविशेषता की प्राप्ति होने पर (सूर्योदय की प्राप्ति काल में स्तुति करे) इस ऋचा अध्ययन वालों की श्रुति से काल विशेष का ज्ञान होता है । अथवा सूर्य के अर्द्धास्नमित काल को समयाध्युषित कहते हैं । जैसे ही कोई अविशेषरूप से उपगान करते हैं कि (ऋत्विज उपगायन्ति) ऋत्विक् सब उपगान करते हैं । भान्त्ववी विशेषरूप से उपगान कहते हैं कि (नाच्युंरुपगायति) अच्युं उपगान नहीं करता है । इससे अच्युं मित्र ऋत्विक् उपगान करते हैं यह विशेष ज्ञान होता है । जैसे इन कुशा आदिकों में श्रुत्यन्तरगत विशेष का अन्वय होता है, इसी प्रकार हानि में उपायन का अन्वय है यह अर्थ है । जिससे श्रुत्यन्तर कृत विशेष की श्रुत्यन्तर में नहीं मानने वाले को सर्वत्र ही विवक्ष्य प्राप्त होगा, अर्थात् अविशेष श्रुति से वहाँ अन्य काष्ठ की भी कुशायें होंगी, वहाँ विशेष श्रुति से उदुम्बर की होंगी । सामान्य श्रुति से वहाँ अच्युं भी उपगान करेगा, निषेध श्रुति से वही उपगान नहीं करेगा, इस प्रकार का विकल्प सर्वत्र एकवाक्यता बिना प्राप्त होगा और गति रहते एकवाक्यता रूप उपाय के रहते वह विकल्प अन्याय्य है, प्रोहि यव वाक्य में तो गति के अभाव से विकल्प माना जाता है, वह द्वादशलक्षणी (द्वादश अध्याय वाली) पूर्व भीमाश्रम में कहा है कि (दीक्षित हवन नहीं करता है, दान नहीं देता है, पाक नहीं करता है) इस प्रकार से दीक्षित के लिए हवनादि का प्रतिषेध है कि हवनादि नहीं करे (जब तक जीये तब तक अग्निहोत्र करे,

प्रतिदिन दान दे) इत्यादि से सदा दान-हवनादि का विधान है, वहाँ शास्त्र प्राप्त का निषेध सर्वथा नहीं हो सकता है । इससे निषेध मानने पर विकल्प की प्राप्ति होगी । इसलिए निषेधक वाक्य को विधिवाक्य का शेष अंग बना कर पर्युदास का आश्रयण किया जाता है कि दीक्षित से अन्य हवन-दानादि करता है इत्यादि सूत्र का भाव है ॥

अथ वैतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयितव्यम्—किमनेन विधूननवचनेन सुकृतदुष्कृतयोर्हानमभिधीयते किंवाऽर्थान्तरमिति । तत्र चैवं प्रापयितव्यम् । न हानं विधूननमधीयते 'धून् कम्पने' इति स्मरणात्, दोषयन्ते ध्वजाग्राणीति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाग्रेषु प्रयोगदर्शनात् । तस्माच्चालनं विधूननमभिधीयते । चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं फलप्रतिबन्धनादित्येवं प्राप्य प्रतिवक्तव्यम् ।

अथवा इन ही विधूनन बोधक श्रुतियों में इस सूत्र के द्वारा यह विचार कर्तव्य है कि क्या इस विधूनन के कथन से सुकृत और दुष्कृत का हान (त्याग) कहा जाता है, अथवा कोई अन्य अर्थ कहा जाता है । ऐसा संशय होने पर वहाँ ऐसे पूर्वपक्ष को प्राप्त कराना चाहिए कि (धून् कम्पने) धून् धातु कम्पन अर्थ में है । इस स्मरण (पाणिनीय के वचन) से विधूनन हान (त्याग) नहीं कहा जाता है । ध्वजा के अग्रभाग बार-बार हिलते-डोलते हैं, इस प्रकार वायु से चाल्यमान (कम्पित) ध्वजाग्र विषयक प्रयोग के देखने से भी विधूनन का त्याग अर्थ नहीं है, इससे चालन को विधूनन कहा जाता है, यहाँ अमूर्त पुण्य पाप का ध्वजाग्रादि के समान चालन के असम्भव से उनका चालन तो कुछ काल तक विद्या से फल के प्रतिबन्धन (निरोध) से कहा जाता है, अर्थात् विद्या के प्रभाव से उनकी फलदान शक्ति का प्रतिबन्ध ही उनका चालन है ।

हानावेवैष विधूननशब्दो वर्तितुमर्हति, उपायनशब्दशेषत्वात् । नहि परपरिग्रहभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं संभवति । यद्यपीदं परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपायनं नाञ्जसं संभाव्यते तथापि तत्संकीर्तनात्तावत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति निर्णेतुं शक्यते । क्वचिदपि चेदं विधूननसंनिधावुपायनं श्रूयमाणं कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवद्विधूननश्रुत्या सर्वत्राप्यपेक्ष्यमाणं सार्वत्रिकं निर्णयकारणं संपद्यते । नच चालनं ध्वजाग्रवत्सुकृतदुष्कृतयोर्मुख्यं संभवति, अद्वयत्वात् । अश्वश्च रोमाणि विधुन्वानस्त्यजन् रजः सहैव तेन रोमाण्यपि जीर्णीनि शातयति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति च ब्राह्मणम् । अनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां न स्मरणविरोधः । तदुक्तमिति व्याख्यातम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष को प्राप्त करके प्रतिषेध करना चाहिये कि हानि अर्थ में ही विधूनन शब्द वर्तने योग्य है, क्योंकि वह उपायन शब्द का शेष है । जहाँ उपायन शब्द

नहो श्रुत है वहाँ भी एकत्र श्रुत उपायन की उपसंहार से प्राप्ति होती है । अन्य के परिग्रह (मूलधन) रूप, उससे अप्रहीन (अत्यक्त) पुण्य-पाप का अन्य लोगों से ग्रहण नहीं किया जा सकता है । अर्थात् अत्यक्त का ग्रहण असम्भव है, इससे विधूनन का त्याग ही अर्थ है । यद्यपि यह अन्य के पुण्य-पाप का किसी अन्य से ग्रहण होना तत्त्वतः सम्भावित (सिद्ध होने वाला) नहीं है, तथापि उस ग्रहण के बन्धन में उसके अनुसार से ही हानि ही विधूनन इस शब्द से कहा जाता है ऐसा निर्णय कर सकते हैं । विधूनन के समीप में वही भी श्रूयमाण (सुना गया) यह उपायन, कुशा, छन्द और स्तुति उपगान के समान, विधूनन श्रुति से सर्वत्र ही अपेक्षमाण (अपेक्षित, उपमहृत) होकर सार्वत्रिक (सब स्थान में होने वाला) निर्णय का कारण सिद्ध होता है । मुहृत-दुष्टत के अद्रव्य होने से ध्वजाग्र के समान उसके मुख्य चालन का सम्भव नहीं है, इससे लाक्षणिक हानि ज्योंका ग्रहण किया जाता है । यदि कहा जाय कि तो भी हानि अर्थ में ही क्यों लक्षणा होती है, किमी अन्याय में क्यों नहीं लक्षणा होती है, तो कहा जाता है कि दृष्टान्त के बल से हानि अर्थ में लक्षणा होती है कि जैसे अरव रोमी का विधूनन, कम्पन करता हुआ, धूलियों को त्यागता हुआ उसके साथ ही जीर्ण रोमी को भी गिराता, त्यागता है । वैसे अरव के रोमी के समान ही पाप का विधूनन करके ज्ञानी उसका त्याग करता है, यह दृष्टान्तरूप ब्राह्मण ग्रन्थ है । वस्तुतः लक्षणा की भी आवश्यकता नहीं है, धातुओं के अनेकार्थक होने से धातु का हानि भी अर्थ है । (धूज् कम्पने) इस स्मरण में विरोध नहीं है, वह भी अर्थ है । यहाँ शास्त्रान्तर में स्थित उपायन विधूनन के हानि अर्थ को निश्चय कराने वाला है, इस तात्पर्य को बोध कराने वाला जैमिनि सूत्र है वह कहा जा चुका है, यह व्याख्यान हो चुका है । इस प्रकार विधूनन का हानि अर्थ सिद्ध होने से केवल हानि के स्थान में उपायन का उपसंहार होता है ॥ प्रियेषु स्वेषु मुहृत-मप्रियेषु च दुष्टतम् । विमृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ २६ ॥

सापराधाधिकरण (१६)

कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा मरणात्पुनः । उत्तोर्यं विरजात्यागस्तथा कौपीतकिश्रुते ।
 कर्मप्राप्यकलामावा मध्ये साधनवर्जनात् । ताण्डिभ्रुते पुरा त्यागो बाध्यः कौपीतकिश्रुतम् ॥
 पूर्वसूत्र में हानिपद की अनुवृत्ति और उसका प्रयमान्त रूप में विपरिणाम करने से अर्थ है कि मापगाय (परलोक प्राप्ति के लिए गमन काल में ही) मुहृत-दुष्टत की हानि (त्याग) होता है, क्योंकि उस उपासक वा ज्ञानी को परलोक में तत्तत्त्व किसी पदार्थ का अभाव रहता है, इसी प्रकार अन्य शाखा वाले कहते हैं । सशय है कि कर्म त्याग मार्ग में होता है, अथवा मरण से प्रथम होता है । पूर्वपक्ष है कि विरजा नदी को तर कर मुहृतादि का त्याग करता है, क्योंकि कौपीतकी श्रुति में ऐसा ही सिद्ध होता है । सिद्धान्त है कि मरण के बाद मार्ग में कर्म में प्राप्त करने योग्य पद के अभाव से, मध्यमार्ग में त्याग के लिये साधन के अभाव से और ताण्डि भ्रुति रूप प्रमाण में प्रथम ही त्याग होता है । उसी से कौपीतकी का ब्रम बाधित होता है ।

वस्तुतः कामादि अरिवर्गं का समूह आरह्यद रूप से कल्पित है, और विगतं रजो यस्याः वा विगता जरा यस्याः सा विरजा, विजरा वा नदी, उपासनारूप क्रिया ही है, उससे उत्तीर्णता उसकी पूर्णता है वह मन से होता है इत्यादि कौपीतकि का भाव है ॥१-२॥

सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौपीतकिनः पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १।३) इत्युपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १।४) इति । तत्किं यथाश्रुतं व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तव्यमाहोस्विदादावेव देहादपसर्पण इति विचारणायां श्रुतिप्रामाण्याद् यथाश्रुति प्रतिपत्ति प्रसक्तौ पठति—सांपराय इति । सांपराये गमन एव देहादपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात् सुकृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते । हेतुं व्याचष्टे तर्तव्याभावादिति । नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्ततोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्यां किञ्चित्प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं कतिचित्त्विज्ञानक्षीणे ते कल्पयेयाताम्, विद्याविरुद्धफलत्वात्तु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयः, स च यदैव विद्या फलाभिमुखी तदैव भवितुमर्हति । तस्मात्प्रागेव सन्नयं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात्पठ्यते । तथा ह्यन्येऽपि शास्त्रिनस्ताण्डिनः शास्त्रायाननिश्चयप्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानिमामनन्ति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति, 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति नुहदः साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्' इति च ॥ २७ ॥

कौपीतकी शाखा वाले पर्यङ्क विद्या में देवयान मार्ग द्वारा पर्यङ्कस्थ ब्रह्म के प्रतिगमन करने वाले के व्यध्व (मध्यमार्ग) में सुकृत और दुष्कृत के वियोग का कथन करते हैं कि (वह सगुण ब्रह्मवेत्ता इस वक्ष्यमाण देवयान मार्ग में प्राप्त होकर अग्नि लोक में आता है, तेज के अभिमानी देव को प्राप्त करता है) इस प्रकार आरम्भ करके (वह विजरा-विरजा नदी को प्राप्त करता है । उसको साधनान्तर के बिना मन से ही तर जाता है इससे सुकृत और दुष्कृत को त्यागता है । यहाँ क्या श्रुति के अनुसार मध्यमार्ग में ही वियोग वचन को समझना चाहिये, अथवा आदि में ही देह से गमन काल में वियोग समझना चाहिए ऐसी विचारणा के होने पर) श्रुति की प्रामाण्यता से श्रुति के अनुसार प्रतिपत्ति (ज्ञान) के प्राप्त होने पर सूत्रकार पढ़ते हैं कि (सम्पराये) इत्यादि । साम्पराय-गमन ही काल में, देह से निकलने के समय मरण से पूर्व ही विद्या के सामर्थ्य से यह सुकृत-दुष्कृत का हान (त्याग) होता है, यह प्रतिज्ञा करते हैं, और तर्तव्याभावात्, यह हेतु कहते हैं कि विद्या से ब्रह्म की प्राप्ति चाहने वाले मृत विद्वान् को मध्यमार्ग में कुछ भी सुकृत और दुष्कृत से प्राप्त करने योग्य नहीं है, कि जिसके लिए वे दोनों कुछ क्षण पर्यन्त अक्षीण (वर्तमान) कल्पित हों । विद्या से विरुद्ध फलवाले उन दोनों के होने से विद्या के सामर्थ्य से उन दोनों का क्षय होता

है और जग ही विद्या फल के लिये अमिषुक्त होती है, तभी वह क्षय होना योग्य है । इसमें प्रथम ही होने वाला यह मुक्त-दुष्टत का क्षय पीछे पड़ा जाता है । अर्थात् (तन् मुक्तदुष्टते विधूनुते) इस वचनगत तन् शब्द हेतु अर्थ में नहीं है कि मरण काल अर्थ में है । भाव है कि केवल मन से ही विरजा नदी को क्यों तरता है मुक्ततादि द्वारा क्यों नहीं तरता है, तो उत्तर है कि मुक्ततादि को जिस मरण काल में ही त्याग देता है इत्यादि । इसी प्रकार ही ताडो और शाटघायनी अन्य शाखा वाले भी पूर्व अवस्था में ही मुक्त-दुष्टत की हानि कहते हैं कि (अस्व जंसे रोमो को त्यागते हैं वैसे पाप को नष्ट करके निर्मल होऊँगा) और (उनके पुत्र धन लेते हैं, मित्र पुण्य लेते हैं, शत्रु पाप लेते हैं) इत्यादि ॥ २७ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

यदि च देहादपमृतस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्याधर्मात्तु मुक्तदुष्टतक्षयोऽभ्युपगम्येन तत्र पतिते देहे धर्मानियमविद्याभ्यासात्मकस्य मुक्तदुष्टतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्धेतुकस्य मुक्तदुष्टतक्षयस्य स्यात्, तस्मात्पूर्वमेव साधकावस्थाया छन्दतोऽनुष्ठान तस्य स्यात्, तत्पूर्वकं च मुक्तदुष्टतहानमिति द्रष्टव्यम् । एव निमित्तनैमित्तिकयोः पत्ति-स्नाण्डिशाल्यायनिश्चयोश्च सगतिरिति ॥ २८ ॥

यदि देह से निवृत्त और देवयान मार्ग से प्रचलित के अर्धमार्ग में पुण्य-पाप का क्षय माना जाय, तो देह के नष्ट होने पर धर्मानियमविद्याभ्यासादिरूप मुक्त-दुष्टत के क्षय के हेतु पुरुष के प्रयत्न के इच्छा से अनुष्ठान की अनुपपत्ति के कारण तद्धेतुक (तज्जन्य) मुक्त-दुष्टत के क्षय की अनुपपत्ति ही होगी । अर्थात् मरण से प्रथम पुण्य-पाप की निवृत्ति नहीं होने पर, मरण पर देह के बिना साधन के नहीं हो सकने से उनकी निवृत्ति ही नहीं होगी, तो विद्या और कर्मक्षय को परस्पर हेतु फल भाव निरुद्ध होगा । इससे प्रथम ही साधक अवस्था में इच्छा से पापादि की निवृत्ति के साधनों का अनुष्ठान होगा और अनुष्ठानपूर्वक मुक्त-दुष्टत की हानि होगी, इस प्रकार छन्दत प्रवृत्ति से हेतु भाव और फल भाव में अविरोध होता है यह द्रष्टव्य है, क्योंकि इस प्रकार निमित्त नैमित्तिक (हेतु फल) दोनों की सिद्धि होती है, और साण्डी शाटघायनी श्रुतियों की सगति होती है ॥ यदि दाका हो कि छान्दोग्य में तो पापमात्र ही निवृत्ति-श्रुत है उससे क्या गति होगी तो कहते हैं कि छान्दोग्य में भी छन्द (तान्पर्यं) से उभय का ग्रहण है । इससे उभय श्रुति से विरोध नहीं है इत्यादि ॥ २८ ॥

गतेरर्थवत्त्वाधिकरण (१७)

उपास्तिबोधयोर्माणं ममो यद्वा व्यवस्थित । सम एवोत्तरो मागं एतयो कर्महानिबन् ॥ देशान्तरफलप्राप्तये युक्तो मागं उपास्तिपु । आरोग्यबद्धोपफलं तेन मागो व्यवस्थित ॥

गति (गति का साधन) देवयान मार्ग की अर्थवत्ता दो प्रकार से है, अर्थात् व्यवस्थित है, जिससे अन्यथा विरोध होगा । संशय है कि उपासना और ज्ञान दोनों में

मार्गं तुल्य है वा व्यवस्थित भिन्न है । पूर्वपक्ष है कि कर्म की हानि के समान उत्तर-मार्ग भी दोनों के समान है । सिद्धान्त है कि देशान्तर के फल की प्राप्ति के लिये उपासनाओं में मार्ग युक्त है । बोध का फल आरोग्य के समान है जिससे मार्ग व्यवस्थित है । ते नल कहु कहुवाँ गये, जिनहि दीन्ह गुरु घोटि । रामनाम निज जानि के, छांडहु वस्तुहि खोटि ॥ १-२ ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते क्वचिन्न । तत्र संशयः— किं हानावविशेषेणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन क्वचित्संनिपतेत् क्वचिन्नेति । यथा तावद्धानावविशेषेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीत्यस्यां प्राप्तावाचक्ष्महे । गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति, क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति । नाविशेषेण । अन्यथा ह्यविशेषेणैवैतस्यां गतावङ्गीक्रियमाणायां विरोधः स्यात् । ‘पुण्यपापे विघ्न्य निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति’ (मु० ३।१।३) इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी गतिर्विरुध्येत, कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत्, गन्तव्यं च परमं साम्यं न देशान्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे ॥ २९ ॥

पुण्य-पाप की हानि के समीप में कही सगुणविद्या में देवयान मार्ग सुना जाता है, कहीं नहीं सुना जाता है, यहाँ संशय होता है कि हानि में अविशेष रूप से पूर्वोक्त उपायन के समान देवयान मार्ग प्राप्त होगा, अथवा विभागपूर्वक कहीं प्राप्त होगा कहीं नहीं प्राप्त होगा । यहाँ पूर्वपक्ष है कि जैसे हानि में अविशेष रूप से उपायन की अनुवृत्ति कही गई है । इसी प्रकार देवयान की अनुवृत्ति उपसंहार भी होने योग्य है । ऐसी प्राप्ति होने पर कहते हैं कि देवयानरूप गति (पथ, मार्ग) की अर्थवत्ता उभयथा अर्थात् विभाग से होने योग्य है कि कही गति अर्थवती है, कही अर्थवती नहीं है, अविशेष रूप से अर्थवत्ता नहीं है । अन्यथा अविशेष रूप से इस गति को स्वीकार करने पर विरोध होगा (विद्वान् पुण्य-पाप को नष्ट करके निरञ्जन निर्लेप क्लेशरहित होकर परम समता को प्राप्त करता है) इस श्रुति में देशान्तर को प्राप्त कराने वाली गति विरुद्ध होगी । जिससे निरञ्जन अतएव गमनरहित देशान्तर में कैसे जायगा, परमसाम्य स्वरूप गन्तव्य (प्राप्य) वस्तु है, वह देशान्तर में प्राप्ति के अधीन नहीं है । इससे समता में गति की अर्थवत्ता को ही मानते हैं ॥ २९ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति, तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । गतिकारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूप्राप्तनेपूलभ्यते, तत्र हि पर्यङ्कारोहणं पर्यङ्कस्थेन ब्रह्मणा संवदनं विशिष्टगन्धादिप्राप्तिश्चेत्येवमादि बहुदेशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं श्रूयते, तत्रार्थवती गतिः, नहि सम्यग्दर्शने तल्ल-

क्षणार्थोपलब्धिरस्ति । न ह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्तकामानामिहैव दग्धाशेषक्लेश-
वीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणापेक्षितव्य किञ्चिदस्ति तत्रानर्थिका
गति । लोकवच्चैव विभागो द्रष्टव्यो यथा लोके ग्रामप्राप्ती देशान्तरप्रापणं पन्था
अपेक्षयते नारोग्यप्राप्तावेवमिहापीति । भूयश्चैव विभाग चतुर्थाध्याये निपुणतर-
मुपपादयिष्याम ॥ ३० ॥

गति कही अर्थवती सफला है, कही निर्गुण विद्या मे अर्थवती नहीं है, यह उभयथा-
भाव उपपन्न है, क्योंकि उस गतिरूप लक्षण (हेतु, कारण) वाले अर्थों की उपलब्धि
से ऐसा सिद्ध होता है । जिससे गति है कारण स्वरूप जिनका ऐसे अर्थ पर्यङ्क विद्या
आदि रूप सगुण उपासनाओं मे उपलब्ध होने हैं, उस विद्या मे भगवान् के पर्यङ्क पर
आरोहण, पर्यंक पर स्थिर ब्रह्म (भगवान्) के साथ सवाद और विशिष्ट (श्रेष्ठ)
गथादि की प्राप्ति, इत्यादि बहुत देशान्तर मे प्राप्ति के अधीन फल सुना जाता है,
इससे वही गति अर्थवती (सायंक) है । सम्यग्दर्शन मे गतिरूप कारण वाले अर्थों
की उपलब्धि नहीं है । जिसमे आत्मा की एकता की जानने वाले, आस (प्राप्त पूर्ण)
काम (मनोरथ) वाले, दग्ध (विनष्ट) क्लेशात्मक बीज वाले, ज्ञानियों को प्रारब्ध
के भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्माशय के नाश मे अतिरिक्त रूप से कुछ भी अपेक्षितव्य
(प्राप्तव्य) नहीं रहता है, इससे वही गति अनर्थिका निष्फल) है । यह विभाग
लोक के समान समझना चाहिये कि जैसे लोक मे किसी ग्राम की प्राप्ति मे देशान्तर को
प्राप्त कराने वाले मार्ग की अपेक्षा अनुसरण की जाती है, आरोग्य की प्राप्ति मे मार्ग
की अपेक्षा नहीं की जाती है । वैसे ही यहाँ भी मार्ग की अपेक्षा अनपेक्षा है, फिर इस
विभाग को चतुर्थ अध्याय मे अतिमुन्दर रूप से सिद्ध करेंगे ॥ ३० ॥ इन दोनों सूत्रों
का सिद्धान्त के अनुसार सुगम अर्थ प्रतीत होता है कि (उभयथा) भेदभाव के रहते
उपास्य देवादि की प्राप्ति आदि के लिए गति को अर्थवत्त्व है, अथवा नहीं, जिससे
अन्यथा भेदभाव की निवृत्ति होने पर गति को मानने पर (न तस्य प्राणा उत्त्रामन्ति,
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्तेति) ज्ञानी के प्राण उत्त्रामण नहीं करते, ज्ञानी तो जीते जो ब्रह्म
होता हुआ अन्त मे ब्रह्म मे लीन होना है, निर्वाण पद को पाता है, जो गमनागमन से
रहित है, इत्यादि से विरोध होगा ॥ २९ ॥ (ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति) अकामों
घोने अमृत स्वयम् । इहेव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा) इत्यादि श्रुति से गमनागमनरहित
ब्रह्म के लक्षण रूप अर्थ की ज्ञानी मे उपलब्धि से गमनागमनरहित ब्रह्मपत्त्व उपपन्न
होता है, जैसे कि लोक मे जिसमे जिसके लक्षण की उपलब्धि होती है उसकी उस
रूपता उपपन्न होती है, अर्थात् मिट्टी में कुछ दिन रहने से लोहा मिट्टी रूप होता है,
लवण के पहाड़ पर अथ वस्तु भी लवण रूप होती है, उसमे लवण मिट्टी के लक्षणों
को देखकर लोक में मिट्टी लवण कहा जाता है, वैसे ज्ञानी ब्रह्म कहा जाता है और
ब्रह्म विबु है ॥ ३० ॥

अनियमाधिकरण (१८)

मार्गः श्रुतस्यलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत् । श्रुतेष्वेव प्रकरणाद् द्विःपाठोऽस्य व्याख्यया ॥
प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः । तेन वाच्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि ॥

सभी सगुण विद्या सम्बन्धी यह उत्तरायण मार्ग है, किसी विशेष विद्या के लिए नियम नहीं है और श्रुति-स्मृति द्वारा प्रकट विरोध का अभाव सिद्ध होता है ॥ यह उत्तरायण मार्ग जिन स्थानों में सुना गया है, वहाँ ही रहेगा, अथवा सब उपासनाओं में प्राप्त होगा, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि प्रकरण के बल से जहाँ सुना गया है उन्हीं उपासनाओं में मार्ग का सम्बन्ध रहेगा, अन्यत्र उपसंहार नहीं होगा, अन्यथा एक स्थान में पाठ से ही सर्वत्र उपसंहार हो सकता था, एक ग्रन्थ में पञ्चाग्निविद्या और उपकोशलविद्या में इस मार्ग का दो बार पाठ व्यर्थ होगा ॥ सिद्धान्त है कि (ये चेमे) इस श्रुति वाक्य से विद्यान्तर में भी मार्ग कहा गया है, उसी से प्रकरण वाधित हो जाता है । मार्ग का चिन्तन के लिए दो स्थान में पाठ है, अन्य उपासनाओं में मार्ग चिन्तन की जरूरत नहीं है ॥ १-२ ॥

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम् । सगुणास्वपि विद्यासु कासुचिद् गतिः श्रूयते यथा पर्यङ्कविद्यायामुपकोशलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां दहरविद्यायामिति, नान्यासु यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्य-विद्यायां षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति । तत्र संशयः—किं यास्वे-वैपा गतिः श्रूयते तास्वेव नियम्येतोतानियमेन सर्वाभिरेवैवंजातीयकाभिर्विद्या-भिरभिसम्बध्यतेति । किं तावत्प्राप्तं नियम इति । यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितु-मर्हति, प्रकरणस्य नियामकत्वात् । यद्यन्यत्र श्रूयमाणापि गतिर्विद्यान्तरं गच्छे-च्छ्रुत्यादीनां प्रामाण्यं हीयेत सर्वस्य सर्वार्थवत्त्वप्रसङ्गात् । अपिचाचिरादिकैकैव गतिरुपकोशलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तुल्यवत्पठ्यते, तत्सर्वार्थत्वेऽनर्थकं पुनर्वचनं स्यात् । तस्मान्नियम इति ।

सगुण विद्याओं में गति सार्थक है, निर्गुण परमात्मविद्या में नहीं, यह कहा जा चुका है । सगुण विद्याओं में भी किन्हीं में गति सुनी जाती है, जैसे कि पर्यङ्कविद्या, उपकोशलविद्या, पञ्चाग्निविद्या और दहरविद्या में गति सुनी जाती है । अन्य में नहीं सुनी जाती है, जैसे कि मधुविद्या, शाण्डिल्यविद्या, षोडशकलविद्या और वैश्वानरविद्या में नहीं सुनी जाती है । यहाँ संशय होता है कि जिन विद्याओं में यह गति सुनी जाती है, उन्हीं में नियमित रहेगी, अथवा इस प्रकार वाली सभी सगुण विद्याओं में अनियम से सम्बद्ध होगी । प्रथम क्या प्राप्त है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि नियम प्राप्त होता है, जहाँ गति सुनी जाती है, वहाँ ही होने योग्य है, जिससे प्रकरण को नियामकत्व है, इससे प्रकरण ही नियम करेगा । यदि अन्यत्र श्रूयमाण (श्रुत) भी

गति विद्यान्तर में प्राप्त होगी, तो श्रुति आदि की प्रमाणता बाधित होगी, सब गुणादि को सर्वार्थत्व का प्रसङ्ग होगा और दूसरी बात है कि अचि आदि रूप एक ही गति (मार्ग) उपकोशलविद्या में और पञ्चाग्निविद्या में तुल्य स्वरूप वाली एक छान्दोग्य में पढ़ी जाती है । गति के सर्वार्थत्व होने पर वह पुन कथन निरर्थक होगा, जिससे नियम है ॥

एव प्राप्ते पठति-अनियम इति । सर्वोसामेवाभ्युदयप्राप्तिफलात् सगुणानां विद्यानामविशेषेणैषा देवयानाख्या गतिर्भवितुमर्हति । नन्वनियमाभ्युपगमे प्रकरणविरोध उक्त । नैपोऽस्ति विरोध, शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थ । तथाहि श्रुति — 'तद्य इत्य विदुः' (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्निविद्यावता देवयानं पन्थानमवतारयन्ती 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपामते' (छा० ५।१०।१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्धि समानमार्गतां गमयति । कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामपि गतिश्रुतिरिति । ननु श्रद्धातप परायणानामेव स्यात्तन्मानश्रवणात् । नैष दोष, नहि केवलाम्नां श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्यावलम्बेण गतिलभ्यते ।

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामा परागता ।

न तत्र दक्षिणा यन्नि नाविद्वास्तपस्विनः ॥

इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम् ।

ऐसा प्राप्त होने पर पढ़ने हैं कि अनियम है, अभ्युदय (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति रूप फल वाली सगुण सभी विद्याओं के सम्बन्ध वाली यह देवयान नामक गति अविरोध (तुल्य) रूप से होने योग्य है, यदि कहा जाय कि अनियम मानने पर प्रकरण के साथ विरोध कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि शब्द और अनुमान से, अर्थात् श्रुति और स्मृति से यह विरोध नहीं है, अर्थात् सामान्य श्रुति आदि में प्रकरण का साथ दोष रूप नहीं है । जिससे इस प्रकार की सामान्य श्रुति है कि (उन विद्या के अधिकारियों में जो कोई ऐसा समझते हैं कि दुर्लभादिरूप अग्नियों द्वारा हम उत्पन्न हुए हैं इत्यादि) इस प्रकार पञ्चाग्निविद्या वालों के देवयान मार्ग का आरम्भ करती हुई श्रुति (और जो अरण्य में वासयुक्त वानप्रस्थ सन्यासी श्रद्धा तपोयुक्त ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे अचि आदि को प्राप्त होते हैं) इस प्रकार विद्यान्तर का अनुशीलन (चिन्तन) करने वालों की भी पञ्चाग्निविद्या वालों के साथ समान मार्गता को समझाती है । शङ्का होती है कि इस श्रुति में भी श्रद्धा तप वालों को देवयान की प्राप्ति प्रतीत होती है, तो भी विद्यान्तर वालों की भी यह गति श्रुति के समझी जानी है, तप और श्रद्धा में तत्परो की ही यह गति होगी, जिससे तप और श्रद्धा मात्र का श्रवण है । उत्तर है कि यह दोष नहीं है, जिससे विद्यावल के बिना केवल तप और श्रद्धा मात्र से यह गति नहीं प्राप्त होती है । (विद्या से उस ब्रह्मलोक में प्राप्त होने हैं कि जहाँ जाने से काम परागन परावृत्त निवृत्त हो जाने हैं, अर्थात् जहाँ कामादि

दोष नहीं हैं, दक्षिणा (केवल कर्मों) और अविद्वान् तपस्वी वहाँ नहीं जाते हैं । इस दूसरी श्रुति से तप आदि मात्र से ब्रह्मलोक की अप्राप्ति सिद्ध होती है । जिससे यहाँ श्रद्धा और तप से साध्य विद्यान्तर का उपलक्षण (बोधन) होता है ।

वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते 'ये एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (वृ० ६।२।१५) इति, तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयम्, सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात् । पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्यं वित्तयैवोपात्तत्वाद्विद्यान्तरपरायणानामेवैतदुपादानं न्याय्यम् । 'अथ ये एतौ पन्थानी न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (वृ० ६।२।१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेवैनानन्तर्भावयति । तत्रापि विद्याविशेषादेवां देवयानप्रतिपत्तिः । स्मृतिरपि—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ (भ० गी० ८।२६) इति ।

यत्पुनर्देवयानस्य पथोऽर्चिरादोर्द्विरास्मानमुपकोशलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम् । तस्मादनियमः ॥ ३१ ॥

वाजसनेयी तो पञ्चाग्निविद्या के प्रकरण में अध्ययन करते हैं कि (जो इस पञ्चाग्निविद्या को इस प्रकार जानते हैं, और जंगल में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं सो अर्चि मार्ग को प्राप्त करते हैं) इति । वहाँ जो श्रद्धालु लोग सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं, ऐसा व्याख्यान कर्तव्य है और सत्य शब्द के ब्रह्म में अनेक बार प्रयुक्तत्व से यह व्याख्यान समझना चाहिये । पञ्चाग्निविद्यावेत्ताओं का (य एवमेतद्विदुः) इस वचन द्वारा इत्यंवेत्ता रूप से ही ग्रहण होने के कारण विद्यान्तर में परायण (तत्परों) का ही यह सत्य का उपासक रूप से उपादान (ग्रहण) न्याय्य है । (जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते हैं अर्थात् उत्तरायण वा दक्षिणायन मार्गों की प्राप्ति के लिए जो विद्या वा कर्मानुष्ठान नहीं करते हैं; वे लोग कीट, पतंग और यह जो दन्दशूक (सर्प) आदि हैं सो होते हैं) यह श्रुति दोनों मार्गों से भ्रष्टों की कष्टरूप अधोगति को समझाती हुई देवयान, पितृयाण मार्गों में ही इन वैश्वानरादि उपासकों को अन्तर्भाव करती है, और उन दोनों मार्गों में भी विद्याविशेष से इन्हें देवयान की प्राप्ति होती है । स्मृति भी है कि (अर्चि आदि शुक्लगति और धूमादि कृष्ट गति जगत् के अधिकारियों की शाश्वत सम्मत स्वीकृत हैं, उनमें एक से अनावृत्ति को प्राप्त होता है, अन्य गति से फिर लौट आता है) और जो अर्चि आदि रूप देवयान मार्ग का दो बार उपकोशल-विद्या और पञ्चाग्निविद्या में कथन है, वह दोनों स्थानों में अनुचिन्तन के लिए है, अन्य विद्या वालों को मार्ग के चिन्तन के बिना ही मार्ग की प्राप्ति होती है, जहाँ मार्ग का वर्णन है वहाँ मार्ग के चिन्तन से मार्ग की प्राप्ति होती है, इससे प्रतीक भिन्न सभी उपासनाओं में अर्चि आदि की प्राप्ति होती है इससे अनियम है ॥ ३१ ॥

यावदधिकाराधिकरण (१९)

ब्रह्मतत्त्वविदां मुक्तिं पाक्षिकीं नियतायवा । पाक्षिक्यपान्तरतमा । प्रभूतेर्जन्मकीर्तनात् ॥१॥

नानादेहोपभोग्यमीशोपास्तिकफलं बुधा । भुक्ताधिकारात्पुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः ॥२॥

ज्ञान और ज्ञानजन्य जीवन्मुक्ति के रहने भी त्रिदेवादि रूप तथा सत्पति आदि रूप अधिकारियों, नियन्ताओं, उपदेशकों की अधिकार पर्यन्त समार में स्थिति रहती है ॥ सशय है कि ब्रह्मतत्त्ववेत्ताओं की मुक्ति पाक्षिक (वैकल्पिक) है, अथवा नियत है । पूर्वपक्ष है कि अपान्तरतमा आदि ज्ञानियों के जन्म के पुराणादि में कथन से मुक्ति पाक्षिकी है ॥ सिद्धान्त है कि अधिकारी पुरुष रूप ज्ञानी नाना देह में उपभोग के योग्य ईश्वर की उपासना के फल को भोग कर मुक्त होते हैं, इससे मुक्ति नियत है ॥ १-२ ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

विदुषां वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते न वेति चिन्त्यते । ननु विद्याया भाधनभूताया मपत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेति, नेय चिन्तोपपद्यते नहि पाकसाधनमम्भत्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता भवमिति । नापि भुञ्जानस्तृष्येन्न वेति चिन्त्यते । उपपन्ना त्विय चिन्ता ब्रह्मविदामपि केषांचिदिनिहाम-पुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात् । तथाह्यपान्तरतमा नाम वेदाचार्य पुराणपि-विष्णुनियोगात्कलिद्वापराधो मधी कृष्णद्वैपायन मवभूवेति स्मरन्ति । यमिच्छन् ब्रह्मणो मानसं पुत्रं सन्निमिशापादपगतपूर्वदेहं पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरणाभ्यां मवभूवेति । भृगवादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वात्स्ये यजे पुनस्तपत्तिं श्रूयते । मनस्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसं पुत्रं स्वयं दद्यात् वरप्रदानात्मक-न्दत्वेन प्रादुर्बभूव । एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरात्पत्तिं कथ्यते तेन निमित्तन स्मृती । श्रुतावपि मन्त्रार्थवादयो प्रायेणोपलभ्यते । ते च वैचित्पनिते पूर्वदेहान्तरमाददते केचित्तु स्थिते एव तस्मिन्योगेश्वर्यवशा-दनेकदेहादानन्यायेन । भवे चैते ममधिगतमवश्वेदार्थां स्मर्यन्ते । तदेतपा देहान्तरात्पत्तिदर्शनात्प्राप्तं ब्रह्मविद्यायां पाक्षिकं मोक्षहेतुमन्हेतुमन् वेति ।

विद्वान् के वर्तमान देह के पात के अनन्तर फिर देहान्तर उत्पन्न होता है, अथवा नहीं होता है, यह विचार किया जाना है । यहाँ गका होती है कि वैवन्ध के साधन रूप विद्या की सम्पत्ति (सिद्धि प्राप्ति) होने पर वैवन्ध की निद्धि होगी या नहीं होगी, यह चिन्ता, विचार, उपपन्न नहीं होती है, जिससे पाक के साधन की सम्पत्ति होने पर ओदन (भात) होगा या नहीं होगा ऐसी चिन्ता का सम्भव नहीं है और भोजन करना हुआ ठूँस होगा या नहीं, गेहूँ भी चिन्ता नहीं की जाती है, अर्थात् पूर्ण साधन ज्ञान होने पर भोग अवश्य होता है यहाँ चिन्ता का अवसर नहीं है ॥ उत्तर है कि यह चिन्ता तो उपपन्न है, मुक्त है, जिससे कितने ब्रह्मवेत्ताओं की भी इतिहास और पुराणों में

देहान्तर की उत्पत्ति कथा को देखने से चिन्ता होती है। इसी प्रकार का स्मरण कथन करते हैं कि अपान्तरतमा नाम से प्रसिद्ध वेदाचार्य पुराण ऋषि विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की सन्धि काल में कृष्ण द्वैपायन हुए। वसिष्ठ भी ब्रह्मा के मानसपुत्र होते हुए भी निमि नामक राजा के शाप से पूर्वदेह से रहित होकर फिर ब्रह्मा की आज्ञा से मित्रावरुण से देहधारी हुए। ब्रह्मा के ही मानसपुत्र भृगु आदि की वरुण के यज्ञ में फिर उत्पत्ति सुनी जाती है, ब्रह्मा के ही मानसपुत्र सनत्कुमार भी स्वयं रत्न के प्रति वरप्रदान से स्कन्द रूप से प्रगट हुए। इसी प्रकार तत्तत् निमित्तों से दक्ष नारदादि की बहुत ही देहान्तर की उत्पत्ति स्मृति में कही जाती है। श्रुति में भी मन्त्र और अर्थवाद में प्रायः ज्ञानियों की देह की उत्पत्ति उपलब्ध होती है। उनमें से कितने ज्ञानी तो पूर्व देह के पतित होने पर देहान्तर का ग्रहण करते हैं, और कोई तो उस पूर्व देह के स्थिर रहते ही योगेश्वर्य के बल से अनेक देह के ग्रहण न्याय से अन्य देह का ग्रहण करते हैं, और ये सब सम्पूर्ण वेदार्थ के ज्ञाता तत्त्वज्ञ स्मृतियों में कहे जाते हैं। तो भी इनकी देहों की उत्पत्ति की कथा को देखने से ब्रह्मविद्या को पाक्षिक मोक्ष-हेतुत्व वा अहेतुत्व प्राप्त होता है ॥

अत उत्तरमुच्यते। न, तेषामपान्तरतमःप्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिपु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात्स्थितेः। यथासौ भगवान्सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसाने उदयास्त-मयवर्जितं कैवल्यमनुभवति, 'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३।१।११) इति श्रुतेः। यथा च वर्तमाना ब्रह्मविदः प्रारब्ध-भोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१।४।२) इति श्रुतेः। एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शनं कैवल्यहेता-वक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम् सकृत्प्रवृत्तमेव हि तैऽधिकारफलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः स्वात-न्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायापरि-मुपितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय देहान्युगपत्कमेण बाधिति-ष्ठन्ति। न चैते जातिस्मरा इत्युच्यन्ते 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः।

अतः उत्तर कहा जाता है कि पाक्षिक हेतुत्व वा अहेतुत्व नहीं है। उन अपान्तरतमा आदि लोकस्थिति के हेतु वेद के प्रचारादि रूप अधिकारों (व्यापारों) में नियुक्तों की स्थिति के अधिकार रूप प्रतिबन्धक के अधीन होने से दोष का अभाव समझना चाहिए। जैसे यह भगवान् सूर्य हजार युग पर्यन्त जगत् के अधिकार (व्यवहार) को करके उसके अन्त में उदय-अस्तमय से रहित कैवल्य का अनुभव करते हैं (प्राणियों के प्रारब्ध समाप्त होने पर प्राणियों के ऊपर अनुग्रह के बाद में ऊर्ध्व अपने स्वरूप में

प्राप्त होकर सूर्य अपने मध्य (स्वरूप) में एकल स्थिर रहेंगे न उदित होंगे न अस्त होंगे । इस श्रुति से सूर्य का कैवल्य सिद्ध होता है, एकल (अद्वय) स्वरूप से स्थिति ही कैवल्य है (उस अविद्याबन्धनरहित आचार्यवान् पुरुष के सत्स्वरूप की सम्पत्ति को तभी तक विलम्ब है कि जब तक प्रारब्ध से नहीं विमुक्त होता है प्रारब्धान्त होने पर वह मन् स्वरूप में सम्पन्न होता है) इस श्रुति के अनुसार जैसे वर्तमान ब्रह्मवेत्ता प्रारब्ध भोग के क्षय होने पर कैवल्य का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर से तत्तत् अधिकार में नियुक्त अपान्तरतमा आदि ईश्वर (समर्थ) होने भी, तथा कैवल्य के हेतुरूप सम्यक् दर्शन (ब्रह्मात्मानुभव) के रहते भी प्रारब्ध कर्म के नहीं क्षीण होने से अक्षीण कर्म वाले वे लोग अधिकार पर्यन्त रहते हैं, उस प्रारब्ध के अवसान (समाप्त) होने पर मुक्त होने हैं । इससे विद्या की मोक्षहेतुता में विरोध नहीं है । जिससे उन अधिकारियों का कर्मान्तर से पुनर्जन्म नहीं होता है, किन्तु अधिकार रूप अधिकार-सम्बन्धी फल को देने के लिए सृष्टि (एकवार) ही प्रवृत्त कर्माद्य (धर्मादि) को (अनेक जन्म के लिए एक बार उद्बुद्ध प्रारब्ध को) भोगादि द्वारा नष्ट करते हुए, स्वतन्त्रतापूर्वक ही एक गृह से गृहान्तर में प्रवेश के समान अन्य-अन्य देहों में संचार (प्रवेश) करते हुए, अपने अधिकारों की सिद्धि के लिए अपरिलुप्त-स्मृतिवाले होने ही देह और इन्द्रियों की प्रकृति की वशिता से प्रवृत्ति द्वारा देहों का निर्माण (सृष्टि) करके एक काल में या क्रम से उन देहों में अधिष्ठित (प्रविष्ट, स्थिर) होने हैं, अर्थात् कर्मान्तराधीन ईश्वराधीन अज्ञानियों का जन्म होता है । इससे पूर्वापर की स्मृति लुप्त हो जाती है, और ज्ञानी अधिकारियों का दूसरा शरीर भी एक प्रारब्धाधीन होने से वह शरीर एक शरीर की अवस्थान्तर के समान रहता है, और स्वतन्त्रता से गृहीत रहता है, इससे स्मृति का लोप नहीं होता है । इसीसे वे अन्य शरीर में अज्ञानों आदि नहीं हो जाते हैं, इसीसे ये अधिकारी जातिस्मर हैं, ऐसा भी नहीं कहे जाते हैं, क्योंकि स्मृति कहती है कि (ये अधिकारी जो पूर्व में वही अव हैं) अर्थात् कौमार युवा आदि अवस्था में जैसे वही पुरुष है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है वैसे ही भिन्न देहों में भी अधिकारियों की प्रत्यभिज्ञा होती है, जाति-स्मरों की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है स्वतन्त्रता नहीं रहती है कर्मान्तराधीन पुनर्जन्म होता है, इत्यादि भेद है । (वेदान्तानेन सततं चोचैन तपसैव च । अद्रोहेण च भूतानां जाति स्मरति पौर्वकीम् ॥ मनु ४।४८) इस स्मृति के अनुसार, सदा वेदाभ्यास, जौच, तप और अद्रोह से पूर्वजाति का स्मरण करता है । उक्त स्मृति प्रसिद्धि से इस जातिस्मर से भिन्न अधिकारी विशिष्ट उपासना से ज्ञानयुक्त होने हैं ।

यथाहि 'मुग्धा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुरामा व्युदस्य स्व देहं जानक देहमाविश्य व्युद्य तैन पश्चात्स्वमेव देहमाविवेशेति' म्मयेति । यदि ह्यपयुक्तं नवृत्तप्रवृत्त कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरागम्भनारणमाविर्भवित्ततोऽप्यङ्गवर्जज कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्याया पाक्षिक मोक्षहेतुत्व-

महेतुत्वं वाऽऽशङ्क्येत, नत्वियमाशङ्का युक्ता, ज्ञानात्कर्मबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात् । तथाहि श्रुतिः—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुण्ड० २।२।८) इति ।

‘स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः’ (छा० ७।२६।२) इति चैवमाद्या । स्मृतिरपि—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुस्तेऽर्जुन ! ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुस्ते तथा ॥ (भ० गी० ४।३७) इति, बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।

ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ॥ इति चैवमाद्या ।

जैसे कि (सुलमा नाम वाली ब्रह्मवादिनी ने राजा जनक के साथ विशेष वाद की इच्छायुक्त होकर अपने देह को त्याग कर राजा जनक की देह में पैठ कर उस राजा के साथ विशेष वाद करके फिर अपनी ही देह में प्रवेश किया) ऐसा स्मरण किया जाता है । एक बार प्रवृत्त अधिकार के हेतु कर्म के उपयुक्त (उपभुक्त) होने पर, फिर यदि देहान्तर के आरम्भ के कारण कर्मान्तर आविर्भूत (प्रारब्धरूप) हो, तब तो अन्य भी अदग्ध बीज वाला कर्मान्तर प्राप्त हो, इससे ब्रह्मविद्या के पाक्षिक मोक्ष-हेतुत्व वा मोक्ष के अहेतुत्व की आशङ्का भी की जा सके, परन्तु ज्ञान से कर्मबीज के दाह की श्रुति और स्मृति में प्रसिद्धि से यह आशङ्का युक्त नहीं है । ऐसी ही श्रुति है कि (परावर स्वरूप उस परब्रह्म के अपरोक्ष होने पर इस जीव के कर्म नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्मों के कारणरूप हृदय के ग्रन्थिरूप रागादि नष्ट हो जाते हैं, सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । आत्म-स्मृति के लाम करने पर सब ग्रन्थि छूट जाते हैं) इत्यादि । स्मृति भी है कि (हे अर्जुन ! जैसे सम्यक् दीप्त अग्नि लकड़ियों को सर्वथा भस्म करती है, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म करती है) । अग्नि से दग्ध बीज जैसे फिर नहीं अङ्कुरित होते—जमते हैं । वैसे ही ज्ञान से दग्ध क्लेशों से फिर देह-रूप आत्मा नहीं सिद्ध होता है, न उन क्लेशों के साथ सम्बन्ध वाला फिर यह जीवात्मा होता है ! इत्यादि ।

नचाविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते । नह्यग्निदग्धस्य शालिवीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते । प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेर्पोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः । ‘तस्य तावदेव चिरम्’ (छा० ६।११।४।२) इति शरीरपातावधिषेपकरणात् । तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकानामवस्थितिः । नच ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता । तथाच श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति ‘तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्’ (वृ० १।४।१०) इति । ज्ञानान्तरेपु

चैश्वर्यादिकण्येवासका स्युर्महर्षय, ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णा परमात्मज्ञाने परिनिष्ठा कैवलय प्राप्नुवन्त्युपपद्यते ।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे मप्राप्ते प्रतिमचरे ।

परस्यान्ते कृतात्मान प्रविशन्ति पर पदम् ॥ इति स्मरणात् ।

अविद्यादिरूप क्लेशो का दाह होने पर क्लेशरूप बीज वाला कर्माशय के एक-देश का दाह हो और एकदेश का प्ररोह (अंकुर) हो यह उपपन्न नहीं हो सकता है । अग्नि से दग्ध शालि (धान) बीज के एकदेश का प्ररोह नहीं देखा जाता है । अविद्यादि के नष्ट होने पर भी प्रवृत्त फल वाले प्रारब्ध रूप कर्माशय की तो मुक्त बाण के समान वेग की निवृत्ति से निवृत्ति होती है । अर्थात् जैसे वेग के क्षय में बाण की गति की निवृत्ति होती है, वैसे भोग से ही प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति होती है, भोग के बिना इसको दग्ध करने की शक्ति ज्ञान में नहीं है, जिससे (उन ज्ञानों को तत्र तत्र विगम्य है) इस श्रुति वचन के अनुसार शरीर के पात तक विशेष के कारण में विशेष होता है, इससे सिद्ध हुआ कि अधिकार पर्यन्त अधिकारियों की स्थिति रहती है । ज्ञान के फल को अनैकान्तिकता (अनियतता) नहीं है और इसी प्रकार अविशेष रूप में ही ज्ञान से सबके मोक्ष की श्रुति दर्शाती है कि (उन देवताओं में जो-जो प्रतिबुद्ध ज्ञानी हुआ वह उस ब्रह्म का स्वरूप हुआ । इसी प्रकार ऋषियों में तथा मनुष्यों में जो प्रतिबुद्ध हुआ वह तद्रूप हुआ) ज्ञान से प्रथम ऐश्वर्यादिरूप फल वाले अन्य ज्ञाना (उपासनाओं) में महर्षि लोग प्रथम आसक्त होने हुए भी पीछे ऐश्वर्यों का क्षय देखने से विरक्त होकर उपासना के बल से परमात्मज्ञाननिष्ठ होकर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की यह उपपन्न होता है । (प्रतिसर्चर, महाप्रलय के संप्राप्त होने पर और हिंस्प्यगम के अधिकार का अन्त होने पर ब्रह्म के साथ वे सब कृतात्मा, शुद्धात्मा लोग परमपद पाते हैं) इस स्मृति से उक्तार्थ सिद्ध होता है ।

प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहागङ्गानुपपत्तिः । कर्मफले हि स्वर्गादा-
वनुभवान्स्वरूपे स्यादागङ्गा भवेद्वा न वेति, अनुभवान्स्वरूपे तु ज्ञानफलम् 'यत्मा-
क्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० २।४।१) इति श्रुते, 'तत्त्वमसि' (६।८।७) इति च
मिद्वदुपदेशात् । नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यायम्नस्त्व मूर्तो भविष्य-
मीत्येव परिणेतु शक्यः । 'तद्धेतत्पश्यन्नुपियामिदेव प्रतिवेदेज्ज मनुरभय सूर्यश्च'
(बृ० १।४।१०) इति च सम्प्रदर्शनकाशमेव तत्कृतं सर्वान्मन्त्र दर्शयति ।
तस्मादिकान्तिनी विदुषः कैवल्यमिद्धि ॥ ३२ ॥

ज्ञान के फल के प्रत्यक्ष होने में, फलानाव की आशङ्का की अनुपपत्ति है, अनुभव में अनास्त्व (अप्राप्त) कर्मफल स्वर्गादिविषयक आशङ्का हो सकती है कि वह फल होगा या नहीं होगा । (जो साक्षान् व्यवधानरहित अपरोक्ष अगोचर ब्रह्म है वह आत्मा है) इस श्रुति से, और (वही तुम हो) इस सिद्धतुल्य उपदेश में ज्ञान का फल ही

अनुभव में आरुढ़ निज स्वरूप ही है, ज्ञानकृत ब्रह्माभावरूप फल कमफल के समान भावी नहीं है, जिससे (तत्त्वमसि) इस वाक्य का अर्थ, मृतक होकर तुम ब्रह्म होगे, इस प्रकार से परिणत नहीं किया जा सकता है । (उस ब्रह्म को इस आत्मस्वरूप में देखते हुए वामदेव ऋषि ने सर्वात्म भाव को समझा कि मैं ही मनु और सूर्य हुआ था) यह श्रुति सम्यक् दर्शन काल में ही सर्वात्मता रूप उसके फल को दर्शाती है, जिससे विद्वान् को नियत कैवल्य की सिद्धि होती है ॥ ३२ ॥

अक्षरध्यधिकरण (२०)

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहतिः । आनन्दादिब्रह्मात्मत्वं तेषां संभाव्यते यतः ॥१॥

श्रुतानामश्रुतानां च निषेधानां समा यतः । आत्मलक्षणता तस्माद्वाढ्यार्थास्तूपसंहतिः ॥२॥

अक्षरविद्या में पठित निषेधात्मक विशेषणों का सर्वत्र अवरोध उपसंहार सम्बन्ध होता है, क्योंकि धर्मों की समानता और उसी ब्रह्म की सर्वत्र सत्ता सम्बन्ध में हेतु उपसद के समान है, वह पूर्व मोमांसा में कहा है ॥ संशय है कि निषेधों का आनन्दादि के समान उपसंहार होता है, अथवा नहीं होता है । पूर्वपक्ष है कि निषेधों का उपसंहार नहीं होता है जिससे आनन्दादि के समान इन निषेधों की आत्मता की सम्भावना नहीं की जाती है, अर्थात् आनन्दादि आत्मस्वरूप हैं, इससे उनका उपसंहार होता है, निषेध भावभूत ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकते, इससे इनका उपसंहार नहीं होता है ॥ सिद्धान्त है कि श्रुत वा अश्रुत सब निषेधों को आत्मा की लक्षणता तुल्य है, इससे दृढ़ता के लिए उपसंहार होता है ॥ १-२ ॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्वावाभ्या-

मौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

वाजसनेयके श्रूयते—‘एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमन-
ष्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्’ (वृ० ३।८।८) इत्यादि । तथाथर्वणे श्रूयते—
‘अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्’ (मु० १।१।५)
इत्यादि । तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते । तत्र च
क्वचित्केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिपिध्यन्ते । तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं
सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुक्त व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद्वचवस्थाप्राप्तावुच्यते—
अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः सामान्यतद्वावा-
भ्याम्, समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः । तदेव च
सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते, तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्धयोज्यत्र
न स्युः । तथाच ‘आनन्दादयः प्रधानस्य’ (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यत्र
व्याख्यातम् । तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति
विशेषः । प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः । औपसदवदिति निदर्शनम् । यथा जाम-
दग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् ‘अग्नेर्वैर्होत्रं

वेरध्वरम्, इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसम्बन्धो भवति, अध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य, प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम् । एवमिहाप्यक्षर-तन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसम्बन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमे काण्डे—‘गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः’ (जै० सू० ३।३।८) इत्यत्र ॥ ३३ ॥

वाजसनेयक मे सुना जाता है कि (जिस आकाश के आश्रयविषयक प्रश्न किया है, हे गार्गी ! वह यह है कि जिसको ब्राह्मण लोग अक्षर कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मवेत्ता जिसको अविनाशी कहते हैं, यदि कहो कि वह अक्षर क्या है, तो कहा जाता है कि वह अस्यूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह है । अर्थात् स्थूलादि से मिश्र है) इत्यादि । इसी प्रकार अथर्वण मे सुना जाता है कि (अब यह पराविद्या कही जाती है कि जिससे वक्ष्यमाण अक्षर प्राप्त किया जाता है वह पराविद्या है । जो वह अदृश्य ज्ञानेन्द्रिया का अविषय और कर्मेन्द्रियो से अप्राप्त और गोत्ररहित वर्णरहित है) इत्यादि । इसी प्रकार अन्यत्र भी विशेषों के निराकरण (निषेध) द्वारा अक्षर पर-ब्रह्म का श्रवण कराया जाता है, उनमें कहीं कोई अतिरिक्त (अधिक) विशेष प्रतिपिद्ध होने हैं, यहाँ उन सब विशेषों की—प्रतिषेध-बुद्धियों की सर्वत्र प्राप्ति होती है, अथवा व्यवस्था रहती है, ऐसा संशय के होने पर फिर श्रुतियों के विभाग से तत्तत् निषेधों की तत्तत् श्रुतियों में व्यवस्थारूप पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहा जाता है कि, सामान्य और तद्भाव से अक्षरविषयक सब विशेष प्रतिषेधबुद्धि सर्वत्र उपरोद्धव्य हैं, अर्थात् निषेध की समता ब्रह्म की एकता से सर्वत्र सब निषेध का उपसंहार होता है । जिसमें विशेषों का निराकरण रूप ब्रह्म के प्रतिपादन का प्रकार सर्वत्र समान है और निषेधों द्वारा प्रति प्रतिपादन के योग्य प्रतिपाद्य वही अमिन्न ब्रह्म सर्वत्र प्रत्यभिज्ञात होता है, एक परब्रह्म की सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा होनी है । तो उस ब्रह्मविषयक अन्यत्र की गई बुद्धि किसी अन्य श्रुति में क्यों नहीं होगी । इसी प्रकार (आनन्दादयः प्रधानस्य) इस सूत्र में व्याख्यान किया जा चुका है । वहाँ विधिरूप विशेष चिन्तित (विचारित) हुए हैं, यहाँ निषेध रूप वाले चिन्तित हुए हैं, यह भेद है, और यह विचार का भेद विस्तार से समझने के लिए किया गया है । औपसद्वत्—यह दृष्टान्त है कि जैसे यमदक्षिण से वृत्त, आचरित होने से यामदक्षिण नामक अहीन (चार दिनों में समाप्त होने वाले कई मन्त्र) में पुरोडाश से सिद्ध होने वाली कई एक इष्टियों की विधि होने पर (अग्ने-वैहोत्र वेरध्वरम्) वेर् (देवगण के) होत्र और अध्वर हे अग्ने ! तुम से ही होते हैं । इत्यादि उद्गातृवेद (साम) में उत्पन्न पुरोडाश-प्रदान मन्त्रों का अध्वर्युओं के साथ अमिसम्बन्ध होता है, क्योंकि पुरोडाश का प्रदान अध्वर्युकर्तृक होता है, अध्वर्यु ही पुरोडाश का प्रदान करता है, इससे सामवेद में भी उत्पन्न मन्त्र का अध्वर्यु प्रयोग करता है, उद्गाता उसका उद्गातृ नहीं करता है क्योंकि अङ्गों को प्रधानाधीनत्व होता है, मन्त्र

अङ्ग है, और पुरोडाश-प्रदान अङ्गी कर्म है । इसी प्रकार यहां भी अक्षर के विशेषणों के अक्षर के अधीन होने से जहाँ कहीं भी उत्पन्न विशेषणों को अक्षर के साथ सर्वत्र सम्बन्ध होगा यह सूत्रार्थ है । वह प्रथमकाण्ड में कहा है कि उत्पत्ति गौण होती है और विनियोग प्रधान होता है यहां गुण मुख्य के व्यतिक्रम विरोध होने पर गुण के मुख्यार्थक होने से वली मुख्य अध्वर्यु के साथ मन्त्रात्मक वेद का सम्बन्ध होता है, अर्थात् अध्वर्युकृत कर्म के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि कर्म विनियोग सम्बन्ध के लिए ही उस वेद की उत्पत्ति हुई है इत्यादि ॥ ३३ ॥

इयदधिकरण (२१)

पिवन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अयवक्तता । भोक्तारी भोक्त्रभोक्ताराविति विद्ये उभे इमे ॥

पिवन्तौ भोक्त्रभोक्तारावित्युक्तं हि समन्वये । इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मन्त्रयोर्द्वयोः ॥

(ऋतं पिवन्तौ द्वा सुपर्णा) इन दोनों श्रुतियों में विद्या-उपदेश एक है । जिससे तुल्य संख्यायुक्त जाव और ईश्वर मात्र का दोनों में वर्णन है तथा आनन्दादि की विधि और स्थूलादि का निषेध इतने ही रूप से ब्रह्म चिन्तनीय है, कि जिस रूप का चिन्तन के लिये विधान है । समय, विनाशी, मर्त्यादि स्वरूप वस्तु की भी ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं है, परन्तु वे सब चिन्तनीय नहीं हैं मिथ्या हैं । यहां संशय है कि उक्त दोनों श्रुतियों में दो विद्याएँ हैं कि विद्या की एकता है । पूर्वपक्ष है कि एक श्रुति में दो भोक्ताओं का वर्णन है, दूसरी में एक भोक्ता और एक अमोक्ता का वर्णन है, इससे ये दो विद्याएँ हैं । सिद्धान्त है कि पिवन्तौ, इस श्रुति में भी द्वा सुपर्णा के समान ही एक भोक्ता और दूसरे अमोक्ता ईश्वर का वर्णन है, यह समन्वयाध्याय में कहा जा चुका है और द्वित्व संख्यायुक्त जीवेश्वर मात्र की दोनों मन्त्रों में प्रत्यभिज्ञा होती है, इससे दोनों मन्त्रों में एक विद्या है ॥ १-२ ॥

इयदामननात् ॥ ३३ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वात्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(सु० ३।१।१) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति । तथा कथाः—

ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

(क० ३।१) इति । किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? विद्यानानात्वमिति । कुतः ? विशेषदर्शनात् । द्वा सुपर्णेत्यत्र ह्येकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते । एकस्य चाभोक्तृत्वम्, ऋतं पिवन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते, तद्वैद्यं रूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादिति ।

(दो सुषणं पक्षी तुल्य, सदा सयुक्त समान ख्याति अभिव्यक्ति वाले जीव और ईश्वर समान—एक ससार और शरीररूप वृक्ष का आश्रयण करते हैं, उनमें से एक तो उस अस्वन्य वृक्ष के स्वादु कर्मफल को भोगता है, और एक साधारण संबंधी प्रकाश करता है) इस मन्त्र को अध्यात्म प्रकरण में आश्रयणिक और श्वेताश्वतर पढ़ते हैं । इसी प्रकार कठ पढ़ते हैं कि (सुवृत्त, स्वयंवृत्त कर्म के कार्यात्मक लोकरूप इस समार रूप शरीर में हृदयरूप गुहा में प्रविष्ट परम पराद्धं—परमात्म स्थान में प्रविष्ट जीव और ईश्वर श्रुत, सत्य, अवश्यमावी कर्म फल को भोगने और भोगाने रहते हैं, उनको ब्रह्म-वेत्ता लोग छाया और आतप के समान विलक्षण कहते हैं । और पञ्चाग्नि वाले तथा तीन बार नाचिवेनाग्नि का चयन (संपादन) करनेवाले गृहस्थ भी इसी प्रकार कहते हैं) यहाँ संशय होता है कि विद्या की दोनों मन्त्रों में एकता है । अथवा विद्या में नानात्व (भेद) है । जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है । पूर्व पक्ष है कि विद्या में नानात्व प्राप्त होता है । क्योंकि विशेष के दर्शन से नानात्व सिद्ध होता है । विशेष यह है कि, द्वा सुषर्णा, इस श्रुति में एक जीव को मोक्षत्व का वर्णन देखा जाता है, एक ईश्वर के अमोक्षत्व का वर्णन देखा जाता है । और श्रुत पिवन्ती, इस श्रुति में दोनों के मोक्षत्व का ही वर्णन देखा जाता है, इसमें प्रथम श्रुति में जीवेश्वर का वर्णन है दूसरी में जीव और बुद्धि का वर्णन है, जीव और बुद्धि में भोग का सम्भव है, उसमें विद्या के रूपात्मक वेद्य वस्तु मिथ्यमान (मिथ्य) होनी हुई विद्या को भी मिथ्य करेगी ।

एव प्राप्ते त्रयोति विशैकत्वमिति । कुत ? यत्तु उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोग्य-त्तापरिच्छिन्न द्वित्वोपेत वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति । ननु दर्शितो रूपभेद, नेत्युच्यते, उभावप्येनौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमोक्षवर प्रतिपादयतो नार्थान्तरम् । 'द्वा सुषर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नयो अभिचाकरोति' इत्यज्ञानायाद्यतीत परमात्मा प्रतिपाद्यते । वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते, 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमोक्षमस्य महिमानम्' (श्वे० ४।७) इति । 'श्रुत पिवन्ती' इत्यत्र तु जीवे पिवत्यज्ञानायाद्यतीत परमात्मापि तत्साहचर्याच्छ्रित्वायेन पित्रोत्युपचर्यते । परमात्मप्रकरणे होतु 'अन्यत्र धर्माद्व्यथाधर्मात्' (क० २।१४) इत्युपक्रमात्, तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति 'यं सेतुरीजानानामशर ब्रह्म यत्परम्' (क० ३।२) इति । 'गुहा प्रविष्टावात्मानो हि' (ब्र० सू० १।२।११) इत्यत्र चैतत्प्रपञ्चितम् । तस्मान्नास्ति वेद्यभेदमन्माद्य विशैकत्वम् । अपिच त्रिष्वप्येतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यंवाव-गम्यते तादात्म्यविवक्षयेव जीवोपपादन नार्थान्तरविवक्षया । नच परमात्मविद्याया भेदाभेदविचारावतारोन्तोत्युक्तम् । तस्मात्प्रपञ्चार्य एवैव योग । तस्मान्वा-धिकधर्मोपमहार इति ॥ २४ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि विद्या की एकता है । किम हेतु मे

एकता है कि जिससे इन दोनों मन्त्रों में इयत्ता से परिच्छिन्न अर्थात् द्वित्वसंख्यायुक्त वेद्यात्मक विद्या का रूप अमिन्न कहते हैं। यदि कहा जाय कि रूप का भेद दर्शित कराया गया है, तो कहा जाता है कि रूप का भेद नहीं है, ये दोनों ही मन्त्र जीवात्मा रूप द्वितीय वाले (जीवसहित) ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, बुद्धि रूप अर्थान्तर का प्रतिपादन कोई मन्त्र नहीं करता है। 'द्वा मुपर्णा' इस मन्त्र में तो (अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति) इस मन्त्र भाग से भोगेच्छा रूप बुभुक्षा आदि से रहित परमात्मा का प्रतिपादन किया जाता है, और (अनेक योगादि से जुष्ट, सेवित अन्य असंसारी ईश्वर का और उसको महिमा का जब जीव साक्षात्कार करता है तब शोकरहित होता है) इस वाक्य-शेष में भी वही परमात्मा प्रतिपाद्यमान (निरूपित) देखा जाता है और (ऋतं पिवन्तो) यहाँ तो जीव के कर्म फल पान (भोग) करते रहने पर अशनाया भोगादि से रहित परमात्मा भी उस जीव के साहचर्यं छत्रोन्याय से पीता है, भोगता है ऐसा उपचार, गौग व्यवहार किया जाता है, अर्थात् भोगयिता होने से भोक्ता कहा जाता है। जिससे (धर्म से पृथक् असंग स्वरूप है अधर्म से पृथक् है) इस उपक्रम से यह परमात्मा का प्रकरण है। और उस परमात्मा-विषयक ही वाक्यशेष भी है कि (जो यज्ञकर्त्ताओं को दुःखमागर से पार करने के लिये सेतु के समान है, जो अक्षर परब्रह्म है (गुहां प्रविष्टी) इत्यादि सूत्र में यह विस्तार से कहा गया है। जिससे वेद्य वस्तु का भेद नहीं है, उससे विद्या की एकता है। पूर्वापर के आलोचन करने पर मुण्डक, श्वेताश्वतर और कठ इन तीनों उपनिषदों में परमात्मविद्या ही अवगत (अनुभूत) होती है। परमात्मा के साथ तादात्म्य (अभेद) की विवक्षा से ही जीव का ग्रहण है, अर्थान्तर की विवक्षा से नहीं और परमात्मविद्या के अभेदविषयक होने से परमात्मविद्या में भेदाभेद-विचार का अवतार (सम्बन्ध) नहीं है, यह कहा जा चुका है। इससे यह मूत्र प्रपञ्चायक है। इसी से उन दोनों श्रुतियों में परस्पर अधिक धर्म का उपसंहार होता है ॥ ३४ ॥

अनन्तराधिकरण (२२)

विद्याभेदोय विद्यैक्यं स्यादुपस्तकहोत्रयोः । समानस्य द्विराम्नानाद् विद्याभेदः प्रतीयते ॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः । शङ्काविशेषनृत्ये द्विःपाठस्तत्त्वमसीतिवत् ॥

आमननात् इस पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति होती है, सूत्रां है कि (यत्साक्षादपरो-
क्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः) इस प्रकार की श्रुति दो ब्राह्मण ग्रन्थों में पड़ी है, वहाँ
अभ्यास से कर्म-भेद के समान अभ्यास से विद्या का भेद नहीं है क्योंकि सर्वान्तरत्व के
तुल्य आम्नान, आममन, कथन से विद्या की एकता सिद्ध होती है, जैसे कि (एको देवः
सर्वभूतेषु गूढः) इत्यादि में एकात्मा कहा जाता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये ॥
तथा अपने आत्मा के अन्तरा, मध्य में परमात्मा आनन्दादि स्वरूप से चिन्तनीय है,
अमिन्न रूप से जेय है, जैसे कि भूतग्राम में विभुरूप से चिन्तनीय है, क्योंकि श्रुति ऐसी

ही है कि (अगुप्यमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति) यहाँ सशय है कि उपस्त और कहोल ब्राह्मण में विद्या का भेद है, अथवा एकता होगी । पूर्वपक्ष है कि तुल्य वाक्य के दो बार के कथन से अभ्यास द्वारा विद्या का भेद प्रतीत होता है । सिद्धान्त है कि सर्वान्तरत्व का प्रतिपादन दोनों में है, और वह सर्वान्तर वस्तु एक ही हो सकती है, दो नहीं, इससे रूप के अभेद से विद्या की एकता है, परन्तु शकाविशेष की निवृत्ति के लिए दो बार पाठ है, जैसे कि (तत्त्वमसि) का नौ बार पाठ है ॥ १-२ ॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

‘यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर’ (बृ० ३।४।१-३।५।१) इत्येव द्विरपस्तकहोलप्रश्नयोर्निरन्तर्येण वाजसनेयिन समामनन्ति । तत्र सशय — विद्यैकत्व वा स्याद्विद्यानानात्व वेति । विद्यानानात्वमिति तावत्प्राप्तम् अभ्याससामर्थ्यात् । अन्यथा ह्यन्यूनानतिरिक्तार्थे द्विराम्नामननर्थकमेव स्यात् । तस्माद् यथाभ्यासात्कर्मभेद एवमभ्यामाद्विद्याभेद इति ।

एव प्राप्ते प्रत्याह—अन्तराम्नानाविशेषात्स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति । सर्वान्तरो हि स्वात्मोभयनाप्यविशिष्ट पृच्छयते च प्रत्युच्यते च । नहि द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरो सम्भवत, तदा ह्यकम्पाञ्जस सर्वान्तरत्वमवकल्पेत एकस्य तु भूतग्रामवन्नेव सर्वान्तरत्व स्यात् । यथाच पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति मत्प्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्य सर्वान्तरत्व भवति तथेहापीत्यर्थ । अथवा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तर निदर्शयति, यथा—‘एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा’ (श्वे० १।११) इत्यस्मिन्मन्त्रे ममस्तेषु भूतग्रामेवेक एव सर्वान्तर आत्माऽऽम्नायते, एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थ । तस्माद्वैद्यैक्याद्वैद्यैकत्वमिति ॥ ३५ ॥

(जो माया अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा है, सर्वान्तर है) इस प्रकार उपस्त और कहोल के प्रश्नों में निरन्तर पूर्वापर ब्राह्मण में दो बार वाजसनेयी पढ़ते हैं, यहाँ सशय होता है कि विद्या की एकता होगी अथवा विद्या का नानात्व होगा । पूर्वपक्ष है कि अभ्यास के सामर्थ्य में विद्या की नानात्व ही प्राप्त होता है । अन्यथा न्यून अधिक अर्थ के नहीं रहने पर दो बार का कथन अनर्थक ही होगा । इससे (ईदो यजति) इत्यादि में यजति पद के अभ्यास से प्रयाज नामक कर्म के भेद के समान यहाँ भी अभ्यास में विद्या का भेद है ॥ इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याख्यान करते हैं कि स्वात्मा के अलग आम्नामन के कथन के अविशेष होने से विद्या की एकता है, सर्वान्तर आत्मा तुल्य स्वरूप वाला ही दोनों स्थानों में पूछा जाता है, प्रश्न का विषय है, और वही प्रत्युत्तर में कहा जाता है, जिसमें एक देह में सर्वान्तर दो आत्माओं का सम्मेलन नहीं है, दो अन्तरात्माओं के होने पर एक को तत्त्वतः सत्य सर्वान्तरत्व सिद्ध होगा । एक को तो भूतग्राम (भूतसमूह रूप देह) के समान सर्वान्तरत्व सर्वथा नहीं होगा ।

जैसे कि पाँच भूतों के समूह रूप देह में पृथिवी के अन्दर जल है, जल के अन्दर तेज है इस प्रकार आपेक्षिक अन्तरत्व के रहते भी किसी भूत को मुख्य सर्वान्तरत्व नहीं होता है, वैसे ही यहाँ भी होगा यह अर्थ है । अथवा भूतग्रामवत् इस पद से अन्य श्रुति का निदर्शन कराते हैं कि (एक देव सब भूतों में गूढ़ है, सब में व्यापक है, सब प्राणियों का अन्तरात्मा है) इस मन्त्र में समस्त भूतसमूहों में एक ही सर्वान्तर आत्मा कहा जाता है, इसी प्रकार इन दोनों ब्राह्मणों में भी कहा जाता है, यह अर्थ है, इससे वेद्य की एकता से विद्या की एकता है ॥ ३५ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्तिरिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः । उपदेशान्तरवदुपपत्तेः । यथा ताण्डिनामुपनिषदि पष्ठे प्रपाठके—‘स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ (छा० ६।८।७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशो न विद्याभेदो भवत्येवमिहापि भविष्यति । कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशो विद्याभेदो न भवति, उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थतावगमात् । ‘भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु’ (छा० ६।५।४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात् आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः, एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात् । ‘अतोऽन्यदार्तम्’ (वृ० ३।४।२-२।५।१) इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते । ‘यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म’ (वृ० ३।५।१) इति द्वितीयेऽपि प्रश्ने एवकारं प्रयुञ्जान्तः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकुर्व्यमाणं दर्शयति । पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते । उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते इत्येकार्थतोपपत्तिः । तस्मादेका विद्येति ॥ ३६ ॥

जो यह कहा गया था कि विद्या के भेद नहीं मानने पर आम्नाय भेद (अभ्यास) की अनुपपत्ति (निरर्थकता) है, वह परिहार के योग्य है, इससे अब यहाँ कहा जाता है कि, उपदेशान्तर के समान उपपत्ति से यह दोष नहीं है । जैसे ताण्डियो के उपनिषद् में पष्ठ प्रपाठक (छठे अध्याय) में (हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा है और तুম वही हो) इस प्रकार नव बार उपदेश होने पर भी विद्या का भेद नहीं होता है, इसी प्रकार यहाँ भी भेद नहीं होगा । यदि कहो कि नौ बार उपदेश होने पर भी विद्या का भेद क्यों नहीं होता है, तो कहा जाता है कि उपक्रम और उपसंहार द्वारा एकार्थता के अवगम से विद्या का भेद नहीं होता है । (हे भगवन् मुझे फिर भी समझाइये) इस प्रकार एक ही अर्थ के पुनः पुनः (बार-बार) प्रतिपादन की इच्छा के विषय रूप से उपक्षेप (उपस्थित) होने से और आशङ्कान्तर के निराकरण के द्वारा बार-बार उपदेश की उपपत्ति से विद्या का भेद नहीं है । इसी प्रकार यहाँ भी प्रश्न और रूप के अभेद से विद्या का भेद नहीं है, और (इस आत्मा से अन्य दुःखरूप

विनश्वर है) इस प्रकार परिसमाप्ति की तुल्यता से उपक्रम और उपसंहार दोनों ही एक अर्थविषयक देने जाते हैं । (जो ही साक्षान् अपरोक्ष ब्रह्म है) इस दूसरे प्रश्न में भी एवकार (एव शब्द) का प्रयोग करते हुए पूर्व प्रश्नगत अर्थ को ही आगे अनुवृत्त्यमाण (आवृष्ट सम्बद्ध) दर्शाते हैं । पूर्वज्ञातृत्व में कार्यकरण से भिन्न आत्मा का सद्भाव कहा जाता है, और उत्तरत्राचण में तो उसी आत्मा की बुद्धि आदि ससार धर्म से अतीतता (असङ्गता) कही जाती है, इनसे एकार्थ की उपपत्ति होती है, इससे विद्या एक है ॥ ३६ ॥

व्यतिहाराधिकरण (२३)

व्यतिहारे स्वात्मरव्योरेक्या धीद्वय द्विधा । वस्तुवैक्यादेकधैक्यस्य दाढर्थाय व्यतिहारयो ॥
ऐक्येयि व्यतिहारोक्त्या धीद्वैक्यस्य जीवता । मुक्त्योपास्त्यै धाद्यनिकी मूर्तिवद्दाढर्थायैक्यम् ॥

उपास्य और उपासक के विशेषण-विशेष्य भाव, परस्परआत्मकता का ज्ञान व्यतिहार कहाता है, वही उपासना की परम अवधि है । वह उपासक के लिए इतर उपासनाओं के समान चिन्तनीय है, जिससे उसी प्रकार विशेष रूप से श्रुति में पड़ते हैं । (यहाँ जो मूर्त्यमण्डल में परमात्मा का स्वरूप है, वह मैं हूँ और मैं में हूँ वह वह है) इस प्रकार की विहित बुद्धि में एक प्रकार की बुद्धि करनी चाहिये कि मैं परमाण्व स्वरूप हूँ, अथवा दोनों प्रकार का मैं परमात्मा हूँ और परमात्मा मुझ स्वरूप जीव है ऐसा समझ होने पर पूर्वपक्ष है कि एक प्रकार की ही बुद्धि वस्तु की एकता से करना उचित है कि जिससे जीव में उत्कर्षता की सिद्धि होती है, परम्पर की बुद्धि तो एकता की दृढता के लिये है चिन्तन के लिये नहीं । सिद्धान्त है कि वस्तु की एकता रहने भी श्रुति के अनुसार दो प्रकार की बुद्धि कर्तव्य है, ईश्वर की भी जीवना उपासना के लिए युक्त है, वह वचन से प्राप्त है जैसे कि मूर्ति की उपासना वचन से प्राप्त होती है, और एकता की दृढता तो अर्थात् सिद्ध होती है ॥ १-२ ॥

व्यतिहारो विशिष्यन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

यथा—‘तद्योज्ह सोऽग्नी योज्मी सोऽहम्’ इत्यादित्यपुरुषं प्रवृत्त्यै-
तरेयिण समामनन्ति, तथा जाबाला ‘त्व वा अहमस्मि भगवो देवनेऽह
वे त्वमसि’ इति । तत्र मगय—किमिह व्यतिहारोभयरूपा मति कर्तव्यो नै-
करूपैवेति । एकरूपैवेति तावदाह । नह्यत्रात्मन ईश्वरेणेकत्वं मुक्त्वान्यात्वचि-
च्छिन्तयितव्यमस्मि । यदि चैव चिन्तयितव्यो विशेषः परिवर्त्येन ममारिणश्चे-
श्वरात्मत्वमोक्षरस्य ममार्यान्मत्वमिति । तत्र समारिणस्मावदश्वरात्मत्वे उत्कर्षो
भवेदश्वरस्य तु समार्यान्मत्वे निकर्षं कृतं स्यात्, तस्मादैक्यमेव मते ।
व्यतिहारान्मायम्वेकत्वदृढीकारार्थं इति ।

जिस प्रकार आदित्य पुरुष को प्रभुन करके ऐतरेयो पढ़ते हैं कि (जो वह आदित्य-

मण्डल में ब्रह्म है वह मैं हूँ और मैं मैं हूँ वह वह है) . इसी प्रकार जावाल पड़ते हैं कि (हे भगवन् देवते ! मैं तेरा स्वरूप हूँ तू मेरा स्वरूप है) इत्यादि । यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ व्यतिहार विशेष्य-विशेषण भाव द्वारा दो रूप वाली बुद्धि कर्तव्य है अथवा एक रूप वाली कर्तव्य है । यहाँ पूर्वपक्ष है कि एक रूप वाली ही बुद्धि कर्तव्य है, जिससे इस व्यतिहार में आत्मा की ईश्वर के साथ एकता के बिना उससे अन्य कुछ भी चिन्तन के योग्य नहीं है और यदि इस एकता के समान ही ऐसा भी विशेष चिन्तनीय कल्पित हो कि संसारी की ईश्वररूपता और ईश्वर की संसारीरूपता चिन्तनीय है, तो वहाँ संसारी की ईश्वररूपता में उत्कर्ष होगा और ईश्वर को तो जीवरूपता में निकर्ष, अपकर्ष (हीनता) सिद्ध होगा । इससे मति की एकरूपता ही होती है, द्विरूपता नहीं होती है ।

एवं प्राप्त प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते इतरवत् । यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाम्नायन्ते तद्वत् । तथाहि विशिषन्ति समा-म्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति । तच्चोभयरूपायां मती कर्तव्यायामर्थवद्भवति, अन्यथा हीदं विशेषेणोभयाम्नानमनर्थकं स्यात्, एकेनैव कृतत्वात् । ननूभयाम्नानस्यार्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम् । नैष दोषः । ऐकात्म्यस्थैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात् । नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत । न वयमेकत्व-दृढीकारं वारयामः । किं तर्हि ? व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचन-प्रामाण्यान्नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः । फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति । यथा-ध्यानार्थेऽपि सत्यकामत्वादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्धयति तद्वत् । तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषये उपसंहर्तव्यो भवतीति ॥३७॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं कि यह व्यतिहार आध्यान के लिए अन्य के समान कहा जाता है । जैसे सर्वात्मत्वादि इतर गुण आध्यान के लिए कहे जाते हैं, उसी के समान यह व्यतिहार का कथन भी आध्यान के लिए है । जिससे वेदवक्ता लोग दोनों के उच्चारण द्वारा इसी प्रकार परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव करते हैं कि (त्वमहमस्मि-अहं च त्वमसि—मैं तेरा स्वरूप हूँ, तू मेरा स्वरूप हो) इति, वह कथन बुद्धि के उभय रूप कर्तव्य होने पर सार्थक होता है, अन्यथा नहीं, अन्यथा तो (अहं त्वमस्मि) एक इतने ही से एकमति सिद्ध होती है । इससे यह विशेष रूप से दोनों का कथन निरर्थक ही होगा, अर्थात् एक के उच्चारण से एकत्व-बुद्धि के सिद्ध होने से (अहं त्वमसि) इसका उच्चारण व्यर्थ होगा, यदि कहो कि दोनों वेद-वाक्यों को अर्थविशेष (भिन्न अर्थ) मानने पर देवता की संसारिरूपता की प्राप्ति से निकर्ष प्राप्त होगा यह प्रथम कहा जा चुका है । तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से भी एकात्मता ही अनुचिन्त्यमान होता है । अर्थात् ध्यान के

लिए आरोप मात्र से अपकर्षता नहीं प्राप्त होती है और एकता का चिन्तन होता है । यदि कहो कि ऐसा मानने पर तो जो मैंने एकत्व का दृढीकरण कहा था वही प्राप्त होता है, तो कहा जाता है कि हम एकत्व के दृढीकरण (निश्चय) का वरण नहीं करते हैं, किन्तु व्यतिहार द्वारा दो रूप वाली मति यहाँ वचन की प्रमाणता से कर्तव्य है, एक रूप वाली नहीं कर्तव्य है, इतना ही उपपादन (सिद्ध) करते हैं । इस ध्यान रूप मतिद्वारा प्रमाणान्तर से सिद्ध एकत्व भी फल रूप से दृढ होता है । जैसे सत्यकामत्वादि रूप गुणोपदेश के ध्यानार्थक होते भी उन सत्यकामत्वादि गुणों वाला ईश्वर भी उस उपदेश से प्रसिद्ध (प्रतिपादित) होता है, वैसे ही यहाँ ध्यानार्थक उपदेश से एकत्व प्रसिद्ध होता है । इससे यह व्यतिहार आध्यान के योग्य है और समान विषय रूप अहग्रह उपामनाओं में उपसहार के योग्य होता है । यह हम कहते हैं ॥ ३७ ॥

सत्याद्यधिकरण (२४)

द्वे सत्यविद्ये एका वा यक्षरव्यादिव्याक्ययो । फलभेदादुभे लोकजयात्पापहते पृथक् ॥

प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गधोफलम् । अर्थवादोऽथवा मुख्यो मुक्तोधिभृतिफलम् ॥

जो मया (पूज्य) हिरण्यगर्भ वाक्य में विद्या है, वही अग्रिम रविवाक्य में भी विद्या है, इससे सत्यादि गुण उपसहार के योग्य हैं । सगय है कि यदा-वाक्य और रवि आदि वाक्य में सत्यविद्या दो है वा एक है, पूर्वपक्ष है कि लोकजय और पाप-नाश रूप फल के भेद से दोनों सत्य विद्या पृथक् हैं । सिद्धान्त है कि दूसरे वाक्य में भी (तद्यत्तत्सत्यम्) इस वचन से पूर्व प्रकृत हिरण्यगर्भ का ही सम्बन्ध होने से उपास्य को एकता से विद्या की एकता है, हिरण्यगर्भ का ही दूसरे वाक्य में सूर्य रूप से वर्णन है । पाप नाश रूप फल अहर् अहम् इन नामों के चिन्तन रूप अङ्ग का है । इससे अर्थ-वाद रूप है अथवा (स्वर्गकामो दशपूर्णमासाभ्या यजेत) इत्यादि के समान यहाँ मुख्य विधिवाक्य में फल का अवग नहीं होने से अधिकारी का अवशेष है, काम वा अध्याहारपूर्वक (लोकजयकाम पापघातकामो बोधसीत) इस प्रकार से अधिकार का कल्पन होने से मुख्य ही युक्त है अर्थवाद नहीं है ॥ १-२ ॥

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

‘म यो हैतत् महदक्ष प्रथमज वेद सत्य ब्रह्म’ (वृ० ५।४।१) इत्यादिना वाजसनेयके सत्यविद्या मनामाक्षरोपासना विधायान्तरमाप्नोमते— ‘तद्यत्तत्सत्यमयो म आदित्यो य एष एनस्मिन्मण्डले पुरणो यश्चाय दक्षिणेऽ-क्षन्पुरण’ (वृ० ५।५।२) इत्यादि । तत्र सगय — कि द्वे एते सत्यविद्ये कि वैकैवेति । द्वे इति तावत्प्राप्तम् । भेदेन हि फलमवन्धो भवति ‘जयन्तीमालोकमान्’ (वृ० ५।४।१) इति पुरस्तात्, ‘हन्ति पाप्मानं जहानि च य एव वेद’ (वृ० ५।३।३) इत्युपरिष्ठात् । प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति ।

(वह जो कोई अधिकारी इस महान् यक्ष, पूज्य प्रथमोत्पन्न सत्य ब्रह्म हिरण्यगर्भं की उपासना करता है, उसको लोकजयरूप फल प्राप्त होता है) इत्यादि रूप से वाजसनेयक में सत्यनाम के अक्षरों की उपासना सहित सत्यविद्या का विधान करके फिर उसके बाद पढ़ा जाता है कि (वह जो सत्य है वह यह आदित्य है । जो इस सूर्यमण्डल में पुरुष है, और जो यह दक्षिण आँख में पुरुष है) इत्यादि । यहाँ संशय होता है कि क्या ये दो सत्यविद्यायें हैं अथवा एक ही विद्या है । दो है, यह प्रथम प्राप्त होता है, जिससे भेदपूर्वक फल का सम्बन्ध सुना जाता है । (इस लोक को जीतता है) यह फल प्रथम उपासना में सुना जाता है । (जो ऐसा जानता है वह पाप को नष्ट करता है और त्यागता है) यह फल दूसरी उपासना में सुना जाता है और (यत्तत्) इत्यादि से जो पूर्वं प्रकृत का आकर्षण है, वह तो उपास्य की एकता से है, विद्या की एकता से नहीं ।

एवं प्राप्त ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति । कुतः ? 'तद्यत्तत्सत्यम्' (बृ० ५।५।२) । इति प्रकृताकर्षणात् । ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वादुपपद्यत इत्युक्तम् । नैतदेवम् । यत्र तु विस्पष्टात्कारणान्तराद्विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात् । अत्र तूभयथा सम्भवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासम्बद्धमेव सत्यमुत्तरत्राकृष्यत इत्येकविद्यात्वनिश्चयः । यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमिति । अत्रोच्यते, तस्योपनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः । अपि चार्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयवविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति । तस्मात्सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेताऽऽम्नायत इत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्याः ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि यह सत्यविद्या एक ही है । क्योंकि (तद्यत्तत्सत्यम्) इस वाक्य द्वारा पूर्वप्रकृत के आकर्षण से एकता सिद्ध होती है । यदि कहो कि फल के भेद से विद्या के भेद होते भी उपास्य की एकता से प्रकृत का आकर्षण उपपन्न होता है, यह कहा जा चुका है । तो कहा जाता है कि यह आकर्षण उपास्य की एकता मात्र से नहीं है किन्तु विद्या की एकता से है । जहाँ विस्पष्ट कारणान्तर प्रकरण भेदादि से विद्या का भेद प्रतीत होता हो, वहाँ यह उपास्य की एकता का ज्ञान ऐसा होता है, अर्थात् विद्या के भेद रहते उपास्यमात्र एक रहता है, जैसे कि दहर विद्या और शाण्डिल्य विद्या में विद्या के भेद होते भी एक ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा मात्र होती है । यहाँ तो उभयथा के सम्भव (एकत्व या नानात्व का संशय) होने पर (तद्यत्तत्सत्यम्) इस वाक्य से प्रकृत के आकर्षण से पूर्वं विद्या में सम्बन्ध वाला ही सत्य उत्तर विद्या में आकृष्ट होता है इससे एकविद्यात्व का निश्चय होता है, अर्थात् अपवाद के नहीं रहने

पर रूप की एकता में विद्या की एकता सामान्य रूप से सिद्ध होती है। जो यह कहा था कि फलान्तर के श्रवण रूप एकत्व के अपवाद से विद्यान्तर है। यहाँ कहा जाता है कि उसका उपनिषद् (रहस्य नाम) अहम् और (अहम्) है, इस प्रकार जो उत्तर वाक्य में अङ्गान्तर का उपदेश है, उसकी स्तुति करने वाला वह फलान्तर का श्रवण है विद्या का दो फल इससे नहीं है, किन्तु लोकजय रूप एक ही फल है। जहाँ प्रधान में फल के श्रवण से ही अङ्ग भी फलविषयक आकांक्षा से रहित रहते हैं, वहाँ अङ्ग सम्बन्धी फल श्रवण स्तावक ही होता है, इससे यहाँ अङ्ग में फल-श्रवण स्तावक है, यह कहा गया है। वस्तुतः प्रधान विधि रूप वाक्यों में (दशपूर्णमासाम्या यजेत स्वर्गकाम) इत्यादि के समान (लोकजयकाम उपासीत) इत्यादि रीति से काम पद के अभाव से अपवाद से ही फल के कल्पितव्य (कल्पनायोग्य) होने से और विद्या के एकत्व होने से अवयवों में श्रूयमाण बहुत भी फल अवयवी विद्या में ही उपसहार के योग्य होने हैं, अर्थात् प्रधान वाक्य में एव कामादि अधिकारी के विशेषण के बिना प्रधान वाक्य में या अङ्ग वाक्य में जो फल सुने जाते हैं, वह सब अविशेष रूप से श्रुत होने में प्रधान के ही एक फल रूप से कल्पित होते हैं, इससे फल-भेद का अभाव है। उससे वही एक सत्यविद्या तत्त्व विशेषणों से युक्त रूप में कही जाती है। इसमें सत्यादि सभी गुण एक ही प्रयोग (उपासना) में उपसहार के योग्य हैं ॥ ३७ ॥

केचित्पुनरस्मिन्सूत्रे इदं वाजसनेयकमध्यादित्यपुरुषविषय वाक्य, छान्दोग्ये च—‘अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषो दृश्यते’ (छा० १।६।६) ‘अथ य एषोऽन्तरिक्षिणि पुरुषो दृश्यते’ (छा० ४।१।५।१) इत्युदाहृत्य संवेयमध्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकेवेति कृत्वा मत्पादीनगुणान्वाजसनेयस्यश्छन्दोगानामुपमहार्यान्मन्यन्ते। तत्र माधु लक्ष्यते। छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनीयमुद्गीथव्यपाथया विद्या विज्ञायते। तत्र ह्यादिमध्यावमानेषु हि कर्मसम्बन्धिविह्वानि भवन्ति ‘इयमेवर्गग्निं माम्’ (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, ‘तस्यैवर्चं माम् च गेष्णी तस्मादुद्गीथ’ (छा० १।६।८) इति मध्ये, ‘य एव विद्वान्माम् गायति’ (छा० १।७।९) इत्युपमहारे, नैव वाजसनेयस्ये किंचित्कर्ममन्वन्धि विह्वमस्ति। तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥ ३८ ॥

अन्य कई एक व्याख्यानकर्ता इस सूत्र में इस वाजसनेय के अक्षि और आदित्य पुरुष-विषयक वाक्य को, और छान्दोग्य में वर्तमान (जो यह आदित्य के अन्दर हिरण्मय पुरुष दीव्यता है। जो यह अक्षि के अन्दर पुरुष दीव्यता है) इस वाक्य को उदाहरण में लेकर अक्षि और आदित्य पुरुष-विषयक वही विद्या ज्ञानाभ्यास में एक ही है। ऐसा निश्चय करके वाजसनेयियों में से मत्पादी गुणों का उपसहार छन्दोगों को करना चाहिये। ऐसा मानते हैं, वह सुन्दर नहीं दीव्यता है। जिसमें छान्दोग्य में ज्योतिष्टोम-

कर्मसम्बन्धिनी उद्गीथ आश्रित यह विद्या विज्ञात होती है । वहाँ आदि, मध्य तथा अवसान में कर्म के चिह्न भी हैं कि (यह पृथिवी हो ऋक् है, अग्नि ही साम है) यह उपक्रम में है । (उसके ऋक् और साम पर्व हैं—इससे उद्गीथ है) यह मध्य में है और (जो इस प्रकार जानने वाला सामगाता है) यह उपसंहार में है । वाजसनेयक में इस प्रकार का कर्मसम्बन्धी कोई चिह्न नहीं है । वहाँ प्रक्रम (उपक्रम) के भेद से विद्या के भेद होने पर व्यवस्था ही युक्त है ॥ ३८ ॥

कामाद्यधिकाराधिकरण (२५)

असंहृति संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः । उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥ १ ॥

उपास्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चास्तु संहृतिः । दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोपि नेतरः ॥ २ ॥

छान्दोग्य में सगुण दहर विद्या है, जिसमें सत्य कामादि गुण श्रुत हैं । बृहदारण्यक में हार्दविद्या निर्गुणविद्या है, उसमें वशित्वादि गुण श्रुत हैं, वहाँ छान्दोग्य श्रुत कामादि का इतरत्र बृहदारण्यक में सम्बन्ध होता है और उस छान्दोग्य में वशित्वादि का सम्बन्ध होता है, क्योंकि आयतनादि की तुल्यता से दोनों विद्या का सम्बन्ध है । यहाँ संशय है कि दहर और हार्द आकाश के गुणों का परस्पर उपसंहार होता है अथवा नहीं होता है । पूर्वपक्ष है कि दहराकाश उपास्य है और हार्द (हृदयवृत्ति) आकाश (आत्मा) ज्ञेय है, इससे उपास्य और ज्ञेय के भेद से उनके गुणों का उपसंहार नहीं होगा ॥ १ ॥ सिद्धांत है कि कहीं सगुणविद्या में उपासना के लिये अन्य गुणों का उपसंहार होना चाहिये, और निर्गुणविद्या में स्तुति के लिए गुण का उपसंहार होना चाहिये । जिससे विद्या के सगुण-निर्गुण भेद होते भी जैसे दहराकाश आत्मा ही है, वैसे ही हृदयाकाश भी आत्मा से भिन्न नहीं है, इससे आत्मा की एकता से परस्पर गुणोप-संहार होता है और विद्या की एकता है ॥ १-२ ॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

‘अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः’ (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—‘एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः’ (छा० ८।१।५) इत्यादि । तथा वाजसनेयिनः—‘स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी’ (वृ० ४।४।२२) इत्यादि । तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च किं वा नेति संगये विद्यैकत्वमिति । तत्रेदमुच्यते—कामादीति । सत्यकामादीत्यर्थः । यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति । यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुण-जातमुपलभ्यते तदितरत्र वाजसनेयके ‘स वा एष महानज आत्मा’ इत्यत्र सम्बध्यते । यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र छान्दोग्ये ‘एष

आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।१।५) इत्यत्र सम्बध्येत । कुत ? आयतनादि-
सामान्यात् । समानं ह्यभयत्रापि हृदयमायतनं समानञ्च वेद्य ईश्वरं समानं च
तस्य सेतुत्वं लोकासम्भेदप्रयोजनमित्येवमादि बहुतरं सामान्यं दृश्यते । ननु
विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशा-
थ्यस्य ब्रह्मण इति । न । 'दहर उत्तरेभ्य' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र छान्दो-
ग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात् । अयं त्वत्र विद्यते विशेष —
सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्ये उपदिश्यते 'अथ य इहात्मानमनुविद्यं ब्रजन्त्ये-
ताश्च मत्यान्कामान्' (छा० ८।१।६) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात् ।
वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते 'अन ऊर्ध्वं विमोक्षाय
ब्रूहि' (बृ० ४।३।१४) 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' (बृ० ४।३।१५) इत्यादिप्रश्नप्रति-
वचनममन्वयात् । वशित्वादि तु तत्पुन्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके मकी-
र्यते । तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।१।२६) इत्यादिना
निर्गुणमेव ब्रह्मोपमहरति । गुणवत्तस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायाय गुणो-
पमहारं सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ ३९ ॥

(अयं जो यह इस ब्रह्मपुर-शरीर में दहर अल्प पुण्डरीक तुल्य वेद्यं गृह है उसके
अन्दर में दहर अल्पतर आकाश है अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म है) ऐसा आरम्भ करके छान्दोग्य
अध्ययन करते हैं कि (यह आत्मा है, और विगलित पाप वाला जरारहित, मृत्यु में
रहित, शोकरहित, भूख पिपासा से रहित, सत्यकाम वाला और सत्यसङ्कल्प वाला
है) इत्यादि । इसी प्रकार वाजसनेयी अध्ययन करते हैं कि (वह जो महान् अज
आत्मा है—जो यह प्राणों में विज्ञानमय है, जो यह हृदय का आकाश है उसमें शयन
करता है, सबको धरा में रखता है) इत्यादि । वहाँ विद्या की एकता है, परस्पर गुण-
उपसंहार होता है, अथवा विद्या के भेद से गुणों का परस्पर योग (सम्बन्ध) नहीं होता
है । ऐसा सद्य होने पर सिद्धान्त है कि विद्या की एकता है, वहाँ यह कहा जाना है
कि कामादि का उपसंहार होता है । कामादि का सत्यकामादि अर्थ है, जैसे
देवदत्त के स्थान में दत्त और सत्यमामा के स्थान में मामा यह प्रयोग, (नामार्थ
नामादं प्रयोग) नाम के अर्थ में नाम के अर्द्धभाग का प्रयोग होता है इस न्याय से
किया जाता है, वैसे ही सूत्र में कामादि यह प्रयोग किया गया है । छान्दोग्य में
हृदयाकाश का जो यह सत्यकामत्वादिगुणसमूह उपलब्ध होता है, वह इतरत्र वाजसनेयक
में (वह यह आत्मा महान् और अज है) यहाँ सम्बद्ध होगा । जो वाजसनेयक में
वशित्वादि उपलब्ध होता है, वह इतरत्र छान्दोग्य में (यह आत्मा अपहतपाप्मा है)
यहाँ सम्बद्ध होगा । ऐसा किस हेतु में होगा कि आयतनादि की तुल्यता में होगा ।
जिससे दोनों स्थानों में हृदय रूप आयतन तुल्य है, और वेद्य ईश्वर भी दोनों स्थानों में
समान (एक) है, और लोक का असम्भेदन (अमिश्रण) रूप प्रयोजन वाला उस
ईश्वर का सेतुत्वं रूप धर्म दोनों स्थानों में तुल्य है इस प्रकार अति अधिक समानता

दीख पड़ती है । यदि कहा जाय कि यह विशेष (भेद) भी दीखता है, कि छान्दोग्य में हृदयाकाश को गुणों के साथ सम्बन्ध है, और वाजसनेयक में तो आकाश आश्रय वाले ब्रह्म को गुणों के साथ सम्बन्ध है, तो कहा जाता है कि यह विशेष नहीं है, जिससे (दहर उत्तरेभ्यः) इस सूत्र में छान्दोग्य में भी आकाश शब्द का वाच्य ब्रह्म ही है यह प्रतिष्ठापित (निश्चित) हो चुका है । परन्तु यह यहाँ विशेष है कि सगुण ब्रह्मविद्या छान्दोग्य में उपदिष्ट होती है (अथ जो यहाँ आत्मा को जानकर और इन सत्य कामों को जानकर गमन प्रयाण करते हैं उनको सब लोकों में कामचार होता है) इस प्रकार आत्मा के समान कामों के भी वेद्यत्व के श्रवण से सगुणत्व का ज्ञान होता है । वाजसनेयक में तो निर्गुण ही परब्रह्म उपदिश्यमान (उपदिष्ट) दीखता है । सो (इसके आगे विमोक्ष के लिए ही कहिये) । यह पुरुष असंग ही है । इत्यादि प्रश्न और प्रतिवचन के समन्वय से सिद्ध होता है, और वशित्वादि गुण समूह तो उस निर्गुण की स्तुति के ही लिए वाजसनेयक में कहा जाता है, वेद्यत्व व्येयत्व के लिए नहीं इस प्रकार आगे (सो यह आत्मा निर्देश्य विषय रूप नहीं है) इत्यादि वचनों से निर्गुण ब्रह्मविषयक ही उपसंहार करते हैं । इस प्रकार सगुण-निर्गुण ब्रह्मरूप विषय के भेद से सगुण-निर्गुण विद्या के भेद होते भी गुणवाला ब्रह्म के एक होने से (निर्गुण ब्रह्म से भिन्न नहीं होने से) विभूति के प्रदर्शन के लिए दोनों स्थानों में गुण का उपसंहार सूत्र से कहा गया है उपासना के लिए नहीं, अर्थात् सगुणविद्या में व्येय भी गुण-निर्गुण विद्या में उपसंहृत होने पर वहाँ विद्या को स्तुति के लिए ही सत्यकामादि होते हैं, इसी प्रकार वशित्वादि सगुण विद्या में उपसंहृत होकर सगुण की स्तुति के लिए होते हैं इत्यादि ॥ ३९ ॥

आदराधिकरण (२६)

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने । न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तिः ॥ १ ॥

भुज्ययान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते । भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोप्युपपद्यते ॥ २ ॥

वैश्वानरविद्या के प्रकरण में प्राण अपानादि में अग्निहृष्टिपूर्वक उपासक के लिये विधि है कि (तद्यदमक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्) इत्यादि, जो भोजन के लिए प्रथम मात आवे वह होम का साधन रूप द्रव्य है, उसके द्वारा (प्राणाय स्वाहा) इत्यादि मन्त्रपूर्वक हवन करे, यहाँ किसी कारण से भोजन के लोप (अभाव) होने पर भी जल आदि के द्वारा प्राणाहुति करना ही चाहिए क्योंकि उस उपासक के लिये अतिथि से प्रथम भोजन के विधान रूप आदर से उसका अलोप सिद्ध होता है । यह पूर्वपक्ष सूत्र है । संशय है कि अभोजन काल में प्राणाहुति नहीं लुप्त होती है, वा लुप्त होती है । पूर्वपक्ष है कि अतिथि से प्रथम भोजन करे, इस प्रकार की आदरोक्ति से लुप्त नहीं होती है ॥ सिद्धान्त है भोजनार्थक अन्न का उपजीवी (कार्य) प्राणाहुति के होने से भोजन के अभाव से आहुति का अभाव होता है और भोजन पक्ष में प्रथम भोजन होने से आदर भी उपपन्न होता ॥ १-२ ॥

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्या प्रकृत्य श्रूयते—‘तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेतद्वोमीय स या प्रथमामाहुतिं जुहुयात्ता जुहुयात्प्राणाय स्वाहा’ (छा० ५।१९।१) इत्यादि तत्र पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः । तानु च परस्तादग्निहोत्रशब्द प्रयुक्तं ‘य एतदेव विद्वानग्निहोत्रं जुहोति’ (छा० ५।२४।२) इति ।

ययेह धुधिता वाला मातर पर्युपासते ।

एव सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥ (छा० ५।२४।५) इति च ।

तत्रेह विचार्यते—किं भोजनलोपे लोप प्राणाग्निहोत्रस्योतालोप इति । तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनमयोगश्चवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोप प्राणाग्निहोत्रस्येति । एव प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह । कस्मात् ? आदरात्, तथाहि वैश्वानरविद्यायामेव जात्रालानां श्रुति ‘पूर्वोऽतिथिम्योऽश्नीयात्, यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परम्य जुहुयादेव तत्’ इत्यतिथि-भोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वाभिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्रे आदरं करोति । या हि न प्राथम्यप्रलोपं सहते नेतरा सा प्राथम्यवर्तोऽग्निहोत्रस्य लोपं सहेतेति मन्यते । ननु भोजनार्थं भक्तागमनमयोगाद्भोजनशेषे लोपं प्रापितं । न । तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात् । प्राहुते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात्कीण्डपायिनामयनवत्तद्धर्मप्राप्ती सत्यां भक्तद्रव्यैकनागुणविशेषविधानार्थमिदं वाक्यं ‘तद्यद्भक्तमिति’ । अतो गुणलोपे न मुख्यस्येव प्राप्तम् । भोजनशेषोऽप्यद्भिर्वाज्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्यानुष्ठानमिति ॥ ४० ॥

छान्दोग्य में वैश्वानरविद्या का आरम्भ करके मुना जाता है कि (वहाँ मुन के आहवनीय अग्निरूप वस्त्रित होने पर जो भक्त मात आदि अन्न भोजन काल में प्रथम भोजन के लिए आवे वह होम का साधनरूप द्रव्य है । वहाँ वह भोक्ता जो प्रथम आहुति करे, वह (प्राणाय स्वाहा इस मन्त्र से करे, मुन में अन्न डाले) इत्यादि । वहाँ पाँच प्राणाहुतियाँ विहित हैं, और उनमें आगे अग्निहोत्र शब्द प्रयुक्त है, उहें अग्निहोत्र कहा गया है कि (जो इसको इस प्रकार जानने वाला विद्वान् अग्निहोत्र करता है) इति । और (जैसे इस लोक में भूमे वालक माता की उपासना करते हैं, कि कब माता अन्न देगी, इसी प्रकार सब प्राणी इस अग्निहोत्र की उपासना करते हैं, विद्वान् के भोजन से सब वृत्ति चाहते हैं) इति । यही यह विचार किया जाता है कि भोजन का लोप (अभाव) होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप होता है, अथवा नहीं लोप होता है । यहाँ सिद्धान्त के अनुसार, ‘तद्यद्भक्तम्’ इस वचन में भक्त के आपमन के सुवाग के श्रवण से और भक्तागमन के भोजनार्थ होने से भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप

होता है, ऐसा प्राप्त होने पर पूर्वपक्षी प्रथम कहता है कि भोजन का लोप होने पर भी प्राणाग्निहोत्र नहीं लुप्त होता है, किस हेतु से नहीं लुप्त होता है, ऐसा पूछने पर कहता है कि आदर रूप हेतु से नहीं लुप्त होता है, जिससे इसी प्रकार आदर का सूचक वैश्वानर विद्या में ही जावालों की श्रुति है कि (उपासक अतिथियों से प्रथम भोजन करे) यद्यपि अन्य के लिये प्रथम भोजन करना निषिद्ध है, तथापि जो वैश्वानरोपासक होकर प्रथम अतिथि को भोजन कराकर पीछे आप भोजन करता है उसका वह भोजन ऐसा होता है कि (जैसे स्वयं अपना अग्निहोत्र हवन नहीं करके अन्य के अग्निहोत्र करे) यह श्रुति अतिथि भोजन की प्रथमता की निन्दा करके स्वामी (गृहस्वामी) के भोजन को प्रथम प्राप्त कराती हुई प्राणाग्निहोत्र विषयक आदर करती है । जो श्रुति प्राणाग्निहोत्र की प्रथमता के लोप को नहीं सहती है, वह प्रथमता वाले अग्निहोत्र के लोप को तो अत्यन्त ही नहीं सह सकती है, ऐसा समझा जाता है । यदि कहा जाय कि भोजनार्थं भक्त के आगमन के संयोग से भोजन के लोप में अग्निहोत्र का लोप प्रथम प्राप्त (सिद्ध) किया गया है । अर्थात् भोजनार्थक द्रव्य का अग्निहोत्र के साथ सम्बन्ध है, इससे भोजन के लोप से उसका लोप प्राप्त होता है यह कहा जा चुका है । तो कहा जाता है कि (तद्यद् भक्तम्) इत्यादि रूप उस वचन के अग्निहोत्र सम्बन्धी द्रव्यविशेष के विधान के लिये होने से, उस वचन से भोजन के लोप से अग्निहोत्र का लोप नहीं सिद्ध हो सकता है । जिससे प्राकृत (मुख्य) अग्निहोत्र में पय-घृतादि द्रव्यों का नियतत्व होने से, यहाँ भी अग्निहोत्र शब्द के होने से जैसे कौण्डपायियों को अयनयागविशेष में मासाग्निहोत्र में अग्निहोत्र शब्द के रहने से नित्य मुख्य अग्निहोत्र के धर्मरूप पय-घृतादि द्रव्यों की उसमें प्राप्ति हाती है, वैसे ही मुख्याग्निहोत्र के धर्मरूप पय-घृतादि के प्राणाग्निहोत्र में भी प्राप्त होने पर उस उत्सर्ग (सामान्य द्रव्य) का बोध के लिए, भक्त द्रव्य की एकतारूप गुणविशेष के विधान के लिए यह वाक्य है कि (यत्तद् भक्तम्) इससे भोजन भक्तादि गुण के लोप होने पर भी मुख्य अग्निहोत्र का नहीं लोप होगा (गुणालोपे न मुख्यस्य) इस जेमिनिसूत्र से ऐसा प्राप्त हुआ । इससे भोजन का लोप होने पर जल से वा अन्य अविरुद्ध द्रव्य से प्रतिनिधान न्याय से प्राणाग्निहोत्र का अनुष्ठान होता है । अर्थात् आरब्ध नित्यादि कर्म में श्रुत द्रव्य के नहो मिलने पर प्रतिनिहित अन्य द्रव्य से वह कर्म किया जाता है, वैसे ही यहाँ कर्तव्य है ॥ ४० ॥

अत उत्तरं उठति—

इसके बाद उत्तर पढ़ते हैं कि—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्रथमोपनिपतितत्प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम् । कस्मात् ? तद्वचनात् । तथाहि—‘तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्वोमीयम्’ (छा० ५।१९।१) इति सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्य-

माध्यता प्राणाहुतीना विदधाति । ता अप्रयोजकलक्षणापन्ना सत्य कथं भोजनशेषे द्रव्यान्तर प्रतिनिधापयेयु । न चात्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति, कुण्डपायिनामयने हि 'मासमग्निहोत्र जुहोती'ति विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्-
 द्भाव विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः । इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्वद्भाव विधापयितुमर्हति । तद्धर्मप्राप्तौ चाम्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणाद-
 योऽपि प्राप्येरन् । नचास्ति सम्भव, अग्न्युद्धरण तावद्धोमाधिकरणभावाय, नचायमग्नौ होमो भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात्, भोजनोपनीतद्रव्यमम्बन्धा-
 द्वास्य एवैव होम । तथाच जाबालश्रुति 'पूर्वोऽतिथिम्योऽग्नीयादि'त्यास्या-
 धारामेवेमा होमनिर्वृतिं दर्शयति । अन एव चेहापि सापादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—'उर एव वेदिर्लोमानि वहिर्हृदय गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्थमाहवनीय' (छा० ५।१।८।२) इति । वेदिश्रुतिश्चात्र स्यण्डिलमात्रोपल-
 क्षणार्था द्रष्टव्या, मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात्, तदङ्गानां चेह सपिपादयिपिन-
 त्वात् । भोजनेनैव च कृतकालेन सयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसम्भव । एव-
 मन्मैज्युपम्यानादयो धर्मा केचित्कथंचिद्विरुध्यन्ते । तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतामयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्या । यत्वादरदर्शनवचन तद्भो-
 जनपक्षे प्राथम्यनिधानार्थम् । नह्यस्ति वचनस्यातिभारः । नत्वेनेनास्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम् । तस्माद् भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥ ४१ ॥

भोजन के उपस्थित (प्राप्त) होने पर—अन उसी प्रथम प्राप्त भोजन द्रव्य में प्राणाग्निहोत्र मिद्ध करना चाहिये । किस हेतु से ऐसा करना चाहिए इस प्रश्न का उत्तर है कि उस मात के विषयक वचन से ऐसा करना चाहिए जिससे इस प्रकार का वचन है कि (जो वह मात प्रथम आवे सो होम का साधनरूप द्रव्य है) इस वचन में सिद्ध द्रव्य के समान भक्तोपनिपात (प्रवृत्तभक्तागमन) का तत् शब्द से परामर्श करके प्राणाहुति को परार्थ द्रव्य (भोजनार्थ द्रव्य) साध्यता को श्रुति विधान करती है, इससे भोजनार्थक द्रव्य उन आहुतियों का प्रयोजक है, जैसे श्रुति विशेष गोदोहनादि का प्रयोजक होता है, यहाँ श्रुति के लोप से गोदोहनादि का लोप होता है, वैसे ही यहाँ भोजनार्थ द्रव्य रूप प्रयोजक (हेतु) के लोप से प्राणाहुतियों का लोप होता है, क्योंकि भोजन के लोप से अप्रयोजक (प्रयोजकरहित) लक्षण (स्वरूप) को आपन्न (प्राप्त) हुई वे आहुतियाँ भोजन के लोप के रहने द्रव्यान्तर को प्रतिनिधि रूप से वैसे प्राप्त करेंगी । यहाँ अग्निहोत्र शब्द से प्राकृत मुख्य अग्निहोत्र के धर्म पच-पृतादि की प्राप्ति नहीं है कि जिसका यह भ्रम विधि अपवाद हो । जिससे कुण्डपायिना के अयन में तो (एक मास तक अग्निहोत्र करे) इस विधि उद्देश (विधिवाचन) गत अग्निहोत्र शब्द, तद्वद्भाव (नित्याग्निहोत्र सदृशता) का विधान कर सकता है इससे यहाँ नित्याग्निहोत्र के धर्मों की प्राप्ति युक्त है और इस प्राणाग्निहोत्र में तो अर्थवादगत अग्निहोत्र शब्द है, वह तद्वद्भाव का विधान करवाने योग्य नहीं है । इसमें

नित्याग्निहोत्र के धर्मों की प्राप्ति मानने पर, अग्नि उद्धरणादि भी प्राप्त होंगे, और उनका सम्भव नहीं है, क्योंकि अग्नि का उद्धरण (आहवनीय कुण्ड में स्थापन) होम की अधिकरणता के लिये होती है । भोजनार्थता के व्याघात (विरोध) के प्रसंग से यह होम अग्नि में नहीं होता है । भोजन के लिए उपस्थित द्रव्य के सम्बन्ध से मुख में यह होम होता है और (अतिथियों से प्रथम भोजन करे) इस प्रकार की जावाल-श्रुति मुख में ही इस होम की सिद्धि को दर्शाती है, यहाँ मुख्याग्निहोत्र धर्मों की अप्राप्ति से ही यहाँ पर भी (सांपादिक) काल्पनिक ही अग्निहोत्र के अङ्गों की श्रुति दर्शाती है कि (इस वैश्वानररूप भोक्ता का उर ही वेदि है, लोम कुश्र हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहायंपचन अग्नि है, मुख आहवनीय अग्नि है) मुख्य अग्निहोत्र में वेदि के अभाव से वेदि श्रुति यहाँ स्वण्डिल (संस्कृत भूमि) मात्र का उपलक्षणार्थक है, ऐसा समझना चाहिये । जिससे मुख्याग्निहोत्र के अङ्गों की ही यहाँ सम्पादन की इच्छा का विषयत्व है । निश्चित काल वाले भोजन ही के साथ सम्बन्ध से अग्निहोत्र के साथ प्रातःकाल के अवरोध (अनुसरण, प्राप्ति) का सम्भव नहीं है । इसी प्रकार अन्य भी उपत्यानादि मुख्याग्निहोत्र के कोई धर्म किसी प्रकार प्राणाग्निहोत्र में विरुद्ध होते हैं । इससे भोजन पक्ष में ही मन्त्र, द्रव्य और देवता (प्राण) के संयोग से ये पाँच होम सिद्ध करने योग्य हैं । जो आदर दर्शन रूप वचन है, वह भोजन पक्ष में प्रथमता के विधान के लिये है । यद्यपि स्वामी का भोजन श्रुति आदि में अतिथि आदि से उत्तरकाल में विहित है, तथापि विशेष उपासक के लिए प्रथम भोजन विधान में वचन को अतिभार नहीं है । परन्तु इस भोजन की प्रथमता मात्र से इस प्राणाग्निहोत्र की नित्यता को नहीं दर्शा सकते हैं, इससे भोजन का लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही होता है ॥ ४१ ॥

तन्निर्धारणाधिकरण (२७)

नित्या अङ्गावद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत । पणवत्क्रतुसम्बन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ॥
पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत् । उभौ क्रुस्त इत्युक्तं कर्मोपास्यनुपासिनोः ॥

जो कर्म के अंग उद्गीथादि हैं, उनका जो रसतमत्वादि रूप से कर्मों में निर्धारण (उपासना) किया जाता है, उसका नियम नहीं है, जिससे वह अनियम श्रुति ही से देखा जाता है कि (उभौ क्रुस्तः) और जिससे उपासनाओं के पृथक् फल सुने जाते हैं । उससे कर्मफल का इनके बिना भी प्रतिबन्ध नहीं होता है । इत्यादि ॥ सू० ॥ कर्माङ्ग उद्गीथादि सम्बन्धी उपासनायें कर्मों में नित्य होंगी, अथवा अनियत होंगी यह संशय है । पूर्वपक्ष है कि यद्यपि ये उपासनायें आरम्भाधीत नहीं हैं, अर्थात् किसी कर्म के प्रकरण में नहीं पठित हैं । तथापि (यस्य पणमयी जुहूमवति न स पापं श्लोकं शृणोति) इस श्रुति से विहित आरम्भाधीत वर्णता का नित्ययज्ञ सम्बन्धी जुहू द्वारा वाक्य प्रमाण से क्रतु के साथ सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार (य एवं विद्वान् साम गायति)

इत्यादि से ऋतु सम्बन्धी सामादि द्वारा उपासनाओं को यज्ञ के साथ नित्य सम्बन्ध होता है। सिद्धान्त है कि पृथक् फल के श्रवण से गोदोहन के समान ये नित्य नहीं हैं, अर्थात् (चमसेनाय प्रणयेत् । गोदोहनेन पशुकामस्य) चमस में जल का प्रणयन करना चाहिये, पशु की इच्छा वाले के जल प्रणयन गोदोहन पात्र से करे, यहाँ गोदोहन में नित्यता नहीं है पशु निमित्तक जल प्रणयन की अभाव दशा में गोदोहन पात्र का भी अभाव होता है। इसी प्रकार कर्म फल में अतिशय की इच्छा के अभाव काल में उपासना की निवृत्ति होती है। इसी से (उभौ पुनः) इस श्रुति में उपासक अनुपासक दोनों का कर्म कहा गया है ॥ १-२ ॥

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टे पृथग्व्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—‘ओमित्येनदक्षरमुद्गीथमुपानीत’ (छा० १।१।१) इत्येवमादीनि । किं तानि नित्यान्येव स्युः कर्मसु पर्णमयीत्वादिवदुक्तानित्यानि गोदोहनादिवदिति विचारयाम । किं तावत्प्राप्तम्—नित्यानीति । कुत ? प्रयोगवचनपरिग्रहात् । अनारम्भाधीतान्यपि ह्यनान्युद्गीथादिद्वारेण ऋतुसम्बन्धात्ऋतुप्रयोगवचनेनैवाङ्गान्तरवत्सम्पृश्यन्ते । यत्त्वेपा स्ववाक्येषु फलश्रवणम् ‘आपयिता ह वै कामाना भवति’ (छा० १।१।३) इत्यादि, तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेवापापश्लोकश्रवणादिवत् फलप्रधानम् । तस्माद्यथा ‘यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति’ इत्येवमादीनामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण ऋतुप्रवेशात्प्रकरणपठितवन्तित्येतेवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति ।

(ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) इत्यादि कर्माङ्ग आश्रित उपासनायें हैं। यहाँ विचार करते हैं कि क्या ये पर्णमयीत्वादि के समान कर्मों में नित्य होंगे, अथवा गोदोहनादि के समान अनित्य होंगे। प्रथम बात प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि नित्य है, क्योंकि प्रयोग वचन से परिगृहीत है। अग और प्रधान के सम्बन्ध के बोध होने पर प्रयोग के प्रागभाव (विलम्बानाव शीघ्रता) के बोधक वचन की प्रयोगवचन कहते हैं। पर्णता के समान अनारम्भाधीन भी ये विज्ञान, पर्णता जैसे जुहू द्वारा ऋतु सम्बद्ध होता है, वैसे ये विज्ञान उद्गीथादि कर्माङ्ग के द्वारा ऋतु (याग) में सम्बद्ध होते हैं, फिर वलिन प्रयोग वचन में ही ये विज्ञान अन्य अङ्गों के समान ऋतु के साथ साक्षात् सम्पृष्ट हो जाते हैं कि (विज्ञानरूपकार सम्पाद्य ऋतुभिर्गृष्ट माधयेत्) विज्ञानों द्वारा ऋतु में उपकार माहात्म्य सिद्ध करने ऋतु से स्वर्गादि इष्ट को सिद्ध करे। इस प्रकार ऋतु में उपसासक भी इन विज्ञानों के जो स्वविधायक वाक्य में स्वयन्त फल का श्रवण है कि (जो विज्ञान् इस आकार अक्षर की ही आसि आदि गुण वाला उद्गीथ रूप में उपासना करता है, वह यजमानों के कामों को पूर्ण प्राप्त करने वाला होता है) इत्यादि, वह वर्तमान आदेश

(वर्तमान काल का कथन) रूप होने से अपापश्लोक श्रवणादि के समान अर्थवाद (स्तुति) मात्र ही है, फल को प्रधान रूप से बोध कराने वाला नहीं है । इससे (जिसकी पर्णमयी जुहु होतो है, वह पापश्लोक अपशब्द को नहीं सुनता है) इत्यादि क्रतु प्रकरण में अपठितों को भी जुहु द्वारा क्रतु में प्रवेश (सम्बन्ध) से जैसे प्रकरण पठितों के समान नित्यता होती है, पर्णता (पालासमयता) जैसे क्रतु का नित्य अंग होता है । इसी प्रकार उदगीथादि द्वारा क्रतु सम्बद्ध उदगीथादि उपासनाओं को भी नित्य अंगत्व होगा ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति । यान्येतान्युदगीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि 'रसतम आसिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्य' इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन् । कुतः ? तद्दृष्टेः । तथाह्यनियतत्वमेवंजातीयकानां दर्शयति श्रुतिः—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात् । प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् 'प्रस्तोतुर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि' (छा० १।१०।१९) 'तां चेदविद्वानुद्गास्यसि' (छा० १।१०।१०) 'तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि' (छा० १।१०।११) इति च । अपि चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्धयप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित् 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति । तत्र नाना त्विति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद्वीर्यवत्तरमिति च तरप्रत्ययप्रयोगाद्विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते । तच्चानित्यत्वे विद्याया उपपद्यते, नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुज्ञायेत । सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्ममिति स्थितिः । तथा लोकसामादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपासनं फलानि गिष्यन्ते 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्येवमादीनि । नचेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम्, तथाहि गुणवाद आपद्येत, फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः, प्रयाजादिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम् । तथानारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु, नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रयमन्तरेण फलसम्बन्धोऽवकल्पते । गोदोहनादीनां हि प्रकृताप्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः । तथा वैल्वादीनामपि प्रकृतयूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः, नतु पर्णमयीत्वादिविवेकविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति । वाक्येनैव तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात् । उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानोपपत्तेरुदगीथाद्याश्रयणां फले विधानं न विरुध्यते । तस्माद्यथा क्रत्वाश्रयाण्यपि

गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम् । अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवजातीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयाचक्रुः ॥ ४२ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (तद्विधारणा नियम) इत्यादि । उन उद्गीथादिको को निर्धारणा (उपासना) का कर्मों में अनियम है । जो ये उद्गीथादि कर्मों के गुण (अङ्ग) रूप हैं, और उनका जो यायात्म्य (तात्त्विक स्वरूप) रसतम, फलासि, कर्म-समृद्धि, मुख्य प्राण, आदित्य स्वरूप हैं । उनका जो निर्धारण (चिन्तन उपासनाएँ) हैं, वह नित्य अगो के समान कर्मों में नियमित नहीं किये जा सकते हैं । किस हेतु से नहीं किये जा सकते, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि उस अनियम के देखने से नियमित नहीं किये जा सकते । जिसमें इस प्रकार की उपासनाओं के अनियतत्व को श्रुति दर्शाती है कि (उस ओंकार अक्षर के द्वारा दोनों कर्म करते हैं कि जो इस अक्षर के रसतमादि स्वरूप को जानते हैं, और जो कर्ममात्र को जानने वाले रसतमत्वादि को नहीं जानते हैं) इस प्रकार अविद्वान् की भी कर्म विषयक अनुज्ञा अनुमति में अनियतत्व दर्शित होता है । प्रस्तावादि के देवताओं के विज्ञानों से रहित भी प्रस्तोता आदि के याजन (यज्ञ कराने) का अध्यवसाय (निरचय) देखने से भी अनियम की सिद्धि होती है (हे प्रस्तोत ! जो देवता प्रस्ताव भक्ति में अनुगत है, उस प्रस्ताव भक्ति को देवता को जाने बिना यदि मेरे सामने प्रस्ताव स्तुति करोगे तो तुम्हारा शिर गिर जायगा । उस देवता को जाने बिना यदि उद्गान करोगे, उस देवता को जाने बिना यदि प्रतिहरण करोगे) इत्यादि वचनों से चात्रायण ऋषि ने ऋत्विजों का आपेक्ष किया है, इससे उपासना गृहियों की भी कर्म में प्रवृत्ति सिद्ध होती है । दूसरी बात है कि इस प्रकार के कर्मांग सम्बन्धी उपासनाओं के कर्म फल से पृथक् ही जिससे फल उपलब्ध होता है, इससे इन्हें कर्मांगत्व नहीं है, इनका पृथक् यह फल है कि कर्म फल की सिद्धि में अप्रतिबन्ध (प्रतिबन्धक का अभाव) होना, अर्थात् कर्म की समृद्धि कोई अतिशय विशेष कर्म फल में होता उपासना का फल है । इससे उपासना के बिना भी सामान्य कर्म फल होता है । सो श्रुति कहती है कि (उस ओंकार से दोनों कर्म करते हैं कि जो इसको इस प्रकार जानते हैं, और जो इसको इस प्रकार नहीं जानते हैं । परन्तु विद्या और अविद्या नाना (भिन्न) हैं, जो विद्या श्रद्धा और उपनिषद्-उपासना से युक्त होकर कर्म करता है उसका वही कर्म अतिबली होता है) यहाँ (नाना तु) इस कथन में विद्वान् और अविद्वान् के प्रयोगों (कर्मों) को पृथक् करने में और वीर्यवस्तरम्, इस तरप् प्रत्यय के प्रयोग से विद्यारहित भी कर्म बली होता है । यह समझा जाता है । सो विद्या के अनित्यत्व होने पर उपपन्न होता है । विद्या के नित्यत्व होने पर तो विद्यारहित कर्म वीर्यवत्, बली होता है, ऐसी अनुज्ञा (अनुमति) कर्म की जाती । जिसमें सब अगो के उपसंहार (सम्बन्ध) होने पर कर्म बली होता है, ऐसी स्थिति (मर्यादा) है । इसी प्रकार लोकादि दृष्टि से सामादिकी उपासनाओं

में प्रत्येक उपासनाओं में प्रतिनियत (मित्र-मित्र) फल उपदिष्ट होते हैं कि (इस विद्वान् के लिए भूमि से ऊपर और आवृत्त नीचे के लोक सब भोग देने के लिए समर्थ होते हैं) इत्यादि । यह फलश्रवण अर्थवाद मात्र है, ऐसा समझना युक्त नहीं है, जिससे उस प्रकार से अर्थवाद मानने पर गुणवाद (गौणवचन) प्राप्त होगा और फल का उपदेश रूप होने पर तो मुख्य (प्रधान) वाद की उपपत्ति (सिद्धि) होती है । प्रयाजादि में तो इतिकर्तव्यता (कर्मप्रकार) की आकांक्षायुक्त क्रतु के प्रकृतत्व (प्रकरण) होने से कृत्वर्थता के सिद्ध होने पर उनके फल श्रुति को अर्थवादत्वयुक्त है । अर्थात् (दर्शपूर्णमासाम्या स्वर्गकामो यजेत—स्वर्ग की इच्छा वाला दर्शपूर्णमास से इष्ट को सिद्ध करे) इस अधिकार विधि से ऐसा बोध होने पर, कैसे करे ऐसी आकांक्षा होने पर प्रयाजादि से उपकार को सिद्ध करके दर्शादि से इष्ट को सिद्ध करे, इस प्रकार प्रयाजादि को प्रकरण से दर्शादि के अङ्गत्व सिद्ध होने पर फल श्रवण स्तुतिमात्र का बोधक होता है । इसी प्रकार अनारभ्याधीत पर्णमयीत्वादि में भी फल का श्रवण स्तुति-मात्र है, जिससे अक्रियात्मक पर्णमयीत्वादि को कोई आश्रय के बिना क्रिया के साथ सम्बन्ध के बिना फल का सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सकता है, जुहू द्वारा कर्माङ्गत्व की सिद्धि से फल श्रुति को अर्थवादत्व है । गोदोहनादि को तो प्रकृत अप का प्रणयनादि रूप आश्रय के लाभ से फलविधि उपपन्न होता है । इसी प्रकार वैत्वादि को भी प्रकृत घृणादि आश्रय के लाभ से फलविधि उपपन्न है (वैत्वमन्नाद्यकामस्य) इत्यादि फल-विधि सार्थक है । पर्णमयीत्वादि में इस प्रकार का कोई प्रकृत आश्रय नहीं है, कि जो निराकांक्ष हो । किन्तु शेषशेषी का साथ में उच्चारण रूप वाक्य से ही पर्णता की जुहू आदि आश्रयता की विवक्षा करके फल विषयक भी विधि की विवक्षा करने वाले को वाक्यभेद होगा । अर्थात् एक वाक्य से पर्ण को प्रकृति रूप से जुहू के साथ सम्बन्ध और फल के साथ सम्बन्ध के विधान में वाक्य भेद होगा, इससे फल श्रवण स्तुति-मात्र है, फलविधि नहीं है । उपासनाओं के तो क्रियात्मक होने से, फल विशिष्ट के विधान की उपपत्ति से, उद्गीथादि के आश्रित उपासनाओं के फल विषयक विधान (विधि) विरुद्ध नहीं होता है । इससे जैसे क्रतु के आश्रित भी गोदोहनादि स्वतन्त्र फल के संयोग से अनित्य हैं, इसी प्रकार फलवाली उद्गीथादि उपासनाएँ भी अनित्य हैं, ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार अनित्य होने से क्रतु के अङ्गत्व के अभाव से ही कल्पमूत्रकारों ने इस प्रकार की उपासनाओं की क्रतुओं में कल्पना नहीं की है ॥ ४२ ॥

प्रदानाधिकरण (२८)

एकोकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम् । तत्त्वाभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम् ॥ १ ॥

अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पृथक्श्रुतेः । प्रयोगभेदो राजादिगुणकेन्द्रप्रदानवत् ॥ २ ॥

जैसे इन्द्र देवता के एक होते भी राज-अधिराजादि गुण के भेद से गुण विशिष्ट देवता के भेद को मान कर, पुरोडाश के प्रदान का भेद होता है । वैसे ही वायु और

प्राण के स्वरूप के एक होते भी अवस्थावृत्त भेद से एक उपासना में, भी पृथक् रूप से चिन्तन होता है । वह कहा है कि (नाना वा देवता पृथक् ज्ञानार्—गजादि गुण के भेद से पृथक् ज्ञान होने से देवता नाना ही है) । यहाँ सशय है कि सबगं विद्या में वायु और प्राण को एक करके चिन्तन करना चाहिये अथवा पृथक् चिन्तन करना चाहिये । पूर्वपक्ष है कि उन दोनों के स्वरूप के अभिन्न होने से एक करके चिन्तन करना चाहिये । सिद्धान्त है कि अवस्था के भेद से अध्यात्म और अधिदेवत के पृथक् ध्वन होने से उपासना के एक होने भी प्रयोगचिन्तन का भेद होता है, जैसे कि राजा आदि गुण वाले एक दन्द्र के लिए पुरोडाश के प्रदान में भेद होता है ॥ १-२ ॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

वाजमतेयके—‘वदिप्याम्येवाहमिति वाग्ध्र’ (वृ० १।५।२१) इत्याद्यात्म वागादीना प्राण श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदेवतमग्न्यादीना वायु । तथा छान्दोग्ये—‘वायुर्वायु मवर्ग’ (छा० ४।३।१) इत्याद्याधिदेवतमग्न्यादीना वायु मवर्गोऽवधारित ‘प्राणो वायु स्वर्ग’ (छा० ४।३।२) इत्याद्याद्यात्म वागादीना प्राण । तत्र सशय—कि पृथगेवेमौ वायुप्राणावुपन्तव्यौ म्यातामपृथगेवेति । अपृथगेवेति तावत्प्राप्त तत्त्वाभेदान् । नह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तन न्याय्यम् । दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदेवत च तत्त्वाभेदम्—‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुख प्राविशत्’ (ऐ० २।४) इत्यादिम्य तथा ‘त एते सर्व एव नमा मवजन्ता’ (वृ० १।५।१३) इत्याद्यात्मिकाना प्राणानामाधिदेविकी विभूतिमात्मभूता दर्शयति । तथान्यत्रापि तत्र तत्राद्यात्ममधिदेवत च बहुधा तत्त्वाभेददर्शन भवति । क्वचिच्च ‘य प्राण म वायु’ इति विस्पष्टमेव वायु प्राण चैक कर्णेति । तयोदाहृतेऽपि वाजमतेयिग्राहणे ‘यन्श्चोदेति सूर्य’ (वृ० १।५।२३) इत्यस्मिन्नुपमहारश्लोके ‘प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽन्तमेति’ (वृ० १।५।२३) इति प्राणेनैवोपमहरन्नेकत्व दर्शयति । ‘तस्मादेकमेव व्रत चरेत्प्राण्याच्चेवापान्याच्च’ (वृ० १।५।२३) इति च प्राणव्रतेनैकेनोपमहरन्नेतदेव द्रष्टयति । तथा छान्दोग्येऽपि पश्यतात् ‘महान्मनश्चतुरो देव एव क म जागार भुवनस्य गोपा’ (छा० ४।३।६) इत्येकमेव मवर्गं गमयति न द्वीत्येक एवेवा चतुर्णां मवर्गोऽपरोऽपरपामिनि । तस्मादपृथग्वन्मुपगमनम्येति ।

वाजमतेयक में (मैं सदा वाग्भूती ही इस व्रत को वाक् ने धारण किया) यहाँ अध्यात्म वाक् आदि में श्रेष्ठ प्राण अवधारित (निश्चित) हुआ है । अधिदेवत अग्नि आदि में वायु श्रेष्ठ अवधारित हुआ है । इसी प्रकार छान्दोग्य में (वायु ही मयका सबजंन सग्रहण सग्रसन करन वाला होने में सबों है) यहाँ अधिदेवत अग्नि आदि में वायु सबगं अवधारित हुआ है और (प्राण ही सबगं है) यहाँ अध्यात्म वाक् आदि में प्राण सबगं अवधारित हुआ है, यही सशय होता है कि इस वायु और प्राण को श्रेष्ठ और

संवर्ग रूप से पृथक् अनुचिन्तनीय समझना चाहिए । अर्थात् पृथक् ये दोनों उपास्य होंगे अथवा अपृथक् रूप से उपास्य होंगे । यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि तत्त्व के अभेद से अपृथक् ही उपास्य होंगे ऐसा प्राप्त होता है । जिससे अमिन्न तत्त्वविषयक पृथक् अनुचिन्तन न्याय्य नहीं है । श्रुति भी अध्यात्म और अधिदैवत तत्त्व के अभेद को दर्शाती है कि (वाक् के अमिमानी अग्नि देवता ने वाक् ही होकर मुख में प्रवेश किया) यहाँ से आरम्भ करके (वायु प्राण होकर नासिका में पैठा) इस प्रकार से अभेद दर्शाती है । इसी प्रकार (ये वाक्, मन और प्राण ये सभी तुल्य व्यापक हैं, इसीसे अनन्त हैं संसार के रहते इनका अभाव नहीं होता है) यह श्रुति आधिदैविक विभूति को आध्यात्मिक प्राणों के आत्मस्वरूप दर्शाती है, इसी प्रकार अन्यत्र भी तत्त्व स्थानों में अध्यात्म और अधिदैवत के तत्त्व के अभेद का दर्शन बहुधा होता है । कहीं (जो प्राण है सो वायु है) इस प्रकार विस्पष्ट ही वायु और प्राण को श्रुति एक करके उपदेश करती है । इसी प्रकार प्रथम उदाहृत वाजसनेयि ब्राह्मण में भी (जिस वायु से सूर्य उदित होता है) इस उपसंहार रूप श्लोक में (प्राण ही से यह सूर्य उदित होता है प्राण में अस्त होता है) इस प्रकार प्राण द्वारा उपसंहार करता हुआ वेद एकता को दर्शाता है । (इससे एक ही व्रत करे, प्राण का व्यापार करे और अपान का व्यापार करे) इस प्रकार एक प्राणव्रत से उपसंहार करता हुआ भी इसी प्राण और वायु के एकत्व को दृढ करते हैं । इसी प्रकार छान्दोग्य में भी आगे (अग्नि, सूर्य, चन्द्र, —और जल, तथा वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन, इन चार चार महात्माओं को एक (क-प्रजापति जागार, निगल गया) संहार किया, वही भुवनों का रक्षक है) यह वचन ऐसा नहीं कहता है कि, अग्नि आदि एक चारों का एक संवर्ग है और वाक् आदि दूसरे चारों का अन्य संवर्ग है । इससे अनुगमन (ध्यान, चिन्तन) को पृथक्त्व नहीं है ।

एव प्राप्तेः—पृथगेव वायुप्राणावुपगन्तव्याविति । कस्मात् ? पृथगुपदेशात् । आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात् । ननुक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वामेदादिति । नैष दोषः । तत्त्वामेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनानुचिन्तनभेदोपपत्तेः । श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वामेदाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितव्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात् । स यथेपां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां वायुः' (वृ० १।५।२२) इति चोपमानोपमेयकरणात् । एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः । 'एकमेव व्रतम्' (वृ० १।५।२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः । भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' (वृ० १।५।२१) इति श्रुतेः, न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (वृ० १।५।२१) इति प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात् । 'एकमेव व्रतं चरेत्' (वृ० १।५।२३) इति चोक्त्वा 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति'

(वृ० १।५।२३ इति वायुप्राप्तिं फलं युवन्वायुव्रतमनिर्वर्तितं दर्शयति । देवते-
त्यत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मकत्वस्य प्रेम्णितत्वात्, पुरस्तात्प्रयोगाच्च
'संपाज्जस्तमिता देवता यद्वायुः' (वृ० १।५।२२) इति । तथा 'तौ वा एतौ द्वौ
सवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राण प्राणेषु' (छा० ४।३।४) इति भेदेन व्यपदिशति ।
'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' (छा० ४।३।८) इति च
भेदेनैवोपमहरति । तस्मात्पृथगेवोपगमनम् प्रदानवत्, यथा 'इन्द्राय राज्ञ
पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे' इत्यन्या त्रिपुरोडाशि-
न्यामिष्टौ 'सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्यच्छ वट्कारम्' इति अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च
महप्रदानाशङ्कायाः,—राजादिगुणभेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च यथा-
न्याममेव देवतापृथक्त्वात्प्रदानपृथक्त्वं भवति । एव तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयाश-
पृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः । तदुक्तं मकार्ये 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्'
(जै० सू०) इति । तत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदो विद्यते नैवमिह विद्याभेदोऽ-
स्ति । उपक्रमोपमहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशोपेकविद्याविधानप्रतीतिः । विद्यै-
क्यैऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात्प्रवृत्तिभेदो भवति, अग्निहोत्र इव माय-प्रातः काल-
भेदात् । इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि वाक्य से वायु और प्राण को पृथक् ही ध्येय
समझना चाहिये । क्योंकि पृथक् उपदेश से ऐसा ही सिद्ध होना है, जिससे आध्यान,
चिन्तन के लिये ही अध्यात्म और अधिदैव के विभाग का उपदेश है, आध्यान के पृथक्
नहीं होने पर वह उपदेश अनर्थक ही होगा । यदि कहो कि तत्त्व के अभेद होने से पृथक्
अनुचिन्तन नहीं होता है, यह कहा जा चुका है । तो कहा जाता है कि भेद के चिन्तन
में तत्त्व का अभेद होना, यह कोई दोष नहीं है । तत्त्व के अभेद होते भी अवस्था के
भेद से उपदेश भेद के बराबर (बल) द्वारा अनुचिन्तन के भेद की उपपत्ति से दोष का
अभाव है । भाव है कि तत्त्व एक है, वह उपास्य नहीं है, विशिष्ट वस्तु उपास्य है वह
भिन्न हो है, इससे चिन्तन का भेद होता है । और (यतश्चोदेति मूर्यं) इस श्लोक में
भी प्राण से मूर्य के उदय और अस्त का कथन तत्त्व के अभेद के अग्निप्राय से सिद्ध
होने से अवस्था भेदवृत्त पूर्वकथित ध्येय के भेद के निराकरण में उसने सामर्थ्य के
अभाव से दोष नहीं है । (जैसे इन वाक् आदि प्राणों में मृत्यु से अप्राप्त मध्यम प्राण
है, इसी प्रकार इन अग्नि आदि देवताओं में वायु मृत्यु से अप्राप्त है) इस प्रकार
उपमान और उपमेय के करने से ध्येय का भेद है । इस श्लोक उपन्यास से ही तत्त्व के
अभेद के अग्निप्राय से व्रत का उपदेश भी ध्यान्व्यात हो गया और (एकमेव व्रतम्)
इस वचन में भी एवकार शब्द वाक् आदि के व्रतों की निवृत्ति के द्वारा प्राणव्रत की
प्रतिपत्ति के लिये है, जिससे वाक् आदि नष्ट (नष्ट) व्रत वाले कहे गये हैं कि (मृत्यु ने
श्रमरूप हो कर उन का संहार किया) इस श्रुति से इन्द्रियव्रत की निवृत्ति सिद्ध होनी
है, इससे वायु व्रत की निवृत्ति के लिए एवकार नहीं है, क्योंकि (इसके अनन्तर व्रत की

मीमांसा प्रवृत्त होती है) इस प्रकार आरम्भ करके वायु और प्राण के तुल्यतायुक्त अमग्न व्रतत्व को निर्धारितत्व हुआ है । (एक ही व्रत करे) ऐसा कह कर (उस व्रत के द्वारा इस वायु देवता के ही सायुज्य स्वरूपता को और सलोकता को प्राप्त करता है) यह वचन वायु की प्राप्तिरूप फल को कहता हुआ वायुव्रत को अनिवर्तित दर्शाता है, इस वचन में देवता इस पद में वायु अर्थ है, जिससे अपरिच्छिन्न स्वरूपता को प्रेम्पितत्व (प्राप्ति की इच्छा के विषयत्व) है । प्रथम प्रयोग भी है कि (सो यह अस्तरहित देवता है कि जो वायु है) इसी प्रकार (पूर्वोक्त ये दोनों ही संवर्ग हैं, वायु ही अग्नि आदि देवों में संवर्ग है, प्राण ही वाक् आदि प्राणों इन्द्रियों में संवर्ग है) इस प्रकार वायु और प्राण को यह वचन भेदपूर्वक निर्देश करता है । (जो अग्नि आदि वायु से ग्रसित होते हैं, जो वायु उनका ग्रस करता है ये पांच वाक् आदि से अन्य हैं । इसी प्रकार इनसे भिन्न वाक् आदि और प्राण ये पांच हैं, और दोनों मिलकर दश होकर कृत कहते हैं) यह वचन भेद से ही उपसंहार करता है । इससे प्रदान के समान प्राण और वायु का पृथक् अनुचिन्तन होता है । जैसे कि (इन्द्र राजा के लिए एकादश कपाल में सिद्ध पुरोडाश होता है, अधिराजा इन्द्र के लिये होता है, और स्वराजा इन्द्र के लिए होता है) इस तीन पुरोडाश वाली इष्टि में, साथ पुरोडाश का प्रदान होता है, वा भेद से होता है, ऐसा संशय होने पर, पूर्वपक्ष है कि (अच्छं वट्कारम्—हवि की अव्यर्थता के लिए सब देवों के लिए साथ ही हवि का अवदान करना चाहिए) इस वचन से और इन्द्रदेव के अभेद से साथ ही हवि का प्रदान होना चाहिए, ऐसी आशंका होने पर सिद्धान्त है कि यद्यपि इन्द्र एक देव है, तथापि राज, अधिराज, स्वराजरूप गुण भेद से विशिष्ट देवता के भेद होने से, और याज्या तथा अनुवाक्या मन्त्रों के व्यत्यास के विधान से वचन के अनुसार ही देवता की पृथक्ता से प्रदान की पृथक्ता होती है । यज, ऐसा कहने पर जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसे (याज्या) कहते हैं, अनुब्रूहि, ऐसा कहने पर पढ़ा जाता है वह पुरोऽनुवाक्या कहाता है । यहाँ इस इष्टि में जो प्रथम पुरोडाश प्रदान में, (याज्या) रहता है, वह दूसरे प्रदान में, (पुरोऽनुवाक्या) होता है । जो प्रथम अनुवाक्या रहता है, वह फिर याज्या होता है, वह (व्यत्यासमन्वाह) इस श्रुति से विहित होता है । यदि एक बार तीनों पुरोडाश का प्रक्षेप हो तो यह व्यत्यास विधान निरर्थक होगा, इससे पृथक् प्रदान होता है । इसी प्रकार वायु प्राण तत्त्व के अभेद होते भी आध्येय अंश के पृथक् होने से आध्यात्म में पृथक्त्व होता है यह अर्थ है । वह संकर्षकाण्ड (देवकाण्ड) में कहा है कि (राजादि गुण के भेद से भेद ज्ञान होने से देवता नाना ही है) परन्तु इतना भेद है कि वहाँ द्रव्य और देवता के भेद से याग का भेद है, इस प्रकार यहाँ विद्या का भेद नहीं है । उपक्रम और उपसंहार से अध्यात्म अधिदेव उपदेशों में एक विद्या विधान की प्रतीति से विद्या की एकता है, और विद्या की एकता होते भी अध्यात्म अधिदेव के भेद से प्रयोग चिन्तनरूप प्रवृत्ति का भेद होता

है, जैसे कि सायं प्रातः काल के भेद से अग्निहोत्र का भेद होता है । अवस्थाभेद से देवता भेद होता है तथा प्रयोग भेद होता है इतना ही अश के अभिप्राय में प्रदानवत्, यह दृष्टान्त कहा गया है ॥ ४३ ॥

लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण (२९)

कर्मशेषा स्वतन्त्रा वा मनश्चि-प्रमुखानय । कर्मशेष प्रकरणात्लिङ्गं इत्यन्यायदर्शनम् ॥१॥
उत्प्रेषविधिगाल्लिङ्गादेव श्रुत्या च वाक्यतः । बाध्य प्रकरण तस्मात्स्वतन्त्र बहिर्चित्तनम् ॥२॥

यद्यपि मनश्चिदादि नामक काल्पनिक अग्नियाँ कर्म प्रकरण में पड़ी हुई हैं, तथापि लिङ्ग की अधिकता से स्वतन्त्र हैं, कर्माङ्ग नहीं हैं, जिससे प्रकरण से लिङ्ग बलीय होता है, वह पूर्वकाण्ड में कहा है । यहाँ संशय है कि मनश्चिदादि अग्नियाँ अग्निचयन प्रकरण में होने से कर्म के अङ्ग हैं वा स्वतन्त्र हैं । पूर्वपक्ष है कि प्रकरण से कर्माङ्ग हैं, यद्यपि स्वतन्त्रता का लिङ्ग है, वह प्रकरण से बली होता है, तथापि विधि वाक्यादिगत शब्द-सामर्थ्य रूप लिङ्ग बली होता है, और अर्थवादगत अन्यायदर्शन रूप लिङ्ग बली नहीं होता है, वह अन्य की स्तुतिमात्र के लिए रहता है, स्वतन्त्र नहीं, इसमें उस लिङ्ग से प्रकरण का बाध नहीं होता है । सिद्धान्त है कि जहाँ प्रत्यक्ष विधिवाच्य नहीं रहता है, वहाँ अर्थवाद से ही विधि उन्नेय (अनुमेय) होता है । यहाँ भी लिङ्गलोट आदि विधि का श्रवण नहीं है, इससे अर्थवाद से विधि की कल्पना होने से अर्थवाद विधि स्थानापन्न हो जाता है, इससे विधिगत लिङ्ग से ही, तथा (ते हन्ते विद्याचित एव) इस श्रुति से और वाक्य से प्रकरण बाधित हो जाता है । इससे स्वतन्त्र बहिर्चित्तन वर्तव्य है ॥ १-२ ॥

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्वि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

वाजमनेयिनोऽग्निरहस्ये—‘नैव वा इदमग्र मदामीन्’ इत्येनमिन् ब्राह्मणे मनोऽधिष्ठत्याधीयते ‘तत्पदग्निरात्महत्याप्यपश्यदात्मनोऽग्नीनामन्मनो-मयान्मनश्चिन्त’ इत्यादि । तथैव ‘वाक्चित्त प्राणचित्तश्चक्षुश्चित्त श्रोत्रचित्त कर्मचित्तोऽग्निचित्त’ इति पृथगग्नीनामनन्ति मापादिकान् । तेषु सगम्य—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छ्रेयभूता उत स्वमन्त्रा केवलविद्यात्मका—इति ।

वाजमनेयियों के अग्निरहस्य ग्रन्थ में (यह सब सब प्रथम नहीं था न जगत् ही था) इस ब्राह्मण ग्रन्थ में मन की सृष्टि की कहवार, फिर उस मन ने आत्मा को देखा, इस प्रकार दर्शनपूर्वक मन ही ने अग्नियों को देखा इस प्रकार मन को प्रगुप्त आरम्भ करने पड़ने है कि (मन ने मन से सम्पादित मनश्चिन्त अतएव मनोमय मनोवृत्ति में सम्पादित अर्ह, पूज्य छत्तीस हजार अपने सम्बन्धी अग्नियों को देखा) यहाँ मनुष्य के सौ वर्ष की आयु सम्बन्धी छत्तीस हजार दिन होते हैं, यद्यपि उन दिनों में मन की अनन्त

वृत्तियां होती हैं, तथापि दिन से परिमित वृत्तियों को छत्तीस हजार मान कर उनमें अग्निरूपता का दर्शन कहा गया है, इत्यादि । इसी प्रकार, वाक् ने वाक्चित् अग्नियों को देखा, प्राण (घ्राण) ने प्राणचित् को देखा । चक्षु ने चक्षुचित् को देखा, श्रोत्र ने श्रोत्रचित् को देखा, कर्मेन्द्रियों ने कर्मचित् को देखा । अग्नि (त्वक्) ने त्वक्चित् को देखा । इस प्रकार साम्पादिक (सम्पादन से सिद्ध) पृथक् अग्नियों का कथन करते हैं । वहाँ संशय है कि क्या ये अग्निचिदादि क्रिया में अनुप्रवेश वाले क्रतु के लिये और क्रतु (याग) के अङ्ग स्वरूप हैं, अथवा क्रियाङ्गता के विना स्वतन्त्र केवल विद्यात्मक हैं ।

तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजानीते लिङ्गभूयस्त्वादिति । भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन्ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेवामुपोद्वलयन्ति दृश्यन्ते 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इति, 'तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि । तद्वि लिङ्गं प्रकरणाद्वलीयः । तदप्युक्तं पूर्वस्मिन्काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्य प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इति ॥ ४४ ॥

वहाँ प्रकरण से क्रिया में अनुप्रवेश प्राप्त होने पर प्रथम स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा करते हैं कि लिङ्ग की अधिकता से ये स्वतन्त्र हैं । इस ब्राह्मण में बहुत ही लिङ्ग इनके केवल विद्यात्मकत्व को व्यक्त, सिद्ध करते हुए देखे जाते हैं । (वहाँ सब प्राणियों की मनोवृत्ति द्वारा मेरी ही अग्नियाँ सदा सम्पादित होती हैं । ऐसा ध्यान के दृढ़ होने पर सब प्राणी जो कुछ मन में संकल्प करते हैं, वह उन अग्नियों की ही कृति-करण है) एक लिंग यह है, क्योंकि क्रियांग की प्राणी के सङ्कल्प से सिद्धि नहीं देखी जाती है । (ऐसी उपासना वाला सोया हो वा जागा हो उसके इन अग्नियों का सम्पादन सदा सब प्राणी करते हैं) यह दूसरा लिंग है, जिससे नियतकालिक क्रियांग का सदा सबसे अनुष्ठेयत्व का असम्भव है । इस प्रकार के अन्य भी लिंग हैं, और वे लिंग प्रकरण से अति वली हैं, अतः पूर्वकांड में कहा है कि (श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के समवाय में अर्थ की विप्रकर्षता से पर में दुर्बलता होती है) ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

नैतद्युक्तं—स्वतन्त्रा एतेऽनयोऽनन्यशेषभूता—इति, पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवाय विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः । ननु प्रकरणा-ल्लिङ्गं वलीयः । सत्यमेवमेतत् । लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्वलीयो भवति, अन्यार्थदर्शनं ह्येतत्, सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात् । अन्यार्थदर्शनं चासत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते । तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽनयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः । मानसवत्, यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजा-

पतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानमान्येवाभ्यायन्ते । स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाकरणात्क्रियाशेष एव भवत्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

ये मनश्चिदादि अग्नियों स्वतन्त्र हैं अन्य के अङ्ग स्वरूप नहीं हैं, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त नहीं है, जिससे (इष्टकामिरग्नि चिनुने) ईंटा से अग्निचयन करे । इस प्रकार पूर्व क्रियामय अग्नि के प्रकरण होने से उस क्रियाविषयक ही यह विकल्प-विशेष का उपदेश (सकल्पमयनामक प्रकारविशेष का उपदेश) होगा, स्वतन्त्र नहीं हो सकता है । यदि कहो कि प्रकरण से लिङ्ग बलीय होता है । तो यह कहना सत्य है कि विधि-वाक्यगत ऋग बलीय होता है । परन्तु इस प्रकार का लिङ्ग भी प्रकरण से बली नहीं होता है, जिससे यह अन्यायक लिङ्गदर्शन है । क्योंकि साम्पादिक (कल्पित) अग्नियों का प्रशसारूपत्व इन लिङ्गों को है । अन्यायक दर्शन अन्य क्रियारूप प्राप्ति के नहीं रहने पर गुणवाद (प्रशसा) रूप से भी उपपन्न होता हुआ प्रकरण को वापने के लिए उत्साह नहीं करता है (समर्थ नहीं होता है) जिसमें साम्पादिक भी ये अग्निया प्रकरण से क्रिया में अनुप्रवेश (सम्बन्ध) वाली होगी ही, जैसे कि मानसग्रहादि क्रियानुप्रवेशी होने हैं । जैसे दशरथ व्रतु कर्म के दशम दिन में अविवाक्य (त्रिविध वाक्यरहित दशमाह्न) में पृथिवी रूप पात्र द्वारा प्रजापति रूप देवता के लिए गृह्यमाण (गृहीत) समुद्र रूप सोमरस के पात्र का ग्रहण, और गृहीत पात्र के स्थान में स्थापन रूप आसादन, सोमरस का हवा, वृत्त से शेष का ग्रहण रूप आहरण, उस शेष का भक्षण के लिए अनुज्ञा, अनुमति रूप आह्वान और भक्षण ये सब मानस कहे जाते हैं । यह मानस भी ग्रह (सोमपात्र) का कल्प (प्रकार) ग्रहणादि, क्रिया के प्रकरण में क्रिया का अंग होता है । इसी प्रकार यह भी अग्नि का प्रकार विशेष प्रकरण में कर्म का अंग है, यह सूत्रार्थ है । मानस ग्रह को विधायक श्रुति है कि (जनया त्वा पात्रेण समुद्र प्राजापत्य मनोग्रहं गृह्णाति) इस मूर्ति रूप पात्र में तुम समुद्र रूप प्रजापति देवता वाले मन से कल्पित ग्रह-सोमरस को अध्वर्यु ग्रहण करता है ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

अतिदेशश्चेपामग्नीना क्रियानुप्रवेशमुपोद्वलयति—'पट्विशालहस्ताभ्यग्नीनाऽकास्तेपामेवैक एव भानान्यावानमौ पूर्वं' इति । मति हि मामान्येऽतिदेश प्रवर्तते । ततश्च पूर्वोपेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निभापादिवानग्नीननिदिशन्क्रियानुप्रवेशमेवा धीनयति ॥ ४६ ॥

अतिदेश भी इन मानस अग्नियों के क्रिया में अनुप्रवेश को व्यक्त सिद्ध करता है (छत्तीस हजार पूज्य अग्नियों हैं, उनमें एक-एक अपनी शक्ति वाली हैं कि जितनी शक्तिवाली पूर्वं अग्नि है) यह अतिदेश है । समानता के रहते अतिदेश प्रवृत्त होता है । इसमें ईंटों में चिन (सपादिन) क्रियानुप्रवेशी (कर्मसम्बन्धी) पूर्वं अग्नि के साथ

साम्पादिक अग्नियों का अतिदेश करता हुआ (सादृश्य बोध कराता हुआ) वचन, इन साम्पादिकों के क्रिया में अनुप्रदेश का ही द्योतन (प्रकाशन) करता है ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽनयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः । तथाहि निर्धारयति—‘ते हैते विद्याचित एव’ इति, विद्यया हैवैत एवविदश्चिता भवन्ति, इति च ॥ ४७ ॥

तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि ये मनश्चिदादि रूप अग्नियाँ विद्यात्मक स्वतन्त्र ही हो सकती हैं, क्रिया के अङ्गरूप नहीं हो सकती हैं । जिससे इसी प्रकार श्रुति निर्धारण (निश्चय) कराती है कि (वे अग्नियाँ इस प्रसिद्ध विद्याचित रूप ही हैं) इति (इस प्रकार उपासना करने वाले की विद्या से ही ये अग्नियाँ सम्पादित होती हैं) ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

दृश्यते चैपां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम्, तत्पुरस्ताद्दर्शितम् ‘लिङ्गभूयस्त्वात्’ (ब्र० सू० ३।३।४४) इत्यत्र ॥ ४८ ॥

इनकी स्वतन्त्रता में लिङ्ग दीखता है, यह प्रथम दर्शित कराया गया है (लिङ्गभूयस्त्वात्) इस सूत्र में । इससे श्रुति, लिङ्ग और वाक्य से प्रकरण बाधित होता है ॥ ४८ ॥

ननु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य तत्करणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसितमिति, अत उत्तरं पठति—

यहाँ शंका होती है कि अन्य प्राप्ति के नहीं रहने पर लिङ्ग भी किसी अर्थ का साधक नहीं होता है, इससे उस लिङ्ग को त्याग कर प्रकरण के सामर्थ्य से प्रथम उक्त अग्नियों का क्रियाशेषत्व अव्यवसित (निश्चित) किया जा चुका है । इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो बाधितव्यः, श्रुत्यादेर्वलीयस्त्वात् । वलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे । तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते । कथम् ? श्रुतिस्त्वावत् ‘ते हैते विद्याचित एव’ इति । तथा लिङ्गम् ‘सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते’ इति । तथा वाक्यमपि ‘विद्यया हैवैत एवविदश्चिता भवन्ति’ इति । ‘विद्याचिते एव’ इति हि सावधारण्यं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशोऽमीषामभ्युपगम्यमाने पीडिता स्यात् । नन्वबाह्यसाधनत्वाभिप्रायमिदमवधानं भविष्यति । नेत्युच्यते । तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता स्वरूपसंकीर्तनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत्, स्वरूपमेव ह्येषामबाह्यसाधनमिति ।

अवाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत्क्रियानुप्रवेशशङ्काया तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भविष्यति । तथा 'स्वपते जाग्रते चैवविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येनानानीश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शनमेवा स्वातन्त्र्येऽवकल्पते । यथा सापादिके वाक्प्राणमयेऽग्निहोत्रे 'प्राण तदा वाचि जुहोति—वाच तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २।५) इति चोक्तवोच्यत—'एते अनन्ते अमृते आहुनी जाग्रच्च स्वपश्च सतत जुहोति' (कौपी० २।५) इति, तद्वत् । क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वेन न सातत्येनेषां प्रयोग कल्पेन । नचेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम् । यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङादिरूपलभ्यते युक्तं तत्र मकीर्तनमात्रस्यार्थवादत्वम् । इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धे सङ्कीर्तनादेवैषां विज्ञानविज्ञान कल्पनीयम्, तच्च यथासङ्कीर्तनमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव कल्पते । ततश्च सामर्थ्यादेवा स्वातन्त्र्यसिद्धिः । एतेन 'तद्यत्किञ्चैमानि भूतानि मनसा सकल्पयन्ति तेषामेव सा कृति' इत्यादि व्याख्यातम् । तथा वाक्यमपि 'एवविदे' इति पुरुषविशेषमन्वन्धमेवपामाचक्षाण न व्रतुमन्वन्ध मृष्यते । तस्मात्स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति ॥ ४९ ॥

श्रुति आदि के अधिक बली होने से इस प्रकार प्रकरण-सामर्थ्य से त्रियासेपत्व का निश्चय करके स्वतन्त्रतापक्ष बाध के योग्य नहीं है । जिसमें श्रुति, लिङ्ग, और वाक्य प्रकरण में अधिक बल वाले हैं, यह श्रुति-लिङ्गादि गूढ में स्थित (निश्चित) किया गया है । और वे श्रुति आदि प्रमाण यहाँ स्वतन्त्रता पक्ष को सिद्ध करते हुए दीर्घते हैं । जैसे दीर्घते हैं, यह कहा जाता है कि प्रथम तो श्रुति है कि (सो ये अग्नियों विद्या-चित्त ही हैं) इसी प्रकार लिङ्ग है कि (सोने हुए उपासक के भी इन अग्नियों का चयन सदा सब प्राणी करते हैं) इसी प्रकार वाक्य भी है कि (ऐसे उपासक की ये अग्नियाँ विद्या से हो चित्त होती हैं) और (विद्याचित्त ही होती हैं) यह अवधारण सहित श्रुति इनके क्रिया में अनुप्रवेश मानने पर पीड़ित (बाधित) होगी । यदि कहा जाय कि यह अवधारण अवाह्य साधनत्व के अग्निप्राय से हो सकता है कि बाह्य साधनों के बिना मन में ही इन अग्नियों का चयन होता है । तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं हो सकता है । जिसमें अवाह्य-साधनत्व मात्र की अग्निप्रायता होने पर, एवकार रहित, विद्याचित्त, इतना स्वल्प सङ्कीर्तन से ही अवाह्य-साधनत्व के वृत्तत्वं (सिद्धत्व) होने से अवधारण (एवकार) व्यर्थ ही होगा । जिसमें इन अग्नियों का स्वल्प ही बाह्यसाधन रहित ? । परन्तु बाह्य-साधनरहित होते भी मानसग्रह के समान त्रिया में अनुप्रवेश की शक्ता होने पर उसकी निवृत्ति रूप फलवाता अवधारण सार्यक होगा । इसी प्रकार (सोने जागते सब अवस्था में ऐसे विद्वान् के लिए सदा सब प्राणी इन अग्नियों का चयन करते हैं) यह सातत्य (सदावर्तमानत्व) का दर्शन इन अग्नियों की स्वतन्त्रता में युक्त मिथ होता है । जैसे कि वाक्प्राणमय अग्निहोत्र में (उस ध्यान-काल में प्राण को वाक् में हवन करता है, और ध्यान-काल में वाक् को प्राण में हवन करता है) और ऐसा कहकर

कहा जाता है कि (ये दोनों आहुतियाँ अनन्त और अमृत हैं, जागता हुआ और सोता हुआ सदा हवन करता है) इसी के समान मनश्चिदादि को सातत्य और स्वतन्त्रता है । क्रिया में अनुप्रवेश होने पर तो क्रिया प्रयोग (अनुष्ठान) के अल्पकालिकत्व से इनका सातत्य (निरन्तररूप) से प्रयोग नहीं सिद्ध हो सकता है । यह लिंग अर्थवादमात्र है, ऐसा कहना न्याय्य नहीं है । जिससे जहाँ विस्पष्ट-विधायक लिङ् लोट् आदि उपलब्ध होते हैं, वहाँ संकीर्तन मात्र को अर्थवादत्व युक्त है । यहाँ तो विस्पष्ट अन्य विधि की उपलब्धि नहीं होने से संकीर्तन से ही इन अग्नियों के विज्ञान (उपासना) का विधान (विधि) कल्पनीय है । वह विधान संकीर्तन के अनुसार ही कल्पित हो सकता है, इस कारण से सातत्य (नित्यता) के दर्शन से वैसी ही विधि की कल्पना की जाती है, और उस सातत्य विधि के सामर्थ्य से इन अग्नियों की स्वतन्त्रता की सिद्धि होती है और इस विधित्व से ही (ये प्राणी जो कुछ मन से संकल्प करते हैं, वह उन अग्नियों की ही कृति है) इत्यादि वचन भी व्याख्यात हो गये, अर्थात् ये भी विधि के कल्पक हैं (सदा सब प्राणी मेरे लिए अग्नि का चयन करें, मनन करें, कृति करें, इत्यादि विधि का स्वरूप होता है) । इसी प्रकार वाक्य भी (एवंविदे) यह, इन अग्नियों के पुरुष के साथ सम्बन्ध को ही कहता हुआ क्रतु के साथ सम्बन्ध को नहीं सहता है । इससे स्वतन्त्रतापक्ष ही अतिशेष्ट है ॥ ४९ ॥

अनुवन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

इतश्च प्रकरणमुपमृष्ट स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम्, यत्क्रियावयवान्मनआदिव्यापारेष्वनुवन्धाति 'ते मनसंवाचीयन्त मनसाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽज्ञांसन्यत्किञ्च यज्ञ कर्म क्रियेत यत्किञ्च यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेव क्रियते' इत्यादिना । संपत्फलो ह्ययमनुवन्धः, नच प्रत्यक्षाः क्रियावयवाः सन्तः सम्पदालिप्सितव्याः । चात्रोद्गीथाद्युपासनवत्क्रियाङ्गसम्बन्धात्तदनुप्रवेगित्वमाशङ्कितव्यं श्रुतिवैरूप्यात् । नह्यत्र क्रियाङ्गं किञ्चिदादाय तस्मिन्नदो नामाध्यवसितव्यमिति वदति । पट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्तिभेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति पुरुषयज्ञादिवत् । संख्या चेयं पुरुषायुपस्याहःसु दृष्टा सती तत्सम्बन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम् । एवमनुवन्धात्स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम् । आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासम्भवं योजयितव्यम् । तथाहि—'तेषामेकैक एव तावान्यावानसी पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्यातिदेशनक्रियायामनादरं दर्शयति । नच सत्येव क्रियासम्बन्धे विकल्पः पूर्वोक्तोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम् । नहि येन व्यापारेणाहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुपकरोति तेनोत्तरे उपकृतुं शक्नुवन्ति । यस्तु—पूर्वपक्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तत—इति, तदस्मत्पक्षेऽप्य-

ग्नित्वसामान्येनानिदेशमम्भवात्प्रत्युक्तम् । अस्ति हि मापादिकानामप्यग्नी-
नामग्नित्वमिति । श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि । एवमनुबन्धादिभ्य
कारणेभ्य स्वानन्त्य मनश्चिदादीनाम्, प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् । यथा प्रज्ञान्ते-
राणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुपध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्य
प्रज्ञान्तरेभ्यदच स्वतन्त्राणि भवत्येवमिति । दृष्टश्चावेष्टे राजसूयप्रकरणपठि-
ताया प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राजयज्ञत्वाच्च राजसूयस्य । तदुक्तं प्रथमे
काण्डे—‘ऋत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयमयोगान्’ (जे० सू० ११।४।७)
इति ॥ ५० ॥

सम्पत् उपासना के लिये मन की वृत्तियों में क्रिया के अङ्गा की योजना (सम्बन्ध-
चिन्तन) को यहाँ अनुबन्ध कहते हैं, उस अनुबन्ध से और पूर्वोक्त हेतुओं में अन्य
विद्याओं की पृथक्ता के समान मनश्चिदादि को स्वतन्त्रता है । जैसे कि अवेष्टि का
प्रकरण में उत्कर्ष (विभाग) देखा गया है वैसे ही इन अग्नियों का प्रकरण में विभाग
होता है । वह पूर्व मीमांसा में कहा है । यह सक्षिप्त सूत्राक्षरायें हैं ।

इमं वक्ष्यमाणं हेतुं से भी प्रकरणं बुद्धिं को नष्ट करके (प्रकरण की प्रधानता को
त्याग कर) मनश्चिदादि की स्वतन्त्रता को समझना चाहिये । कि जिससे क्रिया के
अवयवों को मन आदि के व्यापारों (वृत्तियों) में श्रुति अनुबन्ध (सम्बन्ध) करती है
कि (उन अग्नियों का मन में ही आधान किया जाता है वा करे) मन से ही इंटों का
चयन होता है वा कर्त्तव्य है । मन में ही ग्रह (पाप) गृहीत होते हैं । उद्गाता मन से
स्तुति करते हैं, होता मन से ही शसन, कथन करते हैं । अन्य भी जो कुछ यज्ञ में
कर्म किया जाता है, और जो यज्ञीय-यज्ञ के स्वरूप को सिद्ध करने वाला कर्म है वह सब
उन मनोमय मनश्चित्तों में मन में ही मनोमय ही किये जाते हैं) इत्यादि वचनां से
श्रुति अनुबन्ध करती है । यह अनुबन्ध सम्पत् फल वाला (उपासनाथक) है,
वर्मावयवों का मनोवृत्ति में सम्पादन कल्पना करके चिन्तन के लिये है । यहाँ क्रिया में
सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष क्रिया के अवयवों के रहते, वे क्रिया के अवयव सम्पत् के
द्वारा कल्पना में लाम की इच्छा के विषय नहीं हो सकते हैं । यदि कहा जाय कि मन
का वृत्तियों में अग्नि के ध्यान को क्रिया के अङ्गत्व नहीं होने पर भी उद्गीथ के ध्यान
के समान क्रिया के अङ्गरूप मन के आश्रितत्व होगा, तो कहा जाता है कि उद्गीथादि
उपासना के समान क्रियाङ्ग के माय सम्बन्ध से उस क्रिया में अनुप्रवेशित्व की आगच्छा
श्रुति की विस्मयता में नये करने योग्य है । जिसमें मन स्वाम क्रिया का अंग नहीं है,
और किसी उक्त समान विशेष क्रिया के अङ्ग को ग्रहण करके उसमें अमुक नाम
वाचे का अध्यवसान (निश्चय) करना । इस प्रकार यहाँ श्रुति नहीं कहती है, किन्तु
क्रिया के अनङ्गरूप छत्तीग हजार मन की वृत्ति भेदा का ग्रहण कर के, उन में अग्नित्व
को और ग्रह आदि की कल्पना करती है । जैसे कि यज्ञ में मित्र पुण्य में यज्ञत्व की

स्वतन्त्र कल्पना होती है, वैसे ही यह स्वतन्त्र कल्पना है। पुरुष की आयु सम्बन्धी दिनों में देखी गई हुई यह संख्या उन दिनों के सम्बन्धी मन की वृत्तियों में आरोपित की जाती है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार अनुबन्ध से मनश्चिदादि को स्वतन्त्रता है। मृगगत आदि शब्द से अतिदेशादि की भी सम्भव के अनुसार योजना करनी चाहिये। जिससे (उन मनश्चिदादि अग्नियों में एक एक की उतनी महिमा है, कि जितनी पूर्व अग्नि की है) इस प्रकार क्रियामय अग्नि की महिमा का ज्ञानमय अग्नियों के एक-एक में अतिदेश करता हुआ वचन क्रिया में अनादर को दर्शाता है। यदि कहो कि अनादर का प्रदर्शन के लिए अतिदेश नहीं है किन्तु विकल्प के लिए है, तो कहा जाता है कि यहाँ विकल्प हो नहीं सकता है, तुल्योपकारक यव और ब्रीहि में विकल्प होता है। यहाँ आहवनीय वस्तु के धारणादिरूप जिस व्यापार द्वारा ईंटों से चित्त पूर्व अग्नि क्रिया में उपकार करती है, उस व्यापार के द्वारा उत्तर के मनश्चिदादि अग्नियाँ क्रिया में उपकार कर नहीं सकती हैं, इससे मनश्चिदादि का क्रिया में संबन्ध होने और रहने पर भी पूर्व अग्नि के साथ उत्तर अग्नियों का विकल्प नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् एक साध्य में निरपेक्ष दो साधनों को यव और ब्रीहि के समान विकल्प होता है। यहाँ क्रिया रूप अग्नि और ध्यान रूप अग्नियों के साध्य (कार्य) के भेद होने से विकल्प नहीं हो सकता है। जो यह कहा या कि पूर्वपक्ष में अतिदेश उद्बोधक है, जिससे समानता के रहने पर अतिदेश प्रवृत्त होता है, इससे साम्पादिक अग्नियों में क्रियाङ्गत्व रूप सामान्यता से अतिदेश है। सो हमारे पक्ष में भी अग्नित्वरूप समानता से अतिदेश के सम्भव होने से प्रत्युक्त (निराकृत) है जिससे साम्पादिक अग्नियों का भी अग्नित्व सामान्य है। अपने पक्ष में श्रुति आदि रूप कारण (प्रमाण) दर्शायी गये हैं। इस प्रकार अनुबन्धादि (अनुबन्ध, श्रुति, लिङ्ग, और वाक्य) रूप कारणों से, प्रज्ञान्तर (ज्ञानान्तर) की पृथक्ता के समान मनश्चिदादि को भी स्वतन्त्रता है। जैसे प्रज्ञान्तररूप शाण्डिल्य विद्या आदि अपने-अपने अनुबन्ध (मुख्य विषय) में अनुबध्यमान (सम्बद्ध निरूपित) होकर कर्मों से और प्रज्ञान्तरों से पृथक् स्वतन्त्र ही होते हैं, इसी प्रकार अग्निचिदादि कर्म से पृथक् स्वतन्त्र है। इस अवस्था में मनश्चिदादि का कर्म प्रकरण से उत्कर्ष (उद्धार, विभाग) होगा। राजभूय प्रकरण में पठित, अवेष्टि नामक इष्टि का प्रकरण से उत्कर्ष देखा गया है। जिससे अवेष्टि का तीनों वर्ण के साथ सम्बन्ध है, और राजभूय को राजयज्ञत्व है, इससे अवेष्टि का उद्धार करना पड़ता है। यह प्रथमकाण्ड में कहा है कि (अवेष्टि का अनुष्ठान कहाँ होना चाहिये यदि कहा जाय कि राजभूय के प्रकरण में पढ़ी हुई है, इसलिए क्रतुरूपराजभूय के अन्तर्गत इष्टि में ही इसका अनुष्ठान होना चाहिए तो यह नहीं हो सकता है, क्योंकि अवेष्टि में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों का सम्बन्ध है। इससे राजभूय से बाह्य अन्नादि की इच्छा वाले तीन वर्णकर्तृक अवेष्टि समझना चाहिये) यह (एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्) इत्यादि वचन से विहित है ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धवेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

यदुक्तं मानसवदिति तत्प्रत्युच्यते । न मानसग्रहमामान्यादपि मनश्चिदादीना क्रियाशेषत्व कल्प्यम् । पूर्वोक्तैभ्य श्रुत्यादिहेतुभ्य केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धे । नहि किञ्चित्काम्यचित्केनचित्सामान्यं न सम्भवति । नच तावता यथास्व वैषम्यं निवर्तते मृत्युवत् । यथा 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतन्मिन्मण्डले पुरुष' इति 'अग्निर्वै मृत्यु' (बृ० ३।२।१०) इति चाग्न्यादित्यपुरुषयो ममानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसाम्यापत्तिः । यथा च 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव ममि' (छा० ५।४।१) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकाग्न्याग्निभावापत्तिस्तद्वत् ॥ ५१ ॥

जो यह भी कहा था कि मानसग्रह के समान मनश्चिदादि को मानसत्व होते ब्रह्मत्वं होना, उसके प्रति कहा जाता है कि मानस ग्रह को समानता से भी मनश्चिदादि के क्रियाशेषत्व कल्पना के योग्य नहीं हैं, जिसमें पूर्वोक्त श्रुति आदि रूप हेतुओं से केवल पुरुषार्थत्व की उपलब्धि होती है, इससे मनश्चिदादि ब्रतु के शेष (अङ्ग) हो नहीं सकते हैं । किसी को किसी के साथ कुछ भी सामान्य (तुल्यता) नहीं हो, ऐसा सम्भव नहीं है । सबको सबके साथ कुछ न कुछ समता रहती ही है, परन्तु उस समता से स्वस्वरूप के अनुसार मृत्यु के समान विषमता नहीं निवृत्त होती है । जैसे (वह यही मृत्यु है, जो यह इस मण्डल में पुरुष है) यह, और (अग्नि ही मृत्यु है) यह, वचनों से अग्नि आदित्य पुरुष में मृत्यु शब्द के प्रयोग के तुल्य होने भी, अत्यन्त तुल्यता की प्राप्ति नहीं होती है । जैसे (हे गौतम ! वह छुलोक ही अग्नि है, और उसके आदित्य ही समि' हैं) यहाँ समिदादि की समानता से लोक को अग्निभाव (अग्निरूपता) की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही ग्रह और मनश्चिदादि अग्निषो में मानसत्व के तुल्य होने भी कर्म-सम्बन्धित्व और असम्बन्धित्व रूप विषमता नहीं निवृत्त होती है ॥ ब्रतु अर्थत्व, पुरुष अर्थत्व रूप विषमता रहते भी मानत्व दोनों में तुल्य है, यह भाव है ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्य भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चित' इत्येतस्मिन्नन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्य केवलविद्याविधित्व शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम् । तत्र हि—

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामा परागता ।

न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥

इत्यनेन श्लोकेन केवल कर्म निन्दन् विद्या च प्रशमन्निदं गमयति तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन्ब्राह्मणे विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते 'सोऽमृतो भवति मृत्युर्यस्यात्मा भवति' इति विद्याफलैर्नैवोपमहारान्त

कर्मप्रधानता तत्सामान्यादिहापि तथात्वम् । भूयांसस्त्वग्न्यवयवाः संपादयितव्या विद्यायामित्येतस्मात्कारणादग्निनानुवध्यते विद्या न कर्माङ्गत्वात् । अस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्वसिद्धिः ॥ ५२ ॥

पूर्व और उत्तर ब्राह्मण में स्वतन्त्र विद्या के विधान से मध्यगत इस अग्निचिद् ब्राह्मण में भी स्वतन्त्र विद्या का विधान है, इस आशय से कहते हैं कि परस्तात्, आगे भी (यही लोक यह अग्नि चित—साम्पादितानि है) इस अनन्तर ब्राह्मण में केवल विद्या का विधित्व रूप तद्विधिता शब्द का प्रयोजन लक्षित (दृष्टिगत) होता है, और शुद्ध कर्म का अंग-विधित्व (उपासना रहित कर्माङ्ग-विधित्व) नहीं लक्षित होता है, जिससे वहाँ पर (जहाँ काम परागत, परावृत्त होते हैं । काम-क्रोधादि दोष जहाँ नहीं है, उस ब्रह्मलोक रूप स्थान को विद्या से प्राप्त करते हैं और वहाँ केवल कर्मी वा विद्या रहित तपस्वी नहीं जाते हैं) इस श्लोक से केवल कर्म की निन्दा करके विद्या की प्रशंसा करता हुआ यह ब्राह्मण विद्या की प्रधानता को समझाता है । इसी प्रकार पूर्व में भी (जो यह मण्डल तपता है) इस ब्राह्मण में विद्या की ही प्रधानता लक्षित होती है (वह अमृत होता है मृत्यु जिसका आत्मा होता है) इस प्रकार विद्या के फल द्वारा ही उपसंहार से कर्म-प्रधानता नहीं है, उस पूर्वोत्तर ब्राह्मण की समानता से इस मध्यगत ब्राह्मण में भी कर्म की प्रधानता नहीं है । किन्तु विद्या की प्रधानता है । इस प्रकार विद्या की प्रधानता होते भी इसका क्रियाग्नि के साथ पाठ में यह कारण है कि अग्नि के बहुत अवयव विद्या में सम्पादनीय (कल्पनीय) होते हैं, इस कारण से विद्या अग्नि के साथ अनुबद्ध (सम्बद्ध, पठित) होती है, कर्माङ्गत्व से नहीं । इससे मनश्चिदादि को केवल विद्यात्मकत्व की सिद्धि होती है ॥ ५२ ॥

ऐकात्म्याधिकरणम् (३०)

आत्मा देहस्तदन्यो वा चैतन्यं मदशक्तिवत् । भूतमेलनजं देहे नान्यत्रात्मा वगुस्ततः ॥
भूतोपलब्धिर्भूतेभ्यो विभिन्ना विषयित्वतः । सैवात्मा भौतिकादेहादन्योऽसौ परलोकभाक् ॥

(एके)—एक चार्वाकानुयायी कहते हैं कि (शरीरे सति) शरीर के रहते, (आत्मनः, जीवात्मनः चैतन्यस्य) जीवात्मा रूप चेतनता के, (भावात्) सत्त्व से—रहने से शरीर आत्मा है, शरीर से अतिरिक्त स्वर्गापवर्ग का भागी जीवात्मा नहीं है, इससे स्वर्गापवर्गाधिक कर्म विद्या का विचार व्यर्थ है ॥ यहाँ संशय है कि देह आत्मा है वा इससे अन्य है, पूर्वपक्ष है कि गुड-महुआ आदि के मिलने से मदशक्ति के समान भूतों के संमेलन से जन्य देह में चैतन्य होता है, जिससे देह से अन्य आत्मा नहीं है, किन्तु वपु (देह) आत्मा है । सिद्धान्त है कि विषयी (प्रकाशक) होने के कारण भूतात्मक देह की उपलब्धि (ज्ञान) देह से पृथक् है, घट से भिन्न दीपक घट को प्रकाशता है, घट ही घट को नहीं प्रकाशता है, वैसे ही देह ही देह को नहीं जानता

है, किन्तु देह से मिल आत्मा देह को जानता है, और दीप के समान स्वयं प्रकाश है, इससे वही आत्मा भौतिक देह से अन्य है, वह परलोक का भागी है, इससे कर्मादि का विचार ठीक सार्थक है ॥ १-२ ॥

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

इह देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाधिकारमिद्वये । न ह्यमति देहव्यतिरिक्तात्मनि परलोकफलाश्चोदना उपपद्येरन्कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत । ननु शास्त्रप्रमुखा एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुक्तम् । मत्यमुक्त भाष्यकृता ननु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति । इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदस्तित्वमाशेषपुर मर प्रतिष्ठापितम् । इत एव चाकृष्याचार्येण श्वरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम् । अत एव च भगवतोपचर्येण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शरीरके वक्ष्याम इत्युद्धार कृत । इह चेद चोदनालक्षणेपूपामनेषु विचार्यमाणेष्व्वात्मास्तित्व विचार्यते कृत्स्नशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय । अपिच पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्तरपरिभ्युपगमेन मनश्चिदादीना पुरापार्यत्व वर्णित, कोऽनौ पुरपो यदर्थो एते मनश्चिदादय इत्यस्या प्रसक्ताविद देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते । तदस्तित्वाक्षेपाय चेदमादिम सूत्रम् । आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यानेन दृढा बुद्धिमुत्पादयेदिति । अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभाव मन्यमाना समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चेतन्य शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति सभाष्यन्तस्तेभ्यश्चेतन्य मदशक्तिवद्विज्ञान चैतन्यविशिष्ट काय पुरण इति चार्तु । न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्मास्ति यत्कृत चेतन्य देहे स्यात्, देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रतिजानते, हेतु चाचक्षते शरीरे भावादिति । यदि यस्मिन्मति भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते यथाऽग्निधर्मादीण्यप्रकाशौ । प्राणचेष्टाचेतन्य-स्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमत आत्मवादिना, तेष्वन्तरेव देह उपलभ्यमाना वहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरेके धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति । तन्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति ॥ ५३ ॥

यहाँ इस अधिकरण में बन्ध और मोक्ष के अधिकार (कर्मोपासनादि) की सिद्धि के लिए देह से अनिरिक्त (मित्र) आत्मा के सद्भाव (मत्ता) का समर्थन (प्रतिपादन) किया जाता है । जिसमें देह से मित्र आत्मा के नहीं रहने पर परलोक रूप फलवालो विधिमां सब नहीं उपपन्न हो सकती हैं, जबवा देह-मित्र आत्मा के नहीं रहने पर किसको ब्रह्मात्मत्व (ब्रह्मस्वरूपता) का उपदेश दिया जायगा । यहाँ पुनरुक्ति की

शका होती है कि पूर्वमीमांसा शास्त्र के आरम्भ में ही प्रथम पाद में शास्त्रोक्त फलों के उपभोग के योग्य देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व (सत्त्व) कहा गया है । उत्तर है कि सत्य ही कहा गया है, परन्तु भाष्यकार ने देह से अतिरिक्त आत्मा का कथन किया है, आत्मा के अस्तित्व-विषयक (अस्तित्व का प्रतिपादक) सूत्र वहाँ नहीं है । यहाँ तो स्वयं सूत्रकार ने ही उस देह से अतिरिक्त आत्मा का आक्षेपपूर्वक उसके अस्तित्व का प्रस्थापन (निरूपण) किया है । यहाँ ही से आकर्षण करके आचार्य शबर-स्वामी (भाष्यकार) ने प्रमाण लक्षण (अध्याय) में देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का वर्णन किया है । अतएव, वहाँ सूत्र के अभाव से, और यहाँ सूत्रकार ने निरूपण किया है इसीसे पूर्वमीमांसा में आत्मा के अस्तित्व के कथन के प्रसंग के आने पर, भगवान् उपवर्ण ने कहा है कि इस विषय को शरीरक में कहेंगे, और ऐसा कह कर उद्धार (उपरमनिवृत्ति) किया । यहाँ आत्मास्तित्व में सम्पूर्ण शास्त्र के शेषत्व का प्रदर्शन के लिए चोदना (विधि) रूप लक्षण (प्रमाण चिह्न) वाले उपासनों के विचारित होने पर आत्मास्तित्व का विचार किया जाता है । दूसरी बात है कि पूर्व अधिकरण में क्रतु प्रकरण से उपासना के उत्कर्ष को मान कर मनश्चिदादि का पुरुषार्थत्व वर्णित हुआ है । वहाँ कौन वह पुरुष है कि जिसके लिए ये मनश्चिदादि हैं, ऐसी प्रसक्ति आकांक्षा होने पर, यह देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व कहा जाता है । उस अस्तित्व के आक्षेप के लिए यह प्रथम सूत्र है । यह इसलिए है कि आक्षेपपूर्वक परिहार कथन, स्थूणानिखनन न्याय से विवक्षित अर्थविषयक दृढ़ बुद्धि को उत्पन्न करेगा ॥ यहाँ कोई देहमात्र को आत्मा समझने वाले लोकायतिक (चार्वाक) देह से भिन्न आत्मा के अभाव को मानते हुए समस्त वा व्यस्त पृथ्वी आदि बाह्य पदार्थों में अदृष्ट चैतन्य को भी शरीराकार से परिणत भूतो में चैतन्य हो सकता है, ऐसी सम्भावना करते हुए और मदशक्ति के समान उन भूतों से ही संघातजन्य चैतन्य रूप विज्ञान होता है, और चैतन्ययुक्त काय (देह) पुरुष (आत्मा) है इस प्रकार कहते हैं । स्वर्ग में गमन के लिए वा अपवर्ग की गति-प्राप्ति के लिए समर्थ देह से भिन्न आत्मा नहीं है कि जिसका किया हुआ देह में चैतन्य होगा, देह ही तो चेतन है और आत्मा है, ऐसी प्रतिज्ञा वे लोग करते हैं । उस प्रतिज्ञा में, शरीरे मावात्, यह हेतु कहते हैं, जिससे जो जिसके रहते रहता है, जिसके नहीं रहने पर जिसका अभाव होता है, वह उसके धर्म रूप से अध्यवसित (निश्चित) किया जाता है । जैसे कि अग्नि के धर्म रूप उष्णता और प्रकाश निश्चित होते हैं । आत्मवादियों के आत्मा के धर्म रूप से माने गये जो प्राण, चेष्टा, चैतन्य, स्मृति आदि हैं, वे भी देह के अन्दर ही उपलभ्यमान (प्रत्यक्ष अनुभूत) होते हुए और बाहर अनुपलभ्यमान होते हुए, देह से भिन्न धर्मी के असिद्ध रहते देह के धर्म ही होने के योग्य हैं । जिससे देह से आत्मा को अन्यतिरेक (अभेद) है, अर्थात् देह ही आत्मा है ॥ ५३ ॥

एव प्राप्ते ब्रूम —

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वात् तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

नत्वेतदस्ति यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मन इति । व्यतिरेक एवास्य देहा-
द्भवितुमर्हति तद्भावाभावित्वात् । यदि देहभावे भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणा
मन्येत ततो देहभावेऽप्यभावादतद्वर्त्मत्वमेवैषा किं न मन्येत, देहधर्मवैलक्षण्यात् ।
ये हि देहधर्मा रूपादयस्ते यावद्देह भवन्ति । प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे
मृतावस्थाया न भवन्ति । देहधर्माश्च रूपादय परेरप्युपलभ्यन्ते न त्वात्मधर्मा-
श्चेतन्यम्भृत्यादय । अपिच सति हि तावद्देहे जीवदवस्थायामेवा भाव शक्यते
निश्चेतुं न त्वमत्यभाव, पतितेऽपि कदाचिदस्मिन्देहे देहान्तरसंचारेणात्मधर्मा
अनुवर्तन् । सशयमात्रेणापि परपक्ष प्रतिपिध्यते, किमात्मकं च पुनरिदं
चेतन्य मन्यते यस्य भूतेभ्य उत्पत्तिमिच्छतीति परं पर्यनुयोक्तव्य । नहि
भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण लोकायतिकं किञ्चित्त्वं प्रत्येति । यदनुभवतः भूतभौ-
तिकानां तच्चेतन्यमिति चेत् । तर्हि विषयत्वात्तत्त्वा न तद्वर्त्मत्वमशुवीत
स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, नह्यग्निरण्णं सन् स्वात्मानं दहति, नहि नट-
शिक्षितं मन्स्वस्वन्धमधिरोधयति, नहि भूतभौतिकधर्मेण सत्त्वा चेन्नन्येन
भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन्, नहि रूपादिभिः स्वरूपं पररूपं वा विषयी-
क्रियते । विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चेतन्येन । अतश्च
यथैवास्या भूतभौतिकविषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यते एव व्यतिरेकोऽप्य-
स्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः । 'उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मे'त्यात्मनो देह-
व्यतिरिक्तत्वम्, नित्यत्वं चोपलब्धेरैकरूप्यात्, अहमिदमद्राक्षमिति चाव-
स्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्, स्मृत्याद्युपपत्तेश्च । यत्तत्-शरीरे
भावाच्छरीरधर्मं उपलब्धि — इति, तद्वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम् । अपि च
मत्सु प्रदीपादिपूषकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति । नचेतावता प्रदीपादिधर्मं
एवोपलब्धिर्भवति । एव सति देहे उपलब्धिर्भवत्यसति च न भवतीति न देहधर्मो
भवितुमर्हति, उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद् देहोपयोगोपपत्तेः । न चात्यन्तं
देहस्योपपन्नप्राप्त्युपयोगोऽपि दृश्यते निश्चेष्टेऽप्यस्मिन्देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धि-
दर्शनात् । तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम् ॥ ५४ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अन्वय और व्यतिरेक से चेतन्य को देह का धर्म मान कर देह में आत्मा को
पूर्वपक्षी ने अभिन्न कहा है, यहाँ अन्वय और व्यतिरेक को असिद्धि को दर्शाते हुए, देह
से आत्मभेद को दर्शाते हुए, देह की उपलब्धि (ज्ञान) के समान अन्य ज्ञानादि में भी
देह-धर्मत्व के अभाव को दर्शाते हैं कि जो देह से अव्यतिरेक (अनेक) को कहा है,
यह तो नहीं है, इस आत्मा का देह में व्यतिरेक (भेद) ही होने योग्य है, क्योंकि

उस देह के भाव (सत्ता) रहते भी आत्मा के चैतन्यादि धर्मों का मृतक दशा में अभाव रहता है, इससे अन्वय का अभाव है। यदि जीवन काल में देह के रहते चैतन्यादि के रहने से चैतन्यादि देह के धर्म माने जायें, उन्हें तुम देह के धर्म मानो। तो देह के रहते भी उन चैतन्यादि के अभाव से, इन चैतन्यादि को देह-धर्मत्व का अभाव क्यों नहीं माना जायगा, वा तुम क्यों नहीं मानोगे। देहधर्म-विलक्षणता से ऐसा मानना होगा। जिससे जो रूपगन्धादि देह के धर्मविशेष हैं, वह जवतक देह रहती है तवतक रहते हैं। प्राण-चेष्टादि तो मृतक अवस्था में देह के रहते भी नहीं रहते हैं। देह के धर्मरूपादि अन्य से भी उपलब्ध होते हैं, अन्य लोग भी देह के धर्मों को जानते हैं। और आत्मा के चैतन्य-स्मृति आदि अन्य से नहीं उपलब्ध होते हैं। दूसरी बात है कि जीवन अवस्था में देह के रहते इन चैतन्यादि के भाव का निश्चय कर सकते हैं, परन्तु देह की अभाव दशा में उनके अभाव का निश्चय नहीं कर सकते हैं। कभी सामने इस देह के पतित, नष्ट होने पर भी देहान्तर में संचार (गमन) के द्वारा आत्मा के धर्म अनुवर्तमान रहेंगे, अर्थात् व्यतिरेक सन्दिग्ध है, मरने पर अज्ञ की अनुपलब्धि से आत्मा की वा उसके धर्मों के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। संशय मात्र से भी परपक्ष का प्रतिषेध किया जाता है, अर्थात् संचार द्वारा आत्म-धर्म की वर्तमानता का निश्चय नहीं होते भी व्यतिरेक का निश्चय भी नहीं हो सकता है। वह देहात्मवादी किमात्मक किस स्वरूप वाला इस चैतन्य को मानता है। अर्थात् भूतों से अतिरिक्त मानता है, वा भूतों के गुण मानता है, कि जिसकी भूतों से उत्पत्ति चाहता है और मानता है, इस प्रकार वह वादी प्रयन्नुयोक्तव्य (प्रश्नाहं) है। यहाँ चार भूत से अतिरिक्त रूप से किसी तत्त्व को तो लोकायतिक मानता नहीं है। यदि कहें कि जो भूत भौतिक पदार्थों का अनुभव है वह चैतन्य है, तो उन भूत भौतिकों को चैतन्य (अनुभव) के विषय होने से, उन भूतात्मक देह के धर्मत्व को वह चैतन्य नहीं प्राप्त कर सकता है, जिससे स्वात्मा में स्वक्रियाविषयत्व का विरोध होता है। अर्थात् भूतात्मक देह ही जानने वाला विषयी प्रकाशक हो, और वही विषय हो प्रकाशा जाय, यह विरुद्ध है। जिससे अग्नि उष्ण होती हुई अपने को नहीं जलाती है। नट शिक्षित होता हुआ भी अपने कन्वे पर नहीं चढ़ता है। इसी प्रकार भूत भौतिक के धर्म होते हुए चैतन्य से भूत भौतिक विषय (प्रकाशित) नहीं किये जा सकेंगे। जिससे भूत भौतिक के धर्म रूपादि से अपना रूप वा अन्य का रूप विषय नहीं किया जाता है। चैतन्य से तो बाह्य और आध्यात्मिक भूत भौतिक विषय विषय किये जाते हैं। इससे ही जैसे इस भूत भौतिक विषय वाली उपलब्धि का भाव (सत्त्व) माना जाता है, इसी प्रकार इसका भूत भौतिकों से व्यतिरेक (भेद) भी मानना चाहिये। उपलब्धि स्वरूप ही हमारा अमीष्ट आत्मा है, इससे आत्मा को देह से भिन्नता है, और सर्वत्र एक स्फुरण-रूपता से उपलब्धि को नित्यता है। मैंने इसको देखा था, इस प्रकार देह के अवस्थान्तर के योग होने पर भी उपलब्धा

(ज्ञाता) रूप से प्रत्यभिज्ञा होने से, और स्मृति आदि की उपपत्ति से भी देह से भिन्न उपलब्धि रूप आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है । जो यह कहा था कि शरीर में होने से शरीर के रहते होने से शरीर का धर्म उपलब्धि है, वह वर्णित रीति से प्रत्युक्त (निराकृत) हुआ और दीपक आदि उपकरण (साधन) के रहते उपलब्धि होती है, नहीं रहते नहीं होती है, परन्तु इससे प्रदीपादि का धर्म ही उपलब्धि नहीं होता है, इसी प्रकार उपकरण मात्र से भी प्रदीपादि के समान देह के उपयोग (फल) की उपपत्ति से देह के रहते उपलब्धि होती है, देह के नहीं रहने पर नहीं होती है । इससे देह का धर्म नहीं होने योग्य है । देह के चेशरहित होते भी स्वप्न में नाना प्रकार की उपलब्धि को देखने से देह का उपलब्धि में अत्यन्त उपयोग भी नहीं देखा जाना है । जिससे देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व निर्दोष है ॥ ५४ ॥

अङ्गावबद्धाधिकरणम् (३१)

उक्त्यादिषो स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत् । सान्निध्यात्स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासौव्यवतिष्ठते ॥
उक्तयोद्गीयादिमामान्य तत्तच्छब्दे प्रतीयते । श्रुत्या च सनिर्घर्षास्ततोऽन्यत्रापि यात्यसौ ॥
कर्माङ्ग रूप उक्त्य-उद्गीय आदि के आश्रित उपासनायें प्रत्येक वेद में अपनी-अपनी शाखा में वर्तमान उद्गीयादिविषयक ही नहीं होती हैं, किन्तु शाखान्तरवर्ती उक्त्यादिविषयक भी होती हैं । जिससे 'उद्गीयमुपासीत' इत्यादि श्रुति सामान्य अर्थ को बाध कराती है । हि शब्द श्रुतिरूप हेतु का बोधक है, और तु शब्द सान्निध्यनिमित्तक पूर्वपक्ष का वारक है । सशय है कि उक्त्यादि की बुद्धि (उपासना) अपनी शाखा के अङ्ग अवयव रूप उक्त्यादिविषयक ही होगी अथवा अन्यत्र (अन्यविषयक) भी होगी । पूर्वपक्ष है कि अपने लिये अपनी शाखागत उक्त्यादि सन्निहित होने हैं, अथ शाखागत दूर होते हैं, इससे सान्निध्य (समीपता) से वह उपासना अपनी-अपनी शाखाओं के अङ्गों में (अङ्गविषयक) ही व्यवस्थित है सिद्धान्त है कि (उक्त्यमुपासीत) इत्यादि विधि आदि गत उक्त्यादि तत्तत् शब्दों से शाखादि कृत भेदरहित उक्त्यादि सामान्य अर्थ प्रतीत होते हैं । श्रुति सन्निधि रूप स्थान का बोध होना है, इससे वह बुद्धि अन्यत्र भी प्राप्त होती है ॥ १-२ ॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

समाप्ता ग्रामङ्गिकी कथा, सप्रति तु प्रकृतान्मेवानुवर्तमहे—'ओमित्येव-
क्षरमुद्गीयमुपासीत' (छा० १।१।१) 'लोकेषु पञ्चविध सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'उक्त्यमुक्त्यमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्त्यम्', 'इयमेव पृथिवी', 'अथ वाव लोक एषोऽग्निश्चित' इत्येवमाद्या य उद्गीयादिकर्माङ्गावबद्धा प्रत्यया प्रतिवेद शाखाभेदेषु विहितान्ते तत्तच्छाखागतेष्वेवोद्गीयादिषु भवेयुर-
थवा सर्वशाखागतेष्विति विशय ॥ प्रतिशाय च स्वरादिभेदादुद्गीयादिभेदा-
नुपादायायमुपन्यास । किं तावत्प्राप्तम् । स्वशाखागतेष्वेवोद्गीयादिषु विधीयेरन्निति । कुत ? सनिधानात् । 'उद्गीयमुपासीत' (छा० १।१।१) इति

हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां संनिवृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः, तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति, तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति ।

प्रासङ्गिकी कथा समाप्त हो गई । अब इस समय प्रकृत अंगोपसंहार कथा का ही अनुसरण करते हैं कि ('ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे' और 'पृथिवी आदि रूप लोकों में हिकारादि रूप पाँच प्रकार के साम की उपासना करे' 'हिकारादि को पृथिवी आदि रूप से चिन्तन करे' 'उक्थ उक्थ प्रजाएँ कहती हैं, वह उक्थ यही है', 'जो यह पृथिवी है वही उक्थ है अर्थात् उक्थ नामक शस्त्र में पृथिवी दृष्टि करे' और 'यह ईंटों से चित जो अग्नि है, यही लोक है, इष्टकाचित अग्नि में लोक दृष्टि करे') इत्यादि जो उद्गीथादि कर्माङ्गों के साथ सम्बन्ध वाली उपासनायें प्रत्येक वेद के शाखा-भेदों में विहित हैं, वे उपासनायें तत्तत् शाखागत उक्थादिविषयक होंगी, अथवा सर्व शाखागत-विषयक होंगी । यह संशय है । यदि कहा जाय कि उक्थादि की सर्वत्र एकता से उपासना की एकता सिद्ध है, इससे यहाँ संशय कैसे हो सकता है, तो कहा जाता है कि प्रत्येक शाखाओं में स्वरादि के भेद से उद्गीथादि के भेदों को मानकर यह संशय का उपन्यास, कथन है । प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि स्वशाखागत उद्गीथादि विषयक ही विद्याओं की विधि श्रुतियाँ करेंगी । यदि कहा जाय कि किस हेतु से ऐसा होगा, तो कहा जाता है कि सन्निधि से ऐसा होगा । जिससे (उद्गीथ की उपासना करे) इस प्रकार सामान्य उद्गीथविषयक विहित उपासनाओं को विशेष की आकाङ्क्षा होने पर सन्निकृष्ट स्वशाखागत विशेष से ही आकाङ्क्षा की निवृत्ति हो जाने से उसका उल्लंघन त्याग कर के शाखान्तर में विहित विशेष के ग्रहण में कारण नहीं है, इससे प्रत्येक शाखा में उपासना की व्यवस्था है ।

एवं प्राप्ते ब्रवीत्यङ्गावबद्धास्त्विति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन्, अपितु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन् । कुतः ? उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात् । स्वशाखाव्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति सामान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीडिता स्यात् । नचैतन्न्याय्यम् । संनिधानाद्वि श्रुतिर्वलीयसी । नच सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते । तस्मात्स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात्सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः ॥ ५५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (अङ्गावबद्धास्तु) इत्यादि । तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि ये प्रत्यय (विद्यायें) प्रत्येक वेदों में स्वशाखा में ही व्यवस्थित नहीं रहेंगे । किन्तु सब शाखाओं में अनुवृत्त होंगे । ऐसे क्यों होंगे कि उद्गीथादि श्रुति के अविशेष (सामान्य) होने से ऐसे होंगे । जिससे अपनी शाखा में व्यवस्था होने पर अविशेष रूप से प्रवृत्त होती हुई उद्गीथ की उपासना करे यह सामान्य श्रुति सन्निधानवश से

विशेष में व्यवस्थित करने पर बाधित होगी। यह श्रुति का सन्निधि से बाध न्याय्य नहीं है। जिससे सन्निधान से श्रुति अधिक बलवती है। यह भी नहीं है कि सामान्य आश्रय (विषय) वाला प्रत्यय (उपासना) उपपन्न नहीं होता हो कि जिसमें विशेष का आश्रयण करना पड़े। इससे स्वर आदि के भेद रहते भी उद्गीयत्वदि के अविशेष होने से सर्वशाखागत उद्गीयादिविषयक इस प्रकार के प्रत्यय (विज्ञान-चिन्तन) होंगे ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

अथवा नैवात्र विरोध शङ्कितव्य, कथमन्यशाखागतेषूद्गीयादिष्वन्य-शाखाविहिता प्रत्यया भवेयुरिति, मन्त्रादिवदविरोधापपत्तेः। तथाहि मन्त्राणां कर्मणा गुणानां च शाखान्तरोत्पन्नानामपि शाखान्तर उपसग्रहो दृश्यते, येषामपि हि शाखिना 'कुटुरसी'त्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातस्तेषामप्यसौ विनियोगो दृश्यते 'कुक्कुटोऽग्नी'त्यश्मानमादत्त 'कुटुरसी'ति वेति। येषामपि च समि-दादयः प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधिराम्नायते—'ऋतवो धे प्रयाजा समानमत्र होतव्या' इति। तथा येषामपि 'अजोऽग्नीषोमीय' इति जातिविशेषो-पदेशो नास्ति तेषामपि तद्विशेषविषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—'छागस्य वपाया भेदमोज्जुब्रूहि' इति।

प्रथम सन्निहित व्यक्तिकरक उद्गीयादि शब्द के हो सकते सामान्यपरता में विरोध को मानकर सामान्यविषयता में अनुपपत्ति के अभाव से श्रुति बल से सामान्य सम्बन्ध कहा गया है, अब कहते हैं कि अथवा सामान्य सम्बन्ध में यहाँ विरोध की शका करने ही योग्य नहीं है कि अन्यशाखागत उद्गीयादिविषयक, किसी अन्य शाखा में विहित प्रत्यय विज्ञान कैसे होंगे। क्योंकि मन्त्रादि के समान अविरोध की उपपत्ति होती है, जिस प्रकार शाखान्तर में उत्पन्न भी मन्त्र, कर्म और गुणों का किसी शाखान्तर में उपसग्रह सम्बन्ध देखा जाता है, वैसे ही शाखातर में विहित भी प्रत्यय शाखान्तर में सम्बद्ध होंगे। जिससे जिस यजुर्वेदी शाखाविशेष वालों की शाखा में (कुक्कुटोऽग्नि) ऐसा मन्त्र (अश्मादान) पन्थर के ग्रहण के लिये है, परन्तु (कुटुरसी) यह अश्मा-दानमन्त्र पठित नहीं है, उसकी शाखा में भी उस मन्त्र रूप विनियोग (सम्बन्ध) दीगता है कि तण्डुल को पीसने के लिये पत्थर के ग्रहण में (कुक्कुटोऽग्नि) इस मन्त्र को पढ़कर पत्थर का ग्रहण करते हैं, अथवा (कुटुरसी) इसको पढ़कर ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जिनकी शाखा में (समिधो यजति) इत्यादि वचन विहित समिध आदि नामक प्रयाज कर्म पठित नहीं हैं, उनकी शाखा में भी उन प्रयाजों में गुण पढ़ा जाता है कि (हेमन्-शिरिष की एकता से पाँच श्रुत हैं और पाँच ही प्रयाज होते हैं इसी ऋतु हो प्रयाज हैं, सो समानदेश, तुल्य कर्मम्यान में होतव्य है) यहाँ पाँच मन्त्रों रूप गुण विधान से शाखान्तर्गत पञ्च प्रयाज का सग्रह होना है। इसी प्रकार जिनकी शाखा में (अज-

वकरा, अग्नि और सोमदेवता वाला होता है) इस प्रकार जातिविशेष का उपदेश नहीं है किन्तु सामान्य पशु का उपदेश है, उन शाखाओं में उस जाति-विशेष विषयक मन्त्र-वर्ण उपलब्ध होता है कि (अज की वषा मेद के होम के लिए अनुमति दो) ।

तथा वेदान्तरोत्पन्नानामपि 'अग्नेर्वैर्होत्र वेरध्वरम्' इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो दृष्टः । तथा वह्वृचपठितस्य सूक्तस्य 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० सं० २।६।७) इत्यस्य 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः । तस्माद्यथाश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्रानुवृत्तिरेवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥ ५६ ॥

इसी प्रकार वेदान्तर में उत्पन्न भी (देवों के होत्र और देवों के अध्वर अग्नि से ही होते हैं । इत्यादि मन्त्रों का किसी वेदान्तर में परिग्रह देखा गया है । इसी प्रकार (जो उत्पन्न होते ही गुणों से प्रथम श्रेष्ठ और मनस्वान् मनस्वी विवेकी हुआ, हे जनो ! वह इन्द्र है) इस वह्वृचपठित सूक्त का (सजनीय, सजनास इन्द्र, इस मन्त्र भाग से युक्त, शस्य, शंसनस्तुति आध्वर्यव, अध्वर्युकृत कर्म प्रयोग में दृष्ट है) यहाँ परिग्रह देखा गया है । इससे जिस प्रकार विद्या के आश्रय (विषय) कर्माङ्गों की सर्वत्र अनुवृत्ति होती है, इसी प्रकार तदाश्रित प्रत्ययों की भी अनुवृत्ति होती है, इससे अविरोध है ॥ ५६ ॥

भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् (३२)

ध्येयो वैश्वानरांशोपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा । अंशोपास्तिफलयोरुक्तेरस्त्यंशधोरपि ॥
उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम् । अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात् ॥

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, और बुडिल नाम वाले विद्वान् लोग विचार करने लगे कि हम लोगों की आत्मा क्या वस्तु है, और उपदेश लेने के लिए पाँचों उद्दालक ऋषि के पास गये, उद्दालक जी स्वयं उपदेश नहीं देकर सबको कौंकेय राजा के पास ले गये । राजा ने समस्त साङ्गवैश्वानर का उपदेश दिया और ये लोग प्रथम से ही द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवी को वैश्वानर समझ कर मित्र-मित्र उपासना करते थे, उनके फलों को राजा ने कहा, और प्रत्येक उपासना की निन्दा भी की, इससे एक-एक अङ्ग की उपासना से भूमा, साङ्ग वैश्वानर की उपासना को ज्यायस्त्व श्रेष्ठत्व विवेक्यत्व है, वह साङ्ग ऋतु के समान समझना चाहिये और उस ज्यायस्त्व को निन्दा आदि द्वारा श्रुति स्वयं दर्शाती है, यह संक्षिप्त सूत्रार्थ है । संशय है कि वैश्वानर के अंशरूप द्युलोक आदित्यादि भी ध्येय हैं, अथवा संपूर्ण वैश्वानर ही ध्येय है । पूर्वपक्ष है कि अंग-विषयक भी उपासनों के और उस उपासना के फल के कथन से अंश और अंशी दोनों ध्येय हैं ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि उपक्रम और उपसंहार से समस्त का ही चिन्तन विवेक्य है, अंश की उपासना और फल का वर्णन समस्तोपासना की स्तुति के लिये है, यह प्रत्येकोपासना की निन्दा से सिद्ध होता है ॥ २ ॥

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥ ५७ ॥

‘प्राचीनशाल औपमन्यव’ (छा० ५।१।११) इत्यस्यामाख्यायिकाया व्यस्तस्य ममस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं ध्रूयते । व्यस्तोपासनं तावत् ‘औपमन्यव क त्वमात्मानमुपास्म’ इति, ‘दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैव वै मुतेजा आत्मा वैश्वानरो य त्वमात्मानमुपास्ते’ (छा० ५।१।२।१) इत्यादि । तथा समस्तोपासनमपि ‘तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य भूर्धैव मुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप प्राण पृथग्वर्त्मात्मा सदेहो बहुलो वस्तिरेव रयि पृथिव्येव पादौ’ (छा० ५।१।८।२) इत्यादि । तत्र सशय — किमिहोभयथाप्युपासनं स्याद् व्यस्तस्य ममस्तस्य चोत ममस्तस्यैवेति । किं तावत्प्राप्तम् । प्रत्यवयव मुतेज प्रभृति-पूषाम् इति क्रियापदश्रवणात्, तस्मात्तव सुत प्रमुतमामुत कुले दृश्यते’ (छा० ५।१।२।१) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च व्यस्तान्यप्युपासनानि स्मरिति प्राप्तम् ।

(प्राचीन शाल नामक उपमन्यु का पुत्र) इत्यादि रूप इस आख्यायिका (क्या) में व्यस्त (अग) समस्त (अग्युक्त अगी) वैश्वानर की उपासना सुती जाती है । प्रथम व्यस्त का वर्णन है । वहाँ वैश्व राजा का प्रश्न है कि (हे औपमन्यव । किस आत्मा की उपासना करते हो ? उसने कहा कि हे भगवन् राजन् । दिव (स्वर्ग) रूप ही वैश्वानर की मैं उपासना करता हूँ । राजा ने कहा कि यह तो मुतेजा नामवाला वैश्वानर आत्मा है जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो) इत्यादि । इसी प्रकार समस्तोपासना वर्णित है कि (उस ही इस वैश्वानर आत्मा का सुन्दर तेजवाला स्वर्ग मूर्धा, शिर है । विश्वरूप मूर्ध आँव है, पृथग्वर्त्मात्मा, वायु प्राण है, बहुल-आवास, सदह-घट-मध्यभाग है, वस्ति ही घन है । पृथिवी ही पाद है) इत्यादि । यहाँ सशय होना है कि व्यस्त और समस्त के दोनों प्रकार की उपासना विषेय होगी, कर्त्तव्य होगी, अथवा समस्त की ही होगी । प्रथम प्राप्त क्या होता है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि वैश्वानर के प्रत्येक अवयवरूप मुतेजा आदि विषयक, उपाम्ने, तू उपासना करता है, इस क्रिया पद के श्रवण से, और (उस मुतेजा की उपासना से तेरे कुल में सुत प्रमुत, आमृत (सोमरस) दीव्यते हैं । इत्यादि फलभेद के श्रवण से व्यस्त उपासनाएँ भी कर्त्तव्य होगी ऐसा प्राप्त होना है ।

ततोर्जमधीयते—भूम्नः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्येनास्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि, क्रतुस्तु । यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु मामस्येन गान्धप्रधान-प्रयोग एवंको विवक्ष्यते न व्यस्तानामपि प्रयोग प्रयाजादीनाम् । नाप्येकदेशा-न्त्युत्तम्य प्रधानस्य तद्वत् । कुन एतद् भूमव ज्यायानिति । तथाहि शुनिर्भूमो ज्यायस्त्व दर्शयति एकवाक्यनामगमात् । एक हीद वाक्य वैश्वानरप्रियापित्यं पौर्वापर्यान्नेचनात्प्रतीयते ।

इससे कहते हैं कि भूमा, अङ्गात्मक पदार्थों का उपचय (समूह, संग्रह) रूप समस्त वैश्वानरोपासना को इस वाक्य में प्रधानरूप से ज्यायस्त्व श्रेष्ठत्व विवक्षित होने योग्य है । प्रत्येक अवयव उपासनाओं को ज्यायस्त्व विवक्षित नहीं है, क्रतु के समान । जैसे दर्श पूर्णमासादि क्रतुओं में समस्तरूप से अङ्गसहित प्रधान का प्रयोग (अनुष्ठान) ही एक विवक्षित होता है । व्यस्त प्रयाजादि का प्रयोग भी विवक्षित नहीं होता है । न एकदेशरूप अङ्गयुक्त प्रधान का प्रयोग ही विवक्षित होता है, उसी प्रकार यह समझना चाहिये । परन्तु भूमा ही ज्यायान् (प्रधान) है, यह किस प्रमाण से यहाँ समझा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि एकवाक्यता के अवगम से इस प्रकार श्रुति ही भूमा के ज्यायस्त्व को दर्शाती है । पूर्वापर के आलोचन से यह एक ही वैश्वानर विद्याविषयक वाक्य प्रतीत होता है ।

तथाहि—‘प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः पङ्कटपयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अश्वपति कैकेयं राजानमभ्याजग्मुः’ इत्युपक्रम्यकैकेयर्षेरुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा ‘मूर्धा त्वेप आत्मन इति होवाच’ (छा० ५।१२।२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति । ‘मूर्धा ते व्यपत्तिप्यद्यन्मा नागमिष्यः’ (छा० ५।१२।२) इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति । पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य समस्तोपासनमेवानुवर्त्य ‘स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति’ (छा० ५।१८।१) इति भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति । यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणं तदेवंसत्यङ्गफलानि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम् । तथोपास्य इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थं न व्यस्तोपासनविधानार्थम् । तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयानिति ।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि प्राचीनशाल आदि उद्दालकपर्यन्त छः ऋषि वैश्वानर विद्या में परिनिष्ठा (पूर्णता-स्थिति) को नहीं प्राप्त होते हुए, परिनिष्ठा के लिए अश्वपति कैकेय राजा के पास गये, इस प्रकार आरम्भ करके, फिर एक-एक ऋषि के उपास्य द्युलोकादि एक-एक का श्रवण कराकर (यह सुतेजा तो वैश्वानर आत्मा का मूर्धा है) इत्यादि वचन से श्रुति उन द्युलोकादिरूप उपास्यों के मूर्धादिभाव का विधान करती है । और (यदि तू मेरे पास नहीं आता तो तेरा शिर गिर जाता) इत्यादि वचन से व्यस्त उपासना की श्रुति निन्दा करती है । फिर भी व्यस्त उपासना की व्यावृत्ति (निवृत्ति) करके और समस्त उपासना की ही अनुवृत्ति (सम्बन्ध) करके (वह वैश्वानर का उपासक सब लोक, सब भूत, सब आत्मा में अन्न खाता है) इस प्रकार भूमा आश्रय वाले ही फल को दर्शाती है । इस प्रकार भूमा का मुख्यत्व निश्चय होने पर जो प्रत्येक सुतेजा आदि अङ्गों में फलभेद की श्रुति है, सो अङ्गों के फलप्रधान में ही उपगत है, इस आशय से समझना चाहिए । इसी प्रकार उपास्ये (तुम उपासना

करते हो) यह भी प्रत्येक अवयव में जो क्रिया का श्रवण है, वह दूसरे उपकोशलादि के अभिप्राय के अनुवादायक है, व्यस्त उपासना के विधान के लिये नहीं है । इससे समस्त की उपासना वाला पक्ष ही श्रेयानु है—अधिक श्रेष्ठ है ।

केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायाम् प्रतिप्राप्य ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासनापक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यते इति कथयन्ति । तदयुक्तम् । एक-वाक्यनावगती मत्या वाक्यभेदकल्पनस्यान्याय्यत्वात् । 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० ५।१२२) इति चैवमादिनिन्दावचनविरोधात् । स्पष्टे चोपसंहारस्य समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात् । सोऽस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात् ॥ ५७ ॥

कोई तो यहाँ समस्त उपासना पक्ष को अधिक श्रेष्ठ प्रतिष्ठित (सिद्ध) करके ज्यायस्त्व वचन से ही व्यस्तोपासनापक्ष को भी सूत्रकार म्बोकार करते हैं, इस प्रकार कहते हैं, अर्थात् समस्तोपासना अधिक श्रेष्ठ है, इस सूत्रकार के कथन से व्यस्त उपासना में भी श्रेष्ठत्व की प्रतीति होती है, इससे उस विषयक अनुमति की मिद्धि होती है ऐसा कहते हैं, यह कहना अयुक्त है । जिससे एकवाक्यता की अवगति होने पर वाक्यभेद की कल्पना को अयुक्तत्व है, और अनुमति मानने पर (तेरा फिर गिर जाता) इस प्रकार के निन्दावचन में विरोध है । उपसंहारस्य समस्त उपासना के स्पष्ट अवगम रहने पूर्वपक्ष में उमका अभाव कहना अशक्य है । अर्थात् जब समस्त और व्यस्त दोनों उपासना सिद्धान्त पक्ष होंगे, तब व्यस्त वा समस्त एक-एक उपासना ही पूर्वपक्ष होगा । वही व्यस्त उपासना को पूर्वपक्ष में मान कर समस्त उपासना का प्रतिपक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि उपसंहार में उसी का स्पष्ट अवगम होता है । सूत्रस्य ज्यायस्त्व वचन को प्रमाणवत्त्व (प्रमाणतात्पर्य-विषयत्व) के अभिप्राय में भी उपपन्न होने से, उक्त कथन अयुक्त सिद्ध होता है ॥ ५७ ॥

शब्दादिभेदाधिकरणम् (३३)

न भिन्ना उत भिद्यन्ते शाण्डिल्यदहरादयः । समस्तोपासनश्रेष्ठ्याद्ब्रह्मविद्यादप्यभिप्रेता ॥
कृत्स्नोपास्तेऽशक्यत्वाद् गुणैर्ब्रह्म पृथक्कृतम् । दहरादीनि भिद्यन्ते पृथक्पृथक्पञ्चमात् ॥

दहर शाण्डिल्यादि विद्या ब्रह्मवेद्य के एक होने भी शब्दगुणादि के भेद से भिन्न हैं । समर्थ है कि शाण्डिल्य दहर आदि विद्याएँ पूर्वोक्त व्यस्त विद्या के समान भिन्न नहीं हैं, अथवा भिन्न हैं । पूर्वपक्ष है कि पूर्वं अधिकरण के समान समस्त उपासना के श्रेष्ठ होने से और विद्या के विषयरूप शब्द के एक होने से भी विद्याओं में अभिप्रेता है । सिद्धान्त है कि अनेक प्रकार से विहित अनेक उपासना के अनुष्ठान के एक पुरुष से एक काल में अवयवस्वरूप होने से तथा पृथक्-पृथक् उपासना से दहरादि उपासनाएँ भिन्न हैं, और गुणा के द्वारा ब्रह्म भी पृथक् किया गया है, इससे वेदार्थ की एकता से भी विद्या एक नहीं है ॥ १-२ ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ ममस्तोपासनं ज्याय इत्युक्तम्, अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि च भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपासिष्यन्ते इति । अपिच नैव वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते । वेद्यं हि रूपं विद्यायाः द्रव्यदैवतमिव यागस्य, वेद्यश्चैक एवेश्वरः श्रुतिनानात्वेऽप्यवगम्यते 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१।४।२) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१।५) 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमादिषु । तथा 'एक एव प्राणः, प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।३) 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' (छा० ७।१।५।१) इत्येवमादिषु, वेद्यैकत्वाच्च विद्यैकत्वं श्रुतम् । श्रुतिनानात्वमप्यस्मिन्पक्षे गुणान्तरपरत्त्वान्नानार्थकम् । तस्मात्स्वपरशाखाविहितमेकवैद्यव्यपाश्रयं गुणजातमुपसंहर्तव्यं विद्याकात्स्नर्यायेति ।

पूर्व अधिकरण में सुतेजा आदि के फलभेदविषयक श्रुति के रहते भी समस्त की उपासना श्रेष्ठ है, यह कहा गया है, इससे ऐसी बुद्धि प्राप्त होती है कि भिन्न श्रुति वाली अन्य भी उपासनाएँ मिलकर समस्तरूप से उपासित होंगी; की जायँगी । और भी वेद्यवस्तु के अभेद रहते विद्या का भेद नहीं समझा जा सकता है, जिससे वेद्यवस्तु ही विद्या का रूप होता है, जैसे द्रव्य और देवता याग का रूप होता है और श्रुतियों के नाना होते भी वेद्य एक ही ईश्वर अवगत होता है कि (मनोमय प्राणरूप शरीर वाला आत्मा है । सुखस्वरूप ब्रह्म है, विभु आकाशतुल्य ब्रह्म है । सत्य शुद्ध काम वाला, सत्य संकल्प वाला परमात्मा है) इत्यादि में एक ईश्वर अवगत होता है । और इसी प्रकार (एक ही प्राण है । प्राण ही संवर्ग है । प्राण ही कालकृत ज्येष्ठ बड़ा है और गुणकृत श्रेष्ठ है । प्राण ही पिता है प्राण ही माता है) इत्यादि में वेद्य के एकत्व से विद्या का एकत्व श्रुत है और इस पक्ष में भी गुणान्तर परत्व से श्रुतिगत नानात्व भी अनर्थक नहीं है इससे स्वशाखा और परशाखा में विहित एक वेद्य के आश्रित गुणसमूह विद्या की पूर्णता के लिए उपसंहार के योग्य हैं ।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते नानेति । वेद्याभेदेऽप्येवञ्जातीयका विद्या भिन्ना भवितुमर्हति । कुतः ? शब्दादिभेदात् । भवति हि शब्दभेदः 'वेद' 'उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१।४।१) इत्येवमादिः । शब्दभेदश्च कर्मभेदहेतुः समधिगतः पुरस्ताच्छब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादिति । आदिग्रहणाद् गुणादयोऽपि यथासम्भवं भेदहेतवो योजयितव्याः ।

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि विद्या नाना है । वेद्य के अभेद रहते भी इस प्रकार की विद्याएँ भिन्न होने योग्य हैं, किस हेतु से भिन्न होने योग्य हैं, तो कहा जाता है, शब्दादि के भेद से भिन्न हैं । जिससे, वेद (जानता है) उपासीत

(उपासना करे) स ब्रतु कुर्वीत (वह सकल्प करे) इत्यादि शब्द भेद है । पूर्व-
मीमांसा में शब्द का भेद कर्मभेद का हेतु रूप समधिगत हुआ है कि (यजति, जुहोति,
ददाति इत्यादि भिन्नार्थविषयक शब्दान्तर के होने पर, वृत्तानुबन्धित्व, स्वीकृत भावना-
भेद-विधिभेद से कर्म का भेद होता है) मूल में आदि शब्द के ग्रहण में भेद के हेतु
गुणादि भी सम्भव के अनुसार योजना (सम्बन्ध) के योग्य हैं ।

ननु वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवावगम्यते न यजतीत्यादिवदर्थभेद सर्वेषा-
मेवैषा मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात्, अर्थान्तरामम्भवाच्च । तत्कथं शब्दभेदाद्विद्याभेद
इति । नैष दोषः । मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे मति विद्याभेदोप-
पत्तेः । एकस्यापि हीन्वयस्यापाम्भ्यस्य प्रतिप्रकरण व्यावृत्ता गुणा सिध्यन्ते ।
तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याभेदेऽप्यन्याद्गुणोऽन्योपासितव्योऽ-
न्यादगुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदाद् वेद्यभेदे मति विद्याभेदो विज्ञायते ।
नचार्थको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति शक्यं वक्तुम् । विनिगमनाया हेतु-
भावात् । अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरण गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन गुणविधा-
नानुपपत्तः । नचाम्भित्वे ममाना सन्त सत्यक्रामादयो गुणा अमकृच्छ्रा-
वयिनव्याः ।

यहाँ शका होती है कि वेद, उपासीत, इत्यादि में शब्दों का ही भेद अवगत होता
है, यजति, जुहोति, आदि के समान अर्थों का भेद नहीं अवगत होता है, जिससे उन में
धात्वर्थ का भेद रहता है, और यहाँ तो सबका मनोवृत्तिमान अर्थ है और अर्थान्तर
का असम्भव है । तो उस वेदादि शब्दभेद से विद्या का भेद कैसे होगा ? उत्तर है कि
यह दोष नहीं है, मनोवृत्तिरूप अर्थों के अभेद रहने भी उपास्य गुणादिरूप अनुबन्ध के
भेद से वेद्य के भेद होने पर विद्याभेद को उपपत्ति होती है । अर्थात् ये उपासनायें वस्तु-
निष्ठ नहीं हैं, इमने गुणादिकल्पित धर्मवृत्त भेद में भी भिन्न होती हैं, जिससे उपास्य
एक ईश्वर के भी प्रत्येक प्रकरण में व्यावृत्त (भिन्न-भिन्न) गुण उपदिष्ट होते हैं । इसी
प्रकार तत्तत् स्थानों में उपास्य प्राण के एक होते भी, अन्य प्रकार के गुणवाला अन्यत्र
उपास्य होता है, उसमें अन्य प्रकार के गुणवाला कहीं अन्यत्र उपास्य होता है और
इस प्रकार अनुबन्ध के भेद से वेद्य के भेद होने पर विद्या का भेद समझा जाता है ।
यहाँ एक विद्याविधि है, अन्य गुणविधि है ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इन
में कौन विद्याविधि है कौन गुणविधि है, इस विशेष अर्थों की विनिगमना (विभाग)
में हेतु (प्रमाण) का अभाव है । प्रत्येक प्रकरण में गुणों के अनेक होने से प्राप्त विद्या
के अनुवाद द्वारा गुण विधान को अनुपपत्ति है, क्योंकि इस प्रकार अनेकवाक्यता का
प्राप्ति होगी । इस एक विधिपक्ष में पुनरुक्ति होने से समान स्वरूप होने हुए सत्यक्रामादि
गुण अनेक बार नुनाने योग्य नहीं होंगे, इस पक्ष में प्रत्यभिज्ञा के लिए भी पुनरुक्ति
नहीं कही जा सकती है, जिसमें ब्रह्म की एकता से ही इस पर में प्रत्यभिज्ञा होगी ।

प्रतिप्रकरणं चेदंकामेनेदमुपासितव्यमिदङ्गामेन चेदमिति नैराकाङ्क्ष्याव-
गमान्नैकवाक्यतापत्तिः । नचात्र वैश्वानरविद्यायामिव समस्तचोदनाऽपरास्ति
यद्वलेन प्रतिप्रकरणवर्तीन्यवयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामीयुः । वेद्यैकत्वनि-
मित्ते च विद्यैकत्वे सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः
प्रतिज्ञायेत । तस्मात्सुष्टूच्यते नाना शब्दादिभेदादिति । स्थिते चैतस्मिन्नधि-
करणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥ ५८ ॥

प्रत्येक प्रकरण में इस फल की इच्छा वाले से ऐसा ब्रह्म उपासनीय है, अमुक फल
की इच्छा वाले से अमुक स्वरूप वाला उपासनीय है, इस प्रकार उन वाक्यों में निरा-
कांक्षता के अवगम से आकांक्षा के बिना उनकी एकवाक्यता की प्राप्ति नहीं हो सकती
है । वैश्वानर विद्या में जैसे अवयव विधि से अन्य समस्त विधि है, वैसे यहाँ शाण्डिल्य
दहरादि विधि से भिन्न समस्तविषयक विधि नहीं है कि जिसके बल से प्रत्येक
प्रकरणवर्ती अवयवरूप उपासना होकर एकवाक्यता को प्राप्त हों । वेद्य ब्रह्म की
एकतानिमित्तक सब स्थान में निरङ्कुश (स्वतन्त्र) विद्या की एकता की प्रतिज्ञा करने
पर, अशक्य समस्त गुणोपसंहार की भी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी । इससे सुन्दर कहा जाता
है कि (नाना शब्दादिभेदात्) वहाँ शब्द का ग्रहण समुच्चयमात्र है गुणादि के भेद
विद्याभेद के कारण हैं । इस अधिकरण के स्थिर होने पर (सर्ववेदान्तप्रत्ययम्) इत्यादि
अधिकरण को समझना चाहिए, अर्थात् इस अधिकरण को पाद के आदि में होना उचित
है, यहाँ प्रासङ्गिक सम्बन्ध है ॥ ५८ ॥

विकल्पाधिकरणम् (३४)

अहंग्रहेष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा । नियामकस्याभावेन याथाकाम्यं प्रतीयताम् ॥
ईशसाक्षात्कृतेस्त्वेकविद्यैव प्रसिद्धितः । अन्यानर्थक्यविक्षेपो विकल्पस्य नियामको ॥

अहंग्रह, तदस्थ और कर्माङ्गाश्रित भेद से सगुण विद्या तीन प्रकार की होती है,
यहाँ अहंग्रहरूप विद्या सबको ईश्वर का साक्षात्काररूप अविशिष्ट (तुल्य, एक) फल
होता है, इससे किसी एक विद्या से ईश्वर का साक्षात्कार होने पर अन्य की जरूरत
नहीं रहती है, इसीसे इनका विकल्प है । यहाँ संशय है कि अहंग्रह उपासनाओं में
अनियम है कि जो जितनी चाहे उतनी उपासना करे, अथवा विकल्प का नियम है कि
इसमें से कोई एक ही उपासना करे । पूर्वपक्ष है कि नियामक हेतु के अभाव से इच्छा
के अनुसार कर्तव्य समझना चाहिए, दो चार जितनी की इच्छा हो, उतनी उपासना
करे । सिद्धान्त है कि अहंग्रह उपासना ईश्वरविषयक साक्षात्कार के लिए की जाती है,
यहाँ एक विद्या से ही ईश्वरविषयक साक्षात्कार की सिद्धि से विकल्प का नियम है
और विकल्प का नियामक अन्य की अनर्थकता और विक्षेप है । एक से ही ईश्वर का
साक्षात्कार होने पर अन्य निरर्थक है, और दो विद्याओं के एकवार अभ्यास में चित्त के
परिवर्तन से विक्षेप होता है, इससे एक का अभ्यास ही उचित है ॥ १-२ ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते किमामामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा स्यात्, अथवा विकल्प एव नियमेनेति । तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किञ्चित्कारणमस्ति । ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते । नैष दोषः । नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारण, नैव विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति, तस्मान्न समुच्चयनियमः । नापि विकल्पनियमः, विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात् । पारिगोप्याद्या-थाकाम्यमापद्यते ।

विद्याभेद के स्थिर होने पर अहंप्रह-विद्याविषयक विचार किया जाता है कि क्या इन विद्याओं का उपासक की इच्छा के अनुसार समुच्चय (साथ अनुष्ठान) वा विकल्प होगा । अथवा नियम से विकल्प ही होगा । यहाँ पूर्वपक्षों का कथन है कि प्रथम विद्याभेद के स्थिर होने से समुच्चय (सहानुष्ठान) नियम में कोई कारण नहीं है, यदि कहा जाय कि भिन्न भी अग्निहोत्र दर्श-पूर्णमासादि के समुच्चय का नियम देखा जाता है, वैसे यह भी समुच्चय का नियम होगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, अर्थात् उसके समान यहाँ समुच्चय-नियम की प्राप्ति नहीं है, जिससे अग्निहोत्र-विषयक नित्य श्रुति वहाँ समुच्चय में कारण है । इस प्रकार विद्याओं की कोई नित्यता श्रुति नहीं है । इससे समुच्चय का नियम नहीं है । विकल्प का भी नियम नहीं है, जिससे विद्यान्तर में अधिकृत के अधिकार का किसी अन्य विद्या में प्रतिषेध नहीं है, अर्थात् एक विद्या के अधिकारी के लिए दूसरी विद्या का प्रतिषेध नहीं है कि जिससे विकल्प का नियम हो । इसलिए परिशेषता से यथेष्ट पक्ष प्राप्त होता है कि इच्छा के अनुसार समुच्चय या विकल्पित उपासना करे ।

नन्वविशिष्टफलत्वादामा विकल्पो न्याय्यः, तथाहि—‘मनोमय प्राणशरीर’ (छा० ८।१।५) ‘क ब्रह्म न ब्रह्म’ (छा० ४।१०।५) ‘सत्यकाम सत्यसकल्य’ (छा० ८।१।५) इत्येवमाद्यान्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफलं लक्ष्यन्ते । नैष दोषः । समानफलेष्वपि स्वर्गादिमाधनेषु कर्मसु याथाकाम्यदर्शनात् । तस्माद्याथाकाम्य-प्राप्तावुच्येन विकल्प एवामा भविनुमर्हति न समुच्चयः । कस्मात् ? अविशिष्ट-फलत्वात् । अविशिष्ट ह्यामा फलमुपास्यविषयमाज्ञात्करणम्, एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादी द्वितीयमनर्थकम् ।

शका होती है कि अविशिष्ट (समान) फलवत्ता से तत्रा विकल्प होना उचित है, जिससे (मनोमय प्राण शरीर वाला है । सुखस्वरूप आकाशतुल्य ब्रह्म है । सत्यकाम वाला सत्यसकल्य वाला है) इत्यादि तुल्यगोत्रि वाग्री ईश्वर की प्राप्तिरूप फलवाणी विद्या इस प्रकार उपलब्ध होती है, पूर्वपक्षों का उत्तर है कि याथाकाम्य पक्ष में यह समानफलता दोष नहीं है, जिससे समानफलवाले भी स्वर्गादि के साधनरूप यज्ञ-

दानादि कर्मों में यथेष्ट प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे यथेष्टतापक्ष के प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि इन विद्याओं का विकल्प ही होना युक्त है, समुच्चययुक्त नहीं है, क्योंकि एक पुरोडाशफलत्व से जैसे ब्रीहि और यव का विकल्प होता है, वैसे ही अविशिष्ट (एक) फलत्व से विकल्प होगा। जिससे उपास्यविषयक साक्षात्कार-रूप इन उपासनाओं का अविशिष्ट फल है। एक उपासना से उपास्य विषयरूप ईश्वरादि के साक्षात्कृत (प्रत्यक्ष) होने पर यह उपासना निरर्थक है।

अपि चासंभव एव साक्षात्करणस्य, समुच्चयपक्षे चित्तविक्षेपहेतुत्वान्। साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः—‘यस्य स्यादद्वा न विचिकित्सास्ति’ (छा० ३।१४।४) इति ‘देवो भूत्वा देवानप्येति’ (वृ० ४।१२) इति चैवमाद्याः। स्मृतयश्च ‘सदा तद्भावभाविताः’ इत्येवमाद्याः। तस्मादविशिष्टफलानां विद्यानामन्यतमामादाय तत्परः स्याद्भावदुपास्यविषयसाक्षात्करणेन तत्फलं प्राप्तमिति ॥ ५९ ॥

फल की अधिकता के लिए काम्य-कर्मादि का समुच्चय होता है, और उपासना का साक्षात्काररूप फल न्यून-अधिक भाव से रहित तुल्य होता है, इससे फलाधिक्य के लिये भी समुच्चयन ही हो सकता है, और उलटा समुच्चयपक्ष में द्वैविध्य से समुच्चय के विक्षेप के हेतुत्व से उस पक्ष में साक्षात्कार का असम्भव ही होगा। साक्षात्कार से ही साध्य विद्या के फल को श्रुतियाँ दर्शाती हैं कि (जिस उपासक को अद्वा सत्य साक्षात्कार होता है, प्राप्ति-अप्राप्ति का संशय नहीं रहता है, उसी को ब्रह्म की प्राप्तिरूप फल होता है। जीते ही अवस्था में साक्षात्कार से सर्वात्मदेव भाव का अनुभव करके देव होकर देहपात के बाद भी देव को प्राप्त करता है, तथा अन्य देवों की भी भावना से जीवन काल में अनुभव करके फिर उन देवों को प्राप्त करता है) इत्यादि। (सदा तत्त्व भावना से भावित चित्त वाला होकर उसी को प्राप्त होता है कि जिस-जिस को स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर को त्यागता है) इत्यादि स्मृतियाँ भी साक्षात्कार से साध्य फल को दर्शाती हैं। इससे अविशिष्ट (एक) फलवाली अनेक विद्याओं में से किसी एक का ग्रहण करके, जब तक उपास्यविषयक साक्षात्कार के द्वारा उस विद्या का फल प्राप्त हो तब तक उसी एक ही विद्या में तत्पर (सावधान) रहें ॥ ५९ ॥

काम्याधिकरणम् (३५)

प्रतीकेषु विकल्पः स्याद्यायाकाम्येन वा मतिः। अहंग्रहेष्विवैतेषु साक्षात्कृत्यै विकल्पनम् ॥ देवो भूत्वेतिवस्त्रात्र काचित्साक्षात्कृतौ मितिः। यायाकाम्यमतोऽभीषां समुच्चयविकल्पयोः ॥

पूर्वोक्त फल की अविशिष्टतारूप हेतु के अभाव से तदस्थ उपासनाएँ यथेष्टसमुच्चित्त वा विकल्पितरूप से की जा सकती हैं। संशय है कि प्रतीक (तदस्थ) उपासनाओं में विकल्प होगा, वा इच्छा के अनुसार समुच्चय विकल्परूप मति (उपासना) होगी। पूर्वपक्ष है कि अहंग्रहों के समान साक्षात्कार के लिए इनमें भी विकल्प होगा। सिद्धान्त है कि अहंग्रहोपासना में साक्षात्कार की मिति (प्रमाण) रूप जैसे (देवो भूत्वा

देवानप्येति) यह श्रुति है वैसे यहाँ कोई प्रमाण नहीं है, इससे इनके समुच्चय और विकल्प में यथेष्टता है ॥ २ ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन् वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥

‘अविशिष्टफलत्वादित्यस्य प्रत्युदाहरणम् । यामु पुन काम्यामु विद्यामु
‘म य एतमेव वायु दिशा वत्स वेद न पुत्ररोद रोदिति’ (छा० ३।१५।२) ‘स
यो नाम ब्रह्मोत्पुपास्ते यावन्नाम्नो गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति’ (छा०
७।१।५) इति चैत्रमाद्यामु क्रियावददृष्टेनात्मनात्मीय तत्तत् फल साधयन्तीषु
साक्षात्करणापेक्षा नास्ति । ता यथाकाम समुच्चीयेरन् वा समुच्चीयेरन्पूर्वहेत्व-
भावात् । पूर्वस्याविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥ ६० ॥

अविशिष्ट (समान) फलत्वान्, इसका यह सूत्र प्रत्युदाहरण है कि (वह जो कोई
पुत्र के दीर्घजीवनार्थ इस वायु को ही गो अग्रहण से कल्पित दिशाओं के वन्सरूप
से उपासना करता है, वह पुत्र-मरणनिमित्तक रोदन नहीं करता है । अर्थात् उसका
पुत्र नहीं मरता है) और (जो कोई नाम को ब्रह्मरूप से उपासना करता है, उसको
जहाँ तक नाम का विषय है, वहाँ तक यथेष्ट संचार होता है जैसे राजा का अपने देश में
संचार होता है) इत्यादिक जिन सकाम और क्रिया के समान अदृष्टरूप में अपने तत्तत्
फलों को सिद्ध करने वाली विद्याओं में उपास्य साक्षात्कार की अपेक्षा नहीं है, उन
में अविशिष्ट फलत्वरूप पूर्व हेतु के अभाव में वे उपासनाएँ इच्छा के अनुसार समुच्चित
होंगी, अथवा नहीं समुच्चित होंगी । अर्थात् (अविशिष्टफलत्वात्) यह जो पूर्वकथित
विकल्प का हेतु है, उसके अभाव में समुच्चय वा विकल्प यथेष्ट होगा ॥ ६० ॥

यथाश्रयभावाधिकरणम् (३६)

समुच्चयोल्लङ्घनद्वेषु यायाकाम्येन वा मति । समुच्चितत्वादङ्गाना तद्वद्वेषु समुच्चय ॥
पह गृहीत्वा स्तोत्रस्मारम्भ इत्यादिवन्न हि । श्रूयते सहभावोत्र यायाकाम्य ततो भवेत् ॥

कर्माङ्गे उद्गीर्थादि आश्रित उपासनाओं में उनके आश्रय अङ्गा के समान उन
उपासनाओं का भी समुच्चय होगा, यह पूर्व पक्ष सूत्र है । सशय है कि कर्माङ्ग आश्रित
उपासनाओं में समुच्चय होगा, अथवा इच्छा के अनुसार मति होगी । पूर्वपक्ष है कि
अङ्गों के समुच्चित होने से उनके आश्रित होने वाली उपासनाओं का भी समुच्चय
होगा । सिद्धान्त है कि ग्रह (पात्र) का ग्रहण करके स्तोत्र आरम्भ होता है, इत्यादि
सहभाव वचन अङ्गों के समुच्चय का हेतु है, वैसे तदाश्रित विद्याओं को समुच्चय का
हेतु सहभाव यहाँ नहीं मुना जाना है, इसमें इच्छानुसार होगा ॥ १-२ ॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

कर्माङ्गेपूद्गीर्थादिषु य आश्रिता प्रत्यया वेदत्रयविहिता किं ते समुच्चीयेरन्
किंवा यथाकाम स्प्युरिति भशये यथाश्रयभाव इत्याह । यथैवैषामाश्रयाः
स्तोत्रादयः सभ्य भवन्त्येव प्रत्यया अपि, आश्रयतन्त्रत्वात्प्रत्ययानाम् ॥ ६१ ॥

कर्माङ्ग उद्गीथादि के आश्रित तीन वेद से विहित जो प्रत्यय हैं, क्या वे समुच्चित होंगे वा इच्छा के अनुसार होंगे । ऐसा संशय होने पर यथाश्रयभाव होगा यह कहते हैं । जैसे इन प्रत्ययों के आश्रय स्तोत्रादि सम्मिलित होकर रहते हैं, कर्माङ्ग होते हैं, इसी प्रकार इनके आश्रित प्रत्यय भी मिल कर समुच्चित रहते हैं । जिससे प्रत्ययों को आश्रयधीनत्व है, इससे इनको प्रयोगविधि से अङ्गों के साथ समुच्चित अनुष्ठान होता है ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

यथा चाश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिषु गिष्यन्त एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः । नोपदेगकृतोऽपि कश्चिद्विशेषोऽङ्गानां तदाश्रयाणां च प्रत्ययानामित्यर्थः ॥ ६२ ॥

प्रत्ययों के आश्रय स्तोत्रादि जैसे तीनों वेदों में उपदिष्ट होते हैं, उसी प्रकार उनके आश्रित प्रत्यय भी उपदिष्ट होते हैं, इससे अंगों को और तदाश्रित प्रत्ययों को उपदेश-कृत भी कोई विशेष (भेद) नहीं है इससे अंग के समान शासन-विधान के अविशेष होने से अंगों के समान समुच्चय होगा, यह अर्थ है ॥ ६२ ॥

समाहारात् ॥ ६३ ॥

‘होतृपदनाद्धैवापि बृहद्गोथमनुसमाहरति’ (छा० १।५।५) इति च प्रणवो-द्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नं क्षतं होत्रात्कर्मणः प्रतिसमाद-धातीति ब्रुवन्वेदान्तरोदितस्य प्रत्ययस्य वेदान्तरोदिनपदार्थसम्बन्धसामान्यात् सर्ववेदोदितप्रत्ययोपसंहारं सूचयतीति लिङ्गदर्शनम् ॥ ६३ ॥

समाहार-समाहरण-शत का संधान से भी समुच्चय प्रतीत होता है । यहाँ ऋग्वेदी का जो प्रणव है वह सामवेदी का उद्गीथ है, इत्यादि प्रणव और उद्गीथ की एकतादृष्टि से उपासना का फल है कि (होता के स्थान में स्थितिपूर्वकं सम्यक् प्रयुक्त कृत होता के कर्म से, जो उद्गाता दृष्ट उद्गान किया रहता है, अपने कर्म में वृत्ति किया रहता है, उसको चर उपासक होता अपने कर्म और उपासना के बल से अनुसंधानपूर्ण कर देता है) इस प्रणव और उद्गीथ के एकत्व-विज्ञान के माहात्म्य से उद्गाता स्वकर्म में उत्पन्न क्षत, न्यूनता को होताकृत कर्म से समाधानपूर्णता करता है, इस प्रकार कहता हुआ, वेदान्तर में कथित प्रत्यय का भी वेदान्तर में कथित पदार्थ के साथ सम्बन्ध सामान्य से सब वेद में कथित प्रत्ययों के उपसंहार को सूचित करता है, इससे सामवेद में उत्पन्न उद्गीथ ध्यान को जो ऋग्वेदोक्त प्रणव के साथ सम्बन्ध देखा गया है, वही अंगों के सब वेदों में विहित उपासनाओं के समुच्चय में लिए हैं इत्यादि ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तमोद्धारं वदन्नयसाधारणं श्रावयति, तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते, ‘ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति’ (छा० १।१।९) इति च । ततश्चाश्रयसाधारण्यादाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव । अथवा

गुणसाधारण्यश्रुतेरचेति । यदीमे कर्मगुणा उद्गीथादय मर्वे सर्वप्रयोगमाधारणा न स्युर्न स्यात्तन्मस्तदाश्रयाणा प्रत्ययाना सहभाव । ते तूद्गीथादय सर्वाङ्ग-
ग्राहिणा प्रयोगवचनेन मर्वे सर्वप्रयोगमाधारणा श्राव्यन्ते, ततश्चाश्रयमह-
भावात्प्रत्यमहभाव इति ॥ ६४ ॥

विद्या का गुण (विषय) अथवा विद्यारूप गुण वाला अर्थात् विद्या का आश्रय होता हुआ ओंकार को वेदत्रय में साधारणरूप में श्रुति श्रवण करता है कि इस ओंकार से वेदत्रय-विहित कर्मादि प्रवृत्त होते हैं, ओंकार से तीन वेद उत्पन्न होते हैं । (ओम् इस का उच्चारण करके अर्धवर्ग आश्रयण कराता है, ओम् के उच्चारणपूर्वक होता स्तुति करता है, ओंकार के उच्चारणपूर्व उद्गाता उद्गान करता है) इति । इससे ओंकाररूप आश्रय की साधारणता में उसके आश्रित रहने वाली विद्याओं में भी साधारणता है, और यह भी लिंग का दर्शन ही है । अथवा गुणसाधारण्यश्रुतेरच, इसका यह अर्थ है कि यदि ये कर्म के गुण (अग) रूप उद्गीथादि सब, कर्म के सब प्रयोगों में साधारण नहीं हो, तब तो उनके आश्रित रहने वाले प्रत्ययों का भी सब प्रयोगों में सहभाव नहीं हो । परन्तु वे उद्गीथादि सब तो सब अगों के ग्राहक प्रयोग-
वचन से सब प्रयोगों में साधारणरूप से मुनाये जाते हैं, इससे आश्रयरूप उद्गीथादि के सब प्रयोगों में सहभाव से आश्रित उपासनाओं का सर्वत्र सहभाव होता है ॥६४॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

न वनि पक्षव्यावर्तनम् । न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपासनाना भवि-
तुमर्हति । कुत ? तत्सहभावाश्रुते । यथा हि त्रिवेदोविहितानामङ्गाना स्तोत्रा-
दीना सहभाव श्रूयते—'ग्रह वा गृहीत्वा चममं वोढीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तो-
त्रमनुसमति प्रप्नोति भाम गाय होतरेतद्यज' इत्यादिना, नैवमुपासनाना सह-
भावश्रुतिरस्ति ।

फलेच्छा और रुचि के अनुसार उपासना की जाती है, नियम से नहीं, इसमें सिद्धान्त मूलगत, न वा, यह पूर्वपक्ष को व्यावृत्ति करता है कि अगाश्रित उपासनाओं का यथाश्रय भाव (आश्रयतुल्य समुच्चय) होने योग्य नहीं है, क्यों नहीं है कि उनमें सहभाव के अप्रवण से समुच्चय नहीं है । जिसमें तीनों वेदों में विहित अगण्य स्तोत्रादि का जैसे सहभाव मुना जाता है कि (ग्रह, पात्र का ग्रहण करके वा चमस को ऊपर उठा कर स्तोत्रा स्तोत्र का आरम्भ करता है, स्तोत्र का अनुशासन करता है कि, हे प्रप्तोत् । साम गाओ, हे होत । इसका यज्ञ करो) इत्यादि वचनों से सहभाव मुना जाता है, इस प्रकार उपासनाओं के सहभाव की श्रुति नहीं है ।

ननु प्रयोगवचन एवामा सहभाव प्रापयेत् । नेति ध्रुम पुरपार्यत्वादुपास-
नानाम् । प्रयोगवचनो हि ऋत्वर्थानामुद्गीथादीना सहभाव प्रापयेत् । उद्गीथा-
द्युपासनानि ऋत्वर्थाश्रयाण्यपि गोदोहनादिवत्पुरपार्यानीत्यवोचाम 'पृथग्य-

प्रतिबन्धः फलम्' (ब्र० सू० ३।३।४२) इत्यत्र । अयमेव चोपदेशाश्रयो विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां चोपासनानां यदेकेषां क्रत्वर्थत्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति । परं च लिङ्गद्वयमकारणमुपासनसहभावस्य श्रुतिन्यायाभावात् । न च प्रतिप्रयोगमाश्रयकात्स्न्योपसंहारादाश्रितानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम्, अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम् । आश्रयतन्त्राप्यपि ह्युपासनानि काममाश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावे सहभावनियममर्हन्ति तत्सहभावाश्रुतेरेव । तस्माद्यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥ ६५ ॥

यदि कहा जाय कि प्रयोग-विधि ही इन उपासनाओं के सहभाव को प्राप्त करायेगी, तो कहते हैं कि प्रयोग-विधि इनके सहभाव को नहीं प्राप्त करा सकती है, क्योंकि अङ्ग और प्रधान के सम्बन्धों का बोधक प्रयोग-विधि होती है, उपासनार्थ कर्माङ्ग नहीं हैं, उपासनाओं को पुरुषार्थत्व है, पुरुष की प्रयोजनविशेष के लिए उपासना होती है । इससे प्रयोग-वचन क्रत्वर्थक उद्गीथादि के आश्रित होते भी गोदोहनादि के समान पुरुषार्थक ही हैं, वह (पृथग्व्यप्रतिबन्धः फलम्) इस सूत्र में हमने कहा है । उपदेशाश्रय (उपदेश से समझने योग्य) अंग और उनके आश्रित उपासनाओं का यही विशेष भेद है, कि इनमें एक को क्रत्वर्थत्व है, और एक को पुरुषार्थत्व है । (समाह्वारान्) इत्यादि दो सूत्र से कथित अन्य दो लिङ्ग भी श्रुति और न्याय के अभाव से उपासनाओं के सहभाव का कारण नहीं हैं । अर्थात् लिङ्ग के अर्थवादगत होने से मानान्तर से प्राप्त का वह द्योतक होता है, स्वयं अर्थ का साधक नहीं होता है और यहाँ मानान्तर नहीं है । प्रत्येक कर्म प्रयोग में अङ्गरूप आश्रयों का सम्पूर्णरूप से उपसंहार होने से आश्रित उपासनाओं के भी उन अङ्गों के समान ही समाहार को नहीं समझ सकते हैं, क्योंकि उपासनाओं को अतत्प्रयुक्तत्व है, अर्थात् उपासनार्थ अङ्गप्रयुक्त नहीं हैं, किन्तु फल काम से प्रयुक्त हैं । इससे आश्रय के अधीन भी उपासनार्थ, आश्रय के नहीं रहने पर (कामं) यथेष्ट मले न हों, परन्तु आश्रय के समान उपासनाओं का सहभाव रहने पर उपासनार्थ सहभाव के नियम के योग्य नहीं हो सकती हैं । इससे इच्छा के अनुसार उपासनार्थ अनुष्ठित होंगी, की जायेंगी, इससे उपासना अङ्गों की व्याप्य हैं व्यापक नहीं हैं ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

दर्शयति च श्रुतिरसहभावं प्रत्ययानाम् - 'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाश्चात्विजोऽभिरक्षति' (छा० ४।१७।१०) इति । सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि 'सर्वे सर्वविदः' इति न विज्ञानवत्ता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत । तस्माद्यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति ॥ ६६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

प्रत्ययों के असहभाव को श्रुति दर्शाती है कि (इस प्रकार व्यावृत्ति आदि को जानने वाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान, और सब ऋत्विजों की रक्षा करता है) इति । जिससे सब प्रत्ययों का उपसंहार होने पर सब ऋत्विगादि सर्ववेत्ता होंगे, इससे विज्ञान वाले ब्रह्मा से इतर को परिष्कार्यता नहीं सकीर्तित हो सकेगी । इससे इच्छा के अनुसार उपासनाओं का समुच्चय वा विकल्प होना है ॥ ६६ ॥

गुणागुणात्मक विम्ब ह्यगुण ब्रह्म निर्मयम् । अन्यद् भयात्मक सर्वं ह्यशुद्ध च विनश्वरम् ॥१॥
 गुणेषु सात्त्विक शुद्ध कार्यं कल्याणकारकम् । वारक दोषसघनानामघाना हारक तथा ॥२॥
 कार्यं ब्रह्मविशुद्धिं सात्त्विकं सद्गुणयुतम् । ध्यात ज्ञात सुविज्ञात ददाति गुणमुत्तमम् ॥३॥
 उत्तमगुणलाभेन शान्तिदान्त्यादिलामन । भावन सद्गुरो देवे मुच्यते ज्ञानलामन ॥४॥
 राजस तामस भाव यत्नेन वर्जयेज्जन । काम क्रोध तथा लोभ मान मोह च मत्सरम् ॥५॥
 नरकद्वारमेतद्धि कामादि कलुषात्मकम् । एतैर्युक्तो न शक्नोति गुण शुद्ध मुमेवितुम् ॥६॥
 विशुद्धगुणमेवायमन्यत्पागायमेव च । पादोऽयं मूनिना गीत सुरोधाय कृपाटुना ॥७॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीय पाद समाप्तः ।



तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारः ।]

पुरुषार्थाधिकरणम् (१)

ऋत्वर्थमात्मविज्ञानं स्वतन्त्रं वात्मनो यतः । देहातिरेकमज्ञात्वा न कुर्यात्क्रतुगं ततः ॥
नाद्वैतधीः कर्म हेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा । आचारो लोकसंग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्ततः ॥

पूर्वोक्तउपासनादि से और वक्ष्यमाण साधनों से जन्य इस आत्मज्ञान से परमपुरुषार्थ (मोक्ष) होता है, इस प्रकार वादरायण आचार्य कहते हैं जिससे (य इत्तद्विदुस्तेऽमृत-
त्वमानशुः । ऋग् २।३।१८।२३) ये इत्—ये एव—जो लोग उस ब्रह्म को समझ पाये,
वे अमृतत्व को प्राप्त हुये, इत्यादि श्रुति से ज्ञान से ही मोक्ष सिद्ध होता है ॥ यहाँ
संशय होता है कि आत्मविज्ञान ऋत्वर्थक है वा स्वतन्त्र है । पूर्वपक्ष है कि जिससे आत्मा
के देह से अतिरेक (भेद) को समझे बिना पारलौकिक फल के हेतु कर्मों को मनुष्य
नहीं कर सकता है, इससे आत्मतत्त्व विज्ञान क्रतुगत (कर्माङ्ग) रूप कर्ता द्वारा है ।
सिद्धान्त है कि सामान्य रूप से देहातिरिक्त परोक्ष आत्मा का ज्ञान कर्माङ्ग हो सकता है
परन्तु औपनिषद अपरोक्ष अद्वैत आत्मविज्ञान कर्म का हेतु नहीं है, प्रत्युत भेद रागादि
की निवृत्ति द्वारा आत्मज्ञान कर्म को नष्ट करता है । ज्ञानो में सदाचार लोकसंग्रहार्थक
रहता है, इससे ब्रह्मज्ञान स्वतन्त्र मोक्षार्थक है ॥ १-२ ॥

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति वादरायणः ॥ १ ॥

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहो-
स्वित्स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव ताव-
दुपक्रमते पुरुषार्थोऽत इति । अतः अस्माद्वेदान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्
पुरुषार्थः सिद्धयतीति वादरायण आचार्यो मन्यते । कुत एतदवगम्यते ?
शब्दादित्याह । तथाहि—‘तरति शोकमात्मवित्’ (छा० ७।१।३) ‘स यो ह वै
तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ (मु० ३।२।९) ‘ब्रह्मविदानोति परम्’
(तै० २।१।१) ‘आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ
संपत्स्ये’ (छा० ६।१।४।२) इति । ‘य आत्माऽपहतपाप्मा’ (छा० ८।७।१)
इत्युपक्रम्य ‘स सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वाश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य
विजानाति’ (छा० ८।७।१) इति । ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’ (वृ० ४।५।६)
इत्युपक्रम्य ‘एतावदरे खल्वमृतत्वम्’ (वृ० ४।५।१५) इत्येवंजातीयका श्रुतिः
केवलाया विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति ॥ १ ॥

पूर्वोक्त गुणोपसंहार ज्ञान साधन उपासनादि विचार के बाद अब इस समय

उपनिषद्-जन्म आत्मज्ञान कर्माधिकारी के द्वारा क्या कर्म ही में प्रवेश करता है, अथवा स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ का साधन होना है, इस मीमांसा विचार को करते हुए सूत्रकार प्रथम सिद्धान्त द्वारा ही विचार का आरम्भ करते हैं कि (पुरुषार्थोऽज्ञ इति) अतः, इस वेदान्त में निहित स्वतन्त्र आत्मज्ञान से पुरुषार्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार बाद-रायण आचार्य मानते हैं। यह किस प्रमाण से ज्ञात मिथ होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, शब्द में यह अवगत होना है, ऐसा कहते हैं, जिससे इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (आत्मज्ञानी शोकसागर ससार को तन्त्रता है। इससे जो कोई उस पर ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही होता है। ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त करता है। आचार्यवाला पुरुष जानता है, और उसको सत्यात्म सम्पत्ति में तभी तक देर है कि जब तक प्रारब्ध कर्म से नहीं विमुक्त हुआ है, प्रारब्धान्त में वह सत् में सम्पन्न, लीन होता है। इति। जो आत्मा है वह सब पापों से रहित है। ऐसा आरम्भ करके (जो उस आत्मा को शास्त्रादि के द्वारा अन्वेषण, विचार करके जानता है, वह सब लोक और सब काम को प्राप्त करता है) इति। और (अरे मंत्रेयि! आत्मा दर्शन के योग्य है) ऐसा आरम्भ करके (अरे मंत्रेयि! एतावत् इस अद्वैत आत्मा का दर्शन मात्र ही अमृतत्व है) इस प्रकार की श्रुतियाँ केवल आत्मविद्या के पुरुषार्थहेतुत्व का श्रवण कराती हैं ॥ १ ॥

अथात्र पर प्रत्यवनिष्ठे—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

कर्तृत्वेनात्मनः कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि श्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्म-सम्बन्धेवेत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजने आत्मज्ञाने या फलश्रुति माज्यवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य' पर्णमयी जुहूर्भवति न स पाप इत्येक शृणोति, यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिमूत्यै' इत्येवजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः, तद्वत्।

इस सिद्धान्त के बाद इस पर अन्य शका करते हैं—पश्चान्तर को सिद्ध करते हैं कि—कर्तारूप से आत्मा के कर्म के शेष (अग) होने से उसके विज्ञान भी विषयरूप आत्मा द्वारा कर्म का हो सम्बन्धी है, जैसे ब्रौहि का प्रोक्षणादि ब्रौहि द्वारा कर्मसम्बन्धी होता है, इससे कर्म में उपकाररूप ज्ञात प्रयोजन वाले आत्मज्ञान के होने जो पुरुषार्थवादस्य (तर्गति शोकमान्मविन्) इत्यादि फलश्रुति है वह अर्थवाद मात्र है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं। जैसे कि अन्य द्रव्य, संस्कार और कर्म में फल का श्रवण है कि (जिसकी पर्णमयी जुहू होती है वह अपराध नहीं मुक्त है) वही पर्णमय द्रव्य का फल श्रवण है। (जो अपने नेत्रों में यजमान अजन करता है उसमें शत्रु के नेत्रों को ही नष्ट करता है) यह संस्कार का फल श्रवण है। (जो प्रयाज और अनुयाज किय जाते हैं, वह यज्ञ का कर्म, कवच ही किया जाता है, और यजमान के शत्रुओं के अग्निमव के लिये

वर्म होता है) इत्यादि फलश्रुति जैसे अर्थवाद हैं, इसी प्रकार ज्ञानविषयक फलश्रुति अर्थवाद है ।

कथं पुनरस्यानारभ्याधीतस्यात्मज्ञानस्य प्रकरणादीनामन्यतमेनापि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते । कर्तृद्वारेण वाक्यात्तद्विज्ञानस्य क्रतुसम्बन्ध इति चेत् । न वाक्याद्विनियोगानुपपत्तेः । अव्यभिचारिणा हि केनचिद्द्वारेणानारभ्याधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसम्बन्धोऽत्रकल्पते । कर्ता तु व्यभिचारि द्वारं लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्, तस्मान्न तद्द्वारेणात्मज्ञानस्य क्रतुसम्बन्धसिद्धिरिति । न । व्यतिरेकविज्ञानस्य वैदिकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात् । नहि देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं लौकिकेषु कर्मसूपयुज्यते, सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः । वैदिकेषु तु देहपातोत्तरकालफलेषु देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम् ।

यहाँ सिद्धान्ती कहते हैं कि कर्म के आरम्भ के विना पठित आत्मज्ञान का प्रकरणादि में किसी एक भी हेतु के विना क्रतु में प्रवेश कैसे आशङ्कित हो सकता है । यदि कहो कि वाक्य से कर्ता के द्वारा उसके विज्ञान को क्रतु के साथ सम्बन्ध होगा, जैसे कि जुहू को क्रतु के साथ सम्बन्ध है, और पर्णता को जुहू द्वारा कर्म से सम्बन्ध होता है, वैसे कर्ता को कर्म से सम्बन्ध है, इससे कर्ता द्वारा उसके विज्ञान को कर्म के साथ सम्बन्ध होगा, तो कहा जाता है कि वाक्य से विनियोग (सम्बन्ध) की अनुपपत्ति से ऐसा नहीं हो सकता है । जिससे किसी अव्यभिचारी (नित्यक्रतु सम्बन्धी क्रतुव्याप्य) द्वारा अनारभ्याधीत का भी वाक्यनिमित्तक्रतु के साथ सम्बन्ध सिद्ध हो सकता है, जैसे कि क्रतु व्याप्य जुहू द्वारा पर्णता को कर्म के साथ सम्बन्ध होता है, और लौकिक वैदिक कर्म साधारणता से कर्ता तो व्यभिचारी द्वार रूप है, क्रतु से व्याप्य नहीं है, जिससे कर्ता द्वारा उसके ज्ञान को कर्म के साथ सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है । फिर पूर्वपक्षी कहते हैं कि यद्यपि कर्तृत्व रूप से कर्ता क्रतुव्याप्य नहीं है, तथापि देह से मिश्र रूप से ज्ञात कर्ता क्रतु से व्याप्य है, इससे व्यभिचार रूप दोष नहीं है, जिससे देह से आत्मा के व्यतिरेक ज्ञान का वैदिक कर्मों से अन्यत्र उपयोग नहीं है, देह से मिश्र आत्मा का ज्ञान लौकिक कर्मों में उपयुक्त नहीं होता है, जिससे देहात्मत्व रूप से वा मिश्र रूप से किसी प्रकार भी आत्मा का ज्ञान रहे दृष्टार्थक प्रवृत्ति की सर्वथा सिद्धि होती है । परन्तु देहपात के उत्तर काल में फल वाले वैदिक कर्मों में तो देह व्यतिरिक्त आत्मज्ञान के विना प्रवृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है, इससे व्यतिरिक्त आत्मा का ज्ञान कर्म में उपयुक्त (सफल) होता है ।

नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमीपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात् । न । प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात् । अपहतपाप्मत्वादिविशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति । ननु तत्र तत्र प्रसाधितमे-

तदधिकमसमारि ब्रह्म जगत्कारण तदेव च ससारिण आत्मनः पारमार्थिक स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति । सत्य प्रसाधित तस्यैव तु स्थूणानिखननवत्फल-द्वारेणाक्षेपममाधाने क्रियेते दाढ्याय ॥ २ ॥

यदि कहो कि देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान कर्म में उपयोग होते भी अपहृतपाप्म-त्वादि विशेषण से युक्त अससारी आत्मा विषयक उपनिषद्जन्य ज्ञान प्रवृत्ति का अग, कर्म का साधन नहीं हो सकता है, तो कहा जाता है कि अससारी आत्मा नहीं है । क्योंकि जिसके लिए जाया आदि प्रिय होते हैं, उसी प्रिय आदि से समुचित ससारी आत्मा का ही द्रष्टव्य रूप से उपदेश होने से ससारी ही आत्मा है । अपहृतपाप्मत्वादि आत्मा के विशेषण तो स्तुत्यर्थक होंगे । यहाँ दाका होती है कि जन्मादि सूत्र से आरम्भ करके तत्तत् स्थानों में यह प्रसाधित (पूर्णरूप से सिद्ध) किया गया है कि अधिक (ससारी से भिन्न) अतएव अससारी ब्रह्म जगत् का कारण है और वही ससारी आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप उपनिषदों में उपदिष्ट होता है, फिर उसका यहाँ अभाव कैसे कहा जाता है । उत्तर है कि प्रसाधित हुआ है सो सत्य ही है, उसका यहाँ निषेध नहीं किया जाता है किन्तु स्थूणानिखनन के समान उसी की दृढ़ता के लिए फल द्वारा आक्षेप और समाधान किये जाते हैं ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

‘जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे’ (वृ० ३।१।१) ‘यक्ष्यमाणो वै भग-वन्तोऽहमस्मि’ (छा० ५।१।१।५) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसम्बन्धदर्शनानि भवन्ति । तयोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद् गाहंस्थ्यमम्बन्धोऽवगम्यते । केवलान्चेज्ज्ञानात्पुरुषार्थमिदं स्यात्किमर्थमनेका-यासममन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः ‘अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्’ इति न्यायात् ॥ ३ ॥

(विदेह निमि वरा के राजा जनक ने बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञ के द्वारा यजन किया । हे भगवन्त ऋषिगण ! मैं यज्ञ करने वाला हूँ आप लोग यहाँ बसो) यह ज्ञानी कवेय राजा ने कहा था । इत्यादि, अन्यपर (विद्याविधिपरक, कर्मविधिभिन्न) वाक्यों में ब्रह्मवेत्ताओं के कर्म सम्बन्ध के दर्शन होते हैं । इसी प्रकार उद्दालकादि के भी पुत्र के प्रति उपदेशादि के दर्शन से, उनका गृहस्थ धर्म यज्ञादि के साथ सम्बन्ध उपलब्ध अवगत होता है, केवल ज्ञान से यदि पुरुषार्थ की सिद्धि होनी तो अनेक आयास (परिश्रम) से युक्त कर्मों को वे ज्ञानी लोग क्यों करते, मला (अक्क) पास में गृह लोग में मधु मिल जाय, तो मध्वर्यो पर्वत पर क्यों और किस फल के लिए जायगा । इस न्याय से केवल अनायास साध्यज्ञान से मोक्ष की सिद्धि हो तो कोई ज्ञानी कर्म नहीं करे, और ज्ञानी के कर्मचार का दर्शन होता है, इससे ज्ञान कर्माद्ग है, अर्थात् कर्म समुन्वित ज्ञान से मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

‘यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिपदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति’ (छा० १।१।१०) इति च कर्मशेषत्वश्रवणाद्विद्यया न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥४॥

(विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् (ध्यान) से युक्त होकर जिस कर्म को करता है, वही कर्म अतिवीर्ययुक्त होता है, अज्ञ के कर्मों से अधिक फलप्रद होता है) इस प्रकार विद्या के कर्म शेषत्व के तृतीया विभक्ति से श्रवण होने से केवल विद्या को पुरुषार्थ का हेतुत्व नहीं है ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

‘तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते’ (वृ० ४।४।२) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहकारित्वदर्शनान्न स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ ५ ॥

(मरण के बाद परलोक में जाते हुए उस जीवात्मा के साथ शुभाशुभ विद्या और कर्म अनुगमन करते हैं, साथ वासनाएँ जाती हैं । इस प्रकार विद्या और कर्म को फलों के आरम्भ में परस्पर सहकारित्व (साहित्य) के दर्शन से फलारम्भ (पुरुषार्थ) में विद्या को स्वतन्त्रता नहीं है, किन्तु विद्या कर्म का अंग है ।

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेपेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः’ (छा० ८।१।५।१) इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्त-वेदार्थविज्ञानवतः कर्माधिकारं दर्शयति, तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वम् । नन्वत्राधीत्येत्यध्ययनमात्रं वेदस्य श्रूयते नार्थविज्ञानम् । नैप दोषः । दृष्टार्थत्वाद्वेदाध्ययनमर्थाविबोधपर्यन्तमिति स्थितम् ॥ ६ ॥

(गुरु की सेवा-शुश्रूषा आदि कर्मों से अतिरिक्त काल में विधि के अनुसार अर्थ सहित वेदों का अध्ययन करके फिर गुरुकुल, गुरुगृह से अर्थात् ब्रह्मचर्य से अमितः विधिपूर्वक समावर्तन करके, कुटुम्ब में, गाहंस्थ्य में स्थिर होकर प्रतिदिन शुचिदेश में वेद का अध्ययन तथा अन्य नित्यादि कर्मों को करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है) इत्यादि प्रकार वाली श्रुति समस्त वेद और वेदार्थ के ज्ञानवालों के कर्म विषयक अधिकार को दर्शाती है । इससे भी विज्ञान को स्वतन्त्रता पूर्वक फल का हेतुत्व नहीं है । यदि शंका हो कि श्रुति में (अधीत्य) अध्ययन करके, इस प्रकार वेद का अध्ययन मात्र सुना जाता है । अर्थ का विज्ञान नहीं सुना जाता है, तो उत्तर है कि यह अर्थ का अश्रवण रूप दोष नहीं है, जिससे ब्रीहि अवघातादि के समान वेदाध्ययन के दृष्टार्थक होने से अर्थ के अवबोधपर्यन्त वेदाध्ययन कहा जाता है, क्योंकि अर्थाविबोध रूप दृष्टफल के सम्भव रहते, अदृष्टार्थक अध्ययन को मानना अयुक्त है, ब्रह्म भी वेदार्थ है, इससे ब्रह्मज्ञान वाले के लिए कर्म का विधान होने से ज्ञान कर्म का अंग है, यह स्थित हुआ ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा ।

एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईशा० २) इति ।

तथा 'एतद्वै जरामर्षं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इत्येवजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति ॥ ७ ॥

(इस मानव देह में अग्निहोत्रादि विहित कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे, क्योंकि शतायु मनुष्य कहा जाता है । इस प्रकार कर्म करते हुए जीने वाले फलैच्छारहित तुम नरमायामिमानी में भी कर्म नहीं लिप्त होगे । इससे अन्यथा कर्मलिप का साधन नहीं है) इति । इसी प्रकार (यह जो अग्निहोत्र है सो जग अवस्था और मरणपर्यन्त कर्तव्य सत्र-याग रूप है, इससे जरा अवस्था से वा मृत्यु से ही मनुष्य इस अग्निहोत्र कर्म से मुक्त (रहित) होता है) इस प्रकार के नियमों से भी विद्या को कर्मशेषत्व ही है ॥ (द्वितीय सूत्रगत शेषत्वात् यह पञ्चम्यन्त पद प्रथमान्त रूप से यहाँ तक आया है) ॥ ७ ॥

एव प्राप्ते प्रतिविद्यते—

अधिकोपदेशात्तु वादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तुशब्दात्पक्षा विपरिवर्तते । यदुक्तम्—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' (ब्र० सू० ३।४।२) इति, तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? अधिकोपदेशात् । यदि ससार्थेवात्मा शारीर कर्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्ट स्यात्ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतिरर्थवादत्व स्यात् । अधिकमन्तावच्छारीरादात्मनोऽससारीश्वरः कर्तृत्वादिससारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषण परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर उसके निषेधपूर्वक सिद्धान्त का विधान करते हैं कि—

ससारी से अधिक (श्रेष्ठ मित्र) तत्त्व का श्रुति में उपदेश होने से तो प्रथम सूत्रोक्त वादरायण आचार्य का ही मत स्थित है, निश्चय योग्य है, जिससे इसी प्रकार उस अधिक सत्त्व का श्रुतिप्रमाण दर्शन होता है । इससे सूत्रगत तु शब्द से पूर्वपक्ष परावृत्त (निवृत्त) होता है कि जो कहा गया है कि (शेषत्वात्पुरुषार्थवाद) इत्यादि । यह उपपन्न नहीं होता है, किस हेतु से नहीं उपपन्न होता है, तो अधिक उपदेश से नहीं उपपन्न होता है । यदि कर्ता भोक्ता ससारी ही शारीर आत्मा शरीर मात्र से मिल रूप से वेदान्तों में उपदिष्ट होना, तब तो पूर्ववर्णित रीति से फलश्रुति को अर्थवादत्व होता । शारीर (जीव) आत्मा से अधिक (मिल) ही अससारी ईश्वर कर्तृत्वादिससारिधर्मरहित, अपहत पाप्मत्वादिविशेषण वाला परमात्मा वेद्यत्व रूप से वेदान्तों में उपदिष्ट होता है ।

न च तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति प्रत्युत कर्माण्युच्छिन्नतीति वक्ष्यति 'उपमर्द च' (ब्र० सू० ३।४।१६) इत्यत्र । तस्मात् 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इति यन्मतं भगवतो वादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति न शेषत्वप्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते । तथाहि तमधिकं शारीरादीश्वरमात्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।९) 'भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः' (तै० २।८।१) 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठ० ६।२) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (वृ० ३।८।९) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येवमाद्याः । यत्तु प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम् 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (वृ० २।४।५) 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (वृ० ३।४।१) 'य एपोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ८।७।४) इत्युपक्रम्य 'एतं त्वेव ते भूयोनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति चैवमादि, तदपि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्वेदः' (वृ० २।४।१०) 'योऽज्ञानायपिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (वृ० ३।५।१) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायामत्यन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः । पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम् 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (वृ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सर्वं चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम् ॥

उस परमात्मा का विज्ञान कर्मों का प्रवर्तक (साधक) नहीं होता है । प्रत्युत (उल्टा) कर्मों का उच्छेद करता है, जो (उपमर्द च) इस सूत्र में कहेंगे । जिससे (पुरुषार्थोऽतः शब्दात्) यह जो भगवान् वादरायण का मत है, वह वैसा ही वर्तमान है, शेषत्वादि हेत्वाभासों से वह विचलित नहीं किया जा सकता है । अर्थात् (ज्ञानं कर्माङ्गम्, अफलत्वे सति कर्मशेषाश्रयत्वात्) ज्ञान कर्म का अंग है, फलरहित होते कर्मशेष कर्ता विषयक होने से यह हेतु असिद्ध है, जिससे मोक्ष फल वाला ईश्वर का ज्ञान होता है, जिससे इसी प्रकार शारीर से अधिक उस ईश्वर रूप आत्मा को श्रुतियाँ दर्शाती हैं कि (जो परमात्मा सामान्य रूप से सबको जानने वाला सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने वाला सर्ववेत्ता है) इस परमात्मा के भय से ही वायु सब को शुद्ध करता और बढ़ाता है । (इसके भय से ही सूर्य उदित होता है) । उद्यत वज्र के समान ब्रह्म महान् भय का हेतु है । हे गार्गि ! इसी अक्षर अविनाशी के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र विधृत नियमित होकर स्थिर रहते हैं । उस सत् ने विचार किया कि बहुत होऊँ । बहुत रूप से उत्पन्न होऊँ, फिर उसने तेज को रचा, इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं । जो भी प्रियादि संसूचित संसारी आत्मा ही का वेद्यरूप से अनुकर्षण सम्बन्ध है कि (अपने काम के लिए सब प्रिय होता है । अरे मंत्रेयि ! आत्मा ही समझने

योग्य है। जो मुख नासिका संचारी प्राण के द्वारा प्राण की चेष्टा करता है, वह तेरा विज्ञाननय आत्मा सर्वान्तर है) और (जो यह आँख में पुरुष दीखना है) इस प्रकार उपक्रम करके (इस उक्त आत्मा ही का मैं फिर व्याख्यान करूँगा) इत्यादि जीवात्मा का अनुकरण है। वह भी (इस महान् स्वरूप का यह निश्चित है जो ऋग्वेद है। जो भूय, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु का उल्लघन करता है, जो परज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न सिद्ध होता है वह उत्तम पुरुष है) इत्यादि वाक्यशेषों से अधिक (भिन्नब्रह्म) के उपदेश की इच्छा के रहते ही अभेद में अभिप्राय वाले अनुकरण हैं, इससे अविरोध है, जीव का पारमार्थिक स्वरूप पारमेश्वर (परमेश्वर-भिन्न) ही है, शरीरत्व (शरीरमयत्व) तो उपाधिकृत है, जो (तत्त्वमसि, नान्यद-तोऽस्ति द्रष्टृ) वह तुम हो, इससे अन्य द्रष्टा नहीं है, इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है। यह सब तत्त्व तत्तत् स्थानों में विस्तारपूर्वक पूर्व हम से वर्णित हुआ है, यह भाष्यकार का कथन है ॥ ८ ॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

यत्तूक्तमाचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति । अत्र ब्रूम — तुल्यमाचारदर्शनमक-
र्मशेषत्वेऽपि विद्याया । तथाहि श्रुतिर्भवति—‘एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋ-
षय कावपेया किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वय यदयामहे, एतद्ध स्म वै
तत्पूर्वं विद्वामोऽग्निहोत्रं न जुह्वाचक्रिरे’ ‘एत वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा
पुत्रेषणायाश्च वित्तपेणायाश्च लोकपेणायाश्च व्युत्थायाश्च मिशाचर्यं चरन्ति’
(वृ० ३।५।१) इत्येवजातीयका । याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्व
दृश्यते—‘एतावदरे सत्त्वधृत्त्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजह्वार’ (वृ०
४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अपिच ‘यद्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि’
(छा० ५।११.५) इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम् । समवति च सोपा-
धिकाया ब्रह्मविद्याया कर्मसाहित्यदर्शनम्, न त्वग्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति प्रकरणा-
द्यभावात् ॥ ९ ॥

और जो यह कहा था कि आचार के दर्शन में विद्या कर्म का शेष (अङ्ग) है ।
यहाँ कहने हैं कि विद्या की अकर्मशेषता (स्वतन्त्रता) में भी आचार का दर्शन तुल्य
है, जिसने इस प्रकार की श्रुति है कि (इस प्रसिद्ध आत्मतत्त्व को उस ब्रह्मस्वरूप
जानने वाले कावपेय ऋषि कहने हैं कि हम किस लिए अध्ययन करेंगे । किस लिए
यज्ञ करेंगे । इसी वाक् और प्राण के परस्पर होम रूप अग्निहोत्र को जाननेवाले पूर्व के
विद्वानों ने अग्निहोत्र नहीं किया । मृत्यु आदि से रहित उस आत्मा को इस निजस्वरूप
जानकर ब्रह्मनिष्ठ लोग) पुत्रार्थक, वित्तार्थक और लोकार्थक इच्छाओं से व्युत्थित
उपरत होकर फिर मिशाचरण करते हैं । इत्यादि श्रुति है । ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्यादि
के भी अकर्मनिष्ठत्व (कर्मरहितत्व) देखा जाता है कि (अरे मंत्रेय ! अद्वैत आत्मदर्शन-

मात्र ही अमृतत्व है, ऐसा कह कर याज्ञवल्क्य ने त्याग किया) इत्यादि श्रुतियों से याज्ञवल्क्यादि का कर्मरहितत्व ज्ञात होता है । दूसरी बात है कि (हे भगवन्त ! मैं यज्ञ करने वाला हूँ उसे देखने के लिए आप यहाँ ठहरें) यह लिङ्गदर्शन वैश्वानर विद्या-विषयक है । सोपाधिक ब्रह्मविद्या में कर्मसाहित्य का दर्शन सम्भव है । परन्तु इस वैश्वानरविद्या में भी कर्म का अङ्गत्व नहीं है, जिससे कर्म के प्रकरणादि के अभाव से अङ्गत्व नहीं सिद्ध हो सकता है । लोकसंग्रह के लिए ज्ञानीकृत कर्म वस्तुतः कर्म नहीं होता है ॥ ९ ॥

यत्पुनरुक्तम्—‘तच्छ्रुतेः’ (ब्र० सू० ३।४।४) इति, अत्र ब्रूमः—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

‘यदेव विद्याया करोति’ (छा० १।१।१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया प्रकृतविद्याभिसंवन्धात्, प्रकृता चोद्गीथविद्या ‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) इत्यत्र ॥ १० ॥

जो यह भी कहा था कि (तच्छ्रुतेः) कर्माङ्गत्व की श्रुति से विद्या कर्माङ्ग है । इति । इस विषय में कहते हैं कि—

(जो विद्यायुक्त होकर कर्म करता है) यह श्रुति, प्रकृत विद्या के साथ अभि-सम्बन्ध से सर्वविद्याविषयक नहीं है और (ओम् इस अक्षर रूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) यहाँ यह उद्गीथ विद्या प्रकृत है । इससे आत्मविद्या कर्म का शेष नहीं है ॥ १० ॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

यदप्युक्तम्—‘तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते’ (वृ० ४।४।२) इत्येतत्समन्वारम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्याया लिङ्गम्—इति तत्प्रत्युच्यते । विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्यान्यं पुरुषमन्वारभते कर्मान्यमिति । शतवत्, यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै तद्वत् । नचेदं समन्वारम्भवचनं मुमुक्षुविषयम् ‘इति नु कामयमानः’ (वृ० ४।४।६) इति संसारिविषयत्वोपसंहारात्, ‘अथाकामयमानः’ (वृ० ४।४।६) इति च मुमुक्षोः पृथगुप-क्रमात् । तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिपिद्धा च परिगृह्यते विशेषाभावात् । कर्मापि विहितं प्रतिपिद्धं च यथाप्राप्तानुवादिवात् एवं सत्यविभागेनापीदं समन्वारम्भवचनमवकल्पते ॥ ११ ॥

और जो यह भी कहा था कि (उस परलोक में जाने वाले के साथ विद्या और कर्म अनुगमन करते हैं) यह समन्वारम्भ (साथ गमन) वचन विद्या की अस्वतन्त्रता में लिङ्ग (हेतु) है । उसका प्रत्युत्तर—प्रत्याख्यान कहा जाता है कि यहाँ विभाग समझना चाहिये कि विद्या अन्य पुरुष के साथ अनुगमन करती है, मुमुक्षु को मुक्त करती है । कर्म अन्य के साथ अनुगमन करता है । शत के समान इस विभाग को

समझना चाहिए। जैसे कि इन दोनों को सौ रुपये दो, ऐसा कहने पर विभाग करके दिया जाता है। पचास एक को और पचास अन्य को दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी विभागपूर्वक विद्या और कर्म का सहगमन होता है। वस्तुतः यह सहगमन वचन मुमुक्षु विषयक नहीं है, और विद्या शब्द का आत्मज्ञान अर्थ नहीं है, जिससे (इस प्रकार कामना करने वाला कर्म करता है, और जन्मता मरता है) इस प्रकार ससारी विषयक उपसंहार से, यह सहगमन ससारी विषयक ही सिद्ध होता है। (जिससे काम रहित मुक्त होता है) इस प्रकार मुमुक्षु के पृथक् उपक्रम से भी मुमुक्षुविषयक उक्त वचन नहीं है। उस समन्वारम्भ वचन में ससार विषयक उस वाक्य में विद्या शब्द से विहित उद्गीथादि विद्या और निषिद्ध नमन स्त्री दशानादि दोनों परिगृहीत होने हैं, क्योंकि विशेष वचन का अभाव है और कर्म शब्द के भी यथा प्राप्त के अनुवादित्व होने से विहित प्रतिषिद्ध दोनों ही कर्म कर्म शब्द से गृहीत होने हैं। ऐसा होने पर अविभाग से भी समन्वारम्भ वचन सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

यच्चैतत् 'तद्वतो विधानात्' (ब्र० सू० ३।४।६) इति, अत उत्तर पठति—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८।१।५।१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणा-
दध्ययनमात्रवत् एव कर्मविधिरित्यध्यवस्याम् । नन्वेव मत्यविद्वत्त्वादनवि-
कार कर्मसु प्रमज्ज्यते । नैष दोषः । न वयमध्ययनप्रभव कर्मावबोधनमधिका-
रकारण वारयाम, किं तर्ह्यपिदनिमात्मज्ञान स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत्प्रतीय-
मान न कर्माधिकारकारणता प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपादयाम । यथाच न
क्रत्वन्तरज्ञान क्रत्वन्तराधिकारे(णा)पेक्ष्यत एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥ १२ ॥

जो यह कहा था कि (तद्वतो विधानात्) वेदार्थज्ञान वाले के लिये कर्म के विधान से ज्ञान कर्माङ्ग है। इससे उसका उत्तर पढ़ते हैं कि—

(वेद का अध्ययन करके आचार्य कुल से समावर्तनपूर्वक गृहस्थ हो) यहाँ अध्ययन मात्र के श्रवण से अध्ययन मात्र वाले ही के लिये कर्मविधि है, ऐसा निश्चय करते हैं। यदि कहो कि ऐसा होने पर अविद्वत्ता-वेदोक्ताय के ज्ञान से शून्यता के कारण कर्मों में अनधिकार की प्राप्ति होगी, अर्थात् अर्थ के ज्ञान से रहित केवल वेद के अक्षरों को जानने वाला कर्म का अधिकारी नहीं होगा, यदि कर्म नहीं कर सकेगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, जिससे अध्ययनजन्य कर्म के अधिकार के कारणरूप कर्म ज्ञान का हम मात्र पद से वारण नहीं करते हैं। किन्तु क्या करते हैं कि उपनिषदजन्य स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोजन वाला (सफल) प्रतीत होता हुआ आत्म-ज्ञान कर्माधिकार की कारणता को नहीं प्राप्त होना है, इतना ही प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् आत्मज्ञानरहित वेदज्ञ कर्माधिकारी होने हैं, आत्मज्ञ नहीं। और जमे क्रत्वन्तर का ज्ञान किसी अन्य वस्तु के अधिकार में अपेक्षित नहीं होता है, इसी प्रकार

इस आत्मज्ञान को भी समझना चाहिए कि यह किसी क्रतु में अपेक्षित नहीं होता है, क्रतु का ज्ञान क्रतु में अपेक्षित होता है ॥ १२ ॥

यदप्युक्तं 'नियमाच्च' (ब्र० सू० ३।४।७) इति, अत्राभिधीयते—

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ईशा० २) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति, अविशेषेण नियमविधानात् ॥ १३ ॥

जो यह भी कहा था कि (नियमाच्च) जीवन काल में सदा कर्म के नियम से ज्ञान कर्माङ्ग है, इस विषय में कहा जाता है कि—

(इस मानव देह में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे) इत्यादि नियम विषयक श्रुतियों में, अविशेष (सामान्य) रूप से नियम के विधान से विद्वान् को कर्म करते, जीवन की इच्छा करनी चाहिए ऐसा विशेष नियम नहीं है। इससे अविद्वान् आत्मज्ञानरहित विषयक वह नियम है ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशा० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते। यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति सम्बध्यते तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद्वष्टव्यम्। 'न कर्म लिप्यते नरे' (ईशा० २) इति हि वक्ष्यति। एतदुक्तं भवति। यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति विद्यासामर्थ्यादिति। तदेवं विद्यां स्तूयते ॥ १४ ॥

(कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे) यहाँ अन्य विशेष कहा जाता है कि यद्यपि (कुर्वन्) इस श्रुति में प्रकरण के सामर्थ्य से विद्वान् ही कुर्वन् इस पद से सम्बन्ध वाला होता है कि विद्वान् कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, तो भी विद्या की स्तुति के लिए यह कर्म का अनुज्ञान (कर्म विषयक अनुमति) समझना चाहिए, जिससे कहेंगे कि (नर में कर्म लिप्त नहीं होता है) इससे यह रहस्य उक्त होता है कि—जीवनपर्यन्त कर्म करते रहने पर भी विद्वान् पुरुषों में विद्या के सामर्थ्य से कर्मलेप (अदृष्ट वासना) के लिए नहीं होता है। इससे अन्यथा ज्ञान के बिना अलेप का सम्भव नहीं है। इसलिए इस प्रकार विद्या की स्तुति की जाती है कि इस आत्मज्ञान के बाद इससे अन्यथा (ब्रह्मभाव से अन्यरूपता) तुममें नहीं होता है, क्योंकि कर्म का लेप नहीं होता है इत्यादि ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तदवष्टम्भात्फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति कामकारेणेति। श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम् 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माज्यं लोकः' (वृ० ४।४।२२) इति। अनुभावरूढमेव च

विद्याफल न क्रियाफलवत्कालान्तरभावीत्यसकृदवोचाम । अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्व, नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्व शक्यमाश्रयितुम् ॥ १५ ॥

और भी विद्या की स्वतन्त्रता में यह लिंग है कि विद्या के फल को प्रत्यक्ष किये हुए एक शाखा वाले विद्वान् उस विद्या के अवलम्बन से फलान्तर के साधन प्रजा (पुत्र) आदि में कामकार (इच्छा के अनुसार—स्वेच्छा) से प्रयोजन के अभाव का परामर्श (कथन) करते हैं । वाजसनेयियों की श्रुति है कि (जिस हमारे को यह कर्मफलादि से रहित आत्मा ही लोक-फल-पुरुषार्थ है सो हम प्रजा से किस फल को प्राप्त करेंगे, इस प्रकार समझने वाले पूर्व के विद्वान् आत्मज्ञानी प्रजा की कामना नहीं करते हैं, तीन लोक के साधनरूप पुत्र कर्मविद्या का अनुष्ठान नहीं करते हैं) और विद्या का फल वर्तमान काल में अनुभवारूढ (प्रत्यक्ष) होता है, क्रियाफल के समान कालान्तर में होने वाला नहीं होता है, यह अनेक बार कह चुके हैं । इस पूर्व रीति से स्वयं स्वतन्त्र फलान्तर वाला होने से भी विद्या को कर्माङ्गत्व नहीं है । उस विद्याविषयक फलश्रुति के अयथार्थत्व (मिथ्यात्व) का भी आश्रयण (स्वीकार) प्रत्यक्षता से ही नहीं कर सकते हैं । इससे विद्या की स्वतन्त्रता है ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

अपिच कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य सनस्तस्य प्रपञ्चस्या-विद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—‘यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन क पश्येत्तत्केन क जिघ्रेत्’ (वृ० २।४।१४) इत्यादिना । वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विका तु कर्माधिकारमिदं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत, तस्मादपि स्वातन्त्र्य विद्याया ॥ १६ ॥

कर्म के अधिकार के हेतुरूप क्रिया, कारक और फलस्वरूप समस्त अविद्याकृत प्रपञ्च के स्वरूप के उपमर्दन (निवृत्ति) को विद्या के सामर्थ्य से कहते हैं कि (जिस ज्ञानावस्था में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में विससे किसी को देखे और विसमें विसको सूँधे) इत्यादि वचनों से क्रिया आदि सत्य स्वरूप का अभाव कहा जाता है । इससे तो वेदान्त में वर्णित आत्मज्ञानपूर्वक कर्माधिकार की सिद्धि के लिए आशा करने वाले के कर्माधिकार के उच्छेद (नाश) की ही प्राप्ति होगी, इससे भी विद्या की स्वतन्त्रता है ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु चाश्रमेषु विद्या श्रूयन्ते, नच तत्र कर्माङ्गत्व विद्याया उपपद्यते, कर्माभावात्, नह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषा मन्ति । स्यादेतत् । ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते वेद इति, तदपि नास्ति । तेषां हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते ‘त्रयो धर्मस्कन्धाः’ (छा० २।३।१) ‘ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप

इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १।२।११)
'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (वृ० ४।४।२२) 'ब्रह्मचर्यादिव
प्रव्रजेत्' (जा० ४) इत्येवमादिषु । प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतान-
पाकृतर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् । तस्मादपि स्वातन्त्र्यं
विद्यायाः ॥ १७ ॥

चतुर्थाश्रमी ऊर्ध्वरेतसों, वद्धवीर्यो में आत्मविद्या सुनी जाती है और कर्म के अभाव
से उनमें विद्या को कर्माङ्गत्व नहीं हो सकता है, जिससे अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का
उनको अभाव है । यदि कहो कि यह कर्माङ्गत्व विद्या को होगा ही, जिससे वेद में
ऊर्ध्वरेतस आश्रम नहीं सुने जाते हैं, इससे वह कर्माङ्गत्व के अनुपपन्नत्व भी नहीं है ।
तो कहा जाता है कि, वह ऊर्ध्वरेतस का अश्रवण भी वेद में नहीं है, जिससे तेजपि
(ऊर्ध्वरेतस भी) (शब्दे) वैदिक शब्दों में अवगत होते हैं कि (धर्म के स्कन्ध, प्रविभाग
तीन हैं, अर्थात् कर्म प्रधान आश्रम तीन है । चतुर्थं ब्रह्मसंस्थ है) जो ये जंगल में
वानप्रस्थ और संन्यासी श्रद्धा और तप का सेवन करते हैं । ज्ञानयुक्त जो वानप्रस्थ
और संन्यासी स्वधर्मरूप तप और विद्यात्मक श्रद्धा का जंगल में रहकर सेवन करते
हैं । प्रव्रजनशील सब इस आत्मस्वरूप लोक को ही चाहते हुए त्याग करते हैं ब्रह्मचर्य
से ही त्याग करें । इत्यादि शब्दों में चतुर्थाश्रम अवगत होता है । यह भी नियम नहीं
है कि (ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणः) इत्यादि श्रुति
आदि के अनुसार गृहस्थ और ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण से रहित हो करके ही
त्याग करना चाहिये । किन्तु (ब्रह्मचर्यादेव) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार गृहस्थाश्रम
को प्राप्त हों वा नहीं प्राप्त हों, तीन ऋणों का अपाकरण किये हों या नहीं किये हों,
उन सब विरक्तों का ऊर्ध्वरेतस्त्व (त्याग) श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है । अविरक्तों के
लिये गार्हस्थ्य ऋणापाकरण है । इस संन्यासनिष्ठत्व से भी विद्या को स्वतन्त्रता है ॥ १७-॥

परामर्शाधिकरणम् (२)

नास्त्यूर्ध्वरेताः किं वास्ति नास्त्यसावविधानतः ।
वीरघाता विधेः क्लृप्तावन्धपंग्वादिगा स्मृतिः ॥
अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तिर्वीरहानग्निको गृही ।
अन्धादेः पृथगुक्तत्वात्स्वस्थानां श्रूयते विधिः ॥
लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा ।
यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्हत्यवारणात् ॥
अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठासी कर्मठे कथम् ।
कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः ॥

जैमिनि आचार्य उक्त धर्मस्कन्धबोधक शब्द में ऊर्ध्वरेता का परामर्श (कथन,
अनुवाद) मानते हैं, जिससे वहाँ लिङ्लोट् आदि चोदना (विधि) नहीं है । कर्मत्यागी
का श्रुति अपवाद (निन्दा) भी करती है । इससे त्यागाश्रम नहीं है कि जहाँ विद्या

कर्म का अर्थ नहीं हो। यहाँ सशय है कि ऊर्ध्वरेता नहीं होता है, अथवा होता है। पूर्वपक्ष है कि विधि के अभाव से ऊर्ध्वरेता नहीं होता है। अपूर्व अर्थ होने आदि से यदि विधि की कल्पना (कल्पना) करें, तो भी (बोरहा वा एष देवानाम्) इस वचन में बोरहात रूप दोष प्राप्त होता है। सन्यासविषयक जो स्मृति है, वह कर्म के अनधिकारी अन्य-पक्ष आदि विषयक है। इससे कर्माधिकारी स्वस्थ के लिए चतुर्थाश्रम नहीं है। सिद्धान्त है कि चतुर्थ आश्रम है जिससे अपूर्व विधि की कल्पना सिद्ध होती है। अग्निरहित गृहस्थ बोरहा होता है। अन्धादि अनाधिकृत के सन्यास पृथक् उक्त होने से स्वस्थों के सन्यास की विधि सुनी जाती है। पुण्यलोक की कामना वाले तीन आश्रमी क्या ब्रह्मनिष्ठा के योग्य होते हैं अथवा नहीं होते हैं ? पूर्वपक्ष है कि लोकार्थक कर्मादि से अवकाश के समय अवकाश के अनुसार वे भी ब्रह्म को ही जान सकते हैं, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा के लिये विचारादि कर सकते हैं, क्योंकि किसी वचन से उनका वारण (निषेध) नहीं किया गया है कि लोकार्थी ब्रह्मविचारादि नहीं करे इत्यादि। सिद्धान्त है कि अनन्यचित्तता केवल ब्रह्मपरता ब्रह्मनिष्ठा कहाता है, वह कर्मठ (कर्म-परायण) में कैसे हो सकती है। इससे कर्मविषयक आसक्ति लोककामादि का त्याग ब्रह्मनिष्ठा के योग्य होता है, अन्य नहीं होता है इत्यादि ॥ १-४ ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

‘त्रयो धर्मस्कन्धा’ (छा० २।२३।१) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणा सद्भावायोदाहृता न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति। यत् परामर्शमेव शब्देष्वाश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते न विधिम्। कुत ? नह्यत्र लिङ्गादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति। अर्थान्तरपरत्व चेपु प्रत्येकमुपलभ्यते। त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावच्चोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽन्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेज्जसादयन्सर्वं एते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं सकीर्त्यात्यन्तिकफलनया ब्रह्मसम्पत्ता स्तूयते—‘ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’ (छा० २।२३।१) इति।

(तीन धर्म के स्वर्ग्य हैं) इत्यादि जो शब्द, ऊर्ध्वरेता आश्रमी (कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस) के सद्भाव (अस्तित्व) के लिए उदाहृत हुए हैं, कहे गये हैं वे शब्द उन आश्रमों के प्रतिपादन के लिये समर्थ नहीं होते हैं। जिससे इन शब्दों में अन्य आश्रमों के परामर्श (अनुवाद) जैमिनि आचार्य मानते हैं, विधि नहीं मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं कि जिससे इन शब्दों में लिङ्गादि में से कोई विधिवाचक शब्द नहीं है। इनमें प्रत्येक का अर्थान्तरपरत्व (अन्वय में तात्पर्य) उपलब्ध (ज्ञात) होता है। जैसे कि तीन धर्म के स्वर्ग्य (आश्रम) हैं। यहाँ आदि में यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीनों मिलकर एक प्रथम धर्मस्कन्ध कहा गया है। तप ही द्वितीय

धर्मस्कन्ध कहा गया है। आचार्यगृह में बसने वाला और आचार्यकुल में ही अपनी आत्मा-देह को अत्यन्त जीवनपर्यन्त क्षीण करता हुआ नैष्ठिक ब्रह्मचारी तृतीय धर्मस्कन्ध कहा गया है। ये सब पुण्य लोक वाले होते हैं, इस प्रकार पूर्वकथित के परामर्श (कथन, अनुवाद) पूर्वक आश्रमों के अनात्यन्तिक (अनित्य) फलवत्त्व का संकीर्तन करके आत्यन्तिक (नित्य) फलवत्तारूप से ब्रह्मसंस्थता (ब्रह्मनिष्ठता) की स्तुति की जाती है कि (ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् पुण्यलोक से भिन्न अविनाशीफल को प्राप्त करता है)। इस प्रकार स्तुति के लिए अनुवाद होने से आश्रमों की विधि नहीं है।

ननु परामर्शोऽप्याश्रमा गम्यन्ते एव। सत्यं गम्यन्ते, स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः। अतश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति, अनधिकृतविषया वा। ननु गार्हस्थ्यमपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति। सत्यमेवम्, तथापि तु गृहस्थं प्रत्ये-वाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम्। तस्मात्स्तु-त्यर्थ एवायं परामर्शो न चोदनार्थः। अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते', 'आचार्याय प्रियं धनमाहुत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' (तै० १।१।११) 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' इत्येवमाद्या। तथा 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १।१।४२) इति च देवयानोप-देशो नाश्रमान्तरापदेशः। सन्दिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्येवमादिषु। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (वृ० ४।४।२२) इति लोकसंस्तवोऽयं न पारिव्राज्याविधिः। ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जावालानाम्। सत्यमेवमेतत्। अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

यदि कहा जाय कि परामर्श होते भी आश्रम तो अवगत होते ही हैं, तो कहा जाता है कि अवगत तो सत्य ही होते हैं, परन्तु स्मृति आचार से उन आश्रमों की प्रसिद्धि है, प्रत्यक्ष श्रुति से संन्यासाश्रम की प्रसिद्धि नहीं है। इससे जीवन पर्यन्त अग्निहोत्रादिविधायक प्रत्यक्षश्रुति से विरोध होने पर वे अग्नि आदि रहित आश्रम सर्वथा अनादरणीय होंगे, अथवा कर्म में अनधिकृत अन्धादि विषयक होंगे। यदि कहा जाय कि ऊर्ध्वरेता आश्रमों के साथ ही गृहस्थता भी (यज्ञ, अध्ययन और दान यह प्रथम है) इस प्रकार परामृष्ट (कथित, अनूदित) है, इससे अन्य आश्रमों के अनादर-णीय होने पर साथ में अनुवादित गार्हस्थ्य भी अनादरणीय होगा, जिससे आश्रम और आश्रमधर्मादि का लोप ही प्राप्त होगा। तो कहा जाता है कि अन्य आश्रमों के साथ गार्हस्थ्य का अनुवाद तो इस प्रकार सत्य ही है, तथापि गृहस्थ के प्रति ही अग्निहोत्रादि कर्मों के विधान से उस गार्हस्थ्य का अस्तित्व श्रुति से ही प्रसिद्ध है। इससे यह गृहस्थ से अन्य ऊर्ध्वरेता का परामर्श स्तुति के ही लिए है, विधि के लिए

नहीं है। दूसरी बात है कि प्रत्यक्ष ही श्रुति अन्य आश्रम का निषेध अपवाद (निन्दा) करती है कि (जो अग्नि का उद्भासन, विहनन करता है वह देवों का वीरहा, पुत्रघातक होता है) आचार्यों के लिए प्रिय धन दे कर प्रजातन्तु, सन्तति का उच्छेद नहीं करो। पुत्ररहित को लोक नहीं प्राप्त होता है, यह सब पशु जानते हैं। इत्यादि श्रुति है। इसी प्रकार (जो ये जगल में श्रद्धा और तप का सेवन करते हैं। जगल में बसते हुए जो तप और श्रद्धा का सेवन नहीं करते) ये वचन भी देहयान मार्ग के उपदेशरूप हैं, आश्रमान्तर के उपदेशरूप नहीं हैं, क्योंकि (तेऽर्चयममिसम्भवन्ति) इत्यादि वाक्यशेष है। आश्रमवाचक शब्द के नहीं रहने से स्कन्ध शब्द के आश्रमवाचक नहीं होने से (तप ही द्वितीय है) इत्यादि में अन्य आश्रम का कथन सदिग्ध है। इसी प्रकार (इस आत्मस्वरूप लोक को चाहने वाले प्रव्रजन्शील त्याग करते हैं) यह वचन आत्मस्वरूप लोक की स्तुतिरूप है, पारिव्राज्य (त्याग) की विधि रूप नहीं है। यदि कहा जाय कि ब्रह्मचर्य से ही त्याग करे, यह जावाल्लो का प्रत्यक्ष विस्पष्ट ही त्याग विधान है, तो भाष्यकार कहते हैं कि इस जावाल्लो श्रुति की अपेक्षा नहीं करके इसकी सत्ता को नहीं मानकर यह विचार है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

अनुष्ठेयमाश्रमान्तर वादरायण आचार्यों मन्यते। वेदे श्रवणात्। अग्निहो-
त्रादीनां चावश्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमिति हीमा मति
निराकरोति गार्हस्थ्यदेवाश्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमान।
कुत ? साम्यश्रुते। समाना हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते
'त्रयो धर्मस्कन्धा' (छा० २।२३।१) इत्याद्या। यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव
गार्हस्थ्य परामुष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम्। यथाच शास्त्रान्तर-
प्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयो परामर्श उपवीतविधिपरे वाक्ये, तस्मात्तुल्य-
मनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य। तथा 'एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त'
प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यस्य वेदनानुवचनादिभि समभिव्याहार। 'ये
चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्यापासते' (छा० ५।१०।१) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्या।
यत्तूक्तम्—'तप एव त्रितीय' (छा० २।२३।१) इत्यादिपञ्चाश्रमान्तराभिधान
सदिग्धम्—इति। नैष दोषः। निश्चयकारणमद्भावात्। 'त्रयो धर्मस्कन्धा.'
(छा० २।२३।१) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्व प्रतिज्ञातम्। नच यज्ञादयो भूयासो
धर्मा उत्पत्तिभिन्ना मन्तोऽन्यथाश्रमसम्बन्धात्प्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते।
तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टो, ब्रह्मचारीनि च स्पष्ट
आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कौञ्ज्यस्तप प्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्यते।
'ये चेमेऽरण्ये' (छा० ५।१०।१) इति चारण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपोऽप्यमाश्रम-
गृहीति। तस्मात्परामर्शेऽन्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥ १९ ॥

कहीं भी किसी प्रकार भी विधि के नहीं रहने पर अनुवाद नहीं हो सकता है, इससे अनुवाद से भी विधि को समझकर आश्रमान्तर अनुष्ठान के योग्य है इस प्रकार वादरायण आचार्य मानते हैं, जिससे वेद में आश्रमान्तर का श्रवण है, इससे वह अनुष्ठान के योग्य है। आश्रमान्तर की इच्छा नहीं करने वाले को भी गार्हस्थ्य के समान ही आश्रमान्तर का भी स्वीकार करना चाहिए, ऐसा मानते हुए वादरायण आचार्य अग्निहोत्रादि के अवश्य अनुष्ठेय (अनुष्ठान योग्य) होने से और आश्रमान्तर में उस अग्निहोत्रादि के विरोध से अग्निहोत्रादि में अनधिकृतों से ही आश्रमान्तर अनुष्ठेय है, इस मति का निराकरण करते हैं। क्यों निराकरण करते हैं, उत्तर है कि समता की श्रुति से निराकरण करते हैं। जिससे (तीन धर्म के स्कन्ध हैं) इत्यादि रूप परामर्श श्रुति गार्हस्थ्य के समान ही आश्रमान्तर की देखी जाती है। जैसे इस परामर्श श्रुति में श्रुत्यन्तर में विहित ही गार्हस्थ्य परामृष्ट (अनुवादित) होता है, इसी प्रकार अन्य श्रुति में विहित ही आश्रमान्तर भी यहाँ परामृष्ट होता है। जैसे (निवीतं मनुष्याणां, प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानामुपव्ययते देवलक्ष्मणं तत्कुरुते) इस उपवीत विधि परक वाक्य में शास्त्रान्तर से प्राप्त ही निवीत और प्राचीनावीत का परामर्श किया जाता है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। (उद्धृते दक्षिणे पाणामुपवीत्युच्यते द्विजः । सव्ये प्राचीन आवीतो निवीती कण्ठसज्जने) इस मनुवचन के अनुसार देवकार्यादि में उपवीती आदि का लक्षण ज्ञेय है। इससे गार्हस्थ्य के तुल्य ही आश्रमान्तर को भी अनुष्ठेयत्व है। इसी प्रकार (इस आत्मस्वरूप लोक की ही इच्छा से त्यागी त्याग करते हैं) इस वचन में इस संन्यास का अनुष्ठेय वेदानुवचनादि के साथ कथन है, इससे यह अनुष्ठेय विवेक है। जो ये जंगल में श्रद्धातप की उपासना करते हैं) इस वानप्रस्थ का पञ्चाग्नि विद्या के साथ कथन है, इससे विवेक पञ्चाग्नि विद्या के समान वानप्रस्थ भी विवेक है। जो यह कहा या कि (तप ही द्वितीय स्कन्ध है) इत्यादि वचनों में आश्रम वाचक शब्द के नहीं होने से आश्रमान्तर का विधान सन्दिग्ध है, वहाँ निश्चय कारण के उद्भाव (सत्ता) से यह दोष नहीं है। जिससे (धर्म के तीन स्कन्ध हैं) इस प्रकार धर्म स्कन्ध का त्रित्व (तीन संख्या) प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञा का विषय) हुआ है। यजेत, अव्ययः, दद्यात्, इत्यादि कर्म स्वरूप बोधक उत्पत्ति विधि से भिन्न उत्पत्ति वाले (पृथक् उत्पन्न) होते हुए यज्ञ, अव्ययन, दान, श्रद्धा, तप आदि बहुत धर्म आश्रम के साथ सम्बन्ध के बिना त्रित्व (तीन संख्या) के अन्तर्भाव करने के योग्य नहीं हो सकते हैं। वहाँ यज्ञादि चिह्नवाला एक गृहाश्रम रूप धर्मस्कन्ध निर्दिष्ट है। ब्रह्मचारी इस शब्द से स्पष्ट आश्रम का निर्देश है। तप इस शब्द से भी तपःप्रधान वानप्रस्थाश्रम से अन्य तीन धर्मस्कन्ध अभ्युपगत होगा, अर्थात् तप इससे वानप्रस्थ आश्रम ही निर्दिष्ट है। (जो ये अरण्य में श्रद्धा तप का सेवन करते हैं) इस श्रुति में भी अरण्यलिङ्ग से और श्रद्धा तप से आश्रम का ग्रहण (ज्ञान) होता है। जिससे परामर्श होते भी आश्रमान्तर अनुष्ठान योग्य है ॥ १९ ॥

विधिर्वाञ्छमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम् । ननु विधित्वाभ्युपगम एक-
वाक्यताप्रतीतिरुपस्थेय प्रतीयते चात्रैकवाक्यता पुण्यलोकफलाश्चयो धर्म-
स्कन्धा ब्रह्मस्यता त्वमृतत्वफलेति । सत्यमेतत् । सतीमपि त्वेकवाक्यता-
प्रतीतिं परिगृह्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्योऽपूर्वत्वात् विध्यन्तरस्यादर्शनात्,
विस्पष्टाच्चाश्रमान्तरप्रत्ययाद्गुणवादकल्पनयैकवाक्यत्वयोजनानुपपत्तेः । धार-
णवत् । यथा 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र
सत्यामप्यवोधारणेनैकवाक्यताप्रतीती विधीयत एवोपरिधारणमपूर्वत्वात् ।

प्रथम स्कन्ध श्रुति को अनुवादक मानकर विध्यन्तर की कल्पना द्वारा आश्रमो
को अनुष्ठानाहं कहा गया है, अब उस स्कन्ध श्रुति को ही विधि रूप कहते हैं कि
अथवा यही आश्रमान्तर की विधि रूप है, परामर्शमात्र नहीं है । शका होती है कि
अनुवादपूर्वक स्तुति मानने से एकवाक्यता होती है, चार आश्रम की विधि मानने
पर एकवाक्यता की प्रतीति उपर्युक्त बाधित होगी । एकवाक्यता की प्रतीति होती है
कि तीन धर्मस्कन्ध पुण्यलोक रूप फलवाले होते हैं, और ब्रह्मनिष्ठता तो अमृतत्वफली
है । उत्तर है कि यह कथन सत्य है कि एकवाक्यता प्रतीत होती है, परन्तु विध्यन्तर
से प्राप्ति के अभाव से और प्राप्ति के बिना अनुवाद के असम्भव होने से और परामर्श
के नहीं रहने पर स्तुति के भी नहीं हो सकने से, वर्तमान भी एकवाक्यता प्रतीति को
परित्याग करके अपूर्वता से विधि ही स्वीकार के योग्य है । तथा विध्यन्तर के अदर्शन
से विधि स्वीकार के योग्य है । विस्पष्ट आश्रमान्तर की प्रतीति होने से गुणवाद
(स्तुतिवाद) की कल्पना द्वारा एकवाक्यत्व की योजना की अनुपपत्ति से विधि
स्वीकार के योग्य है । वह भी धारण के समान एकवाक्यता को त्याग कर स्वीकार के
योग्य है । जैसे पिण्डपितृ महायज्ञ में विधि है कि (आहवनीय अग्नि में हवनकाल में
हवि से पूर्ण स्रुग् (पात्रविशेष) के नीचे समिध का धारण करता हुआ अनुद्रवण करे
और देवताओं के लिए तो हवि से ऊपर समिध का धारण करता है) यहाँ सह पाठ
और प्राग्यति में विधि के अभाव से उपरि धारण को अनुवाद मानने पर अधोधारण
के साथ ऊपर धारण की एकवाक्यता की प्रतीति होने भी धारयति में पञ्चम लकार
मानकर अपूर्वता से उपरि धारण का विधान ही किया जाता है ।

तथाचोक्त शेषलक्षणे—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति । तद्वदिहाप्या-
श्रमपरामर्शश्रुतिविधिरेवेति कल्प्यते । यदापि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां
तदापि ब्रह्मस्यता तावत्समस्तवसामर्थ्यादवश्यं विधेयाऽभ्युपगन्तव्या । मा च किं
चतुर्थाश्रमेऽप्यस्य कस्यचिदाहोम्वित्परिव्राजकस्यैवेति विवेकव्यम् ।
यदि च ब्रह्मचार्यन्तोष्वाश्रमेऽपि परामृश्यमानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टन्तश्च-
तुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषादनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्थाश्रमेऽपि

ब्रह्मसंस्था भविष्यति । अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति ।

उसी प्रकार पूर्वमीमांसा के शेषाव्यायों में कहा है कि (अपूर्वता से शुग् के ऊपर समिध के धारण में विधि है) । उसी के समान यहाँ भी आश्रमविषयक परामर्श श्रुतिविधि ही है ऐसी कल्याण की जाती है और जब भी यह आश्रमान्तर का परामर्श-रूप ही है तब भी ब्रह्मसंस्थता तो संस्तव (स्तुति) सामर्थ्य ने अवश्य ही विवेक अभ्युगन्तव्य (स्वीकारार्ह) है । इस प्रकार विवेक होने पर भी वह ब्रह्मसंस्थता चारों आश्रमों में जिस किसी का धर्म है अथवा परिव्राजक का ही है । यह विवेक करने योग्य है यदि (त्रयः) तीन स्कन्ध हैं इस श्रवण से परामृश्यमान ब्रह्मचर्यपर्यन्त तीन आश्रम में ही परिव्राजक भी परामृष्ट है, अर्थात् तीन में ही यदि संन्यासो का भी ग्रहण है, तब तो चारों ही आश्रमों के परामृष्टत्व के तुल्य होने से और (अनाश्रमी न तिष्ठेत्) इस वचन के अनुसार (अनाश्रमित्व की अनुपपत्ति से जो ब्रह्मसंस्थ होगा वह चारों आश्रमों में से ही कोई होगा) यदि ब्रह्मचर्यपर्यन्त तीन आश्रमों में परिव्राजक नहीं परामृष्ट हुआ है, तो तीन में परिशिष्यमाण (बाकी, भिन्न) परिव्राट् ही ब्रह्मसंस्थ सिद्ध होगा । इस प्रकार तीन के अन्दर परिव्राजक का परामर्श और परामर्श का अभाव के द्वारा संशय होता है ।

तत्र तपःशब्देन वैखानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राडपीति केचित् । तदयुक्तम् । नहि सत्यां गतीं वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति । यथात्र ब्रह्मचारिगृहमेधनावसाधारणेनैव स्वेन स्वेन विशेषणेन विशेषितावेवं भिक्षु-वैखानसावपीति युक्तम् । तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानां कायक्लेश-प्रधानत्वात् तपःशब्दस्य तत्र रुढेः, भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते ।

यहाँ कोई पूर्वपक्ष का ग्रहण करते हैं कि वैखानस (वानप्रस्थ) के ग्राहक (बोधक) तप शब्द से परिव्राट् भी परामृष्ट होता है, क्योंकि यम-नियमादिरूप तप का परिव्राजक में भी सम्भव है । स्वामाविक बहुत विलक्षणता और यमादि में तप शब्द की अप्रसिद्धि से सिद्धान्ती कहते हैं कि वह तपशब्द से परिव्राजक का ग्रहण अयुक्त है । जिससे पृथक् गति रहते वानप्रस्थ के विशेषण तप से परिव्राजक ग्रहण के योग्य नहीं हो सकता है । जैसे यहाँ (धर्मस्कन्ध श्रुति में) ब्रह्मचारी और गृहस्थ असाधारण अपने-अपने विशेषणों से ही विशेषित (विशेष रूप से कथित) हैं । इसी प्रकार भिक्षु वैखानस भी असाधारण अपने-अपने विशेषण से विशेषित हैं ऐसा मानना युक्त है । वानप्रस्थों की कायक्लेश-प्रधानता से उनका तप असाधारण धर्म है । जिससे कृच्छ्रादिरूप कायक्लेश में ही तप की रुढ़ि है, इनसे वही उनका असाधारण धर्म सिद्ध होता है । इन्द्रियों के संयमादि रूप भिक्षु का धर्म तो तप शब्द से नहीं कहा जाता है ।

चतुष्टवेन च प्रसिद्धा आश्रमास्तित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम् । अपि च भेदव्यपदेशोज्ञ भवति 'त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्' इति । पृथक्त्वे चैव भेदव्यपदेशोज्ज्वल्यते । नह्येव भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञा-
वन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञ इति । भवति त्वेव देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ विष्णु-
मित्रस्तु महाप्रज्ञ इति । तस्मात्पूर्वं त्रय आश्रमिण पुण्यलोकभाज परिशिष्य-
माण परिव्राडेवामृतत्वभाक् । कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थगच्छो योगात्प्रवर्तमान सर्वत्र
सम्भवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत्, रूढ्यभ्युपगमे वाश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञाना-
नर्थक्यप्रसङ्ग इति ।

चार रूप से प्रसिद्ध आश्रम तीन रूप से परामृष्ट हो यह अन्याय्य है । दूसरी बात है कि यहाँ भेद का व्यपदेश (कथन) होता है कि (ये गृहस्थादि तीन पुण्यलोक के भागी होते हैं) एक अमृत का भागी होता है । वानप्रस्थ से परिव्राजक का पृथक्त्व होने पर यह भेद का व्यपदेश सिद्ध होता है । जिससे ऐसा प्रयोग नहीं होता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त मन्द बुद्धिवाले हैं, परन्तु इन दोनों में से एक महाबुद्धिमान् है । इस प्रकार का प्रयोग तो होता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त तो मन्द बुद्धिवाले हैं, परन्तु विष्णुमित्र महाबुद्धिमान् है । इससे पूर्व के तीन आश्रमों पुण्यलोकरूप फल वाले होने हैं । परिशिष्ट एक परिव्राट् विरक्त निर्वासन मुनि अमृतत्वरूप फल वाला होता है । यहाँ शका होती है कि योग (अवयवार्थ) से प्रवृत्त होता हुआ ब्रह्मसंस्थ शब्द सग आश्रमा में सम्भव वाला होता हुआ परिव्राजक में ही क्यों और कैसे अवस्थित, निवर्तित होगा, जो ब्रह्मनिष्ठ हो वह ब्रह्मसंस्थ कहा जा सकता है, अथवा आश्रमविशेष में ब्रह्मसंस्थ शब्द की रूढ़ि (शब्दशक्ति) मानने पर आश्रममात्र से अमृतत्व की प्राप्ति होने में ज्ञान की अनर्थकता की प्राप्ति होगी ।

अत्रोच्यते—ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारान्तर-
तन्निष्ठवमभिधीयते । तच्च त्रयाणामाश्रमाणां न सम्भवति स्वाश्रमविहितसर्मा-
ननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्, परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसंन्यामात्प्रत्यवायो न
सम्भवत्यननुष्ठाननिमित्त । शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपो-
द्वेयको न विरोधी । ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपवृत्ति स्वाश्रमविहित
कर्म यज्ञादीनि चेनरेषाम् । तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवाय । तथा च 'न्याम इति
ब्रह्मा ब्रह्मा हि परं परो हि ब्रह्मा' 'तानि वा एतान्यवराणि तपामि न्याम एता-
त्यरेचयन्' (नारी० ७८) 'वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्था गन्यामयोगाद्यनय
शुद्धमत्त्वा' (मुण्ड० ३।२।६ नारी० १२।३ कैवल्य० ३) इत्याद्या श्रुतयः,
स्मृतयश्च—'तद्वद्व्यम्नसात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणा' (गी० ५।१७) इत्याद्या
ब्रह्मसंस्थस्य कर्माभाव दर्शयन्ति ।

यहाँ उक्त कहा जाता है कि ब्रह्मसंस्थ इस शब्द से ब्रह्म ही में परिणत (सब तरफ-
से) चित्त को संकेत कर समाप्ति (सम्यक् प्राप्ति) स्थितिस्थ ही अन्य व्यापार-

रहितता, अनन्यव्यापारतारूप ब्रह्मनिष्ठत्व कहा जाता है। स्वाश्रमविहित कर्मों के नहीं अनुष्ठान करने पर प्रत्यवाय के श्रवण से तीन आश्रमियों को उस ब्रह्मनिष्ठत्व का संभव नहीं है। सब कर्मों के परित्याग से परिव्राजकों को तो कर्म के अनुष्ठान (त्याग) निमित्तक प्रत्यवाय का संभव नहीं है। शमदमादि जो उस परिव्राजक के धर्म हैं, वह तो ब्रह्मनिष्ठता के उपोद्वलक (उद्वोधक, पोषक हैं, विरोधी नहीं हैं। शमदमादि से उपवृंहित (परिवर्द्धित, पोषित) ब्रह्मनिष्ठत्व ही उस परिव्राजक का स्वाश्रमविहित कर्म है। यज्ञादि अन्य के कर्म हैं। उस शमादि-सहित ब्रह्मनिष्ठत्व के व्यतिक्रमण उल्लंघन, त्याग से उस परिव्राजक को प्रत्यवाय होता है। इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (ब्रह्मपरायणतापूर्वक सर्व इच्छा संग का त्यागरूप संन्यास ब्रह्मा है। ब्रह्मा ही पर-हिरण्यगर्भ है, इससे संन्यासरूप ब्रह्मा भी पर ही है) किससे पर है ऐसी अपेक्षा होने पर कहा जाता है कि (वे पूर्वोक्त सत्यादि ज्ञानरहित ये तप अवर हैं। इनसे संन्यास ही अतिरिक्त श्रेष्ठ है, ब्रह्मनिष्ठा द्वारा मोक्ष का हेतु माना गया है) (वेदान्त विज्ञान का अर्थरूप परमात्मा जिनको मुनिश्चित है, संन्यासरूप योग से पतनशील वे शुद्ध सत्त्व वाले परान्त, उत्तमान्त काल मे सर्वथा मुक्त होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। स्मृतियाँ हैं कि (उस परब्रह्मविषयक वृद्धिवाले, ब्रह्मरूप आत्मा वाले, उसमें निष्ठा स्थिति प्रीति वाले, तत्स्वरूप ही परम व्ययन, गति वाले ज्ञान से विनष्ट पापादि वाले होकर पुनरावृत्तिरहित मोक्ष को प्राप्त करते हैं)। इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ ब्रह्मसंस्थ के कर्मों के अभाव को दर्शाती हैं।

तस्मात्परिव्राजकस्याश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येवोपि दोषो नावतरति। तदेवं परामर्शोऽपीतरेषामाश्रमाणां पारिव्राज्यं तावद्ब्रह्मसंस्थतालक्षणं लभ्येतैव। अनपेक्ष्यैव जावालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनोमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः। विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेत्रथा ब्रह्मचर्यादिव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' (जावा० ४) इति। न चेवं श्रुतिरनविकृतविषया शक्या वक्तुम्। अविज्ञेयश्रवणात्, पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम् 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निर्वा' (जावा० ४) इत्यादिना ब्रह्मज्ञानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नानधिकृतविषयत्वम्। तच्च दर्शयति—'अथ परिव्राजिवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षानो ब्रह्मभूयाय भवति' (जावा० ५) इति। तस्मात्सिद्धा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाः। सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति ॥ २० ॥

इस प्रकार ब्रह्मसंस्थ शब्द के ज्ञान प्रधान आश्रम के वाचक होने से परिव्राजक को आश्रममात्र से मोक्ष की प्राप्ति होने से ज्ञान की अनर्थकता का प्रसंगरूप यह दोष भी नहीं प्राप्त होता है। इससे इस प्रकार इतर आश्रमों के परामर्श (अनुवाद) होते, विधि के नहीं रहते भी ब्रह्मसंस्थता की स्तुति के सामर्थ्य से ब्रह्मसंस्थतारूप पारिव्राज्य संन्यास प्राप्त होता ही है। वस्तुतः आश्रमान्तर, संन्यास को विधान करने

वाली जायाल श्रुति को अपेक्षा नहीं करके ही आचार्य से यह विचार प्रवर्तित (प्रारब्ध) हुआ है। आश्रमान्तर की विधिरूप श्रुति तो प्रत्यक्ष है ही कि (ब्रह्मचर्य को परिममास करके गृहस्थ होना चाहिए, गृहस्थ होकर वनस्थ होना चाहिए। वनस्थ होकर प्रव्रजन (सर्वथा त्याग) करना चाहिए। अथवा अन्य प्रकार से भी ब्रह्मचर्य में प्रव्रजन करे, या गृह से या वन से प्रव्रजन करे)। सामान्य श्रवण होने में यह श्रुति कर्म में अनधिकृत (कर्माधिकाररहित) विषयक नहीं कही जा सकती है, जिससे सामान्य श्रुति के सकोच में कोई प्रमाण नहीं है। अनधिकारियों के सन्यास का पृथक् विधान है, इसमें भी यह श्रुति अनधिकृत-विषयक नहीं है। उम श्रुति के बाद अनधिकृतविषयक श्रुति है नि (और फिर भी वेदव्रती हो, या वेदव्रतरहित हो, गुणकुल से परिवर्तन के बाद भी गार्हस्थ्यरहित गुरसेवी स्नातक हो वा उससे विपरीत अस्नानक हो, विधुग (मृतमार्याक) उत्सन्नाग्निक हो, या अग्नि-परिग्रहग्रहित हो। दृढ़ वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होने पर परिव्रजन (त्याग करे) इत्यादि वचनों से किसी हेतु से कर्म के अधिकारी सर्वाङ्गयुक्त मुमुक्षुओं के लिए सन्यास का विधान किया गया है, विकलाङ्ग ज्ञान-साधन में असमर्थादि के लिए तो ज्ञानप्रधान आश्रम में कर्मों अधिकार नहीं है और जिससे पाश्चात्त्य (सन्यास) को ब्रह्मज्ञान के परिपाक (दृढता) वा अङ्गत्व है, इसमें अनधिकृत विषयत्व नहीं है, अन्य-वधिगादि असमर्थ-विषयकत्व नहीं है, यह श्रुति भी दर्शाती है कि सन्यास ज्ञान का अंग (साधन) है। श्रुति है कि (विवर्ण, विशेष रगादि रहित वस्त्रवाला, मुण्डित, परिग्रहरहित, पवित्र, द्रोहग्रहित, मिश्रावृत्ति वाला सन्यासी ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए समर्थ होता है)। इसमें ऊर्ध्वरेतसों के आश्रम सिद्ध होते हैं, और ऊर्ध्वरेताओं में विद्या के विधान में विद्या की स्वतन्त्रता सिद्ध हुई ॥ २० ॥

स्तुतिमात्राधिकरणम् (३)

स्तोत्र रसतमत्वादि ध्येय वा गुणवर्णनात् । जुहुरादित्य इत्यादाविव कर्माङ्गसत्पुति ॥ १ ॥

भिन्नप्रकरणस्यत्वान्नाङ्गविध्यैकवाक्यता । उपासीतेतिविध्यन्नेर्ध्यर्थं रसतमादिबन्ध ॥ २ ॥

‘उद्गीय वा अवयव ओकार रसो वा रमतम (अतिश्रेष्ठ रस) है’ इत्यादि श्रुति वा वचन, कर्माङ्ग उद्गीय के ग्रहण से स्तुतिमात्र है, रमतमत्वादि गुण ओकार के समान ध्येय नहीं हैं, जैसे कि कर्माङ्ग के ग्रहण में (जुहुरादित्य) जुहू मूल्य है, यह स्तुतिमात्र होता है, वंसा ही इसको समझना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि स्तुतिमान नहीं है किन्तु अपूर्वता से ध्यान का विधान है ॥ सशय है कि रसतमत्वादि स्तुति है, अथवा ध्येय है। पूर्वपक्ष है कि जुहू आदित्य है इत्यादि में जमे स्तुति में कर्माङ्ग का सम्कार किया जाना है, वंसा ही यही गुणवर्णन में कर्माङ्ग का सम्कार किया जाता है। सिद्धान्त है कि (जुहुरादित्य) इत्यादि कर्म प्रकरण के हैं, उन्हें कर्माङ्ग का स्नावक होना उचित है, रसतमादि वचन के कर्म में भिन्न उपामना प्रकरण में

होने से कर्माङ्ग विधि के साथ इनकी एकवाक्यता (एकार्थकता) नहीं है, किन्तु उपासीत इस विधि की उक्ति से रसतमादिक ध्येय है ॥ १-२ ॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

‘स एष रसानां रसतमः परमः परार्घ्योऽष्टमो यदुद्गीथः’ (छा० १।१।३) ‘इयमेवर्गनिः साम’ (छा० १।६।१) ‘अयं वाव लोक एपोऽग्निश्चितः । तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी’ इत्येवंजातीयकाः श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये स्तुत्यर्था इति युक्तम्, उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात् । यथा—‘इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः’ इत्याद्या जुह्वादिस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत् । नेत्याह । नहि स्तुतिमात्रमासां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तमपूर्वत्वात् । विध्यर्थतायां ह्यपूर्वार्थो विहितो भवति स्तुत्यर्थतायां त्वानर्थक्यमेव स्यात् । विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्य-
जोपभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरुपयुज्यत इत्युक्तम् ‘विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः’ इत्यत्र । प्रदेशान्तरविहितानां तद्गीथादीनामियं प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानानार्थिकैव स्यात् । इयमेव जुहूरित्यादि तु विधिसंनिधावेवाप्नातमिति वैपम्यम् । तस्माद्विध्यर्था एवैवंजातीयकाः श्रुतयः ॥ २१ ॥

(इन चराचर भूतो का पृथिवी रस-उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण है । पृथिवी का जल रस कारण आधारादि है । जल का ओषधि रस, परिणाम है, ओषधियों का पुरुष (मानवदेह) रस, परिणाम है । पुरुष का वाक् रस, श्रेष्ठ सारयुक्त अवयव है । वाक् का ऋग्वेद रस, सारतर है । ऋग्वेद का सामवेद रस है, उसका भी उद्गीथ, ओंकार रस, सार है । यह ओंकार भूमि आदि रसों का भी रसतम (श्रेष्ठरस) है, और परमात्मा का प्रतीक (अंग) होने से परम उत्तम है । तथा पर=परमात्मा के अर्ध=स्थानयोग्य होने से परमात्मा के समान उपास्य है, जो यह पृथिवी आदि रसों में अष्टम रस उद्गीथ, ओंकार है) और (यह पृथिवी ऋक् है, ऋक् पृथिवी दृष्टि में चिन्तनीय है, अग्नि साम है, साम अग्नि दृष्टि से चिन्तनीय है) और (यही लोक है, जो यह अग्निचित, सम्पादिताग्नि है) (वह उक्थ यही है जो यह पृथिवी ही है) इस प्रकार की श्रुतियाँ क्या उद्गीथादि की स्तुति के लिए है, अथवा उपासना विधि के लिए हैं, इस संशय के होने पर, उद्गीथादि कर्माङ्गों का उपादान करके श्रवण होने से ये स्तुति के लिए हैं, ऐसा युक्त प्रतीत होता है, जैसे (यह जुहू पृथिवी स्वरूप ही है, चयनस्थ कूर्म आदित्य स्वरूप है, आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक स्वरूप है) इत्यादि श्रुति जुहू कूर्म, आहवनीय अग्नि की स्तुति के लिए है, उसीके समान उद्गीथादि की स्तुति के लिए उक्त श्रुतियाँ हैं । इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि यदि इस प्रकार स्तुत्यर्थक कहो तो कहा जाता है कि स्तुत्यर्थक नहीं है, जिससे अपूर्वता से इन श्रुतियों का

स्तुतिमात्र प्रयोजन युक्त नहीं है। विध्यर्थकता होने पर इन श्रुतियों से अपूर्व (असिद्ध) अर्थ विहित होता है, और स्तुत्यर्थकता में तो इनकी अनर्थकता (निष्फलता) ही होगी। जिससे विधिवोधक विधायक शब्द की वाक्यशेषता (अङ्गता) को प्राप्त स्तुति उपयुक्त (सफर) होती है, यह कहा है कि (विधियों के स्तुत्यर्थकरूप से विधि के साथ एकवाक्यता में अर्थवाद सार्थक होंगे) यहाँ एकवाक्यता में स्तुति की सार्थकता कही गई है। प्रदेशान्तर में अग्ररूप विहित उद्गीयादि की तो किसी अन्य देश में पठित स्तुति वाक्य शेषभाव (एकवाक्यता) को नहीं प्राप्त होती हुई अनर्थक ही होगी। (इयमेव जुह) इत्यादि तो विधि के समीप में ही पठित है, यह विलक्षणता है। इससे इस प्रकार की श्रुतियाँ विध्यर्थक ही हैं ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

‘उद्गीथमुपासीत’ (छा० १।१।१) ‘मामोपासीत’ (छा० २।२।१) ‘अहमु-
वथमस्मीति विद्यान्’ इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिगव्या श्रूयन्ते ते च स्तुतिमा-
त्रप्रयोजनताया व्याहृत्वरन्। तथा च न्यायविदा स्मरणम्—

कुर्यान्त्रियेन कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्।

एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियत विधिलक्षणम् ॥ इति।

लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एव स्मरन्ति। प्रतिप्रकरण च फलानि
श्राव्यन्ते—‘आपयिता ह वै कामाना भवति’ (छा० १।१।७) ‘एष ह्येव
मामगानस्येष्टे’ (छा० १।७।९) ‘कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च’ (छा०
२।२।३) इत्यादीनि। तस्मादप्युपासनविधानार्था उद्गीयादिश्रुतयः ॥ २२ ॥

प्रथम विधि की कल्पना मान कर विचार किया गया है, अथ कहा जाता है कि
कल्पना की जरूरत नहीं है, साक्षात् विधिसिद्ध है कि—(उद्गीथ की उपासना करे।
आम की उपासना करे। मैं उक्थ हूँ ऐसा चिन्तन करे) इत्यादि विस्पष्ट विधिवाचक
शब्द सुने जाते हैं। स्तुतिमात्र प्रयोजनता-पक्ष में वे सब शब्द व्याहृत (बाधित) होंगे,
इसमें विधि में अपेक्षित गुणसम्पन्न के ही लिए रसतमादि वचन है। इसी प्रकार
न्यायवेत्ताओं का स्मरण (कथन) है कि (कुर्यान्—करे, त्रियेत—किया जाय, कर्तव्यम्—
करने योग्य है, भवेत्—होगा और पञ्चम ग्यान्—होगा, सब वेदों में यह नियत विधि
का लक्षण होगा) लिङादि का अर्थ विधि है, ऐसा मानने हुए वे न्यायवेत्ता इस प्रकार
स्मरण करते हैं। भाव है कि त्रिया की भावना कहते हैं, और कृ, मृ, ठम्, तीन धातु
त्रिया सामान्य के वाचक हैं, इससे इन तीनों के उदाहरण दिए गए हैं कि सामान्य
के कथन में विशेष की लोग आत्मेपादि में समझेंगे। इसीसे ऐसा नहीं समझना चाहिए
कि (पञ्चमम्) इस कथन में पाँच पदों को ही विधिरूपत्व है, (उपासीत) इत्यादि
को विधिरूपत्व नहीं है। त्रिया सामान्यवाचक कृ आदि के उदाहरण के
द्वारा सब धातु से युक्त लिङादि का विधिरूपत्व विवक्षित है। कुर्यान् में धातु का

अर्थरूप ही भावना आख्यात से अनुवादित होता है लिङ् से इष्टसाधनत्व बोधित होता है और भावना से कर्त्ता आक्षिप्त होता है । क्रियेत में कर्म आक्षिप्त होता है । कर्त्तव्यम् में प्रत्यय से कर्म कारक कहा जाता है, इत्यादि भीमांसक-मत है । प्रत्येक प्रकरण में फल मुनाये जाते हैं कि (आसिगुणविशिष्ट उद्गीय अक्षर की उपासना करने वाला विद्वान् जो होता है वह यजमान के कामों को पूर्ण प्राप्त कराने वाला होता है । इस प्रकार का विद्वान् उद्गाता ही सामगान के विषय में समर्थ होता है । इस उपासक के लिए ऊपर के और नीचे के सब लोक भोग्यरूप से प्राप्त और सिद्ध होते हैं ।) इत्यादि फल मुनाये जाते हैं, इससे भी उद्गीथादि श्रुतियाँ उपासना की विधि के लिए हैं ॥ २२ ॥

पारिप्लवाधिकरणम् (४)

पारिप्लवार्थमाख्यातं किं वा विद्यास्तुतिः स्तुतेः । ज्यायोऽनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ॥ मनुर्वेवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात् । अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत् ॥

अश्वमेध याग की रात्रियों में जो सपरिवार राजा के प्रति नाना प्रकार की आख्यायिका कथा, कही जाती है उसको पारिप्लव कहते हैं । उपनिषदों में मैत्रेयी याज्ञवल्क्यादि की कथा है, उन्हें भी यदि कोई पारिप्लव के लिए कहे, तो कहा जाता है कि—(मनुर्वेवस्वतो राजा । शत० १३।४।३।३) इत्यादि विशेषरूप से पारिप्लवार्थक कथा पढ़ी हुई है, इससे उपनिषद् की कथा विद्या की स्तुति के लिए है कर्माङ्ग नहीं है । संशय है कि उपनिषद् के आख्यान सब पारिप्लवार्थक हैं, अथवा विद्या की स्तुतिरूप हैं । पूर्वपक्ष है स्तुति की अपेक्षा (पारिप्लवमाचक्षीत) इस वचन से विहित कर्मानुष्ठान का शेषत्व होना श्रेष्ठ है, इससे पारिप्लवार्थक है । सिद्धान्त है कि उस पारिप्लव में (मनु विवस्वान् का पुत्र राजा था) इत्यादि कथा विशेषणरूप से पठित है, वह राजा के मनोरञ्जनमात्र के लिए है । यहाँ उपनिषद् में उपाख्यानों को विद्या के साथ एक-वाक्यता की सत्ता से परम श्रेष्ठ विद्या की स्तुति होगी ॥ १-२ ॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

‘अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये वभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च’ (वृ० ४।५।१) ‘प्रतर्दनो ह वै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम’ (कौषी० ३।१) ‘जानश्रुतिर्ह पीत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस’ (छा० ४।१।१) इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वख्यानेषु संशयः—किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्थान्याहोस्वित्संनिहितविद्याप्रतिपत्त्यर्थानीति । पारिप्लवार्था इमा आख्यानश्रुतयः । आख्यानसामान्यात्, आख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात् । ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात् मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत् । तन्न । कस्मात् ? विशेषितत्वात् । तथा हि ‘पारिप्लवमाचक्षीत’ इति हि प्रकृत्य ‘मनुर्वेवस्वतो राजा’ इत्येवमादीनि कानिचिदेवाख्यानानि तत्र विशेष्यन्ते । आख्यान-

मामान्याच्चेत्सर्वगृहीति म्यादनर्थकमेवेद विशेषण भवेत् । तस्मान्न पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतय ॥ २३ ॥

(पूर्वोक्त हेतु-प्रदर्शन के बाद कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थी, जिनमें एक मैत्रेयी कही जाती थी, और दूसरी कात्यायनी कही जाती थी) (दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन राजा इन्द्र के प्रियधाम, स्थान, स्वर्ग में गया) (श्रद्धापूर्वक देने वाला, बहुत देने का स्वभाव वाला, बहुत पाक-योग्य अन्न वाला, जनश्रुत का अपत्य जानश्रुति पौत्रायण था) इत्यादि प्रकार के वेदान्त में पठित आख्यानो में संशय होता है कि ये पारिप्लव में प्रयोग (पाठ) के लिये हैं, अथवा सन्निहित (पास में पठित) विद्या की प्रतिपत्ति (प्रतीति, स्तुति) के लिए हैं । पूर्वपक्षी कहता है कि ये आख्यानरूप श्रुतियाँ पारिप्लवार्थक हैं । क्योंकि पारिप्लव आख्यान के साथ इनकी तुल्यता है । आख्यान के प्रयोग को पारिप्लव में विहितत्व है, अर्थात् आख्यान का पाठ पारिप्लव में विहित है, इसमें ये पारिप्लवार्थक हैं । इस पारिप्लवार्थकता से वेदान्तों का कर्मार्थक मन्त्र के समान कर्मप्रयोग (विधि) की विशेषता से विद्याप्रधानत्व नहीं होगा । यहाँ सिद्धांती कहते हैं कि यदि ऐसा कोई कहे तो वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस पारिप्लव में विशेषितत्व है (विशेष कथा को विहितत्व है) वह इस प्रकार है कि (पारिप्लव का प्रवचन करे) इस प्रकार प्रस्तुत करके (मनु वैवस्वत राजा) इत्यादि कितने आख्यान वहाँ विशेषरूप से कहे जाते हैं । अर्थात् वाक्यरोप में अश्वमेध के प्रथम दिन की रात्रि में (मनुवैवस्वत), द्वितीय दिन की रात्रि में (यमो वैवस्वत), तृतीय दिन की रात्रि में (वरुण आदित्य) इत्यादि कथा कहे, इस प्रकार वहाँ विशेष कथायें विहित हैं । यदि आख्यान की तुल्यता से सब आख्यानो का ग्रहण हो, तो यह विशेषण अनर्थक ही होगा, इससे ये आख्यानरूप श्रुतियाँ पारिप्लव के लिए नहीं हैं ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

असति च पारिप्लवार्थत्वं आख्यानानां सन्निहितविद्याप्रतिपादनोपयोगित्वं न्याय्या एकवाक्यतोपनिबन्धात्, तथाहि तत्र तत्र सन्निहिताभिविद्याभिरैकवाक्यता दृश्यते प्ररोचनोपयोगात्प्रतिपत्तिमौक्त्योपयोगाच्च । मैत्रेयीग्राहणे तावत्—‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्य’ (बृ० ४।५।६) इत्याद्या विद्यैकवाक्यता दृश्यते । प्रातर्दनेऽपि ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा’ इत्याद्या, जानश्रुतिरित्यत्रापि ‘वायुर्वायु सवर्ग’ (छा० ४।३।१) इत्याद्या, यथा च ‘म आत्मनो वषामुदविदत्’ इत्येवमादीनां कर्मश्रुतिगतानामाख्यानानां सन्निहितविधिस्तुत्यर्थता तद्वत् । तस्मान्न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

पूर्व कही रीति से परम पुरुषार्थविषयक आख्यानो के पारिप्लवार्थत्व के नहीं होने पर एकवाक्यतारूप उपनिबन्ध (संबन्ध) से उनको सन्निहित विद्या के प्रतिपादन में उपयोगिता ही न्याय्य है (अर्थात् उपयोगी होना उचित है) । जिसमें इसी प्रकार वस्तु

स्थानों में प्ररोचन (प्रेमोत्पादन) में उपयोग से और ज्ञान की मुकरता (सुगमता) में उपयोग से सन्निहित विद्याओं के साथ आख्यानों की एकवाक्यता देखी जाती है । मैत्रेयीब्राह्मण में (अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही अपरोक्ष दर्शन के योग्य है) इत्यादि में पठित विद्या के साथ ही आख्यान का सम्बन्ध दीखता है । प्रतर्दनब्राह्मण में भी (मैं प्रजात्मा प्राण हूँ) इत्यादि में पठित के साथ सम्बन्ध होता है । जानश्रुति इत्यादि वाक्य में भी (वायु ही संबर्ग है) इत्यादि में पठित विद्या के साथ आख्यान का सम्बन्ध दीखता है । जैसे (उस प्रजापति ने होम के लिए अपनी वषा को उद्धृत किया) इत्यादि कर्मश्रुतिगत आख्यानों को सन्निहित विधि की स्तुत्ययंकता है । वैसे ही उन आख्यानों को सन्निहित विद्या की स्तुत्ययंकता है, इससे पारिप्लवायत्वं नहीं है ॥२४॥

अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् (५)

आत्मबोधः फले कमपेक्षो नो वा ह्यपेक्षते । अङ्गिनोऽङ्गेष्वपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ॥१॥
अविद्यातमसोर्ध्वंस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः । निरपेक्षं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी ॥२॥

जिससे स्वतन्त्र ज्ञान परम पुरुषार्थ का साधन है, इसीसे इस ज्ञान को अपने फल की सिद्धि में अग्नि के इन्धन, उद्दीपन (अग्न्याधान) आदि की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् अग्नीन्धनादि आश्रम कर्मों की अपेक्षा नहीं है । संशय है कि आत्मज्ञान अपने फल में कर्मापेक्ष है, अथवा कमपेक्ष नहीं है, पूर्वपक्ष है कि जैसे प्रयाजादि अंग है और दर्श पूर्णमास अङ्गी हैं, जहाँ अङ्गी को अपने फल में अङ्ग की अपेक्षा होती है, वैसे ही कर्म अंग है, ज्ञान की उत्पत्ति का साधन है, और ज्ञान अङ्गी है, कर्म से साध्य है, इससे दर्शादि अंगी को फल में प्रयाजादि अंग-विषयक अपेक्षा के देखने से ज्ञान भी अपने फल में कर्म की अपेक्षा करता है । सिद्धान्त है कि घट-ज्ञान को घट के अज्ञान के ध्वंस में और दीप को अन्धकार के ध्वंस में निरपेक्षता देखी गई है, इससे यहाँ अज्ञानरूप अन्धकार की निवृत्तिरूप फल में कर्म की अपेक्षा-रहित ज्ञान है । भाव है कि एक अंग अंगी के साथ रहकर अंगी के फल को उत्पन्न करता है, अंगी के समान ही अंग भी गौणरूप से फल का जनक होता है, जैसे कि प्रयाजादि हैं । एक अंग अंगी को सिद्ध करके उपरत हो जाता है अंगी स्वयं अपना कार्य करता है जैसे अनेक साधन से सिद्ध दीपक साधनरूप दीप के बनाने वाले बालने वाले, आदि के नहीं रहते भी प्रकाश करता है, वैसे ही ज्ञान के साधन कर्मादि के बिना ज्ञान अपना काम करता है ॥ १-२ ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

‘पुरुषार्थोऽतः शब्दात्’ (ब्र० सू० ३।४।१) इत्येतद्व्यवहितमपि संभवादत् इति परामृश्यते । अत एव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वादर्गनीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया ॥ २५ ॥

(पुरुषार्थोऽतः शब्दात्) यह सूत्र यहाँ से व्यवहित भी है, तो भी सम्भव से इस

सूत्रगत (अतः) इस पद से उसी का परामर्श (बोध) होता है । इससे इस सूत्र का अर्थ है कि, अनएव च, विद्या के पुरुषार्थ-हेतुत्व से ही अग्नीन्धनादि स्य आश्रम के कर्म विद्या के स्वार्थ (फल) सिद्धि में अपेक्षितव्य (हेतु) नहीं हैं । इस प्रकार यह अधिकरण अधिकार्य की विवक्षा से आद्य अधिकरण के ही फल (सिद्धान्त) का उपसंहार करता है । अर्थात् विद्या के फल मोक्ष में कर्म का सामर्थ्य नहीं है, कमजन्य यदि मोक्ष होगा तो वह अनित्य होगा, परन्तु चित्त की शुद्धि मोक्षेच्छा की उत्पत्ति आदि के द्वारा विद्या के स्वरूप की सिद्धि में कर्म की अपेक्षा है, यह आगे कहा जायगा और इसी अधिक अर्थ को कहने के लिए यह आद्याधिकरण का उपसंहार है ॥ २५ ॥

सर्वपेक्षाधिकरणम् (६)

उत्पत्तावनपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते । फले ययानपेक्षैवमुत्पत्तावनपेक्षता ॥ १ ॥
यज्ञज्ञान्तयाविसापेक्ष विद्याजन्म श्रुतिद्वयात् । ह्येनपेक्षितोप्यश्रो रये यद्वदपेक्ष्यते ॥ २ ॥
ज्ञान के फल में कर्म की अपेक्षा नहीं होते भी ज्ञान की उत्पत्ति में तो यज्ञादि के श्रवण में सब आश्रम-कर्मों की अपेक्षा है, जैसे कि अद्व की अपेक्षा उसके योग्य कर्म में होनी है । सशय है कि यह आत्मविद्या उत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा नहीं करती है, अथवा अपेक्षा करती है । पूर्वपक्ष है कि फल में अनपेक्षा के समान प्रमाण मात्र की अपेक्षा वाली ज्ञान की उत्पत्ति में भी कर्म की अपेक्षा नहीं है । सिद्धान्त है कि यज्ञादि श्रुति और शमादि श्रुति से यज्ञादि और शान्ति आदि सापेक्ष ही प्रमाण से भी विद्या का जन्म होता है । जैसे हल में अनपेक्षित भी अद्व रथ में अपेक्षित होता है, वैसे विद्या फल में अनपेक्षित कर्म विद्या की उत्पत्ति में योग्यता के अनुसार अपेक्षित होता है ॥ १-२ ॥

सर्वपेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते कि विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाऽऽश्रमकर्मणामुन्नास्ति काचिदपेक्षेति । तत्रान एवाग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्याया स्वाधिमिदो नापेक्ष्यन्त इति एवमत्यन्तमेवानपेक्षाया प्राप्तायामिदमुच्यते सर्वपेक्षा चेति । अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षैव । ननु विरुद्धमिद वचनमपेक्षते चाश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति । नेति ब्रूम । उत्पत्त्या हि विद्या फलमिदं प्रति न किंचिदन्यदपेक्षत उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते । कुत ? यज्ञादिश्रुते । तथाहि श्रुति — 'तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति यज्ञन दानेन तपमाज्जाशकेन' (वृ० ४।४।२२) इति यज्ञादीना विद्यासाधन-भाव दर्शयति । विविदिपामयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवमीयते । 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ८।५।१) इत्यत्र च विद्यासाधनमृतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभि मन्त्रवाद्यज्ञादीनामपि हि साधनभावः सूच्यते ।

इस समय अब यह विचार किया जाता है कि क्या विद्या को आश्रम-कर्मों की अत्यन्त ही अनपेक्षा है, अथवा कुछ अपेक्षा है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि जैसे कहा गया है कि इस ज्ञान की स्वतन्त्रता से ही अग्नीन्धनादि रूप आश्रमकर्म विद्या की स्वार्थ-सिद्धि में अपेक्षित नहीं होते हैं। इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिव्यासनरूप ज्ञान के साधन स्वतन्त्र हैं, उनसे ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म की अत्यन्त अनपेक्षा है, इस प्रकार अत्यन्त अनपेक्षा के प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि (सर्वापेक्षा चेति) विद्या अपनी उत्पत्ति में सब आश्रमकर्मों की अपेक्षा करती है, इससे उसको आश्रम कर्म की अत्यन्त अनपेक्षा ही नहीं है। यदि कहो कि विद्या आश्रम के कर्मों की अपेक्षा करती है, और अपेक्षा नहीं करती है, यह परस्पर विरुद्ध वचन है, तो कहा जाता है कि विरुद्ध नहीं है, जिससे उत्पन्न विद्या फलसिद्धि के प्रति अन्य किसी की कुछ अपेक्षा नहीं करती है। अपनी उत्पत्ति के प्रति तो कर्मों की अपेक्षा करती है। यदि कहो कि यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि विद्यार्थक यज्ञादि की श्रुति से यह सिद्ध होता है। जिससे इस प्रकार की श्रुति है कि (उस औपनिषद पुरुष को ब्राह्मणादि अधिकारी लोग, वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अनाशक तप द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) यह श्रुति यज्ञादि के विद्या-साधनत्व को दर्शाती है। विविदिषा (ज्ञानेच्छा) के साथ यज्ञादि के सम्बन्ध से इन यज्ञादिकों के ज्ञानसाधनत्व का निश्चय किया जाता है। (शिष्ट लोग परम पुरुषार्थ का साधनरूप जिस यज्ञ को कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है, यज्ञ का फल भी ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है) यहाँ विद्या के साधनरूप ब्रह्मचर्य की यज्ञादि के द्वारा स्तुति से यज्ञादि की ज्ञानसाधनता भी सूचित होती है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांश्च सर्वाणि च यद्वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ (कठ० २।१५)
इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां विद्यासाधनभावं सूचयति । स्मृतिरपि—
कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।

कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥

इत्येवमाद्या । अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम् । यथा च योग्यतावशेनाश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते रथचर्यायां तु युज्यते, एवमाश्रमकर्माणि विद्यया फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते उत्पत्तौ त्वपेक्ष्यन्ते इति ॥ २६ ॥

(सब वेद जिस पद (प्राप्य) वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, सब कर्म तप जिसकी प्राप्ति के लिए कहे जाते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य करते हैं, उस पद को तेरे लिए संक्षेप से मैं कहता हूँ कि वह ओंकार है—ओंकार का वाच्य है) इत्यादि श्रुति आश्रम-कर्मों की विद्या को साधनता को सूचित करती है। (कर्म सब कषाय, राग-द्वेषादि दोषों की पक्ति निवृत्ति के साधन हैं, उनसे पापों की निवृत्ति द्वारा दोषों की निवृत्ति होती है और ज्ञान तो परमगति है मोक्ष का साधन है। यहाँ कर्मों से दोष-पापादि के निवृत्त, नष्ट होने पर तब ज्ञान प्रवृत्त सिद्ध होता है) इत्यादि स्मृतियाँ भी

कर्मों की ज्ञानसाधनता को सूचित करती हैं। सूत्र में अश्ववत् यह पद योग्यता का निदर्शन (दृष्टान्त) रूप है। जंमे योग्यता के वश में अश्व हल के खींचने में नहीं नियुक्त किया जाता है, किन्तु रथ द्वारा गमन में तो रथ-गति में नियुक्त किया जाता है। इसी प्रकार आश्रम के कर्म विद्या के फल की सिद्धि में नहीं अपेक्षित होते हैं और विद्या की उत्पत्ति में तो अवश्य अपेक्षित होते हैं ॥ २६ ॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधस्तदङ्गतया

तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

शमदमाद्युपेत — स्यात्—तथापि—तु—तद्विधे —तदङ्गतया—तेषाम्—अवश्यानुष्ठेयत्वान् । इस सूत्र में नव पद हैं। सक्षिप्तायं है कि (तथापि ज्ञानोत्पत्तौ कर्मापेक्षान्वेऽपि तु कर्मैव न पर्याप्त साधन तस्मान्मुमुक्षु शमादियुक्त साधनचतुष्टयोपेत स्यात् । यतस्तस्य ज्ञान-स्याङ्गतया तेषा शमादीना विधे मत्वात् तेषा शमादीनामवश्यानुष्ठेयत्वात् तदुपेतत्वम-पेक्ष्यते) ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा होने पर भी कर्ममात्र ही ज्ञान का पूर्ण साधन नहीं है, इसमें मुमुक्षु को शमादि में युक्त होना चाहिए, अर्थात् चतुष्टय-साधन-सहित होना चाहिए, जिससे उस ज्ञान के अग्ररूप से उन शमादियों की विधि की सत्ता है, और उन शमादियों को अवश्य अनुष्ठेयत्व है, इससे ज्ञान के लिए शमादि से युक्तत्व अपेक्षित है। विराद अन्य अर्थ माध्य में होगा।

यदि कश्चिन्मन्यते यज्ञादीना विद्यामाधनभावो न न्याय्यो विध्यभावात्, 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्येवञ्जातीयका हि श्रुतिरनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा न यज्ञादिविधिपरा। इत्थ महाभागा विद्या यद्यज्ञादिभिरेवेतामवाप्नुमिच्छन्तीति। तथापि तु शमदमाद्युपेत स्याद्विद्यार्थी 'तस्मादेवविच्छिन्नान्तो दान्त उपरतस्तिक्षु ममाहितो भूत्वात्मन्येवात्मान पश्यति' (बृ० ४।४।२३) इति विद्यामाधनत्वेन शमदमादीना विधानाद्विहिताना चावश्यानुष्ठेयत्वात्।

यदि कोई माने (समझे) कि यज्ञादि को विद्या का साधनभाव (साधनत्व) विधि के अभाव से न्याय्य (उचित) नहीं है। (यज्ञ में जानने को इच्छा करते हैं) इस प्रकार की अनुवादस्वरूप श्रुति विद्या की स्तुतिपरक है, ज्ञान के साधनरूप से यज्ञादि की विधिपरक नहीं है। इस प्रकार की महाभाग वाली विद्या है कि जिससे यज्ञादि के द्वारा इसको प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, इस प्रकार से विद्या की स्तुति होती है। तथापि इस प्रकार से स्तुत्यर्थक होने पर भी तो ब्रह्मविद्या के अर्थी (इच्छुक) को शमदमादि से युक्त होना चाहिये, शम, दम आदि के बिना श्रुति के श्रवणमात्र से विद्या नहीं होती है, न उचिन् रीति से श्रवणादि हो ही सकते हैं। श्रुति है कि (जिसमें कर्म सम्बन्धरहित ब्रह्मज्ञ की महिमा है उससे इस प्रकार ज्ञान को समझने वाला ज्ञान के लिए दान्त-शमयुक्त, दान्त-दमयुक्त, उपरत-उपगतियुक्त वितृष्ण, तितृष्णु-द्वन्द्वसहिष्णु और समाहित-एकाग्र होकर कार्यकरण के सघात रूप आत्मा में प्रत्यक्

चिदात्मा स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष करता है) इस प्रकार विद्या के साधनरूप से शमदम आदि के विधान से, और विहितों के अवश्य अनुष्ठान के योग्य होने से शमदम आदि से युक्त होना चाहिए ।

नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति वर्तमानापदेश उपलभ्यते न विधिः । नेति ब्रूमः । तस्मादिति प्रकृतप्रशंसापरिग्रहाद्विवित्वप्रतीतिः । पश्येदिति च माध्यन्दिना विस्पष्टमेव विधिमधीयते । तस्माद्यज्ञानपेक्षायामपि शमादीन्यपेक्षितव्यानि । यज्ञादीन्यपि त्वपेक्षितव्यानि यज्ञादिश्रुतेरेव । ननूक्तं यज्ञादिभिर्विविदिपन्तीत्यत्र न विधिरुपलभ्यते इति । सत्यमुक्तं तथापि त्वपूर्वत्वात्संयोगस्य विधिः परिकल्प्यते । नह्ययं यज्ञादीनां विविदिपासंयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानूद्यते । 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इत्येवमादिषु चाश्रुतविधिकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वाद्विविं परिकल्प्य पौष्णे पेपणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादिविचारः प्रथम तन्त्रे प्रवर्तितः । तथा चोक्तम् 'विविर्वा धारणवत्' (जै० सू० ३।४।४) इति । स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम् । तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि । तत्राप्येवंविदिति विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, विविदिपासंयोगात्तु बाह्यानीतराणि यज्ञादीनीति विवेकव्यम् ॥ २७ ॥

शंका होती है कि इस श्रुति में भी तो (शमदम आदि से युक्त होकर देखता है) इस प्रकार वर्तमान क्रिया का कथन उपलब्ध होता है, कोई विधि नहीं उपलब्ध होती है । उत्तर कहते हैं कि विधि का अभाव नहीं है, श्रुतिगत (तस्मात्) इस पद से प्रकृत प्रशंसा का परिग्रह होने से विधित्व की प्रतीति होती है कि जिससे ऐसा जानने वाला कर्मों से लिप्त नहीं होता है इससे शमादियुक्त होकर विचारादि करना चाहिए । माध्यन्दिन तो 'पश्यति' के स्थान में 'पश्येत्' इस प्रकार विस्पष्ट ही विधि का अव्ययन करते हैं । इससे यज्ञादि को ज्ञान के लिए अपेक्षा नहीं होने पर भी शमदम आदि तो अवश्य अपेक्षणीय (अनुष्ठेय) हैं । वस्तुतः यज्ञादि की श्रुति से ही यज्ञादि भी अपेक्षणीय हैं । यदि कहा जाय कि यज्ञादि के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं, इस वाक्य में विधि नहीं उपलब्ध होती है, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि विधि की अनुपलब्धि सत्य कही गई है, तथापि यज्ञादि को विद्या की इच्छा के साधनत्व रूप सम्बन्ध को अपूर्वता से विधि परिकल्पित होती है । इससे यज्ञादि का इस विविदिपा (ज्ञानेच्छा) के साथ सम्बन्ध प्रथम किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है कि जिससे उस प्राप्त का अनुवाद हो सके । (जिससे पूषादेव दांत रहित है इससे अच्छी तरह से पिष्ट पीसे हुए का मोक्षा है) इत्यादि विधि के श्रवण से रहित वाक्यों में भी अपूर्वता से विधि की परिकल्पना करके (दर्शपूर्णमास की विकृति जाग में पूषादेव सम्बन्धी पेपण को समझना चाहिए) इत्यादि विचार प्रथम तन्त्र में प्रवर्तित हुआ है,

किया गया है) और इसी प्रकार कहा जा चुका है कि (अथवा धारण के समान विधि है) और भगवद्गीता आदि स्मृतियों में भी फल के अनुसंधान-चिन्तन इच्छा के बिना अनुष्ठित यज्ञादि मुमुक्षु के ज्ञान के साधन होते हैं, यह विस्तारपूर्वक कहा गया है । इससे आश्रमों के अनुसार यज्ञादि और शमदम आदि सभी आश्रमों के कर्म विद्या की उत्पत्ति में अपेक्षणीय (साधन) है । उनमें भी (एवविच्छान्तो दान्त) यहाँ विद्या के साथ शमादि का साक्षात् सम्बन्ध होने से प्रत्यासन्न (अन्तरंग, समीपवर्ती) विश्व के साधनरूप शमदम आदि हैं । विविदिषा के साथ यज्ञादि का सम्बन्ध होने से शमादि से भिन्न यज्ञादि बहिरंग (अदृष्ट द्वारा दूरवृत्ति) साधन हैं । इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिए ॥ २७ ॥

सर्वज्ञानुमत्यधिकरणम् (७)

सर्वज्ञानविधि प्राणविदोऽनुज्ञायवापदि । अपूर्वत्वेन सर्वज्ञभुक्तिर्भातिविधीयते ॥ १ ॥
 आद्यज्ञभोजनादक्त शास्त्राच्चाभोज्यधारणम् । आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ॥ २ ॥

प्राण सवाद मे प्राण का सब अन्न है इस प्रकार के ध्यान वाले के लिए जो कहा गया है कि उसके लिए कुछ भी (अन्न) अमश्य नहीं है इत्यादि यह विधि नहीं है किन्तु मर्यादा के बिना प्राण के नाश-काल में प्राण-रक्षा के लिए सर्वान्नविषयक अनुमति रूप वह वचन है, जो अन्यत्र चात्रायण की कथा देखने से सिद्ध होता है । सशय है कि (न विज्वनाज्जल भवति) इत्यादि प्राणवेत्ता के लिए सर्वज्ञान (सर्वमक्षण) की विधि है । अथवा आपत्ति में अनुमति है । पूर्वपक्ष है कि प्राणप्यानी के लिए अपूर्वता से गर्वनिमक्षण विहित होता है । सिद्धान्त है कि स्वादि अन्न भोजन का अशक्ति से और शास्त्र से अमोज्य, अमश्य का वारण, निषेध है, परन्तु आपत्तिवाल में प्राण की रक्षा के लिए ही सर्वान्न अनुज्ञान (अनुमति) होता है ॥ १-२ ॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

प्राणमवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—‘न ह वा एवविदि किञ्चनानन्न भवति’ (छा० ५।२।१) इति, तथा वाजसनेयिनाम्—‘न ह वा अस्यानन्न जग्य भवति नानन्न प्रणिगृहीतम्’ (वृ० ६।१।१४) इति, सर्वमेवास्यादनोयमेव भवतीत्यर्थः । किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्ग विधीयत उत स्तुत्यर्थं मकीर्त्यत इति सशयं विधिरिति तावत्प्राप्तम् । तथाहि—प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवत्यन प्राणविद्यामनिधानात्तदङ्गत्वेनेय नियमनिवृत्तिरूपदिश्यते । नन्वेव सति भक्ष्या-भक्ष्यविभागशाम्प्रव्याधान म्यात् । नैष दोषः । सामान्यविशेषभावाद्वाधो-पपत्तेः । यथा प्राणिहिमाप्रतिपक्षस्य पशुमंजपनविधिना बाधः । यथा च ‘न वाचनं स्त्रियं पश्विरेतद् वनम्’ (छा० २।१।३।२) इत्यनेन वामदेव्यविद्या-विषयेण सर्वमन्यपरिहारावचनेन तन्नामान्यनिषयं गम्यागम्यविभागशाम्प्र

वाध्यते । एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वान्नभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्य-
विभागशास्त्रं बाध्येतेति ।

छन्दोगों के प्राण संवाद में सुना जाता है कि (प्राण के सब अन्न हैं, ऐसा व्यान
वाले में कुछ भी अन्न, अखाद्य नहीं होता है) इसी प्रकार वाजसनेयियों के प्राण संवाद
में सुना जाता है कि (इस प्राणवेत्ता को अन्न भक्षित नहीं होता है, अमक्ष्य-भक्षण का
दोष नहीं लगता है, और अन्न प्रतिगृहीत नहीं होता है) इस प्राणवेत्ता का समी खाद्य
अखाद्य खाद्य ही होता है यह अर्थ है । क्या यह सब अन्न का अनुज्ञान (अनुमति-वचन)
शमादि के समान प्राण विद्या का अङ्ग विधानरूप है । अथवा स्तुति के लिए सकीर्तन
मात्र है, इस प्रकार संशय होने पर विधि है, ऐसा प्रथम प्राप्त होता है, जिससे इस
प्रकार वाला प्रवृत्ति विशेष को सिद्ध करने वाला उपदेश होता है । इससे प्राण विद्या
की समीपता से प्राणविद्या के अङ्गरूप से भक्ष्याभक्ष्य के नियमों की निवृत्ति का यह
उपदेश दिया जाता है । यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भक्ष्य-अमक्ष्य के विभागरूप
शास्त्रों का व्याघात (बाध) होगा तो कहा जाता है कि सामान्य विशेष भाव से विशेष
स्थान में बाध की उत्पत्ति से यह दोष नहीं है । जैसे कि प्राणियों की हिंसा के निषेध
का याज्ञिक पशु हिंसाविधि से बाध होता है । जिस प्रकार (किसी स्त्री का परित्याग
नहीं करे, यह उसका व्रत है) इस वामदेव-विद्याविषयक सब स्त्री के अपरित्याग
वचन से उसके सामान्यविषयक स्त्री सामान्यविषयक गम्यागम्य-विभाग शास्त्र बाधित
होता है । इसी प्रकार प्राणविद्याविषयक इस सर्वान्न-भक्षण वचन से भी भक्ष्य-अभक्ष्य
का विभागरूप शास्त्र बाधित होगा ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः— नेदं सर्वान्नानुज्ञानं विधीयत इति । नह्यत्र विधायकः शब्द
उपलभ्यते 'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति वर्तमा-
नापदेशात् । न चासत्यामपि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेषकरत्त्वलोभेनैव विधिर-
भ्युपगन्तुं शक्यते । अपिच श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते 'नैवंविदः
किञ्चिदनन्नं भवति' इति । नच श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं
शक्यते । शक्यते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम्, तस्मात्प्राणान्नवि-
ज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थवादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः । तद्दर्शयति 'सर्वान्नानुमतिश्च
प्राणात्यये' इति । एतदुक्तं भवति—प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्न-
मदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञायते तद्दर्शनात् । तथाहि श्रुतिश्चाक्रायणस्यर्षेः कष्टायामव-
स्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति—'मटचीर्हतेषु कुरुषु' (छा० १।१०।१)
इत्यस्मिन्ब्राह्मणे । चाक्रायणः किल्पिरापदगत इभ्येन सामिखादितान्कुल्मापां-
श्चखाद, अनुपानं तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचक्षे । कारणं चात्रोवाच 'न वा
अजीविष्यामिमानखादन्' (छा० १।१०।४) इति, 'कामो म उदपानम्' (छा०
१।१०।४) इति च । पुनश्चोत्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युपितान्कुल्मापान्

भक्षयात्रभूवेति । तदेतदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युपितभक्षण दर्शयन्त्या श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणमन्धारणायामभक्ष्यमपि भक्षयितव्यमिति । स्वस्थ्या-वस्थ्याया तु तत्र कर्तव्य विद्यावतापोत्यनुपानप्रत्याख्यानानाद् गम्यते । तस्मादर्थ-वादो 'न ह वा एवविदि' (छा० ५।२।१) इत्येवमादि ॥ २८ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं, कि यह सर्वात्र का अनुज्ञान विहित नहीं होता है, जिसमें यहाँ विधायक शब्द नहीं उपलब्ध होता है (इस प्राणोपासक में कुछ अन्न नहीं होता है) इस वर्तमान काल के अपदेश (कथन) से विधि का अभाव है । विधिज्ञान के नहीं रहते भी प्रवृत्ति-विशेषकरत्व के लोभ से ही यहाँ विधि नहीं मानी जा सकती है । दूसरी बात है कि कृत्ता आदि पर्यन्त प्राण का अन्न है, ऐसा बहकर यह कहा जाता है कि (ऐसा जानने वाले में कुछ अन्न नहीं होता है) वहाँ कृत्ता आदि पर्यन्त अन्न का मनुष्य देह के द्वारा उपयोग नहीं किया जा सकता है, परन्तु प्राण का यह सत्र अन्न है इस प्रकार चिन्तन किया जा सकता है । उम प्राणाग्र विज्ञान की प्रशंसा के लिए यह अर्थवाद है, सब अन्नो के अनुज्ञान भक्षण की विधि नहीं है । यह सूत्रकार दर्शाते हैं कि (प्राण के विनाश काल में सर्वान्न की अनुमति मात्र है) इसमें यह उक्त होता है कि—प्राण के अत्यय (नाश) में ही परम आपत्ति में ही सब अन्न भक्ष्यरूप से अनुज्ञात, सम्मत होता है, यह श्रुति के दर्शन से सिद्ध होता है । (अग्नि टीडीरूप गटची में कुम्भदेश की खेती के नष्ट होने से महादुर्मिद काल में चात्रायण ऋषि स्त्री सहित इम्य-हस्तिपाल के ग्राम में भ्रमण करते हुए गए) इत्यादि गयारूप इस ब्राह्मण ग्रन्थ में, इस प्रकार की श्रुति है जो कि कष्ट अवस्था में चात्रायण ऋषि की अमर्ष्य भक्षण में प्रवृत्ति को दर्शाने है कि आपत्ति में प्राप्त चात्रायण ऋषि ने भी हन्मिपक से आधे खाये गये उरद खाये, और उसके अनुपान, भोजन बाद पीने के लिए पानी का उच्छिष्ट दोष से प्रत्याख्यान (अग्रहण) किया । इसमें कारण कहा कि (इन उरदों को नहीं खाता हुआ मैं जीवित नहीं रह सकूँगा । पीने के लिए जल तो मुझे यथेष्ट मिलेगा) फिर दूसरे दिन अपने और दूसरे के उच्छिष्ट (जूठा) वामी उरदों को खाया । वह यहाँ पर उच्छिष्ट स्व उच्छिष्ट वासी के भक्षण को दर्शाने हुई श्रुति का आशयातिशय (तात्पर्यातिशय) लक्षित (ज्ञात) होता है कि प्राण नाश के प्रसंग होने पर अमर्ष्य का भी भक्षण प्राणधारण के लिए करना चाहिए । स्वस्थ अवस्था में तो विद्वान् से भी वह अमर्ष्य भक्षण नहीं करने योग्य है, वह अनुपान के प्रत्याख्यान (निषेध) में समझा जाता है । जिसने (न ह वा एवविदि) इत्यादि श्रुति अर्थवाद (स्तुति) है । विधि नहीं है ॥ २८ ॥

अवाधाच्च ॥ २९ ॥

एवंच मत्याहारशुद्धी मत्त्वशुद्धिस्तिथेवमादि भक्ष्याभक्ष्यविभागगान्धर्ममा- धित भविष्यति ॥ २९ ॥

इस प्रकार प्राणात्यय में अनुमति और स्वस्यावस्था में अमक्ष्य का त्याग होने पर, आहार की शुद्धि से सत्त्व (अन्तःकरण) की शुद्धि होती है, इत्यादि मक्ष्य और अमक्ष्य के विभाग का विधायक शास्त्र अवाधित होगा। इससे प्राणात्यय में ही अनुमति है ॥२९॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपि चापदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चाविशेषेण—

जीविनात्ययमापन्नो योजनमस्ति यतस्ततः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ इति ।

तथा 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः', 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिचेयुरास्ये', 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यमक्ष्यभक्षणात्' इति च स्मर्यते वर्जनमन्नस्य ॥ ३० ॥

अपत्ति में विद्वान् तथा अविद्वान् सब के अमक्ष्य-भक्षण का और स्वस्यावस्था में निषेध का भी स्मरण अविशेष (सामान्य) रूप से किया जाता है कि (जीवन की नाशदशा को प्राप्त जो मनुष्य जहाँ-तहाँ से अन्न लेकर खाता है, वह पाप से इस प्रकार नहीं लिप्त होता है कि जैसे पद्मपत्र जल से नहीं लिप्त होता है) इसी प्रकार (मद्यं नित्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्) ब्राह्मण सदा मद्य का त्याग करे । (सुरा पीने वाले ब्राह्मण के मुत्र में अत्यन्त उष्ण सुरा डाले । अमक्ष्य के भक्षण से सुरा पीने वाले कृमि होते हैं) इस प्रकार निषिद्ध अमक्ष्य अन्न का वर्जन (त्याग) स्मृति में कहा जाता है, ब्राह्मण के लिए सर्वथा मद्य निषिद्ध है ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

शब्दश्चानन्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां श्रूयते—'तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति । सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्यस्यार्थवादत्वादुपपन्नतरो भवति । तस्मादेवंजातीयका अर्थवादो न विधाय इति ॥ ३१ ॥

कामकार (यथेष्ट प्रवृत्ति) का निवृत्तिरूप प्रयोजन वाला (अकामकारविषयक) अनन्न का प्रतिषेध करने वाला शब्द काठकों की संहिता में सुना जाता है कि (उस मरणान्त प्रायश्चित्त के देखने से ब्राह्मण सुरा नहीं पिए) इत्यादि (न ह वा एवंविदि) इसके अर्थवादत्व से वह निषेध भी उपपन्नतर होता है (अतियुक्त होता है । यदि (न ह वै) इत्यादि विधि होगा तो विहित का प्रतिषेधरूप सुरानिषेध के होने से विकल्प की प्राप्ति होगी इत्यादि । इससे इस प्रकार की श्रुतियाँ अर्थवाद हैं विधि नहीं हैं ॥ ३१ ॥

आश्रमकर्माधिकरणम् (८)

विद्यार्थमाश्रमायं च द्विःप्रयोगोऽप्यत्र सङ्कृत् । प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोपि विभिद्यते ॥
श्राद्धार्थभुक्त्वा तृप्तिः स्याद्विद्यार्थेनाश्रमस्तथा । अनित्यनित्यसंयोग उक्तिभ्यां खादिरे मतः ॥

विहित होने से आश्रम-सम्बन्धी कर्म भी ज्ञान का साधन होता है। इससे आहार-शुद्धि के समान आश्रम-कर्म का भी मुमुक्षु अनुष्ठान करे। यहाँ सचाय है कि विद्या के लिए और आश्रम के लिए प्रयोजन के भेद से यज्ञादि कर्म दो बार करना चाहिए अथवा एक बार करना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि विविदिषा और आश्रमधर्मरूप प्रयोजन (फल) के भेद से यज्ञादि के प्रयोग (अनुष्ठान) का भी भेद होता है इससे दो बार करना चाहिए। सिद्धान्त है कि जैसे श्राद्धार्थक भोजन से तृप्ति होती है, वैसे विद्या के लिए अनुष्ठित यज्ञादि से आश्रम-धर्म भी सिद्ध होता है। इससे एक बार करना चाहिए। यद्यपि विद्यार्थक यज्ञादि का अनित्य प्रयोग है, आश्रम धर्म रूप से नित्य प्रयोग है, इससे नित्यत्व अनित्यत्वरूप विरोध प्रतीत होता है, तथापि खादिरूप में जैसे नित्यानित्य का संयोग (सबन्ध-अभेद) वचनो से होता है, वैसे यहाँ भी होगा। (गादिगे यूपो भवति) स्वर का यूप होता है। इस वचन से खादिरत्व को नित्य व्रतव्यंक्ता होती है। (गादिर वीर्यकामस्य) इस वचन से अनित्य पुरुषार्थंक्ता होती है ॥ १-२ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

‘नवपिप्सा च—’ (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत्राश्रमकर्माणां विद्यामाधनत्व-मवधारितम्। इदानीं तु किममुमुक्षोर्गोप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तावन्नुष्ठेयान्युताहां नेति चिन्त्यते। तत्र ‘तमेन वेदानुव्रचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति’ (बृ० ४।४।२२) इत्यादिनाऽऽश्रमकर्माणां विद्यामाधनत्वेन विहितत्वा-द्विद्यामनिच्छन् फलान्तर कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि। अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तद्वत्त्वा विद्यामाधनत्व नित्यानित्यमयोगविरोधादिति।

(सवपिप्सा च) इस सूत्र में आश्रम-कर्मों के विद्या-माधनत्व का अवधारण (निश्चय) किया गया है। अथ इस समय यह चिन्ता-विचार किया जाता है कि मोक्ष की इच्छा में रहित अतएव विद्या की इच्छा में रहित आश्रम मात्र में निष्ठा करने में क्या वे आश्रम-कर्म अनुष्ठेय (कर्तव्य) हैं, अथवा नहीं हैं। इस विचार में प्रवृत्त होता है कि (उस उपनिषद्में इस आत्मा को ब्राह्मणादि अधिकारी लोग नित्य ब्रह्म-ध्ययनादि द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुति से आश्रम-कर्मों के विद्या के साधनरूप से विहित होने में विद्या के अनिच्छुक फलान्तर के इच्छुक में नियम यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय नहीं है, उनका कर्तव्य नहीं है। यदि नित्य यज्ञादि मोक्षानिच्छुक के कर्तव्य होंगे, तो इन यज्ञादिका को विद्या के साधनत्व का अभाव होगा, इन में विद्या-माधनत्व नहीं रहेगा, जिसमें नित्य और अनित्य के संयोग को विरोध है, यहाँ ज्ञान की कामना में यज्ञादि अनुष्ठान विहित होने में यज्ञादि को अनित्यत्व है, क्योंकि ज्ञान की इच्छा में रहित के लिए अनावश्यक है। नित्यकर्म जीवनपर्यन्त कर्तव्य होता है। इससे नित्यत्व अनित्यत्व विरुद्ध धर्म हैं, इनका एक में संनिवेश नहीं हो सकता है इत्यादि ॥

अस्यां प्राप्ता पठति—आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना विहितत्वात् । नहि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥ ३२ ॥

इस प्राप्ति के होने पर पढ़ते हैं कि (जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे) इत्यादि वचनों द्वारा साधारण रूप से नित्य कर्मों के विहितत्व होने से आश्रममात्र में निष्ठा वाले मोक्षेच्छारहित को भी नित्यकर्म कर्तव्य ही हैं, सिद्ध वस्तु विरुद्ध धर्म का आश्रय नहीं हो सकता है, वचनाधीन साध्य कर्म वचन के अनुसार नित्य-अनित्य उभयस्वरूप हो सकता है, इसमें उभयस्वरूपवोषक वचन को कुछ अतिभार (असाध्य) नहीं है ॥ ३२ ॥

अथ यदुक्तं नैवं सति विद्यासाधनत्वमेपां स्यादित्यत उत्तरं पठति—

जो यह कहा है कि (इस प्रकार होने पर) अमुमुक्षु के कर्तव्य होने पर इन यज्ञादिकों को विद्या के साधनत्व का अभाव होगा, अतः उसका उत्तर पढ़ते हैं कि—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति' (वृ० ४।४।२२) इत्यादिना । तदुक्तम्—'सर्वपिक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति । नचेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिवद्विद्याफलविषयं मन्तव्यम्, अविधिलक्षणत्वाद्विद्यायाः, असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य । विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्णमासादि स्वर्गफलसिपाधियपया सहकारिसाधनान्तरमपक्षते नैवं विद्या । तथा चोक्तम् 'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३।४।२५) इति । तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैपां सहकारित्ववाचोयुक्तिः । नचात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः, कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात् । नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम् । अनित्यस्त्वपरः संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (वृ० ४।४।२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम् । यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन ऋत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं च तद्वत् ॥ ३३ ॥

ये यज्ञादि कर्म विद्या के सहकारी होंगे, अतः विहित होने से ही सहकारी रूप से भी यज्ञादि अनुष्ठानार्ह हैं । वह (उस औपनिषद आत्मा को ब्राह्मणादि वेदाध्ययन से जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि वचन से सिद्ध होता है । यह प्रथम कहा गया है कि (सर्वपिक्षा च) इत्यादि । परन्तु इस कर्मों के सहकारित्व वचन को प्रयाजादि के समान विद्या का फलविषयक नहीं मानने योग्य है । जिससे विद्या के अविधिस्वरूप होने से, अर्थात् विधि से अजन्य और प्रमाण से जन्य होने से विद्या को फलजनन में सहकारी की अपेक्षा नहीं है । विद्या का फल मोक्ष के भी असाध्य होने में वह सहकारी कर्मजन्य नहीं हो सकता है । जिससे विधिस्वरूप दर्श-पूर्णमासादि रूप साधन स्वर्गरूप

फल की सिद्धि की इच्छा से सहकारी साधनान्तर को अपेक्षा करते हैं। प्रमाणजन्य विद्या इस प्रकार अपने फल के लिए सहकारी को अपेक्षा नहीं करती है। अज्ञानमात्र की निवृत्ति करती है कि जिससे नित्यमुक्तस्वरूप स्वयं ही अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार कहा है कि (अत एव च) इत्यादि। इससे ज्ञान की उत्पत्ति-साधनस्व-विषयक ही कर्मों के सहकारित्व वचन की युक्ति (योग्यता-सम्बन्ध) है। कर्म के अभेद रूढ़ में नित्यत्व-अनित्यत्व के संयोग (विधि) भेद से यहाँ नित्य और अनित्य के संयोग में विरोध आशङ्क के योग्य नहीं है। जिससे, यावत्, जीवनपर्यन्त, अग्निहोत्रविधि आदि वाक्य से कल्पित एक नित्यसंयोग है, उसको विद्यारूप फलवत्ता नहीं है। (तमेत वेदानुवचनेन) इत्यादि वाक्य से कल्पित (सिद्ध) दूसरा अनित्य संयोग है, उस दूसरे संयोग को विद्याफलवत्त्व है। जैसे कि एक ही खादिरत्व को (खादिरो यूपो भवति) इस श्रुति से सिद्ध नित्यसंयोग द्वारा ब्रह्मसंयन्त्र होता है। (खादिर वीर्यकामस्य) इस श्रुति से अनित्य संयोग द्वारा पुरुषार्थत्व होना है। इसी के समान दो वाक्य के होने से यहाँ भी विरोध नहीं है ॥ ३३ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यामहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः । त एवेत्यवधारयन्नाचार्यं किं निवर्तयति ? कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूम । यथा कुण्डपायिनामयने 'मामग्निहोत्र जुह्वति' इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुपदिश्यते नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः । कुतः ? उभयलिङ्गात्-श्रुतिलिङ्गात् स्मृतिलिङ्गाच्च । श्रुतिलिङ्गं तावत् 'तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषाया विनियुङ्क्ते ननु जुह्वतीत्यादिवदपूर्वमेवा रूपमुत्पादयतीति । स्मृतिलिङ्गमपि 'अनाश्रित कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (६।१) इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्योत्पत्त्यर्थं दर्शयति । यस्मैतेऽग्राचत्वारिगत्सम्कारा इत्याद्या च सम्कारत्वप्रसिद्धिर्वेदिकेषु कर्मसु तत्समृत्तस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृती भवति । तस्मान्माध्विदमभेदावधारणम् ॥ ३४ ॥

सर्वथा हि आश्रमकर्म पक्ष में (नित्यत्व में) और विद्यासहकारित्व पक्ष में (अनित्यत्व में) वे ही अग्निहोत्रादि धर्म अनुष्ठेय हैं, भिन्न नहीं। वे ही इस प्रकार अवधारण करते हुए आचार्य किसी निवृत्ति करते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि कर्म के भेद-शङ्का की निवृत्ति करते हैं। जैसे कि घुण्ड से सोम पीने वालों के अयन (यागविरोध) में (मामग्निहोत्र जुह्वति), इस वाक्य में नित्य अग्निहोत्र में कर्मान्तर-रूप एक माम पर्यन्त वनंध्य अग्निहोत्र का उपदेश दिया जाता है क्योंकि (जुह्वति) यह साध्य हवनवाचक शब्द है, और निर्याग्निहोत्र विधायक वचन दूर व्यवहित है। उसका इस मामाग्निहोत्र वचन में परामर्श नहीं हो सकता है। इसमें नास-गुण-विच्छिन्न

कर्मन्तर इस वचन से विहित होता है। उसके समान यहाँ कर्मभेद नहीं है, यह अर्थ है, यहाँ यज्ञादि पद सिद्ध कर्म का वाचक होता हुआ आख्यात (क्रिया) के साथ एकवाक्यतापूर्वक व्यवहित यज्ञादि के विद्या-साधनत्व का बोधक होता है। यह किस प्रमाण से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उभयलिङ्ग से अर्थात् श्रुतिलिङ्ग से और स्मृतिलिङ्ग से समझा जाता है। प्रथम श्रुतिलिङ्ग है कि (उस इस आत्मा को ब्राह्मणादि वेदाध्ययन से जानना चाहते हैं) यह वचन सिद्धवस्तु के समान वचनान्तर से उत्पन्न (सिद्ध) रूप वाले ही यज्ञादि का विविदिषा में विनियोग (सम्बन्ध) करता है। जुह्वति, इत्यादि के समान अपूर्व (असिद्ध) इन यज्ञादि के स्वरूप को नहीं उत्पन्न करता है। स्मृतिलिङ्ग भी है कि (कर्मफल के अनाश्रित, कर्मफल की इच्छारहित होता हुआ जो अवश्य कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है) यह स्मृति विज्ञात-कर्तव्यता वाले कर्म को विद्या की उत्पत्ति के लिए दर्शाती है। (जिसके ये अङ्गतालिस संस्कार है) इत्यादि वैदिक सिद्ध कर्मों में संस्कारत्व की प्रसिद्धि उन कर्मों से संस्कृत (शुद्ध) की विद्या की उत्पत्ति को मानकर स्मृति में है। इससे यह अभेद का अवधारण साधु सम्यक् सुन्दर है ॥ ३४ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्वलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा० ८।५।३) इत्यादिना। तस्माद्यज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च भवन्ति विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम् ॥ ३५ ॥

सहकारित्व के ही साधक इस लिङ्गदर्शनरूप अनभिभव (आदर) को भी श्रुति दर्शाती है कि ब्रह्मचर्यादि-साधन-सम्पन्न का रागादि क्लेशों से (यह आत्मा नहीं नष्ट लुप्त-परोक्ष होता है कि जिस आत्मा को ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त अनुभूत अपरोक्ष करता है) इत्यादि वचन से अनभिभव दर्शाती है। अतः यज्ञादि आश्रम-कर्म भी होते हैं, और विद्या के सहकारी (हेतु) भी होते हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है ॥ ३५ ॥

विधुराधिकरणम् (९)

नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमस्ति वा नैव विद्यते। धीशुद्धधर्याश्रमित्वस्य ज्ञानहेतोरभावतः ॥ अस्त्येव सधर्मसम्पन्नजपदेक्षितशुद्धितः। श्रुता हि विद्या रैक्वादेराश्रमे त्वतिशुद्धता ॥

अन्तरा भी (आश्रम-धर्म के बिना भी) तथा आश्रम के स्वीकारादि के बिना वर्तमान को भी) ज्ञान होता है। वह रैक्वादि के ज्ञानविषयक श्रुति के देखने से सिद्ध होता है। अनाश्रमी को ज्ञान होता है अथवा नहीं यह सशय है। पूर्वपक्ष है कि ज्ञान का हेतुरूप, बुद्धि की शुद्धि के लिए आश्रमित्व के अभाव से अनाश्रमियों को ज्ञान नहीं होता है, सिद्धान्त है कि आश्रमी अनाश्रमी। सब सम्बन्धी जप, भक्ति, अहिंसा,

सन्य, ब्रह्मचर्यादि से चित्त को शुद्धि से अनाश्रमी को भी ज्ञान होता । जिससे रैववादि की विद्या मुनी गई है । परन्तु आश्रम से अति शुद्धता होती है, यह विशेष है ॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

विद्युरादीनां द्रव्यादिमम्पद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिर्हीनानामन्तराल-
वर्तिना किं विद्यायामधिकारोऽस्ति किं वा नास्तीति सगये नास्तीति ताव
त्प्राप्तम् । आश्रमकर्मणा विद्याहेतुत्वावधारणादाश्रमकर्मसम्भवाच्चैतेषामिति ।

विद्युरादि और यज्ञादि के कारण द्रव्यादि सम्पत्तिरहित चारों आश्रमों में से किसी
भी आश्रम का स्वीकार प्राप्ति से रहित, अन्तरालवर्ती जो हैं, उनका विद्या में अधि-
कार क्या है । अथवा नहीं है । ऐसा मध्य होने पर, नहीं अधिकार है ऐसा प्रथम
प्राप्त होना है, क्योंकि आश्रम-कर्मों को विद्या के हेतुत्व का अवधारण हुआ है और
उन विद्युरादिकों को आश्रम-कर्म का असम्भव है, इससे उनको विद्या हो नहीं सकती है ।

एव प्राप्त इदमाह—अन्तरा चापि त्वनाश्रमित्वेनान्तराले वर्तमानोऽपि
विद्यायामधिक्रियते । कुत ? तद्दृष्टे । रैववाचकनवीप्रभृतीनामेवभूतानामपि
ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धे ॥ ३६ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर यह कहते हैं कि (अन्तरा चापितु) अनाश्रमी रूप से
अन्तराल (मध्य) में वर्तमान भी विद्या में अधिकृत होता है, किस हेतु से अधिकृत
होता है, वो कहा जाता है कि इस विषयक श्रुति के देखने में अधिकारी सिद्ध होता
है, रैव वाचकनवी (गार्गी) आदि इस प्रकार के लोगों के भी ब्रह्मवित्त्वविषयक श्रुति
की उपलब्धि में उक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

मवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगिन्व
स्मर्यते इतिहामे ॥ ३७ ॥

नग्नचर्या (विवरण) आदि के सम्बन्ध से आश्रम-कर्म की अपेक्षा नहीं करने वाले
सक्तादि के भी महायोगिन्व का इतिहास में स्मरण किया जाता है । इसमें अनाश्रमी
का ज्ञान का अधिकार सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं का तु खलु प्राप्तिरिति सा-
भिधीयते—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

तेषामपि च विद्युरादीनामविरुद्धं पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवामदेवता-
राधनादिभिर्व्यभिचारेनुग्रहो विद्यायां सम्भवेति । तथा च स्मृति —

जप्येनेव तु समिध्येद् ब्राह्मणो नात्र सगय ।

कुर्यादन्यत वा कुर्यान्मन्यो ब्राह्मण उच्यते ॥

इत्यसम्भवादाश्रमकर्मणोऽपि जप्यधिकार दर्शयति । जन्मान्तरानुष्ठितैरपि

चाश्रमकर्मभिः सम्भवत्येव विद्याया अनुग्रहः । तथा च स्मृतिः—‘अनेकजन्मसं-
सिद्धस्ततो याति परां गतिम्’ (६।४६) इति जन्मान्तरसञ्चितानपि संस्कारविशे-
पाननुग्रहीतृन्विद्यायां दर्शयति । दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनम-
धिकरोति श्रवणादिषु । तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो न विरुद्धयते ॥ ३८ ॥

यहाँ शंका होती है कि अनाश्रमी के ज्ञान में लिङ्ग-रूप यह श्रुति स्मृति का दर्शन
उपन्यस्त (कथित) हुआ है, वह ज्ञान जन्मान्तरकृत आश्रम-कर्म से भी हो सकता है ।
इससे अन्यथासिद्ध यह लिङ्ग अनाश्रम-कर्म के विद्याहेतुत्व को नहीं सिद्ध कर सकता
है, इसलिए अनाश्रम-कर्म की निश्चित रूप से प्राप्ति क्या है । अर्थात् ज्ञान के हेतुरूप
से अनाश्रम-कर्म के प्रापक की प्राप्ति (सिद्धि) क्या है, ऐसी शंका होने पर वह प्राप्ति
कही जाती है कि—

उन विधुर आदि अनाश्रमियों को भी अनाश्रमित्वादि के अविरोधी पुरुषमात्र-
सम्बन्धी जप, उपवास, देवता की आराधना आदि रूप धर्मविशेषों से विद्या का अनुग्रह-
लाम सम्भव होता है । इस प्रकार की स्मृति है कि (ब्राह्मण जप से ही सम्यक् सिद्ध
होता है । इसमें संशय नहीं है । अन्य कर्म करे या नहीं करे, ब्राह्मण दयावान् कहा
जाता है) यह स्मृति आश्रम-कर्म के असम्भव से भी जप्य में अधिकार को दर्शाती है
कि आश्रम-कर्म के नहीं कर सकने पर भी ब्राह्मण जप से सिद्धि पाता है, और जन्मा-
न्तर में अनुष्ठित आश्रम-कर्म से भी विद्या का अनुग्रह होता है और इस प्रकार की
स्मृति है कि (अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों की धीरे-धीरे वृद्धि द्वारा सम्यक् शुद्ध
होकर तब योगी आत्मानुभव को प्राप्त करके परगति—मुक्ति को प्राप्त करता है) यह
स्मृति जन्मान्तर में संचित विद्या में अनुग्राहक (सहकारी हेतु) संस्कारविशेषों को
दर्शाती है । दृष्टार्थक विद्या-प्रतिषेध के अभावमात्र से भी श्रवणादि में अर्थी जिज्ञासु
को अधिकृत, प्रवृत्त करती है, श्रवण के लिए संन्यासादि आश्रम का नियम नहीं है,
इससे विधुरादि का भी विद्या में अधिकार-विरुद्ध नहीं होता है ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम्, श्रुतिस्मृति-
संदृष्टत्वात् । श्रुतिलिङ्गाच्च ‘तेनैति ब्रह्मविष्णुकृतैजसश्च’ (वृ० ४।४।९) इति ।

अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः ।

संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत् ॥

इति च स्मृतिलिङ्गात् ॥ ३९ ॥

परन्तु इस अन्तरालवर्तित्व से इतरत् (भिन्न) आश्रमवर्तित्व ज्यायः, श्रेष्ठ विद्या
का साधन है, जिससे आश्रमवर्तित्व को श्रुति और स्मृति में संदृष्टत्व है (पुण्यकृत तैजस
पुण्य करने वाला शुद्ध चित्तयुक्त ब्रह्मवेत्ता उस मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त करता है) इस
श्रुतिलिङ्ग से और (द्विज एक दिन भी अनाश्रमी नहीं रहे । एक वर्ष अनाश्रमी रहने

पर एक इच्छा चाद्रायण करे) इस स्मृतिलिङ्ग से अनाश्रमित्व श्रेष्ठ सिद्ध होता है ॥ श्रुति में पुण्यवृत्त्व लिङ्ग में आश्रमित्व को श्रेष्ठ कहा गया है, जिसमें पुण्य की वृद्धि में विद्या का योग्य लाभ होता है ॥ ३९ ॥

तद्भूताधिकरणम् (१०)

अवरोहोऽस्त्याश्रमाणा न वा रागात्स विद्यते । पूर्वधर्मश्रद्धया वा यदारोहस्तथेच्छिक ॥१॥

रागस्यातिनिषिद्धत्वाद्विहितस्यैव धर्मतः । आरोहनिषमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्त्यशास्त्रतः ॥२॥

तद्भूत-प्राप्त उत्तम आश्रम वाले का फिर अतद्भाव-उत्पत्त्या-पूर्वाश्रम में प्रवेश नहीं होने योग्य है, यह जैमिनि, बादरायण दोनों का सिद्धान्त है । क्योंकि ऐसा ही शास्त्र का नियम है, और तद्रूप (उत्तम स्वस्व) के बाद (अनद्रूप) तद्रूप के त्याग का शास्त्र में अभाव है तथा सदाचार में भी अतद्रूप का अभाव है ॥ सशय है कि उत्तमाश्रम में आरुह होने पर अवरोह-फिर पूर्वाश्रम में प्रत्यागमन आश्रमियों का हो सकता है, अथवा नहीं । पूर्वपक्ष है कि राग में अथवा पूर्वाश्रम के धर्मों में फिर श्रद्धा होने में जैसे इच्छा के अनुसार आरोह होता है, वैसे ही इच्छा के अनुसार अवरोह भी हो सकता है ॥ सिद्धान्त है कि राग के अतिनिषिद्ध होने में, विहित ही के धर्म होने से तथा अवरोहविषयक नियम के कथन से, और अवरोहविषयक शास्त्र के अभाव में अवरोह सर्वथा नहीं है ॥ १-२ ॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि

नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

मन्युध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम् । तास्तु प्राप्तस्य कथंचित्तन प्रच्युतिरस्ति नास्ति चेति सशय । पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युनोर्जपि स्याद्विगोपाभावादिति ।

उध्वरेतम आश्रम है, यह प्रथम स्थापित (निश्चित निरूपित) किया गया है । उन उत्तम आश्रमों को प्राप्त मनुष्य को उसमें फिर किसी प्रकार में प्रच्युति (जय प्रवृत्ति) धर्मदृष्टि में है, अथवा नहीं है । यह सशय होता है । पूर्वपक्ष है कि उत्तम आश्रम में आरुह होने पर पूर्व आश्रमसम्बन्ध का कर्मविषयक अनुष्ठान (आचरण) करने की इच्छा होने से, अथवा रागादि के वश से प्रच्युत भी हो सकता है, क्योंकि धर्म के लिए आरोह-अवरोह में विगोप का अभाव है ।

एव प्राप्त उच्यते-तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो न तन प्रच्युति स्यात् । कुन ? नियमातद्रूपाभावेभ्यः । तथाहि- 'अप्यन्तमात्मानमाचार्यकुत्रेऽजमादयन्' (छा० २।२३।१) इति 'अप्यन्तिनादिनि पद, ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' इति ।

आचार्येणाम्यनुज्ञानश्रुतुर्गामेकमाश्रमम् ।

आ विमोक्षाच्छरीरस्य मौजुतिष्ठेयविधिः ॥

इति चैवजातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति । यथा च 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जा० ४) 'ब्रह्मचर्यदिव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते नैवं प्रत्यवरोहरूपाणि । न चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते । यत्तु पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति, तदसत् 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधमोस्त्वित्नुष्ठितात्' (३।३।५) इति स्मरणात् । न्यायाच्च । यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मो न तु यो येन स्वनुष्ठानं शक्यते चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य । नच रागादिवशात्प्रच्युतिः । नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात् । जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनिवादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं नास्ति प्रतिपत्तिदाढ्याय ॥ ४० ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि (तद्भूतस्य तु), ऊर्ध्वरेतःस्वरूपता को प्राप्त मनुष्य का फिर अतद्रूप-उससे प्रच्युति किसी प्रकार भी उचित धर्मस्वरूप नहीं हो सकता है, यह किस प्रमाण से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि नियम और अतद्रूप तथा अभाव से समझा जाता है । वह नियमादि इस प्रकार है कि (नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्यकुल में जीवनपर्यन्त नियमों से शरीर को अत्यन्त क्षीण करता हुआ बसे) और (अरण्य-एकान्तवासयुक्त संन्यास को प्राप्त करे—यह पद शास्त्रीयमार्ग है) और (उससे फिर प्रच्युत न हो यह उपनिषद् रक्ष्य है) और (आचार्य से अभ्यनुज्ञात-अनुमत-स्वीकृत होकर, उनकी आज्ञा पाकर शरीर के त्याग-पर्यन्त चारों आश्रमों में से किसी एक आश्रम का विधि के अनुसार वह अनुष्ठान करे) इस प्रकार का नियम प्रच्युति के अभाव को दर्शाता है । जैसे (ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थाश्रम का स्वीकार करे) (ब्रह्मचर्य से ही त्याग करे) इत्यादि आरोह-विधायक स्वरूप वाले वचन उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार प्रत्यवरोह (परावृत्ति) रूप वाले वचन नहीं उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार के आचार वाले शिष्ट पुरुष भी नहीं हैं । जो त्यक्त पूर्वाश्रमसम्बन्धो कर्मविषयक अनुष्ठान करने की इच्छा से प्रत्यवरोह होगा, यह कथन है वह असत् है । (पूर्णविधिपूर्वक अनुष्ठित, कृत अन्य के धर्म से विगुण अनुष्ठित भी अपना धर्म अति श्रेष्ठ है) इस स्मरण से और न्याय-धर्म मर्यादा में उक्त कथन असत् अयुक्त है । जिससे जिसके प्रति जो विहित होता है, वह उसका धर्म होता है । जो जिससे अच्छी तरह से अनुष्ठित हो सकता हो (किया जा सकता हो) वह उसका धर्म नहीं होता है, क्योंकि धर्म का चोदना (विधि) ही लक्षण है । रागादि वश से भी प्रच्युति उचित नहीं है, रागादि से नियम-शास्त्र अतिबली है । (जैमिनेरपि) इस अपि शब्द से जैमिनि और वादरायण दोनों की इस विषय में संप्रतिपत्ति (निश्चय) का उपदेश प्रतिपत्ति (ज्ञान विश्वास) की दृढ़ता के लिए करते हैं ॥ ४० ॥

अधिकाराधिकरणम् (११)

अष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमपास्ति वा । अवशानोक्तेरस्त्येव व्रतिनो गर्दभः पशुः ॥ १ ॥

उपपातकमेवंतद्गतिनो मधुमांसवत् । प्रायश्चित्ताच्च संस्काराच्छुद्धिर्यत्नपरं वचः ॥ २ ॥

तदमृत के अन्तर्भाव होने पर (ऊर्ध्वरेता के पतित होने पर) पूर्वमीमांसा के पष्ठ अधिकाराध्याय में निर्णीत (आधिकारिक) प्रायश्चित्त भी नहीं हो सकता है। प्रायश्चित्त से भी वह शुद्ध नहीं हो सकता है। जिससे निवृत्ति के अयोग्य पतन के बोधक श्रुति का सस्वार के प्रायश्चित्त के अभावबोधक स्मृति आदि से अनुमान होना है। इसमें उस प्रायश्चित्त के अयोग से प्रायश्चित्त नहीं हो सकता है ॥ सशय है कि भ्रष्ट ऊर्ध्वरेता का प्रायश्चित्त है अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि (प्रायश्चित्त न पश्यामि) इस अदर्शन वचन से प्रायश्चित्त नहीं है। गर्दभ पशुरूप प्रायश्चित्त भी उपकुर्वाणक वृत्ती के लिए है, ऊर्ध्वरेता के लिए नहीं ॥ सिद्धान्त है कि मधु-माममक्षण के समान यह स्त्रीमग भी गुन्दारा आदि से अतिरिक्त-विषयक उपपातक ही है, इसमें प्रायश्चित्त और सस्वार से शुद्धि होती है। (प्रायश्चित्त न पश्यामि) वचन अधिक यत्न-सावधानीपरक है ॥१-२॥

नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत किं तस्य 'ब्रह्मचार्यवकीर्णो नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं म्यादुत नेति। नेत्युच्यते। यदप्यधिकार-लक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् 'अवकीर्णपशुश्च तद्वदधानस्याप्राप्तकालत्वात्' (जै० सू० ६।८।२१) इति, तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति। किं कारणम् ?

आम्बो नैष्ठिक धर्मं यन्तु प्रच्यवते पुनः ।

प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्यं तस्य आत्महा ॥

इत्यप्रतिममाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरम इव प्रतिक्रियाशुपपत्तेः । उपकुर्वाणस्य तु तादृक्पतनस्मरणमावादुपपद्यते तत्प्रायश्चित्तम् ॥ ४१ ॥

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रमाद से अवकीर्णों (ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट) हो। व्यभिचार करे वा क्या उसका (अवकीर्णों ब्रह्मचारी निर्ऋति देवता के लिए गर्दभ का आलम्भ करे) इस वचन से विहित प्रायश्चित्त होगा, अथवा नहीं होगा। ऐसा सशय होने पर कहा जाता है कि उसका प्रायश्चित्त नहीं होगा, जो भी अधिकाराध्याय में (अनिग्रहण के द्वाराग्रहण के उत्तरकाल में होने से उपनयन काल में गृहीत अग्नि के अप्राप्तकाल होने में जैसे उपनयन काल में लौकिक अग्नि में ही होम कर्तव्य होता है, उसी प्रकार से अवकीर्णों ब्रह्मचारी के प्रायश्चित्त गर्दभ पशु का लौकिकाग्नि में हवन कर्तव्य होता है) इस प्रकार में प्रायश्चित्त निर्णीत है, वह भी नैष्ठिक का नहीं होने योग्य है। उममें कारण क्या है कि (नैष्ठिक धर्म में आम्ब होकर जो फिर पतित होता है, उसका वह प्रायश्चित्त नहीं देवता है कि जिससे वह आत्मपातो शुद्ध हो) इस प्रकार अप्रति-समाधेय (अनिवार्य) पतन के स्मरण से छिन्न शिर वालों के समान प्रतिकार (निवृत्ति माधन) की अनुपपत्ति से प्रायश्चित्त नहीं हो सकता है। उपकुर्वाण को बैसे अनिवार्य पतन स्मरण के अभाव से उसका प्रायश्चित्त उपपन्न होता है ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते । यन्नैष्ठिकस्य गुरुदारादि-
भ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं विशीर्येत न तन्महापातकं भवति गुरुतल्पादिषु महापात-
केष्वपरिगणनात् । तस्मादुपकुर्वाणवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति
ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च अशनवत् । यथा ब्रह्मचारिणो मधु-
मांसाशने व्रतलोपः पुनःसंस्कारश्चैवमिति । ये हि प्रायश्चित्तस्याभावमिच्छन्ति
तेषां न मूलमुपलभ्यते, ते तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्येतदवि-
शेषश्रवणं मूलम् । तस्माद्भावो युक्ततरः । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—‘समा विप्रति-
पत्तिः स्यात्’ (जै० सू० १।३।८) ‘शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्’ (जै० सू०
१।३।१९) इति । प्रायश्चित्तभावस्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति
व्याख्यातव्यम् । एवं भिक्षुवैखानसयोरपि ‘वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं
चरित्वा महाकथं वर्धयेत्’ ‘भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च’
इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्तव्यम् ॥ ४२ ॥

एक आचार्य तो यह नैष्ठिक की च्युति उपपूर्वक पतन है, अर्थात् उपपातक ही
है प्रतिकार के अयोग्य महापातक नहीं है उस प्रकार मानते हैं । नैष्ठिक का जो
गुरुदारा (स्त्री) आदि से अन्य मे यदि ब्रह्मचर्यं विशेषणं नष्ट हो, तो वह महापातक
नहीं होता है, जिससे गुरुतल्प (दारा) आदि महापातकों में उसका परिगणन नहीं
है । इससे उपकुर्वाणक के समान नैष्ठिक के प्रायश्चित्त के सत्त्व को वे आचार्य मानते
हैं, जिससे ब्रह्मचारित्व और अवकीर्णित्व दोनों में तुल्य है । वह अवकीर्णित्व दोष
अशन (अमध्य-भक्षण के समान है । इससे जैसे मधु-मास के भक्षण करने पर
ब्रह्मचारी का व्रतलोप-नियमनाश होता है, परन्तु फिर संस्कार होता है, इसी प्रकार
व्यभिचार-विषय में भी प्रायश्चित्त समझना चाहिए । जो कोई प्रायश्चित्त का अभाव
मानते हैं उनके मत का मूल नहीं उपलब्ध होता है । जो प्रायश्चित्त का सत्त्व मानते
हैं, उनके मत का (अवकीर्णी ब्रह्मचारी, इत्यादि अविशेष (सामान्य) श्रुति मूल है ।
इससे प्रायश्चित्त का भाव (अस्तित्व) युक्ततर (अति उचित) है । यह प्रमाणाध्याय
में कहा है कि (यवमयश्चरुर्भवति) यव का चरु होता है । इस श्रुति में यव शब्द
किस अर्थ का वाचक है, यह निश्चय नहीं होता है, क्योंकि अनार्य लोग प्रियंगु (कौनी)
को यव कहते हैं, और आर्य दीर्घशूक (दूड़ा) वाले को यव कहते हैं, यहाँ (सम-
प्रसिद्धि से समप्रतिपत्ति तुल्य ज्ञान अर्थात् विकल्प होगा, कभी जौ का चरु होगा, कभी
कौनी का होगा) ऐसा प्रास होने पर कहा गया है कि (शास्त्रस्थ शास्त्रमूलक प्रतिपत्ति
ग्राह्य है क्योंकि धर्म का ज्ञान शास्त्रनिमित्त होता है) और (यदा चान्या ओपधयो म्ला-
यन्त्ययैते यवा मोदमानास्तिष्ठन्ति) जब अन्य ओपधियाँ सूख जाती हैं, उस समय भी
यव हरे-मरे रहते हैं । यह शास्त्र दीर्घशूक वालों का ही बोध कराता है । इससे शास्त्र

के अनुसार ही प्रायश्चित्त भी मन्तव्य है । परन्तु ऐसा निश्चय होने पर प्रायश्चित्त का जमावरूप स्मरण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-भारतनविषयक प्रयत्न-गुम्ब का उत्पादनार्थक है, ऐसा व्याख्यान के योग्य है । इसी प्रकार (दीक्षा का मङ्गल, नियम का नाश होने पर द्वादश—बारह रात्रि तक वृच्छ (प्राजापत्य) दत्त करके वानप्रस्थ महाव्रत—वन को जलादि-प्रदान में बढ़ावे । नृण वृक्ष जहाँ बहुत हो उस भूमि को सेवा करे) और (मिश्रव्रत भग होने पर सोमलता से मिले महाव्रत को वानप्रस्थ के समान जन्म-सेवनादि में बढ़ावे । सन्यासशारत्र में विहित कर्म-युक्त हो) इत्यादि भिक्षु का वानप्रस्थ का भी प्रायश्चित्त स्मरण अनुष्मन्तव्य (समझने योग्य) है ॥ ४२ ॥

बहिरधिकरणम् (१२)

शुद्ध शिष्टेष्टादेयस्तथाया वा दोषहानि । उपादेयाज्याया शुद्धि प्रायश्चित्तकृता वा ॥
आमुष्मिके च शुद्धि स्यात्त शिष्टास्त्यजति तम् । प्रायश्चित्तादृष्टिवाक्यावशुद्धिस्त्वेति कीप्यते ॥

पतित होने पर प्रायश्चित्त करें या नहीं करें लोक व्यवहार में स्मृति-आचार से वे पतित बहिष्कार्य, सम्बन्ध के अयोग्य होने हैं । नाप्य के अनुसार पातनी वा महापातनी हा उमयया बहिष्कार्य हैं । सशय है कि प्रायश्चित्त में शुद्ध हुआ पतित शिष्टों में लोक-व्यवहार में उपादेय ग्राह्य होता है अथवा त्याज्य होता है । पूर्वपक्ष है कि प्रायश्चित्त में दोष की निवृत्ति हो जाने से वह शिष्टों से उपादेय है, अन्यथा प्रायश्चित्त में की गई शुद्धि व्यर्थ होगी । मिदान्त है कि पारलौकिक कर्मादि-विषयक उसकी प्रायश्चित्त से शुद्धि होगी लोकव्यवहार के लिए नहीं, इससे शिष्ट लोग उसका त्याग करते हैं, जिसमें प्रायश्चित्त के अदृष्टि-विषयक वाक्य में ऐहिकी (लौकिकी) अशुद्धि प्रायश्चित्त करने पर भी मानी जाती है ॥ १-२ ॥

बहिस्तुभययापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

यद्युच्चरेत्तसा म्वाथमेभ्य प्रच्यवन् महापातक यदि वोपपातक्रमुभययापि शिष्टेभ्यो बहिष्कर्तव्या ,

आम्बु नैष्ठिक धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुन ।

प्रायश्चित्त न पश्यामि येन शुद्धयेत्स आत्महा ॥ इति,

आहूदपतित विप्र मण्डराच्च विनि मृतम् ।

उद्धृष्ट कृमिदष्ट च स्पृष्ट्वा चान्द्रायण चरेत् ॥

इति चैवमादिनिन्दातिगयस्मृतिभ्य शिष्टाचाराच्च । नहि यज्ञाध्ययनविवाहादीनि ते महाचरन्ति शिष्टा ॥ ४३ ॥

उच्चरेत्ताजो वा अपने आश्रमों में पतन यदि महापातक है, प्रायश्चित्त के योग्य नहीं है । अथवा उपपातक (प्रायश्चित्त के योग्य) है । दोनों अवस्थाओं में वे शिष्टों में बहिष्कार्य हैं (नैष्ठिक में आम्बु होकर जो फिर पतित होता है वह आन्धपातो जिनमें शुद्ध हो, उस प्रायश्चित्त की नहीं देवता हैं । प्रथम उत्तम आश्रम में आहूद होकर फिर

उससे पतित, और दोष के कारण देश-समाजरूप मण्डल से विनिःमृत (निकले हुए अपराध से उद्वद्ध, बांध कर लटकाए, कृमि से दष्ट ब्राह्मण का स्पर्श करके चान्द्रायण करे) इत्यादि निन्दा के अतिशयरूप स्मृतियों से और शिष्टाचार से वे बहिष्कार्य हैं, इससे यज्ञ, अध्ययन, विवाहादि रूप व्यवहार शिष्ट लोग उनके साथ नहीं करते हैं ॥४३॥

स्वाम्यधिकरणम् (१३)

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विज्यं वा यतः फलम् । ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम् ॥१॥

ब्रूयादेवंपिबुद्गातेत्यात्पिज्यस्त्रं स्फुटं श्रुतम् । कृतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् ॥२॥

कर्म के अङ्गरूप उद्गीथादि की उपासना स्वामी (यजमान) का कर्तव्य है । क्योंकि उपासना का फल कर्म-कर्ता में सुना जाता है । इस प्रकार आश्रय कहते हैं । संशय है कि कर्माङ्गरूप ध्यान यजमान को करना चाहिए, अथवा ऋत्विजों को करना चाहिए । पूर्वपक्ष है कि जिससे ध्यानकर्ता का फल सुना गया है, उससे यजमान को ध्यान करना चाहिए । सिद्धान्त है कि उस प्रकार जानने वाला, ध्यान करने वाला उद्गाता कहे इत्यादि वचन से ऋत्विक्-कृत ध्यान स्पष्ट श्रुत है । ऋत्विक्-कृत होता है, इससे ऋत्विक्-कृत ध्यान स्वामिकृत होता है ॥ १-२ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्याश्रयः ॥ ४४ ॥

अङ्गेषूपसनेषु संग्रहः । किं तानि यजमानकर्माण्याहोस्विदृत्विक्कर्माणीति । किं तावत्प्राप्तं यजमानकर्माणीति । कुतः ? फलश्रुतेः । फलं हि श्रूयते—'वर्पति हास्मै वर्पयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।३।२) इत्यादि । तच्च स्वामिगामि न्याय्यम्, तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात्, अधिकृताधिकारत्वाच्चैवजातीयकस्य । फलं च कर्तार्युपासनानां श्रूयते—'वर्पयस्मै य उपास्ते' (छा० ३०) इत्यादि । नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम् 'आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' (वृ० १।३।२८) इति । न, तस्य वाचनिकत्वात् । तस्मात्स्वामिन एव फलवत्सूपसनेषु कर्तृत्वमित्याश्रय आचार्यों मन्यते ॥ ४४ ॥

अङ्ग उपासनाओं विषयक संशय होता है कि वे उपासनाएँ क्या यजमान के कर्तव्य कर्म हैं, अथवा ऋत्विक् के कर्म हैं । प्रथम प्राप्त क्या होता है, ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष है कि यजमान के कर्म हैं । क्योंकि फल के श्रवण से यजमान के कर्म सिद्ध होते हैं । जिससे फल सुना जाता है कि (इस साम को इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् वृष्टि में पाँच प्रकार साम की उपासना करता है, उसके लिए उसकी इच्छा के अनुसार वृष्टि होती है, और अन्य के लिए भी वह मेघों से वृष्टि करवाता है) इत्यादि । वह फल स्वामिगामी (स्वामी में) होना न्याययुक्त (उचित) है । जैसे गोदोहन का फल साङ्गकर्मकर्ता को होता है इससे स्वामी को ही अङ्गसहित कर्म में अधिकृतत्व (अधिकार) है । इस प्रकार के अङ्गरूप कर्मों को अधिकृत-अधिकारत्व है, अर्थात्

प्रधान कर्म के अधिकारी का ही ऐमे अङ्ग में अधिकार होता है, इसमें उपासना यजमान का कर्म है। उपासनाओं का फल उपासनाकर्ता में सुना जाता है कि (जो उपासना करता है उसके लिए उसकी इच्छा के अनुसार मेघ वृष्टि करता है) इत्यादि। यहाँ दावा होती है कि ऋत्विक् सम्बन्धी भी फल देखा गया है कि (उद्गाता अपने लिए वा यजमान के लिए जिस काम्य अभीष्ट वस्तु की इच्छा करता है उसको उद्गान द्वारा सिद्ध, प्राप्त करता करता है) उत्तर है कि यह फल दर्शन विशेष म्यान के लिए है, इसमें इस उद्गान फल को वाचनिकत्व है, विशेष स्थान में वचनसिद्धत्व है, इसमें वह दर्शन उत्तमार्ग (सामान्य) रूप से प्राप्त स्वामिगामि फल का वाधक नहीं है, इसमें स्वामी को ही फलवाले उपासनाओं में कर्तृत्व है इस प्रकार आश्रय आचार्य मानते हैं, जो फलमोक्ता होता है, वह कर्ता होता है, यह उपसर्ग है ॥ ४४ ॥

आत्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

नैनदस्ति स्वामिकर्माण्युपामनानीति । ऋत्विक्कर्मण्येतानि म्युरित्यौडुलो-
मिराचार्यो मन्यते । किं कारणम् ? तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेनत्विक्परि-
क्रीयते । तत्प्रयोगान्तं पानीनि चोद्गीथाद्युपामनान्यधिकृताधिकारत्वात् ।
नम्माद्गोदोहनादिनियमवदेवत्विग्भिर्निर्वर्त्येरन् । तथा च 'त ह वको दातव्यो
विदाचकार स ह नैमिषोपाणामुद्गाता बभूव' (छा० १।२।१३) इत्युद्गातृकर्तृकता
विज्ञानस्य दर्शयति । यत्तूच-कर्त्राश्रय फल श्रूयत-इति । नेप दाप । परार्थत्वादु-
न्विजोऽप्यत्र वचनात्फलमस्यन्धानुपपत्ते ॥ ४५ ॥

उपासनाएँ स्वामि ने कर्म हैं, यह कथन सत्य नहीं है, इसमें ये उपासनाएँ ऋत्विक् के कर्म होंगे, इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं, उसमें कारण क्या है कि उस अगमहित कर्म के लिए ही यजमान से ऋत्विक् परिक्रीन (द्रव्यदान द्वारा स्वीकृत) होता है। उस अगमहित कर्म के प्रयोग (अनुष्ठान) के अन्त पाती (मध्यवर्ती) अधिकृताधिकारत्व में उद्गीथादि उपासनाएँ भी हैं। अर्थात् साग कर्म के अधिकारी का उपासना में अधिकार है। परिक्रीन ऋत्विक् का साग कर्म में अधिकार होने में उपासनाओं में भी अधिकार है। इसमें गोदोहनादि नियम के समान ही अङ्गसम्बन्धी उपासनाएँ भी ऋत्विजों में निर्वर्तित (सिद्ध, संपादित) होंगी (की जायेंगी)। इसी प्रकार (उस उद्गीथनामक प्रणव का दत्त के अपत्य वक ने प्राणवृष्टि में ध्यान किया उस प्रणव को प्राणस्वरूप समझा और समझकर नैमिषीय सत्रिया का उद्गाता हुआ) यह श्रुति विधान (उपासना) की उद्गातृकर्तृकता को दर्शाती है, ध्यान का उद्गाता कर्ता होता है, इस अर्थ को यह श्रुति दर्शाती है। जो यह कहा या कि (कर्त्राश्रय [कर्तृस्वामिगामी] फल सुना जाता है) ऋत्विक् के कर्ता होने से ऋत्विग्गामी फल होगा, यह दोष है। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है। ऋत्विक् के परार्थक (यजमान के लिए) होने से विशेष वचन के बिना सामान्य फल के साथ ऋत्विक् के सम्बन्ध की अनुपपत्ति में

दोष का अभाव है । जहाँ विशेष वचन है वहाँ वचन के बल से ऋत्विक् को फल होता है, अन्यत्र तो भृत्यकर्तृक विजय का फल जैसे स्वामी को प्राप्त होता है, वैसे ऋत्विक्-कर्तृक साङ्गकर्म का फल यजमान को होता है ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

‘यां वै कांचन यज्ञे ऋत्विज आशिपमाशासत इति यजमानायैव तामाशा-सत इति होवाचेति’ ‘तस्माद्दु हैवंविदुद्गाना ब्रूयात्कं ते काममागायानि’ (छा० १।७।८-९) इति । तच्चर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति । तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

(यज्ञ में ऋत्विक् जिस किसी काम्य वस्तु को आशा करते हैं यजमान के लिए ही उसकी आशा करते हैं, देवादि की प्रार्थना-स्तुति करते हैं, इस प्रकार कहा है, इससे ऐसा जानने वाला उद्गाता यजमान से कहे कि तेरे लिए मैं किस काम्य वस्तु का उद्गान करूँ, किसके लिए प्रार्थना करूँ) में श्रुतियाँ ऋत्विक्-कर्तृक (ऋत्विक्-कृत) उपासनाओं के स्वामिगामि फल को दर्शाती हैं, इससे अङ्गसम्बन्धी उपासनाओं को ऋत्विक्-कर्तृकत्व की सिद्धि होती है इससे उपासनाएँ ऋत्विक् के कर्तव्यकर्म सिद्ध होती हैं और उसका फल स्वामिगामी होता है ॥ ४६ ॥

सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् (१४)

अविधेयं विधेयं वा मौनं तत्र विधीयते । प्राप्तं पाण्डित्यतो मौनं ज्ञानवाच्युभयं यतः ॥ १ ॥

निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक् । विधेयं तद्भेददृष्टिप्रावल्ये तन्निवृत्तये ॥ २ ॥

श्रवण और मनन से उस आत्मतत्त्व के विज्ञान वाले के लिए भी जिस पक्ष में श्रवण-मनन से अपरोक्ष-अनुभव नहीं हुआ हो, उस पक्ष से तृतीय अपरोक्ष ज्ञान के साधन रूप सहकार्यन्तर मौन-निदिध्यासन का विधि श्रुति में की गई है । जैसे कि प्रधान कर्म-विधि में अंग-विधि होती है उसके समान तथा अन्य विधि-निषेध के समान यह भी विधि है ॥ वहाँ संशय है कि पाण्डित्य और बाल्य (श्रवण और मनन) के बाद मे मौन (निदिध्यासन) विधान के अयोग्य है, अथवा विधान के योग्य है । पूर्वपक्ष है कि जिससे पाण्डित्य और मौन दोनों शब्द ज्ञान के वाचक हैं, इससे पाण्डित्य के विधान से ही मौन का विधान हो चुका है, और आगे विधि का श्रवण भी नहीं है, इससे वह मौन विधेय नहीं होता है ॥ सिद्धान्त है कि निरन्तर ज्ञान निष्ठा ध्यान रूप मौन पाण्डित्य से पृथक् है । इससे भेद-दृष्टि की प्रबलता दशा में श्रवण-मनन से अपरोक्षानुभव नहीं होने पर उस भेद-दृष्टि की निवृत्ति के लिए वह मौन विधेयक (कर्तव्य) है ॥ १-२ ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥४७॥

‘तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः’ (वृ० ३।५।१) इति

बृहदारण्यके श्रूयते । तत्र भगवः मोन विधीयते न वेति । न विधीयत इति तावत्प्राप्तम् । वाक्येन तिष्ठामेदित्यत्रैव विधेरवसितत्वात् । नह्यथ मुनिरित्यत्र विधायिका विभक्तिरुपलभ्यते, तस्मादयमनुवादो युक्तः । कुत प्राप्तिरिति चेत् । मुनिपण्डितशब्दयोजनार्थत्वात्पाण्डित्य निर्विद्येत्येव प्राप्तं मौनम् । अपि चामौनं च मौनं च निर्विद्याय ब्राह्मण इत्यत्र तावन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते प्रागेव प्राप्तत्वात् । तस्मादथ ब्राह्मण इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति समाननिर्देशत्वादिति ।

बृहदारण्यक बहोल ब्राह्मण मे सुना जाता है कि (जिसमे पूर्वकालिक ब्राह्मण इस आत्मा को जानकर त्यागपूर्वकं मित्राचर्यां करते थे, इससे वर्तमान ब्राह्मण-सामान्य ज्ञान वाले पण्डित के कृत्यरूप पाण्डित्य (श्रवण) को निर्विद्य (नि शेषरूप में निश्चयपूर्वकं लाभ करके) बाल्य से बालनावरूप मनन से बालनावरूप शुद्धचित्तवृत्ता में सशयग्रहित स्थिति की इच्छा करे । बाल्य तथा पाण्डित्य का नि शेषरूप में लाभ करके उसके बाद मुनि मननशील-निदिध्यासन-वर्ता होता है । अमौन (श्रवण-मनन) का और मौन (निदिध्यासन) का नि शेषरूप में लाभ करके फिर ब्रह्म के साक्षात्कार वाला ब्राह्मण होता है) यहाँ सशय होना है कि यहाँ मौन का विधान होता है, अथवा नहीं होता है, प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि मौन का विधान नहीं होता है, क्योंकि (बाल्येन तिष्ठसेत्) बाल्यरूप में स्थिति की इच्छा करे, विधि का यहाँ ही अवगानत्व (अन्तः) है । (अथ मुनि) फिर मुनि होता है । इस वाक्य में विधायक कोई विधि-विभक्ति नहीं उपलब्ध होती है, इसमें यह अनुवादरूप युक्त है । यदि शका हो कि मौन की प्राप्ति किसमे है कि जिसका (अथ मुनि) इससे अनुवाद होगा । तो कहा जाता है कि मुनि और पण्डित दोनों शब्दों के ज्ञानार्थक होने से (पाण्डित्य निर्विद्य) इसी कथन से मौन प्राप्त है । दूसरी बात है कि (अमौन और मौन को नि शेष प्राप्त करने फिर ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण होता है) यहाँ प्रथम ही प्राप्त होने में ब्राह्मणत्व का विधान नहीं होता, इसमें (अथ ब्राह्मण) यह प्रशंसावाद है, वसा ही (अथ मुनि) यह भी होने के योग्य है, जिसमें दोनों को तुल्य निर्देशत्व (वचनत्व) है ।

एव प्राप्तं ब्रूम — महत्कार्यन्तरजिगिरिति । विद्यामहत्कारिणो मौनस्य बाल्य-पाण्डित्यवद्विधिरैवाश्रयितव्याऽपूर्यत्वात् । ननु पाण्डित्यशब्दनेव मौनस्यावगन्तव्यमुक्तम् । नैव दोषः । मुनिशब्दस्य ज्ञानानिगमार्थत्वात्, मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिमभवान्, 'मुनोनामप्यहं व्याम' (गी० १०।३३) इति च प्रयोगदर्शनात् । ननु मुनिशब्द उत्तमाश्रमप्रवृत्तौऽपि श्रूयते 'गार्हस्थ्यमाचार्यकु-मौनं वानप्रस्थम्' इत्यत्र । न । 'धारमीकिर्मुनिपुगव' इत्यादिषु व्यभिचारदर्शनात् । इतराश्रमनिधानाच्च पारिवर्ष्यात्तत्रोत्तमाश्रमोपनिषदान् ज्ञानप्रधानत्वाद् उत्तमाश्रमस्य । तस्माद् बाल्यपाण्डित्यापेक्षया नृतीयमिदं मौनं ज्ञानानिगयरूप

विधीयते । यत्तु वाल्य एव विधेः पर्यवसानमिति, तथाप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रयते मुनिः स्यादिति । निर्देदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य वाल्य-पाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम्, तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः । कथं विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते, तदधिकारात् 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येपणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति । ननु सति विद्यावत्त्व प्राप्नोत्येव तत्रातिशयः किं मौनविधिनेत्यत आह—पक्षेणेति । एतदुक्तं भवति—यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्रावल्यान्न प्राप्नोति तस्मिन्नैव विधिरिति । विध्यादिवत् । यथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाग्न्याधानादिकमङ्गजातं विधीयते एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (ज्ञान के सहकारी कारणान्तर की विधि है, अनुवाद नहीं है । अर्थात् अपूर्वत्व से वाल्य पाण्डित्य के समान विद्या के सहकारी मौन की विधि ही स्वीकार के योग्य है, अन्य नहीं । यदि कहो कि पाण्डित्य शब्द से ही मौन को अवगतत्व (प्राप्तत्व) प्रथम कहा गया है । तो कहा जाता है कि मुनि शब्द के ज्ञान के अतिशय अर्थवाला होने से यह दोष नहीं है । अर्थात् सामान्य ज्ञानवाची पाण्डित्य शब्द के तुल्यार्थक मौन शब्द नहीं है । और मनन से मुनि होता है इस प्रकार की व्युत्पत्ति-निर्वचन के सम्भव से, और 'मुनियों में मैं व्यास हूँ' इस प्रयोग के दर्शन से भी मौन पाण्डित्य से विलक्षण है । यदि कहो कि (गार्हस्थ्यं, आचार्यकुलं-मौनं वानप्रस्थम्) इस वचन में उत्तमाश्रम का वाचक भी मुनि शब्द मुना जाता है । तो कहा जाता है कि (वाल्मीकि मुनियों में श्रेष्ठ है) इत्यादि प्रयोगों में आश्रमवाचित्व के व्यभिचार (अभाव) के देखने से मुनिशब्द को आश्रमवाचित्व नहीं है । उस (गार्हस्थ्यम्) इत्यादि वाक्य में तो इतर आश्रम के सन्निधान से और उत्तमाश्रम की ज्ञान-प्रधानता से और परिशेषता से मौन शब्द से उत्तमाश्रम का ग्रहण होता है । अतः वाल्य पाण्डित्य की अपेक्षा से तृतीय ज्ञान का अतिशय रूप यह मौन विहित होता है । और जो यह कहा था कि वाल्य में ही विधि का पर्यवसान है । वह यद्यपि है ही तथापि अपूर्वता से मुनित्व के विधेयत्व का आश्रयण किया जाता है कि मुनि होना चाहिये । और निर्वेदनीयत्व निःशेष रूप से प्राप्यत्व का निर्देश से भी मौन के वाल्य पाण्डित्य के तुल्य विधेयत्व का आश्रयण किया जाता है । (तद्वतः) इस सूत्रगत पद का विद्या वाला संन्यासी का तृतीय मौन ज्ञानार्थकसाधन है, इस प्रकार सम्बन्ध है । यदि कहा जाय कि (तद्वतः संन्यासिनः) यह कैसे समझा जाता है । तो कहा जाता है कि (आत्मा) को ज्ञान कर पुत्रादि-इच्छा से रहित हो कर भिक्षाचर्या करते हैं । इस प्रकार उस संन्यासी के अधिकार से समझा जाता है । यदि शंका हो कि विद्यावत्त्व के होने पर अभ्यासादि से उसमें अतिशय प्राप्त होता ही है मौन विधि से क्या फल होता है । अतः उत्तर कहते हैं कि (पक्षेणेति) भेद-दर्शन की प्रवृत्ता से जिस पक्ष में

ज्ञानानिश्चय नहीं प्राप्त होना है उस पक्षविषयक यह विधि है । वह विधि आदि के समान है । जमे कि (स्वर्ण की इच्छा वाला दसंपूर्णमास याग में द्रष्टृ का सम्पादन करे) इस प्रकार के विधि आदि में सहकारी रूप में अग्नि आदि अग्निसमूह विहित होते हैं, इसी प्रकार यद्विधि प्रधान भी इस विद्यावाक्य में मोक्ष की विधि है यह अर्थ है ॥ ४७ ॥

एव ब्रह्मादिविशिष्टे कैवल्यार्थमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसहार 'अभिषमाकृत्य कुटुम्बे' (छा० ८।१५।१) इत्यत्र, तेन ह्युपसहारस्त्वद्विषयमादय दर्शयन्तीति । अत उत्तर पठति—

समा होती है कि इस प्रकार ब्रह्म (यवग) आदि युक्त श्रुतिमिदं कैवल्यार्थम के विद्यमान रहते छान्दोग्य में किस हेतु से (अभिषमाकृत्य धर्ममीमासा करके कुटुम्ब में रहता हुआ शुचि देश में अध्ययनादि करे) । इस वाक्य में गृहस्थ द्वारा उपसहार किया गया है । उस गृहस्थ द्वारा उपसहार कर्त्ता हुई श्रुति उस विषयक आदय को दर्शाती है इति । इसमें इस श्रुति का उत्तर पठते हैं कि—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसहारः ॥ ४८ ॥

तुगन्तो विशेषणार्थ । कृत्स्नभावाञ्ज्य विगिष्यते । बहुश्रयासामि हि बहुश्रयाश्रमकर्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्त्तव्यतयोपदिष्टान्याश्रमान्तरकर्माणि च ययामभ्यसहिमेन्द्रियनमसादीनि तस्य विद्यन्ते । तस्माद् गृहमेधिणोपसहारे न विरुध्यते ॥ ४८ ॥

तु शब्द विशेषणार्थक है, इसमें इस गृहस्थ को कृत्स्नभावाञ्ज्य विशेषित (पूर्णरूप में वर्णित) होती है, कि बहुत आयास करते बहुत यज्ञादि रूप आश्रम कर्म उस गृहस्थ के प्रति उपदिष्ट हैं और आश्रमान्तर के कर्मरूप अहिंसा, इन्द्रियनमसादि कर्म भी सम्भव के अनुसार उस गृहस्थ के होते हैं, अतः गृहस्थ द्वारा उपसहार विरुद्ध नहीं है । अर्थात् सन्त्यास के अभाव में गृही द्वारा उपसहार नहीं है, किन्तु गृहस्थ में अधिन धर्म के सन्निवेश में अधिक धर्म की दृढ़ता आदि के लिए गृही से उपसहार किया गया है ॥ ४८ ॥

मौनवृत्तिरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

यथा मौन गार्हस्थ्य चैनावाश्रमी श्रुतिमतावेमिनरावपि बानप्रस्थ-गुरुकुलवासी । दर्शना हि पुरस्ताद्वनि —'नप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य-कुलवासी तृतीयः' (छा० २।२३।१) इत्याद्या । तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमागामुपदेशादिनेतान् उवद्विदित्यममुच्चराभ्या प्रतिपत्ति । उत्तरेणमिति द्वयोंगश्रम्योवद्वत्तु वृत्तिमेदापेक्षयाजुष्टान्तमेदापेक्षया वेति द्रष्टव्यम् ॥ ४९ ॥

इस पूर्व प्रकरण में गृहस्थ और सन्त्यासी दो ही की चर्चा हुई है, इसमें अन्य दो आश्रम के उभाव की श्रुति के निवारण के लिए कहते हैं कि तिस प्रकार मौन और गार्हस्थ्य के दोनों आश्रम श्रुतिसम्मत हैं, इसी प्रकार बानप्रस्थ और गुरुकुलवासी रूप

इतर दो आश्रम भी श्रुतिसम्मत हैं। प्रथम श्रुति दर्शित कराई गई है कि (तप ही द्वितीय आश्रम है धर्मस्कन्ध है। आचार्य कुलवासी ब्रह्मचारी तृतीय धर्मस्कन्ध है) इत्यादि। उससे चारो ही आश्रमों का तुल्य उपदेश से विकल्प और समुच्चय से तुल्य-वत् प्रतिपत्ति होती है। सूत्रगत (इतरेषाम्) यह दो आश्रमविषयक बहुवचन वृत्तिभेद की अपेक्षा से अथवा अनुष्ठाता के भेद की अपेक्षा से समझना चाहिए। वैखानस, औदुम्बर, बालखिल्य, फेनप, ये चार वृत्तिभेद वानप्रस्थ के होते हैं। गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य और वृहत् ये ब्रह्मचारी के चार वृत्तिभेद होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थ और संन्यासी के भी चार-चार अवान्तर भेद स्मृति में निरूपित हैं ॥ ४९ ॥

अनाविष्काराधिकरणम् (१५)

वाल्म्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धितः । वयस्तस्याविधेयत्वे कामचारोस्तु नेतरा ॥ मननस्योपयुक्तत्वाद्वाशुद्धिर्विवक्षिता । अत्यंतानुपयोगित्वाद्विरुद्धत्वाच्च न द्वयम् ॥२॥

श्रुतिगत वाल्य शब्द का विवक्षितार्थ है कि आत्मजिज्ञासु अपनी साधन-सम्पत्ति और काम-दर्प-द्वेषादि को नहीं प्रगट करता हुआ बालक के समान शुद्ध भावयुक्त रहे। इसी वाल्यभाव का ज्ञान साधन के साथ सम्बन्ध होने से अन्य यथेष्टाचार रूप वाल्यभाव विवक्षित नहीं है। संशय है कि वाल्यशब्द अवस्था का बोधक है, अथवा यथेष्टाचार का बोधक है, या बुद्धि की शुद्धि का बोधक है। पूर्वपक्ष है कि प्रसिद्धि से वाल्य का अवस्था अर्थ हो सकता है, अथवा अवस्था के अविवेक होने से संपादन विधि के अयोग्य होने से कामचार अर्थ हो सकता है, इतर भावशुद्धि अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। सिद्धान्त है कि प्रसिद्धि के नहीं रहते भी प्रकरणादि से और मनन के उपयोगित्व से भाव को शुद्धि हो विवक्षित है, मनन में अत्यन्त अनुपयोगित्व और विरुद्धत्व से अन्य दोनों वाल्य शब्द के विवक्षितार्थ नहीं हैं ॥ १-२ ॥

अनाविष्कुर्वन्तन्वयात् ॥ ५० ॥

‘तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य वाल्येन तिष्ठामेत्’ (वृ० ३।५।१) इति वाल्यमनुष्ठेयतया श्रूयते। तत्र बालस्य भावः कर्म वा वाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशेषस्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्यथोपपादमूत्रपुरीष-त्वादिवालचरितमन्तर्गता वा भावविशुद्धिर्दम्भदर्पप्ररुहेन्द्रियत्वादिरहितता वा वाल्यं स्यादिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? कामचारवादभक्षणता यथोपपादमूत्र-पुरीषत्वं च प्रसिद्धतरं लोके वाल्यमिति तदग्रहणं युक्तम्। ननु पतित्वादि-दोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम्। न। विद्यावतः संन्यासिनो वचनसा-मर्थ्याद्विदोपनिवृत्तेः पगुर्हिसादिष्विवेत।

(अतः ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्त करके बालभाव से स्थिति की इच्छा करे, इस प्रकार बालभाव अनुष्ठेय (कर्तव्य) रूप से सुना जाता है। वहाँ बाल का भाव वा बाल का कर्म इस अर्थ में बाल शब्द से तद्धितसंज्ञक प्रत्यय होने पर वाल्य शब्द

सिद्ध होता है। वय—अवस्थाविशेष रूप बालभाव के इच्छा से संपादन (प्राप्ति सिद्धि) करने में अवश्य होने में, यथासम्भव अनियत मूलपुरुषवत्त्वादि रूप बालक का चरित्र बाल्य होगा। अथवा अन्तर्गत भावशुद्धि, दम्भ-दय-प्रसृष्टेन्द्रियत्व (प्रवलेन्द्रियवत्त्व) आदि से गृहित बाल्य होगा, यह संशय होता है। वहाँ प्राप्त क्या होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, पूर्वपक्ष है कि काम (इच्छा) के अनुसार विचरण-कथन-भक्षण वाला होना, तथा यथासम्भव मूलमलादि वाला होना यह लोक में अति प्रसिद्ध बाल्य (बालरता) है, उसका यहाँ ग्रहण होना युक्त (उचित) है। यदि कहा जाय कि पतितत्वादि दोष की प्राप्ति से यथेशाचारतादि का आश्रयण युक्त नहीं है, तो कहा जाना है कि वंश पशुहिंसा आदि में दोषाभाव के समान विद्यावाले सन्ध्यामी के वचन सामर्थ्य से दोष की निवृत्ति से कामचारता आदि का आश्रयण प्रयुक्त नहीं है।

एव प्राप्तेर्जभिधीयते। न। वचनस्य गव्यन्तरसम्भवात्। अविरुद्धे ह्यन्य-
स्मिन्वात्यगव्दामिलये लभ्यमाने न विव्यन्तरव्याघातकल्पना युक्ता। प्रधा-
नोपकाराय चाङ्ग विधीयते। ज्ञानाभ्यामश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम्।
न च सकलाया बालचर्यायामङ्गीक्रियमाणाया ज्ञानाभ्याम सम्भाव्यते तस्मा-
दान्तरो भावविशेषो बालस्याप्रसृष्टेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। तदाह—
अनाविष्कुर्वन्ति। ज्ञानाध्ययनधामिकत्वादिभिरात्मानमविन्यापयन्द्रम्भद-
र्पादिरहितो भवेत्, यथा बालोऽप्रसृष्टेन्द्रियनया न परेष्वान्मानमाविष्कुर्वन्मुहीहते
तद्वत्। एव ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते। तथा चोक्त-
स्मृतिकारै—

य न सन्त न चामन्त नाश्रुत न बहुश्रुतम्।

न मुपृत्त न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मण ॥

गूढधर्माश्रितां विद्वानज्ञातचरित्रं चरेत्।

अन्यवज्जलवन्चापि मूकयच्च मही चरेत् ॥

‘अव्यक्तचिह्नोऽव्यक्ताचार’ इति चैवमादि ॥ ५० ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि बाल्य वचन का गव्यन्तर (अर्थान्तर) के सम्भव से उत्तमं युक्त नहीं है, जिसमें शास्त्र में अविरुद्ध अन्य बाल्यगव्द के अतिरिक्त (वाक्यार्थ) के लभ्यमान (प्राप्यमान) होते अथ विधि के व्याघात की कल्पना युक्त नहीं है। प्रधान के उपकार के लिए अङ्ग (साधन) का विधान किया जाता है। यहाँ यतियों का अनुष्ठेय (कर्तव्य) ज्ञानाभ्यास प्रधान है। सम्पूर्ण बालवर्ग (बालव्यवहार) के अङ्गीकार करने पर ज्ञान के अभ्यास का सम्भव नहीं है। सक्ता है, अतः अन्तर्वर्ती भावविशेष (शुद्धभाव) वाक का अप्रसृष्टेन्द्रियवत्त्वादि यहाँ बाल्यसंज्ञित होता है। उने कहते हैं कि (अनाविष्कुर्वन्ति) ज्ञान अध्ययन धामिकत्वादि के द्वारा अपनी प्रव्याप्ति आप नहीं करता हुआ दम्भ-दयादि में गृहित जिज्ञासा को रूढ़ना चाहिए।

अप्रखंडेन्द्रिय वाला होने से बालक जैसे अन्य लोगों में अपने को प्रख्यात करने के लिए चेष्टा नहीं करता है, वैसे जिज्ञासु और विद्वान् को रहना चाहिए । इस प्रकार ही इस वाक्य के प्रधान के उपकारी अर्थ का अनुगम (संबन्ध अनुभव) उपपन्न होता है । इसी प्रकार स्मृतिकारों ने कहा है कि (जिसको कोई सन्त-असन्त, अश्रुत-बहुश्रुत, मुवृत्त-भुवृत्त नहीं जानता है वह ब्राह्मण है) । गूढधर्म के आश्रित रहने वाला विद्वान् लोगों से अज्ञात चरित का आचरण करे । अन्ध, जड़, मूक के समान भूमि में विचरे (अव्यक्त लिङ्गवाला अव्यक्त आचार वाला रहे) इत्यादि ॥ ५० ॥

ऐहिकाधिकरणम् (१६)

इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा नियम्यते । तथाभिसन्धेर्यज्ञादिः क्षीणो विविदिपाजनो ॥१॥
असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा । श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्वामदेवोद्भवादपि ॥२॥

प्रस्तुत कर्म से प्रतिबन्ध के नहीं रहते, अर्थात् अप्रस्तुत-अनुपस्थित प्रतिबन्ध वाले में (ऐहिक) इस वर्तमान जन्म में होने वाले ज्ञान को श्रवणादि साधन उत्पन्न करते हैं । प्रतिबन्ध के रहते पारलौकिक ज्ञान के हेतु हैं । सो श्रुति दर्शन से सिद्ध होता है । संशय है कि श्रवणादि साधनों से इस जन्म में नियत (अवश्य) ज्ञान होता है, वा पाक्षिक होता है, अर्थात् इस जन्म में वा जन्मान्तर में अनियम से होता है । पूर्वपक्ष है, कि इसी जन्म में ज्ञान की अभिसन्धि (अमिलापा) से नियम किया जाता है, अर्थात् मनुष्य वर्तमान जन्म में ज्ञान की इच्छा से साधन में प्रवृत्त होता है इससे वर्तमान जन्म में ही ज्ञान होता है, ऐसा नियम है । यज्ञादि रूप बहिरंग साधन विविदिपा की उत्पत्ति में ही क्षीण हो जाते हैं, वे भी पारलौकिक ज्ञान के हेतु नहीं हो सकते हैं, इससे नियम उचित है ॥ सिद्धान्त है कि प्रतिबन्ध के नहीं रहने पर श्रवणादि से वर्तमान जन्म में ज्ञान होता है, अन्यथा जन्मान्तर में होता है, (श्रवणाय) इत्यादि श्रुति से और वामदेव के गर्भ में ज्ञानोद्भव से ऐसा निश्चय होता है ॥ १-२ ॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

‘सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्’ (ब्र० सू० २।४।२६) इत्यत आरभ्यो-
च्चावचं विद्यासाधनमवधारितं, तत्फलं विद्या सिद्धयन्ती किमिहैव जन्मनि सिद्धयत्युत कदाचिदमुत्रापीति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? इहैवेति । किं कारणम् ? श्रवणादिपूर्विका हि विद्या । नच कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसन्धाय श्रवणादिषु प्रवर्तते । समान एव तु जन्मानि विद्याजन्माभिसन्धायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते । यज्ञादीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्या जनयन्ति प्रमाणजन्यत्वाद्विद्यायाः । तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति ।

(सर्वापेक्षा च) इत्यादि सूत्र से आरम्भ करके अनेक प्रकार के विद्या के साधनों का अवधारण किया गया है, इससे विद्या के साधन अवधारित हो चुके हैं, उनके फलरूप से सिद्ध होती हुई विद्या क्या इसी जन्म में सिद्ध होती है, अथवा कभी परलोक में

अन्य जन्म में भी सिद्ध होती है, यह विचार किया जाता है। वहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कोई कहते हैं कि इस जन्म में ही ज्ञान होता है, उसमें कारण क्या है कि श्रवणादि पूर्वक ही विद्या होती है, और मुझे परलोक में जन्मान्तर में ज्ञान उत्पन्न हो ऐसा अभिमित्तान (सकल्प-निश्चय) करके श्रवणादि में कोई नहीं प्रवृत्त होता है, किन्तु साधन के साथ समान (तुल्य एक) जन्म में विद्या के जन्म का अभिमित्तान करके इन श्रवणादिकों में प्रवर्तमान देखा जाता है। विद्या के प्रमाणजन्य होने में यज्ञादि भी श्रवणादि द्वारा ही विद्या को उत्पन्न करते हैं। इसमें यज्ञादि भी स्वर्गादि के समान परलोक में विद्या को नहीं उत्पन्न कर सकते हैं, वरत इस जन्म में होने ही वाला विद्या का जन्म होता है।

एव प्राप्ते वदाम—ऐहिक विद्याजन्म भवत्यमिति प्रस्तुतप्रतिग्रन्थ इति। एतदुक्तं भवति—यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित्प्रतिबन्धो न क्रियते उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण तदेहेय विद्योत्पद्यते, यदा तु न तत्प्रतिग्रन्थ क्रियते तदामुपेति। उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद्भवति। यानि चैकस्य कर्मणा विपाचकानि देशकालनिमित्तानि तान्येवान्यस्यापीति न निषन्तु शक्यते, यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति। शास्त्रमध्यस्य कर्मण इदं फलं भवतीत्येतावति पर्यवसितं न देशकालनिमित्त-विशेषमपि सङ्गीतं यति। साधनवीर्यविशेषात्स्वनीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति तन्प्रतिग्रन्था परस्य तिष्ठति। नचाविशेषेण विद्यायामभिमित्तानोत्पद्येत इहामुत्र वा मे विद्या जायनामित्यभिसन्ध्येनिरट्कुण्ठत्वात्। श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्रस्तुत प्रतिग्रन्थ के नहीं रहने पर ऐहिक विद्या का जन्म होता है। इसमें यह उक्त होता है, कहा जाता है कि जब उपरान्त (आरब्ध) विद्या के साधन का उपस्थित फल वाला कर्मान्तर से काद प्रतिबन्ध (विघ्न-रुक्तावट) नहीं किया जाता है, तब तो इस वर्तमान जन्म में ही विद्या उत्पन्न होती है, और जब वह प्रतिग्रन्थ किया जाता है, तब परलोक में जन्मान्तर में विद्या को उत्पत्ति होती है। विघ्न के हतुरूप आरब्ध कर्म का उपस्थित विपाकत्व (प्राप्त-फलत्व) देश-कालरूप निमित्त के उपनिपात (प्राप्ति) से होता है, उसे कोई साधन राव नहीं सकता है। जो देश-काल निमित्त एक कर्म के विपाचक (फल-हेतु) होने ह, वहाँ अन्य कर्म के भी विपाचक हो, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है, जिनमें विरुद्धफल वाले भी कर्म होते हैं अर्थात् श्रवणादि में विरुद्ध फल वाले ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म होते हैं, उनके विपाचक देश-काल निमित्त में श्रवण का विपाक नहीं हो सकता है। शास्त्र भी इस कर्म का यह फल होता है, इनके अर्थ में पर्यवसित (समाप्त) है। देशकाल और निमित्त विशेष का भी संकीर्णन नहीं करता है, फल के द्वारा देश-कालादि का ज्ञान होता है। साधन के वीर्य (शक्ति) विशेष से या किसी

कर्म का अतीन्द्रिय शक्ति विशेष आविर्भूत (प्रकट) होता है । उससे प्रतिबन्ध होकर अन्य कर्म की शक्ति वर्तमान रहती है । अर्थात् प्रतिबन्ध से ही प्रतिबन्धक की प्रबल शक्ति समझी जाती है । अभिसंधि (सकल्प) के निरंकुश (स्वतन्त्र) होने से, यहाँ वा परलोक में मुझे विद्या उत्पन्न हो, इस प्रकार की विद्याविषयक अविशेष (सामान्य) रूप में अभिसन्धि नहीं उत्पन्न होती है, यह नहीं कहा जा सकता है । श्रवणादि द्वारा भी उत्पन्न होने वाली विद्या प्रतिबन्धक्षय की अपेक्षा करके ही उत्पन्न होती है ।

तथा च श्रुतिर्दुर्वोधत्वमात्मनो दर्शयति—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।

आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

(क० २।७) इति । गर्भस्थ एव च वामदेव प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति वदन्ती जन्मान्तरसंचितात्साधनादपि जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति । नहि गर्भस्थस्यैवैहिकं किञ्चित्साधनं सम्भाव्यते । स्मृतावपि—‘अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति’ (गी० ६।३७) इत्यर्जुनेन पृष्ठो भगवान्वासुदेवः ‘नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति’ । गी० ६।४०) इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले सम्भूतिं चाभिधायानन्तरम् ‘तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्’ (गी० ६।४३) इत्यादिना ‘अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्’ (गी० ६।४५) इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति । तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम् ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार प्रतिबन्धादि से आत्मा के दुर्वोधत्व (कष्टसाध्य बोध) को श्रुति दर्शाती है कि (बहुतों को श्रवण के लिए भी जो आत्मा नहीं प्राप्त होने योग्य है, बहुत श्रवण करने वाले भी जिसको नहीं समझते हैं । इस आत्मा का वक्ता आश्चर्य रूप कोई विरल होता है, कोई कुशल इसका लाभ करने वाला होता है जिससे कुशल गुरु से अनुशिष्ट आश्चर्य रूप ही इसका कोई ज्ञाता होता है) और गर्भस्थ ही वामदेव ऋषि ने ब्रह्मभाव को समझा प्राप्त किया इस प्रकार कहती हुई श्रुति जन्मान्तर में संचित साधन से भी अन्य जन्म में विद्या की उत्पत्ति को दर्शाती है, जिससे गर्भस्थ को ही ऐहिक कुछ साधन का संभव नहीं हो सकता है । स्मृति में भी (हे कृष्ण ! योग से चलित मनवाला योग की संसिद्धि—योग के फल रूप सम्यक् दर्शन मोक्ष को नहीं प्राप्त करके मरने पर किस गति को प्राप्त होता है) इस प्रकार अर्जुन से पूछे गये भगवान् वासुदेव (हे तात ! शिष्य !) कल्याण—शुभ करने वाला कोई भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है । ऐसा कह कर फिर उस पुण्यकर्ता की पुण्यलोक में प्राप्ति और साधुकुल में संभूति (जन्म) को कहकर, उसके बाद (उस कुल में पूर्वदेहसम्बन्धी उस बुद्धि-संयोग का लाभ करता है) इत्यादि से (अनेक जन्मों में संचित संस्कारों द्वारा सम्यक् सिद्ध होकर अनुभव को प्राप्त करके तब परगति को प्राप्त करता है) यहाँ तक के

उपदेशों से यह उक्तार्थ ही दर्शाने हैं। उससे प्रतिबन्ध-शय की अपेक्षापूर्वक ऐहिक वा पारलौकिक विद्या का जन्म होता है यह स्थित हुआ है ॥ ५१ ॥

मुक्तिफलाधिकरणम् (१७)

मुक्ति सातिशया मो वा फलत्वाद् ब्रह्म लोकेवत् । स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्ति सातिशयेव हि ॥
ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म षडचिन्मानिशय श्रुतम् । अत एकविधा मुक्तिर्वैधमो मनुजस्य वा ॥

ध्वणादि के फलरूप ज्ञान में ऐहिक आमुष्मिक (लौकिक-पारलौकिक) का नियम है, अर्थात् ध्वणादि साधन के होने पर अब ही ज्ञान की प्राप्ति हो यह नियम नहीं है, किन्तु प्रतिबन्ध-शय की अपेक्षा साधन की प्राप्ति होने पर भी रहती है, मुक्ति रूप फल में इस प्रकार का अनियम है (नियम का अभाव है) अपरोक्ष ज्ञान होने पर मोक्ष में कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है, ज्ञानाग्नि सब प्रतिबन्ध को दग्ध करती हुई उत्पन्न होती है, इसमें लाङ्ग्य-परलोक का नियम नहीं रहता है, मोक्ष में यह विशेष नियम इसमें नहीं है कि जिससे मोक्ष में ब्रह्मावस्था-ब्रह्मरूपता का अवधारण है और ब्रह्म सब भेद से रहित है ॥ यहाँ संशय है कि मुक्ति सातिशय (भेदयुक्त) है, अथवा सातिशय नहीं है। पूर्वपक्ष है कि फल होने से जैसे ब्रह्मलोक और स्वर्ग, सालोक्य सामीप्यादि उत्तममध्यमादि भेद वाले होते हैं, वैसे ही मुक्ति भी मनुष्य के भेद में अनिशययुक्त है। सिद्धान्त है कि ब्रह्मस्वरूपता मुक्ति है। ब्रह्म कहीं भी अतिशययुक्त नहीं मूना गया है। इसमें ब्रह्मा की वा मनुष्य की मुक्ति एक प्रकार की, एक स्वरूप ही होती है ॥ १-२ ॥

एव मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बित साधनवीर्यविशेषाद्विद्यालक्षणे फले ऐहिकामुष्मिकफलत्वरूपो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः, एव मुक्तिनक्षणेऽप्युत्तर्यापवर्णकृत कश्चिद्विशेषप्रतिनियम स्यादित्याशङ्क्याह—एव मुक्तिफला-नियम इति । न त्वलु मुनिफले कश्चिदेवभूतो विशेषप्रतिनियम आशङ्क्य । कुत ? तदवस्थावधृते । मुन्यवस्था हि सर्ववेदान्तोपेक्षरूपैवावधार्यते, ब्रह्मैव हि मुन्यवस्था, न च ब्रह्माणोजेकाकारयोगोऽस्ति । एकलिङ्गत्वावधारणान् 'अमृतमनणु' (वृ० ३।८।८) 'स एव नेति नेत्यात्मा' (वृ० ३।१।२६) 'यत्र नान्यत्पदर्याति' (छा० ७।२।८।१) 'ब्रह्मैवेदममृत पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (वृ० २।४।६) 'स वा एव महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽमयो ब्रह्म' (वृ० ४।१।२५) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्वेन क पश्येत्' (वृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

जैसे विद्या के साधनों का अवलम्बन (अनुष्ठान) करने वाले मुमुक्षु के विद्या रूप फल में साधनों के वीर्य (सामर्थ्य) विशेष में ऐहिक फलत्व और आमुष्मिक (पारलौकिक) फलत्व से किया गया विशेष का प्रतिनियम देखा गया है, कि प्रबल

निर्विघ्न साधन वाले को वर्तमान जन्म में ज्ञान होता है, अन्य को जन्मान्तर में होता है इत्यादि । इसी प्रकार मुक्तिरूप विद्या के फल में भी विद्यागत उत्कर्ष (अतिशय) अपकर्ष (न्यूनता) से किया गया कोई विशेष का प्रतिनियम (प्राप्ति में भेद) होगा । ऐसी आशंका करके कहते हैं कि (एवं मुक्तिफलानियम इति) मुक्तिरूप फल में ऐसा ज्ञान के समान प्रतिनियम नहीं है । न मुक्तिरूप फल में इस प्रकार का कोई विशेष प्रतिनियम आशंका ही के योग्य है । क्योंकि उस मुक्ति अवस्था की अवधृति से आशंका की योग्यता नहीं है । जिससे मुक्तिरूप अवस्था सब वेदान्तो में एक स्वरूप वाली ही अवधारित (निश्चित) कराई जाती है, अतः ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है, और ब्रह्म को अनेक आकार के साथ सम्बन्ध नहीं है, वह निराकार एकरस अद्वितीय है, वह एकलिङ्गत्व (एकलक्षणत्व) के अवधारण से सिद्ध होता है । (अक्षरब्रह्म स्थूल-अणु आदि स्वरूप नहीं है । सो यह सर्वाधार आत्मा नेतिनेति—सब विशेष से रहित कहा गया है । जिसमें अन्य को नहीं देखता है सो ब्रह्म है । अमृतस्वरूप ब्रह्म पूर्व पश्चिम आदि सब दिशाओं में सत्य है । जो यह सब जगत् है सो इस आत्मस्वरूप ही है । सो यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अमृत, अमय, ब्रह्मस्वरूप है । जिस अवस्था में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किससे किसको देखे) इत्यादि श्रुतियों से उस एक लिङ्गत्व का अवधारण होता है ।

अपि च विद्यासाधनं स्ववीर्यविशेषात् स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशय-मासञ्जयेन्न विद्याफले मुक्तौ, तद्व्यसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावभूतमेव विद्यायाधि-गम्यत इत्यसकृदवादिष्यम् । न च तस्यामप्युत्कर्षनिकर्षात्मकोऽतिशय उपपद्यते निकृष्टाया विद्यात्वाभावात्कृत्रैव हि विद्या भवति, तस्मात्तस्यां चिराचिरोत्पत्ति-स्वरूपोऽतिशयो भवन्भवेत्, नतु मुक्तौ कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति । विद्याभेदा-भावादपि तत्फलभेदनियमाभावः कर्मफलवत्, नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति । सगुणासु तु विद्यासु—‘मनोमयः प्राणशरीरः’ (छा० ३।१४।२) इत्याद्यासु गुणावापोद्वापवशाद्भेदोपपत्ती सत्या-मुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः कर्मफलवत् । तथा च लिङ्गदर्शनम्—‘तं यथा यथोपासते तदेव भवति’ इति । नैवं निर्गुणायां विद्यायां गुणाभावात् । तथा च स्मृतिः—

दूसरी बात है कि विद्या के साधन विवेकादि श्रवणादि भी अपने वीर्य (प्रभाव) विशेष से अपने फल रूप विद्या में ही किमी अतिशय का सम्बन्ध करायेंगे, विद्या के फलरूप मुक्ति में अतिशय का सम्बन्ध नहीं करा सकते हैं । जिससे वह विद्या का फल मोक्ष असाध्य (अकार्य) नित्यसिद्धस्वभावस्वरूप ही विद्या में अविद्या की निवृत्ति द्वारा अधिगत (प्राप्त-अभिव्यक्त-अनुभूत) होता है, यह अनेक बार कह चुके हैं । वस्तुतः उस एकरस ब्रह्मविषयक विद्या में भी उत्कर्ष (अतिशय) निकर्ष (अपकर्ष) स्वरूप

अतिशय (भेद) नहीं उपपन्न होता है, जिसमें अपकर्षयुक्त निवृष्ट में विद्यात्व के अभाव में उच्छृङ्खल (अविद्या के नाश में समर्था) ही विद्या होती है । अतः उस विद्या में चिरकाल में अचिरकाल में उत्पत्ति स्वरूप अतिशय (भेद) होता हुआ भले ही हासना है, परन्तु मुक्ति में किसी अतिशय का सम्भव नहीं है । निर्गुण आत्मविद्या में गुणादिवृत्त भेद के अभाव से भी, गुणवृत्त कर्मफल भेद के समान उस विद्याफल में भेद नियम का अभाव है । जिसमें मुक्ति के साधन स्वरूप विद्या को कर्मों के समान भेद नहीं है । (आत्मा मनोमय है प्राणरूप शरीर वाला है) इत्यादि सगुण विद्याओं में तो अधिक गुणों का आयाप (ग्रहण) और गृहीत गुणों का उद्घाप (त्याग), के वश में भेद की उपपत्ति होने पर कर्मफल के समान स्वरूप के अनुसार फलभेद का नियम उपपन्न होता है । इस प्रकार का लिङ्ग (हेतु) दर्शन है कि (उस परमात्मा की जिम जिम प्रकार में उपासना करता है, वैसा ही फल होता है) गुण के अभाव में निर्गुण-विद्या में इस प्रकार फलभेद का नियम नहीं है । इस प्रकार की स्मृति है कि—

नहि गतिरधिगमिस्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम् । इति ।

तदवस्थावधूनेस्तदवस्थावधूनेरिति पदाम्नामोऽध्यायपरिमर्षाति द्योतयति ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृता

शरीरकामीमानामाप्त्यै तृतीयाध्यायस्य

चतुर्थं पाद ॥ ४ ॥

(किसी निर्गुण ब्रह्मज्ञानी को अधिक गति—मुक्ति नहीं होती है किन्तु सब ज्ञानी की सम—एकरस मुक्ति होती है, जिसमें गुण के रहने पर अतुल्यता-भेद को कहते हैं) (तदवस्थावधूने) इस पद का अन्वय—दो बार का उच्चारण अध्याय की समाप्ति का द्योतन करता है ॥ ५२ ॥

अज्ञानमूलको बन्धो ज्ञानेन प्रविशते ।

सूयैरान्धतमो यद्वत्तमोमूल भ्रमादिकम् ॥ १ ॥

कर्मणा चित्तसंशुद्धी विरागजनिमम्भव ।

विरागे परमे जाने श्रवणादो प्रवर्ते ॥ २ ॥

श्रवणादो प्रवृत्तस्तु गुरुशाम्प्रसादत ।

लब्ध्वा ह्यारमानमद्वैतं नित्यं मोमुच्यते स्वयम् ॥ ३ ॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

[अत्रास्मिन् फलाध्याये प्रथमपादे जीवन्मुक्तिनिरूपणम्]

आवृत्त्यधिकरणम् (१)

श्रवणाद्याः सकृत्कार्या आवर्त्या वा सकृद्यतः । शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः ॥
आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत् । दृष्टेऽत्र सम्भवत्यर्थे नावृष्टं कल्प्यते बुधैः ॥

ज्ञानार्थक उपदिष्ट श्रवणादि साधनों के असकृत् अनेक बार उपदेश से इन्हें दृष्ट-
फलार्थकत्व है, यज्ञादि के समान अदृष्टार्थकत्व नहीं है, इससे दृष्टार्थक अवघात के
समान अपरोक्षात्मानुभव पर्यन्त श्रवणादि की आवृत्ति कर्तव्य होता है ॥ यहाँ संशय
है कि श्रवणादि एक एक बार करना चाहिए, अथवा आवृत्ति द्वारा अनेकानेक बार
करना चाहिए । पूर्वपक्ष है कि जैसे दर्शादि के साधन प्रयाजादि विषयक एक बार की
(कृति) क्रिया से शास्त्रार्थ सम्पादित हो जाता है, इसी प्रकार एक-एक बार
श्रवणादि करना चाहिए । इससे उतने ही से शास्त्रार्थ सिद्ध हो जायगा, शास्त्र की
आज्ञा पालित हो जायगी ॥ सिद्धान्त है कि श्रवणादि प्रयाजादि के समान अदृष्टार्थक
नहीं है किन्तु अवघात के समान दृष्टार्थक है, इससे तण्डुलान्त अवघात के समान
आत्मदर्शन पर्यन्त वे श्रवणादि आवृत्ति के योग्य हैं । यहाँ दृष्टफल के सम्भव रहते
अदृष्टफल विद्वानों से नहीं कल्पित होता है ॥ १-२ ॥

आवृत्तिसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्रायेणात्यगात् ।
अयेह चतुर्थेऽध्याये फलाश्रय आगमिष्यति । प्रसङ्गागतं चान्यदपि किञ्चिच्चिन्तयि-
ष्यते । प्रथमं तावत्कतिभिश्चिदधिकरणैः साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसरामः ।
'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (वृ० ४।५।६) 'तमेव
धीरो विजाय प्रजां कुर्वीत' (वृ० ४।४।२१) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'
(छा० ८।७।१) इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—कि सकृत्प्रत्ययः कर्तव्य आहोस्वि-
दावृत्त्येति । किं तावत्प्राप्तम् ? सकृत्प्रत्ययः स्यात्प्रयाजादिवत्, तावता शास्त्रस्य
कृतार्थत्वात् । अश्रूयमाणायां ह्यावृत्तौ क्रियमाणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत् ।
नन्वसकृदुपदेशा उदाहृताः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्येवमादयः ।
एवमपि यावच्छब्दमावर्तयेत्सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति
नातिरिक्तम्, सकृदुपदेशेषु तु वेदोपासीतेत्येवमादिष्वनावृत्तिरिति ।

तृतीय अध्याय में परा और अपरा विद्या विषयक साधन सम्बन्धी विचार प्रायः
हुआ है । उसके बाद इस चतुर्थ अध्याय में फलसम्बन्धी विचार आवेगा । प्रसंग से

प्राप्त अन्य कुछ अर्चि आदि मार्गों की भी चिन्ता (विचार) की जायगी । प्रथम तो कई एक अधिकरणों द्वारा साधनाश्रित विचार शेष का हो अनुसरण (वर्णन) करते हैं कि (अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही प्रत्यक्ष दर्शन के योग्य है और उस दर्शन के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर्तव्य हैं । उम अज अविनाशी आत्मा को उपदेश और शास्त्र में जानकर प्रकृत साधन का अनुष्ठान अपरोक्षानुभव के लिए करे । वह आत्मा ही साधन उपदेशादि द्वारा अन्वेपण—अनुभव करने के योग्य है, आत्मा ही विशेषरूप से जानने के लिए विचाराहं है) इत्यादि श्रवणविषयक सशय होता है कि, क्या एक बार श्रवणादि द्वारा एक प्रत्यय (ज्ञान) करना चाहिए अथवा आवृत्ति द्वारा प्रत्यय करना चाहिए । अर्थात् एक-एक बार आत्मा के श्रवणादि करना चाहिए या अपरोक्षानुभव पर्यन्त बार-बार श्रवणादि करना चाहिए । प्रथम प्राप्त क्या है कि प्रयाजादि के समान एक बार प्रत्यय होगा । क्योंकि उतने ही से शास्त्र को कृतार्थत्व हो जाता है । अथुत आवृत्ति के करने पर अशाम्प्रार्थं (शास्त्रविरुद्धार्थ) अनुष्ठित होगा । यदि कहा जाय कि (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इत्यादि अनेक बार उपदेश उदाहृत (कथित) हुआ है फिर आवृत्ति से शास्त्र बिम्ब कैसे होगा, तो कहा जाना है कि इस प्रकार भी जितने शब्द हैं उतनी ही आवृत्ति करनी चाहिए, एक बार श्रवण, एक बार मनन, और एक बार निदिध्यासन (ध्यान) करना चाहिए, इसमें अनिश्चय (अन्य-अधिक) नहीं करना चाहिए । (वेद । उपासीत) जानना है । उपासीत करे । इत्यादि एक बार उपदेशों से तो अनावृत्ति है, आवृत्ति का सर्वथा अभाव है ।

एव प्राप्त भूम ? प्रत्ययावृत्ति कर्तव्या । कुन ? अमकृदुपदेशात् 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यामितव्य' इत्येवजातीयको ह्यमकृदुपदेश प्रत्ययावृत्ति सूचयति । ननूक्त यावच्छब्दमेवावर्तयेन्नाधिकमिति । न दर्शनपर्यवमित्वादेवाम् । दर्शनपर्यवमानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति, यथाऽऽघातादीनि तण्डुल्यादिनिष्पत्तिपर्यवमानानि तद्वत् । अपि चोपासन निदिध्यासन चैत्यन्तर्गतानावृत्तिगुणैव क्रियाभिधीयते । तथाहि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्ते इति च यस्मात्प्रयोगेण गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते । तथा ध्यायति प्रोपिनाथा या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोऽन्कष्टा मेवमभिधीयते । विद्युपास्त्वोश्च वेदान्तेष्वप्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते । क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपास्मिनोपमहरति, यथा 'यस्मिन्वेद यत्न वेद स मयेतदुक्त' (छा० १।४) इत्यत्र 'अनु स एता भगवो देवता साधि या देवतामुपास्मे' (छा० ५।२।२) इति । क्वचिन्नापास्तिनोपक्रम्य विदिनोपमहरति यथा—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यत्र 'भाति च तपनि च कीर्त्वा यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद' (छा० ३।१८।३) इति । तस्मात्तदुपदेशेष्वप्यावृत्तिमिद्वि । अमकृदुपदेशस्त्ववृत्ते सूचकः ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि श्रवणादि प्रत्यय की आवृत्ति कर्तव्य है । क्योंकि असकृत् (अनेक बार) के उपदेश से आवृत्ति की कर्तव्यता सिद्ध होती है । जिससे (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इस प्रकार का अनेक बार का उपदेश आवृत्ति को सूचित करता है । यदि कहो कि ऐसा होने पर भी जितने शब्द हैं, उतनी ही आवृत्ति होनी चाहिए अधिक नहीं, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि इन श्रवणादि प्रत्ययों के दर्शन पर्यवसितत्व (दर्शन में समाप्ति) होने से जितने शब्द हैं उतनी ही आवृत्ति का नियम नहीं हो सकता है । जिससे आत्मदर्शन रूप पर्यवसान (अन्त) वाले, आवर्त्यमान (आवृत्तियुत) श्रवणादि दृष्टार्थक होते हैं । जैसे कि तण्डुल की सिद्धिरूप पर्यवसान वाले अवघातादि दृष्टार्थक होते हैं, उसके समान श्रवणादि दृष्टार्थक है । दूसरी बात है कि उपासना और निदिध्यासन इन शब्दों से अन्तर्गत आवृत्ति रूप गुण वाली क्रिया ही कही जाती है । जैसे कि लोक में (गुरु की उपासना करता है, राजा की उपासना करता है) इस प्रकार वही कहा जाता है कि जो तत्परता से गुरु आदि का अनुवर्तन (सेवन) करता है । इसी प्रकार प्रोपितनाथा (विदेशस्थ पति वाली) स्त्री पति का ध्यान करती है, इस प्रकार वही स्त्री कही जाती है कि जो पति के प्रति उत्कण्ठा-उत्कटस्पृहा-युक्त होकर निरन्तर स्मरण वाली होती है । यदि कहो कि उपासना शब्द का उक्त रीति से आवृत्ति अर्थ हो सकता है परन्तु वेद इस शब्द से कहे गये अहंग्रह ज्ञानों में आवृत्ति कैसे सिद्ध होगी तो कहा जाता है कि विद् धातु और उपपूर्वक आस् धातु का वेदान्तों में अव्यतिरेक (अमिन्न) रूप से प्रयोग देखा जाता है, अर्थात् दोनों को एकार्थकत्व है । इसी से कही विद् धातु से उपक्रम करके उपास्ति से उपसंहार करते हैं, जैसे (जिस तत्त्व को रैक्व जानता है, उस तत्त्व को जो अन्य भी जानता है, उसको भी सब प्राणी के धर्म और धर्मों के फल सब प्राप्त होते हैं । ऐसा वह रैक्व यह मुझ से कहा गया है) यहाँ इस प्रकार के हंस के वचन को सुनकर रैक्व की शरण में जाकर जानश्रुति राजा ने उनसे कहा कि (हे भगवन् ! जिस देवता की उपासना करते हो उसी देवता का उपदेश मेरे लिए करो) और कही उपास्ति से उपक्रम करके विद् से उपसंहार करते हैं । जैसे (मनन शक्तिवाला अन्तःकरण की ब्रह्मरूप से उपासना करे) यहाँ (जो इस प्रकार जानता है सो कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज से प्रकाशता है और तपता है) इति । अतः एक बार के उपदेशों में भी आवृत्ति की सिद्धि होती है । अनेक बार का उपदेश तो आवृत्ति का सूचक है ही ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति । तथा ह्युद्गीथविज्ञानं प्रस्तुत्य 'आदित्य उद्गीथः' (छा० १।५।१) इत्येतदेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मीस्त्वं पर्यावर्तयात्' (छा० १।५।२) इति रश्मिवहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत्सिद्धवत्प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति ।

तन्मातृत्वात्मान्यात्मवंप्रत्ययेष्वभावृत्तिसिद्धिः । अत्राह—भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वभावृत्तिः, तेष्वभावृत्तिसाध्यस्यातिशयस्य सम्भवात् । यस्तु परब्रह्मविषय प्रत्ययो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेवात्मभूत पर ब्रह्म समर्पयति तत्र किमर्थो-
वृत्तिरिति । सकृच्छ्रुती च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरावृत्त्यभ्युपगम इति चेत् ।
न । आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः । यदि हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवजा-
तीयक वाक्य सकृच्छ्रयमाण ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्ततस्तदेवावृत्त्यमान-
मुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात् ।

लिङ्ग भी प्रत्ययो की आवृत्ति का ज्ञान कराता है । सो इस प्रकार कराता है कि उद्गीय विज्ञान को प्रस्तुत करके (आदित्य उद्गीय है) यह एक आदित्य उद्गीय रूप में उपास्य है । परन्तु इस एक की उपासना से तुम मेरे एक पुत्र हुए हो, इस प्रकार पिता पुत्र के प्रति एकपुत्रता रूप दोष से एक की उपासना का निषेध करके कहना है कि तुम ऐसा नहीं करना किन्तु (तुम सूर्य के बहुत रश्मि और सूर्य का पृथक् चिन्तन करो) नो बहुत पुत्र होंगे । इस प्रकार बहुपुत्रता के लिए रश्मिविषयक बहुत्व विज्ञान का विधान करता हुआ वचनमिदं तुल्य प्रत्यय की आवृत्ति को दर्शाता है । उस सामान्यता से मत्र प्रत्ययो में आवृत्ति की निधि होती है, उद्गीय प्रत्यय के साथ सब प्रत्यया को ध्यानत्व अथवा साक्षात्कार रूप फलहेतुत्व सामान्य है । यत् पूर्वपक्षी कहता है कि साध्यफल वाले प्रत्ययो में आवृत्ति भजे हो सकती है, जिसमें उन प्रत्ययो में आवृत्ति में साध्य (जन्य) अतिशय—उत्कर्षता का सम्भव हो । परन्तु जो परब्रह्म विषयक वाक्यजन्य प्रत्यय नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव वाला आत्मस्वरूप ही परब्रह्म का समर्पण (अनुमन अपरोक्ष) कराता है, उस प्रत्यय विषयक आवृत्ति किस प्रयोजन के लिए होगी । यदि कहा जाय कि एक बार के श्रवण में ब्रह्मस्वरूपता की प्रतीति की अनुपपत्ति में आवृत्ति को स्वीकार किया जाता है, तो कहा जाता है कि यदि एक बार के श्रवण में ब्रह्मात्मत्व की प्रतीति की अनुपपत्ति होती है तो आवृत्ति होने पर भी उसकी अनुपपत्ति में आवृत्ति कर्तव्य नहीं है । क्योंकि यदि (तत्त्वमसि) इस प्रकार के वाक्य के एक बार सुनने पर, सुना हुआ भी वह वाक्य ब्रह्मस्वरूपता की प्रतीति को नहीं उत्पन्न करता है, तो उसके बाद आवृत्ति किया गया वही वाक्य ब्रह्मस्वरूपता प्रतीति का उत्पन्न करेगा ऐसी प्रत्याशा (प्रतीति-विश्वास) क्या हो सकती है ।

अथोच्येत—न केवल वाक्य कचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्ष वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति । तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव । सा अपि हि युक्तिः मन्त्रवृत्तौ च स्वमर्थमनुभावयिष्यति । अथापि स्यात्तुक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते न विशेषविषयम्, यथास्मिन् मे हृदये शूद्रमित्यतो वाक्याद्गोत्रकम्पादिलिङ्गाच्च शूद्रमद्भावसामान्यमेव

परः प्रतिपद्यते न विशपमनुभवति, यथा स एव शूली । विशेषानु-
भवश्चाविद्याया निवर्तकस्ततस्तदर्थवृत्तिरिति चेत् । न । असकृदपि तावन्मात्रे
क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात् । नहि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्ति-
भ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामवगन्तुं शक्यते ।
तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्येत यदि वा सामान्यमेवोभयथापि
सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुन इत्यावृत्त्यनुपयोगः । नच सकृत्प्रयुक्ते शास्त्र-
युक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुं, विचित्रप्रज्ञत्वात्प्र-
तिपत्तृणाम् । अपि चानेकाङ्गोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्येकेनाव-
धानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो यथा दीर्घप्र-
पाठकग्रन्थादिषु, ननु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके
प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति ।

यदि कहा जाय कि केवल वाक्य किसी अर्थ को साक्षात् कराने में समर्थ नहीं
होता है, इससे युक्ति सहित वाक्य ब्रह्मास्वरूपता का अनुभव करायेगा । तो भी आवृत्ति
अनर्थक ही है, जिससे एक बार ही प्रवृत्त वह युक्ति भी अनुभव करायेगी । यदि
ऐसा विश्वास हो कि युक्ति और वाक्य से सामान्य विषयक ही विज्ञान किया जाता है,
विशेष विषयक नहीं । जैसे मेरे हृदय में शूल है, ऐसा किसी के वाक्य से और उसके
गात्रकम्पादि रूप लिंग से अन्य कोई शूल के सद्भाव (अस्तित्व) सामान्य को ही
समझ पाता है, विशेष का अनुभव वाक्य और लिंग से नहीं करता है, जैसे कि वही
शूलवाला विशेष का जैसा अनुभव करता है, वैसा अन्य नहीं करता है । ब्रह्मात्मता
के विशेष का अनुभव अविद्या का निवर्तक है, उससे विशेष के अनुभव के लिए
आवृत्ति सार्थक है । तो कहा जाता है कि अनेक बार भी तावन्मात्र (श्रवण युक्तिमात्र)
के कर लेने पर विशेष विज्ञान की उत्पत्ति के असम्भव से आवृत्ति सार्थक नहीं हो सकती
है । जिससे एक बार प्रयुक्त (कृत) शास्त्र का श्रवण और युक्ति से अनवगत (अज्ञात)
विशेष भी बार भी प्रयुक्त शास्त्र और युक्ति से नहीं समझा जा सकता है । अतः यदि
शास्त्र और युक्ति से विशेष प्रतिपादित होता हो । अथवा सामान्य ही प्रतिपादित होता
हो, दोनों प्रकार से एक बार ही प्रवृत्त वे शास्त्र और युक्ति अपने कार्य को करते हैं,
इससे आवृत्ति का उपयोग (फल) नहीं है । एक बार प्रयुक्त शास्त्र और युक्ति किसी
के भी अनुभव को नहीं उत्पन्न करते हैं, इसलिए आवृत्ति कर्तव्य है, ऐसा नियम नहीं
कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिपत्ताओं (शास्त्रयुक्ति द्वारा अनुभवकर्ताओं) को विचित्र-
प्रज्ञत्व (विभिन्नबुद्धिमत्त्व) होता है । दूसरी बात है कि अनेक अंश से युक्त सामान्य
विशेष वाले लौकिक पदार्थों में एक अवधान (चिन्तन-ध्यान) से एक अंश का
अवधारण (निश्चय-अनुभव) करता है, अन्य अवधान से अन्य अंश का अवधारण
करता है, इससे वहाँ अभ्यास का उपयोग होगा भी, जैसे कि दीर्घ (बड़ा) प्रपाठक
(अध्याय) के ग्रहण (ज्ञान) आदि में अभ्यास का उपयोग होता है । परन्तु

सामान्यविशेष रहित चैतन्यमात्र स्वरूप वाला निर्विशेष ब्रह्मविषयक प्रमा (यथार्थ-
नुभव) की उत्पत्ति में अभ्यास की अपेक्षा युक्त नहीं है ।

अत्रोच्यते—भवेदावृत्त्यानर्थक्यं त प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव
ब्रह्मान्मत्वमनुभवितुं शक्नुयात् । यस्तु न शक्नोति त प्रत्युपयुज्यत एवावृत्ति ।
तथाहि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इत्युपदिश्य भूय
एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।८।७) इति पुन पुन परिचोद्यमानस्त-
त्तदाशङ्काकारण निराकृत्य 'तत्त्वमसी'त्येवासकृदुपदिशति । तथाच 'श्रोनव्यो
मन्तव्यो निदिध्यामितव्य' (वृ० ४।५।६) इत्यादि दर्शितम् । ननूक्त सकृ-
च्छ्रुत चैतत्त्वमसिवाक्य स्वमर्थमनुभावयितुं न शक्नोति तत् आवर्त्यमानमपि
नैव शक्यतीति । नैप दोष । नहि दृष्टेऽनुपपन्न नाम । दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुता-
द्वाक्यान्मन्दप्रतीत वाक्यार्थभावतयन्तस्तत्तदाभासव्युदासेन मम्यवप्रति-
पद्यमाना ।

इस प्रकार के पूर्वपक्ष होने पर ज्ञान के अधिकारियों के भेद से अब यहाँ उत्तर
कहा जाता है कि उस ज्ञानाधिकारी के प्रति अभ्यास—आवृत्ति की अनर्थकता होगी कि
जो एक बार गुरु से उक्त (कथित) ही (तत्त्वमसि) वह तुम हो, इस ब्रह्मस्वरूपता
को अनुभव करने के लिए प्राक्तन संस्कारादि से समर्थ हो । जो इस प्रकार अनुभव के
लिए समर्थ नहीं हो सकता है, उसके प्रति आवृत्ति उपयुक्त होती है । जिससे इसी प्रकार
छान्दोग्य में (हे श्वेतकेतो ! तुम उस सत्ब्रह्मस्वरूप हो) इस प्रकार उपदेश करके
(भगवन् मुझे फिर समझाइये) इस प्रकार बार-बार प्रेरित होते हुए तत्तत् आशकाओं
के कारणों का निराकरण करके (तुम उस ब्रह्मस्वरूप हो) यही अनेक बार उपदेश
करते हैं । इसी प्रकार (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इत्यादि
भी दर्शित कराया गया है । यहाँ कहो कि यदि एक बार सुना गया (तत्त्वमसि)
यह वाक्य अपने अर्थ का अनुभव नहीं करा सकता है, तो उसके बाद आवर्त्यमान
(बार-बार सुना गया) भी वही वाक्य अपने अर्थ का अनुभव नहीं करा सकेगा,
यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि यहाँ यह दोष नहीं है, जिससे दृष्ट में यह
अनुपपन्न है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, और एक बार श्रुतवाक्य से अन्य प्रतीत
वाक्यार्थ की आवृत्ति करने वाले तत्तद् ज्ञानास (सशय भ्रम) के निवारण द्वारा सम्यक्
प्रतीत की प्राप्ति करते हुए दत्ते जाते हैं ।

अपिच तत्त्वमसीत्येनद्वाक्य त्वपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे, तत्पदेन
च प्रवृत्तसद्ब्रह्मेक्षितुं जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'
(तै० २।१।१) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (वृ० ३।८।११), 'अदृष्टं द्रष्टुं' 'अविज्ञातं
विज्ञातुं' (वृ० ३।८।११) 'अजमजरममरम्' 'अम्यूलमनन्तं ब्रह्मस्वमदीर्घम्' (वृ०
३।८।८) इत्यादिशाम्यप्रसिद्धम् । तत्राजादिशब्दजन्मादयो भावविकारा निर्गतिना,
अम्यूलादिशब्दश्च स्थौल्यादयो द्रव्यधर्मा, विज्ञानादिशब्दश्च चैतन्यप्रकाशा-

त्मकत्वमुक्तम् । एष व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभियुक्तानां प्रसिद्धः, तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोतुः देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनावधारितः । तत्र येषामेतौ पदार्थाविज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ तेषां तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं स्वार्थं प्रमां नोत्पादयितुं शक्नोति पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थमानस्येत्यतस्तान्प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः ।

दूसरी बात है कि तत्त्वमसि यह वाक्य त्वंपदार्थं (जीव) का तत्पदार्थं (ईश्वर) स्वरूपता को कहता है । तत्पद से प्रकृत ईक्षणकर्ता (द्रष्टा) जगत् के जन्मादि का कारण सत्य ब्रह्म कहा जाता है, कि जो ब्रह्म (सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म) है । विज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्म है । अदृष्ट होते द्रष्टा, अविज्ञात होते विज्ञाता ब्रह्म है । अज, अजर-अमर है । स्थूल, अणु, ह्रस्व, दोषं ब्रह्म नहीं है । इत्यादि शास्त्रों से प्रसिद्ध है । वहाँ अज अजरादि शब्दों से जन्मादिरूप पङ्क्ति (छह प्रकार के) भाव (कार्यवस्तु) के विकार (परिणाम) निवारित किये गये हैं कि ये ब्रह्म में नहीं हैं । अस्थूल, अनणु इत्यादि शब्दों से द्रव्यों के धर्म निवारित किये गये हैं । विज्ञानादि शब्दों से चैतन्यात्मक प्रकाशस्वरूपत्व कहा गया है । यह व्यावृत्त सब संसार धर्मवाला, सब संसार धर्म से रहित, अनुभवस्वरूप ब्रह्म-नामवाला तत्पद का अर्थ वेदान्त में अभियुक्तो (परिनिष्ठितो-समाहितो) को प्रसिद्ध है । इसी प्रकार (तत्त्वमसि) इस वाक्यगत त्वं पद का अर्थ प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) भी श्रोता के स्थूल देह से आरम्भ करके इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रत्यगात्मना रूप से संभाव्यमान (संभावित-निश्चित) होता हुआ चैतन्यपर्यन्त रूप से अवधारित (निश्चित) होता है, वेदान्ताभियुक्तों को अवधारित हैं । वहाँ जिनके ये दोनों पदार्थ अज्ञान, संशय और विपर्यय से प्रतिबद्ध (प्रतिहत अप्रकाशित) हैं । उनकी तत्त्वमसि, यह वाक्य स्वार्थ-विपर्यय प्रमा को नहीं उत्पन्न करा सकता है, क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ-ज्ञानपूर्वकत्व होता है, अर्थात् पदार्थ-ज्ञानजन्य वाक्यार्थ-ज्ञान होता है । इससे उनके प्रति पदार्थों के विवेकरूप प्रयोजन वाला शास्त्र और श्रुति का अभ्यास स्वीकार करने योग्य और इष्ट मानने योग्य है ।

यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरशस्तथाप्यध्यारोपितं तस्मिन्ब्रह्मं शतत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणं तत्रैकेनावधानेनैकमंशमपांशव्यापरेणापरमिति युज्यते तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः । तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः । येषां पुनर्निपुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति तान्प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव । सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते । सत्यमेवं युज्येत यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत् । वलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादिति प्रतिपत्तिः, अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिपद्यत इति चेत् । न । देहाद्यभिमानवद् दुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभि-

मानत्वोपपत्त । प्रत्यक्ष हि देहे छिद्यमाने देहमाने बाह्यं छिद्ये दह्ये इति च मिथ्याभिमानो दृष्ट, तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु मन्यमानेष्वहमेव मन्य इत्यध्यारोपो दृष्ट, तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात् । देहादिवदेव चेतन्याद् बहिरुपलभ्यमानत्वाद् दुःखित्वादीनां सुषुप्तादिषु चानुवृत्त । चेतन्यम्य तु सुषुप्तेऽनुवृत्तिमामनन्ति 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्त्वे तन्न पश्यति' (वृ० ४।३।२३) इत्यादिना । तस्मात्सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचेतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभव । नचैवमात्मानमनुभवत किञ्चिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते । तथाच श्रुति — 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा लोका' (वृ० ४।३।२२) इत्यात्मविदं कर्तव्यभाव दर्शयति ।

यत्रापि ज्ञातव्य (जानने योग्य) आत्मा निरक्ष है । तथापि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषयज्ञान आदि रूप बहूत अक्षत्व उसमें अध्यारोपिन (कल्पित) हैं । वहाँ एक अवधान से एक अक्ष का निवारण करता है, अन्य अवधानों में अन्य अक्षों का निवारण करता है । इससे वह क्रमवाली प्रतिपत्ति (ज्ञानावृत्ति) युक्त होती है । यदि कहो कि वाक्यार्थज्ञान होने पर अभ्यास आवृत्ति की क्या जरूरत है, ज्ञानी तो कर्तव्य से विमुक्त हो जाता है, तो कहा जाता है कि वह श्रवणादि के अभ्यास का नियम आत्मज्ञान का पूर्वरूप (हेतु) होता है । अर्थात् अपरोक्ष अनुभव से प्रथम ही क्रमिक श्रवणादि का अभ्यास कर्तव्य होता है । जिन निपुण (कुशल) बुद्धिवालों को तत् तन्म पदार्थविषयक अज्ञान, संशय और विषयरूप प्रतिबन्ध नहीं है वे लोग एकवार कहे गये थे 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के अर्थ को अनुभव करने के लिए समर्थ होते हैं, इसमें उनके प्रति आवृत्ति की अनर्थकता इष्ट ही है । जिससे एकवार उत्पन्न हुई आत्मानुभूति अविद्या को निवृत्त करती है । इससे इस अनुभव में कोई आवृत्ति आदि का कोई भी क्रम नहीं माना जाता है । यहाँ सारा होती है कि यदि किसी को एक बार वाक्य के मुने पर ऐसा ज्ञान होता हो कि जिसमें अविद्या निवृत्त हो जाय तो ऐसा सत्य ही युक्त हो सकता है कि किसी क्रम की आवश्यकता नहीं है, जिससे आत्मा के दुःखित्वादि की प्रतीति बलवती है । इससे सास्त्र के एकवार के श्रवण में कोई भी दुःखित्वादि के अभाव को नहीं समझता है । अर्थात् दुःखित्वादि के प्रत्यक्ष के साथ विरोध में वाक्य से एकता का ज्ञान किसी को नहीं उत्पन्न होता है । यदि ऐसा कोई कह तो कहा जाता है कि ऐसी बात नहीं है कि किसी को एकवार के श्रवण से ज्ञान नहीं होता है । देहादि के अभिमान के समान दुःखित्वादि अभिमानों मिथ्याभिमानत्व की उपपत्ति से—श्रवण से उस अभिमान की भी निवृत्ति होती है । जिसमें प्रत्यक्ष है कि देह के छेदनयुक्त वा दाहयुक्त होने पर मैं छेदा जाता हूँ और मैं जलाया जाता हूँ—इस प्रकार मिथ्या अभिमान प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार अन्यन्त बाह्य पुत्रमित्रादि के भी सनापयुक्त होने पर मैं ही सर्वस हो रहा हूँ इस प्रकार का अध्यारोप-भ्रम अभिमान प्रत्यक्ष है । इसी प्रकार का दुःखित्वादि का अभिमान भी होगा, अर्थात् मिथ्या होने से ज्ञान में अवश्य

निवृत्त होगा। क्योंकि देहादि के समान ही दुःखित्वादि के चैतन्य से बाहर भिन्न उपलभ्यमान (ज्ञात) होने से और मुपुसि आदि में अननुवृत्ति (अभाव) से, दुःखित्वादि को मिथ्यात्व है। चैतन्य की तो मुपुसि में भी अनुवृत्ति को श्रुतियाँ कहती हैं कि (मुपुसि में जो नहीं देखता है वह देखता ही हुआ नहीं देखता है) इत्यादि से अनुवृत्ति कहती हैं। उससे सब दुःखों से विनिर्मुक्त एक चैतन्यस्वरूप मैं हूँ, वह आत्मा का अनुभव है। इस प्रकार आत्मा के अनुभव करनेवाले का कोई अन्य कर्तव्य बाकी नहीं रहता है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (जिन हम ज्ञानियों का यह आत्मा ही लोक है, वे हम प्रजा ज्ञे कौन फल प्राप्त करेंगे) वह श्रुति आत्मज के कर्तव्य के अभाव को दर्शाती है।

स्मृतिरपि —

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (गी० ३:१७) इति ।

यस्य तु नैपोऽनुभवो द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थं एवावृत्त्यभ्युपगमः । तत्रापि न तत्प्रममिवाक्यार्थात्प्रच्यत्वावृत्तौ प्रवर्तयेत्, नहि वरघाताय कन्या-मुद्राहयन्ति । नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकनौज्झं कर्ता मयेद कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययाः परीनप्रत्यय उत्पद्यते । यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात्तं वाक्यार्थं जिहामेत्तस्यैतस्मिन्नेव वाक्यार्थं स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचो युक्त्या-भ्युपेयते, तस्मात्परब्रह्माविषयेऽपि प्रत्यये तदुपायोपदेशेऽप्यावृत्तिसिद्धिः ॥ २ ॥

स्मृति भी कर्तव्य के अभाव को दर्शाती है कि (जो आत्मज्ञानी मनुष्य विषय-प्रीतिरहित आत्मविषयक रति-प्रीतिवाला होता है, आत्मा से ही तृप्त विषय-तृष्णारहित रहता है, आत्मा ही में संतुष्ट रहता है। उसको कुछ भी कर्तव्य नहीं है) जिसको यह आत्मा का अनुभव शीघ्र नहीं उत्पन्न होता है, उसके प्रति अनुभव के लिए ही आवृत्ति का अभ्युपगम (स्वीकार) है। यदि कहो कि नियोग (विधि) से आवृत्ति में प्रवृत्त होने पर देवव्यानादि के समान नियोगार्थक प्रवृत्ति होगी, आत्मा के अनुभव के लिए नहीं होगी, तो कहा जाता है कि उस आवृत्ति के अभ्युपगम करने पर भी तत्त्वमसि इस वाक्य के अद्वैतार्थ से प्रच्युत करके आवृत्ति में गुरु वा अन्य कोई नहीं प्रवृत्त करे, क्योंकि वर के नाश के लिए कन्या का विवाह नहीं कराते हैं अर्थात् वाक्य-जन्य परोक्ष-ज्ञान की रक्षा करते हुए अपरोक्ष ज्ञान के लिए आवृत्ति का उपदेश करना चाहिए, आत्मा में कर्तृत्वादि के उपदेश से वाक्यार्थ-ज्ञान का भंग नहीं करना चाहिए। ऐसा नहीं करने पर आवृत्ति में नियुक्त को मैं इसमें नियुक्त करता हूँ। मुझसे यह कर्तव्य है इस प्रकार अवश्य ही ब्रह्मज्ञान से विपरीत प्रत्यय होता है। यदि कहा जाय कि नियुक्त नहीं किया जाय, वाक्यार्थ-ज्ञान का त्यागपूर्वक कर्तृत्वादि बुद्धि नहीं कराया जाय तो आवृत्ति में प्रवृत्ति कैसे होगी, तो कहा जाता है कि जो मन्द बुद्धिवाला स्वयं

ही वाक्यार्थ के उपरतिमान (उपरतीति) में उस वाक्यार्थ को त्यागने की इच्छा करता है, उसको इसी वाक्यार्थ में स्थिर करना असम्भवनादि दोषों का निवारणपूर्वक वाक्यार्थ-विषयक प्रतीति को उत्पन्न करना आवृत्ति आदि बान्-युक्ति से माता जाता है । अर्थात् असम्भवना आदि में वाक्यार्थ के त्याग प्रसंग होने पर शिष्य की बुद्धि के अनुसार श्रोतव्यादि श्रुतियों के द्वारा गुरु आवृत्ति में शिष्य को प्रवृत्त करे, परन्तु प्रधान वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए करे, उसमें विरुद्ध नहीं । उससे परब्रह्म विषयक ज्ञान में भी उसके उपाय श्रवणादि के उपदेशों में आवृत्ति का सिद्धि होती है ॥ २ ॥

आत्मत्वोपासनाधिकरणम् (२)

ज्ञाना स्वात्मनया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाऽप्यत्र । अन्यत्वेन विज्ञानीमाद् दु र्यदु खिविरोधत ॥
 उपाधिको विरोधोऽत आत्मत्वेनैव गृह्यताम् । गूलन्त्येव महावाक्ये स्वशिष्यान् ग्राहयन्ति च ॥

निज आत्मा ही परब्रह्म को समझना चाहिये, जिसमें ज्ञानी लोग ऐसे ही समझते हैं और समझते हैं । सशय है कि ज्ञाता को निजात्मा से अन्य स्वरूप में ब्रह्म का समझना चाहिए । अथवा आत्मस्वरूप समझना चाहिए । पूर्वपक्ष है कि जीव दुःखी है, और ब्रह्म दुःखरहित है, और दुःखी अदुःखी के अभेद में विरोध में अन्य रूप से ब्रह्म को जानना चाहिये । सिद्धांत है कि उपाधि-निमित्तक विरोध है, स्वरूप में नहीं, इसमें आत्मस्वरूप में ही ब्रह्म को समझो, महावाक्यों में विद्वान् इसी प्रकार समझते हैं और अपने शिष्यों को समझाने हैं ॥ १-२ ॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

य शास्त्रान्विशेषण परमात्मा स किमहमिति ग्रहीतव्यं किंवा मदस्य इत्येनद्विवारयति । कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगान्मविषयं श्रूयमाणे मशय इति । उच्यते—अयमात्मशब्दो मुख्य शक्यतेऽभ्युपगन्तु मति जीवेश्वरयोरभेदगर्भे, इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? नाहमिति ग्राह्यं, न ह्यपह्नपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुं, विपरीतगुणो वापह्नपाप्मत्वादिगुणत्वेन, अपह्नपाप्मत्वादिगुणश्च परमेश्वरस्त्वविपरीतगुणन्तु शरीर । ईश्वरस्य च समार्यान्मत्वे ईश्वराभावप्रसङ्गः, ततः शास्त्रानर्थनयम् । समारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव, प्रत्यक्षादिविरोधश्च । अन्यत्रैवपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रान्कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विषयादिदर्शनमिति चेत्, काममेव भवतु, ननु समारिणो मुख्य आत्मेस्वरूपत्वेन तत्प्राप्यनव्यमिति ।

शास्त्र में कथित अजन्मादि विशेषणवाक्य जो परमात्मा है, वह मैं हूँ, क्या इस प्रकार ग्रहण (ज्ञान) के योग्य है, अथवा मुझमें शय है—इस प्रकार समझने योग्य है, इस विषय पर विचार करने हैं । यदि कहा जाय कि (अयमात्मा ब्रह्म) इत्यादि श्रुतियों में आत्मशब्द के प्रत्यगान्मविषयक श्रूयमाण रहने (सर्वान्तरवर्ती एकात्मविषयक श्रवण रहने) सशय कहे हो सकता है कि जिसकी निवृत्ति के लिए विचार करने हैं ।

तो कहा जाता है कि जीव और ईश्वर के अभेद के सम्भव होने पर यह आत्मशब्द मुख्य है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा तो यह आत्मशब्द गौण मानने योग्य है, ऐसा मानते हैं। अर्थात् (मनो ब्रह्म, आदित्यो ब्रह्म) इत्यादि के समान (अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि) प्रतीकोपासना का उपदेश जीवन और ईश्वर के भेदपक्ष में होगा, तब आत्मशब्द गौण रहेगा, सर्वान्तर्वर्ती ब्रह्माभिन्न आत्मा का वाचक नहीं होगा, इस प्रकार सूत्रकार मानते हैं इसमें विचार करते हैं। वहाँ प्रथम प्राप्त क्या होता है ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष है कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ, ब्रह्म में अन्य हूँ इसी प्रकार आत्मा ग्रहण (ज्ञान) के योग्य है। जिससे अपहृतपाप्मत्व (पापरहितत्व) आदि गुणवाले ईश्वर का विपरीत गुणवत्त्व रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अथवा विपरीत गुणवाले जीवन का अपहृतपाप्मत्वादि गुणवत्त्व रूप से भी नहीं ग्रहण किया जा सकता है। अपहृतपाप्मत्वादि गुणवाला परमेश्वर है और उससे विपरीत गुणवाला ही जीव है। ईश्वर के संसारी जीवस्वरूप होने पर ईश्वर का अभाव प्राप्त होगा, उससे ईश्वरविषयक उपदेशरूप शास्त्र की अनर्थकता होगी। संसारी को भी ईश्वरस्वरूप होने पर अधिकारी के अभाव से शास्त्र की अनर्थकता होगी। अभेद-पक्ष में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा। यदि कहा जाय कि अन्यत्व (भेद) होते हुए भी प्रतिमा आदि में विष्णु आदि के दर्शन (ज्ञान) के समान शास्त्र से तादात्म्य (अभेद) दर्शन कर्तव्य है, तो कहा जाता है कि इस प्रकार का तादात्म्य यथेष्ट हो सकता है। परन्तु संसारी का मुख्य आत्मा ईश्वर है यह हमें प्राप्त कराने योग्य नहीं है ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। तथाहि परमेश्वर-प्रक्रियायां जावाला आत्मत्वेनैवैतमुपगच्छन्ति—‘त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहम् वै त्वमसि भगवो देवते’ इति। तथान्येऽपि ‘अहं ब्रह्मास्मि’ इत्येवमादय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः। ग्राहयन्ति चात्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि ‘एष त आत्मा सर्वान्तरः’ (वृ० ३।४।१) ‘एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः’ (वृ० ३।७।३) ‘तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि’ (छा० ६।८।७) इत्येवमादीनि। यदुक्तं—प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यति—इति, तदयुक्तं गौणत्व-प्रसङ्गात्, वाक्यवैरूप्याच्च। यत्र हि प्रतीकदृष्टिरभिप्रेयते सकृदेव तत्र वचनं भवति यथा—‘मनो ब्रह्म’ (छा० ३।१।८।१) ‘आदित्यो ब्रह्म’ (छा० ३।१।९।१) इत्यादि। इह पुनस्त्वमहमस्मिहं च त्वमसीत्याह, अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्यादभेद-प्रतिपत्तिः। भेददृष्ट्यपवादाच्च। तथाहि—‘अथ योज्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्तीति न स वेद’ (वृ० १।४।१०) ‘मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति’ (वृ० ४।४।१९ कठ० ४।१०) ‘सर्वं तं परादाद्योज्य-त्रात्मनः सर्वं वेद’ (वृ० ४।५।७) इत्येवमाद्या भूयसी श्रुतिर्भेददर्शनमपवदति।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि अभेद श्रुति के फल्युक्त अपूर्वार्थक होने से

गौणता के अयुक्तता आदि से आत्मस्वरूप ही परमेश्वर ग्रहण के योग्य है। जिसमें परमेश्वर के प्रकरण में इसी प्रकार आत्मस्वरूप से ही जालाल इस परमात्मा को स्वीकार करते—समझते हैं और कहते हैं कि (हे भगवन् देव मैं तूही हूँ, तू मैं हो हो) इसी प्रकार अन्य भी कहते हैं कि (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि ब्रह्मात्मता का स्वीकार समझना चाहिए और वेदान्तवाक्य आत्मारूप से ईश्वर का बोध कराते हैं कि (यह तेरा जात्मा सबके अन्तर्गत है। यह तेरा आत्मा अन्तर्गामी है। वह सर्वान्तर्गतों वस्तु सत्य है, वही आत्मा है, वही आत्मा तुम हो) इत्यादि। जो यह कहा या कि विष्णु-प्रतिमा न्याय में यह ब्रह्मात्मता दर्शन (ज्ञान) प्रतीक दर्शन होगा (अन्य में किसी अन्य की दृष्टिरूप उपासनात्मक दर्शन होगा) तत्त्वज्ञान नहीं होगा। गौणत्व के प्रसंग से और वाक्य की विरूपता विलक्षणता से वह कथन अयुक्त है। जिससे जहाँ प्रतीक दृष्टि अभिप्रेत होती है, वहाँ एकवार हो वचन होता है। जैसे कि (मनो ब्रह्म, आदित्यो ब्रह्म) इत्यादि हैं। यहाँ तो (त्वम्, अहम्, अस्मि और अहम्, त्वम्, अस्मि) तुम मैं हूँ, मैं तुम हो, इस रीति से फिर भी कहते हैं। अतः प्रतीक-श्रुति से विरूपता के कारण अभेद ज्ञान होता है। भेद-दृष्टि के अपवाद (निन्दा) में अभेदज्ञान होता है। वह अपवाद इस प्रकार है कि (जो कोई आत्मा में अन्य देवता की उपासना करता है, और समझता है कि वह देव मुझमें अन्य है। मैं उस देव से अन्य हूँ, वह नहीं जानता है, तत्त्व को नहीं समझता है। वह मृत्यु में मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस आत्मा में नाला के समान दखता है। जो आत्मा से अन्य सबको देखता है उसको सत्र पर कल्याण से दूर करता है) इत्यादि बहुत श्रुतियाँ भेददर्शन की निन्दा करती हैं।

यत्क—न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वमभव—इति, नाय दापः। विरुद्ध गुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः। यत्पुनरुक्तम्—ईश्वराभावप्रमङ्ग—इति। तदसत् शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च। नहीश्वरस्य समार्यात्मस्य प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छाम, किं तर्हि? समारिण समारित्वापोऽनेश्वरात्मतः प्रतिपादयिष्यमिति। एव च मत्पदैतेश्वरस्यापहनपाप्मत्वादिगुणना विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते। 'यदप्युक्तमधिनयभाव प्रत्यक्षादिभिर्गोधस्वेति। तदप्यमत्। प्राप्तप्रतीकान्यमारित्वाभ्युपगमात्, तद्विषयत्वाच्च प्रत्याक्षादिव्यवहारस्य। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्वेन क पश्येत्' (वृ० २।४।१४) इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्यभाव दर्शयति। प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रमङ्ग इति चेत्। न। दृष्टत्वात्। 'यत्र पिताऽपिता भवति' (वृ० ४।३।२२) इत्युपक्रम्य 'विदा अवेदा' (वृ० ४।३।२२) इति वचनादिप्यन एवाम्नाभि श्रुतेरप्यभावात् प्रबोधे। कस्य पुनरयमप्रतीक इति चेत्। यस्त्व पृच्छामि तस्य त इति वदाम। नन्वहमेश्वर एवोक्त श्रुत्या, यद्येवं प्रनियुद्धोऽसि नास्मि वस्यचिदप्रबोधः। योऽपि दोषश्चोच्यते कैश्चित्—अविद्यया विद्यात्मन सद्विनी-

यत्वाद्वैतानुपपत्तिः—इति, सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः, तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत ॥ ३ ॥

जो यह कहा था विरुद्ध गुणवाले जीव और ईश्वर की अन्योन्यात्मकता—अभिन्नता असम्भव है। वहाँ विरुद्धगुणता (विरुद्धगुणवत्ता) के मिथ्यात्व की उपपत्ति से यह दोष नहीं है, अर्थात् सत्यस्वरूप का अभेद है। गुणकृत भेद मायिक है और फिर वह जो कहा था कि ईश्वर के अभाव का प्रसङ्ग होगा, वह कथन शास्त्र की प्रमाणता से और अनुपपत्ति से अमत्त है। जिससे ईश्वर की संसाररूपता का अद्वैत श्रुति से प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा नहीं मानते हैं, तो क्या मानते हैं कि संसारी के अविद्याजन्य संसारित्व के अपोह (विद्या से निवारण) द्वारा उसके ईश्वरात्मत्व (ईश्वरस्वरूपता) श्रुति से प्रतिपादयिष्यति (प्रतिपादन को इच्छा का विषय) है। यह मानते हैं। ऐसा होने पर अद्वैत ईश्वर की अपहृत—अद्वैत पाप्मत्वादि—गुणता और उत्तर जीव की विपरीतगुणता मिथ्या है इस प्रकार व्यवस्थित होता है। जो यह भी कहा था कि अधिकारी का अभाव होगा और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा। वह भी कथन प्रबोध से पूर्वकाल में संसारित्व के स्वोकार से असत् है। प्रत्यक्षादिव्यवहार के प्रबोध से पूर्वकालविषयक होने से भी वह कथन असत् है। जिससे (जिन काल में इस ज्ञानी के सब आत्मा ही हो गया उस काल में किससे किसको देखेगा) इत्यादि वचनों से प्रबोध होने पर प्रत्यक्षादि के अभाव को श्रुति दर्शाती है। यदि कहो कि प्रत्यक्षादि के अभाव होने पर श्रुति के भी अभाव का प्रसङ्ग होगा, तो कहा जाता है कि प्रबोध काल में श्रुति की भी आत्ममिन्नसत्ता का अभाव इष्ट होने से यह दोष नहीं है। जिससे (इस आत्मस्थितिरूप मुपुष्टि में पिता अपिता होता है) इस प्रकार उपक्रम करके (वेद अवेद होते हैं) इस वचन से प्रबोध अवस्था में श्रुति का अभाव भी हमें इष्ट ही है हमसे माना ही जाता है। यदि कहो कि यह अप्रबोध (अज्ञान) किसको है, तो कहते हैं कि जो तुम पृच्छते हो उस तुमको अज्ञान है, यह प्रश्न से ही सिद्ध होता है। यदि कहो कि मैं ईश्वर ही हूँ इस प्रकार मैं श्रुति से कहा गया हूँ, तो कहा जाता है कि यदि तुम इस प्रकार श्रुति से प्रतिबुद्ध (ज्ञानयुक्त) हो, तो सत्य अप्रबोध किसी को नहीं हैं, सत्य होता तो श्रुतिजन्य ज्ञान से भी नहीं निवृत्त होता। जो भी किन्हीं से दोष कहा जाता है, दोषविषयक शंका की जाती है कि आत्मा को अविद्या से द्वैतसहित होने से अद्वैत की अनुपपत्ति है, वह भी इस अविद्या के मिथ्यात्व से ही प्रत्याख्यात (खण्डित) हो गया, जिससे सत्य अद्वैत श्रुति अनुभवादि से माना जाता है। मिथ्या द्वैत तो प्रत्यक्षादि सिद्ध है ही, उससे मिथ्या द्वैत का विद्या से बोध करके ईश्वर आत्मा है इस प्रकार से ईश्वर में मन का धारण करे ॥ ३ ॥

प्रतीकाधिकरणम् (३)

प्रतीकेऽहं दृष्टिरस्ति नवा ब्रह्माविभेदतः । जीवप्रतीकयोर्ब्रह्माहं दृष्टिरिष्यते ॥ १ ॥
प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मैव्यवोक्षणे । अवोक्षणे तु भिन्नत्वान्नास्त्यहं दृष्टियोग्यता ॥ २ ॥

प्रतीक मूर्ति मन आदि द्वारा ब्रह्म की उपासना करनेवाला, जैसे ब्रह्म में आत्म-बुद्धि की जाती है, वैसे प्रतीक में आत्मबुद्धि अहग्रहध्यान नहीं करे, क्योंकि यह उपासक वस्तुतः ब्रह्म है, इससे ब्रह्म में अहग्रहध्यान करना ठीक है किन्तु वह प्रतीक उपासक वस्तु प्रतीक रूप नहीं है, इससे प्रतीक में अहबुद्धि करना उचित नहीं है। यहाँ मशय है कि प्रतीक में अहदृष्टि होती है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि जीव और प्रतीक का बाधदृष्टि के द्वारा ब्रह्म के साथ अभेद होने से ब्रह्म द्वारा प्रतीक में अहदृष्टि दृष्ट है। सिद्धान्त है कि बाधदृष्टिसे ब्रह्म के साथ एकता के बोधन (दर्शन) करने पर प्रतीकत्व और उपासकत्व का अभाव सिद्ध होगा। एकत्व के अबोधन रहते तो भिन्नता से अहदृष्टि की योग्यता नहीं है, इससे प्रतीक में अहबुद्धि नहीं होनी है ॥१-२॥

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥

‘मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदेवनमाकाशो ब्रह्मणि’ (छा० ३।१।८। १), तथा ‘आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः’ (छा० ३।१९।१) ‘म यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते’ (छा० ७।१।५) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु मशय—कि तेष्वध्यात्मग्रहं कर्तव्यं न वेति । किं नावत्प्राप्तम् ? तेष्वध्यात्मग्रह एव युक्तः । कस्मात् ? ब्रह्मण श्रुतिष्व्यात्मत्वेन प्रमिद्वत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मत्वे मत्यात्मत्वोपपत्तेरिति ।

(मन अन्तःकरण ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे । यह अध्यात्म दर्शन है । उसके बाद देवताविषयक दर्शन है, कि आकाश ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे) इसी प्रकार (आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है) यह जो नामब्रह्म है इस प्रकार से उपासना करता है) इत्यादि प्रतीक उपासनाओं में मशय होता है कि क्या उनमें भी अहग्रह कर्तव्य है, अथवा नहीं कर्तव्य है । प्रथम प्राप्त क्या होता है । ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि उनमें भी आत्मग्रह (आत्मबुद्धि) ही युक्त है, क्योंकि ब्रह्म की आत्मरूपता से श्रुतियों में प्रसिद्धि से और प्रतीकों की भी ब्रह्मविकारता से इन्हें ब्रह्मत्व होने पर आत्मत्व की उपपत्ति से आत्मग्रह-युक्त है ॥

एव प्राप्ते ब्रूम—न प्रतीकेष्व्यात्ममतिं वक्ष्यामः । नहि म उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयन् । यत्पुनर्ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां ब्रह्मत्वं तदन्तर्वात्मत्वमिति । तदमत् । प्रतीकाभावप्रसङ्गात् । विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति । स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुत प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा । नच ब्रह्मण आत्मत्वाद् ब्रह्मदृष्ट्युपदेशोऽप्यात्मदृष्टि कल्प्या, कर्तृत्वाद्यनिराकरणात् । कर्तृत्वादिसर्वममार्गधर्मनिराकरणेन हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः, तदनिराकरणेन चोपासनविधानम्, अनश्चोपासकस्य प्रतीकसमत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते, नहि रुचकस्वम्भिकयोस्तिरेतरात्मत्वमस्ति,

मुवर्णात्मनेव तु ब्रह्मात्मनकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम । अनो न प्रतीके-
प्वात्मदृष्टिः क्रियते ॥ ४ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्रतीकों में आत्मरूप से बुद्धि को नहीं लगाना चाहिए । जिससे वह उपासक व्यस्त (मित्र) प्रतीकों को आत्मरूप से अनुभव नहीं कर सकता है । जो यह कहा है कि प्रतीकों को ब्रह्म के विकारत्व से ब्रह्मत्व है, और उस ब्रह्मत्व से आत्मत्व है, वह कथन प्रतीक के अभाव के प्रसंग से असत् है । जिससे विकार स्वरूप के उपमर्द (नाश) से ही नामादि समूह का ब्रह्मत्व आश्रित (स्वीकृत) होता है । नामादि के स्वरूप के नष्ट होने पर किस हेतु से प्रतीकत्व वा आत्मग्रह होगा और प्रतीकविषयक ब्रह्मदृष्टि उपदेशों में ब्रह्म के आत्मत्व से आत्मदृष्टि नहीं कल्पित हो सकती है । क्योंकि इन उपासनाओं में कर्तृत्वादि का निराकरण नहीं होने से आत्मा को ब्रह्मत्व नहीं है, जिससे कर्तृत्वादिरूप संसारधर्म के निराकरण से ब्रह्म के आत्मत्व का उपदेश होता है कि ब्रह्म आत्मा है, और उस कर्तृत्वादि के अनिराकरण से उपासना का विधान है । इससे उपासकों को प्रतीकों के साथ समता से आत्मग्रह नहीं उपपन्न होता है । जिससे मुवर्ण के विकार होते भी त्वक और स्वस्तिक को परस्परआत्मकता (अभेद) नहीं है, वैसे ही ब्रह्म विकार भी जीव और प्रतीक का अभेद नहीं है । जैसे मुवर्णरूप से त्वक और स्वस्तिक अभिन्न हैं । वैसे ब्रह्मरूप से प्रतीक और उपासक के एकत्व होने पर प्रतीक के अभाव के प्रसंग को कह चुके हैं । इससे प्रतीकों में आत्म-दृष्टि नहीं की जाती है ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् (४)

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन् ब्रह्मवोक्त । अन्यदृष्ट्योपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्ततः ॥
उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्ट्यान्वचिन्तनम् । अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्मातिथ्याद्युपास्तिवत् ॥

(आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है) इत्यादि प्रतीकोपासनावोधक वाक्यों में, आदित्य और ब्रह्मशब्द के समानाधिकरण होने से, आदित्य ब्रह्म है और ब्रह्म आदित्य है—ऐसी दृष्टि हो सकती है । तथापि हीन में उत्तम दृष्टि से हीन का आदर होता है, उसमें आदरजन्य पुण्य माना जाता है, उत्तम में हीन दृष्टि से उत्तम का निरादर, तिरस्कार होता है । इससे निरादरजन्य पाप माना जाता है, इसलिए मन, आकाश, आदित्य, नाम आदि में ही ब्रह्मदृष्टि कर्तव्य है कि जिससे उत्कर्ष (अतिशय-श्रेष्ठता) बोध से आदर सिद्ध हो । संशय है कि क्या अन्य बुद्धि ब्रह्म में करनी चाहिए, अर्थात् मुखादि दृष्टि से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए । अथवा ब्रह्मबुद्धि अन्य में करनी चाहिए, ब्रह्मदृष्टि से अन्य की उपासना करनी चाहिए । पूर्वपक्ष है कि ईश्वररूप ब्रह्म फलदाता है, इससे अन्य दृष्टि से ब्रह्म की उपासना कर्तव्य है । सिद्धान्त है कि ब्रह्मदृष्टि से अन्य की उत्कर्षता होती है । दूसरी बात है कि सब वाक्य में ब्रह्म शब्द से इति शब्द परे है । (न वेति विभाषा) यहाँ के समान (इतिशब्दः पदार्थविपर्यास-

दृष्ट्) इति शब्द अपने मन्त्रन्धी पद के अर्थ को विपरीत करता है, इसमें यहाँ इति शब्द ब्रह्मशब्द को लक्षण द्वारा ब्रह्मदृष्टिपरक करता है, इसलिए ब्रह्मदृष्टि से अन्य का चिन्तन वर्तव्य है । ईश्वर पूज्यादि दृष्टि से अतिथि की सेवा से जैसे ब्रह्म फल देता है, वैसे ही अन्य की उपासना से भी ब्रह्म फल देता है ॥ १-२ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

तेष्वेवोदाहरणेष्वन्य मशय — किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यमितव्या किं वा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति । कुन मशय ? सामानाधिकरण्ये कारणा-नवधारणात् । अत्र हि ब्रह्मशब्दस्यादित्यादिशब्दे सामानाधिकरण्यमुप-लभ्यते, 'आदित्यो ब्रह्म प्राणो ब्रह्म विद्युद् ब्रह्म' इत्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात् । नचात्राञ्जस सामानाधिकरण्यमवकल्पते, अर्थान्तरवचनत्वाद् ब्रह्मादित्यादि-शब्दानाम् । नहि भवति गौरव इति सामानाधिकरण्यम् । ननु प्रकृतिविकार-भावाद् ब्रह्मादित्यादीना मृच्छरावादिवत्सामानाधिकरण्य स्यात् । नेत्युच्यते । विकारप्रविलयो ह्यव प्रकृतिमामानाधिकरण्यात्स्यात् । ततश्च प्रतीकाभाव-प्रमङ्गमभेचाम । परमात्मवाक्य चेद तदानीं स्यात्ततश्चोपासनाधिकारो बाध्यते । परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम् । तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानर इत्यादिवद-न्यतरत्रान्यदृष्ट्यत्रासे मति क्व किंदृष्टिरव्यस्यतामिति मशय । तत्रानियमो नियमसारिण शास्त्रस्याभावादित्येव प्राप्तम् । अथवाऽऽदित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्त्तव्या इत्येव प्राप्तम् । एव ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति ब्रह्मोपासनं च फलवदिनि शास्त्रमर्यादा । तस्मान्न ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति ।

(मनो ब्रह्मोत्पुपासीत) इत्यादि पूर्वकथित उन ही उदाहरणोविषयक अन्य मशय है कि क्या आदित्य आदि दृष्टि का ब्रह्म में अध्यास करना चाहिए, अथवा ब्रह्म-दृष्टि का आदित्यादि में अध्यास करना चाहिए । अर्थात् (मनो ब्रह्मोत्पुपासीत) इत्यादि उपासनाविधि के श्रवण से ये वाक्य सब बाधदृष्टि से ब्रह्मबोधपरक नहीं हैं । भिन्न ब्रह्म आदित्यादि का अभेद ही नहीं सकता है, इससे ये वाक्य सब अध्यास द्वारा उपासनापरक हैं वहाँ वैसे अध्यास करना चाहिए । मशय कर्म होना है, तो कहा जाता है कि समानाधिकरण्यात् (नीलो घट) नील घट है, इत्यादि के समान विशेषण-विशेष्यभावादिरूप कारण के अनवधारण से मशय होता है । इन वाक्यों में ब्रह्मशब्द की आदित्यादि शब्दों के साथ समानाधिकरण्यात् (अभेदबोधकत्वरूप समानविभक्तिवत्ता) उपलब्ध होती है (आदित्य ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, विद्युद् ब्रह्म है) इत्यादि समान- (मुख्य-एक) विभक्ति के निर्देश से समानाधिकरण्यात् है । ब्रह्म और आदित्यादि शब्दों के अर्थान्तर के (भिन्न भिन्न अर्थ के) वाचक होने से इनका आञ्जस (मुख्य तत्त्व) समानाधिकरण्य मिट नही हो सकता है, जिससे गौ अरव है, ऐसी समानाधि-करणता नहीं होती है । यदि कहा जाय कि ब्रह्म और आदित्यादि की मूर्तिता और

शरात्र आदि के समान प्रकृतिविकारभाव ; उपादानोपादेयता) से समानाधिकरणता होगी, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं हो सकता है । जिससे इस प्रकार प्रकृति के साथ विकार की ममानाधिकरणता से विकार का सर्वथा विलय होगा । उसमें प्रतीक के अभाव का प्रसंग होगा, वह कहा जा चुका है । उस प्रतीक के अभाव काल में यह परमात्मा का बोधक वाक्य होगा और उससे उपासना का अधिकार बाधित होगा । परमात्मवाक्य पक्ष में परिमित सूर्यादि विकारों का ग्रहण व्यर्थ होगा, सब विकार कारण दृष्टि से ब्रह्म है । उससे (ब्राह्मण वैश्वानर नामक अग्नि है) इत्यादि के समान अन्य में किसी अन्य की दृष्टिरूप अव्यास के सिद्ध होने पर किसमें किस दृष्टि का अव्यास कर्तव्य है, और किया जाय, यह संशय होता है । पूर्वपक्ष है कि नियमकारक शास्त्र के अभाव से वहाँ अनियम है, इच्छा के अनुसार अव्यास किया जा सकता है ऐसा प्राप्त होता है, अथवा ब्रह्म में आदित्यादि दृष्टि ही करना चाहिए ऐसा प्राप्त होता है, जिससे इस प्रकार से आदित्यादि दृष्टि द्वारा ब्रह्म उपासित (उपासना का विषय) होता है । ब्रह्म की उपासना फलवती है, यह शास्त्र की मर्यादा है, जिससे आदित्यादि में ब्रह्मदृष्टि कर्तव्य नहीं है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति । कस्मात् ? उत्कर्षात् । एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा भवन्ति, उत्कृष्टदृष्टेस्तेष्वव्यासात्, तथाच लौकिको न्यायोज्जुगतो भवति । उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः । यथा राजदृष्टिः क्षत्त्रि, स चानुसर्तव्यः विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात् । नहि क्षत्त्रदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात् । ननु शास्त्रप्रामाण्यादनागच्छनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गः, नच लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति । अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यात् । संदिग्धे तु तस्मिन्स्तन्निर्णयं प्रणि लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते, तेन चोत्कृष्टदृष्ट्यव्यासे शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्थप्रत्ययेयादिति श्लिष्यते । प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद् ग्रहीतव्यम् । तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यासम्भवाद् ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवा प्रतिष्ठते । इति परत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैव एवार्थो न्याय्यः । तथाहि 'ब्रह्मेत्यादेशः' 'ब्रह्मेत्युपासीत' 'ब्रह्मात्युपास्ते' इति च सर्वत्रेति परं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति शुद्धांस्त्रादित्यादिशब्दान् । ततश्च यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः । प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति ननु तत्र रजतमस्ति, एवमत्राप्यादित्यादीन्ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते । वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिर्देशेनादित्यादीनेवोपास्तिक्रियया व्याप्यजानान्दर्शयति—'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ३।१९।४), 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।२।२), 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।४।३) इति च । यत्तूक्तं ब्रह्मोपा-

मनमेवान्नादरणीय फलवत्त्वायेति । तदयुक्तम् । उक्तेन न्यायेनादित्यादीनामेवा-
पाम्यत्वावगमात् । फलत्वतिथ्याद्युपामने इवादित्याद्युपामनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति
सर्वाध्यक्षत्वात् । वर्णित चेत्तत् 'फलमत उपपत्ते' (ब्र० सू० ३।२।३८) इत्यत्र ।
इदं चान्न ब्रह्मण उपास्यत्व यत्प्रतीकेषु तद् दृष्टव्यप्रागेपण प्रतिमादिष्विव
त्रिष्वादीनाम् ॥ ५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि आदित्य आदि में ब्रह्मदृष्टि ही कर्तव्य होगी,
ऐसी किस हेतु से होगी । तो कहा जाता है कि उत्कर्ष हेतु से होगी, जिसमें इस प्रकार
न आदित्य आदि उत्कर्ष (अतिशय) रूप से दृष्ट (चिन्तित-ध्येय) होने हैं, क्योंकि
उत्कर्षदृष्टि का उनमें अध्यास होता है । इसी प्रकार लौकिक न्याय भी अनुगत (सम्बद्ध
अनुमृत) होता है । जिससे लौकिक न्याय है कि, उत्कृष्ट की दृष्टि का निवृष्ट
(हीन) में अध्यास करना चाहिये, जैसे कि राजदृष्टि का क्षता (सारथि) में
अध्यास किया जाता है । वह लौकिक न्याय अनुसरण के योग्य है, क्योंकि उन
न्याय से विपरीत गति व्यवहार में प्रत्यवाय का प्रसंग होता है । जिससे क्षता-
की दृष्टि से गृहीत (सारथिरूप समझा गया) अतएव निकर्ष (निवृष्टता) को नीयमान
(प्राप्त किया गया) राजा श्रेय (शुभ) के लिए नहीं होता है । यदि कहा जाय कि
शास्त्र की प्रमाणता से यहाँ प्रत्यवाय का प्रसंग आशङ्का के योग्य नहीं है, लौकिक न्याय
में साम्प्रतीय दृष्टि का नियमित करना युक्त नहीं है । तो यहाँ कहा जाता है कि शास्त्र
के अर्थ के निर्धारित रहने पर इस प्रकार का यह कथन बन सकता है कि शास्त्र के
अर्थ का लौकिक न्याय से नियम नहीं करना चाहिये । किन्तु उस शास्त्रार्थ के सन्दिग्ध
रहने पर तो उसका निर्णय के प्रति (निर्णय के लिए) स्वीकृत लौकिक न्याय भी
विरोध नहीं होता है । उस लौकिक न्याय से उत्कृष्ट दृष्टि का अध्यासरूप शास्त्रार्थ के
अवधार्यमाण (निर्णित-निश्चित) होने पर निवृष्ट दृष्टि का उत्कृष्ट में अध्यास करना
हुआ प्रत्यवाय को प्राप्त करेगा, यह कथन सघटित होता है । केवल लौकिक न्याय ही
इस निश्चयका हेतु नहीं है किन्तु आदित्यादि शब्दों की प्रथमता से अविरोधता के
कारण उनका मुन्मार्थत्व ग्रहण के योग्य है । स्वार्थ में वृत्ति (शक्ति) वाले उन
आदित्य आदि शब्दों से अवलम्ब (उनके निश्चययुक्त) बुद्धि में पीछे अवतरण करने
वाले (आने वाले) ब्रह्मशब्द की मुख्य शक्ति वृत्ति द्वारा समानाधिकरणता के अगम्यत्व
में लग्न द्वारा ब्रह्मदृष्टि विधानार्थरता ही वास्तव को अवस्थित है । वाक्य आदि
आदि में ब्रह्मदृष्टि का ही विधान करते हैं । ब्रह्मशब्द की इतिशब्दप्रगता में अर्थात्
ब्रह्मशब्द में इति शब्द के पर रहने से भी यही अर्थ न्याययुक्त है । जिसमें आदित्य
ब्रह्म है यह उपदेश है । ब्रह्म रूप में उपासना करे । ब्रह्म ऐसा जो उपासना करता है ।
इस प्रकार में (ब्रह्मेति) यह इतिशब्द ब्रह्मशब्द का सर्वत्र उच्चारण करते हैं ।
इतिरहित शुद्ध आदित्य आदि शब्दों का उच्चारण करते हैं । उसमें जैसे (शक्ति का)

सीपी को रजतमिति—रजतरूप से जानता है, इस वाक्य में शुक्तिका शब्द शुक्ति का वाचक ही होता है । रजत शब्द तो रजत की प्रतीति का लक्षणार्थक होता है कि यह रजत है इस प्रकार से केवल जान ही रहा है, परन्तु वहाँ रजत है नहीं । इसी प्रकार इन उदाहरणों में भी आदित्य आदि को ब्रह्मरूप से जाने, ऐसा अर्थ समझा जाता है । वाक्यशेष भी द्वितीया विभक्ति के निर्देश द्वारा आदित्य आदि को ही उपासना-क्रिया से व्याप्यमान (उपासना के विषय) रूप दर्शाता है कि (जो कोई इस आदित्य की महिमा को जानने वाला आदित्य की ब्रह्मरूप से उपासना करता है । जो वाक् की ब्रह्मरूप से उपासना करता है । जो संकल्प की ब्रह्मरूप से उपासना करता है) इत्यादि । जो यह कहा था कि फलवत्ता के लिए यहाँ ब्रह्म की उपासना ही आदरणीय है । वह कथन भी उक्त न्याय से आदित्यादि की उपास्यता के अवगम (ज्ञान) से अयुक्त है । सर्वव्यवसाय (सर्वस्वामिता) से जैसे अतिथि आदि की उपासना में ब्रह्म फल देता है, अतिथि आदि नहीं देते हैं, वैसे ही आदित्य आदि की उपासना में भी ब्रह्म ही फल देगा । (फलमत उपपत्तेः) इस सूत्र में यह वर्णित हो चुका है । यहाँ ब्रह्म की जो प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि से आरोप है, इसी प्रकार के ब्रह्म की उपास्यता है । जैसे कि प्रतिमा आदि में विष्णु आदि की उपास्यता होती है ॥५॥

आदित्यादिमत्यधिकरणम् (५)

आदित्यादावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत । नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनैच्छिकी मतिः ॥१॥
आदित्यादिवियाङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले । युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टयः ॥२॥

संस्कार की उपपत्ति से अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि कर्तव्य है । यहाँ संशय है कि आदित्यादि में कर्माङ्गदृष्टि करना चाहिये अथवा कर्माङ्ग में आदित्य आदि दृष्टि कर्तव्य है । पूर्वपक्ष है कि दोनों के ब्रह्मजन्यत्व तुल्य होने से किसी में उत्कर्ष नहीं है कि जिससे अन्य में उत्कृष्ट दृष्टि की जाय उससे इच्छा के अनुसार मति दृष्टि कर्तव्य है । सिद्धान्त है कि अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि करने से उस दृष्टि से अङ्गों का संस्कार होता है, उनमें विचित्र शक्ति उत्पन्न होती है और अङ्गों के संस्कार होने पर कर्म के फल में अतिशय युक्त (प्राप्त) होता है, आदित्य में अङ्गदृष्टि करणों से कर्मफल में अतिशय नहीं हो सकता, क्योंकि आदित्य विशेष कर्माङ्ग नहीं हैं । उससे अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि कर्तव्य है ॥१-२॥

आदित्यादिमत्यश्चाङ्गेषूपपत्तेः ॥ ६ ॥

‘य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत’ (छा० १।३।१), ‘लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत’ (छा० २।२।१), ‘वाचि सप्तविधं सामोपासीत’ (छा० २।८।१), ‘इयमेवर्गग्निः साम’ (छा० १।६।१) इत्येवमादिष्वङ्गावबद्धेषूपपासनेषु संशयः—किमादित्यादिपूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्ते किं वोद्गीथादिष्वेवादित्यादि-दृष्टयः—इति । तत्रानियमो नियमकारणाभावादिति प्राप्तम् । नह्यत्र ब्रह्मण इव

कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधारयते 'ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादवहनपाप्मत्वादि-
गुणयोगाच्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुं न त्वादित्योद्गीथा-
दीना विकारत्वाविशेषात्किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारणमस्ति । अथवा
नियमेनैवोद्गीथादिमनस आदित्यादिष्वध्यस्येरन् । कस्मान् ? कर्मात्मकत्वा-
दुद्गीथादीना कर्मणश्च फलप्राप्तिरिति उद्गीथादिमतिभिस्पास्यमाना आदि-
त्यादयः कर्मात्मका मन्त फलहेतवो भविष्यन्ति ।

(जो हो वह आदित्य तपना है उसकी उद्गीथरूप में उपासना करे । पृथिवी, अग्नि,
अन्तरिक्ष, आदित्य और स्वर्गरूप लाकों में हिकार प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रनिहार और
निधन नामक पाँच प्रकार के साम की उपासना करे आदि, और उपद्रव सहित
सात प्रकार के उन सामों की वाक् में उपासना करे । यह पृथ्वी ही ऋग् है, अग्नि
साम है) इत्यादि कर्माङ्गा से अवबद्ध (सम्बद्ध) उपासनाओं में संशय होता है कि
क्या आदित्य आदि में उद्गीथादि दृष्टियाँ विहित होती हैं । अथवा उद्गीथादि में ही
आदित्यादि दृष्टियाँ विहित हैं । पूर्वपक्ष है कि उनमें नियम के कारण के अभाव में
अनिष्टम है ऐसा प्राप्त होता है । जिसमें यहाँ ब्रह्म के समान किसी का उत्कर्षरूप
विशेष अवधारित नहीं होता है । समस्त जगत् के कारणत्व में और अपहतपाप्मत्वादि
गुणों के सम्बन्ध से ब्रह्म आदित्य आदि से उत्कृष्ट है इस प्रकार निर्धारण किया जा
सकता है । परन्तु आदित्य और उद्गीथादि के विकारत्व के विशेष (तुल्य) होने
में उत्कर्षविशेष के अवधारण में कोई कारण नहीं है । अथवा उद्गीथादि दुष्टियाँ नियम
में ही आदित्य आदि में अव्यस्त की जायेंगी । यदि कहा जाय कि किम हेतु से ऐसा
होगा, तो कहा जाता है कि उद्गीथादि के कर्मात्मक होने में और कर्म में फलप्राप्ति
की प्रसिद्धि से ऐसा होगा । उद्गीथादि दृष्टि में उपास्यमान आदित्य आदि कर्मात्मक
होने हुए फल के हेतु होंगे ।

तथा च 'इयमेवर्गग्नि साम' (छा० २।६।१) इत्यत्र 'तदेनदेनस्यामृच्य-
ष्युड साम' (छा० २।६।१) इत्युक्त्येन पृथिवी निर्दिष्टानि सामशब्देनाग्निम्,
तच्च पृथिव्यग्नयोऽङ्गं सामदृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते न ऋक्सामयो पृथिव्य-
ग्निदृष्टिचिकीर्षायाम् । क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणाद्राजशब्द उपचर्यते न राजनि
क्षत्तृशब्द अपि च 'लोकेषु पञ्चत्रिय सामोपासीत' (छा० २।२।१) इत्यधि-
करणनिर्देशालोकेषु सामाव्यसिनव्यमिति प्रतीयते । 'एतद्गायत्र प्राणेषु प्रोतम्'
(छा० २।११।१) इति चैतदेव दर्शयति । प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु चरम-
निर्दिष्ट ब्रह्माध्यस्तम् 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१।१०।१) इत्यादिषु ।
प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिकारादयः 'पृथिवी हिकार' (छा०
२।२।१) इत्यादिश्रुतिषु । अतोऽजङ्गेष्वदित्यादिष्वङ्गमति(नि)क्षेप इति ।

इसी प्रकार (यह पृथिवी ही ऋग् है, अग्नि साम है) यहाँ पर (जो वह अग्नि
नामक साम इस पृथिवी नामक ऋग् पर अव्युद्ध-ऊपर स्थित है) इस प्रकार ऋग्

शब्द से पृथिवी का और सामशब्द से अग्नि का श्रुति निर्देश करती है। वह निर्देश पृथिवी और अग्नि में क्रम से ऋक् और साम दृष्टि की चिकीर्षा (करने को इच्छा) होने पर सिद्ध होता है। ऋक् और साम में पृथिवीदृष्टि और अग्निदृष्टि करने की इच्छा होने पर वह निर्देश नहीं सिद्ध हो सकता है। जिससे सारथि में राजदृष्टि करने से उसमें राजा शब्द का उपचार (गौण प्रयोग) किया जाता है। राजा में सारथि शब्द का उपचार प्रयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार पृथिवी आदि में ऋगादि दृष्टि के बिना पृथिवी आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता है (लोकों में पाँच प्रकार के साम की उपासना करे) इस प्रकार अधिकरण रूप से लोक के निर्देश से लोकों में सामों का अभ्यास करना चाहिये ऐसी प्रतीति होती है। (यह गायत्र-साम प्राण में प्रोत-स्थिर है) यह श्रुतिवचन इसी प्रकार दर्शाता है, (आदित्य ब्रह्म है) इत्यादि वाक्यों में प्रथम निर्दिष्ट आदित्य आदि में पश्चात् निर्दिष्ट ब्रह्म अव्यस्त है। (पृथिवी हिकार है) इत्यादि श्रुतियों में प्रथम निर्दिष्ट पृथिवी आदि हैं पश्चात् निर्दिष्ट हिकारादि है, इससे अङ्ग मित्र आदित्य आदि में अङ्गमति का निक्षेप अभ्यास होता है ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाङ्गेपूद्गीथादिपु क्षिपेरन्। कुतः ? उपपत्तेः। उपपद्यते ह्येवमपूर्वसन्निकर्पादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेपूद्गीथादिपु कर्मसमृद्धिः। 'यदेव विद्याया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं दर्शयति। भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं, स्वतन्त्रफलेषु तु कथम् य 'एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।२।३) इत्यादिपु, तेष्वप्यधिकृताधिकारात्प्रकृतापूर्वसन्निकर्पेणैव फलकल्पना युक्ता गोदोहनादिनियमवत्। फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामुद्गीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः। आदित्यादिप्राप्ति-लक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिपु। अपिच 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्' (छा० १।१।१) 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्यादित्यादिमतीर्विदधाति।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि उद्गीथादि अङ्गों में आदित्यादि की वृद्धि ही किस अव्यस्त की जायगी। ऐसा किस हेतु से होगा, तो कहा जाता है कि उपपत्ति से होगा, जिससे अपूर्व (कर्मजन्य अदृष्ट) के साथ सन्निकर्ष (संबन्ध) से ऐसा उपपन्न (सिद्ध) होता है कि आदित्यादि दृष्टि से उद्गीथादि के संस्कारयुक्त होने पर अदृष्ट द्वारा कर्म की समृद्धि (फलवृद्धि) होती है। विद्या और श्रद्धा से युक्त होकर उपनिषद-उपासना सहित जो ही कर्म करता है, वह कर्म अतिबलवन् होता है। यह श्रुति विद्या के कर्मसमृद्धिहेतुत्व को दर्शाती है। यहाँ शंका होती है कि कर्म की समृद्धिरूप फलवाले उपासनाओं में ऐसा हो सकता है। परन्तु (जो इस प्रकार जानने वाला विद्वान् लोकों में पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है) उसको भोग देने के लिए ऊपर और नीचे के लोक समर्थ होते हैं। इत्यादि स्वतन्त्र फल वाली

उपासनाओं में अङ्गों में अनङ्गदृष्टि कैसे अध्यस्त होगी । तो कहा जाता है कि उन उपासनाओं में भी कर्म में अधिकृत का अधिकार होने से प्रवृत्त अपूर्व के साथ सन्निकर्ष से ही गोदोहनादि नियम के समान फल को कल्पना युक्त है । अर्थात् जैसे स्वतन्त्र पदुरूप फलवाला भी गोदोहन का अप का प्रणयनरूप अङ्गात्मक द्वार की अपेक्षापूर्वक ही उसका फल माना गया है । इसी प्रकार लोकादि फलवाली उपासनाओं में भी कर्मसम्बन्धी अपूर्वरूप अंग द्वारा ही फल की कल्पना युक्त है । क्योंकि कर्मों में अधिकृतों का ही अङ्गाश्रित उपासनाओं में अधिकार है । आदित्यादि के फलस्वरूप होने से कर्मस्वरूप उद्गोयादि से उनमें उत्कर्ष की उपपत्ति होती है । जिससे श्रुतियों में आदित्य की प्राप्तिरूप कमफल का उपदेश दिया जाता है । इसमें उत्कर्ष के अनवधारण से अनियम कहा या वह अयुक्त है । दूसरी वान है कि (ओम् इस अक्षररूप उद्गोय की उपासना करे । इस अक्षर का ही रसतमत्वादि गुण रूप उपव्याख्यान है) इस प्रकार उद्गोय का ही उपास्य रूप से उपक्रम करके उसमें आदित्यादि दृष्टि का धृति विधान करती है ।

यत्तुक्तमुद्गोयादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूय भूत्वा फलं करिष्यन्तीति । तदयुक्तम् । स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः । आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानानामुद्गोयादीनां कर्मात्मकत्वानुपायात् । 'तदेतदेतन्म्यामृच्यध्यद्द साम' (छा० १।६।१) इति तु लाक्षणिक एव पृथिव्याग्न्योऽर्कमामगन्धप्रयोगः । लक्षणा च यथामम्भवः सन्निकृष्टेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थमम्बन्धेन प्रवर्तते । तत्र यद्यप्यमामयो पृथिव्याग्निदृष्टिचिकीर्षा तथापि प्रसिद्धयोऽर्कमामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्याग्न्योश्च सन्निधानात्तयोरेवैव ऋक्मामगन्धप्रयोगः ऋक्मामममन्त्रादिति निश्चीयते । क्षत्तुगन्धोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्राजानमुपमर्षेण निवारयितुं पार्यते । 'इयमेवर्क्' (छा० १।६।१) इति च यथाक्षरन्याममृच एव पृथिवीत्वमवधारयति । पृथिव्या हि ऋक्वेज्वधार्यमाण इयमृगेवत्यक्षरन्याम स्यात् । 'य एव विद्वान्माम गायति' (छा० १।७।७) इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञानमुपमहरति न पृथिव्याद्याश्रयम् ।

जो यह कहा था कि उद्गोयादि मति (दृष्टि) से उपास्यमान (उपासित) आदित्य आदि कर्मभूय (कर्ममात्र-कर्मात्मकता) की प्राप्ति होकर फल देंगे, वह कहना अयुक्त है । जिसमें उपासना के स्वयं ही कर्मत्व होने में उसी में फल की सिद्धि होती है । आदित्यादिरूप से दृश्यमान (उपास्य) भी उद्गोयादि के कर्मात्मकत्व के नष्ट नहीं होने से उसमें फल की सिद्धि होती है, भाव है कि किसी तेजस्वी बालक को कहा जाता है कि यह बालक अग्नि है, तो वह बन्नुत अग्नि नहीं हो जाता है, इसी प्रकार कर्माङ्ग कर्मरूप उद्गोयादि में आदित्यादि दृष्टि करने पर वे कर्माङ्ग बन्नुत आदित्यादि नहीं हो जाते हैं, इसमें अङ्गों में अनङ्ग-दृष्टि अविरुद्ध है । (यह यह अग्निरूप माम भूमिरूप ऋक् के उपर स्मर है) यह तो लाक्षणिक ही पृथिवी और अग्नि में ऋक् ओम् साम

शब्द का प्रयोग है, अतः अङ्ग दृष्टि निमित्तक नहीं है। लक्षणा सम्भव के अनुसार सन्निकृष्ट वा विप्रकृष्ट (समीप वा दूर) स्वार्थ के सम्बन्ध से प्रवृत्त होता है। जैसे (गङ्गायां घोषः) यहाँ सन्निकृष्ट संयोग-सम्बन्ध से लक्षणा होती है, (अग्निर्माणवकः) यहाँ शुचित्वादि गुणवत्त्वादि द्वारा लक्षणा होती है। वैसे ही ऋक् साम में पृथिवी अग्नि-दृष्टि पक्ष में भी ऋक् साम में पृथिवी अग्नि दृष्टिरूप सम्बन्ध से ही ऋगादि पद की पृथिवी आदि में लक्षणा है। यहाँ यद्यपि ऋक् और साम में पृथिवी और अग्निदृष्टि करने की इच्छा है, तो भी प्रसिद्ध ऋक् और साम के भेद से, अनुकीर्तन से (पृथक् कथन से) और पृथिवी तथा अग्नि के सन्निधान से उस पृथिवी अग्नि में ही (एतस्यामृ-च्यव्यूढसाम) यह ऋक् साम शब्द का प्रयोग है। ऋक् और साम के सम्बन्ध से ऐसा निश्चय किया जाता है। भाव है कि (तस्मादच्यव्यूढं साम गीयते) यह पृथक् प्रसिद्ध ऋक् साम का प्रयोग है, (एतस्यामृचि) यहाँ भी उनके ग्रहण से पुनरुक्ति होगी, इससे पृथिवी अग्नि के सन्निधान से पृथिवी और अग्नि में ही लाक्षणिक प्रयोग है। यदि कहो कि पृथिवी अग्नि में ऋक् साम की दृष्टि के बिना ऋक् साम पद का लक्षणा से प्रयोग हो तो क्षेत्ता में भी राजदृष्टि के बिना राजशब्द का प्रयोग होना चाहिये तो कहा जाता है कि रथचर्या आदि किसी कारण से सारथि शब्द भी राजविषयक प्रयुक्त होता हो तो उसका वारण नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात है कि प्रयोग देखने पर निमित्त कहना चाहिए। निमित्त के होने से प्रयोग की प्राप्ति नहीं की जाती है। (यही ऋक् है) यह वाक्य अक्षरविन्यास (वाक्यरचना) के अनुसार ऋक् के ही पृथिवीत्व का अवधारण करता है कि यही पृथिवी ही ऋक्स्वरूप है। पृथिवी के ऋक्त्व के अवधार्यमाण (अवधारण का विषय) होने पर तो (यह ऋक् ही है) इस प्रकार का अक्षरों का विन्यास होगा। (जो इस प्रकार जानने वाला होता हुआ साम का गान करता है) यह वाक्य अङ्गरूप आश्रय वाला विज्ञान का उपसंहार करता है। पृथिवी आदि के आश्रित विज्ञान का उपसंहार नहीं करता है।

तथा 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इति। यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टा लोकास्तथापि साम्न्येव तेष्वस्यैरन्दितीयानिर्देशेन साम्न उपास्यत्वावगमात्। सामनि हि लोकेष्वव्यस्यमानेषु साम लोकात्मनोपासितं भवति, अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः। एतेन 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।१।१) इत्यादि व्याख्यातम्। तत्रापि तुल्यो द्वितीया-निर्देशः—'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।१।१) इति, तत्रापि 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' (छा० २।१।१) 'इति तु पञ्च-विधस्य' (छा० २।७।२) 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २।८।१) इति च साम्न एवोपास्यत्वोपक्रमात्तस्मिन्नेवादित्याद्यव्यासः। एतस्मादेव च साम्न उपास्यत्वा-वगमात् 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारा-

दिष्ट्वेव पृथिव्यादिदृष्टि । तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेपूद्गीयादिषु
क्षिप्येरन्नाति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार (लोकों में पाँच प्रकार के सामों की उपासना करे) इस वाक्य में
यद्यपि सप्तमी विभक्तियुक्त पद से लोक निर्दिष्ट हैं, तो भी साम में ही वे लोक अव्यस्त
होंगे, अर्थात् लोकदृष्टि से साम की ही उपासना होगी, जिससे द्वितीया विभक्ति के
निर्देश से साम के उपास्यत्व का अवगमन-ज्ञान होता है। जिससे साम में लोकों के
अध्यम्यमान (अध्यस्त) होने पर लोकरूप से साम उपासीत (ध्यात) होता है।
अन्यथा होने पर तो लोक सामरूप से उपासित होंगे, लोको की उपासना की जायगी
तो द्वितीया विभक्ति असङ्गत होगी। इसीसे (प्राणो मे यह गायत्र साम प्रोक्त है)
इत्यादि भी व्याख्यात हो गया। अर्थात् इन वाक्यों में सप्तमी विभक्ति के भग द्वारा
लोकरूप से साम की उपासना करे प्राणरूप से गायत्र-साम उपास्य है यह अर्थ है।
अन्यथा सप्तमी द्वितीया दोनों विभक्ति का भग करना पड़ेगा। जहाँ भी तुल्य ही द्वितीया
विभक्ति का निर्देश है कि (इस आदित्य की सप्तविध सामरूप में उपासना करे) इति।
वहाँ भी (समस्त साम की उपासना ही साधु—श्रेष्ठ है) यह तो पञ्चविध साम की
उपासना है। (अब सप्तविध साम की कही जाती है) इस प्रकार साम के ही
उपास्यत्व के उपक्रम से उस साम में ही आदित्य का अध्यास होता है। इस साम के
उपास्यत्व के अवगमन से ही (पृथिवी हिंकार है) इत्यादि निर्देश के विषय में भी
हिंकारादि में ही पृथिवी आदि दृष्टि कर्तव्य है, जिससे अनङ्ग आश्रित (अनङ्गविषयक)
आदित्यादि बुद्धियाँ उद्गीषादि अंगों में क्षिप्त (अव्यस्त) होंगी यह सिद्ध हुआ ॥६॥

आसीनाधिकरणम् (६)

नास्त्यासमस्य निदम उपास्तायुन विद्यते । न देहस्थितिसापेक्ष मनोऽतो नियमो नहि ॥१॥
शयनोत्थानगमनेष्विच्छेपम्यानिवारणात् । धीसमाधानहेतुत्वात् परिनिष्पद्यत आसनम् ॥२॥

आसीन (विशेष आसनयुक्त बैठे हुए) से उपासना ध्यान निर्दिध्यासन के सम्भव
होने से आसीन हो करके ही उपासना ध्यान करे। सशय है कि उपासना में आसन
का नियम नहीं है (अथवा नियम है) पूर्वपक्ष है कि उपासना मानस-धर्म है, शारीरिक
नहीं है। मन अपने कार्य में देह की स्थिति की अपेक्षा नहीं करता है, इससे उपासना
में आसन का नियम नहीं है। सिद्धान्त है कि उपासना के मानस होने भी चञ्चल मन
से उपासना नहीं होनी है और शयन, उत्थान (खड़े रहना) तथा गमन में मन के
विशेष (चञ्चलता) का निवारण नहीं होता है। इसमें बुद्धि के समाधान (चञ्चलता-
रहित एकाग्रता) के हेतुत्व से आसन कर्तव्यरूप में परिशेष रहता है, इससे उपासना
में आसन का नियम है ॥ १-२ ॥

आसीन सभवात् ॥ ७ ॥

कर्मज्ञिसम्बद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मन्त्रत्वाभासनादिचिन्ता, नापि मय्य-

दर्शने वस्तुतन्त्रत्वाद्विज्ञानस्य । इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्ततेति नियमेनासीन एवेति चिन्तयति । तत्र मानसत्वादुपासनस्यानियमः शरीरस्थितेरिति ।

कर्मों के बैठकर, खड़े होकर कितने प्रकार से अनुष्ठान के देखने से, और कर्माङ्ग से सम्बन्ध वाले उपासनाओं के कर्माधीन होने से कर्मसम्बद्ध उपासनाओं में आसन की चिन्ता (विचार) नहीं की जाती है । विज्ञान के वस्तु के अधीन होने से सम्यक् दर्शन में भी आसन की चिन्ता नहीं की जाती है । इतर उपासनाओं में चिन्ता करते हैं कि क्या अनियम से खड़े होते हुए, बैठे हुए वा सोये हुए उपासना में प्रवृत्त हो । अथवा नियम से बैठे हुए ही प्रवृत्त हो । यहाँ पूर्वपक्ष है कि उपासना के मानस होने से शरीर की स्थिति का अनियम है ।

एवं प्राप्तं ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति । कुतः ? सम्भवात् । उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणं, नच तद्गच्छतो धावतो वा सम्भवति गत्यादीनां चित्तविक्षेपकरत्वात् । तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति । शयानस्याप्यकस्मादेव निद्रयाभिभूयते । आसीनस्य त्वेवंजातीयको भूयान्दोषः सुपरिहर इति सम्भवति तस्योपासनम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि आसीन होकर—बैठ कर ही उपासना अरे, क्योंकि बैठ कर ही उपासना का होना सम्भव है । जिससे समान (तुल्य) ज्ञान का प्रवाह करना उपासना कही जाती है । गति आदि के चित्त के विक्षेपकारक होने से चलते वा दौड़ते हुए की उस उपासना का सम्भव नहीं है । खड़े हुए का भी देह के धारण में व्यापारयुक्त मन सूक्ष्म वस्तु के निरीक्षण में समर्थ नहीं होता है । सोये हुए का मन भी अकस्मात् ही निद्रा से अभिभूत (तिरस्कृत-लीन) होता है । आसीन (बैठे) के तो इस प्रकार के बहुत दोष सुख से निवारण किये जाते हैं । इससे उस आसीन की उपासना का सम्भव होता है ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अपिच ध्यायत्यर्थ एष यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम् । ध्यायतिश्च प्रशिक्षित-लाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तोष्पचर्यमाणो दृश्यते, ध्यायति वको ध्यायति प्रोषितवन्धुरिति, आसीनश्चानायासो भवति । तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम् ॥ ८ ॥

जो समान ज्ञान का प्रवाह करना रूप उपासना है, यह ध्यायति (ध्यै-चिन्तायाम्) इस धातु का अर्थ रूप है । अर्थात् ध्यानरूप उपासना है । प्रशिक्षित (निवृत्त) अङ्ग चेष्टा वाले, प्रतिष्ठित (स्थिर) दृष्टि वाले, एक विषय में आक्षिप्त (स्थापित) चित्त वालों में ध्यायति शब्द उपचार से प्रयुक्त देखा जाता है, कि वक ध्यान करता है,

प्रोषित बन्धु वाग्रा ध्यान करता है । आसीन अनायास (आयासरहित ध्याता) होता है, इसमें भी आसीन का कर्म रूप उपासना है ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

अपिच 'ध्यायतीव पृथिवी' (छा० ७।६।१) इत्यत्र पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतिवादो भवति, तच्च लिङ्गमुपामनम्यासीनकर्मत्वे ॥ ९ ॥

(ध्यान करती हुई के समान पृथिवी निश्चल दिखती है) इस श्रुति में पृथिवी आदि में अचलत्व ही की अपेक्षा करके ध्यायति का कथन है । वह उपासना का आसीन के कर्मत्व में लिङ्ग है ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनात्मनम्—'द्युर्वा देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी० ६।११) इत्यादिना । अत एव पद्मकादीनामामनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥ १० ॥

शिष्ट लोभ उपासना के अङ्गरूप से आसन का स्मरण (कथन भी करते हैं (द्युचिदेश में अपने स्थिर आसन को प्रस्थापित करके योग का अभ्यास करे) इत्यादि से । आसीन के ध्यान सम्भव से ही योगशास्त्र में पद्म-सिद्ध आदि आसनों का उपदेश है ॥ १० ॥

एकाग्रताधिकरणम् (७)

दिग्देशकालनियमो विद्यते न विद्यते । विद्यते वैदिकत्वेन कर्मण्येतस्य दर्शनात् ॥ १ ॥

एकाग्रस्याविशेषेण दिग्दिनं निश्चयते । 'मनोनुकूल' इत्युक्तं दृष्टार्थं देशमायणम् ॥ २ ॥

उक्त उपासनाएँ कहाँ कर्तव्य हैं ? जहाँ कि एकाग्रता हो सके वहाँ अविशेष विधि से कर्तव्य है । अर्थात् इनके लिए कर्मों के समान विशेष देश-कालादि का अदृष्टार्थक विधान नहीं है । इसमें दृष्टफल एकाग्रता जिस देश-काल में हो वहाँ कर्तव्य है । शय्य है कि दिशा, देश और काल का नियम उपासना में है, अथवा नहीं है । पूर्वपक्ष है कि वैदिक कर्म दण-पूर्णमास-अग्निहोत्रादि में इस देशादि नियम के देखने में और इस उपासना के जो वैदिक कर्म होने में देश-कालादि का नियम है । सिद्धान्त है कि एकाग्र की उपासना सिद्ध होती है उसमें अविशेषरूप में दिशा आदि सामान्य कारण हैं, चाहे किसी दिशा-देश-काल में उपासना की जा सकती है, इससे विशेष दिशा आदि नियमित नहीं किये जाते हैं । (मनोनुकूल) इत्यादि उक्ति में भी दृष्टार्थक देश का मायण है, कर्म के समान अदृष्टार्थक देश का नियम नहीं ॥ १-२ ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

दिग्देशकालेषु शय्य — किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति वेति । प्रायेण वैदि-

केष्वारम्भेषु दिगादिनियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः । यत्रैवास्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत, प्राचीदित्रपूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादि-
वद्विशेषाश्रवणात्, एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात् । ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—

समे शुची शर्करावह्निवाल्काविर्वजिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।

मनोनुकूले ननु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

(श्वे० २।१०) इति यथेति । उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः ।

सति त्वेतिस्मिस्तदगतेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भूत्वाचार्य आचष्टे । 'मनोनु-
कूले' इति चैपा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति ॥ ११ ॥

दिशा, देश और काल विषयक संशय है कि उपासना में पूर्वादि दिशा, तीर्थादि देश और प्रदोषादि काल का क्या कोई नियम है अथवा नहीं है । यहाँ प्रायः वैदिक आरम्भों (कर्मों) में दिशा आदि का नियम देखने से यहाँ भी कोई नियम होगा, ऐसी जिसकी मति (बुद्धि) है, उसके प्रति कहते हैं कि दिशा, देश और कालविषयक दृष्ट एकाग्रतारूप अर्थ (फल) रूप लक्षण वाला ही नियम है, अर्थात्, एकाग्रता फल-
रूप लिङ्ग वाला एकाग्रता से आक्षिप्त नियम है, कि जिस दिशा, देश वा काल में इस उपासक के मन की एकाग्रता सुकरता (सुगमता) से जनायास हो, उसी दिशा आदि में उपासना करे । क्योंकि (प्राचीनप्रवणं प्रादेशे निम्नस्थाने वैश्वदेवं कुर्यात्) पूर्व तरफ जहाँ नीची भूमि हो ऐसे पूर्वदेश निम्नस्थान में वैश्वदेव कर्म करे—इत्यादि के समान, पूर्वदिशा, पूर्वाह्नकाल, प्राचीनप्रवण (पूर्व तरफ निम्नतायुक्त) देश इत्यादि विशेष का यहाँ श्रवण नहीं है । दृष्ट एकाग्रता की भी सर्वत्र अविशेषता-तुल्यता है । इससे जहाँ एकाग्रता हो वहाँ उपासना करे । यदि कहा जाय कि कोई विशेष का भी कथन करते हैं, जैसे कि (सम, पवित्र, शर्करा-कंकर, अग्नि, वालू से रहित, शब्द और अतिनिकट जलाशयादि से रहित, मन के अनुकूल, चक्षुःपीडन-मशक से रहित, गुहा-
तुल्य वातरहित स्थान के आश्रयण करने पर चित्त को परमात्मा में लगावे इति) तो कहा जाता है कि इस प्रकार का नियम सत्य ही है, परन्तु इस नियम के रहते भी तदगत विशेषों में अनियम है, यह सुहृद् होकर आचार्य कहता है । (मनोऽनुकूले) यह श्रुति जहाँ एकाग्रता हो, वहाँ उपासना करे इसी बात को दर्शाता है ॥ ११ ॥

आप्रायणाधिकरणम् (८)

उपास्तीनां यावदिच्छमावृत्तिः स्यादुताऽऽमृति । उपास्त्यर्थाभिनिष्पत्तेर्यावदिच्छं नतूपरि ॥

अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाष्यतस्तत्प्रसिद्धये । आसृत्यावर्तनं न्यार्थ्यं सदा तद्भाववाक्यतः ॥

उक्त उपासनाएँ मरणपर्यन्त कर्तव्य होती हैं जिससे उस मरणपर्यन्त उपासना विषयक भी दृष्ट (श्रुतिरूप दर्शन) है कि (प्रायणान्तमोकारमभिध्यायीत) इत्यादि ।

यहाँ सशय है कि उपासनाओं की आवृत्ति इच्छापर्यन्त इच्छा के अनुसार होगी, अथवा मरणपर्यन्त होगी। पूर्वपक्ष है कि इच्छापर्यन्त आवृत्ति से ही चित्त की एकाग्रता रूप उपासना शब्द के अर्थ की सिद्धि से उसके बाद में आवृत्ति नहीं करनी चाहिए। सिद्धान्त है कि उपासना के फलरूप भावी जन्म अन्तिम (मरणकालिक) प्रत्यय से होता है, इससे उस भावी जन्म की सिद्धि के लिए मरणपर्यन्त आवृत्ति न्याययुक्त है, वह (सदा तद्भावभावित) इस भगवद्वचन से भी सिद्ध होता है ॥ १-२ ॥

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

आवृत्ति सर्वोपासनेष्वदर्थव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे । तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि तान्यवघातादिवत्कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवै-
पामावृत्तिपरिमाणम्, नहि सम्यग्दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तर किञ्चिच्छासितुं शक्यम् । अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्, यानि पुनरभ्यु-
दयफलग्नि तेष्वेवा चिन्ता—किं कियन्तचित्काल प्रत्ययमावर्त्योपरमेदुत याव-
ज्जीवमावर्तयेदिति । किं तावत्प्राप्तम् ? कियन्तचित्काल प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजेदा-
वृत्तिविशिष्टस्योपासनशब्दार्थस्य कृतत्वादिति ।

सब उपासनाओं में आवृत्ति आदरणीय है यह आद्य (प्रथम) अधिकरण में स्थिर (निश्चित) किया गया है । उन उपासनाओं में जो उपासनार्थ सम्यक् दर्शनार्थ हैं वे तो अवधान के समान दर्शनरूप कार्यरूप अवसान (समाप्ति) वाली हैं, इसमें इनकी आवृत्ति का परिमाण ज्ञात ही है । जिससे सम्यक् दर्शनरूप कार्य के सिद्ध होने पर अन्य किसी यत्न का वहाँ शासन (उपदेश) नहीं किया जा सकता है । क्योंकि अनियोज्य (अप्रेयं) ब्रह्मविषयक आत्मत्व की प्रतिपत्ति (अनुभव) जिसको हुआ है, वह अनियोज्य ब्रह्मविषयक आत्मत्व-प्रतिपत्तिबाला, शास्त्र का अविषय होना है । इसलिए उसके शास्त्र के अविषयत्व से उसको उपदेश नहीं दिया जा सकता है । फिर भी जो उपासनाएँ अभ्युदयरूप फलवाली हैं, उनके विषय में यह चिन्ता (विचार) है कि क्या कितने कुछ कालों तक प्रत्यय की आवृत्ति करके उपरत (निवृत्त) हो जाय, अथवा जीवनपर्यन्त आवृत्ति बरता रहे । प्रथम प्राप्त क्या है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि कुछ काल तक प्रत्यय की आवृत्ति करके त्याग दे, क्योंकि आवृत्तियुक्त उपासना शब्द के अर्थ की आवृत्ति से इततव (सिद्धत्व) हो गया ।

एव प्राप्ते ब्रूम—आप्रायणादेवावर्तयेत्प्रत्ययम्, अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफल-
प्राप्ते । कर्माप्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्य फलमारभमाणानि तदनु रूप भावना-
विज्ञान प्रायणकाले आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्वयकामनि'
'यच्चित्तस्तेनैव प्राणमार्याति, प्राणस्तेजसा युक्त सहात्मना ययामकल्पित लोक
नयति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः, तृणजलूकानिदर्शनाच्च । प्रययास्त्वेने न्व-
पानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्यत्प्रायणकालभावि भावनाविज्ञानमपेक्षेरन् । तस्माद्ये

प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकाः प्रत्ययास्तेष्वाप्रायणादावृत्तिः । तथाच श्रुतिः—
'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' इति प्रायणकालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति ।
स्मृतिरपि—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥ (गी० ८।६)

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि अन्तिम प्रत्यय के बल से आदृष्ट फल की प्राप्ति होने से मरणपर्यन्त प्रत्यय की आवृत्ति करे । जिससे जन्मान्तर में उपभोग के योग्य फल को आरम्भ करने वाले कर्म भी उस फल के अनुरूप (सदृश) भावनामय विज्ञान को मरण-काल में आक्षेप (प्राप्त) करते हैं । वह मरण-काल में सविज्ञान-भावनामय विज्ञान-फल के स्फुरणसहित होता है । विज्ञानसहित ही फल को फिर अवक्रमण (गमन-प्राप्ति) करता है । मरण-काल में जिस लोकादिविषयक चित्तवाला होता है, उस संकल्पमय चित्त के सहित यह जीव मुख्य प्राण में लीन होता है । वह प्राण (तेजी ह वाव उदानः) इस श्रुतिकथित उदानरूप तेज के साथ युक्त होकर और जीवात्मा-सहित होकर उसी जीवात्मा को ययासंकल्पित-संकल्प के अनुसार लोक में प्राप्त कराता है, इत्यादि श्रुतियों से और तृण-जलूकारूप दृष्टान्त से, उक्तार्थ सिद्ध होता है । ये उपासनारूप प्रत्यय तो अपने स्वरूप की आवृत्ति को छोड़ कर किस अन्य मरण-काल में रहने वाले भावनामय विज्ञान की अपेक्षा करेंगे, अर्थात् कर्म के समान अदृष्ट की अपेक्षा उपासनाएँ नहीं करती हैं किन्तु अन्त-काल में भी दृष्ट प्रत्यय की आवृत्ति की ही फलोत्पत्ति के लिये अपेक्षा करती हैं, इससे प्राप्त करने योग्य फल-विषयक भावनास्वरूप जो प्रत्यय हैं, उनके विषय में मरणपर्यन्त आवृत्ति कर्तव्य है । इसी प्रकार की श्रुति है कि (वह उपासक जीव जितना जैसा क्रतु संकल्पवाला होकर इस लोक से गमन करता है, उस संकल्प से युक्त ही परलोक में प्राप्त होकर फल को प्राप्त करता है), यह श्रुति मरण-काल में भी प्रत्यय की अनुवृत्ति को दर्शाती है । स्मृति भी है कि (हे कौन्तेय ! जिस-जिस भी भाव-देवादि का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर को त्यागता है सदा उसकी भावना से भावित, वासित चित्तवाला होता हुआ उसी-उसी भाव को प्राप्त होता है, अन्य को नहीं ।)

इति 'प्रायणकाले मनसाऽचलेन' (गी० ८।१०) इति च । 'सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्यते' इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति ॥ १२ ॥

(मरण-काल में अवल मन से परपुरुष का स्मरण करता हुआ दिव्य परपुरुष को प्राप्त करता है) और (वह उपासक अन्तकाल में, अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंश्रितमसि, इन तीन मन्त्रों का स्मरण करे) उक्त स्मृति और श्रुति भी मरणकाल में कर्तव्य-शेष सुनाती है ॥ १२ ॥

तदधिगमाधिकरणम् (९)

ज्ञानिन पापलेशोस्ति नास्ति वाऽनुपभोगः । आनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लोपोऽस्य विद्यते ॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्नेव न लिप्यते । अश्लेषनाशवप्युक्तावङ्गे घोषस्तु सार्थक ॥

उस ब्रह्मात्मा के अधिगम अपरोक्ष होने पर आगामी अध (पाप) का अश्लेष (असंश्लेष) होता है । पूर्व के संचित पाप का नाश होता है, उसका श्रुति-स्मृति में व्यपदेश से यह समझा जाता है । ज्ञानी को शरीरादि-वृत्त पाप का लेप (भोग) होता है अथवा नहीं होता है—यह सशय है । पूर्वपक्ष है कि (नाश्रुत क्षीयते कर्म) इत्यादि शास्त्र के अनुसार उपभोग के बिना पाप का नाश नहीं होता है, यह शास्त्रों में घोष (कथन) है, इससे इस ज्ञानी को लेप होता है । सिद्धान्त है कि अकर्ता, असग, आत्मा के ज्ञान से ज्ञात आत्मवस्तु की महिमा से ही ज्ञानी में पाप लिप्त नहीं होता है । पुष्करपलाश के समान अलेप तथा इषीकातूल का अग्नि से नाश के समान नाश भी श्रुति में कहे गये हैं । इससे अनाश का कथन अज्ञ में सार्थक है ॥ १-२ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

गतस्तृतीयशेष । अयेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्तां प्रतापयेत् । ब्रह्माधिगमे सति तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते न क्षीयते चेति सशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? फलार्थत्वात्कर्मणः फलमदत्त्वा न सभाव्यते क्षयः । फलदायिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता । यदि तदन्तरेणैव फलोपभोगमपवृज्येत श्रुतिः कदायिता स्यात् । स्मरन्ति च 'नहि कर्माणि क्षीयन्त' इति । नन्वेव मनि प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति । नैव दोषः । प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वोपपत्तेश्चैव दृष्ट्यादिवत् । अपिच प्रायश्चित्तानां दोषमयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणार्थता, नत्वैव ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति । नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्यावश्यं भोक्तव्यत्वादनिमोक्षः स्यात् । नेत्युच्यते । देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भविष्यति । तस्मान्न ब्रह्मविद्याधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति ।

तृतीय अध्याय का शेष साधनसम्बन्धी विचार समाप्त हो गया । इसके बाद अब ब्रह्मविद्या के पञ्चविषयक विचार का विस्तार किया जाता है । यहाँ सशय है कि ब्रह्म के अधिगम (अपरोक्ष) होने पर, उससे विपरीत फलवाला पाप नष्ट होता है, अन्यथा नहीं नष्ट होता है । प्रथम प्राप्त क्या होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्णपण होता है कि कर्म के फलार्थ होने से फल दिए बिना उसके क्षय की सम्भावना नहीं होती है । जिसमें इस पापकर्म को फल देने वाली शक्ति (माहिम्ना, ब्राह्मणो न हन्तव्य) हिंसा नहीं करे । ब्राह्मण हिंसायाय नहीं है इत्यादि नियम-श्रुतियाँ से समधिगत (ज्ञात) होती है । वह कर्म यदि फलमात्र के बिना ही नष्ट हो जाय, तो श्रुति कदाचित् (अपमानित) होगी । स्मरण भी करते हैं कि (फल दिये बिना कर्म

नष्ट नहीं होते) । यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर अर्थात् भोग के बिना पाप के नहीं नष्ट होने पर उस पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त कर्म का उपदेश अनर्थक प्राप्त (सिद्ध) होगा । तो कहा जाता है कि गृहदाह इष्टि आदि के समान प्रायश्चित्तों के नैमित्तिक कर्मत्व की उपपत्ति से यह अनर्थकतारूप दोष नहीं है । अर्थात् आहिताग्नि, अग्नि के आधानयुक्त, पुरुष के घर में अग्नि के लगने पर उसमें दाहरूप निमित्त से आठ कपाल में संस्कृत हवि का अपणरूप नैमित्तिक कर्म का विधान है, उससे अग्नि की निवृत्ति नहीं होती है । वैसे ही दोषरूप निमित्त के होने पर प्रायश्चित्त का विधान है, उससे दोषरूप पाप का नाश नहीं होता है । दूसरी बात है कि (दोषवान् प्रायश्चित्तं कुर्यात्) दोषवाला प्रायश्चित्त करे इत्यादि उपदेशों के अनुसार प्रायश्चित्तों का दोषसंयोगनिमित्तक विधान होने से जैसे मलनिमित्तक स्नान से मल की निवृत्ति होती है वैसे ही प्रायश्चित्त को दोषनाशरूप प्रयोजनवत्ता होगी भी । परन्तु ब्रह्मविद्या की इस प्रायश्चित्त के समान दोषसंयोग-निमित्तक विधि नहीं है । यदि कहा जाय कि ब्रह्मवेत्ता के कर्मक्षय के नहीं मानने पर उस कर्मफल की अवश्य भोक्तव्यता से मोक्ष नहीं होगा, तो कहा जाता है कि मोक्ष का अभाव नहीं होगा, किन्तु देशकाल-निमित्तों की अपेक्षापूर्वक कर्मफल के समान ज्ञान का फल मोक्ष होगा, जिससे ब्रह्मविद्या के अधिगम होने पर पाप की निवृत्ति नहीं होती है, यह पूर्वपक्ष (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इत्यादि श्रुति को स्तुत्यर्थक मानकर किया गया है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरधयोरश्लेषविनाशौ भवतः, उत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः । कस्मात् ? तद्व्यपदेशात् । तथाहि ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्यागामिनो ' दुरितस्यानभिसंबन्धं विदुषो व्यपदिशति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१।४।३) इति । तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—'तद्यथेषीकातूलमग्नी प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२।४।३) इति । अयमपरः कर्मक्षयव्यपदेशो भवति —

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मु० २।२।८) इति ।

उन श्रुतियों के अपूर्वार्थक और मानान्तर से विरुद्धादि नहीं होने से उनमें स्तावकत्व का असम्भव है । इस आशय से इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि तदधिगम-ब्रह्म के अधिगम (अनुभव) होने पर उत्तर के अध का अश्लेष और पूर्व के अध का विनाश होता है । इससे उत्तर-पूर्व के अधों के अश्लेष-विनाश होते हैं । यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उसके व्यपदेश (कथन) से समझा जाता है । जिससे ब्रह्मविद्या के प्रकरण में जिसके सम्बन्ध की संभावना हो सकती है ऐसे आगामी पाप के साथ विद्वान् के असम्बन्ध को श्रुति इस प्रकार व्यपदेश (कथन)

करती है कि (जैसे कमल के पत्ते में जल नहीं लिप्त होता है, इसी प्रकार अक्षि/ आदित्यादि में असंग ब्रह्म को जाननेवाला भी पाप कर्म नहीं लिप्त होता है), इसी प्रकार पूर्व के सचित पाप के विनाश का व्यपदेश करती है कि (जैसे भुञ्जेपोका तूल अग्नि में दिया हुआ शीघ्र नष्ट-दग्ध होता है, इसी प्रकार इस विद्वान् के सब पाप शीघ्र प्रदग्ध होते हैं, प्राग्बन्धमिन्न सब कर्म नष्ट होते हैं) निर्गुण-विद्याविषयक यह अन्य कर्मक्षय का व्यपदेश है कि (उस पर-अवर-कारणकार्यस्वरूप तथा अन्य से पर हिरण्यगर्भ भी जिससे अवर है उस परब्रह्म के अपरोक्ष होने पर इस विद्वान् के हृदय-ग्रन्थि-कामादि-नष्ट हो जाते हैं । सब सक्षय छिन्न हो जाते हैं, और इसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं) ।

यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्मण क्षयकल्पनाया शास्त्र कदर्थित स्यादिति । नेप दोष । नहि वय कर्मण फलदायिनी शक्तिमवजानीमहे, विद्यत एव सा, सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः । शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्र व्याप्रियेत, न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि, नहि कर्म क्षीयते इति । एतदपि स्मरणमौत्सर्गिक न हि भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति, इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना दुरितस्य क्षय 'सर्वं पाप्मानं तर्गति' 'तरति ब्रह्महत्या योऽध-मेधेन यजते य उ चैनमेव वेद' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । यत्तूक्त नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति । तदसत् । दोषसंयोगेन चोद्यमानानामेव दोषनि-र्घातफलमभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्तेः ।

जो यह कहा था कि फलमाग-रहित कर्म के क्षय की कल्पना करने पर शास्त्र कदर्थित (विरुद्धार्थक) होगा, यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, जिसमें हम कर्म की फल देनेवाली शक्ति की अवज्ञा (अनादर-अस्वीकार) नहीं करते हैं, वह शक्ति तो है ही, परन्तु वह कर्म की शक्ति विद्या आदि रूप अन्य कारण से प्रतिबद्ध हो जाती है, यह बान कहते हैं । कर्म में फल देने वाली शक्ति के सद्भाव (अस्तित्व) मात्र में शास्त्र अपना व्यापार करेगा, शक्ति की सत्ता का बोध करायेगा, परन्तु फलवती शक्ति के प्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध में शास्त्र व्यापार नहीं करेगा । कर्म क्षीण नहीं होता है यह स्मृति शास्त्र भी औत्सर्गिक (सामान्य) स्वरूप है । भोग के बिना कर्म क्षीण नहीं होता है, क्योंकि तदर्थत्व (भोगार्थकत्व) कर्म को है । भोगार्थक होने से भोग के बिना कर्म का नाश नहीं होता है इस सामान्य शास्त्र का विरोध शास्त्र से बाध-अपवाद होने से प्रायश्चित्तादि से दुरित (पाप) का क्षय (नाश) मानना तो इष्ट ही है । वह (सब पाप को तरता है, जो अस्वमेध यज्ञ करता है, जो इसको इस प्रकार जानता है वह ब्रह्महत्या को तरता है) इत्यादि श्रुति-स्मृति से प्रायश्चित्त की पाप-नाशकत्व सिद्ध होता है । जो यह कहा था कि गृह्णद्देष्टि के समान प्रायश्चित्त कर्म नैमित्तिक है, वह कहना असत् है जिसमें दोष के संयोग से शास्त्र से विहित इन

का दोषों का—प्रायश्चित्तों का नाशरूप फल के संभव रहते फलान्तर के कल्पना की अनुपपत्ति है ।

यत्पुनरेतदुक्तं न प्रायश्चित्तबद्दोषक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति । अत्र ब्रूमः—सगुणामु तावद्विद्यासु विद्यावत एव विधानम्, तामु च वाक्यशेष ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते, तयोश्चाविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते । निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्कर्मप्रदाहसिद्धिः । अश्लेष इति चागामिपु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति दर्शयति । अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात्कर्तृत्वं प्रतिपेद इव तथापि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि प्रविलीयन्ते इत्याह विनाश इति । पूर्वप्रसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वस्वरूपविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं ब्रह्माहमस्मि नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता बाह्यमासं नेदानी नापि भविष्यत्काल इति ब्रह्मविदवगच्छति । एवमेव च मोक्ष उपपद्यते । अन्यथा ह्यनादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे मोक्षाभावः स्यात् । नच देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवितुमर्हति, अनित्यत्वप्रसङ्गात् । परोक्षत्वानुपपत्तश्च ज्ञानफलस्य । तस्माद् ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थिरम् ॥ १३ ॥

फिर जो यह कहा था कि प्रायश्चित्त के समान दोषक्षय को उद्देश्य करके (दोष की निवृत्ति के लिए) विद्या का विधान नहीं है । यहाँ कहते हैं कि सगुण विद्याओं में तो दोषक्षय को उद्देश्य (लक्ष्य) करके विधान है ही, और उन सगुण विद्याओं में वाक्यशेष में विद्यावाले को ऐश्वर्य (अणिमादि-विभूति) की प्राप्ति और पाप की निवृत्ति कही जाती है । उन दोनों फलों की अविवक्षा में कोई कारण नहीं है, कि जिससे उनका स्वीकार नहीं किया जाय । इससे पापों की निवृत्ति नाशपूर्वक ऐश्वर्य की प्राप्ति उन सगुण विद्याओं का फल है, ऐसा निश्चय किया जाता है । निर्गुण विद्या में तो यद्यपि दोषक्षय को उद्देश्य करके वा अन्य किसी प्रकार का विधान (विधि) नहीं है, तथापि अकर्तृस्वरूपत्व के बोध से कर्मप्रदाह (कर्मनाश) की सिद्धि होती है । अर्थात् अविद्या की निवृत्ति से अविद्यामूलक कर्मादि का अभाव होता है । सूत्रगत अश्लेष इस शब्द से दर्शाते हैं कि आगामी कर्मों में ब्रह्मवेत्ता कर्तृत्व को ही नहीं प्राप्त होता है । सब व्यापार को संघाताश्रित देखता हुआ विद्वान् अपने को कर्ता नहीं मानता है । सूत्रगत विनाश इस शब्द से कहते हैं कि अतिक्रान्त (भूत-संचित) कर्मों में तो यद्यपि मिथ्याज्ञान से ज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकाल में कर्तृत्व को प्राप्त के समान हुआ था, तथापि विद्या के सामर्थ्य से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने से मिथ्याज्ञान-निमित्तक वे विद्वान् के अतिक्रान्त पाप भी प्रविलीन (अत्यन्त नष्ट) हो जाते हैं । जिससे-पूर्वकाल में प्रसिद्ध कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वरूप से विपरीत ही ब्रह्मवेत्ता अपने को समझता है

किं सीनो ही काल मे अकर्तृत्व-अमोक्तृत्वस्वरूप ब्रह्म में है। मैं इससे पूर्वकाल मे भी कर्ता वा मोक्ता नहीं था, न इस समय कर्ता-मोक्ता हूँ, न भविष्यत्-काल मे ही कर्ता वा मोक्ता हो सकता हूँ। इस प्रकार के ज्ञान से कर्मों के क्षय होने ही से शास्त्रो मे प्रसिद्ध मोक्ष भी उपपन्न (सिद्ध) होता है। अन्यथा तो अनादिकाल से प्रवृत्त अनन्त कर्मों के भोगादि द्वारा सर्वथा क्षय के अभाव से मोक्ष का अभाव होगा। कर्मफल के समान देश-काल और निमित्त की अपेक्षावाला मोक्ष होने योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से मोक्ष मे कर्मफल के समान अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। देशादि की अपेक्षापूर्वक मोक्ष के होने पर स्वर्गादि के समान परोक्षत्व की प्राप्ति होगी और ज्ञान के प्रत्यक्ष ही वस्तु की अभिव्यक्तिरूप फल होने से ज्ञान के फल के परोक्षत्व की अनुपपत्ति से भी देश-काल निमित्त की अपेक्षावाला मोक्ष नहीं हो सकता है। इससे ब्रह्म के अधिगम होने पर पाप का नाश होता है, यह स्थिर हुआ ॥ १३ ॥

इतरासश्लेषाधिकरणम् (१०)

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वं । नहि श्रुतेन पुण्येन श्रुतं ज्ञानं विरुध्यते ॥
अलेपो वस्तुसामर्थ्यात् समानं पुण्यपापयो । श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥

उक्त अध के समान उससे इतर (भिन्न) पूर्वपरकालिक पुण्य का भी ज्ञान होने पर अश्लेष और विनाश होता है वह उसका व्यपदेश से अवगत होता है। इस कर्म-क्षय से ही प्रारब्धान्त मे ज्ञानी के देह के पात होने पर विदेह-कैवल्य-ब्रह्मसम्पत्ति कहेंगे। सशय है कि ज्ञानी पुण्य कर्म से लिप्त होता है अथवा नहीं लिप्त होता है। पूर्वपक्ष है कि पुण्य के श्रुतिसिद्ध होने से पुण्य से ज्ञानी लिप्त होता है। ज्ञान से पाप के समान पुण्य नष्ट भी नहीं होता है, क्योंकि श्रुतिसिद्ध पुण्य के साथ श्रुतिसिद्ध ज्ञान-को विरोध नहीं है, और विरोध के बिना नाश-नाशक भाव नहीं देखा गया है। सिद्धान्त है कि असग आत्मस्वरूप से स्थिर ज्ञानी मे असङ्ग वस्तु के सामर्थ्य से पुण्य-पाप दोनों का समान-तुल्य ही अलेप (सम्बन्धभाव) होता है। श्रुति में पुण्य भी पाप रूप से (सर्वे पाप्मानोऽनो निवर्तन्ते) इस वचन मे सुना गया है। तथा (उभे उ हवैष एते तरति) इस वचन मे पुण्य और पाप के तुल्य तरण सुना गया है। इससे पुण्य का भी पाप के समान अश्लेष और विनाश होता है ॥ १-२ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोर्गन्धस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविनाशो ज्ञाननिमित्तो शास्त्रव्यपदेशान्निरूपितो । धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशं क्रियते । इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमप्रवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः । कुत ? तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात् । 'उभे उ हवैष एते

तरति' (वृ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिषु च दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात् । अकर्त्रात्मत्वबोधनिमित्तस्य च कर्मक्षयस्य सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात् 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मू० २।२।८) इति चाविशेषश्रुतेः । यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो दृश्यते तत्रापि तेनैव पुण्यमप्याकलितमिति द्रष्टव्यम्, जानफलापेक्षया निकृष्टफलत्वात् । अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (छा० ८।४।१) इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात् । पाते त्विति तुशब्दोऽवधारणार्थः । एवं धर्माधर्मयोर्वन्धहेत्वोर्विद्यासामर्थ्यादश्लेषविनाशसिद्धेरवश्यंभाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधारयति ॥ १४ ॥

पूर्वं अधिकरण में बन्ध के हेतु स्वभाविक पाप के ज्ञाननिमित्तक (ज्ञानजन्य) अश्लेष और विनाश शास्त्र के व्यपदेश (वचन) से निरूपित (प्रतिपादित) हुए हैं । फिर भी धर्म के शास्त्रसिद्ध होने से शास्त्रसिद्ध ज्ञान के साथ धर्म का अविरोध है, इसमें धर्म का ज्ञान से नाश नहीं होगा, ऐसी आशंका करके उस आशंका का निराकरण करने के लिए पूर्व अधिकरण के न्याय का अतिदेश (सम्बन्ध) किया जाता है कि इतर-पुण्य कर्म का भी इसी प्रकार बंध के समान ज्ञानी के साथ अश्लेष और विनाश होते हैं, क्योंकि उस पुण्य को भी अपने फल के हेतुत्व द्वारा ज्ञानफल के प्रतिबन्धकत्व का प्रसंग होता है । अर्थात् पुण्य के फल-भोग से भी मोक्ष का अभाव होता है । इस कारण से और (यह ज्ञानी इन दोनों पुण्यरूप और पापरूप कर्मों को तरता है) इत्यादि श्रुतियों में पाप के समान पुण्य के भी प्रणाश का व्यपदेश (कथन) से तथा अकर्तृ-स्वरूपता के बोधनिमित्तक पुण्य-पापरूप कर्मों के क्षय की तुल्यता से (इस ज्ञानी के कर्म क्षीण होते हैं) इस प्रकार अविशेष (सामान्य) रूप से कर्ममात्र की निवृत्ति के श्रवण से भी ज्ञानी के पाप के समान पुण्य भी नष्ट होते हैं । जहाँ भी केवल पाप शब्द ही दीखता है, वहाँ भी उस पाप शब्द से ही पुण्य भी गृहीत है, ऐसा समझना चाहिए । क्योंकि ज्ञान के फल की अपेक्षा से पुण्यफल को निकृष्टत्व है, इससे वह भी पापतुल्य है । श्रुति में पुण्य में पाप शब्द का प्रयोग है (इस आत्मस्वरूप हेतु से सब पाप निवृत्त हों जाते हैं) इस प्रकार अविशेष (सामान्य) रूप से ही प्रकृत पुण्य में पाप शब्द के प्रयोग से पुण्य का भी ग्रहण होता है । 'पाते तु' यहाँ तु शब्द अवधारणार्थक है । इससे इस प्रकार विद्या की सामर्थ्य से बन्ध के हेतु धर्म और अधर्म के अश्लेष और विनाश की सिद्धि होने से विद्वान् के शरीरपात होने पर अवश्य होने वाली मुक्ति है, इस प्रकार अवधारण करते हैं ॥ १४ ॥

अनारब्धाधिकरणम् (११)

आरब्धे नश्यतो नो वा सञ्चिते इव नश्यत' । उभयत्राप्यक्ततत्त्वतद्बोधी सद्गो खलु ॥ १ ॥
आदेहपात संहारश्रुतेरनुभवावधि । इषुचक्रादिदृष्टान्तात् नैवारब्धे विनश्यतः ॥ २ ॥

पूर्व के पुण्य और पाप दो स्वरूप वाले होते हैं, एक तो अपने कार्य को आरम्भ किए रहते हैं कि जिनको प्रारब्धकर्म बहते हैं, जिनसे जन्म, आयु, भोग वर्तमान में मिलते हैं, उनका विद्या से नाश नहीं होता है किन्तु भोग से ही नाश होता है । किन्तु अनारब्ध कार्य वाले पूर्व के सञ्चित पुण्य-पाप ही ज्ञान से नष्ट होते हैं, उनके सर्वथा नाश का ज्ञान अवधि है और ज्ञानी के शरीर का पात विदेह कैवल्य में अवधि है । यहाँ सशय है कि प्रारब्धरूप पुण्य-पाप नष्ट होते हैं, अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष है कि आत्मा के अवर्तुत्व और उसका बोधरूप नाश के हेतु आरब्ध-अनारब्ध दोनों में तुल्य हैं । इससे सञ्चित के समान प्रारब्ध कर्मरूप पुण्य-पाप भी ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं, तो भी चक्रवेग के समान शरीर कुछ देर के लिए रहता है । सिद्धान्त है कि देहपात-पर्यन्त ससार की श्रुति से और अनुभव से तथा इषुचक्र-वेगादि के दृष्टान्तों से प्रारब्ध धर्म भोग के बिना ज्ञान से नहीं नष्ट होते हैं ॥ १-२ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्त सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारितः, स किमप्रियेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विज्ञेयेणानारब्धकार्ययोरेवेति विचार्यते । तत्र 'उभे उ हैवैप एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्येवमादिश्रुति-प्रविशेषप्रवणादविज्ञेयेणैव क्षय इति ।

पूर्व के दो अधिकरणों में ज्ञाननिमित्तक सुकृत और दुष्कृत का विनाश अवधारित (निर्दिष्ट) किया गया है । वह विनाश क्या अविशेष रूप से आरब्ध कर्मवाले और अनारब्ध कार्यवाले सब कर्मों का होना है अथवा विशेष रूप से अनारब्ध कार्य वाले का ही नाश होता है, यह विचार किया जाता है । वहाँ (यह ब्रह्मवेत्ता पुण्यरूप और पापरूप दोनों ही इन कर्मों को तरता है) इत्यादि श्रुतियों में अविशेष (सामान्य) श्रवण में अविशेषरूप से सब कर्म का क्षय होता है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होता है ।

एव प्राप्ते प्रत्याह—अनारब्धकार्ये एव त्विति । अप्रवृत्तफले एव पूर्वं जन्मान्तरमर्चितं अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्ते सञ्चिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात्क्षीयते नत्वारब्धकार्ये मामिमुक्तफले याभ्यामेतद्ब्रह्मज्ञानायनन जन्म निर्मितम् । कुत एतत् ? 'तस्य तावदेव चिरं यावत्त विमोक्ष्येऽथ नपत्ये' (छा० ६।१।४२) इति शरीरपानावधिकरणात्क्षेमप्राप्ते । इतरथा हि ज्ञानादज्ञेयमर्क्षये सति स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्नुवीत, तत्र शरीरपातप्रतीक्षा नावधीन । ननु बन्धुबलेनैवायमकर्मात्मावबोध कर्माणि

क्षपयन्कथं कानिचित्क्षपयेत्कानिचिच्चेष्टेत । नहि समानेऽग्निबीजसंपर्के
केपांचिद् बीजशक्तिः क्षीयते केपांचिन्न क्षीयत इति शक्यमङ्गीकर्तुमिति ।
उच्यते—न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयं जानोत्पत्तिरूपपद्यते । आश्रिते
च तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासंभवाद्भवति वेगक्षय-
प्रतिपालनम् । अकर्तात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानवाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति,
बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव ।
अपिच नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियत
इति । कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रविक्षेप्तुं
शक्येत । श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते । तस्मादना-
रब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः ॥ १५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं (अनारब्धकार्ये एव तु) इति । पूर्व के जन्मों में
संचित (उपाजित) और इस जन्म में भी ज्ञान की उत्पत्ति से प्रथम संचित पूर्वकाल के
अप्रवृत्त फलवाले ही पुण्य और पाप ज्ञान की प्राप्ति से क्षीण होते हैं और प्रारब्धफल-
वाले, सामि-अद्वैतमुक्त फलवाले जिनसे यह ब्रह्मज्ञान का आश्रय जन्म निर्मित हुआ है,
वह पुण्य-पाप नहीं निवृत्त होते हैं, यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? तो कहा जाता
है कि (उस आचार्यवाला अविद्यारहित की तबतक ही सत् सम्पत्ति में देर है कि
जबतक देह से विमुक्त नहीं होता है । देह से विमुक्त होते ही वह सत् में सम्पन्न हो
जाता है) इस प्रकार क्षेम (मोक्ष) की प्राप्ति के शरीरपात की अवधि करने से
उक्तार्थ सिद्ध होता है । अन्यथा ज्ञान से सब कर्म के नाश होने पर तो शरीरादि की
स्थिति के हेतु के अभाव से ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर ही जानी क्षेम को प्राप्त करेगा,
तो वहाँ शरीरपात की प्रतीक्षा को श्रुति नहीं कहती । यदि कहा जाय कि यह
अकर्तास्वरूप आत्मा का अवबोध (अनुभव) वस्तुत्व के ही कर्मों को नष्ट करता
हुआ किस प्रकार से कितने कर्मों को नष्ट करेगा और कितने की उपेक्षा कर देगा,
नाश किए बिना कितनों को कैसे छोड़ेगा, जिससे अग्नि और बीज के सम्पर्क (सम्बन्ध)
तुल्य होते किसी बीज की बीजशक्ति नष्ट होती है, किसी की नहीं नष्ट होती है, ऐसा
स्वीकार नहीं कर सकते हैं, इत्यादि । तो कहा जाता है कि आरब्ध कार्यवाले
कर्माशय का आश्रयण (शरीरधारणादि) किए बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं उपपन्न
(सिद्ध) होती है । उस कर्माशय के आश्रित करने पर कुलालचक्र के समान प्रवृत्त
(उत्पन्न) वेगवाले कर्मों का मध्य में प्रतिबन्ध-निरोध के असम्भव से वेगक्षय का
प्रतिपालन (प्रतीक्षण) होता है । अकर्ता-स्वरूप आत्मा का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान
अज्ञान के बाध द्वारा कर्मों का उच्छेद करता है । बाधित भी मिथ्याज्ञान दो चन्द्रमा
के ज्ञान के समान संस्कार के वश से कुछ काल तक अनुवर्तमान रहता ही है । दूसरी
बात है कि ब्रह्मवेत्ता से कुछ काल तक शरीर का धारण किया जाता है, अथवा नहीं

धारण किया जाता है, इस विषय में विवाद नहीं करना चाहिए । जिसमें एक पुरुष से जिसका अपने हृदय से प्रत्यय (ज्ञान) होता है ऐसा स्वहृदय से प्रत्ययवाला ब्रह्म के वेदन (ज्ञान) का और देह के धारण का अन्य से कैसे प्रतिक्षेप (निषेध) किया जा सकता है । अर्थात् अन्य को उसका अनुभव नहीं है । अनुभव बिना विधि-निषेध नहीं हो सकता है । श्रुति-स्मृति में स्थितप्रज्ञ के लक्षण के कथन द्वारा यही बाधितानुवृत्ति बही जाती है । प्रारब्ध का ज्ञान से अनाद्य कहा जाता है । इससे अनारब्ध कार्यवाले ही मुक्त और दुष्ट का विद्या के सामर्थ्य में क्षय होता है यह निर्णय है ॥ १५ ॥

अग्निहोत्राद्यधिकरणम् (१२)

नश्येन्नो वाऽग्निहोत्रादि नित्यं कर्मं विनश्यति । यतोऽयं वस्तु महिमा न क्वचित्प्रतिहन्यते ॥ १॥
अनुपपन्नकलाशस्य नाशोऽप्यन्यो न नश्यति । विद्यायामुपपुच्छत्वात् भाध्यश्लेषस्तु काम्यवत् ॥ २॥

अन्य कर्मों का ज्ञान से नाश होता है परन्तु नित्य-नैमित्तिक अग्निहोत्रादि तो अतः वर्णन की शुद्धि के द्वारा विविदिषा के जननपूर्वक उस ज्ञान के कार्य मोक्ष के ही लिए होता है, इससे उसका ज्ञान से नाश नहीं होता है, अर्थात् वह ज्ञान में उपयुक्त होकर स्वयं निवृत्त हुआ रहता है, इससे उसकी ज्ञान में निवृत्ति नहीं होती है, यह तद्विषयक श्रुति के दर्शन से जाता जाता है । सत्य है कि अग्निहोत्रादि नित्यकर्म ज्ञान से नष्ट होगा अथवा नहीं होगा । पूर्वपक्ष है कि नित्यकर्मों में भी ज्ञान से नष्ट होता है । जिसमें अकर्ता असंग निर्गुण आत्मवस्तु की महिमा से ही ज्ञान कर्म को नष्ट करता है और यह वस्तु की महिमा किसी कर्म के नाश में प्रतिहन (निरुद्ध) नहीं होती है । इससे वस्तु-महिमा से अग्निहोत्रादि को भी ज्ञान नष्ट करता है । सिद्धान्त है कि यद्यपि मीमांसक नित्य नैमित्तिक कर्मों के अकरणजन्य प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति ही फल मानते हैं, तथापि वेदांत में सकाम के स्वर्गादि के हेतु और निष्काम के चित्तशुद्धि के हेतु नित्य नैमित्तिक कर्मों में होते हैं । वहाँ सकाम अवस्था में किए गए नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुपपन्न (काम के अनुपग में प्राप्त होने वाले) गौण भाग के ज्ञान से नाश होने पर भी अन्य चित्त के शोधक मुख्य अंश का नाश नहीं होता है जो कि निष्काम अवस्था में किया गया रहता है, क्योंकि वह विद्या में उपयुक्त हुआ रहता है । इसमें काम्यकर्म के समान ही नित्यादि का भी श्लेष नहीं होता है । स्वामाविक भी नित्य नैमित्तिक कर्मों पापनाशक और आनुपद्भिः कर्त्तव्य माने जाते हैं वहा अनुपग में प्राप्त पञ्चदश अंश का ज्ञान से नाश होता है इत्यादि ॥ १-२ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

पुत्रश्रम्याप्यद्रेयविनाशयोरध्वन्यायोजनिदिष्टं मोऽग्निदेन सर्वपुण्यमित्य इत्यादिद्वय प्रतिवृत्ति—अग्निहोत्रादि त्विति । तुल्यत्वं आशङ्कामपनुदति यन्नित्यं कर्मं वैदिकमग्निहोत्रादि तत्तत्कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यन्वार्यं तदेनास्यापि

कार्यमित्यर्थः । कुतः—‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यजेन दानेन’ (वृ० ४।४।२२) इत्यादिदर्शनात् । ननु ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैकत्वानुपपत्तिः । नैप दोषः । ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविपयोर्गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात् । तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षमायौपपत्तः । नन्वनारभ्यो मोक्षः कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते । नैप दोषः । आरादुपकारकत्वात्कर्मणः । ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते । अतएव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम् । नहि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि सम्भवति । अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात् । सगुणसु तु विद्यासु कर्तृत्वानिवृत्तः सम्भवत्यागाम्यप्यग्निहोत्रादि । तस्यापि निरभिसन्धिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासङ्गत्युपपत्तिः ॥ १६ ॥

पुण्य कर्म के भी अश्लेष और विनाशविषयक पापसम्बन्धी न्याय अतिदिष्ट हुआ है (अतिदेश से प्राप्त हुआ है) वह अतिदेश सब पुण्यविषयक है, ऐसी आशंका करके उसका प्रत्याख्यान करते हैं । कि (अग्निहोत्रादि तु) इति । तु शब्द आशंका का निवारण करता है, कि जो वैदिक वेदविहित नित्य कर्म अग्निहोत्रादि हैं, वे उस ज्ञान के कार्य के ही लिये होते हैं, अर्थात् जो ज्ञान का कार्य है, वही कार्य इस अग्निहोत्रादि का भी है, यह अर्थ है । वह जिससे समझा जाता है, तो कहते हैं कि (उस उपनिषद्-गम्य इस आत्मा को वेदाध्ययन, यज्ञ और दान से ब्राह्मणादि जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुति के देखने से उक्तार्थ समझा जाता है । यदि कहा जाय कि ज्ञान और कर्म के विलक्षण (स्वामाविक भेदयुक्त) कार्य के होने से दोनों के कार्य की एकता की अनुपपत्ति है तो कहा जाता है कि यह अनुपपत्तिरूप दोष नहीं है । जिससे ज्वर और मरणरूप कार्य वाले भी दधि और विप को गुण और मन्त्रशोधनादि से संयुक्त होने पर तृप्ति और पुष्टि कार्य देखा जाता है । वैसे ही ज्ञानसंयुक्त कर्म के भी मोक्षरूप कार्य की उपपत्ति होती है । इससे अनुपपत्तिरूप दोष नहीं है । यहाँ तक अभ्युपगमवाद है, आगे सिद्धान्त है । शंका होती है कि मोक्ष अनारभ्य-साधन से अजन्य-नित्य है, ज्ञान से उसकी अमिव्यक्ति मात्र होती है । फिर इस मोक्ष को कर्म के कार्यत्व कैसे कहा जाता है । उत्तर है कि कर्म के मोक्ष में आरात् (दूर) उपकारकत्व से यह दोष नहीं है । जिससे सत्कर्म ज्ञान का ही प्रापक (हेतु) है, परन्तु प्रणाड़ी (परंपरा) से मोक्ष का कारण है, ऐसा उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है । इससे ज्ञान के बाद कर्म के अभाव से ही अतिक्रान्त पूर्वकर्मविषयक यह ज्ञान और कर्म के कार्य की एकता का कथन है, अर्थात् क्रमसमुच्चय है, समसमुच्चय नहीं है, जिससे ब्रह्मवेत्ता को आगामी (ज्ञान के बाद होनेवाले) अग्निहोत्रादि का सम्भव नहीं है । अनियोज्य (विधि का अविषय) ब्रह्मात्मता की प्रतीति से ब्रह्मवेत्ता को शास्त्र के अविषयत्व से अग्निहोत्रादि नहीं हो सकता है । परन्तु सगुण विद्याओं में कर्तृत्व की अनिवृत्ति से आगामी भी अग्नि-

होनादि का सम्भव है । निरमिसधि (फलेच्छारहित) उस कर्म का भी (कार्यान्तर) फलान्तर के अभाव से उस कर्म की विद्या के साथ सङ्गति की उपपत्ति होती है, अर्थात् उससे विद्या उत्पन्न होती है ॥ १६ ॥

किंविषय पुनरिदमश्लेषविनाशवचन किंविषय वाऽदोविनियोगवचनमेकेषा शाखिनाम् 'तस्य पुनः दायमुपयन्ति सुहृद साधुकृत्या द्विपन्तः पापकृत्याम्' इति । अत उत्तर पठति—

शका होती है कि यदि अग्निहोत्रादि ज्ञान के हेतु हैं, तो फिर यह अश्लेष और विनाश-बोधक वचन किस कर्मविषयक हैं, अथवा एक शाखावालो का (उस ज्ञानी के पुत्र दाय-धन पाते हैं, मित्र पुष्प पाते हैं, शत्रु पाप पाते हैं) यह विनियोग (सम्बन्ध) वचन किस कर्मविषयक है । इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या या फलमभिसन्धाय क्रियते तस्या एव विनियोग उक्त एकेषा शाखिनाम् 'सुहृद साधुकृत्यामुपयन्ति' इति । तस्या एव चेदमघवदश्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति । एवजातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्या प्रत्यनुपकारकत्वे सम्प्रतिपत्तिरभयोरपि जैमिनिवादरायणयोरुपाचार्ययोः ॥ १७ ॥

इस अग्निहोत्रादि नित्य कर्म से अन्य भी पुष्प कर्म हैं, जो कि फल की इच्छा से किए जाने हैं, उन्ही का यह विनियोग एक शाखावालो ने कहा है कि (उसके सुहृद उसके पुष्प पाते हैं) इत्यादि । उनका ही यह अश्लेष और विनाश का निरूपण किया गया है कि (इतरस्याप्येवमश्लेष) इति । इस प्रकार के काम्यकर्मों के विद्या के प्रति अनुपकारकत्व के विषय में जैमिनि और बादरायण दोनों ही आचार्यों की सम्मति है तथा अग्निहोत्रादि से अन्य कर्म हैं जिससे एक शाखावाले ज्ञान के हेतु अग्निहोत्रादि से अन्य पुष्प और पाप दोनों का कथन करते हैं, सुहृद और शत्रु से ग्राह्य कहते हैं इत्यादि ॥ १७ ॥

विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् (१३)

किमङ्गोपास्ति स मुक्तमेव विद्योपयोग्यत । केवलं च प्रशस्तत्वात् सोपास्त्येवोपयुज्यते ॥१॥
केवलं बोधव्यद्विधासयुक्तं वीर्यवत्तरम्' । इति श्रुतेस्तारतम्यादुभय ज्ञानसाधनम् ॥२॥

यदेव विद्याया—यह श्रुति विद्यायुक्त कर्म को अधिक बलवत्त मान कहती है । विद्या-रहित की ज्ञानसाधनता को नहीं कहती है, इसमें विद्या-(उपासना)-रहित भी कर्म निष्कामवायुक्त होने पर ज्ञान के साधन होते हैं । नित्य कर्म भी कर्माङ्गाश्रित उपासना-सहित और उपासनाग्रहित दो प्रकार के होते हैं । यहाँ सशय होता है कि क्या अग उपासनासहित ही कर्म विद्या के उपयोगी होते हैं, अथवा उपासनाग्रहित और केवल

(उपासनारहित) दोनों साधारण रूप से विद्या के उपयोगी होते हैं । पूर्वपक्ष है कि विद्यासहित कर्म के प्रशस्त (श्रेष्ठ) होने से वही ज्ञान में उपयुक्त होता है । सिद्धान्त है कि केवल कर्म वीर्यवाला है, और विद्यायुक्त अधिक वीर्यवाला है, इस श्रुति से न्यूनाधिक भाव से दोनों ही ज्ञान के साधन हैं ॥ १-२ ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

सुसमधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्याग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्ष-प्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति । तत्राग्निहोत्रादिकर्माङ्गव्यपाश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति । 'य एवं विद्वान्यजति' 'य एवं विद्वान्जुहोति' 'य एवं विद्वान्छंसति' 'य एवं विद्वानुद्गायति' 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं' (छा० ४।१७।१०) 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति केवलमप्यस्ति । तत्रेदं विचार्यते—किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया सहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणेति । कुतः संशयः ? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिपन्ति' इति यज्ञादीनामविशेषेणात्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात्, विद्यासंयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावगमात् । किं तावत्प्राप्तं ? विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते न विद्याहीनम्, विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनात्, 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्' इत्यादिश्रुतिभ्यः । 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी० २।३९) 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी० २।४९) इत्यादिसमृतिभ्यश्चेति ।

अनन्तर पूर्वगत अधिकरण में यह सुसमधिगत (निश्चित) हुआ है कि मोक्षरूप प्रयोजन का उद्देश करके मुमुक्षु से किया गया नित्य अग्निहोत्रादि कर्म उपाजित संचित पाप के क्षय के हेतुत्व द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि की कारणता को प्राप्त होता हुआ मोक्षरूप प्रयोजनवाला ब्रह्मज्ञान के निमित्तत्त्व से ब्रह्मज्ञान के साथ एक कार्यवाला होता है । वहाँ अग्निहोत्रादिरूप कर्म, अङ्गाश्रितविद्या से संयुक्त और केवल विद्यारहित भी होता है । (जो इस प्रकार जानने वाला यज्ञ करता है, जो ऐसा विद्वान् हवन करता है, जो ऐसा विद्वान् शंसन करता है, जो ऐसा विद्वान् उद्गान करता है, यथोक्त व्याहृति आदि को जानने वाला ब्रह्मा यज्ञादि की रक्षा करता है, इससे ऐसा जानने वाले को ही ब्रह्मा नामक ऋपित्व करे, ऐसा नहीं जाननेवाले को नहीं करे, उस ओंकार अक्षर के द्वारा दोनों कर्म करते हैं, जो इस अक्षर को रसतमादि रूप जानते हैं और जो नहीं जानते हैं) इत्यादि वचनों से विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म सिद्ध होते हैं, और केवल भी सिद्ध होते हैं । यहाँ यह विचार किया जाता है कि क्या विद्यासंयुक्त

ही जग्निहोत्रादि कर्म मुमुक्षु की विद्या के हेतुत्वस्य से विद्या के साथ एककार्यता को प्राप्त होते हैं (एक कार्य को सिद्ध करते हैं) और केवल अग्निहोत्रादि नहीं करते हैं । अथवा विद्यामयुक्त और केवल अवशिष्टरूप में एक कार्यकारी विद्या के साथ होते हैं । यह सत्य जिस हेतु में होता है, मो कहा जाता है कि (उस उपनिषद्-स्य इस आत्मा को यज्ञ में जानने की इच्छा करते हैं) इस प्रकार यज्ञादि के अवशिष्टरूप में आत्मज्ञान के अन्तर्वर्त्तरूप में, श्रवण में और विद्यामयुक्त जग्निहोत्रादि के विशिष्ट (श्रेष्ठता) के श्रवण में सत्य होता है । प्रथम प्राप्त क्या होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि विद्यासयुक्त ही अग्निहोत्रादिरूप कर्म आत्मविद्या के शेषत्व (जगत्) को प्राप्त होता है, विद्यारहित नहीं, क्योंकि विद्यारहित में विद्यायुक्त के विशिष्टत्व अधिस्ता) का ऐसा जानने वाला जिस दिन हवन करता है उसी दिन फिर अपमृत्यु को जीतता है) इत्यादि श्रुतियाँ में ज्ञान होता है । (वह पार्थ ! जिस योगविषयक, बुद्धि से युक्त होकर कर्मरूप बंधन को त्यागता ।) (हे धनञ्जय ! मोक्षवाले समस्तबुद्धि योगात्मक कर्मयोग से कामी से किया गया कर्म बहुत दूर से ही अवर-अग्निनिवृष्ट है) इत्यादि स्मृतियों में भी विद्यायुक्त के विशिष्टत्व का ज्ञान होता है ।

एव प्राप्ते प्रतिपाद्यते—यदेव विद्यमेति हि । सत्यमेतत् । विद्यामयुक्त कर्माग्निहोत्रादिक विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्ट विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद् ब्राह्मणात्, तथापि नात्यन्तमनपेक्ष विद्याविहीन कर्माग्निहोत्रादिकम् । कस्मात् ? 'तमेनमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यविशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुत्वात् । ननु विद्यासयुक्तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्रादात्मविद्याश्रुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम् । नैनदेवम् । विद्यामहाप्रस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन योगादात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम्, ननु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यत्राविशिषेणात्मज्ञानाद्भूत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरेवङ्गत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम् । तथाहि श्रुति — 'यदेव विद्याया करोति श्रद्धयाऽपनिषदा तदेव धीर्यवनरे भवति' (ला० १।१।१०) इति विद्यामयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्योर्वत्तरत्वाभिधानेन स्वकार्यं प्रति कचिदतिशयं बुद्ध्या विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति धीर्यवत्त्वं दर्शयति । कर्मणश्च धीर्यवत्त्वं तद्यन्त्रप्रयोजनमाधनप्रसह्यम् । तस्माद्विद्यासयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राप्ता नोत्पत्तं नृनं यन्त्रधामागम्यं ब्रह्माधिगमप्रतिपत्त्यकारणोपात्तदुस्तिष्ठहेतुत्वद्वारेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धाध्याननात्पर्यायान्तरङ्गतात्प्रापेक्षं ब्रह्मविद्याया महैककार्यं भवतीति न्वयनम् ॥ १८ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादित किया जाता है कि (यदेव विद्यमेति हि) यह सत्य

कहना है कि विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म, विद्यारहित अग्निहोत्रादि कर्म से विशिष्ट हैं, जैसे कि विद्यारहित ब्राह्मण से विद्वान् ब्राह्मण विशिष्ट होता है। तो भी विद्यारहित अग्निहोत्रादि कर्म अत्यन्त अनपेक्ष (ज्ञान और मोक्ष में सर्वथा अनुपयोगी) नहीं हैं। क्योंकि (तमेतम्) इस श्रुति द्वारा अविशेषरूप से अग्निहोत्रादि के विद्याहेतुत्व के श्रवण से विद्यारहित अग्निहोत्रादि के ज्ञानहेतुत्व भी सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि की विद्यारहित से विशिष्टता (श्रेष्ठता) के ज्ञान होने से विद्यारहित अग्निहोत्रादि विद्या के हेतुरूप से अनपेक्ष (अस्वीकार्य) हैं, ऐसा होना युक्त है तो कहा जाता है कि ऐसा युक्त नहीं है। किन्तु विद्यारूप सहायवाला (विद्यायुक्त) अग्निहोत्रादि को विद्यानिमित्तक सामर्थ्य के अतिशय (अधिकता) के साथ योग (सम्बन्ध) से आत्मज्ञान के प्रति कोई कारणत्व का अतिशय (दृढता) होगा और विद्यारहित अग्निहोत्रादि को उस प्रकार के कारणत्व का अतिशय नहीं होगा, इस प्रकार को कल्पना करना युक्त है। परन्तु (यज से जानने की इच्छा करते हैं) इस श्रुति में अविशेष (सामान्य) से आत्मज्ञान के अङ्गरूप से सुने गये अग्निहोत्रादि के विद्या की अनङ्गता का स्वीकार नहीं किया जा सकता है। जिससे इसी प्रकार की श्रुति है कि—(विद्या, श्रद्धा और उपनिषद्—योग से युक्त होकर किसी कर्म को कर्ता है, वही कर्म अतिबल-वाला होता है) यह श्रुति विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि कर्मों के वीर्यवत्त्व (अतिबल-वत्त्व) के कथन से उनके अपने कार्यों के प्रति किसी अतिशय को कहती हुई, विद्यारहित उन्हीं कर्मों के उस प्रयोजन के प्रति वीर्यवत्त्व को दर्शाती है। कर्म का वीर्यवत्त्व वह है कि जो अपने प्रयोजन (फल) के साधनों में प्रसहत्व (समर्थत्व) है। इससे यह स्थित-सिद्ध हुआ कि विद्यासंयुक्त और विद्याविहीन अग्निहोत्रादि दोनों ही नित्य कर्म इस जन्म में वा जन्मान्तर में ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व काल में सामर्थ्य के अनुसार और मोक्षरूप प्रयोजन को उद्देश्य करके जो मुमुक्षुसे किया गया रहता है, वह कर्म ब्रह्मविद्या के प्रति-बन्धके कारण उपाजित पाप के क्षय के हेतुत्व के द्वारा ब्रह्मज्ञान के कारणत्व को प्राप्त होता हुआ श्रवण, मनन, श्रद्धा, ध्यान, तत्परता आदि रूप अन्तरंग कारणा की अपेक्षा-पूर्वक ब्रह्मविद्या के साथ एक कार्य वाला होता है ॥ १८ ॥

इतरक्षपणाधिकरणम् (१४)

बहुजन्मप्रदारव्ययुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक् । विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं नास्ति तेन मुक् ॥
आरब्धं भोजयेदेव नतु विद्यां विलोपयेत् । सुसन्तुद्वदक्लेशतादवस्थ्यात् कुतो न मुक् ॥

पूर्वोक्त अनारब्ध कार्यों से इतर (आरब्ध कार्य वाले) प्रारब्ध कर्मरूप पुण्य और पाप को भोग से ही नष्ट करके विद्वान् ब्रह्म में सम्पन्न लीन होता है, जैसे नदियाँ समुद्र में लीन होती हैं। संशय है कि बहुत जन्म देने वाले प्रारब्धों से युक्त अधिकारियों की मुक्ति नहीं होती है अथवा होता है। पूर्व पक्ष है कि बार-बार जन्ममरणादि से विद्या के लोप होने पर उसके बाद किए गए कर्म फल देने वाले होंगे इससे उनकी मुक्ति नहीं

होगी ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि प्रारब्ध कर्म भोगमात्र के लिए होंगे, जन्मादि द्वारा भोग ही करायेंगे, विद्या का लोप नहीं करेंगे और अनेक बार सोकर जानने पर भी जैसे न विद्या का लोप होता है, न ज्ञानी के कृत कर्म का श्लेष होता है, उसी के समान जन्म-मरणादि होने पर भी भावी कर्म के अश्लेष की तदवस्था (वर्तमानता) में मोक्ष क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा ॥ १-२ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥ १९ ॥

अनारब्धकार्ययो पुण्यपापयोर्विद्यानामर्थ्याक्षय उक्त, इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते 'तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छान्दो० ६।१।४।२) इति 'ब्रह्मेव सन्ब्रह्माप्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः । ननु सत्यपि सम्पददर्शने यथा प्राग्देहपाताद्भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेव पश्चादप्यनुवर्तते । न । निमित्ताभावात् । उपभोगशेषक्षपणं हि तत्रानुवृत्तिनिमित्तं, न च तादृशमत्र किञ्चिदस्ति । नन्वपर कर्माश्रयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते । न । तस्य दग्धवीजत्वात् । मिथ्याज्ञानावच्छेदं हि कर्मान्तरं देहपाते उपभोगान्तरमारभते तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति ॥ १९ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृती शारीरक-

मीमामाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथम पाद ॥ १ ॥

अनारब्ध कार्यवाले पुण्य और पाप का विद्या के सामर्थ्य से नाश कहा जा चुका है, उससे इतर आरब्ध कार्यवाले पुण्य और पाप दोनों को उपभोग में क्षय करके ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होता है । वह (उस ज्ञानी को उत्तरे ही काल तक सतसम्पत्ति में देर है कि जब तक देहपात नहीं हुआ है, देह का पात होने ही वह सतसम्पन्न होता है । जीवित-दशा में ही ब्रह्म ही होता हुआ ज्ञानी शरीरपात होने पर ब्रह्म में लीन होता है) इत्यादि श्रुतियों में उक्तार्थ सिद्ध होता है । यदि कहा जाय कि सम्पददर्शन के रहते भी जन्मे देहपात से पूर्वकाल में दो चन्द्रदर्शन न्याय से भेददर्शन अनुवृत्त (वर्तमान) रहता है, इसी प्रकार पश्चात् देहपात के बाद भी भेददर्शन अनुवृत्त रहेगा । तो कहा जाना है कि देहपात के पश्चात् निमित्त के अभाव से भेददर्शन नहीं अनुवृत्त रहेगा । जिसमें उस ज्ञान के पश्चात्काल में उपभोग-शेष का क्षपण (भोग में नाशन) ही भेददर्शन की अनुवृत्ति का निमित्त है । इस देहपात के उत्तरकाल में उस भेददर्शन की अनुवृत्ति का वैसा कोई निमित्त (कारण) नहीं है । यदि कहा जाय कि अन्य कर्माश्रय अभिनव (नूतन) भोग का फिर आरम्भ करेगा, तो कहा जाता है कि (वनेशमूल कर्माश्रय । सति मूले तद्विपाक) इस योगमूर्तेरिदि के अनुसार अविद्यारूप वनेशात्मक मूलवाया कर्माश्रय होता है, और क्लेशरूप मूल के रहने ही उस कर्माश्रय का विपाक (फल) होता है, इसमें ज्ञानान्ति में उस कर्माश्रय के बीजरूप क्लेशों के

दग्ध (नष्ट) हो जाने से कर्माशय नूतन भोग का आरम्भ नहीं करता है । जिससे मिथ्याज्ञानरूप अवष्टम्भ (अवलम्ब-आधार) वाला कर्मान्तर (प्रारब्ध से भिन्न कर्म) देह के पात होने पर अन्य उपभोग का आरम्भ करता है और ज्ञानी के वह मिथ्या-ज्ञान सम्यग्-ज्ञान से दग्ध हो जाता है । इससे वह साधु (सुन्दर) कथन है कि प्रारब्ध कर्म के उपभोग से क्षय होने पर विद्वान् का कैवल्य (निर्वाण-विदेहमोक्ष) अवश्य होता है ॥ १९ ॥

स्वधर्मपालनाद्धीशमक्त्या चाहारशोधनात् ।

विवेकपूर्वकाभ्यासवैराग्यजनिसम्भवः ॥

वैराग्याभ्यासतो योगी सदा भवति निर्मलः ।

तदा ज्ञात्वा निजात्मनं मुक्तो भवति सर्वथा ॥

चतुर्थ अध्याय में प्रथम पाद समाप्त ।

चतुर्थेऽध्याये द्वितीयः पादः

[अत्र पादे उत्क्रान्तिगतिनिरूपणम्]

वागधिकरणम् (१)

वागादौना स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लय । श्रुतिर्वाङ्मनमोत्पाह स्वरूपे विलयस्तत ॥
न लीयतेऽनुपादाने कार्यवृत्तिस्तु लीयते । वह्निवृत्तेर्जले शातेर्विशब्दो वृत्तिलक्षक ॥१॥

मरण के बाद उपासक की स्वर्गादि में प्राप्ति होती है, वह उत्क्रान्ति बिना नहीं हो सकती, इसमें श्रुति में उत्क्रान्ति (ऊर्ध्वगमनार्थक शरीर में निष्क्रमण) का वर्णन है, वहाँ प्रथम वर्णन है कि वाक्-व्यापार मन में लीन होना है, वाक् तो स्वरूप से रहता ही है, परन्तु उसकी वृत्तिरूप व्यापार बोलना बन्द हो जाता है, यह मरणकाल में प्रत्यक्ष देखने में और श्रुति से समझा जाता है । यहाँ, सम्पद्यते, इस पद का पूर्वमूत्र में सम्बन्ध समझना चाहिए । यहाँ सशय है कि वाक् आदि इन्द्रियो का स्वरूप से मन में विलय होता है, अथवा वृत्ति द्वारा विलय होता है । पूर्वपक्ष है कि श्रुति (वाङ्मनसि) इस प्रकार कहती है, इससे वाक् आदि के स्वरूप का विलय होता है । सिद्धान्त है कि कोई कार्य उपादान से अन्य में स्वरूप से लीन नहीं होता है । परन्तु कार्य की वृत्ति उपादान से अन्य में भी लीन होती है, वह अग्नि की वृत्ति की जल में शान्ति से समझा जाता है । इसमें श्रुति में वाक् शब्द लक्षणा द्वारा वृत्ति का बोधक है, क्योंकि मन वाक् का उपादान नहीं है, इसमें मन के वाक् के स्वरूप का विलय नहीं हो सकता ॥ १-२ ॥

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अथापरामु विद्यामु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवनारयिष्यन्प्रथमं ताव-
द्यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिक्रममन्वाचरे, समाना हि विद्वद्विदुषोरुत्क्रान्तिर्गति-
वक्ष्यति । अस्मि प्रायणविषया श्रुति 'अस्य मोक्ष्य पुरास्य प्रयनो वाङ्मनसि
सम्पद्यते मन प्राणे प्राणस्तेजसि तेज परम्या देवतायाम्' (छा० ६।८।६)
इति । किमिह वाच एव वृत्तिमन्या मनसि मपत्तिरच्यते, उत वायूनरिति
विशय । तत्र वागेन तावन्मनसि सम्पद्यते इति प्राप्तम्, तथाहि श्रुतिरनुगृह्यता
भवति, इतरथा लक्षणा स्यात् । श्रुतिरक्षणाविशये च श्रुतिन्याय्या न लक्षणा ।
तस्माद्वाच एवाय मनसि प्रत्य इति ।

निर्गुण ब्रह्मात्मा के ज्ञान के फलप्राप्त के अनन्तर (बाद में) अपरा (सगुण)
विद्याओं में फल की प्राप्ति के लिए देवयान मार्ग का अवतारण (कथनाश्रम) करने
वाले सूत्रकार प्रथम ही शास्त्र के अनुसार उत्क्रान्ति के क्रम का कथन करते हैं, जिसमें
सगुण के विद्वान् उपासक और अविद्वान् दोनों को तुल्य उत्क्रान्ति होती है, इसमें विद्वान्

उपासक की भी उत्क्रान्ति का कथन करते हैं, और तुल्य उत्क्रान्ति होती है, यह आगे कहेंगे। यहाँ प्रायण (मरण) विषयक श्रुति है कि (हे सोम्य ! प्रयत्-प्रियमाण-मरता हुआ इस पुरुष की वाक् मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज पर-देवता में सम्पन्न (लीन होता है))। यहाँ संशय होता है कि क्या इस श्रुति में वृत्तिवाली वाक् का ही मन में सम्पत्ति विलय कहा जाता है अथवा वाक् की वृत्ति का विलय कहा जाता है। यहाँ प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि वाक् ही मन में सम्पन्न (लीन) होती है। जिससे इसी प्रकार मानने से श्रुति अनुगृहीत होती है, इस प्रकार श्रुति का शक्यार्थ स्वीकृत होता है। इतरथा वृत्ति का लय मानने पर वाक् शब्द की लक्षणा होगी, और श्रुति लक्षणाविषयक संशय होने पर, श्रुति न्याययुक्त होती है, लक्षणा नहीं, इससे वाक् का ही यह मन में प्रलय कहा जाता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यते इति। कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते, यावता वाङ्मनसीत्येवाचार्यः पठति। सत्यमेतत्। पठिष्यति तु परस्तात् 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४।२।१६) इति। तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते। तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परत्रैव विशिष्यादविभाग इति। तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षायां वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्तावस्थितायामित्यर्थः। कस्मात् ? दर्शनात्। दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम्, नतु वाच एव वृत्तिमत्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते। ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यग्नयो युक्त इत्युक्तम्। नेत्याह, अतत्प्रकृतित्वात्। यस्य हि यत् उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य। नच मनसो वागुत्पद्यते इति किंचन प्रमाणमस्ति। वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते। पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तैजसस्याग्नेर्वृत्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति। कथं तर्ह्यस्मिन्पक्षे शब्दो वाङ्मनसि संपद्यते इति, अत आह शब्दाच्चेति। शब्दोऽप्यस्मिन्पक्षेऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि वाक् की वृत्ति मन में लीन होती है, शका होती है कि जब आचार्य (वाङ्मनसि) इस प्रकार पढ़ते हैं, तो वृत्ति का अव्याहार करके (वाक् वृत्ति मन में लीन होती है) ऐसा व्याख्यान कैसे किया जाता है। उत्तर है कि यहाँ वाङ्मनसि, ऐसा पढ़ते हैं, वह सत्य है, परन्तु आगे पढ़ेंगे कि (अविभागो वचनात्) इससे यहाँ वृत्ति के उपशम (निवृत्ति) मात्र विवक्षित है, ऐसा समझा जाता है। यहाँ भी तत्त्व के प्रलय की विवक्षा होने पर तो सर्वत्र ही अविभाग की तुल्यता से आगे ही अविभाग यह विशेषण क्यों देंगे, तत्त्वज्ञों के इन्द्रियों के स्वरूप का प्रलय विशेषरूप से क्यों कहेंगे, यदि यहाँ भी स्वरूप का प्रलय कहते हों, इससे यहाँ ज्ञानी-अज्ञाना के तुल्य मरण के वर्णनकाल में वृत्ति के (उपसंहार की विवक्षा होने पर

मरण काल में मनोवृत्ति के अवस्थित (वर्तमान) रहते ही प्रथम वाक्वृत्ति उपसहृत लीन होती है यह अर्थ है । परन्तु प्रथम वाक्वृत्ति लीन होती है, यह कैसे समझा जाता है । उत्तर है कि देखने से समझा जाता है । जिससे मनोवृत्ति के रहते वाक्वृत्ति का उपसहार देखा जाता है । किन्तु वृत्तिवाली वाक् ही मन में उपसहार किसी से भी देखा नहीं जा सकता है, जिसमें वह अतीन्द्रिय है । यदि कहो कि श्रुति के सामर्थ्य में वाक् का ही यह मन में विलय युक्त है, यह कहा जा चुका है, तो कहते हैं कि मन में वाक् के प्रवृत्तित्व के अभाव से मन में वाक् का लय होना युक्त नहीं है जिससे मृत्तिका में शराव का विलय के समान, जिसकी जिसमें उत्पत्ति होती है, उसका उसी प्रवृत्ति (उपादान) में प्रलय होना न्याययुक्त है । वाक् मन से उत्पन्न होती है, इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं । वृत्ति के उद्भव और अभिमव (अभिव्यक्ति और तिरोभाव) तो प्रवृत्ति से अन्याश्रित भी देखे जाते हैं । जिससे पार्थिव (पृथिवी के विकार) ईन्धनों से तैजस अग्नि की वृत्ति का उद्भव होता है और जल में वह वृत्ति उपशान्त (निवृत्त) होनी है । परन्तु ऐसा होने पर इस पक्ष में (वाक् मन में सम्पन्न होता है) यह शब्द (श्रुति) कैसे युक्त होगा, इससे कहते हैं कि (शब्दाच्च) वृत्ति और वृत्तिवाले में अभेद के उपचार से शब्द भी इस पक्ष में युक्त सिद्ध होता है यह अर्थ है, अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग है ॥ १ ॥

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

'तस्मादुपशान्ततेजा पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमाने' (प्रश्न० ३।९) इत्यादिविशेषण सर्वेषामेवेन्द्रियाणां मनसि सम्पत्तिं श्रूयते । तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृत्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तत्त्वप्रलया-मम्भवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते । सर्वेषां करणानां मनस्युपमहाराविशेषे सति वाचं पृथग्रहणं वाङ्मनसि सम्पद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन ॥ २ ॥

जिससे शरीर में बाहर प्रसिद्ध तेज उष्णता उदानरूप है, इससे उसके बाद शान्त तेज वाला मरणकाल में होता है, और उसके बाद मन में सम्पन्न इन्द्रियों के सहित फिर जन्मान्तर को जीव प्राप्त करता है । इस श्रुति में तुल्य रूप से सब इन्द्रियों की मन में सम्पत्ति (प्राप्ति) सुनी जाती है । वही भी अतएव (इसी से) अर्थात् वाक् के समान चक्षु आदि की भी वृत्तिसहित अवस्थित मन में वृत्तिलोप के दर्शन से तत्त्व (स्वरूप) प्रलय के असम्भवे से और शब्द की उपपत्ति से सब इन्द्रियाँ वृत्ति द्वारा ही मन का अनुसरण करती हैं, मन में लीन होती हैं । इस रीति से सब इन्द्रियों का मन में उपसहार (वृत्तिलय) के तुल्य होने भी वाक् का पृथक् ग्रहण (वाङ्मनसि सम्पद्यते) इस श्रुतिरूप उदाहरण के अनुसार से किया गया है । वाक् के बाद सब इन्द्रियाँ मन में सम्पन्न होती हैं, यह उक्त दर्शन और शब्द से सिद्ध होता है । इस प्रकार स्पष्ट अक्षरार्थ प्रतीत होता है ॥ २ ॥

मनोधिरकरणम् (२)

मनः प्राणे स्वयं वृत्त्या वा लीयेत स्वयं ततः । कारणाभेदकद्वारा प्राणो हेतुमनः प्रति ॥ साक्षात्स्वहेतौ लीयेत कार्यं प्राणादिके न तु । गौणः प्राणादिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः ॥

(मनः प्राणे) इस उत्तर के वचन से वह इन्द्रियों के लय का आधाररूप मन वृत्ति के लय द्वारा ही प्राण में लीन होता है । मन प्राण में स्वयं स्वरूप में लीन होता है, अथवा वृत्ति द्वारा लीन होता है । पूर्वपक्ष है कि (अन्नमयं हि सोम्य मनः । आपोमयः प्राणः) इस श्रुति के अनुसार अन्न (पृथिवी) मन का कारण है, जल प्राण का कारण है और कार्य-कारण में अभेददृष्टि से मन अन्नरूप है, प्राण जलरूप है और अन्न का जल उपादान है; तो जिससे कारणरूप अन्न और जल के द्वारा प्राण मन के प्रति हेतु है, इससे मन स्वरूप से प्राण में लीन होगा । सिद्धान्त है कि कोई कार्य साक्षात् अपने उपादान-हेतु में लीन होगा, परम्परा से हेतु प्राणादि में नहीं लीन होगा । परम्परा से हेतुरूप प्राण गौण हेतु है, इससे प्राण में अन्तःकरण की वृत्ति का ही विलय होता है ॥ १-२ ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

समधिगतमेतत् 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' (छा० ६।१।६) इत्यत्र वृत्तिसम्पत्तिविवक्षेति । अथ यदुत्तरं वाक्यम् 'मनः प्राणे' (छा० ६।८।६) इति किमत्रापि वृत्तिसम्पत्तिरेव विवक्षिता उत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम्, श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृतित्वोपपत्तेश्च । तथाहि—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६।१।४) इत्यत्र योनिं मन आमनन्त्यव्योनिं च प्राणम् 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः । अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तदप्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति ।

यह अच्छी तरह से समझा गया कि (वाक् मन में सम्पन्न होता है) यहाँ पर वृत्ति की सम्पत्ति (विलय) विवक्षित है । उसके बाद जो आगे का वाक्य है कि (मन प्राण में सम्पन्न होता है) इति । क्या यहाँ भी वृत्ति की सम्पत्ति ही विवक्षित है, अथवा वृत्तिवाला की सम्पत्ति विवक्षित है, ऐसा संशय होने पर, श्रुति के अनुग्रह (अनुकूलता) से और प्राण को मन के प्रकृतित्व की उपपत्ति से यहाँ वृत्तिवाले की ही सम्पत्ति होती है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होता है । वह इस प्रकार प्राप्त है कि (हे सोम्य ! मन अन्न का विकार-कार्य है । प्राण जल का विकार है) इस प्रकार अन्नरूप योनि (उपादान) वाला मन को कहते हैं और जलरूप योनि वाला प्राण को कहते हैं । (जल ने अन्न को उत्पन्न किया) ऐसी श्रुति है, इससे जो मन प्राण में प्रलीन होता है, वह अन्न ही जल में प्रलीन होता है, जिससे अन्न ही मन है और जल ही प्राण है । प्रकृति और विकार के अभेद से ऐसा सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदप्यागृहीतवाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयते इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम् । तथाहि सुषुप्तोर्मुर्षोश्च प्राणवृत्तौ परि-

पुनरात्मिकायामवस्थिताया मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते । न च मनस स्वरूपाप्यय प्राणे सभवति अनल्पकृतित्वात् । ननु दर्शित मनस प्राणप्रकृतित्वम् । नैतत्कारम् । नहीदशेन प्राणादिकेन तत्प्रकृतित्वेन मन प्राणे सम्पत्तुमर्हति । एवमपि ह्यत्रे मन सम्पद्येताप्यु चाक्षमप्येव च प्राण । तद्येनस्मिन्नपि यत्र प्राणभावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायते इति किञ्चन प्रमाणमस्ति, तस्मान्न मनस प्राणे स्वरूपाप्यय । वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमनोरभेदोपचारादिति दर्शितम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि जिस मन ने बाह्य-इन्द्रिय-वृत्तियों को आगृहीत किया है। अर्थात् जिसमें बाह्य-इन्द्रिय वृत्तियों का विलय हो चुका है। वह मन भी वृत्ति द्वारा ही प्राण में प्रतीत होता है। इस प्रकार उत्तरवर्ती वाक्य में समझना चाहिये। जिसमें इसी प्रकार सुषुप्ति और सुषुप्त अर्थात् सोने की इच्छा वाले और मरणसाधन की परिस्पन्दात्मक-चलनात्मक प्राणवृत्तियों के वर्तमान रहते ही मन की वृत्तियों का उपशमन-लय देखा जाता है। अतत्प्रवृत्तित्व—ये प्राणरूप प्रवृत्ति वाला नहीं होने में मन के स्वरूप का विलय प्राण में सम्भव नहीं है। यदि कहो कि मन की अन्न-रूपता और प्राण की जलरूपता से मन के प्राणप्रवृत्तित्व (प्राणकार्यत्व) प्रदर्शित कराया जा चुका है, तो कहा जाता है कि यह प्रदर्शन सार (सत्य) नहीं है। जिसमें इस प्रकार के प्राणादिक (परम्परा में सिद्ध) तत्प्रवृत्तित्व (प्राणकार्यत्व) से मन प्राण में सम्पत्ति (लय) के योग्य नहीं हो सकता है। जिसमें ऐसा होने पर भी अन्न में मन सम्पन्न होगा, जल में अन्न सम्पन्न होगा और जल ही में प्राण भी सम्पन्न होगा। इस पक्ष में भी प्राणरूप से परिणत जल से मन उत्पन्न होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, इसमें प्राण में मन के स्वरूप का विलय नहीं होता है। वृत्ति के विलय होने पर भी तो वृत्ति और वृत्तिवाले में अभेद के उपचार (गोप्य व्यवहार) से शब्द (श्रुति) युक्त सिद्ध होता है। यह दर्शन कराया जा चुका है ॥ ३ ॥

अध्यक्षाधिकरणम् (३)

अमोभूतेषु जीवे वा ल्यो भूतेषु तच्छब्दे । 'स प्राणस्तेजसी'त्याह ननु जीव इति वद्विन् ॥१॥
एवमेवेनमाप्तान प्राणायन्तीति च श्रुते । जीवे लीत्या सहेतेन पुनर्भूतेषु लीयते ॥२॥

सब इन्द्रियों के सहित मन के लय का आधार वह प्राण अर्थात् प्राण जीवान्मा में सम्पन्न होता है, वह जीवात्मा के प्रति प्राणा के उपगम (पास गमन), अनुगमन और अवस्थान- (स्थिति) रूप हेतुओं से ज्ञात होता है (एवमवेममात्मान सर्वे प्राणा अभि-समायन्ति । बृ० ४।१।३८ । तमुन्नामत प्राणोऽनुत्तमति । बृ० ४।४।२ । सविज्ञाना नवति । ४।४।२) ये श्रुतियाँ उपगमादि के बोधक हैं । वही सद्य है कि प्राण का भूतों में लय होता है, अथवा जीव में लय होता है । पूर्वपक्ष है कि भूतों में लय होता है यह श्रुति से सिद्ध होता है, जिसमें सप्राण सेज में लीन होता है इस प्रकार धृति कहती है, परन्तु जीव में लीन होता है, इस प्रकार कही नहीं कहती है । सिद्धान्त है कि इसी

प्रकार जीवात्मा के प्रति सब प्राण गमन करते हैं कि जैसे कही जाने की इच्छा वाले राजा के प्रति नृत आ गमन करते हैं। इस श्रुति से जीव में लीन होकर इस जीव के साथ फिर भूतों में लीन होते हैं ॥ १-२ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

स्थितमेतद्यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति । इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः किंवा देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीवे इति । तत्र श्रुतिरनतिगच्छत्यत्वात् प्राणस्य तेजस्येव सम्पत्तिः स्यादश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति ।

यह स्थित हुआ कि जिसकी जिससे उत्पत्ति नहीं होती है उसमें उसकी वृत्ति का लय होता है, स्वरूप का लय उस में नहीं होता है । अब इस समय (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में यह विचार किया जाता है कि क्या श्रुति के अनुसार प्राण का तेज में ही वृत्तिविलय होता है, अथवा देह इन्द्रियरूप पञ्जर (पिञ्जर) के अध्यक्ष (स्वामी) जीव में वृत्तिविलय होता है । यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि श्रुति को अतिशंका (अतिक्रमण) के योग्य नहीं होने से तथा अश्रुत अर्थ की कल्पना की अयुक्तता से प्राण की तेज में ही सम्पत्ति (विलय) होती है ।

एवं प्राप्त प्रतिपाद्यते सोऽध्यक्ष इति । स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्म-पूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवनिष्ठते । तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः । एवमेवेमनात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति 'यन्नत-दूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगमिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्शयति । विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (वृ० ४।४।२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगमितां दर्शयति, तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनू-त्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (वृ० ४।४।२) इति । 'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरणग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति । ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते कथं प्राणोऽध्यक्षे इत्यधिका-वापः क्रियते । नैप दोषः । अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य श्रुत्यन्त-रगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥ ४ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि (सोऽध्यक्षे) इति । वह प्रकृत-प्राण, अविद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा- (वासना)-रूप उपाधिवाले विज्ञानात्मा- (जीवात्मा)-रूप अध्यक्ष में अवस्थित होता है । अर्थात् उस अध्यक्षरूप प्रधानवाली प्राण की वृत्ति होती है, यह अर्थ है । यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उस अध्यक्ष के प्रति प्राणों के उदगमादि (उपगमनादि) से समझा जाता है । उपगमन, अनुगमन और अवस्थान-विषयक श्रुतियों से यह जान होता है कि अध्यक्ष में प्राण अवस्थित होते हैं । जिससे (जैसे यात्रा की इच्छावाला राजा के मृतादि सेवक पास में आते हैं, इसी प्रकार अन्तकाल में जब यह ऊर्ध्वश्वासवाला होता है तब सब प्राण इस

जीवात्मा के अमिमुख आते हैं) यह अन्य श्रुति अध्यक्ष के पास में गमन करने वाले सब प्राणों को अवशेषरूप से दर्शाती है । (उस उत्त्रमण-परलोकगमन करता हुआ जीवात्मा के पीछे प्राण उत्त्रमण करता है) यह श्रुति विशेषरूप से पाँच वृत्ति वाले मुख्य प्राण की अध्यक्ष के अनुगामिता (पश्चात् गति) को दर्शाती है । (विज्ञानात्मा के पीछे गमन करते हुए प्राण के पीछे अन्य सब प्राण, सब इन्द्रियाँ, उत्त्रमण (गमन करते हैं) यह श्रुति उस मुख्य प्राण को अनुवर्तिता (अनुगामिता) अन्य प्राणों को दर्शाती है कि अन्य प्राण मुख्य प्राण के अनुगामी होंगे हैं । (वह जीवात्मा विज्ञानसहित रहता है) यह श्रुति अध्यक्ष विज्ञानात्मा के अन्तर्विज्ञानत्व के प्रदर्शन द्वारा जिसमें इन्द्रिय-समूह लीन हुआ है, उस प्राण का उस जीवात्मा में अवस्थान (स्थिति) को समझाती है । यदि कहा जाय कि (प्राण तेज में लीन होता है) यह सुना जाता है । फिर (प्राण अध्यक्ष में लीन होता है) यह अधिक का संग्रह कैसे किया जाता है । तो कहा जाता है कि उत्त्रमणादि व्यवहार के अध्यक्ष प्रधानत्व (अध्यक्षरूप प्रधानवाला) होने से, और श्रुत्यन्तरगत विशेष (अधिकांश) के भी अपेक्षणीयत्व (स्वीकार्ययोग्य) होने से यह अधिक का संग्रह दोषरूप नहीं है । अर्थात् जीवात्मा के बिना प्राणा की उत्त्रान्ति नहीं हो सकती और अन्य श्रुति में जीवात्मा के प्रति प्राणा के अनुगमनादि का वर्णन है, इससे गुणोपसंहार न्याय से (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में भी मध्य में अध्यक्ष का संग्रह अन्यतः युक्त है ॥ ४ ॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

‘म’ प्राणमपृक्तोऽध्यक्षस्तेज सहचरितेषु भूतेषु देहभोजभूतेषु सूक्ष्मेध्व-
वतिष्ठन इत्यवगन्तव्यम् ‘प्राणस्तेजसी’ति श्रुते । ननु चेय श्रुति प्राणस्य
तेजसि स्थितिं दर्शयति न प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य । नैष दोषः ।
भोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तरालेष्वप्युपसंख्यातत्वात् । योऽपि हि स्रुघ्नान्मयुरा
गत्वा मयुराया पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते
वदितुम् । तस्मात्प्राणस्तेजसीति प्राणमपृक्तस्याध्यक्षस्यैवेतत्तेजः सहचरितेषु
भूतेष्ववस्थानम् ॥ ५ ॥

तो प्राण तेज में लीन होता है, यह अव्यवधानपूर्वक तेज में प्राण का लय विषय श्रुति कैसे युक्त होगी, ऐसी आशंका हाने पर कहते हैं—भूतेषु इति ।

(प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में ऐसा समझना चाहिये कि प्राणसंयुक्त वह अध्यक्ष, तेजसहित देह के बीजस्वरूप सूक्ष्म भूतों में अवस्थित होता है । शका होती है कि (प्राणस्तेजसि) यह श्रुति प्राण की तेज में स्थिति को दर्शाती है, प्राणसंयुक्त अध्यक्ष की भूतों में स्थिति को तो नहीं दर्शाती है, फिर भूतों में स्थिति कैसे समझी जाय ? उत्तर है कि (साध्यम्) इस श्रुति में उदाहृत श्रुतियों के बल में अध्यक्ष का भी प्राण

और तेज के अन्तराल (मध्य) आख्यातत्व (कथितत्व) है, इससे यह दोष नहीं प्राणसंयुक्त अध्यक्ष का भूतों में स्थिति समझा जा सकता है। श्रुतिगत तेज शब्द-भूत सूक्ष्ममात्र का उपलक्षक है। जैसे जो कोई स्रुघ्न से मथुरा जाकर और मथुरा से पटना जाता है, वह भी स्रुघ्न से पटना जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है, वैसे ही प्राण भी मध्य में जीव को प्राप्त होकर फिर तेज में सम्पन्न होने पर भी (प्राणस्तेजसि) यह कहा जा सकता है, इससे (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति से प्राणसंयुक्त अध्यक्ष का ही यह तेजसहित भूतों में अवस्थान कहा जाता है ॥ ५ ॥

कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते, यावतैकमेव तेजः श्रूयते प्राणस्तेजसीति, अत आह—

शंका होती है कि तेजसहित भूतों में अवस्थान कैसे कहा जाता है, जबकि (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में एक तेज ही सुना जाता है। इससे उत्तर कहते हैं कि—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते कार्यस्य शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात् । दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५।३।३) इति । तद्व्याख्यातम् 'आत्मकत्वात् भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।१।२) इत्यत्र । श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः । श्रुतिः 'पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या । स्मृतिरपि—

शरीरान्तर की प्राप्ति की इच्छा के समय एक तेज ही में जीव नहीं अवस्थित होता है, वह कार्यरूप शरीर के अनेकात्मकत्व (सर्वभूतमयत्व) के दर्शन से समझा जाता है। (आपः पुरुषवचसो भवन्ति) जल पुरुष-शब्द का वाच्यार्थ हो जाता। यहाँ के प्रश्न और प्रतिवचन इस अर्थ को दर्शाते हैं। (आत्मकत्वात् भूयस्त्वात्) इस सूत्र में वह शरीर के अनेकात्मकत्व व्याख्यात (कथित) हो चुका है। श्रुति-स्मृति भी इस अर्थ को दर्शाती हैं। यहाँ (पृथिवीमये आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः) इत्यादि श्रुति है, कि पृथिवी आदि का विकार देह और (मोक्षपर्यन्त अविनाशी जो दशार्ध-पाँच भूतों के अणु, सूक्ष्म तन्मात्राएँ हैं, उनके साथ यह सब जगत् क्रम से उत्पन्न होता है) इत्यादि स्मृति है।

अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्थानां तु याः स्मृताः ।

ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ (मनु०) इत्याद्या ॥

ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां 'कायं तदा पुरुषो भवति' (वृ० ३।२।१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति— 'तौ ह यद्वचतुः कर्म हैव तद्वचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः' (वृ० ३।२।१३) इति । तत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्राहिनिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रिय-विषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता, इह पुनर्भूतोपादानादेहा-

न्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम् । प्रशसाद्यद्वादपि तत्र प्राधान्यमात्र कर्मण
प्रदर्शितं न त्वाश्रयान्तरं निवारितम् । तस्मादविरोधः ॥ ६ ॥

यहाँ यका होता है कि शरीरान्तर की प्राप्ति की इच्छाकाल में वाक् आदि
इन्द्रियों के उपमहृत (आत्मा में लीन) होने पर (उस समय यह जीवात्मा रूप पुरुष
किस के आश्रित रहता है) इस प्रकार आतंमाग के प्रश्न से आरम्भ करके अन्य श्रुति
जीव की कर्माश्रयता का निरूपण करती है कि (उन आतंमाग और यागवन्क्य दोनों
ने विचार कर जो कुछ जीव का आश्रय कहा वह कर्म ही कहा, जो कुछ प्रशसा किया
वह कर्म का ही प्रशसा किया) इति । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि उन श्रुति में कर्म-
प्रयुक्त (कर्मजन्य) ग्रहातिग्रह (इन्द्रिय विषय) सन्नक, इन्द्रिय-विषय-स्वरूप ग्रन्थ की
प्रवृत्ति (मिथि) होती है, इसमें प्रयोजकरूप में कर्माश्रयता बड़ी गई है और यहाँ
भूतस्म उपादान में देशान्तर की उत्पत्ति होती है, इसमें उपादानस्वरूप में भूता या
आश्रयत्व कहा गया है । प्रशसा शब्द में भी कर्म के प्रधानतामात्र को प्रदर्शित
कराया गया है, आश्रयान्तर का निवारण नहीं किया गया है, इससे विरोध
नहीं है ॥ ६ ॥

आसृत्युपक्रमाधिकरणम् (४)

ज्ञान्यज्ञोत्त्रान्तरसमा समा वा नहि सा समा । मोक्षससारूपस्य फलस्य विषमत्वात् ॥
आसृत्युपक्रमे जन्म वर्तमानमत समा । पश्चात्तु कल्पवैषम्यादममोत्त्रान्तिरेतयो ॥

गति (गति) का उपक्रमपर्यन्त उसमें प्रथम वागादि का मन आदि में लयस्वरूप
उत्त्रान्ति अन और उपासक की तुल्य ही होती है, पदचान् मार्ग के भेद में गति का
भेद होता है । अत्रिशा का दाह के बिना उपासक का अमृतत्व (मोक्ष) होता है,
अर्थात् ओर्गनिक माद होना है, इससे उस में गति होती है, वास्तविक मोक्ष में तो गति
नहीं होती है । (उप-दाहे) इस घातु के अनुसार यह अर्थ है । (वस निवामे) के अनुसार
अर्थ होगा कि उपासकादि (वासनात्यागादि) किये बिना यह आपेक्षिक मुक्ति है इत्यादि ।
सदाय है कि उपासक-अनुपासक की उत्त्रान्ति असम होती है, अथवा सम होती है ।
पूर्वपक्ष है कि मोक्ष (प्रज्ञाशोक) और ससाररूप फल की विषमता में वह उत्त्रान्ति
सम नहीं है । सिद्धान्त है कि प्रज्ञाशो में प्रवेश और इतर नाडी में प्रवेशरूप गति का
आरम्भ में प्रथम वर्तमान ही जन्म रहता है इसमें वही तक तुल्य गति होती है, उसके
बाद तो फल की विषमता में इन दोनों की असम उत्त्रान्ति होती है ॥ १-२ ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्व चानुपोष्य ॥ ७ ॥

संयमुत्क्रान्ति किं विद्वद्विदुषो समाना किंवा विशेषवर्तीति विनयानाना
विशेषवतीति तावत्प्राप्तम् । भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा । पुनर्भवाय च भूतान्या-
धीयन्ते । नच त्रिदुष पुनर्भव नभवति । 'अमृतत्व हि विद्वाननुने' इति
श्रुति । तस्माद्विदुष एतेषोत्क्रान्ति ननु विद्याप्रकरणे समानाद्विदुष एवैषा

भवेत् । न । स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात् । तथाहि 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम' 'अशिशिपति नाम' 'पिपासति नाम' (छा० ६।८।१, ३५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते, विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन, नतु विदुषो विशेषवन्तो विधीयन्ते, एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः संपद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम् । प्रतिपिद्धा चैवा विदुषः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (वृ० ३।४।६) इति । तस्मादविदुष एवैपेति ।

यह पूर्ववर्णित उत्क्रान्ति क्या विद्वान् (उपासक) और अविद्वान् की तुल्य होती है, अथवा विशेषवाली (भेदवाली) होती है । इस प्रकार विशयानों (संशयवालों) को विशेषवाली होती है । इस प्रकार प्रथम प्रास (प्रतीत) होती है । जिससे यह उत्क्रान्ति । भूतरूप आश्रय युक्त होता है, और पुनर्जन्म के लिये भूतों का उत्क्रान्ति काल में आश्रयण किया जाता है । विद्वान् के पुनर्जन्म का सम्भव नहीं है । (विद्वान् अमृतत्व ही प्राप्त करता है) यह श्रुति है, जिससे अविद्वान् की ही यह उत्क्रान्ति होती है, यदि कहा जाय कि विद्या के प्रकरण में उत्क्रान्ति के कथन से विद्वान् की ही यह उत्क्रान्ति होगी, तो कहा जाता है कि स्वापादि के समान यथाप्राप्त (स्वभावसिद्ध) उत्क्रान्ति का अनुकीर्तन से यह विद्वान् की उत्क्रान्ति नहीं है । जिससे स्वापादि का इस प्रकार कीर्तन है कि (जिस काल में पुरुष का स्वापति यह नाम होता है, जिस काल में अशिशिपति—खाने की इच्छा करता है—इस नाम वाला होता है, जिस काल में पिपासति—पीने की इच्छा करता है, इस नामवाला होता है) ये सर्वप्राणी में साधारण रूप से रहने ही वाले स्वापादि, विद्या के प्रकरण में भी प्रतिपादन की इच्छा विषयवस्तु के प्रतिपादन में अनुकूलता से अनुकीर्तित (वर्णित) होते हैं । विशेषवाले विद्वान् के स्वापादि विहित नहीं होते हैं । इसी प्रकार जिस पर देवता में प्रयत (प्रयाणवाले) पुरुष का तेज सम्पन्न (लीन) होता है वह आत्मा है, और वह तुम हो, इस अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए महाजन (जनसमूह) में गत ही यह उत्क्रान्ति भी अनुकीर्तित होती है, कही जाती है । विद्वान् की यह उत्क्रान्ति प्रतिपिद्ध है कि उस विद्वान् के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, जिससे यह उत्क्रान्ति अविद्वान् की ही होती है ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैपोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या, विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति, अविशेषश्रवणात् । अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवितुं संसरति, विद्वान्स्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते, तदेतदासृत्युपक्रमादित्युक्तम् । नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यं नच तद्देशान्तरायत्तं तत्र कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति । अत्रोच्यते—अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमविद्यादीन्क्लेशानपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते, संभवति तत्र सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं च । नहि निराश्रयाणां प्राणानां गतिरुपपद्यते । तस्माददोषः ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (वाट्मनसि सम्पद्यते) इत्यादि श्रुतियों से वर्णित उत्त्रान्ति विद्वान् और अविद्वान् की गतिविशेषपर्यन्त अविशेष-श्रवण से समान (तुल्य) होने योग्य है । देह के बीजस्वरूप भूतों के सूक्ष्म भागों का आश्रयण करके कर्मयुक्त अविद्वान् देहग्रहण का अनुभव करने के लिए ससार में गमन करता है । और विद्वान् तो ज्ञान से प्रकाशित मोक्षनाडी के द्वार का आश्रयण करना है । यह रहस्य सूत्रगत (आभृत्युपक्रमान्) इस पद में कहा गया है । सका होती है कि विद्वान् को तो अमृतत्व ही प्राप्त कर्तव्य है, वह अमृतत्व देहान्तर के अधीन नहीं है, तो उस अमृतत्व में भूताश्रयत्व वा मृति (मार्गगमन) का उपक्रम कैसे हो सकता है । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि, उपासकरूप ज्ञानी अविद्यादि को निर्गुण आत्मज्ञान से न जला कर इस मृति (मार्ग) का उपक्रम करता है । अर्थात् अविद्या यदि कठेरा को अत्यन्त दग्ध नहीं करके अपर (सगुण) विद्या के सामर्थ्य से आश्रित अमृतत्व को प्राप्त करना चाहता है । उस अवस्था में मार्ग का उपक्रम और भूताश्रयत्व का सम्भव होता है, जिसमें निराश्रय प्राण को गति नहीं हो सकती है, जिससे भूताश्रयत्वादि होने पर भी आपेक्षिक मोक्ष में दोष का अभाव है ॥ ७ ॥

ससारव्यपदेशाधिकरणम् (५)

स्वरूपेणाय वृत्त्या वा भूताना विलय परे । स्वरूपेण लयो मुक्त स्वोपादाने परान्मनि ॥
आत्मज्ञस्य तयात्वेपि घृत्त्यैवाव्यस्य तत्तलय । न चेत् कस्यापि जीवस्य न स्याज्जन्मान्तर क्वचिन् ॥

वह तेज आदि का सूक्ष्म भाग वागादिसहित जीव का आश्रयरूप सूक्ष्म शरीर (ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति) इस श्रुतिवर्धित ब्रह्म में अभ्यस्य—लयरूप आत्मनिक प्रलय मोक्षपर्यन्त रहता है, क्योंकि मोक्षपर्यन्त ससार का कथन श्रुति में है ।

संशय है कि (तेज परम्या देवतायाम्) इस श्रुति के अनुसार भूतों का परदेव में विलय स्वरूप में होता है, अथवा वृत्ति द्वारा होता है । पूर्वपक्ष है कि भूतों का अपने उपादानरूप परमादमा में स्वरूप में लय होना युक्त है । सिद्धान्त है कि आत्मज्ञानी के सूक्ष्मशरीररूप भूतों का उस प्रकार स्वप्न से अपने उपादान में विरज्य होने पर भी अन्य प्राणों के सूक्ष्म देह रूप भूतों का वृत्ति द्वारा ही भग्ने पर विलय होता है । यदि ऐसा नहीं हो, सब के भूतों का स्वरूप विरज्य हो तो किसी भी जीव का कहीं जन्मान्तर नहीं होगा, ज्ञान के बिना ही सब मुक्त हो जायेंगे इत्यादि ॥ १-२ ॥

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

'तेज परम्या देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इत्यत्र प्रकरणनामव्याप्तिरना-
प्रकृत तेज साध्यदा सप्राण सकरणग्राम भूतान्तरमस्ति प्रयत्न पुन परम्या
देवताया भष्यते इत्येनदुक्त भवति । कौटुशी पुनरिय भषति स्यादिति
चिन्त्यते । तत्रान्यन्त्रि एव तावन्स्वरूपप्रविश्य इति प्राप्तम्, नव्यवृत्तिव्यो-
पपत्ते । सर्वस्य हि जनिमनो वस्तुजानस्य प्रवृत्ति परा देशेति प्रणिष्टापिनम् ।
तस्मादित्यन्त्रितीयमविभागापत्तिरिति ।

(तेज परदेवता में लीन होता है) इस श्रुति में प्रकरण के सामर्थ्य से प्रयाण करने वाले पुरुष के प्रकृत के अनुसार, अद्यक्षसहित, प्राणसहित, कारणसमूहसहित और अन्य भूतों के सहित तेज परदेवता में सम्पन्न (लीन) होता है, यह कहा गया है। किन्तु यह सम्पत्ति कैसी होगी, यह विचार किया जाता है। वहाँ उस परदेवता के उन भूतों की प्रकृति (उपादानता) की उपपत्ति से आत्यन्तिक ही भूतों के स्वरूप का विलय होता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्रथम प्राप्त होता है जिससे सभी जन्म वाले वस्तु-समूह की प्रकृति परदेवता है, यह प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित) किया जा चुका है। जिससे यह अत्यन्त स्वरूप से होने वाली अविभाग (लय) की प्राप्ति होती है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेज आदि भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाप्तीतरा-
संसारमोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ (क० ५।७)

इत्यादिसंसारव्यपदेशात्। अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्य-
स्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्यत, तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च।
मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्त्रंसितुमर्हति। तस्मात्तत्प्रकृ-
तित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्वीजभावविशेषैर्वैपा सत्संपत्तिरिति ॥ ८ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि श्रोत्रादिरूप करणों (इन्द्रियों) के आश्रयरूप, वे भूतों के सूक्ष्म-स्वरूप तेज आदि, सम्यक् ज्ञाननिमित्तक अपीति (प्रलय) पर्यन्त, संसार से विमुक्ति के पूर्वकाल तक अवस्थित (वर्तमान) रहते हैं। अतः (अन्य—कोई अविद्यावाले देही जीव शरीर के ग्रहण के लिए योनिरूप द्वार को प्राप्त करते हैं, और उनसे अन्य अत्यन्त अधम कोई स्थाणु—वृक्षादि स्थावररूपता को प्राप्त होते हैं। वे सब कृत कर्म और उपाजित ज्ञान के अनुसार हो अदृष्ट और वासना से योनि और स्थाणु में प्राप्त होते हैं) इत्यादि संसार के व्यपदेश से सिद्ध होता है, जिससे अन्यथा-स्वरूप से भूतों का विलय होने पर प्रयाण (मरण) काल में ही उपाधियाँ के प्रत्यस्तमय (विलय) होने से सब प्राणी अत्यन्त ब्रह्म में सम्पन्न लीन मुक्त होंगे। इस अवस्था में विधिशास्त्र अनर्थक होगा, और विद्याशास्त्र अनर्थक होगा और मिथ्या-ज्ञान-निमित्तक बन्ध (संसार) सम्यक् ज्ञान के बिना विनाश के योग्य नहीं है जिससे उस परदेवता-रूप प्रकृतिवाले भूतों के होने पर भी सुषुप्तिकालिक प्रलय के समान बीजभाव के अवशेषवाली ही यह सत्संपत्ति (ब्रह्म में लय) होती है ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः
प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति। तथाहि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य

सौधम्यमुपलभ्यते । तत्र तनुत्वात्मचारोपपत्तिः, स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः । अतएव च देहाग्निर्गच्छन्पाश्चस्यैर्नोपलभ्यते ॥ ९ ॥

इस शरीर से प्रवास (गमन) करने वाला जीव का आश्रयस्वरूप अन्य भूतों के सहित वह तेज (लिङ्ग शरीर) स्वरूप से और प्रमाण से सूक्ष्म होने योग्य है । अर्थात् उसको अत्यन्त सूक्ष्म समझना चाहिए, जिससे अत्यन्त सूक्ष्म नाडियो द्वारा इसके निष्क्रमण के (गमन के) श्रवणादि से इसके इस प्रकार की सूक्ष्मता उपलब्ध होती है । तनुता (सूक्ष्मता) से ही उन सूक्ष्म नाडियो में मचार (गमन) की सिद्धि होती है । स्वच्छता से अप्रतिघात-अनिरोध की सिद्धि होती है । अतएव, सर्वथा सूक्ष्म स्वच्छ होने ही में मरणकाल में देह से निकला हुआ पास में स्थिर लोगों से नहीं देखा जाता है ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत एव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलम्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेत-
त्सूक्ष्म शरीरमुपमृद्यते ॥ १० ॥

अतएव इस सूक्ष्मत्व से ही इस स्थूल शरीर के उपमर्द से दाहादिनिमित्तक नाश इस स्थूल से इतरत् (अन्य) सूक्ष्म शरीर उपमृदित (नष्ट) नहीं होता है ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेव ऊष्मा ॥ ११ ॥

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैव ऊष्मा यमेतन्मिच्छाशरीरे मत्सर्गोन्मेषाण विजानन्ति । तथाहि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते जीवदवस्थायामेव तुपलभ्यते इत्यत उपपद्यते-प्रसिद्ध-
शरीरव्यतिरिक्तशरीरव्यपाश्रय एवैव ऊर्मेति । तथाच श्रुति-‘उष्ण एवैव जीवोष्णोन्मीतो मरिष्यन्’ इति ॥ ११ ॥

इसी सूक्ष्म शरीर की यह ऊष्मा (गर्मी) है, कि जिस ऊष्मा को सत्सर्ग के द्वारा इस शरीर में लोग समझते हैं, जिसमें मृतक अवस्था में इसी प्रकार देह के अवस्थित रहने भी और देह के गुणरूप, रूपादि के विद्यमान रहने भी, ऊष्मा नहीं उपलब्ध होती है, जीवन-अवस्था में ही उपलब्ध होती है, इसमें उपपन्न (सिद्ध) होता है कि प्रसिद्ध स्थूल शरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर के आश्रित ही यह ऊष्मा है । इसी प्रकार की श्रुति है कि (यह जीवित रहने वाला उष्ण ही रहता है, मरने वाला शीत हो जाता है) ॥ ११ ॥

प्रतिषेधाधिकरणम् (६)

किं जीवादयवा देहात्प्राणोत्क्रान्तिनिवार्यते । जीवाग्निवारण युक्त, जीवेद्देहोन्मेषा सत्वा ॥ १॥
तसादमजल्यद्देहे प्राणाना विलय स्मृतः । उच्छ्रयत्यत्र देहोऽतो देहात्ता विनिवार्यते ॥ २॥

पूर्वपक्ष है कि (न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति) इस श्रुति से यदि निर्गुण आत्मज्ञ के प्राणों की शरीर से उत्क्रान्ति के निषेध से लोचान्तर में गति नहीं मानी जाय, तो वह मानना युक्त नहीं है, क्योंकि उस श्रुति में जीवात्मा से प्राण की उत्क्रान्ति का निषेध है ।

संशय है कि श्रुति में क्या जीव से अथवा देह से प्राण की उत्क्रान्ति का निवारण किया जाता है। पूर्वपक्ष है कि जीव से उत्क्रान्ति का निवारण करना युक्त है। अन्यथा देह से उत्क्रान्ति का निवारण करने पर देह सदा जीवित रहेगी। सिद्धान्त है कि प्राण शरीर से नहीं निकलते हैं, तो भी शरीर का सदा जीवन इसलिये नहीं होता है कि जैसे पत्थर पर दिया गया जल उसमें लीन हो जाता है, वैसे ही प्रारब्ध के अन्त में देह के अन्दर ही ब्रह्म में ज्ञानी के प्राणों का विलय कहा गया है। मरने पर देह ही फूलता है, और इस फूलने वाली देह से उस उत्क्रान्ति का निवारण किया जाता है ॥ १-२ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरात् ॥ १२ ॥

‘अमृतत्वं चानुपोष्य’ इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योर-भावोऽभ्युपगतः। तत्रापि केनचित्कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति—‘अथा-कामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्माव सन्ब्रह्माप्येति’ (वृ० ४।४।६) इति, अनः परविद्याविषयात्प्र-तिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत्।

नेत्युच्यते। यतः शरीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां न शरीरात्। कथमवगम्यते ‘न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति’ इति शाखान्तरे पञ्चमी-प्रयोगात्। सम्बन्धसामान्यविषया हि पृष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या सम्बन्ध-विशेषे व्यवस्थाप्यते। तस्मादिति च प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रयसाधिकृतो देही सम्बध्यते न देहः। न तस्मादुच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

(अमृतत्वं चानुपोष्य) अविद्यादि क्लेशों का दाह के बिना अमृतत्व गौण होता है, इस विशेषण से आत्यन्तिक अमृतत्व (मुख्य मोक्ष) में सब क्लेशों के दाहवाले निर्गुणात्म ज्ञानी की गति और उत्क्रान्ति का अभाव स्वीकृत हुआ है। वहाँ भी किसी कारण से उत्क्रान्ति की शंका करके निषेध करते हैं कि (ससार-कथा के बाद समझना चाहिए कि जो पूर्णानन्द की प्राप्ति से कामरहित है, कामना नहीं करता है और अकाम बाह्य-तृष्णारहित है, निष्काम—अन्तर्गतकामवासनाशून्य है। अतएव जो पूर्णकाम, आत्म-काम—सर्वार्थकत्वदर्शी होता है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, वह आत्मदर्शी जीवित अवस्था में ही ब्रह्म होता हुआ फिर ब्रह्म में लीन होता है) इति। इस श्रुति से इस परविद्याविषयक उत्क्रान्ति के प्रतिषेध से ब्रह्मवेत्ता की देह से प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं होती है, यदि ऐसा कहा जाय तो कहा जाता है कि शरीर से प्राण-उत्क्रान्ति का प्रतिषेध नहीं है, जिससे शरीर (जीव) आत्मा से यह प्राणों की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध है, शरीर से नहीं। यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है। तो कहा जाता है कि (न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति) उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। इस प्रकार अन्य शाखा में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग से जाना जाता है। जिससे उक्त श्रुतिगत, तस्य,

यह सम्बन्ध सामान्य-विषयक पक्षी विभक्ति श्वापान्तरगत पञ्चमी विभक्ति से अपा-
दानत्व सम्बन्धविशेष में व्यवस्थापित (निश्चित) की जाती है । तस्मात्, इसके साथ
प्रधानता से अभ्युदय और नि श्रेयस (स्वर्ग और मोक्ष) में अधिकृत (अधिकारयुक्त)
देही जीवसम्बद्ध होता है, देह नहीं । अर्थात् तस्मात् पद से देही कहा जाता है, देह
नहीं । इसमें उत्क्रामण की इच्छावाले उस देही जीव से प्राण अपक्रान्त नही होते हैं
किन्तु उसके साथ ही गमन करते हैं, साथ ही रहते हैं यह अर्थ है, अन ज्ञानी की भी
लोकान्तर में उत्क्रान्ति होती है ॥ १२ ॥

सप्राणस्य च प्रवमतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येव प्राप्ते प्रत्युच्यते—

इस प्रकार प्राणसहित और प्रवास (शरीर से निर्गमन) करने वाले ज्ञानी की देह
से उत्क्रान्ति होती है, इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याख्यान किया जाता है । प्रत्युत्तर
दिया जाता है कि—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

न तदस्ति यदुक्त परब्रह्मविदोऽपि देहादस्युत्क्रान्तिं प्रतिषेधस्य
देहपादानत्वादिति । यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषा समा-
म्नानृणा स्पष्ट उपलभ्यते । तथाहि—आर्तभागप्रदने 'यत्राय पुरषो म्रियत
उदस्मात्प्राणा क्रामन्त्याहो नेति' (वृ० ३।२।११) इत्यत्र 'नेति' होवाच
याज्ञवल्क्य (वृ० ३।२।११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्ष परिगृह्य न तदर्थमनुत्क्रान्तेषु
प्राणेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्क्याम् 'अत्रैव समवलीयन्ते' इति प्रविलय प्राणानां
प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'न उच्छ्वस्यत्याध्माप्रत्याध्मानो मृन शेते' (वृ० ३।२।११)
इति मगद्वपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवयवेषु च्छ्वसनादीनि सामानान्ति ।
देहस्य चेतानि स्मृन् देहिन । तस्मान्मान्यात् 'न तस्मात्प्राणा उदक्रामन्त्यत्रैव
समवलीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहोपादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेध ।
यद्यपि प्राधान्य देहिन इति व्याख्येयं येषा पञ्चमीपाठ । येषा तु पक्षीपाठस्तेषां
विद्वत्सम्बन्धिन्युत्क्रान्तिं प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य
वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्तिं प्राप्ता न देहिन ।
अपिच 'चक्षुषो वा मूर्ध्ना वाज्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यन्तमुत्क्रामन्त प्राणोज्ज-
त्क्रामन्ति प्राणमनूत्क्रामन्त सर्वे प्राणा जनुत्क्रामन्ति' (वृ० ४।४।२) इत्येवम-
विद्वद्विषयेषु मप्रपञ्चमुत्क्रमण नमारगमन च दर्शयित्वा इति नु कामयमान'
(वृ० ४।४।६) इत्युपसहृत्याविद्वत्कथाम् 'अथाकामयमान' (वृ० ४।४।६)
इति व्यपदिश्य विद्वाम यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदममञ्जन एव
व्यपदेश म्यात् । तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोगंत्युत्क्रान्त्योद्विद्वद्विषये प्रनि-
षेध इत्येवमेव व्याख्येय व्यपदेशार्थवत्त्वाय । नच ब्रह्मविद सर्गगतब्रह्मा-
त्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते निमित्ताभावात् । 'अत्र

ब्रह्म समश्नुते' इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥१३॥

उत्क्रान्ति के प्रतिषेध का अपादानत्व देही के होने से ब्रह्मवेत्ता की भी देह से उत्क्रान्ति होती है, यह जो कहा है, वह बात नहीं है, जिससे देह अपादानवाला ही उत्क्रान्ति का प्रतिषेध एक शाखावाले वक्ताओं का स्पष्ट उपलब्ध होता है क्योंकि (जिस काल में यह ज्ञानी पुरुष मरता है, उस काल में इसके प्राण उत्क्रमण करते हैं, अथवा नहीं करते हैं) इस प्रकार आर्त नाग के प्रश्न होने पर, यहाँ उत्तर है कि (याज्ञवल्क्यजी ने कहा कि ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं) इस प्रकार अनुत्क्रान्ति पक्ष का ग्रहण करके, तो क्या प्राणों के अनुत्क्रान्त होने से यह ज्ञानी मरता नहीं है, ऐसी आशंका होने पर (यहाँ ही प्राण सम्यक् लीन हो जाते हैं) इस प्रकार प्राणों के प्रविलय की प्रतिज्ञा करके, उस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए (वह शरीर फूलता है, शब्द करता है, वायु से शब्दयुक्त होकर—मृतक होकर सोता है) इस श्रुति में से (वही) शब्द से परामृष्ट (गृहीत) प्रकृत उत्क्रान्ति की अवधि (अपादान) के वृद्धि आदि (फूलने आदि) को श्रुति कहती है, और देह के ये मूजन (शोध) आदि हो सकते हैं, देही के नहीं होते हैं। उस श्रुति की समानता से विद्या प्रकरण की तुल्यता से (उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, यहाँ ही लीन होते हैं) यहाँ भी देह और देही के अभेद के उपचार व्यवहार से 'तस्मान्' इस पद से देही से अभिन्न देह के ग्रहण से देहोपादानक ही उत्क्रमण का प्रतिषेध है। यद्यपि जिनका पञ्चमी विभक्त्यन्त पाठ है, उनको सर्वनाम से स्मृत देही की प्रधानता है, तथापि यह अभेद दृष्टि से शरीरोपादानक उक्त व्याख्या कर्तव्य है। जिनका षष्ठी पाठ है, उनके अनुसार विद्वान्सम्बन्धिनी उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध होती है (इस प्रकार प्राप्त उत्क्रान्ति के प्रतिषेधार्थक इस वाक्य के होने से देहोपादानक ही (देह से ही) वह ज्ञानी की उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध होती है, जिससे देह से उत्क्रान्ति प्राप्त है, देही से नहीं। दूसरी बात है कि (आँख से वा शिर से वा अन्य शरीर के अवयवों से उत्क्रमण करते हुए उस जीव के पीछे प्राण उत्क्रमण करता है, प्राण के पीछे सब इन्द्रियाँ उत्क्रमण करती हैं) इस प्रकार अविद्वान्विषयक विस्तारयुक्त उत्क्रमण और संसार-गमन को दर्शा कर, और (इस प्रकार कामना करने वाला संसार में गमन करता है) इस प्रकार अविद्वान् की कथा उपसंहार (समाप्ति) करके (अथाकामयमानः) कामरहित कामी से विलक्षण है। इस प्रकार विद्वान् का कथन करके, यदि उस विद्वान् के विषय में उत्क्रान्ति को ही श्रुति व्यपदेश श्रास करावे, करे, तो यह व्यपदेश (कथन) असमञ्जस (असंगत—अयुक्त) ही होगा, जिससे व्यपदेश की अर्थवत्ता के लिए, अविद्वान् के विषय में प्राप्त गति और उत्क्रान्ति का विद्वान् के विषय में प्रतिषेध है इस प्रकार ही व्याख्यान कर्तव्य है। और उत्क्रान्ति तथा गति के निमित्त कर्मादि के अभाव से सर्वगत ब्रह्मात्मस्वरूप प्रक्षीण-काम-कर्मवाले ब्रह्मवेत्ता की उत्क्रान्ति वा गति उपपन्न नहीं होती है। (यहाँ ब्रह्म को प्राप्त करता है) इस प्रकार की श्रुतियाँ ज्ञानी की उत्क्रान्ति और गति के अभाव को सूचित करती हैं ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यत ।

देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैपिण ॥ इति ।

ननु गतिरपि ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते 'शुकः किल वैयाम-
किर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्ये पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुभावः'
इति । न । सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकं शरीरोत्सर्ग इति
द्रष्टव्यम्, सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात्, नह्यशरीरं गच्छन्तः सर्वभूतानि द्रष्टुं
शक्नुयुः । तथाच तत्रैवोपसंहृतम्—

शुकस्तु मारुताच्छीघ्रा गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षम् ।

दर्शयित्वा प्रभावः स्व सर्वभूतगतोऽभवत् ॥ इति ।

तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः । गतिश्रुतीनां तु विषयमुपरिष्ठा-
व्याख्यास्यामः ॥ १४ ॥

महाभारत में ब्रह्मवेत्ता की गति और उत्क्रान्ति के अभाव का स्मरण भी
किया जाता है कि (भूतो को सम्यक् आत्मस्वरूप से जानने वाले, अतएव सब भूतो
का आत्मस्वरूप और अपद (प्रासव्यवदग्हित) ब्रह्मवेत्ता के पद को चाहने वाले देव
भी अपद ज्ञानी के मार्ग में मोहित होते हैं, मार्ग नहीं जानते हैं, जिसे विद्वान् का मार्ग
नहीं है । शका होती है कि सर्वगत ब्रह्मात्मस्वरूप ब्रह्मवेत्ता की गति का भी स्मरण
(कथन) किया जाता है कि (व्यास जी के पुत्र मुमुक्षु शुक ने आदित्यमण्डल की
यात्रा की—मूर्ध्नी की तरफ शुकदेव चले, फिर पीछे से चल कर पिता से आहूत हुए,
पुकारे गये, तो भी ऐसा उत्तर दिया) इस शका का उत्तर है कि यह शुक की गति का
वर्णन शरीर-याग के बाद का नहीं है किन्तु शरीररहित का ही योग के बल से
विशिष्ट (उत्तम) देश की प्राप्तिपूर्वक शरीर-याग वर्णित है, ऐसा समझना चाहिए,
क्योंकि सब भूतो से दृश्यत्व आदि का कथन है, और शरीररहित जानने वाले को सब
प्राणों नहीं देख सकते हैं, और इस प्रकार वहाँ ही उपसंहार किया है कि (शुक तो
वायु से भी घोर गति करके अन्तरिक्षगत होकर अपने प्रभाव को दिखा कर सर्वभूतगत
ब्रह्मस्वरूप हो गये) जिससे परब्रह्मवेत्ता की गति और उत्क्रान्ति का अभाव है । गति-
श्रुतियों के विषय का आगे व्याख्यान करेंगे ॥ १४ ॥

वागादिलयाधिकरणम् (७)

अस्य वागादयः स्वस्वहेतोर्लोनाः परेऽप्यवाः । 'गता कला' इति श्रुत्या स्वस्वहेतुषु सत्तल्य ॥
नद्यन्तिलयसाम्योर्नेविद्बुद्ध्या लयः परे । अयदुष्टिपरं शास्त्रं गता इत्याद्युदाहृतम् ॥

विद्वान् के वे वाक् आदि इन्द्रिय, और इन्द्रियों के आश्रय सूक्ष्मभूत ये सब पर-
ब्रह्म में लीन होते हैं, जिससे इसी प्रकार श्रुति कहती है । सत्य है कि ज्ञानी के वाक्

आदि इन्द्रियां अपने अपने कारण अग्नि आदि में लीन होती हैं, अथवा परब्रह्म में लीन होती हैं । पूर्वपक्ष है कि (गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः) सोलह कलाओं में मन और प्राण को एक करने से पञ्चदश (पन्द्रह) कलाएँ होती हैं, सो विद्वान् की कलाएँ अन्त में अपनी प्रतिष्ठाओं (उपादानों) को प्राप्त होती हैं । इस श्रुति से अपने अपने हेतु में लय सिद्ध होता है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि दूसरी श्रुति में नदी और समुद्र की समता के कथन से विद्वान् की दृष्टि से परब्रह्म में लय होता है, और (गताः कलाः) इत्यादि उदाहृत शास्त्र लोकदृष्टिपरक है, लोकदृष्टि से स्वकारण में लय होता है । वस्तुतः कलाओं का स्व स्व कारण में लयपूर्वक परब्रह्म में विलय से दोनों श्रुतियों की सङ्गति होती है ॥ २ ॥

तानि परे तथाह्याह ॥ १५ ॥

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते । कस्मात् ? तथा ह्याह श्रुतिः—‘एवमेवास्य परिद्वष्टु-रिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति’ (प्रश्न० ६।५) इति । ननु ‘गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः’ (मु० ३।२।७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स्म । न । सा खलु व्यवहारा पेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति । इतरा तु विद्वत्प्र-तिपत्त्यपेक्षाकृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव सम्पद्यत—इति तस्माद दोषः ॥ १५ ॥

वे पूर्वोक्त प्राण शब्द से कथित एकादश इन्द्रिय और पञ्च सूक्ष्मभूत परब्रह्मवेत्ता-सम्बन्धी ये सोलह पदार्थ उस परब्रह्मरूप आत्मा में लीन होते हैं, क्योंकि इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्ररूप आश्रयवाली होकर समुद्र को प्राप्त करके अस्त हो जाती हैं, उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार इस सर्वत्र आत्मदर्शों के ये प्राणादि सोलह कला पुरुषाश्रित होकर पुरुष को प्राप्त होकर लीन होती हैं, उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं) इत्यादि शंका होती है कि (मोक्षकाल में प्राणादि कलायें अपनी-अपनी प्रतिष्ठाओं को प्राप्त होती हैं) यह विद्वान् विषयक ही दूसरी श्रुति परमात्मा से अन्यत्र भी कलाओं का प्रलय कहती है । उत्तर है कि दूसरी श्रुति का कथन वास्तविक दृष्टि से नहीं है, वह श्रुति ही व्यवहार की अपेक्षा से है कि पार्थिव (पृथिवी के कार्य) प्राण आदि कला पृथिवी आदि रूप अपनी प्रकृति (कारण) में लीन होते हैं । दूसरी श्रुति विद्वान् के अनुभव की अपेक्षा से है कि सम्पूर्ण कलासमूह ब्रह्म में लीन होता है, इति । इससे विरोधरूप दोष नहीं है ॥ १५ ॥

अविभागाधिकरणम् (८)

तल्लयः शक्तिशेषेण नि.शेषेणाश्रयवात्मनि । शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ॥१॥
नामरूपविभेदोक्तैर्निःशेषेणैव संक्षयः । अजे जन्मान्तरार्थन्तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥२॥

जिन ज्ञानी कलाओं का ब्रह्म में लय कहा गया है, उनका ब्रह्म के साथ अत्यन्त अविभाग (अभेद) हो जाता है, सो (भिद्येते तससा नामरूपे) इत्यादि वचन से सिद्ध होता है । सशय है कि उन कलाओं का लय शक्ति (बीज वासना) के शेषपूर्वक आत्मा में होता है, अथवा नि शेष रूप से ही लय होता है । पूर्वपक्ष है कि शक्ति का शेषपूर्वक लय होना मुक्त है, जिससे ज्ञानियों में यह ऐसा ही लय देखा जाता है । सिद्धान्त है कि ज्ञानियों में कलाओं के नाम और रूप के श्रुति में विनाश के कथन से नि शेषरूप से ही उनका सशय होता है, जिससे प्रथम से ही वे ज्ञानाग्नि से दग्ध रहते हैं, अज्ञ में तो जमान्तर के लिए शक्ति का शेष माना जाता है ॥ १-२ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

स पुनर्विदुष कलाप्रलय किमितरेषामिव भावशेषो भवत्याहोम्बिधिरवशेष इति । तत्र प्रत्यगामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति-अविभागापत्तिरेवेति । कुत ? वचनात् । तथाहि कलाप्रत्ययमुक्त्वा वक्ति 'भिद्येते तामा नामरूपे पुरुष इत्येव प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' (प्र० १/५) इति । अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्तिः । तस्मादविभाग एवेति ॥ १६ ॥

फिर सशय होना है कि वह विद्वान् की कलाओं का प्रलय क्या इतर जीवों के समान कुछ अवशेष सहित होता है, अथवा निरवशेष (सम्पूर्ण रूप से) प्रलय होना है । वहाँ प्रलय की समानता से अन्य प्रलय के समान ज्ञानजन्य प्रलय में भी शक्ति के अवशेष की (अन्विष्टि की) प्राप्ति होने पर कहते हैं कि अविभाग की ही प्राप्ति होती है । वह जिससे सिद्ध होना है, तो कहा जाता है कि वचन से सिद्ध है । जिससे कलाओं के प्रलय को कहकर श्रुति इसी प्रकार कहती है कि (उन कलाओं के नाम और रूप नष्ट हो जाते हैं, उनके नाश होने पर जो अविनाशी तत्त्व शेष रहता है, उसको ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस प्रकार कहते हैं । इस प्रकार वह विद्वान् इस कला रहित अमृतस्वरूप होता है) और विद्यानिमित्तक प्रलय में अविद्यानिमित्तक कलाओं के अवशेषसहितत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है, जिससे अविभाग ही होता है ॥ १६ ॥

तदोक्तोऽधिकरणम् (९)

अविशेषो विशेषो वा स्यादुक्तान्तेरुपासितुः । हृत्प्रद्योतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिगमान् ॥ मूर्द्धन्मदेव नाड्यामी शजेन्नाडीविचिन्तनात् । विद्यामामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यदर्शनात् ॥

मागारम्भ तक तो उपासक अनुपासक की उत्त्रान्ति तुल्य है ही, उसने बाद भी उपासक की उत्त्रान्ति को अन्य की उत्त्रान्ति के साथ अविशेष (तुल्यता) है वा विशेष (भेद) है, यह सशय है । पूर्वपक्ष है कि हृदय प्रद्योतन की समता के कथन से अन्य के निर्गमन के समान ही उपासक का निर्गमन होता है । सिद्धान्त है कि मूर्द्धन्य मुमुक्षा नाडी के चिन्तन से और विद्या के सामर्थ्य से भी वह उस नाडी से ही गमन करेगा ।

क्योंकि हृदय के प्रज्वलन के तुल्य होने पर भी उस समय अन्य के दर्शन से इस उपासक के दर्शन में विशेष होता है, अन्य को अन्य नाड़ियों का द्वार दीख पड़ता है, उपासक को ब्रह्मरन्ध्र का द्वार दीख पड़ता है ॥ १-२ ॥

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तिच्छेष-
गत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीताः शताधिकया ॥ १७ ॥

तदोकोग्रज्वलनम्, तत्प्रकाशितद्वारः, विद्यासामर्थ्यात्, तच्छेषगत्यनुयोगात्, च, हार्दानुगृहीतः, शताधिकया—ये सात पद हैं । सक्षिप्तार्थ है कि (लयानन्तरं नृत्युपक्रमकाले, तस्य जीवस्य यदोक्तः स्थानं हृदयं तदग्रस्य ज्वलनं भवति, तेन ज्वलनेन प्रकाशितं द्वारं यस्य जिगमिपोः स विद्यायाः सामर्थ्यात्, विद्यायाः शेषभूताया मार्गानुस्मृतिश्च योगात् हार्देन ब्रह्मणानुगृहीतः सन् शताधिकया नाड्या निष्क्रामति) इन्द्रिय और प्राण के लय के बाद मार्गगमन के आरम्भ काल में उस जीव का स्थानरूप जो हृदय है, उसके अग्रभाग का प्रकाश होता है, उस प्रकाश से जिसका द्वार (मार्ग) प्रकाशित हुआ है, वह गमनेच्छुक उपासक जीव विद्या के सामर्थ्य से और विद्या के अंगरूप मार्ग के अनुस्मरण से हार्दं ब्रह्म से अनुगृहीत होकर सी से मिन सुपुम्ना नाड़ी द्वारा गमन करता है ।

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता, सम्प्रति त्वपरविद्याविषयामेव चिन्तामनुवर्तयति । समाना चासृत्युपक्रमद्विद्वदविदुषोऽप्युत्क्रान्तिरित्युक्तं, तमिदानीं सृत्युपक्रमं दर्शयति । तस्योपसंहृतवागादिकन्ध्यापस्योच्चिक्रमिपतो विज्ञानात्मन ओक्त आयतनं हृदयम् 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः । तदग्रज्वलनं तत्पूर्विका चक्षुरादिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैव आत्मानिष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्ना वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' । (वृ० ५।४।२) इति । सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्राप्तावाचत्रे—समानेऽपि हि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे । कुतः ? विद्यासामर्थ्यात् । यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहेगादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत । तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात्, तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च । विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसम्बद्धा गतिरनुशील्यितव्या विद्याविशेषेषु विहिता तामभ्यस्यंस्तथैव प्रतिष्ठते इति युक्तम् । तस्माद् हृदयालयेन ब्रह्मणा सुपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्त्यैकशततम्या नाड्या निष्क्रामतीतराभिरितरे । तथाहि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—

गतं चेका च हृदयस्य नाड्यस्तासा मूर्धानमभिनि सृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्गन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ (छा० ८।६।६)

इति ॥ १७ ॥

प्रसंग से प्राप्त परविद्याविषयक चिन्ता (विचार) समाप्त हुई । अब इस समय अपरविद्याविषयक ही विचार का अनुवर्तन (आरम्भ—अनुसरण) करते हैं । सृति (मार्ग) के उपक्रम पर्यन्त विद्वान् और अविद्वान् की उत्क्रान्ति तुल्य होती है, यह कहा जा चुका है । इस समय उस मार्ग के उपक्रम (आरम्भ) को दर्शाते हैं कि (वह मूर्ध्वं मरणासन्न प्राणी तेजोमात्रा—इन्द्रियो का ग्रहण करता हुआ हृदय में जाता है) इस श्रुति से उपसंहृत (प्रतीत) वागादि इन्द्रिय-समूहवाला उत्क्रमण की इच्छावाला विज्ञानात्मा (जीव) का ओक अर्थात् आयतन—आश्रय हृदय सिद्ध होता है और उस हृदय के अग्रभाग का ज्वलन और उस ज्वलनपूर्वक चक्षुआदि स्थानरूप अपादान (अवधि) वाली उत्क्रान्ति सुनी जाती है कि (उस जीवन के स्थानरूप इस हृदय के अग्र-नाडी का स्वरूप निर्गमन का द्वार प्रकाशित होता है, उस प्रकाश से प्रकाशित द्वार से यह जीवात्मा निर्गमन करता है, वह नेत्र से वा शिर से अथवा अन्य श्रोत्रादि घरेर के देश से निर्गमन करता है) सो वह नेत्रादि से उत्क्रमण क्या अनियम से ही विद्वान् और अविद्वान् का होता है, अथवा विद्वान् के उत्क्रमण में कोई विशेष नियम है, ऐसा सशय होने पर, विद्योत्पत्तादि श्रुति की अवशिष्टता से अनियम के प्राप्त होने पर कहते हैं कि विद्वान् और अविद्वान् के हृदयप्रद्योतन के तथा उससे प्रकाशित द्वारवत्त्व के तुल्य होते भी मूर्ध्वस्थान से ही विद्वान् निष्क्रमण करता है, और स्थानान्तरा से अन्य प्राणी गमन करते हैं । ऐसा क्यों होता है, तो कहा जाता है कि विद्या के सामर्थ्य से ऐसा भेद होता है । यदि विद्वान् भी अन्य के समान जिस किन्हीं देह के देश से उत्क्रमण करे, तो उत्सृष्ट लोक का लाम नहीं करेगा । और उस अवस्था में विद्या अनर्थक ही होगी । और उस सगुण विद्या के दोष (अग) रूप जो गति की अनुस्मृति (चिन्तन) है, उसके सम्बन्ध से भी उपासक ब्रह्मनाडी से गमन करता है । और विद्या के दोष स्वरूप, मूर्ध्वं नाडी से सम्बन्धवाली अनुशीलन- (चिन्तन)-योग्य गति, विद्याविशेषों में विहित है । उस गति (मार्ग) का अभ्यास (चिन्तन) करता हुआ, उसी गति से प्रस्थान (गमन) करता है, यह युक्त है । अब हृदयरूप स्थान वाले, सुन्दर रीति से उपासित ब्रह्म से अनुगृहीत (अनुकम्पित) और उस ब्रह्ममात्र को प्राप्त विद्वान् मूर्ध्वं सो से अधिक एक सो के बाद मिश्र एक नाडी से ही निष्क्रमण करता है, अन्य प्राणी अन्य नाडिया से गमन करने हैं । जिसमें हादं (ब्रह्म) विद्या को प्रस्तुत करके बहते (पढ़ते) हैं कि (एक सो और एक हृदय की प्रधान नाडियाँ हैं, उनमें से एक नाडी शिर में गई है, उस नाडी द्वारा ऊपर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त करता है । उत्क्रमण में नाना प्रकार उसी गतिवाली अन्य नाडियाँ होती हैं) इति ॥ १७ ॥

रश्म्यधिकरणम् (१०)

अहन्येव मृतो रश्मिं याति निश्यपि वा निशि ।

सूर्यरश्मेरभावेन मृतोऽहन्येव याति तम् ॥ १ ॥

यावद्देहे रश्मिनाड्योर्युक्तो ग्रीष्मे क्षपास्वपि ।

देहदाहाद् श्रुतत्वाच्च रश्मीन्निश्यपि यात्यसौ ॥ २ ॥

मूर्धन्य नाडी से निकला हुआ वह उपासक (रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते) इस श्रुति के अनुसार सूर्यरश्मि के अनुसारी होकर ऊपर की तरफ गमन करता है। संशय है कि दिन में ही मृत प्राणी सूर्यरश्मि को प्राप्त करता है, अथवा रात्रि में मृत भी प्राप्त करता है, पूर्वपक्ष है कि रात्रि में सूर्यरश्मि के अभाव से दिन में मृत ही उस रश्मि को प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि देहस्थिति-पर्यन्त सदा रश्मि और नाडी का संयोग रहता है। सो ग्रीष्म की रात्रियों में भी देह के दाह (ताप) से और श्रुतत्व से सिद्ध होता है। इससे रात्रि में भी मृत यह उपासक रश्मियों को प्राप्त करता है ॥ १-२ ॥

रश्म्यनुसारा ॥ १८ ॥

अस्ति 'दहरोस्मिन्नन्तराकाश' इति हार्दविद्या—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इत्युपक्रम्य विहिता । तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यः' (छा० ८।६।१) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्तवोक्तम् 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति । पुनश्चोक्तम् 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६) इति । तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्क्रामनरश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते । तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्री वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्त्रिदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥ १८ ॥

(जो इस ब्रह्मपुर शरीर में दहर—अल्प पुण्डरीक तुल्य वेश्म है) इस प्रकार उपक्रम करके (दहर इसमें अन्तराकाश है) इससे हार्दविद्या विहित है। उसी प्रकरण में (और जो ये हृदय की नाडियाँ हैं) इस प्रकार से उपक्रम करके विस्तारपूर्वक नाडी और रश्मि के सम्बन्ध को कह कर कहा है कि (ओर जब इस शरीर से यह उत्क्रमण करता है, तब इन्हीं रश्मियों द्वारा ऊपर गमन करता है) फिर कहा है कि (उस एक नाडी द्वारा ऊपर जाता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता है) जिससे यह समझा जाता है कि सौ से अधिक सुषुम्ना नाडी द्वारा निष्क्रमण करता हुआ रश्मि अनुसारी निष्क्रमण करता है। वहाँ क्या सामान्य रूप से ही दिन में वा रात्रि में मरने वाले को रश्मि अनुसारित्व होता है, अथवा दिन में ही मरनेवाले को होता है, ऐसा संशय होने पर अविशेष (सामान्य) के श्रवण से अविशेषरूप से ही रश्मि के अनुसारी होता है, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति

च ॥ १९ ॥

अस्त्यहनि नाडीरश्मिमम्बन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्व रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात्, नाडीरश्मिमम्बन्धविच्छेदादिति चेन्न । नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । यावद्देहभावौ हि शिराकिरणमपकं । दर्शयति चैतमर्थं श्रुति — 'अमुष्मादादित्यात्प्रनायन्ते ता आसु नाडीषु सूप्ता आभ्यो नाडीभ्य प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सूप्ता' (छा० ८।६।२) इति । निदाघसमये च निशास्त्वपि किरणानुवृत्तिरूपमभ्यते, प्रनापादिकार्यदर्शनात् । स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लभ्यत्वमृत्वन्तररजनीषु शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु । 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति । यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुमारानर्थक्य भवेत् । नह्येतद्विशिष्याधीयते यो दिवा प्रैति म रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते यस्तु रात्रौ मोऽनपेक्ष्यैवेति । अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफग विन्येत्यप्रवृत्तिरेव तस्या स्यात्, मृत्युकालानियमात् । अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत । अहरागमेऽप्यस्य कदाचिदरश्मिमम्बन्धाहं शरीर स्यात्पावकादिमपकात् । 'म यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्य गच्छति' (छा० ८।६।५) इति च श्रुतिरनुदीक्षा दर्शयति । तस्मादविशेषेणैवेद रात्रिदिव रश्म्यनुसारित्वम् ॥ १९ ॥

दिन में नाडी और रश्मि का सम्बन्ध रहता है, इसमें दिन में मरनेवाले को रश्मि अनुसारित्व होगा, रात्रि में मरनेवाले को नहीं होगा, क्योंकि रात्रि में नाडी और रश्मि के सम्बन्ध का विच्छेद (अभाव) हो जाता है, यदि ऐसा कहा जाय तो यह कहना ठीक (सत्य) नहीं है । जिसमें नाडी और रश्मि के सम्बन्ध को (यावद्देह) देह की स्थिति पर्यन्त भावित्व (वर्तमानत्व) रहता है । देह की स्थिति पर्यन्त शिरा और किरण (नाडी और रश्मि) का सम्बन्ध रहता ही है । और इस अर्थ को श्रुति दर्शाती है कि (इस आदि यमण्डल से प्रवाहरूप से रश्मियाँ फैलती हैं, सो इन नाडियों में प्राप्त—प्रविष्ट होती हैं, और नाडियों से फैलती हैं, सो उन आदित्यमण्डल में प्राप्त होती है) और निदाघ (उष्ण) काल में रात्रि में भी किरणों की अनुवृत्ति (सूप्ता) उपलब्ध होती है, जिसमें किरणों के प्रनाप (उष्णता) आदि रूप कार्य ग्रीष्म की रात्रिया में भी देखा (समझा) जाता है । अन्य ऋतुओं की रात्रियों में ही शितार के दुर्दिनों (मेघ में आवृत दिनों) के समान स्तोक (अल्प) किरणों की अनुवृत्ति में किरणों की दुर्लभ्यता (अप्रत्यक्षता) होती है । और सूर्य ही रात्रि में इस तापरूप दिन का ही पारण करता है) यह श्रुति इस अर्थ को ही दर्शाती है । और यदि रात्रि में मरनेवाला रश्मि के अनुसरण के बिना ही उर्ध्वगमन करे, तो रश्मि का अनुसरण अनर्थक होगा, दिन में भी वैसा ही गमन हो सकता है । और विशेष भेद का निर्देश करके श्रुति

में भी यह नहीं पढ़ा जाता है (कहा जाता है) कि जो दिन में मरता है, वह रश्मि की अपेक्षापूर्वक रश्मि-अनुसारी ऊर्ध्वगमन करता है, और जो रात्रि में मरता है वह रश्मियों की अपेक्षा के बिना ही ऊर्ध्वगमन करता है। यदि विद्वान् (उपासक) भी रात्रि में मरणरूप अपराध मात्र से ऊर्ध्व गति नहीं करे, तो पाक्षिक (वैकल्पिक) फलवाली विद्या होगी, इससे उस विद्या में अप्रवृत्ति होगी, जिससे मृत्युकाल का कोई नियम नहीं है कि उपासक दिन में ही मरता है इत्यादि। और यदि रात्रि में मरा हुआ विद्वान् रश्मि के अनुसरण के लिए दिन के आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ वहाँ वर्तमान रहेगा, तो दिन का आगमन होने पर भी कभी इसका शरीर अग्नि आदि के सम्बन्ध से रश्मि के साथ सम्बन्ध के योग्य नहीं रहेगा। और (वह उपासक जितने काल में मन की प्रेरणा संकल्प करता है, उतने काल में आदित्य को प्राप्त करता है) यह श्रुति अनुदीक्षा (अप्रतीक्षा) को दर्शाती है। अतः अविशेषरूप से ही यह रश्मि अनुसारित्व रात्रि और दिन में होता है ॥ १९ ॥

दक्षिणायनाधिकरणम् (११)

अयने दक्षिणे सृत्वा धीफलं नैत्यथैति वा । नैत्युत्तरायणाच्चोक्तेर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ॥
आतिवाहिकदेवोक्तेर्वरख्यात्यै प्रतीक्षणात् । फलैकान्त्याच्च विद्यायाः फलं प्राप्नोत्युपासकः ॥

इस पूर्वोक्त नाडी और रश्मि के सदा सम्बन्ध से और काल की अप्रतीक्षा आदि से दक्षिणायन में मरने वाला उपासक भी ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है। संशय है कि दक्षिणायन में मर कर उपासना के फल को नहीं प्राप्त करता है, अथवा प्राप्त करता है। पूर्वपक्ष है कि उत्तरायण मार्ग के कथन से और भीष्मपितामह के उत्तरायण की प्रतीक्षा से भी दक्षिणायन में मरने वाला उपासक उपासना के फल-रूप ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि उत्तरायण वर्ष आदि शब्दों से कालादि नहीं कहे गये हैं, किन्तु उन शब्दों से आतिवाहिक (ब्रह्मलोक में प्राप्त कराने वाले) देव विशेष कहे गए हैं। भीष्मपितामह ने प्रसन्न पिता से प्राप्त ऐच्छिक मृत्युरूप वर की ख्याति के लिए काल की प्रतीक्षा की, तथा विद्याफल की ऐकान्तिकता (अव्य-मिचारिता-अवश्यभाविता) से दक्षिणायन में मृत उपासक उपासना का फल पाता है ॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

अतएव चोदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वान्च विद्याया अनियतकालत्वान्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान्प्राप्नोत्येव विद्याफलम् । उत्तरायणमरण-प्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात् 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्बहुदङ्ङैत मासांस्तान्' (छा० ४।१५।५) इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामा-शङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति । प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया । भीष्मस्य तूत्त-रायणप्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च । श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् (ब्र० सू० ३।३।४) इति ॥२०॥

अतएव उक्त प्रतीक्षा की अनुपपत्ति से, विद्या के अपाक्षिक (नित्य) फलवत्त्व से और मृत्यु के अनियत काल होने से दक्षिणायन में भी मरने वाला विद्वान् विद्या के फल को प्राप्त करता ही है । उत्तरायण में मरण के प्राशस्त्य (श्रेष्ठता) की प्रसिद्धि से और भीष्म जी के उत्तरायण की प्रतीक्षा के दर्शन से और (शुक्ल पक्ष से जिन छह मासों में सूर्य उत्तर गमन करते हैं, उन मासों में उपासक प्राप्त होता है) इस श्रुति से उत्तरायण ब्रह्मलोक की प्राप्ति में अपेक्षितव्य (कारण-मार्ग) हैं, इस आशका का इस सूत्र से अपनोदन (निवारण) करते हैं कि प्रशस्तता प्रसिद्धि अविद्वान्-विषयक है, कि दैवयोग से उत्तरायण में अज्ञ का मरण प्रशस्त है । भीष्म की उत्तरायण की प्रतीक्षा आचार का परिष्ठावन कराने के लिए है और पिता की प्रसन्नता से प्राप्त स्वतन्त्रमृत्युता को समझाने के लिए है । श्रुति का अर्थ तो (आतिवाहकास्तल्लिङ्गात्) इस सूत्र से कहेंगे ॥

ननु च—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिन ।

प्रयाता यान्ति त कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ (गी० ८।२३)

इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेष स्मृतावपुनरावृत्तये नियमित कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति । अत्रोच्यते—

उक्तार्थ में शका होती है कि (ह भरतबुल मे श्रेष्ठ । जिस काल में प्रयात-मृत्योगी अनावृत्ति-मुक्ति, और आवृत्ति-पुनर्जन्मसंस्मरण पाते हैं, वह काल मैं तुम्हें बूझूंगा) इस प्रकार काल की प्रधानता से आरम्भ करके दिनादिरूप काल-विशेष अपुनरावृत्ति के लिए स्मृति में नियमित किया गया है । फिर रात्रि में वा दक्षिणायन में मरने वाला अनावृत्ति कैसे पावेगा ? यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

योगिनः प्रति च स्मर्यन्ते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यन्ते । स्मार्ते चैते योगमाग्ये न श्रूयन्ते । अतो विषयभेदात्प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य काल-विनियोगस्य श्रूयतेपु विज्ञानेष्ववतार । ननु—

अग्निर्ज्योतिरहं शुक्लं पण्मासा उत्तरायणम् ।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णं पण्मासा दक्षिणायनम् ॥ (गी० ८।२४।२५)

इति च श्रुतावेतां देवयानपितृयाणो प्रत्यभिज्ञायन्ते स्मृतावपीति । उच्यते— 'त कालं वक्ष्यामि' (गी० ८।२३) इति स्मृती कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्त । यदा पुन स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते तदा न कश्चिद्विरोध इति ॥ २१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत वृत्तो द्वासीरव-

मीमामाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

कर्मभक्तियोग प्राणायामादि अभ्यासयोगवालों के प्रति यह दिन आदि काल का विनियोग (नियम) अनावृत्ति (अपुनर्जन्म) के लिए स्मृति में कहा जाता है । भक्तिपूर्वक ईश्वरार्पण-बुद्धि से किया गया कर्मरूप योग, धारणापूर्वक अकतृत्वादि का अनुभव-विवेकारूप सांख्य, ये दोनों योग और सांख्य स्मार्त हैं, श्रौत नहीं है । अर्थात् स्मृतिविहित वे दो प्रकार की उपासनाएँ हैं, गति हैं श्रुतिविहित नहीं हैं । इससे विषय के भेद से और प्रमाण-विशेष से इस स्मृतिसिद्ध कालनियम का श्रुति से विहित विज्ञानों में प्राप्ति-सम्बन्ध नहीं होता है । शंका फिर भी होती है कि (अग्नि, ज्योतिः, दिन, शुक्लपक्ष, छह मास उत्तरायण । धूम, रात्रि तथा कृष्णपक्ष, छह मास दक्षिणायन) इन स्मृति-वचनों में भी श्रुति-वर्णित ही देवदान, और पितृयाण प्रत्यभिज्ञात होते हैं, इससे श्रौत से भिन्न नहीं है । उत्तर कहा जाता है कि (उस काल को कहूँगा) इस प्रकार स्मृति में काल की प्रतिज्ञा से विरोध की शंका का परिहार कहा गया है । जब स्मृति में भी अग्नि आदि आतिवाहिक (मार्गप्रदर्शक) देवता ही गृहीत होते हैं, तब कोई विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

साक्षी सदैव विमलो गुणसङ्गहीनो

द्रष्टैव केवलविभुः स सदा चकास्ति ।

मायैव भाति विविधाकृतिमिस्तदीया

ह्यात्मैव केवलनिजः स चराचरस्य ॥ १ ॥

प्राकाश्यं वै जगत् सर्वं रामः प्राकाशकः सदा ।

मायया हीयतां याति सत्त्वाज्ज्ञानगुणाश्रयः ॥ २ ॥

॥ चतुर्थं अध्याय में द्वितीयपाद समाप्त ॥



चतुर्थेऽध्याये तृतीयः पादः

(अत्र पादे सगुणविद्यावतो मृतस्योत्तरमार्गाभिधानम्)

अचिराद्यधिकरणम् (१)

नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गो यद्वाञ्छिवरादिकः । नानाविद्-स्याद्विद्यासु वर्णनादन्यथाग्यया ॥१॥
एक एवाञ्छिवरादि स्यात्प्रानाश्रुत्युक्तपूर्वक । यत् पञ्चाग्निविद्याया विद्यान्तरवता श्रुत ॥२॥

सभी ब्रह्मलोक के यात्री एक अचि आदि मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, जिसमें उसी की मार्गरूप से प्रख्याति है । पञ्चाग्नि-विद्या में वही मार्ग अन्य श्रद्धा आदि वालों के लिए भी कहा गया है । सशय होता है कि जैसे किसी एक नगर में जाने के लिए नाना-विध मार्ग होते हैं, वैसे ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति के मार्ग नानाविध अनेक प्रकार के अनेक हैं । अथवा अचि आदि रूप एक ही मार्ग है । पूर्वपक्ष है कि विद्याओं में अन्य अन्य प्रकार से मार्गों के वर्णन से नानाविध मार्ग होगा । सिद्धान्त है कि नानाश्रुति की उक्तिपूर्वक गुणोपसंहार न्याय से एक ही अचि आदि रूप मार्ग ज्ञेय, ध्येय, गन्तव्य होगा, जिसमें पञ्चाग्नि-विद्या में विद्यान्तर वालों का अचि आदि मार्ग सुना गया है ॥ १-२ ॥

अचिरादिना तत्प्रयिते ॥ १ ॥

आसृत्पुष्पक्रमात्समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम् । सूतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते । नाडोरस्मिन्सम्बन्धेनैका 'अयैतरेव रस्मिभिरुर्ध्व आक्रमते' (छा० ८।६।५) इति । अचिरादिकं 'तैजसिपमभिसम्बन्धयचिपोऽह' (बृ० ६।२।१५) इति । 'म एत देवयान पन्थानमासाद्याग्निमलोकमगच्छति' (कौ० १३) इत्यन्या । 'यदा वै पुरुषोऽम्मान्लोकात्प्रैति म वायुमगच्छति' (वृ० ५।१८।१) इत्यपरा । 'सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति' (मुण्ड० १।२।११) इति चापरा । तत्र मशय — कि परम्पर भिन्ना एता सूतय कि वैकैवानेकविशेषणेति । तत्र प्राप्त तावद्भिन्ना एता सूतय इति, भिन्नप्रकरणत्वात्, भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च । अपि च 'अयैतरेव रस्मिभि' (छा० ८।६।५) इत्यवधारणमचिराद्यपेक्षायामुपरध्वन, त्वरा-वचन च पीडयेत् 'म यायत्क्षिप्येन्यनस्तावदादित्य गच्छति' (छा० ८।६।५) इति । तस्मादन्योन्यभिन्ना एवैते पन्थान इति ।

मार्ग के उपक्रमपर्यन्त सबको समान उत्क्रान्ति होती है, यह कहा जा चुका है, परन्तु निम्न श्रुतियों में अनेक प्रकार का मार्ग सुना जाता है । नाडी और रस्मि के सम्बन्ध द्वारा एक मृति (गति) सुनी जाती है कि (हृदय में प्राप्ति के बाद इन रस्मिया द्वारा ही ऊपर गमन करता है) एक अचि आदि मृति सुनी जाती है कि (वे अचि को प्रप्ति होते हैं अचि से दिन को प्राप्त होते हैं और (यह इस देवयान मार्ग को प्राप्त करने अग्निलोक में आता है) यह अन्य मृति सुनी जाती है । (जब वह पुरुष इस लोक

से गमन करता है, तब वायु लोक में आता है) यह अन्य सृति श्रुति है । (वे विरज-पापरहित, वानप्रस्थादि सूर्य द्वारा उत्तरायण-मार्ग से प्रयाण-गमन करते हैं) यह भी अन्य सृति सुनी जाती है । यहाँ संशय होता है कि क्या ये परस्पर भिन्न मार्ग हैं । अथवा अनेक विशेषण वाला एक ही मार्ग है । यहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि भिन्न-प्रकरणता से भिन्न ही ये मार्ग हैं । भिन्न उपासनाओं के शेष अङ्ग होने से भी भिन्न हैं । दूसरी बात है कि (इन रश्मियों से ही ऊपर जाता है) यह अवधारण अर्च्चि आदि की अपेक्षा होने पर उपरुद्ध (बाधित) होगा । और (जितने काल में मन की प्रेरणा करे उतने काल में आदित्य में जाता है) वह शीघ्रताबोधक वचन भी अन्य की अपेक्षा में पीडित होगा । जिससे परस्पर भिन्न ही ये मार्ग हैं ।

एवं प्राप्तेऽभिदध्महे—अचिरादिनेति । सर्वो ब्रह्म प्रेप्सुरचिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे । कुतः ? तन्प्रथितेः । प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम् । तथाहि पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'येऽचामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति विद्यान्तरशीलिनामप्यचिरादिका सृतिः श्राव्यते । स्या-देतन् । यासु विद्यासु न काचिद् गतिरुच्यते तास्वियमचिरादिकोपतिष्ठतां यासु त्वन्यान्या श्राव्यते तासु किमित्यचिराद्याश्रयणमिति । अत्रोच्यते—भवेदेतदेवं यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः सृतयः स्युः । एकैव त्वेषा सृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोक-प्रपदनो क्वचित्केनचिद्विशेषणेनोपलक्षितेति वदामः ।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (अचिरादिनेति) सभी ब्रह्मलोक की प्राप्ति चाहने वाले अर्चि आदि एक ही मार्ग से गमन करते हैं । ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं, किस हेतु से ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं, तो कहा जाता है कि उस अर्चि आदि की प्रथिति (मार्ग रूप से प्रख्याति) से ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है, जिससे सब विद्वानों का यह मार्ग प्रथित (प्रख्यात-प्रसिद्ध) है । क्योंकि पञ्चाग्नि-विद्या-प्रकरण में (जो यथोक्त पञ्चाग्नि-विद्या को जानते हैं, और जो ये वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य-ब्रह्म हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे सब अर्चि को प्राप्त करते हैं) इस प्रकार विद्यान्तर के अनु-शीलन-चिन्तन वालों की भी अर्चि आदि सृति सुनाई जाती है । शंका होती है कि विद्या-न्तरशीली के लिए यह श्रवण हो सकता है, परन्तु जिन विद्याओं में कोई गति नहीं कही जाती है, उन विद्याओं में यह अर्चि आदिरूपगति उपस्थित हो । जिन विद्याओं में अन्य अन्य गति सुनाई जाती है, उनमें किस हेतु से अर्चि आदि का आश्रयण होगा । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि यह भिन्न मार्ग-श्रवण ऐसा होता, यदि ये सृतियाँ अत्यन्त भिन्न ही होती । किन्तु यह एक ही सृति अनेक विशेषणवाली ब्रह्मलोक तक पहुँचने और पहुँचाने वाली कही किसी विशेषण से उपलक्षित (चिह्नित) है, ऐसा कहते हैं ।

सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः । प्रकरणभेदेऽपि तु विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्गतिविशेषणानामप्युपसंहारः । विद्या-भेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद् गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव । तथाहि 'तेपु

ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति (वृ० ६।२।१५) 'तस्मिन्वसन्ति' शास्वतो ममा' (वृ० ५।१।१०) 'मा या ब्रह्मणो जितिर्या व्यष्टिम्ता जिति जयति ता व्यष्टि व्यन्तुत' (कां० १।८) 'तद्य एवेत ब्रह्मलोक ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० २।८।३) इति च तत्र तत्र तदेवैक फल ब्रह्मलोकप्राप्तिरूपेण प्रदर्श्यते । यत्प्रतिरेवेत्यवधारणमचिराद्याश्रयणे न स्यादिति । नैव दोष । रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य । नह्यक एव शब्दो रश्मीश्च प्रापयितुमर्हत्यचिरादीश्च व्यावर्तयितुम् । तस्माद्रश्मिमन्वन् एवायमवधार्यते इति द्रष्टव्यम् । त्वरावचन त्वचिराद्यपेक्षायामपि गन्तव्यान्तरापेक्षया शीघ्रवार्थत्वान्नोपपद्यते । यथा निमिषमात्रेणात्रागम्यते इति । अपिच 'जयंत्यो पथोर्न कतरेणचन' (छा० ५।१०।८) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्ट तृतीय स्थानमाचक्षाणां पितृपाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमचिरादिपत्राण पन्थानं प्रययति । भूयामि चाचिरादिश्रुतो मार्गपराप्त्यत्पीयामि त्वन्यत्र । भूयसा चानुगुण्येनात्पीयसा च नयन न्याय्यमित्यतोऽन्यचिरादिना तत्प्रथितेरित्युक्तम् ॥ ५ ॥

सर्वत्र एक देश की प्रत्यभिज्ञा में परस्परविशेषण-विशेष्यभाव की उपपत्ति से भी मार्ग एक है । प्रकरण के भेद रहते भी विद्या के एकत्व रहने पर परस्पर विशेषणा के उपसंहार के नामान गति के विशेषणा का भी उपसंहार होता है । विद्या के भेद होने भी गति के एकदेश की प्रत्यभिज्ञा से और गन्तव्य ब्रह्मलोक के अभेद (एक) होने से गति का अभेद ही है । और गन्तव्य का अभेद इस प्रकार है कि (उन ब्रह्मजाना में परावन, परम दीर्घ आयुशाले हिंष्यगर्भ के परागर्भ सम्बन्धमप्यन्त के ब्रह्मोपासन बसते हैं । उस प्रजापति के लाक में शास्वत नित्य वर्षों तक बसते हैं । वह जो ब्रह्म-हिंष्यगर्भ की जिति-विजयविभूति और व्यष्टि-व्यसि है उस विजय और व्याप्ति को प्राप्त करता है । वहाँ ब्रह्मचर्य से जो इस ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है) इन वचनों से वही ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप फल तत्तत् स्थानों में प्रदर्शित कराया जाता है । इसमें गन्तव्य एक है । और जो यह कहा था, कि । इन रश्मियों के ही द्वारा उर्ध्व आक्रमण करता है) यह अवधारण अचि आदि के आश्रयण करने पर नहीं होगा, वहाँ कहा जाता है कि इस अवधारण के रश्मि के प्राप्तिपरक होने से यह दोष नहीं है । अर्थात् रात्रि के रश्मि की स्पष्ट प्रतीति नहीं होने से रश्मि के असम्बन्ध प्राप्त होने पर उस समय भी उपागक का रश्मि के साथ सम्बन्ध दशति के लिए 'एव' शब्दरूप अवधारण है । एक ही एव शब्द रश्मिका को प्राप्त करने के लिए और अचि आदि की व्याप्ति (निवृत्ति) कराने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है । जिससे यह रश्मि का सम्बन्ध ही अवधारित (निश्चित) होता है, ऐसा समझना चाहिए । अचि आदि की अपेक्षा होने पर भी त्वरावचन (शीघ्रतामयन) तो गन्तव्यान्तर की अपेक्षा में ब्रह्मलोक की प्राप्ति में शीघ्रतायुक्त होने से उपरुद्ध नहीं होता है । जो कहा जाता है कि निमिषमात्र में यहाँ आया जाता है । दूसरी बात है कि (जब न तो विद्या का

सेवन करता है न इष्टादि कर्मों का सेवन करता है । तब इन अग्नि आदि और धूमादि मार्गों में से किसी मार्ग से गमन नहीं करता है) इस प्रकार उत्तर-दक्षिण दोनों मार्गों से त्रयों के तृतीय कष्टमय स्थान को कहती हुई श्रुति, पितृयाण से मित्र अग्नि आदि पर्वग्रन्थि-अंशवाले एक ही देवयान मार्ग प्रख्यात करती कहती है । यदि कहा जाय कि उत्तर मार्ग के एक होते भी अग्नि आदि यह विशेषण देने में क्या हेतु है, तो कहा जाता है कि अग्नि आदि श्रुति में मार्ग के पर्व बहुत हैं । और अन्य श्रुतियों में अल्प पर्व हैं और बहुतों के अनुसार अल्पों की प्राप्ति कगना उचित होता है, इस हेतु से भी (अचिरादिना तत्प्रायतेः) यह कहा गया है ॥ १ ॥

वाय्वधिकरणम् (२)

सन्निवेशयितुं वायुरन्नाशक्योऽय शक्यते । न शक्यो वायुलोकस्य श्रुतक्रमविवर्जनात् ॥ १ ॥

वायुश्छिद्राद्विनिष्क्रम्य न आदित्यं ब्रजेदिति । श्रुतेरवाग्रवेर्वायुर्देवलोकस्ततोऽप्ययः ॥ २ ॥

(स वायुमागच्छति) वह उपासक वायु को प्राप्त करता है । इस प्रकार से क्रम-रहित श्रुत वायु का अवशिेष और विशेषरूप अन्य वचन से शब्द (सम्बत्सर) से आगे स्थान समग्रता चाहिए ॥

संशय है कि इस अग्नि आदि पर्ववाले मार्ग में पर्वरूप से वायु का सन्निवेश किया जा सकता है, अथवा नहीं । पूर्वपक्ष है कि वायुलोक के श्रुतक्रम से रहित होने से उसका सन्निवेश नहीं हो सकता है । सिद्धान्त है कि वह, उपासक वायु के छिद्र से निकल कर आदित्य लोक में जाता है, इस श्रुति से सूर्य से नीचे वायु का स्थान है, और उससे भी नीचे देवलोक है, इस प्रकार अग्नि आदि मार्ग में वायु का सन्निवेश है ॥ १-२ ॥

वायुमन्वादिशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

केन पुनः सन्निवेशविशेषेण गतिविशेषाणामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति तदेतत्सुहृद्भूत्वाऽऽचार्यो ग्रथयति । 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्नि-लोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कां० १।३) इति कौपीतकिनां देवयानः पन्थाः पठ्यते । तत्रा-चिरग्निलोकगच्छदौ तावदेकार्थी ज्वलनवचनत्वादिति नात्र सन्निवेशक्रमः क्वचि-दन्वेष्ट्यः । वायुस्त्वाचिरादौ वर्त्मनि अश्रुतः कतमस्मिन् स्थाने सन्निवेश-यितव्य इति । उच्यते—'तर्जिपमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषांऽहरह आपूर्यमाण-पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्पडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः सन्वत्सरं संवत्सरादा-दित्यम्' (छा० ५।१०।१,२) इत्यत्र संवत्सरात्पराश्रमादित्यादवर्ज्यं वायुम-भिसम्भवन्ति । कस्मात् ? अविशेषविशेषाभ्याम् । तथाहि—'स वायुलोकम्' (कां० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा

रथचक्रम्य स तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (वृ० ५।१०।१) इति । एतस्मादादित्याद्यायो पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषोपादब्दादित्ययोरन्तराले वायु-निवेशयितव्यः ।

अग्नि आदि के एक मार्गरूप होने पर किस सन्निवेश-विशेष (रचनास्थान-भेद) से गतिविशेषणों (मार्गपथों) का परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव है । किस प्रकार पूर्व-परान्तरता है, उस श्रुति के अनुसार इस भेद का सुहृद् होकर आचार्य ग्रन्थन (उल्लेख) करते हैं । (वह हृदय में प्राप्त उपासक देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में आता है । वह वायु लोक में जाता है, वह वरुणलोक में आता है, वह इन्द्रलोक में आता है, वह प्रजापति लोक में आता है, ब्रह्मलोक में आता है) इस प्रकार कौपीनवियों का देवयान मार्ग पड़ा जाता है । वहाँ ज्वलनवाचकत्व से वे अग्नि और अग्निलोक शब्द एकार्यक हैं, इनमें कही सन्निवेश का क्रम अन्वेषण के योग्य नहीं है । परन्तु अग्नि आदि मार्ग में वायु अश्रुत है, सो किस स्थान में सन्निवेश कराने योग्य है, अर्थात् कौपीनकी पाठ के अनुसार अग्निरूप अग्नि से आगे, अथवा वक्ष्यमाण श्रुति के अनुसार सम्बत्सर से आगे सन्निवेश के योग्य है । ऐसा सशय होने पर कहा जाता है कि (वे उपासक अग्नि को प्राप्त होते हैं, अग्नि से दिन को प्राप्त होते हैं, दिन से आपूर्यमाण शुक्ल पक्ष को प्राप्त करते हैं । शुक्ल पक्ष से जिन छह मासों में सूर्य उत्तर जाने हैं उन मासों को वे प्राप्त होते हैं, मासों में सम्बत्सर को और सम्बत्सर से आदित्य का प्राप्त होते हैं) इस श्रुति में वर्णित सम्बत्सर के बाद और आदित्य से प्रथम वायु को प्राप्त होते हैं, क्योंकि अविशेष और विशेष श्रुतियों से ऐसा ही सिद्ध होता है । अब अविशेष और विशेष श्रुति इस प्रकार है (वह वायु को प्राप्त होता है) यहाँ अविशेष रूप में उपदिष्ट वायु का अन्य श्रुति में विशेष रूप से उपदेश देना जाता है कि (जब उपासक पुरुष इस लोक देह से निर्गमन करता है, तब वह वायु को प्राप्त होता है, वह वायु उस पुरुष के लिए वहाँ स्थान के त्याग द्वारा ग्यचक्र के छिद्र समान मार्ग देता है उस मार्ग से वह ऊपर जाता है और आदित्य लोक में प्राप्त होता है) इति । इस श्रुति-वचन से इस आदित्य से वायु के पूर्वत्व-प्रथमत्व के दर्शनरूप विशेष से सम्बत्सर और आदित्य के मध्य में वायु का निवेश करने समझने योग्य है ।

कस्मान्मुनरन्ते परत्वदर्शनाद्विशेषोपादचित्तन्तर वायुर्न निवेश्यते । नैपोर्ज्मि विशेष इति वदाम । ननुदाहृता श्रुति — 'स एन देवयान पथ्यान-मापद्यानिग्निलोकमागच्छति स वायुलोक स वरुणलोकम्' (कौपी० १।३) इति । उच्यते—यैवरोज्य पाठ पौर्वापर्येणावस्थितो नात्र क्रमवचन कश्चि-च्छब्दोर्ज्मि । पदार्थोपदर्शनमात्र ह्यत्र न्ययते 'एतच्चैव च स गच्छती'ति इतरत्र पुनर्वापुप्रतेन रथचक्रमात्रेण छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छ-तीत्यवगम्यते क्रमः । तस्मात्सूत्रमविशेषविशेषवाम्यामिति । वाजसनेयिनस्तु

‘मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्’ (वृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति, तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकद्वायुमभिमम्भवेयुः । वायुमब्दादिति तु छान्दोगः श्रुत्यपेक्षयोक्तम् । छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते परत्र मन्वत्तरः, तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ । तत्रापि माससम्बन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥ २ ॥

यदि कहा जाय कि कौपीतकी पाठ के अनुसार अग्नि से परत्वदर्शनरूप विशेष से अर्चि के अनन्तर वायु का निवेश किस हेतु से नहीं किया जाता है । तो कहते हैं कि यह विशेष नहीं है । यदि कहा जाय कि श्रुति उदाहृत हो चुकी है कि (वह इस देवयान-मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में जाता है, वह वायुलोक में आता है, वह वरुण लोक में आता है) इति । तो कहा जाता है कि इस श्रुति में पूर्वापर रूप से केवल पाठ अवस्थित है, इसमें क्रमवाचक कोई शब्द नहीं है । जिससे पदार्थों का उपदेशमात्र यहाँ किया जाता है कि (इसलोक में वह जाता है) और अन्य श्रुति में वायु से प्रदत्त (दिया गया) रथचक्रमात्र छिद्र द्वारा ऊपर जाकर आदित्य लोक में प्राप्त होता है, इस प्रकार क्रम अवगत होता है । जिससे सुन्दर कहा गया है कि , अविशेष और विशेष से क्रम अवगत होता है । और वाजसनेयी तो (मासों से देवलोक को और देवलोक से आदित्य को प्राप्त करता है । इस प्रकार पढ़ते हैं । वहाँ आदित्य से अनन्तरता के लिए देवलोक से वायु को उपासक प्राप्त होंगे । मूत्र में, वायुमब्दान्, सम्बत्सर से वायु को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार तो छान्दोग्य श्रुति की अपेक्षा से कहा गया है । छान्दोग्य और वाजसनेयक में से एक में देवलोक नहीं है, और अन्य में सम्बत्सर नहीं है, वहाँ श्रुतिद्वय के प्रत्यय (एकवाक्यता) से दोनों स्थानों में ग्रन्थन (सम्बन्ध) के योग्य हैं । उनमें भी सम्बत्सर को मास के साथ कालत्व अवयवित्वरूप सम्बन्ध से मास से पर सम्बत्सर होगा और देवलोक से पूर्व होगा, देवलोक सम्बत्सर से पश्चिम होगा, उससे पर वायु और वायु से पर आदित्य सन्निविष्ट होगा ऐसा विवेक कर्तव्य है ॥ २ ॥

तडिदधिकरणम् (३ .)

घारुणादेः सन्निवेशो नास्ति तत्राय विद्यते । नास्ति, वायोरिवेतस्य व्यवस्थ्याश्रुत्यभावतः ॥१॥ विद्युत्सम्बन्धिदृष्टिस्यनीरस्याधिपतित्वतः । वरुणो विद्युतस्तूष्णं तत इन्द्रप्रजापती ॥२॥

जल के स्वामित्व द्वारा वरुण को विद्युत् के साथ सम्बन्ध है इससे विद्युत् के ऊपर वरुण का स्थान है । संशय है कि उस अर्चि आदि मार्ग में पूर्वोक्त वरुणादि का सन्निवेश है, अथवा नहीं है । पूर्वपक्ष है कि वायु के समान इस वरुणादि की व्यवस्था श्रुति के अभाव से सन्निवेश नहीं है, सिद्धान्त है कि विद्युत्-सम्बन्धी वृष्टि में स्थित जल के स्वामी होने से विद्युत् के ऊपर वरुण का स्थान है, और पाठ के अनुसार उसके आगे इन्द्र और प्रजापति के स्थान हैं ॥ १-२ ॥

तद्वितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

‘आदित्याच्चन्द्रमस चन्द्रमसो विद्युन्म’ (छा० ४।१।५।५) इत्यस्या विद्युन् उपरिष्ठात्म् वरुणलोकमित्यय वरुण सम्बन्ध्यते । अस्मिन् हि सम्बन्धो विद्युद्वरुणयो । यदा हि विशाला विद्युन्स्तीव्रस्ननिननिर्घोषा जीमूतोदेषु प्रनृत्यन्त्यथाप प्रपतन्ति, ‘विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा’ (छा० ५।११।१) इति च ब्राह्मणम् । अपा चाधिपतिवरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रमिद्धि । वरुणाच्चापीन्द्र-प्रजापती स्थानान्तराभावात्पाठनामर्थ्याच्च आगन्तुवत्त्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेश । वैशेषिकस्थानाभावाद्विद्युच्चान्याचिरादौ वर्तन्ति ॥ ३ ॥

(आदित्य से चन्द्र में और चन्द्र से विद्युन् में प्राप्त होते हैं) इस प्रकार श्रुति में श्रुत इस विद्युन् से ऊपर वह उपासक वरुण लोक में जाता है । इस प्रकार यह वरुण में सम्बन्ध होता है । जिसमें विद्युन् और वरुण का सम्बन्ध है । जब ही तीव्र स्तनित- (गजन्ता) रूप निर्घोष (शब्द) वाली विशाल विद्युन् मेघ के उदगे में प्रनृत्य करती है, तब पानी गिरते हैं । (विजली चमकती है, मेघ गरजता है । वर्षा होगी) ऐसा लोकोक्ति-विषयक ब्राह्मण है । जलो का अधिपति वरुण है, ऐसी श्रुति-स्मृति में प्रमिद्धि है । स्थानान्तर के अभाव से और पाठ के सामर्थ्य से वरुण के ऊपर इन्द्र और प्रजापति हैं, और आगन्तुवत्त्व से भी (आगन्तुवानामन्ते निवेश) इस लौकिक न्याय से वरुणादि का अन्त में ही निवेश होता है । अर्थात् अचि आदि के मध्य में निर्दिष्ट किसी स्थान के अभाव से वरुणादि को आगन्तुवत्त्व है, और आगन्तुवत्त्व न्याय से विद्युन् के बाद वरुण से सम्बन्ध होने पर पाठ से इन्द्र और प्रजापति का व्रम होता है । अचि आदि मार्ग में विद्युन् अन्त में है, इसमें विशेष स्थान के अभाव से वरुणादि का अन्त में सन्निवेश है ॥ ३ ॥

आतिवाहिकाधिकरणम् (४)

मार्गचिह्न भोगपूर्वा नेतारो वाचिरादयः । आद्यो स्वातां मार्गचिह्नमाहृष्याल्लोकश्चरत ॥१॥ अन्ते गमयतीत्युक्तेनेतारस्तेषु चेदुश । निर्देशोस्तत्र लोकाद्या तन्निवासिजनान् प्रति ॥२॥

आतिवाहिक देवविशेष के बोधक लिङ्गों से अचि आदि शब्दों में आतिवाहिक (मार्गप्रदर्शक) देव गृहीत होते हैं । सशय है कि अचि आदि मार्ग के चिह्न हैं, अथवा भोग के स्थान हैं । यदा नेता देव हैं । पूर्व पक्ष है कि मार्गचिह्न की स्वस्वता में और लोक शब्द से प्रथम के दोना पक्ष हो सकने है । सिद्धान्त है कि अन्त में अमानव पुरुष पहुँचाता है, इस वचन से अचि आदि नेता ही हैं, उन में ही इस प्रकार का लोचमदृष्ट निर्देश है, और यहाँ लोक नाम उन लोगों में वचन वालों के प्रति कहा गया है ॥१-२॥

आतिवाहिकस्तरिलङ्गात् ॥ ४ ॥

तेज्वेवाचिरादिषु मशय—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽप्यवा-
र्जितनेतारो गन्तृणामिति । तत्र मार्गप्रदर्शकानां अचिरादय इति तावत्

प्राप्तम्, तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य । यथाहि लोके कश्चिद् ग्रामं नगरं वा प्रति-
ष्ठासमानोऽनुशिष्यते गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं
ततो नगरं वा प्राप्स्यसीति । एवमिहाप्यर्चिपोऽहरह् आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह ।
अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम् । तथाहि—लोकशब्देनाग्न्यादीनुपबध्नाति
'अग्निलोकमागच्छति' (कौपी० १।३) इत्यादि । लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगा-
यतनेषु भाष्यते 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (वृ० १।५।१६) इति च ।
तथाच ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु नज्जन्ते' इत्यादि । तस्मान्नाति-
वाहिका अचिरादयः । अचेतनत्वादप्येतपामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः । चेतना हि
लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानतिवाहयन्तीति ।

उन्ही अर्चि आदि-विषयक संशय होता है कि क्या ये अर्चि आदि मार्ग के चिह्न
हैं, अथवा भोग के स्थान हैं, अथवा ब्रह्मलोक में जाने वालों के अतिनेता-अतिवहन
(पहुँचाने में) समर्थ आतिवाहिक हैं । वहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि मार्गचिह्नरूप
अर्चि आदि हैं । क्या कि उपदेश को वह चिह्नस्वरूपत्व है, जैसे लोक में कोई किसी ग्राम
वा नगर में प्रस्थान (यात्रा) की इच्छावाला गुरुजनो से अनुगम्यित होता है, उपदेश
पाता है कि तुम यहाँ से उस पर्वत पर जावो, वहाँ से न्यग्रोध (वटवृक्ष) के पास जाना,
वहाँ से नदी के पास जाना, उसके बाद ग्राम वा नगर को प्राप्त करोगे । इसी प्रकार
यहाँ भी अर्चि से दिन, दिन से शुक्ल पक्ष को प्राप्त करता है, इत्यादि श्रुति कहती है ।
अथवा अर्चि आदि भोग के स्थान हैं, ऐसा प्राप्त होता है । जिससे लोकरूप भोग स्थान
के समान ही लोकशब्द के साथ अग्नि आदि का उपनिबन्ध (संबन्ध-उल्लेख) श्रुति करती
है कि (अग्निलोक में प्राप्त होता है) लोक शब्द प्राणियों के भोग-स्थानों में भाषित
(पठित-कथित) होता है कि (मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक ये तीन लोक हैं)
इसी प्रकार का ब्राह्मण-ग्रन्थ है कि (लोक शब्द से कहे गए भोग के आश्रयरूप दिन-
रात्रि आदि में वे कर्मी और ज्ञानी उपासक सक्ति (भोग) का अनुभव करते हैं) इत्यादि ।
जिससे अर्चि आदि आतिवाहिक नहीं हैं । अचेतनत्व से भी इनके आतिवाहिकत्व की
अनुपपत्ति है । जिससे लोक में राजा से नियुक्त चेतन पुरुष दुर्गम मार्गों में जाने वालों
को उष्ट स्थान में पहुँचाते हैं । अर्थात् दुर्गम मार्गों के पार जाने योग्यों को मार्गों से परे
ले जाते हैं ।

एव प्राप्तं ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भविनुमर्हन्ति । कुतः ? तल्लिङ्गात् ।
तथाहि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा०
४।१५।५) इति सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति । याद्वचनं वाचनिकमिति न्यायात् ।
तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत् । न । प्राप्तमानवस्त्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशो-
पणस्य । यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्नि-
वृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति ॥ ४ ॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकं न्यायाभावात् । नैव दोषः,—

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि ये अचि आदि आतिवाहिक ही होने योग्य हैं, किस हेतु से ऐसा होने योग्य है, तो कहा जाता है कि उस आतिवाहिक के लिङ्ग (बोधक हेतु) से होने योग्य है। वह लिङ्ग इस प्रकार का है कि (चन्द्रमा से विद्युन् मे जाते हैं, विद्युन् को प्राप्त करते हैं, वहाँ ब्रह्मलोक से अमानव पुरुष आता है, ब्रह्मलोक में उन्हे लेने के लिए आता है। अतः इन उपसर्गों को ब्रह्मलोक में पहुँचाता है) यह श्रुति लोमसिद्ध चेतन नेता के समान गमयितापन अमानव पुरुष में दर्शनी है, उसके सात्त्विक्य में अचि आदि मो चेतन नेता सिद्ध होते हैं। सका होती है कि वचन से सिद्ध वस्तु वचनमात्रविषयक होती है, अर्थात् जहाँ वचन कहता हो वहाँ ही सिद्ध होनी है अन्यत्र नहीं, इस न्याय में वह वचन विद्युर् लोका से चेतन नेता के बोध करा कर ही उपशील शान्त हो जाता है, अचि आदि में चेतन पुरुषता को नहीं मिट कर सकता है। उत्तर है कि नेताओं में प्राप्त मानवत्व की निवृत्तिपरत्व वचन के होने से वचन तावन्मात्रविषयक नहीं है। अर्थात् वचन में नेतृत्व और अमानवत्व दोनों के विधान में वाक्य-भेद होता, इससे अचि आदि पर से मानव नेता प्रथम से प्राप्त हैं, विद्युन् में आगे मानव की प्राप्ति होने पर यह वचन प्रवरण से प्राप्त नेतापन का अनुवाद करके केवल अमानवता का प्रतिपादन करता है। इससे यदि अचि आदि में पहुँचाने वाले पुरुष प्राप्त हैं, और वे मानव हैं, तो उस मानवत्व की निवृत्ति के लिए अमानव यह विशेषण युक्त होता है। और इसी से सर्वत्र चेतन पुरुष नेता सिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

सका होती है कि न्याय (युक्ति हेतु) के अभाव से लिङ्ग मात्र अगमक (अबोधक) होता है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

ये तावदचिरादिमार्गांस्ते देहवियोगान्मपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्यतन्त्रा अचिरादीनामप्यचेतनत्वादम्वातन्त्र्यमित्यतोऽचिराद्यभिमानिनश्चेतना देवता-विशेषा अतियात्राया नियुक्ता इति गम्यते। लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादय मपिण्डितकरणग्रामा परप्रयुक्तवर्तमानो भवन्ति। अनवस्थितत्वादप्यचिरादीना न मार्गलक्षणव्योपपत्तिः। नहि रात्रौ प्रेतस्याहम्ब्रह्माभिसम्भव उपपद्यते। नच प्रतिपालनमस्तीत्युक्तमधस्तात्। ध्रुवत्वात् देवतात्मना नाय दोषो भवति। अचिरादिनान्दना चैषामचिराद्यभिमानादुपपद्यते। 'अचिपोद्' (छा० ४।१।५।५।१०।१) इत्यादिनिर्देशस्त्वानिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते। अचिपा हेतुनाऽहर्भिमम्भवन्ति अह्ना हेतुना आपूर्यमाणपशमिति। तथा च लोके प्रमिद्वेष्यातिवाहिकेष्वेवजातीयक उपदेशो दृश्यते, गच्छत्वमितो बल-वर्माण तनो जयमिह तनः पृष्णगुप्तमिति। अचि चोपक्रमे 'तेऽचिरभिमम्भवन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति सम्बन्धमात्रमुक्तं न सम्बन्धविशेष कश्चित्। उप-

संहारे तु 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१।५।६) इति सम्बन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन न एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते । संपिण्डितकरण-ग्रामत्वादेव च गन्तृणां न तत्रोपभोगसम्भवः । लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते, अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात् । अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते वायुस्वामिकं लोकं प्राप्नोति वायुनेति योजयितव्यम् ॥ ५ ॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्सम्भवः । विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ता विद्युतस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति, अत उत्तरं पठति—

यदि अर्चि आदि अचेतन है, और गन्ता भी अज्ञ है तो दोनों के अज्ञ होने से ऊर्ध्व गति नहीं हो सकेगी । इससे स्वयं प्रयत्नरहित किसी अन्य चेतन से कहीं प्राप्त किया जाता है । इस लीं 'क'क न्याययुक्त लिङ्ग से नेता की सिद्धि से दोष का अभाव है । यह मूत्र का संक्षिप्तार्थ है ॥

जो अर्चि आदि मार्ग से गमन करने वाले हैं वे तो स्थूल देह के वियोग से सम्पिण्डित (संलीन) करण-समूहवाले हैं, इससे गमन में अस्वतन्त्र हैं, होते हैं । अचेतनता से अर्चि आदि को भी अस्वतन्त्रता है । इससे अर्चि आदि के अमिमाना चेतन देवताविशेष अतियात्रा (उत्तम ब्रह्मगति) में ईश्वर से नियुक्त है, ऐसा समझा जाता है । जिससे लोक में लीन करणसमूहवाले मत्त, भ्रूच्छित आदि अन्य प्रयुक्त मार्गवाले (अन्य निमित्तक गतिवाले) होते हैं । अर्चि आदि के अनवस्थित होने से भी मार्ग के लक्षणत्व की उत्पत्ति उनमें गिरि आदि के समान नहीं हो सकती है । रात्रि में मरने वाले को दिन के स्वरूप का अमिसंभव (प्राप्ति) सिद्ध नहीं हो सकता है । प्रथम कहा गया है कि रात्रि में मरने वाले को दिन का प्रतिपालन (प्रतीक्षा करना) नहीं हो सकता है । देवतात्मा (देवस्वरूप) के तो ध्रुव होने से यह दोष नहीं होता है । अर्चि आदिविषयक अमिमान से इन देवतात्माओं को अर्चि आदि शब्दवत्ता अर्चि आदि शब्दवाच्यता उपपन्न होती है । आतिवाहिकत्व होने पर भी (अर्चि से दिन को प्राप्त होते हैं) इत्यादि निर्देश विरुद्ध नहीं होता है । अर्चिन्प हेतु द्वारा दिन को प्राप्त करते हैं । दिनरूप हेतु द्वारा शुक्ल पक्ष को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार अविरुद्ध निर्देश होता है । इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध आतिवाहिकों में इस रीतिवाला उपदेश देखा जाता है कि तुम यहाँ से बलवर्मा के पास जावो, वहाँ से जयसिंह के पास जाना, वहाँ से कृष्ण-गुप्त को प्राप्त करना इत्यादि । और दूसरी बात है कि (वे अर्चि को प्राप्त करते हैं) इस उपक्रम में सम्बन्धसामान्यमात्र कहा गया है, कोई विशेष सम्बन्ध नहीं कहा गया है । उपसंहार में तो (वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) इस प्रकार अतिवाह्य (अतिगामी) अतिवाहकत्व (प्रापकत्व) रूप सम्बन्ध विशेष कहा गया है जिससे वही विशेष सम्बन्ध उपक्रम में भी है ऐसा निर्णय निश्चय किया जाता है । संलीन

कारणसमूह के होने ही से ब्रह्मलोक के यात्रियों को उन अग्नि आदि लोकों में भोग का सम्भव नहीं है। गन्ता यात्रियों के उन लोकों में भोगरहित होने भी अन्य उन लोक-वायियों के भोगभूमित्व (भोगम्यान्तत्वं) में लोकशब्द सगत-प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् अग्नि आदि लोक शब्द से कह जा सकते हैं। इससे अग्निरूप स्वामी वाले लोक में प्राप्त उपासक अग्निदेव से जागे पहुँचाया जाना है, वायुरूप स्वामी वाले लोक में प्राप्त हुआ वायुदेव से जागे पहुँचाया जाना है। इस प्रकार योजना (सम्बन्ध) करने योग्य है ॥ ५ ॥

शका होनी है कि जातिवाहिकत्व पक्ष में विद्युत् से जागे रहनेवाले वर्णादि में उस आतिवाहिकत्व का सम्भव कैसे होगा जिससे विद्युत् में ऊपर वर्णादि उपगित (स्थापित) हैं। विद्युत् के अनन्तर ब्रह्मलोक में ब्रह्म की प्राप्ति पर्यन्त अमानव पुरुष की ही गमयितृता (गमनहेतुता) गुणी गट है। इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

नतो विद्युदभिमभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनेवामानवेन पुरूपेण वर्णलो-
कादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोक गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम्। 'तान्त्रैद्युतात्पुरूपोऽ-
मानव (म) एत्य ब्रह्मलोक गमयति' इति तस्मैव गमयितृत्वश्रुते। वर्णा-
दमस्तु तन्त्रैवाप्रतिबन्धकरणेन ग्राह्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्य-
वगन्तव्यम्। तस्मात्तन्नाधूकतमाति हिंसा देवतात्मानोचिरादय इति ॥ ६ ॥

उन विद्युत् की प्राप्ति के अनन्तर उससे ऊपर विद्युत् के अनन्तरवर्ती (विद्युल्लो-
कमागतो वैद्युतस्तेनैव) विद्युत् लोक में आया हुआ वैद्युत (विद्युत् सम्बन्धी) अमानव
पुरुष द्वारा ही वर्ण लोकादि में पहुँचाए जाते हुए प्राप्त होते हुए ब्रह्मलोक में उपासक
प्राप्त होते हैं, ऐसा समझना चाहिए (वह अमानव पुरुष आकर उन उपासकों को
विद्युत्सम्बन्धी लोक से ब्रह्मलोक में प्राप्त कराना है) इस प्रकार उस अमानव पुरुष
की ही विद्युत् से जागे गमयितृत्व-अतिवाहकत्व श्रुति से उक्त गति में समझना
चाहिए। जोर वर्णादि तो उसी अमानव पुरुष के अप्रतिबन्ध संपादन के द्वारा वा
किसी महायन्त्र के अनुष्ठान के द्वारा अनुग्राहक (मददगार) होते हैं, ऐसा जानने योग्य
है, जिसमें अग्नि आदि आतिवाहिक देवतात्मा है, यह सुन्दर संयम कहा गया है ॥ ६ ॥

कार्याधिकरणम् (५)

पर ब्रह्मापवा कार्यमुदद्भाग्यं गम्यते। मुख्यत्वादमृतत्वोर्नेर्गम्यते परमेव तत् ॥ १ ॥
कार्यं स्याद् गतिर्योग्यवान् परस्मिन्स्तदवभवान्। सामीप्याद् ब्रह्माशब्दोक्तिरमृतत्वं ब्रह्माद्भवेत् ॥

वह अमानव पुरुष उन उपासकों की कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति करता है, क्योंकि इस
कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही गति की उपपत्ति हो सकती है, सर्वात्मा विमुक्त
निर्विषय की प्राप्ति के लिए इस उपासक की गति उपपन्न नहीं हो सकती, इस प्रकार
वादीर आचार्य कहे हैं। उक्त देवमान माग से परब्रह्म प्राप्त किया जाता है, अथवा

कार्यब्रह्म प्राप्त होता है। यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि, ब्रह्म शब्द के मुख्य अर्थ पर-ब्रह्म के होने से और गतिपूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति द्वारा अमृतत्व (मोक्ष) के कथन से वह परब्रह्म ही प्राप्त किया जाता है। सिद्धान्त है कि गतिद्वारा प्राप्ति के योग्य होने से कार्यब्रह्म होगा, विभु परब्रह्म में उस गति के असम्भव से परब्रह्म नहीं हो सकता है। कार्यब्रह्म को भी अन्य पदार्थों की अपेक्षा समीपता से आकाश के समान परब्रह्म की सद्गता असद्गता आदि से ब्रह्मशब्द से उसका कथन होता है, और उसकी प्राप्ति से ज्ञानद्वारा क्रम से अमृतत्व होगा ॥ १-२ ॥

कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

‘स एतान्ब्रह्म गमयति’ (छा० ४।१।५) इत्यत्र विचिकित्स्यते— किं कार्य-मपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मति । कुतः नंगयः ? ब्रह्म-शब्दप्रयोगाद् गतिश्रुतेश्च । तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मज्ञानगमयत्यमानवः पुरुष इति वादरिराचार्यो मन्यते । कुतः ? अस्य गत्युपपत्तेः अस्य हि कार्य-ब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते प्रदेशवत्त्वात्, नतु परस्मिन्ब्रह्माणि गन्तृत्वं गन्त-व्यत्वं गतिर्वाऽविकल्पते, सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तृणाम् ॥ ७ ॥

(वह अमानव पुरुष इन उपासकों को ब्रह्मलोक में ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है) यहाँ संशय होता है कि क्या वह अमानव पुरुष कार्यरूप अपर ब्रह्म को प्राप्त कराता है, अथवा अविकृत मुख्य परब्रह्म को ही प्राप्त कराता है। संशय किस हेतु से होता है, तो कहा जाता है कि ब्रह्म शब्द के प्रयोग से और गति के श्रवण से संशय होता है। ऐसा संशय होने पर अमानव पुरुष इन उपासकों को सगुण अपर कार्यब्रह्म की ही प्राप्ति कराता है। इस प्रकार वादरि आचार्य मानते हैं। कयो ऐसा मानते हैं, तो कहते हैं, इस कार्य-ब्रह्म-सम्बन्धी गति की उपपत्ति से ऐसा मानते हैं। जिससे प्रदेशवत्ता से इस कार्यब्रह्म को गन्तव्यत्व (गतिप्राप्यत्व) उपपन्न होता है। परब्रह्म में तो गन्तृत्व (गमनकर्तृत्व) गन्तव्यत्व वा गति की सिद्धि नहीं हो सकती है। परब्रह्म के सर्वगत होने से तथा गमन-कर्ताओं के प्रत्यगात्मत्व (अन्तरात्मत्व) से किसी प्रकार भी परब्रह्म को गन्तव्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

‘ब्रह्मलोकानामयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति’ (वृ० ६।१।५) इति च श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते । नहि बहुवचनेन विशेषणं परस्मिन्ब्रह्मण्येककल्पते । कार्यं त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम् । लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी, गौणी त्वन्यत्र ‘ब्रह्मैव लोक एव सम्राट्’ इत्यादिषु । अधिक-रणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्माणि नाञ्जसः- स्यात् । तस्मात्कार्य-विषयमेवेदं नयनम् ॥ ८ ॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिवारण ब्रह्मति प्रतिष्ठापितमिति, अत्रोच्यते—

(अमानव पुरुष उपासकों को ब्रह्मलोको की प्राप्ति कराता है, और वे उपासक उन लोको में हिरण्यगर्भ के उत्तम सम्बन्धो तक वास करते हैं) इस प्रकार अन्य श्रुति में विशेषितत्व [बहुवचनरूप विशेषणयुक्तत्वं] से कार्यब्रह्मविषयक ही गति होती है ऐसा समझा जाना है, जिससे परब्रह्म में बहुवचन द्वारा विशेषण [भेद] नहीं सिद्ध हो सकता है । कार्यब्रह्म में तो अवस्थाभेद की सिद्धि से बहुवचन का सम्भव होता है । गति से प्राप्त ब्रह्मविषयक लोक श्रुति भी विकाराश्रय सन्निवेश [आकार] विशेषयुक्त भोगस्थान में ही मुख्य हो सकती है । अन्यत्र [हे सम्माद् ब्रह्म ही यह लोक है] इत्यादि वाक्यों में परब्रह्मविषयक लोक श्रुति भोग्यत्व के उपचार से गौणी है । अधिकरण अधि-वर्तव्य [आधाराद्येयत्व] निर्देश भी परब्रह्म में मुख्य नहीं द्वागा । जिससे कार्यविषयक ही यह उपासक का प्रापण है ॥ ८ ॥

यका होती है कि कार्यब्रह्मरूप विषय [अर्थ] में भी ब्रह्मशब्द नहीं उपपन्न होता है, जिससे समन्वयाध्याय में समस्त जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है, यह प्रतिज्ञा-प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित निश्चित) किया गया है । यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

सामीप्यात्तु तद्वचनपदेशः ॥ ९ ॥

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते । परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिनिवन्धात् अवचिन्तक-श्चिद्विनारथभेदमनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥ ९ ॥

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवण न घटते । नहि परस्माद् ब्रह्मणोजन्यत्र अवचिन्तित्यता सभवति । दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानावृत्तिम् 'एनेन प्रतिपद्यमाना इम मानवभावतं नावर्तन्ते' (छा० ४।१।५।६) इति, तेषा-मिह न पुनरावृत्तिरस्ति 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६-क० ६।१६) इति चेत् । अत्र ब्रूम —

तुशब्द यका की व्यावृत्ति के लिए है कि अपरब्रह्म को परब्रह्म के साथ समीपता-रूप सम्बन्ध से उस अपरब्रह्म में ब्रह्म शब्द का प्रयोग विरुद्ध नहीं होता है, जिससे परब्रह्म ही सात्त्विक विशुद्ध उपाधियों के सम्बन्ध से वही किसी विकारो के धर्म मना-मयत्वादि द्वारा उपासना के लिए उपदिश्यमान [उपदेश का विषय] होता हुआ अपर-ब्रह्म कहा जाता है, ऐसी स्थिति है ॥ ९ ॥

यही यका होती है कि देवयान से कार्यब्रह्म की प्राप्ति होने पर अपुनरावृत्ति (नित्यमुक्ति) श्रवण सघटित नहीं होता है । जिससे परब्रह्म से अन्यत्र वही नित्यता का सम्भव नहीं है । देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में प्रस्थितों (प्राप्तां) की अनावृत्ति की

श्रुति दर्शाती है कि (इस देवमार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त प्राणी इस मानव आवर्त (मनुष्य लोक-सम्बन्धी जन्ममरण के काल-चक्र) में नहीं आते हैं । उनको फिर यहाँ आवृत्ति संसृति नहीं होती है । उस मुपुम्ना नाडी द्वारा ऊपर जाता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता है । यदि इस प्रकार कोई शंका करते हैं, तो यहाँ कहते हैं कि—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परं पदं प्रतिपद्यन्त इति । इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या । नह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्म के लोक के प्रलय की प्रत्युपस्थिति (प्राप्ति) होने पर उस लोक में ही उपासनादि के बल से उत्पन्न सम्यग् दर्शन वाले होते हुए उस लोक के अव्यक्त हिरण्यगर्भ के साथ इस कार्यब्रह्म से पर परिशुद्ध विष्णु के पर पद (स्वरूप) को अनुभूत प्राप्त करते हैं । इस प्रकार की क्रममुक्ति, अनावृत्ति आदि रूप श्रुति-वचनों से अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) हैं । क्योंकि मुख्य रूप से ही साक्षात् ही गतिपूर्वक परब्रह्म की प्राप्ति का सम्भव नहीं है, यह उपपादक (सिद्ध) किया गया है ॥ १० ॥

स्मृतेदच्च ॥ ११ ॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—

ब्रह्मणा संह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति ॥

तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयते इति सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्यं वादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्यादिनेति, स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

स्मृति भी इस उक्त अर्थ में अनुमति देती है । इस अर्थ को स्वीकार करती है कि (प्रतिसंचर-महाप्रलय के संप्राप्त होने पर पर-हिरण्यगर्भ के अन्तःसंप्राप्त होने पर वे सब कृतात्मा शुद्धबुद्धिवाले ब्रह्मलोक-निवासी ब्रह्मा के साथ पर पद में प्रवेश करते हैं) जिससे कार्यब्रह्मविषयक गति सुनी जाती है, यह सिद्धान्त है ॥ ११ ॥

यहाँ जिज्ञासा होती है कि, किस पूर्वपक्षकी आशंका करके (कार्यं वादरिः इत्यादि सूत्रों से सिद्धान्त प्रतिष्ठापित (निरूपित) किया गया है । इससे अब इस समय सूत्रों द्वारा ही वह पूर्वपक्ष उपदर्शित कराया जाता है (दिखलाया जाता है) कि—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते । कुतः ? मुख्यत्वात् । परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्य-मालम्बनं गौणमपरं, मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥ १२ ॥

जमिनि आचार्यं तो (वह अमानव पुरुष इन उपासको को ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) इस श्रुति में परब्रह्म को ही प्राप्त कराता है, ऐसा मानते हैं । किस हेतु से ऐसा मानते हैं, जिससे परब्रह्म ब्रह्मशब्द का मुख्य आलम्बन (वाच्यार्थ-विषय) है अपर-ब्रह्म भीण आलम्बन (अर्थ) है । मुख्य-भीण दोनों की प्राप्ति-प्रसंग रहते मुख्यविषयक सप्रत्यय (प्रतीति) होता है ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

‘तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति’ (छा० ८।६।६, क० ६।१६) इति च गतिपूर्वक-ममृतत्व दर्शयति । अमृतत्व च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्यं, विनाशित्वा-त्कार्यस्य ‘अथ यत्रान्यत्पश्यति तदस्य तन्मर्त्यम्’ (छा० ७।२।११) इति वचनात् । परविषयेव चेपा गति कठवलीयु पठ्यत नहि नत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽ-स्ति ‘अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्’ (क० २।१४) इति परस्यैव ब्रह्मण प्रक्रान्त-त्वात् ॥ १३ ॥

उप मूर्धंगामिनी मुपुम्ना नाडी द्वारा ऊर्ध्वं गमन करता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता है) यह श्रुति गतिपूर्वक अमृतत्व दर्शाती है । परब्रह्म में प्राप्त होने पर अमृतत्व उपपन्न होता है, कार्य के विनाशित्व में कार्य में प्राप्ति में अमृतत्व नहीं होता है । (जिस अविद्या अवस्था में अन्य में अन्य को देखता है, वह दृश्य वस्तु स्वप्न दृश्य के समान अस्य ह अतएव वह मर्त्य-विनश्यत ह) इस वचन से कार्य का विनाशित्व सिद्ध होता है । कठवल्लियो में भी यह परब्रह्मविषयक ही गति पड़ी जाती है, क्योंकि (धर्म-धर्म पञ्चादि में जो अन्य है, तथा अधर्मादि से अन्य है) इस प्रकार परब्रह्म ही के प्रक्रान्तत्व (निरूपण के लिए जाव्यत्व) होने से इन कठवल्लियो में विद्यान्तर का प्रक्रम (प्रकरण-आगम) नहीं है ॥ १३ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १४ ॥

अपि च ‘प्रजापते सभा वेदम प्रपद्ये’ (छा० ८।१४।१) इति, नाय कार्य-विषय प्रतिपत्त्यभिर्मात्रं ‘नामरूपयोर्निवहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म’ (छा० ८।११।१) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मण प्रकृतत्वात्, ‘यसोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्’ (छा० ८।१४।१) इति च सर्वात्मत्वेनापक्रमात् । ‘न तस्य प्रति-माज्मि, यस्य नाम महद्यम’ (श्वेता० ४.१९) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यसो-नामत्वप्रसिद्धिः । मा चेय वेदमप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दंशियायामुदिता ‘तदपरा-जिता पूर्णब्रह्मण प्रभुविमित हिरण्यम्’ (छा० ८।५।३) इत्यत्र । पदेरपि च गत्यर्थं स्वान्माणापेक्षाज्वलीयते । नस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम् ।

और भी बकाव्य है कि (प्रजापति के सभास्य घर को मैं प्राप्त करता हूँ) यह भी कार्यब्रह्मविषयक प्रतिपत्ति (प्राप्ति) की अभिसंधि (सक्लप-व्यापन) उपासक की मरण-

कालिक चिन्ता (विचार) नहीं है । क्योंकि (आकाश आत्मा ही बीजस्वरूप नाम और रूप का निर्वहिता धारण कर्ता व्याकर्ता है और नाम रूप जिसके अन्दर में हैं, नाम रूप के अन्दर में जो असग रूप से है वह ब्रह्म है इस प्रकार से परब्रह्म ही प्रकृति है । अर्थात् परब्रह्म का प्रकरण है । जो कार्यब्रह्म से विलक्षण है, इससे वह उपासक का संकल्प श्रुति कार्यब्रह्मविषयक नहीं है । (और मैं ब्राह्मणों का यश-आत्मा होऊँ) इस प्रकार सर्वात्मत्वरूप से उपक्रम होने से भी यह परब्रह्म के प्राप्तिविषयक ही उपासक का संकल्प वर्णित है । (उस परब्रह्म ईश्वर की प्रतिमा-उपमा नहीं है कि जिसका महत्-अपरिच्छिन्न विभु यश नाम है) इस श्रुति से परब्रह्म के ही यशोनामत्व की प्रसिद्धि से यशनाम से सर्वात्मरूप से परब्रह्म का उपक्रम सिद्ध होता है । यदि कहा जाय कि प्रकरणादि से वह संकल्प परब्रह्मविषयक हो, तो भी वह वेश्म घर) की प्राप्ति गतिपूर्वक कैसे होगी, परब्रह्म के समागृह तो सब के हृदय हैं, तो कहा जाता है, कि इस वेश्म की गतिपूर्वक प्राप्ति हार्दविद्या में कही गई है (उस ब्रह्मलोक में विद्या ब्रह्मचर्यादिहीनों से अपराजित-अप्राप्य ब्रह्म का पुर है, जो प्रभु से ही विशेषरूप से निर्मित है और सुवर्णमय मुवर्ण रचित है) यहाँ वह गतिपूर्वक प्राप्ति कही गई है । (वेश्म प्रपद्ये) इस श्रुतिगत पदधातु के भी गन्त्यर्थ होने से मार्ग की अपेक्षा निश्चित होती है । जिससे परब्रह्मविषयक गतिश्रुतियाँ हैं, यह पक्षान्तर है ।

तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरको मुख्यत्वादिभिर-परः । तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनाभासयितुं नतु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातः, द्वितीयस्तु पूर्वपक्षः । न ह्यस-त्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदज्ञापयिता विद्यते । परविद्या-प्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८।६।३) इतिवत् । 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति तु पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते । तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः ।

उक्त ये दो पक्ष आचार्य से सूत्रित (सूत्रों द्वारा कथित) हुए हैं, उनमें गति की उपपत्ति आदि रूप हेतुओं से एक पक्ष कहा गया है । मुख्य-वादि हेतुओं से दूसरा पक्ष कहा गया है, जिनमें गति की उपपत्ति आदि रूप जो हेतु हैं वे मुख्यत्वादि रूप हेतुओं को आभास (मिथ्या-असत्) स्वरूप सिद्ध करने के लिए समर्थ हैं । मुख्यत्वादि हेतु गति की उपपत्ति आदि को आभास करने के लिए समर्थ नहीं है । इससे आद्यपक्ष ही सिद्धान्तरूप व्याख्यात (कथित) हुआ, है, सिद्धान्तरूप से आद्यपक्ष का व्याख्यान किया गया है । दूसरा पक्ष पूर्वपक्ष व्याख्यात हुआ है । जिससे असम्भव के होते भी (सम्भव के नहीं रहते भी) मुख्य ही अर्थ का ग्रहण होना चाहिए, इस प्रकार आज्ञा देने वाला कोई नहीं है । अर्थात् गन्तव्यता, बहुवचन भोगादि का परब्रह्म में असम्भव

है, इससे मुख्य अर्थ का त्याग ही उचित है (अन्य नाटिका उद्घरण में नाना सप्तासरणि के लिए होती हैं) इसके समान परविद्या के प्रकरण में भी उस परविद्या की स्तुति के लिए विद्यान्तर (अपरविद्या) रूप आशयवाली गति का अनुकीर्तन उपपन्न होता है । और प्रजापति की समा-रूप गृह में जाता है) यह तो पूर्ववाक्य से विच्छेद (भेदन) द्वारा कार्यब्रह्म में प्राप्तिविषयक ध्यान विरुद्ध नहीं होता है । सगुण ब्रह्म में भी यद्यदि रूप से सर्वान्तर का सकीर्तन (सर्व कर्म वाला है, सब काम वाला है) इत्यादि के समान सिद्ध हो सकता है, जिसमें गतिश्रुतियाँ अपरब्रह्मविषयक ही हैं ।

वेचित्सुन पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येता व्यवस्थामनुद्ध्यमाना परविषया एव गतिश्रुती प्रतिष्ठापयन्ति । तदनुपपन्नम्-गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मण 'यत्सर्वगत सर्वान्तर सर्वात्मक च पर ब्रह्म' 'आकाश-वत्मवंगतश्च नित्य' 'यत्माक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (वृ० ३।४।१) 'य आत्मा सर्वान्तर' (वृ० ३।४।१) 'आत्मैवद सर्वम्' (छा० ७।२।५।२) 'ब्रह्मैवेद विश्व वशिष्ठम्' (मु० २।२।११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेष, तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते । नहि गतमेव गम्येन, अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्ध लोके । ननु लोके गन्त्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टस्य दृष्टा, यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवी देशान्तरद्वारेण गच्छतीति, तथानन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्ट वार्धक्यम्वात्मभूतमेव गन्तव्य दृष्ट, तद्वद् ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेनत्वात्तच्चिद् गन्तव्यता स्यादिति । न । प्रतिपिद्धमवशिष्टत्वाद् ब्रह्मण । 'निष्कल निष्प्रिय शान्त निरवय निरञ्जनम्' (श्वेता० ६।१९) 'अम्यूलमनष्वहम्वमदीधम्' (वृ० ३।८।८) 'म बाह्याभ्यन्तरो ह्यज' (वृ० २।१।२) 'म वा एष महानज आत्माज्जरोऽमरोऽमनोऽमृतोऽमयो यो ब्रह्म' (वृ० १।४।२५) 'न एष नेति नेत्यात्मा' (वृ० २।१।२६) इत्यादिश्रुतिन्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोग परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते ।

पूर्व के सूत्र पूर्वपक्षमूर्तरूप हैं, उत्तर के अगले सूत्र सिद्धान्तमूर्तरूप हैं । ऐसी व्यवस्था को अनुराग (स्वीकार) करने वाले कोई गतिश्रुतियाँ परब्रह्म-विषयक ही हैं, ऐसा प्रतिष्ठापन (प्रतिपादन) करते हैं । वह अनुपपन्न (अयुक्त) है । जिसमें परब्रह्म को गन्तव्यत्व (गति में प्राप्तियोग्यत्व) को अनुपपत्ति है (जो परब्रह्म सर्वगत, सर्वान्तर और सर्वात्मक है । आकाश के समान सर्वगत होता हुआ नियत है । जो भाशा-व्यवधान रहित अपरोक्ष ब्रह्म है । आत्मा है, सर्वान्तर है । जो आत्मा ही हम सब जगत्स्वरूप है । ब्रह्म ही इस समस्त जगत्स्वरूप है, और अत्यन्त परम्) इत्यादि श्रुतियों में निर्धारित सर्वगतत्वादि विशेषवाला परब्रह्म है, जिसकी गन्तव्यता (गतिप्राप्यता) कभी नहीं उपपन्न हो सकती है । जिसमें गत (प्राप्त) ही नहीं प्राप्त किया जाता है, लोक में प्रसिद्ध है कि अन्य ही किसी अन्य को प्राप्त करता है । गवा होना है कि लोक में देशान्तर (स्थानान्तर) युक्त प्राप्ति की भी गन्तव्यता (प्राप्यता)

देखी जाती है, जैसे पृथिवी पर प्रास स्थित ही पुरुष देशान्तर द्वारा पृथिवी को प्रास करता है। इसी प्रकार बालक के अनन्य (अभिन्न) होते भी कालान्तर से युक्त वृद्धता को बालक के स्वात्मस्वरूप को ही गन्तव्य देखा गया है, बालक वृद्धता को प्रास करता है, यहाँ प्रास में प्राप्यता देखी जाती है। वैसे ही ब्रह्म को भी सर्वशक्तियुक्त होने से किसी प्रकार से गन्तव्यता होगी। उत्तर है कि पृथिवी और बालक के विशेषयुक्त होने से उसमें भी वस्तुतः अप्रास ही स्थानविशेष और अवस्थाविशेष प्रास किए जाते हैं, बालक बाल्य को नहीं प्रास करता है। ब्रह्म निषिद्ध सर्व विशेष वाला है। अर्थात् सब विशेष से रहित है। इससे ब्रह्म में पृथिवी आदि के समान गन्तव्यता नहीं हो सकती है। (निष्कल-निरवयव, क्रियारहित, शान्त-सर्वाधार) निर्दोष, निर्लेप ब्रह्म है, स्थूलता अणुता ह्रस्वता दीर्घता से रहित ब्रह्म है। वह ब्रह्मात्मा पुरुष बाह्याभ्यन्तर के सहित वर्तमान होता हुआ अज है। वह महान् आत्मा अजर अमर अमृत ब्रह्म है। वह यह आत्मा इदं रूप से भासित दृष्ट श्रुतादि सन्नका निषेधात्मक है। (अनादिमत् परं ब्रह्म) इत्यादि स्मृति, तथा तदनन्यत्वादि न्याय से परमात्मा में देश-कालादि विशेष (भेद) के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है।

येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात्। भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता। जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनङ्गकृतित्वं ब्रह्मण इति चेत्। न। विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्। उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत्। न। तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति। कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषत्वं न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति। उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकारार्थत्वात्। नह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाच्चवगतौ सत्या भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) 'अभयं वै जनकः प्राप्तोऽग्नि' (वृ० ४।२।४) 'विद्वान्न विभेति कुतश्चन। एतं ह वाच न तमपि किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' (तैत्ति० २।१।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथैव च विदुषां तुष्ट्यनुभवादिदर्शनात्। विकारानृताभिसंध्यपवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति। अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यवयवत्वमवगन्तुं शक्यते। नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति। प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते। तथाहि 'तत्रैतच्छुद्धमुत्पत्तितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' (छा० ६।८।३) इत्युपन्यस्योदके सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व,

तद्ब्रह्म' (न० ३।१।१) इति । एवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामैकात्म्यावगमपरत्वान्नाने-
कशक्तियोगो ब्रह्मण । अतश्च गन्तव्यत्वानुपपत्तिः । 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति
ब्रह्मैव मन्त्रब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति च परस्मिन्ब्रह्मणि गतिं निवारयति ।
तद् व्याख्यात 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४।२।१३) इत्यत्र । गतिकल्पनाया
च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारो बान्यो वा ततः स्यात् ।
अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः ।

जिस विशेष के द्वारा भूमि के प्रदेश न्याय और वयस की अवस्था न्याय से इस
ब्रह्म की गन्तव्यता होगी । भूमि और वयस की तो प्रदेश और अवस्था आदि रूग
विशेष के सम्बन्ध से देश और काल से युक्त गन्तव्यता उपपन्न (सिद्ध) होनी है । यदि
कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के हेतुत्वविषयक श्रुति से ब्रह्म की
अनेकशक्तिमत्त्व है । इसमें सगुण ही ब्रह्म है और वही सूत्रात्मा से परब्रह्म गन्तव्य
है । तो कहा जाता है कि विशेषों के निराकरणरूप श्रुतियों के अनन्यार्थक (प्रधान)
होने से निविशेष ही ब्रह्म श्रुतियों का प्रतिपाद्य विषय है, सगुण प्रतिपाद्य विषय
नहीं है कि जो गन्तव्य हो सके । यदि कहा जाय कि निविशेष श्रुतियों के समान
उत्पत्ति आदि के प्रतिपादक श्रुतियों की भी अनन्यार्थकत्व है, तो कहा जाता है कि उन
उत्पत्ति आदि श्रुतियों को एषत्व प्रतिपादन परक होने में उन्हें अनन्यार्थकत्व नहीं है ।
जिसमें मृत्तिका आदि रूप दृष्टान्तों के द्वारा एक ब्रह्म की सत्यता का और विकारों की
अनृतता (मिथ्यात्व) का प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र उत्पत्ति आदि परक (उत्पत्ति
आदि में तात्पर्य वाला) होने योग्य नहीं है । जिज्ञासा होती है कि किस हेतु से
उत्पत्ति आदि श्रुतियों को विषयों के निराकरणार्थक श्रुतियों के शेषत्व (अद्भुतत्व) है ।
इतर-विशेष निराकरण श्रुतियों को उत्पत्ति आदि श्रुतियों के शेषत्व नहीं है । तो कहा
जाता है कि विशेषों के निराकरणार्थक श्रुतियों के निगवाक्षार्थक (आकाक्षारहित अर्थ
का प्रतिपादक) होने से ऐसा नियम है । जिससे आत्मा के एकत्व, निन्द्यत्व, शुद्धत्वादि
के अनुभव होने पर, पुरुषार्थ की समाप्ति बुद्धि की उपपत्ति (सिद्धि) से फिर कोई
आकाक्षा नहीं उत्पन्न होनी है । (उस आत्मा के एकत्व की जानने वाले को उस
ज्ञानकाल में कौन मोह और कौन शोक हो सकता है, मोहादि का सर्वथा अभाव
हो जाता है) हे जनक ! तुम अमय को प्राप्त हो । विद्वान् किसी में भयभीत नहीं होता
है । इस आत्मानन्द के विद्वान् को यह परवात्ताप नी मरणादिकाः में सतस उद्दिग्ध
नहीं करता है कि मैंने साधुकर्म पुण्य क्यों नहीं किया । क्यों मैंने पाप किया । इत्यादि
श्रुतियों ने और इसी प्रकार की ही विद्वानों की तृप्ति और अनुमवादि के दबने में और
(वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस आत्मा में नाना के समान देखता है)
इस प्रकार विकार-रूप अनृत के अमिसधान (चिन्तन) के अपवाद से, एवम्वादियुक्त
आत्मानुभव के बाद आकाशाजो का अभाव सिद्ध होता है, और विशेषों के निराकरण

रूपश्रुतियों की प्रधानता सिद्ध होती है। इससे विशेषों के निराकरणरूप श्रुतियों की अन्यशेषता नहीं समझी जा सकती है। इन विशेष निराकरण श्रुतियों के समान उत्पत्ति आदि श्रुतियों को निराकांक्ष अर्थ के प्रतिपादन में सामर्थ्य नहीं है। उनकी अन्याय्यता प्रत्यक्ष ही समनुगत (सम्यक् अनुभूत) होती है। वह इस प्रकार समनुगत होती है कि (उस पीये गए जल से शरीररूप शुद्ध कार्य उत्पन्न हुआ है, हे ! सोम्य उसको समझो, यह कार्य मूलरहित नहीं होगा) इस प्रकार कथन करके उत्तर में जगत् के मूलरूप एक सत् के ही ज्येष्ठत्व को श्रुति दर्शाती है। (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उ पन्न होने पर जिससे जीते हैं, प्रलयकाल में जिसमें लीन होते हैं, उसका विचार करो वह ब्रह्म है) इस प्रकार से उत्पत्ति आदि श्रुतियों के एकात्मता के अवगम (ज्ञान) परत्त्व से ब्रह्म को अनेक शक्तियों के साथ सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् श्रुति से सम्बन्ध नहीं प्रतिपादित होता है, कल्पित है। इससे ब्रह्म के गन्तव्यत्व की अनुपपत्ति है। (उस ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, वह ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म में लीन होता है) यह श्रुति परब्रह्म में गति का निवारण करती है, यह (स्पष्टं ह्येकेषाम्) इस सूत्र में व्याख्यान हो चुका है, व्याख्यान किया गया है। परब्रह्म-विषयक गति की कल्पना करने पर गमन करने वाला जीव गन्तव्य (गमन से प्राप्त करने योग्य) ब्रह्म का अवयव होगा अथवा विकार होगा, अथवा उस ब्रह्म से अन्य स्वतन्त्र पदार्थान्तर होगा। क्योंकि जीव का ब्रह्म के साथ अत्यन्त तादात्म्य (अभेद) होने पर गमन की अनुपपत्ति से, अवयव और विकाररूप से भेदाभेद मानना होगा, या अत्यन्त भेद मानना होगा।

यद्यपि ततः किं स्यात्। उच्यते। यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वाच्च पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते। एकदेशित्वकल्पना च ब्रह्माण्यनुपपन्ना निरवयवत्वप्रसिद्धेः। विकारपक्षेऽप्येतत्तुल्यं विकारेणापि विकारिणो नित्यप्राप्तत्वात्। नहि घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः। विकारावयवपक्षयोश्च तद्वत्, स्थिरत्वाद् ब्रह्माणः संसारगमनमप्यनववृत्तम्। अथान्य एव जीवो ब्रह्माणः, सोऽणुर्व्यापो मध्यमपरिमाणो वा भवितुमर्हति। व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः। मध्यमपरिमाणत्वे चानित्यत्वप्रसङ्गः। अणुत्वे कृत्स्नशरीरवेदनानुपपत्तिः। प्रतिपिद्धे चाणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण पुरस्तात्। परस्माच्चान्यत्वे जीवस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिशास्त्रवाधप्रसङ्गः। विकारावयवपक्षयोरपि समानोऽयं दोषः। विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति चेत्। न। मुख्यैकत्वानुपपत्तेः। सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्माक्षप्रसङ्गः, संसार्यात्मत्वानिवृत्तेः। निवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गः। ब्रह्मात्मत्वानभ्युपगमात्।

यदि कहो कि ऐसा होगा तो क्या दोष होगा, तो कहा जाता है कि यदि जीव ब्रह्म का एकदेश (अवयव) हो, तो उससे एकदेशी (एकदेश वाला-अवयवी) ब्रह्म के

नित्य प्राप्त होने से फिर ब्रह्म प्राप्ति के लिये गमन नहीं उपपन्न हो सकता है। ब्रह्म के निरवयवत्व की प्रसिद्धि से ब्रह्म में एकदेश और एकदेशित्व की कल्पना विच्छेद है। विज्ञापक में भी विकार से भी विकारी के नित्य प्राप्त होने से यह गमन की अनुपपत्तिरूप दोष तुल्य है। घट मृदात्मता (मृत्तिकात्मता) को त्याग कर स्थिर (वर्तमान) नहीं रह सकता है या मृदात्मता को त्यागने पर उसके अभाव की प्राप्ति से नहीं त्यागता है। विकार तथा अवयव पक्ष में विकार और अवयवरूप जीव वाले ब्रह्म के स्थिर (अचल) होने से जोर के समार में गमन भी असिद्ध है, गमनागमन जीव के नहीं हो सकेंगे। जिसमें अवयवी विकारी के चलन के बिना अवयव विकार का चलन नहीं हो सकता है। यदि जीव ब्रह्म से अन्य ही है, तो भी वह अणु (परमाणुस्वरूप) या व्यापक अथवा मध्यम परिमाणवाला हो सकता है। यहाँ व्यापक होने पर गमनादि की अनुपपत्तिरूप दोष है। मध्यम परिमाण वाला होने पर सावयवता से अनित्यत्व का प्रसङ्ग होता है अनित्यता की प्राप्ति होती है। अणुत्व पक्ष में सम्पूर्ण शरीर में सुगन्ध आदि की वेदना (अनुभव) की अनुपपत्ति होती है। अणुत्व तथा मध्यम परिमाणत्व प्रथम विस्तार से प्रतिषिद्ध हो चुके हैं। विस्तारपूर्वक इतना निषेध किया जा चुका है। परमात्मा से जीव की अयत्ता (भेद) होने पर (तत्त्वमसि) इत्यादि शास्त्र का भी बाध प्राप्त होगा। विकार तथा अवयवपक्ष में भी यह शास्त्र का बाधरूप दोष भेद पक्ष के समान है। यदि कहा जाय कि विकार और अवयव को विकार और अवयव वाले से अनन्यता (अभेद) होने से शास्त्र का बाधरूप दोष नहीं है, तो कहा जाता है कि विकार और अवयव को विकारी अवयवी के साथ मुख्य एकत्व (अभेद) की अनुपपत्ति में मुख्य एकत्व के बाधक शास्त्र का बाध नहीं है। इन सभी पक्षों में जीव की ससारीरूपता की अनिवृत्ति से अनिमोक्ष (मोक्षभाव) की प्राप्ति होती है। अथवा ससारीरूपता की निवृत्ति होने पर जीव के स्वरूप के नाश का प्रसङ्ग होगा। स्वरूप-नाश की प्राप्ति होगी। क्योंकि ब्रह्मात्मन्व के अस्वीकार से और ससारिता के स्वीकार से ससारिता के नाश होने पर जीव के स्वरूप का ही नाश होगा, जैसे औषध्य प्रकाश के नाश से अग्नि का नाश होता है।

यत्तु कैश्चिज्जल्प्यन्ते-नित्यानि नेमित्तानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्पन्नये, काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये, साम्प्रतदेहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिमन्वानकारणामावात्स्वरूपावस्थानलक्षण कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मनयेधवृत्तस्य मेन्म्यति-इति। तदगन् प्रमाणाभासान्। नह्येनच्छास्त्रेण केनचिप्रनिपादित मोक्षार्थोऽयं समाचरेदिति। स्वमनीषया त्वेनर्त्तकित यस्मात्संनिमित्तं समारस्तस्माद्विनिनाभावान्न भविष्यतीति। नचैनत्तर्कयितुमपि शक्यते निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात्। बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरमञ्चिनानोष्ठानिष्टविपा-

कान्येकैकस्य जन्तोः सम्भाव्यन्ते । तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासम्भवात्कानिचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निमित्तं कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षा-
प्यासत इत्यतस्तेषामवशिष्टानां साम्प्रतेनोपभोगेन क्षपणासम्भवान्न यथाव-
र्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम् ।
वर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण' इत्यादिश्रुतिस्मृ-
तिभ्यः । स्यादेतत् । नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति । तन्न ।
विरोधाभावात् । सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति, नच जन्मान्तरनञ्चि-
तानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः, शुद्धिरूपत्वावशेपात् । दुरितानां
त्वशुद्धिरूपत्वात् सति विरोधे भवतु क्षपणं नतु तावता देहान्तरनिमित्ताभाव-
मिद्धिः । सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तः । दुश्चरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात् । नच
नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रं न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमा-
णमस्ति फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादिनः सम्भवात् ।

जो कितने लोगों से कहा जाता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म अकरणजन्य प्रत्य-
वाय की अनुत्पत्ति के लिये किये जाते हैं, और काम्य तथा प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) कर्म, स्वर्ग
और नरक की अप्राप्ति के लिये, परिहृत होते त्यागे जाते हैं । वर्तमान काल में प्राप्त
देह से उपभोग के योग्य कर्म उपभोग से ही क्षीण नष्ट किये जाते हैं । इससे वर्तमान देह
के पात के बाद देहान्तर की प्राप्ति सम्बन्ध के कारण के अभाव से स्वरूप में अवस्थिति-
स्वरूप कैवल्य (मोक्ष) ब्रह्मात्मता के बिना भी ऐसे वृत्त (चरित्र) वाले को सिद्ध-
प्राप्त होगा । वह कथन प्रमाण के अभाव से असत् है । जिससे किसी शास्त्र से यह नहीं
प्रतिपादित है कि मोक्षार्थी इस प्रकार नित्यादि कर्मों का आचरण करे । किन्तु
अपनी मनीषा (बुद्धि) से यह कल्पित (सिद्ध) हुआ है कि जिससे कर्मनिमित्तक जन्मादि
रूप संसार है, जिससे कर्मरूप निमित्त के अभाव से संसार नहीं होगा इत्यादि ।
परन्तु निमित्ताभाव के दुर्विज्ञान (दुर्ज्ञेय) होने से यह तर्क से भी नहीं समझा जा सकता है,
ऐसा तर्क भी नहीं किया जा सकता है, जिससे जन्मान्तर में संचित इष्ट और अनिष्ट
फलवाले बहुत कर्म एक-एक प्राणी के सम्भावित (निश्चित) हैं । उन विरुद्ध फलवाले
कर्मों का एक काल में साथ भोग के असम्भव से, उनमें से कोई प्राप्त अवसर वाले कर्म
इस वर्तमान जन्म का निर्माण (सृष्टि रचना) करते हैं । कितने कर्म तो देश, काल और
निमित्त की प्रतीक्षा करते हुए स्थिर निर्व्यापार वर्तमान रहते हैं । इससे उन अवशिष्ट
संचितों का वर्तमान उपभोग से नाश के असम्भव से, यथोक्त चरित्र वाले भी वर्तमान-
देह के पात होने पर देहान्तर के निमित्त के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता
है । (जिससे जो यहाँ रमणीय आचरण वाले हैं, वे रमणीय योनि पाते हैं । उसके बाद
शेष कर्म से जन्मान्तर पाते हैं) इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से कर्मशेष के सद्भाव (अस्तित्व)
की सिद्धि होती है । शंका होती है कि कर्मशेष का अस्तित्व रहे, परन्तु नित्य नैमित्तिक

कर्म उन कर्मों का निवारक विनाशक होंगे तो कहा जाता है कि विरोध के अभाव से नित्यादि कर्म सचित पुण्य कर्मों के नाशक नहीं हो सकते हैं, जिससे विरोध रहने पर दोष्य-क्षेपक नाशक-नाशकभाव होता है और जन्मान्तर में सचिन पुण्यो को शुद्धिरूपत्व के अवरोध-नुत्पत्ति होने से नित्य नैमित्तिकों के साथ विरोध नहीं है, पापों के अशुद्धिरूपत्व से नित्यादि के साथ विरोध होने पर उन पापों का नित्यादि कर्मों से नाश हो, परन्तु इसमें देहान्तर के निमित्त के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि पुण्य को देह के निमित्तत्व की उत्पत्ति (सिद्धि) होती है। दुश्चरित (पाप) के भी निरोधरूप में नित्यादि द्वारा नाश में प्रमाण के अभाव से उसके नाश के अवगम (ज्ञान) नहीं होने में सचिन पाप की भी वर्तमानता से जन्म के निमित्त का अभाव नहीं है। नित्यादि जो वर्तमान कर्म किये जाने हैं, उनसे प्रत्यवाय की अनुत्पत्तिमात्र ही फल होता है। फिर फलान्तर की उत्पत्ति उनमें नहीं होती। इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। इसमें (कर्मणा पितृलोक) कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है, उत्पत्ति शास्त्र के अनुसार पश्चात् उत्पन्न होने वाले अन्य फल के भी सम्भव होने से, नित्यादि से भी फलान्तर की उत्पत्ति होती है।

स्मरति ह्यापस्तम्ब — 'तद्यथाऽऽग्ने फगर्थे निमित्ते छायागन्धावानूत्पद्येते एव धर्मं चर्यमाणमर्या अनुत्पद्यन्ते' इति। नचासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रयाणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम्, सुनिपुणा-नामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्। सशयितव्यं तु भवति तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव। नचानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे वस्तुत्वभोक्तृत्वस्वभाव-स्यात्मन केवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम्, अग्न्योष्णवत्स्वभावस्यापि ग्राह्यत्वात्। स्यादेतत्। वस्तुत्वभोक्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्यवस्थानेऽपि कार्य-परिहारादुपपन्नो मोक्ष इति। तच्च न, शक्तिसद्भावे कार्यप्रभवस्य दुर्निवारत्वात्। अथापि म्याग्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि, अत एवा-किनी मा स्थितापि नापराध्यतीति। तच्च न। निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन नित्यमस्त्वद्वत्त्वान्। तस्मात्त्वस्तुत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्या विद्यागम्याया ब्रह्मात्मनाया न कथंचन मोक्ष प्रत्याशास्ति। श्रुतिश्च—'नान्य पन्था विद्यतेऽन्याय' (श्वेता० ३।८) इति ज्ञानादन्य मोक्षमार्गं वारयति।

आपस्तम्ब कहते हैं कि (लोक में जैसे पल के लिए आग्नवृक्ष के निमित्त-आरोपित होने पर पीछे छाया और गर्म भी उत्पन्न सिद्ध होने ही है इसी प्रकार आचरित धर्म के पीछे छाया अर्थ उत्पन्न होते हैं) और सम्यक् दर्शन के नहीं रहते जन्म और मरण के मध्यकाल में सर्वथा काम्य और निषिद्ध के त्याग की प्रतिज्ञा किसी से की नहीं जा सकती है, क्योंकि अत्यन्त निपुणों के भी सूक्ष्म अपराध देखे जाते हैं। यद्यपि अपराधभाव काम्यनिषिद्ध की सत्ता के अभाव सशयितव्य (सशययोग्य) तो होता है। तथापि जन्म के निमित्ता-

भाव को दुर्ज्ञातत्व (दुर्ज्ञेयत्व) ही है । अग्नि की उष्णता के समान स्वभाव के अपरि-
हाय (त्यागानहं) होने से ज्ञान से गम्य (प्राप्य) ब्रह्मात्मत्व के नहीं स्वीकार करने पर
कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाववाले आत्मा के कैवल्य की आकांक्षा नहीं की जा सकती है ।
शंका होती कि जीवात्मा का स्वभाव रहे, परन्तु कर्तृत्व भोक्तृत्व उसका स्वभाव नहीं
है किन्तु कर्तृत्व भोक्तृत्व तो स्वभाव का कार्य है और वह कार्य ही अनर्थ संसाररूप
है । कर्तृभोक्तृत्व की शक्ति है, वह स्वभावरूप है, वह अनर्थरूप नहीं है । जिससे शक्ति-
रूप स्वभाव के स्थिर रहते भी कार्यमात्र के परिहार से मोक्ष उपपन्न होता है । यहाँ
कहा जाता है कि वह शक्ति का अस्तित्व युक्त नहीं है । शक्ति के सद्भाव रहते कार्य की
उत्पत्ति की दुर्निवारता से उसमें अयुक्तता है, मोक्ष नहीं हो सकता है । यदि ऐसी भी
आशंका हो कि अन्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना निमित्त की सहायता से रहित केवल
शक्ति कार्य का आरम्भ नहीं करती है । इससे अकेली स्थित भी वह शक्ति अनर्थ संसार-
रूप अपराध नहीं करती है । तो कहा जाता है कि वह कथन भी युक्त नहीं
है, शक्ति कार्यगम्य होती है, कार्य के बिना शक्ति की सत्ता में प्रमाण का अभाव है,
इससे शक्ति के रहने पर शक्तिरूप सम्बन्ध द्वारा निमित्तों के भी नित्य सम्बद्ध (सम्बन्ध
वाले) होने से कार्य अवश्य होगा, मोक्ष नहीं हो सकता है । इससे आत्मा के
कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाववाले होने पर और विद्या से गम्य (प्राप्य) ब्रह्मस्वरूपता
के नहीं रहने पर मोक्ष के प्रति आशा किसी प्रकार नहीं है । श्रुति है कि (मोक्ष
के लिये ज्ञान से अन्य मार्ग नहीं हैं) । यह श्रुति ज्ञान से अन्य मोक्षमार्ग का वारण
करती है ।

परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः, प्रत्यक्षादिप्रमाणा-
प्रवृत्तेरिति चेत् । न । प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः । शास्त्रं च 'यत्र हि
द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (वृ० २।४।१४; ४ ५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्ध-
विषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन
कं पश्येत्' (वृ० २।४।१४, ४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति । तदेवं परब्रह्म-
विदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वान्न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या ।

यदि कहा जाय की मोक्ष की उपपत्ति के लिये जीव को परमात्मा से अनन्यत्व
(अमिन्नत्व) के मानने पर भी सब व्यवहार का लोप प्राप्त होगा) क्योंकि जीव के
निगुण ब्रह्मस्वरूप होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अप्रवृत्ति से कोई व्यवहार नहीं होगा ।
तो कहा जाता है कि ब्रह्मात्मता के बोध से पूर्वकाल में स्वप्नव्यवहार के समान
प्रमाण की प्रवृत्ति की उपपत्ति से व्यवहार लोप का प्रसंग नहीं होता है । (जिस अविद्या-
काल में द्वैत के समान होता है । उस अवस्था में अन्य अन्य को सत्य देखता है) इत्यादि
शास्त्र अज्ञ विषय में प्रत्यक्षादि व्यवहार को कहकर, फिर प्रबुद्ध विषय में (जिस ज्ञान

काल में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किसमें किसको देखेगा) इत्यादि वचनों से उस व्यवहार के अभाव को दर्शाता है । अतः उक्त रीति से ब्रह्मवेत्ता के गन्तव्यादि विज्ञान के बाधितत्व से ब्रह्मवेत्ता की गति का उपपादन किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता है ।

किविषया पुनर्गतिश्रुतय इति । उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति । तथाहि क्वचित्पञ्चाग्निविद्या प्रकृत्य गतिरुच्यते क्वचित्पर्यङ्कविद्या क्वचिद्वैश्वानर-विद्याम् । यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते तथा 'प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म स ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वरम' (छा० ८।१।१) इति, तत्रापि च वामनोयत्वादिभिः मत्स्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्सम्भवति गतिः, न क्वचित्परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते । तथा गतिप्रतिषेधं श्राविन 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (वृ० ४।४।६) इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) इत्यादिषु तु मत्स्यप्राप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसम्भवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपित-नामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते । 'ब्रह्मेव नन्वब्रह्माप्येति' (वृ० ४।४।७) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम् । अपि च परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा । तत्र प्ररोचन तावद् ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते, स्वमविद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासम्पत्तिन स्वात्म्येन तत्तिष्ठे ।

जिज्ञासा होती है कि फिर गतिप्रोषक श्रुतियाँ किम विषयक हैं, तो कहा जाता है कि सगुणविद्याविषयक वे श्रुतियाँ होंगी, जिसमें इस प्रकार के श्रुतियाँ हैं कि कहीं पञ्चाग्निविद्या को प्रस्तुत करके गति कहाँ जानी है, और कहीं पर्यङ्कविद्या को, कहीं वैश्वानरविद्या को प्रस्तुत करके गति कहाँ जानी है । नहीं भी ब्रह्म को प्रस्तुत करके (ब्रह्म का प्रक्रम आरम्भ करके) गति कहाँ जाती है, जैसे (प्राण ब्रह्म है, मुख ब्रह्म है, आकाशतुल्य ब्रह्म है) इति । (जो इस ब्रह्मपुरन्देह में अल्प पुण्डरीकरूप वेदम है) इत्यादि । वहाँ भी वामनोत्वादि और मत्स्यकामत्वादि गुणों द्वारा सगुण ब्रह्म के उपास्यत्व होने में गति का सम्भव है, और जैसे (उस ब्रह्मवेत्ता के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं) यह गति का प्रतिषेध सुनाया गया है, वैसे परब्रह्मविषयक गति कहाँ नहीं सुनाई जाती है । (ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि वाक्यों में तो आप्नोति (आप्) धातु के गत्यर्थक होने भी वर्णित (न्याय) गति में जानी को देशान्तर की प्राप्ति के असम्भव से स्वरूप की प्रतिपत्ति ही (ज्ञा ही) वह, अविद्या से अध्यारोपित नामरूप के प्रविश्य की अपेक्षा से (ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि के समान कहाँ जाती है । अर्थात् अविद्यानाशक अररोशानुमव प्राप्ति शब्द में कहा जाता है । इस प्रकार समझना चाहिए । दूसरी बात है कि परब्रह्मविषयक व्याख्यायमान (कहाँ गई) गति या तो प्ररोचन के लिए होगी, अथवा

अनुचिन्तन के लिए होगी । यहाँ ब्रह्मवेत्ता का प्ररोचन (रुचि उत्पादन) तो गति के कथन से नहीं किया जाता है । क्योंकि स्वसंवेद्य (स्वयम् अनुभूत) अव्यवहित (प्रत्यक्ष) विद्या से समर्पित (प्रापित) स्वस्थता (शान्ति) से ही उस प्ररोचन की सिद्धि हो जाती है ।

नन्व नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिद्वेधोपपद्यते । तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः । तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि प्रवर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते । किं द्व, ब्रह्मणी परमपरं चेति । बाढं द्वै, 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोकारः' (प्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात् । किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति । उच्यते । यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलदिगब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम् । तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः (छा० ३।१।४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम् । नन्वेवं सत्यद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत । न । अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात् । तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८।२।१) इत्यादिजगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्तितत्वादविद्यायाः । तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम् । सर्वगत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्म 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २।३।९) इत्यत्र । तस्मात् 'कार्यं वादरिः' (ब्र० सू० ४।२।७) इत्येव स्थितः पक्षः । 'परं जैमिनिः' (ब्र० सू० ४।३।१२) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

नित्यसिद्ध निःश्रेयस का निवेदन (प्रकथन-अभिव्यक्ति) रूप असाध्य फलवाला विज्ञान की गति के अनुचिन्तन विषयक कोई अपेक्षा नहीं उपपन्न होती है, अर्थात् गति अनुचिन्तन से आत्मज्ञान में कोई विशेषाधान नहीं किया जा सकता है । इससे अपर ब्रह्मविषयक गति होती है । यहाँ पर और अपर ब्रह्म का विवेकपूर्वक अनवधारण से अपर ब्रह्मविषयक वर्तमान गतिश्रुतियाँ परब्रह्मविषयक अव्यारोपित होती हैं (समझी जाती हैं) । जिज्ञासा होती है कि क्या पर और अपर ये दो ब्रह्म हैं ? उत्तर है कि हाँ दो हैं (हे सत्यकाम ! यह जो ओकार है, वह परब्रह्म और अपर ब्रह्म है) इत्यादि देखने से निर्देश से दो ब्रह्म सिद्ध होते हैं । प्रश्न होता है कि तो परब्रह्म कैसा है, और अपरब्रह्म कैसा है ? उत्तर कहा जाता है कि जिसमें अविद्याकृत नाम-रूपादि के प्रतिषेध (अभाव) से अस्थूल आदि शब्दों द्वारा जो ब्रह्म उपदिष्ट होता है, वह परब्रह्म है । वही परब्रह्म जिस अवस्था में जहाँ किसी नामरूपादि विशेष (भेद) के द्वारा उपासना के लिए (मनोमय, प्राणरूप, शरीरवाला, ज्ञानस्वरूप), इत्यादि शब्दों से विशिष्ट स्वरूप

उपदिष्ट होता है, वह अपर ब्रह्म है। सका होती है कि ऐसा होने पर अद्वितीय श्रुति उपरुद्ध (बाधित) होगी। तो कहा जाता है कि पारमार्थिक अद्वैतविषयक अद्वितीय श्रुति के होने से और अविद्यावृत्त नामरूप उपाधिवृत्त भेद के होने से, पारमार्थिक भेद के परिहृत होने में श्रुति नहीं बाधित होगी। उस अपरब्रह्म की उपासना का उसके समीप में सुना गया (वह यदि पितृलोक की कामना वाला होता है, तो उसके सकल्प से भोग देने के लिए पितृलोक उपस्थित होने हैं) इत्यादि ससार के एश्वर्यरूप ससारविषयक ही फल अविद्या के अनिवर्तितत्व से होता है। उस फल के देशविशेष के साथ अवबद्धत्व (सम्बद्धत्व) के कारण उसकी प्राप्ति के लिए गमन अविरुद्ध है। यदि कहा जाय कि व्यापक जीवात्मा की फल के लिए गति कैसे होगी तो कहा जाता है कि आत्मा के सर्वगतत्व होने पर भी घटादि के गमन में घटाकाश के गमन के समान बुद्धि आदि रूप उपाधि के गमन होने पर आत्मा के गमन की प्रसिद्धि होती है, वह (तद्गुणसारत्वान्) इस सूत्र से कह चुके हैं। इससे (गति से कार्यं ब्रह्मगम्य है यह बादरायण आचार्य का मत है) यही स्थितपक्ष है। (परब्रह्म गति से प्राप्य है, यह जैमिनि मुनि का मत है) यह तो पक्षान्तर के प्रतिमान (प्रतीति) मात्र का प्रदर्शन है, वह बुद्धि का विकास (विकास) के लिए है, ऐसा समझना चाहिए ॥१४॥

अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् (६)

प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नयति वा न वा। अविशेषश्रुतेरेतान् ब्रह्मोपासकवर्णयेत् ॥ १ ॥
ब्रह्मकृतोरभावेन प्रतीकाहंफलत्वात्। न तत्रयपि पञ्चाग्निविदो नयति तच्छ्रुते ॥ २ ॥
प्रवृत्ति के अवयवरूप प्रतीकों से मिश्र के उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति कराता है, इस प्रकार बादरायण आचार्य कहते हैं, क्योंकि प्रतीक भिन्नोपासक का ही ब्रह्मविषयक व्रतु (सकल्प) रहता है, इससे सकल्प के अनुसार उभयथा गति में दोष के अभाव से उभयथा गति मन्तव्य है, सब की ब्रह्मलोक में गति मानना उचित नहीं है। सहाय है कि प्रतीक (प्रवृत्ति के अवयव) के उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि अविशेष (सामान्य) श्रुति से प्रतीक उपासकों को भी ब्रह्मोपासक के समान ब्रह्मलोक में प्राप्त करावेगा। सिद्धान्त है कि प्रतीक नामादि के उपासकों में ब्रह्मविषय सकल्प के अभाव से और प्रतीक के योग्य अन्य फलों के श्रवण में प्रतीकोपासक को ब्रह्मलोक में नहीं प्राप्त कराता है। पञ्चाग्निवेत्ता के प्रतीकोपासक होने भी तद्विषय श्रुति से सिद्ध होता है कि उसको अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है ॥ १-२ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभय-

थाऽदोपात्तक्रतुश्च ॥ १५ ॥

स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति। इदमिदानीं मन्दिह्यते किं 'सर्वान्विकारालम्बनानविशेषेणैवामानव पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकं मुक्तकामिदे-

वेति । किं तावत्प्राप्तं ? सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद् ब्रह्मणो गतिः स्यात् । तथाहि—‘अनियमः सर्वासाम्—(ब्र० ३।३।३१) इत्यत्राविशेषणैवैषां विद्यान्तरेण्ववतारितेति ।

यह स्थिर हुआ कि कार्यब्रह्मविषयक गति होती है, परब्रह्मविषयक गति नहीं होती है । इस समय यह संदेह अब किया जाता है कि क्या विकार-कार्य को अवलम्बन करने वाले विकारोपासक सभी को अमानव पुरुष अविशेषरूप से तुल्य ही ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, अथवा किसी विशेष उपासकों को ही प्राप्त कराता है । यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि इन सभी उपासकों की परब्रह्म से अन्यत्र-कार्यब्रह्म में गति होगी । जिससे इसी प्रकार (अनियमः सर्वासाम्) इस सूत्र में अविशेष रूप से ही यह गति अन्य विद्याओं में अवतरित (प्रतिपादित) हुई है ।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति । प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वानन्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति वादरायण आचार्यो मन्यते । नह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति । अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपत्तेः । तत्क्रतुश्चास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः । यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते ‘तं यथा यथोपासते तदेव भवति’ इति श्रुतेः । ननु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य । नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते, यथा पञ्चाग्निविद्यायाम् ‘स एनान्ब्रह्म गमयति’ (छा० ४।१।५।५ इति । भवतु यत्रैवमाहात्यवाद उपलभ्यते, तदभावे त्वीत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नैतरेषामिति गम्यते ॥१५॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (अप्रतीकालम्बनानिति) प्रतीकरूप अवलम्बन वालों को छोड़कर उनसे अन्य सब विकारावलम्बी (कार्य उपासकों) को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, इस प्रकार वादरायण आचार्य मानते हैं । इस प्रकार उभयथाभाव के स्वीकार करने पर (प्रतीक उपासक से अन्य की ब्रह्मलोक गति प्रतीकोपासक की अन्य गति मानने पर) कोई दोष नहीं है । (अनियमः सर्वासाम्) इस स्थान में कथित अनियम न्याय की प्रतीक भिन्न उपासनाओं में उपपत्ति में दोषाभाव है । सूत्रगत तत्क्रतु शब्द इस उभयथाभाव का समर्थक (साधक) हेतु समझना चाहिए । जिससे जो ब्रह्मविषयक क्रतु-संकल्प वाला है, वह ब्रह्मसम्बन्धी ऐश्वर्य को प्राप्त करे यह युक्त है (उस परमात्मा की जिस-जिस रूप से उपासना करता है, वैसा ही उपासक होता है) इस श्रुति से संकल्पानुसार उपासना के फल सिद्ध होते हैं । प्रतीक उपासनाओं के प्रतीक प्रधानत्व से प्रतीकों में ब्रह्मक्रतुत्व (ब्रह्मसंकल्पत्व) नहीं है । शंका होती है कि ब्रह्म के संकल्पवाला नहीं होते भी उपासना से ब्रह्मलोक में जाता है कार्य-ब्रह्म को प्राप्त करता है यह सुना जाता है, जैसे कि पञ्चाग्निविद्या में सुना जाता है कि (वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) तो कहा जाता है कि जहाँ इस प्रकार

वा आहृत्यवाद-प्रत्यक्षवाद, अपवादरूप उपलब्ध होता है, वहाँ प्रतीक उपासक को भी ब्रह्म प्राप्ति हो, परन्तु उस विशेष वाद के अभाव रहते तो औत्सर्गिक (सामान्य) तत्त्व-न्याय से ब्रह्मकृत वाले को ही ब्रह्मप्राप्ति होती है, अन्यो को नहीं ऐसा समझा जाता है ॥ १५ ॥

विशेष च दर्शयति ॥ १६ ॥

नामादिषु प्रतीकोपासनाषु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तर-स्मिन्नुपासने दर्शयति—‘यावन्नाम्नो गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति’ (छा० ७।१।५) ‘वाग्वाव नाम्नो भूयमी’ (छा० ७।२।१) ‘यावद्वाचो गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति’ (छा० ७।२।२) ‘मनो वाव वाचो भूय’ (छा० ७।३।१) इत्यादिना । स चायं फलविशेष प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते । ब्रह्मतन्त्रत्वे तु ब्रह्माणोर्जविशिष्टत्वात्कथं फलविशेष स्यात् । तस्मान्न प्रतीकालम्बनानामितरेस्तुल्यफलत्वमिति ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवत्पादकृत् श्रीमच्छा-
रीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीय पाद ॥ ३ ॥

— ० —

नामादि प्रतीक उपासनाओं में पूर्व-पूर्व उपासनाओं से उत्तर-उत्तर उपासनाओं में फलविशेष की श्रुति दर्शनी है कि (नाम की ब्रह्मरूप से चिन्तन करने वाले इस उपासक को जितनी नाम की गति है, वहाँ तक इच्छा के अनुसार गति होनी है) और (वाग् नाम में अधिक बड़ी वस्तु है) उसकी ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने वाले को जहाँ तक वाक् की गति है वहाँ तक स्वतन्त्रता होनी है । मन वाग् में अधिक बड़ा है—इत्यादि श्रुति से फलविशेष दर्शाया जाना है । उपासनाओं के प्रतीक के अधोन्त्य में सो मह फलविशेष (फलों का भेद) उपपन्न होता है और उपासनाओं के ब्रह्माधोन्त्य होने पर तो वस्तु के अवशिष्टत्व-अभिलक्ष्य से फलविशेष (फलभेद) कैसे होगा । इससे प्रतीकालम्बनवाली उपासनाओं की इन उपासनाओं के साथ तुल्य फलत्व नहीं है, अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिरूप फलत्व प्रतीकउपासनाओं का नहीं है ॥ १६ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां शुद्धानामेव कारणम् । विशुद्ध परमानन्द सद्गुरु गममाश्रये ॥

चतुर्थं अध्यायं मे तृतीयं पादं समाप्तम् ।

— ० —

चतुर्थेऽध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र पादे ब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणम्]

संपद्याविर्भावाधिकरणम् (१)

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् । अभिनिष्पत्तिवचनात् फलत्वादपि नूतनम् ॥ १ ॥
स्वेन रूपेणेति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् । आविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः ॥

पूर्वोक्त साधनों के द्वारा जान को प्राप्ति से ब्रह्म को सम्पद्य (प्राप्त करके) आत्मस्वरूप से अनुभव करके स्थिर विद्वान् की जो जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्ति होती है, वह किसी नूतन तत्त्वस्वरूप अवस्था आदि की प्राप्तिरूप नहीं है किन्तु विद्या से अविद्यात्मक आवरण की निवृत्ति से नित्यसिद्ध निजमुक्त स्वरूप का आविर्भाव (प्राकट्य) मात्र होता है, वह श्रुतिगत, स्वेन इस शब्द से समझा जाता है । संशय है कि स्वर्ग के समान मुक्ति नूतन (कार्य) रूप होती है, वा स्वरूपात्मक पुरातन है । पूर्वपक्ष है कि अभिनिष्पत्ति वचन से और फलत्व से भी नूतन है । सिद्धान्त है कि अभिनिष्पत्ति का उत्पत्ति अर्थ हो तो ऐसा हो सकता है परन्तु श्रुतिगत स्वेन रूपेण इस वाक्यगत स्वेन इस शब्द से स्वरूपात्मक पुरातन मुक्ति का स्वरूप सिद्ध होता है । आविर्भाव अभिनिष्पत्ति का अर्थ है, और अविद्या की निवृत्ति से फल होता है ॥ १-२ ॥

संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

‘एवमेवैव’ संप्रसादोऽस्मान्छरीरात्समुत्थाय पर ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत’ इति श्रूयते । तत्र संशयः—किं देवलोकानुपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेणाभिनिष्पद्यत आहोस्विदात्मनात्रेणेति । किं तावत्प्राप्तम् ? स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्, मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः, अभिनिष्पद्यते इति चोत्पत्तिपर्यायित्वात् । स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपायाद्विभाव्येत । तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति ।

जैसे वायु कभी अपनी निश्चल आकाशरूपता को प्राप्त होता है इसी प्रकार यह सुषुप्ति में संप्रसन्न होने वाला संप्रसाद जीव विवेक द्वारा इस शरीर से समुत्थान करके देहाभिमान को त्याग कर और परज्योति को प्राप्त अनुभूत करके उस अपने स्वरूप से अभिनिष्पन्न (अभिव्यक्त) होता है यह सुना जाता है । यहाँ संशय होता है कि क्या जैसे देवलोकानुपभोग के स्थानों में विशेष रूप से निष्पन्न होता है, वैसे आगन्तुक किसी विशेष से अभिनिष्पन्न (युक्त) होता है, अथवा आत्ममात्र से अभिनिष्पन्न होता है इति । प्रथम प्राप्त क्या है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि स्थानान्तरों में के

समान किसी आगन्तुक (कार्य) रूप से अभिनिष्पत्ति होगी । क्योंकि मोक्ष को भी फलत्व की प्रसिद्धि से, और अभिनिष्पद्यते, अभिनिष्पन्न होता है, इसकी उत्पत्ति की पर्यायता (एकार्यता) से आगन्तुकरूप से अभिनिष्पत्ति सिद्ध होती है । स्वरूपमात्र से यदि मोक्षावस्था में अभिनिष्पत्ति हो, तो पूर्वावस्थाओं में भी स्वरूप के अनपाय (अनाश) में वह विभावित (अनुभूत) होना चाहिए, इससे मोक्षावस्था में किसी विशेष से अभिनिष्पन्न (सिद्ध) होता है ।

एव प्राप्ते ब्रूम — केवलेनैवात्मनाविभवति न धर्मान्तरेणेति । कुत ? स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति स्वशब्दात् । अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनव-वृक्ष स्यात् । नन्वात्मीयाभिप्राय स्वशब्दो भविष्यति । न, तस्यावचनीय-त्वात् । येनैव हि केनचिद्रूपेणाभिनिष्पद्यते तस्यैवात्मीयत्वोपपत्ते स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात् । आत्मवचनताया त्वर्थवत्केवलेनैवात्मरूपेणाभिनिष्प-द्यते नागन्तुकेनापररूपेणापीति ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि केवल आत्मस्वरूप से आविर्भूत (प्रवृत्त) होता है, धर्मान्तरयुक्त रूप से नहीं । क्योंकि स्वशब्द से अभिनिष्पन्न होता है, इस स्वशब्द से ऐसा ही सिद्ध होता है, जिससे अन्यथा होने पर स्वशब्देन (स्वेन रूपेण इस वाक्य में स्व यह विशेषण, अर्थात् स्वेनरूपेण यह विशेषण अनवकनृष (असिद्ध-अनर्थक) होगा । यदि कहो कि आत्मीय (आत्मसम्बन्धी) के अभिप्राय वाला स्वशब्द होगा, तो कहा जाता है इस आत्मीय की अवचनीयता (अवक्तव्यता) से आत्मीय वाचक नहीं हो सकता है । जिससे किसी किसी रूप से अभिनिष्पन्न होगा, उसी रूप को आत्मीयत्व की उपपत्ति से स्वेन यह विशेषण अनर्थक होगा । स्वशब्द की आत्मव-चनता (आत्मवाचकता) होने पर तो स्व विशेषण सार्थक होता है कि केवल आत्म-स्वरूप से ही निष्पन्न होता है, आगन्तुक अन्य रूप से नहीं निष्पन्न होता है ॥ १ ॥

क पुनर्विशेष पूर्वाम्बिवम्यास्विह च स्वरूपानपायसाम्ये मतो त्यत आह—
गता होती है कि पूर्वावस्थाओं में और इस मोक्षावस्था में स्वरूप के अनपाय तुल्य रहने पर विशेष (भेद) क्या होता है, इसमें मोक्षावस्था के विशेष कहते हैं कि—

मुक्त प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

योऽत्राभिनिष्पद्यते इत्युक्तं न सर्ववन्वविनिर्मुक्तं शुद्धेनैवात्मना जतिष्ठते । पूर्वत्र त्वन्धो भवन्त्यपि रोदितोऽव विनाशमेवापीनो भवतीति चावस्थावयवकल्पि-
तेनात्मनस्त्यय विशेष । कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति ? प्रतिज्ञा-
नादित्याह । तथा हि 'एन त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्याम्यामि' (छा० ८।१।३, ८।
१०४, ८।१।१३) इत्यवस्थात्रयद्रोपविहीनमात्मानं व्याम्येतत्वेन प्रतिज्ञाय
'अशरीरं वाच मन्नं न प्रियाप्रिये स्पृगतं' (छा० ८।१२।१) इति चोपन्यम्य
'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमं पुरुष' (छा० ८।१२।३) इति चोपमह-

रति तथाख्यायिकोपक्रमेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम् । फलत्वसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा, यदप्यभिनिष्पद्यते इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं तदपि पूर्वावस्थापेक्षं यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यते इति तद्वत् । तस्माददोषः ॥ २ ॥

जो यहाँ अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार कहा गया है, वह सब बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूप से ही अवस्थित होता है । मोक्ष से पूर्वकाल में तो देहादि के अभिमान से जाग्रत काल में अन्ध आदि होता है । स्वप्न में दुःखादि से रोते हुए के समान भी होता है । सुषुप्ति में विशेषज्ञानों के अभाव से मानों विनाश ही को प्राप्त होता है । इस प्रकार अवस्थात्रय से कलुषित रूप से अवस्थित होता है यह विक्षेप है । यदि कहा जाय कि कैसे समझा जाता है कि यह जीवात्मा इस शरीर से व्युत्थान करके स्वरूप से स्थितिरूप इस अवस्था में मुक्त होता है, तो कहते हैं कि प्रतिज्ञान (प्रतिज्ञा) से समझा जाता है । वह प्रतिज्ञान इस प्रकार है कि (तेरे लिए इसी आत्मा का फिर व्याख्यान करूँगा) इस प्रकार तीनों अवस्था के दोषों से रहित आत्मा की व्याख्येयत्व (उपदेशयोग्यत्व) रूप प्रतिज्ञा करके अर्थात् शुद्ध नित्ययुक्त आत्मा के उपदेश की प्रतिज्ञा करके, और । शरीरसबन्धरहित आत्मा को प्रिय और अप्रिय सुख-दुःखादि नहीं स्पर्श करते हैं (ऐसा उपन्यास (कथन) करके, और (अपने स्वरूप से निष्पन्न-आविर्भूत होता है वह उत्तम पुरुष है) इस प्रकार प्रजापति उपसंहार करते हैं । इसी प्रकार आख्यायिका (कथा) के आरम्भ में भी (जो आत्मा अपहत-पाप्मा है) इत्यादि मुक्त आत्मविषयक ही प्रतिज्ञान है । मोक्षविषयक फलत्व की प्रसिद्धि भी बन्ध की निवृत्ति मात्र की अपेक्षा से है, किसी अपूर्व धर्मादि के उपजनन (उत्पत्ति) की अपेक्षा से नहीं है । जो भी, अभिनिष्पद्यते, इस पद को उत्पत्ति पर्यायत्व है, वह भी पूर्वावस्था की अपेक्षा से है, जैसे कि रोग की निवृत्ति होने पर अरोग अभिनिष्पन्न होता है, इसी प्रकार अविद्यादि की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है अतः दोष नहीं है ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते—यावता 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति कार्यगोचरमेवैतं श्रावयति । ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात् । नचानतिवृत्तो विकारविषयात् कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति । विकारस्यार्तत्वप्रसिद्धेरिति । नैष दोषः । यत आत्मैवात्र ज्योतिःशब्देनावेद्यते प्रकरणात् 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' (छा० ८।७।१) इति हि प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम्, प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात् । ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते 'तदेवा ज्योतिषां ज्योतिः' (वृ० ४।४।१६) इति । प्रपञ्चितं चैतत् 'ज्योतिर्दर्शनात्' (ब्र० सू० १।३।४०) इत्यत्र ॥ ३ ॥

सका होती है कि स्वरूप से निष्पन्न होने वाला भी यह जीव मुक्त है इस प्रकार कैसे कहा जाता है, जब (पर ज्योति को प्राप्त कर के) इत्यादि श्रुति इस जीव को कार्यरूप ज्योति गोचर (कार्यरूप ज्योति ने प्राप्त) ही सुनानी है, क्योंकि ज्योति शब्द को मोक्ष (भूतकार्य) ज्योति (प्रकाश) अर्थ में रूढ है और विकाररूप विषय से अनतिवृत्त (विषय-विकार के अतिव्रमण—त्याग में रहित) कोई मुक्त होने योग्य नहीं है । क्योंकि विस्तार की आतंता (दुसरूपता) की प्रमिद्धि है । उत्तर है कि यह दोष नहीं है, जिससे इस श्रुति में प्रकरण से ज्योति शब्द द्वारा आत्मा ही आवेदित (बाधित-कथित) होता है । जिससे (जो आत्मा पापरहित जरारहित मृत्युरहित है) इस प्रकार प्रकृत परमात्मा के रहने, परमात्मा के प्रकरण में, जन्ममात्र (निष्कारण) मोक्ष ज्योति का ग्रहण नहीं किया जा सकता है । क्योंकि ऐसा करने से प्रकृति की हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया (अधिकार-प्रकरण) का प्रसंग होगा । और ज्योति शब्द तो आत्मारूप अर्थ में भी प्रयुक्त देखा जाता है कि (देव लोग उस ज्योतियों की ज्योति की उपासना करते हैं) इत्यादि । और (ज्योतिर्दशानाम्) इस सूत्र में इस अर्थ का विस्तार में विचार किया गया है । इसी प्रकार प्रकरण से सम्प्रदाय शब्द आत्म-वाचक होता है । इत्यादि ॥ ३ ॥

अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् (२)

मुक्तत्वाद् ब्रह्म भिन्नमभिन्नं वाऽयं भिद्यते । 'रूपस्य ज्योति' रित्येव कर्मकर्तृनिर्गोक्षित ॥१॥
अभिनिष्पन्नरूपस्य 'स उत्तम पुमानिति' । ब्रह्मत्वोक्तैर्भिरन्यत्पुत्रभेदोक्तिरप्यवरोध ॥२॥

तत्त्वमसि इत्यादि उपदेशों को देखने से सिद्ध होता है कि उनका मुक्तत्वावस्था में आज ब्रह्म के साथ अविभाग [अभिन्न] स्वरूप से रहता है । वहाँ संधय है कि उस मुक्त जीव के स्वरूप से ब्रह्म भिन्न है, अथवा अभिन्न है । पूर्वपक्ष है कि ज्योति को प्राप्त शरीर स्वरूप से निष्पन्न होता है, इस प्रकार जीव प्राप्ति का कर्ता कहा गया है, और ब्रह्म कर्म कहा गया है । इसमें कर्म और कर्ता के भेद के कथन से, मुक्त से ब्रह्म भिन्न है ॥ मिथ्या है कि स्वरूप को अभिनिष्पन्न मुक्त की, वह उत्तम पुमान् है, इत्यादि वचन में ब्रह्मपदा की उक्ति से, वह ब्रह्म स्वरूप से अभिन्न है, और भेद का कथन विवेकादि कारिका है, इससे उपचार में है, पण्डित ॥ १-२ ॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

पर ज्योतिरप्यपद्य स्येत रूपेणाभिनिष्पद्यते य न कि परमात्मना
पृथगेव भवत्युक्तविभागेनैवावतिष्ठति इति बोधायनाय 'न तत्र पदेति' (छा० ८।१।३)
उक्तिकरणमभिन्नमितिर्देहात् 'ज्योतिरप्यपद्य' (छा० ८।१।३) इति च
वचनमितिर्देहाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मनिष्पन्न ज्योतिरप्यपदिनक एव
परमात्मना मुक्तोज्जतिष्ठते । कुत ? दृष्टत्वात् । तथाहि 'तत्त्वमसि' (छा०

६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (वृ० १।४।१०) 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१) 'न तु तद्वितीयमस्ति ततो नोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (वृ० ४।३।२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागमेव परमात्मानं दर्शयन्ति । यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्क्र-
तुन्यायात् । 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत
आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपरा-
णि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च । भेदनिर्देशस्त्व-
भेदेऽप्युपचर्यते । 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१)
इति, 'आत्मास्तिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५।२) इति चैवमादिदर्शनात् ॥ ४ ॥

पर ज्योति को प्राप्त करके जो जीव अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है, वह क्या परमात्मा से पृथक् ही रहता है । अथवा अविभाग से परमात्मा के साथ अभिन्न रूप से परमात्मरूप से ही अवस्थित (वर्तमान) रहता है, ऐसा विचार के उपस्थित (प्राप्त) होने पर (वह प्रसाद उस ज्योतिस्वरूप में सर्वथा गमन करता है) इस प्रकार अधिकरण और अधिकर्तव्य के (आधारधेयभाव के) निर्देश से, और (ज्योति को प्राप्त करके) इस प्रकार कर्ता और कर्म के निर्देश से, मोक्षावस्था में परमात्मा से भेद-पूर्वक ही मुक्त का अवस्थान (स्थिति) रहता है, ऐसी जिसकी मति निश्चय) है । उसको बोध कराते—समजाते हैं कि परमात्मा से अविभक्त (अभिन्न) होता हुआ ही मुक्तात्मा अवस्थित रहता है । यह कैसे सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि ऐसी श्रुतियों के दृष्टव्य (प्रत्यक्षता) से यह सिद्ध होता है, जिससे इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (उस सत्य ब्रह्मस्वरूप तुम हो । मैं ब्रह्म हूँ । जिसमें अन्य को नहीं देखता है वह ब्रह्म है । उस ज्ञानी से दूसरी वस्तु नहीं है, उससे अन्य विभक्त वस्तु नहीं है कि जिसको देखे) इत्यादि वाक्य मुक्त से अविभाग रूप से ही परमात्मा को दर्शति हैं । तत्क्रतुन्याय से दर्शन के अनुसार ही फल होना युक्त है । (जैसे शुद्ध जल में आक्षिप्त शुद्ध जल आधारभूत जलस्वरूप ही हो जाता है, हे गौतम ! विज्ञानी मुनि का आत्मा भी इसी प्रकार परब्रह्मस्वरूप हो जाता है) इत्यादि मुक्तस्वरूप के निरूपणपरक वाक्य अविभाग को ही दर्शति हैं । और नदी समुद्रादि के दृष्टान्त भी अविभाग को ही दर्शति हैं । भेद का निर्देश तो अभेद रहते भी उपचार से (गौण रूप से किया जाता है, वह (हे भगवन् ! वह भूमा-ब्रह्म किस में प्रतिष्ठित (स्थिर) है । ऐसा नारद जी के प्रश्न होने पर सनत्कु-मार जी का उत्तर है कि भूमा अपनी महिमा-स्वरूप में प्रतिष्ठित है । ज्ञानी आत्मा में रति-प्रीति वाला आत्मा में क्रीडा वाला होता है) इत्यादि अभेद होते भेद का व्यवहार देखने से अभेद में भेद का उपचार सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

ब्रह्माधिकरणम् (३)

क्रमेण युगपदस्य सविशेषविशेषको । विरुद्धत्वात् कालभेदाद्वचनस्या श्रुतयोस्तयोः ॥१॥
मुक्तामुक्तदृशोर्भेदाद्वचनस्या सम्भवे सति । अविरुद्धं यौगपद्यनश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥२॥

यह मुक्तात्मा ब्रह्मसम्बन्धी सविशेष निर्विशेष स्वरूप से मुक्तावस्था में रहता है, यह उपन्यासादि से सिद्ध होता है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य कहते हैं। उपन्यासादि पद से उपक्रम, उपसंहार और अन्य श्रुति के निर्देश का ग्रहण होता है। उपन्यास का उद्देश्य-नामकथन, अन्यत्र ज्ञात का अनुवाद अर्थात् है। जैसे [य आत्मा अपहतपाप्मा] इत्यादि है। अज्ञात-ज्ञापन विधि है, जैसे [स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाण] इत्यादि है। 'सर्वज्ञ सर्वेश्वर', इत्यादि व्यपदेश है। इन हेतुओं से जैमिनि उक्तार्थ कहते हैं। संशय है कि इस ब्रह्म के सविशेष और निर्विशेष स्वरूप को मुक्त पुरुष क्रम से प्राप्त करता है, अथवा एक काल में प्राप्त करता है। पूर्वपक्ष है कि दोनों स्वरूप के परस्पर विरुद्ध होने से, श्रुत उन दोनों स्वरूपों की काल भेद से व्यवस्था होती है। क्रम से मुक्त पुरुष उभयस्वरूपता को प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि मुक्त और अमुक्त पुरुषों की दृष्टिया के भेद से एक काल में ही दोनों स्वरूपों की व्यवस्था के सम्भव होने से समकाल में उभय स्वरूप अविरुद्ध है, क्रम की कल्पना अश्रुत है। अर्थात् सविशेषता मायिक है, उसको निर्विशेषता से विरोध नहीं है ॥ १-२ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

स्थितमेतत् 'स्वेन रूपेण' (छा० ८।३।४) इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणेति । अधुना तु तद्विशेषबुभुक्षायामभिधीयते । स्वमस्य रूपं ब्राह्मणमपहतपाप्मत्वादित्यमकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व च तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुत ? उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात् । तथाहि—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादिना 'सत्यकाम सत्यमकल्प' (छा० ८।७।१) इत्येवमन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति । तथा 'स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाण' (छा० ८।१२।३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति । 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२) इति च । 'सर्वज्ञ सर्वेश्वर' इत्यादिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥ ५ ॥

यह स्थित हुआ कि [अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है] इस स्थान में आत्ममात्र स्वरूप से अभिनिष्पन्न [अभिव्यक्त स्थिर] होता है। किसी आगन्तुक स्वरूप से नहीं अभिनिष्पन्न [उत्पन्न] होता है। अब इस समय तो उस अभिनिष्पन्न स्वस्वरूप के विशेष को जानने की इच्छा होने पर कहा जाता है कि इस मुक्त का अपना स्वरूप, ब्रह्म [ब्रह्मस्वरूप—ब्रह्मसम्बन्धि] अपहतपाप्मत्वादि सत्यमकल्पत्वादि है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्व इस का विशेष स्वरूप है। उस ब्रह्म स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं। किस हेतु से ऐसा मानते हैं, तो कहा जाता है कि उपन्यासादि रूप हेतुओं से उसी प्रकारसे के अवगम होने से ऐसा मानते

हैं। सो उपन्यासादि इस प्रकार है कि (जो आत्मा अपहृतपाप्मा है) इत्यादि से लेकर, और (सत्य काम वाला, सत्य संकल्प वाला है) यहाँ पर्यन्त के उपन्यास (उद्देश) से आत्मा के इस प्रकार के स्वरूपवत्त्व को श्रुति बोध कराती है। इसी प्रकार (वह संप्रसाद उस ज्योतिस्वरूप में सर्वथा गमन करता है, हँसता हुआ, क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता रहता है) यह वाक्य ऐश्वर्य-रूप का आवेदन करता है। (उसका सब लोकों में कामचार-यथेष्ट गमन होता है) यह वाक्य भी ऐश्वर्य का आवेदन (ज्ञापन—विधि करता है। (वह सर्वज्ञ सर्वेश्वर है) इत्यादि व्यपदेश (सिद्धस्वरूप का कथन) इसी प्रकार (ब्राह्म स्वरूप से) उपपन्न होगे ॥ ५ ॥

चित्ति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

यद्यप्यपहृतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते तथापि शब्दविकल्पजा एवैते, पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते, चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता। तथाच श्रुतिः—‘एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रजानघन एव’ (बृ० ४।५।१३) इत्येवञ्जातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति। सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसम्बन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्व-संभवः। अनेकाकारत्वप्रातिपेधात्। प्रतिपिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् ‘न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्’ (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यत्र। अतएव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत्। नहि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं द्वितीयविषयत्वात्तेषाम्। तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यते इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

यद्यपि अपहृत-पाप्मत्वादि धर्मभेद (भिन्न) रूप से ही निर्दिष्ट—कथित होते हैं, तथापि शब्दज्ञान से जन्य विकल्प (मिथ्या ज्ञान) जन्य ही ये धर्म हैं, जिससे अपहृत-पाप्मत्वादि के कहने से पापादि की निवृत्ति (अभाव) मात्र ही वहाँ प्रतीत होता है, चित्ति (चैतन्य) ही मात्र तो इस आत्मा का स्वरूप है, इससे तन्मात्र (चैतन्यमात्र) स्वरूप से अभिनिष्पत्ति-युक्त है। इसी प्रकार (अरे मैंने ! इस संधव घन के समान ही यह आत्मा अन्तर-बाहर भेदरहित सम्पूर्ण प्रज्ञान घन ही है) इस प्रकार की श्रुति अनुगृहीत होगी। यद्यपि सत्य काम हैं जिस के वह सत्यकामवाला है, इस अर्थ के अनुसार सत्यकामत्वादि धर्म वस्तु-स्वरूप से ही कहे जाते हैं अपहृत-पाप्मत्वादि के समान विकल्प-जन्य नहीं है, तो भी उपाधि के सम्बन्धाधीनता से उन धर्मों का भी चैतन्य के समान स्वरूपत्व का सम्भव नहीं है, और चिदात्मा में अनेकाकारता के प्रतिषेध से भी सत्य-कामत्वादि को स्वरूपत्व का असम्भव है, जिससे (न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्)

इस मूल में ब्रह्म का अनेकाकारत्व प्रतिपिद्ध हो चुका है। इसी अनेकाकारत्व के असम्भ-
वादि से सर्वधर्मनिषेध से ही हसन-क्रीडनादि का सकीर्तन भी दुष्प्रभावमानविषयक
अभिप्रायवाला, अन्तरति इत्यादि के समान स्तुत्यर्थक है। रति, ब्रीडा, तथा मियुन
(युग्म) इनको आत्मा में मुख्य सत्यस्वरूप से वर्णन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि
उन रति आदिको को द्वितीय विषयत्व है, अर्थात् द्वैत अवस्था में रति-क्रीडादि होते हैं,
अद्वैत मुक्त्यात्मा में इनका असम्भव है। जिससे सम्पूर्ण प्रपञ्च से रहित प्रसन्न (निर्मल)
विशेष कथन के अयोग्य ज्ञानस्वरूप से मुक्त जीव अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार
ओङुलोमि आचार्य मानते हैं ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोध वादरायणः ॥ ७ ॥

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपान्मुपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्या-
प्युपन्यासादिभ्योज्यगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोध वादरायण
आचार्यों मन्यत ॥ ७ ॥

प्रथम एक पक्ष में ब्रह्म के धर्मों को सत्य कहा गया है, दूसरे पक्ष में सर्वथा असत्य
कहा गया है, अत्र चिन्मात्र को पारमार्थिक और सत्यज्ञानमत्त आदि को औपार्थिक श्रुति
के अनुसार मानकर सिद्धान्त कहा जाता है कि (इस प्रकार भी) ओङुलोमि मत के
अनुसार, पारमार्थिक (सत्य) चैतन्यमात्रस्वरूप के स्वीकार करने पर भी, व्यवहार
की अपेक्षा से उपन्यासादि हेतुओं से अवगत (ज्ञात) पूर्ववर्णित ब्राह्म ऐश्वर्य-रूप के
अप्रत्याख्यान से उसके भाव (मत्ता) से, व्यावहारिक स्थिति से वादरायण आचार्य
अविरोध मानते हैं। इससे मुक्त भी इस अविरुद्धरूपता को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

संकल्पाधिकरणम् (४)

भोग्यसुखावस्ति बाह्यो हेतुः सकल्प एव वा । आद्यामोदकवैषम्याद्धेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ॥ १ ॥
सकल्पादेव पितर इति श्रुत्यान्धारणान् । सच्छल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्याच्छानुचिन्तनान् ॥ २ ॥

इन विमुक्त विद्वान् के सकल्पमात्र से ही पितृ आदि देव उपस्थित होते हैं, सो श्रुति
से सिद्ध होता है। सशय होता है कि ब्रह्मलोक में प्राप्त एक प्रकार का विमुक्त बाह्य
प्रपञ्चरहित विद्वान् के साकर्त्तिक भोग्य वस्तु को गृष्टि में बाह्य हेतु भी रहता है, अपना
सकल्पमात्र ही हेतु रहता है। पूर्व पक्ष है आद्या-मोदक से विषमता में अर्थात् माँ का
हेतु होने से लोह के समान बाह्य हेतु भी है। सिद्धान्त है कि सकल्पमात्र में ही पितर
समुपस्थित होते हैं, इन प्रकार श्रुति में अवधारण किया गया है, इससे सकल्प ही गृष्टि
में हेतु होगा, और अनुचिन्तन से ही आद्यामोदक तथा लोक से वैषम्य होगा ॥ १-२ ॥

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

हादेविद्याया श्रूयते—'स यदि पितृशेकनामो भवति सकल्पादेवात्य पितर-

समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादि । तत्र संशयः—किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुस्त निमित्तान्तरसहितः—इति । तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षा युक्ता । यथा लोकेऽस्मदादीनां सकल्पाद्गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि स्यात्, एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति । संकल्पादेवेति तु राज्ञ इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते । नच संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चञ्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति ।

हार्दविद्या में सुना जाता है कि (ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासक यदि पितृलोक की प्राप्ति को इच्छा वाला होता है, तो इसके संकल्प से ही पितृलोक समुपस्थित होते हैं) इत्यादि । यहाँ संशय होता है कि क्या केवल संकल्प ही पितृ आदि के समुत्थान में (समुपस्थिति) कारण है । अथवा निमित्तान्तर-सहित संकल्प कारण है । वह पूर्व पक्ष है कि श्रुति में (संकल्पादेव) संकल्प से ही ऐसा श्रवण होते भी लोक के समान पितृसमुत्थान में निमित्तान्तर की अपेक्षा होना युक्त है । जैसे लोक में हम लोगों के संकल्प से और गमनादिरूप हेतुओं से पितृ आदि की संप्राप्ति होती है, वैसे ही मुक्तों को भी होगी । ऐसा होने से दृष्ट से विपरीत समुत्थान नहीं कल्पित होगा । लौकिक अनुभव के अनुसार ही होगा । और संकल्प से ही यह अवधारण तो जैसे राजा के संकल्पित अर्थ की सिद्धि करने वाली साधनान्तर की सामग्री (पूर्णतया) सुलभ होती है, उसके समान साधनान्तर-सामग्री की सुलभता की अपेक्षा से है, कि मानो इस मुक्त के संकल्पित अर्थ की सिद्धि करनेवाली साधनान्तर की सामग्री संकल्प से ही सिद्ध हो जाती है । इस दृष्टि से 'संकल्पादेव' ऐसा कहा जाता है । संकल्पमात्र से समुत्थानवाले पितृ आदि मनोरथ के विस्तारानुसृत मन से कल्पित के समान चञ्चलत्व से पूर्ण भोग को समर्पण (प्राप्त) कराने के लिये समर्थ नहीं होंगे ।

एवं प्राप्तं ब्रूमः—संकल्पादेव तु केवलात्पित्रादिसमुत्थानमिति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीडयते । निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु, नतु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमितिष्यते । प्राक्तत्संपत्तेर्वन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात् । नच श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतोदृष्टं क्रमते । संकल्पवलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः, प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि केवल संकल्प से ही पितृ आदि का समुत्थान होता है । किस हेतु से ऐसा माना जाता है, तो कहा जाता है कि केवल संकल्प मात्र के श्रवण से ऐसा माना जाता है (इस विद्वान् मुक्त के संकल्प से ही पितर समुत्थित होते हैं) इत्यादि श्रुति निमित्तान्तर की अपेक्षा में पीड़ित (बाधित) ही होगी । और

पीडित होती है। निमित्तान्तर भी तो यदि सकल्प के अनुसारी सकल्पमात्र-जन्य ही हो, तो हो सकते हैं, किन्तु अन्य यत्न से सम्पाद्य (साध्य) अन्य निमित्त होते हैं, ऐसा माना नहीं जा सकता है। क्योंकि प्रयत्नान्तर से माध्य निमित्तान्तर की सिद्धि से प्रथम विद्वान् की बन्ध्यसकल्पत्व की प्राप्ति होगी, अर्थात् सकल्प करने पर भी निमित्तान्तर के बिना भोग में विलम्ब से उस सकल्प में बन्ध्यत्व (निष्कल्य) प्राप्त होगा, इसमें सत्यसकल्पत्व का बाध होगा। और श्रुतिमात्र से अवगम्य (ज्ञेय) अर्थ में लोकेष्व— दृष्टान्त से साध्य सामान्य रूप से देखा गया अनुमान^१ की प्रवृत्ति नहीं होती है। जो यह कहा था कि सकल्पमात्र से समुत्थित पितृ आदि के मनोरथ से कल्पित के समान चञ्चल होने से वे पूर्ण भोग का संपादन नहीं कर सकेंगे, वहाँ कहा जाता है कि, उस मुक्त के सकल्प के बल से ही यावत् प्रयोजन (भोगादि प्रयोजनों की सिद्धिपर्यन्त) उन पितृ आदिकों की स्थिरता की सिद्धि होती है, क्योंकि प्रादृत (साधारण) पुण्य के सकल्प में विलक्षणत्व मुक्त के सकल्प को रहना है ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अत एव चावन्ध्यसकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति, नाम्यान्योऽधिपतिर्भवतोत्पत्त्यर्थं । नहि प्राकृतोऽपि सकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः मत्या गतो सकल्पयति । श्रुतिश्चैतद्दर्शयति—‘अयं य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येताश्च मत्यान्कामान्तेषा सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति’ (छा० ८।१।६) इति ॥ ९ ॥

अतएव इसी अवन्ध्य-सकल्पत्व (सत्यसकल्पत्व) से ही विद्वान् अन्य अधिपति (स्वामी) वाला नहीं होता है, जिससे अन्य स्वामीवाला होने पर और स्वामी के अधीन भोग के होने पर सत्यसकल्पत्व का व्यापात होगा, और सत्य सकल्पवाला होने से स्वामी की भी सकल्प से ही सिद्ध करना होगा, और मुक्त पुण्य अन्य स्वामी का सकल्प नहीं करता है। इससे इसका अन्य अधिपति नहीं होता है, यह सूत्र का अर्थ है। क्योंकि सकल्प करता हुआ प्रादृत जन भी गति (उपाय-शक्ति) रहने अपने अन्यस्वामित्व (पराधीनत्व) का सकल्प नहीं करता है। और श्रुति भी यह दर्शाती है कि (जो यहाँ उपदेश के अनुसार आत्मा को जान कर गमन करते हैं, और शास्त्रकथित सयवामी को जान कर गमन करते हैं, उनकी सत्र लोकों में यथेष्ट गति होती है) इत्यादि ॥९॥

अभावाधिकरणम् (५)

व्यवस्थितार्थेच्छिकी का भावाभावोक्तोत्पत्त्यर्थं । विद्वद्वो तेन पुनर्देवावुभौ स्थाना व्यवस्थितौ । १। एतस्मिन्नपि पुस्त्येतार्वेच्छिकी कालभेदतः । अविरोधान् स्वप्नजाग्रदुमेवष्टयने द्विषा । २॥

१ पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टम् । ये तीन प्रकार के अनुमान होते हैं, कारण से कार्य का अनुमान, कार्य से कारण का अनुमान, और लोकेदृष्ट सामान्यता से अनुमान रूप तोनों होते हैं, विस्तार अन्यत्र द्रष्टव्य है ।

ब्राह्मलौकिक मुक्तावस्था में संकल्प का साधन मन तो रहता ही है, परन्तु वादरि आचार्य देह इन्द्रिय का अभाव मानते हैं, जिससे श्रुति इस प्रकार कहती है । (मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते । स एकधा भवति त्रिधा भवति) इस दो प्रकार की श्रुति से संशय होता है कि ब्रह्मलोक में मुक्त के शरीर के भाव और अभाव को पुरुषों के भेद से कोई व्यवस्था है कि कोई शरीरवाला और कोई शरीररहित मन ही से रमता है, अथवा इच्छा के अनुसार एक पुरुष के भी शरीर के भाव और अभाव होते हैं । पूर्वपक्ष है कि भाव और अभाव जिससे परस्पर विरुद्ध हैं, उससे पुरुष के भेद से दोनों व्यवस्थित होंगे । सिद्धान्त है कि काल के भेद से एक पुरुष में भी अविवेक होने से ये दोनों भाव और अभाव एक में इच्छा के अधीन होंगे, और स्वप्न तथा जाग्रत के भोग के समान दो प्रकार भी श्रुति कथित युक्त होता है । अर्थात् देह इन्द्रिय की इच्छा होने पर संकल्प से ही एकानेक शरीर की सृष्टि करके जाग्रत के समान रमता है, शरीरादि की इच्छा नहीं होने पर केवल मन से ही स्वप्न के समान रमता है इत्यादि ॥ १-२ ॥

अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ७।२।१) इत्यादिश्रुते-र्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम् । शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति न वा सन्तीति समीक्ष्यते । तत्र वादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते । कस्मात् ? एवं ह्याहाम्नायः 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' (छा० ८।१।५) 'य एते ब्रह्मलोके' (छा० ८।१।३१) इति । यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात् । तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥ १० ॥

(इस मुक्त के संकल्प से ही पितृगण समुत्थित होते हैं) इत्यादि श्रुतियों से संकल्प का साधन मन तो मुक्तों का सिद्ध होता ही है । परन्तु ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले विद्वान् के शरीर और इन्द्रियाँ, ये सब रहते हैं, अथवा नहीं रहते हैं । यह विचार अव किया जाता है । यहाँ महीयमान (पूज्यता को प्राप्त) ऐश्वर्ययुक्त विद्वान् के शरीर और इन्द्रियों के अभाव को ही वादरि आचार्य मानते हैं । क्यों ऐसा मानते हैं, तो कहा जाता है कि जिससे आम्नाय (वेद) इसी प्रकार कहता है कि (मन से ही इन संकल्प-मात्र से लभ्य कामों को देखता हुआ रमता है कि जो काम ब्रह्मलोक में प्राप्त होते हैं) यदि मन से और शरीर इन्द्रियों से विहार करे—रमण करे तो मनसा यह विशेषण सार्थक नहीं होगा । इससे शरीर और इन्द्रियों का मोक्ष में अभाव रहता है ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते,

यत 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२।६।२) इत्यादिना ज्ञेयकथाभाव-
विकल्पमामनन्ति । नह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात् । यद्यपि
निर्गुणाया भूमविद्यायामयमनेकधाभावे विकल्प पठ्यते, तथापि विद्यमानभेदे
सगुणावस्थायामेवमयं भूमविद्यास्तुतये सकीर्त्यत इत्यतः सगुणविद्याफलभावे-
नोपतिष्ठत इत्युच्यते ॥ ११ ॥

जमिनि आचार्यं तो मन के समान इन्द्रियसहित शरीर का भी भाव (अस्तित्व)
को मुक्त के प्रति मानते हैं, जिससे (वह मुक्त पुरुष एक प्रकार होता है, तीन प्रकार
होता है) इत्यादि वचनों से अनेक भाव के विकल्प को कहते हैं । शरीर-भेद के विना
अनेकविधता आञ्जसी (वास्तविकी-युक्ता) नहीं होगी । यद्यपि निर्गुण ब्रह्मविद्या में
अनेकधा भाव का विकल्प पड़ा जाता है । तथापि सगुण अवस्था में ही विद्यमान यह
ऐश्वर्यं ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए ब्रह्मविद्या में सकीर्तित होना है । इससे सगुणविद्या
के फलरूप से उपस्थित (प्राप्त) होता है, इस प्रकार कहा जाता है ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोक्तः ॥ १२ ॥

वादरायण पुनराचार्योऽन एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु
मन्यते—यदा मशरीरता सकल्पयति तदा मशरीरो भवति यदा त्वशरीरता
तदाऽशरीर इति । सत्यमकल्पत्वात् सकल्पवैचित्र्याच्च । द्वादशाहवत् । यथा
द्वादशाह सत्रमहीनश्च भवति उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति ॥ १२ ॥

वादरायण आचार्यं तो इसी उभय (दोनों) लिङ्गवाली श्रुतियों के देखने से उभय-
विधता (दोनों स्वरूपता) को साधु (चार) सुन्दर मानते हैं । जिस काल में शरीर-
सहित रहने का सकल्प विद्वान् करता है, उस समय शरीर-सहित रहना है, और जब
अशरीरता (शरीर-रहित रहने) का सकल्प करता है, तब शरीर-रहित रहना है ।
सत्य-सकल्पवाले होने से और सकल्प की विचित्रता से ऐसी स्थिति होती है । जैसे
द्वादशाह याग के नियत बहुत वर्तों से साध्य होने पर वह सत्र कहा जाता है । अनियत
एक-दो वर्तों से साध्य होने पर अहीन कहा जाता है । तथा (य एव विद्वांसः सत्रमुपयन्ति)
इससे विहित द्वादशाह को सत्रत्व होता है । (द्वादशाहेन प्रजाकाम याजयेत्) इससे
विहित एकनियतवर्तों की अहीनत्व होता है । इसी प्रकार उभयलिङ्गवाली श्रुति के
देखने से यह सशरीरत्व और अशरीरत्व भी उपपन्न होता है ॥ १२ ॥

तत्त्वभावे संव्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

यदा तु सेन्द्रियन्त्य शरीरस्याभावमनदा यथा सध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियनिपये-
ष्वविद्यमानेष्वप्युपपत्तिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येव मोक्षोऽपि स्युरेव
ह्येतदुपपद्यते ॥ १३ ॥

जिस काल में विद्वान् के इन्द्रिय-सहित शरीर का अभाव रहता है, उस काल में, जाग्रत्-सुषुप्ति के सन्धि में होनेवाले सन्ध्य (स्वप्न) स्थान में जैसे शरीर, इन्द्रिय और विषयों के अविद्यमान रहते भी उपलब्धि (ज्ञान) मात्र ही पितृ आदि रूप काम्य पदार्थ होते हैं, इसी प्रकार मोक्ष में भी होंगे, जिससे इसी प्रकार यह उपपन्न होता है ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मुक्त-स्याप्युपपद्यते ॥ १४ ॥

शरीर के भाव (सत्ता) रहने पर जैसे जाग्रत् में विद्यमान (वर्तमान) ही पितृ आदि काम्य पदार्थ रहते हैं, इसी प्रकार मुक्त के भी काम्य पितृ आदि उपपन्न होते हैं ॥

प्रदीपाधिकरणम् (६)

निरात्मनोऽनेकदेहाः सात्मका वा निरात्मकाः ।

अभेदादात्ममनसोरैकस्मिन्नेव वर्तनात् ॥ १ ॥

एकस्मान्मनसोऽन्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् ।

आत्मभिस्तदवच्छिन्नैः सात्मकाः स्युस्त्रिवेत्यतः ॥ २ ॥

अनादि लिङ्ग शरीरवाला विद्वान् के एक रहते अनेक शरीर के निर्माण-काल में सब शरीर में नहीं रह सकेंगे, इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि एक दीप से अनेक दीप के समान विद्वान् का सब शरीर में आवेश (प्रवेश) होता है । यद्यपि प्रदीप मित्र हो जाता है, तथापि विद्वान् का एक ही लिङ्ग-शरीर विद्या-बल से सब में व्याप्त होता है । संशय होता है कि मुक्त से भोगार्थक कल्पित अनेक देह निरात्मक रहते हैं, अथवा सात्मक रहते हैं, भाव है, कि आत्मा-रहित जड़ हो तो भोग नहीं हो सकता है, सात्मक हों तो मुक्त का मोक्षास्वरूप विशिष्टात्मा एक है, वह अनेक शरीर में एक काल में रह नहीं सकता है । इससे पूर्वपक्ष है कि आत्मा और मन के भेदरहित होने से अनेक नहीं होने से कल्पित देह निरात्मक हैं, जिससे आत्मा-सहित (सूक्ष्म शरीर) एक ही निर्मित शरीर में रहता है, अन्य में नहीं, इससे भोग भी नहीं होता । सिद्धान्त है कि एक मन से अन्य मन प्रदीप के समान विद्यादि के बल से होते हैं, और उनसे युक्त आत्माओं से आत्मा-सहित शरीर होंगे, इससे त्रिधा इत्यादि श्रुति भी सङ्गत होगी ॥ १-२ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

‘भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्’ (ब्र० सू० ४।४।११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम् । तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दाख्यन्त्रवत् सृज्यन्ते किंवा सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा ।

तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि शरीराणि निरात्म-
कानीति ।

(भाव जैमिर्निर्विकल्पामननात्) इस सूत्र में मुक्त को मशरीरत्व कहा गया है ।
यहाँ त्रिधा भावादि रूप अनेक शरीर की सृष्टि में क्या निरात्मक काष्ठयन्त्र के समान
शरीर रचे जाते हैं, अथवा आत्मासहित हम लोगों के शरीरों के समान रचे जाते हैं,
ऐसी जिज्ञासा होती है । यहाँ पूर्व पक्ष है कि आत्मा और मन के भेद की अनुपपत्ति से
एक शरीर के साथ मात्रा आत्मा और मन का संयोग रहता है । अन्य शरीर निरात्मक
रहते हैं ।

एव प्राप्ते प्रतिपाद्यते—प्रदीपवदावेश इति । यथा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीप-
भावमापद्यते विकारशक्तियोगात्, एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभाव-
मापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति । कुत ? तथाहि दर्शयति शास्त्रमकस्यानेक
भावम्—‘न एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा’ (छा० ७।२.६।२)
इत्यादि । नैतद्वाक्यन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते नापि जीवान्तरावेशे । नच निरा-
त्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः सम्भवति । यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकशरीर-
योगासंभव इति । नैव दोषः । एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि
सत्यमङ्गल्यत्वात्प्रक्षयति, सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्व
योदयते । एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया ॥ १५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन करते हैं कि (प्रदीपवदावेश इति) जैसे एक प्रदीप
विकार-शक्ति के योग से अनेकप्रदीपभाव को प्राप्त होता है । इसी प्रकार एक होता
हुआ भी विद्वान् ऐश्वर्य के योग से अनेक भाव को प्राप्त होकर सब शरीरों में आवेश
(प्रवेश) करता है । यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि इसी
प्रकार शास्त्र दर्शाता है कि (वह विद्वान् एकधा होता है, त्रिधा होता है, पञ्चधा,
सप्तधा, नवधा होता है) इत्यादि । यह विद्वान् के अनेकधात्व काष्ठयन्त्र-तुल्यता के
स्वीकार करने पर नहीं सिद्ध हो सकता है, न अन्य जीवों के प्रवेश होने ही पर सिद्ध हो
सकता है । वे सब शरीर सात्मक होने हैं, क्योंकि निरात्मक शरीरों की प्रवृत्ति का सम्भव
नहीं है । जो यह कहा गया था कि आत्मा और मन के भेदों की अनुपपत्ति से अनेक
शरीरों के साथ सम्बन्ध का असम्भव है, वहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि
सत्यसकल्पत्व से अनादि एक मन के होने भी उस एक मन के अनुवर्ती मनसहित ही
अन्य शरीरों की सृष्टि वह करेगा । और उन शरीरों की सृष्टि होने पर उपाधि के भेद
से आत्मा का भी भेद होने से अधिष्ठातृत्व-युक्त होगा । योगशास्त्र में योगिया के अनेक
शरीर के योग की यही प्रक्रिया है । (निर्माणचित्तान्यस्मिन्नामात्रान् । प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक-
मेवमनेकेषाम्) यो० ४।४-५ योगी के निर्मित देहों में अविमानमान से निर्मित चित्त
होते हैं । उन अनेक चित्तों के प्रवृत्तिभेद में नियामक अनादि चित्त रहता है ॥ १५ ॥

कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते यावता 'तत्केन कं विजानीयात्' (वृ० ४।५।१५) 'न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (वृ० ४।३।३०) 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (वृ० ४।३।३२) इति चैवजातीयका श्रुतिविशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

यहां शंका होती है कि मुक्त के अनेक शरीर में आवेश आदि रूप ऐश्वर्य कैसे माने जाते हैं । जब (वह विमुक्त ज्ञानी किस को देखेगा, किससे किस को जानेगा । उससे अन्य उससे विभक्त वह दूसरी वस्तु नहीं है कि जिसको वह जानेगा । वह सलिल के समान स्वच्छ द्रष्टा अद्वैत होता है) इस प्रकार की श्रुति विशेषज्ञान का वारण करती है । इति । इस शंका के (प्रश्न के) होने से उत्तर पढ़ते हैं कि—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

स्वमप्ययः सुपुप्तम् 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितं त्याचक्षते' (छा० ६।८।१) इति श्रुतेः । 'संपत्तिः कैवल्यम्, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (वृ० ४।४।६) इति श्रुतेः । तयोरन्यतरामवस्थामपेक्षयैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम् । क्वचित्सुपुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते क्वचित्कैवल्यावस्थाम् । कथमवगम्यते, यतस्तत्रैव तदधिकारवशादाविष्कृतम् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (वृ० २।४।१४) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (वृ० २।४।१४) 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (वृ० ४।३।१९) भाण्डू० (५) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरं यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते, तस्माददोषः ॥ १६ ॥

(अपने स्वरूप में लीन होता है जिससे इसको स्वपिति इस प्रकार कहते हैं) इस श्रुति से स्वस्वरूप में अप्यय (लय) रूप स्वाप्यय सुपुप्ति है । (ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म में अप्येति — लीन होता है) इस श्रुति से सम्पत्ति (ब्रह्ममावापति) कैवल्य (मोक्ष) है, इन दोनों में से अन्यतर (किसी एक) अवस्था की अपेक्षा करके यह विशेष संज्ञा (ज्ञान) के अभाव का वचन (कथन) है । कहीं सुपुप्ति अवस्था की अपेक्षा कर के विशेष ज्ञानों का अभाव कहा जाता है, कहीं कैवल्यावस्था की अपेक्षा करके कहा जाता है । यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि जिससे तत्रैव-उन श्रुतियों में ही उस सुपुप्ति और कैवल्य के अधिकार (प्रकरण) वश से उन वचनों के अन्यतर की अपेक्षा पूर्वकत्व आविष्कृत (प्रकट) होता है, जिससे समझा जाता है (इन शरीरादिरूप भूतों से समुत्थित व्यक्त होकर, उनके नाश के पीछे नष्ट अव्यक्त होता है । उस अवस्था में प्राप्त होने पर विशेष नहीं रहता है) जिस अवस्था में इसका सब आत्मा ही हो गया । जिस काल में सोया हुआ किसी काम्य वस्तु की इच्छा नहीं करता है, कोई स्वप्न नहीं देखता है, इत्यादि श्रुतियों से विशेष ज्ञानाभाव का सुपुप्ति मुक्ति-अन्यतरविषयत्व आविष्कृत होता है । यह तो सगुण विद्या के विपाक

(फल) का अवस्थान (अवस्थिति-अवस्था) रूप स्वर्गादि के समान अवस्थान्तर है, कि जिस में यह ऐश्वर्य वर्णित होता है । इसको मुषित इस प्रकार कहा जाता है कि जैसे अरणोदय होने पर सन्ध्याकाल को दिवस कहा जाता है, जिससे दोप का अभाव है ॥ १६ ॥

जगद्व्यापाराधिकरणम् (७)

जगत्सृष्ट्वमस्त्येषा योगिनामय नास्ति या । अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तेश्चानवग्रहात् ॥
सृष्टावप्रवृत्तत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम । स्वाराज्यमीशो भोगाय ददे मुक्तिं च विद्या ॥

ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकों को अपने भोगों के अनुकूल अपने शरीर इन्द्रियादि की सृष्टि के लिए ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर भी जगत् की उत्पत्ति आदि रूप व्यापार से वजित (रहित) ही ऐश्वर्य की प्राप्ति होनी है । क्योंकि प्रकरण से, और सृष्टि-प्रकरण में उपासकों के असन्निहितत्व से ऐसा ही सिद्ध होता है । सशय हैं कि योगियों को जगत् स्रष्टृत्व (जगत्कृत्वं) होता है, अथवा नहीं होता है । पूर्वपक्ष है कि (स्वाराज्यमाप्नोति) इस श्रुति से कथित ऐश्वर्य का अनवग्रह (अप्रतिबद्ध-निरङ्कुश) होने से जगत्-स्रष्टृत्व होता है । सिद्धान्त है कि आकाशादिरूप जगत् की सृष्टि में योगियों के अप्र-कृतत्व होने से, जगत् की सृष्टि के प्रकरण में इनका उल्लेख नहीं होने से योगियों को जगत् की स्रष्टृता नहीं होनी है, केवल भाग के लिये ईश्वर स्वाराज्य देते हैं, और विद्या से मुषित देते हैं, दिये हैं ॥ १-२ ॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

ये सगुणब्रह्मोपामनात्सहैव मनमेश्वरमायुज्यं व्रजन्ति किं तेषां निरवग्रह-
मैश्वर्यं भवत्याहोस्वित्मावग्रहमिति मशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? निरङ्कुशमैवोपाम-
नैश्वर्यं भवितुमर्हति 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) 'सर्वेऽन्म देवा बलि-
मावहन्ति' (तै० १।५।३) 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।
२, ८।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति ।

जो उपासक सगुण ब्रह्म की उपामना में मन आदि रूप मूढमशरीर के साथ-सा
रहते ही इनके मिलित मिता ही ईश्वर के मायुज्य (ईश्वर के ईश्वरत्व) को प्राप्त करते
हैं, उनका क्या निरवग्रह (निरङ्कुश) ऐश्वर्य प्राप्त होता है । अथवा सामान्य ऐश्वर्य प्राप्त
होता है, यह सशय होता है । यहाँ प्रथम प्राप्त सशय होता है । ऐसी जिज्ञासा होने पर
पूर्वपक्ष होता है कि इनका ऐश्वर्य निरङ्कुश होने योग्य है । ना वह ईश्वरत्व का प्राप्त
करता है । सब देव इससे लिय बलि उपहार का समर्पण करते हैं । उनका सब लोका में
मयेशाचार होता है) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है ।

एव प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति । जगदुपन्यादिव्यापार वर्जयित्वाऽ-
न्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यमिदम्यैश्व-

रस्य । कुतः ? तस्य तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहितत्वाच्चेतरेषाम् । पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, तमव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात् नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च । तदन्वेपणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते, तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे । समनस्कत्वादेव चेतोपामर्नकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात् । अथ कस्यचित्संकल्प-मन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत, ततः परमेश्वराकृततन्त्रत्वमंवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥ १७ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर पढ़ते हैं कि (जगद्व्यापारवर्जमिति) जगत् के उत्पत्ति आदि विषयक व्यापारों को त्याग (छोड़) कर अन्य अणिमा आदि रूप ऐश्वर्यं मुक्तों को होने योग्य है जगत्-विषयक व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही होने योग्य है । क्यों ऐसा होने योग्य है, तो कहा जाता है कि उस नित्यसिद्ध ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति आदि प्रकरण में प्रकृतत्व (प्रकरण से प्राप्तत्व-सम्बन्ध) है, और अन्य योगी आदि को जगत्-सृष्टि-प्रकरण में असंनिहितत्व है । जिससे पर ही ईश्वर जगत्-विषयक व्यापार में अधिकृत है । उस परमेश्वर को ही प्रस्तुत करके श्रुति में जगत् के उत्पत्ति आदि के उपदेश से, तथा नित्यत्व से और शब्द-निबन्धनत्व (श्रुतिमात्र-बोध्यत्व) से एक ईश्वर को जगत्-सृष्टि आदि में अधिकृतत्व-युक्त है । उस ईश्वर के अन्वेपण (ध्यान-व्यापार) तथा जिज्ञासा (श्रवणादि) पूर्वक अन्य के ऐश्वर्यं सुना जाता है । जिससे वे अन्य ऐश्वर्यं वाले जगत् के व्यापार में असंनिहित हैं । इनके मनसहित होने के कारण अनेकमत्तता होने पर, किसी का जगत् की स्थिति विषयक अभिप्राय होगा, किसी का संहार विषयक अभिप्राय होगा, तो इस प्रकार का विरोध भी कदाचिन् होगा । यह मुक्तों के समप्रधानता में दोष होगा । और यदि उन में गुणप्रधान भाव हो, और किसी एक प्रधान के संकल्प के अनुसार अन्य सबका संकल्प होता है, ऐसा मान कर अविरोध का समर्थन (प्रतिपादन) किया जाय, तो इससे परमेश्वर के तात्पर्य (अभिप्राय) अधीनत्व ही अन्यो को है, यह व्यवस्थित (निश्चित) होता है ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

अथ यदुक्तम् 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशा-न्निरवग्रहमैश्वर्यं विदुषा न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते नायं दोषः । आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायत-नेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते । यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १।६।२) इत्याह । यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोति इति । एतदुक्तं भवति । तदनुसारेणैव चानन्तरम् 'वावपतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' (तै० १।६।२) इत्याह ।

एवमन्यत्रापि यथासम्भव नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामेश्वर्यं योजयितव्यम् ॥ १८ ॥

और जो यह कहा गया है (स्वाराज्य को प्राप्त करता है) इत्यादि प्रत्यक्ष उपदेश से विद्वानों का निरकुश ऐश्वर्यं न्याय्य है, इति, वह परिहार करने योग्य है । इससे यहाँ कहा जाता है कि अधिकार में नियुक्त करने वाला जो परमात्मा का स्वरूप है वह आधिकारिक है, और वही सूर्यमण्डलादि में स्थित है, उसी की प्राप्तरूप से उक्ति (वचन) से यह दोष नहीं है, अर्थात् (तत्तद्वितुर्वरेण्यम्) इत्यादि श्रुति में वर्णित परमात्मा का स्वरूप ही प्राप्तव्य है । निरकुश स्वाराज्य होने पर, ईश्वर प्राप्तव्य नहीं कहा सकता है । इससे आधिकारिक जो सूर्यमण्डलादि विशेष स्थानों में अवस्थित पर ईश्वर है, उसके अधीन ही यह स्वाराज्य की प्राप्ति कही जाती है । जिस कारण से उसके अनन्तर (मन के पति को प्राप्त करता है) यह श्रुति कहती है । जो सन्तों के मन का पति पूर्वसिद्ध ईश्वर है, उसको प्राप्त करता है, यह कहा जाता है । उसके अनुसार से ही उसके अनन्तर-ईश्वराधीन ही (वाक् का पति, नेत्र का पति, श्रोत्र का पति, और विज्ञान बुद्धि का पति होता है) यह श्रुति कहती है । इस प्रकार अन्यत्र (कामचारादि में) भी सम्भव के अनुसार नित्यसिद्ध ईश्वर के अधीन ही अन्य का ऐश्वर्य योजना (सम्बन्ध) के योग्य है ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्त पारमेश्वर रूप न केवल विकारमात्रगोचर मवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा ह्यस्य द्विरूपा स्थितिमाहाम्नाय 'तावानम्य महिमा ततो ज्यायाश्च पूर्य । पादोज्ञ्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृत दिवि' (छा० ३।१।६) इत्येवमादि । नच तन्निर्विकार रूपमितरालम्बना प्राप्नुवन्ततीति शङ्क्यं यक्तुमतत्त्रनुत्वात्तेषाम् । अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुण रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्त एव सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

यह सादृश्य ऐश्वर्य को प्राप्ति का वर्णन सगुण कार्यब्रह्म-उपासकों का है, निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति वालों का नहीं, यदि कहा जाय कि निर्गुण ब्रह्म ही नहीं है, तो कहते हैं कि पारमेश्वर (परमेश्वर का) नित्यमुक्त विकारों में अवर्तने के स्वभाव वाला स्वरूप भी है । केवल विकार मात्र में वर्तनेवाला सूर्यमण्डलादि रूप अधिष्ठान (आधार) मात्र नहीं है । जिससे इस परमेश्वर की दो रूप वाली स्थिति को (जितना चतुष्पाद छह प्रकार की गायत्रीरूपब्रह्म के विकाररूप पाद कहा गया है, उसनी इस ब्रह्म की महिमा है, उससे ब्रह्मात्मा पूर्य बहुत बड़ा है । इसके पादमात्र सब भूत हैं, तीन पाद अनन्त-स्वरूप अमृत हैं, और प्रकाशात्मन्-स्वरूप में स्थिर है) इत्यादि वेद कहता है । इतर

(निर्गुणान्य) आलम्बन (ध्येय) वाले उस निर्विकार रूप को प्राप्त होते हैं । ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उनको अतत्क्रतुत्व है, निर्गुण ब्रह्मविषयक संकल्प का अभाव है । इससे ही जैसे दो रूप वाले परमेश्वर के रहते भी सगुणोपासक निर्गुण स्वरूप को नहीं प्राप्त करके सगुण में ही अवस्थित होते हैं । इसी प्रकार सगुण में भी निरंकुश ऐश्वर्य को नहीं प्राप्त करके साङ्ख्य ऐश्वर्य में ही अवस्थित होते हैं । ऐसा समझना चाहिये ॥१९॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्यो नपः श्रुतिस्मृती—‘न तत्र सूर्यो भान्ति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः’ (कठ० ५।१५। श्वेता० ६।१४। मुण्ड० २।२।१०) इति । ‘न तद्भासयते सूर्यो न यशाङ्को न पावकः’ (गी० १५।६) इति च । तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

पूर्वमूत्र वर्णित श्रुति में (तावानस्य महिमा) इससे विकारवर्ती ब्रह्म का रूप कहा गया है, (ततो ज्यायाँश्च) इससे निर्विकार रूप कहा गया है, (पादोऽस्य) से विकारवर्ती कहा है, (विपादस्यामृतम्) से निर्विकार कहा है । इसी प्रकार अन्य भी श्रुति और स्मृति पर—ज्योति की विकार में अवृत्तित्वमात्र को दर्शाते हैं कि (उस परब्रह्म में सूर्य नहीं प्रकाश करता है, न चन्द्र-तारागण प्रकाश करते हैं, न ये विद्युत् उस में भासती हैं, तो यह अग्नि तो कैसे भासेगी) (न उस परपद को सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्र प्रकाशता है, न अग्नि प्रकाशता है) इति । इससे इस प्रकार विकार में अवृत्तित्व (निर्गुणत्व) परज्योति को प्रसिद्ध है । यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

इतश्च न निरंकुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेश्वरेण समानमिति श्रूयते—‘तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ’ इति ‘म’ ययैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकनां जयति’ (वृ० १।५।२३) इत्यादिभेद-व्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥ २१ ॥

इस हेतु से भी विकाररूप अवलम्बन वालों का ऐश्वर्य निरंकुश नहीं है, कि जिससे इनका भोगमात्र ही अनादिसिद्ध ईश्वर के साथ समान (तुल्य) होता है, ऐसा सुना जाता है कि (ब्रह्मलोक में प्राप्त उस उपासक को हिरण्यगर्भ कहते हैं कि मुझसे ये अमृतरूप जल भोगे जाते हैं । तेरा भी यह लोक-भोग्य है) जैसे इस ब्रह्मदेवता का सब प्राणी भजनसेवन करते हैं, इसी प्रकार ऐसे जानने वाले का सब भजन करते हैं । उस प्राणात्मा की प्रतिपत्ति निश्चयरूप व्रत के धारण से इस सर्वात्मा प्राण देवता का

मायुज्य—एकान्तत्व को प्राप्त करता है, और समानलोकता को भी प्राप्त करता है। इत्यादि भेद के व्यपदेशरूप लिङ्गों से समान भोगमात्र सिद्ध होने से निरक्षुब्ध ऐश्वर्य नहीं सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

नन्वेव सति मातिगयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य म्यात्तनश्चैषामावृत्ति प्रम-
ज्येनेत्यन उत्तर भगवान्वादरायण आचार्य पठति—

शका होती है कि ऐसा होने पर ऐश्वर्य के अतिशय युक्त होने में, उसको अतवत्त्व (विनाशित्व) होगा, तब ऐश्वर्य के नष्ट होने पर इन उपामयों की फिर ससार में आवृत्ति (जन्म-मरणादि) प्राप्त होगी। इसमें भगवान् वादरायण आचार्य उत्तर पढ़ते हैं कि—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

नाडोर्गश्मिममन्विनेनार्चिगदिपर्वणा देवयानेन यथा ये ब्रह्मलोक शास्त्रोक्त-
विशेषण गच्छन्ति यस्मिन्नश्च ह वैष्ण्वश्चार्णवी ब्रह्मलोके ननीयस्यामिता दिवि
यस्मिन्नैरमदीय मरो यस्मिन्नश्चत्य सोममवनो यस्मिन्नपराजिता पूरंक्षणा
यस्मिन्श्च प्रभुविमित हिरण्मय वेद्यम यच्चानेकया मन्यार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते
त ते प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुवनभोगा आवर्तन्ते। कुन ? 'तयोर्व-
मायन्नमृत्तन्वमेनि' (छा० ८।६।६, कठ० ६।१६) 'तेषां न पुनरावृत्तिः'
(बृ० ६।२।१५) 'एतेन प्रतिपद्यमाना इम मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा०
४।१५।१) 'ब्रह्मलोकमभिमपद्यते' (छा० ८।१५।१) 'न च पुनरावर्तते' (छा०
८।१५।१) इत्यादिशब्देभ्यः। अन्तवत्त्वेऽपि त्वंश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा
वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहान परम्' (ब्र० सू० ४।३।१०) इत्यत्र।
सम्यग्दर्शनविध्यस्तनममा तु नित्यमिद्वनिर्वाणपरायणाना मिद्ववानावृत्तिः।

नाडी और रश्मिया में युक्त, अर्चि आदि पर्व (भाग) वाले देवयान मार्ग से, शास्त्र
में वर्णित विशेषणवाले ब्रह्मलोक में जो उपासक जाते हैं, वह उस लोक को प्राप्त करके
भुवनभोग वाटे जन्म चन्द्रलोक में लौटते हैं, वैसे वे लाग उस ब्रह्मलोक से नहीं लौटते
हैं, कि जिस ब्रह्म लोक में, इस पृथिवीलोक को अपेक्षा तृतीय लोक रूप दिव (स्वर्ग) में
जो वनमान है उसमें अर और राय नामक दो समुद्र तुल्य तालाब हैं। तैरम्, जलमय
मदीय-मदकारक हर्षोत्पादक सर है। जहाँ सोममवन-अमृत की वृष्टि करने वाला
अरपत्य है। जिस में अपराजित-ब्रह्मधर्मरहितों से अप्राप्त ब्रह्म की पुगी है। जिसमें प्रभु
में निमित्त भुवनमय वेद्यम है। जो अनेक प्रकार में मन्त्र अर्थवाद आदि के प्रेरणा
(स्यात्तां) में विस्मय में वर्णित होता है। उसका प्राप्त करने नहीं लौटते हैं। यह
कैसे समझा जाता है, तो कहते हैं कि (उस ब्रह्मलोक में ऊपर जाने वाले) अमृतत्व को
प्राप्त करता है। उनकी फिर मगार में आवृत्ति नहीं होती। इस देवयान मार्ग में

जाने वाले इस मानव संसार में फिर नहीं आते हैं। यद्यपि (इमं मानवावर्तम्) इस मानव-संसार में, श्रुतिगत इस विज्ञेय से सिद्ध होता है, भासता है कि इस कल्प में ब्रह्मलोक में जाने वालों की कल्पान्तर में आवृत्ति होती है, तथा (आब्रह्मभुवनाल्लोकाः-पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन) इस गीता में ब्राह्म के अमिविधि अर्थ में होने से ब्रह्मलोकपर्यन्त लोकों की पुनरावृत्ति सिद्ध होती है। तथापि ईश्वरोपासना श्रवणादि के संस्कार से रहित जो मनुष्य केवल पञ्चवाग्निविद्या अद्वैतवादि-साधनों से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उनको वहाँ तत्त्वज्ञान के नियम के अभाव से उनकी पुनरावृत्ति होती है, और दहरादि स्वरूप ईश्वर की उपासना से तथा श्रवणादि के संस्कारवाले जो ब्रह्मलोक में जाते हैं, उनको दिव्य लोक के अभाव से उद्वुद्ध संस्कार ईश्वरानुग्रहादि में ज्ञान द्वारा वहाँ ही मुक्ति होती है, पुनरावृत्ति नहीं होती है, इसी प्रकार ब्रह्मलोक में प्राप्त भी सकाम पुरुषों को ज्ञान नहीं होता है, उत्कट काम सर्वत्र ज्ञान मोक्ष का प्रतिबन्धक होता है, और निष्काम को ज्ञान से ही अपुनरावृत्ति होती है। इस से गृहस्थ होने भी जो निष्काम होकर सब इन्द्रियों को आत्मा में स्थिर करके हिंसा आदि का त्यागपूर्वक सदा वर्ताव करता है, वह ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है। फिर वह नहीं लौटता है। काम के रहने पर ब्रह्मा की स्थितिपर्यन्त नहीं लौटता है, फिर कल्पान्तर में लौटता है) इत्यादि शब्दों से अपुनरावृत्ति की सिद्धि होती है। ऐश्वर्यों के अन्त वाले होते भी जिस प्रकार ने ब्रह्मलोक-वासियों की अनावृत्ति है, वह प्रकार (कार्यात्यये तदव्यक्षेण सहातः परम्) इस सूत्र में वर्णित हो चुका है। सगुण विद्या वालों ही की अनावृत्ति का वर्णन भूतकार ने इसलिये किया है कि सम्यग् दर्शन से जिनका अविद्यारूप तम विध्वस्त (नष्ट) हो गया है, उन नित्यसिद्ध निर्वाण (कैवल्य) परायणों (परम आश्रय वालों) की अनावृत्ति श्रुति-स्मृति-अनुभूति से स्वयं सिद्ध ही है, उसे सिद्ध करने की जरूरत नहीं है।

तदाश्रयणेनैव हि मगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति । अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यामः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गो-
विन्दभगवत्पूज्यपादगिर्यश्रीमन्मल्लिकार्जुनभगवत्पूज्यपादकृत्वा

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

जिससे उस सम्यग् दर्शन के आश्रयण द्वारा ही सगुण शरण वालों की भी अनावृत्ति की सिद्धि होती है। इससे सम्यग् दर्शनवालों की अनावृत्ति में कुछ वक्तव्य नहीं है। पद के अभ्यास ने पाद की समाप्ति द्योतित (प्रकाशित) होती है। यहाँ (अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दान्) यह सूत्र का अभ्यास शास्त्र की समाप्ति को द्योतित करता है ॥ २२ ॥

ज्ञानं सर्वगतं ह्यनन्तमजर कल्याणकल्पद्रुम
 कामत्रोधमेदादिदोषनिवहं स्पृष्टं न चान्तं ब्रह्मचिन् ।
 त्रैपादेष्विभेदक्षेदरहितं रामं गुणं चेश्वरं
 दीनोद्धारकरं नृणां भुवकरं वैवल्यमानु भजे ॥
 दन्दं योवकं बुधैर्वारणं मिद्धं मृदा निगुणं
 भक्त्यामोष्टविधौ विधानविवृधं धर्मस्य मेतु परम् ।
 सर्वाधारतया तु वेदविवृधैर्गीर्णा परं पावना
 धर्मध्यानसमाधिशान्तिमुल्लभं भोगं सदा दुर्गमम् ॥
 साधुत्वं समदर्शनं सदा गरीरकारिता ।
 मृदुत्वं मानराहित्यं दयालुत्वं जितारिता ॥
 ब्राह्मण्यं पुण्यशौलवं पापगहित्यमेव च ।
 शमदमादिनिष्ठत्वं वेदज्ञत्वं विदुर्बुधा ॥
 दीनारमयकरत्वं च शूरत्वं पालनं सनात् ।
 प्रजानां पालनं सत्यं क्षान्तत्वं क्षमितायुतम् ॥
 दयायोपाजितवित्तत्वं दयादानादिवीर्यता ।
 वैश्यत्वं साधुमयत्वं शूद्राणां कथितं परम् ॥
 ब्रह्मिणा सर्वदा सर्वैः कर्तव्या कर्मनस्पर्शः ।
 ईशभक्तिर्गुरुभक्तियंयागक्तिः विधानतः ॥
 एकं वृक्षपरं येऽथ तेऽथ जन्मन्ति वा परे ।
 लभन्ते ज्ञानमत्यच्छं ध्यानं वा मुक्तिमेव च ॥
 यं कृत्वा श्रेयसायैव नीयते भवसागरः ।
 हृष्यते न च कामादुन्मत्तं गुणं शिवमाश्रये ॥
 श्रीमोहनगुणं श्रीमद्रमिताराममव्ययम् ।
 श्रीहरिहरनामानं कृपाटुं गुणमाश्रये ॥
 भाम्बती शारदती म्याद्वि मुमुक्षुहितकारिणी ।
 माधूना लोकमान्यानां मनोमोदाय जायताम् ॥
 त्रिषो गमनवम्या वै प्रारब्धं भाम्बती त्विदम् ।
 आश्विनसुखलपटुया च समाप्तोऽयमवच्छुभा ॥
 सर्वे मुमुक्षिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
 सर्वे नराणि पश्यन्तु मा ब्रह्मिद् दुःखमागं भवेत् ॥
 ॐ शम्, शान्तिं शान्तिं शान्तिं ।

समाप्तश्चाज्य ग्रन्थः

